Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरिपुरंदर पू.आ.भ. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी विरचित
तार्किकरत्न पू.आ.श्री. गुणरत्नसूरीश्वरजी रचित वृत्ति सहित

षड्दर्शन समुच्चय

भावानुवाद - हिन्दी व्याख्या

भाग-१

-: भावानुवादकार एवं संपादक :-
पू.मु.श्री संयमकीर्तिविजयजी म.सा.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

185454

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्दर्शन समुच्चय

(भावानुवाद - हिन्दी व्याख्या)

Central Library
185454
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

भाग-१

-: ग्रंथकार :-

समर्थ शास्त्रकार शिरोमणी पू.आ.भ.**श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा

097
185454

: टीकाकार :

तार्किकरत्न पू.आ.भ.**श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराज

-: दिव्यकृपा :-

तपागच्छाधिराज स्व.पू.आ.भ.श्री.वि. **रामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा

सुविशाल गच्छाधिपति स्व.पू.आ.भ.श्री.वि. **महोदयसूरीश्वरजी** महाराजा

गच्छनायक स्व.पू.आ.भ.श्री.वि. **हेमभूषणसूरीश्वरजी** महाराजा

: मार्गदर्शन :

प्रवचन प्रभावक पू.आ.भ.श्री.वि. **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा

: संपादक एवं भावानुवादकार :

तपागच्छाधिराज के प्रशिष्यरत्न पू. पंन्यास प्रवर **श्री दिव्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्यश्री के शिष्यरत्न पू. पंन्यास प्रवर **श्री पुण्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्यश्री के शिष्य

पू.मु.**श्री संयमकीर्ति** वि.म.सा.

: प्रकाशक :
सन्मार्ग प्रकाशन
अहमदाबाद

: प्रचारक :
चौखम्बा पब्लीकेशन
न्यू दिल्ली

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथ का नाम : षड्दर्शन समुच्चय, भाग-१, २ (भावानुवाद-हिन्दी व्याख्या)

ग्रंथकार : पू.आ.भ.श्री. **हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा

टीकाकार : पू.आ.भ.श्री. **गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराजा

मार्गदर्शन : पू.आ.भ.श्री.वि. **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा

संपादक एवं भावानुवादकार : पू.मु.श्री **संयमकीर्तिविजयजी** म.सा.

हिन्दी अनुवादक : जिज्ञासाबहन वृ. कटारीया (पडधरी)

प्रकाशक : सन्मार्ग प्रकाशन (अहमदाबाद)

प्रचारक एवं प्रमुख विक्रेता : चौखम्बा पब्लीकेशन - न्यू दिल्ली

प्रकाशन वर्ष : वि.सं. २०६८, महा सुद १४, ता. ६-२-२०१२

©सन्मार्ग प्रकाशन (सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

मूल्य : रू. १०००/- (दोनों भाग का)

R.P.S
097
ARY-S

: संपर्क सूत्र :

सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद-१.
फोन : (०७९) २५३९२७८९

पं.श्री मेहुलभाई शास्त्री
मो. ९१७३३९६०८४

: प्राप्ति स्थान :

(१) सन्मार्ग प्रकाशन
जैन आराधना भवन,
पाछीया की पोल, रीलीफ रोड,
अहमदाबाद-१.
फोन : (०७९) २५३९२७८९
E-mail : sanmargprakashan@gmail.com

(२) चौखम्बा संस्कृत संस्थान
पो. बो. नं. ११३९, के-३७/११६,
गोपालमंदिरलेन, गोलघर,
मैदागीन के पास, वाराणसी-२२१००१,
(इन्डीया) फोन : २३३३४४५
टेली फेक्स : ०५४२-२३३५९३०
मो : ९८३८८१६१७२
E-mail : cssvns@sify.com

(३) चौखम्बा पब्लिकेशन
४२६२/३, अंसारी रोड,
दरियागंज, न्यू दिल्ली-११०००२
फोन : २३२५९०५०,
टेली फेक्स : (०११) २३२६८६३९
मो. : ९३१३८०१७४२
E-mail-Cpub@vsnl.net

(४) चौखम्बा संस्कृत संस्थान
६९२/९३, रविवार पेठ,
कपडगंज, डी.एस.हाउस के पास,
पुणे-४११००२
फोन नं. (०२०) २४४७१२८३
मो. ९९७०१९३९५५
E-mail : hn.shah@rediffmail.com

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हार्दिक अनुमोदना

-: लाभार्थी :-

तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्य देवेश श्रीमद्विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के पट्टालंकार वर्धमान तपोनिधि पू.आ.भ.श्री.वि. **गुणयशसूरीश्वरजी महाराजा** के शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक पू.आ.भ.श्री.वि. **कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा** के आशीर्वाद से वर्धमान तपोनिधि पू.पं.प्र.श्री **पुण्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्यश्रीजी के शिष्यरत्न पू.मु.श्री **संयमकीर्तिविजयजी म.सा.** के सदुपदेश से

श्री रत्नत्रयी आराधना भवन ट्रस्ट,

वसंतकुंज-अहमदाबाद द्वारा ज्ञाननिधि में से...

इस **षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ** के **दोनों भाग** के प्रकाशन का

संपूर्ण लाभ प्राप्त किया गया है ।

आप के श्रीसंघ की श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना !!! भविष्य में भी आप का उत्तरोत्तर श्रुतभक्ति का शुभभाव उल्लसित बने रहे ऐसी शुभकामना ।

- सन्मार्ग प्रकाशन

नोंध : *इस ग्रंथ, ज्ञाननिधि की द्रव्यराशी के सद्व्यय से प्रकाशित हुआ होने से गृहस्थवर्ग को इस ग्रंथ का संपूर्ण मूल्य ज्ञाननिधि में जमा कराकर ही उसकी मालिकी करने का परामर्श है ।*

- प्रकाशक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीक्षा स्मृति दिन शताब्दी वर्ष में सादर समर्पणम्

श्री महावीर प्रभु के शासन की अजोड आराधना, प्रभावना और सुरक्षा द्वारा बीसवी-इक्कीसवी सदी के जैन इतिहास को जाज्वल्यमान करते दीक्षायुगप्रवर्तक, व्याख्यान वाचस्पति, जैन शासन शिरताज, तपागच्छाधिराज

पूज्यपाद आचार्य देवेश श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

अनेक बार प्रवचनो तथा वाचनाओं में फरमाते थे कि,
जैन शासन के अद्भुत आगम निधि का परमार्थ प्राप्त करना हो,
वैसे प्रत्येक पुण्यात्मा-महात्मा को

- सूरिपुरंदर पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा,
- कलिकालसर्वज्ञ पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **हेमचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा और
- न्यायाचार्य न्यायविशारद पूज्यपाद **महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी गणिवर्य**

जैसे शासन मर्मज्ञ, कलिकाल में भी पूर्वधरों का स्मरण करायें ऐसी श्रुतसंपत्ति के धारक महापुरुषो के रचे हुए ग्रंथो का गुरु आज्ञा-निश्रा में सुंदर अभ्यास करना चाहिए । प्राकृत-संस्कृत भाषा से अन्जान ऐसे मुमुक्षु भी इस ज्ञान विरासत से वंचित न रहे और मोक्षमार्ग का सुनिश्चित ज्ञान उनको भी मिल सके इसलिए ऐसे प्रकरणादि ग्रंथो का **भावानुवाद** भी होना चाहिए ।

पूज्यपादश्रीजी की यह आर्षवचनिका मेरे हृदय पट के उपर अंकित हुई और ***"शुभे यथाशक्ति यतनीयम्"*** न्यायानुसार मैंने उनकी - श्रीमद् की कृपा के बल से यह अनुवाद तैयार करने का प्रयास किया है । ग्रंथ परिसमाप्ति के आनंद को परमानंद में परिवर्तित करने के लिए आज उनके - श्रीमद् के ही शास्त्रसंपूत करकमल में समर्पण करके धन्यता का अनुभव करता हुँ ।

- चरणरज **संयमकीर्ति** विजय

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋण स्मरण

(१) तपस्वी सम्राट पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **राजतिलकसूरीश्वरजी** महाराजा

(२) दीक्षादाता सुविशाल गच्छाधिपति पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **महोदयसूरीश्वरजी** महाराजा

(३) न्यायनिपुण पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **चंद्रगुप्तसूरीश्वरजी** महाराजा

(४) परमश्रद्धेय सुविशाल गच्छाधिपति पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **हेमभूषणसूरीश्वरजी** महाराजा

(५) प्रवचनप्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा

(६) सौजन्यमूर्ति परम वेयावच्ची परमोपकारी पू.आ.भ.श्री.वि. **हर्षवर्धनसूरीश्वरजी** महाराजा

(७) ममहितचिंतक परमोपकारी **पूज्य गुरुदेव** पंन्यास प्रवर श्री **दिव्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्य

(८) भवोदधितारक वर्धमान तपोनिधि **पूज्य गुरुजी** पंन्यास प्रवर श्री **पुण्यकीर्तिविजयजी** गणिवर्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्षिप्त विषय-सूची

षड्दर्शन समुच्चय भाग १-२

भाग-१

विषय	पृ. नं.
● प्रकाशकीय	७-८
● पूरोवचन	९-११
● किंचित्	१२-१३
● संशोधकप्रतिभावः	१४-१६
● सारस्वतवचनम्	१७-१८
● संपादकीय	१९-२५
● भूमिका	२६-८९
● विस्तृत विषयानुक्रम	९०-१०७
● ग्रंथारंभ	१-३७
● बौद्धदर्शन	३८-८५
● बौद्धदर्शन का विशेषार्थ	८६-१२४
● नैयायिक दर्शन	१२५-२३६
● सांख्यदर्शन	२३७-२६३
● सांख्यदर्शन का विशेषार्थ	२६४-३२६
● **परिशिष्ट-१** (वेदांत दर्शन)	३२७-४७२
● **परिशिष्ट-२** (योगदर्शन)	४७३-४९७
● **परिशिष्ट-३** (जैनदर्शन का कर्मवाद)	४९८-५०६
● **परिशिष्ट-४** (जैनदर्शन का ग्रंथकलाप)	५०७-५२१
● **परिशिष्ट-५** (साक्षीपाठः)	५२२-५५५
● **परिशिष्ट-६** (पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी-सार्थ)	५५६-५६४
● **परिशिष्ट-७** (दार्शनिक-पारिभाषिक शब्द-सूची)	५६५-५७२
● **परिशिष्ट-८** (व्याख्या की शैली का परिचय)	५७३-५८७
● **परिशिष्ट-९** (संकेत विवरणम्)	५८८-५९०
● **परिशिष्ट-१०** (उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका)	५९१-५९५
● **परिशिष्ट-११** (मूलश्लोकानुक्रम)	५९६-५९७

भाग-२

विषय	पृ. नं.
● संक्षिप्त विषय-सूची	६०५
● विस्तृत विषयानुक्रम	६०६-६२३
● जैन दर्शन	६२४-९३६
● वैशेषिक दर्शन	९३७-९६९
● मीमांसकदर्शन	९७०-९९७
● लोकायत दर्शन	९९८-१०११
● **परिशिष्ट-१** (जैनदर्शन का विशेषार्थ)	१०१२-१०६०
● **परिशिष्ट-२** (स्याद्वाद)	१०६१
● **परिशिष्ट-३** (नयवाद)	१०६२-११२७
● **परिशिष्ट-४** (सप्तभंगी)	११२८-११६१
● **परिशिष्ट-५** (निक्षेपयोजन)	११६२-११८७
● **परिशिष्ट-६** (मीमांसादर्शन का विशेषार्थ)	११८८-१२९३
● **परिशिष्ट-७** (साक्षीपाठः)	१२९४-१३२७
● **परिशिष्ट-८** (पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी-सार्थ)	१३२८-१३३८
● **परिशिष्ट-९** (संकेत विवरणम्)	१३३९-१३४१
● **परिशिष्ट-१०** (उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका)	१३४२-१३४६
● **परिशिष्ट-११** (मूलश्लोकानुक्रम)	१३४७-१३४८

: नोंध :

"साक्षीपाठ" संबंधित परिशिष्ट का अत्रस्थ निर्देशानुसार उपयोग करना ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये दो पहियों के उपर जैन शासन का मुक्तिरथ अविरत मोक्षनगर की ओर अस्खलित प्रयाण करता हैं । **चारित्र की शुद्धि, वृद्धि का अनन्य कारण ज्ञान ही है ।** संसार में जैसे किसी भी क्रिया करने से पहले उसका ज्ञान अनिवार्य माना जाता हैं, वैसे मुक्ति मार्गरूप धर्म में भी प्रत्येक क्रिया ज्ञान का साहचर्य चाहती हैं ।

साधु जीवन मोक्षप्राप्ति का राजमार्ग हैं । श्रावक जीवन तो छोटी सी गली के समान ही हैं । साधु जीवन को अणिशुद्ध बिताकर उसका संपूर्ण आस्वाद महसूस करना हो तो ज्ञान के महासागर में डूबकी लगा देनी चाहिए । साधु जीवन में प्रत्येक दिन में पाँच प्रहर अर्थात् पन्द्रह घण्टे स्वाध्याय के लिए जो रखे गये हैं उसका यही कारण हैं । ज्ञानानंदी को न तो विषय परेशान करे, न उसको कषाय दर्द दे । ज्ञानमग्न के सुख का वर्णन संभव ही नहीं हैं । **"आनंद की गत आनंदघन जाने" ।**

ज्ञान का आलंबन है शास्त्र । परमात्मा की वाणी शास्त्रों में लिखी गई हैं और उसके आधार पे ही शासन का संचालन होता हैं । समर्थ सूरिपुंगव शास्त्र रचना करते हैं, उसको लिखाने - प्रकाशित करवाने - प्रचारित करवाने का कार्य शासनभक्त सुश्रावकों का हैं । साधु-साध्वीजी भगवंत शास्त्र को जीवन में जीकर प्रचार करते हैं, तो श्रावक-श्राविका शास्त्र को उपलब्ध कराकर उसका प्रचंडपुण्य प्राप्त करते हैं । इसलिए ही श्रावक के कर्तव्यो में एक **"पुत्थय-लिहणं"** पुस्तक लेखन बताया गया हैं ।

"सन्मार्ग प्रकाशन" भी ऐसे ही उत्तम उद्देश को मानती हुई जैन पुस्तक प्रकाशिका संस्था है ।

अचिन्त्य चिन्तामणि कल्प श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ परमात्मा की असीम कृपा से, वैसे ही जैन शासन शिरताज **तपागच्छाधिराज पू.आ.श्री.विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** की धर्मवाणी ग्रहण करके उनकी-श्रीमद् की निश्रा में ही इसकी संस्थापना हुई है, तो उनके - श्रीमद् के पट्टालंकार सर्वाधिक संख्यक श्रमण-श्रमणी संघनायक पू.आ.श्री.विजय **महोदयसूरीश्वरजी** महाराजा की अध्यात्म - उष्मा पाकर, उसका सविशेष विकास हुआ हैं ।

वे श्रीमद् के लघुगुरुबंधु **वर्धमान तपोनिधि पू.आ.श्री.विजय गुणयशसूरीश्वरजी महाराज** के प्रभावक शिष्यरत्न अनेकानेक ग्रंथो के सफल सर्जक - संपादक **पू.आ.श्री.विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा** का शास्त्रीय मार्गदर्शन अन्जान छोटे से मार्ग में अस्खलित प्रयाण करने के लिए मार्गदर्शक की तरह हमको प्रतिपल उपकारक बना रहा हैं । वे प्रत्येक पूज्यपुरुषो की कृपा के बल से ही हम प्राकृत-संस्कृत ग्रंथ, अभ्यास ग्रंथ, प्रवचन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथ, विधिविधान क्रिया उपयोगी ग्रंथ, उपरांत सन्मार्ग पाक्षिक की गुजराती-हिन्दी आवृत्तियाँ इत्यादि अनेकविध ग्रंथो के प्रकाशन द्वारा चरम तीर्थपति श्रमण भगवान श्री महावीर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट और **श्री गौतमस्वामीजी महाराजा - श्री सुधर्मास्वामीजी** महाराजा आदि पू. गणधर सूरिवर आदि द्वारा संवाहित ज्ञान विरासत को यत्किंचित् भी संभालने का श्रेय हासिल कर सके हैं ।

इसी श्रेणी में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धि कही जा सके वैसे **सूरिपुरंदर पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा** द्वारा संरचित और तपागच्छविभूषण पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराजा द्वारा विवृत्त किये गये **श्री षड्दर्शन समुच्चय नामक महाग्रंथ का गुजराती भावानुवाद प्रकाशित करने के लिए सात वर्ष पूर्व हम सौभाग्यशाली बने थे ।**

अब प्रस्तुत हिन्दी प्रकाशन को प्रकाशित करते हुए हमारा आनंद निरवधि बना हैं । पुरोवचन और मार्गदर्शन देते प्रवचन प्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा का...**

पिछले कई महिनो से अविश्रांत परिश्रम उठाकर, विद्वद्भोग्य ऐसे इस ग्रंथ का अनेकबार परिशीलन करके अत्यंत सरल फिर भी रस बना रहे ऐसी शैली में, अनेक परिशिष्ट, टिप्पणीयाँ, साक्षियाँ, गाथा-अकारादिक्रम, निश्चित प्रूफ-शुद्धि आदि पूर्वक प्रायः अकेले हाथ इस विराट कार्य को परिपूर्ण करते संयम प्रेमी **विद्वद्वर्य पूज्य मुनिराज श्री संयमकीर्तिविजयजी महाराज का...**

भावपूर्वक उपकार स्वीकार करके हम प्रभु के समक्ष प्रार्थना करते हैं कि, हम को मिली हुई शक्ति का हे प्रभु ! तेरे शासन की आराधना, प्रभावना, सुरक्षा के अनन्य आलंबनरूप श्रुत की भक्ति में सतत निष्काम भाव से सदुपयोग होता रहे।

- सन्मार्ग प्रकाशन

वि.सं. २०६८ कार्तिक वद-द्वि. ३,

ता. १४-११-११

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीक्षा युगप्रवर्तकश्रीजी के श्रीचरणों में ससम्मान श्रद्धांजलि

न्यायांभोनिधि पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **विजयानंदसूरीश्वरजी (आत्मारामजी)** महाराजा के स्वर्गवास के वर्ष में जन्मे, पादरा के माता **समरथ** व पिता **छोटालाल रायचंद** के इकलौते सुपुत्ररत्न **त्रिभुवनकुमार** ने दीक्षा की सार्वत्रिक विपरीत अवस्थाओं के बादलों को स्वपुरुषार्थ से बिखेरकर भरूच के पास **गंधारतीर्थ** में पू. मु. श्री **मंगलविजयजी** महाराजा के करकमलों से रजोहरण प्राप्त कर पू. मु. श्री **प्रेमविजयजी** महाराज (बाद में सूरीश्वरजी) के प्रथम पट्टशिष्य के रूप में पू. मु. श्री **रामविजयजी** महाराज का नाम धारण किया। उस समय दीक्षितों व दीक्षार्थियों को दीक्षा का आदान-प्रदान करने के लिए जिस तरह से संघर्ष करना पड़ता था, उस परिस्थिति में पूर्व-पश्चिम जैसा प्रचंड बदलाव लाने का दृढ़ संकल्प करके उनके मूल कारण खोजकर उसे जड़-मूल से उखाड़ फेंकने का उन्होंने भीष्म पुरुषार्थ शुरू किया था।

इस पुरुषार्थ की नींव की शिला **'प्रवचनधारा'** बनी। अनंत तीर्थंकरों को हृदय में बसाकर, जिनाज्ञा-गुर्वाज्ञा को भाल प्रदेश में स्थापित कर, करकमल में आगमादि धर्मशास्त्र धारण कर, चरणद्वय में चंचला लक्ष्मी को रखकर, जिह्वा के अग्रभाव में शारदा को संस्थापित कर इन महापुरुष ने दीक्षाविरोध के खिलाफ भीषण जेहाद छेड़ी थी। अनेक बाल, युवा, प्रौढ और वृद्धों को दीक्षा प्रदान की। एक साथ परिवार दीक्षित होने लगे। हीराबाजार के व्यापारी, मिलमालिक, डॉक्टर, इंजीनियर व चार्टर्ड एकाउन्टेंट भी उनकी वैराग्य वाणी से प्रभावित होकर वीरशासन के भिक्षुक बन गए।

इस कार्यकाल के दौरान इन श्रीमद् को कई उतार-चढ़ाव, अपमानों, तिरस्कारों, कांच की वृष्टि, कंटकों के रास्ते, काले झंडे, स्थान व गांव में प्रवेश न मिले, ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पंड़ा। पैंतीस से अधिक बार तो सिविल व क्रिमिनल गुनाहों में आरोपी बनाकर जैन वेषधारियों ने ही अदालत दिखाई। मां समरथ के जाए, रतनबा द्वारा पोषित, सूरिदान की आंखों के तारे और समकालीन सर्व वरिष्ठ गुरुवर्यों के हृदयहार के रूप में स्थान प्राप्त करने वाले पूज्यश्री ने जिनाज्ञा व सत्यवादिता के जोर पर इन सभी आक्रमणों पर विजय प्राप्त की थी। पू. मु. श्री **रामविजयजी** महारांजा से पू. आ. श्री विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा के रूप में विख्यात हुए श्रीमद् व्याख्यानवाचस्पति, परमशासनप्रभावक, महाराष्ट्रादिदेशोद्धारक, दीक्षायुगप्रवर्तक, जैनशासनसिरताज, तपागच्छाधिराज जैसे १०८ से अधिक सार्थक खिताब पाकर जैनशासन को आराधना, प्रभावना और सुरक्षा के त्रिवेणी संगम से परिस्नात कराते रहे।

कट्टर से कट्टर विरोधी वर्ग को भी वात्सल्य से देखते और अपने प्रति गंभीर अपराध करनेवाले को भी झट से क्षमा दान करनेवाले श्रीमद् ने अपने ७७-७८ वर्ष के सुदीर्घ संयमपर्याय में मुख्य रूप से दीक्षाधर्म की सर्वांगीण सुरक्षा-संवर्धना की, उनके बीज ऐसे सुनक्षत्र में बोए कि उनके नाम से पुण्य संबंध रखनेवाले एक ही समुदाय में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज लगभग १४०० संयमी साधनारत हैं। अन्य समुदाय, गच्छ व संप्रदायों में दीक्षाप्रवृत्ति के वेग में भी वे श्रीमद् असामान्य कारणरूप हैं। यह किसी भी निष्पक्षपाती को कहने में गुरेज नहीं होगा।

पूज्यपादश्रीजी के दीक्षास्वीकार की क्षण **वि. सं. २०६८ की पोष सुदी त्रियोदशी** को '**शताब्दी**' में मंगलप्रवेश कर रही है और पूरे वर्ष के दौरान इस उपलक्ष्य में **दीक्षाधर्म** की प्रभावना के विविध अनुष्ठान आयोजित किए जा रहे हैं।

पालीताणा में '**सूरिरामचंद्र**' के साम्राज्यवर्ती पूज्य गच्छस्थविर पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **ललितशेखरसूरीश्वरजी** महाराजा, वात्सल्यनिधि पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **महाबलसूरीश्वरजी** महाराजा, गच्छाधिपति पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **पुण्यपालसूरीश्वरजी** महाराजा, प्रवचनप्रभावक पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा आदि दशाधिक सूरिवर, पदस्थ, शताधिक मुनिवर तथा पंचशताधिक श्रमणीवरों की निश्रा-उपस्थिति में पंचदिवसीय महोत्सव के आयोजन के साथ आरम्भित '**दीक्षाशताब्दी-महोत्सव**' देशभर में अनेक स्थलों पर भावपूर्वक मनाया जा रहा है। पूज्यश्री के साथ संलग्न स्मृतिस्थान-तीर्थों में भी विविध आयोजन किए गए हैं। समुदाय के अन्य सूरिवर आदि की निश्रा-उपस्थिति में भी राजनगर, सूरत, मुंबई आदि स्थलों पर प्रभावक आयोजन किए गए हैं।

इन सभी आयोजनों के सिरमौर व समापन स्वरूप पूज्यपादश्रीजी के दीक्षास्थल श्री गंधारतीर्थ में अधिक से अधिक संख्या में चतुर्विध श्रीसंघ को आमंत्रित कर दिगदिगंत में गुंजायमान होनेवाला दीक्षादुंदुभि का पुण्यघोष करने की गुरुभक्तों व समिति की भावना है।

दीक्षाशताब्दीवर्ष में जिनभक्ति, गुरुभक्ति, संघ-शासनभक्ति के विविध अनुष्ठान आयोजित किए जाएंगे । वैसे ही अधिक से अधिक संख्या में मुमुक्षुओं, महात्माओं के दीक्षा महोत्सव भी आयोजित किए जाएंगे। साथ ही ज्ञानसुरक्षावृद्धि, अनुकंपा एवं जीवदयादि के संगीन कार्य करके पूज्यपादश्रीजी के आज्ञासाम्राज्य को ससम्मान श्रद्धांजलि समर्पित की जाएगी।

इस बृहद् योजना के अंतर्गत ही प्राचीन व अर्वाचीन श्रुतप्रकाशन का सुंदर व सुदृढ़ कार्य शुरू किया गया है। सूरिरामचंद्रसाम्राज्य के वर्तमानगच्छाधिपति प्रवचनप्रदीप पूज्यपाद् आचार्यदेव श्रीमद् विजय **पुण्यपालसूरीश्वरजी** महाराजा के आज्ञाशीर्वाद प्राप्त कर प्रवचनप्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराजा के शास्त्रीय मार्गदर्शनानुसार विविध श्रुतरत्नों का प्रकाशन '**शासनसिरताज सूरिरामचंद्र दीक्षाशताब्दी ग्रंथमाला**' के उपक्रम से निर्धारित किया गया है। इसके **पंचम-पुष्प स्वरूप "षड्दर्शनसमुच्चय-हिन्दी भावानुवाद-भाग-१"** ग्रंथ का प्रकाशन करते हुए अतीव आनंद अनुभव कर रहे हैं।

इस पुस्तक का संकलन-संपादन कार्य विद्वद्वर्य पू. मुनिराज **श्री संयमकीर्तिविजयजी** महाराजने करके महान उपकार किया है, तो **सन्मार्ग प्रकाशन,** अहमदाबाद ने भी अथक मेहनत से मुद्रण-प्रकाशन व्यवस्था में पूरा सहयोग दिया है, जिसके लिए उन सभी के भी उपकृत हैं।

सभी कोई इस पुस्तक के पठन-पाठनादि से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षयोपशम पाकर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़कर आत्मश्रेयः प्राप्त करें, यही हार्दिक-भावना है।

वि. सं. २०६८, माघ सुदी १३ — **शासनसिरताज सूरिरामचंद्र दीक्षाशताब्दी समिति**

रविवार दिनांक ५-२-२०१२

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरोवचन

जगत के सभी जीव सुख के कामी है । सुख पाने की जिनको इच्छा हो उनको दुःख तो इच्छनीय होता ही नहीं, यह समज में आये ऐसी बात है । जीवो को दुःख से छुडाकर सुखी बनाने के लक्ष्य से ही जगत के सर्वदर्शनो की प्रस्थापना हुई है । दर्शन अर्थात् धर्म । दर्शन अर्थात् दृष्टि, समज या मान्यताविशेष । जीव को दुःख में से सुख की ओर ले जाने के उद्देश से जगत में प्रसारित-प्रचारित की गई कोई निश्चित मान्यता और तदनुसारी आचरणा को ही दर्शन के रूप में पहचाना जाता हैं ।

जैनदर्शन ने मुक्तिमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयी की आराधना बताई है । ये तीनों में भी एक अपेक्षा से सम्यग्दर्शन ही प्रधान हैं । क्योंकि वह नींव के स्थान पे है । सम्यग्दर्शन की शुद्धि के आधार पे ही ज्ञान और चारित्र की सम्यक्ता टिकी रहती हैं । यदि दर्शन सम्यक् हो तो ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् बनते हैं और यदि दर्शन मिथ्या हो तो ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या बनते हैं । सम्यक् बने हुए दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही भवपरंपरा का अंत ला सकते हैं ।

इसी लिए ही प्रत्येक आत्मार्थी - सुखार्थी जीवो को सब से पहले सातत्य से दर्शन को "सम्यक्" बनाने का प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए ।

दर्शन को सम्यक् बनाने के लिए सर्वप्रथम जगत के सभी पदार्थो को हेयोपादेयादि के विभागपूर्वक जानने पडते हैं । उसके साथ साथ अन्य अन्य दर्शन जिस अनुसार से पदार्थो की संख्या और पदार्थो का स्वरूप समजाते हैं, उसको जानना पडेगा और सर्व दर्शनो में कौन सा दर्शन यथार्थ है उसका निर्णय किया जाये तो ही मोक्षलक्षी आराधना सम्यक् बनती हैं।

सूरिपुरंदर पू. आचार्यदेव श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा पूर्वावस्था में वेदांतदर्शन के प्रकांड विद्वान थे। वे चौदह विद्याओं के पारगामी थे । समर्थ वादी थे । राजमान्य थे। राज पुरोहित के पद पे प्रतिष्ठित थे । साथ साथ जैनदर्शन के वे कट्टर द्वेषी भी थे । फिर भी वे सरल थे । उनमें अखंड ज्ञानपिपासा थी । उसी ज्ञानपिपासा में से ही उन्हों ने एक प्रतिज्ञा की थी कि, किसी भी वाक्य का अर्थ-परमार्थ उनको समज में न आये तो उसे समझाने वाले का वे शिष्यत्व स्वीकार करेंगे।

एकदा राजमार्ग के उपर से गुजरते एक साध्वीजी भगवंत के मुख से बोली जाती प्राकृत गाथा का सांकेतिक अर्थ-परमार्थ समज न सकने से, साध्वीजी महाराजा के मर्यादा-पालन से जैनाचार्य की शरण में जाकर विनय-विवेक से अर्थ की याचना करने से आचार्यश्री की दीर्घदृष्टिपूर्ण गीतार्थता से अभिभूत होकर वे जैनश्रमण बने । पूर्वकाल के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान-प्रतिष्ठा-पांडित्य आदि सर्व का त्याग करके जिनागमो के आराधक बने, पारदर्शी बने, पारंगत बने । जैसे जैसे जिनागमो की पंक्तियों का वे स्पर्श करते गये, वैसे वैसे उनकी आँखों के सामने अन्यदर्शनो की बाते - तत्त्व - उभरने लगे । सभी दर्शनो की माध्यस्थ्य भाव से तुलना - परीक्षा करके उन्हों ने - श्रीमद् ने

"युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः"

- युक्तिपूर्वक का (न्याय संगत - सत्य) वचन जिनका होगा, उनका में स्वीकार करूँगा - यह उद्घोषणा करके जैनदर्शन की यथार्थता को जगत में अच्छी तरह से प्रकाशित की ।

सत्य का स्वीकार और उसके प्रति अविहड श्रद्धा के प्रभाव से ही यह संभव बना होने से उन्हों ने - श्रीमद् ने - "संबोध-प्रकरण" नाम के महाग्रंथ में एक स्थान पे अपने हृदय के भावो को व्यक्त करते हुए बताया है कि,

कहं अम्हारिसा पाणी दूसमादोसदूसिया ।
हा ! अणाहा कहं हुंता जई न हुंतो जिणागमो ।।

अर्थ : दूषमकाल की विचित्रताओं से दोषित बने हुए हमारे जैसे अनाथ जीवो का, यदि जिनागम न मिले होते तो क्या होता ?

ऐसे वे प्राज्ञवर महापुरुष ने जगत में प्रसिद्ध प्रत्येक दर्शनो की मान्यता-आचरणाओं का ज्ञान मिले इसके लिए **"षड्दर्शन समुच्चय"** नामक महान संग्रहग्रंथ की रचना करके महोपकार किया हुआ हैं । इस ग्रंथ में उन्हों ने - श्रीमद् ने (१) बौद्धदर्शन, (२) नैयायिक दर्शन, (३) सांख्यदर्शन, (४) जैनदर्शन, (५) वैशेषिक दर्शन और (६) मीमांसक दर्शन, ये छः दर्शनो की बहोत ही सुंदर, संग्रहात्मक शैली में प्रामाणिक माहिती दी हुई है । साथ साथ दर्शन नाम होते हुए भी वास्तविक रूप से देखने से दर्शन की कक्षा में न आ सके ऐसे लोकायत = चार्वाक मत की भी आवश्यक जानकारी दी हैं ।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के उपर तार्किक सम्राट पू.आ.भ. श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी महाराज ने बहोत ही विशद वृत्ति की रचना की हैं ।

यह ग्रंथ तत् तत् दर्शनो के महत्त्व के प्रत्येक सिद्धांत आदि का बहोत ही असरकारक तरीके से वर्णन करता हैं । वह वर्णन भी न्याय की शैली में किया गया हैं । उसकी एक-एक पंक्ति को समजने के लिए बुद्धि काफी कसनी पडती है और इसके उपरांत भाषा ज्ञान उपरांत तर्क के प्रारंभिक ग्रंथ और सूक्ष्म क्षयोपशम की आवश्यता पडती हैं । ऐसी ज्ञानलक्ष्मी बहोत कम पुण्यात्माओं के पास होने से, इस ग्रंथ का अभ्यास करनेवालो की संख्या भी कम ही हो, यह समजा जा सकता हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेंकडों वर्षो से जैनसंघ में इस ग्रंथ का अभ्यास होता आया हैं । इस ग्रंथ का भाव मध्यम क्षयोपशमवाले अभ्यासुओं को भी जानने-अनुभव करने को मिले इस उद्देश से इसका सरल शैली में भावानुवाद होना अनिवार्य है, ऐसा जैनशासन शिरताज तपागच्छाधिराज पू.आ.भ.श्री विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा अनेक बार कहते थे । गुजराती भाषा में इस ग्रंथ का भावानुवाद सात वर्ष पहले प्रकाशित हुआ ही है ।

प्रस्तुत ग्रंथ हिन्दीभाषी वर्ग के लिए हिन्दी में तैयार किया जाता हैं । पूर्व प्रकाशित गुजराती भावानुवाद से प्रस्तुत हिन्दी भावानुवाद में अनेक परिशिष्ट नये बढाये गये है । षड्दर्शन विषयक उपलब्ध प्रायः सभी कृतियों को एक **"षड्दर्शन सूत्रसंग्रह एवं षड्दर्शन विषयक कृतयः"** नामक स्वतंत्र ग्रंथ में समाविष्ट किया गया हैं । तुलनात्मक अभ्यास आदि करने की इच्छा रखनेवाले आत्माओं को बहोत उपयोगी बनेगा।

प्रस्तुत ग्रंथ में किस किस क्रम से किस किस दर्शन संबंधित कौन-कौन से विषयों का निरूपण हैं, उसका निर्देश अनुक्रमणिका में किया गया होने से यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है । इस ग्रंथ का भावानुवाद उपरांत परिशिष्टों की संकलना, टिप्पणीयाँ, तत् तत् दर्शन के तत् तत् विषयो के तत् तत् ग्रंथो के शास्त्र संदर्भ आदि के सहित सर्वांग सुंदर संपादन कार्य बहोत ही सूक्ष्मबोध, समय, कौशल्य, रूचि और महेनत माँग ले वैसा होने पर भी संपादक-भावानुवादकार महात्मा ने उसको सांगोपांग पूर्ण करके अनुमोदनीय श्रुतभक्ति का कार्य किया हैं ।

जैन शासन शिरताज तपागच्छाधिराज पूज्यपाद **आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंदसूरीश्वरजी महाराजा** के शिष्यरत्न उत्तम संयमी **मुनिराज श्री दर्शनभूषणविजयजी महाराजा** के शिष्यरत्न **प्रवचनकार पंन्यास श्री दिव्यकीर्तिविजयजी गणीवर्य** के शिष्यरत्न प्रवचनकार **पंन्यास श्री पुण्यकीर्तिविजयजी गणीवर्य** के वे शिष्यरत्न हैं और निर्मल संयम के लक्ष्य और पालन - प्रयत्नपूर्वक वे निरंतर व्याकरण, न्याय, दर्शन जैसी जटील लगती ज्ञानशाखाओं में निपुणता प्राप्त करके सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि का पुरुषार्थ कर रहे हैं ।

उनका यह पुरुषार्थ अनेकानेक भव्यात्माओं को षड्दर्शन के बोध के द्वारा यथार्थ - अयथार्थ दर्शनो का बोध कराके यथार्थ मार्ग का श्रद्धान कराके उसके सुरुचिपूर्ण स्वीकार और परिपालन के मार्ग पे सर्वकर्म का क्षय कराके शाश्वत सुखात्मक मोक्ष को प्राप्त करानेवाला बने यही शुभाभिलाषा ।

का.सु. ५, २०६८ - जैनशासन शिरताज तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्यदेव
ता. ३१-१०-२०११ श्रीमद् विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा के शिष्यालंकार
सोमवार, पालीताणा वर्धमान तपोनिधि पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय **गुणयशसूरीश्वरजी** महाराजा के शिष्याणु - **विजय कीर्तियशसूरी**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"किंचित्"

मोक्षमार्ग की साधना को निर्मल बनाने के लिए सम्यग्दर्शन की शुद्धि अति आवश्यक हैं । सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए स्याद्वाद की रुचि जगाना आवश्यक है और उसके लिए स्याद्वाद का अभ्यास करना आवश्यक हैं । स्याद्वाद का सांगोपांग अभ्यास करके तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक बोध प्राप्त करने के लिए छः दर्शनो का अभ्यास करना जरूरी हैं। पहले गुजराती अनुवाद के रूप में प्रकाशित हुए प्रस्तुत ग्रंथ का यह हिन्दी प्रकाशन उसमें जरूर सहायक होगा ।

इस ग्रंथ में अन्य दर्शनों के निरुपण के साथ अंत में जैनदर्शन के निरूपण में बहोत पदार्थो की पेशकश में विविधता और विशेष स्पष्टता दिखाई देती है । जैसे कि...

नुनु सिद्धानां कर्मक्षयः किमेकान्तेन कथञ्चिद्वा ! आद्येऽनेकान्तहानिः, द्वितीये सिद्धानामपि सर्वथा कर्मक्षयाभावादसिद्धत्वप्रसङ्गः, संसारीजीववदिति । अत्रोच्यते । सिद्धैरपि स्वकर्मणां क्षयः स्थित्यनुभागप्रकृतिरूपापेक्षया चक्रे, न परमाण्वपेक्षया। न ह्यणुनां क्षयः केनापि कर्तुं पार्यते, अन्यथा मुद्गरादिभिर्घटादीनां परमाणुविनाशे कियताकालेन सर्ववस्त्वभावप्रसङ्गः स्यात्। ततस्तत्राप्यनेकान्त एवेति सिद्धं दृष्टेष्टाविरुद्धमनेकान्तशासनम् ।

भावार्थ : सिद्ध भगवान को सर्वथा एकान्त से कर्म का क्षय मानोंगे तो स्याद्वाद की हानि होगी और सर्वथा नहीं मानोंगे तो असिद्धत्व मानना पडेगा । ऐसी पूर्वपक्षी ने आपत्ति दी, उसके उत्तर में ग्रंथकार ने बताया कि -

सिद्ध भगवान को कर्म का क्षय परमाणु की अपेक्षा से नहीं हैं । परन्तु कर्मो की प्रकृति आदि की अपेक्षा से हैं । अणु का क्षय तो कभी भी हो ही नहीं सकता । परमाणु का क्षय मानने से तो सर्व वस्तु के अभाव का प्रसंग आयेगा । इस तरह से अनेकान्त शासन प्रत्यक्ष सिद्ध होता हैं ।

वैसे ही गाथा-५७ की टीका में एक स्थान पे स्याद्वाद सम्यग् एकान्त से दृढ बनता हैं, यह बात बहोत स्पष्ट की है। वस्तु में "जिस अंश से सत्त्व हैं, उस अंश के द्वारा एकांत सत्त्व माना जाये" तो एकान्त मानने से स्याद्वाद की हानी होगी और "जिस अंश के द्वारा सत्त्व है, वही अंश के द्वारा सत्त्वासत्त्व माने जाये", तो अनवस्था आयेगी। ऐसे पूर्वपक्ष के आक्षेप का जवाब देते हुए ग्रंथकारने बताया कि...

...सत्त्वासत्त्वादयो वस्तुन एव धर्माः, न तु धर्माणां धर्माः, 'धर्माणां धर्मा न भवन्ति' इति वचनात् । न चेवमेकान्ताभ्युगमादनेकान्तहानिः, अनेकान्तस्य सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्, अन्यथानेकान्तस्यैवाघटनाद्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणादनेकान्तस्यैवोपदेशात्, तथैव दृष्टेष्टाविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावार्थ : सत्त्व, असत्त्व इत्यादि वस्तु के ही धर्म हैं, धर्मो के धर्म नहीं हैं । क्योंकि "धर्मो के धर्म होते नहीं हैं" ऐसा वचन हैं ।

प्रश्न : इस तरह से वस्तु के ही धर्म मानने से एकान्तवाद का स्वीकार किया माना जायेगा और आपके अनेकान्त-सिद्धान्त की हानि होगी ।

उत्तर : यह बात युक्त नहीं हैं । **अनेकान्तवाद सम्यग् एकान्त के बिना संभव नहीं होता है ।** यदि अनेकान्त में सम्यक् एकान्त नहीं मानोंगे तो अनेकान्तवाद हो ही नहीं सकेगा । अर्थात् वस्तु का स्वरूप ही निश्चित नहीं हो सकेगा । यथायोग्य नय की अपेक्षा से एकान्तवाद का और प्रमाण से अनेकान्तवाद का ही उपदेश हैं और इस तरह से ही प्रत्येक पदार्थ किसी विरोध के बिना सुंदर प्रकार से व्यवस्थित रहा हुआ हैं ।

वर्तमान में कुछ लोग "धर्म मोक्ष के लिए ही हो" ऐसे सम्यग् एकान्त उपदेश से भड़क के (या भड़काके ?) उसके सामने अनेकान्त के नाम से "संसार के सुख के लिए भी धर्म हो" ऐसे उपदेश के द्वारा अनेकान्ताभास का समर्थन करके तत्त्व की हानि करते हैं । उनको यह बात बराबर समजनी चाहिए और तत्त्व का निश्चित स्वरूप श्रोता के हृदय में स्थिर हो ऐसा करना चाहिए ।

जगत में जयकारी श्री जिनेश्वर भगवान के शासन की यथार्थ श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन की शुद्धि करके सभी जीव परमपद को प्राप्त करे वही प्रार्थना ।

- पूज्य मुनिराज श्री दर्शनभूषणविजयजी म.सा. का

विनेय पं. दिव्यकीर्तिविजयगणी,

सुरत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संशोधकप्रतिभावः

तत् तत् दर्शनो के सिद्धान्तो का साम्य तथा वैषम्य समजना, वैसे तो सामान्य लोगो के लिए कठिन हैं । क्योंकि, उसके लिए दार्शनिक परिभाषा (Philosophical Terminology) का अभ्यास होना चाहिए । इसलिए बहोत ही महत्त्व के हो, ऐसे भी दर्शन के विषय लोकभोग्य नहीं बनते हैं । क्योंकि उसके पदार्थों का विवरण न्यायगर्भित सूत्रात्मक - टीकात्मक और गूढ होते हैं।

उस सूत्रात्मक - टीकात्मक और गूढार्थवाली भाषा को - पदार्थों को यदि सरल भाषा में, विवरणात्मक रुप से लोगो के समक्ष रखा जाये, अलग-अलग जगह पर आते पक्ष, सिद्धांत, मान्यतायें और दार्शनिक पदार्थो का यदि एकत्रीकरण किया जाये, तो वह सामान्य तथा विद्वान दार्शनिक विद्यार्थी जगत में उसका बहोत उपकारक हो सकता हैं। उसमें किसी की भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती ।

परन्तु यह कार्य बोलने जैसा करना आसान नहीं हैं । उसके लिए पर्याप्त परिश्रम, अनेक दर्शनशास्त्र के ग्रंथो का आलोडन, क्षीरनीरन्याय से सिद्धांतो को चुनना, उसकी सरल भाषा में रजूआत (पेशकश) करनी हो, तो वर्षो की मेहनत के बाद वह कार्य संभव होता हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक पू.मु. श्री संयमकीर्तिविजयजी महाराज साहब ने उस दुष्कर लगते कार्य को सुकर बनाने का कड़ा प्रयास किया है । इसलिए ही **"षड्दर्शन समुच्चय"** नामक ग्रंथ, कि जो पू. पूर्वाचार्य **श्री हरिभद्रसूरी म.सा.** रचित था, उसकी ऐसी - तत् तत् दर्शनो के पदार्थों का सरल रुप से बोध करा सके ऐसी हिन्दी व्याख्या की अतीव आवश्यकता थी । वह आज ग्रंथ के रुप में साकारित हुई है ।

दर्शन के मूर्धन्य माने जाते पू.पूर्वाचार्य **श्री हरिभद्रसूरी म.सा.** रचित **'षड्दर्शनसमुच्चय'** ग्रंथ के उपर पूर्वाचार्य तार्किकरत्न **श्री गुणरत्नसूरीजी.** म.सा.ने **'तर्करहस्य दीपिका'** नामक व्याख्या लिखी थी । परन्तु वह दार्शनिक शैली में - दार्शनिक भाषा में लिखी हुई थी । भाषा संस्कृत होने से और तार्किक शैली में लिखी हुई होने से वह सामान्य लोगो के लिए दुर्गम थी ।

परन्तु लेखकश्री ने उसके उपर प्रथम गुजराती व्याख्या, उसके बाद प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या (परिशिष्ट - दार्शनिक पदार्थो का विवरण, साक्षीपाठ सहित) लिखी है । वह वाचको के लिए गागर में सागर की तरह बहोत सारे दार्शनिक ग्रंथ, उसके सिद्धान्तों के निचोडरूप हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ की व्याख्या में लेखकश्रीने दर्शनो के सिद्धान्त, तत्त्व, मान्यतायें इत्यादि की सुस्पष्ट क्रमानुसार विवेचना की है, कि जिसमें न्याय-वैशेषिक, योग-सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, बौद्ध, जैन, चार्वाक दर्शनों का समावेश होता है।

उसमें वेदान्तदर्शन में वेदान्त के तत् तत् ग्रंथो में आते सिद्धान्तो का और वेदान्त के आन्तरभेद जैसे कि द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत इत्यादि का प्रतिपादन सरल भाषा में देखने को मिलते है । जिससे वेदान्त की सभी शाखायें और उसके संस्थापक आचार्यों के मतो का भी विवरण विस्तृत दिखाई देता है ।

मीमांसा दर्शन के बारे में भी उसके प्रमाणो की चर्चा, उसके सिद्धान्तो का विवरण, प्रमेय का निरुपण इत्यादि तथा उसके आन्तरभेद जैसे कि गुरुमत, कुमारील भट्टमत इत्यादि मतो का भी सुस्पष्ट विवरण देखने को मिलता है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायदर्शन में भी उसके प्रवर्तक आचार्य से लेकर न्याय के पदार्थ विज्ञान की चर्चा और इतर दर्शन से भिन्न सिद्धान्त और प्रमाण-प्रमेय इत्यादि पदार्थो का सुसूक्ष्म आलेखन दृष्टिगोचर होता है ।

वैशेषिक दर्शन में भी उसके संस्थापक आचार्य से लेकर पदार्थो का विवरण दिखाई देता है ।

सांख्य-योग और बौद्ध, कि जिसके बारे में पर्याप्त ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, ऐसे दर्शनो के भी हाल पुस्तक रुप में और प्रतरुप में उपलब्ध ऐसे ग्रंथो का सहारा लेकर उस काल के तत् तत् दर्शनो के आचार, मान्यतायें और खास करके बौद्ध दर्शन कि जिसकी लुप्त शाखायें, इत्यादि का अप्राप्य ऐसा बहोत विवरण देखने को मिलता है, कि जो दूसरे दर्शन के ग्रंथो से इस ग्रंथ की मुख्य विशेषता हैं ।

जैन दर्शन के हृदय समान माने जाते स्याद्वाद=अनेकान्तवाद का परिचय, कि जो मूल में और संस्कृत टीका में दिया ही हैं । परन्तु उसका विशदीकरण एवं सरलीकरण करके लेखकश्रीने उसे विशिष्ट प्रकार से बताया है।

वस्तु को उसके समग्र रुप से जानना, देखना और उसमें रहे हुए यावत् धर्मो से उसका ज्ञान करना और विरुद्ध लगते वाक्यों को भी नय, निक्षेप द्वारा, सापेक्ष भाव द्वारा समन्वित करने में जैनदर्शन का प्रभुत्व प्रतीत होता हैं। जैनदर्शन के पदार्थ, कि जो मूलकार श्री हरिभद्रसूरी म.सा. ने और टीकाकार श्री गुणरत्नसूरी. म.सा.ने बताये हैं, लेखकश्रीने उसमें बहोत बढावा करके तत् तत् पदार्थो को लोकभोग्य बनाने का बहोत ही प्रयत्न किया है ।

तदुपरांत अपने जैन-दर्शन के बहोत ही महत्त्व के पदार्थ नय, निक्षेप, सप्तभंगी इत्यादि का सुस्पष्ट परिचय लेखकश्री ने प्रस्तुत ग्रंथ में दिया है और जैनदर्शन का सामान्य परिचय देकर उसमें विशेष पदार्थो की पेशकश करके इतर दर्शन से जैन दर्शन की विशेषताओं का सरल भाषा में विवेचन किया गया हैं ।

अप्रसिद्ध ऐसे बौद्ध दर्शन का परिचय भी सुस्पष्ट रुप से दिया है और उसके तत्त्व निरूपण, आचार इत्यादि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन कि जो तत्, तत् ग्रंथो में दिखाई देता था, उन सब का एक ही ग्रंथ में अन्तर्भाव हो जाये, उस प्रकार सबके अर्क समान पदार्थ परोसने की जो लेखकश्री की शैली हैं, वह ध्यान खिंचती है । उपरांत, तत् तत् ग्रंथो का सामूल अवलोकन करके ग्रंथस्थ करने का प्रयत्न किया है वह बहोत ही अनुमोदनीय है ।

लेखकश्रीने यह परिश्रम केवल श्रुतसेवा के यह उत्तम हेतु से ही किया है । वाचक वर्ग उसे स्वयं पढकर अन्यों को प्रेरणा देकर पढाये और इस प्रकार लेखकश्री के इस परिश्रम को सार्थक करे वही अपेक्षा है।

प्रकृत ग्रंथ के विषय में एवं लेखकश्री के विषय में लिखने समय एक सुभाषितकार की मनोव्यथा याद आती है। व्यथा यह है कि, "सोने में यदि विधाता ने सुगंध रखी होती तो उसका मूल्य कितना बढ जाता ! । गन्ने में यदि फल आते तो वे कितने मधुर होते ! । विद्वान सुवक्ता होते तो विद्वत्ता को चार चांद लग जाते ! । उपरांत, राजा यदि दीर्घायुष्यधारी होता तो पृथ्वी पर शांति का साम्राज्य होता !।

दार्शनिक उससे भी आगे कल्पना करते हुए कहते है कि, प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति में यदि परिश्रम नाम का बीज और लेखन शक्तिरूप जल का यदि सुयोग हुआ होता तो दर्शन सिद्धान्त रूपी फल अवश्य लोकभोग्य बना होता!।

इन तीनो का अर्थात् प्रतिभा, परिश्रम और लेखनशक्ति का समन्वय जिन में है, ऐसे पू. मुनि श्री संयमकीर्तिविजयजी म. सा. प्रतिभा के बल से दर्शनो के ग्रंथो का अवलोकन करके, सूक्ष्मतत्त्वो का विवरण, तार्किक युक्तियों द्वारा एवं शास्त्रपाठो के आधार लेकर परिश्रम द्वारा एवं सरलतम लेखन शक्ति से अन्य दर्शनो के कठिन पदार्थ घटित ऐसा भी ग्रंथ देवगुरु आदरणीयों की कृपा रुप प्रसाद से लिख सके है । जो अतीव अनुमोदनीय कार्य हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषतायें तो बहोत है, परन्तु अन्यत्र न दिखाई दे ऐसी विशेषतायें, कि जो देखनेवाले को, अभ्यास करनेवाले को, तुरंत नजर में आ जाये ऐसी हैं, उसमें से कुछ नीचे बताये अनुसार हैं -

(१) **"नामूलं लिख्यते किंचित्"** - कोई भी मान्यता, आचार, मत या सिद्धान्त किसी भी दर्शन का लिखे तो उसमें टिप्पणी में अथवा पास में शास्त्रपाठ का अवतरण अवश्य दिखाई देता है । जो विशेषता उपरोक्त उक्ति को सिद्ध करती हैं ।

(२) जैनदर्शन में खास तौर पे नय, सप्तभंगी, निक्षेप आदि पदार्थो का सुसूक्ष्म निरुपण, उपरांत क्रमानुसार रजूआत, युक्तियों द्वारा उक्तियों का समर्थन ।

(३) इतर दर्शन जैसे कि, बौद्धादि दर्शनो का क्वचित् ही दिखाई देता आचार-मान्यता विषयक विवरण एवं उन के पदार्थ संबंधित रजूआत ।

(४) वाक्य, शब्दरचना, अल्पविराम इत्यादि में पर्याप्त सुव्यवस्था ।

(५) जहाँ आवश्यकता देखी वहाँ कठिन शब्दो का समानार्थ शब्द अथवा उसके भावार्थ का विवरण ।

(६) वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं का परिचय एवं विभिन्न स्थानों में से उसका उद्धरण करके उसकी सुस्पष्ट रजूआत इत्यादि ।

(७) प्रस्तुत ग्रंथ की प्रारंभ की **"भूमिका",** कि जिस में सभी दर्शनो की हल्की सी रुपरेखा (Guide line) दी गई है, कि जिसमें सभी दर्शनो के तत्त्वनिर्देश तथा देवता, दार्शनिक सिद्धान्त, प्रमाण विचार, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के परिचय भूमिका में ही समाविष्ट है, कि जिससे वाचको को केवल भूमिका मात्र के अभ्यास से ही दर्शन पदार्थ का सामान्य बोध हो सकता हैं ।

उपरोक्त मुद्दे और दूसरी बहोत विशेषतायें लेखकश्री के लेखन में देखने को मिलती है । परन्तु स्थान के अभाव में उसे केवल स्मृति में ही रखकर संतोष मानना पडे ऐसा है ।

इस तत्त्वसभर ग्रंथ की अर्थसभर सुलभ रजूआत (पेशकश) करके लेखकश्रीने दुर्गम ऐसे कार्य को साङ्गोपाङ्ग पार उतारने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है ।

उसके लिए लेखकश्रीने उठाये हुई परिश्रम की रजूआत नहीं करनी चाहिए, फिर भी दो शब्द कहे बिना नहीं रह सकता । लेखकश्रीने कई दिनों के परिश्रम के बाद अर्थात् लगभग एक वर्ष का परिश्रम लेकर लगभग तत् तत् शास्त्रो के मूर्धन्य ग्रंथो का अवलोकन करके, विभिन्न व्याख्यायें, शास्त्रपाठ देखकर और हिन्दी भाषान्तर, पूफ में रही हुए भूलों को भी उद्धृत करके वाचक वर्ग को पूर्णतया सरलता प्रदान करने का अनूठा कार्य किया है ।

इसलिए ही दुर्लभ और दुर्गम लगते दार्शनिक सिद्धान्तों का भी प्रकृत ग्रन्थ में एकत्रीकरण हुआ दिखाई देता है।

अतिशय परिश्रम पूर्वक का यह ग्रंथ वाचक वर्ग को दर्शनों के पदार्थो का सम्यक् बोध करने में सहायक बने और ज्यादा से ज्यादा वाचक वर्ग इस ग्रंथ का लाभ ले, ऐसी अंतर की शुभेच्छा सह विराम लेता हुँ ।

कार्तिक वद द्वि. ३, २०६८
दिनांक १४-११-२०११
वार-सोमवार

मेहुल शास्त्री
(न्यायाचार्य-तर्कवारिधिः)
५, राधाकृष्णनगर, गोंडल,
जनपद-राजकोट (गुजरात)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारस्वतवचनम्

इह किल प्रचञ्चूर्यमाणे वैरिञ्चे प्रपञ्चे प्रायशः सर्वे एव हि शरीरावच्छिन्नजीवात्मानः सुखस्य प्राप्तिं दुःखस्य च निवृत्तिं कामयमाना दृष्टिपथमवतरन्ति ।

आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिस्तु जीवात्मनः मोक्षे एव सम्भवति, मोक्षश्च तत्त्वज्ञानाधीनः, तत्त्वज्ञानञ्च दर्शनशास्त्रप्रयोज्यम्। दर्शनशास्त्रञ्च षड्विधमिति परमपूज्याचार्यभगवता हरिभद्रसूरिणा षड्दर्शन समुच्चये -

दर्शनाति षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया ।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ।।
बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ।।

- इत्युक्तम् ।

तत्र जैनदर्शने सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं चेति रत्नत्रयमेतन्मोक्षसाधनम् । अत्र च जैननयप्रवचनसार-संकलनपरे परमागमसारे योगदेवेन श्रद्धानापरपर्यायं सम्यग्दर्शनमिति - "तत्त्वार्थं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इति तत्त्वार्थसूत्रानुसारि प्रपञ्चितम् ।

वाचकमुख्येनाऽप्याख्यायते - "सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति तदुक्तमन्यत्रापि –

रूचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते ।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा ।।

सम्यग्ज्ञानञ्च–

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ।।

- इत्युक्तलक्षणम् ।

तच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानभेदात् पञ्चधा ।

सम्यक्चारित्रञ्च **संसारकारणकर्मकलापमुञ्छेत्तुमिच्छोः**
सम्यग्दर्शनापरपर्यायश्रद्धानशीलस्य ज्ञानिनो दुष्कृति -
सङ्गमननिदानाचरणकारणनिवृत्तिरूपम् ।
सर्वथाऽवद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते ।
कीर्त्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रीणि चैतानि रत्नानि मिथो मिलितान्येव परमपुरुषार्थसाधनानि, न पुनः प्रातिस्विकरूपेण, एतानि च परस्पराविरुद्धस्वभाववन्ति भवन्ति, ⟶

⟶ **भवन्ति मिथो मिलन्त्येव मोक्षायालम् ।**

विरुद्धप्रकृतिकान्यपि सत्त्वरजस्तमांसि परस्परमपेक्षमाणान्येवैकमपरमभिभवन्त्यपि यदि वा वातपित्तकफाख्या दोषा अपि विरुद्धस्वभावा समविषमभावापन्ना वर्जयित्वैकं नार्जयन्ति कार्यम्, किमुताविरुद्धनिजभावानि तानि रत्नानीति ।

यद्यपि अत्रोक्तः सर्वोऽपि विषयः सर्वजनहिताय स्वनामधन्येन आचार्य भगवता हरिभद्रसूरिणा स्वनिर्मितषड्दर्शनसमुच्चये विस्तरेण वर्णितः ।

तथाऽपि आधुनिकानां सर्वेषां मुमुक्षूणां संस्कृतभाषायां तावत् प्रभुत्वाभावेन तत्सर्वोऽपि मोक्षोपयोगी पदार्थः मुमुक्षूणां अनभिज्ञो भवेदिति मत्त्वा स्वगुर्वादेशप्राप्तेन तपस्विना मुनिना संयमकीर्ति महाराजेन स्वार्थं विनैव भाषान्तररूपमेतावन्महत्कार्यमनुष्ठितम् । अत एवोक्तं नीतिशास्त्रे - **"एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः"** इत्यादि ।

तत्र सर्वप्रथमन्तावत् गुर्जरप्रान्तं मनसि निधाय तैस्तादृशाकरग्रन्थस्य गुर्जरभाषायामनुवादो विहितः। तावता महता कार्येणाऽपि तेषां प्रवृत्तिः नैव शान्ता, एतैः मुनिभिः न्यायाचार्येण मेहुलशास्त्रिणा समं वार्त्तालापं विधाय समस्तभारतवर्षं लक्षीकृत्य सर्वेषां भारतीयानां मोक्षोपयोगिदर्शनाध्ययने प्रवृत्तिः सरला भवेदिति ध्यात्वा अस्याकरग्रन्थस्य हिन्दी भाषायामप्यनुवादोऽनुष्ठितः ।

अतः परं तादृशानुवादस्य पदपदार्थयोः सम्बन्धः समीचीनोऽस्ति न वेति समस्यायामुपस्थितौ कस्यचिद् विदुषः आवश्यकताऽभूत्, तदानीमेतैः मुनिभिः मत्सम्पर्कः साधितः, तत्र तावदध्ययनाध्यापनकार्ये व्यस्तोऽप्यहं समयाऽभावेऽपि किञ्चित्कालं सम्प्रदाय अस्मिन् महति अनुवादकर्मणि संशोधनकार्यं सम्पादितवान् ।

तत्र संशोधनकार्यवेलायां कश्चिन्मामकः अनुभवः अभूत्; यथा एतत्कार्यस्य पारलौकिकं प्रयोजनं पूर्वमस्माभिर्दृष्टम्। तथैव ऐहिकलाभोऽपि कार्यस्यास्य विद्यते एव; समस्तभारतवर्षे स्नातकस्नातकोत्तर-कक्षायामभ्यासक्रमे भारतीयदर्शनमास्ते, मन्येऽहं तत्रायं ग्रन्थः महदुपकृतो भविष्यतीति ।

अपरञ्च मूलग्रन्थे दुरुहपदार्थानामवबोधे सर्वेषां प्रवृत्तिः सुकरा न स्यात्, किन्तु अनेन अनुवादग्रन्थेन सर्वेषां जिज्ञासूनां प्रवृत्तिः अतीवसरलाऽभूत् इत्यलम्पल्लवितेन ।

कार्तिक वद-१३, २०६८
दिनांक २३-११-२०११
बुधवार

डॉ. विष्णुप्रसाद शास्त्री
न्यायाचार्यः
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय,
वाराणसी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

धर्म दिव्य पाथेय हैं :

धर्म सदा - सर्वदा अविनश्वर होने से दिव्य पाथेय हैं । जो हंमेशा खाद्य, अत्यंत पवित्र, समस्त प्रकार के दोष से रहित, अक्षय, अमूल्य, अपूर्व दिव्य पाथेय हैं । जो मृत्यु के बाद भी साथ रहता है और मोक्ष तक अवश्य पहुँचाता हैं ।

धर्म विशुद्ध बुद्धि से जानना और जीवन में उसकी निर्मलभाव से आराधना करना आवश्यक है । इसलिए धर्म के रहस्य सूक्ष्मबुद्धि से समजना आवश्यक है । अनेकांतदृष्टि से सूक्ष्मबुद्धि का विकास होता है और अनेकांतदृष्टि प्राप्त करने के लिए श्री जिनागमों और पूर्व महर्षियों के द्वारा विरचित प्रकरण ग्रंथो (शास्त्रो) का आत्मलक्षी अभ्यास, चिंतन, मनन, निदिध्यासन करके धर्म, आत्मा, बंधन, मुक्ति, विश्व आदि पदार्थो का यथार्थ निर्णय करना अति आवश्यक है । यथार्थ निर्णय के बिना भ्रान्तियों का उन्मूलन नहीं हो सकता और इसके बिना संस्कारो का परिवर्तन नहीं हो सकता । **इसलिए ही कुसंस्कारो का उन्मूलन और सुसंस्कारो का सिंचन करने के लिए वस्तुस्थिति के यथार्थ निर्णयपूर्वक हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति करने का तारक श्री तीर्थंकरो ने हम सब को उपदेश दिया है।**

दर्शनबोध की आवश्यकता :

श्री जिनागम और श्री जिनागम का अनुसरण करके रचे गये प्रकरण ग्रंथों में अनेक स्थान पे दार्शनिक चर्चायें आती है । किसी स्थान पे पूर्वपक्ष में अन्यदर्शन की मान्यताओं को उपस्थित की जाती है और उत्तरपक्ष में उसका खंडन करके स्वपक्ष का मंडन किया जाता हैं । दार्शनिक ग्रंथों में तो प्रत्येक पंक्ति-पंक्ति पर तत् तत् दर्शनो की मान्यतायें और उसका खंडन अवतरित हुआ दिखाई देता है । प्रत्येक दर्शन के ग्रंथो में यह शैली दिखाई देती है। आचार ग्रंथो में तो स्वदर्शन को इष्ट आचार संहिता का निरुपण हुआ होता है । परन्तु द्रव्यानुयोग और दार्शनिक ग्रंथो में पूर्वोत्तर पक्षो की रचना करके खंडन-मंडन की शैली अपनाई हुई दिखाई देती है । **१४४४ ग्रंथ के रचियता समर्थ शास्त्रकार शिरोमणी पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा** द्वारा विरचित योग, न्याय, दर्शन आदि विविध विषयक ग्रंथो में तो प्राचीन न्याय की शैली में जगह-जगह पे दर्शनो की मान्यताओं की समीक्षा हुई दिखाई देती है । **न्यायाचार्य - न्यायविशारद पूज्यपाद महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज़ा** के विभिन्न विषयक ग्रंथो में नव्यन्याय की शैली में जगह-जगह पर दर्शनों की मान्यताओं की परीक्षा की गई हैं । अन्य पू. पूर्वाचार्यों की श्री जिनागमो आदि की टीकाओं में भी दार्शनिक चर्चाओं का न्याय की शैली में आविष्कार हुआ दिखाई देता हैं।

ज्ञान रत्नत्रयी की साधना का महत्त्वपूर्ण अंग हैं । ज्ञान के बिना रत्नत्रयी की साधना निर्मल नहीं बन सकती हैं और सम्यग्ज्ञान ही रत्नत्रयी की साधना को निर्मल बना सकता हैं । इसलिए ज्ञान को सम्यग्-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थ बनाना अति आवश्यक हैं । इसके लिए श्री जिनागमों का और पूर्वमहर्षियों के प्रकरण ग्रंथो का अभ्यास करना अति आवश्यक हैं । उस अभ्यास के लिए संस्कृत, व्याकरण, न्याय और दर्शनों की मान्यताओं का बोध भी आवश्यक हैं । **केवल संस्कृत, व्याकरण के ज्ञान से ग्रंथो के अभ्यास में गति आये, वह संभव नहीं है, यह भी याद रखना आवश्यक हैं । इसलिए ग्रंथवाचन-परिशीलन में गति-प्रगति साधने के लिए न्याय और दर्शनों का बोध प्राप्त करना आवश्यक है।** तदुपरांत, वस्तु के सर्वांगीण स्वरुप को समजे बिना ज्ञान सम्यग् नहीं बन सकता है और वस्तु के सर्वांगीण स्वरुप से ज्ञात बनने के लिए स्वदर्शन की तरह अन्य प्रत्येक दर्शनों की मान्यता जाननी भी आवश्यक है । तदुपरांत, संस्कृत भाषा का और न्याय की शैली का परिचय प्राप्त होने के बाद भी ग्रंथवाचन में कही अवरोध आता हो और बोध परिपूर्ण न बनता हो, ऐसा अनुभव अभ्यासु वर्ग को होता ही है, इसलिए ये दोनों के परिचय के साथ साथ दार्शनिक मान्यताओं का परिचय भी प्राप्त करना आवश्यक हैं ।

यहाँ एक बात याद रखनी अत्यंत आवश्यक है कि, दार्शनिक मान्यताओं की जानकारी शुष्कवाद के लिए या अहंकार के पोषण के लिए पाने की नहीं है । परन्तु तत्त्व के यथार्थ बोध और उसका अनुसरण करके आत्मशुद्धि करने के लिए यह जानकारी आवश्यक हैं ।

इसी परिप्रेक्ष्य में वि.सं. २०५५ के वर्ष में **"षड्दर्शन समुच्चय"** ग्रंथ का अभ्यास और उसकी टिप्पणी तैयार की थी, तैयार हुई टिप्पणीयों की अन्य अभ्यासुवर्ग के लिए उपयोगिता मालूम होने से षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ के भावानुवाद रुप से तैयार करने का प्रारंभ वि.सं. २०६० के वर्ष में किया गया । उसमें **पूज्यपाद गुरुदेव और पू. गुरुजी** की महती कृपा प्राप्त हुई । सुविशाल गच्छनायक **पू.आ.भ.श्री.वि. हेमभूषणसूरीश्वरजी महाराजा की** पावन निश्रा एवं आशीर्वाद और प्रवचन-प्रभावक **पू.आ.भ.श्री. वि.कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा** का अमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त हुआ । कार्य की रुपरेखा निश्चित करके ग्रंथ को अनेकविध दार्शनिक सामग्री से संपन्न बनाने का पुरुषार्थ किया । उसके परिपाक स्वरूप वि.सं. २०६१ में प्रस्तुत ग्रंथ दो विभाग में (गुर्जरभाषा में) सन्मार्ग प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुआ था ।

वि.सं. २०६६ के वर्ष में न्यायाचार्य पं. मेहुलभाई शास्त्री नव्यन्याय का अभ्यास कराने आते थे, तब उन्हों ने ये दों ग्रंथ देखें । उनको ये ग्रंथ गुजरात के सिवा अन्य अभ्यासु वर्ग को अधिक उपयोगी हो इसलिए हिन्दी भाषा में अनुवादित करने जैसे लगे । उन्हों ने प्रेरणा की । प्रवचन प्रभावक पू.आ.भ.श्रीजी आदि पूज्यो के साथ परामर्श करके, उनके मार्गदर्शन अनुसार हिन्दी भाषा में अनुवादित करने का निर्णय किया । **ग्रंथ जब अन्य भाषा में पुनः प्रकाशित होता ही है, तो उसे अधिक दार्शनिक पदार्थो से समृद्ध बनाना, ऐसा निर्णय किया गया और पूर्व प्रकाशन से दूसरे अनेक नये विषयो को समाविष्ट करने का प्रयत्न भी किया ।** (जिसकी जानकारी आगे बताई जायेगी ।) **यहाँ एक स्पष्टता हैं कि, प्रस्तुत प्रकाशन में हमारा उदात्त आशय यह है कि, समर्थ शास्त्रकार शिरोमणी पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यह ग्रंथ दार्शनिक जगत तक नूतन स्वरुप में पहुँचे और सर्व मुमुक्षुजन जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धांत का-शैली का परिचय प्राप्त करके, तत्त्वो का यथार्थ योजन करके, मोक्षमार्ग के पथिक बनकर शीघ्रतया मुक्ति को प्राप्त करे ।

उपकार वर्षा :-

प्रस्तुत प्रकाशन में... प्रथम से ही भवोदधितारक **पूज्यपाद गुरुदेवश्रीजी** की और परमोपकारी परम **तपस्वी पूज्यपाद गुरुजी की** महती कृपा संप्राप्त हुई हैं । तदुपरांत परमोपकारी **प्रवचन प्रभावक पू.आ.भ.श्री.वि. कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा** का अमूल्य मार्गदर्शन और मंगल आशीर्वाद प्राप्त हुए हैं । तथा उनके **शिष्यरत्नों** की विविध प्रकार की सहायता और उसमें भी विद्वान **पू. मुनिराज श्री रत्नयशविजयजी** म.सा. की सहायता बारबार प्राप्त हुई हैं । परमोपकारी, सौजन्यमूर्ति, परम वेयावच्ची **पू.आ.भ.श्री. वि.हर्षवर्धनसूरीश्वरजी** महाराजा का उपकार, आशीर्वाद और सहकार मेरे प्रत्येक कार्यो में सदा सर्वदा मिलता ही रहा है, श्रीमद् का ऋण किसी भी प्रकार से उतारा जा सके ऐसा नहीं हैं। पूज्यो की कृपा - आशीर्वाद - मार्गदर्शन से यह कार्य सहज-सरल बना हैं । सब का उपकार सदा के लिए मेरे स्मृतिपथ में जीवंत रहेगा । इसके अलावा अनेक पूज्यो ने सुझाव - मार्गदर्शन देकर उपकार किया है।

सहायको को भी कैसे भूले ?

यह ग्रंथ अनेक महानुभावों की सहायता से शीघ्रतया परिपूर्ण हुआ है ।

प्रस्तुत ग्रंथ के दोनों भाग के बहोत सारे प्रूफ की शुद्धि, संस्कृत विभाग का संशोधन और संकलन के कार्य में सहायता पूज्यपाद **तपागच्छाधिराजश्री** के साम्राज्यवर्ती **तपस्वी पू. साध्वीवर्या श्री सुनितयशाश्रीजी म.सा.** के सुशिष्या विदुषी **साध्वीवर्या श्री ज्ञानदर्शिताश्रीजी महाराज** ने की हैं । निःस्वार्थ भाव से की गई उनकी श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना ।

उपरांत, पांच वर्ष पूर्व गुजराती भावानुवाद ग्रंथ के संस्कृत-टीका विभाग की प्रुफ शुद्धि का कार्य **तपागच्छाधिराजश्री** के साम्राज्यवर्ती **सा.श्री. चारुधर्माश्रीजी म.** के शिष्या **सा.श्री.विनीतधर्माश्रीजी** म. ने की है । उनकी श्रुतभक्ति की भी अनुमोदना।

पं. श्री मेहुलभाई शास्त्री ने ग्रंथ संशोधन, दार्शनिक पुस्तक प्राप्त करा देना, चौखम्बा प्रकाशन के साथ मिटींग्स करना, ग्रंथ को दार्शनिक माहीति से समृद्ध बनाने के लिए सुझाव देना आदि अनेक कार्यो में अपना अमूल्य समय एवं बुद्धि का भोग दिया हैं ।

डॉ. श्री विष्णुप्रसाद शास्त्री ने अनेक पठन-पाठन आदि कार्यो में व्यस्त होने पर भी ग्रंथ संशोधन करके प्रस्तुत ग्रंथ को परिशुद्ध बनाने के लिए बहोत सहकार दिया हैं ।

कु. जिज्ञासाबहन वृ. कटारिया (पडधरी)ने बहोत अल्प समय में प्रस्तुत ग्रंथ के मेटर का हिन्दी कर देके ग्रंथ को शीघ्र प्रकाशित करने में जो सहायता की हैं, उसे भी इस क्षण में भूल नहीं सकते । तदुपरांत, **सन्मार्ग प्रकाशनने** भी मुद्रणादि कार्यो में सहकार दिया है। इस कार्य में **श्री रत्नत्रयी आराधना भवन ट्रस्ट**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वसंतकुंज-अहमदाबाद) ने भी विभिन्न प्रकार से अनुमोदनीय सहायता की है और **ग्रंथप्रकाशन का संपूर्ण लाभ भी अपने ट्रस्ट की ज्ञाननिधि में से प्राप्त किया है ।**

❖ **प्रस्तुत नूतन (हिन्दी) प्रकाशन में अनेक विषयो का अन्तर्भाव किया हैं -**

● प्रारंभ में विस्तृत **भूमिका** लिखकर दर्शनबोध की आवश्यकता, मोक्ष का स्वरूप, प्रत्येक दर्शन के देव, तत्त्व, प्रमाण, महत्त्व के सिद्धांत, प्रत्येक दर्शन के ग्रंथ-ग्रंथकार, प्रस्तुत ग्रंथ के ग्रंथकार-टीकाकार का परिचय, प्रत्येक दर्शन के स्थापक, लक्ष्यशुद्धि आदि अनेक विषयो का वर्णन किया गया हैं ।

● ग्रंथ की प्रत्येक पंक्ति का अर्थ सुव्यवस्थित और यथार्थ करने का प्रयत्न किया गया हैं । **न्याय के दो विद्वान पंडितो ने भावानुवाद (हिन्दी व्याख्या) का संशोधन भी किया हैं ।**

● **बौद्धदर्शन** और **सांख्यदर्शन** के निरुपणोत्तर इन दो दर्शन के विशेष पदार्थ, सिद्धांत, मान्यताओं की माहिती संगृहित की हैं ।

● **नैयायिक दर्शन** में पदार्थो की विशेष समज देने हेतु अन्य ग्रंथो के आधार पर टिप्पणी आदि में अधिक पदार्थों की संकलना की गई हैं ।

● **जैनदर्शन के** नव तत्त्वो की विशद समज देता **"जैनदर्शन का विशेषार्थ"** नाम का एक स्वतंत्र परिशिष्ट बनाया है और प्रथम भाग में **"जैनदर्शन का कर्मवाद"** नाम का एक परिशिष्ट समाविष्ट किया है, जिसमें जैनदर्शन के "कर्मवाद" के उपर विशेष प्रकाश डाला गया है । **सुव्यवस्थित एवं तर्कबद्ध यथार्थ कर्म विषयक साहित्य जितना जैनदर्शन में मिलता है, उतना अन्य कोई दर्शन में मिलता नहीं हैं ।**

● **जैनदर्शन** के स्याद्वाद सिद्धांत को सरल भाषा में समजाने के लिए एक अलग चेप्टर (प्रकरण) बनाया है तथा स्यादवाद सिद्धांत के स्तंभरूप **नयवाद, सप्तभंगीवाद** और **निक्षेपयाजन** इन तीनो विषयो की भी समज देता परिशिष्टों तैयार करके भाग-२ में संकलित किया गया हैं ।

● **मीमांसक दर्शन** की पदार्थ मीमांसा को एक अलग परिशिष्ट में संकलित की हैं । उसमें प्रमाण और प्रमेय, इन दो विषयो के उपर विशद विवरण किया गया है । इस आलेखन में मीमांसाचार्य श्री कुमारिल भट्ट को मान्य पदार्थो की विचारणा में अनेक मतो की समीक्षा की गई हैं, उसमें पूर्वपक्ष के रुप में प्रकाशित हुए अनेक ग्रंथकार - दर्शनकार के मत, व्याख्या, सिद्धांत आदि यहाँ एक ही स्थान पर उपलब्ध होते हैं । **इसके कारण प्रमाण - प्रमेय विषयक तत्-तत् दर्शनों की अलग-अलग अनेक व्याख्यायें-मान्यतायें उसमें से जानने को मिलती हैं ।** (यह संकलन श्री नारायण भट्ट कृत "मानमेयोदय" ग्रंथ में से किया गया हैं ।) वह परिशिष्ट भाग-२ में संगृहित किया है ।

● **सांख्य** दर्शन के सन्निकट दर्शन के रुप में जिसकी गणना होती है, उस **योगदर्शन** के ईश्वर, योग, चित्तवृत्ति, अष्टांग योग आदि विषयो की माहिती को संकलित करके एक परिशिष्ट बनाकर भाग-१ में संगृहित किया हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

● प्रस्तुत मूल-ग्रंथ में **वेदांत दर्शन** का प्रतिपादन नहीं किया गया हैं । उस वेदांतदर्शन के अनेक विषयो को एक परिशिष्ट में समावेश किया है । अद्वैत वेदांत को मुख्य रखकर निरुपण किया गया है। तदुपरांत वेदांत की विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक शाखाओं की मान्यताओं का भी विवेचन किया गया है । वह विवेचन वेदांत दर्शन के स्वतंत्र-ग्रंथ (जिसकी नामावली परिशिष्ट के अंत में रखी गई है, वे ग्रंथ) के आधार पर प्रतिपादन किया गया हैं । यह परिशिष्ट का समावेश भाग-१ में किया है।

● जैनदर्शन के श्री जैनाचार्य और श्री जैनमुनिप्रवरो ने आगम, अध्यात्म, ध्यान, दर्शन, न्याय, चरणकरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग, कर्म, योग आदि अनेक विषयो के उपर अनेक ग्रंथो का उपहार दिया है। **जैनदर्शन का ग्रंथकलाप अति विस्तृत है ।** उसकी झांकी **"जैनदर्शन का ग्रंथकलाप"** परिशिष्ट में दी गई है । यह परिशिष्ट भाग-१ में संगृहित किया है। तदुपरांत वहाँ पर जैन साहित्य के बार में विशेष जिज्ञासु वर्ग के लिए दिशानिर्देश भी किया गया है ।

● **प्रस्तुत षड्दर्शन - समुच्चय ग्रंथ के उपर दो टीकायें उपलब्ध होती हैं ।** (१) तार्किकरत्न पू.आ.भ.**श्री गुणरत्नसूरिजी म.** कृत **बृहद्वृत्ति** और (२) पू.आ.भ.**श्री सोमतिलकसूरिजी** म. कृत **लघुवृत्ति । इस ग्रंथ में बृहद्वृत्ति का भावानुवाद (हिन्दी व्याख्या) किया गया हैं ।**

● टीकाकारश्रीने बृहद्वृत्ति में प्रतिपादित किये हुए पदार्थो के मूल आधारस्थानों के **साक्षीपाठों** को परिशिष्ट में संकलित किये हैं और वहाँ उसका उल्लेख टीका में A-1, A-2, A-3, B-1, B-2, B-3, C-1, C-2, C-3, D-1, D-2, E-1, E-2, F-1, F-2, G-1, G-2 आदि संज्ञापूर्वक किया हैं और टिप्पणी में वे संकेत स्थान दिये हैं । **प्रथम भाग के साक्षीपाठ प्रथम भाग (परिशिष्ट-५) में और द्वितीय भाग के साक्षीपाठ द्वितीय भाग (परिशिष्ट-७) में संकलित किये है । पहले साक्षीपाठ को दोनों भाग के प्रथम परिशिष्ट में रखने का इरादा रखा था और इसी अनुसार टीका (वृत्ति) की टिप्पणी में संकेत दिया था । ग्रंथसमाप्ति पर निर्णय बदल के दोनों भाग में अलग-अलग परिशिष्ट के रुप में संकलित किए है । अंतः विषयानुक्रम के निर्देशानुसार उपयोग करने का परामर्श है ।**

● प्रस्तुत ग्रंथ में प्रतिपादित सर्व दर्शनो के सिद्धांत, पारिभाषिक शब्दो की व्याख्यायें और तत्त्व आदि को **"पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी (सार्थ)"** नाम के परिशिष्ट में संकलित किये गये हैं । वे व्याख्यायें प्रथम भाग की **परिशिष्ट-६** में और द्वितीय भाग की **परिशिष्ट-८** में संगृहित की गई है ।

● ग्रंथोपयोगी माहिती को **"संकेत विवरणम्"**, **"उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका"** और **"मूलश्लोकानुक्रम"** नाम के तीन परिशिष्ट में संगृहित की हैं। ये तीनों परिशिष्टों का दोनों भाग में संकलन किया गया हैं ।

● **जैनदर्शन की टीका में जीवसिद्धि, षड्द्रव्यात्मक लोकसिद्धि, सर्वज्ञ सिद्धि, आत्मा का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, पुद्गलसिद्धि, अंधकार-छाया आदि में पुद्गलरुपता की सिद्धि, शब्दादि की पुद्गलरूप सिद्धि, स्त्रीमुक्तिवाद, केवलीभुक्तिवाद, स्याद्वाद सिद्धि, वस्तु की द्रव्यतः आदि अनेक**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षा से अनंतधर्मात्मकता की सिद्धि, वस्तु की त्रयात्मकता, प्रमाण सामान्य के लक्षण की विचारणा, प्रमाण के भेद-प्रभेदो का आख्यान, "परहेतुतमोभास्कर" वाद स्थल इत्यादि अनेकानेक विषयो का रोचक शैली में युक्ति पुरस्सर, तर्कबद्ध निरुपण किया गया हैं।

● **प्रस्तुत ग्रंथ के प्रारंभ में दोनों भाग में संक्षिप्त और विस्तृत विषयानुक्रम दिया गया है ।** विषयानुक्रम के उपर नजर डालते ही ग्रंथ की प्रमेयबहुलता का अंदाज आ जायेगा । इसलिए ग्रंथ के विषय के बारे में यहाँ ज्यादा लिखते नहीं है और अधिक स्पष्टताएँ भूमिका में की हैं ।

● इस ग्रंथ में समाविष्ट २२ परिशिष्टों को ग्रंथ व्यवस्था के एक भाग के रुप में दोनों भाग में यथासंभव ११-११ परिशिष्टों का समावेश किया है । संक्षिप्त एवं विस्तृत विषयानुक्रम के निर्देशानुसार सदुपयोग करने का परामर्श है । **तदुपरांत, दोनों भाग में समाविष्ट "साक्षीपाठः" संबंधित परिशिष्ट का क्रम बदला है, वह भी विषयानुक्रम में देखकर उपयोग करने का परामर्श है । ग्रंथ आप के हाथ में है और ग्रंथ स्वयं बोलता है, तो इसके विषय में ज्यादा लिखने का कोई मतलब नहीं है । इसलिए यहाँ रुकते है ।**

यहाँ उल्लेखनीय है कि, पूर्व प्रकाशित दो भागो में विभक्त गुर्जरानुवाद ग्रंथ में स्वतंत्र परिशिष्टो के रूप में **जैनवाङ्मय में उपलब्ध षड्दर्शन विषयक कृतियों** का संग्रह किया गया था, उसको हिन्दी प्रकाशन में समाविष्ट नहीं किया गया । उन सभी कृतियों को और दूसरी अन्य तद्विषयक कृतियों को अलग से संकलित की गई है । षड्दर्शन विषयक १९ कृतियाँ और भिन्न-भिन्न दर्शन के दर्शनकारों ने जो दार्शनिक पदार्थ विषयक **सूत्रात्मक ग्रंथ** बनाये हैं, उन सूत्रात्मक ग्रंथो का "**षड्दर्शन सूत्रसंग्रह एवं षड्दर्शन विषयक कृतयः ।**" इस नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ में संकलन किया गया है । यह ग्रंथ भी प्रस्तुत ग्रंथ के साथ ही प्रकाशित होनेवाला हैं । अभ्यासुवर्ग को तुलनात्मक अभ्यास हेतु यह ग्रंथ अति उपयोगी बनेगा, इसमें संदेह नहीं है ।

विशेष में, प्रवचन प्रभावक **पू.आ.भ.श्री कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा** ने इस ग्रंथ के लिए "**पूरोवचन**" नामक लेख लिख देकर मेरे उपर महान उपकार किया हैं । उससे ग्रंथ की शोभा में अभिवृद्धि हुई हैं । **भवोदधितारक पू. गुरुदेवश्री** ने भी ग्रंथप्रकाशन के अवसर पे अपना "**किंचित्**" शुभाभिलाषा लेख लिख देकर मेरे उपर महान उपकार किया हैं । तदुपरांत, यह ग्रंथ के लिए न्यायाचार्य **पं.श्री मेहुलभाई शास्त्री** ने अपना ग्रंथ संबंधी अभिप्राय "**संशोधकप्रतिभावः**" नामक लेख में और न्यायाचार्य **डॉ. विष्णुप्रसाद शास्त्री** ने भी अपना ग्रंथ संबंधी अभिप्राय "**सारस्वत-वचनम्**" नामक लेख में दिया हैं। उनका सहकार अनुमोदनीय हैं ।

परामर्श :

यह ग्रंथ ज्ञान को निर्मल बनाने के लिए हैं । उसका उपयोग सत्य के अन्वेषण के लिए हो, वह सभी के लिए हितकारक हैं । कोई भी व्यक्ति इस ग्रंथ के द्वारा आजीविकादि को प्राप्त करे उसमें हमारा अनुमोदन नहीं है । उसका उत्तरदायित्व उनके शिर पे रहेगा ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत ग्रंथ में तत् तत् दर्शन के विषयों-सिद्धान्तों-मान्यताओं को तत् तत् दर्शन के प्रमाणभूत ग्रंथों के आलोडनपूर्वक समजाने का प्रयत्न किया हैं । फिर भी मेरे अल्प क्षयोपशम के कारण किसी स्थान पे शास्त्रीय अशुद्धियाँ देखने को मिले तो अधिकृत विद्वानों को मुझे शास्त्रीय संदर्भ सहित भेजने का बिनती-सुझाव हैं ।

पूज्यो की निःस्वार्थ उपकार वर्षा एवं सहायको की अनुमोदनीय सहायता के बल से यह दीर्घ कार्य निर्विघ्न एवं शीघ्र परिपूर्ण हो रहा है, इसका मुझे आनंद है । मुमुक्षुओं को विशुद्धधर्म की प्राप्ति में यह ग्रंथ सहायक बनकर मुझे और सभी को परमानंद (मोक्ष) का कारण बने यही प्रभु के पास अभ्यर्थना है ।

रत्नत्रयी स्वरूप मोक्षमार्ग के महत्त्वपूर्ण अंगभूत सम्यग्ज्ञान को हर कोई प्राप्त करके अनादिकालीन मिथ्यावासनाओं का उन्मूलन करके मोक्षमार्ग के साधक बनकर परंपरा से मुक्तिसुख को प्राप्त करे यही एक सदा-सदा के लिए मंगल कामना...

कार्तिक वद द्वि. ३, २०६८
सोमवार, दि. १४-११-२०११

- तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्यदेवेश श्रीमद्
विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा के प्र-प्रशिष्यरत्न
प.पू.पंन्यास प्रवर श्री **पुण्यकीर्तिविजयजी** गणीवर्यश्रीजी के
शिष्य - **मु. संयमकीर्तिविजय**
श्री रत्नत्रयी आराधना भवन,
वसंतकुंज, पालडी,
अहमदाबाद.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

उपोद्घात :

जगत के सर्व जीव दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति की तीव्र इच्छा कर रहे है और इसके लिए सतत प्रयत्नशील हैं । फिर भी वास्तविकता यह है कि, सभी की यह इच्छा पूर्ण नहीं होती है । क्योंकि मार्ग सच्चा नहीं हैं । मिथ्याज्ञान के प्रभाव से भौतिक भोग, सत्ता और संपत्ति में से स्वइष्ट की पूर्ति करने के लिए जीव तडप रहे है । उसके योग से दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति होने के स्थान पर दुःखवृद्धि और सुखनाश होता हैं ।

परम कारुणिक श्री तारक तीर्थंकर भगवान जगत को यही समजाते हैं कि, दुःखरहित एवं शाश्वतसुख आत्मा में हैं, इन्द्रियों के विषयो में, संपत्ति में और सत्ता में नहीं हैं । उसमें से तो दुःखमिश्रित और अल्पकालीन सुख मिलनेवाला है । इतना ही नहीं, ये भौतिक सुख, वासना की भूख को बढानेवाले है और अतृप्ति की आग में सुलगानेवाले हैं ।

निःस्वार्थ परोपकार परायण तारक तीर्थंकर भगवान जगत की इस भूल को सुधारने और अनंत आत्मसुख की प्राप्ति कराने के लिए भवोदधितारक श्री धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं । जो जीव जागे, तारक तीर्थंकरो का संदेश ग्रहण कर ले और प्रभु ने दिखाये हुए मार्ग पर आगे बढे, उनको आत्मा के अनंतसुख की प्राप्ति हुइ और भिखारीपन मिटकर परमात्मापन प्राप्त हुआ। आज पर्यन्त अनंता आत्मा, आत्मा के अनंत सुख के स्वामी बनकर मोक्ष का आनंद ले रहे है। **आज पर्यंत अनंता तीर्थंकर हो गये और भविष्य में भी अनंता तीर्थंकर[1] होगे । प्रत्येक तीर्थंकरो का यही संदेश हैं ।**

श्री धर्मतीर्थ की स्थापना अर्थात् मोक्षमार्ग की स्थापना । जिस मार्ग पर जीव के संसार के शरीरादि-स्त्री आदि बंधन नाश हो और अंत में सर्व कर्म से मुक्ति हो, उसे मोक्षमार्ग कहा जाता हैं ।

प्रभुने स्थापित किये हुए मोक्षमार्ग का स्वरूप समजाते हुए पू. वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी महाराजा **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** नाम के महान ग्रंथ में बताते है कि -

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।।१-१।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र : ये रत्नत्रयी के संमिलन को मोक्षमार्ग कहा जाता है ।

श्री जिनोक्त तत्त्वो की रुचि (श्रद्धा) को **सम्यग्दर्शन** कहा जाता हैं । तत्त्वो के यथावस्थित अवबोध को **सम्यग्ज्ञान** कहा जाता है और तत्त्वपरिणति को **सम्यक्चारित्र** कहा जाता है ।[2]

यह तारक तत्त्वत्रयी के यथार्थ सेवन से सर्व कर्मों का नाश होता हैं । उस तत्त्वत्रयी में सम्यग्दर्शन महत्त्व का गुण हैं। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यग् अर्थात् निर्मल नहीं बन सकते हैं । सम्यग्दर्शन से शुद्ध बने हुए ज्ञान-चारित्र ही कर्मनिर्जरा करने के लिए समर्थ बनते हैं ।

सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ दर्शन । जिससे जगत का यथार्थ दर्शन हो उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता हैं । जैसा है वैसा दिखाई दे, उसे **यथार्थ दर्शन** कहा जाता हैं । जगत के पदार्थ जैसे स्वरूप में है, वैसे स्वरूप में दर्शन करना उसे

1. जिस जीव को जगत के तमाम जीवों को संसार से पार उतारने की भावना हो, वह जीव तीर्थंकर नामकर्म का बंध करे और तीर्थंकर बनकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं । **(योगबिन्दु)**
2. यथावस्थिततत्त्वानां, संक्षेपाद्विस्तरेण वा । योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ।।१६।। रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यकश्रद्धानमुच्यते। जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा ।।१७।। सर्वसावद्ययोगानां, त्यागश्चारित्रमिष्यते । कीर्तितं तदहिंसादि-व्रतभेदेन पञ्चधा।।१८।। **(श्री हेमचन्द्राचार्यकृतयोगशास्त्र ।)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्यग्दर्शन कहा जाता हैं । जो पदार्थ हेय (आत्म-अहितकर होने से त्याज्य) और जो पदार्थ **उपादेय** (आत्म-हितकर होने से ग्राह्य) हैं, उसे, उसी तरह से ही देखने-मानने को सम्यग्दर्शन कहा जाता हैं ।

सारांश में, हेय-उपादेय, कर्तव्य-अकर्तव्य, प्राप्तव्य-अप्राप्तव्य पदार्थो का यथार्थ दर्शन हो उसे **सम्यग्दर्शन** कहा जाता हैं । **सम्यग्दर्शन की शुद्धि की नींव के ऊपर ही सम्यक् चारित्र की इमारत का निर्माण होता है ।** सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्राप्त करने के लिए जगत के सभी पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ बोध होना आवश्यक हैं । इसलिए ही जैनदर्शन के ग्रंथकार महर्षिओं ने चार अनुयोग करके जगतवर्ती सभी हेयोपादेय पदार्थों का स्वरूप अपने ग्रंथों में समजाया हैं ।

अनुयोग अर्थात् सूत्र में पडे हुए अर्थ का व्याख्यान । सूत्रो की रचना श्री गणधर भगवंतोने की है और श्री तारक तीर्थंकरो ने इस सूत्रो के अर्थ की प्ररुपणा की हैं । भगवान ने जो अर्थो की प्ररुपणा की हैं, उसे श्री गणधर भगवंतो ने सूत्रो में संगृहित किये हैं ।[3] **सूत्रो में गर्भित रहे हुए अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो व्याख्यान हो उसे अनुयोग कहा जाता हैं।** इस अनुयोग के चार प्रकार हैं । **(१) चरणकरणानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) धर्मकथानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग ।**

जिस में मोक्षमार्ग के साधको की आचार संहिता का वर्णन आता है अर्थात् मूलगुण और उत्तरगुण स्वरूप आचरणा का निरूपण आता है, उस सूत्रों के व्याख्यान को **चरणकरणानुयोग** कहा जाता हैं । जिस में गणित - संख्या इत्यादि विषय आते हैं, उस सूत्रों के व्याख्यान को **गणितानुयोग** कहा जाता है । जिसमें तारक मोक्षमार्ग को समजाने के लिए जो महापुरुषोने उस मार्ग का सेवन करके मोक्ष प्राप्त किया हैं या उस तरफ प्रयाण करके मोक्ष में पहुँचने की तैयारी में हैं, ऐसे महापुरुषो के दृष्टांतो का अन्तर्भाव होता हैं, उसे **धर्मकथानुयोग** कहा जाता हैं । जिसमें जीवादि तत्त्वो का सूक्ष्मता से स्वरूप स्पष्ट किया गया हैं, उस सूत्रो के व्याख्यान को **द्रव्यानुयोग** कहा जाता हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, ये[4] चारो अनुयोग आत्महित के लिए उपयोगी है । उसमें मुख्य चरणकरणानुयोग हैं । बाकी के तीनो अनुयोग उसकी बाढ समान हैं - उसकी रक्षा के लिए हैं । फिर भी हकीकत यह हैं कि, चरणकरणानुयोग के रहस्यो को प्राप्त करने के लिए द्रव्यानुयोग का अभ्यास अति आवश्यक हैं । **वस्तु के स्वरूप को समग्रतया जाने बिना हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति तात्त्विक नहीं बन सकती हैं ।** वस्तु के स्वरूप में भ्रान्ति हो तो तादृश प्रवृत्ति-निवृत्ति भी भ्रमजन्य ही बनी रहती हैं । जैसे मार्ग के ज्ञान में जिसको भ्रम होता हैं, उसका मार्ग गमन दृढता से नहीं होता हैं और कभी भी गलत मार्ग पर चले जाते हैं, वैसे हेयोपादेय तत्त्वो के स्वरूप में भ्रम हो तो, कभी भी हेय उपादेयरूप से और उपादेय हेयरूप से पकडा जाता हैं और उसके योग से मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं । **इसलिए पदार्थ के स्वरूप के विषय में आंशिक भी भ्रान्ति हो तो सम्यगदर्शन की प्राप्ति-शुद्धि नहीं हो सकती हैं ।**

इसी बात को दृढ करते हुए काशीस्थित प्रकांड पंडितो के द्वारा न्यायाचार्य-न्यायविशारद पदवीयों से विभूषित **पूज्यपाद महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा** द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में फरमाते हैं कि -

---

3. अर्हद्वक्त्र-प्रसूतं, गणधररचितं द्वादशाङ्गं विशालं, चित्रं बह्वर्थयुक्तं, मुनिगणवृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः । मोक्षाग्रद्वारभूतं, व्रतचरणफलं, ज्ञेयभावप्रदीपं, भक्त्या नित्यं प्रपद्ये, श्रुतमहमखिलं, सर्वलोकैकसारम् ।।

4. (१) **चरणकरणानुयोगः**-आचार का प्रतिपादक ग्रंथ । आचारांग सूत्र आदि आगमग्रंथ । (२) **गणितानुयोग**-संख्या-मुहूर्त आदि का प्रतिपादक ग्रंथ । चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रंथ । (३) **धर्मकथानुयोगः-** बोधदायक कथा का प्रतिपादक ग्रंथ । ज्ञाताधर्मकथा आदि आगम ग्रंथ (४) **द्रव्यानुयोगः**-षड्द्रव्य के निरूपक ग्रंथ । सूत्रकृतांग, सम्मतितर्क आदि ग्रंथ । जैनदर्शन में ४५ आगमग्रंथ है। इसके अलावा अगणित प्रकरणग्रंथ उपलब्ध है । दार्शनिक ग्रंथ भी बहोत है । जैनदर्शन के ग्रंथो का नाम-सूचि भाग-१, परिशिष्ट-४ में बताया है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विना द्रव्य अनुयोग विचार, चरण करणनो नहीं को सार । सम्मति ग्रंथे भाषिउं इस्यूं, ते तो बुद्ध जन मनमां वस्यु ।।१-२।।

सारांश में, चरण-करणानुयोग द्वारा आचरणा की शुद्धि द्वारा आत्महित सिद्ध करना हो तो द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना भी अति आवश्यक हैं । (जैन दर्शन में सम्मतितर्क द्रव्यानुयोग का महान ग्रंथ माना जाता हैं । उससे अतिरिक्त अनेक श्री जैनाचार्यो के द्वारा विभिन्न द्रव्यानुयोग के ग्रंथ रचे गये हैं, कि जो प्राचीन नव्य-न्याय की शैली से गर्भित है । उसकी सूचि **'जैनदर्शन के ग्रंथकलाप'** नाम के परिशिष्ट में देखें ।)

प्रत्येक दर्शनो ने जगत के पदार्थों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है । उसके लिए तत्-तत् दर्शन के आचार्योने अनेक ग्रंथ रचे हैं । उस ग्रंथरचना की श्रेणी में क्रमशः नयी नयी शैलीयों का आविर्भाव भी होता आया हैं । वे आविर्भाव पाई हुई शैलीयों में प्राचीन-नव्य न्याय की शैली ने अपनी अनोखी विशिष्ट छाया (Image) प्रस्थापित की है । थोडे में ज्यादा कहने के लिए उपयोग में ली जाती यह शैली वर्तमान में ज्यादा प्रचलित बनती जाती है और इसलिए न्याय का अभ्यास अनिवार्य बनता जाता हैं ।

प्रत्येक दर्शनो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से जगत के पदार्थों को समजाये हैं और उसमें भी न्याय की शैली का आविष्कार हुआ हैं । इसलिए वस्तु के सर्वांगीण स्वरूप को समझने के लिए सभी दर्शनो का अभ्यास आवश्यक हैं और इसके लिए न्याय(5) का अभ्यास भी आवश्यक हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ प्राचीन न्यायगर्भित हैं और दर्शनग्रंथो के अभ्यास का प्रवेशक ग्रंथ हैं । प्रत्येक दर्शन की मूलभूत मान्यताओं को इस ग्रंथ में बुन ली गई हैं । तत्-तत् दर्शन की मूलभूत मान्यताओं को जाने बिना उसकी सूक्ष्म मान्यताओं का समझना सरल नहीं बनता हैं । इस वस्तु स्थिति को ध्यान में रखकर ग्रंथकार महर्षिने प्रत्येक दर्शन की देव, प्रमाण और तत्त्वविषयक मान्यताओं का इस ग्रंथ में आलेखन किया है । टीकाकार महर्षि ने आधारभूत तत्-तत् दर्शन के अवतरण टांककर उस उस दर्शन की उस उस मान्यताओं को विस्तार से स्पष्ट की हैं ।

जैनदर्शन की टीका में प्रत्येक तत्त्वो की अद्‌भुत शैली से परीक्षा की है और वस्तु के यथार्थ स्वरूप तक पहुँचने की दिशा बताई है । मध्यस्थ वर्ग को टीकाकारश्री की युक्तियुक्त दलील अवश्य आवकार्य बनेगी उसमें कोई शंका को स्थान नहीं हैं ।

दर्शन :

भारत वर्ष के इतिहास में 'दर्शन' शब्द नया नहीं हैं । भिन्न-भिन्न संदर्भ में वह शब्द अनेक स्थान पे व्यवहार में प्रयोजित होता दिखाई देता हैं । प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में यह शब्द किस अर्थ में प्रयोजित हुआ है वह सोच के आगे बढेंगे।

किसी भी शब्द के वाच्यार्थ में कोश प्रमाणभूत माना जाता हैं । वर्तमान में अनेक कोश उपलब्ध होते हैं । कोष अनुसार **'दर्शन'** शब्द का व्युत्पत्ति-प्राप्त अर्थ हैं - **दृश्यते अनेन इति दर्शनम्** - जिसके द्वारा देखा जाता है, वह दर्शन हैं। (यहाँ प्रश्न खडा होगा कि, क्या देखा जाता है ? तो तुरन्त एक तथ्य सामने आता हैं कि,) जिसके द्वारा वस्तु का वास्तविक स्वरूप सामने आये उसे **दर्शन** कहा जाता हैं ।

5. न्यायश्च प्रमाणैरर्थपरीक्षणरुपः । उक्तञ्च - प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् - न्यायः । एतेनेदमेवाऽऽयाति यत् - समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाऽधिगतिर्न्यायः **(न्या.वा.१ पृ. १४)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं कौन हुँ ? शरीर हुँ या आत्मा हुँ ? आत्मा जड है या चेतन है ? आत्मा कहाँ से आया है और कहाँ जाता है ? आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं या नहीं ? दृश्यमान जगत का कारण कौन है ? उसका सच्चा स्वरूप क्या है ? आत्मा का मोक्ष किस तरह से हो सकता है ? मोक्ष प्राप्ति के लिए सच्चा मार्ग कौन-सा हैं ? कौन-से तत्त्व हेय है और कौन-से तत्त्व आदेय हैं ? मेरे लिए क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है ? ऐसे आत्मलक्षी प्रश्नो के उत्तर देना वह "दर्शन" का मुख्य ध्येय हैं।

दर्शन को मान्यता-मत भी कहा जाता हैं और शास्त्र भी कहा जाता हैं । जिसके द्वारा आत्मा के उपर अनुशासन हो और जिससे आत्मा की रक्षा हो उसे शास्त्र[6] कहा जाता है । अनुशासनकर्ता शास्त्र विधिरूप और निषेधरूप होता हैं । शास्त्र हिंसादि का निषेध और अहिंसादि की विधि बतानेवाला हैं ।

जैसे कष-छेद-ताप की परीक्षा में से उत्तीर्ण हुआ सुवर्ण विशुद्ध होने से मूल्यवान माना जाता है, वैसे कष, छेद और ताप की परीक्षा में से उत्तीर्ण हुआ विशुद्ध शास्त्र ही यथार्थ अनुशासक बन सकता है और वही अनेक मुमुक्षु को सन्मार्ग बता सकता है । कषादि त्रिकरहित शास्त्र स्वयं अप्रमाणभूत होने से अनुशासक की कोटी में नहीं आ सकता है । शास्त्रनिषिद्ध प्रवृत्ति से पीछे मुड़कर और विहित की प्रवृत्ति कराके आत्मा की रक्षा भी करता हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, चरणकरणानुयोग के ग्रंथ कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रधानतया निरुपण करते हैं और द्रव्यानुयोग के ग्रंथ वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं । **दोनों का ध्येय एक ही हैं कि,** बोध निर्मल बनाकर आत्महित की सिद्धि करना। जब तक वस्तु के स्वरूप में भ्रान्ति होती है, तब तक[7] वेद्य संवेद्यपद की प्राप्ति भी हो सकती नहीं है और उसके बिना तत्त्वो का यथार्थ (संवेदनात्मक) निर्णय भी हो सकता नहीं है । तत्त्वनिर्णय के बिना सही दिशा में दृढता से प्रयाण नहीं हो सकता है । मन की डोलायमान स्थिति से मार्ग में भटकने से अतिरिक्त कुछ भी मिलता नहीं हैं । इसलिए मोक्षमार्ग में प्रगति सिद्ध करनी हो उस साधक को सर्व प्रथम तत्त्वनिर्णय करना आवश्यक हैं । तत्त्वनिर्णय से पहले तत्त्व विषयक जिज्ञासापूर्वक सत्शास्त्रो का श्रवण और उसके पदार्थो की धारणा करनी पडती है । उसके बाद उस पदार्थो के स्वरूप के बारे में उहापोह करके शंकाओं का समाधान प्राप्त करना आवश्यक हैं ।

यहाँ खास याद रखें कि,[8] कुतर्क, तत्त्वविषयक भ्रान्ति के पोषक हैं और सुतर्क भ्रान्ति के उन्मूलक हैं । जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप तक पहुँचा जाये और उपस्थित हुई व्यभिचार शंकाओं का निवर्तन हो उसे **सुतर्क** कहा जाता है और जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप से दूर जाये और शंकाओं के बढने से अश्रद्धा के बीज बोये जाये उसे **कुतर्क** कहा जाता है। **कुतर्क आत्मा का महा शत्रु हैं ।** क्योंकि कुतर्क कभी भी श्रद्धा का जन्म नहीं होने देता हैं... सम्यग्बोध का नाशक हैं... उपशम गुण का घातक है... अभिमान करानेवाला हैं । सारांश में, कुतर्क आत्मा के लिए लाभदायी ऐसे श्रद्धा और बोध का नाश करके आत्मा के अधःपतन में निमित्त बननेवाले दोषो का प्रादुर्भाव करता हैं । इसलिए कुतर्क का

---

6. शासनात् त्राणशक्तेश्च, बुधैः शास्त्रं निरूच्यते । वचनं वीतरागस्य, तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ।। शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद् वीतरागः पुरस्कृतः। पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्, नियमात् सर्वसिद्धयः ।। अदृष्टार्थेऽनुधावन्तः, शास्त्रदीपं विना जडाः । प्राप्नुवन्ति परं खेदं, प्रस्खलन्तः पदे पदे ।। २४/३-४-५।। (ज्ञानसार प्रक.)
   शास्त्रोक्ताचारकर्ता च, शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः । शास्त्रैकदृङ्महायोगी, प्राप्नोति परमं पदम् ।।२४-८।। (ज्ञानसार प्रक.)
7. वेद्यं संवद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धम् । तथाऽप्रवृत्तिबुद्ध्यापि स्त्र्याद्यागमविशुद्धया ।।७३।। अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं दुर्गतिपातकृत्। सत्सङ्गागमयोगेन जेयमेतन्महात्मभिः ।।८५।। (तार्किकशिरोमणि श्री हरिभद्रसूरिकृतयोगदृष्टिसमुच्चयः)
8. बोधरोगः शमाऽपायः, श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् । कुतर्कश्चेतसो व्यक्तो, भावशत्रुरनेकधा ।।८७।। कुतर्केऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम् । युक्तः पुनः श्रुते शीले, समाधौ च महात्मनाम् ।।८८।। (योगदृष्टिसमुच्चय)

Central Library Gurukula Kangri ... Haridwar 185454

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशरा लेने जैसा नहीं है । **यहाँ दूसरी भी एक बात याद रखे कि,** मध्यस्थता और सुतर्क के बीच मित्रता हैं तथा आग्रहदशा और कुतर्को के बीच दोस्ती है । इसलिए जहाँ मध्यस्थता हो वहाँ सुतर्को का जन्म होता है और सुतर्को से ही भ्रान्तियों का उन्मूलन होने से तत्त्व निर्णय तक पहुँचा जा सकता हैं । आग्रहदशा की विद्यमानता में कुतर्को का ही प्रादुर्भाव होता हैं । कुतर्क भ्रान्ति को बढाने से अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं करते हैं और भ्रान्तियाँ तत्त्व निर्णय से दूर-सुदूर रखती है । तत्त्वनिर्णय के बिना मार्ग स्पष्ट दिखाई नहीं देता है । मार्ग के सुस्पष्ट दर्शन के बिना प्रगति किस तरह से हो सकेगी ? इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को जगत के सर्व पदार्थो का (तत्त्वो का) यथार्थ निर्णय करना अति आवश्यक हैं ।

दर्शनो के भी दो विभाग पडते हैं । एक आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन । श्री पाणिनि ऋषिने 'आस्तिक' शब्द की व्याख्या अपने **"अष्टाध्यायी"** व्याकरण ग्रंथ में की हैं कि, **"अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः"**- आत्मा का परलोक हैं - ऐसी जिनकी मति है, वह **आस्तिक** है । श्री जैनाचार्य कलिकाल सर्वज्ञ पू.आ.भ.**श्री हेमचन्द्रसूरिजी म.** ने भी **"सिद्धहेमशब्दानुशासन"** नामक व्याकरण-ग्रंथ में 'आस्तिक' शब्द की वैसी ही व्याख्या की हैं ।

जो आत्मा को मानते हैं, आत्मा का परलोक मानते हैं, पुण्य - पाप को मानते है और मोक्ष को मानते हैं, वे आस्तिक है । आत्मा - परलोक - पुण्य - पाप और मोक्ष को मानता नहीं है वह **नास्तिक** हैं । नास्तिक-आस्तिक की यह व्याख्या ही सर्व को ग्राह्य हैं । सभी आस्तिक दर्शनो का ध्येय मोक्ष हैं, संसार से मुक्ति हैं । सभी की अंतिम मंजिल मोक्ष हैं । प्रत्येक दर्शन ने अपने दृष्टिकोण से मोक्ष का स्वरूप समजाया हैं । **एक बात तो स्पष्ट हैं कि, सभी जीवो की कामना एकमेव आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति की और शाश्वतसुख की प्राप्ति की है । प्रत्येक दर्शन का, साधना का उपक्रम भिन्न-भिन्न है और साधना के परिपाक रुप से प्राप्त होते मोक्ष का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता हैं । सभी दर्शन अपनी साधना प्रक्रिया को यथार्थ और परिपूर्ण बताते हैं । साधकों को तत्त्वनिर्णय करना है कि, कौन से दर्शन की साधना की प्रक्रिया यथार्थ और परिपूर्ण हैं ।**

मोक्ष का स्वरूप :

पहले बताये अनुसार प्रत्येक दर्शन की मोक्ष के स्वरूप के विषय में परिकल्पना भिन्न भिन्न हैं।

बौद्ध दर्शनने चित्त की निःक्लेश अवस्थारूप निरोध को ही **मोक्ष** कहा हैं । रागादि वासनाओं के सर्वथा नाश को **मोक्ष** कहा जाता हैं ।(9)

बौद्धदर्शन की चार निकाय हैं । (१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार, (४) माध्यमिक ।

- वैभाषिको के मतानुसार अविद्या, राग-द्वेष आदि के कारण इस जीवन-संतान की सत्ता हैं । अविद्या आदि का निरोध-नाश होने से **निर्वाण** का उदय होता हैं ।

- **सौत्रान्तिको** के मतानुसार रागादि क्लेशो की पुनः उत्पत्ति न होना वही **मोक्ष** हैं अर्थात् चित्त की निःक्लेश अवस्थारूप निरोध ही मोक्ष हैं ।

- **योगाचार** मतानुयायी आलय विज्ञान की विशुद्धि को ही **मोक्ष** कहते हैं ।(10) (सर्ववासनाओं के आधार को **आलयविज्ञान** कहा जाता है ।) अर्थात् नैरात्म्यभावना के प्रकर्ष से प्राप्त परिशुद्ध चित्तसंतान ही **मोक्ष** कहा जाता हैं ।(11)

9. चित्तस्य निःक्लेशावस्थारुपो निरोधो मुक्तिर्निगद्यते । **(षड्. समु-७-टीका)**
10. आलयविज्ञानविशुद्धरेवापवर्गः **(षड्.समु-११-टीका)**
11. भावनाप्रकर्षपरिलब्धपरिशुद्धचित्तसंतान इति योगाचाराः **(सर्वलक्षणसंग्रहः)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- **माध्यमिको** के मतानुसार शून्यता के दर्शन से **मुक्ति** होती हैं ।(12) निरंतर उत्पन्न हो रहे क्लेशादि दोषो से दूषित ज्ञान संतान के उच्छेद को **मोक्ष** कहा जाता हैं ।(13)

बौद्धदर्शन की चारो निकायो का मोक्ष के विषय में विशेष स्वरूप और उसकी साधना का उपक्रम प्रस्तुत ग्रंथ के बौद्ध दर्शन निरूपण के उत्तर में दिये हुए विशेषार्थ में से जान लेने का परामर्श हैं । **सारांश में,** बौद्ध दर्शन अनुसार निर्वाण क्लेशाभावरूप हैं । जब क्लेश का आवरण सर्वथा नष्ट होता हैं तब निर्वाण की अवस्था का जन्म होता हैं । **निर्वाण-मोक्ष को सुखरूप भी कही कही बताया है । परन्तु अधिकतर बौद्ध निकाय निर्वाण को अभावात्मक ही मानते हैं । विशेष में,** वैभाषिक संसार और निर्वाण दोनों को सत्य मानते है । उनके मतानुसार निर्वाण के बाद भी चैतन्य की शुद्ध धारा अखंड रहती हैं । इसलिए निर्वाण वस्तुसत् पदार्थ हैं । सौत्रान्तिक के मतानुसार संसार सत्य है परन्तु निर्वाण असत्य है । उनके मतानुसार निर्वाण के समय चित्त की सर्व धाराओं का विलय होता है । शुद्ध-चैतन्य भी रहता नहीं हैं। इसलिए निर्वाण अवस्तुसत् पदार्थ हैं । योगाचार संसार को असत्य और निर्वाण को सत्य मानता हैं । उनके मतानुसार निर्वाण के बाद शुद्धचित्त की धारा का अस्तित्व रहता होने से निर्वाण वस्तुसत् पदार्थ हैं । माध्यमिक के मतानुसार तो संसार और निर्वाण दोनों असत्य हैं । निर्वाण के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता हैं । यह उनकी मान्यता हैं ।

नैयायिक शरीरादि इक्कीस दुःखो के आत्यंतिक ध्वंस को मोक्ष कहते हैं । (दुःख का प्रागभाव जिस आत्मा में जिस काल में न हो, उसी काल में उस आत्मा में शरीरादि दुःखो का नाश हो, उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं अर्थात् जिस आत्मा में भविष्य में उत्पन्न होनेवाले दुःखो का प्रागभाव न हो, उस आत्मा के शरीरादि दुःखो का आत्यंतिक नाश उसे मोक्ष कहा जाता हैं ।(14) **न्यायसार ग्रंथ में मोक्ष का स्वरूप समजाते हुए कहा है कि,** शरीरादि के उच्छेद से, (शरीरादि इक्कीस दुःखो के उच्छेद से) आत्मा का आत्मा में जो अवस्थान होता है, उसे मोक्ष कहा जाता हैं ।(15) **नैयायिक मोक्ष में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । परन्तु मुक्तात्मा में सुख-आनंद का स्वीकार नहीं करते है । एकदेशी नैयायिक मुक्तात्मा में दुःखनिवृत्ति के साथ निरतिशय नित्यसुख का भी स्वीकार करते हैं ।**(16)

सांख्यदर्शन के मतानुसार विवेकख्याति द्वारा पुरुष का प्रकृति से जो वियोग होता हैं, उसे मोक्ष कहा जाता है । अविवेक के कारण पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार उत्पन्न होता हैं । विवेकज्ञान प्राप्त होने से पुरुष - प्रकृति का वियोग होता है और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थान करता हैं, उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं ।(17)

सांख्य दर्शन के मतानुसार मोक्षप्राप्ति का जो साधनक्रम है, वह उस दर्शननिरुपणोत्तर दीये हुए विशेषार्थ में से देखने का परामर्श हैं ।

जैनदर्शन के मतानुसार सर्व कर्म के क्षय को मोक्ष कहा जाता हैं । शरीर, पांच इन्द्रिय, आयुष्य, श्वासोश्वास रूप दस बाह्य प्राण, पुण्य-पाप-वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, पुनर्जन्मग्रहण, तीन वेद, कषायादि का संग, अज्ञान और असिद्धत्वादि के आत्यंतिक वियोग को **मोक्ष** कहते हैं ।(18)

---

12. मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः, तदर्थं शेषभावना । **(प्र.वा. १/२५६)** 13. उत्तराधरभावेन निरन्तरोत्पादक्लेशादिदोषदूषितबोधसंतितिविच्छेद इति **माध्यमिकाः** । 14. आत्यन्तिकैकविंशतिदुःखध्वंसः । स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः। 15. वपुर्विषयेन्द्रियबुद्धि-सुखदुःखानामुच्छेदादात्मसंस्थानं मुक्तिः । **(षड्. समु. - ३२ टीका)** 16. नित्यसंवेद्यमानेन सुखेन विशिष्टात्यन्तिको दुःखनिवृत्तिः पुरषस्य मोक्षः **(षड्.समु. ३२ टीका)** दुःखसाधनशरीरनाशे नित्यनिरतिशय-सुखाभिव्यक्तिरिति तदेकदेशिनः **(सर्वलक्षणसंग्रहः)** 17. विवेकज्ञानात्पुरुषस्य यः प्रकृतेर्वियोगो भवति, स **मोक्षः** । प्रकृतेर्विवेकदर्शने तु प्रवृत्तेरूपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः । **(षड्.समु. ४३ टीका)** प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात्तदविवेकनिवृत्तौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानमिति **साङ्ख्ययोगिनः**। **(सर्वलक्षणसंग्रह)** 18. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। **(योगशतक)** । देहादिः-शरीरपञ्चकेन्द्रियायुरादिबाह्य-प्राणपुण्यापुण्यवर्णगन्धरसस्पर्शपुनर्जन्मग्रहणवेदत्रयकषायादि-सङ्गाज्ञानासिद्धत्वादेरात्यन्तिको वियोगो विरहः पुनर्मोक्षः। **(षड्.समु. ५२ टीका)** प्रलीननिखिलोपाधेः क्षेत्रज्ञस्य सततोर्ध्वगतिरिति

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा का मूलभूत स्वभाव उर्ध्वगति हैं । कर्म और कर्मजन्य उपाधि के कारण आत्मा का यह स्वभाव दबा हुआ होता हैं । सर्वकर्म का नाश होने से (कर्म और कर्मजन्य उपाधि का नाश होने से) आत्मा की उर्ध्वगति होती हैं और सिद्ध-शिला के उपर स्थिर बनकर सादि-अनंतकाल तक आत्मा आत्मा में अवस्थान करने से अनंत सुख का अनुभव करता हैं। जैनदर्शन मोक्ष में आत्मा को अनंतसुख की प्राप्ति मानता हैं। मोक्ष में आत्मा को **आयुष्य कर्म** का नाश होने से **अक्षयस्थिति** प्राप्त होती हैं । वह अवस्था अनंतकाल तक रहनेवाली हैं । **नामकर्म का** नाश होने से **अरुपीत्व** प्राप्त होता है । **गोत्रकर्म** का नाश होने से **अगुरुलघुत्व** प्राप्त होता हैं। मोक्षावस्था में सर्व जीव समान होते हैं । कोई ऊंचा या कोई छोटा ऐसी असमानता नहीं होती है । **वेदनीय कर्म का नाश होने से अव्याबाध उ व्याबाधारहित निरंतर सुखमय अवस्था प्राप्त होती है । ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होने से अनंतज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म का नाश होने से अनंतदर्शन, अंतराय कर्म का नाश होने से अनंतवीर्य और मोहनीय कर्म का नाश होने से अनंतचरित्र उ अनंत आनंद की प्राप्ति होती हैं ।** इस अनंत चतुष्क की संपत्ति द्वारा मुक्तात्मा अनंतकाल तक निरंतर अनंतसुख का अनुभव करते हैं ।

मोक्ष का सुख असांयोगिक हैं । इसलिए संयोग से उत्पन्न हुई एक भी विडंबणा का अंश भी उसमें नहीं है । सांयोगिक सुख चिंता, अजंप, अशांति आदि अनेक प्रकार की विडंबणाओं से घिरा हुआ है । असांयोगिक सुख ये विडंबणाओं से संपूर्ण रुप से मुक्त हैं । इसलिए ही संपूर्णतः दुःखरहित हैं । शाश्वत और दुःख के अंश से भी रहित अनंतसुख एकमात्र मोक्ष में है, ऐसी मान्यता जैनदर्शन की है अर्थात् एकांतिक और आत्यन्तिक सुख का अनुभव मुक्तात्मा को ही होता हैं ।

सर्वकर्म के क्षय से मोक्ष होता हैं और सर्वकर्म का क्षय करने की एक निश्चित साधना हैं । जैनदर्शन में साधना के चौदह पावदान बताये हैं । उसे "गुणस्थानक" की संज्ञा दी हैं । प्रथम पावदान (च्यड्डद्र) से कर्म की निर्जरा होने का प्रारंभ होता हैं (प्रत्येक पावदान पे कर्मनिर्जरा बढती जाती हैं।) और अंत में सर्वकर्म का क्षय होने से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

- पहले बताये आठ कर्मो में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय : ये चार **घाती कर्म** कहे जाते हैं। क्योंकि, आत्मा के मूलभूत जो ज्ञानादि गुणो हैं, उसका घात करनेवाले ये कर्म हैं । नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य : ये चार कर्म को **अघातीकर्म** कहे जाते हैं। उसे भवोपग्राही कर्म भी कहे जाते हैं।

चौदह पावदान की साधना और उसके उत्तरोत्तर विकास को समजने के लिए जैनदर्शन के कर्मग्रंथ आदि शास्त्रो का अवगाहन करना अति आवश्यक हैं । इस विश्व में जैन-दर्शन ने बताये हुए कर्म के सिद्धांत, आठों कर्मो के भेद-प्रभेद, कर्म-बंध के कारण, कर्मबंध के चार प्रकार, कर्म की विभिन्न अवस्थायें इत्यादि कर्मविषयक साहित्य अजोड हैं । वह अन्यत्र कही भी देखने को नहीं मिलेगा।

जैनदर्शन ने आत्मा जो कर्म बांधता हैं, वह कर्मबंध के चार कारण बताये हैं । (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) कषाय और (४) योग । जब कि, तत्त्वार्थ सूत्रकार महर्षिने प्रमाद के साथ पाँच कर्मबन्ध के कारण बताये है ।

यहाँ याद रखे कि, आत्मा अनादि हैं । परिणामी नित्य हैं । आत्मा का संसार भी अनादि हैं । अनादि ऐसे कर्म के संयोग से आत्मा का संसार चलता हैं । कर्मबंध के कारण भी अनादि से आत्मा को चीपके हुए हैं । **हेय को उपादेय,**

जैनाः । (सर्वलक्षणसंग्रहः) मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसंनिधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिक-कर्ममोक्षणं **मोक्षः । (सर्व.सं.पृ. ८०)** लब्धानन्तचतुष्कस्य **लोकारूढस्य** चात्मनः । क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिर्निर्व्यावृत्तिर्जिनोदिता ।। **(सर्व.सं.पृ. ८८)** तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् **(त.सू. १०/५)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपादेय को हेय, कर्तव्य को अकर्तव्य, अकर्तव्य को कर्तव्य मानना उसे मिथ्यात्व कहा जाता हैं । जगत के पदार्थ जैसे है वैसे न मानने देनेवाला मिथ्यात्व हैं । मिथ्यात्व के कारण ही उल्टी मान्यता प्रवर्तित होती हैं । सुख आत्मा में होने पर भी उसे इन्द्रियों के विषय में मानना वह मिथ्यात्व का प्रभाव हैं । यह मिथ्यात्व पूर्वनिर्दिष्ट चार कारण में मुख्य हैं । क्योंकि, वह बुद्धि में विपर्यास खडा करता हैं ।

पाप से विराम पाने न दे उसे अविरति कहा जाता हैं । आत्मा से सर्वथा भिन्न पौद्गलिक पदार्थो में रममाण करनेवाली अविरति हैं । मिथ्यात्व आत्मभिन्न पदार्थो में सुखबुद्धि करवाता हैं और अविरति उसमें रममाण करती हैं । उसके योग से आत्मा कर्मो से बंधाता हैं ।

कोई व्यक्ति अपराध करे तब गुस्सा आये उसे **क्रोध** कहा जाता हैं । स्वोत्कर्ष के अहंकार को **मान** कहा जाता हैं। अन्य के प्रति कपट-प्रपंच का आचरण करना उसे **माया** कहा जाता है । पदार्थ की तृष्णा को **लोभ** कहा जाता हैं । **क्रोधादि चार को कषाय कहा जाता हैं । कष अर्थात् संसार और आय अर्थात् लाभ, जिससे संसार (जन्म-मरण की परंपरा) प्राप्त हो उसे कषाय कहा जाता हैं ।** पौद्गलिक सुखो में रममाण बनने से कषाय उत्पन्न होते हैं। लाभ से लोभ बढता हैं। अधिक प्राप्ति में अहंकार होला हैं । अप्राप्ति में अन्य के प्रति क्रोध होता हैं और प्राप्ति के लिए प्रपंच (माया) होते हैं। **मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को योग कहा जाता हैं ।** मिथ्यात्व का तीव्र उदय वर्तित हो तब मोक्ष की साधना संभव नहीं बनती हैं। उस काल में कदाचित् साधना हो तो भी वह मोक्ष के लिए न हो, परन्तु संसार के लिए ही होती हैं ।

मिथ्यात्व मंद पडे तब मोक्ष की साधना का प्रारंभ होता हैं और साधक "मिथ्यात्व" नाम के 'प्रथम गुणस्थानक' को प्राप्त करता है । मिथ्यात्व का नाश हो और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो तब साधक की मोक्ष साधना तीव्र बनती हैं और साधक **"सम्यग्दर्शन"** नाम के **चतुर्थ गुणस्थानक** को प्राप्त करता हैं । प्रथम गुणस्थानक से चतुर्थ गुणस्थानक की ओर आगे बढने वक्त **"मिश्र"** नामका तीसरा गुणस्थानक अल्प समय के लिए प्राप्त होता हैं । सम्यग्दर्शन से पतित होकर नीचे उतरने वक्त **"सास्वादन"** नाम के द्वितीय गुणस्थानक का स्पर्श साधक को अल्प समय के लिए होता हैं और तुरंत वह प्रथम गुणस्थानक पर पहुँचता हैं । याद रखना कि सात गुणस्थानक तक चढाव-उतार आ सकते हैं ।

चतुर्थगुणस्थानकवर्ती साधक को पाप के त्याग की बहोत भावना होने पर भी अविरति पापो से विराम नहीं पाने देती। जो करने की लेशमात्र इच्छा नहीं है, उसे दुःखी दिल से करना पडता है । चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से अविरति जब हल्की होती हैं, तब पाप की आंशिक निवृत्ति करने में साधक सफल बनता हैं, ऐसा साधक **'देशविरति'** नाम के **पाँचवे गुणस्थानक** को प्राप्त करता है । जब साधक मन-वचन-काया द्वारा करने-कराने-अनुमोदन देने से हिंसादि अठारह पापो का संपूर्ण त्याग करता है तब उसे **"सर्वविरति"** नाम का **छठ्ठा गुणस्थानक** प्राप्त होता है । चारित्र मोहनीय के विशिष्ट क्षयोपशम से यह अवस्था प्राप्त होती हैं । **(उदय में आये हुए कर्म का क्षय - नाश करना और आत्मा में सत्तारूप से रहे हुए कर्म को प्रयत्न - विशेष से उदय में आने न देना (उपशम), उसे क्षयोपशम कहा जाता हैं।)**

मोक्ष साधना में जब अप्रमत्त भाव उजागर होता है, तब **"अप्रमत्त"** नामका **सप्तम गुणस्थानक** प्राप्त होता हैं, यहाँ साधक को निर्विकल्पक दशा की प्राप्ति होती हैं । सुख-दुःख, संसार-मोक्ष, मिट्टी-सुवर्ण में तुल्यवृत्ति प्रकट होती हैं । साधक निराश्रवदशा को प्राप्त करता हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छट्ठे और सातवें गुणस्थानक में साधक का चढाव-उतार चालू रहता है । जब आत्मा गुणो से समृद्ध बनता हैं तब उसमें अपूर्व सामर्थ्य प्रकट होता है और उसके योग से निर्बल हुए घाती कर्मो का मूल से नाश करने के लिए साधक के आत्मा में अपूर्व वीर्योल्लास प्रकट होता हैं । उस वीर्योल्लास के सामर्थ्य से साधक सातवें गुणस्थानक से आठवे गुणस्थानक पर पहुँचता है और **सामर्थ्ययोग** की प्राप्ति करता है । आठवें से बारहवें गुणस्थानक तक की साधना को **"क्षपकश्रेणी"** कहा जाता हैं । क्षपकश्रेणी की साधना में साधक (पहले बताये हुए) चार घातीकर्मो का नाश करता हैं और तेरहवें गुणस्थानक पर अनंत चतुष्क का स्वामी बनता हैं । मिथ्यात्व-अविरति-कषायः इन तीनो का समूल नाश हो गया हैं। एक मात्र **'योग'** बाकी हैं, यहाँ तेरहवें गुणस्थानक पर "योग" प्रवर्तित है । इसलिए उसे **"सयोगी केवली"** गुणस्थानक भी कहा जाता है । सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बना हुआ आत्मा देह होने पर भी मुक्ति के अनंतसुख का अनुभव करता है, इसलिए इस अवस्था को **जीवन्मुक्त** अवस्था भी कही जाती हैं ।

जहाँ तक भवोपग्राही कर्म विद्यमान है, तब तक केवलज्ञानी भगवान देह सहित पृथ्वी के उपर विचरते रहते है । भव्य जीवो को प्रतिबोध देते है । राग-द्वेष को जीत लिया होने से **"जिन"** भी कहे जाते हैं । कालमर्यादा पूर्ण होने से चौदहवें गुणस्थानक पर शेष रहे हुए योग का निरोध करके भवोपग्राही कर्मो का भी नाश करते हैं । **"अयोगी केवली"** नाम के यह चौदहवें गुणस्थानक पर सर्वसंवरभाव, शैलेषीभाव और अबंधकता प्राप्त होती हैं । कर्म को आने के तमाम द्वारों को बंध करना उसे **सर्वसंवर** भाव कहा जाता हैं । आत्मा के असंख्य प्रदेशो को पर्वत की तरह स्थिर बना देना उसे **शैलेषीभाव** कहा जाता हैं और नये कोई कर्म का बंध न होना उसे **अबंधकता** कहा जाता है । आत्मा के सर्वकर्मो का नाश होने से देह का भी नाश होता है और आत्मा देहरुप पिंजरे में से छूटकर अपनी जो स्वाभाविक ऊर्ध्वगति हैं, उसे प्राप्त करता है और सिद्धशिला के उपर सदा के लिए बसता हैं ।

यहाँ तो साधना की हल्की-सी रुप रेखा मात्र दी हैं । जिनागमों में विस्तार से इस साधनाक्रम का वर्णन किया हैं । चौदह गुणस्थानक की विकास यात्रा को समजाने के लिए श्री जैनाचार्योने गुणस्थानक क्रमारोह, कर्मग्रंथ, विशेषावश्यक भाष्य आदि अनेक ग्रंथो की रचना की हैं । प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता समर्थ शास्त्रकार शिरोमणि पू.आ.भ. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा ने चौदह गुणस्थानक की समग्र साधना यात्रा को आठ दृष्टि के माध्यम से योगदृष्टिसमुच्य ग्रंथ में बताई हैं। उसमें अद्भुत शैली में मोक्षमार्ग उ योगमार्ग को बताया हैं । योग के यमादि आठ अंगो की क्रमशः किसी तरह से प्राप्ति होती है और चित्त के खेदादि आठ दोषो का नाश किस तरह से होता है, इत्यादि योगविषयक अनेक विषयो का अपूर्व शैली में आलेखन किया हैं ।

संक्षिप्त में, जैनदर्शन के मतानुसार मोक्ष में अनंत आनंद हैं । वहाँ जाने के बाद आत्मा का पुनः जन्म नहीं होता है। क्योंकि जन्म-मरण के बीजभूत कर्मो का सर्वथा नाश होता हैं । मोक्ष में सर्व मुक्त जीवो में समानता होती हैं । समानता और संपूर्ण स्वतंत्रता : ये दो मोक्ष के महान सुख हैं । असमानता-विषमता और परतंत्रता में से खडे हुए दुःखो का एक अंश भी मोक्ष में नहीं होता हैं।

मोक्ष में प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व होता हैं । कोई आत्मा का अपने से अन्य आत्मा में लय नहीं होता है। जैसे शरीर-इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों के आधार पर जीव का संसारी अवस्था का नियत वर्षो का जीवन व्यतित होता हैं, वैसे ज्ञानादि भावप्राणों के आधार पर मोक्षावस्था का अनंतकाल तक जीवन व्यतीत होता हैं । तदुपरांत, मोक्षावस्था में तीर्थंकर के आत्मा और अन्य आत्माओं का सिद्धत्व एक समान होता है । प्रत्येक भव्यात्मा में जो अनंत शक्ति छिपकर रही हुई हैं, उसका प्रादुर्भाव मोक्षावस्था में प्रत्येक जीवो को एक समान होती हैं अर्थात् सभी मुक्तात्मा परमात्मभाव को प्राप्त करते हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशेषिको के मतानुसार बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न और भावना संस्कार और द्वेष ये नौ आत्मा के विशेष गुणो के उच्छेद को मोक्ष कहा जाता हैं ।[19]

मीमांसक दर्शन में श्री कुमारिल भट्ट और श्री प्रभाकर मिश्र नाम के आचार्यो का मत प्रचलित हैं । **श्री कुमारिल भट्ट के मतानुसार दुःख का आत्यन्तिक समुच्छेद होने से आत्मा में जो पहले से आनंद विद्यमान था, उस आनंद की मन द्वारा अनुभूति होती है, उसे ही मोक्ष कहा जाता है ।**[20] अर्थात् नित्य सुख का साक्षात्कार जहाँ होता हैं, उसे मोक्ष कहा जाता हैं। **श्री प्रभाकर मिश्र** के मतानुसार सभी बुद्धि आदि विशेष गुणो का नाश होने से आत्मा का स्वरूप में जो अवस्थान होता हैं, उसे ही **मोक्ष** कहा जाता हैं ।[21]

मीमांसादर्शन के दो विभाग हैं । एक पूर्वमीमांसा और दूसरा उत्तरमीमांसा । वर्तमान में पूर्वमीमांसा दर्शन मीमांसक दर्शन के नाम से और उत्तर मीमांसा दर्शन वेदांत दर्शन के नाम से पहचाना जाता हैं । मीमांसक दर्शन के आचार्यो की मोक्ष विषयक मान्यतायें उपर देखी हैं। वेदांत दर्शन में भी अनेक आचार्यो की मोक्ष विषयक मान्यतायें भिन्न-भिन्न प्रवर्तित हैं।

● **अद्वैत वेदांत (केवलाद्वैत) वेदांत के पुरस्कर्ता श्री शंकराचार्य के मतानुसार प्रपंच का नाश होना वही मोक्ष हैं ।**[22] (प्रपंच का विलय होने से) शोक की निवृत्ति और आनंदात्मक ब्रह्म की प्राप्ति होना उसे मोक्ष कहा जाता हैं ।[23]

श्री शंकराचार्य के मतानुसार (देहादि से) विपरीत आत्मा के स्वरूप का प्रकाश होना वही **मुक्ति** कही जाती हैं। यह मुक्ति सदा समाधि में रहनेवाले मनुष्य को ही सिद्ध होती है, अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं होती हैं ।[24] अद्वैत वेदांत की मुक्ति विषयक अन्य मान्यतायें परिशिष्ट विभाग में वेदांत दर्शन के "मोक्ष विचार" लेख में से जान लेना । श्री शंकराचार्य के मतानुसार मोक्ष आनंद स्वरूप ही हैं । अद्वैत वेदांत को ही पुरस्कृत करते अन्य आचार्यो के मुक्ति विषयक मत भी उसी लेख में संगृहित किये हुए हैं ।

- **विशिष्टाद्वैत के** पुरस्कर्ता **श्री रामानुजाचार्य के** मतानुसार "सर्वकर्तृत्व" इस गुण को छोडकर वासुदेव के सर्वज्ञत्वादि कल्याण गुणो की प्राप्ति होने से जो भगवान के जैसा ही अनुभव होता हैं, उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं ।[25]

- **द्वैत सिद्धांत** के पुरस्कर्ता **श्री माध्वाचार्य के** मतानुसार जगत्कर्तृत्व, लक्ष्मीपतित्व और श्री वत्स को छोडकर भगवान के ज्ञान के आधीन जो दुःख का अभाव और पूर्ण सुख है, उसकी प्राप्ति होना उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं ।[26] अर्थात् उन तीन गुण के सिवा सर्वज्ञत्वादि के सद्भाव में जो दुःख के अंश रहित पूर्ण सुख की प्राप्ति हो, उसे मोक्ष कहा जाता हैं।

---

19. बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नभावनाख्यसंस्कारद्वेषाणां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदो **मोक्षः** । **(षड् समु. ६७ टीका)** 20. (१) दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः । सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरूक्ता कुमारिलैः ।।२५।। इति **भाट्टाः (मानमेयोदयः)** (२) नित्यसुखसाक्षात्कार इति **भाट्टाः (सर्वलक्षणसंग्रहः)** 21. (१) सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणविलये सत्यात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति **प्राभाकराः (मानमेयोदयः)** (२) आत्यन्तिकदुःखप्रागभावपरिपालनमिति **प्राभाकराः (सर्वलक्षणसंग्रहः)** 22. प्रपञ्चविलयो मोक्ष इति **शाङ्कराः** । **(मानमेयोदयः)** 23. आनन्दात्मक-ब्रह्मावाप्राप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च **(वेदांत परिभाषा)** 24. विपरीतात्मतास्फुर्तिरेव मुक्तिरितीर्यते । सदा समाहितस्यैव सैषा सिद्ध्यति नान्यथा ।। **सर्ववेदांतसिद्धांतसारसंग्रह-८४४।।** 25. सर्वकर्तृत्वमेकं विहाय वासुदेवस्य सर्वज्ञत्वादीनां कल्याण-गुणानामाप्तिमत्त्वे सति भगवद्याथात्म्यानुभव **इति रामानुजीयाः (सर्वलक्षणसंग्रहः)** 26. जगत्कर्तृत्व, लक्ष्मीपतित्व, श्रीवत्सवर्जं भगवद्ज्ञानायत्तनिर्दुःखपूर्णसुखमिति **माध्वाः (सर्वलक्षणसंग्रहः)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- **शुद्धाद्वैत सिद्धांत** के पुरस्कर्ता **श्री वल्लभाचार्य** के मतानुसार द्विभुज कृष्ण के साथ कृष्ण के अंशभूत जीवो का गोलोक में जो लीला का अनुभव करना, उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं ।(27)

विशेष में, त्रिदंडी संप्रदाय आनंदमय परमात्मा में जीवात्मा के लय को **मोक्ष** कहते हैं ।(28) **भेदाभेद सिद्धांत** के पुरस्कृर्ता **श्री भास्कराचार्य** के मतानुसार जीव के लिंग शरीर का नाश हो, उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं।(29) **वैष्णवो के** मतानुसार विष्णु की भक्ति और धर्माचरण से विष्णु लोक में गमन होना उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं।(30) कुछ लोग अक्षय शरीरादि लाभ को **मोक्ष** कहते हैं ।(31) **श्री अभिनव गुप्ताचार्य** के मतानुसार पूर्णात्मता के लाभ को **मोक्ष** कहा जाता है। **पाशुपत संप्रदाय** के मतानुसार पाशुपत के धर्म के आचरण से पशुपति (भगवान) के पास पुनः संसार में आगमन न हो उस तरह से गमन करना उसे **मोक्ष** कहा जाता है ।(32)

श्री पाणिनी ऋषि के संप्रदाय के मतानुसार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी - इन चार वाणी में से प्रथम **'परा'** नाम की ब्रह्मरूप वाणी द्वारा दर्शन करना उसे **मोक्ष** कहा जाता हैं ।(33)

यहाँ उल्लेखनीय है कि, वेदांती और मीमांसक कुमारील भट्ट के बीच मोक्ष के विषय में बहोत अन्तर हैं ।(34) अद्वैत वेदांती प्रपंच के विलय को **मोक्ष** कहते हैं । मीमांसक प्रपंच के संबंध के विलय को **मोक्ष** कहते हैं। **वेदांतीओं की मान्यता है कि,** स्वप्न प्रपंच की तरह यह संसार प्रपंच अविद्यानिर्मित हैं । इसलिए ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या विलीन होने से जगत् की सत्ता ही नहीं रहती है । प्रपंच का ही विलय हो जाता है । **जब मीमांसक की मान्यता उससे एकदम भिन्न हैं ।** मुक्तावस्था में संसार की अवस्था उसी प्रकार से रहती हैं कि जिस प्रकार से अविद्यादशा में रहती हैं । मात्र बंध का नाश हो जाता है और यही दोनों अवस्थाओं का अंतर हैं । **तदुपरांत श्री कुमारिल भट्ट के मोक्ष से श्री प्रभाकर मिश्र का मोक्ष अलग है ।** श्री प्रभाकर के मतानुसार बाह्य किसी भी प्रकार के फल की अपेक्षा के बिना कर्तव्य बुद्धि से नित्यकर्मो का अनुष्ठान ही मोक्ष है । इसलिए मुक्ति अनवरत कार्य की दशा हैं, जिसमें क्रिया को छोडकर अन्य फल की आकांक्षा रहती नहीं हैं ।(35)

योगदर्शन के मतानुसार पुरुष के भोग-अपवर्गरूप पुरुषार्थ के संपादन से कृतार्थ हुए पुरुषार्थ शून्य कार्य-कारणरूप गुणो का जो प्रतिप्रसव होना (अर्थात् व्युत्थान, समाधि और निरोध ये तीनो के संस्कारो का मन में लय, मन का अहंकार में लय, अहंकार का लिंगरूप बुद्धि में लय और बुद्धि का (गुण स्वरूप) प्रधान (मूल प्रकृति) में लय हो जाना) उसे पुरुष का **कैवल्य** जानना अर्थात् पुरुष का **मोक्ष** जानना **अथवा** बुद्धिसत्त्व के साथ पुनः कभी भी संबंध होनेवाला न होने से पुरुष की जो निरंतर केवल चितिशक्तिरूप मात्र से अवस्थान रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है, उसे कैवल्य (मोक्ष) कहा जाता हैं।(36) **नास्तिक** ऐसे चार्वाक के मतानुसार स्वतंत्रता ही **मोक्ष** हैं अथवा मृत्यु यही **मोक्ष** है । चार्वाक देह से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करता ही नहीं है । उसके मतानुसार देह का नाश यही मोक्ष हैं ।(37)

---

27. द्विजकृष्णेन सह स्वांशभूतानां जीवानां गोलोके लीलानुभव **इति वल्लभीयाः । (सर्वलक्षणसंग्रहः)** 28. आनन्दमयपरमात्मनि जीवात्मलय इति **त्रिदण्डिनः** । 29. जीवस्य लिङ्गशरीरापगम इति **भास्करीयाः** । 30. विष्णुभक्तिधर्माचरणाद्विष्णुलोकगमनं वेति **वैष्णवाः** । 31. अक्षयादिशरीरलाभः 32. पाशुपतधर्माचरणात्पशुपतिसमीपगमनमेव पुनरावृत्तिरहितमिति **पाशुपतः । (सर्वलक्षणसंग्रहः)** 33. परापश्यन्तीमध्यमावैखरीति वाणीचतुष्टये प्रथमायाः पराख्यायाः ब्रह्मरुपायाः वाण्या **दर्शनमिति पाणिनीयाः (सर्वलक्षणसंग्रहः)** 34.प्रपञ्चविलयो मोक्षः **इति वेदान्तिनः । (मानमेयोदेयः)** प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः **इति भाट्टाः । (प्रकरणपञ्चिका)** 35.नियोगसिद्धिरेव मोक्षः **(प्रकरणपञ्चिका-)** 36. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरुपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।।३४।। **(योगसूत्र-४-३३)** 37. स्वातन्त्र्यम् मृत्युवेति **चार्वाकाः । (सर्वलक्षणसंग्रहः)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह से प्रत्येक आस्तिक दर्शनो का अंतिम ध्येय मोक्ष हैं । यहाँ विभिन्न मतो के आधार पर मोक्ष के स्वरूप के विषय पर विचार किया । अब दर्शन की संख्या कितनी ? इस विषय पर विचार करके प्रत्येक दर्शन का परिचय प्राप्त करने का कार्य करेंगे ।

षड्दर्शन :

प्रस्तुत ग्रंथ के ग्रंथकार महर्षि ने दर्शनो की संख्या छः गिनाई है । बाकी के दर्शनो का छः में अन्तर्भाव किया हैं। ग्रंथ के प्रारंभ में ही बताया हैं कि,

दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया । देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ।।२।

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं, जैनं वैशेषिकं तथा । जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ।।३।।

मूलभेद की अपेक्षा से छः ही दर्शन हैं । (१) बौद्ध, (२) नैयायिक, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) वैशेषिक और (६) जैमिनि । प्रस्तुत ग्रंथ में इन छः दर्शन का देवता, प्रमाण और तत्त्व के भेद से निरूपण किया गया हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथकारश्री ने वेदांत दर्शन का मीमांसा दर्शन में ही अंतर्भाव किया है । अपने अन्य शास्त्रवार्ता समुच्चय ग्रंथ में वेदांत दर्शन को स्वतंत्र दर्शन के रुप में ग्रहण करके उसकी मान्यताओं की समीक्षा भी की है । तदुपरांत योगदर्शन सांख्यदर्शन की निकट का दर्शन माना जाता होने से उसका अंतर्भाव सांख्यदर्शन में किया हो, ऐसा मालूम पडता हैं । टीकाकारश्रीने मीमांसा दर्शन के निरूपण का प्रारंभ हो, उसके पहले वेदांत दर्शन का आंशिक निरूपण किया हैं ।

दर्शनो की संख्या के विषय में बहोत विवाद है । अन्य प्रकाशनो की प्रस्तावना आदि में उसकी बहोत चर्चा हुई हैं।[38] उस चर्चा को एक ओर रखकर अब क्रमशः प्रत्येक दर्शन का आंशिक निरूपण करेंगे । प्रस्तुत ग्रंथ में असमाविष्ट दर्शनो के विषयो के बारे में परिशिष्ट विभाग में विचारणा की हैं और इस ग्रंथ में ग्रहण नहीं किये हुए विषयो की स्पष्टतायें भी परिशिष्टो में की गई हैं । वह क्रमशः आगे बताई जायेगी । प्रस्तुत ग्रंथ में जिस क्रम से दर्शनो का निरूपण किया है, उसी क्रम से यहाँ भी परिचय देंगे । परिशिष्टो में समाविष्ट विषयो की आंशिक चर्चा भी योग्य स्थान पर की जायेगी।

बौद्धदर्शन :

"सर्वं क्षणिकम्" सिद्धांत का प्रतिपादक दर्शन वही **बौद्धदर्शन** । बौद्धदर्शन जगत के सर्व पदार्थो को क्षणविनश्वर मानते हैं । इसलिए ही वह **"क्षणिकवादी"** के रूप से पहचाना जाता हैं ।

देवता :

बौद्धदर्शन के संस्थापक गौतम बुद्ध हैं । शाक्य गणाधिप शुद्धोदन राजा की मयादेवी रानी की कोख से उनका जन्म हुआ था । उन्नीस वर्ष की आयु में संसार का त्याग किया था और पच्चीस वर्ष की आयु में उरुवेल में चार आर्यसत्यो की प्रत्यक्ष अनुभूति करके बुद्धत्व की प्राप्ति की थी, ऐसा उनके ग्रंथ और इतिहास ग्रंथ कहते है ।[39] मृगदाव (सारनाथ) में कौडिन्य आदि पांच भिक्षुओं के आगे अपना प्रथम उपदेश देकर **"धर्मचक्र प्रवर्तन"** किया था ।[40] भिक्षुओं के "संघ" की स्थापना की ।

38. श्री आचार्य बलदेव उपाध्याय विरचित 'भारतीय दर्शन' में छः से अधिकदर्शन की चर्चा की है । इसके अलावा अन्य ग्रंथों में भी अधिक दर्शन की गिनती हुई है । वेदांतदर्शन के पेटाभेद अनेक है । 'भारतीय दर्शन' पुस्तक में अद्वैतवेदांत दर्शन से भिन्न वैष्णव दर्शन में रामानुजदर्शन, माध्वदर्शन, निम्बार्कदर्शन, वल्लभदर्शन और चैतन्यदर्शन, ऐसे पांच दर्शन के भेद बताये हैं । 39. श्री आचार्य बलदेव उपा.कृत 'भारतीय दर्शन', षष्ठ परिच्छेद, पृ-११९ 40. "धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र" - संयुत निकाय ५५-२-१ (बुद्धचर्या पृ-२३) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म, बुद्धि और संघ : ये तीन बौद्धदर्शन के रत्न है । (जिससे बौद्धदर्शन की सफलता मानी गई हैं ।) बौद्धदर्शन के उपर आते विघ्नो की नाशक देवी तारादेवी हैं ।[41] गौतम बुद्धने अति कठिन और अतिमृदु मार्ग को छोडकर मध्यम मार्ग अपनाया हैं । उनके आचार, लिङ्ग, वेश और मध्यम मार्ग के अनुसरण की मान्यता आदि का वर्णन बौद्धदर्शन के प्रारंभ के वर्णन में श्लोक ४ की टीका में किया गया हैं ।

● **तत्त्वमीमांसा :**

गौतम बुद्ध ने चार आर्यसत्य बतायें हैं । **सर्व हेय से दूर हो गये है उसे आर्य कहा गया है । साधुओं को यथासंभव मुक्ति प्राप्त करानेवाला या पदार्थो के यथावस्थित वस्तुओं के चिन्तन द्वारा जो हितकारी हो उसे सत्य कहा जाता हैं अथवा सज्जनो को हितकारी हो उसे सत्य कहा जाता हैं ।**

चार आर्यसत्य बौद्धदर्शन के मूलभूत तत्त्व है । (१) दुःख, (२) दुःख समुदय, (३) दुःखनिरोध, (४) दुःखनिरोध मार्ग ।[42] विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप वे पांच स्कंध ही संसारी जीवो का **दुःख** हैं । सचेतन या अचेतन परमाणुओं के संघात विशेष को **स्कंध** कहा जाता हैं । वे स्कंध पाँच हैं । रूपविज्ञान, रसविज्ञान, स्पर्शविज्ञान, गंधविज्ञान और शब्दविज्ञान विषयक निर्विकल्पक ज्ञान को **विज्ञानस्कंध** कहा जाता है । सुख-दुःख और असुख-दुःख (सुख-दुःख के अभाव स्वरूप उदासीनता) ये तीन **वेदनास्कंध** हैं । जो प्रत्ययो में शब्दो के प्रवृत्ति निमित्तो की उद्ग्राहणा उ योजना हो जाती है; उस सविकल्प प्रत्ययो को **संज्ञास्कंध** कहा जाता हैं । पुण्य-पाप आदि के समुदाय को **संस्कार स्कंध** कहा जाता हैं । पृथ्वी आदि चार धातुयें और रुपादि विषय **रुपस्कंध** कहे जाते है । ये पाँचो स्कंध संसारी जीव का दुःख हैं ।[43] स्व-स्वकीय (मैं और मेरा) तथा पर-परकीय के सम्बन्ध से जो राग-द्वेषादि दोष उत्पन्न होता हैं, वह **दुःख समुदय** नाम का तत्त्व हैं ।[44] **संसार के सर्व संस्कार क्षणिक हैं । इस प्रकार की वासना को मार्ग तत्व कहा जाता हैं और वासनाओ के सर्वथा नाश को निरोध (मोक्ष) कहा जाता है ।**[45]

बौद्धदर्शनने तत्त्वो का विभाजन तीन प्रकार से किया हैं । (१) स्कंध, (२) आयतन, (३) धातु । स्कंध का स्वरूप और उसके प्रकार उपर देखें है । आयतन बार हैं ।[46] श्रोतादि पाँच इन्द्रिय, शब्दादि पांच विषय, मन और सुखादि धर्मो का आयतन (अतीन्द्रिय विषय) : **ये बारह आयतन हैं ।**[47] श्रोतादि छः इन्द्रिय, उसके छः विषय और (विषयो के संपर्क से उत्पन्न होनेवाले) छः विज्ञान : **ये अठारह धातु हैं।**

बौद्धदर्शन के अनुसार जगत की सर्व वस्तुयें स्कंध, आयतन या धातु, ये तीन में से कोई भी एक प्रक्रिया में बाँटा जा सकता हैं । कर्तव्य शास्त्र के विषय में श्री गौतम बुद्धने चार आर्यसत्यो का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा हैं कि... (१) इस संसार में जीवन दुःखो से परिपूर्ण हैं **(दुःखम्)** । (२) इन दुःखो का कारण विद्यमान हैं **(दुःख समुदय)**। (३) इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती हैं **(दुःखनिरोध)** । और (४) इस निरोध के लिए उचित उपाय - मार्ग हैं । **(दुःखनिरोध मार्ग)**

यह जगत दुःखो से व्याप्त हैं । इस वास्तविकता का कभी भी इन्कार हो सके ऐसा नहीं हैं । इसलिए प्रथम "दुःख" नामका आर्यसत्य गौतमबुद्धने बताया हैं । **दुःखो के कारण भी हैं । वह एक नहीं हैं । परन्तु कारणो की एक लम्बी श्रृंखला हैं । उस कारण श्रृंखला को (बौद्धदर्शन में) "द्वादश निदान" की संज्ञा दी हैं ।** वह द्वादश निदान इस

41. धर्मबुद्धसङ्गरुपं रत्नत्रयम् । तारादेवी शासने विघ्ननाशिनी (षड्.समु. ४) । 42. षड् समु. श्लोक-५ टीका । 43. षड्.समु. श्लोक-५ टीका । 44. षड्. समु. श्लो-६ टीका। 45. षड्. समु. श्लोक-७ टीका । 46. अंगुत्तय-निकाय ३-१-३४ । 47. षड्. समु. श्लोक-६ टीका ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार से हैं - (१) जरामरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरुप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार और (१२) अविद्या । **इस कारण - परंपरा में पूर्व की प्रति पर निर्दिष्ट कारण हैं ।** जैसे कि, जन्म-मृत्यु प्रति जाति (जन्म लेना) वह कारण हैं । जाति का कारण संसार (भव) हैं (अर्थात् जीवमात्र का पुनर्जन्म उत्पन्न करनेवाला कर्म ।) भव का कारण हैं उपादान उ आसक्ति (उपादान अनेक प्रकार के होते हैं । कामोपादन उ स्त्री में आसक्ति, शीलोपादन उ व्रतो में आसक्ति और उससे आगे बढकर आत्मोपादन उ आत्मा को नित्य मानने का आग्रह) । उपादान का कारण हैं तृष्णा । (इन्द्रिय द्वारा बाह्य अर्थ के अनुभव बिना तृष्णा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है इसलिए) तृष्णा की उत्पत्ति वेदना (इन्द्रियजन्यानुभूति) में से होती है । इसलिए तृष्णा का कारण वेदना हैं । वेदना का कारण स्पर्श (इन्द्रिय और विषय का संपर्क) है, उस स्पर्श का कारण षडायतन हैं । (अर्थात् मन सहित पांच इन्द्रियो के बिना तादृश संपर्क संभव नहीं हैं । इसलिए स्पर्श के प्रति षडायतन कारण हैं।) षडायतन का कारण नामरुप हैं । (नामरुप अर्थात् दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान विशेष ।) शरीर और मन से संवलित संस्थान विशेष का कार्य षडायतन है । नामरूप की सत्ता विज्ञान के कारण हैं । (यह चित्तधारा या चैतन्य मातृगर्भ से भ्रूण के नामरुप की साधक हैं।) इस विज्ञान का कारण संस्कार हैं । (संस्कार उ पूर्वजन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न संस्कार) । (संस्कार का कारण अविद्या हैं । अविद्या का कार्य संस्कार हैं ।)

पूर्वोक्त सभी दुःखो के समूह का आद्य कारण अविद्या हैं । इस द्वादश निदान के चक्र को **"भवचक्र"** कहा जाता हैं । इस भवचक्र का संबंध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों जन्मो के साथ हैं । इन द्वादश निदानो का दूसरा नाम **"प्रतीत्य समुत्पाद"** हैं । उसका दूसरा नाम **"सापेक्षकारणतावाद"** हैं । बौद्धदर्शन में कार्य-कारणभाव की व्यवस्था इस सिद्धांत के आधार पर हैं । वह बौद्धधर्म का मौलिक सिद्धांत हैं । **पूर्वोक्त कारण श्रृंखला का संबंध तीनों जन्म के साथ हैं । अविद्या और संस्कार अतीत जन्म के साथ संबद्ध हैं । विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव ये आठ वर्तमान जन्म के साथ संबद्ध हैं । जाति और जरामरण भविष्य जीवन के साथ संबद्ध हैं ।**

तृतीय आर्यसत्य **दुःख निरोध** उ **निर्वाण** हैं । कारण की सत्ता के उपर ही कार्य की सत्ता अवलंबित रहती हैं। **पूर्वोक्त भवचक्र का मूल कारण अविद्या हैं।** विद्या द्वारा अविद्या का निरोध किया जाये तो भवचक्र का अंत आये और निर्वाण की प्राप्ति हो जाती हैं ।

चतुर्थ आर्यसत्य **"दुःखनिरोध मार्ग"** हैं अर्थात् निर्वाण मार्ग हैं । श्री गौतम बुद्धने निर्वाण मार्ग के रुप में मध्यम मार्ग प्रस्थापित किया हैं । अतिशय विलास के मार्ग का और अतिशय कष्टो को सहन करने के मार्ग का त्याग करके **"मध्यम प्रतिपदा"** की खोज गौतम बुद्धने की थी । इस मार्ग को **"आर्यअष्टांतिक-मार्ग"** भी कहा जाता हैं । जिसके आठ अंग इस प्रकार से हैं - (१) **सम्यक् ज्ञान** (आर्यतत्त्वो का तत्त्वज्ञान) (२) **सम्यक् संकल्प,** (३) **सम्यक् वचन,** (४) **सम्यक् कर्मान्त** (हिंसा, द्रोह, दुराचरण रहित कर्म), (५) **सम्यक् आजीव** (न्यायपूर्ण आजीविका) (६) **सम्यक् व्यायाम** (खराब वृत्तिओं को नियंत्रण में रखने का और सुवृत्तिओं को उजागर करने का प्रयत्न करना ।) (७) **सम्यक् स्मृति :** (चित्त, शरीर, वेदना आदि अशुचि - अनित्य है, ऐसी स्मृति और लोभादि चित्त के संताप से दूर जाना) (८) **सम्यक् समाधि :** (राग-द्वेषादि द्वन्द्वो के विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता) - **इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता हैं और निर्वाण की तुरंत प्राप्ति होती हैं ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धदर्शन में साधना के तीन साधन हैं । (१) शील, (२) समाधि तथा (३) प्रज्ञा । सर्व सात्त्विक कर्मो का अन्तर्भाव शील में होता है । बौद्धदर्शन के साधक, भिक्षु और गृहस्थ ऐसे दो प्रकार के होते है । अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य और नशा न करना - **ये पाँच सामान्य शील हैं ।** दोनों प्रकार के साधको को इस शील का यथार्थ सेवन करना होता है । भिक्षु को अन्य पाँच शील हैं । अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत और महार्घ शय्या - इन पाँचो का त्याग करना होता हैं ।(48) **समाधि से तीन प्रकार की विद्यायें उत्पन्न होती हैं ।** (१) पूर्व जन्म की स्मृति, (२) जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान और (३) चित्त के बाधक विषयो की जानकारी ।(49) **प्रज्ञा तीन प्रकार की है ।** (१) श्रुतमयी (आप्त प्रमाण जन्य निश्चय) (२) चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) और (३) भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय) । शील संपन्न श्रुति-चिंता-प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है । प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञानदर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्यश्रोत्र, परचित्त ज्ञान, पूर्वजन्म स्मरण, दिव्यचक्षु की उपलब्धि होती है और उसके बाद दुःखक्षय का ज्ञान होता हैं । चित्त कामाश्रव (भोग भुगतने की इच्छा), भवाश्रव (जन्म लेने की इच्छा) और अविद्याश्रव (अज्ञानमल) से सदा के लिए मुक्त हों जाता है और साधक निर्वाण को प्राप्त करता हैं ।

बौद्धदर्शन के दार्शनिक सिद्धांत :

बौद्धदर्शन के मुख्य दार्शनिक सिद्धांत इस प्रकार से हैं - (१) नैरात्म्यवाद - अनात्मवाद (संघातवाद), (२) क्षणिकवाद (संतानवाद), (३) प्रतीत्यसमुत्पादवाद, (४) अनीश्वरवाद । अब क्रमशः बौद्धदर्शन के सिद्धांतो की विचारणा करेंगे ।

(१) नैरात्म्यवाद (संघातवाद) : आत्मा की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं । आत्मा मानसिक प्रवृत्तियों के पुंज मात्र (संघातमात्र) हैं । मानसिक प्रवृत्तियों के समूह से भिन्न आत्मा की पृथक् सत्ता नहीं हैं ।

विशेष स्पष्टता करते हुए बताते हैं कि, आत्मा नाम - रुपात्मक हैं । इन्द्रियो के द्वारा अनुभव करने के लिए जो अपने स्वरूप का निरुपण करते है, उस पदार्थो को **संज्ञा** कहा जाता है । वह वस्तु, कि जिस में भारीपन हो और जो स्थान रोकती हो उसे **रुप** कहा जाता हैं । पृथ्वी आदि चार भूत और तद्जन्य शरीर **"रूप"** है । जिसमें भारीपन नहीं और जो स्थान रोकता नहीं है उसे **'नाम'** कहा जाता हैं अर्थात् मन और मानसिक प्रवृत्तियाँ... इसलिए आत्मा, वह शरीर तथा मन, शारीरिक कार्य और मानसिक प्रवृत्तियों का एक समुच्चय मात्र है । (रुप एक ही प्रकार का हैं । नाम चार प्रकार का हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) । सारांश में आत्मा रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान - इन पाँच स्कंधो का पुंज (संघात) मात्र हैं ।

मिलिन्द प्रश्न (पृ. ३०-३३) नाम के ग्रंथ में श्री नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द के आगे बौद्ध संमत आत्मा का स्वरूप एक उपमा देकर बताया था । नागसेन ने राजा को पूछा कि, आप जिस रथ में यहाँ आश्रम तक आये हो, उस रथ का 'इदमित्थं' वर्णन क्या आप कर सकते हो ? क्या दंड रथ हैं या अश्व रथ हैं ? क्या रस्सी रथ हैं या लगाम रथ है ? क्या चक्र रथ हैं या सारथी रथ हैं ? **श्री नागसेन यहाँ स्पष्टता करते हैं कि,** आप को अगत्या

48. दीर्घणिकाय के ३१ वें सुत्त **'सिंगालोवाद सुत्त'** में गृहस्थाचार का विस्तृत-प्रामाणिक वर्णन मिलता है । **त्रिपिटक में यानद्वय का विधान है - समययान और विपस्सनायान ।** निर्वाण के लिए समाधि के स्वतंत्र साधनरूप से अभ्यासी साधक **'समययानी'** कहलाता है । समाधि के अभ्यास करने का अन्तिम फल चित्तवृत्तियों का प्रत्यक्षानुभव है, जिसे प्राप्त करनेवाले व्यक्ति की संज्ञा **'कामसक्खी'** है (भारतीय दर्शन पृ. १२४) 49. सामञ्ञसफलसुत्त (दी.नि, पृ. २८-२९) में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त सहित वर्णन दिया गया है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार करना ही पडेगा कि दंड, चक्र आदि अवयवो के आधार पर मात्र व्यवहार के लिए ही 'रथ' नाम दिया गया हैं । **अवयवो को छोडकर अवयवी की सत्ता देखने को नहीं मिलती हैं । उसी तरह से, "आत्मा" नाम केवल व्यवहार के लिए हैं । परन्तु शरीर-शरीर की प्रवृत्तियाँ और मन-मन की प्रवृत्तियों से अतिरिक्त आत्मा की वास्तविक सत्ता ही नहीं हैं ।**

(२) क्षणिकवाद[50] **:** जिसमें गौतमबुद्ध का उपदेश संग्रहित हुआ हैं, ऐसे त्रिपिटको के कथनानुसार आत्मा और जगत् अनित्य हैं । उनका कालिक संबंध दो क्षण भी रहता नहीं हैं ! पंचस्कंध भी दो क्षण के लिए समानरुप में नहीं रह सकते हैं । जीव और जगत दोनों परिणामशाली हैं ।

"जो सत् हैं वह क्षणिक ही हैं । क्योंकि अक्षणिक (नित्य पदार्थ) में अर्थक्रिया का विरोध है और अर्थक्रिया रहित "वस्तु" होती ही नही हैं ।" इस बौद्धो के सिद्धांत को प्रस्तुत ग्रंथ में श्लो. ७ की टीका में विस्तार से समझाया है । इसलिए यहाँ विस्तार करते नहीं हैं ।

(३) प्रतीत्य समुत्पादवाद : कार्य-कारण भाव को समजाते इस सिद्धांत का निरुपण पहले किया गया ही हैं । **गौतमबुद्ध के इस सिद्धांत में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को कोई स्थान नहीं है । वे आत्मवाद को महा अविद्या कहते थे ।** सातिकेवट्टपुत्त भिक्षु के साथ के वार्तालाप में (कि जो महातण्हा-संख्य-सुतन्न, म०नि०१-४-८ में वर्णन किया है उसमें) स्पष्ट रूप से आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध दिखाई देता हैं ।[51]

(४) अनीश्वरवाद : बौद्धदर्शन जगत के कर्ता, भर्ता, हर्ता, एक और नित्य ऐसे ईश्वर को नहीं मानता है । गौतम बुद्धने भार्गव गोत्र - परिव्राजक के साथ के वार्तालाप के अंत में ईश्वर का निषेध बताया हैं ।[52]

बौद्धदर्शन की चार निकाय :

बौद्धदर्शन की चार निकाय हैं । गौतम बुद्धने प्ररुपित किये हुए धर्म में प्रारंभ में कोई भेद नहीं था । उसके बाद के काल में हुए बौद्धाचार्यो ने गौतम बुद्धने प्ररूपित किये हुए सिद्धांतो का भिन्न-भिन्न अर्थघटन करके अपने नये सिद्धांतों की स्थापना की थी । **उसमें मुख्य चार पंथ दिखाई देते हैं । (१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार और (४) माध्यमिक ।**[53]

वैभार्षिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हैं । उनके मतानुसार जगतवर्ती बाह्य पदार्थो का अपलाप किसी भी प्रकार से हो सके, ऐसा नहीं है । बाह्यार्थ को प्रत्यक्षरूप से सत्य माननेवाला वैभाषिक संप्रदाय हैं ।

सौत्रान्तिक **बाह्यार्थानुमेयवादी** हैं । उनके मतानुसार जगतवर्ती बाह्य वस्तुओं का अपलाप नहीं हो सकता, यह बात ठीक हैं । परन्तु बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान हमको नहीं हो सकता है । **यदि समग्र वस्तु क्षणिक है, तो किसी भी वस्तु**

50. **यथा यत् सत् तत् क्षणिकमेव,** अक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते (**हेतुबिन्दु** पृ-५४) । 51. गौतमबुद्ध और सातिकेवट्टपुत्त का संपूर्ण वार्तालाप राहुल सांकृत्यायन विरचित 'बौद्धदर्शन' पृ. २४-२५ उपर लिखा है । 52. यह वार्तालाप पाथिकसुत्त, दी.नि. ३/१ में संगृहित हुआ है । बौद्धदर्शन पुस्तक, पृ. २९-३०-३१-३२ पर विस्तार से हिन्दीभाषा में पेश किया है । 53. अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते, प्रत्यक्षेण न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकादतः । योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा, मन्यन्ते बत मध्यमा, कृतधियः स्वच्छां परां संविदम् ।। (**श्री राजशेखरीय षड. समु. १४५**) मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्; योगचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः । अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः, प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भासते । अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते, सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मत आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता, केवलां संविदं स्वस्थां मन्यते मध्यमाः पुनः ।। (मानमेयोदयः)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं हैं । प्रत्यक्ष होते ही (सामने आते ही) पदार्थो का नील, पीत आदि चित्र चित्त के पट के उपर खींचकर आता हैं । जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिंब को देखकर बिंब की सत्ता का हम अनुमान करते है, उस प्रकार से चित्तरूप पट के उस प्रतिबिंबों से हमको प्रतीति होती है कि, बाह्य अर्थ की भी सत्ता अवश्य है । इसलिए बाह्यार्थ की सत्ता भी अनुमान पर अवलंबित हैं ।

योगाचार विज्ञानवादी है । उनके मतानुसार बाह्यार्थ की सत्ता ही नहीं है । उनकी दृष्टि में बाह्य भौतिक जगत नितान्त मिथ्या है । **चित्त ही एकमेव सत्ता है** । जिसके विविध प्रकार के आभास को हम जगत के रुप से पहचानते हैं । **चित्त को ही विज्ञान कहा जाता हैं ।**

माध्यमिक शून्यवादी हैं । उसके मतानुसार जैसे बाह्यार्थ असत् है, वैसे चित्त-विज्ञान भी असत् है । चित्त की सत्ता भी स्वतंत्र नहीं है । **उनकी दृष्टि में शून्य ही परमार्थ है । जगत की सत्ता व्यावहारिक है । शून्य की सत्ता पारमार्थिक हैं।**

यहाँ उल्लेखनीय है कि, बौद्धदर्शन में हीनयान और महायान ऐसे दो संप्रदाय भी प्रसिद्ध है । पूर्वोक्त चारो संप्रदायो में वैभाषिक का संबंध हीनयान से है और अंतिम तीन संप्रदायो का संबंध महायान से है । चारो संप्रदायो की मोक्ष विषयक मान्यता पहले बताई ही हैं । तदुपरांत, चारो संप्रदाय संस्कृत और असंस्कृत धर्म मानते है । **उसका विस्तृत वर्णन और उसकी अन्य मान्यताओं का निरूपण प्रस्तुत ग्रंथ में बौद्धदर्शन निरुपणोत्तर विशेषार्थ में किया गया है ।**

बौद्धदर्शन में प्रमाण :

बौद्धदर्शन में प्रमाण का सामान्य लक्षण बताते हुए बताया है कि..."**अविसंवादी ज्ञान प्रमाण** [54] **कहा जाता है।" जो ज्ञान अर्थ का प्रापक होता हैं, वही ज्ञान अविसंवादी कहा जाता हैं । जो ज्ञान अर्थ का प्रापक न हो, वह ज्ञान अविसंवादी नहीं होता हैं।**

बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं । क्योंकि प्रमाण के विषय ऐसे पदार्थ भी प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो ही प्रकार के हैं । **निर्विकल्प और भ्रान्ति रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है ।** (सपक्षसत्त्व, पक्षधर्मत्व और विपक्षासत्त्व : ये) **तीन रूपवाले लिंग से लिंगी (साध्य) का ज्ञान हो, उसे अनुमान कहा जाता हैं ।**[55]

प्रत्यक्ष के चार प्रकार है, (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष, (३) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, (४) योगि प्रत्यक्ष । चारों का स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ में श्लो-१० की टीका में विस्तार से दीया गया हैं ।

बौद्ध मतानुसार पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व, ऐसे तीन स्वरूपवाला हेतु होता है । तीन स्वरूपवाले हेतु के भी अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य ऐसे तीन प्रकार है । उसका वर्णन श्लो. ११ की टीका में किया गया हैं ।

बौद्धदर्शन के ग्रंथ और ग्रंथकार :

श्री गौतमबुद्ध का उपदेश मागधी भाषा में था । वे मौखिक ही था । श्री आनंद नाम के पट्टशिष्य के सहयोग से **"सुत्तपिटक"** ग्रंथ की रचना हुई । उसमें श्री बुद्ध के उपदेशो का संकलन है । श्री उपालि के सहयोग से **"विनयपिटक"**

54. अविसंवादकं ज्ञानं प्रमाणम् । **(षड्. समु. श्लो-८ टीका)** प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् **(प्र.वा. १/३)** । 55. षड्. समु. श्लो-१० । प्रत्यक्षं - कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ।। **(प्र.समु. १/३)** तत्र प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम् **(न्याय बि. १/४)** तत्र स्वार्थं त्रिरुपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् । **(न्या.बि. २-३)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथ की रचना हुई । उसमें आचार संबंधी विवेचन है और सुत्तपिटक के अन्तर्गत जो "मातिका" (मात्रिकाउदार्शनिक अंश) के पल्लवीकरण से '**अभिधम्मपिटक**' की रचना हुई, जिसमें दार्शनिक विषयो का विवेचन हैं ।

तदुपरांत, श्रीनागसेन कृत "**मिलिंदप्रश्न" ग्रंथ** है, जो त्रिपिटक की तरह ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । जिसमें त्रिपिटक के तीनो विषयो को बुनकर उदाहरणपूर्वक निरुपण किया गया है । अब बौद्धों की प्रत्येक निकाय के ग्रंथ एवं ग्रंथकार के विषय में थोडी सी माहिती पेश करते हैं ।

- वैभाषिक मत के ग्रंथ-ग्रंथकार : वैभाषिक संप्रदाय का सर्वमान्य ग्रंथ श्री कात्यायनी पुत्र रचित '**अभिधर्मज्ञानप्रस्थान शास्त्र**' है । यह ग्रंथ ८ परिच्छेद, ४४ वर्ग तथा १५ हजार श्लोक प्रमाण है । इस ग्रंथ के उपर "**अभिधर्मविभाषाशास्त्र**" नामक एक भाषा ग्रंथ की रचना हुई थी । वैभाषिक संप्रदाय के आचार्य श्री वसुबन्धु का "**अभिधर्मकोश**" ग्रंथ वैभाषिक मत की मान्यताओं को बतानेवाला प्रामाणिक और मौलिक ग्रंथ हैं । श्री सर्वभद्र, श्री वसुबन्धु के प्रतिस्पर्धी बौद्धाचार्य थे। उन्होंने '**कोशकरका**' नाम के ग्रंथ की रचना करके श्री वसुबंधु के मतो का खंडन किया हैं । तदुपरांत "**समय प्रदीपिका**" वैभाषिक सिद्धांतो का साररुप ग्रंथ है। श्री वसुबन्धुने सांख्य सप्तति का खंडन करने के लिए "**परमार्थ सप्तति**" ग्रंथ की रचना की थी ।

- सौत्रान्तिक मत के ग्रंथ-ग्रंथकार : सौत्रान्तिक मत के स्थापक "**श्रीकुमारलात**" है । (वे शून्यवादि नागार्जुन के समकालीन थे ।) "**कल्पना मण्डितिका**" नाम का एक ग्रंथ उन्हों ने रचा था । श्री कुमारलात के शिष्य श्रीलातने "**विभाषाशास्त्र**" नाम का एक ग्रंथ रचा था । श्री धर्मत्रात और श्री बुद्धदेव, ये दो आचार्यो के अनेक सिद्धांतो का उल्लेख "**अभिधर्मकोश**" में किया गया हैं । उनके स्वतंत्र कोई ग्रंथ नहीं हैं । श्री सुमित्रने अष्टादश निकायो के वर्णन के लिए "**समभेदउपरचन चक्र**" नाम का पुस्तक लिखा है । श्री यशोमित्र भी सौत्रान्तिक मत के समर्थक थे । 'अभिधर्म कोश' की "**स्फुटार्था वृत्ति**" में ऐसा उल्लेख दिखाई देता है ।

योगाचार मत के ग्रंथ-ग्रंथकार : योगाचार - विज्ञानवाद के प्रस्थापक "**श्री मैत्रेयनाथ**" माने जाते है । **श्री मैत्रेयनाथने योगाचारशास्त्र, महायान सूत्रालंकार, मध्यान्त विभंग शास्त्र आदि ग्रंथो की रचना की थी । जिसमें योगाचार मत का युक्तियों द्वारा प्रस्थापन किया था** । उनके शिष्य श्रीअसंगने अभिधर्म समुच्चय, तत्त्व विनिश्चय - उत्तर तंत्र और संधिनिर्वचन सूत्रो के उपर टीका, योगाचारभूमिशास्त्र, महायान संपरिग्रह आदि ग्रंथो की रचना की थी ।

श्री वसुबंधु पहले वैभाषिक मत के अनुयायी थे, बाद में श्रीअसंग के अनुरोध से योगाचार मत के समर्थक बने थे और "**विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि**" नाम का विज्ञानवाद को मान्य ग्रंथ रचा था ।

- श्री वसुबंधु के शिष्य श्री स्थिरमतिने (१) त्रिंशिकाभाष्य, (२) मध्यान्त विभंगसूत्रभाष्य टीका, (३) अभिधर्मकोश-भाष्यवृत्ति, (४) सूत्रालंकारवृत्तिभाष्य, (५) मूलमाध्यात्मिक कारिकावृत्ति : इन ग्रंथो की रचना की थी ।

श्री वसुबंधु के शिष्य श्री दिङ्नागने न्यायगर्भित ग्रंथो की रचना की है । उनके प्रसिद्ध ग्रंथ (१) प्रमाण समुच्चय, (२) प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, (३) न्यायप्रवेश, (४) हेतुचक्र समर्थन, (५) न्यायद्वार (न्यायमुख), (६) आलंबन परीक्षा और उसकी वृत्ति, (७) त्रिकालपरीक्षा, (८) अष्टसहस्रिकापिंडार्थ ।

(१) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के त्रिविध भेद, (२) प्रत्यक्ष और अनुमान में अन्य सभी प्रमाणो का अन्तर्भाव और (३) तीन अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण) का स्वीकार और दो अवयव (उपनय-निगमन) का निषेध, ये तीन विशेषताओं को दिङ्नागने अपने ग्रंथ में पुरस्कृत की हैं ।

श्री दिङ्नाग के शिष्य श्री शंकरस्वामीने हेतुविद्यान्यायशास्त्र तथा न्यायप्रवेशतर्कशास्त्र, ये दो ग्रंथो की रचना की है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री धर्मकीर्ति श्री वसुबंधु के शिष्य श्री धर्मपाल के शिष्य थे । श्री धर्मकीर्ति के ग्रंथ तर्कबद्ध थे । उनके प्रधान ग्रंथ हैं- (१) प्रमाणवार्तिक (सवृत्ति), (२) न्यायबिंदु, (३) प्रमाण विनिश्चय, (४) संतानंतरसिद्धि, (५) वादन्याय, (६) हेतुबिंदु, (७) संबंध परीक्षा और (८) चोदना प्रकरण । योगाचार के समर्थक आचार्य श्री प्रज्ञाकर गुप्तने **"प्रमाणवार्तिकालंकार"** ग्रंथ की रचना की थी । इस तरह से योगाचार मत के ग्रंथ है । श्रीदिङ्नाग और श्री धर्मकीर्ति के ग्रंथ दार्शनिक ग्रंथो की कोटि में आते हैं । 'आलय विज्ञान' के विषय में योगाचार मत के विशिष्ट सिद्धांत की विस्तृत चर्चा बौद्धदर्शन-निरुपणोत्तर विशेषार्थ में की हैं ।

- माध्यामिक - शून्यवाद मत के ग्रंथ-ग्रंथकार : शून्यवाद-माध्यमिक संप्रदाय के प्रस्थापक और प्रचारक श्री नागार्जुन आचार्य है । उनका प्रधान ग्रंथ **"माध्यमिक कारिका"** है, जो २७ प्रकरणो में विभक्त हैं । इस ग्रंथ में शून्यवाद की प्रतिष्ठा की गई है । ("माध्यमिक कारिका" के उपर श्री भव्यकृत "प्रज्ञाप्रदीप" और श्री चन्द्रकीर्ति विरचित "प्रसन्नप्रदा" मुख्य दो टीका है।) श्री नागार्जुन के प्रायः २० ग्रंथ हैं । वे सभी तर्कगर्भित है । माध्यमिक कारिका उपरांत दशभूमिविभाषाशास्त्र, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, उपायकौशल्य, प्रमाणविध्वंसन, विग्रहव्यावर्तनी, चतुःस्तव, युक्तिषष्टिका, शून्यता सप्तति, प्रतीत्यसमुत्पाद हृदय, महायानविंशक और सुहल्लेख : ये ग्रंथ भी नागार्जुन की रचना है ।

माध्यमिक संप्रदाय के श्री आर्यदेवने 'चतुःशतक' नामका दार्शनिक ग्रंथ रचा है और श्री स्थविर बुद्धिपालितने "माध्यमिक कारिका" के उपर टीका लिखी है । **श्री भावविवेकाचार्य बौद्ध न्याय के "स्वतंत्रमत" के उद्‌भावक थे। उन्होंने (१) प्रज्ञाप्रदीप (भा.का.की. टीका), (२) मध्यम हृदय कारिका, (३) मध्यमार्थ-संग्रह और (४) हस्तरत्न ग्रंथ की रचना की थी ।** तदुपरांत श्री चन्द्रकीर्तिने (१) माध्यमिकावतार और (२) प्रसन्नप्रदा (मा.का.की.टीका) : इन दो ग्रंथो की रचना की थी, उसकी बहोत विख्याति हुई थी। **श्री शांतरक्षित का प्रसिद्ध ग्रंथ "तत्त्व संग्रह" है । उसमें ब्राह्मण दार्शनिको के मत की विस्तृत समीक्षा करके बौद्ध सिद्धान्तो की पुष्टि की गई हैं । प्रौढ और प्रमेय बहुल ग्रंथ है । श्री कमलशीलने उसके उपर "तत्त्वसंग्रह पंजिका" नाम की टीका लिखी हैं ।**

इस तरह से बौद्धदर्शन के देवता, तत्त्व, प्रमाण, सिद्धांत, चार निकाय और दार्शनिक ग्रंथ-ग्रंथकार आदि का आंशिक परिचय हमने देखा । उन सभी विषयो की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत ग्रंथ की टीका और दर्शन निरुपणोत्तर दिये गये विशेषार्थ में मिलेगी । अब नैयायिक दर्शन के देवतादि का परिचय प्राप्त करेंगे ।

नैयायिक दर्शन :

प्रमाणो के द्वारा अर्थ की (पदार्थ की) परीक्षा करना, उसे न्याय कहा जाता है । न्याय के दर्शन को न्यायदर्शन (नैयायिकदर्शन) कहा जाता हैं । यह न्यायशास्त्र - आन्वीक्षिकी विद्या, न्यायविद्या, हेतुविद्या, हेतुशास्त्र, तर्कविद्या, वादविद्या, प्रमाणशास्त्र और फक्किका शास्त्र के नाम से भी पहचाना जाता है अर्थात् ये सभी न्यायशास्त्र के ही अन्य नाम हैं । प्रत्यक्ष और शब्द द्वारा जिस पदार्थ को एक बार देखा-सुना है, उसका अन्वेक्षण करना उसे अन्वीक्षा कहा जाता हैं और अन्वीक्षा द्वारा प्रवर्तमान जो विद्या है, उसे आन्वीक्षिकी विद्या कही जाती हैं ।(56)

56. (१) प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् - न्यायः । एतेनेदमेवाऽऽयाति यत् - समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाऽधिगतिन्यायः (**न्यायवार्त्तिक**-१-१-१ (पृ. १४) (२) इदमेव न्यायशास्त्रम् आन्वीक्षिकविद्याशब्देनापि प्रोच्यते । (**दर्शनशास्त्रस्येतिहासः**) (३) आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रं हेतुविद्या हेतुशास्त्रं तर्कविद्या वादविद्या प्रमाणशास्त्रं फक्किकाशास्त्रमित्यनर्थान्तरम् । (**अवयवप्रकरण-प्रस्तावना** एस.बी. रघुनाथाचार्य, तिरूपति) (४) प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा । तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी" (**वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य**)।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैयायिक दर्शन के प्रवर्तक श्री गौतमऋषि हैं । उन्हों ने "न्यायसूत्र" ग्रंथ में अपने मत की प्ररूपणा की हैं।

देवता :

नैयायिक दर्शन में विभु, नित्य, एक, सर्वज्ञ, नित्यबुद्धि के आश्रय (नित्यज्ञानवाले), जगत का सर्जन करनेवाले और विसर्जन करनेवाले देव **"शिव"** हैं ।(५७) "ईश्वरकर्तृत्ववाद" नैयायिक दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धांत हैं । नैयायिक दर्शन ईश्वर को जगत का कर्ता मानता हैं, इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए उन्होंने अनुमान प्रयोग का सहारा लिया हैं ।(५८)

ईश्वर कर्तृत्ववाद और ईश्वर के विभु आदि विशेषणो की सार्थकता की चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ के श्लोक-१३ की टीका में की हैं । ईश्वर कर्तृत्ववाद में अन्य दर्शनोने बहोत विरोध उठाये हैं । तदुपरांत प्रति अनुमानो के द्वारा उनके द्वारा निर्दिष्ट अनुमानो को खंडित भी किये हैं । फिर भी नैयायिक दर्शनकारोने ईश्वर कर्तृत्ववाद की प्रतिष्ठा के लिए भरपुर युक्तियाँ देने का प्रयत्न किया हैं । उसके सामने अन्य दर्शनकारोने उस युक्तियों का खंडन करती अन्य बहोत युक्तियाँ दी हैं । ईश्वर कर्तृत्व के पुरस्कर्ता और उसके विरोधी पक्ष के अनुमान तथा युक्तियाँ ग्रंथो में विद्यमान हैं । दोनों पक्ष की दलीलो के उपर विस्तृत चिंतन करके परीक्षक वर्ग वास्तविकता के निकट पहुँचे यह आवश्यक हैं । **यहाँ उल्लेखनीय हैं कि,** जैनदर्शन ईश्वर कर्तृत्ववाद को स्पष्ट शब्दो में नकारता हैं । पूर्व मीमांसादर्शन और सांख्य दर्शन भी उसका विरोध करता हैं । योगदर्शन समाधि की सिद्धि के लिए ईश्वर की उपासना को आदरणीय कहते हैं । परन्तु नैयायिकदर्शन की मान्यता उसको मान्य नहीं हैं ।

तत्त्वमीमांसा :

नैयायिक दर्शन ने प्रमाणादि सोलह तत्त्वो का स्वीकार किया हैं और सोलह तत्त्वो के ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, ऐसा न्यायसूत्र में बताया हैं ।(५९) **वे सोलह तत्त्व इस प्रकार से हैं** - (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टांत, (६) सिद्धांत, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितंडा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान ।

"पदार्थ की उपलब्धि में जो कारण बनता हैं, उसे प्रमाण कहा जाता हैं ।" यह प्रमाण का सामान्य लक्षण हैं । **प्रमाण चार प्रकार के हैं** । (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शब्द ।(६०)

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, ज्ञान के मुख्य दो भेद हैं । स्मृति और अनुभव । **जो संस्कार मात्र जन्य हैं वह 'स्मृति' हैं और उससे भिन्न जितने ज्ञान है उन सभी का अन्तर्भाव 'अनुभव' में होता हैं । अनुभव के दो प्रकार हैं** । यथार्थ अनुभव और अयथार्थ अनुभव । **यथार्थ अनुभव के मुख्य दो भेद हैं** । एक साक्षात्कारी (उ प्रत्यक्ष) यथार्थ अनुभव और दूसरा परोक्ष यथार्थ अनुभव । **साक्षात्कारी यथार्थ अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान हैं । जब कि परोक्ष - यथार्थ अनुभव में अनुमान ज्ञान, उपमान ज्ञान और शब्दज्ञान का अन्तर्भाव होता हैं । अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं - संशय, भ्रम और तर्क ।**(६१)

57. अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः । विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ।।१३।। **(षड्.समु.)** 58. भूभूधरसुधाकरदिनकरमकरादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात् । **(षड्.समु.)** क्षित्याङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् । **(न्याय सिद्धान्तमुक्तावली)** । 59. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयंवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः **(न्यायसूत्र-१-१-१)** । 60. अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ।। **(षड्.समु. श्लोक-१६)** । 61. बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विधा - स्मृतिरनुभवश्च । ...स (अनुभवः) द्विविधः-यथार्थोऽयथार्थश्च । ...यथार्थानुभवश्चतुर्विधः प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात् । अयथार्थानुभवस्त्रिविधिः - संशयविपर्ययतर्कभेदात् । **(तर्कसंग्रह)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान के जनक दो हैं, अचेतन और ज्ञान । इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष, प्रदीप, लिंग और शब्दादि, कि जो अचेतन हैं, वे ज्ञान के कारण होने से प्रमाण हैं । दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति में जिस ज्ञान का व्यापार किया जाता है, वह ज्ञान भी ज्ञान का जनक होने से प्रमाण हैं ।

प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय-प्रमिति : प्रमिति अर्थात् प्रमा-यथार्थ अनुभव । यथार्थ अनुभव (प्रमिति) ही प्रवृत्ति - निवृत्ति का सफल - समर्थ कारण हैं । यथार्थ ज्ञान हुए बिना हेय-उपादेय का भेद स्पष्ट नहीं हो सकता हैं । उसके बिना हेय का हान और उपादेय का उपादान संभव नहीं है । इसलिए ही नैयायिक दर्शन दुःखमुक्ति का कारण ज्ञान कहते हैं ।

यथार्थ अनुभव के प्रकृष्ट साधन को **प्रमाण** कहा जाता हैं। प्रमाण के बिना प्रमिति नहीं हो सकती हैं। प्रमाण द्वारा प्राप्त होते ज्ञान का आश्रय **"प्रमाता"** कहा जाता हैं । प्रमाता में ही ज्ञान उत्पन्न होता है । नैयायिक मतानुसार प्रमाता नित्य द्रव्य है और ज्ञान गुण है । ज्ञान गुण प्रमाता द्रव्य में समवाय संबंध से उत्पन्न होता हैं । ज्ञान समवाय संबंध से प्रमाता में रहता है । प्रमाण के विषय को **प्रमेय** कहा जाता हैं । ज्ञान हंमेशा कोई न कोई विषय का होता है । वह निर्विषयक या शून्य नहीं होता है । ज्ञान के विषय घटादि बाह्य पदार्थ और सुख-दुःखादि अभ्यंतर पदार्थ हैं ।

न्यायसूत्र पूर्वोक्त प्रमातादि चार का प्ररुपक ग्रंथ हैं । जैनदर्शन में पू.आ.भ.श्रीवादिदेवसूरिजी विरचित "प्रमाणनय तत्त्वालोक" ग्रंथ भी प्रमातादि चतुष्क का परीक्षा सहित निरूपण करनेवाला ग्रंथ है ।

चार प्रकार के[६२] प्रमाण की विचारणा "प्रमाण विचार" में करेंगे । **प्रमाणजन्य ज्ञान से ग्राह्य वस्तु को प्रमेय कहा जाता हैं ।**[६३] **प्रमेय बारह प्रकार के हैं ।** आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और मोक्ष ये बारह प्रमेय है ।[६४] इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये **आत्मा के लिंग** हैं ।[६५] दोलायमान प्रतीति को **संशय** कहा जाता है । जो अनेक कोटि परामर्श का संदिग्ध विमर्श है, उसे संशय कहा जाता है। (षड.समु. श्लोक-२५ टीका) जो अर्थ के आश्रय से प्रवर्तित होता हैं, उस अर्थ को **प्रयोजन** कहा जाता है ।[६६] वादि - प्रतिवादि दोनों को संमत उदाहरण को **दृष्टांत** कहा जाता है । अथवा लौकिक पुरुषो को तथा परीक्षको को जिस अर्थ के विषय में समान बुद्धि हो, उसे **दृष्टांत** कहा जाता हैं ।[६७] सर्वदर्शन को संमत शास्त्र इत्यादि **'सिद्धांत'** कहे जाते है । **उसके चार प्रकार हैं ।** (१) प्रतितन्त्र सिद्धांत, (२) सर्वतन्त्र सिद्धांत, (३) अधिकरण सिद्धांत, (४) अभ्युपगम सिद्धांत। ये चारो सिद्धांतो की समज श्लोक-२६ की टीका में दी है।

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयव है । जो परार्थानुमान के अंग है । धर्म विशिष्ट धर्मी का निर्देश करना उसे **प्रतिज्ञा** कहा जाता है । जैसे कि **पर्वतो वह्निमान्** । लिंग को बतानेवाले वचन को **हेतु** कहा जाता है, जैसे कि, **धूमवत्त्वात्** । उदाहरण के कथन को **दृष्टांत** कहा जाता है । उसके दो प्रकार हैं । अन्वयी दृष्टांत और व्यतिरेकी दृष्टांत । हेतु का उपसंहार करनेवाले वचन को **उपनय** कहा जाता है । **तथा चायं उ धूमवांश्चायम् (पर्वतः)**। हेतु के उपदेश द्वारा साध्यधर्म का उपसंहार करना उसे **निगमन** कहा जाता हैं । **तस्मात् तथा उ धूमवत्त्वात् वह्निमान् पर्वतः**

---

62. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि **(न्यायसूत्र १-१-३)**। 63. प्रमेयं प्रमाणजन्यज्ञानेन ग्राह्यं वस्तु । **(षड्.समु. श्लोक १४ टीका)**। 64. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् । **(न्या.सू. १-१-९)** । 65. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् । **(न्याय सूत्र-१-१-१०)** । 66. यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् **(न्या.सू. १-१-२४)** । 67. दृष्टांतो वादिप्रतिवादिसंमतं निदर्शनम् **(षड्.समु.)**। लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टांतः **(न्या.सू. १-१-२५)**।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदेह के बाद में होनेवाले अन्वय धर्म के चिंतन को **तर्क** कहा जाता हैं अथवा नहीं जाने हुए विषय में कारणो की संगति से तत्त्वज्ञान के लिए जो विचारणा हो उसे **तर्क** कहा जाता हैं ।[६८]

गुरु के साथ तत्त्वनिर्णय के लिए जो वार्तालाप हो उसे **वाद** कहा जाता हैं । **न्यायसूत्र में वाद की व्याख्या करते हुए कहा हैं कि,** प्रमाण, तर्क और साधन (हेतु) के उपालंभपूर्वक सिद्धांत से अविरुद्ध पंचावयव से युक्त पक्ष-प्रतिपक्ष का परिग्रह जिस में हो उसे **वाद** कहा जाता हैं ।[६९] दूसरो के साथ जितने की इच्छा से जो वाद हो उसे **जल्प** कहा जाता हैं । वस्तुतत्त्व को सोचे बिना बोलते रहना उसे **वितंडा** कहा जाता हैं अथवा स्वपक्ष की स्थापना किये बिना प्रतिवादि के पक्ष का खंडन करना उसे वितंडा कहा जाता हैं। साध्य का साधक हैतु न हो, परन्तु हेतु जैसे लगते हो, उसे **हेत्वाभास** कहा जाता हैं । **उसके पाँच प्रकार हैं ।** असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट (बाध) और प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) । पाँच हेत्वाभास का वर्णन श्लोक-३१ की टीका में दिया हैं । दूसरे के वचनो का विघात करने के लिए असत् विकल्प खडे करना, उसे **छल** कहा जाता हैं । **छल के तीन प्रकार है ।** वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल । इसका वर्णन श्लोक-३१ की टीका में दिया हैं । असम्यग् दूषणो को **जाति** कहा जाता है अथवा साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा खंडन करना उसे **जाति** कहा जाता हैं।[७०] जाति के २४ प्रकार है । श्लोक-३१ की टीका में जाति के प्रकारो का सोदाहरण वर्णन किया गया हैं और टिप्पणी में असत् उत्तर स्वरूप जाति का खंडन न्यायसूत्र के आधार पर किया गया हैं।

जो वचन बोलने से वादि (वक्ता) निगृहीत हो जाये, उसे **निग्रहस्थान** कहा जाता हैं । **निग्रहस्थान २२ प्रकार के हैं ।** उसमें से कुछ विप्रतिपत्तिरूप और कुछ अप्रतिपत्तिरूप हैं ।[७१] साधनाभास में साधनबुद्धि और दूषणाभास में दूषणबुद्धि होना उसे **विप्रतिपत्ति** कहलाता हैं अर्थात् विपरीत स्वीकार करने से विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान आता हैं और साधन का दूषण न बता सकना अथवा साधन में बताये हुए दूषण का उद्धार न करना उसे **अप्रतिपत्ति** कहा जाता है । २२ निग्रहस्थान का स्वरूप श्लोक-३२ की टीका में दिया गया हैं ।

नैयायिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत :

(१) ईश्वरवाद : न्यायदर्शन में ईश्वरवाद का सिद्धान्त अति महत्त्वपूर्ण है और वह एक मौलिक तत्त्व है । जिसके आधार पर उसके आचार एवं धर्म का विशाल दुर्ग खडा है । **उसके मतानुसार ईश्वर के अनुग्रह के बिना जीव न तो प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान पा सकता है और न इस जगत् के दुःखो से ही छुटकारा पाकर मोक्ष पा सकता है ।** इसलिए ईश्वर का स्वरूप अपने ग्रंथो में बहोत विस्तार से दिया है । ईश्वर का स्वरूप पूर्व में बताया ही है । **यहाँ उल्लेखनीय है कि, नैयायिक दर्शन की ईश्वर विषयक मान्यता वेदान्तदर्शन से भिन्न है । नैयायिक दर्शन ईश्वर को जगत (विश्व) का निमित्तकारण मानता है परन्तु उपादान नहीं, जब कि, वेदांत दर्शन ईश्वर को निमित्त एवं उपादन कारण भी मानता है।** ईश्वरसिद्धि नैयायिकों ने अनुमान से की है । इस ग्रंथ में ईश्वरवाद की विस्तार से रजुआत एवं समीक्षा की गई हैं ।

(२) पीठरपाकवाद : इस वाद का विवेचन प्रस्तुत भूमिका में ही 'वैशेषिकदर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत' के चेप्टर में किया ही हैं । इस लिए पुनः प्रतिपादन नहीं किया है ।

प्रमाण विचार : नैयायिक मतानुसार प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले बताया हैं और प्रमाण की संख्या चार हैं ।

68. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः **(न्या.सू. १-१-४०)** । 69. प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः **(न्या.सू. १-२-१)** । 70. साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः **(न्या.सू. १-२-१८)**
71. विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । **(न्या.सू. १-२-१९)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण : इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ, अव्यपदेश्य (शब्द प्रयोग से रहित), अव्यभिचारी (संशय-विपर्यय से रहित) और व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता हैं ।[७२]

श्रोत्रेन्द्रियादि पाँच और मन ऐसे इन्द्रियाँ छः है। इन्द्रियों और उसके रुपादि का संपर्क होना उसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष कहते है । न्यायमतानुसार सन्निकर्ष छः है । (१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्तसमवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय, (६) विशेषण-विशेष्यभाव । ये छः सन्निकर्ष द्वारा कौन से विषय ग्रहण होते है, उसकी विचारणा और प्रत्यक्ष के लक्षण में दिये गये विशेषणो की सार्थकता श्लोक-१७ की टीका में बताई हैं ।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष । पूर्वोक्त प्रत्यक्ष के लक्षण में निर्दिष्ट दो विशेषणो से प्रत्यक्ष के दो भेद लक्षित होते हैं । उसका भी टीका में स्पष्टीकरण किया गया है । **(अन्य दृष्टि से) प्रत्यक्ष के दो प्रकार है ।** (१) अयोगि प्रत्यक्ष और (२) योगिप्रत्यक्ष । अयोगि प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक ऐसे दो भेद है । तथा योगि प्रत्यक्ष के भी युक्तयोगिओं का प्रत्यक्ष और वियुक्तयोगिओं का प्रत्यक्ष ऐसे दो प्रकार है । इन प्रभेदो का स्वरूप टीका में विस्तार से समजाया है ।

प्रत्यक्ष प्रधान प्रमाण है क्योंकि बाकी के तीनो प्रमाण प्रत्यक्षमूलक हैं । प्रत्यक्ष को कोई अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं हैं । जब कि अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणो को प्रत्यक्ष की अपेक्षा है । जैसे कि, लिंग का प्रत्यक्ष दर्शन हुए बिना लिंगी का अनुमान नहीं हो सकता हैं ।[७३]

इन्द्रियाँ अपने विषय के साथ संयुक्त हुए बिना विषय का ग्रहण नहीं कर सकती है, इस प्रकार से नैयायिको का इन्द्रिय-प्राप्यकारित्व का सिद्धांत हैं । न्यायमतानुसार वस्तु का प्रत्यक्ष साक्षात् होता है । वस्तु ज्ञान में उठे हुए उसके आकार से अनुमित नहीं होती है । नैयायिको की मान्यता है कि, हमारा ज्ञान निराकार है और ज्ञान में जो आकार भासित होता है वह ज्ञान का नहीं है, परन्तु वस्तु का हैं । तदुपरांत वस्तुओं की आकृतियाँ हमारे आत्मा तक पहुँचती नहीं है । परन्तु इन्द्रियाँ वस्तु देश में पहुँचकर उस वस्तु को वही प्रकाशित करती हैं ।

प्रत्यक्ष ज्ञान किस तरह से उत्पन्न होता हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए न्यायभाष्य में कहा हैं कि, जाग्रत् अवस्था में जिसका मन एक विषय में लगा हुआ हैं, ऐसी व्यक्ति को जब अमुक अन्य विषय का प्रत्यक्ष करने की इच्छा होती हैं, तब इच्छा के अनुरुप प्रयत्न उसमें उत्पन्न होता हैं । उसके बाद ऐसे प्रयत्नवाला आत्मा मन को उस विषय को जानने में समर्थ इन्द्रिय के साथ जुडने के लिए गति करने की प्रेरणा देता हैं । बाद में मन इन्द्रिय के साथ जुड जाने से इन्द्रिय अपने विषय के साथ जुड जाती है और परिणाम स्वरूप उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होता हैं ।[७४]

(अनेक) प्रत्यक्ष ज्ञान युगपद् संभवित नहीं हैं । क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय-मनःसन्निकर्ष होना आवश्यक है और मन अणु होने से एक समय पर एक इन्द्रिय के साथ ही संयुक्त रह सकता हैं । एक साथ एक काल में अनेक इन्द्रियों के साथ उसका सन्निकर्ष संभव नहीं है ।[७५]

---

72. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।। **(न्याय सूत्र १-१-४)** । 73. X X प्रत्यक्षं पूर्वं प्राधान्यादिति । किं कारणम् ? सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वादिति **(न्यायवा. १-१-३)** । 74. एकदा खल्वयं विषयान्तरासक्तमनाः सङ्कल्पवशाद् विषयान्तरं जिज्ञासमानः प्रयत्नप्रेरितेन मनसा इन्द्रियं संयोज्य तद्विषयान्तरं जानीते **(न्याय भा. २-१-२७)** 75. अस्ति खलु वै ज्ञानायौगापद्यमेकैकस्येन्द्रियस्य यथाविषयम् **(न्याय भाष्य. ३-२-५६)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय (- वैशेषिक) मतानुसार (१) प्रथम हम को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता हैं । जिसमें घट और घटत्व का अलग-अलग विशेष्य-विशेषण भाव रहित ज्ञान होता हैं । (२) उसके बाद "यह घट है" इस प्रकार से सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होता हैं । जिसमें घट और घटत्व के बीच का विशेषण - विशेषा भाव का ग्रहण होता हैं । (३) उसके बाद सविकल्पक ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) होता हैं । "मैं घट को जानता हुँ" ऐसा अनुव्यवसाय का आकार होता हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, प्रशस्तपाद भाष्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष को 'प्रत्यक्ष प्रमा' के रूप में स्वीकार नहीं करते है । परन्तु प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति के पहले की आवश्यक भूमिका के रूप में ये उसका स्वीकार करते हैं ।

लौकिक छः सन्निकर्ष और लौकिक प्रत्यक्ष के विषय में आंशिक विचारणा की । श्री गंगेश उपाध्याय ने तत्त्व चिंतामणि ग्रंथ में तीन अलौकिक सन्निकर्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष भी बताये हैं । सामान्यलक्षण सन्निकर्ष, ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष और योगज सन्निकर्ष, ये तीन अलौकिक सन्निकर्ष हैं । उससे भी तीन अलौकिक प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं ।[७६] ये तीनो प्रकार के प्रत्यक्षो का स्वरूप न्यायसिद्धांतमुक्तावली - दिनकरी - रामरूद्री टीका में विस्तार से दिया हैं ।

(२) अनुमान प्रमाण : लिंग से लिंगी का ज्ञान हो उसे **अनुमान** कहा जाता हैं । पर्वत के उपर धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं । यहाँ धूम वह अग्नि का ज्ञान करानेवाला लिंग हैं और अग्नि लिंगी हैं । धूम को अग्नि का ज्ञापक हेतु, अग्नि का लिङ्ग या अग्नि का ज्ञापक साधन कहा जाता हैं । अग्नि को साध्य या लिंगी कहा जाता हैं ।

अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है अर्थात् लिंग का प्रत्यक्ष दर्शन होने के बाद लिंग से लिंगी का (साध्य का) ज्ञान हो उसे अनुमान कहा जाता हैं । वह अनुमान पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसे तीन प्रकार का हैं । यहाँ पूर्ववत् केवलान्वयी, शेषवत् केवल व्यतिरेकी और सामन्यतोदृष्ट अन्वय व्यतिरेकी अनुमान के संदर्भ में हैं । इन तीनो अनुमान का विस्तार से स्वरूप श्लोक १८-१९ की टीका में बताया हैं । उपरांत वहाँ तीनों अनुमानो का निरुपण भिन्न भिन्न अपेक्षा से किया गया हैं ।

नैयायिक दर्शन ने हेतु के पाँच रुपो का स्वीकार किया हैं । (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व । केवलान्वयी अनुमान में विपक्षासत्त्व के सिवा चार रूपो का और केवल व्यतिरेकी अनुमान में सपक्षसत्त्व के अतिरिक्त चार रूपो का तथा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में पाँचो रुप का आलंबन होता हैं । हेतु के पाँचों रूपो का स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ की टीका में दिया गया हैं ।

अनुमान प्रमाण के स्वरूप - आकार की स्पष्ट समज के लिए पक्षता, पक्षधर्मता, व्याप्तिज्ञान, व्याप्य - व्यापकभाव, व्याप्ति के प्रकार, व्याप्तिग्रह, लिंग परामर्श, स्वार्थानुमान - परार्थानुमान, पंचावयव, हेतु भेद, हेतु के रूप, हेत्वाभास आदि की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हैं । हेतु के पाँच रूप, पंचावयव, व्याप्ति के प्रकार, हेत्वाभास आदि की विचारणा प्रस्तुत ग्रंथ में की ही हैं और टिप्पणी में लगभग सभी विषयो की विचारणा की ही गई हैं । बाकी के विषय न्याय सिद्धांतमुक्तावली आदि ग्रंथों से जान ले । अनुमान के विषयो में नैयायिको ने बहोत परिश्रम करके अनेक ग्रंथों की रचना की है । एक-एक विषय को स्पष्ट करने के लिए स्वतंत्र ग्रंथो की रचना की है । विस्तार भय से वे सभी विषय यहाँ लिखना संभव नहीं है । (ग्रंथो के नाम आगे बताये जायेंगे ।)

(३) उपमान प्रमाण : जानकार के पास से ज्ञात और अज्ञात ऐसी दो वस्तुओं के सादृश्य को जानकार के वाक्य से जानने के बाद अज्ञात वस्तु में जब वह सादृश्य प्रत्यक्ष होता है, तब उस वाक्य का स्मरण हो और परिणाम स्वरूप

76. अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः । सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ।। ६३।। **(कारिकावली)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह वस्तु अमुक पद वाच्य है ऐसा जो ज्ञान पेदा होता है, **वह उपमिति हैं** । जैसे कि गवय पशु को जानता नहीं है वह अरण्यवासी के पास से जानता हैं कि, "गवय गोसदृश होता हैं ।" ऐसे वाक्य को अतिदेश वाक्य कहा जाता है । अब वह व्यक्ति जंगल में जाता हैं । वहाँ वह गोसदृश पशु को देखता हैं अर्थात् उस पशु में रहा हुआ गोसादृश्य उसको प्रत्यक्ष होता हैं । तब उसको पहले सुने हुए अतिदेश वाक्य का स्मरण होता हैं । उसके फल स्वरूप "गवय गवयपदवाच्य है" ऐसा संज्ञासंज्ञी-संबंध का ज्ञान उसको होता है । **यह संज्ञासंज्ञी संबंध ज्ञान उपमिति है और उसका जो साधकतम कारण है वह उपमान प्रमाण हैं** ।(७७)

कुछ दार्शनिक उपमान प्रमाण का अनुमान में अंतर्भाव करते है । उनकी दलील हैं कि, जैसे अनुमान में प्रत्यक्ष वस्तु (धूम) से अप्रत्यक्ष ऐसे वहिन का ज्ञान होता हैं । वैसे उपमान में भी प्रत्यक्ष वस्तु गो से अप्रत्यक्ष वस्तु (गवय) का ज्ञान होता हैं । इसलिए उपमान को अनुमान ही मानना चाहिए । इसका विरोध करते हुए नैयायिक कहते हैं कि, प्रत्यक्ष 'गो' द्वारा अप्रत्यक्ष 'गवय' का ज्ञान कराने का काम उपमान प्रमाण का नहीं हैं । परन्तु उसका काम तो जब अज्ञात गवय सामने उपस्थित हो (प्रत्यक्ष हो) तब उसके अंदर प्रत्यक्ष हुए 'गवयत्व सामान्य' का 'गवय पद वाच्य' रुप से ज्ञान कराने का हैं। **तदुपरांत अनुमान में पक्षधर्मताज्ञान और व्याप्तिज्ञान की आवश्यकता हैं । जब कि उपमान को उसकी आवश्यकता नहीं हैं । उपमान प्रमाण अतिदेशवाक्यार्थ स्मरण सहकृत सादृश्यदर्शन रूप हैं । जब कि, अनुमान प्रमाण व्याप्तिज्ञान संबंधस्मरण सहकृत लिंगपरामर्शरुप हैं** । इसलिए दोनों के बीच में भेद हैं । उपमिति के तीन प्रकार भी अन्य ग्रंथो में बताये है । साधर्म्योपमिति, वैधर्म्योपमिति और धर्ममात्रोपमिति ।।

(४) शब्द प्रमाण : आप्त पुरुष के वचन (उपदेश) को **शब्द प्रमाण** कहा जाता हैं ।(७८) आप्तवचन द्वारा जो बोध उ ज्ञान हो उसे शाब्द बोध या शाब्दी प्रमा कहा जाता हैं । प्रस्तुत ग्रंथ में शब्द प्रमाण की विशेष कोई विचारणा नहीं की हैं। अन्य ग्रंथो में शब्द प्रमाण के साथ संबंधित शक्ति निरूपण, शक्तिग्रह के आठ उपाय, लक्षणा निरूपण, आसत्ति-आकांक्षा-योग्यता-तात्पर्य इन चार का निरूपण आदि अनेक विषयो की विचारणा की गई हैं । न्यायसिद्धांत मुक्तावली - दिनकरी आदि ग्रंथो में उसकी विस्तृत विचारणा की हैं ।

"इस पद से इस अर्थ को जानना" ऐसे ईश्वर संकेत को शक्ति कहा जाता है और शक्तियुक्त को पद कहा जाता हैं। पदों के समूह को "वाक्य" कहा जाता हैं । आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि, वाक्यार्थ के ज्ञान के कारण हैं। वाक्य दो प्रकार के होते हैं । वैदिक और लौकिक । **शक्य के संबंध को लक्षणा कहा जाता हैं** ।(७९) शक्तिग्रह व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति, सिद्धपद के सान्निध्य : ये आठ से होता हैं।(८०)

नैयायिक दर्शन के ग्रंथ और ग्रंथकार :

न्यायदर्शन की दो प्रकार की धाराये देखने को मिलती हैं । **प्रथम धारा "प्राचीन न्याय" और द्वितीय धारा "नव्य न्याय" के नाम से पहचानी जाती है** । प्राचीन न्याय में पदार्थ की मीमांसा ही मुख्य विषय होने से उसे **"पदार्थमीमांसात्मक"** शैली भी कही जा सकती हैं । नव्यन्याय में प्रमाणो की विचारणा ही मुख्य विषय होने से उसे **"प्रमाणमीमांसात्मक"** शैली भी कही जा सकती हैं ।

77. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् । **(न्यायसूत्र २-२-६)** । 78. आप्तोपदेशः शब्दः । **(न्या.सू. १-१-७)** । 79. तर्कसंग्रह, **(शब्दखंड)**। 80. न्यायसिद्धांतमुक्तावली **(शब्दखंड)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन न्याय :

प्राचीन न्याय के प्रवर्तक श्री गौतम ऋषि माने जाते हैं । उन्हों ने न्यायसूत्र (नैयायिक सूत्र) में प्रमाणादि सोलह पदार्थो का विस्तार से निरूपण किया हैं । श्री वात्स्यायन ऋषिने न्यायसूत्रो के ऊपर विस्तृत **न्यायभाष्य** की रचना की हैं । उसमें सूत्रो का प्रामाणिक अर्थ किया गया हैं । श्री उद्योतकर ने न्यायभाष्य के उपर **न्यायवार्तिक** की रचना की थी। उसमें दिङ्नाग के कुर्तकों का युक्तिपुरःसर खंडन किया गया हैं । "न्यायवार्तिक" के गूढार्थ को स्पष्ट करने के लिए उसके उपर श्री वाचस्पति मिश्रने **"तात्पर्य टीका"** की रचना की हैं । ये सब ग्रंथों में प्राचीन न्याय के अनेक नियम-सिद्धांत पुरस्कृत हुए है ।

श्री वाचस्पति मिश्रने अनेक दर्शनो के उपर अपनी विद्वत्तापूर्ण लेखिनी चलाई हैं । इसलिए उनको **"सर्वतंत्र स्वतंत्र"** कहा गया था । उन्हों ने (१) न्यायशास्त्र के उपर **न्यायतात्पर्य टीका** (न्याय-सूची निबंध) (२) वेदांत दर्शन के बह्मसूत्र-शारीरिक भाष्य के ऊपर **"भामती"** टीका, **तत्त्वसमीक्षा** (ब्रह्मतत्त्व समीक्षा) (३) मीमांसादर्शन के उपर **न्यायकर्णिका** और **तत्त्वबिन्दु** (४) सांख्यदर्शन के उपर **सांख्यतत्त्वकौमुदी** और (५) योगदर्शन में (योगभाष्य के उपर) **तत्त्ववैशारदी** : इतने ग्रंथ रचे हैं ।

श्री उदयनाचार्यने न्यायशास्त्र की श्री वाचस्पति मिश्रकृत "न्यायतात्पर्यटीका" के उपर **"तात्पर्य परिशुद्धि"** नाम की टीका रची है । उपरांत उन्हों ने प्रशस्तपाद भाष्य के उपर **किरणावली टीका,** न्यायकुसुमाञ्जली, आत्मतत्त्वविवेक और न्याय परिशिष्ट, इन ग्रंथो की रचना की थी ।

प्राचीन न्याय की परंपरा में श्री जयंत भट्ट हुए । उन्हों ने न्यायमंजरी ग्रंथ की रचना करके चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा और वेदांत दर्शन की मान्यताओं का, प्रबल और पांडित्यपूर्ण युक्तियों द्वारा खंडन किया है । **श्री भासर्वज्ञ ने "न्यायसार" ग्रंथ की रचना की हैं । उनकी इस कृति में नैयायिक सिद्धांतो से अपूर्व कुछ सिद्धांतो का समुच्चय हुआ हैं । उसमें स्वार्थ-परार्थानुमान का वर्णन, उपमान प्रमाण का खंडन, बौद्धो की तरह पक्षाभास और दृष्टांताभास का वर्णन और आत्मा की निरतिशय आनंदोपलब्धिरूप मुक्ति की कल्पना - उसके ये कुछ सिद्धांत अपूर्व हैं।**

नव्यन्याय :

नव्यन्याय की उत्पत्ति **गंगेश उपाध्याय** द्वारा हुई थी । उन्हों ने अवच्छेदक, अवच्छेद्य, निरुपक, निरुप्य, अनुयोगी, प्रतियोगी आदि नूतन शब्दो की उद्भावना करके न्याय की शैली को एक नया आकार दिया था । उन्हों ने अपनी नूतन शैली का आविष्कार **"तत्वचिंतामणी"** नाम के ग्रंथ द्वारा किया हैं ।

श्री जयदेव ने (पक्षधर मिश्रने) तत्वचिंतामणी ग्रंथ के उपर **"आलोक"** नामक टीका रची हैं । **श्री गंगेश उपाध्याय** के पुत्र **श्री वर्धमान उपाध्याय** ने **श्री उदयनाचार्य** के ग्रंथ और तत्त्वचिंतामणी ग्रंथ के उपर **"प्रकाश"** नाम की टीका की रचना की थी । नव्यन्याय की परंपरा में हुए **श्री रघुनाथ शिरोमणि** ने तत्व चिंतामणी ग्रंथ के उपर विवरणात्मक **"दीधिति"** टीका की रचना की थी । वह तत्त्वचिंतामणी ग्रंथ की श्रेष्ठ टीका मानी जाती हैं ।

श्री मथुरानाथ तर्कवागीशने "आलोक", "चिंतामणी" तथा "दीधिति" इन महत्त्वपूर्ण ग्रंथो के उपर प्रकाश फैलाती **"रहस्य"** नामक टीका रची थी । उन्हों ने (१) तत्त्वचिंता रहस्य, (२) आलोक रहस्य, (३) दीधितिरहस्य, (४) सिद्धांत रहस्य, (५) किरणावली प्रकाश रहस्य, (६) न्यायलीलावती रहस्य, (७) न्यायलीलावती प्रकाश-दीधिति रहस्यः इतने ग्रंथ रचे थे ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस परंपरा में हुए **श्री जगदीश तर्कालंकारने** "दीधिति" के उपर एक विस्तृत टीका रची थी । जो सर्वसाधारण रुप से **"जागदीशी"** नाम से प्रसिद्ध हैं । उसके अन्तर्गत व्याप्तिपंचक, सिंहव्याघ्रलक्षण, व्यधिकरण प्रकरण, पक्षता, केवलान्वयी आदि ग्रंथ आते हैं । तदुपरांत, उन्हों ने **शब्दशक्ति प्रकाशिका, तर्कामृत, पदार्थतत्त्वनिर्णय, न्यायादर्श** आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी रचे थे ।

उस परंपरा में **श्री गदाधर भट्टाचार्य** हो गये । उन्हों ने नव्य न्यायगर्भित ६४ ग्रंथो की रचना की थी । "दीधिति" में वर्णन किये गये व्याप्ति विषयक भिन्न-भिन्न विषयो के उपर स्वतंत्र विशालकाय ग्रंथो की रचना की हैं । उनके ग्रंथ विस्तृत, गूढ और प्रमेय बहुल एवं अनेक रहस्योद्‌घाटक है । उन्हों ने व्याप्ति पंचक, सिद्धांत लक्षण, अवयव प्रकरण, पक्षता, व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद, व्यधिकरण प्रकरण, प्रामाण्यवाद, सामान्य निर्युक्ति, मुक्तिवाद, ब्रह्मनिर्णय, सत्प्रतिपक्ष, सव्यभिचार, केवलान्वयी आदि अनेक ग्रंथ रचे है। श्री उदयनाचार्य के 'आत्मतत्त्व विवेक' के उपर भी टीका रची थी ।

इस प्रकार से नैयायिक दर्शन का आंशिक परिचय पूर्ण होता हैं । अब सांख्यदर्शन का आंशिक परिचय प्राप्त करेंगे।

सांख्यदर्शन :

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक श्री कपिल ऋषि हैं । सांख्य शब्द का अर्थ **'ज्ञान'** हैं । प्रकृति-पुरुष और उसके भेद का जो यथार्थ ज्ञान, उसका नाम **'सांख्य'** और ऐसे ज्ञान का उपाय बतानेवाला दर्शन अर्थात् सांख्यदर्शन ।

श्री विज्ञानभिक्षु **'सांख्य'** शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं कि, प्रकृति-पुरुष के भेद के निर्देश के साथ आत्मा का स्वरूप दर्शन ।[८१] **श्री शंकराचार्य** भी अपने ग्रंथ में 'सांख्य' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' करते हैं ।[८२] **गीता** में भी सम्यग्ज्ञान के अर्थ में सांख्य शब्द बारबार प्रयोजित हुआ दिखाई देता हैं ।[८३] **व्यासस्मृति** में **'शुद्धात्मतत्त्वज्ञान'** को **"सांख्य"** शब्द से बताया गया हैं ।[८४] सांख्य का वर्णन उपनिषद्, स्मृतियां, पुराण, महाभारत, भागवत और बुद्धचरित में देखने को मिलता हैं ।

देवता :

(प्रस्तुत ग्रंथ की टीका के आधार पर) कुछ सांख्य ईश्वर देवता को मानते हैं, तो कुछ सांख्य ईश्वर को नहीं मानते हैं। **यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, श्री ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका में ईश्वर के अस्तित्व या निषेध के विषय में कोई खुलासा नहीं हैं। परन्तु सांख्यकारिका के टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र सांख्यतत्त्वकौमुदी (का. ५७) में ईश्वर जगत् का कर्ता हैं, उसमें कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा बताते हैं ।**

सांख्य सिद्धांत में ईश्वर जगत का स्रष्टा नहीं हैं । प्रकृति में से जगत की उत्पत्ति होती है । **सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है और निमितकारण जीव के धर्माधर्म । जीवो के धर्माधर्म अनुसार उनके भोग और अपवर्ग के लिए प्रकृति विचित्र जगत का सर्जन करती है ।**[८५] **सृष्टि के प्रारंभ में कर्माधीन पुरुषो के संस्पर्श के कारण प्रकृति की साम्यावस्था का भंग होता है और सृष्टि प्रक्रिया का प्रारंभ होता हैं ।**[८६] ईश्वर जगत के कर्ता, धर्ता या हर्ता (ध्वंसकर्ता) नहीं हैं ।

---

81. सङ्ख्या सम्यग्विवेकेनात्मकथनमित्यर्थः । अतः साङ्ख्यशब्दस्य योगरूढतया । **(सां.प्र.भा. भूमिका)** । 82. तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यमिति वैदिकमेव ज्ञानं ध्यानं च साङ्ख्ययोगशब्दाभ्यामलिप्येते ।। **(श्री शंकराचार्य)** । 83. सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या सम्यग्ज्ञानं, तस्यां प्रकाशमानमात्वतत्त्वं साङ्ख्यमिति **(श्रीधर, गीता २-३९)** । 84. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं साङ्ख्यमित्यभिधीयते **(व्यासस्मृति)** 85. पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् **(सांख्यकारिका-३१)** । 86. सां.का. ५६ (इस कारिका का विवेचन सांख्यदर्शन के विशेषार्थ में देखना) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री वाचस्पति मिश्रने सांख्यतत्त्व-कौमुदी में ईश्वरवादीयों का मत बताते हुए कहा है कि, (सांख्य की मान्यताओं का प्रतिकार करते हुए कहते है कि,) अचेतन - अज्ञ प्रकृति विचित्र जगत का सर्जन नहीं कर सकती । तदुपरांत, वह देहस्थ जीवात्मायें प्रकृति के प्रेरक बनकर जगत का सर्जन नहीं कर सकते है । क्योंकि, वे प्रकृति के स्वरूप से अज्ञात है । इसलिए सर्वदर्शी नित्य ईश्वर ही प्रकृति के सृष्टिकार्य का प्रेरक बन सकता है । **ईश्वरवादी की इस आपित्त के उत्तर में श्री वाचस्पति मिश्र बताते हैं कि,** वत्सपोषण के लिए गाय के स्तन में से जैसे अज्ञ दुध स्रवित होता है उसी तरह से पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए अज्ञ प्रकृति सृष्टि में प्रवृत्त होती है । **ईश्वर को यदि प्रकृति का प्रेरक माने तो प्रश्न उपस्थित होगा कि,** सृष्टि कार्य में उसकी प्रेरणारूप प्रवृत्ति का प्रयोजन कया है ? जगत में स्पष्ट दिखता है कि, बुद्धिमान लोग स्वार्थ से या करुणा से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करते हैं । परन्तु ईश्वर को तो कोई स्वार्थ हो नहीं सकता । क्योंकि वह तो पूर्ण हैं। ईश्वर करुणा से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करते है ऐसा भी माना नहीं जा सकता, क्योंकि, सृष्टि से पहले दुःख होता ही नहीं है अर्थात् सृष्टि के पहले देह, इन्द्रियाँ और दुःखदायक वस्तुओं की उत्पत्ति हुई ही नहीं होती है । इसलिए सृष्टि से पूर्व करुणा ही संभवित नहीं है । सृष्टि के बाद दुःख देखकर ईश्वर को करुणा आती है ऐसा भी नहीं कह सकते । क्योंकि इतरेतराश्रय दोष आता है। करुणावशात् सृष्टि और सृष्टिजन्य दुःख देखकर करुणा । इस तरह से इतरेतराश्रय दोष आता है ।

तदुपरांत, **दूसरा प्रश्न भी खडा होता है कि,** करुणावशात् ईश्वर की सृष्टि सर्जन में प्रवृत्ति हो तो वह सभी प्राणीओं को सुखी ही क्यों न करे ? यहाँ यदि ऐसा कहा जाये कि, जीवो के धर्माधर्मरूप विचित्र कर्मो के कारण एक सुखी और एक दुःखी इस तरह से सृष्टिसर्जन में विचित्रता आती है । तो यहाँ सोचने जैसी एक बात है कि, विचित्र कर्मो से ही विचित्र सृष्टि का सर्जन होता हो तो कर्मो के अधिष्ठाता रुप में ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है ? कर्म स्वयं अपना फल देते हैं । **(सांख्यमत अनुसार) प्रकृति अज्ञ है । वह स्वार्थ से या करुणा से सृष्टिसर्जन नहीं करती है । वह स्वयं महत् इत्यादि रुप से परिणमन पाती हैं । इसलिए जगत का उपादान कारण प्रकृति हैं । निमित्तकारण जीवो के धर्माधर्मरूप कर्म है । इसलिए सृष्टि के व्यापार में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है । श्री वाचस्पति मिश्र इस प्रकार से कौमुदी में सृष्टिकार्य में ईश्वर की भूमिका का खंडन करते हैं ।**[८७]

सांख्यसूत्रकार ईश्वर का प्रतिषेध करते है । क्योंकि, ईश्वर को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है ।[८८] **सूत्रकार आगे बताते है कि,** यदि ईश्वर हो तो वह या तो बद्ध हो अथवा मुक्त हो, तीसरा कोई प्रकार या विकल्प संभवित नहीं है।[८९] ईश्वर को बद्ध माना नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने से ईश्वर साधारण जीव जैसा हो जायेगा और उससे उसमें विचित्ररचनावाला जगत उत्पन्न करने का सामर्थ्य न रहेगा । ईश्वर को मुक्त मानने से उसमें अभिमान उपरांत रागादि का अभाव ही होगा और ऐसा ईश्वर भी जगत का कर्ता नहीं बन सकता ।[९०] सांख्यसूत्रकारने ईश्वर के विरोध में आगे बहोत दलीले दी हैं, परन्तु विस्तार भय से यहाँ रूकते हैं । जिज्ञासु सांख्यसूत्र का अवगाहन करे ।

तत्त्वमीमांसा :

सांख्यदर्शन मूल दो तत्त्वो को मानता है । **प्रकृति और पुरुष । प्रकृति जड है । त्रिगुणात्मक है ।** सत्त्व, रजस्, तमस् : ये तीन गुणवाली प्रकृति है । प्रकृति अवस्था में तीनो गुण साम्यावस्था में होते हैं । तीनों में विषमता आये तब प्रकृति में से सृष्टि का सर्जन होता है । **सत्त्वादि तीनो द्रव्य है । वे गुण प्रकृति के आरंभक या उत्पादक नहीं है, परन्तु स्वभावरूप है । वे गुण क्रमशः सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक है ।** तदुपरांत, सत्त्व के धर्म प्रकाश

87. सां.त.कौ.का. ५७ । 88. ईश्वरासिद्धेः **(सां.सू. १-९२)** । 89. मुक्तबद्धयोरन्तराभावान्न तत्सिद्धिः । **(सां.सू. १-९३।)** । 90. उभयथाप्यसत्करणत्वम् । **(सां.सू. १-९४)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और लघुता है । रजस् क्रियाशील है और तमस् अवरोधक और गुरुतायुक्त है। प्रकृति प्रतिक्षण परिणामी है और वह एक है और नित्य हैं । (यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, कुछ सांख्य प्रत्येक पुरुष को एक स्वतंत्र प्रकृति मानते है। इसलिए पुरुष बहुत्व की तरह प्रकृति में भी अनेकता है ।)

समग्र सृष्टि प्रकृति के परिणामरूप हैं । प्रकृति में से ही बुद्धि (महत्), अहंकार, पाँच तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन) और पाँच भूतो की सृष्टि उत्पन्न होती है । ये २३ तत्त्व प्रकृति में से आविर्भाव पाते हैं, बिलकुल नये उत्पन्न नहीं होते हैं अर्थात् उत्पत्ति से पहले भी उनका अव्यक्त अस्तित्व उनके कारण में होता ही है। **इसलिए सांख्य सत्कार्यवादी है । उनके ये सिद्धांत के बारे में आगे ज्यादा बताया जायेगा ।**

सत्त्वादि तीनो गुण द्रव्यरुप है । क्योंकि, वे परस्पर और पुरुष के साथ संयोग-विभाग पाते है । तदुपरांत, उनमें लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व इत्यादि धर्म है, वह हकीकत भी उनको द्रव्य के रुप में सिद्ध करती है ।[९१]

पुरुष चेतन हैं । वह अपरिणामी है। इसलिए परिणामी बुद्धि या ज्ञान उसका स्वरूप नहीं है । वह असंहत है । वह त्रिगुणातीत हैं ।[९२] वह सुख, दुःख और मोह से रहित है । वह एक नहीं है, परन्तु अनेक हैं ।

पुरुष और प्रकृति का विशेष स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से जाने । सांख्य दर्शन निरुपणोत्तर विशेषार्थ में सांख्यदर्शन के सभी तत्त्वो का सूक्ष्म विवेचन किया गया है । जब ग्रंथ ही बोलता हो, तब भूमिका में विस्तार करने की आवश्यकता नहीं रहती हैं, केवल विषयो की हल्की सी झाँकी ही देनी होती है ।

अविद्या के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग हैं और इस अविद्याजन्य संयोग के परिणाम से प्रकृति में से बुद्धि इत्यादि की सृष्टि होती है । उसके बाद बुद्धि का पुरुष में और पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिंब पडता है। इस के कारण पुरुष परिणामी न होने पर भी परिणामी लगता हैं । वह कर्ता, भोक्ता, ज्ञानी न होने पर भी कर्ता-भोक्ता और ज्ञानी जैसा लगता है। प्रकृति अचेतन होने पर भी चेतन जैसी लगती है। जब अविद्या दूर होती है तब उसके कारण हुआ संयोग दूर होता है और प्रकृति में से बुद्धि इत्यादि की सृष्टि अटक जाती है । इसलिए पुरुष और बुद्धि का एक दूसरे में प्रतिबिंब पडने का प्रश्न ही नहीं रहता है । पुरुष स्वरूप में ही स्थिर हो जाता हैं । यही पुरुष की मुक्ति है ।

यह अविद्या इस प्रकृति - पुरुष का अविवेक हैं, ऐसा सांख्यदर्शन कहता है । जब कि विद्या यह उन दोनों का विवेक है, यह विवेक ही मुक्ति का उपाय है ।

सांख्य एक जन्म में से दूसरे जन्म में संस्कारो के वाहकरूप सूक्ष्म शरीर का स्वीकार करते है । वह सर्ग से लेकर प्रलय तक प्रवाहरूप से एक ही हैं । उसके प्रवाह का विच्छेद सर्ग दरमियान नहीं होता है । उसके घटक महत् से लेकर पाँच तन्मात्रा तक के तत्व हैं ।[९३]

प्रमाणमीमांसा :

सांख्यदर्शन में प्रमाण का सामान्य लक्षण हैं - **"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्"** - अर्थ की उपलब्धि में जो कारण बने उसे प्रमाण कहा जाता है । सांख्यमतानुसार प्रमाण के तीन प्रकार है । (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द । तीनों प्रमाणो का स्वरूप प्रस्ततु ग्रंथ की श्लोक ४३ की टीका में दिया हैं । इस ग्रंथ में तीनों प्रमाण के लक्षण श्री ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका के आधार पर दिये गये हैं ।

91. परस्परं संयोगविभागस्वभावाः, तेन गुणानां द्रव्यत्वं सिद्धम् **(योगवा. २-१८)** पुरुषेण सह संयोगविभागधर्माणांः **(तत्त्ववै. २-१८)**
92. सां.का. १७ । 93. सां.का. ४० से ४४ ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ उल्लेखनीय है कि, श्री वाचस्पति मिश्र और श्री विज्ञानभिक्षु के प्रमाण के सामान्य लक्षण के बीच बहोत मतभेद है। उन्हों ने स्वरचित ग्रंथ में उसकी विस्तार से चर्चा की है । उसी तरह से प्रत्यक्षादि प्रमाणो के लक्षणो के विषयो में भी मतभेद है । अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसे तीन प्रकार है ।

सांख्यदर्शन के महत्त्व के सिद्धांत :

(१) परिणामवाद (सत्कार्यवाद) : सांख्याचार्यो का सिद्धांत है कि, **सतः सज्जायते** अर्थात् सत् में से सत् उत्पन्न होता है । **अपनी उत्पत्ति से पहले कार्य अपने कारण में अस्तित्व रखता ही है। दूसरे शब्दों में कहे तो कारण स्वयं ही कार्य की अव्यक्त अवस्था हैं ।** अपनी उत्पत्ति से पहले कार्य अपने कारण में अव्यक्त भाव से या सूक्ष्मरुप से रहा हुआ होने से हम उसको इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं देख सकते है । तदुपरांत, सांख्याचार्यो के मतानुसार उत्पत्ति और विनाश का अर्थ केवल आविर्भाव और तिरोभाव ही है । उत्पत्ति से पहले भी कार्य कारण में अव्यक्त रूप में अस्तित्व रखता ही है; ऐसा मत सांख्यो का होने से उनके इस सिद्धांत को **सत्कार्यवाद** कहा जाता है । सत्कार्यवाद सिद्धांत की पुष्टि के लिए सांख्यकारिका में पाँच कारण दिये है । वह नीचे बताये अनुसार हैं -

(१) असदकरणात् : अपनी उत्पत्ति से पहले कार्य अपने कारण में शक्तिरूप से भी विद्यमान न हो तो उसे कोई उत्पन्न नहीं कर सकता है ।[९४] **(२) उपादानग्रहणात् :** यदि उत्पत्ति से पहले कार्य अपने कारण में विद्यमान न हो तो हम अमुक कार्य को उत्पन्न करने के लिए अमुक ही उपादानकारण का ग्रहण करते हैं, वह प्रतिनियत व्यवस्था नहीं रहेगी।[९५] जैसे कि, शाली के फल का अर्थी शालि के बीज को ही ग्रहण करता हैं, अन्य बीज को नहीं । **(३) सर्वसंभवाभावात् :** यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् माना जाये तो उस काल में सत् कारण और असत् कार्य के बीच कोई भी प्रकार का संबंध नहीं बन सकेगा और यदि कार्य से असंबद्ध रहकर ही कार्य को उत्पन्न करते कारण की कल्पना की जाये तो कोई भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाने की आपत्ति आयेगी और जगत में ऐसा नहीं दिखाई देता है । इसलिए कारण में कार्य विद्यमान है ।[९६] **(४) शक्तस्य शक्यकरणात् :** जिस कारण में जो कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हो, वह कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता हैं, दूसरे को नहीं ।[९७] जैसे कि, मिट्टी रूप कारण में घटरूप कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हैं, पटरूप कार्य की नहीं (और जगत में ऐसा ही दिखाई देता है ।) **(५) कारणभावाच्च कार्यस्य :** कारण जिस जाति का होता है, उसी जाति का कार्य होता हैं, अन्य जाति का नहीं।[९८] **सत्कार्यवाद के समर्थक पाँचों कारणो की विचारणा प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक-४३ की टीका में की हैं और सांख्य दर्शननिरुपणोत्तर दीये हुए विशेषार्थ में भी विस्तार से चर्चा की हैं ।**

(२) पुरुष बहुत्व : सांख्य दर्शन ने पुरुष बहुत्व का स्वीकार किया हैं । उनके मतानुसार प्रत्येक शरीरो में आत्मा एक ही नहीं है, परन्तु प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न है । **इस विषय में दलील देते हुए, वे कहते हैं कि,** (१) जन्म

94. असच्चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यं नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यम् **(सां.त.कौ. ९)** ।
95. यदि हि असद् भवेत् कार्यं तदा पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणं न स्यात् । तथाहि - शालिफलार्थिनः शालीबीजमेवोपाददते न कोद्रवबीजम् । **(तत्त्व सं.पं.पृ. १९)** । 96. स्यादेतत् - असम्बद्धमेव कारणैः कस्मात् कार्यं न जन्यते ? तथा चासदेवोत्पत्स्यतेऽत आह - सर्व सम्भवाभावात् इति । असम्बद्धस्य जन्यत्वे असम्बद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद् भवेद्, न चेतदस्ति, तस्मान्नासम्बद्धमसम्बद्धेन जन्यतेऽपि तु सम्बद्धं सम्बद्धेन जन्यते इति । **(सां.त.कौ. ९)** । 97. शक्ताऽपि हेतवः कार्यं कुर्वाणः शक्यक्रियमेव कुर्वन्ति, नाशक्यम्। **(तत्त्व सं.पं.पृ. ९)** । 98. कार्यस्य कारणात्मकत्वात्, न हि कारणाद् भिन्नं कार्यम्, कारणं च सद् इति कथं तदभिन्नं कार्यमसद् भवेत् । **(सां.त. कौ. ९)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्यवस्था के कारण यह मानना आवश्यक बनता हैं कि आत्मा अनेक हैं । (२) मरण की व्यवस्था भी आत्मा अनेक माने बिना नहीं होती हैं । (३) करणो की व्यवस्था द्वारा भी आत्मा का बहुत्व सिद्ध होता हैं । (४) अयुगपत् प्रवृत्ति भी आत्मा का बहुत्व सिद्ध करती हैं । (५) सुख, दुःख और मोहरूप गुणत्रय का विपर्यय दिखता होने से पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है। इन पाँच कारण से आत्मा एक नहीं है, परन्तु अनेक हैं, ऐसा सांख्यदर्शन मानता हैं । पाँचो कारणो की विचारणा सांख्य दर्शन निरुपणोत्तर दिये गये विशेषार्थ में सां.का. १८ के विवेचन में देखें ।[९९]

सांख्यदर्शन के ग्रंथ-ग्रंथकार :

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक **श्री कपिलऋषि** के **"सांख्यसूत्र"** और **"तत्त्वसमास"** नाम के दो ग्रंथ उपलब्ध होते हैं । सांख्यसूत्र छः अध्याय और ५३७ सूत्रो में है । प्रथम अध्याय में विषय, द्वितीय में प्रधान के कार्य, तृतीय में वैराग्य, चतुर्थ में सांख्य तत्त्वो के - पदार्थ के बोध के लिए आख्यायिका, पंचम में परपक्ष का खंडन और छट्ठें में सिद्धांतो का संक्षिप्त प्रतिपादन किया है । तत्त्व समास २२ सूत्रो का लघुग्रंथ है । उसके उपर श्री शिवानंदकृत **"सांख्यतत्त्व विवेचन"** और श्री भावगणेशकृत **"सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन"** नामक टीकायें मिलती है । सांख्यसूत्र के उपर **"अनिरुद्धवृत्ति"** नाम की टीका हैं ।

श्री आसुरि श्री कपिल के साक्षात् शिष्य थे । उनके सिद्धान्तो का वर्णन प्राचीन ग्रंथो में उपलब्ध होता हैं। आचार्य श्री पंचशिखने अपने एक सूत्र में [१००] श्री कपिल को निर्माणकाय धारण करके श्री आसुरी को सांख्यतत्त्व का उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया हैं ।[१०१] **श्री आसुरी** के शिष्य **श्री पंचशिख** ने **'षष्टितंत्र'** नामका सांख्यदर्शन का एक ग्रंथ रचा था । सांख्यदर्शन की मान्यताओं का सुव्यवस्थित वर्णन उसमें था । **श्री वाचस्पति मिश्र** आदि ने अपने ग्रंथो में "षष्टितंत्र" का उल्लेख किया हुआ दिखाई देता है । परन्तु हाल में वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं । **श्री ईश्वर कृष्ण** ने **"सांख्यकारिका"** की रचना की हैं । उसे सांख्यदर्शन का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता हैं । सांख्यकारिका के उपर **"माठरवृत्ति"** नामकी टीका **श्रीमाठराचार्य**ने रची है, **श्री वाचस्पति मिश्र**ने **"सांख्यतत्त्वकौमुदी"** नाम की टीका रची हैं, श्री नारायण तीर्थने **"चन्द्रिका"** नामकी लघुटीका की रचना की हैं । श्री विज्ञानभिक्षुने **'सांख्यसार'** और **'योगसार'** नाम के दो स्वतंत्र ग्रंथो की रचना की है । तथा सांख्यसूत्र के उपर **'सांख्य प्रवचन भाष्य'**, व्यासभाष्य के उपर **योगवार्तिक** और ब्रह्मसूत्र के उपर **विज्ञानामृतभाष्य** की रचना की है। उनके विचार मूल ग्रंथकारो से अलग पडते थे, वह उनके ग्रंथ देखने से ख्याल आयेगा । बहोत स्थान पर उन्हों ने श्री शंकराचार्य और श्री वाचस्पति मिश्र की मान्यताओं का भी खंडन किया हुआ दिखाई देता हैं ।

जैनदर्शन :

जैन दर्शन के प्रस्थापक श्री जिनेश्वर परमात्मा हैं । वर्तमान[१०२] अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर हुए हैं। उसमें श्री महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर है और प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव (आदिनाथ) भगवान हैं । श्री महावीर स्वामी के

99. जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। **(सां.का. १८)**। 100. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच (१/२५) **(व्यासभाष्य में उद्धृत)** । 101. भारतीयदर्शन पृ. २५२ । 102. एक कालचक्र में एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी होती हैं । जिसमें बल, बुद्धि आदि की क्रमशः वृद्धि हो उसे **उत्सर्पिणीकाल** कहा जाता है और जिसमें बलादि की क्रमशः हानि हो उसे **अवसर्पिणीकाल** कहा जाता है । एक कालचक्र २० कोडाकोडी सागरोपम स्थिति प्रमाण होता हैं । उत्सर्पिणी - अवसर्पिणी दोनों में २४-२४ तीर्थंकर भरत क्षेत्र में होते हैं । उसी तरह से ऐरावत क्षेत्र में भी २४-२४ तीर्थंकर होते हैं । महाविदेह क्षेत्र में कोई न कोई क्षेत्र में तीर्थंकर परमात्मा स्वकार्य को बहाते ही होते हैं । (काल के विषय में विशेष जानकारी जैनदर्शन का विशेषार्थ (परिशिष्ट) में दी गई है । आज तक अनंता कालचक्र व्यतित हो गये है ।) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री इन्द्रभूतिजी आदि ११ मुख्य शिष्य थे । ये पूर्वावस्था में चौदह विद्या के पारगामी ब्राह्मण थे । श्री महावीर स्वामी के केवलज्ञान के बाद रचे गये समवसरण में (प्रवचन सभा में) उनके मन में प्रवर्तित जीवादि विषयक संशयो का नाश होने से उन्हों ने अपने शिष्य परिवार सहित प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार की थी। प्रभुने उनको गणधर के रूप में स्थापित किये थे। **उन्हों ने तत्त्व विषयक तीन प्रश्न प्रभु को पूछे, प्रभुने उसके उत्तर में[१०३] त्रिपदी का दान किया था । उसको ग्रहण करके प्रभु की कृपा से गणधर भगवंतोने द्वादशांगी की (बारह अंगो की) रचना की थी । वे १२ अंग जैनदर्शन के मूल आगमग्रंथ कहे जाते हैं** । उसमें से हाल में ११ अंग विद्यमान है । १२वां अंग काल प्रभाव से विच्छेद हो गया है । १२वें अंग में १४ पूर्वो का अन्तर्भाव हुआ था । उसमें जगत के सभी पदार्थो के स्वरूप और रहस्य को स्पष्ट किया गया था । जैनदर्शन के देव, तत्त्व, प्रमाण, सिद्धांत, ग्रंथ और ग्रंथकार आदि के विषय में अब क्रमशः सोचेंगे ।

देवता :

राग-द्वेष से रहित, महामल्ल ऐसे मोह के नाशक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, सुरेन्द्र-असुरेन्द्रो से पूज्य, यथावस्थित अर्थ प्रकाशक, सर्वकर्म का क्षय करके परम पद (मोक्ष) के प्रापक ऐसे श्री जिनेश्वर परमात्मा जैनमत के देवता हैं ।[१०४]

जैनदर्शन के मतानुसार उनके इष्टदेवता जगत के कर्ता, भर्ता, या हन्ता नहीं है । श्री जिनेश्वर परमात्मा जगत जैसा हैं, वैसा प्रकाशित करते हैं । असत्य बोलने के तीन कारण हैं । राग, द्वेष और मोह, इन तीनों का नाश हुआ होने से श्री जिनेश्वर परमात्मा का वचन संपूर्णरुप से सत्य ही होता हैं । वे जगत के सर्व पदार्थों को हस्तामलकवत् देखते हैं और जानते है । वे सर्वकर्म का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हुए है । **कर्मरूपी बीज जल गया होने से पुनः जन्म नहीं लेते है। जिनका कर्मरूपी बीज जल जाता है, उसका संसार में पुनः अवतरण किस तरह से हो सकता है ? इसलिए जैनदर्शन अवतारवाद का स्वीकार नहीं करता है** । सर्वकर्मो का क्षय जिसको होता है वह कृतकृत्य बन जाता है । उनके सभी प्रयोजन पूर्ण हो गये होते है । इसलिए किसी भी प्रकार के प्रयोजनवश पुनः अवतार लेने का प्रश्न ही नहीं रहता हैं ।

तारक श्री जिनेश्वर परमात्मा ३४ अतिशय रुपी बाह्य - अभ्यंतर लक्ष्मी से युक्त होते हैं । ज्ञानातिशय, वचनातिशय, पूजातिशय और अपायापगमातिशय : इन चार अतिशयो से सनाथ श्री जिनेश्वर परमात्मा जगत के उपर महान उपकार करते है । उनका ज्ञान जगत के तमाम रुपी और अरुपी त्रिकालवर्ती पदार्थो तक विस्तरित हैं । वे समस्त पदार्थो को हस्तामलकवत् देखते है और जानते हैं । वे जगत के पदार्थो को यथावस्थित प्रकाशित करते हैं । उनके वचनो का ऐसा अतिशय होता हैं कि, मनुष्य, पशु और देव आदि सर्व अपनी-अपनी भाषा में समज सकते है । प्रभु मागधी भाषा में देशना (उपदेश) देते हैं । परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवो को अपनी अपनी भाषा में प्रभु की वाणी समज में आ जाती हैं । **इस जगत में श्रेष्ठ कोटि की पूजा श्री जिनेश्वर को प्राप्त होती है। जघन्य से एक क्रोड देवतायें उनकी सेवा में होते है** । उन्हों ने राग-द्वेष-मोह का संपूर्ण नाश किया है और अपने शरण में आये हुए जीवो के रागादि का नाश करनेवाले हैं (जिणाणं जावयाणं) । वे अपना तीर्थ प्रवर्तन (धर्म प्रवर्तन) का कार्य पूर्ण होने पर शेष चार अघाती कर्म (भवोपग्राही) कर्मो का नाश करके मोक्ष प्राप्त करते हैं - सिद्धावस्था को पाते है । वे सिद्धावस्था को पाने के बाद पुनः कभी भी जन्म नहीं लेते हैं। पुनः अवतार धारण नहीं करते हैं ।[१०५]

---

103. "उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" अर्थात् सर्वे पदार्थाः उत्पद्यन्ते, विनश्यन्ति, स्थिरीभवन्ति, य इति प्रभुवदनात् त्रिपदीं श्रुत्वा द्वादशाङ्गी रचितवान् ।। **(कल्पसूत्र-टीका)** 104. षड्. समु. ४५-४६ । 105. दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ।।१।। **(तत्त्वार्थ धि. सू. भा.)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री जिनेश्वर के अठारह दोष नाश हुए होते है ।[१०६] जैनमत अनुसार श्री जिनेश्वर "अनादिशुद्ध" नहीं होते हैं। जीव या तो मुक्त हो या तो बद्ध हो । जो पहले बद्ध है वही मुक्त बनेगा । "मुक्त" के रूप में व्यवहार भी तब ही होगा कि जो पहले बद्ध हो और बाद में उपाय विशेष के सेवन से मुक्त बना हो, जो पहले बद्ध नहीं है, उसके लिए कभी भी मुक्त का व्यपदेश नहीं किया जा सकता । ईश्वर को "अनादि शुद्ध" माननेवाले पक्ष को उनके ईश्वर मुक्त है या बद्ध हैं, वह बताना चाहिए । यदि ईश्वर बद्ध है तो वह शुद्ध ही नहीं है, तो अनादिशुद्ध मानने का पक्ष ही ऊड जाता है और यदि मुक्त है तो पहले बद्ध होने ही चाहिए । तथा पहले बद्ध हो तो "अनादिशुद्ध" भी नही मान सकेंगें । इसलिए मुक्त और बद्ध से अतिरिक्त "अनादिशुद्ध" की कक्षा संभवित ही नहीं हैं । सांख्यसूत्रकार भी "अनादिशुद्ध" ईश्वर का निषेध ही करते है ।[१०७]

इसलिए जैनमतानुसार श्री जिनेश्वर (अन्य जीवो की तरह) पहले कर्मो से बद्ध ही होते है । चारित्र की साधना द्वारा कर्मो का नाश करके मुक्त बनते है । **पहले बताये अनुसार अन्य जीवो से उनका तथाभव्यत्व भिन्न प्रकार का होता हैं। इसलिए अन्य जीव सामान्य केवली बनकर सिद्ध बनते है और श्री जिनेश्वर के आत्मा अरिहंत-तीर्थंकर बनकर सिद्ध बनते हैं।**

जैनमतानुसार श्री जिनेश्वर जगत के कर्ता नहीं है । जगत के (जगतवर्ती पदार्थो के) यथावस्थित प्रकाशक है । जो लोग ईश्वर को जगत्कर्ता मानते है और उसकी सिद्धि के लिए जो अनुमान-युक्ति देते है, उसका खंडन प्रस्तुत ग्रंथ के श्लोक-४५-४६ की टीका में विस्तार से किया गया है । तदुपरांत मीमांसको ने सर्वज्ञता आदि का विरोध करके सर्वज्ञादि विशेषणो से युक्त श्री जिनेश्वरो का जो विरोध बताया है, उस विरोध का भी परिहार टीका में किया गया है ।

मूलगुणो का घात करनेवाले चार घातीकर्मो का नाश होने से आत्मा केवलज्ञानी - केवलदर्शी बनता है । जब तक चार अघाती (भवोपग्राही) कर्मो का नाश न हो, तब तक शरीर विद्यमान होता है । शरीर होने से उसके धारण के लिए कवलाहार (भोजन) भी होता ही है । फिर भी जैनदर्शन के मूल मार्ग से अलग हुए दिगंबर संप्रदाय केवलज्ञानी को कवलाहार का निषेध बताते है और उनकी मान्यता की सिद्धि के लिए अनुमान-युक्तियाँ देते है । उन सभी अनुमानो-युक्तियों का खंडन प्रस्तुत ग्रंथ की टीका में किया गया है । दिगंबरो की कवलाहार निषेध की मान्यताओं और अन्य मान्यताओं (स्त्री मुक्ति निषेधक - वस्त्र सहित की मुक्ति की निषेधक मान्यताओं) के खंडन के लिए न्यायाचार्य - न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने 'अध्यात्ममत परीक्षा' और 'आध्यात्मिक मत परीक्षा' ऐसे दो स्वतंत्र ग्रंथो की रचना की है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, श्री महावीर प्रभु के तीर्थ में प्रारंभ में कोई मतभेद नहीं थे । सर्वप्रथम दिगंबर मत ने मूलमार्ग से अलग होकर अपनी अलग मान्यतायें प्रचारित की थी । अपनी मान्यता के समर्थन में ग्रंथ भी रचे थे । उनकी सर्व मान्यताओं का खंडन श्वेतांबर संप्रदाय के ग्रंथो में किया गया है । पहले श्वेतांबर और दिगंबर ऐसे कोई संप्रदाय नहीं थे। यह बात प्रस्तुत ग्रंथ के श्लोक-१ की टीका में भी बताई गई है ।[१०८] उसके बाद भी बहोत संप्रदायो ने मूलमार्ग से अलग होकर अपनी अलग मान्यतायें प्रवर्तित की है । उनको श्री जिनागमो का कोई समर्थन नहीं हैं । सारांश में, जैनमतानुसार

106. (१) अज्ञान, (२) मिथ्यात्व, (३) निद्रा, (४) अविरति, (५) राग, (६) द्वेष, (७) हास्य, (८) रति, (९) अरति, (१०) शोक, (११) भय, (१२) जुगुप्सा, (१३) काम, (१४) दानांतराय, (१५) लाभांतराय, (१६) भोगांतराय, (१७) उपभोगांतराय और (१८) वीर्यांतराय : ये अठारह दोष श्री जिनेश्वर के नाश हुए है । 107. इश्वरासिद्धेः । मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।। (सां.सू. १-१-९२/९३) । 108. **तर्हि श्वेताम्बरदिगम्बराणां कथं मिथो मतभेद इति चेद् ? उच्यते मूलतोऽमीषां मिथो न भेदः किंतु पाश्चात्य एव** । (षड्. समु. श्लोक-१ टीका) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री जिनेश्वर (इष्टदेव) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, सर्वकर्म से रहित, सिद्धावस्था को प्राप्त, पुनः अवतार न लेनेवाले, बद्ध में से मुक्त बने हुए, जगत के कर्ता नहीं परन्तु प्रकाशक, सुरासुरेन्द्र से पूज्य हैं। **जिनेश्वर एक नहीं है परन्तु अनेक हैं। आज तक अनंता तीर्थंकर हुए है और भविष्य में अनंता तीर्थंकर होनेवाले है । जगत कभी भी तीर्थंकर रहित होगा ही नहीं। हाँ, ऐसा हो सकता है कि किसी क्षेत्र में किसी काल में तीर्थंकर न हो, परन्तु इस जगत में प्रत्येक काल में कोई स्थान पर तो तीर्थंकर परमात्मा अवश्य तीर्थ प्रवर्तन का अपना कार्य करते ही होते है । जैसे कि, हाल में महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर स्वामी आदि २० तीर्थंकर पृथ्वीतल को पावन कर रहे हैं ।**

यहाँ एक खुलासा कर ले कि, जैनदर्शन को कोई देव के प्रति द्वेष नहीं है या कोई देव के प्रति पक्षपात नहीं है । जिन में 'देवत्व' संगत होता हो उसे यह देव के रुप में मानता हैं । "देवत्व" का सद्भाव सर्वज्ञता, वीतरागता आदि गुणो से जैनदर्शन मानता है । इसलिए सर्वज्ञता-वीतरागता आदि गुण जिन में हो, उसे वह देव के रूप में स्वीकार करता है। प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता **पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी** महाराजा भी मध्यस्थता के साथ उद्घोषणा करते हैं कि,

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।

कलिकाल सर्वज्ञ **पू.आ.भ. श्री हेमचन्द्रसूरिजी** महाराज भी स्वरचित **महादेव अष्टक** में स्तवना करते हुए फरमाते हैं कि, हम को महावीर या महादेव ऐसे नामो के प्रति कोई आग्रह नहीं है । जो वीतराग और सर्वज्ञ है, वह महावीर हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो या कोई भी हो, वह हमको भगवान के रुप में मान्य है और हमारे लिए पूज्य - आराध्य है । अन्य जैनाचार्य द्वारा विरचित[१०९] महादेव - अष्टक में भी सर्वज्ञता-वीतरागतादि विशेषणो से युक्त महादेव की स्तवना में यही सद्भावनायें व्यक्त हुई हैं ।

तत्त्वमीमांसा :

जैनदर्शन नव तत्त्वो को मानता है । जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ।[११०]

(१) जीव : चैतन्य जीव का लक्षण हैं । नवतत्त्व प्रकरण में जीव के लक्षण छः बताये हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, तप और उपयोग ।[१११] (ज्ञानादि सभी शब्दो का स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ की टीका में भिन्न-भिन्न स्थान पर स्पष्ट किया ही गया है ।)

जीव ज्ञानादि धर्मो से भिन्नाभिन्न स्वरूप है अर्थात् आत्मा ज्ञानादि धर्मो से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है । यदि जीव ज्ञानादि धर्मो से सर्वथा भिन्न हो तो "मैं जानता हुँ", "मैं देखता हुँ" "मैं ज्ञाता हुँ" "मैं द्रष्टा हुँ", "मैं सुखी हुँ" "मैं दुःखी हुँ" इत्यादि ज्ञानादि धर्म और जीव के बीच के अभेद का प्रतिभास नहीं होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं है। दोनों के बीच के अभेद का प्रतिभास होता ही है । इसलिए ही "मैं जानता हुँ" ऐसे प्रकार का व्यपदेश जीव करता हैं और उसको सर्वजन यथार्थ भी मानते हैं । इसलिए दोनों कथंचित् अभिन्न हैं । यदि आत्मा ज्ञानादि धर्मो से सर्वथा अभिन्न हो तो "यह धर्मी और ये धर्म" ऐसे प्रकार की भेदबुद्धि नहीं हो सकेगी । परन्तु भेदबुद्धि तो होती ही हैं । इसलिए दोनों कथंचित् भिन्न

109. यस्य संक्लेशजननो रागो नास्त्येव सर्वदा । न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शमेन्धनदवानलः ।।१।। न च मोहोऽपि सज्ज्ञानच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत्। त्रिलोकख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते ।।२।। यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः । क्लिष्टकर्मकलातीतः सर्वथा निष्कलस्तथा । यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्वयोगिनाम् । यः स्रष्टा सर्वनीतिनां महादेवः स उच्यते ।।४।।
110. जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमाश्रवसंवरौ । बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते ।।४७।। **(षड्. समु.)** । 111. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा । वीरियं उवओगो य एअं जीवस्स लक्खणं ।।५।। **(नवतत्त्व प्रकरण)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हैं । इसके द्वारा धर्म-धर्मी को एकांत से भिन्न माननेवाले वैशेषिक मत का और दोनों को एकांत से अभिन्न माननेवाले बौद्ध मत का खंडन होता हैं ।

आत्मा विवृत्तिमान् हैं । देव, मनुष्य इत्यादि विविध पर्यायो का अनुसरण करना उसे विवृत्ति कहा जाता है । ऐसा विवृत्तिमान् आत्मा हैं । इसके द्वारा भवांतरगामी आत्मा का निषेध करते चार्वाक मत का और जो आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते है, उनके मत का खंडन होता है । **आत्मा शुभाशुभ कर्मो का कर्ता और कर्मो के फलो का भोक्ता भी हैं ।** इसके द्वारा आत्मा को अकर्ता और उपचार से भोक्ता माननेवाले सांख्यदर्शन का खंडन होता हैं । **आत्मा चैतन्य स्वरूप वाला है ।** संसारी अवस्था में वह पूर्णतः व्यक्त अवस्था में नहीं होता है । कर्म के आवरणो के कारण जीव का चैतन्य स्वरूप ढका हुआ हैं । रत्नत्रयी की साधना द्वारा सभी आवरण नष्ट होते है तब आत्मा का शुद्ध चैतन्य स्वरूप पूर्णतः प्रकट होता हैं और आत्मा की मुक्ति होती है । मोक्षावस्था में भी चैतन्य होता ही है । चैतन्य उ बोध (ज्ञान) । इससे आत्मा को ज्ञानशून्य माननेवाले मत का निराकरण होता हैं ।

आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का विरोध करनेवाले चार्वाक की युक्तियों का खंडन करके आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की सिद्धि प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक ४८-४९ की टीका में की गई है । टीका में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि तमाम प्रमाणो से आत्मा की सिद्धि की गई हैं । आत्मा की कूटस्थ नित्यता भी संगत नहीं होती है । उसकी विचारणा भी टीका में की गई है । आत्मा कर्मों का कर्ता और उसके फलो का भोक्ता है, इस हकीकत को भी टीका में सुंदर प्रकार से स्पष्ट की गई है। यदि आत्मा को कर्ता-भोक्ता माना न जाये तो "कृतनाश" और "अकृताभ्यागम" दो दोष आते है ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति भी सचेतन हैं । क्योंकि पूर्वोक्त लक्षण उनमें भी दिखाई देते ही है । अनेक युक्तियों और व्यवहार के उदाहरणो द्वारा विस्तार से पृथ्वी आदि में सचेतनता की सिद्धि टीका में की गई हैं । वैसे तो चींटी, भंवरा आदि दोइन्द्रियादि जीवो में सचेतनता मानने में किसी को विवाद नहीं है । फिर भी कुछ लोगो के विरोध का परिहार करने के लिए उन जीवो की सचेतनता की सिद्धि भी युक्तिपुरस्सर टीका में की गई हैं।

(२) अजीव : जिसमें चैतन्य न हो उसे अजीव कहा जाता है। **अजीव के पांच प्रकार है । (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय ।**

जीव और अजीव इन दो ही तत्त्वो में जगत के सभी पदार्थो का अंतर्भाव हो जाता है । गति में स्वयं परिणत पुद्गल और जीव को गति करने में जो सहायक बनता हैं, उसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है । (यहाँ अस्ति उ प्रदेश और काय उ समूह अर्थात् जिसको प्रदेशो का समूह हो उसे अस्तिकाय कहा जाता हैं ।) धर्मास्तिकाय असंख्यप्रदेशवाला हैं । (प्रदेश उ जिसका विभाग न हो सके ऐसे निर्विभाज्य खंड।) वह धर्मास्तिकाय लोकाकाश में व्याप्त, नित्य, अवस्थित और अरुपी (अमूर्त) हैं ।

अधर्मास्तिकाय स्थिति (स्थिर रहने में - खडे रहने में) परिणत पुद्गल और जीव को सहायक बनता हैं। वह भी लोकाकाशव्यापी, नित्य, अवस्थित और अरुपी हैं । **आकाश लोकालोकव्यापी, अनंत प्रदेशी, नित्य, अवस्थित, अरुपी, अस्तिकाय तथा जीव और पुद्गलादि द्रव्यो को अवगाहना देने में उपकारक हैं ।** कुछ आचार्य काल को स्वतंत्र द्रव्य मानते नहीं हैं । परन्तु धर्मास्तिकाय इत्यादि द्रव्यो का पर्याय स्वरूप मानते हैं । कुछ आचार्य काल को स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं, उनके मतानुसार षड्द्रव्यात्मक लोक हैं । **जीव और पांच अजीव, इन छः द्रव्यो में से एकमेव आकाश ही जहाँ है, उसे अलोक कहा जाता है ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पर्श, गंध, रस, वर्णवाले पुद्‌गल होते हैं ।[११२] (जिसका पूरण और गलन का स्वभाव है, उसे पुद्‌गल कहा जाता हैं।) **स्पर्श के आठ प्रकार हैं :** मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष । **रसके पांच प्रकार हैं :** तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर ! **गंध दो प्रकार ही है :** सुरभि और असुरभि । **वर्ण पांच हैं :** काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत ।

शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अंधकार, काया, आतप, उद्योत, ये सर्व पुद्‌गल के ही पर्याय (परिणाम) हैं ।[११३] **पुद्‌गल दो प्रकार हैं ।** (१) परमाणु स्वरूप और (२) स्कंध स्वरूप का (परमाणु कारण ही हैं। अर्थात् वह कार्यरूप नहीं।) वह स्कन्धो को उत्पन्न करने का कारण ही हैं । वह किसी से उत्पन्न नहीं होता हैं । उससे छोटा कोई द्रव्य न होने से वह अन्त्य हैं। वह सूक्ष्म और नित्य है । उसमें एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते है । वह स्कंधरुप लिंगो से अनुमेय हैं, प्रत्यक्ष नहीं हैं।[११४] **द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से परमाणु नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नीलादि आकारो के द्वारा वह अनित्य हैं ।** द्व्यणुकादि से यावत् अनंत परमाणुवाले द्रव्य **स्कन्ध** कहे जाते हैं । स्कन्ध परमाणुओं के संघात स्वरूप हैं । प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक ४८-४९ की टीका में छः द्रव्यो की विस्तार से सिद्धि की गई हैं । **तथा अंधकार - शब्दादि की भी पुद्‌गल द्रव्य के रुप में युक्तिपूर्वक सिद्धि की हैं ।**

(३-८) पुण्य-पाप : प्रशस्त कर्म के पुद्‌गलो और उसके कारणभूत प्रशस्त क्रिया को **पुण्य** कहा जाता हैं । तीर्थंकर, चक्रवर्ती, स्वर्ग इत्यादि प्रशस्त पदों तक पहुँचानेवाला कर्म पुद्‌गल **पुण्य** कहा जाता है । पुण्य से विपरीत अप्रशस्त पुद्‌गल कर्म को और उसके कारणभूत अप्रशस्त क्रिया को **पाप** कहा जाता हैं । जो लोग पुण्य-पाप कर्म को नहीं मानते हैं उनके मत का खंडन करके पुण्य-पाप की सिद्धि श्लोक-५० की टीका में की गई हैं । संसार में जो विषमतायें दिखाई देती है वह कर्म के कारण ही हैं ।

(५) आश्रव : जिससे आत्मा में कर्म आते हैं, उसे आश्रव कहा जाता है । मिथ्यात्वादि जो कर्मबंध के कारण हैं, उसको ही जैनशासन में आश्रव कहा जाता हैं । विपरीत दर्शन कराये उसे **मिथ्यात्व** कहा जाता है । सुदेव नहीं है उसमें सुदेव की, सुगुरु नहीं है उसमें सुगुरु की और सुधर्म नहीं है उसमें सुधर्म की बुद्धि कराये उसे **मिथ्यात्व** कहा जाता हैं। हिंसादि पापो से विराम न पाने दे उसे **अविरति** कही जाती हैं । जिससे संसार का लाभ हो उसे **कषाय** कहा जाता हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे **चार कषाय** है । आत्मभिन्न पदार्थो में प्रकर्ष से व्यथित कर दे उसे **प्रमाद** कहा जाता हैं । मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये **पाँच प्रकार के प्रमाद** है । मन-वचन-काया के व्यापार को **योग** कहा जाता है । मिथ्यात्वादि पांच कर्मबंध के कारण माने गये है । आश्रव के ४२ प्रकार हैं । वे 'जैनदर्शन का विशेषार्थ' नाम के परिशिष्ट में से जान लेना ।

(६) संवर : आश्रव के निरोध को **संवर** कहा जाता हैं । **संवर के दो प्रकार है ।** (१) देशसंवर और (२) सर्वसंवर। आत्मा में कर्मो का आगमन जो मिथ्यात्वादि मलिन परिणामो से होता है, उस परिणामो का निरोध करना उसे संवर कहा जाता है । बादर - सूक्ष्म मन - वचन - काया के व्यापार स्वरूप योग का निरोध काल में सर्वसंवर होता हैं । संवर के ५७ प्रकार है । वे भी 'जैनदर्शन का विशेषार्थ' नाम के परिशिष्ट से जान लेना ।

(७) बंध : दूध और पानी की तरह जीव और कर्म का एकरूप हो जाना-दोनों का परस्पर अनुप्रवेश स्वरूप संबंध होना उसे **बंध** कहा जाता है । वह बंध प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का हैं । तथा बंध प्रकृति, स्थिति, रस

112. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्‌गलाः **(तत्वार्थाधिगम. २/२३)** । 113. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमच्छायातपोद्योतवन्तश्च **(तत्त्वा. ५/२४)** । 114. कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च । **(तत्त्वार्थभाष्य-५/२५)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का हैं । जैनशासन के कर्म साहित्य में कर्म, कर्म के चार प्रकार, कर्म के मुख्य आठ भेद और एकसो अट्ठावन प्रभेद, आठ करण आदि कर्म विषयक अनेक पदार्थो का प्रतिपादन हुआ हैं । जिज्ञासु वह कर्म विषयक साहित्य में से जान ले। कर्म के ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार और प्रकृति आदि चार प्रकार का वर्णन 'जैनदर्शन का कर्मवाद' नामक परिशिष्ट में देखें ।

(८) निर्जरा : आत्मा के उपर बंधे हुए कर्मो का दूर हो जाना उसे निर्जरा कही जाती है । **निर्जरा के दो प्रकार है। सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा ।** कर्मो का नाश करने की इच्छापूर्वक जो कष्ट सहन किये जाये और उससे जो कर्मो का नाश हो, उसे **सकाम निर्जरा** कही जाती है । कर्मनाश की ईच्छा के बिना आ गये शारीरिक-मानसिक कष्ट - दु:ख को सहन किया जाये और उससे कर्मो का जो नाश हो उसे अकाम निर्जरा कहा जाता हैं । निर्जरा के १२ प्रकार हैं। तप के जो १२ प्रकार हैं; वह निर्जरार्थ ही हैं। इसलिए निर्जरा के भी १२ प्रकार बताये है।

(९) मोक्ष : देहादि के आत्यन्तिक वियोग को मोक्ष कहा जाता है । कर्म और आत्मा के संयोग से देहादि संसार उत्पन्न हुआ हैं । कर्मो का संपूर्ण नाश होने से आत्मा के साथ जुडे हुए देहादि का भी आत्यंतिक नाश होता हैं, उसे मोक्ष कहा जाता है । मोक्ष का स्वरूप पहले बताया ही है । इसलिए यहाँ पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं लगती है ।

इस तरह से जैनदर्शन को मान्य नवतत्त्वो का स्वरूप देखा । जिनागमो तथा उसके आधार पर रचे गये प्रकरण ग्रंथों में जीवादि नव तत्त्वो का विस्तार से स्वरूप वर्णन किया गया हैं । पू.वाचक प्रवर श्री उमास्वातिजी महाराजा द्वारा विरचित "तत्त्वार्थाधिगम सूत्र" ग्रंथ जैन दर्शन का आकर ग्रंथ हैं । उसमें नव तत्त्वो का विस्तार से स्वरूप बताया है । प्रस्तुत ग्रंथ के भाग-२ में परिशिष्ट में भी नवतत्त्व विषयक विशेषार्थ संगृहीत किया है ।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, तत्त्वार्थ सूत्रकार ने पुण्य और पाप तत्त्व का आश्रव में अन्तर्भाव करके सात तत्त्व बताये हैं।[११५] यद्यपि संक्षेप करके जगत के तमाम पदार्थो का अन्तर्भाव जीव और अजीव, ऐसे दो तत्त्वो में भी हो जाता है। आश्रव, बंध, पुण्य और पाप ये चार कर्मपुद्गल के परिणाम विशेष होने से उनका अन्तर्भाव अजीव में होता हैं और संवर, निर्जरा और आत्मा - ये तीन आत्मा के परिणाम होने से उनका अन्तर्भाव "जीव" तत्त्व में होता है ।

प्रस्तुत ग्रंथ में सभी दर्शनो की मोक्षविषयक मान्यतायों की परीक्षा की गई है । श्लोक-५२ की टीका में संकलित हुए वह परीक्षा ग्रंथ मध्यस्थ सत्यार्थी जीव के लिए अवश्य अवलोकनीय है । उसके अवलोकन से अवश्य नूतन नवनीत की प्राप्ति होगी ।

दिगंबरो के द्वारा निषिद्ध **'स्त्री की मुक्ति'** का अनेक युक्तियों द्वारा व्यवस्थापन किया गया हैं । दिगंबरोने स्त्री मुक्ति के विरोध में जितने विकल्प खडे किये हैं, उसको टीकाकारश्री ने प्रबल युक्तियों द्वारा खंडित किये है ।

इन जीवादि नवतत्त्वो के उपर स्थिर आशयवाला अचल श्रद्धा रखता है - विश्वास करता है, उसमें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का सद्भाव होने से चारित्र की योग्यता होती हैं । तथा जो भव्यात्मा को तथाभव्यत्व के परिपाक से रत्नत्रयी प्राप्त होती है, वह भव्यात्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक् क्रिया के योग से मोक्ष प्राप्त करता है ।[११६]

योग्यता की दृष्टि से जीव दो प्रकार के है । भव्य और अभव्य । जिन में मोक्षगमन की योग्यता हो उसे भव्य कहा जाता है और जिन में मोक्षगमन की योग्यता नहीं है, उसे अभव्य कहा जाता हैं । जीवो का यह भव्यत्व और

115. जीवाजीवाश्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ।।१-४।। स आश्रवः । शुभः पुण्यस्य । अशुभः पापस्य ।।६।२-३-४।। **(तत्त्वा.सू.)**
116. षड्.समु.-५३-५४ ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभव्यत्व स्वभाव अनादि पारिणामिक भाव है । वह नया उत्पन्न नहीं हुआ हैं परन्तु अनादि काल से है । भव्य जीव ही रत्नत्रयी की साधना द्वारा सर्वकर्म का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करता हैं ।

प्रमाणमीमांसा :

जैनदर्शन के अनुसार से प्रमाण का सामान्य लक्षण है - **"स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।"**(११७) स्व-अपने (ज्ञान के) स्वरूप का और स्व से भिन्न परपदार्थ का यथावस्थित निश्चयात्मक ज्ञान जिससे होता है, उस स्व-पर व्यवसायि ज्ञान को **प्रमाण** कहा जाता है ।

श्लोक-५४ की टीका में प्रमाण के सामान्य लक्षण का निरूपण करके अन्य दर्शनो के प्रमाण सामान्य के लक्षण की परीक्षा की गई है । वह परीक्षा ग्रंथ "प्रमाण" के स्वरूप के विषय में विशेष प्रकाश डालता होने से जिज्ञासु वर्ग के लिए अवश्य आकर्षण का विषय बने ऐसा है । विशेष में, प्रमाणनयतत्त्वालोक ग्रंथ और उसकी टीका में और प्रमाणमीमांसा एवं स्याद्वादमंझरी ग्रंथ में विस्तार से प्रमाण सामान्य के लक्षण का विचार किया गया है ।

जैन मतानुसार प्रमाण के दो प्रकार है । प्रत्यक्ष और परोक्ष । प्रमाण का विषय अनंतधर्मात्मक वस्तु है। अन्य दर्शनो द्वारा परिकल्पित आगमादि अन्य प्रमाणो का इन दोनों में अन्तर्भाव हो जाता हैं । उसका विवेचन श्लोक-५४ की टीका में किया है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण : स्व (ज्ञान) और पर (पदार्थ) का निश्चय करनेवाले स्पष्ट (परनिरपेक्ष) ज्ञान को **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहा जाता है । उसके दो प्रकार है । (१) सांव्यवहारिक और (२) पारमार्थिक ।(११८) बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियाँ, प्रकाश आदि सामग्री से उत्पन्न होनेवाला हम जैसो का ज्ञान **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष** कहा जाता हैं । वह बाह्य इन्द्रियाँ आदि को सापेक्ष होने से **अपारमार्थिक** हैं । केवल आत्मा से उत्पन्न होता अवधिज्ञानादि **पारमार्थिक** प्रत्यक्ष कहा जाता हैं । इन दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष का (प्रभेद सहित) स्वरूप श्लोक-५५ की टीका में विस्तार से बताया हैं ।

परोक्ष प्रमाण : अविशद और अविसंवादि ज्ञान को **परोक्ष प्रमाण** कहा जाता है ।(११९) उसके पांच प्रकार है । (१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञा, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम ।

(पहले देखे - अनुभव किये हुए पदार्थ का) सस्कार के प्रबोध से उत्पन्न होनेवाला, अनुभूत अर्थ के विषयवाला "वह था" इत्यादि रूप से "वह" शब्द में जिसका वेदन होता है उसे **स्मरण (स्मृति)** कहा जाता हैं ।(१२०) अनुभव और स्मरण से उत्पन्न हुए संकलनात्मक ज्ञान को **प्रत्यभिज्ञान** कहा जाता हैं ।(१२१) उपलंभ या अनुपलंभ से उत्पन्न होनेवाले त्रिकाल विषयक सर्व साध्य-साधन के संबंध को विषय करनेवाले ज्ञान को **तर्क** कहा जाता हैं ।(१२२) साधन से उत्पन्न होते साध्य के ज्ञान को **अनुमान** कहा जाता हैं । **वह दो प्रकार का हैं** - स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।(१२३) हेतु के ग्रहण और संबंध (अविनाभाव) के स्मरण से होनेवाले साध्य के ज्ञान को **स्वार्थानुमान** कहा जाता हैं ।(१२४) निश्चित अन्यथा

117. प्रमाण न. तत्त्वा. १/२, जैनतर्क भाषा, प्रमाण मीमांसा । 118. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं स्पष्टं प्रत्यक्षम् । तद्‌द्विप्रकारं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च । **(षड्.समु. ५५ टीका)** । 119. अविशदमविसंवादिज्ञानं परोक्षम् । **(षड्.समु. ५५ टीका)** अस्पष्टं परोक्षम् ।। प्रमा.न.तत्त्वा-३-१।। वैशद्याभावविशिष्टं यत् प्रमाणं तत् परोक्षप्रमाणम् ।। **(प्र.न.त. ३/१ टीका)** । 120. तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं संवेदनं स्मरणम् । तत् तीर्थकरबिम्बमिति यथा ।। प्र.न.तत्त्वा. ३।३-४।। 121. अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् यथा तज्जातीय एवायं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादि ।। **प्र.न.तत्त्वा. ३/५-६**।। 122. उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनम् 'इदमस्मिन् सत्येव भवति' इत्याद्याकारं संवेदनम्, ऊहाऽपरनामा तर्कः ।। **प्र.न.त. ३-७**।। यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येव ।।३-८।। **(प्र.न.तत्त्वा.)** । 123. अनुमानं द्विप्रकारम्, स्वार्थं परार्थं च । 124. हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् ।।३-९/१०।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुपपत्ति - (अविनाभाव) रूप एकमेव लक्षणवाले पदार्थ को **हेतु** कहा जाता है।[१२५] इष्ट, अबाधित, असिद्ध लक्षणवाले पदार्थ को **साध्य** कहा जाता है ।[१२६] साध्य विशिष्ट प्रसिद्ध धर्मी को **पक्ष** कहा जाता है ।[१२७] पक्ष और हेतु का (दूसरो के ज्ञान के लिए) कथन करना उसे अर्थात् पक्ष और हेतु के कथन को सुनकर श्रोता को होते साध्य के ज्ञान को उपचार से **परार्थानुमान** कहा जाता है ।[१२८] (यद्यपि अनुमान के प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव हैं।) फिर भी मंदमतिवाले शिष्यो को समजाने के लिए दृष्टांत, उपनय और निगमन ये तीन अवयवो का भी प्रयोग किया जा सकता हैं ।[१२९] व्याप्ति के स्मरण के स्थान (महानस आदि) दृष्टात हैं । **दृष्टांत के दो प्रकार हैं** - अन्वय दृष्टांत और व्यतिरेक दृष्टांत । जहाँ साधन धर्म की सत्ता होने से साध्य धर्म की सत्ता अवश्य प्रकाशित की जाये, उसे **साधर्म्य (अन्वय) दृष्टांत** कहा जाता है और साध्य के अभाव में साधन का अभाव बताया जाये, वह **वैधर्म्य (व्यतिरेक) दृष्टांत हैं ।**[१३०] हेतु का पक्ष में पुनः उपसंहार करना उसे **उपनय** कहा जाता है और पक्ष में साध्य का पुनः निर्देश करना उसे **निगमन** कहा जाता हैं ।[१३१] जैन मतानुसार अन्यथा - अनुपपत्ति (उ अविनाभाव) रूप हेतु का एक ही स्वरूप मान्य है । **हेतु के पक्षधर्मता, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व ये तीन रूप अव्यभिचारी नही हैं । परन्तु व्यभिचारी हैं ।** इन सभी बातो की उदाहरण सहित स्पष्टता श्लोक-५५ की टीका में की गई हैं । आप्तपुरुष के वचनो से उत्पन्न हुए पदार्थ के ज्ञान को **आगम** कहा जाता हैं । इस तरह से परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं । (दोनो प्रमाण और उसके प्रभेद का श्रीवादिदेवसूरिजी रचित **'प्रमाण नय तत्त्वालोक'** में विस्तार से वर्णन किया गया है । उस ग्रंथ के उपर स्याद्वादरत्नाकर और रत्नाकरावतारिका नामकी दो बृहत् टीकाओं की रचना हुई है । उसमें विस्तार से प्रमाण विषयक सभी विचारणायें की गई हैं ।)

जैनदर्शन के महत्त्व के सिद्धांत :

(१) स्याद्वाद : "स्यात्" सहित बोलना उसे स्याद्वाद[१३२] कहा जाता हैं अर्थात् सर्वदर्शन को संमत वस्तु के सद्भूत अंशो का परस्पर सापेक्ष रूप से कथन करना उसे स्याद्वाद कहा जाता हैं। सत् - असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, अभिलाप्य-अनभिलाप्य इत्यादि धर्मो को सापेक्ष रुप से **"स्यात्"** पद से लांछित करके बोलना उसे स्याद्वाद कहा जाता है । सापेक्षवाद, विभज्यवाद या अनेकांतवाद स्याद्वाद के ही दूसरे नाम हैं ।

जैनदर्शन के मतानुसार प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक होती हैं । अनंतउत्रिकाल विषयक अपरिमित सहभावी और क्रमभावी स्व-पर पर्याय जिसमें होते है वह अनंतधर्मात्मक कही जाती हैं । अनंत धर्मात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय बनती हैं । (इस विषय को प्रस्तुत ग्रंथ के श्लोक-५५ की टीका में विस्तार से सोचा गया हैं ।)

सत्त्व-असत्त्वादि परस्पर विरुद्ध धर्मो को भी सापेक्ष रुप से एक वस्तु में रखकर सभी विरोधादि दोषो का परिहार करने का सामर्थ्य केवल स्याद्वाद सिद्धांत में ही हैं । सम्यक् अपेक्षा से वस्तु का बोध करना या प्रतिपादन करना उसे स्याद्वाद

125. निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो **हेतुः** ।।३-११।। न तु त्रिलक्षणकादिः ।।३-१२।। तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवात् ।।३-१३।। 126. अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं **साध्यम्** ।।३-१४।। 127. आनुमानिकप्रतिप्रत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ।।३-२०।। 128. पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थानुमानम्, उपचारात् ।।३-२३।। 129. मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनय - निगमनान्यपि प्रयोज्यानि ।।३-४२।। 130. प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं **दृष्टान्तः** ।।३-४३।। स द्वेधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च ।।३-४४।। यत्र साधनधर्मसत्तायामवश्यं साध्यधर्मसत्ता प्रकाशते स साधर्म्य दृष्टान्तः ।।३-४५।। यथा यत्र यत्र धूमस्त तत्र वह्निर्यथा महानसम् ।।३-४६।। यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः ।।३-४७।। **(प्र.न.तत्त्वा.)** 131. हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः । यथा धूमश्चात्र प्रदेशे ।।३-४९/५०।। साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् । यथा तस्मादग्निरत्र ।।३-५१/५२।। **(प्र.न.तत्त्वा.)** । 132. स्यात्कथंचित्सर्वदर्शनसंमतसद्भूतवस्त्वंशानां मिथः सापेक्षतया वदनं **स्याद्वादः** । सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषाभिलाप्यानभिलाप्योभयात्मानेकान्त इत्यर्थः । **(षड्.समु. १-टीका)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जाता हैं । स्याद्वाद शैली से संप्राप्त बोध कोई भी तर्क, युक्ति और प्रमाणो से बाधित नहीं होता हैं। उसका सुंदर वर्णन प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया हैं ? स्याद्वाद की दृष्टि सभी विरोधो का अंत लाकर समदृष्टि उजागर करने का कार्य करती हैं ।[१३३]

133. समदृष्टि से निरीक्षण करने से ज्ञानी पुरुषो को मालूम हुआ कि ढाल को दो बाजु होती है वैसे एक ही वस्तु को अनेक बाजु होने पर भी खुदने मानी हुई बाजु सच्ची और दूसरे ने मानी हुई बाजु गलत, इस तरह से एकांत आग्रह से लोग निरर्थक लड रहे है और दर्शनशास्त्र जो आत्मसाक्षात्कार का साधन है, वह आत्मसाक्षात्कार का साधन मिटकर परस्पर घोर लडाई का, द्वेष और बैर बढाने का साधन बन गये है । दूसरे के दृष्टिबिंदु में भी रहे हुए सत्यांश का स्वीकार करने जितनी मनुष्य में विवेकबुद्धि आ जाये तो झगडे का स्थान ही न रहे । इसलिए उन्होंने जगत को उपदेश दिया कि "दूसरो के दृष्टिबिंदु को समजना सीखो, एक वस्तु की घटमान अनेक बाजुओ की जांच करो, जितनी जिस प्रकार से हो सकती हो, उतनी उस तरह से स्वीकार करो, एकांत का आग्रह न रखो, अनेकांती बनो । अन्त शब्द का अर्थ धर्म होता है । **(अनेके बहवोऽन्ता अंशा धर्मा वा आत्मनः स्वरुपाणि यस्य तदनेकान्तात्मकम् । किं तत् ? वस्तु-न्यायावतारवृत्ति पृ. ६४)** । यदि वस्तु में अनेक अन्त-अनेक धर्म है तो एक ही अंत का - एक ही धर्म का आग्रह रखना यह मिथ्या है । कोई कहे कि, एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मो का अन्तर्भाव किस तरह से हो सकता है ? तो इसके उत्तर में बौद्धाचार्य श्री धर्मकीर्ति का वचन सुन्दर है कि -
"किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात् तस्या मतावपि । यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र का वयम् ।।" (प्रमाणवार्तिक २/२१०)
पदार्थो को ही यदि अनेकधर्मात्मकत्व - अनेकान्तात्मकत्व पसंद है, तो वह हमको पसंद न आये तो भी हम क्या कर सकते हैं ?

वस्तुतः यदि विचार करे तो जो विरोध दिखता है, वह वास्तविक विरोध नहीं है, परन्तु विरोधाभास है । पुत्रत्व और पितृत्व परस्पर विरुद्ध लगते है, परन्तु एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है और अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र हो उसमें विरोध जैसा है ही क्या ? (इसलिए ही आचार्यप्रवर श्रीमान् सिद्धसेन दिवाकरजीने कहा है कि - जिसके बिना लोकव्यवहार भी किसी तरह से चल नहीं सकता - वह जगत के गुरु समान अनेकांतवाद को नमस्कार - **जेण विणा लोगस्स विववहारो सव्वहा न निव्वहइ । तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स । (सन्मति-३/६९)** उसी तरह से मिट्टी का पिंड मिटकर जब घडा बनता है तब मिट्टी पिंडरूप से नाश होती है, घडे के रूप में उत्पन्न होती है और मिट्टी के रुप में सदैव रहती है । **इस प्रकार अपेक्षा भेद से उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता एक ही वस्तु में हो सकते हो तो उसमें दिक्कत जैसा है भी क्या ? यदि इस बात को स्वीकार की जाये तो वस्तु को सर्वथा अविनाशी माननेवाले वेदान्ती इत्यादि और सर्वथा विनाशी माननेवाले बौद्धो का झगडा अपने आप ही खत्म हो जाये** । उसी तरह से घडा है, यह जितना सच है, उतना ही घडा नहीं है, यह भी सच है । क्योंकि घडा घडे के रूप में हैं, परन्तु वस्त्ररूप में नहीं है। यदि वस्त्ररूप में नहीं है इस बात का स्वीकार किया न जाये तो वस्त्र की तरह घडे का पहनने में अंग ढकने में इस्तेमाल होना चाहिए, परन्तु होता नहीं है । अर्थात् घडा वस्त्ररूप में नहीं है, परन्तु घडे के रुप में ही है, यह बात माननी ही चाहिए । **अर्थात् वस्तु एक अपेक्षा से है भी सही और अन्य अपेक्षा से नहीं है भी सही । उसी तरह से सजातीय की अपेक्षा से सामान्य है और विजातीय की अपेक्षा से विशेष है** । यदि इस दृष्टि से वस्तुतत्त्व का विचार किया जाये तो दार्शनिक शास्त्रो में नित्यत्व-अनित्यत्व, सत्त्व-असत्त्व, सामान्यात्मकत्व-विशेषात्मकत्व इत्यादि के जो भयंकर विवाद दिखाई देते है वह अपने आप शांत हो जाये । **इतना ही नहीं, परन्तु जगत के सभी बैर-विरोध के जहर का निवारण करनेवाली यह अमृतमयी अनेकांतदृष्टि है । जैनदर्शन की नींव इस दृष्टि के उपर ही रची गई है और वह उसके संपूर्ण अहिंसा के सिद्धांत का अनुसरण करके ही रची गई है ।**

इसलिए मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि उनको जगत में चलते मुक्तिसंबंधी अनेक विचारो का अनेक मार्गो का निष्पक्षभाव से समदृष्टि से अध्ययन करके युक्तियुक्त लगते मार्ग के उपर अपनी निश्चित प्रतीति स्थापित करनी चाहिए । अनादिकालीन वासना से अतिप्रिय लगते सभी ऐहिक सुखो का त्याग करके जिस मुक्ति के मार्ग के उपर आगे बढना है उसमें अनिश्चित अथवा दोलायमान मनःस्थिति काम नहीं आती । **जैसे शारीरिक रोग निवारण के लिए रोग, रोग का कारण, आरोग्य तथा आरोग्य संपादक औषध का निश्चित ज्ञान जरूरी है, वैसे आध्यात्मिक रोगनिवारण के लिए दुःख, दुःख का कारण, दुःख में से छूटना-मोक्ष तथा मोक्ष के उपायभूत मोक्षमार्ग का निश्चित ज्ञान नितांत आवश्यक है ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"स्याद्‌वाद" सिद्धांत को सरलता से समजने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक-५५ की टीका अवलोकनीय है । इसमें सुवर्णघट का दृष्टांत लेकर द्रव्यतः आदि अनेक विकल्पो से वस्तु की अनंतधर्मात्मकता की सिद्धि की गई है । तदुपरांत अन्यदर्शनकार भी अपने सिद्धांतो की पुष्टी के लिए स्याद्वाद का आलंबन किस तरह से लेते है, वह दृष्टांत सहित बताया है ।

जैन दर्शन के इस सिद्धांत को समजने के लिए उसके स्तंभरूप नय, सप्तभंगी और निक्षेप, इन तीन विषय के स्वरूप को भी समजना अति आवश्यक हैं ।[१३४]

नयवाद :

जो अभिप्राय विशेष से शाब्दबोध में प्रतिभासित होती अनंतधर्मात्मक वस्तु के इतर अंश की उदासीनतापूर्वक स्वाभिप्रेत अंश का ज्ञान किया जाता है, उस अभिप्राय विशेष को नय[१३५] कहा जाता है । **अर्थात् अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक विवक्षित (स्वाभिप्रेत) अंश (धर्म) को बतानेवाले अभिप्राय विशेष - अध्यवसाय विशेष को नय कहा जाता हैं ।** सुनय स्वाभिप्रेत अंश-धर्म को बताते समय वस्तु के इतर अंशो का अपलाप नहीं करता हैं। जो अभिप्राय इतर अंशो का अपलाप करके एकांत से स्वाभिप्रेत अंश को (धर्म को) बताता है, उसे **दुर्नय** कहा जाता है । वस्तु अनंत धर्मात्मक होने के कारण वस्तु के अनंता धर्मविशेषो को बतानेवाले नय भी अनंत हैं । फिर भी जैनशास्त्रो में सामान्यतः उसे दो विभाग में बांटे गये हैं - **(१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिक नय । दोनो के आंतर्भेद सात हैं । (१) नैगमनय, (२) संग्रहनय, (३) व्यवहार नय, (४) ऋजुसूत्र नय, (५) शब्दनय, (६) समभिरूढ नय और (७) एवंभूत नय ।**

नय का स्वरूप, नय वाक्य - प्रमाण वाक्य के आकार, नय के भेद-प्रभेद और उसका स्वरूप, नयाभासो (दुर्नयो) का स्वरूप, नयो के न्यूनाधिक विषय, कौन से नय में से कौन से दर्शन की उत्पत्ति आदि नय के विषयो की विस्तृत और सूक्ष्म चर्चा जैनदर्शन के ग्रंथो में दिखाई देती है । **न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने तो नयविषयक नयरहस्य, नयोपदेश और नयप्रदीप जैसे स्वतंत्र ग्रंथो की रचना की हैं ।** पूर्वोक्त विषयो को समा लेता एक स्वतंत्र लेख तैयार करके प्रस्तुत ग्रंथ में **"जैनदर्शन का नयवाद"** परिशिष्ट के रूप में संकलित किया हैं ।

सप्तभंगी :

कोई भी एक वस्तु में एक-एक धर्म के विषय में प्रश्न करने के कारण विरोध के बिना अलग-अलग और समुदित विधि-निषेध की कल्पना द्वारा (विचारणा द्वारा) **"स्यात्"** शब्द से लांछित सात प्रकार का शब्द प्रयोग (होता है, उसे) **सप्तभंगी** कहा जाता हैं ।[१३६]

(१) स्यादस्ति, (२) स्यान्नास्ति, (३) स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च, (४) स्यादवक्तव्यम्, (५) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च, (६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च, (७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च : इस तरह से सात भांगे हैं । उसमें से

134. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः । सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयोपादेयविशेषकः ।। **(आप्तमीमांसा श्लो-१०४)** स च तिङ्गन्तप्रतिरुपको निपातः, तस्य अनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते ।। **(त.वा.पृ. ८१)** । त.श्लो. पृ. १३६) **(न्यायकुमु. पृ. ३)** । **(रत्नकराव. ४/१२)** । **(स्याद्वादमंजरी का. ५)** । 135. नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः, स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ।। **(प्र.न. तत्त्वा. ७/१)** 136. एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधि-निषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी ।।४-१४।। **(प्रमा.न.तत्त्वा.) (जैनतर्कभाषा-प्रमाण परिच्छेद)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ भांगे **सकलादेशी** है और कुछ **विकलादेशी** हैं । **"स्याद्वाद"** सिद्धांत के समर्थक इस वाद की विशेष माहिती स्वतंत्र लेख में संगृहित करके एक स्वतंत्र **"सप्तभंगीवाद"** नाम के परिशिष्ट में नयवाद की उत्तर में दिया गया हैं ।

निक्षेप योजन :

प्रकरण आदि द्वारा अप्रतिपत्ति आदि का निराकरण करके उचित स्थान में विनियोग करने के लिए शब्द के वाच्यार्थ के विषय में जो रचना विशेष होती है, उसे **निक्षेप** कहा जाता हैं ।[१३७]

उत्पन्न होनेवाले संदेह, भ्रम और अज्ञान का निराकरण हो जाये इसके लिए निक्षेपो की रचना की जाती है । निक्षेपो को जानकर प्रकरण आदि द्वारा श्रोता अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण कर लेता है और अन्य अर्थ का त्याग कर देता है । प्रकरण आदि को समझने में निक्षेप सहायता करता है । पारमार्थिक अर्थ को निक्षेप की सहायता से श्रोता जानकर उसका उचित स्थान पर विनियोग कर सकता है । **निक्षेप सामान्यतः चार प्रकार के है ।** (१) नाम निक्षेप, (२) स्थापना निक्षेप, (३) द्रव्य निक्षेप, (४) भावनिक्षेप ।[१३८] चारो निक्षेप का स्वरूप "निक्षेपयोजन" नाम के लेख में संकलित करके "सप्तभंगीवाद" के निरुपण के बाद में स्वतंत्र परिशिष्ट में दिया गया हैं ।

सत् की व्याख्या :

'सत्' के स्वरूप के विषय में दर्शनो में पर्याप्त मतभेद हैं । वेदांत दर्शन केवल "ब्रह्म" को ही सत् मानता हैं । बौद्धदर्शन "सत्" पदार्थ को निरन्वय क्षणिक मानता है । नैयायिक - वैशेषिक सत्ता के योग से वस्तु को "सत्" मानते हैं । सांख्यदर्शन चेतन तत्त्वरूप "सत्" पदार्थ (पुरुष) को कूटस्थ नित्य मानता है और अचेतन तत्त्वरूप "सत्" पदार्थ (प्रकृति) को परिणामी नित्य मानता हैं ।

जैनदर्शन उत्पत्ति, विनाश और स्थिति से युक्त द्रव्य को सत् मानता है ।[१३९] षड्द्रव्यात्मक लोक को (अर्थात् जगत के समस्त द्रव्यो को) जैनदर्शन उत्पादादि त्रयात्मक ही मानता है । कोई भी वस्तु द्रव्यरूप से स्थिर रहती है तथा पर्यायरूप से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है । जैसे कि, सुवर्ण का मुकुट नाश होकर हार के रूप में उत्पन्न होता है, तब सुवर्णद्रव्य तो स्थिर ही रहता हैं। परन्तु उसका मुकुटपन का पर्याय नष्ट होता है और हारपन का पर्याय उत्पन्न होता है । इस तरह से जगत के सर्व पदार्थ पर्यायरूप से उत्पन्न होते है और द्रव्यरूप से स्थिर रहते है और उसको ही वस्तु की परिणामी नित्यता कही जाती हैं। इस विषय की विस्तृत विचारणा प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक-५५ की टीका में की गई हैं।

(२) कर्मवाद : भारतीय तत्त्वचिंतन में कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं । जगत की विषमता के मूलभूत कारण के रुप में कर्म को माना जाता हैं । जैनदर्शन ने कर्म के सिद्धांत, भेद आदि का सुविस्तृत स्वरूपवर्णन किया हैं । यद्यपि, कर्मवाद की मान्यताओं को परिस्कृत करने में प्रत्येक दर्शनो ने अपने तरीके से पेशकश की है, तो भी जैनदर्शन में कर्मवाद का जो सुविकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है वह अलौकिक है और अन्यत्र अनुपलब्ध हैं। श्री जैनाचार्यो ने कर्म का स्वरूप, कर्म के भेद-आंतरभेद, कर्मबंध के हेतु, कर्मबंध में परिवर्तन, कर्म का उदय-उदीरणा-सत्ता और बंध आदि अनेक कर्मविषयक विषयो का सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध और सर्वांगपूर्ण निरुपण अपने ग्रंथो में किया हैं । जैनवाङ्मय में कर्मवाद के उपर अनके स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध हैं । (ग्रंथो की सुविस्तृति माहिती और कर्मवाद के भिन्न-भिन्न विषयो की मूलभूत

137. प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगशब्दार्थरचनाविशेषा निक्षेपाः ।। 138. स च सामान्यतश्चतुर्धा-नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदात् । **(जैनतर्कभाषा)** । 139. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । **(तत्त्वार्थ सूत्र-५/२९)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारणाओं को आंशिकरूप से संकलित करके विभिन्न परिशिष्ट में संगृहीत की गई हैं ।) यद्यपि, जैनदर्शन के कर्मवाद का संपूर्ण अभ्यास करना हो तो एक दशाब्दि भी कम हो ऐसा है । फिर भी उसकी विभावनाओं को संकलित करके यहाँ दी गई हैं । जिससे कर्म विषयक थोडा सा बोध वाचको को हो सके और जो सर्वांगीण अभ्यास की रुचि प्रकट करने में निमित्तभूत भी बन सके ऐसा है । **यहाँ याद रखना आवश्यक हैं कि,** कर्म से ही आत्मा की भवपरंपरा और उसमें से पैदा हुई दुःखपरंपरा अविरत रुप से चल रही हैं । इसलिए भवपरंपरा का अंत लाना हो उन्हें कर्म का स्वरूप, कर्मबंध के कारण, कर्मबंध की प्रक्रिया, कर्म का उदय और क्षय, कर्म के फल, कर्मो की स्थितियाँ, कर्मफल की तीव्रता-मंदता, कर्मबंध के चार प्रकार और उसके कारण, कर्म की विविध अवस्थायें और कर्म के नाश की प्रक्रिया आदि को जानना अति आवश्यक है । इसलिए ही ये आवश्यक बातों को संकलित करके परिशिष्ट में समाई गई हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, जगत में साक्षात् दिखाई देती विचित्रतायें - विषमताओं के कारणो की गवेषणा करते-करते अनेक विचारको ने अनेक वादो की प्रस्थापना की है । जिसमें नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, कर्मवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद और पुरुषवाद ऐसे अनेक वादो का अन्तर्भाव होता हैं । एकांत मान्यता में ढले हुए उन वादों से जगत वैचित्र्य का सत्य बोध नहीं होता है परन्तु बहोत विरोध खडे होते हैं, कोई भी एकांतवाद विरोधादि दोषो से मुक्त नहीं हैं। (नियतिवाद आदि वादो का आंशिक स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक-१ की टीका में प्रतिपादित किया गया हैं । विशेष स्वरूप उपासक दशांग, भगवती सूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र आदि जिनागम तथा पू.आ.भ. श्री हरिभद्रसूरिजी कृत शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रंथो में निरुपित किया गया हैं ।) **विरोधादि दोषो से सर्वथा रहित अनेकांतदृष्टि में जगत वैचित्र्य में कोई एक कारण नहीं हैं, परन्तु कुल मिला के पांच कारण हैं ।** (१) स्वभाव, (२) नियति, (३) काल, (४) कर्म और (५) पुरुषार्थ। जगत के कोई भी कार्य की निष्पत्ति इन पांच कारणो से होती हैं । पांच कारणो में से एक की भी अनुपस्थिति हो तो कार्य निष्पत्ति नहीं हो सकती हैं । कार्य के कारण के रुप में कोई एक को ही मानना वह मिथ्याधारणा हैं । क्योंकि, जगत में होती प्रतीति से वह विरुद्ध हैं। जगत में कार्य निष्पत्ति के प्रवाह में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता हैं कि, स्वभावादि पांचो कारणो के सद्भाव में कार्योत्पत्ति होती हैं । हाँ, ऐसा बन सकता हैं कि, उन पांच में से कोई कारण की मुख्यता हो और अन्य कारणो की गौणता हो । आत्मविकास की सीडी चढे हुए साधक को जो क्रम से गुणप्राप्ति और अंत में मोक्षप्राप्ति होती हैं, उसमें तत् तत् अवस्था में पांच में से एक कारण की मुख्यता और अन्य कारणो की गौणता होती हैं । इसलिए कोई भी कारण की अवहेलना हो सके ऐसा नहीं हैं । इसलिए ही पू.आ.भ. श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजीने सम्मतितर्क में कहा है कि,

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता । मिच्छत्तं ते चेव समासओ होंति सम्मत्तं ।।३-५३।।

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (कर्म) और पुरुषरूप कारण के बारे में एकांतवाद मिथ्यात्वरूप है और वही वाद समास से अर्थात् परस्पर सापेक्षरुप से एकट्ठे होने से सम्यक्त्व बनता हैं ।

इसी विषय की शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रंथो में विस्तृत विचारणा की गई हैं और चर्चा के अंत में कहा गया है कि, कोई भी कार्य मात्र एक कारण से उत्पन्न नहीं होता है; परन्तु कारणसामग्री के बल से उत्पन्न होता हैं ।[१४०]

(३) शरीरपरिमाणवाद :

जैनदर्शन के मतानुसार आत्मा विभु (सर्वव्यापक) नहीं है या अणु भी नहीं है । आत्मा शरीरपरिमाणी है । संसारी

140. अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम् । गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः ।। न चैकैकत एवेह क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते। तस्मात्सर्वस्य कार्यस्य सामग्रीजनिका मता ।। **(शास्त्रवार्ता समु. २/७९-८०)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्था में कर्मयोग से प्राप्त हुए शरीर में व्याप्त बनकर ही रहता हैं और मोक्षावस्था में भी अंतिम भव में जो शरीर हो उस शरीर के तीसरे भाग प्रमाण अवगाहना में आत्मप्रदेशो को व्यापकर रहता हैं । (मोक्षावस्था में शरीर तो नष्ट होता है, परन्तु अंतिम भव में प्राप्त शरीर के तीसरे भाग प्रमाण आत्मप्रदेश में व्याप्त होकर रहता है ।) इसलिए आत्मा शरीरपरिमाणी हैं। विभुवाद - अणुवाद की समीक्षा रत्नाकरावतारिका आदि जैन दार्शनिक ग्रंथो में विस्तार से की गई हैं । जिज्ञासुओं को वहाँ से देख लेने का सूचन हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, जैनदर्शन ने जगत में प्रवर्तित सभी वादो की परीक्षा - समीक्षा अपने आगमिक और दार्शनिक ग्रंथो में विस्तार से पर्याप्त युक्ति-प्रयुक्तियों से की है और प्रत्येक वादो में अनेकांत दृष्टिसे समन्वय करने का प्रयत्न किया है । जैनदर्शन का स्पष्ट संदेश है कि, **"जहाँ एकांत हैं वहाँ विरोधादि अनेक दोषो की प्रसक्ति है और जहाँ अनेकांत है, वहाँ एक भी दोष का संभव नहीं हैं ।"** इस संदेश को युक्ति, तर्क और प्रमाण के आधारपूर्वक जगत में बहता किया है । निराग्रह बनकर उसको निहारा जायेगा तो नवीन तत्त्व की प्राप्ति होगी और पदार्थो का सच्चा बोध होगा, उसमें शंका को कोई स्थान नहीं हैं । विस्तार भय से यहाँ रुकते हैं । सत्यार्थी जिज्ञासुओं को ग्रंथकलाप का अवगाहन करने का सूचन हैं । **यहाँ याद रखे कि, तत्त्व विषयक अध्ययन केवल कोरी विद्वत्ता पाने के लिए, हल्का होने के लिए, मान को पोषण देने के लिए, नया जानने का शौक पूरा करने के लिए इत्यादि इहलौकिक प्रयोजनो को सिद्ध करने के लिए नहीं हैं । परन्तु सत्य की गवेषणा करके सत्यपथ के उपर चलके भवसागर से पार उतरने के लिए हैं।**

जैनदर्शन के ग्रंथ-ग्रंथकार :

प्रभु महावीर स्वामि के मुख्य शिष्य श्री गणधर भगवंतो ने द्वादशांगी (बारह अंग) की रचना की थी, उसे जैनदर्शन के आकर ग्रंथ कह सकते हैं । उसमें जगत के समस्त पदार्थो का निरूपण हुआ हैं । काल के प्रभाव से श्रुत विच्छेद होता गया । पहले ८४ आगम ग्रंथ थे । हाल में उनमें से ४५ आगमग्रंथ उपलब्ध है । **"जैनदर्शन का ग्रंथकलाप" नाम के परिशिष्ट में उसके बारे में जानकारी दी गई है ।** अन्य जैनाचार्यो के ग्रंथो की जानकारी भी उसी परिशिष्ट में दी गई है । यहाँ केवल आंशिक माहिती (जानकारी) बताई गई हैं ।

जैनदर्शन के ग्रंथ पहले बताये अनुसार चार प्रकार के अनुयोग में बुने हुए हैं । एक-एक अनुयोग के स्वतंत्र ग्रंथ भी रचे गये हैं । जैनदर्शन में ४५ आगम का अनुसरण करके रचे गये ग्रंथ **"प्रकरण ग्रंथ"** के रूप से पहचाने जाते है । सैंकडो प्रकरण ग्रंथो की रचना हुई हैं ।

पू. वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी महाराजाने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' (स्वोपज्ञ भाष्य सहित) आदि ग्रंथो की रचना की है । जैनदर्शन का वह आकर ग्रंथ है । उसमें जीवादि तत्त्वो का विस्तार से सुव्यवस्थित और सुसंबद्ध वर्णन किया जाता है। उसके उपर पू.श्री.सिद्धसेन गणिवर्य की विस्तृत टीका भी हैं। वादी शिरोमणि पू.आ.भ.**श्री.वि.सिद्धसेनसूरीश्वरजी** महाराजा ने दर्शन प्रभावक **"सम्मति तर्क"** नाम के दार्शनिक महान ग्रंथ की रचना करके जैनदर्शन के स्याद्वाद - सिद्धांत की समुचित प्रस्थापना की है । उससे अतिरिक्त उन्हों ने अनेक ग्रंथो की रचना की हैं । सिद्धांती के रूप में प्रसिद्ध **श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी** ने **"विशेषावश्यक भाष्य"** नाम के एक महान ग्रंथ की रचना की हैं । ३६०३ श्लोक प्रमाण उस ग्रंथ के ऊपर २८००० श्लोक प्रमाण बृहद्वृत्ति की रचना मलधारी पू.आ.भ. **श्री हेमचन्द्रसूरिजी** ने की हैं । इस ग्रंथ में पांच ज्ञान, गणधरवाद आदि अनेक पदार्थो की विस्तार से विचारणा की गई हैं । पू.आ.भ.**श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजाने **१४४४** ग्रंथो की रचना की थी, उसमें से हाल में **७०** ग्रंथ उपलब्ध होते है। उसकी जानकारी पूर्वनिर्दिष्ट

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट में दी गई हैं । पू.आ.भ. **श्री वादिदेवसूरिजी** ने **"प्रमाणनयतत्त्वालोक"** नाम के दर्शनिक ग्रंथ की रचना की हैं। उसमें प्रमाण, नय और सप्तभंगी की विस्तृत विचारणा की गई हैं । काशीस्थ पंडितो के द्वारा न्यायाचार्य-न्यायविशारद पदवी से विभूषित महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी महाराजा** ने अनेक ग्रंथो की रचना की थी । उसमें से हाल में ६० ग्रंथ उपलब्ध होते हैं । उसकी सूचि तथा विषय निदर्शन परिशिष्ट में देखना। प्रस्तु ग्रंथकार के टीकाकार तार्किकरत्न **श्री गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराजा ने भी षड्दर्शन-समुच्चय की बृहद् वृत्ति आदि अनेक ग्रंथो की रचना की है, उसकी नोंध भूमिका में आगे ही बतायेंगे ।

जैनदर्शन में **'नवांगी टीकाकार'** के रूप में प्रसिद्ध पू.आ.भ.**श्री अभयदेवसूरीश्वरजी** महाराजा ने आगम ग्रंथो के उपर विस्तृत टीकाओं की रचना की हैं।

चौदह पूर्वधर महर्षि **श्री भद्रबाहुस्वामी** ने अनेक आगम ग्रंथो के उपर **निर्युक्तियों** की रचना की हैं। उसी तरह से अन्य **पू. जैनाचार्यो** ने आगम ग्रंथो के उपर **चूर्णि, अवचूरि, भाष्य** और **टीकाओं** की रचना की है । उसके विषय में प्राप्त जानकारी परिशिष्ट में दी गई हैं । उसके सिवा भी पूज्य जैनाचार्यो ने अनेक प्रकरण ग्रंथो की रचना की हैं । उसकी संख्या हजारो से अधिक हैं । उन सभी के नाम और विषय यहाँ संगृहीत करना संभव नहीं हैं । फिर भी परिशिष्ट में शक्यांश से ज्यादा प्रसिद्ध ग्रंथो की सूची देने का प्रयत्न किया हैं ।

वाराणसी स्थित "पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान (जैनाश्रम) हिन्दु युनिवर्सिटी" द्वारा प्रकाशित "जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १ से ६" **में जैनदर्शन के ग्रंथो की विस्तृत माहिती दी गई है । वे ग्रंथ हिन्दी भाषा में ही हैं । तदुपरांत गुर्जर भाषा में हीरालाल रसिकदास कापडिया रचित** "जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग १ से ३" **में भी जैनदर्शन के संस्कृत साहित्य का विस्तृत मार्गदर्शन उपलब्ध हैं ।**

श्री जैनाचार्यो ने ध्यान, अध्यात्म, योग, कथा, काव्य, न्याय, कोश, व्याकरण, नाटक और गणित आदि विषयो के उपर भी अपनी कलम चलाई है और विपुल साहित्य का सर्जन किया है ।

अन्य कोई भी दर्शन में अनुपलब्ध ऐसे कर्म विषयक साहित्य की विपुल प्रमाण में रचना जैनदर्शन में हुई है । उसके सामने आज पर्यन्त किसी ने विरोध नहीं बताया हैं । इतना ही नहीं, उस साहित्य को आदरदृष्टि से देखा जाता हैं । कर्मविषयक ग्रंथ श्वेतांबर और दिगंबर दोनों संप्रदाय के उपलब्ध होते हैं, उसकी विषय सूची परिशिष्ट में दी गई हैं ।

जैनदर्शन के दार्शनिक ग्रंथ :

दर्शन प्रभावक ग्रंथ के रुप में जिसकी गणना होती है वह **"सम्मति तर्क"** ग्रंथ की रचना पू.आ.भ.**श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरीश्वरजी** महाराजा ने की हैं। उसके उपर पू.आ.भ.**श्री अभयदेवसूरिजी** ने विस्तृत टीका की रचना की हैं । टीका में अनेक वादो का परामर्श हुआ है । दार्शनिक जगत में विवादास्पद लगभग सभी विषयो की परीक्षा की गई हैं और स्याद्वाद शैली से पदार्थो का यथार्थ प्रतिपादन किया गया है । दार्शनिक अभिगमो का सापेक्षभाव से समन्वय करके पदार्थ के सर्वांगीण स्वरूप को स्पष्ट किया गया हैं ।

पू.आ.भ.**श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी** महाराजा ने **"षड्दर्शन समुच्चय"** और **"शास्त्रवार्ता समुच्चय"** ये दो महत्व के दार्शनिक ग्रंथो की रचना की हैं । **षड्दर्शन समुच्चय** के उपर पू.आ.भ.**श्री गुणरत्नसूरिज** कृत **'बृहद्वृत्ति'** और पू.आ.भ.**श्री सोमतिलकसूरिजी** कृत **'लघुवृत्ति'** उपलब्ध हैं । **"शास्त्रवार्त्ता समुच्चय"** ग्रंथ के उपर पू. **महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा** ने **"स्याद्वाद कल्पलता"** नामकी नव्यन्यायगर्भित विस्तृत टीका की रचना करके अनेक वादो की समीक्षा की है । उसके उपर न्यायाचार्य श्री बदरीनाथ शुक्लने हिन्दी व्याख्या रची है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलिकाल सर्वज्ञ पू.आ.भ. **श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** ने वीतराग स्तोत्र नामके ग्रंथ में आठवें प्रकाश में जैनदर्शन के **स्याद्वाद सिद्धांत की** प्रस्थापना की है । उसके उपर न्यायाचार्य **श्री यशोविजयजी** महाराजाने **"स्याद्वाद रहस्य"** नामके महान दार्शनिक ग्रंथ की रचना की है । पू.आ.भी.**श्री वादिदेवसूरिजी** ने **"प्रमाणनयतत्त्वालोक"** ग्रंथ की रचना की है, उसके उपर **"रत्नाकरावतारिका"** नामकी बृहद्वृत्ति की रचना हुई हैं । न्यायाचार्य **श्री यशोविजयजी** महाराजाने **वादमाला १-२-३, न्यायालोक, अनेकांत प्रवेशक** आदि अनेक दार्शनिक ग्रंथो की रचना की हैं, उसकी विषयसूची परिशिष्ट में संग्रहित की गई है। स्याद्वाद मंजरी, जैनतर्कभाषा, प्रमाण मीमांसा, न्यायावतारसूत्र-वार्तिक, श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी कृत द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, श्री हरिभद्रसूरिजी कृत श्री अनेकांत जयपताका आदि अनेक दार्शनिक ग्रंथ जैनदर्शन के "स्याद्वाद" सिद्धांत की प्रस्थापना करने में अपना अनूठा स्थान रखते हैं ।

जैनदर्शन के साहित्य के विषय में विशेष विचारणा परिशिष्ट विभाग के उपर छोडकर अब प्रस्तुत ग्रंथ के क्रमानुसार वैशेषिक दर्शन के देवतादि विषयो के परिचय प्राप्त करेंगे ।

वैशेषिक दर्शन :

श्री कणाद ऋषि प्रणीत दर्शन वैशेषिक दर्शन है । यह नाम विशेष शब्द उपर से निष्पन्न हुआ है। भिन्न भिन्न ग्रंथकार **'विशेष'** शब्द के अलग-अलग अर्थ बताकर "वैशेषिक" नाम का अर्थघटन भिन्न-भिन्न तरीके से करते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में कहा हैं कि, विशेष अर्थात् वैशेषिक दर्शन ने स्वीकार किया हुआ "विशेष" नामका स्वतंत्र पदार्थ। वह विशेष नाम के स्वतंत्र पदार्थ को मानते हैं इसलिए उसका नाम वैशेषिक पडा हैं । अन्य ग्रंथकारों के अभिप्राय टिप्पणी में दिये हैं ।[१४१]

देवता : वैशेषिक दर्शन नैयायिको की तरह ही ईश्वर को जगत के कर्ता, भर्ता, हन्ता, एक और नित्य मानता हैं ।[१४२]

तत्त्वमीमांसा :

वैशेषिक दर्शन ने छः तत्त्वो का स्वीकार किया हैं । द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।[१४३]

(१) द्रव्य : जो गुणवत्, कर्मवत् और समवायि कारण (उपादान कारण) हो उसे द्रव्य कहा जाता हैं ।[१४४] द्रव्य नौ प्रकार के हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन । ये नौ द्रव्य कोई-न-कोई कार्य के समवायी कारण हैं तथा क्रिया और गुण से युक्त है । इन नौ द्रव्यो में से प्रथम चार के दो प्रकार हैं । मूल द्रव्य और कार्य द्रव्य। परमाणु मूल द्रव्य है और अवयवी वह कार्य द्रव्य हैं ।

वैशेषिको के मतानुसार अंधकार और छाया स्वतंत्र द्रव्य नहीं है । परन्तु तेजोद्रव्य के अभावरूप हैं । पृथ्वी कठोर होती हैं और मिट्टी, पाषाण, वनस्पति रूप से होती हैं । पानी सरोवर, समुद्र, नदी आदि स्वरूप से होता हैं । **अग्नि के चार प्रकार हैं** - भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज । पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के अनेक प्रकार दिखाई देते हैं । **आकाश** नित्य, एक, अमूर्त और विभु द्रव्य है । (विभु अर्थात् विश्व व्यापक), आकाश शब्दरूप लिंग द्वारा अनुमेय है।

---

141. नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या (विशेषाः), विशेषा एव वैशेषिकं विनयादिभ्यः स्वार्थे इकण् । तद् वैशेषिकं विदन्त्यधीयते वा तद्वेत्त्यधीत इत्यणि वैशेषिकाः । तेषामिदं वैशेषिकम् **(षड्.समु. ३ टीका)** विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्वनिश्चयः, तेन व्यवहरतीत्यर्थः । **(किरणावली)** द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायात्मकैः पदार्थविशेषैर्व्यवहरन्तीति वैशेषिकाः । **(धर्मोत्तरप्रदीप-पृ. २४०)** 142. देवताविषयो भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् । **(षड्.समु.श्लो-५९)** । 143. षड्.समु. ६० । 144. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् **(वै.सू. १-१-१५)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि शब्द आकाश का गुण हैं । काल और दिशा भी एक, नित्य, अमूर्त और विभुद्रव्य हैं । काल द्रव्य की सिद्धि प्रस्तुत ग्रंथ में अनुमान से की हैं । दिशा एक होने पर भी उपाधि के भेद से उसके दस प्रकार होते हैं । आत्मा नित्य, अमूर्त और विभु द्रव्य हैं । वैशेषिक मतानुसार आत्मा अनेक हैं । मन नित्य है, परमाणु रूप है और अनेक हैं । प्रत्येक शरीर में एक-एक मन रहता हैं ।(१४५)

(२) गुण : जो द्रव्याश्रित हो, गुणरहित हो, उपरांत संयोग और विभाग का कारण बनने में दूसरो की अपेक्षा रखता है वह गुण हैं ।(१४६) गुण पच्चीस हैं । रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग ।(१४७) ये तमाम गुणो का भेदसहित स्वरूप विस्तार से प्रस्तुत ग्रंथ के श्लोक ६२-६३ की टीका में दिया हैं ।

(३) कर्म : जो द्रव्याश्रित हो, गुणरहित हो और संयोग-विभाग का कारण बनने में दूसरो की अपेक्षा न रखता हो, उसे कर्म कहा जाता है ।(१४८) उसके पाँच प्रकार हैं । उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

(४) सामान्य : अनेक व्यक्तिओं में (वस्तुओं में) जो एकत्वबुद्धि होती हैं उसका कारण उन व्यक्तियों में रहा हुआ एक सामान्य हैं । सामान्य एक और नित्य हैं । **सामान्य के दो प्रकार हैं** - पर सामान्य और अपर सामान्य । **सत्ता** पर सामान्य हैं और **द्रव्यत्व** इत्यादि अपर सामान्य है ।(१४९)

"यह सत् है, यह सत् है" - ऐसे प्रकार के अनुगताकारक ज्ञान का जो कारण बनता है, उसे सत्ता (पर) सामान्य कहा जाता हैं । सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थो में ही रहती हैं । सत्ता सामान्य रूप ही है, विशेषरूप नहीं है । क्योंकि वह अनुगताकारक बुद्धि में ही कारण बनती है परन्तु व्यवच्छेदबुद्धि का कारण नहीं बनती है । जब कि, द्रव्यत्व अपर सामान्य है । द्रव्यत्व सामान्यरूप भी है और विशेषरूप भी है । क्योंकि वह नौ द्रव्यो में "यह द्रव्य है" ऐसी समानाकारक बुद्धि कराता है और सभी द्रव्यो को अन्य पदार्थो से व्यावृत्त भी करता है । सामान्य, विशेष और समवाय में सत्ता नहीं रहती हैं। क्योंकि, सत्ता जिसमें रहे उसमें समवाय संबंध से रहती है । सामान्यादि तीन और अभाव में सत्ता मानने से जो अनवस्थादि आपत्तियाँ आती है, उन आपत्तियों की स्पष्टता श्री उदयनाचार्य ने बताये हुए छः जाति बाधको की चर्चा करते हुए प्रस्तुत ग्रंथ के श्लोक ६५ की टीका में की हैं ।

(५) विशेष : नित्य द्रव्य में रहनेवाला अन्त्य 'विशेष' है । प्रत्येक परमाणुओं को, आत्माओं को और मनो को अपने-अपने विशेष होते हैं। **विशेष के आधार पर एक परमाणु का दूसरे परमाणु से, एक मुक्तात्मा का दूसरे मुक्तात्मा से और एक मन का दूसरे मन से भेद होता हैं ।**(१५०)

(६) समवाय : अयुतसिद्ध आधार - आधेयभूत पदार्थो के "यह इस में है" इत्याकारक प्रत्यय में कारणभूत संबंध **समवाय** कहा जाता हैं ।(१५१)

---

145. षड्दर्शन समुच्चय श्लोक-६१ **(टीका)** । 146. द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षं इति गुणलक्षणम् **(वै.सू. १-१- १)**। 147. षड्.समु. ६२-६३ । 148. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम् **(वै.सू. १-१-१७)** । 149. सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम् (प्रशस्तपादभाष्य-उद्देशप्रकरण) नित्यमेकमनेकानुगतम् **(तर्कसंग्रह)** । 150. अस्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यो विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकर्षे च परमाणौ च स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः। **(प्रशस्तपादभाष्य)** । 151. **षड्.समु. ६६** । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः स समवायः। **(प्रशस्तपादभाष्य)**।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभाव पदार्थ के विषय में स्पष्टता :

वैशेषिक सूत्र १-१-४ में छः ही पदार्थ बताये हैं और प्रशस्तपाद भाष्य में भी द्रव्यादि छः पदार्थो का निरूपण दिखाई देता हैं । अभाव का प्रतिपादन नहीं दिखाई देता है । जब कि, **"एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धा नैयायिकानामप्यविरुद्धाः"** ऐसा न्यायसिद्धांतमुक्तावली में कहा हैं । द्रव्यादि सात पदार्थ वैशेषिक दर्शन में प्रसिद्ध है, ऐसा कहकर वह दर्शन अभाव सहित सात पदार्थो को मानता हैं, ऐसा बताते हैं । इस तरह से परस्पर विसंगति आती हैं । तदुपरांत, नव्यन्याय के ग्रंथों में अभाव और उसके चार प्रकार का विस्तार से निरुपण हुआ दिखाई देता हैं। इसलिए "अभाव" नाम का पदार्थ वैशेषिको ने कब से स्वीकार किया यह प्रश्न उपस्थित होता हैं ।

हकीकत ऐसी हैं कि, वैशेषिक सूत्र, प्रशस्तपाद भाष्य और न्यायसूत्र, अभाव नामके पदार्थ के बारे में मौन धारण करते हैं। परन्तु उसके बाद हुए ग्रंथकारो ने कही कही अभाव नामके पदार्थ का स्वीकार किया है और दसवीं शाताब्दी में रचे गये श्री शिवादित्य कृत **"सप्तपदार्थी"** ग्रंथ में अभाव की पदार्थ के रूप में गणना की गई हैं । **न्यायभाष्यकार श्री उद्योतकर अभाव का बाह्य अस्तित्व स्वीकार करते है । वे कहते हैं कि, अभाव भी समवाय की तरह विशेषण - विशेष्य भाव सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष होता हैं ।**[१५२] **श्री वाचस्पतिमिश्र, श्री जयंत भट्ट और श्रीधरने अभाव को बाह्य अस्तित्व रखनेवाली वस्तु के रुप में सिद्ध करने के लिए अत्यंत पुरुषार्थ किया हैं । श्री गदाधर भट्टाचार्य विरचित व्यधिकरण प्रकरण आदि नव्य न्याय के ग्रंथो में तो अभाव और उसके चार भेदो का विशद निरूपण दिखाई देता हैं ।**

न्यायसिद्धांतमुक्तावली में अभाव के चार भेदो का वर्णन किया हैं । (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यंताभाव ।

मीमांसा दर्शनने भी अभाव और उसके चार भेद माने हैं । इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने दसवीं शताब्दी में अभाव नाम के पदार्थ को स्वीकार किया होगा और तब से उसके उपर विवेचन प्रारंभ हुआ होगा। यहाँ उल्लेखनीय है कि, प्रस्तुत ग्रंथ में प्रशस्तपाद भाष्य के आधार पर वैशेषिक दर्शन के छः पदार्थ ही बताये हैं ।

प्रमाणमीमांसा :

वैशेषिक दर्शन प्रमाण का सामान्य लक्षण **"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्"** मानते हैं । अव्यभिचारि आदि विशेषणो से विशिष्ट अर्थोपलब्धि की जनिका ज्ञानरूप या अचेतनरूप समग्र सामग्री या सामग्री का एक अंश साधकतम होने से प्रमाण है अथवा इस सामग्री की कार्यभूत यथोक्त विशेषण से विशिष्ट अर्थोपलब्धि ही प्रमाण का सामान्य लक्षण हैं ।[१५३]

वैशेषिको ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण ही माने है । प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं - (१) इन्द्रियज, (२) योगज । इन्द्रियज प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पक ऐसे दो प्रकार का हैं । योगज प्रत्यक्ष के भी दो प्रकार है - युक्तयोगियों का प्रत्यक्ष और वियुक्तयोगियों का प्रत्यक्ष ।

लिंग देखकर अव्यभिचारि आदि विशेषणो से युक्त ज्ञान हो उसे अनुमिति कहा जाता है । यह अनुमिति परामर्श आदि कारणसमुदाय से उत्पन्न होती है । अनुमिति के कारणसमुदाय को अनुमान कहा जाता है । अनुमान के अनेक प्रकार वैशेषिक सूत्र में बताये हैं ।[१५४] उसका स्वरूप श्लोक-६७ की टीका में से जान लेना ।

152. समवाये चाभावे च विशेषणाभावात् ।। **न्या.वा. १-१-४**।। 153. (षड्.समु. श्लोक-६७ टीका)। 154.अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम् ।। **(वै.सू. ९-२-१)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशेषिक दर्शन के महत्त्व के सिद्धांत :

(१) पीलुपाकवाद : वैशेषिक अवयवीरुप पार्थिव वस्तु में पाक न मानते हुए अवयवी के समवायिकारणरूप अन्त्य अवयव पार्थिव परमाणुओं में ही पाक मानते है । जब कि, नैयायिक अवयवी में ही पाक होता हैं, ऐसा मानते हैं, इसलिए वैशेषिको का **'पीलु (परमाणु) पाकवाद'** का और नैयायिको का **'पीठर (अवयवी) पाकवाद'** का सिद्धांत हैं । न्यायसिद्धांत मुक्तावली, व्योमवती, न्यायकंदली आदि ग्रंथों में दोनों वाद की विचारणा की गई हैं ।

(२) ईश्वरवाद : नैयायिको की तरह ही वैशेषिक ईश्वर को जगत्कर्ता मानते है । यद्यपि वैशेषिक सूत्रो में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख नहीं दिखाई देता है । उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिको का ईश्वर के विषय में महत्त्व का सिद्धांत है कि, परमाणुओं का आद्यकर्म (उगति) ईश्वरकारित है । **जब कि, श्रीकणाद तो कहते है कि, परमाणुओं का आद्य कर्म अदृष्टकारिका है।**[१५५] **तदुपरांत उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिको का सिद्धांत हैं कि वेद ईश्वकृत हैं । जब कि श्रीकणाद तो कहते हैं कि वेद के वाक्य बुद्धिमान पुरुषने लिखे हुए होने चाहिए ।**[१५६]

वैशेषिक - दर्शन के ग्रंथ - ग्रंथकार :[१५७]

श्री कणाद ऋषि ने **"वैशेषिक सूत्र"** नाम के ग्रंथ में द्रव्यादि पदार्थो का निरूपण किया है । वैशेषिक दर्शन का वह आद्यग्रंथ है । वह १० अध्यायो में विभक्त हैं । प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं ।

वैशेषिक सूत्रो के भाष्यकार के रुप में श्री आत्रेय की गणना होती हैं । जैन दार्शनिक ग्रंथों में उसका निर्देश किया हुआ दिखाई देता है । तदुपरांत, सांप्रदायिक ग्रंथों में अज्ञातकर्तृक वृत्तिओं में श्री आत्रेय की व्याख्या का अनेक स्थान पर उल्लेख उपलब्ध होता हैं । परन्तु उसका भाष्य हाल में उपलब्ध नहीं होता हैं । केवल ग्रंथो में से सूचन मिलता है । वैशेषिक सूत्रो के उपर विस्तृत **'रावण भाष्य'** भी था। हाल में वह उपलब्ध नहीं होता है । **श्री उदयनाचार्य** अपने **'किरणावली'** ग्रंथ में (प्रशस्तपाद भाष्य से भी) रावणभाष्य को विस्तृत बताते हैं ।

श्री प्रशस्तपाद का वैशेषिक सिद्धांतो का निरुपण करनेवाला **"पदार्थ धर्मसंग्रह"** ग्रंथ है । हाल में वह **"प्रशस्तपाद भाष्य"** के रूप में प्रसिद्ध हैं । यह ग्रंथ वैशेषिक दर्शन का प्रामाणिक और सर्वमान्य ग्रंथ हैं । उसमें विशेष से परमाणुवाद, जगत की उत्पत्ति तथा प्रलय, प्रमाण और गुणो का विस्तृत विवेचन किया गया हैं । प्रशस्तपाद भाष्य के आधार पर **श्री चन्द्र** नामके आचार्यने **"दस पदार्थी"** नामके ग्रंथ की रचना करके द्रव्यादि षट्पदार्थो से अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्य - विशेष तथा अभाव नाम के चार नवीन पदार्थ स्वीकृत किये हैं । प्रशस्तपाद भाष्य ग्रंथ वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तो का आकर ग्रंथ हैं । उस ग्रंथ के उपर अनेक आचार्यो की टीकायें उपलब्ध होती हैं । **श्री व्योमशिवाचार्य** रचित **"व्योमवती"** प्रशस्त भाष्य की सब से प्राचीन टीका है । श्री व्योमशिवाचार्यने वैशेषिको को मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से अतिरिक्त शब्द प्रमाण को भी स्वतंत्र प्रमाण के रूप में माना हैं ।[१५८] **श्री उदयनाचार्य ने** प्रशस्तपाद भाष्य के रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए **"किरणावली"** व्याख्या लिखी है । **श्रीधराचार्यने** भाष्य के उपर **"न्यायकंदली"** नामकी टीका रची है । न्यायकंदली टीका के उपर श्रीपद्मनाभ मिश्रकृत **"न्यायकंदलीसार"** और जैनाचार्य श्री राजशेखरसूरिजी कृत **"न्यायकंदलीपंजिका"** टीका है । भाष्य के उपर **श्री वत्सकृत "न्यायलीलावती"** टीका भी है । श्री वल्लभाचार्यने **"न्यायलीलावती ग्रंथ"** की रचना की थी, जो वैशेषिक सिद्धांतो का भंडार माना जाता

155. ...अणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् । **(वै.सू. ५-२-१३)** । 156. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे **(वै.सू. ६-१-१)** । 157. यह विभाग भारतीय दर्शन पुस्तक में से संकलित किया है ।। **(वै.सू.५-२-१३)** । 158. यद्यपि औलुक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि (तथापि श्रीधरमतापेक्षया अत्र उभे एव निगद्यते **(षड्.समु.लघुवृत्ति** पृ. ६३, चौखम्बा संस्करण) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। उसके उपर सात टीकायें रची गई है । उसमें श्री वर्धमान उपाध्याय कृत **"लीलावती प्रकाश"** और श्री पक्षधरमिश्रकृत **"न्यायलीलावती विवेक"** ये दो टीकायें प्राचीन और प्रामाणिक मानी जाती हैं ।

श्री पद्मनाभ मिश्र ने **"सेतु"** नामक ग्रंथ की रचना की थी, जो द्रव्य-ग्रंथ तक ही हाल में उपलब्ध होता है । **श्री शंकरमिश्र** ने **"कणाद रहस्य"** ग्रंथ की रचना की है, जो कोई ग्रंथ की टीका नहीं है परन्तु वैशेषिक सिद्धांतो का प्रतिपादक स्वतंत्र ग्रंथ है । प्रशस्तपाद भाष्य के उपर **"सुक्ति"** नाम की टीका **श्री जगदीशभट्टाचार्यने** रची थी, जो द्रव्यग्रंथ तक हाल में उपलब्ध होती हैं । **श्री मलिनाथसूरि** के **"भाषानिकष"** ग्रंथ का वैशेषिक साहित्य में उल्लेख होता दिखाई देता है । परन्तु हाल में वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है ।

श्री शिवादित्यमिश्र (१० वाँ शतक) का सुप्रसिद्ध ग्रंथ **"सप्त पदार्थी"** हैं । जिसमें वैशेषिक और नैयायिक सिद्धांतो का समन्वय किया गया है । वैशेषिक ग्रंथकारो की परंपरा में हुए श्री शंकर मिश्र ने (१) **उपस्कार** (कणादसूत्रो की टीका), (२) **कणाद रहस्य** (वैशेषिक सिद्धांतो का स्वतंत्र ग्रंथ), (३) **आमोद** (न्यायकुसुमांजली की) व्याख्या, (४) **कल्पलता** (-आत्मतत्त्वविवेक की टीका), (५) **आनंदवर्धन** (श्री हर्षकृत "खंडनखंडन खाद्य" की टीका), (६) **कंठाभरण** (न्यायलीलावती की व्याख्या), (७) **मयूख** (चिंतामणी की टीका), (८) **वादिविनोद** (वादविषयक मौलिक ग्रंथ), (९) **भेदरत्न प्रकाश** (न्याय-वैशेषिक के द्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन और श्री हर्ष के खंडन ग्रंथ का खंडन करनेवाला मौलिक ग्रंथ ।) रचे थे ।

श्री विश्वनाथ न्यायपंचानन के न्याय - वैशेषिक विषयक दो ग्रंथ हैं । **(१) भाषा परिच्छेद,** जिसमें १६८ कारिकाओं द्वारा वैशेषिक सिद्धांतो का प्रतिपादन किया गया हैं, **(२) न्यायसूत्रवृत्ति ।** जिसमें न्यायसूत्रो की सरल व्याख्या की गई हैं।

श्री विश्वनाथ न्याय पंचानने (अपने शिष्य राजीव के उपकार के लिए) **"न्यायसिद्धांतमुक्तावली"** ग्रंथ की रचना की थी। वर्तमान में तर्कसंग्रह के अनंतर इस ग्रंथ का अभ्यास होता है । इस ग्रंथ के उपर दिनकरी और रामरुद्री दो प्रसिद्ध टीकायें है ।

वैशेषिक परंपरा में हुए श्री अन्नंभट्टने "तर्कसंग्रह" नाम के ग्रंथ की रचना की थी, हाल में वह सर्वाधिक प्रसिद्ध है, उसके उपर न्यायबोधिनी, पदकृत्य, नीलकंठी, भास्कारोदया, सिद्धान्तचंद्रोदय, न्यायशेखरी इत्यादि अनेक टीकायें उपलब्ध हैं। वैशेषिक दर्शन का अल्प परिचय पाकर अब मीमांसक दर्शन का परिचय प्राप्त करेंगे ।

मीमांसक दर्शन :

वेद दो भाग में विभक्त है । कर्मकांड और ज्ञानकांड । कर्मकांड का विषय यज्ञ-यागादि की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन है । ज्ञानकांड का विषय जीव, जगत् और ईश्वर का स्वरूप तथा उनके परस्पर के संबंध का निरूपण है । आपाततः दिखाई देते विरोधो का परिहार करने के लिए मीमांसा की प्रवृत्ति होती हैं । **मीमांसा के दो प्रकार हैं । कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा ।** कर्म विषयक विरोधो का परिहार करे वह कर्ममीमांसा और ज्ञानविषयक विरोधो का परिहार करे वह ज्ञानमीमांसा । कर्ममीमांसा या पूर्वमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध दर्शन **"मीमांसक दर्शन"** कहा जाता है और ज्ञानमीमांसा या उत्तरमीमांसा के नाम से प्रख्यात दर्शन **"वेदांत दर्शन"** कहा जाता हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ में मीमांसक दर्शन का प्रतिपादन किया गया हैं । परन्तु वेदांत दर्शन का निरूपण नहीं किया गया है । इसलिए "षड्दर्शन समुच्चय" के हिन्दी विवेचन के प्रस्तावना के कुछ लेखक प्रस्तुत ग्रंथ के ग्रंथकारश्री के उपर आक्षेप करते हैं कि, "उन्होंने जैनदर्शन को छः दर्शनो के अंदर समाविष्ट करने के लिए वेदान्त दर्शन की कमी कर डाली है अर्थात् पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने जानबूझकर वेदान्त दर्शन की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपेक्षा की है ।" उनका यह आक्षेप निराधार है । ग्रंथकारश्री ने "पक्षपातो न मे..." द्वारा अपनी मध्यस्थता बताई है और अपने इस प्रस्तुत ग्रंथ में केवल प्रत्येक दर्शन के वाच्यार्थ को ही निरुपित किया हैं । तदुपरांत अपने "शास्त्रवार्ता समुच्चय" ग्रंथ में वेदांत दर्शन का प्रतिपादन करके उसकी समीक्षा भी की हैं । इसलिए उन्हों ने प्रस्ततु ग्रंथ की रचना के समय वेदांत दर्शन के प्रति उपेक्षाभाव था ऐसा आक्षेप बेबुनियाद है ।

ग्रंथकार कोई भी ग्रंथ की रचना करते समय विषय विभाग के लिए निश्चित अभिगम अपनाकर अधिकृत ग्रंथ में कुछ खास विषयो की प्रधानता रखते होते हैं, ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । इसलिए अन्य विषयो की उपेक्षा करता हैं, ऐसा आक्षेप उनके उपर नहीं कर सकते और प्रस्ततु ग्रंथकारश्री को निश्चित प्रकार के आग्रह होते तो अपने ग्रंथो को परीक्षा के सराई के उपर रखने की उद्घोषणा नहीं करते । उनका तो स्पष्ट अभिगम है कि, युक्तियुक्त वचन जिनका भी हो, वह हमको ग्राह्य हैं ।

प्रासंगिक स्पष्टता करके अब आगे बढेंगे । प्रस्तुत ग्रंथ के टीकाकारश्री ने तो वेदान्त दर्शन के विषयो का आंशिक प्रतिपादन किया ही है । इस ग्रंथ के प्रथम भाग के परिशिष्ट-१ में विस्तार से वेदांत दर्शन के पदार्थो का (अनेक ग्रंथो के आधार पर) निरुपण किया गया है । यहाँ सर्वप्रथम मीमांसक दर्शन का परिचय प्राप्त करेंगे और उसके बाद तुरंत वेदांत दर्शन का परिचय स्वरूप में निरूपण करेंगे । मीमांसादर्शन के वेष, आचारादि का निरूपण इस ग्रंथ में प्रारंभ में ही किया गया हैं ।

देवता :

मीमांसक सर्वज्ञ, वीतराग, जगत्कर्ता आदि विशेषणोवाले किसी भी देवता को मानते नहीं हैं। वे कहते हैं कि... सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, जगत्कर्ता आदि विशेषणोवाले (अन्य दर्शनो ने माने हुए) कोई भी देवता ही नही हैं, कि जिससे उनका वचन प्रमाणरूप हो ।[१५९] मीमांसको ने देवता के निषेध के लिए जो युक्तियाँ दी है, वह प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक-६८ की टीका में दी गई हैं ।

वे कहते है कि, "अतीन्द्रिय पदार्थो के साक्षात् दृष्टा कोई उपलब्ध भी नहीं है । इसलिए नित्यवेद वाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थो का यथार्थ निश्चय होता है" ।[१६०]

उनके मतानुसार वेद अपौरुषेय है, इसलिए उसका कोई आद्य प्रणेता नहीं है । उसका कोई आद्यप्रणेता न होने पर भी अर्थ और पाठ की परंपरा अनादिकाल से अविच्छिन्नरुप से चली आ रही है । उससे ही वेद के वाक्यो के अर्थ का यथार्थ निर्णय हो जाता है । य़द्यपि वेद की अपौरुषेयता की मान्यता का नैयायिक दर्शन आदि ने खंडन किया है । जैनदर्शन के स्याद्वाद मंजरी आदि ग्रंथो में भी अपौरुषेयवाद का खंडन किया गया हैं ।

मीमांसक ईश्वर को मानते है या नहीं ? इस विषय में पूर्वोत्तरवर्ती आचार्यो में बहोत विसंवाद है । उसके विषय की चर्चा श्री बलदेव उपाध्याय विरचित "भारतीय दर्शन" ग्रंथ में पृ. ३३३ के उपर की गई है । जिसका आंशिक अंश नीचे टिप्पणी में लिया गया हैं ।[१६१]

159. जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः । देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ।। **षड्. समु. ६८**।।

160. तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद्द्रष्टुरभावतः । नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ।**षड्.समु. ६९**।। अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते । वचनेन हि नित्येन यः पश्यति सः पश्यति ।। **(षड्.समु. ६९ टीका ।)** 161. **श्री जैमिनि ऋषि** के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत् फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं । प्राचीन मीमांसा ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं मानी जाती, पर पीछे के मीमांसको में से श्री आपदेव तथा श्री लौगाक्षि भास्कर ने गीता के ईश्वर समर्पण सिद्धान्त

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्व समीक्षा :

मीमांसक दर्शन की मुख्य तीन शाखायें हैं । (१) श्री प्रभाकर मिश्र कृत **गुरुमत,** (२) श्री कुमारिल भट्ट कृत **भाट्टमत** और (३) श्री मुरारि मिश्र का **मिश्रमत** । तीनों मतो में मतभेद दिखाई देते हैं ।

श्री प्रभाकर आठ पदार्थ मानते हैं ।[१६२] द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या । इन आठमें से द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य का स्वरूप वैशेषिको को मिलता आता है । परतंत्रता का आशय वैशेषिको के समवाय पदार्थ के साथ मिलता आता है । परन्तु वैशेषिक समवाय को नित्य मानते है और प्रभाकर नित्य नहीं मानते हैं । **श्री कुमारिल भट्ट** ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव, ये पांच तत्त्व (पदार्थ) माने हैं । नैयायिको की तरह पृथ्वी आदि नव और उसके उपरांत अंधकार तथा शब्द को भी कुमारिल भट्ट द्रव्य के रुप में मानते हैं ।[१६३] श्री मुरारि मिश्र मूलरूप से एकमेव ब्रह्म की ही सत्ता का स्वीकार करते हैं । परन्तु लौकिक व्यवहार की संगति के लिए चार पदार्थ अधिक मानते हैं ।

(१) धर्मिविशेष : जैसे कि, घटत्वादि का आधार घटादि (द्रव्य),

(२) धर्मविशेष : जैसे कि, घट के आधेय घटत्वादि (गुण),

(३) आधारविशेष : (अनित्य आश्रय) अर्थात् कालकृतभेद । जैसे कि, **इदानीं घटः, तदानीं घटः** । यहाँ - कालबोधक **इदानीं** तथा **तदानीं** पद घट के अनियत आधार हैं ।

(४) प्रदेशविषय : दैशिक आधार । जैसे कि, **गृहे घटः, भूतले घटः,** यहाँ घट का गृह और भूतल देश संबंधी अनियत आधार हैं ।[१६४]

श्री कुमारिल भट्ट द्वारा प्ररुपित पाँच पदार्थो का स्वरूप "मानमेयोदय" ग्रंथ में विस्तार से दिया गया हैं । उसमें अनेकविध मतो की समीक्षा भी की गई हैं । समीक्षा में अन्यमतो के तत् तत् पदार्थो के लक्षण देकर समीक्षा की गई है । इसलिए भिन्न भिन्न मतो की मान्यता एक ही स्थान पर मिल जाती है । इस कारण से दार्शनिक अभ्यासुओं की सरलता के लिए उस 'मानमेयोदय' के पदार्थ एक स्वतंत्र परिशिष्ट बनाकर प्रस्तुत ग्रंथ में (भाग-२ में) संगृहित किये गये हैं । श्री प्रभाकर मिश्र द्वारा प्रतिपादित आठ द्रव्य भी केवल मूल रूप से उसी परिशिष्ट में संगृहित किये गये हैं ।

प्रमाण विचार :

मीमांसकोने प्रमाण सामान्य का[१६५] लक्षण इस तरह से बताया है - **"अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्"** । पहले नहीं जाने हुए पदार्थ को बतानेवाले ज्ञान को **प्रमाण** कहा जाता है ।

को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कार्यो के फल को ईश्वर को समर्पण कर देने की बात इस तरह लिखी है - **ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः, न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः । 'यत्करोषि यदश्नाति' भगवद् गीता स्मृतेरेव प्रमाणत्वात्** । स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतमूलकत्वेन व्यवस्थापनात् - (**अर्थसंग्रह पृ. १९६; मीमांसा न्यायप्रकाश** पृ. १९७) तदुपरांत श्री प्रभाकर मिश्र और उसके अनुयायी भी ईश्वर की सत्ता मानते है । परन्तु श्रीप्रभाकर ईश्वर की सत्ता को श्रुतिमूलक वाक्यों के द्वारा प्रमाणित करते हैं; अनुमान (नैयायिक तरह) से नहीं । सारांश में, प्राचीन मीमांसको कर्मकाण्ड की उपादेयता अधिक मान्य करते है और पिछले मीमांसकोने ईश्वर को कर्मफल के दाता के रूप में स्वीकार किया है ।

162. तन्त्ररहस्य, पृ० २०-२४ । 163. मानमेयोदयः पृ. १५९ । 164. ब्रह्मैकम्, व्यवहारे तु धर्मिधर्माधारप्रदेशविशेषाः पञ्च पदार्था इति वेदान्ता मुरारिमिश्राश्च - न्यायमाला । 165. अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणं इति भट्टमीमांसका आहुः । (सि० चन्द्रोदयः पृ. २०) **(षड्.समु. ७१ टीका)** (मानमेयोदय-प्रमाणविचार) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री कुमारिल भट्ट प्रमाण के छः प्रकार मानते हैं । (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शाब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति और (६) अभाव । श्री प्रभाकर मिश्र अभाव को प्रत्यक्ष से ग्राह्य मानकर उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करके पांच प्रमाण मानते हैं ।[१६६]

विद्यमान वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने से आत्मा को जो ज्ञान होता है उसे **प्रत्यक्ष** कहा जाता है ।[१६७] लिंग से उत्पन्न होनेवाले लिंगि के ज्ञान को **अनुमान** कहा जाता हैं । साध्य और साधन के अविनाभाव के यथार्थ ज्ञानवाले पुरुष को एक देश उ साधन को देखने से असन्निकृष्ट उ परोक्ष साध्य अर्थ का ज्ञान होता हैं, उसे **अनुमान प्रमाण** कहा जाता हैं।[१६८] नित्य वेद से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को शाब्द उ आगम प्रमाण कहा जाता हैं अर्थात् शब्द ज्ञान से असन्निकृष्ट उ परोक्ष पदार्थ में होते ज्ञान को **शाब्द प्रमाण** कहा जाता है ।[१६९] प्रसिद्ध अर्थ की[१७०] सदृशता से अप्रसिद्ध की सिद्धि करना उसे **उपमान प्रमाण** कहा जाता हैं । दृष्ट पदार्थ की अनुपपत्ति के बल से जो कोई भी अदृष्ट पदार्थ की कल्पना की जाती है, उसे **अर्थापत्ति** कही जाती हैं।[१७१] वस्तु की सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण जो वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करते हैं, उसमें **अभाव प्रमाण** की प्रवृत्ति होती हैं ।[१७२] अभाव प्रमाण का विषय 'अभाव' वस्तुरूप हैं । उस अभाव के चार प्रकार माने हैं। (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यंताभाव और (४) अन्योन्याभाव ।[१७३]

प्रमाणो का विशेष स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ की श्लोक-७२ से ७६ तक की टीका में तथा "मीमांसक दर्शन का विशेषार्थ" नाम के परिशिष्ट में विस्तार से दिया गया हैं ।

मीमांसक दर्शन के महत्त्व के सिद्धांत :

(१) अपूर्व सिद्धांत :

मीमांसको का एक "अपूर्व" नाम का सिद्धांत[१७४] हैं । उसका नाम अन्य दर्शनो में कही भी सुनने को नहीं मिलेगा । यजमान यज्ञ आज करता हैं और उसका फल भविष्यकाल में मिलनेवाला है । जब फल मिलेगा, तब यज्ञ - अनुष्ठान तो उपस्थित नहीं है, तो प्रश्न होता है कि, फल किस तरह से मिलेगा ? इस विरोध का परिहार करने के लिए मीमांसको ने "अपूर्व" की कल्पना की है । **उनका आशय यह है कि, अनुष्ठान से अपूर्व उत्पन्न होता है । इस प्रकार फल प्राप्ति के समय अनुष्ठान न होने पर भी, अनुष्ठान (यज्ञ) और फल के बीच अपूर्व माध्यम के रुप में काम करता हैं** । मीमांसको का यह महत्त्व का सिद्धांत हैं ।

(२) प्रामाण्यवाद :

प्रामाण्यवाद भी मीमांसको का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं । उसमें तीनों आचार्यो के विभिन्न मत प्रवर्तित है । **कुमारिल भट्ट ज्ञान को स्वतः प्रकाशक मानते नहीं है । जब कि, प्रभाकर मिश्र ज्ञान को स्वतः प्रकाशक मानते हैं । मुरारि मिश्र भी ज्ञान को स्वतः प्रकाशक नहीं मानते हैं** । उसकी चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ के भाग-२ में पृ. ३५८ के उपर की है। इसलिए यहाँ उसका विचार नहीं करते हैं ।

---

166. (षड् समु. श्लोक-७२ टीका) प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दं चोपमितिस्तथा । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि मादृशाम् ।।५।। **(मानमेयोदय)**। 167. सत्संप्रोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् । **(मीमां.सू. १/१/४)** । 168. ज्ञातसम्बन्धस्यैक-देशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम् । (शाबर भा. १/१/५) । 169. शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः **(शाबर भा. १/१/५)** । 170. प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम्। **(षड्.समु. ७४)** 171. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना **(शां.भा. १/१/५)** । 172. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तु सत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ।। षड्.समु. ७६।। 173. षड्. समु. ७६ टीका **(मी.श्लोक. अभाव-श्लोक २-९)** । 174. यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति। सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ।। **(तन्त्रवार्तिक, पृ. ३६५)** ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) अपौरुषेयवाद :

मीमांसक वेद को पौरुषेय मानते नहीं, **परन्तु अपौरुषेय मानते हैं**[१७५] अर्थात् नित्य मानते हैं। कोई व्यक्ति को वेद के वक्ता के रूप में मानते नहीं है । उसकी विचारणा प्रस्तुत ग्रंथ में तथा परिशिष्ट में की गई हैं । उसमें मीमांसको की जो युक्तियाँ है उसे बताकर उनके इस सिद्धांत को बताया गया है। इस भूमिका में भी पहले स्पष्टता की ही हैं ।

मीमांसको के मतानुसार धर्म का प्रतिपादन केवल अपौरुषेय वेद ही करता हैं । इसलिए धर्म के लिए वेदो की ही प्रामाणिकता सर्वाधिक हैं । इसलिए मीमांसको ने वेद के विषयविभाग का विस्तार से विवेचन किया हैं । वेद के पाँच प्रकार के विषय हैं । (१) विधि, (२) मंत्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद[१७६] (इन पाँच विषय विभाग के विवेचन के लिए श्री आपदेव विरचित **'मीमांसान्याय प्रकाश'** और श्री लौंगाक्षि भास्कर प्रणित **'अर्थसंग्रह'** ये दो स्वतंत्र ग्रंथो की रचना हुई हैं । उसमें वेद के यज्ञ संबंधी विरोधो का परिहार करने के लिए न्याय दिये गये है और उन न्यायो के द्वारा परस्पर के विरोधो का परिहार करके वेद वाक्यो का समन्वय किया गया हैं ।)

(४) मीमांसको के मत में जगत् :

हमारी इन्द्रियों द्वारा जगत की जिस तरह से उपलब्धि होती है, वही जगत का सत्यस्वरूप है ।[१७७] इस संसार में तीन प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होता हैं । (१) **शरीर** - जिसमें रहकर आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता हैं। **(भोगायतन)** । (२) **इन्द्रियाँ**-जिसके द्वारा आत्मा सुख-दुःख का भोग करता है **(भोग साधन)** । (३) **पदार्थ :** जिसका भोग आत्मा करता है **(भोगविषय)** । इन तीन से युक्त नाना स्वरूप का यह संसार अनादि अनंत है । **मीमांसक मूल जगत की सृष्टि तथा प्रलय नहीं मानते हैं** । इस तरह से मीमांसा दर्शन जगत को सत्य मानता है और वेद द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग, नरक, अदृष्ट अनेक अतीन्द्रिय विषयो की भी सत्ता मानता हैं ।

- मीमांसक दर्शन के ग्रंथ - ग्रंथकार :

श्री जैमिनिऋषि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार है । (परन्तु प्रवर्तक नहीं हैं।) **वह जैमिनि सूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं।** उसके १६ अध्याय हैं । जिसमें से प्रथम १२ अध्याय **"द्वादशलक्षणी"** के नाम से और अन्तिम चार अध्याय **"संकर्षण कांड"** या **"देवता कांड"** के नाम से प्रख्यात है । द्वादशलक्षणी के उपर वृत्ति, भाष्य और वार्तिक की रचना हुई है । श्री उपवर्ष प्राचीन वृत्तिकार हैं । उन्हों ने इस ग्रंथ के उपर वृत्ति रची थी । द्वादशलक्षणी के उपर **श्री शबरस्वामी** ने **'शाबरभाष्य'** की रचना करके मीमांसा के पदार्थो का विस्तृत प्रतिपादन किया हैं ।

- भाट्टमत के ग्रंथ - ग्रंथकार :

भाट्टमत के प्रवर्तक **कुमारिल भट्ट** के **श्लोकवार्त्तिक** (कारिकाबद्ध) और **श्लोकवार्तिक** (गद्यात्मक) और **टुप्टीका, ये** तीन ग्रंथ में भाट्टमत की विस्तार से प्ररूपणा की गई है । श्लोकवार्तिक में बौद्धो के सिद्धांतो का मार्मिक खंडन प्रस्तुत हैं। श्री कुमारिल भट्ट के शिष्य श्रीमंडन मिश्र थे । वे श्री शंकराचार्य के साथ हुए वाद में पराजित होने से उनके शिष्य बनकर बाद में श्री सूरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए थे । उनके प्रसिद्ध ग्रंथ है - (१) **विधिविवेक** (विधिविवेक अर्थ का विचार) (२) **भावनाविवेक** (आर्थी भावना का विचार) (३) **विभ्रम-विवेक,** (पंचविध भ्रान्ति तथा ख्यातियाँ की व्याख्या), (४) **मीमांसा सूत्रानुक्रमणी** (मीमांसा सूत्रो का कारिकाबद्ध संक्षेप), (५) **स्फोटसिद्धि,** (६) **ब्रह्मसिद्धि**

175. **मीमांसा सूत्र** १/१/२७-३२ तथा **शाबरभाष्य** । 176. अथ को वेद इति चेत् । उच्यते - अपौरुषेयं वाक्यं वेदः । स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः **(अर्थसंग्रह) (मीमांसापरिभाषा-पृ. ३)** । 177. तस्माद्यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा। तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथ वेतरत् **(श्लोकवार्तिक,** पृ. ४०४) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अद्वैत वेदांत का महत्त्वपूर्ण विवरण) । श्री कुमारिल भट्ट के दूसरे शिष्य श्री उम्बेकने दो ग्रंथ बनाये थे । (१) **तात्पर्य टीका** (श्लोकवार्तिकको स्वल्पाक्षरी टीका) (२) **भावनाविवेक** की टीका ।

श्री वाचस्पति मिश्रने पूर्वोक्त विधिविवेक की टीका **"न्याय-कर्णिका"** नाम से और शाब्दबोध के विषय में **"तत्त्वबिंदु"** नामके प्रौढ मीमांसाग्रंथ की रचना की थी ।

भाट्ट संप्रदाय के आचार्य **श्री पार्थसारथि मिश्र** ने (१) **न्यायरत्नाकर,** (२) **तर्करत्न,** (३) **न्यायरत्नमाला** और (४) **शास्त्रदीपिका,** नाम के मीमांसा के ग्रंथ रचे थे । श्री माघवाचार्य ने **"न्यायमालाविस्तर"** नाम का मीमांसा विवेचक ग्रंथ का प्रणयन किया था । भाट्ट संप्रदाय के "नव्यमत" के प्रणेता के रुप में प्रसिद्ध श्रीखंडदेव मिश्र ने तीन प्रसिद्ध ग्रंथो की रचना की थी । (१) **भाट्टकौस्तुभ** (मीमांसा सूत्र की विस्तृत टीका), (२) **भाट्टदीपिका** (अधिकरण प्रस्थान के उपर निर्मित मौलिक ग्रंथ - इस ग्रंथ के उपर प्रभावली, भाट्टचन्द्रिका और भाट्टचिंतामणी ये तीन टीका यें उपलब्ध होती है ।) (३) **भाट्ट रहस्य** (शाब्दबोध विषयक यह ग्रंथ व्युत्पत्तिवाद के समान हैं।) उससे अतिरिक्त श्रीनारायण भट्ट के **"मानमेयोदय",** श्रीलौगाक्षी भास्कर के **"अर्थसंग्रह",** श्री शंकरभट्ट के **"मीमांसा बालप्रकाश"** और **"विधिरसायणदूषण"** श्री अन्नंभट्ट की **'सुबोधिनी'** (तन्त्रवार्तिक की टीका) और **राणकोज्जीवीनी** (न्यायसुधा की व्याख्या), श्री कृष्ण-यज्वा की-**मीमांसा परिभाषा,** श्रीआपदेव का **मीमांसा न्यायप्रकाश** आदि मीमांसा दर्शन के ग्रंथ हैं ।

- गुरुमत के ग्रंथ-ग्रंथकार -

गुरुमत के प्रवर्तक श्री प्रभाकर मिश्र में **'शाबर भाष्य'** के उपर दो टीका रची हैं । (१) **बृहती टीका** (दूसरा **'निबंधन'** नाम हैं।) (२) **लघ्वी टीका** (दूसरा **'विवरण'** नाम है ।) गुरुमत की स्थापना श्री शालिकनाथ ने अपनी तीन पंचिकाओं से की है। (१) **ऋजुविमलापंचिका** (बृहती टीका की व्याख्या), (२) **दीपशिखा पंचिका** (लघ्वी टीका की व्याख्या), (३) **प्रकरण पंचिका** (मौलिक प्रकरण ग्रंथ) । **श्री भवनाथ** ने श्री शालिकनाथ के सिद्धांतो का स्पष्टीकरण करने के लिए **"नय विवेक"** नाम के ग्रंथ की रचना की थी । गुरुमत के अन्यग्रंथो में श्री नंदीश्वर रचित **"प्रभाकर विजय"** और श्रीरामानुजाचार्य रचित **"तंत्र रहस्य"** प्रसिद्ध हैं ।

- मिश्रमत के ग्रंथ -

मुरारी मिश्र के ग्रंथ लुप्तप्रायः हैं । उनका त्रिपादी **"नीतिनयन"** नामका ग्रंथ कि जो मीमांसा सूत्रो के उपर रचा हुआ हैं ।

- उत्तरमीमांसा (वेदांत) दर्शन -

प्रस्तुत ग्रंथ में वेदांत दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया गया हैं । टीकाकारश्री ने मीमांसक - दर्शन के प्रारंभ में आंशिक निरूपण किया हैं । इस ग्रंथ के भाग-१ में, परिशिष्ट-१ में वेदांत दर्शन की भिन्न-भिन्न शाखायें-संप्रदायों के प्रतिपाद्य विषयो का विस्तार से प्रतिपादन किया गया हैं ।

वेदांत अर्थात् वेद का अंत भाग । वेदो के पूर्वभाग में यज्ञादि कर्मो के मंत्र है और उत्तर भाग में आत्मज्ञान के मंत्र है। उसको उपनिषद् मंत्र भी कहे जाते हैं । उपनिषद् मंत्रो की एकवाक्यता स्थापित करने के लिए रचे गये सिद्धांत वह **"वेदांत दर्शन"** हैं । **श्रीबादरायण ऋषि का "ब्रह्मसूत्र" ग्रंथ वेदांत का मूल आधार हैं । ब्रह्मसूत्र के उपर अनेक भाष्यों की रचना भिन्न भिन्न आचार्यो ने की हैं ।** प्रत्येक आचार्य ने वेदांत को समझाने के लिए ब्रह्मसूत्र के उपर भाष्य रचकर अपना सिद्धांत प्रस्थापित किया हैं । उसकी माहिती नीचे बताये अनुसार हैं ।[१७८]

178. श्री बलदेव उपाध्याय कृत भारतीय दर्शन, पृ. २३७ में से संगृहित की है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

-: ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार :-

	नाम	समय	भाष्यनाम	सिद्धान्त
(१)	श्री शंकराचार्य	(७८८-८२० ई)	शारीरिक भाष्य	निर्विशेषाद्वैत (केवलाद्वैत)
(२)	श्री भास्कराचार्य	(१०००)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
(३)	श्री रामानुजाचार्य	(११४०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
(४)	श्री माध्वाचार्य	(१२३८)	पूर्वप्रज्ञभाष्य	द्वैत
(५)	श्री निम्बार्काचार्य	(१२५०)	वेदांतपारिजात	द्वैताद्वैत
(६)	श्रीकंठ	(१२७०)	शैव भाष्य	शैव-विशिष्टाद्वैत
(७)	श्रीपति	(१४००)	श्रीकरभाष्य	वीरशैव-विशिष्टाद्वैत
(८)	श्रीवल्लभाचार्य	(१४७६-१५०४)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
(९)	श्रीविज्ञानभिक्षु	(१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
(१०)	श्रीबलदेव	(१७२५)	गोविंदभाष्य	अनित्य भेदाभेद

उपरोक्त सिद्धांतो में श्री शंकराचार्य का निर्विशेषाद्वैत - केवलाद्वैत सिद्धांत अधिक प्रचलित हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के परिशिष्ट-१ में पूर्वोक्त सभी सिद्धांतो का प्रतिपादन किया है । श्री शंकराचार्य के केवलाद्वैत सिद्धांत का और उनकी अन्य मान्यताओं का विस्तार से निरूपण किया हैं । ब्रह्म का स्वरूप, ईश्वर का स्वरूप, जीव का स्वरूप, ईश्वर और जीव, अविद्या का स्वरूप, सृष्टि प्रक्रिया, अध्यास विचारणा, अध्यास की आवश्यकता, अविद्या के दो प्रकार, तीन प्रकार की सत्ता, प्रमाणविचार, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का विवरण, मोक्षस्वरूप, ब्रह्म साक्षात्कार के साधन, बद्ध जीव की तीन अवस्था, जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त के लक्षण, आभासवाद आदि तीन वाद, ज्ञान की सात भूमिका आदि अनेक विषयो की विचारणा उसमें की गई हैं ।

"ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या हैं" यह श्री शंकराचार्य का प्रसिद्ध सिद्धांत अद्वैत दर्शन का पुरस्कर्ता हैं । वे एकमेव ब्रह्म की ही सत्ता को ही स्वीकार करते है और ब्रह्म के सिवा अन्य पदार्थो की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं ।

वेदांत के सभी संप्रदायो को और उसकी मान्यताओं को जानने-समजने के लिए तत् तत् संप्रदाय के ग्रंथो का अवगाहन करने पडे। परिशिष्ट-१ में भिन्न-भिन्न ग्रंथों के आधार पर तत् तत् संप्रदायों के मुख्य मुख्य सिद्धांतो को समजाने का प्रयत्न किया है। जो दार्शनिक अभ्यासुओं को दार्शनिक अभ्यास के समय पूर्वोत्तर पक्ष को समजने में अवश्य सहायक बनेगा । विस्तार भय से उन सभी विषयो की विचारणा यहाँ नहीं करते है । केवल वेदांत-दर्शन के ग्रंथो-ग्रंथकारो की माहिती (कि जो परिशिष्ट में संपादित नहीं हुई, वह) देंगे ।

- अद्वैत वेदांत के ग्रंथ-ग्रंथकार -

वेदांत का मूल आधार ब्रह्मसूत्र है । उसके **चार अध्याय है** और प्रत्येक अध्याय के **चार पाद है** । श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के उपर **'शारीरिक भाष्य'** की रचना की है और उसमें अपने 'निर्विशेषाद्वैत' सिद्धांत की प्रस्थापना की है । श्री शंकराचार्य ने उसके सिवा **'विवेक चूडामणी'** आदि अनेक ग्रंथो की रचना की हैं । उनके प्रत्येक ग्रंथ में अद्वैत सिद्धांत ही पुरस्कृत हुआ है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री मंडनमिश्र अद्वैत प्रतिपादक आचार्य थे । वे शंकराचार्य के समकालीन थे । उन्हों ने "**ब्रह्मसिद्धि**" नाम का अद्वैत प्ररूपक प्रसिद्ध ग्रंथ रचा था । उसके उपर श्री वाचस्पति मिश्रने "**ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा**", श्री चित्सुख की "**अभिप्राय प्रकाशिका**" तथा श्री आनंदपूर्ण की "**भावशुद्धि**" व्याख्या रची गई हैं ।

श्री शंकराचार्य के शिष्य श्री सुरेश्वराचार्य ने उपनिषद् भाष्य के उपर वार्तिको की रचना करके "**वार्तिककार**" के रूप में प्रसिद्धि पाई थी । उनका **बृहदारण्यक भाष्य - वार्तिक**, प्रौढ-पांडित्यपूर्ण ग्रंथ है । उसके सिवा **तैतिरीय भाष्य-वार्तिक, नैष्कर्म्य सिद्धि, दक्षिणामूर्ति स्तोत्रवार्तिक, श्री पंचीकरणवार्तिक** आदि ग्रंथ प्रसिद्ध है । श्री शंकराचार्य के दूसरे शिष्य **श्री पद्मपादाचार्य**ने शारीरिक भाष्य की "**पंचपादिका**" नामकी प्रथम वृत्ति रची थी। उसके उपरांत '**प्रपंचसारी**' टीका और '**विज्ञानदीपिका**' ये दो कृतियाँ उनकी रचना मानी जाती है ।

श्री सुरेश्वराचार्य के शिष्य **श्री सर्वज्ञात्ममुनि** ने ब्रह्मसूत्रो के उपर "**संक्षेप शारीरक**" नामका प्रख्यात ग्रंथ रचा है । उसके उपर **श्री नृसिंहाश्रम** की **तत्त्वबोधिनी**" और **श्री मधुसूदन सरस्वती** की "**सारसंग्रह**" टीका है । **श्री वाचस्पति मिश्र** ने शारीरिक भाष्य के उपर "**भामती**" नामकी प्रसिद्ध टीका रची है । **श्री विमुक्तात्माने** "**इष्टसिद्धि**" नामके ग्रंथ की रचना करके "**अविद्या**" का बहोत विस्तार से स्वरूप समजाया है ।

श्री हर्ष ने '**खंडनखंड खाद्य**' नाम के अद्वैत-प्रतिपादक ग्रंथ की रचना की थी । उसके उपर नैयायिक **श्री शंकरमिश्रने** टीका रची है । **श्री अद्वैतानंद** का "**ब्रह्मविद्याभरण भाष्य**" और **श्री आनंदबोध** का "**न्यायमकरंद**" ग्रंथ अद्वैत वेदांत के माननीय ग्रंथ है ।

श्री चित्सुखाचार्य ने '**तत्त्वदीपिका**,' शारीरिक भाष्य की '**भाव प्रकाशिका**' टीका, ब्रह्मसिद्धि के उपर '**अभिप्राय प्रकाशिका**' टीका और नैष्कर्म्य सिद्धि के उपर '**भावतत्त्व प्रकाशिका**' ग्रंथो की रचना की है । जिसमें अद्वैत वेदांत के विषयो को सरल भाषा में समजाया गया है ।

श्री अमलानंद ने "भामती" टीका के उपर '**कल्पतरु**' और '**शास्त्रदर्पण**' ग्रंथ की रचना की है । **श्री विद्यारण्य स्वामीने पंचशती, प्रमेय संग्रह, अनुभूति प्रकाश, जीवन्मुक्ति विवेक, बृहदारण्यक - वार्तिकसार** आदि वेदांत के ग्रंथ रचे थे ।

श्री आनंदगिरि का **न्यायनिर्णय, श्री प्रकाशानंद** के "**वेदांतसिद्धांत मुक्तावली**" और **श्री अखंडानंद** के '**तत्त्वदीपन**' नाम के ग्रंथ वेदांत के उपर अच्छा प्रकाश डालते हैं ।

श्री मधुसुदन सरस्वती ने **अद्वैतसिद्धि, वेदांतकल्प लतिका, सिद्धांत बिंदु, गीता-टीका** आदि लोकप्रिय ग्रंथो की रचना की है । **श्री अप्पय दीक्षित** के '**शिवार्कमणिदीपिका**' (श्री कंठाचार्य के भाष्य के उपर की टीका), **कल्पतरु परिमल** (अमलानंद कृत 'कल्पतरु' की व्याख्या) और '**सिद्धांतलेश संग्रह**' ग्रंथ अद्वैत वेदांत के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतो के प्रतिपादक ग्रंथ हैं ।

श्री धर्मराजा ध्वरीन्द्र का "**वेदांत परिभाषा**" ग्रंथ अतिप्रसिद्ध है । वह ग्रंथ अद्वैत वेदांत के सिद्धांतो को समजने के लिए **प्राथमिक ग्रंथ** माने जाते है । **श्री सदानंद** का '**वेदांतसार**' ग्रंथ भी उसी कोटि में आता हैं ।

वेदांत के विशिष्टाद्वैत आदि सिद्धांतो के ग्रंथो के नाम जितने मिलते है, वह परिशिष्ट में संगृहित किये है। इसलिए यहाँ उल्लेख नहीं करते हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- योगदर्शन :

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि हैं । योगदर्शन की दार्शनिक विचारधारा सांख्यदर्शन जैसी ही है । सांख्य दर्शन जो २५ तत्त्व मानता है, वही योगदर्शन मानता है - फरक केवल इतना ही है कि सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है और योगदर्शन समाधि की सिद्धि के लिए ईश्वर को मानता है ।

पुरुष और प्रकृति दो मुख्य तत्त्व है । उसका स्वरूप सांख्यदर्शन में देखा ही है । पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार है और विवेकख्याति के बल से संयोग की विनिर्मुक्ति होने से आत्मा का मोक्ष होता है । प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान (विवेकख्याति) हो, तो ही आत्मा का मोक्ष हो सकता हैं । भेदज्ञान की प्राप्ति के लिए **"योग"** की साधना आवश्यक है। योग, योग की साधना, योग के अंतराय, योग के आठ अंग और उससे प्राप्त होती सिद्धिओं का विशद वर्णन योगदर्शन का प्रतिपाद्य विषय है । **"अष्टांगयोग की साधना"** यह योगदर्शन की अपनी विशिष्ट साधना प्रक्रिया है, कि जो अन्य दर्शनकारो ने भी आवकार्य मानी हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ में **"योगदर्शन"** का प्रतिपादन नहीं किया गया है । फिर भी योगदर्शन के सारभूत पदार्थो को परिशिष्ट में संगृहीत करके इस ग्रंथ के भाग-१ में रखा गया है । उसमें ईश्वर का स्वरूप, योग का स्वरूप, समाधि के दो प्रकार, पाँच प्रकार की विक्षेपादि चित्तवृत्तियाँ, अविद्यादि पाँच प्रकार के क्लेश, विपर्ययादि पाँच प्रकार की वृत्तियाँ, योग के अंतराय, योग के यमादि आठ अंग आदि का प्रतिपादन किया गया है ।

योगदर्शन के ग्रंथ और ग्रंथकार :

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने **"योगसूत्र"** नाम के सूत्रात्मक ग्रंथ की रचना करके उसमें योगदर्शन के सिद्धांतो का प्रतिपादन किया हैं । योगसूत्र में **चार पाद** है, जिनकी सूत्रसंख्या १९५ है । **प्रथम (समाधि) पाद में** समाधि का स्वरूप और उसके भेद, चित्त और उसकी वृत्ति का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है । **द्वितीय (साधन) पाद में** क्रियायोग, क्लेश और उसके पाँच भेद, क्लेश मुक्ति के साधन, हेय हेतु, हान तथा हानोपाय, योग के आठ अंग आदि विषयो का निरूपण किया गया है । **तृतीय (विभूति) पाद में** धारणा, ध्यान और समाधि तथा उसके अनंतर योग अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाली सिद्धिओं का वर्णन किया गया है । चतुर्थ (कैवल्य) पाद में समाधिसिद्धि, निर्माणचित्त, विज्ञानवाद-निराकरण, कैवल्य का निर्णय किया गया है ।

पातंजल योगदर्शन के उपर **"व्यासभाष्य"** अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है । उसमें योगसूत्रो के गूढ रहस्यो को सुंदर तरीके से खोले गये है । व्यासभाष्य भी स्वयं अति गूढार्थ ग्रंथ है । उसके उपर **श्रीवाचस्पति मिश्र** ने **"तत्त्ववैशारदी"** और **श्री विज्ञानभिक्षु** ने **"योगवार्तिक"** टीका की रचना की है ।

योगसूत्रो के उपर अन्य भी अनेक टीकायें है । (१) **श्री भोजकृत "राजमार्तंड"** (भोजवृत्ति), (२) **श्री भावगणेश की वृत्ति,** (३) **श्री रामानंद** की **"मणिप्रभा"** टीका, (४) **श्री अनंत पंडित** की **"योगचन्द्रिका"** वृत्ति, (५) **श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती** कृत **"योगसुधारक"** टीका, (६) **श्री नागोजी भट्ट** कृत **लघ्वी** और **बृहती** टीका प्रसिद्ध है ।

श्री राजमार्तन्ड की भोजवृत्ति अति लोकप्रिय है । उसके उपर न्यायविशारद - न्यायाचार्य पद प्रतिष्ठित महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने **"प्रक्रिया"** नामक टीका रची है । उस प्रक्रिया में योगसूत्रो और राजमार्तण्ड वृत्ति की समीक्षात्मक विचारणा पुरस्कृत हुई है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शनसंग्राहक ग्रंथ :

जैनदर्शन के, श्री जैनाचार्यो ने दर्शन संग्राहक अनेक ग्रंथो की रचना की है । उसमें पू.आ.भ.**श्री. हरिभद्रसूरिजी** महाराजा कृत **"षड्दर्शन समुच्चय"** अतिप्रसिद्ध हैं । यह ग्रंथ आपके हाथ में ही है, इसलिए उसका विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं हैं । इस ग्रंथ के उपर **लघुवृत्ति** और **बृहद्वृत्ति** ऐसे दो टीका उपलब्ध हैं ।

पू.आ.भ. **श्री राजशेखरसूरिजी** म. प्रणित **'षड्दर्शन समुच्चय'** ग्रंथ में भिन्न-भिन्न दर्शनो का प्रतिपादन हुआ है । (१) जैन, (२) सांख्य, (३) जैमिमि, (४) योग, (५) वैशेषिक और (६) सौगत (बौद्ध)। - इस क्रम से दर्शन का निरूपण हुआ है । इसके बाद योगदर्शन का परिचय, अष्टांग योग का स्वरूप इत्यादि सुंदर तरीके से वर्णन किया है । अंत में चार्वाक दर्शन का निरुपण करके जीव के अस्तित्व को स्वीकार करते चार्वाक के सिवा सभी दर्शन आस्तिकदर्शनो की कोटी में आते है, ऐसा प्रतिपादन करके ग्रंथ की समाप्ति की है ।

जैनाचार्य **श्री मेरुतुंगसूरिजी** कृत **"षड्दर्शन निर्णय"** ग्रंथ भी **दर्शन संग्राहक** ग्रंथ है । उसमें क्रमशः बौद्ध, मीमांसा (पूर्व और उत्तर दोनों) सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक और जैनदर्शन, इन छः दर्शनो की मीमांसा की है । मुख्यतया देव, गुरु और धर्म का स्वरूप वर्णन करके जैनमतानुसार उसकी समीक्षा की गई है । अंत में जैनसंमत देव-गुरु-धर्म का स्वरूप प्रतिपादित करके ऐसा ही स्वरूप महाभारत, पुराण, स्मृति आदि से भी समर्थित होता है, ऐसा कहकर साक्षीपाठ दिये है।

श्री जैनमुनि विरचित **'सर्वसिद्धान्त प्रवेशक'** नामका ग्रंथ भी **दर्शनसंग्राहक** ग्रंथ की कोटी में आ सकता है । गद्यात्मक इस ग्रंथ में नैयायिक, वैशेषिक, जैन, सांख्य, बौद्ध, मीमांसक और चार्वाक ऐसे सात दर्शनो का निरूपण है । यह ग्रंथ संक्षेपरूचिवाले जीवो के लिए उपकारक है । रचना शैली अतिविस्तृत या अतिसंक्षिप्त नहीं है । परन्तु मध्यम है तथा प्रतिपादन शैली मनोहर है ।

श्री जैनाचार्य विरचित **"षड्दर्शन परिक्रम"** ग्रंथ भी **दर्शन संग्राहक** ग्रंथो की श्रेणी में आ सके ऐसा है । ६६ श्लोक प्रमाण इस ग्रथ में (१) जैन, (२) मीमांसक, (३) बौद्ध, (४) सांख्य, (५) शैव और (६) नास्तिक । इन छः दर्शनो का क्रमशः वर्णन किया गया है । इस ग्रंथ में वेदांत दर्शन का मीमांसक दर्शन में अन्तर्भाव किया है और शैवदर्शन के रुप में नैयायिक और वैशेषिक की गणना (श्लोक ४०) करके उन दोनों को एक ही माने हैं ।

श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी ने बत्तीस बतीसीयों की रचना की थी । उसमें से हाल में **बाईस (२२) बत्तीसीयाँ** उपलब्ध होती है । उसमें **बारहवीं बत्तीसी** में **न्यायदर्शन, तेरहवीं** में **सांख्यदर्शन, चौदहवीं** में **वैशेषिक दर्शन, पंद्रहवीं** में **बौद्ध-दर्शन** और **सोलहवीं बत्तीसी** में **नियति दर्शन** का स्वरूप बताया हैं । **बाकी की बत्तीसीयाँ** जैनदर्शन के साथ संबंध रखती हैं । वे बत्तीसीयाँ अत्यंत गहन हैं । पंडितजनो को भी उसका बोध होना कठिन है । ये बत्तीसीयाँ भी दर्शन संग्राहक ग्रंथो की कोटी में ही समाविष्ट होती है ।

पू.आ.भ. श्री **हरिभद्रसूरिजी** कृत **शास्त्रवार्ता समुच्चय** ग्रंथ को भी **'दर्शन संग्राहक'** ग्रंथो में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता हैं । षड्दर्शन समुच्चय से इस ग्रंथ की शैली भिन्न है । षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ में क्रमशः दर्शनो का निरूपण किया गया है । परन्तु उसमें केवल दर्शनो का परिचय ही है । किसी का खंडन या मंडन नहीं है । **जब कि, शास्त्रवार्ता समुच्चय ग्रंथ में दर्शनो का निरुपण भी है और खंडन-मंडन भी है और दर्शन विभाग के क्रम से वर्णन नहीं है, परन्तु विषय विभाग को लेकर वर्णन किया गया है ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस श्रेणी में षड्दर्शन समुच्चय अवचूर्णि, षड्.समु.चूर्णि. लघुषड्दर्शन समु. आदि ग्रंथ भी आते हैं । श्री जैनाचार्यो और श्री जैनमुनिवरो ने दूसरे अनेक दार्शनिक ग्रंथो की रचना की है कि जिसमें जैनदर्शन के दार्शनिक विषयो के प्रतिपादन में अन्य दर्शनो के मतो को ग्रहण करके उसकी समीक्षा की हो । अर्थात् षड्दर्शन विषयक अनेक कृतियाँ जैनदर्शन के साहित्य में उपलब्ध है । **सूत्रात्मक, गद्यात्मक और कारिकाबद्ध ऐसे तीनों प्रकार के दार्शनिक ग्रंथ उपलब्ध हैं** । जैनदर्शन के ३ सूत्रात्मक ग्रंथ और २२ पद्यात्मक - गद्यात्मक ग्रंथो का अन्तर्भाव **"षड्दर्शन सूत्र संग्रह एवं षड्दर्शन विषयक कृतयः"** नाम के ग्रंथ में किया है । पहले बताये हुए दर्शन संग्राहक सभी ग्रंथो का अन्तर्भाव भी उसमें ही किया गया है । प्रस्तुत ग्रंथ में षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ की तार्किक रत्न पू.आ.भ.**श्री गुणरत्नसूरिजी** कृत **"तर्क रहस्य दीपिका"** नामकी **बृहद्वृत्ति** को सानुवाद संकलित की होने से उसका अन्तर्भाव इस ग्रंथ में किया नहीं है ।

पू.आ.भ. **श्री सोमतिलकसूरिजी** म. कृत **लघुवृत्ति** का अन्तर्भाव पूर्वनिर्दिष्ट ग्रंथ में किया है । दर्शन जगत में अन्य भी दर्शन संग्राहक ग्रंथ उपलब्ध है । प्रायः प्रत्येक दर्शनकारो ने ऐसे ग्रंथों की रचना की है । उनका भी आंशिक परिचय अब प्राप्त करेंगे ।

अद्वैत वेदांत के पुरस्कर्ता **श्री शंकराचार्य ने "सर्वसिद्धांत संग्रह"** अथवा **"सर्वदर्शन सिद्धांत संग्रह"** (कि जो ई. १९०९ में मद्रास सरकार के प्रेस से श्री रंगाचार्य द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुआ है वह) ग्रंथ दर्शनसंग्राहक ग्रंथो की श्रेणी में आता हैं ।[१७९] **इस ग्रंथ में वैदिक और अवैदिक ऐसे दर्शन विभाग है और पूर्व-पूर्व दर्शन उत्तर-उत्तर दर्शन द्वारा निराकरण किया गया है** । इस ग्रंथ में दर्शनो का क्रम इस प्रकार से हैं । (१) लोकायित पक्ष, (२) आर्हत (जैन) पक्ष, (३) माध्यमिक, (४) योगाचार, (५) सौत्रान्तिक, (६) वैभाषिक, (७) वैशेषिक, (८) नैयायिक, (९) प्रभाकर (गुरुमत), (१०) कुमारिल मत (भाट्ट मत), (११) सांख्यदर्शन, (१२) पतंजलि (योग) दर्शन, (१३) वेदव्यास, (१४) वेदांत । (इन दर्शनो में से वेदव्यास के दर्शन के नाम से जो पक्ष उपस्थित किया गया हैं, वह महाभारत का पक्ष हो ऐसा मालूम होता हैं।) **यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, इस ग्रंथ में आर्हतपक्ष में जो जैनदर्शन को उपस्थित किया हुआ है और उसमें जो बाते बताई है, वह भ्रमपूर्ण हैं । न जाने उनके सामने जैनदर्शन का कौन-सा ग्रंथ होगा ! जैनदर्शन की जो मान्यता ही नहीं है उसे जैनदर्शन के नाम से लिखी गई है ।**

श्री माधवाचार्यने (ई. १३००) **"सर्वदर्शन संग्रह"** नाम के ग्रंथ की रचना की हैं, उसका दर्शन संग्राहक ग्रंथ की श्रेणी में अन्तर्भाव होता है । **इस ग्रंथ में भी पूर्व-पूर्व दर्शन का उत्तर-उत्तर दर्शन द्वारा निराकरण किया गया है और अंत में अद्वैतवाद ही सम्यक् हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया हैं** । उसमें इस क्रम से प्रतिपादन हुआ है - (१) चार्वाकदर्शन, (२) बौद्धदर्शन (चार भेद), (३) दिगंबर (आर्हतदर्शन), (४) रामानुज (विशिष्टाद्वैतमत), (५) पूर्णप्रज्ञदर्शन, (६) नकुलीपाशुपतदर्शन (७) माहेश्वर (शैव दर्शन), (८) प्रत्यभिज्ञादर्शन, (९) रसेश्वरदर्शन, (१०) औलुक्यदर्शन (वैशेषिक दर्शन), (११) अक्षपाददर्शन (नैयायिक दर्शन), (१२) जैमिनिदर्शन, (१३) पाणिनिदर्शन, (१४) सांख्यदर्शन, (१५) पातंजलदर्शन और (१६) शांकरदर्शन (वेदांत दर्शन) ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि,[१८०] श्री जैनाचार्य विरचित **'द्वादश नयचक्र'** ग्रंथ में भी इसी शैली से प्रतिपादन हुआ है। वह भी दर्शनसंग्राहक ग्रंथ की श्रेणी में ही आता है । **परन्तु 'सर्वदर्शन संग्रह' ग्रंथ में अद्वैत को ही अंतिम सत्य कहा गया है। जब कि, "नयचक्र" में सर्वदर्शनो के समूह को अनेकांतवाद कहा है और प्रत्येक दर्शन को एकांत कहा हैं।**

179. यह उल्लेखनीय है कि, 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' ग्रंथ श्री शंकराचार्यजी की कृति होने में संदेह है । फिर भी वह श्री माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह से प्राचीन तो है ही । 180. यह दर्शन संग्राहक चेप्टर में जो माहिती प्रदान की जा रही है वह श्री महेन्द्रकुमार जैन द्वारा संपादित "षड्दर्शन समुच्चय" हिन्दी अनुवाद ग्रंथ की प्रस्तावना में से साभार संगृहीत की है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री माधव सरस्वती ने "**सर्वदर्शन कौमुदी**" नाम का ग्रंथ लिखा है । (जो त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रंथालय में से ई. १९३८ में प्रकाशित हुआ हैं।) **इस ग्रंथ में वैदिक और अवैदिक ऐसे दो दर्शन विभाग करके वर्णन किया गया हैं । उनके अनुसार से वैदिक दर्शनो में तर्क, तंत्र और सांख्य, ये तीन दर्शन हैं । तर्क से** नैयायिक और वैशेषिक अभिप्रेत हैं । **तंत्र से** शब्दमीमांसा (व्याकरण) और अर्थमीमांसा अभिप्रेत हैं । अर्थ मीमांसा का दो प्रकार से विभाजन हैं - (१) कर्मकांड विचार (पूर्वमीमांसा) और (२) ज्ञानकांडविचार (उत्तर मीमांसा) । पूर्वमीमांसा के दो विभागो का प्ररूपण किया हैं । (१) भाट्ट और (२) प्राभाकर । **सांख्यदर्शन के दो भेदों का निर्देश है ।** सेश्वरवादी योगदर्शन और निरीश्वरवादी सांख्यदर्शन।

अवैदिकदर्शनो में बौद्ध, चार्वाक और आर्हत (जैन), इन तीन की गणना की हैं । बौद्ध की वैभाषिकादि चार निकाय ग्रहण की है । क्रम में प्रथम वैशेषिक दर्शन का निरुपण किया गया हैं ।

श्री मधुसूदन सरस्वती द्वारा विरचित "**प्रस्थानभेद**" भी दर्शन संग्राहक ग्रंथ की श्रेणी में कहा जा सके, ऐसा हैं। उसमें भी वैदिक और अवैदिक दर्शन विभाग करके, प्रत्येक का विवेचन किया है । बौद्ध की चार निकाय, दिगंबर (जैन) और चार्वाक, इन छः को अवैदिक कहे हैं और न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा ये छः प्रसिद्ध वैदिक दर्शन ग्रहण किये है । उसके सिवा पाशुपत और वैष्णव संप्रदाय को भी वैदिक दर्शन में ही गिने हैं ।

- ग्रंथकार श्री :

प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता समर्थ शास्त्रकार शिरोमणी पू.आ.भ. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा १४४४ ग्रंथ के रचयिता के रूप से दर्शन जगत में प्रसिद्ध है । उनकी जैनदीक्षा के पहले की गृहस्थ अवस्था भी जानने जैसी है। श्री हरिभद्र पूरोहित उनका गृहस्थावस्था का नाम हैं । वे चौदह विद्या के पारगामी थे । चित्तोडगढ के राजपुरोहित पद से विभूषित थे, ज्ञान के साथ अहंकार और सत्य की आकंठ जिज्ञासा भी थी । सत्यार्थीपन के कारण ही "जो वस्तु (विषय) मुझे समझ में न आये और मुझे वह विषय जो व्यक्ति समजाये उसका मुझे शिष्य हो जाना" ऐसी प्रतिज्ञा उन्होंने अंगीकार की थी । फिर भी गृहस्थावस्था में जैनदर्शन के कट्टर द्वेषी थे । "**हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्झिनमंदिरम्**" - हाथी के पैर तले कुचल के मर जाना किन्तु (हाथी से बचने के लिए) जिनमंदिर में न जाना - प्रवेश न करना ऐसी उनकी मानसिकता थी और जैनदर्शन प्रति तीव्रद्वेष था, फिर भी सत्य के अर्थी थे । उसके योग से ही जैनदर्शन को प्राप्त करते है और पचाते भी है ।

एकबार उसके जीवन में जैनदर्शन की तात्त्विक दुनिया का स्पर्श हो जाय - अनुभव हो जाय, ऐसी एक घटना आकार लेती है । सुंदर भवितव्यतावश सत्य के अर्थी श्री हरिभद्र पुरोहित को जैनदर्शन के जैनाचार्य की निकट में आने का प्रसंग खडा होता हैं । एकदा राजपुरोहित राजदरबार की ओर जा रहे थें । बीच में एक उपाश्रय (धर्मस्थान) आता था, जिसमें साध्वीवृंद की धर्माराधना चलती थी । उस उपाश्रय के पास में से गुजरते वक्त शिष्याओं से परिवृत्त साध्वीजी श्री याकिनी महत्तरा के मुख में से कंठस्थ होते किसी सूत्र के अनजाने शब्दो की ध्वनि श्री हरिभद्र पुरोहित के कान से टकराती है । कंठस्थ होते[१८१] श्लोक को सुनकर राजपुरोहित वही स्थल पे खडे रह जाते है और अर्थ का चिंतन करने लगते हैं । परन्तु अर्थघटन नहीं कर सकते है, जीवन में आज पहेली बार ऐसी घटना हुंई है कि, वे किसी सूत्र के अर्थघटन के विषय में उलझन में पड गये हो ! सत्य के अर्थी उनको अपनी प्रतिज्ञा याद आती है । वे तुरंत साध्वीजी के उपाश्रय में जाते हैं और

181. **कंठस्थ होता श्लोक** - चक्कीदुगं हरि पणगं । पणगं चक्कीणं केसवो चक्की । केसव चक्की केसव । दुचक्की केसी अ चक्की अ ।। यह अपसर्पिणी में भरत क्षेत्रमां बार चक्रवर्ती और नव वासुदेव हुए ऐसा भाव इस श्लोक में है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनयपूर्वक साध्वीजी को श्लोक का अर्थ पूछते है । **जैनशासन की मर्यादा के संवाहक साध्वीजी ने औचित्यपूर्वक बताया कि, "महानुभाव ! पुरुष को श्लोक और श्लोक का अर्थ देने का अधिकार साध्वीजी का नहीं है । इसलिए मैं आपको इसका अर्थ नहीं कह सकूंगी । आप पास में भाईयों के उपाश्रय में बिराजमान पू. धर्माचार्य श्री जिनभद्राचार्यजी के पास से श्लोक का अर्थ प्राप्त कर सकते हैं ।"** सत्य के अर्थी राजपुरोहित पू. धर्माचार्य के पास पहुँच गये और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन्हों ने श्री जैनाचार्य के पास से जैनदीक्षा को अंगीकार की । सत्य के अर्थी ऐसे वे राजपुरोहित गृहस्थी मिटकर जैन मुनि श्री हरिभद्रविजयजी बने। पू. धर्माचार्य की पावन निश्रा में जिनागमो के अभ्यास का प्रारंभ किया । क्षयोपशम तो था ही, उसे यथार्थ तेज दिया जाने से वह क्षयोपशम खील उठा । जैनदर्शन के पारगामी बने । जिनागमो का अभ्यास करते करते जैनदर्शन के उपर अपार बहुमानभाव प्रकट हुआ । एक समय के कट्टर द्वेषी अब जैनदर्शन के उपर अपार बहुमानवाले बने है और जिनागम पाने का आनंद और प्राप्त हुई सनाथता को प्रकट करते हुए एक स्थान पर लिखते हैं कि-

कथं अम्हारिसा प्राणी दुसमादोसदूसिया । हा ! अणाहा कहं हुंता जई न हुंतो जिणागमो ।।[१८२]

- दुषमाकाल के दोष से दोषित बने हुए हमारे जैसे अनाथ जीवो का, यदि जिनागम न मिले होते तो क्या होता ?

श्री जिनागमो का ठोस अभ्यास करने के बाद लेखन प्रवृत्ति प्रारंभ हुई । **उन्हों ने - श्रीमद्ने १४४४ ग्रंथो की रचना की थी । उन्हों ने - श्रीमद्ने जिनागमो के उपर टीकायें रची है, कथाग्रंथो का भी आलेखन किया है, दर्शन के ग्रंथ भी रचे है, योग ग्रंथो की भी अमूल्य भेट दी है । ज्योतिष के ग्रंथ भी लिखे हैं और स्तुतिग्रंथो का भी सर्जन किया हैं । संक्षिप्त में, उन्होंने - श्रीमद्ने जैनवाङ्मय के विविध क्षेत्रो में साहित्य की भेट देकर जैन साहित्य को समृद्ध बनाया है** । जैनदर्शन के अनुयायी आज भी हृदयपूर्वक स्वीकार करते हैं कि, यदि पू.आ.भ. श्री **हरिभद्रसूरिजी महाराजा** और न्यायाचार्य पू. महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी** महाराजा ने सेंकडो **'प्रकरण ग्रंथ'** न रचे होते तो जरूर से हम जिनागमो के रहस्यो से वंचित रह गये होते । दोनों महापुरुषो के ग्रंथो में जिनागमो के विषयो के रहस्यो का अद्भूत शैली से उद्घाटन हुआ है । **इसलिए ही प्रभु वीर की ७७वीं पाट को सुशोभित करनेवाले व्याख्यान वाचस्पति तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्य देवेश श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा अपने सुविशाल गच्छ को और अनुयायीओं को यह महापुरुष के, ग्रंथराशी का पठन-पाठन करने के लिए बारबार प्रेरणा देते थे ।**

वे पूर्वकाल के मान-प्रतिष्ठा-पांडित्य आदि सब का त्याग करके जिनागमो के आराधक बने, पारदर्शी बने, पारंगत बने, प्रत्येक दर्शन की मान्यताओं का परामर्श किया और उसकी मान्याताओं की गहराई तक गये और स्याद्वाद शैली से उसका मूल्यांकन करके पूर्णरूप से मध्यस्थता को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि...

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।। (लोकतत्त्व-१/३८)

उनके १४४४ ग्रंथो में से हाल में ७० ग्रंथ उपलब्ध है । उसकी सूची "जैनदर्शन का ग्रंथकलाप" नाम के परिशिष्ट में संगृहित की हुई है । **उसमें से षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय, अनेकांत जयपताका आदि ग्रंथ दार्शनिक जगत में अतिप्रसिद्ध है । 'षड्दर्शन समुच्चय'** ग्रंथ को तो कुछ युनिवर्सिटीयों ने स्नातक-स्नातकोत्तर कक्षा की परीक्षा के अभ्यास क्रम में (कोर्स में) स्थान दिया है । ८७ श्लोक प्रमाण ग्रंथ में प्रत्येक दर्शन का सुंदर परिचय दिया है । उनके - श्रीमद् के ग्रंथो का परिचय पूर्वनिर्दिष्ट परिशिष्ट में दिया गया है । उनके - श्रीमद् के जीवन और लेखन प्रवृत्ति

182. संबोध प्रकरण ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विषय में स्वतंत्र पुस्तक रूप से बहोत लिखा गया हैं । इसलिए यहाँ विस्तार नहीं करते है । **यहाँ उल्लेख करना चाहिए कि, उनकी मध्यस्थता का गलत तरीके से मूल्यांकन करके उनको "समदर्शी" बताकर अपने संदिग्ध, मिलावटवाले विचारो को फैलाने का जो प्रयत्न कुछ लेखको ने किया है। वे लेखक वास्तव में मध्यस्थ या समदर्शी नहीं रहे है । महापुरुषों के जीवन के आदर्शों को यथावत् स्वीकार ने चाहिए । अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिए दुरुपयोग करना नहीं चाहिए। क्योंकि, ऐसी स्वार्थपोषक प्रवृत्ति स्व-पर को अहितकर बनती है ।**

टीकाकारश्री :

तार्किक रत्न पू.आ.भ. श्री गुणरत्नसूरिजी महाराजा प्रस्तुत ग्रंथ के टीकाकार हैं । वे पू.आ.भ. श्री देवसुंदरसूरिजी के शिष्य थे । टीकाकारश्री वादविद्या में कुशल थे और वाद में अनेक प्रतिपादिओं को जीते थे । उनकी - श्रीमद् की प्रतिभा स्वदर्शन और परदर्शन में सर्वत्र व्याप्त थी । **उनकी प्रस्तुत ग्रंथ के उपर की "तर्करहस्यदीपिका" नाम की टीका में प्रत्येक दर्शन की पर्याप्त विचारणा की गई है** । मूलग्रंथकार के श्लोको का अनुसरण करके प्रत्येक दर्शनो का अति सरल भाषा में परिचय कराया हैं । इसके सिवा भी टीकाकारश्री ने दूसरे अनेक ग्रंथो की रचना की है । उसकी आंशिक नोंध यहाँ प्रस्तुत हैं ।

(१) कल्पान्तर्वाच्य : सं. १४५७ में विरचित इस ग्रंथ में पर्युषण पर्व का महिमा, कल्पसूत्र के वांचन का प्रभाव और श्री जिनेश्वरों के चरित्र इत्यादि का वर्णन हैं । **(२) क्रियारत्न समुच्चय ग्रंथ :** सं. १४६६ में समाप्त हुए इस ग्रंथ को व्याकरण का ग्रंथ माना जाता है । कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी म. के **'सिद्धहेमशब्दानुशासन'** के आधार पर धातुओं का संकलन इस ग्रंथ में किया गया हैं । उसमें सर्व काल के धातुओं के रूप किस प्रकार से होते हैं वह उदाहरण सहित बताये गये हैं । सर्वप्रथम कालो के विभाग का स्पष्टीकरण करके **'भू'** आदि गणो के क्रम से गणो की धातुओं के रूप निर्दिष्ट किये हैं । उसके बाद सौत्रधातु और नामधातु के रूप दिये हैं । **(३) चतुःशरणादि प्रकीर्णकादिचूर्णि : चतुः शरण, आतुर प्रत्याख्यान, संस्तारक** और **भक्त परीज्ञा** - इन चार प्रकीर्णकों की (आगमो की) अवचूरि (कि जिसको विषमपद विवरण भी कहा जाता है, वह) रची है । **(४) क्षेत्रसमास अवचूर्णि :** पू.आ.भ.श्री सोमतिलकसूरिजी विरचित क्षेत्रसमास ग्रंथ के उपर टीकाकारश्री ने संक्षिप्त टीका रूप अवचूर्णि की रचना की हैं । **(५) वासोंतिक वितंडा विडंबन प्रकरण :** मूल परंपरा से अलग पडे हुए अंचलगच्छ की कुछ मान्यताओं का निराकरण करने के लिए इस ग्रंथ की रचना टीकाकारश्री ने की है । **(६) षड्दर्शन समुच्चय की तर्करहस्य दीपिका टीका :** यह ग्रंथ यहाँ प्रस्तुत ही हैं । इस ग्रंथ में बौद्धोदि छः दर्शनो का परिचय है और जैनदर्शन की टीका में तर्कपूर्ण दलीलो द्वारा अनेक वादो की समीक्षा की गई हैं।

षड्दर्शन - समुच्चय की अन्य टीकायें :

पू.आ.भ.श्री सोमतिलकसूरिजीने इस ग्रंथ के ऊपर **"लघुवृत्ति"** की रचना की हैं । तदुपरांत पू.वाचक **श्री उदयसागरजी** कृत **'अवचूरि'** और श्री **ब्रह्मशांतिदास** कृत **'अवचूर्णि'** उपलब्ध होती है । **इन सभी कृतिओं को "षड्दर्शन सूत्र संग्रह एवं षड्दर्शन विषयक कृतयः" नाम के (इस ग्रंथ के साथ प्रकाशित होनेवाले) ग्रंथ में संगृहित किये है ।**

विशेष में प्रस्तुत दो भाग में विभक्त हिन्दी भावानुवाद (हिन्दी व्याख्या) में.... यहाँ उल्लेखित विस्तृत भूमिका, संक्षिप्त एवं विस्तृत विषयानुक्रम तथा परिशिष्टो में साक्षीपाठो की सूचि, पारिभाषिक शब्दानुक्रमिका (सार्थ), वेदांत दर्शन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विस्तृत विवेचन, मीमांसक दर्शन के प्रमाण - प्रमेय विषयो का विस्तृत प्रतिपादन, योगदर्शन के पदार्थो का स्वरूप, बौद्ध और सांख्यदर्शन में विशेषार्थ, जैनदर्शन की टीका में अनेक वादो की परीक्षा, जैनदर्शन के स्याद्वाद, नय, सप्तभंगी, निक्षेप, नवतत्त्व का विशेषार्थ और केवल जैन दर्शन में ही उपलब्ध ऐसी कर्म विषयक सामग्री तथा जैनदर्शन का ग्रंथकलाप इत्यादि अनेक विषयो का संकलन किया गया हैं ।

सारांश में, प्रस्तुत दो भाग में विभक्त ग्रंथ में विस्तृत भूमिका, पूज्यो की शुभाभिलाषा, दो पंडितजी के अभिप्राय, ग्रंथ की पंक्ति का सरल और यथार्थ अनुवाद, तत् तत् दर्शन के विशेषार्थ, २२ परिशिष्टो में अधिक पदार्थो का समावेश, टीका की शैली का परिचय, टीकाकारश्रीने जो पदार्थो का वर्णन किया हैं, उसके मूल आधारस्थान (साक्षीपाठ), प्रत्येक दर्शन के पारिभाषिक शब्दो की अर्थ सहित स्वतंत्र सूची आदि को समाविष्ट करके दर्शन के जिज्ञासुओं को उपयोगी विषयो का संग्रह करने का समुचित प्रयत्न किया गया हैं ।

मेरे अल्प क्षयोपशम और संप्राप्त सामग्री के आधार पर इस हिन्दी भावानुवाद का आलेखन और अनेक दार्शनिक सिद्धांत-मान्यताओं का संकलन किया हैं । उसमें कोई भी स्थान पर शास्त्रदृष्टि से क्षति मालूम हो तो विद्वानो को शास्त्र के आधार सहित बताने की नम्र प्रार्थना - सुझाव हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से सर्व धर्म की विभावनाओं के स्वरूप को यथार्थ रूप से समझकर सत्यमार्ग के चाहक - पथिक बनकर अपने आत्मा का कल्याण करे, यही सदा सदा के लिए शुभाभिलाषा...

लि.

मु. संयमकीर्ति वि.

श्री रत्नत्रयी आराधना भवन,

वसंतकुंज, अहमदाबाद ।

दिनांक १२-०९-११, सोमवार

भाद्रपद शुक्ल १५, २०६७

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तृत विषयानुक्रम

क्रम	विषय	पृ. नं.
१	**प्रकाशकीय**	७
२	**पूरोवचन**-पू.आ.भ.श्री.कीर्तियश सू.म.सा.	९
३	**किंचित्**-पू.मु.श्री. दिव्यकीर्ति वि.गणी	१२
४	**संशोधकप्रतिभावः** - श्री मेहुलभाई शास्त्री	१४
५	**सारस्वतवचनम्** - डॉ. विष्णुप्रसाद शास्त्री	१७
६	**संपादकीय**	१९
७	**भूमिका - संपादक**	२६
	- उपोद्घात	२६
	- दर्शन	२८
	- सभी दर्शन को मान्य मोक्ष का स्वरूप	३०
	- षड्दर्शन	३७
८	**बौद्धदर्शन**	**३७**
	- देवता	३७
	- तत्त्वमीमांसा	३८
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	४०
	- नैरात्म्यवाद	४०
	- क्षणिकवाद	४१
	- प्रतीत्यसमुत्पाद वाद	४१
	- अनीश्वरवाद	४१
	- चार निकाय	४१
	- प्रमाण विचार	४२
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	४२
९	**नैयायिकदर्शन**	**४४**
	- देवता	४५
	- तत्त्वमीमांसा	४५
	- प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय-प्रमिति	४६
	- महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत	४७
	- प्रमाण विचार	४७
	- प्रत्यक्ष प्रमाण	४८
	- अनुमान प्रमाण	४९
	- उपमान प्रमाण	४९
	- शब्द प्रमाण	५०
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	५०
	- प्राचीन न्याय	५१
	- नव्यन्याय	५१
१०	**सांख्यदर्शन**	**५२**
	- देवता-ईश्वर विषयक महत्त्व की चर्चा	५२
	- तत्त्वमीमांसा	५३
	- प्रमाणमीमांसा	५४
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	५५
	- सत्कार्यवाद	५५
	- पुरुष बहुत्व	५५
	- ग्रंथ एवं ग्रंथकार	५६
११	**जैनदर्शन**	**५६**
	- देवता	५७
	- तत्त्वमीमांसा	५९
	- जीव	५९
	- अजीव	६०
	- पुण्य-पाप-आश्रव	६१
	- संवर-बंध-निर्जरा	६१
	- मोक्ष	६२
	- प्रमाणमीमांसा	६३
	- प्रत्यक्ष प्रमाण	६३
	- परोक्ष प्रमाण	६३
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	६४
	- स्याद्वाद	६४
	- नयवाद	६६
	- सप्तभंगी	६६
	- निक्षेप योजन	६७
	- सत् की व्याख्या	६७
	- कर्मवाद	६७
	- शरीर परिमाणवाद	६८
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	६९
	- दार्शनिक ग्रंथ	७०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	पृ. नं.
१२	**वैशेषिक दर्शन**	**७१**
	- देवता	७१
	- तत्त्वमीमांसा	७१
	- अभाव पदार्थ के विषय में स्पष्टता	७३
	- प्रमाणमीमांसा	७३
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	७४
	- पीलुपाकवाद	७४
	- ईश्वरवाद	७४
	- ग्रंथ और ग्रंथकार	७४
१३	**मीमांसकदर्शन**	**७५**
	- देवता	७६
	- तत्त्वमीमांसा	७७
	- प्रमाण विचार	७७
	- महत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत	७८
	- अपूर्व सिद्धांत	७८
	- प्रामाण्यवाद	७८
	- अपौरुषेयवाद	७९
	- जगत्	७९
	- ग्रंथ एवं ग्रंथकार	७९
१४	**उत्तरमीमांसा (वेदांत) दर्शन**	**८०**
	- ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार	८१
	- ग्रंथ-ग्रंथकार	८१
१५	**योगदर्शन**	**८३**
	- ग्रंथ-ग्रंथकार	८३
१६	**दर्शनसंग्राहक ग्रंथ**	**८४**
१७	**ग्रंथकारश्री का परिचय**	**८६**
१८	**टीकाकारश्री का परिचय**	**८८**
१९	**षड्दर्शन समुच्चय की अन्य टीकायें**	**८८**
२०	**शुभ कामना**	**८९**

विस्तृत विषयानुक्रम

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
१	टीकाकारश्री का मंगल	-	१
२	ग्रंथकारश्री का मंगल	(१)	२
३	वीरपरमात्मा के चार अतिशय	(१)	३
४	आदि-मध्य-अंत्यमंगल का कारण	(१)	६
५	'सद्दर्शन' विशेषण के द्वारा जैनदर्शन की सत्यता की सिद्धि	(१)	७
६	भगवान के विशेषणों द्वारा अन्यमतों का खंडन	(१)	८
७	शास्त्रकारपरमर्षि की मध्यस्थता	(१)	१३
८	संख्यातीत दर्शनों का छः में अन्तर्भाव	(१)	१४
९	३६३ परवादियों की मान्यताओं का प्रारंभ	(१)	१६
१०	क्रियावादियों के १८० भेद	(१)	१६
११	अक्रियावादियों के ८४ भेद	(१)	२२
१२	अज्ञानवादियों के ६७ भेद	(१)	२४
१३	सत्त्वादि सात भंगों की विचारणा	(१)	२८
१४	विनयवादियों के ३२ भेद	(१)	२९
१५	लोक के स्वरुप के बारे में भिन्न-भिन्न मान्यतायें	(१)	३०
१६	दर्शनों की संख्या	(२)	३५
१७	दर्शन के नाम	(३)	३६
	बौद्ध दर्शन : अधिकार-१		**३८**
१८	बौद्धदर्शन के देवता सुगत	(४)	३९
१९	दुःखादि चार आर्यसत्य	(४)	४१
२०	(चार आर्यसत्य में से) दुःखतत्त्व के विज्ञानादि पांच भेद - स्कंध	(५)	४२
२१	दुःखतत्त्व के कारणभूत समुदय तत्त्व की व्याख्या	(६)	४५
२२	(चार आर्यसत्य में से) "मार्ग" और "निरोध" तत्त्व की प्ररुपणा तथा "क्षणिकवाद" की सिद्धि	(७)	४६

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
२३	बारह आयतन का वर्णन	(८)	५४
२४	प्रमाण का सामान्यलक्षण तथा प्रामाण्यवाद	(८)	५६
२५	बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान दों प्रमाण	(९)	६०
२६	दो प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाणों का निषेध	(९)	६३
२७	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	(१०)	६८
२८	प्रत्यक्ष प्रमाण के चार भेद	(१०)	७०
२९	अनुमान प्रमाण का लक्षण	(१०)	७६
३०	हेतु के पक्षधर्मतादि तीन रुप	(११)	७८
३१	मूलग्रंथकारश्री ने नहीं कहा हुआ कुछ विशेषवर्णन	(११)	८२
३२	बौद्धदर्शन के वैभाषिक आदि भेदो की आंशिक मान्यता	(११)	८३
३३	बौद्धदर्शन का उपसंहार	(१२)	८४
३४	**बौद्धदर्शन के विशेषार्थ का प्रारंभ**		**८६**
३५	**वैभाषिक मत की मान्यता**		**८६**
३६	धर्मो का वर्गीकरण		८७
३७	विषयीगत विभाजन		८७
३८	पंचस्कन्ध-बार आयतन		८७
३९	अढारहधातु		८८
४०	विषयगत वर्गीकरण		८८
४१	संस्कृत धर्मो के ७५ भेद		८९
४२	असंस्कृत धर्म		९१
४३	**सौत्रान्तिकमत**		**९३**
४४	सौत्रान्तिकमतानुसार धर्मो का वर्गीकरण		९५
४५	**योगाचार (विज्ञानवादि) की मान्यता**		**९६**
४६	विज्ञान के प्रभेद		९८
४७	आलयविज्ञान का स्वरूप		१००
४८	योगाचारमतानुसार पदार्थ समीक्षा		१०१
४९	सत्तामीमांसा		१०२

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं..
५०	**माध्यमिक (शून्यवाद) की मान्यता**		**१०४**
५१	ज्ञानमीमांसा		१०४
५२	सत्ता परीक्षा		१०५
५३	कारणतावाद		१०६
५४	स्वभाव परीक्षा		१०७
५५	द्रव्य परीक्षा		१०७
५६	जाति		१०८
५७	संसर्ग विचार		१०८
५८	गति परीक्षा		१०९
५९	आत्मपरीक्षा		१०९
६०	कर्मफल परीक्षा		१११
६१	ज्ञान परीक्षा		११२
६२	सत्ता परीक्षा		११३
६३	संवृत्ति के दो प्रकार		११४
६४	परमार्थ सत्य		११५
६५	व्यवहार की उपयोगिता		११५
६६	शून्यवाद		११६
६७	शून्यता का उपयोग		११६
६८	शून्यता का लक्षण		११७
६९	शून्यवाद की सिद्धि		११७
७०	**शून्यता के २० प्रकार**		**११८**
७१	सत्ता के प्रश्न को लेकर बौद्धदर्शन के चार संप्रदाय		१२०
७२	हीनयान और महायान की निर्वाण के विषय में मान्यता		१२१
७३	निर्वाण और संसार के विषय में चार मतो की विशेषता		१२२
७४	बौद्धमत में काल विषयक मान्यता		१२३
७५	सम्मितीय संप्रदाय के सिद्धांत		१२४

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	नैयायिक दर्शन : अधिकार - २		
७६	**नैयायिकदर्शन का प्रारंभ, उसके वेश,** लिंग और आचार	(१२)	१२५
७७	नैयायिकमत में विभु-नित्य-एक सर्वज्ञ-नित्यबुद्धिवान् शिवदेव	(१३)	१२८
७८	ईश्वर की जगत्कर्ता के रूप में सिद्धि	(१३)	१२९
७९	प्रमाणादि सोलह (१६) तत्त्वो की प्ररूपणा	(१४, १५, १६)	१३४
८०	प्रमाण का सामान्य लक्षण	(१४, १५, १६)	१३८
८१	प्रमाण के प्रत्यक्षादि चार भेद	(१७, १८, १९)	१३९
८२	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	(१७, १८, १९)	१४०
८३	संयोगादि छः सन्निकर्ष	(१७, १८, १९)	१४२
८४	प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणगत शब्दों की सार्थकता	(१७, १८, १९)	१४४
८५	प्रत्यक्ष प्रमाण का फलादि तीन विशेषणपक्षों की विचारणा	(१७, १८, १९)	१४७
८६	प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद	(१७, १८, १९)	१५०
८७	अनुमान प्रमाण का लक्षण		१५१
८८	अनुमान प्रमाण के पूर्ववत् आदि तीन भेदों का वर्णन	(१७, १८, १९)	१५४
८९	हेतु के पक्षधर्मता आदि पांचरूप	(१७,१८,१९)	१५६
९०	अनुमान के विषय के तीन प्रकार	(१७,१८,१९)	१५७
९१	पूर्ववत् आदि अनुमान के भेदों की भिन्न प्रकार से प्ररुपणा	(१७, १८, १९)	१६४
९२	पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण	(२०)	१६८
९३	शेषवत् अनुमान का उदाहरण	(२१)	१६९
९४	सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण	(२२)	१७०
९५	उपमान प्रमाण का लक्षण	(२३)	१७१
९६	शब्द प्रमाण का लक्षण	(२४)	१७३
९७	प्रमेय का लक्षण तथा आत्मादि प्रमेय का निरुपण	(२४)	१७४
९८	संशय-प्रयोजन का स्वरूप	(२५)	१८१
९९	दृष्टांत और सिद्धांततत्त्व की व्याख्या	(२६)	१८४
१००	अवयव-तर्क-निर्णयतत्त्व का स्वरूप	(२७, २८)	१८९
१०१	प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव	(२७, २८)	१८९
१०२	तर्क की व्याख्या	(२७, २८)	१९१
१०३	निर्णय तत्त्व की व्याख्या	(२७, २८)	१९२
१०४	वादतत्त्व का निरुपण	(२९)	१९३
१०५	कथा के दो प्रकार	(२९)	१९३
१०६	कथा के वादि आदि चार अंग	(२९)	१९४
१०७	जल्प और वितंडा का स्वरुप	(३०)	१९५
१०८	हेत्वाभासादि तीन का स्वरुप	(३१)	१९७
१०९	असिद्ध आदि हेत्वाभास के पांच प्रकार	(३१)	१९८
११०	छल का स्वरुप तथा उसके वाक्छल आदि तीन प्रकार	(३१)	२०२
१११	जातितत्त्व की व्याख्या तथा उसके २४ भेदो के नाम	(३१)	२०५
११२	साधर्म्यसमा जाति	(३१)	२०५
११३	वैधर्म्य-उत्कर्ष-अपकर्ष समाजाति	(३१)	२०६
११४	वर्ण्य-अवर्ण्यसमाजाति	(३१)	२०७
११५	विकल्पसमाजाति	(३१)	२०८
११६	साध्य-प्राप्ति-अप्राप्तिसमाजाति	(३१)	२०९
११७	प्रसंग-प्रतिदृष्टांत-अनुत्पत्ति-समाजाति	(३१)	२१०
११८	संशय-प्रकरण समाजाति	(३१)	२११
११९	हेतुसमाजाति	(३१)	२१२
१२०	अर्थापत्ति-अविशेष समाजाति	(३१)	२१३
१२१	उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि समाजाति	(३१)	२१३
१२२	नित्य-अनित्यसमा जाति	(३१)	२१५
१२३	कार्यसमाजाति	(३१)	२१६
१२४	जातिओं का प्रति समाधान	(३१)	२१७
१२५	निग्रहस्थान का स्वरुप तथा उसके प्रतिज्ञाहानि आदि २२ भेद के नाम	(३२)	२२३

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
१२७	प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान	(३२)	२२५
१२८	प्रतिज्ञान्तर-प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान	(३२)	२२६
१२९	प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान	(३२)	२२७
१३०	हेत्वन्तर-अर्थान्तर निग्रहस्थान	(३२)	२२८
१३१	निरर्थक - अविज्ञातार्थ- अपार्थक निग्रहस्थान	(३२)	२२९
१३२	अप्राप्तकाल - न्यून निग्रहस्थान	(३२)	२३०
१३३	अधिक - पुनरुक्त अननुभाषण निग्रहस्थान	(३२)	२३०
	- अधिक-अप्रतिभा निग्रहस्थान	(३२)	२३१
	- विक्षेप निग्रहस्थान	(३२)	२३२
१३४	मतानुज्ञा-पर्यनुयोज्योपेक्षण- निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान	(३२)	२३३
१३५	अपसिद्धांत-हेत्वाभास निग्रहस्थान	(३२)	२३४
१३६	मूलग्रंथकारश्री ने नहीं कही हुई कुछ नैयायिकदर्शन की मान्यतायें	(३२)	२३५
१३७	नैयायिकमत का उपसंहार सांख्यमत के प्रारंभ का सूचन	(३३)	२३६
	सांख्य दर्शन : अधिकार-३		
१३८	**सांख्यदर्शन**		**२३७**
१३९	सांख्यमत के वेष, लिंग और आचार	(३३)	२३८
१४०	सांख्यमत का प्रारंभ	(३४)	२३९
१४१	दुःख के तीन प्रकार	(३४)	२४०
१४२	सांख्यमत को मान्य २५ तत्त्व का निरुपण	(३५)	२४१
१४३	सत्त्वादि तीनगुणो का निरूपण और उसके कार्य	(३५)	२४२
१४४	प्रकृति का स्वरूप	(३६)	२४३
१४५	सृष्टिक्रम	(३७)	२४४
१४६	बुद्धि-अहंकार का स्वरुप	(३७)	२४५
१४७	षोडशसमुदाय के नाम	(३८,३९)	२४५
१४८	पंचभूत की उत्पत्ति	(४०)	२४७
१४९	पुरुषतत्त्व का निरुपण	(४१)	२४८

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं..
१५०	सांख्यकारिका के आधार पर बुद्धि आदि तथा प्रकृति का विस्तार से स्वरूप	(४१)	२४९
१५१	पुरुषतत्त्व का स्वरूप	(४१)	२५२
१५२	तत्त्वो का उपसंहार	(४२)	२५५
१५३	प्रकृति और पुरुष की लंगडे और अंध के समान वृत्ति	(४२)	२५६
१५४	प्रमाण का स्वरूप	(४३)	२५८
१५५	प्रमाण का सामान्यस्वरूप तथा प्रमाण के भेद	(४३)	२५८
१५६	मूलग्रंथकारश्री ने नहि कहा हुआ विशेषवाच्यार्थ	(४३)	२६०
१५७	सांख्यमत का उपसंहार	(४४)	२६१
१५८	**सांख्यदर्शन का विशेषार्थ**		**२६४**
१५९	पुरुष के दो प्रकार		२६४
१६०	तत्त्वविचार		२६५
१६१	सत्कार्यवाद		२६८
१६२	सृष्टि विकास		२७०
१६३	पुरुष तत्त्व		२७१
१६४	पुरुष-प्रकृति संयोग		२७२
१६५	प्रकृति		२७३
१६६	प्रकृति की अवस्था विशेष		२७४
१६७	विशेष अवस्था		२७४
१६८	अविशेष-लिंगमात्र अवस्था		२७५
१६९	अलिंग अवस्था		२७६
१७०	प्रकृति के दूसरे नाम		२७७
१७१	सेश्वरवादी मत से ईश्वर का स्वरूप		२७७
१७२	पांच क्लेश का स्वरूप		२७८
१७३	सांख्यकारिका का विशेषार्थ-कारिका-१		२८१
१७४	कारिका-२		२८१
१७५	कारिका-३ का विशेषार्थ		२८२

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
१७६	कारिका-४-५-६ (प्रमाण स्वरूप)		२८३
१७७	कारिका-७ (प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण)		२८४
१७८	कारिका-८ (प्रकृति की अप्रत्यक्षता का कारण)		२८४
१७९	सत्कार्यवाद - उनके पांच हेतु (का. ९)		२८५
१८०	प्रकृति का स्वरूप (का. १०-११)		२८५
१८१	सत्त्वादि तीन गुणो का स्वरूप (का. १२)		२८६
१८२	तीन गुण के उदाहरण (का. १३-१४)		२८७
१८३	अव्यक्त का स्वरुप (का. १५-१६)		२८९
१८४	पुरुष का अस्तित्व (का. १७)		२९१
१८५	पुरुष बहुत्व (का. १८)		२९३
१८६	पुरुष का स्वरूप (का. १९-२०)		२९३
१८७	पुरुष-प्रकृति का संयोग (का. २१)		२९४
१८८	सृष्टिक्रम (का. २२,२३,२४,२५,२६)		२९४
१८९	मन का स्वरुप (का. २७)		२९६
१९०	दस इन्द्रियों की वृत्तियाँ (का.२८)		२९७
१९१	त्रिविध अन्तःकरण के व्यापार (का.२९)		२९७
१९२	कारिका-३०		२९७
१९३	जिज्ञासापूर्ति (का. ३१)		२९८
१९४	पुरुष के प्रयोजन वश करणों की प्रवृत्ति (का. ३२)		२९८
१९५	अंतःकरणादि के प्रकार (का. ३३)		२९९
१९६	कारिका ३४-३५-३६		२९९
१९७	बुद्धि की प्रधानता (का. ३७)		३००
१९८	पंच तन्मात्रा का स्वरूप (का. ३८-३९)		३००
१९९	सूक्ष्म शरीर (का. ४०-४१)		३००
२००	प्रयोजन (का. ४२)		३०१
२०१	कारिका (का. ४३)		३०१
२०२	कारिका (का. ४४-४५-४६)		३०२
२०३	प्रत्ययसर्गादि का निरुपण (का. ४७-४८-४९-५०)		३०३
२०४	सिद्धि का भेद-प्रभेद (का. ५१)		३०८
२०५	कारिका-५२		३०९
२०६	तन्मात्रकृत सर्ग-भौतिकसर्ग (का. ५३)		३१०
२०७	का. ५४-५५		३११
२०८	का. ५६		३१२
२०९	का. ५७-५८		३१३
२१०	का. ५९-६०		३१४
२११	का. ६१-६२		३१५
२१२	का. ६३-६४		३१६
२१३	का. ६५-६६		३१७
२१४	का. ६७		३१८
२१५	का. ६८-६९-७०		३१९
२१६	का. ७१-७२-७३		३२०
२१७	बंधन-मुक्ति की विचारणा		३२१

भाग-१ परिशिष्ट विभाग

परिशिष्ट-१ वेदांत दर्शन

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
२१८	**वेदांत दर्शन**		**३२७**
२१९	ब्रह्म का स्वरुप		३२७
२२०	जीव का स्वरुप		३३३
२२१	ईश्वर का स्वरूप		३३५
२२२	ईश्वर और जीव		३३७
२२३	अज्ञान		३३८
२२४	समष्टि अज्ञान : **माया**		३३९
२२५	व्यष्टि अज्ञान : **अविद्या**		३३९
२२६	अविद्या का **प्रथम लक्षण**		३४३
२२७	अविधा का **द्वितीय लक्षण**		३४५
२२८	अविधा का **तृतीय लक्षण**		३४५
२२९	अविद्या के दो प्रकार		३४६
२३०	अध्यास की आवश्यकता		३४७
२३१	माया और अविद्या		३४८
२३२	अविद्या की भावरूपता		३५०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
२३३	माया-अविद्या की कुछ विशेषताएँ		३५१
२३४	अज्ञान के एकत्व या अनेकत्व		३५१
२३५	अविद्या का आश्रय एवं विषय		३५३
२३६	सृष्टि प्रक्रिया		३५४
२३७	ईश्वर की सृष्टि - सूक्ष्म प्रपंच		३५४
२३८	लिंगशरीर		३५४
२३९	विज्ञानमय कोश		३५५
२४०	मनोमय कोश		३५६
२४१	पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उसकी उत्पत्ति		३५६
२४२	प्राणमयकोश-समष्टि लिंगशरीर		३५७
२४३	व्यष्टि-लिंगशरीर		३५७
२४४	स्थूल प्रपंच-पंचीकरण और स्थूलभूत		३५८
२४५	प्रमाण विचार		३६०
२४६	प्रमाण के प्रकार		३६१
२४७	**(१) प्रत्यक्ष प्रमाण**		३६१
२४८	विषय-प्रत्यक्ष का निकृष्ट लक्षण		३६४
२४९	**(२) अनुमान प्रमाण**		३६६
	- व्याप्ति का स्वरूप		३६७
	- अनुमान में एकविधत्व		३६८
	- अनुमान के दो प्रकार		३६९
२५०	**(३) उपमान प्रमाण**		३६९
२५१	**(४) आगम प्रमाण**		३६९
	- आकांक्षा		३७०
	- योग्यता		३७०
२५२	आसत्ति-तात्पर्यज्ञान		३७१
	- द्विविध पदार्थ		३७१
२५३	**(५) अर्थापत्ति प्रमाण**		३७२
२५४	**(६) अनुपलब्धि प्रमाण**		३७४
२५५	प्रामाण्यवाद		३७५
२५६	मुक्ति-मोक्ष विचार		३७६
२५७	- मुक्ति का स्वरुप		३७६

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं..
२५८	मुक्ति के प्रकार		३८०
	- जीवन्मुक्त के लक्षण		३८१
२५९	विदेहमुक्त के लक्षण		३८३
२६०	ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन		३८७
२६१	चार साधन		३८७
२६२	श्रवण		३८९
२६३	मनन-निदिध्यासन		३९०
२६४	समाधि		३९०
२६५	समाधि के दो प्रकार		३९०
२६६	सविकल्पक समाधि और उसके दो भेद		३९०
२६७	निर्विकल्पक समाधि		३९०
२६८	निर्विकल्प समाधि के अंग		३९१
२६९	ज्ञान की सात भूमिका		३९३
२७०	आत्मा में दृश्य का लय करने की शैली		३९४
२७१	अद्वैत वेदांत में दृग् - दृश्य विवेक		३९५
	- माया में दो शक्ति है		३९६
२७२	अद्वैत वेदांत में भिन्न-भिन्न मान्यतायें		३९८
२७३	**आभासवाद**		**३९८**
	- आभास के भेद		४०१
	- आभासवाद की समीक्षा		४०१
	- आभासवाद की विशेषतायें		४०३
	- जीव और ईश्वर में भेद		४०३
	- आभासवाद का प्रयोजन		४०४
२७४	**कल्पनावाद और आभासवाद**		**४०४**
२७५	**अवच्छेदवाद**		**४०४**
२७६	**प्रतिबिम्बवाद**		**४०६**
२७७	तीनों वाद की समीक्षा		४०७
२७८	दृष्टिसृष्टिवाद		४०९
२७९	सत्ताविचार - तीन प्रकार		४११
	- प्रातिभासिक सत्ता का स्पष्टीकरण		४१२

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- अनिर्वचनीय ख्याति आदि का स्वरूप		४१३
२८०	ब्रह्मस्वरूपोद्घाटक महावाक्य		४१४
	- उपदेशवाक्य की अर्थनिष्पत्ति		४१४
	- तीन प्रकार के संबंध		४१४
	- तीन प्रकार की अभिधा		४१५
	- अनुभववाक्य का अर्थदर्शन		४१७
२८१	कारण-कार्य संबंध		
	- सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद		४१८
	- तीन वाद		४१८
	- विवर्त और विकार का भेद		४२०
२८२	कर्मविचार-तीन प्रकार के कर्म		४२१
२८३	वेदांत मत में बद्ध संसारी जीव की तीन अवस्था		४२१
२८४	सुषुप्ति के विषय में समीक्षा		४२३
२८५	जाग्रदवस्था के तीन प्रकार		४४३
२८६	स्वप्नावस्था के तीन प्रकार		४४३
२८७	सुषुप्ति अवस्था के तीन प्रकार		४४३
	- अध्यात्मिक दृष्टिकोण से तीन अवस्था		४४४
२८८	वेदांत के विभिन्न संप्रदाय और उनकी मान्यतायें		४४५
	(१) निर्विशेषाद्वैत-केवलाद्वैत मत		**४४५**
	(२) विशिष्टाद्वैत मत		**४४६**
	- तत्त्वमीमांसा		४४७
	- अंश-अंशी विचार		४४९
	- सृष्टि विचार		४५०
	- जगत्		४५१
	- साधन मार्ग - ईश्वर भक्ति		४५२
	(३) शुद्धाद्वैत मत		**४५३**
	- तत्त्वमीमांसा		४५५
	- ब्रह्म		४५५
	- जीव के प्रकार		४५७

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं..
	- जगत्		४५८
	- पुष्टिमार्ग		४५८
	(४) द्वैताद्वैत मत		**४५९**
	- पदार्थ मीमांसा		४६०
	- जडतत्त्व		४६२
	- जीव की दो दशा		४६२
	- साधन मार्ग		४६३
	(५) द्वैत सिद्धान्त		**४६३**
	- पदार्थ मीमांसा		४६४
	- परमात्मा		४६४
	- लक्ष्मी		४६५
	- जीव		४६५
	- साधन मार्ग		४६६
	(६) भेदाभेद सिद्धान्त		**४६६**
	(७) अविभागाद्वैतवाद		**४६७**
	(८) शैवविशिष्टाद्वैतवाद		**४६७**
	(९) वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद		**४६८**
२८९	**अचिन्त्य भेदाभेद वाद**		**४६८**
	- चैतन्यमत में भगवान		४६९
	- भगवान् की शक्तियाँ		४७०
	- जगत्		४७०
	- साधनमार्ग		४७१
२८९	**(१) वेदांत दर्शन की पदार्थ व्यवस्था का चार्ट**		**४७२**
	परिशिष्ट-२ - योगदर्शन		
२९०	**योगदर्शन**		**४७३**
२९१	ईश्वर का स्वरुप		४७३
२९२	क्लेश के पाँच भेद (अविद्यादि)		४७३
२९३	योग का स्वरुप		४७६
२९४	चित्तवृत्ति		४७७

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
२९५	चित्त की पाँच अवस्थायें		४७७
	- क्षिप्तावस्था-मूढावस्था-विक्षिप्तावस्था-एकाग्रावस्था		४७७
	- निरुद्धावस्था		४७८
२९६	पाँच प्रकार की वृत्तियाँ		४८०
२९७	(१) प्रमाण		४८०
२९८	(२) विपर्यय		४८१
२९९	(३) विकल्प		४८१
३००	(४) निद्रा		४८२
३०१	(५) स्मृति		४८३
३०२	निरोध के उपाय		४८३
३०३	अभ्यास		४८३
३०४	वैराग्य के दो प्रकार		४८४
३०५	अपर वैराग्य का स्वरुप		४८४
३०६	पर वैराग्य का स्वरूप एवं फल		४८५
३०७	संप्रज्ञात योग का स्वरुप		४८६
३०८	सवितर्क समाधि		४८६
३०९	सविचार समाधि		४८६
३१०	सानंद समाधि		४८७
३११	सास्मिता समाधि		४८७
३१२	असंप्रज्ञात योग		४८७
३१३	योग के ९ अंतराय		४९१
	- दु:खादि पाँच अंतराय		४९२
३१४	अभ्यास का उपसंहार		४९३
३१५	क्लेशों के नाम		४९४
३१६	अविद्या का स्वरुप		४९४
	- अस्मिता का स्वरुप		४९५
	- राग का स्वरुप		४९५
	- द्वेष का स्वरुप		४९५
	- अभिनिवेश का स्वरुप		४९५
	- सूक्ष्म क्लेश के नाश का उपाय		४९६

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं..
	- स्थूल क्लेशो के नाश का उपाय		४९६
३१७	योग के आठ अंग		४९८
	- योग का फल-कैवल्यप्राप्ति		४९७
	- प्रमाण विचार		४९७
	परिशिष्ट-३ कर्मवाद		
३१८	जैनदर्शन का कर्मवाद		४९८
३१९	कर्मवाद के सिद्धांत		४९८
३२०	कर्म का अर्थ		४९८
३२१	कर्मबन्ध के कारण		४९९
३२२	कर्मबन्ध की प्रक्रिया		४९९
३२३	कर्म की मूल आठ प्रकृतियाँ		४९९
३२४	आठ कर्म की उत्तरप्रवृत्तियाँ		५००
३२५	कर्मो की स्थिति		५०३
३२६	कर्मफल की तीव्रता-मन्दता		५०३
३२७	कर्मो के प्रदेश		५०३
३२८	कर्म की विविध अवस्थाएँ		५०४
३२९	बंधन-सत्ता-उदय-उदीरणा		५०४
३३०	उद्वर्तना		५०५
३३१	अपवर्तना		५०५
३३२	संक्रमण		५०५
३३३	उपशमना		५०५
३३४	निधत्ति		५०६
३३५	निकाचना-अबाध		५०६
	- कर्म और पुनर्जन्म		५०६
	परिशिष्ट-४ जैनदर्शन का ग्रंथकलाप		
३३६	**जैनदर्शन का ग्रंथकलाप**		**५०७**
३३७	श्री जिनागमो की सारांश माहिती		५०७
३३८	पू. महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी विरचित** ग्रंथपरिचय		५१७
३३९	पू.आ.भ.**श्री हरिभद्रसूरिजी विरचित** ग्रंथपरिचय		५१९

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
३४०	कार्मग्रंथिक साहित्य		५२०
३४१	दार्शनिक ग्रंथकलाप		५२१
३४२	आकर कोटी के ग्रंथ		५२१
३४३	विशेष सुझाव		५२१
३४४	**परिशिष्ट-५ साक्षीपाठः**		५२२
	- A-1 से 90		५२२
	- B-1 से 100		५३६
	- C-1 से 100		५४७
	- D-1 से 19		५५३
३४५	**परिशिष्ट-६**		
	पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी (सार्थ)		**५५६**
	श्लोक १ से ३		५५६
	श्लोक ४ से ११ (बौद्धदर्शनम्)		५५६
	श्लोक ११ से ३२ (नैयायिकदर्शनम्)		५५८
	श्लोक ३३ से ४४ (सांख्यदर्शनम्)		५६२
३४६	**परिशिष्ट-७**		
	दार्शनिक-पारिभाषिक शब्द-सूची		५६५
३४७	**परिशिष्ट-८**		
	व्याख्या की शैली का परिचय		५७३
३४८	**परिशिष्ट-९** संकेत विवरणम्		५८८
३४९	**परिशिष्ट-१०** उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका		५९१
३५०	**परिशिष्ट-११** मूलश्लोकानुक्रमणिका		५९६

भाग-२

जैनदर्शन - अधिकार-४

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- संक्षिप्त विषयसूची		६०५
	- विस्तृत विषयानुक्रम		६०६
३५१	जैनदर्शन के लिंग-वेष और आचार	(४४)	६२५
३५२	देव का लक्षण	(४५-४६)	६२६
३५३	भगवान के चार अतिशय का सूचन	(४५-४६)	६२८
३५४	ईश्वर का जगत्कर्तृत्व स्थापन	(४५-४६)	६३०
३५५	जगत्कर्तृत्व का विस्तार से खंडन	(४५-४६)	६३६
३५६	जैमिनीयों (मीमांसको) का अनीश्वरवाद		६५५
३५७	अनीश्वरवाद का विस्तार से निराकरण	,,	६५८
३५८	दिगंबरो की मान्यता-केवलि को कवलाहार का निषेध	,,	६७४
३५९	दिगंबर की मान्यता का खंडन तथा केवलि को कवलाहार ग्रहण की सिद्धि	,,	६७६
३६०	तत्त्वो के नाम	(४७)	६८१
३६१	नवतत्त्वो का सामान्य स्वरूप	(४७)	६८२
३६२	जीव-अजीव-पुण्यतत्त्व का विस्तार से स्वरुप	(४८-४९)	६८३
३६३	जीव के अभाव में चार्वाक की युक्तियाँ	,,	६८५
३६४	चार्वाक की मान्यता का विस्तार से खंडन-जीव की सिद्धि	(४८-४९)	६९२
३६५	आत्मा प्रत्यक्षगम्य	(४८-४९)	६९९
३६६	आत्मा अनुमानगम्य	(४८-४९)	७०१
३६७	आत्मा की आगम-उपमान-अर्थापत्ति-ग्राह्यता	(४८-४९)	७१०
३६८	कूटस्थनित्य आत्मा का अभाव	(४८-४९)	७११
३६९	सांख्यअभिमत अकर्तृत्व में आत्मा का अभाव	(४८-४९)	७११
३७०	जडस्वरूप आत्मा का अभाव	(४८-४९)	७१२
३७१	पृथ्वी में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७१४
३७२	जल में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७१५
३७३	अग्नि में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७१८
३७४	वायु में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७२०
३७५	वनस्पति में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७२१
३७६	दोइन्द्रियादि में जीव की सिद्धि	(४८-४९)	७२५
३७७	अजीव का स्वरूप	(४८-४९)	७२८
३७८	अजीव के पांच भेद	(४८-४९)	७२८
३७९	कारण के तीन प्रकार	(४८-४९)	७२९

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
३८०	धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाश का निरुपण	(४८-४९)	७३०
३८१	काल का निरुपण	(४८-४९)	७३२
३८२	पुद्गल का निरुपण	(४८-४९)	७३५
३८३	धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय की सिद्धि	(४८-४९)	७३८
३८४	काल की सिद्धि	(४८-४९)	७४७
३८५	पुद्गल की सिद्धि	(४८-४९)	७४८
३८६	शब्द की पुद्गलद्रव्य के रूप में सिद्धि	(४८-४९)	७५०
३८७	अंधकार और छाया की पुद्गलद्रव्य के रुप में सिद्धि	(४८-४९)	७५१
३८८	आतप-उद्योत की पुद्गलद्रव्य के रुप में सिद्धि	(४८-४९)	७५२
३८९	पुण्यतत्त्व का स्वरुप	(४८-४९)	७५३
३९०	पाप और आश्रवतत्त्व की व्याख्या	(५०)	७५३
३९१	पुण्य और पापतत्त्व की सिद्धि	(५०)	७५४
३९२	आश्रवतत्त्व का निरुपण	(५०)	७५८
३९३	संवर और बंधतत्त्व की व्याख्या	(५१)	७६०
३९४	संवर के दो प्रकार	(५१)	७६२
३९५	निर्जरा और मोक्षतत्त्व का निरुपण	(५२)	७६३
३९६	निर्जरा के दो भेद	(५२)	७६४
३९७	मोक्ष का स्वरुप	(५२)	७६४
३९८	मोक्ष के स्वरुप में अन्य द्वारा दी गई अनुपपत्तिओ का परिहार	(५२)	७६५
३९९	वैशेषिक मत में मुक्ति का स्वरुप	(५२)	७६९
४००	वैशेषिको को मान्य मुक्ति के स्वरूप का खंडन	(५२)	७७१
४०१	सांख्यो के मत में मुक्ति का स्वरुप	(५२)	७७५
४०२	सांख्यो के मान्य मुक्ति के स्वरूप का खंडन	(५२)	७७६
४०३	बौद्धमत में मुक्ति का स्वरूप	(५२)	७८१
४०४	बौद्धो को मान्य मुक्ति के स्वरूप का खंडन	(५२)	७८४
४०५	दिगंबरो के द्वारा स्त्री की मुक्ति का निषेध तथा श्वेतांबरो के द्वारा स्त्री की मुक्ति का व्यवस्थापन	(५२)	७९१
४०६	चारित्र की योग्यता	(५३)	८००
४०७	सम्यक्त्व - ज्ञान-चारित्रवान् आत्मा मोक्ष का भाजन	(५४)	८०१
४०८	प्रमाण का सामान्यलक्षण	(५४)	८०३
४०९	सामान्यलक्षणगत विशेषणो के द्वारा अन्यमत को मान्य प्रमाण के स्वरुप का खंडन	(५४)	८०४
४१०	प्रमाण की संख्या और प्रमाण का विषय	(५५)	८०६
४११	जैनदर्शन को मान्य दो प्रमाण में अन्यदर्शन को मान्य प्रमाणो का अन्तर्भाव	(५५)	८०९
४१२	अभावप्रमाण के तीन रुप	(५५)	८१२
४१३	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण और उसके दो भेद	(५५)	८१४
४१४	परोक्ष प्रमाण का स्वरुप और स्मृति आदि पांच भेद	(५५)	८१७
४१५	स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का स्वरुप	(५५)	८१८
४१६	तर्क का स्वरुप	(५५)	८१९
४१७	अनुमान प्रमाण का स्वरुप तथा उसके दो प्रकार	(५५)	८१९
४१८	दृष्टांत के दो भेद	(५५)	८२०
४१९	प्रतिज्ञादि पांच अवयव का स्वरुप	(५५)	८२१
४२०	आगम प्रमाण का स्वरुप	(५५)	८२३
४२१	प्रमाण का विषय अनंतधर्मात्मक वस्तु	(५५)	८२५
४२२	**सुवर्ण के घट के दृष्टांत से विस्तारपूर्वक वस्तु की अनंतधर्मात्मकता की सिद्धि**	(५५)	८२५

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
४२३	**द्रव्यतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८२६
४२४	**क्षेत्रतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८२८
४२५	**कालतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८२९
४२६	**भावतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३१
४२७	**शब्दतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३२
४२८	**संख्यातः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३२
४२९	**परिमाणतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३३
४३०	**दिग्-देशतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३३
४३१	**ज्ञानतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३४
४३२	**सामान्यतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३५
४३३	**विशेषतः** घट की अनंतधर्मात्मकता	(५५)	८३५
	- **संबंधतः घट** की अनंत धर्मात्मकता		८३६
४३४	**आत्मा में और मुक्तात्मा में अनंतधर्मात्माकता**	(५५)	८३८
४३५	धर्मास्तिकायादि में अनेकधर्मता का निरुपण	(५५)	८४०
४३६	वस्तु में नास्तित्वपर्याय की सिद्धि	(५५)	८४२
४३७	सर्व वस्तुओ की प्रतिनियतस्वभावता	(५५)	८४४
४३८	प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण	(५६)	८४५
४३९	ज्ञानाद्वैतवादि की मान्यता का खंडन	(५६)	८४७
४४०	परोक्ष का लक्षण	(५६)	८४९
४४१	वस्तु की अनंतधर्मात्मकता की दृढता	(५७)	८५०
४४२	वस्तु की त्रयात्मकता की सिद्धि	(५७)	८५२
४४३	वस्तु की अनेकांतता में विरोध, संशय, अनवस्था आदि दोषो का उद्भावन	(५७)	८६३
४४४	विरोधादि दोषो का परिहार	(५७)	८६५
४४५	बौद्धमत के द्वारा स्वीकृत अनेकांत का उद्भावन	(५७)	८७७
४४६	नैयायिको तथा वैशेषिको के द्वारा स्वीकृत अनेकांत का प्रकाशन	(५७)	८८६
४४७	सांख्यो तथा मीमांसको के द्वारा स्वीकृत अनेकांत का प्रकाशन	(५७)	८९१
४४८	अनेकांत की सिद्धि के लिए बौद्धादि सर्वदर्शनो के संमतदृष्टांत और युक्तियाँ	(५७)	८९३
४४९	हेतुतमोभास्कर नाम का वाद स्थल	(५७)	८९७
४५०	जैनदर्शन का उपसंहार तथा जैनदर्शन में पूर्वापर के विरोध का अभाव	(५८)	९१९
४५१	बौद्धमत के वचनो में पूर्वापर का विरोध	(५८)	९२१
४५२	नैयायिक और वैशेषिकमत में पूर्वापर विरोध	(५८)	९२५
४५३	सांख्यमत में स्ववचन-विरोध	(५८)	९३०
४५४	मीमांसक मत में स्ववचन विरोध	(५८)	९३१
४५५	मूलग्रंथ में नहीं कही हुई कुछ बाते तथा जैनदर्शन की समाप्ति	(५८)	९३५
	वैशेषिक दर्शन : अधिकार-५		
४५६	वैशेषिक मत का प्रारंभ	(५९)	९३८
४५७	वैशेषिक मत को मान्य छः द्रव्यादि का निरुपण	(६०)	९३९
४५८	द्रव्य के पृथ्वी आदि नवभेद	(६१)	९४०
४५९	पच्चीस गुणो का निरुपण	(६२-६३)	९४५
४६०	कर्मपदार्थ का निरुपण	(६४)	९५५
४६१	पर-अपरसामान्य की व्याख्या	(६५)	९५६
४६२	विशेषपदार्थ का निरुपण	(६५)	९५९
४६३	समवाय का स्वरुप	(६६)	९६२
४६४	वैशेषिक मत में प्रमाण की संख्या	(६७)	९६४
४६५	प्रत्यक्ष के दो प्रकार	,,	९६५
४६६	अनुमान का लक्षण	,,	९६७
४६७	मूलग्रंथ में नहीं कही हुई कुछ बातें	,,	९६८
	मीमांसक दर्शन : अधिकार - ६		
४६८	मीमांसक दर्शन के वेश, आचार, लिंग	(६७)	९७१

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
४६९	वेदांत दर्शन की आंशिक रुपरेखा	(६७)	९७२
४७०	मीमांसकदर्शन में देव का अभाव	(६८)	९७३
४७१	अतीन्द्रियपदार्थो का ज्ञान वेदवाक्य से	(६९)	९७६
४७२	वेदवाक्य की दृढता-वेद पाठ के उपर भार	(७०)	९७८
४७३	धर्म का लक्षण	(७१)	९७८
४७४	प्रमाण का सामान्य लक्षण	(७१)	९८१
४७५	प्रमाण की संख्या	(७२)	९८३
४७६	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	(७३)	९८३
४७७	अनुमान प्रमाण का लक्षण	(७४)	९८४
४७८	शाब्द-उपमान प्रमाण का लक्षण	(७४)	९८५
४७९	अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण	(७५)	९८७
४८०	अभाव प्रमाण का स्वरुप	(७६)	९९०
४८१	अभाव प्रमाण के तीन रुप	(७६)	९९१
४८२	अभाव के चार प्रकार	(७६)	९९३
४८३	मूलग्रंथकार के द्वारा नहीं कहा गया कुछ विशेष	(७६)	९९६
४८४	मीमांसक मत का उपसंहार	(७७)	९९६
४८५	मतांतर से पांच आस्तिकदर्शन	(७८)	९९७
४८६	मतांतर से छः दर्शन	(७९)	९९८
	लोकायत दर्शन		
४८७	नास्तिक का स्वरूप	(७९)	९९८
४८८	नास्तिक मत में जीवादि का निषेध	(८०)	९९९
४८९	प्रत्यक्ष विषय ही वस्तु	(८१)	१०००
४९०	परोक्ष के विषय में स्त्री को पति का उपदेश	(८२)	१००४
४९१	प्रमेय और प्रमाण	(८३)	१००५
४९२	चारभूत से देह की उत्पत्ति-देह में चैतन्य की उत्पत्ति	(८४)	१००६
४९३	परोक्ष अर्थ में प्रवृत्ति का निषेध	(८५)	१००८
४९४	काम यही परम धर्म	(८६)	१००८
४९५	चार्वाकमत का उपसंहार	(८७)	१००९
	भाग-२, परिशिष्ट विभाग		
	परिशिष्ट-१ - जैनदर्शन का विशेषार्थ		
४९६	**जैनदर्शन का विशेषार्थः**		**१०१२**
४९७	जीव के चौदह प्रकार और उसका स्वरुप		१०१२
४९८	जीव के लक्षण ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप-वीर्य-उपयोग		१०१३
४९९	संसारी जीवो की पर्याप्तियाँ		१०१६
५००	पर्याप्ति के ४ भेद		१०१६
५०१	१० प्राण		१०१८
५०२	अजीव के चौदह भेद		१०१९
५०३	पांच अजीव और उसके स्वभाव		१०२१
५०४	द्रव्यो में द्रव्यादि छ संख्या मागणा		१०२२
५०५	पुद्गल के शब्दादि परिणाम		१०२२
५०६	शब्द-अंधकार आदि की पुद्गल रुपता		१०२३
५०७	पुद्गल के स्वाभाविक और वैभाविक परिणाम		१०२४
५०८	काल का स्वरुप		१०२४
५०९	काल का विशेष स्वरुप		१०२४
	- व्यवहारकाल		१०२४
	- निश्चयकाल		१०२४
५१०	छः द्रव्यो का विशेष विचार		१०२७
५११	पुण्य तत्त्व		१०२८
५१२	पुण्य के ४२ प्रकार		१०२९
५१३	पाप तत्त्व और उसके ८२ भेद		१०३१
५१४	आश्रव तत्त्व और उसके ४२ प्रकार		१०३३
५१५	पाँच - इन्द्रियाँ		१०३३
५१६	चार कषाय		१०३३
५१७	पाँच अव्रत		१०३३
५१८	२५ क्रिया		१०३४

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
५१९ संवर का स्वरुप और उसके ५७ प्रकार		१०३७
५२० पाँच समिति		१०३७
- तीन गुप्ति		१०३७
- २२ परिषह		१०३८
- दस यतिधर्म		१०४०
- बारह भावना		१०४१
- पाँच चारित्र		१०४२
५२१ निर्जरा तत्त्व और उसका स्वरुप		१०४४
- छः प्रकार का बाह्यतप		१०४४
- छः प्रकार का अभ्यंतर तप		१०४५
- १० प्रकार का प्रायश्चित्त		१०४५
- ७ प्रकार का विनय		१०४५
- १० प्रकार से वैयावृत्य		१०४६
- ५ प्रकार से स्वाध्याय		१०४६
- ध्यान के चार प्रकार		१०४६
- कायोत्सर्ग		१०४८
५२२ बन्ध तत्त्व और उसके चार भेद		१०४८
- कर्म के स्वभाव		१०४९
५२३ मोक्ष तत्त्व और उसका स्वरुप		१०५०
- सत्पद प्ररुपणा		१०५०
- चौद मूल मार्गणायें और उसके ६२ भेदों के संक्षिप्त अर्थ		१०५१
- गति मार्गणा		१०५१
- जाति-काय-योग-वेद-कषाय-ज्ञान मार्गणायें		१०५१
- संयम-दर्शन-लेश्या मार्गणायें		१०५२
- भव्य-सम्यक्त्व-संज्ञी - आहारी मार्गणायें		१०५३
५२४ मार्गणाओं में मोक्ष की प्ररुपणा		१०५४
५२५ (२-३) द्रव्य प्रमाण और क्षेत्र अनुयोगद्वार		१०५५
५२६ (४-५-६) स्पर्शना, काल और अन्तर अनुयोगद्वार		१०५५
५२७ (७-८) भाग और भाव अनुयोगद्वार		१०५६
- औपशमिकादि पाँच भाव और उसके पेटा भेद		१०५७
(९) अल्प-बहुत्व द्वार		१०५७
५२८ नवतत्त्व को जानने का प्रयोजन		१०५८
५२९ सम्यक्त्व मिलने से होनेवाला लाभ		१०५८
५३० पुद्गल परावर्तन क्या है ?		१०५९
५३१ सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त्त का स्वरूप		१०५९
५३२ सिद्ध के १५ भेद		१०६०
५३३ परिशिष्ट-२ स्याद्वाद		**१०६१**
५३४ परिशिष्ट-३ नयवाद		**१०६२**
५३५ नय का सामान्यलक्षण		१०६३
- नयवाक्य का लक्षण		१०६४
- प्रमाणवाक्य का लक्षण		१०६५
- सकलादेश का स्वरुप		१०६६
- विकलादेश का स्वरुप		१०६७
५३६ नय का विशेष स्वरुप		१०६७
५३७ नय के मुख्यभेद		**१०६९**
५३८ द्रव्यार्थिक नय का लक्षण		१०७०
५३९ पर्यायार्थिक नय का लक्षण		१०७०
५४० द्रव्य का लक्षण		१०७०
५४१ द्रव्य के छः प्रकार		१०७१
५४२ द्रव्य का स्वाभाविक एवं वैभाविक पर्याय		१०७१
५४३ द्रव्य का सामान्य एवं विशेष स्वभाव		१०७२
५४४ द्रव्य के दस सामान्य गुण एवं सोलह विशेषगुण		१०७२
५४५ द्रव्यार्थिक नय के प्रकार		१०७३
५४६ पर्यायार्थिक नय के प्रकार		१०७४
५४७ नय के सात प्रकार		१०७४
५४८(१) नैगमनय का स्वरूप		**१०७४**
- नैगमनय की मान्यता		१०७८

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- नगैमनय के तीन उदाहरण		१०७८
	- नैगमनय के भिन्न-भिन्न प्रकार		१०७९
	- नैगमनय को अभिमत चार निक्षेप		१०८२
५४९(२)	**संग्रहनय का स्वरुप**		**१०८४**
	- संग्रहनय की मान्यता		१०८५
	- संग्रहनय के प्रकार		१०८५
५५०(३)	**व्यवहारनय का स्वरुप**		**१०८८**
	- व्यवहारनय की मान्यता		१०८८
५५१(४)	**ऋजुसूत्रनय का स्वरुप**		**१०९१**
	- ऋजुसूत्रनय की मान्यता		१०९१
	- ऋजुसूत्रनय द्रव्यार्थिक नय है या पर्यायार्थिक नय है ? उसकी चर्चा		१०९३
	- द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की मान्यता		१०९५
	- अनुयोगद्वार सूत्र का विरोध और उसका परिहार		१०९६
५५२	ऋजुसूत्रनय के प्रकार		१०९८
५५३(५)	**शब्दनय का स्वरूप**		**१०९९**
५५४	शब्द और ऋजुसूत्र नय में मान्यताभेद		११००
५५५	भावनिक्षेप की ही स्वीकृति		११००
५५६(६)	**समभिरुढ नय का स्वरुप**		**११०१**
	- शब्द और समभिरूढ नय में मान्यताभेद		११०२
५५७(७)	**एवंभूतनय का स्वरूप**		**११०३**
	- एवंभूत नय की मान्यता		११०४
	- भावनिक्षेप की ही स्वीकृति		११०५
	- एवंभूत एवं समभिरूढ में मान्यताभेद		११०५
			११०७
५५८	अर्थनय - शब्दनय के भेद		११०७
५५९	अर्पित-अनर्पित नय का स्वरुप		११०८
५६०	व्यवहार - निश्चयनय का स्वरुप		११०८

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं..
५६१	ज्ञाननय - क्रियानय - आध्यात्मिक दृष्टिकोण से दोनों नयों की विचारणा		११०९
५६२	**नयों के न्यूनाधिक विषयों का विचार**		**११११**
५६३	नयवाक्य पर आश्रित सप्तभङ्गी		१११६
५६४	**नयाभासों (दुर्नयों) का निरुपण**		**१११८**
	- द्रव्यार्थिकाभास		१११८
	- पर्यायार्थिकाभास		१११८
	- नैगमाभास		१११८
	- संग्रहाभास		१११९
	- व्यवहाराभास		११२१
	- ऋजुसूत्राभास		११२३
	- शब्दाभास		११२५
	- समभिरुढाभास		११२६
	- एवंभूताभास		११२६
५६५	अर्थादि आभास		११२७

परिशिष्ट-४ सप्तभंगी

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
५६६	सप्तभंगी		११२८
५६७	सात भङ्ग की उत्पत्ति का रहस्य		११२८
५६८	प्रथम भंग का स्वरुप		११३०
५६९	द्वितीय भंग का स्वरुप		११३२
	- असत्त्व धर्म की तात्त्विकता		११३३
५७०	तृतीय भंग का स्वरुप		११३५
५७१	चतुर्थ भंग का स्वरुप		११३६
५७२	पंचम, षष्ठ एवं सप्तम भंग का स्वरूप		११३९
५७३	एकांत सप्तभंगी स्याद्वाद की समर्थक नहीं है		११४०
	- प्रथम भंग के एकान्त का खंडन		११४०
	- द्वितीय भंग के एकान्त का खंडन		११४०
	- तृतीय भंग के एकान्त का खंडन		११४०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- चतुर्थ भंग के एकांत का खंडन		११४१
	- पंचम भंग के एकान्त का खंडन		११४१
	- षष्ठ भंग के एकान्त का खंडन		११४१
	- सप्तम भंग के एकान्त का खंडन		११४१
५७४	सप्त भंगो के सकलादेश और विकलादेश स्वभाव का निरुपण		११४२
	- क्रम और युगपत् का विवेचन		११४४
५७५	सकलादेश एवं विकलादेश साधक कालादि आठ का निरुपण		११४४
५७६	सप्तभंगी में विशेष		११४८
	- सप्तभंगी का उद्भव		११४८
	- स्वद्रव्यादि-परद्रव्यादि की विवक्षा		११४८
	- सात भंग का विशेष विवेचन		११४९
५७७	भिन्नाभिन्नत्व की विवक्षा और उसके आश्रय से सप्तभंगी		११५३
५७८	श्री महोपाध्यायजी म. का मत		११५७
	- पदार्थ के दो पर्याय		११५७
	- अर्थपर्याय - व्यंजनपर्याय		११५८
	- अर्थपर्याय के सप्त विकल्प -		११५८
	व्यंजनपर्याय के दो भंग		११५८
	- सम्मतितर्क प्रकरण की साक्षी		११५८
	- जैनभाव की सार्थकता		११६०
	- स्याद्वाद के अभ्यास की आवश्यकता		११६१
	परिशिष्ट-५ निक्षेपयोजन		
५७९	निक्षेपयोजन		११६२
५८०	निक्षेप का सामान्य स्वरुप		११६२
५८१	निक्षेप का फलवत्त्व		११६३
५८२	निक्षेप के चार प्रकार		११६३
५८३	नाम निक्षेप का स्वरुप		११६३
५८४	स्थापना निक्षेप का स्वरुप		११६३
५८५	द्रव्य निक्षेप का स्वरुप		११६६
५८६	भाव निक्षेप का स्वरुप		११६८
५८७	नामादि निक्षेपो का परस्पर भेद		११६९
५८८	निक्षेपों का नयो के साथ योजना		११७६
५८९	ऋजुसूत्र के अनुसार चारों निक्षेपों का स्वीकार		११७८
५९०	संग्रह और व्यवहार स्थापना नहीं मानते- इस मत का खंडन		११८०
५९१	जीव के विषय में निक्षेप का निरुपण		११८३
	परिशिष्ट-६ मीमांसादर्शन का विशेषार्थ		
५९२	मीमांसादर्शन का विशेषार्थ		११८५
५९३	प्रमाण का सामान्यलक्षण और नैयायिक-गुरुमत-बौद्ध मत का खंडन		११८५
५९४	प्रमाण विशेष		११९१
५९५	प्रत्यक्ष प्रमाण और तद्विषयक नैयायिकादि मत निरास		११९१
५९६	अनुमान		११९८
	- व्याप्ति का स्वरुप		११९८
	- उपाधि का लक्षण		१२००
	- गुरुमत का निरास		१२०१
	- तर्क का लक्षण		१२०२
	- तर्काङ्ग पंचक		१२०२
	- आत्माश्रय-अन्योन्याश्रय-चक्रक-अनवस्था-गौरव - लाघव-अनिष्ट प्रसंग का स्वरुप		१२०२
	- अनेक मतो का खंडन		१२०३
	- अनुमान की द्विविधता या त्रिविधता		१२०८
	- अवयवत्रय का स्थापन और अन्य मत का खंडन		१२१२
	- षट् प्रतिज्ञाभास		१२१३
	- चार हेत्वाभास और नैयायिक मत का खंडन		१२१४

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
	- दृष्टान्ताभास		–
५९७	**शब्द**		**१२२१**
	- व्युत्पत्ति प्रकार		१२२१
	- अन्विताभिधान का खंडन		१२२२
	- आकांक्षा - योग्यता-सन्निधि का निरुपण		१२२३
	- शाब्दं द्विविधं और गुरमत निरास		१२२४
५९८	**उपमान का** स्वरूप और नैयायिक मत का खंडन		१२२६
५९९	**अर्थापति**		**१२२९**
	- अर्थापति का स्वरुप और नैयायिक मत का खंडन		१२२९
	- प्राभाकरमत का खंडन		१२३२
	- दो प्रकार		१२३३
	- गुरुमत का निरास		१२३३
६००	**अनुपलब्धि**		**१२३४**
	- अनुपलम्भ सत्तामात्र से बोधक		१२३४
	- अनुपलम्भ का द्वैविध्य		१२३५
	- तार्किक मत निरास		१२३६
	- प्राभाकरमत निरास		१२३६
	- अन्य प्रमाण का अन्तर्भाव		१२३७
६०१	**प्रमेयानि**		**१२३९**
	- द्रव्य का लक्षण		१२३९
	- नैयायिक मत का खंडन		१२३९
	- द्रव्य के प्रभेद का निरुपण		१२४०
६०२	**पृथ्वी** का लक्षण और प्राभाकर मत का खंडन		१२४०
६०३	**जल** का लक्षण		१२४१
६०४	तेज का स्वरुप		१२४१
६०५	- वायु का लक्षण और वैशेषिक मत का खंडन		१२४२
	- अंधकार (तमः) का स्वरुप		१२४३
	(१) नैयायिक और गुरुमत का खंडन		१२४३
	(२) परमाणु का स्वरूप और नैयायिक मत का खंडन		१२४४
	(३) ईश्वरकर्तृत्व खंडन		१२४५
	(४) वेदपौरुषेयत्व खंडन		१२४७
	(५) स्वतः प्रामाण्य का स्थापन		१२५०
	(६) प्रामाण्याप्रामाण्य विचार		१२५१
६०६	**आकाश**		**१२५२**
६०७	**काल**		**१२५२**
६०८	**दिक्**		**१२५३**
	- दिशा-काल-आकाश का प्रत्यक्ष		१२५३
६०९	**आत्मा**		**१२५४**
	(१) आत्मा का लक्षण		१२५४
	(२) शांकरमत का खंडन		१२५४
	(३) चार्वाकमत का खंडन		१२५५
	(४) अखंडार्थत्व खंडन		१२५६
	(५) आत्मा विभु है		१२५७
	(६) स्वर्ग-अपवर्ग		१२५८
	(७) सौगतमत खंडन		१२५८
	(८) प्रभाकर मोक्ष खंडन		१२५८
	(९) सांख्य मत खंडन		१२५९
	(१०) शांकरमत खंडन		१२५९
६१०	**मन**		**१२६०**
	मन का विभुत्वसाधनम्		१२६०
६११	**शब्दः**		**१२६२**
	(१) शब्द आकाश का गुण नहीं है		१२६२
	(२) शब्द विभु एवं नित्य है		१२६२
	(३) अनित्यत्व का खंडन		१२६३
	(४) शब्द की द्विविधता		१२६४

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	विषय	श्लोक नं.	पृ. नं.
६१२	**जाति**		**१२६५**
	(१) बौद्ध मत खंडन		१२६५
	(२) जाति-जातिमत् का भेदाभेद		१२६५
	(३) तार्किक मत का खंडन		१२६६
६१३	**गुणा**		**१२६८**
	(१-४) रुप-रस-गंध-स्पर्श		१२६८
	(५-७) संख्या-परिणाम-पृथक्त्व		१२६८
	(८) संयोग		१२७०
	- संयोग की द्विविधता		१२७०
	(९-१३) विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व		१२७०
	(१४-१५) स्नेह और बुद्ध्यादि षट्क		१२७१
	(१६-१७) सुख-दुःख		१२७२
	(१८-२१) इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-संस्कार		१२७३
	(२२) ध्वनि		१२७३
	(२३) प्राकट्यम्		१२७३
	(२४) शक्ति		१२७३
	- तार्किक मत खंडन		१२७४
	- प्राभाकरमत खंडन		१२७६
	- भावना स्वरुप विचार		१२७९
६१४	**(४) कर्म**		**१२७९**
६१५	**प्राभाकर मत खंडन**		**१२७९**
	(५) अभाव :		
	प्राभाकर-तार्किक मत की शंका		१२८१
	- विशेष - समवाय का खंडन		१२८२
	- भवनाथमत - शून्यमत-विज्ञानवादि सौत्रान्तिक-वैभाषिक मत खंडन		१२८३
	- अद्वैतमत खंडन		१२८७
६१६	**गुरुसम्मतपदार्थाः**		**१२८७**
६१७	**परिशिष्ट-७ साक्षीपाठः**		**१२९४**
६१८	**परिशिष्ट-८ पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी (सार्थ)**		**१३२८**
६१९	**परिशिष्ट-९ संकेत विवरणम्**		**१३३९**
६२०	**परिशिष्ट-१० उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका**		**१३४२**
६२०	**परिशिष्ट-११ मूलश्लोकानुक्रम**		**१३४७**

❖ ❖ ❖

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्दर्शन समुच्चय

भाग-१

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्दर्शन समुच्चय (हिन्दी भावानुवाद)

भाग-१

।। ॐ ह्रीं अर्हम् नमः ।।

।। श्रीहरिभद्रसूरिविरचितः श्रीगुणरत्नसूरिकृतवृत्तिसहितः ।।

षड्दर्शनसमुच्चयः ।

जयति विजितरागः केवलालोकशाली सुरपतिकृतसेवः श्रीमहावीरदेवः ।
यदसमसमयाब्धेश्चारुगाम्भीर्यभाजः सकलनयसमूहा बिन्दुभावं भजन्ते ।। १ ।।

श्रीवीरः स जिनः श्रिये भवतु यत्स्याद्वाददावाऽनले भस्मीभूतकुतर्ककाष्ठनिकरे तृण्यन्ति सर्वेऽप्यहो ।
संशीतिव्यवहारलुब्व्यतिकरानिष्टाविरोधप्रमाबाधासंभव-संकरप्रभृतयो दोषाः परै रोपिताः ।। २ ।।

वाग्देवी संविदे नः स्यात्सदा या सर्वदेहिनाम् । चिन्तितार्थान् पिपर्त्तीह कल्पवल्लीव सेविता ।। ३ ।।

नत्वा निजगुरून् भक्त्या षड्दर्शनसमुच्चये । टीकां संक्षेपतः कुर्वे स्वान्योपकृतिहेतवे ।। ४ ।।

(टीकाकारश्री टीकाकी रचना करते हुए प्रारंभ में टीकाकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए तथा शिष्ट पुरुषो की आचरणा के परिपालन के लिए मंगल करते है।)

राग के विजेता, केवलज्ञानरुप प्रकाश के पुञ्ज, सुरेन्द्रो से सेवित श्रीमहावीर परमात्मा का जय हो, कि जिनके सुन्दर गाम्भीर्य को (वास्तविक गहराई को) धारण करनेवाले, किसीके साथ तुलना न की जा सके ऐसे आगमसमुद्र के आगे सब नयके (दर्शनके) समूह बिन्दुभाव को भजते है-बिन्दु समान बनके रह जाते है। (अर्थात् जिस प्रकार समुद्र अनंत जल बिन्दु के समूह को अपने में समा लेता है, उस प्रकार जैनशासन परदर्शनरूपी बिन्दुओ को अपने में समा लेता है।) ॥१॥

वे श्रीवीरजिनेश्वर परमात्मा (आपके) कल्याण के लिए हो, कि जिनके स्याद्वाद सिद्धान्तरुपी दावानल में भस्मीभूत हुए कुतर्करुपी काष्ठ के ढेर में, अहो ! अन्यदर्शनवालो के द्वारा (स्याद्वाद सिद्धांत में) आरोपित किये हुए संशय, व्यवहारलोप, व्यतिकर, अनवस्था, विरोध, प्रमाबाध, असंभव, संकर इत्यादि सर्व दोष भी तृणभाव को प्राप्त होते है। अर्थात् जल जाते है। ॥२॥

सेवित कल्पवल्ली जिस तरह सर्वजीवो के चिन्तित (इच्छित) अर्थो को हंमेशां पूरा करती है, उसी तरह सरस्वती देवी हमारे सम्यग्ज्ञान के लिए हंमेशां हो। ॥३॥

भक्ति से अपने गुरुको नमस्कार करके, स्व-पर के उपकार के लिये षड्दर्शन समुच्चय के उपर संक्षेप में टीका करता हूं। ॥४॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(टीकाकार ने मंगल, अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध स्वरुप अनुबंधचतुष्टय का कथन किया है, यह स्वयं सोच लेना।)

इह हि जगति गरीयश्चित्तवतां महतां परोपकारसंपादनमेव सर्वोत्तमा स्वार्थसंपत्तिरिति मत्वा परोपकारैकप्रवृत्तिसारश्चतुर्दशशतसंख्यशास्त्रविरचनाजनितजगज्जन्तूपकारः श्री जिनशासनप्रभावना-प्रभाताविर्भावनभास्करो [A-1]याकिनीमहत्तरावचनानवबोधलब्धबोधिबन्धुरो भगवान् श्री हरिभद्रसूरिः षड्दर्शनीवाच्यस्वरूपं जिज्ञासूनां तत्तदीयग्रन्थविस्तरावधारणशक्तिविकलानां सकलानां विनेयाना-मनुग्रहविधित्सया स्वल्पग्रन्थं महार्थं सद्भूतनामान्वयं षड्दर्शनसमुच्चयं शास्त्रं प्रारम्भमाणः शास्त्रारम्भे मङ्गलाभिधेययोः साक्षादभिधानाय संबन्धप्रयोजनयोश्च संसूचनाय प्रथमं लोकमेनमाह-

---

टीकाका भावानुवाद :

इस जगत में महान उदार चित्तवाले महापुरुषो की "परोपकार संपादन करना" यही सर्वोत्तम स्व-सम्पत्ति है, ऐसा मानकर परोपकार मात्र (आपश्रीकी) प्रवृत्ति का सार है ऐसे १४४४ ग्रंथ की रचना द्वारा जगत के जीवो के ऊपर उपकार करनेवाले श्रीजिनशासन की प्रभावनारुप प्रभात (सूर्योदय) को प्रकट करनेवाले सूर्य समान, याकिनीमहत्तरासाध्वीजी के (कंठस्थ कराता हुआ श्लोकका) बोध नहि पाने से (और बाद में पू.आ.भ. के पास से श्लोकका) बोध पाये हुए, सम्यक्त्व से शोभित पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजाने छः ये दर्शन के वाच्यार्थ (पदार्थ) के स्वरुपकी जिज्ञासावालो की जो तत् तत् दर्शन के उस उस आकर (विस्तृत वर्णन से युक्त) ग्रंथो को अवधारण करने की शक्ति से विफल (असमर्थ) है, वे सब शिष्यो के ऊपर अनुग्रह (उपकार) करने की इच्छा से शब्दो से छोटे और महाअर्थ से युक्त यथार्थ नामवाले षड्दर्शनसमुच्चय नाम के शास्त्र का प्रारंभ करते हुए ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगल तथा अभिधेय के साक्षात्कथन के लिए तथा संबंध-प्रयोजन के सूचन के लिये यह प्रथम श्लोक कहते है।

(मूल श्लो०) सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम्।
सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः संक्षेपेण निगद्यते ॥१॥

श्लोकार्थ : स्याद्वादसिद्धांत के प्ररुपक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्री जिनेश्वर परमात्मा को नमस्कार करके सर्वदर्शनो के वाच्यार्थ (प्रतिपादित पदार्थ) को संक्षेप से कहा जाता है।

सत् शश्वद्विद्यमानं छाद्मस्थिकज्ञानापेक्षया प्रशस्तं वा दर्शनमुपलब्धिर्ज्ञानं केवलाख्यं यस्य स सद्दर्शनः। अथवा सत्प्रशस्तं दर्शनं केवलदर्शनं तदव्यभिचारित्वात्केवलज्ञानं च यस्य स सद्दर्शनः सर्वज्ञः सर्वदर्शी चेत्यर्थः तम्। अनेन विशेषणेन श्री वर्धमानस्य भगवतो ज्ञानातिशयमाविरबीभवत्। अथवा सदर्चितं सकलनरासुरामरेन्द्रादिभिरभ्यर्चितं दर्शनं जैनदर्शनं यस्य स सद्दर्शनस्तम्। अनेन

A-1 - तुलनात्मकपाठः परिशिष्टे द्रष्टव्यः।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च तदीयदर्शनस्य त्रिभुवनपूज्यतामभिदधानः श्रीवर्धमानस्य त्रिभुवनविभोः सुतरां त्रिभुवनपूज्यतां व्यनक्तीति पूजातिशयं प्राचीकटत् । तथा जयति रागद्वेषादिशत्रूनिति जिनस्तम् अनेनापायापगमातिशयमुदबीभवत् । तथा स्यात्कथंचित्सर्वदर्शनसंमतसद्भूतवस्त्वंशानां मिथः सापेक्षतया वदनं [A-2]स्याद्वादः । सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषाभिलाप्यानभिलाप्योभयात्मा-नेकान्त[A-3] इत्यर्थः । ननु कथं सर्वदर्शनानां परस्परविरुद्धभाषिणामभीष्टा वस्त्वंशाः के सद्भूताः संभवेयुः येषां मिथः सापेक्षतया स्याद्वादः सत्प्रवादः स्यादिति चेत् उच्यते । यद्यपि दर्शनानि निजनिजमतभेदेन परस्परं विरोधं भजन्ते तथापि तैरुच्यमानाः सन्ति तेऽपि वस्त्वंशा ये मिथः सापेक्षाः सन्तः समीचीनतामञ्चन्ति । तथाहि । सौगतैरनित्यत्वं, सांख्यैर्नित्यत्वं, नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च परस्परविविक्ते नित्यानित्यत्वे सदसत्वे सामान्यविशेषौ च, मीमांसकैः स्याद्-शब्दवर्जं भिन्नाभिन्ने नित्यानित्यत्वे सदसदंशौ सामान्यविशेषौ शब्दस्य नित्यत्वं च, कैश्चित्कालस्वभावनियतिकर्मपुरुषादीनि जगत्कारणानि, शब्दब्रह्मज्ञानाद्वैतवादिभिश्च शब्दब्रह्मज्ञानाद्वैतानि चेत्यादयो ये ये वस्त्वंशाः परैरङ्गीक्रियन्ते, ते सर्वेऽपि सापेक्षाः सन्तः परमार्थसत्यतां प्रतिपद्यन्ते निरपेक्षास्त्वन्योन्येन निरस्यमाना नभोनलिनायन्त इत्यलं विस्तरेण । स्याद्वादस्य देशकः सम्यग्वक्ता स्याद्वाददेशकस्तम् । अनेन च वचनातिशयमचकथत् । तदेवं चत्वारोऽत्रातिशयाः[B-1] शास्त्रकृता साक्षादाचचक्षिरे । तेषां हेतुहेतुमद्भाव एवं भाव्यः-यत एव निःशेषदोषशत्रुजेता, तत एव सर्वज्ञः । यत एव सर्वज्ञस्तत एव सद्भूतार्थवादी । यत एव सद्भूतार्थवादी, तत एव त्रिभुवनाभ्यर्च्य इति ।

टीकाका भावानुवाद :

सत् अर्थात् सदा विद्यमान अथवा छाद्मस्थिक ज्ञानकी अपेक्षा प्रशस्त ऐसा केवलदर्शन-केवलज्ञान जिसको है वह सद्दर्शन । (अर्थात् केवलज्ञान-केवलदर्शनवाला) अथवा प्रशस्त है दर्शन जिनको वह केवलदर्शन तथा केवलदर्शन के पूर्वकाल में अव्यभिचरित रुप में केवलज्ञान है जिनको वह सद्दर्शन । अर्थात् सद्दर्शन पद से सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी ऐसे श्रीवीर परमात्मा को नमस्कार करके, (इस प्रकार ''**नत्वा**'' के साथ संबंध करना ।)

इस ''सद्दर्शन'' विशेषण के द्वारा श्रीवर्धमानस्वामी भगवान का ज्ञानातिशय सूचित होता है ।

(अब ''सद्दर्शन'' पद की दूसरे प्रकार से व्युत्पत्ति करके पूजातिशय प्रकट करते है) सद् अर्थात् पूजित अर्थात् सब नरेन्द्रो, असुरेन्द्रो तथा इन्द्रो के द्वारा पूजा किया हुआ दर्शन = जैनदर्शन जिनका वह सद्दर्शन ।

(A-2) - तुलनात्मकपाठः परिशिष्टे द्रष्टव्यः । (A-3)- तुलनात्मकपाठः परिशिष्टे द्रष्टव्यः । (B-1) - तुलनात्मकपाठः परिशिष्टे द्रष्टव्यः ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस व्युत्पत्ति से उनके (भगवानके) दर्शन की त्रिभुवनपूज्यता को कहते हुए त्रिभुवनस्वामी श्रीवर्धमानस्वामी की त्रिभुवनपूज्यता को सुतरां (सुयोग्य रुपमें) प्रकट करते है। (अर्थात् जिनका दर्शन लोगो के लिए पूजनीय हो वह तो पूजनीय होता ही है, यह समजा जा सकता है।) इस प्रकार (भगवानका) पूजातिशय प्रकट किया। (**'जिन'** पद द्वारा भगवान का अपायापगमातिशय सूचित किया है।) रागद्वेषादि शत्रुओ को जो जीतता है वह जिन। (वह जिनको नमस्कार करके..... इस अनुसार **''नत्वा''** के साथ अन्वय करना।) इस विशेषण के द्वारा **''अपायापगम''** अतिशय सूचित किया है।

स्यात् / कथंचित् पद सहित बोलना वह स्याद्वाद। अर्थात् सर्वदर्शन को संमतवस्तु के सद्भुत अंशो का परस्पर सापेक्ष रुप में कथन करना वह स्याद्वाद। इस प्रकार सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, अभिलाप्य-अनभिलाप्य इत्यादि उभयात्मक धर्मो को सापेक्ष रुप में **''स्यात्''** पद से लांछित करके बोलना वह स्याद्वाद - अनेकांत कहा जाता है। (कहने का आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अनंतधर्मात्मक होते है। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सर्व पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य है। इसलिए **''स्यात्''** पद से लांछित करके **''सर्वे भावा कथंचित् नित्यः स्यात् कथंचित् अनित्यः स्यात्''** ऐसा कथन करना वह अनेकांतता को सूचन करता है।)

शंका : परस्पर विरुद्ध प्ररुपणा करते हुए सर्वदर्शनो के (अपने-अपने) इच्छित वस्तु के अंश सद्भूत (यथार्थ) किस प्रकार संभवित है ? कि जिससे इस पदार्थो का सापेक्षरुप में स्याद्वाद = सत्प्रवाद = सत्कथन किया जा सके ?

समाधान : चूं कि, सर्वदर्शन अपने अपने मत की भिन्नतासे परस्पर विरोधी है, तो भी उनके द्वारा कहे गये तत् तत् वस्तु के जो (अंश) सापेक्ष हो वे (अंश) यथार्थता को प्राप्त करते है। जैसे कि बौद्धोने सर्ववस्तुओ को अनित्य माना है, सांख्यदर्शनवाले आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते है, नैयायिको तथा वैशेषिकोने नित्य-अनित्य, सत्-असत् तथा सामान्य-विशेष को परस्पर सर्वथा भिन्न माना है।

मीमांसक लोग वस्तु को भिन्न-अभिन्न, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, सामान्य-विशेष स्वरुप मानकर भी (कथन करते समय) **''स्यात्''** पद का प्रयोग नहीं करते और शब्द को सर्वथानित्य मानते है।

कोई कोई काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ इत्यादि को जगत का कारण मानते है। शब्द-अद्वैतवादि जगत को शब्दमय, ब्रह्म - अद्वैतवादि जगत को ब्रह्ममय तथा ज्ञान - अद्वैतवादि जगत को ज्ञानक्षणरुप मानते है।........ इत्यादि जिन जिन वस्तु के अंश अन्य दर्शनवालो के द्वारा स्वीकृत होते है वे सर्व भी सापेक्ष होने पर परमार्थ सत्यता को प्राप्त करते है। परन्तु परस्पर निरपेक्ष ऐसे वे एक दूसरे की बात का खण्डन करते हुए आकाशकुसुम की **भांति** आचरण करते है। (**'नभ-नलिनं इव आचरन्ते इति नभनलिनायन्ते' सिद्ध हैम ३-४-२६ सूत्र से ''कयङ्' प्रत्यय लगता है।**) अर्थात् आकाशकुसुम

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तरह असत् रुप बन जाते है। (इस विषय में) विस्तार से गये। (इस प्रकार ''स्याद्वाद'' पद की व्याख्या की। वह) स्याद्वाद के प्ररुपक अर्थात् सम्यक्वक्ता वह स्याद्वाद देशक। वह स्याद्वाददेशक को (नमस्कार करके..... इस प्रकार ''**नत्वा**'' के साथ अन्वय करना।) इस 'स्याद्वाददेशक' विशेषण द्वारा भगवान का '**वचनातिशय**' कहा गया। इस प्रकार चार अतिशय शास्त्रकार महर्षि के द्वारा साक्षात् कहे गये।

वे चारो अतिशयो का हेतु-हेतुमद् भाव इस प्रकार सोचना - जिस कारण से ही सर्व रागादिदोषरुप शत्रुओको जीतनेवाले है उस कारण से ही सर्वज्ञ है। जिस कारण से सर्वज्ञ है, उस कारण से ही यथार्थवादि है। जिस कारण से यथार्थवादि है, उसी कारण से ही त्रिभुवन को पूज्य है।

एवमतिशयचतुष्टयीप्रवरं वीरं महावीरं वर्तमानतीर्थाधिपतिं श्रीवर्धमानापराभिधानं नत्वा मनसा तदतिशयचिन्तनेन, वाचा तदुच्चारणेन, कायेन भूमौ शिरोलगनेन च प्रणिधायेत्यर्थः । एतेनादिमं मङ्गलमभिदधौ । मध्यमङ्गलं तु "जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जित" [षड्दर्शन श्लो० - ४५] **इत्यादिना जिनमतकीर्तनेन कीर्तियिष्यति । अन्त्यमङ्गलं पुनरभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिरित्यत्र सुबुद्धिशब्दसंशब्दनेन (शंशनेन) वक्ष्यति । तस्य त्रिविधस्यापि** [A-4]**फलमिदम्-**

"तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स । पढमं सत्थस्साविग्घपारगमणाए निद्दिठं ।। १ ।।

तस्सेवाविग्घत्थं (तस्सेव उ थिज्जत्थं) मज्झिमयं अंतिमं च तस्सेव अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ।। २ ।।" [विशेषा० गा० १३-१४]

वीरं नत्वेत्युक्तं, तत्र क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासापेक्षत्वान्निगद्यत इति क्रियापदमत्र संबन्धनीयम् । को निगद्यते । सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः सर्वाणि मूलभेदापेक्षया समस्तानि यानि दर्शनानि बौद्धादीनि तैस्तेषां वा वाच्योऽभिधेयोऽर्थो देवतत्त्वप्रमाणदिलक्षणः संक्षेपेण समासेन निगद्यतेऽभिधीयते । मयेत्यनुक्तमप्यत्रार्थाद् गम्यते । एतेन साक्षादभिधेयमभ्यधात् ।

संबन्धप्रयोजने तु सामर्थ्यादवसेये । सर्वदर्शनवक्तव्यदेवतत्त्वादिज्ञानमुपेयं, इदं शास्त्रं तस्योपायः, एवमुपायोपेयलक्षणः संबन्धः सूचितो द्रष्टव्यः । [A-5]**प्रयोजनं तु द्वेधा कर्तुः श्रोतुश्च । द्वयमपि द्वेधा, अनन्तरं परंपरं च । कर्तुरनन्तरं प्रयोजनं सत्त्वानुग्रहः । श्रोतु-रनन्तरं सर्वदर्शना-भिमतदेवतत्त्वप्रमाणादिज्ञानम् । द्वयोरपि परंपरं पुनर्हेयोपादेय-दर्शनानि ज्ञात्वा हेयान्यपहायोपादेयं चोपादाय परंपरयानन्तचतुष्टयात्मिका सिद्धिरिति ।**

(A-4) - तुलनात्मकपाठः परिशिष्टे द्रष्टव्यः । (A-5)- तुलनात्मकपाठः परिशिष्टे द्रष्टव्यः ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

इस प्रकार चारो अतिशयो से श्रेष्ठ (शोभायमान) दूसरा नाम जिनका वर्धमानस्वामी है ऐसे वर्तमान तीर्थाधिपति श्रीमहावीर परमात्मा को नमस्कार करके (अर्थात्) मन से भगवान के अतिशयो के चिन्तन द्वारा, वाणी से उसके उच्चारण द्वारा और काया से भूमि के उपर मस्तक लगाकर प्रणिधान करके (सर्वदर्शन के वाच्यार्थ को संक्षेप से कहा गया है - इस प्रकार अन्वय करना ।)

इसके द्वारा प्रथम मंगल कहा गया । मध्यम मंगल ग्रंथ के मध्य में चौथे अधिकार में गाथा-४५ में **''जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जित''** इत्यादि पद द्वारा जिनमत की स्तवना करके कहा जायेगा । अंतिम मंगल ग्रंथ के अंत में गाथा ८७ में **''अभिधेयतात्पर्यार्थ: पर्यालोच्य: सुबुद्धिभि:''** इस अनुसार **''सुबुद्धि''** शब्द को कहकर कहा जायेगा ।

वे तीन प्रकार के मंगल का फल (विशेषावश्यक भाष्य में) इस अनुसार कहा है ।

''वे मंगल को शास्त्र के प्रारंभ में, मध्य में तथा अंत में (ग्रंथकारश्री करते है। उसमें) प्रथम मंगल शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति करने के लिए (पार करने के लिए) है। वे शास्त्रोक्त भावो को स्थिर करने के लिए मध्यम मंगल तथा वे शास्त्रोक्त भावो की शिष्य-प्रशिष्य परिवार में अविच्छिन्न रुप में परंपरा चले, उस निमित्त से अन्तिम मंगल है।

''वीरं नत्वा'' में रहा हुआ **''क्त्वा''** प्रत्यय उत्तरक्रिया को सापेक्ष होने से उत्तरक्रियापद **''निगद्यते''** के साथ संबंध करना चाहिए । श्रीवीर परमात्मा को नमस्कार करके क्या कहा जाता है ? (ऐसी अपेक्षा में उत्तरक्रिया बतानी चाहिए - वह अब बताते है-) मूलभेद की अपेक्षा से रहे हुए समस्त जो बौद्धादि दर्शन है वे दर्शन द्वारा कहा गया अथवा वे दर्शनो का देव, तत्त्व और प्रमाणादि स्वरुप वाच्यार्थ - अभिधेयार्थ मेरे द्वारा संक्षेप से कहा जाता है। यहाँ श्लोक में **''मया''** नहि कहा होने पर भी अर्थ से जाना जाता है। इसके द्वारा साक्षात् अभिधेय (ग्रंथ का विषय) कहा ।

सम्बन्ध तथा प्रयोजन (प्रथम गाथा में न कहे होने पर भी) सामर्थ्य से जानना, वह इस प्रकार है- सर्वदर्शन में वक्तव्य (कहने योग्य) देव-तत्त्व-प्रमाणादि है। उसका ज्ञान वह उपेय (साध्य) है और वह ज्ञान का उपाय (साधन) यह शास्त्र है। (अर्थात् शास्त्र के शब्द उपाय है और उससे प्राप्त होनेवाला देवादि का ज्ञान वह उपेय है।) इस अनुसार सम्बन्ध सूचित हुआ जानना ।

प्रयोजन दो प्रकार के है। (१) कर्ता का प्रयोजन, (२) श्रोता का प्रयोजन। दोनो के भी दो प्रकार है (१) अनंतर (२) परंपर. (अनंतर अर्थात् नजदिकका तथा परंपर अर्थात् दूरका)

कर्ता का अनन्तर प्रयोजन जीवो के ऊपर उपकार करना वह है । श्रोता का अनन्तर प्रयोजन सर्वदर्शन को मान्य देव, तत्त्व, प्रमाणादि का ज्ञान करना वह है। कर्ता तथा श्रोता, दोनो का भी परम्पर प्रयोजन हेय-उपादेय दर्शनो को जानकर हेयदर्शन का त्याग तथा उपादेय दर्शन का स्वीकार करके परम्परा से (अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र, अनंतवीर्य स्वरुप) अनंतचतुष्टयात्मिका सिद्धि है। अर्थात् केवलज्ञानकी प्राप्ति है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्वयं शास्त्रकारः सर्वदर्शनसंबन्धीनि शास्त्राणि सम्यक्परिज्ञायैव परोपकाराय प्रस्तुतं शास्त्रं दृब्धवान्, तत्कथमनेनैवेहेदं नाभिदधे अमुकममुकं दर्शनं हेयममुकं चोपादेयमिति चेत्, उच्यते । इह तु सर्वदर्शनान्यभिधेयतया प्रक्रान्तानि, तानि माध्यस्थ्येनैवाभिदधानोऽत्रौचितीं नातिक्रामति । इदमिदं हेयमिदं चोपादेयमिति ब्रुवाणस्तु प्रत्युत सतां सर्वदर्शनानां चानादेयवचनो वचनीयतामञ्चति । नन्वेवं तर्ह्यस्याचार्यस्य न परोपकारार्था प्रवृत्तिः । कुत एवं भाषसे । नन्वेष दर्शयामि । ये केचन मादृशाः श्रोतारः स्वयमल्पबुद्धित्वेन हेयोपादेयदर्शनानां विभागं न जानीयुस्तेषां सर्वदर्शनसत्तत्त्वं निशम्य प्रत्युतैवं बुद्धिर्भवेत् । सर्वदर्शनानि तावन्मिथो विरुद्धाभिधायीनि, तेषु च कतरत्परमार्थसदिति न परिच्छिद्यते । तत्किमेतैर्दर्शनैर्दुर्ज्ञानैः प्रयोजनम् । यदेव हि स्वस्मै रोचते तदेवानुष्ठेयमिति । एवंविधाश्चाविभागज्ञा अस्मिन्काले भूयांसोऽनुभूयन्ते । तदेवं शास्त्रकारस्य सूरेरुपकाराय प्रवृत्तस्य प्रत्युत प्रभूतानामपकारायापि प्रवृत्तिः प्रबभूव, ततश्च लाभमिच्छतो मूलहानिरजनिष्टेति चेत्, न । शास्त्रकारात्सर्वोपकारायैव प्रवृत्तात्कस्याप्यपकारासिद्धेः । विशेषणद्वारेण हेयोपादेयविभागस्यापि कतिपयसहृदयहृदयसंवेद्यस्य संसूचनात् । तथाहि । सद्दर्शनं जिनं नत्वा । "सद्विद्यमाने सत्ये च प्रशस्तार्चितसाधुषु" [अनेकार्थ० १/१०] इत्यनेकार्थनाममालावचनात् । सत्सत्यं न पुनरसत्यं दर्शनं मतं यस्य तम् । जिनमिति विशेष्यम् । चतुर्विंशतेरपि जिनानामेकतरं(मं) रागादिशत्रुजयात्सान्वयनामानं जिनं वीतरागं नत्वा । एतेन पदद्वयेन चतुर्विंशतेरपि जिनानामन्योन्यं मतभेदो नास्तीति सूचितम् ।

टीकाका भावानुवाद :

शंका : यह ग्रन्थकारश्रीने सर्वदर्शन संबंधित शास्त्रो का सम्यक् परिज्ञान करके ही परोपकार के लिये प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की है। तो इस ग्रंथ के द्वारा ही क्यों नहीं कहा कि कुछ खास दर्शन हेय है तथा कुछ खास दर्शन उपादेय है ?

समाधान : ग्रंथकारश्रीने इस ग्रंथ में सर्वदर्शनो के अभिधेयार्थ को (वाच्यार्थ को) कहने की शुरुआत की है। तब इस ग्रंथ में तत् तत् दर्शन के वाच्यार्थ को मध्यस्थ रुप में कहते हुए ग्रंथकार श्री औचित्य का अतिक्रमण नहीं करते। अर्थात् ग्रंथकारश्रीने सर्वदर्शनो के वाच्यार्थ को बताने की प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की है। तदनुसार वर्तन करना वही उचित है। परन्तु यदि "यह दर्शन हेय" और "यह दर्शन उपादेय" इस प्रकार कहे तो प्रत्युत (उलटा) सज्जनो को तथा अन्यदर्शनवालो को उनके वचन अनादेय बन जायेंगे और निन्दापात्र बन जायेंगे।

शंका : यदि ग्रन्थकारश्री सर्वदर्शनो की हेयता-उपादेयता न बताये तो ग्रंथकार की परोपकार के लिये प्रवृत्ति है ऐसा किस तरह कहा जा सकता है ?

प्रश्न : आप इस प्रकार क्यों कहते हैं ?

उत्तर : वह मैं बताता हूं। जो मेरे जैसे श्रोता है कि जो अल्पबुद्धि होने के कारण स्वयं हेय-उपादेय दर्शनो

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विभाग नहीं जानते। उनको सर्वदर्शन में कहे हुए तत्त्व को सुनकर उलटा इस प्रकार की बुद्धि होगी कि सर्वदर्शन परस्पर विरुद्ध कहते है। उसमें से कितने परमार्थ से सत् है या असत् है ? यह मालूम नहीं पडता। तो समजने में भी कठिन ऐसे इस दर्शनो के द्वारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? जिनको जो अच्छा लगे वह करना चाहिए। इस प्रकार के सत्-असत् के विभाग को नहि जाननेवाले लोग इस वक्त (इस समयमें) बहोत है। इसलिए इस अनुसार उपकार के लिये प्रवृत्त शास्त्रकार आचार्य भगवंत की (प्रवृत्ति) उल्टा बहोत लोग के अपकार के लिए सिद्ध होती है। इसलिये (जीवो के उपकाररुप) लाभ को चाहनेवाले मूल की ही (उपकार की ही) हानि हो जाती है। अर्थात् अपकार के लिए होती है।

समाधान : ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि शास्त्रकार परमर्षि सर्व के उपकार के लिये ही प्रवृत्त होने से किसी के भी अपकार की सिद्धि नहीं होती अर्थात् ग्रंथकार परमर्षि की प्रवृत्ति से किसी के उपर अपकार नहीं होता। क्योंकि विशेषणो के द्वारा ग्रंथकारश्रीने कुछ सहृदय व्यक्ति को संवेद्य हो शके ऐसा हेयोपादेय का विभाग को भी सूचत किया है। वह इस अनुसार है-

''सद्दर्शनं जिनं नत्वा'' यहां **''सत् विद्यमाने सत्ये च प्रशस्त - अर्चित साधुषु''** यह अनेकार्थ नाममाला के वचन से **''सत्''** का विद्यमान, सत्य, प्रशस्त, पूजित और साधु अर्थ में प्रयोग होता है। यहाँ पर **''सत्''** का सत्य अर्थ लेकर **'सत् सत्यं (न पुनरसत्यं) दर्शनं मतं यस्य तम्'** अर्थात् सत्य (असत्य नहि) दर्शन है जिनका वह सद्दर्शन। (वह सद्दर्शन को.... नमस्कार करके ऐसा अन्वय करे, तब) सद्दर्शन पद से जिनेश्वर परमात्मा के दर्शन को ग्रंथकारश्रीने सत्य के रुप में बता ही दीया है।

तथा **'जिनं'** इस प्रकार का विशेष्य है। उसमें एक वचन के निर्देश से यह सूचित होता है कि चौबीस तीर्थंकरोने रागादि शत्रुओंको जीता होने के कारण सार्थक (सान्वय) नामवाले जिन-वीतराग है। (उसमें **'जिनं'** पद से कोई भी एक जिनेश्वर का नाम ग्रहण करना और वह जिनेश्वर परमात्मा को नमस्कार करके इस प्रकार अन्वय करना।)

उपरांत (वैसे भी) **''सद्दर्शनं''** और **''जिनं''** ये दो पदो से चौबीस जिनेश्वरो को परस्पर कोई मतभेद नहीं है, ऐसा सूचित करते है।

तर्हि श्वेताम्बरदिगम्बराणां कथं मिथो मतभेद इति चेत्, उच्यते । मूलतोऽमीषां मिथो न भेदः किंतु पाश्चात्य एवेति । कीदृशं जिनम् । अवीरम् । आ स्वयंभूः, अः कृष्णः, उरीश्वरः । आ, अ, उ इति स्वरत्रययोगे 'ओ' इति सिद्धम् । [A-6]तानीरयति तन्मतापासनेन प्रेरयतीत्यचि प्रत्ययेऽवीरम् । सृष्ट्यादिकर्तृब्रह्मकृष्णेश्वरदेवताभिमतमतानां निरासकमित्यर्थः । तथा स्याद्वाददेशकम् । स्याद्वादं द्यन्ति च्छिन्दते "क्वचिड्ड" [हैम० ५/१/१७१] इति डप्रत्यये

(A-6) - तुलनात्मक पाठः परिशिष्टे द्रष्टव्यः ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्याद्वाददास्तत्तदसद्भूत-विरोधादिदूषणोद्घोषणैः स्याद्वादस्य च्छेदिनः । तेषां ई लक्ष्मीं महिमानं वा श्यति तत्तदीयमतापासनेन तनूकरोति यत्तत्स्याद्वाददेशम् । कै गै रै शब्दे । कै कायतीति "क्वचिड्" [हैम० ५/१/१७१] इति डे, कं वचनम्, स्याद्वाददेशं कं वचनं यस्य तम् । अनेन विशेषणेन प्रागुक्तानुक्तानामशेषाणां बौद्धादीनां संभवैतिह्यप्रमाणवादिचरकप्रमुखाणां च [A-6/1]मतानामुच्छेदकारि वचनमित्यर्थः ।

टीकाका भावानुवाद :

प्रश्न : यदि चौबीस श्री जिनेश्वरो में परस्पर मतभेद नहीं है तो श्वेताम्बर तथा दिगम्बरो को किस प्रकार परस्पर मतभेद पडा ?

उत्तर : मूलतः चौबीस श्रीजिनेश्वरो के अनुयायिओ में परस्पर भेद नहीं था, वे भेद पीछे से पडे है।

(अब दूसरे प्रकार से "**सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम्**" पदके शब्दो की व्युत्पत्ति करके अन्यदर्शन की मान्यताओं का खण्डन करते है।) **कीदृशं जिनम् ? अवीरम्** यहां उपरोक्त पंक्ति में '**नत्वा**' पद में से '**अ**' निकाल के "**वीर**" के साथ जोडने से "**अवीरम्**" बना है। (यहां **अवीर** का **आ+अ+उ+ईर** पदच्छेद करने से) आ=स्वयंभू, अ=कृष्ण, उ=ईश्वर=महादेव, ये तीनो स्वरो की संधि के नियमानुसार "**ओ**" इस अनुसार सिद्धि होती है। **तानीरयति-तन्मतापासनेन प्रेरयति** - इस व्युत्पत्ति से "**अच्**" प्रत्यय लगने से "**अवीरम्**" बना है।

कहने का आशय (मतलब) यह है कि, सृष्टि, स्थिति और प्रलय (विनाश) के कर्ता अनुक्रम में ब्रह्मा, कृष्ण और महादेव के अभिमत मतो का निरास करनेवाले अवीर को नमस्कार करके......... इस प्रकार अर्थात् सृष्ट्यादि के कर्ता ब्रह्मादिप्ररुपित मत का निरास करनेवाले अवीर है। उनको नमस्कार करके ऐसा अर्थ करना। (उपरोक्त पंक्ति में रहे हुए **स्याद्वाददेशक** पदका **स्याद्वादद+ई+श+क** - इस प्रकार पदच्छेद करके प्रथम स्याद्वादपदकी व्युत्पत्ति करते है।) **स्याद्वादं द्यन्ति छिन्दते इति स्याद्वाददः ते स्याद्वाददाः** (यहां सिद्धहैम ५-१-१७१ सूत्र से '**ड**' प्रत्यय लगा है।) अर्थात् तत् तत् मतके असद्भूत-विरोध आदि दूषणो को बताकर उद्घोषणा द्वारा स्याद्वाद का छेदन करता है वह। (अब '**ई**' की व्युत्पत्ति करते हुए कहते है कि) वह विरोधादि दूषणो को बताकर स्याद्वाद का छेदन करनेवालो की लक्ष्मी अर्थात् महिमा का नाश करता है। अथवा उनके तत् तत् मतो का खण्डन करके तनु करता है अर्थात् निरुत्तर करता है जो, वह स्याद्वाददेशम्। (अब पदच्छेद में रहे हुए '**क**' पद का अर्थ करते है। "**कै गै रै शब्दे**" अर्थात् कै, गै, रै धातुए शब्दार्थक है। "**कै कायति**" इस अनुसार **सिद्ध० हैम० ५-१-१७१** "**क्वचित्**" सूत्र से '**ड**' प्रत्यय लगकर '**क**' शब्द बनता है और **स्याद्वाददेशं कं वचनं यस्य तम् (- स्याद्वाददेशकम्)** इस व्युत्पत्ति से "**स्याद्वाददेशकम्**" पद बना। इस विशेषण द्वारा पूर्व में (पहले)

(A-6-1) - तु. पा. प्र. प.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहे हुए तथा नहीं कहे हुए सभी बौद्ध आदि दर्शनो के और [१]संभव तथा [२]ऐतिह्य को प्रमाण माननेवाले चरक इत्यादिक के मतो का उच्छेद करनेवाला वचन वह स्याद्वाददेशक, ऐसा भावार्थ जानना। (इससे स्वयं फलित हो जाता है कि श्रीजिनेश्वर परमात्मा का वचन सर्व अन्यदर्शनो का खण्डन करनेवाला होने से जिनमत के सिवा अन्य सर्व दर्शन हेय है।)

जिनं नत्वा मया सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यत इत्युक्तं ग्रन्थकृता । अत्र च नमनक्रिया प्राक्कालसंबन्धिनी क्त्वाप्रत्ययस्य प्राक्कालवाचकत्वात्, निगदनक्रिया तु वर्तमानजा । ते चैकेनैव ग्रन्थकृता क्रियमाणे नानुपपन्ने, अपरथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । न चैवं भिन्नकालयोः क्रिययोरेककर्तृकता बौद्धमते संभवति, तेन क्षणिकवस्त्वभ्युपगमात् । ततः कश्चिद्बौद्धमतस्य प्रस्तुतग्रन्थस्यादावुक्तत्वेनोपादेयतां मन्येत । तन्निवारणाय प्रागुक्तविशेषणसंगृहीतमपि बौद्धमत-निरसनं पुनरिह सूचितं द्रष्टव्यम् । एतेषां परदर्शनानां निरसनप्रकारो ग्रन्थान्तरादवसेयः । तदेवं जिनस्य विशेषणद्वारेण सत्यदर्शनतां सर्वपरदर्शनजेतृवचनतां चाभिदधताखिलान्यदर्शनानां हेयतां जैनदर्शनस्योपादेयता सूचिता मन्तव्या । ततो नास्माद्ग्रन्थकारात्सत्यासत्यदर्शनविभागा-नभिज्ञानामप्यपकारः कश्चन संभवतीति, तद्विभागस्यापि व्यञ्जितत्वात् ।

टीकाका भावानुवाद :

''**जिनं नत्वा मया सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यते**'' इस अनुसार जो ग्रंथकारश्री के द्वारा कहा गया है, वहां नमनक्रिया प्राक्काल संबंधित है। क्योंकि, ''**क्त्वा**'' प्रत्यय प्राक्काल का वाचक है। परन्तु निगदनक्रिया वर्तमानकालीन है। (एक क्रिया करके दूसरी क्रिया करनी हो तब ''**क्त्वा**'' प्रत्यय का प्रयोग होता है। इसलिए प्राक्काल की क्रिया उसके बाद होनेवाली क्रिया को सापेक्ष होने के कारण नमनक्रिया प्राक्कालकी और निगदनक्रिया वर्तमानकालीन होने पर भी) दोनो क्रियाएं एक ग्रंथकर्ता के द्वारा की हुई मानने से असंगति नहीं है, यदि दोनो क्रियाका कर्ता एक नहीं हो सकता, ऐसा माना जाये, तो सभी [३]व्यवहार का लोप होने का प्रसंग आयेगा।

---

(१) एक वस्तु की सत्ता सिद्ध होने से दूसरे अर्थ की सत्ता माननी ही पडेगी, ऐसे अर्थ को **संभव प्रमाण** कहा जाता है। जैसे कि ''यहां मनभर (२० किलो) अनाज है।'' तो मानना ही पडेगा की उसमें ''सैर'' (५०० ग्राम) अनाज भी है ही। (२) ऐसा लोग कहते आये है, परंतु वह कहनेवाली जो आप्त व्यक्ति थी, उसका कोई नामोनिशान नहीं है, उस प्रवाद की परंपरा **ऐतिह्यप्रमाण** कहा जाता है। जैसे कि........... ''**इह वटे यक्षः**''

(३) जैसे कि ''**बैठकर खाता है**'' ऐसा प्रयोग होता व्यवहार में दिखाई देता है। ''**आसित्वा भुङ्क्ते**'' ऐसे प्रयोग में ''बैठने की क्रिया प्राक्कालकी और खानेकी क्रिया वर्तमानकालीन होगी। यहां यदि दो क्रियाओ के दो कर्ता मानोगें तो एक बैठने की क्रिया करेगा और एक-दूसरा खाने की क्रिया करेगा, ऐसा मानने की आपत्ति आयेगी और एक ही व्यक्ति ''बैठकर खाता है'' वह व्यवहार के उच्छेद की आपत्ति आयेगी।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरांत इस अनुसार भिन्नकाल में होनेवाली दो क्रियाओकी एक कर्तृकता बौद्धमत में संभवित नहीं है। क्योंकि, बौद्ध के द्वारा क्षणिक वस्तु का स्वीकार किया गया है। (कहने का मतलब यह है कि जो कर्ता ने नमनक्रिया की, वह कर्ता तो (बौद्ध मत में सर्व वस्तु क्षणिक होने के कारण) उसी क्षण नष्ट होता है। तो दूसरी निगदनक्रिया किस प्रकार कर सकेगा ? क्योंकि नमनक्रिया और निगदनक्रिया का काल भिन्न है और नमनक्रिया करनेवाला व्यक्ति तो नष्ट हो गया है। इसलिए बौद्धमत में भिन्नकाल में होनेवाली दो क्रिया की एककर्तृकता संभवित नहीं है।) इसलिए दो क्रिया का एक कर्ता उपरोक्त प्रकार से सिद्ध करने से बौद्धमत का खण्डन हो जाता है। इस प्रकार बौद्धमत का प्रस्तुत ग्रंथ में प्रारम्भ में वर्णन होने पर भी कोई उसकी उपादेयता न मान बैठे, इसलिए उपरोक्त स्पष्टता की। (वैसे तो बौद्धमत का खण्डन) पहले कहे गये **''स्याद्वाददेशकं''** विशेषण से **किया** गया होने पर भी ग्रंथ के आदि में उसका वर्णन होने से कोई उपादेय न माने इसलिए पुनः भी यहां सूचन किया है। यह सब अन्य(४) दर्शनो की मान्यता का खण्डन अन्य ग्रंथ से जान लेना। **''जिनं''** विशेषण द्वारा (जैनदर्शन की) सत्यदर्शनता को और सर्व अन्य दर्शन के (खण्डन द्वारा) विजयीवचनता को कहते हुए, सभी अन्यदर्शनो की हेयता और जैन दर्शन की उपादेयता सूचित हुई जानना। इसलिए इस ग्रंथकार से सत्यासत्य-दर्शन के विभाग से अनभिज्ञ जीवो के उपर कोई अपकार का संभव नहीं है। क्योंकि ग्रंथकारश्री के द्वारा सत्यासत्य का विभाग भी प्रकट किया ही गया है।

अत्रापरः कश्चिदाह । ननु येषां सत्यासत्यमतविभागाविर्भावके ग्रन्थकारवचसि सम्यगास्था न भवित्री, तेषां का वार्तेति ? उच्यते-येषामास्था न भाविनी, ते द्वेधा । एके रागद्वेषाभावेन मध्यस्थचेतसः, अन्ये पुना रागद्वेषादिकालुष्यकलुषितत्वाद्दुर्बोधचेतसः । येदुर्बोधचेतसस्तेषां सर्वज्ञेनापि सत्यासत्यविभागप्रतीतिः कर्तुं दुःशका, किं पुनरपरेणेति तानवगणय्य मध्यस्थचेतस उद्दिश्य विशेषणावृत्त्या सत्यासत्यमतविभागज्ञानस्योपायं प्राह । सद्दर्शनमिति । वीरं कथंभूतम् ? सद्दर्शनम् । सन्तः साधवो मध्यस्थचेतस इति यावत् तेषां दर्शनं ज्ञानमर्थात्सत्यासत्यमतविभागज्ञानं यथावदाप्तत्वपरीक्षाक्षमत्वेन यस्माद्वीरात्स सद्दर्शनस्तम् । एतेन श्रीवीरस्य यथावदाप्तत्वादिस्वरूपमेव परीक्षणीयमिति सूचितम् । अथवा सतां साधूनां दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं यस्मात्स सद्दर्शनः । अथवा सन्तो विद्यमाना जीवाजीवादयः पदार्थास्तेषां दर्शनं यथावदवलोकनं यस्माद्वीरात्स सद्दर्शनस्तम् । कुत एवंविधम् । यतः स्याद्वाददेशकं, प्रागुक्तस्याद्वादभाषकम् । एवंविधमपि कुत इत्याह - यतो जिन रागद्वेषादिजयनशीलम् । जिनो हि वीतरागत्वादसत्यं न भाषते, तत्कारणाभावादिति भावः[A-7] । शेषश्लोकव्याख्यानं प्राग्वत् ।

---

(४) शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्याद्वाद कल्पलता, स्याद्वादमञ्जरी, रत्नाकर अवतारिका, स्याद्वाद रत्नाकर, वाद-महार्णव (सम्मतितर्क प्रकरण की टीका) इत्यादि अनेक ग्रंथोमें तत् तत् अन्य दर्शनो की मान्यता का खंडन है।

(A-7) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

कोई अन्य व्यक्ति शङ्का करती है। **शंका :** जिन को सत्यासत्य विभाग को बतानेवाले ग्रंथकारश्री के वचनो के ऊपर विश्वास नहीं है, उनको यह सब कहने से क्या ? (अर्थात् ग्रंथकारश्री जैनदर्शन की मान्यतावाले है। इसलिए जैनदर्शन को सत्य बताते है और अन्य दर्शनो के मतो को असत्य बताते है, ऐसी मन में अश्रद्धा है, ऐसे व्यक्तिओको विशेषणो द्वारा अन्यदर्शन की असत्यता बताने से क्या ?

समाधान : जिन को ग्रंथकारश्री के वचनो के ऊपर श्रद्धा नहीं है, वे दो प्रकार के हो सकते है, (१) रागद्वेष का अभाव होने से मध्यस्थचित्तवाले और (२) रागद्वेषादि दोषो से कलुषित चित्तवाले होने के कारण दुःख से बोध कराया जा सके ऐसे।

(उनमें से) जो दुर्बोध चित्तवाले है, उनको सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा भी सत्यासत्यविभाग की प्रतीति करानी संभवित नहीं है, तो (सर्वज्ञ के सिवा) दूसरो के द्वारा किस प्रकार की जा सकेगी ? इसलिए दुर्बोधचित्तवालों की उपेक्षा करके मध्यस्थ चित्तवालो को उद्देश में रखकर विशेषण की आवृत्ति से सत्यासत्य मत के विभाग के ज्ञानका उपाय कहते है।

वीरं कथंभूतम् ? सद्दर्शनं (यहां "सद्दर्शन" पद की अलग प्रकार से व्युत्पत्ति करके मध्यस्थचित्तवालो को सत्यासत्य मत के विभाग के ज्ञान के प्रति अभिमुख करता है।)

सत् अर्थात् सज्जन, साधु, मध्यस्थचित्तवाले। वे मध्यस्थ चित्तवालो को सत्यासत्य मत के विभाग का ज्ञान (दर्शन) यथावद् आप्तत्व की परीक्षा में समर्थ होने के कारण ही श्री वीर परमात्मा के पास से होता है, वह सद्दर्शन। इस से मध्यचित्तवालो को श्रीवीर परमात्मा में यथावद् आप्तत्व की परीक्षा करने योग्य है, ऐसा सूचन किया। (यदि श्रीवीर परमात्मा में आप्तत्व की सिद्धि हो जाये तो उनका वचन सत्य ही होगा, वह स्वयमेव सिद्ध हो ही जाता है, इसलिए आप्तत्व की परीक्षा करने का सूचन किया) अथवा साधुओ को तत्त्वार्थ की श्रद्धा स्वरुप दर्शन (सम्यग्दर्शन) जिससे हो वह सद्दर्शन।

अथवा विद्यमान ऐसे जीवाजीवादि पदार्थो का यथावद् अवलोकन = दर्शन, जो वीर परमात्मा से होता है वह सद्दर्शन। (वह सद्दर्शन को नमस्कार करके उस प्रकार अन्वय करना।)

प्रश्न : श्रीवीर परमात्मा कैसे जीवादि तत्त्वो का यथावद् अवलोकन करानेवाला है ?

उत्तर : श्रीवीर परमात्मा पहले कहे अनुसार स्याद्वाद के देशक होने से यथावद् जीवादि तत्त्वो का अवलोकन करानेवाले है।

प्रश्न : श्रीवीर परमात्मा स्याद्वाद के देशक कैसे है ?

उत्तर : श्रीवीर परमात्मा स्याद्वाद के देशक हैं। क्योंकि वे राग-द्वेष के विजेता जिन है। जिन, वीतराग होने के कारण असत्य नहीं बोलते है। क्योंकि असत्य बोलने के कारणो का अभाव है। अर्थात्

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत्य बोलने में कारणभूत राग-द्वेष-मोह का नाश हुआ है। श्लोक के शेष पदो की व्याख्या पहले की तरह जानना।

एवं चात्रैवमुक्तं भवति । ये हि श्रीवीरस्य यथावदाप्तत्वादिपरीक्षां विधास्यन्ते स्याद्वादं च तत्प्रणीतं मध्यस्थतया सम्यगवलोक्य पश्चात् परमतान्यप्यालोकयिष्यन्ते, ते सत्यासत्यदर्शनविभागमपि स्वयमेवावभोत्स्यन्ते । किमस्मद्वचनस्यास्थाकरणाकरणेनेति । एतेन ग्रन्थकृता स्वस्य सर्वथात्रार्थे माध्यस्थ्यमेव दर्शितं द्रष्टव्यं । सत्यासत्यदर्शनविभागपरिज्ञानोपायश्च हितबुद्ध्यात्राभिहितो-ऽवगन्तव्यः, पुरातनैरपीत्थमेव सत्यासत्यदर्शनविभागस्य करणात् । तदुक्तं पूज्यश्री हरिभद्रसूरिभिरेव लोकतत्त्वनिर्णये ।

"बन्धुर्न नः स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये, साक्षान्न दृष्टचर एकतरो(मो)ऽपि चैषाम् ।

श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग्विशेषं, वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः ।।१।। [लोकतत्त्व० १/३२]

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ।।२।।'
[लोकतत्त्व० १/३८] **प्रभुश्रीहेमसूरिभिरप्युक्तं वीरस्तुतौ-**

"न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु । यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ।।१।। इति ।।" [अयोगव्य० श्लो०-२९]

टीकाका भावानुवाद :

यहां कहने का तात्पर्य यह है कि जो लोग श्रीवीर परमात्मा की यथावद् आप्तत्व की परीक्षा करेंगे और उन्हों ने प्ररुपित किये हुए स्याद्वाद के सिद्धांत का मध्यस्थता से सम्यग् अवलोकन करके बाद में परमतोका भी निरीक्षण करेंगे (तब) वे स्वयमेव ही सत्यासत्यदर्शन के विभाग को कर सकेंगे (और स्वयं सोच सकेंगे)। हमारे वचन में श्रद्धा करने से या न करने से क्या ? इससे ग्रंथकारश्री द्वारा अपने इस विषय में सर्वथा मध्यस्थपन बताया हुआ जानना और सत्यासत्यदर्शन के विभागज्ञान का उपाय हितबुद्धि से यहाँ कहा गया है ऐसा जानना। क्योंकि, पूर्वाचार्यो के द्वारा भी इसी प्रकार से सत्यासत्यदर्शन का विभाग किया गया है।

इसलिए लोकतत्त्वनिर्णय में पू.आ.भ.हरिभद्रसूरिजी द्वारा ही कहा गया है कि........ "वे वीर परमात्मा हमारे भाई नहीं है और अन्य (ब्रह्मादि) हमारे शत्रु भी नहीं है। क्योंकि उनमें से एक को भी साक्षात् दृष्टि से (हमने) देखा नहीं है। परन्तु श्रीवीर परमात्मा के वचन को सुनकर और उनका (अन्य देवो से) भिन्न-विशेष चरित्र सुनकर (उनके) गुणो की अतिशय लोलुपता से (श्रीवीर परमात्मा का) आश्रय किया गया है। (१) वीर परमात्मा के ऊपर मेरा पक्षपात नहीं है। (अन्यदर्शन के प्रणेता ऐसे) कपिलादि के ऊपर द्वेष नहीं है, (परन्तु) जिनका वचन युक्तियुक्त हो, उसका वचन स्वीकार करना चाहिए। (२)"

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर परमात्मा की स्तुति में कलिकालसर्वज्ञ पू.हेमचन्द्रसूरिजी के द्वारा भी कहा गया है कि........

"आपके ऊपर श्रद्धा मात्र से ही पक्षपात नहीं है और अन्य ब्रह्मादि के ऊपर द्वेषमात्र से ही अरुचि नहीं है, परन्तु यथावद् आप्तत्व की परीक्षा के द्वारा वे वीरप्रभु का आश्रय किया है।"

नन्वत्र सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो वक्तुं प्रक्रान्तः, स च संख्यातिक्रान्तः । तत्कथं स्वल्पीयसानेन प्रस्तुतशास्त्रेण सोऽभिधातुं शक्यो, जैनादन्यदर्शनानां परसमयापरनामधेयानामसंख्यातत्वात् । तदुक्तं सम्मतिसूत्रे श्री सिद्धसेनदिवाकरेण-"जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया । जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया ।।१।।" [सम्मति० ३/४७] **व्याख्या-** [A-8]**अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो य एकदेशोऽन्यदेशनिरपेक्षस्तस्य यदवधारणं सोऽपरिशुद्धो नयः । स एव च वचनमार्ग उच्यते । एवं चानन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुन एकदेशानामितरांशनिरपेक्षाणां यावन्तोऽवधारणप्रकाराः संभवन्ति, तावन्तो नया अपरिशुद्धा भवन्ति । ते च वचनमार्गा इत्युच्यते । ततोऽयं गाथार्थः । सर्वस्मिन् वस्तुनि यावन्तो यावत्संख्या वचनपथा वचनानामन्योन्यैकदेशवाचकानां शब्दानां मार्गा अवधारणप्रकारा हेतवो नया भवन्ति, तावन्त एव भवन्ति नयवादाः, नयानां तत्तदेकदेशावधारणप्रकाराणां वादाः प्रतिपादकाः शब्दप्रकाराः । यावन्तो नयवादा एकैकांशावधारणवाचकशब्दप्रकाराः, तावन्त एव परसमया परदर्शनानि भवन्ति, स्वेच्छाप्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात्परसमयानां विकल्पानां चासंख्यत्वात् । अयं भावः । यावन्तो जने तत्तदपरापरवस्त्वेकदेशानामवधारणप्रतिपादकाः शब्दप्रकारा भवेयुस्तावन्त एव परसमया भवन्ति । ततस्तेषामपरिमितत्वमेव स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियतत्वात् तदुत्थप्रवादानामपि तत्संख्यापरिमाणत्वादिति । तदेवं गणनातिगाः परसमया भवन्ति ।**

टीकाका भावानुवाद :

यहां से ('ननु' से) शंकाग्रंथ का प्रारंभ होता है, वह पृ. ३७ तक (इति चेत् तक) चलेगा।

शंका : यहां सर्वदर्शन के वाच्यार्थ को कहने के लिए शुरुआत की है, वे दर्शन तो संख्यातीत है। तो किस प्रकार अत्यन्त अल्प ऐसे प्रस्तुत शास्त्र के द्वारा वे सर्वदर्शन का वाच्यार्थ कहना संभव होगा ? क्योंकि जैनदर्शन से अपर-अपर नामवाले अन्यदर्शन असंख्यात है। इसलिए सन्मतितर्कसूत्र में पू.आ.श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी के द्वारा कहा गया है कि - **जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया । जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया ॥**

श्लोकार्थ : जितने वचनमार्ग है उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने अन्यदर्शन है।"

(A-8) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लोककी व्याख्या : अनंतधर्मात्मक वस्तु का अन्यदेश से निरपेक्ष एकदेश का जो अवधारण करना वह अपरिशुद्ध नय है। (अर्थात् अनंतधर्मात्मक वस्तु में रहे हुए एकधर्म को आगे करके, दूसरे धर्मों की उपेक्षा करके वर्णन करे वह **अपरिशुद्धनय** कहा जाता है। जैसे की, नित्यानित्य आत्मा के एक धर्म नित्यत्व की उपेक्षा करके, उसकी निरपेक्षरुप से अनित्यत्व धर्म की प्ररुपणा करे वह अपरिशुद्ध नय कहा जाता है) और वही वचनमार्ग कहा जाता है। इस अनुसार अनंतधर्मात्मक सर्ववस्तु के इतर अंशो के निरपेक्ष रुप में एक-एक अंशो को पेश करने के जितने प्रकार संभवित है, उतने अपरिशुद्धनय होते है और वे वचनमार्ग कहे जाते है।

इसलिए **''जावइया....''** गाथा का अर्थ इस अनुसार होगा – सर्ववस्तुओ में जितनी संख्या में वचनपथ होते है। (अर्थात्) परस्पर (वस्तुके) एक देश के वाचक शब्दो के (जितने) मार्ग अर्थात् निर्णय करने के कारण-प्रकार होते है, वे नय है। उतने ही नयवाद होते है। (अर्थात्) तत् तत् वस्तु के एक देश के अवधारण के प्रकार स्वरुप नयो का प्रतिपादक जो शब्दप्रकार है, वे नयवाद कहे जाते है। जितने वस्तु के एक अंश के अवधारण वाचक शब्द के प्रकार है उतने ही परदर्शन है। अपनी अपनी इच्छा से विकल्पो की कल्पना की होने से परदर्शन असंख्यात है। कहने का आशय (मतलब) यह है कि, लोक में जितने तत् तत् अपर-अपर वस्तु के एक-एक देश के अवधारण (निर्णय करने) के प्रतिपादक शब्द प्रकार होते है उतने ही परदर्शन है। इसलिए अपनी-अपनी कल्पनारुप शिल्पि (शिल्पकार) से सर्जित विकल्प अपरिमित है। क्योंकि, प्रत्येक की कल्पना अनियत होती है। इसलिए अनियत कल्पना में से नीकले हुए प्रवादो की संख्या भी अनियत होगी, वह समजा जा सकता है। इसलिए इस अनुसार अन्यदर्शन गणनातीत है।

अथवा सूत्रकृदाख्ये द्वितीयेऽङ्गे परप्रवादुकानां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि परिसंख्यायन्ते । तदर्थसंग्रहगाथेयं- "[A-9]असिइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई । अन्नाणि अ सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं (बत्तीसा) ।। १ ।।" [सूत्रकृ० नि० गा० - ११९] **अस्या व्याख्या- अशीत्यधिकं शतम् ।** "किरियाणं ति" **क्रियावादिनाम् । तत्र क्रियां जीवाद्यस्तित्वं वदन्तीत्येवंशीलाक्रियावादिनः, मरीचिकुमारकपिलोलूकमाठरप्रभृतयः । ते पुनरमुनोपायेनाशीत्यधिकशतसंख्या विज्ञेयाः । जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षरूपान्नव पदार्थान्** [A-10]**परिपाट्या पट्टिकादौ विरचय्य जीवपदार्थस्याधः स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ । तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः**[A-11] **कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः । ततश्चैवं विकल्पाः कर्तव्याः । तद्यथा - अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः । अस्य च विकल्पस्यायमर्थः**[A-12] **। विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः कालवादिनो मते ।** [A-13]**कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव जगत्सर्वं मन्यन्ते । तथा च ते प्राहुः । न कालमन्तरेण**

(A-9-10-11-12-13) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रचारगर्भाधानवर्षादयो वर्तुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलीपलितागमादयो वावस्थाविशेषा घटन्ते, प्रतिनियतकालविभागत एव तेषामुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत् । न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । अपि च । मुद्गपक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ती दृश्यते । किं तु कालक्रमेण । अन्यथा स्थालीन्धनादिसामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्या भावो भवेत् । न च भवति । तस्माद्यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतमिति । तथा चोक्तम् - "न कालव्यतिरेकेण गर्भबाल्युवादिकम् । यत्किंचिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ।। १ ।। किं च कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते । स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता ।। २ ।। कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया । परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ।। ३ ।। [शास्त्रवा० श्लो० १६५-१६८] कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।। ४ ।।" [महाभा० हारीतसं०] **अत्र परेष्टहेतुसद्भावमात्रादिति पराभिमतवनितापुरुषसंयोगादिरूपहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवादिति गर्भाद्युद्भवप्रसङ्गात् । तथा कालः पचति, परिपाकं नयति परिणतिं नयति भूतानि पृथिव्यादीनि । तथा कालः संहरते प्रजाः, पूर्वपर्यायात्प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण प्रजा लोकान्स्थापयति । तथा कालः सुप्तेषु जागर्ति, काल एव सुप्तं जनमापदो रक्षतीति भावः । तस्माद् हि स्फुटं दुरतिक्रमोऽपाकर्तुमशक्यः काल ।**

टीकाका भावानुवाद :

द्वितीयअङ्ग सुयगडांगसूत्र में परदर्शनो की संख्या ३६३ कही गई है। (वे ३६३ मतो को बताती) संग्रहगाथा यह है।

असिइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अन्नाणि अ सतट्ठी वेणइयाणं च बतीसं (बतीसा) ॥१॥ (सूत्र कृ.नि.गा. ११९) ॥

श्लोकार्थ : क्रियावादि के १८०, अक्रियावादि के ८४, अज्ञानी के ६७ और वैनयिको के ३२ भेद है। (इस प्रकार सब मिला के ३६३ भेद है।)

गाथा की व्याख्या : क्रियावादि के १८० भेद है। क्रिया अर्थात् जीवादि का अस्तित्व। ''जीवादि का अस्तित्व है।'' इस प्रकार बोलनेवाले-मान्यता रखनेवाले **क्रियावादि** है। (१२ प्रजापतिओ में से एक) मरीचिकुमार, कपिल, उलूक (वैशेषिकमत के प्रणेता), माठर (न्यायशास्त्रकार) इत्यादि क्रियावादि है।

वे क्रियावादिओ की १८० संख्या (निम्न) उपाय से जानना। वे जीवादि नवपदार्थो का परिपाटी द्वारा पट्टी में (एक लाईन में) व्यवस्थित रखना। उसके बाद जीवपदार्थ के नीचे स्वतः तथा परतः, इस प्रकार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो भेद का उपन्यास करना और उसके भी नीचे काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव, ये पांच भेद व्यवस्थित रखना। उसके बाद इस अनुसार (विकल्प) करना –

"**अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः**" यह एक विकल्प। इस विकल्प का अर्थ – यह आत्मा स्वरुप से, काल से नित्य है। कालवादि के मत में यह अर्थ होता है। कालकृत ही सारे जगत को जो लोग मानते है वे कालवादि कहे जाते है। (अर्थात् कालवादि, आत्मा को नित्य और काल को आधीन होके प्रवृत्ति करते है, ऐसा मानते है।) वे कहते है कि चंपक, अशोक, आम आदि वनस्पति (वृक्ष) में फूलो का खिलना, फल का बंधाना, ओस की बुन्दो का गीरना, बर्फ की बारिश होना, नक्षत्र का परिभ्रमण, गर्भाधान, बारिश होना इत्यादि; अथवा ऋतु के विभाग, बाल-कुमार-यौवन अवस्था, चहेरे पर **जुर्रियों** का पडना, बाल सफेद होना, बुढापा आना इत्यादिक अवस्था विशेष काल के बिना नहीं होती है। प्रतिनियत काल के विभाग से ही उनकी उपलब्धि होती है। यदि सर्वजगत की अवस्था विशेष को कालकृत न माना जाये तो जगत अव्यवस्थाओ से भर जाये। और ऐसा दीखता नहीं है और इष्ट भी नहीं है। उपरांत मूंग की दाल का परिपाक भी काल के बीना लोक में होता नहीं दीखाई देता। परन्तु कालक्रम से ही परिपाक होता दीखाई देता है। अन्यथा स्थालि और इन्धनादि सामग्री का सम्पर्क होने के साथ ही प्रथम समय में भी उसके (परिपाक) का सद्भाव मानना पडेगा (परन्तु ऐसा) नहीं है। इसलिए जो कृतक (जन्य) है, वे सर्व कालकृत है।

तथा (कालवादि की यही बात का संग्रह करते हुए) **शास्त्रवार्ता समुच्चय** में कहा है कि........ गर्भ, बाल-युवानादि अवस्था, जो कुछ लोक में उत्पन्न होते है, वे काल के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते है। उसका कारण सही में यह काल ही है। (१) काल के बिना स्थालिइन्धनादि के संनिधान में क्या मूंग का परिपाक देखा गया है ? (ना, नहीं देखा गया।) इसलिए काल से ही मूंग का परिपाक माना गया है। (२) काल के अभाव में दूसरो ने माने हुए हेतुमात्र से सर्व का उद्भव होता है, ऐसा मानेंगे तो गर्भादि सर्व अव्यवस्था हो जायेगी। (३)"

(महाभारत में कहा है कि......) "पृथ्वी आदि पंचमहाभूतो को (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पञ्चमहाभूत है।) काल ही परिपक्व बनाता है। काल ही प्रजा का संहार करता है। काल सोते हुए को जगाता है। (इसलिए) काल सचमुच दुरतिक्रम है।"

यहां (उपर के तीसरे श्लोक में) जो '**परेष्टहेतुसद्भावमात्रात्**' कहा उसका अर्थ इस प्रकार समजना– दूसरो को इच्छित स्त्री-पुरुष संयोगादिरुप हेतु का सद्भावमात्र से गर्भादि के उद्भव का प्रसंग होने से.... गर्भादि सर्व अव्यवस्था होगी। तथा काल से पृथ्वी आदि पंचभूत परिपाक (परिणति) को प्राप्त करते है। काल प्रजा का संहार करता है। अर्थात् पूर्वपर्याय से च्यूत करके दूसरे पर्याय द्वारा लोगो को काल स्थापित करता है। काल सोते हुए को जगाता है। अर्थात् काल ही सोते हुए मानवी की आपत्ति से रक्षा करता है। इस प्रकार भावार्थ जानना। इसलिए स्पष्ट है कि काल का निराकरण करना संभवित नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति-[A-14]उक्तेनैव प्रकारेण द्वितीयोऽपि विकल्पो वक्तव्यः नवरं कालवादिन इति वक्तव्य ईश्वरवादिन इति वक्तव्यम् । तद्यथा-अस्ति जीवः स्वतो नित्यः ईश्वरतः । ईश्वरवादिनश्च सर्वं जगदीश्वरकृतं मन्यन्ते । ईश्वरं च सहसिद्धज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यरूपचतुष्टयं प्राणिनां च स्वर्गापवर्गयोः प्रेरकमिति । तदुक्तम्- "ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ।। १ ।। अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।। २ ।।" [महाभा० वन० ३०/२१] इत्यादि ।

टीकाका भावानुवाद :

इस प्रकार कहे गये प्रकार से दूसरा विकल्प भी कहना चाहिए। अर्थात् कालवादि का विकल्प जिस प्रकार कहा उस प्रकार ईश्वरवादि का विकल्प भी कहना चाहिए। वह इस अनुसार है – **"अस्ति जीवः स्वतो नित्यः ईश्वरतः ।"** जीव है, स्वतः नित्य है और ईश्वरकृत है।

ईश्वरवादि सर्व जगत को ईश्वरकृत मानते है। ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा ऐश्वर्य ये चारो एक साथ सिद्ध है, वह ईश्वर को (ईश्वरवादि) जीवो के स्वर्ग और अपवर्ग में प्रेरक मानते है। इसलिए (महाभारत में) कहा है कि..... जगतपति को अविनश्वर ज्ञान, वैराग्य, धर्म और ऐश्वर्य ये चारो सहज ही प्राप्त है। अपने सुख-दुःख के भोग के क्षेत्र को खोजने में स्वयं असमर्थ ये लाचार अज्ञ जीव इश्वर के द्वारा प्रेरित होकर ही सुख-दुःख भोगने के लिए स्वर्ग तथा नरक में जाता है। ॥१-२॥

तृतीयो [A-15]विकल्प आत्मवादिनाम् । आत्मवादिनो नाम "पुरुष [A-16]एवेदं सर्वम्" [ऋग्वेद पुरुषसू०] **इत्यादि प्रतिपन्नाः । चतुर्थो विकल्पो नियतिवादिनाम्[A-17] । ते ह्येवमाहुः । नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा । तथाहि-यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते । अन्यथा कार्यकारणव्यवस्था प्रतिनियतरूपव्यवस्था च न भवेत्, नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते । मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः । तथा चोक्तम्-** "नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत् । ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः ।। १ ।। यद्यदेव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा । नियतं जायते न्यायात् क एनां बाधितुं क्षमः ।। २ ।।" [शास्त्रवा० श्लो० १७३/१७४]

टीकाका भावानुवाद :

तृतीय विकल्प आत्मवादियो का है :- जगत में यह सर्व दीखाई देता है, वह पुरुष ही है। ऐसा स्वीकार

(A-14-15-16-17) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनेवाले (कहनेवाले) आत्मवादि है। (अर्थात् "**पुरुष एवेदं सर्वम्**" वेद के इस कथन को अनुसरण करते आत्मवादि सर्व जगत को पुरुषरुप ही मानते है।)

चौथा विकल्प नियतिवादियो का है – वे कहते है कि नियति नामका स्वतन्त्र तत्त्व है कि जिसके वश से ये सर्वभाव भी नियतस्वरुप द्वारा प्रादुर्भाव को प्राप्त करते है। नियति बिना नहीं। वह इस अनुसार, जो (वस्तु) जब जिससे होती है, वह (वस्तु) तब उससे ही नियतस्वरुप द्वारा होती दिखाई देती है। अन्यथा कार्य-कारण व्यवस्था और (वस्तुके) प्रतिनियत स्वरुप की व्यवस्था नहीं होगी। क्योंकि नियामक का अभाव है। इसलिये इस अनुसार कार्य की नियतता से ज्ञात होनेवाली इस नियति को प्रमाणमार्ग में कुशल कौनसा व्यक्ति बाध करने के लिये समर्थ होता है ? उपरांत (नियति का स्वीकार करने से) अन्यत्र भी प्रमाणमार्ग के व्याघात का प्रसंग नहीं होगा।

इसलिये (नियतिवादि की इस बात का संग्रह करते हुए) **शास्त्रवार्ता समुच्चय में कहा है कि.....** "जिस कारण से नियतस्वरुप द्वारा ही भाव उत्पन्न होते है, उस कारण से नियतस्वरुप के अनुवेध से (निश्चित होता है कि) ये सर्वभाव नियति से ही उत्पन्न हुए है। (उपरांत) जो जब ही जिससे होता है, तब यही उससे नियतस्वरुप में उत्पन्न होता है।" इस न्याय से इस नियति का बाध करने के लिए कौन समर्थ होगा ?

पञ्चमो विकल्पः स्वभाववादिनाम्[A-18] । स्वभाववादिनो ह्येवमाहुः । इह वस्तुनः स्वत एव परिणतिः स्वभावः । सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते । तथाहि-मृदः कुम्भो भवति न पटादिः । तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न घटादिः । एतच्च प्रतिनियतं भवनं न तथा स्वभावतामन्तरेण घटासंटङ्कमाटीकते । तस्मात्सकलमिदं स्वभावकृतमवसेयम् । तथा चाहुः- "कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च । स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ।। १ ।। [बुद्धच० ९/६२] बदर्याः कण्टकस्तीक्ष्ण ऋजुरेकश्च कुञ्चितः । फलं च वर्तुलं तस्या वद केन विनिर्मितम् ।। २ ।।' [लोकतत्त्व० २/२२] इत्यादि ।

अपि च । आस्तामन्यत्कार्यजातमिह मुद्गपक्तिरपि न स्वभावमन्तरेण भवितुमर्हति । तथाहि-स्थालीन्धनकालादिसामग्रीसंभवेऽपि न कंकटुकमुद्गानां पक्तिरुपलभ्यते । तस्माद्यद्यद्भावे भवति तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कृतमिति । स्वभावकृता मुद्गपक्तिरप्येष्टव्या । ततः सकलमेवेदं वस्तुजातं स्वभावहेतुकमवसेयमिति । तदेवं[A-19] स्वत इति पदेन लब्धाः पञ्च विकल्पाः । एवं च [A-20]परत इत्यनेनापि पञ्च लभ्यन्ते । परत इति परेभ्यो व्यावृत्तेन रूपेणात्मा विद्यते । यतः प्रसिद्धमेतत् । सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो यथा दीर्घत्वाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वादिपरिच्छेदः । एवमात्मनि स्तम्भादीन्समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्तबुद्धिः प्रवर्तते । अतो यदात्मनः

(A-18-19-20) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूपं तत्परत एवावधार्यते, न स्वत इति । एवं नित्यत्वापरित्यागेन दश विकल्पा लब्धाः । एवमनित्यपदेनापि, सर्वेऽपि मिलिता विंशतिः । एते च जीवपदार्थेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वष्टसु पदार्थेषु प्रत्येकं विंशतिर्विंशतिर्विकल्पा लभ्यन्ते । ततो विंशतिर्नवगुणिता शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनां भवति ।

टीकाका भावानुवाद :

पांचवाँ विकल्प स्वभाववादियो का है। स्वभाववादि इस अनुसार कहते है - इस जगत में वस्तु की स्वतः ही परिणति - स्वभाव है। (अर्थात्) जगत के सर्वभाव स्वभाव से ही उत्पन्न होते है। वह इस अनुसार - मिट्टी से घट होता है, पटादि नहीं। तन्तुओ से भी पट ही होता है, घटादि नहीं। ये सब वस्तुओ का प्रतिनियतरुप में उत्पन्न होना, वह स्वभाव के बिना नहीं होता। इसलिए इस (जगत् की वस्तुए स्वभावकृत ही जाननी पडेगी। इसलिए (लोकतत्त्व निर्णय में) कहा है कि "कंटको को (कांटो को) तीक्ष्ण (पैना) कौन करता है ? पशु-पक्षीओके विचित्रभावो को कौन करता है ? ये सर्व स्वभाव से ही प्रवृत्त है। इच्छितवर्तन नहीं है। (इसलिये वे विचित्र भावो में) प्रयत्न कैसे होगा ? (उपरांत) **बेरी** का कांटा तीक्ष्ण, (उसमें भी)। एक ऋजु (सीधा-सरल) और एक वक्र है। (उपरांत) बेरी का फल (बेर) वर्तुल (गोल) है। (तो कहीये) किसके द्वारा (बेरी में इस विचित्रता का) निर्माण किया गया ?"

उपरांत अन्यकार्यसमूहो की उत्पत्ति में स्वभाव की निमित्तता की विचारणा **से गये**। (परन्तु) यहां "मूंग का पकना" भी स्वभाव के बिना होने के लिए योग्य (उचित) नहीं है। वह इस प्रकार - स्थालि, इन्धनादि सामग्री के सन्निधान में भी कंकटु मूंग का परिपाक होता नहीं दिखाई देता। इसलिए "जो जो वस्तु में जो जो स्वभाव (भाव) होता है, उस अनुसार वे वे वस्तु होती है।" **इस अन्वय से** तथा "जो वस्तु में जो स्वभाव नहीं होता, वे वस्तु उस अनुसार नहीं होती।" **इस व्यतिरेक** से......... (उदा. कंकटु (कंगरु) के सिवा दूसरे मूंग में पकने का स्वभाव है तो वह पकते है और कंकटु (कंगरु) मूंग में पकने का स्वभाव नहीं है, तो वह पकते नहीं है - इस अन्वय-व्यतिरेक से) सर्व वस्तु स्वभावकृत ही माननी चाहिये। इसलिए सर्व ये वस्तुसमूह का कारण स्वभाव ही मानना चाहिए। इसलिए "**स्वतः**" पद द्वारा पांच विकल्प प्राप्त हुए। इस अनुसार ही परतः पद से पांच विकल्प की प्राप्ति होती है।

"**परतः**" अर्थात् दूसरे पदार्थो से व्यावृत्त स्वरुप से आत्मा विद्यमान है ऐसा कहना। (अर्थात् आत्मा दूसरे सर्वपदार्थो से पर (भिन्न) है ऐसा कहना) उपरांत (पदार्थ का ज्ञान करने की यह प्रसिद्ध पद्धति है कि) सर्व पदार्थो के स्वरुप का ज्ञान (उससे) दूसरे पदार्थो की अपेक्षा से होता है। (अर्थात् कोई भी पदार्थ का ज्ञान, उससे भिन्नपदार्थो के स्वरुप की अपेक्षा से भिन्न प्रकार से सिद्ध करे, तब वस्तु के वास्तविक स्वरुप का ज्ञान होता है।) **जिस प्रकार** दीर्घत्वादिकी अपेक्षा से ह्रस्वत्वादि का ज्ञान किया जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अनुसार आत्मा में स्तंभादि को देखकर, स्तंभादि से व्यतिरिक्त (भिन्न) है, ऐसी बुद्धि प्रवर्तित होती है। इसलिए आत्मा का स्वरुप परतः ही अवधारण होता है, स्वतः नहि। इस प्रकार नित्यत्व के परित्याग के बिना (अर्थात् नित्यत्व को लेके) दूसरे दस विकल्प होंगे। इस प्रकार अनित्यत्व को लेकर भी दस विकल्प होंगे। इस प्रकार सर्व भी मिलके २० विकल्प हुए। ये २० विकल्प जीव पदार्थ द्वारा प्राप्त हुए। इस प्रकार से अजीवादि आठ पदार्थो में प्रत्येक के २०-२० विकल्प प्राप्त होते है। इसलिये २० x ९ = १८० क्रियावादि है।

तथा न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिन (A-21)आत्मादिनास्तित्ववादिन इत्यर्थः । ते च (A-22)कोक्कुलकाण्ठेविद्धिरोमकसुगतप्रमुखाः । तथा चाहुरेके - "(A-23)क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते ।।१ ।।

एतेषां चतुरशीतिर्भवति । सा चामुनोपायेन द्रष्टव्या । (A-24)पुण्यापुण्यवर्जितशेषजीवाजीवादिपदार्थसप्तकन्यासः । तस्य चाधः प्रत्येकं स्वपरविकल्पोपादानम् । असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तः । कालादीनां पञ्चानामधस्तात्षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते । इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिनस्ततः प्राग्यदृच्छा नोपन्यस्ता । (A-25)तत एवं विकल्पाभिलापः । नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विकल्पः । अयं भावः । इह पदार्थानां लक्षणतः सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा । न चात्मनस्तादृगस्ति लक्षणं, येन तत्सत्तां प्रतिपद्येमहि । नापि कार्यमणूनामिव महीध्रादि संभवति । अतो नास्त्यात्मेति एवमीश्वरादिवादिभिरपि यदृच्छापर्यन्तैर्विकल्पा वाच्याः । सर्वेऽपि मिलिताः षड्विकल्पाः । अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः । नवरं यदृच्छात इति यदृच्छावादिनां मते । यदृच्छा ह्यनभिसंधिपूर्विकार्थप्राप्तिः अथ के ते यदृच्छावादिनः । उच्यते । इह ये भावानां संतानापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति, किं तु यदृच्छया, ते यदृच्छावादिनः, ते ह्येवमाहुः । न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि शालूकादपि जायते शालूको, गोमयादपि जायते शालूकः । वह्नेरपि जायते वह्निररणिकाष्ठादपि, धूमादपि जायते धूमोऽग्नीन्धनसंपर्कादपि । कन्दादपि जायते कदली बीजादपि । वटादयो बीजादुपजायन्ते शाखैकदेशादपि । गोधूमबीजादपि जायन्ते गोधूमा वंशबीजादपि । ततो न प्रतिनियतः क्वचिदपि कार्यकारणभाव इति । यदृच्छातः क्वचित्किंचिद्भवतीति प्रतिपत्तव्यम् । न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथात्मानं प्रेक्षावन्तः परिक्लेशयन्ति । यदुक्तम्-

"अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तालेन यथाभिघातो न बुद्धिपूर्वोऽस्ति वृथाभिमानः ।।१।।" **[आचा० २/१/१/१/४]** इत्यादि । **दुष्टमेव सर्वं**

(A-21-22-23-24-25) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातिजरामरणादिकं लोके काकतालीयाभमिति । तथा च स्वतः षड्विकल्पा लब्धास्तथा नास्ति परतः कालत इत्येवमपि षड्विकल्पा लभ्यन्ते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश विकल्पा जीवपदेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वपि षट्सु पदार्थेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश विकल्पा लभ्यन्ते । ततो द्वादशभिः सप्त गुणिताश्चतुरशीतिर्भवन्त्यक्रियावादिनां विकल्पाः ।

टीकाका भावानुवाद :

तथा प्रतिक्षण अवस्थित (रहनेवाले) पदार्थ की (अस्तित्व रुप) क्रिया संभवित नहीं होती । क्योंकि, ''उत्पत्ति की अनन्तर विनाश होता है।'' ऐसा कहनेवाले अक्रियावादि है – अर्थात् आत्मादि के अस्तित्व का स्वीकार नहीं करते है वह अक्रियावादि । वे अक्रियावादि कोक्कुल, कांठेवि, द्विरोमक, सुगत (बौद्ध) इत्यादि है । तथा एकने कहा (भी) है कि

''सर्व संस्कार क्षणिक है (तो) अस्थिर पदार्थों में क्रिया कहां से होगी ? (इसलिये वह पदार्थो की) भूतिः = उत्पत्ति (अर्थात् एक क्षणस्थायी सत्ता वही) क्रिया है और वही कारण है ।''

अक्रियावादियों की ८४ संख्या है । वह संख्या इस उपाय से जाननी चाहिये । पुण्य और पाप के सिवा शेष जीवादि सात पदार्थो को एक पट्टी में न्यास करना । (सम्यग् (व्यवस्थित) रुप में रखना) प्रत्येक के नीचे स्वतः और परतः दो विकल्प ग्रहण करना । (यहाँ अक्रियावादि आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार नहीं करते इसलिए) आत्मा का सत्त्व न होने से (आत्मा विषयक) नित्य और अनित्य विकल्प नहीं है ।

पहले कहे गये कालादि पांच में छठ्ठी यदृच्छा रखना । यहां सर्व भी यदृच्छावादि अक्रियावादि होने से पहले उसका उपन्यास नहीं किया था ।

इसलिये इस प्रकार विकल्प कहना – ''**नास्ति जीवः स्वतः कालतः ।**'' यह एक विकल्प है । कहने का मतलब यह है कि यहाँ पदार्थो की सत्ता का लक्षण से या कार्य से निश्चय होता है । (परन्तु) आत्मा का उस प्रकारका कोई लक्षण नहीं है कि **जिससे** हम लक्षण से आत्मा की सत्ता का स्वीकार करें । उपरांत, अणुओ का कार्य जिस प्रकार पर्वतादि संभव है । उस प्रकार (आत्मा में से कोई कार्य संभव न होने से) आत्मा की कार्य से भी सत्ता सिद्ध नहीं होती । इसलिए आत्मा नहीं है । इस अनुसार ईश्वरवादियों के द्वारा भी यदृच्छा तक के विकल्प कहने चाहिये । वे सब भी मिलके छः विकल्प होते है । ये विकल्पो का अर्थ पहले की तरह सोच लेना । बिना संकल्प अर्थ की प्रासि होना वह यदृच्छा कहा जाता है । अथवा बिना सोचे वस्तु उपस्थित होना वह यदृच्छा कहा जाता है ।

प्रश्न : वे यदृच्छावादि कौन है ?

उत्तर : जो पदार्थो में संतान (परंपरा)की अपेक्षा से प्रतिनियत कार्य-कारणभाव को नहीं चाहते, परन्तु

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदृच्छा से ही कार्य-कारण भाव को चाहते है वे यदृच्छावादि है। वे इस अनुसार कहते है - "पदार्थो का प्रतिनियत कार्य-कारणभाव नहीं है। क्योंकि उस अनुसार प्रमाण से ग्रहण नहीं होता है। (अर्थात् कोई प्रमाण से पदार्थो के प्रतिनियत कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होते।) वह इस अनुसार - (१) कमल के कंद में से भी कमल का कंद उत्पन्न होता है, गोमय से भी कमल का कंद पैदा होता है। (२) अग्नि से भी अग्नि उत्पन्न होती है, अरणि के काष्ठ से भी अग्नि उत्पन्न होती है। (३) धूम से भी धूम उत्पन्न होता है। अग्नि ईन्धन के सम्पर्क से भी धूम उत्पन्न होता है। (४) कंद से भी केले का वृक्ष उत्पन्न होता है, बीज से भी होता है। (५) बीज से वट इत्यादि वृक्ष उत्पन्न होते है। शाखा के एकदेश से भी होते है। (६) गेहूं के बीज से गेहूं के अंकुर उत्पन्न होते है, बाँस के बीज से भी गेहूं के अंकुर फूटते है। इसलिए कहीं कुछ (उत्पन्न) होता है। ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार (जगत में) अन्यथा (कार्य-कारणभाव से रहित) वस्तु के सद्भाव को देखता कौन बुद्धिमान व्यक्ति आत्मा को क्लेश करेगा ? कार्य-कारणभाव सहित वस्तु का सद्भाव देखकर अर्थात् कार्य-कारणभाव से रहित वस्तुओ को देखता, कार्य-कारणभाव की विचारणा करके आत्मा को क्लेश नहीं देता। इसलिए कहा है कि........"उपस्थित हुआ जीवो के सर्व विचित्र सुख, दुःख का समूह तर्कयुक्त नहीं है। (क्योंकि) "कौओ का बैठना और डाली का गिरना" युक्तियुक्त नहीं है, उसी प्रकार सुख-दुःख को उत्पन्न करनेवाले संयोग भी "काकतालीय" न्याय से बुद्धिगम्य नहीं है। इसलिए "में सुखी करनेवाला हूं।" और "दुःखी करनेवाला हूं" इत्यादि मिथ्या (वृथा-व्यर्थ) अभिमान है।

जगत में जन्म-जरा-मरणादि जो सर्व दीखता है वह भी काकतालीय समान है। अर्थात् उसके कुछ कोई प्रतिनियत कारण नहीं है आकस्मिक है।

इस अनुसार स्वतः छः विकल्प प्राप्त हुए। **"नास्ति परतः कालतः"** इस अनुसार भी छः विकल्प प्राप्त होते है। सब मिलाकर जीवपद से बारह विकल्प प्राप्त हुए। इस प्रकार अजीवादि छः पदार्थो के प्रत्येक बारह विकल्प प्राप्त होते है। इसलिए १२ x ७ = ८४ अक्रियावादियों के विकल्प होते है।

तथा [A-26]**कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्तीत्यज्ञानिकाः ।** ततो (अतो)ऽनेकस्वरादिति मत्वर्थीय इकप्रत्ययः [सि. हैम. ७/२]। **अथवाऽज्ञानेन चरन्तीत्यज्ञानिकाः, असञ्चिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः साकल्यसात्यमुग्रिमौदपिप्पलादबादरायणजैमिनिवसुप्रभृतयः । ते ह्येवं बुवते । न ज्ञानं श्रेयः, तस्मिन् सति विरुद्धप्ररूपणायां विवादयोगतश्चित्तकालुष्यादिभावतो दीर्घतरसंसारप्रवृत्तेः । यदा पुनरज्ञानमाश्रीयते तदा नाहंकारसंभवो नापि परस्योपरि चित्तकालुष्यभावः, ततो न बन्धसम्भवः । अपि च, यः सञ्चिन्त्य क्रियते कर्मबन्धः स दारुणविपाकोऽत एवावश्यं वेद्यस्तस्य तीव्राध्यवसायतो निष्पन्नत्वात् । यस्तु मनोव्यापारमन्तरेण कायवाक्कर्मप्रवृत्तिमात्रतो विधीयते, न तत्र**

(A-26) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनसोऽभिनिवेशस्ततो नासाववश्यं वेद्यो नापि तस्य दारुणो विपाकः । केवलमतिशुष्क-सुधापङ्कधवलितभित्तिगतरजोमल इव स कर्मसङ्गः स्वत एव शुभाध्यवसायपवन-विक्षोभितोऽपयाति । मनसोऽभिनिवेशाभावश्चाज्ञानाभ्युपगमे समुपजायते, ज्ञाने सत्यभिनिवेश-सम्भवात् । तस्मादज्ञानमेव मुमुक्षुणा मुक्तिपथप्रवृत्तेनाभ्युपगन्तव्यं, न ज्ञानमिति । अन्यच्च, भवेद्युक्तो ज्ञानस्याभ्युपगमो, यदि ज्ञानस्य निश्चयः कर्तुं पार्येत । यावता स एव न पार्येत । तथाहि-सर्वेऽपि दर्शनिनः परस्परं भिन्नमेव ज्ञानं प्रतिपन्नाः, ततो न निश्चयः कर्तुं शक्यते, किमिदं सम्यगुतेदमिति । अथ यत्सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिभगवद्वर्धमानोपदेशादुपजायते ज्ञानं तत्सम्यग्नेतरत्, असर्वज्ञ-मूलत्वादिति चेत् सत्यमेतत्, किंतु स एव सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारी, न तु सौगतादिसंमतः सुगतादिरिति कथं प्रतीयते, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति तदवस्थः संशयः । ननु यस्य दिवः समागत्य देवाः पूजादिकं कृतवन्तः, स एव वर्धमानः सर्वज्ञो, न शेषाः सुगतादय इति चेन्न, वर्धमानस्य चिरातीतत्वेनेदानीं तद्भावग्राहक प्रमाणाभावात् । संप्रदायादवसीयत इति चेत् । ननु सोऽपि संप्रदायो धूर्तपुरुषप्रवर्तितः किं वा सत्यपुरुषप्रवर्तित इति कथमवगन्तव्यं, प्रमाणाभावात् । न चाप्रमाणकं वयं प्रतिपत्तुं क्षमाः । मा प्रापदतिप्रसङ्गः । अन्यच्च मायाविनः स्वयमसर्वज्ञा अपि जगति स्वस्य सर्वज्ञभावं प्रचिकटयिषवस्तथाविधेन्द्रजालवशाद्दर्शयन्ति देवानितस्ततः सञ्चरतः स्वस्य पूजादिकं कुर्वतः, ततो देवागमदर्शनादपि कथं तस्य सर्वज्ञत्वनिश्चयः । तथा चाह जैन एव स्तुतिकारः समन्तभद्रः-
"देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।। १ ।।"
[आप्तमी० १/१]

टीकाका भावानुवाद :

तथा कुत्सितज्ञान अर्थात् अज्ञान जिनको है वे अज्ञानिक। यहां **"कुत्सितं ज्ञानं अज्ञानम् एषाम् अस्ति"** इस व्युत्पत्ति में **'अतोऽनेकस्वरात्'** इस सूत्र से मत्वर्थीय "इक" प्रत्यय लगकर अज्ञानिक बना है। (संक्षिप्त में जिन को अज्ञान है वे अज्ञानिक) अथवा अज्ञानपूर्वक जिनका आचरण - व्यवहार है, उन्हें अज्ञानिक कहते है।

बिना विचारे अज्ञानपूर्वक किया हुआ कार्य और इससे बंधाया हुआ कर्मबंध विफल हो जाता है, वह दारुण विपाक नहीं देता। - ऐसा स्वीकार करनेवाले शाकल्य, सात्यमुग्रि, मौद, पिप्लाद, बादरायण, जैमिनी, वसु, इत्यादि (५)अज्ञानिक है। वे कहते है कि ज्ञान श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि ज्ञान होने पर भी विरुद्धप्ररुपणा होने का संभव है। उससे विवाद होता है। विवाद के योग से चित्त की कलुषितता आदि

---

(५) **शाकल्यवाल्कलकुथुमिसात्यमुग्रिनारायणकण्ठमाध्यन्दिनमौदपैप्पयादबादरायणाम्बष्ठीकृदौरिकायन-वसुजैमिन्यादीनामज्ञानकुदृष्टीनां सप्तषष्टिः ॥॥** राजवार्तिक - पृ. ४१ ॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। उससे दीर्घतर संसार में भटकने की प्रवृत्ति होती है। (परन्तु) जब अज्ञानता का आश्रय किया जाता है, तब अहंकार का संभव नहीं है। दूसरो के ऊपर चित्त कलुषित नहीं होता। इसलिये कर्मबंध का भी संभव नहीं होता।

उपरांत, जो सोचकर किया जाये वह कर्मबंध दारुण विपाकवाला होता है। कर्मबंध दारुणविपाकवाला होने से ही अवश्य सहना पडता है। क्योंकि, वह तीव्र अध्यवसाय से उत्पन्न हुआ है। उपरांत जो मनोव्यापार के बिना काया-वचन की प्रवृत्तिमात्र से (कर्मबन्ध) किया जाता है, उसमें मनका निवेश न होने से वह कर्मबन्ध अवश्य वेद्य भी नहीं होता और उसका विपाक दारुण भी नहीं होता। वह कर्मबन्ध अतिशुष्क चूने से पोती गई दिवाल के ऊपर लगे हुए धूल के मल की भांति स्वतः ही शुभ अध्यवसायरुप पवन से क्षोभ प्राप्त करके नष्ट होता है।

प्रवृत्ति में मन के निवेश का अभाव अज्ञान के स्वीकार में होता है। अर्थात् अज्ञान का स्वीकार करने से मन प्रवृत्ति में मिलता नहीं है। (जबकि) ज्ञान का स्वीकार करने पर मन प्रवृत्ति में मिलता है। इसलिए मोक्षमार्ग में प्रवृत्त मुमुक्षु द्वारा अज्ञान का ही स्वीकार होना चाहिये, ज्ञान का नहीं।

दूसरा यह है की, ज्ञान का स्वीकार करना तब उचित बनेगा कि, जब ज्ञान का निश्चय करने के लिए समर्थ हो। (परन्तु) ज्ञान का निश्चय नहीं होता। जैसेकि.... सब दर्शनकार भी परस्परभिन्न ज्ञानका ही स्वीकार करते है। इसलिए ज्ञान का निश्चय करना संभव नहीं बनता। क्या इस दर्शन का ज्ञान सम्यग् है या इस अन्यदर्शन का सम्यग् है ? ऐसा निश्चय नहीं हो सकता।

प्रश्न : सकलवस्तु के समूह के साक्षात्कारी श्रीवर्धमानस्वामी भगवान के उपदेश से ज्ञान का निश्चय होता है कि, जैनदर्शन का ज्ञान सम्यग् है और इतरदर्शन का ज्ञान असम्यग् है। क्योंकि इतरदर्शन के प्रणेता सर्वज्ञ नहीं है। (अर्थात् इतरदर्शनो का ज्ञान असर्वज्ञमूलक है। इस तरह ज्ञान के सम्यग्पन का तथा मिथ्यापन का निश्चय हो सकता है।)

उत्तर (अज्ञानिक) : आपकी बात सच है। परन्तु वे वर्धमानस्वामी ही सकल पदार्थो के समूह के साक्षात्कारी है (सर्वज्ञ) है और बौद्धादि सर्वज्ञ नहीं, वह किस तरह मालूम होगा ? क्योंकि, सर्वज्ञत्व को ग्रहण करनेवाले ग्राहक प्रमाण का अभाव है। इसलिये किस दर्शन का ज्ञान सम्यग् मानेंगे ? ऐसा संशय खडा ही है।

प्रश्न : देवलोक से आकर देव जिन की पूजादि करते है। वही वर्धमानस्वामी सर्वज्ञ है, शेष दर्शनकार सुगतादि सर्वज्ञ नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि देव विबुध (पण्डित) कहे जाते है। वे श्री वर्धमानस्वामी की पूजा करते है। इसलिए श्री वर्धमानस्वामी सर्वज्ञ होने चाहिये। ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए) श्री वर्धमानस्वामी प्ररुपितज्ञान सम्यग् और उसके सिवा अन्य दर्शनो का ज्ञान असम्यग्, ऐसा निश्चय हो ही सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर (अज्ञानिक) : ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि श्री वर्धमानस्वामी को हुए बहोत काल हो गया। वर्तमान में तो वे देवो से पूजित होते नहीं दिखाई देते। इसलिए सर्वज्ञ के ग्राहक प्रमाण का अभाव ही है। इसलिए संशय खडा ही है।

प्रश्न : संप्रदाय = (अर्थात् गुरुओं की परंपरा) से मालूम होता है कि श्री वर्धमानस्वामी सर्वज्ञ थे। इसलिए उनका वचन सम्यग् है।

उत्तर (अज्ञानिक) : वह संप्रदाय भी धूर्तपुरुषो से प्रवर्तित है या सत्यपुरुष से प्रवर्तित है, यह कैसे जानेगें ? क्योंकि यह बतानेवाले प्रमाण का अभाव है और प्रमाण बिना हम स्वीकार करने के लिये समर्थ नहीं है। क्योंकि प्रमाण के बगैर स्वीकार करने से अतिप्रसंग आता है। वह अतिप्रसंग न आये इसलिये हम संप्रदाय से भी श्री वर्धमानस्वामीको सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते है। इसलिये संशय खड़ा ही है।

दूसरा मायावी पुरुष स्वयं असर्वज्ञ होने पर भी जगत में अपने को सर्वज्ञ प्रकट करने की इच्छावाले होते है। (वे लोगो को) उस प्रकार की इन्द्रजाल के वश से अर्थात् इन्द्रजाल रचके (बनाकर) यहां वहां भटकते देवो के पास अपनी पूजादि करते दिखाते है। इसलिए देवो के आगमन के दर्शन मात्र से भी किस प्रकार उसके सर्वज्ञपन का निश्चय हो सकता है ? श्री जैन स्तुतिकारश्री समन्तभद्राचार्यने भी कहा है कि "देवो का आगमन, आकाश में चलना, चामरादि विभूतियाँ मायावी में भी दिखती है, इससे हम आपको महान नहीं मानते।

इस तरह देवो से पूजित होनेमात्र से श्री वर्धमानस्वामी में सर्वज्ञत्व नही आ जाता।

भवतु वा वर्धमानस्वामी सर्वज्ञस्तथापि तस्य सत्कोऽयमाचाराङ्गादिक उपदेशः, न पुनः केनापि धूर्तेन स्वयं विरचय्य प्रवर्तित इति कथमवसेयं, अतीन्द्रिये विषये प्रमाणाभावात् । भवतु वा तस्यैवायमुपदेशस्तथापि तस्यायमर्थो नान्य इति न शक्यं प्रत्येतुं, नानार्था हि शब्दा लोके प्रवर्तन्ते, तथादर्शनात् । ततोऽन्यथाप्यर्थसंभावनायां कथं विविक्षितार्थनियमनिश्चयः । छद्मस्थेन हि परचेतोवृत्तेरप्रत्यक्षत्वात् कथमिदं ज्ञायते "एष सर्वज्ञस्याभिप्रायोऽनेन चाभिप्रायेणायं शब्दः प्रयुक्तो नाभिप्रायान्तरेण" इति । तदेवं दीर्घतरसंसारकारणत्वात् सम्यग्निश्चयाभावाच्च न ज्ञानं श्रेयः, किं त्वज्ञानमेवेति स्थितम् । ते चाज्ञानिकाः सप्तषष्टिसंख्या अमुनोपायेन[A-27]प्रतिपत्तव्याः । इह जीवाजीवादीन् पदार्थान्कचित्पट्टकादौ व्यवस्थाप्य पर्यन्त उत्पत्तिः स्थाप्यते । तेषां च जीवादीनां नवानां प्रत्येकमधः सप्त सत्त्वादयो न्यस्यन्ते । तद्यथा । सत्त्वं १ असत्त्वं २, सदसत्त्वं ३, अवाच्यत्वं ४, सदवाच्यत्वं ५, असदवाच्यत्वं ६, सदसदवाच्यत्वं ७ चेति । तत्र सत्त्वं स्वरूपेण विद्यमानत्वम् । १ । असत्त्वं पररूपेणाविद्यमानत्वम् । २ । सदसत्त्वं स्वरूपपररूपाभ्यां विद्यमानाविद्यमानत्वम्, तत्र यद्यपि सर्वं वस्तु

(A-27) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वपररूपाभ्यां सर्वदैव स्वभावत एव सदसत्, तथापि क्वचित्किंचित्कदाचिदुद्भूतं प्रमात्रा विवक्ष्यते, तत एवं त्रयोविकल्पा भवन्ति । ३ । तथा तदेव सत्त्वमसत्त्वं च यदा युगपदेकेन शब्देन वक्तुमिष्यते, तद्वाचकः शब्दः कोऽपि न विद्यत इत्यवाच्यत्वम्, एते चत्वारो विकल्पाः सकलादेशा इति सकलवस्तुविषयत्वात् । ४ । यदा त्वेको भागः सन्नपरश्चावाच्यो युगपद्विवक्ष्यते तदा सदवाच्यत्वम् । ५ । यदा त्वेको भागोऽसन्नपरश्चावाच्यस्तदाऽसदवाच्यत्वम् । ६ । यदा त्वेको भागः सन्नपरश्चासन्नपरतरश्चावाच्यस्तदा सदसदवाच्यमिति ।७। न चैतेभ्यः सप्तभ्यो विकल्पेभ्योऽन्यो विकल्पः संभवति, सर्वस्यैतेष्वेवान्तर्भावात् । ततः सप्त विकल्पा उपन्यस्ताः । सप्त च विकल्पा नवभिर्गुणिता जातास्त्रिषष्टिः । उत्पत्तेश्चत्वार एवाद्या विकल्पाः । तद्यथा । सत्त्वमसत्त्वं सदसत्त्वमवाच्यत्वं चेति । शेषविकल्पत्रयं तूत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्रासंभवीति नोक्तम् । एते चत्वारो विकल्पास्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते ततः सप्तषष्टिर्भवन्ति । (A-28)ततः को जानाति जीवः सन्नित्येको विकल्पः । न कश्चिदपि जानाति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति भावः । ज्ञातेन वा किं तेन प्रयोजनं, ज्ञानस्याभिनिवेशहेतुतया परलोकप्रतिपन्थित्वात् । एवमसदादयोऽपि विकल्पा भावनीयाः । उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः सदसतोऽवाच्यस्य वेति को जानाति, ज्ञातेन वा न किंचिदपि प्रयोजनमिति ।

टीकाका भावानुवाद :

अथवा श्री वर्धमानस्वामी को सर्वज्ञ भले ही न माने, तो भी आचारांगादि सूत्रो में प्ररुपित उपदेश उनका ही है। दूसरे किसी धूर्तपुरुषने स्वयं रचकर (बनाकर) नहीं फैलाया। ऐसा किस तरह जानेंगे ? क्योंकि (वह ग्रंथरचना होती हमने प्रत्यक्ष नहीं देखी।) अतीन्द्रियविषय में प्रमाण का अभाव है। अथवा आचारांगादि में प्ररुपित उपदेश श्री वर्धमानस्वामी का ही है, ऐसा मान ले तो भी ''उस उपदेश का यही अर्थ होगा, अन्य नहीं'' ऐसा कहना संभव नहि है क्योंकि, लोक में शब्दो के अनेक अर्थ प्रवर्तमान होते है और ऐसा दिखाई भी देता है। इसलिये दूसरे तरीके से भी अर्थ होने का संभव होने से किस प्रकार से विवक्षित अर्थ का निश्चय हो सकेगा ? उपरांत छद्मस्थ द्वारा दूसरो के चित्तकी वृत्ति प्रत्यक्ष नहीं होती, तो किस तरह जानेंगे कि..... ''यह अभिप्राय सर्वज्ञ का है। और यही अभिप्राय से यह शब्द प्रयोजित है दूसरे अभिप्राय से नहीं।''

इसलिये इस तरह से (चित्त की कलुषितता द्वारा) दीर्घतर संसार का कारण और सम्यग् निश्चय का अभाव होने से ज्ञान श्रेयस्कर नहीं है, परन्तु अज्ञान ही कल्याणकारक है ऐसा तय होता है। (निश्चित होता है।)

वे अज्ञानिक इस उपाय से ६७ स्वीकार करना। यहाँ जीवादि नव पदार्थो को एक पट्टी में स्थापित करके

(A-28) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतिम दसवें स्थान पे उत्पत्ति को स्थापित करे। वे जीवादि नवके प्रत्येक के नीचे [६]सत्त्वादि सात रखना। वे सात इस अनुसार **१. सत्त्वं, २. असत्त्वं, ३. सदसत्त्वं, ४. अवाच्यत्वं, ५. सदवाच्यत्वं, ६. असदवाच्यत्वं, ७. सदसदवाच्यत्वं।**

उसमें **१. सत्त्व** अर्थात् वस्तु का स्वस्वरुप से होना। **२. असत्त्व :** अर्थात् वस्तु का पर स्वरुप से न होना।

३. सदसत्त्व : अर्थात् वस्तु स्वरुप से सत् और पररुप से असत् (अर्थात् स्वरुप से विद्यमान और पररुप से अविद्यमान है।) उसमें वैसे तो सर्ववस्तुएं सर्वदा स्वभाव से ही स्वरुपतः सत् और पररुपतः असत् होती है, तो भी कहीं कभी किसी उद्भूत वस्तु की प्रमातृ द्वारा विवक्षा की जाती है, तब वस्तु के सत्, असत् और सदसत् ये तीन विकल्प होते है। (अर्थात् प्रमातृ वस्तु के जिस अंशका प्रयोग करना चाहते हो तथा वह अंश उद्भूत होता हो तब सत्, असत्, सदसत् ये तीन विकल्प होते है।

४. अवाच्यत्व : वस्तु के सत्त्व और असत्त्व अंशो को जब एक साथ एक शब्द से वक्ता कहना चाहता है, तब उसका वाचक कोई भी शब्द नहीं मिलता - वह अवाच्यत्व। **ये चारो विकल्प सकलादेश है। क्योंकि चारो विकल्प सर्ववस्तु विषयक है।**

५. सदवाच्यत्व : जब वस्तु का एक अंश सत् हो और दूसरा अंश अवाच्य ऐसी एक साथ विवक्षा की जाये तब "सदवाच्यत्व" रूप पांचवा भांगा बनेगा। जब एक अंश असत् और दूसरा अंश अवाच्य हो, तब "**६. असदवाच्य**" स्वरुप छठ्ठा भांगा बनता है। जब एक अंश सत्, अपर अंश असत् तथा अपरतर अंश अवाच्य हो तब "**७. सदसदवाच्यत्व**" स्वरुप सातवां भांगा बनता है। ये सात विकल्पो से अन्य, अतिरिक्त विकल्प संभवित नहीं है। क्योंकि दूसरे कोई भी विकल्प आयें तो वे सर्व विकल्पो का इस सात विकल्पो में अंतर्भाव हो जाता है। इस तरह सात विकल्पो का उपन्यास हुआ। वे सात का नौ द्वारा गुणन करने से ७ x ९ = ६३ विकल्प हुए। उत्पत्ति के प्रारंभ में चार विकल्प है। १. सत्त्वं, २. असत्त्वं, ३. सदसत्त्वं, ४. अवाच्यत्वं-शेष तीन विकल्प उत्पत्ति के उत्तर में (जब पदार्थो की सत्ता बन जाती है तब) पदार्थ के अवयव की अपेक्षा अनुसार संभवित होते है। इसलिये उत्पत्ति में वे तीन को नहि कहा। ये चार विकल्पो को (पहले कह गये) ६३ विकल्पो में डालने से ६७ विकल्प होते है।

इसलिये "कौन जानता है कि जीव है या नहि ?" इस अनुसार एक विकल्प होगा। "कोई जानता नहीं है कि जीव है" क्योंकि जीव को ग्रहण करनेवाले ग्राहक प्रमाण का अभाव है। अथवा जीव को जानने के द्वारा क्या प्रयोजन है ? (जीव का) ज्ञान अभिनिवेश का कारण बनता होने से परलोक का विरोधी है। इस पद्धति से "असत्" इत्यादि विकल्प सोचना। उत्पत्ति भी क्या सत् की, असत् की, सदसद् की, या अवाच्य की होती है वह कौन जानता है ? अथवा (उत्पत्ति किस से होती है ?) वह जानने का भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

(६) सत्त्वादि सात की विशेष समज परिशिष्ट में देखना।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः[A-29], [A-30]वसिष्ठपराशरवाल्मीकिव्यासेलापुत्रसत्यदत्तप्रभृतयः । एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा वेदितव्याः । ते च द्वात्रिंशत्संख्या अमुनोपायेन द्रष्टव्याः[A-31] । सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृरूपेष्वष्टसु स्थानेषु कायेन मनसा वाचा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्य इति चत्वारः कायादयः स्थाप्यन्ते । चत्वारश्चाष्टभिर्गुणिता जाता द्वात्रिंशत् ।। एवमेतानि त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि परदर्शनानां भवन्ति । अथवा लोकस्वरूपेऽप्यनेके वादिनोऽनेकधा विप्रवदन्ते । तद्यथा । [A-32]केचिन्नारीश्वरजं जगन्निगदन्ति । परे सोमाग्निसंभवम् । वैशेषिका द्रव्यगुणादिषड्विकल्पम् । केचिन्काश्यपकृतम्[A-33] । परे दक्षप्रजापतीयम् । केचिद् [A-34]ब्रह्मादित्रयैकमूर्तिसृष्टम् । वैष्णवा विष्णुमयम्[A-35] । [A-36]पौराणिका विष्णुनाभिपद्म[A-37]जब्रह्मजनित-(मातृज)म् । [A-38]ते एव केचिदवर्णम् ब्रह्मणा वर्णादिभिः सृष्टम् । केचित्कालकृतम् । [A-39]परे क्षित्याद्यष्टमूर्तीश्वरकृतम् । [A-40]अन्ये ब्रह्मणो मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिजन्मकम् । [A-41]सांख्याः प्रकृतिप्रभवम् । [A-42]शाक्या विज्ञप्तिमात्रम् । अन्य एकजीवात्मकम् । केचिदनेकजीवात्मकम् । परे पुरातनकर्मकृतम् । अन्ये स्वभावजम् । [A-43]केचिदक्षरजातभूतोद्भूतम् । केचिदण्डप्रभवम्[A-44] । आश्रमी [A-45]त्वहेतुकम् । [A-46]पूरणो नियतिजनितम् । पराशरः [A-47]परिणामप्रभवम् । केचिद्यादृच्छिकम् । नैकवादिनोऽनेकस्वरूपम्[A-48] । तुरुष्का गोस्वामिनामै(म)कदिव्यपुरुषप्रभवम् । इत्यादयोऽनेके वादिनो विद्यन्ते । एषां स्वरूपं लोकतत्त्वनिर्णयात् हारिभद्रादवसातव्यम् ।

टीकाका भावानुवाद :

विनय से आचरण करे वह वैनयिक। वसिष्ठ, पराशर, वाल्मिकी, व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त इत्यादिक (७)वैनयिक जानना। (अर्थात् "विनय ही स्वर्गादि का कारण है" - ऐसा मत रखनेवाले को वैनयिक जानना।) वैनयिक लिंग, आचार या शास्त्रो को धारण नहीं करते है। (केवल) विनय का स्वीकार करना यही उनका लक्षण जानना। अर्थात् विनय का स्वीकार करके वर्तन करनेवाले वैनयिक है। वे उपाय से ३२ जानना। देव, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता-पिता ये आठ स्थान के बारे में कायासे, मनसे, वचनसे तथा देश-काल के अनुसार दान से विनय करना चाहिये। इस प्रकार देवादि आठ के नीचे कायादि चार की स्थापना करे। इस प्रकार चार का आठ के साथ गुणन करने से ३२ भेद होते है। इस प्रकार (क्रियावादि के १८०, अक्रियावादि के ८४, अज्ञानवादियो के ६७, वैनयिको के ३२ भेद होने से) सब मिलाकर ३६३ परदर्शनो के भेद होते है।

(७) वसिष्ठ पराशरजतुकर्णिवाल्मिकीरोमर्षिसत्यदत्तव्यासेलापुत्रोपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। राजवर्तिक

(A-29-30-31-32-33-34-35-36-37-38-39-40-41-42-43-44-45-46-47-48) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा लोक के स्वरुप के विषय में अनेकवादियो ने अनेक प्रकारसे प्ररुपणा की है। वह इस प्रकार है - [८]नारीश्वर अर्थात् महेश्वर से जगत की उत्पत्ति कहते है। दूसरे कुछ लोग सोम तथा अग्नि से जगत की उत्पत्ति मानते है। वैशेषिकोने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय ये छः पदार्थ स्वरुप जगत को माना है। कोई जगत की उत्पत्ति [९]काश्यपसे है, ऐसा मानते है, कोई जगत को दक्षप्रजापतिकृत कहता है। किसीने ब्रह्मादि [१०]त्रिमूर्ति से जगत की उत्पत्ति को माना है। (कुछ लोग एक ही प्रकार की मूर्ति को विष्णु, महादेव और ब्रह्मा ऐसे तीन प्रकार की मानते है। उसमें वैष्णवोने[११] इस जगत को विष्णुमय माना है। (पुराण को माननेवाले) पौराणिकोने[१२] माना है कि विष्णु की नाभि में से उद्भवित कमल में से पैदा

(८) पू.आ.भ.हरिभद्रसूरिजी कृत लोकतत्त्वनिर्णय में उपरोक्त मतो का संग्रह किया गया है। वह इस अनुसार है।
''नारीश्वरजं केचित् केचित्सोमाग्निसंभवं लोकं। द्रव्यादिषड्विकल्पं जगदेतत् केचिदिच्छन्ति ॥४३॥''
गाथार्थ सुगम है।

(९) **''इच्छन्ति काश्यपीयं केचित्सर्वं जगन्मनुष्याद्यं। दक्षप्रजापतीयं त्रैलोक्यं केचिदिच्छन्ति ॥४५॥''** कुछ लोग जगत को मनुष्य की आदिवाला (अर्थात् प्रथम मनुष्य उत्पन्न हुआ, उसके बाद अनुक्रम में दूसरे जीव उत्पन्न हुअे, ऐसा) मानता है। शेष सुगम है।

(१०) **''केचित्प्राहुर्मूर्तिस्त्रिधा गतैका हरिः शिवो ब्रह्मा। शंभु बीजं जगतः, कर्ता विष्णुः क्रिया ब्रह्मा ॥४६॥''**
गाथार्थ सुगम है।

(११) **जले विष्णुः स्थले विष्णु, राकाशे विष्णुमालिनि। विष्णुमालाकुले लोके, नास्ति किंचिदवैष्णवम् ॥५१॥ सर्वतः पाणिपादान्तं, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं। सर्वतः श्रुतिमान् लोके, सर्वमाश्रित्य तिष्ठति ॥५२॥ ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पत्राणि, यस्तं वेत्ति स वेदवित् ॥५३॥** विष्णुमतवाले कहते है कि जल में विष्णु, स्थलमें विष्णु और आकाश में विष्णु है। इस प्रकार सर्वजगत विष्णुमय है। जिनके सर्वत्र हाथ है। सर्वत्र जिन के नेत्र, मस्तक, मुख और कान है और सर्वपदार्थों में जो आश्रय करके रहा हुआ है, ऐसा विष्णुमय यह जगत है। उपरांत महात्माओने ब्रह्म को ऊपर मूल और नीचे शाखावाले अविनाशी पीपल के समान कहा है। (वृक्षरुप पीपल में तो मूल नीचे, शाखा उपर और विनाशी होता है। उससे विपरीत स्वभाववाला ब्रह्म है) वह ब्रह्मरुप पीपल के पत्ते वेदमंत्र है। ऐसे ब्रह्म को जो जानता है वो वेद जाननेवाला सर्व पदार्थ को जाननेवाला कहा जाता है। वह वेद को जाननेवाला है। वह जगत को जाननेवाला कहा जाता है।

(१२) पौराणिक की मान्यता : **तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजंगमे नष्टामरनरे चैव प्रनष्टोरगराक्षसे ॥५४॥ केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते अचिंत्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥५५॥ तत्र तस्य शयानस्य, नाभौ पद्मं विनिर्गतम्। तरुणार्कमंडलनिभं हृद्यं कांचनकर्णिकम् ॥५६॥ तस्मिंश्च पद्मे भगवान्, दंडकमंडलयज्ञोपवीतमृगचर्मवस्त्रसंयुक्तः। ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥५७॥ अदितिः सुरसंधानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणां। विनता विहंगमानां, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥५८॥ कद्रुः सरीसृपाणां सुलसामाता तु नागजातीनां। सुरभिश्चतुष्पादानां इला पुनः सर्वबीजानाम् ॥५९॥** जगत प्रलयकालमें एक समुद्ररुप हो जाता है। त्रस-स्थावर प्राणी, देव-मनुष्य-साप-राक्षस सबका नाश हो जाता है। (ऐसा होने से) पंचमहाभूत से रहित केवल गहरी गुफारुप जगत हो जाता है। तब विष्णु समुद्र में सोते सोते तप तपते है। सोये हुअे विष्णु की नाभि में से मध्याह्न के सूर्यमण्डल जैसे तेजवाला मनोहर और सोने की कलियोवाला कमल नीकला। उस कमल में से दण्ड, कमंडल, जनेउ, मृगचर्म के वस्त्र सहित ब्रह्मा उत्पन्न हुअे। इस ब्रह्माने जगत की माताओको उत्पन्न किया। (वे यह

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए ब्रह्मा द्वारा जो माताएँ उत्पन्न होती है, वे माताओ में से यह जगत उत्पन्न होता है। पौराणिको में कुछ ऐसा मानते है कि (ब्रह्माने जगत् नया नही बनाया, परन्तु) क्षत्रियादि वर्णविभाग रहित था, उनको ब्रह्माने क्षत्रियादि वर्णविभागवाला बनाया। कुछ लोग जगतको(१३) कालकृत मानते है। दूसरे कुछ लोग जगत को पृथ्व्यादि अष्टमूर्ति स्वरुप(१४) ईश्वर से बना हुआ मानते है। दूसरे कुछ लोग ब्रह्मा के मुख में से (१५)ब्राह्मणादि जगत उत्पन्न हुआ मानते है। (१६)सांख्यो जगत को प्रकृति से उत्पन्न हुआ मानते है। (१७)बौद्धो जगत को

है-) देवो की माता अदिति, असुरो की माता दिति, मनुष्यो की माता मनुत्रषि, सर्वजाति के पक्षीओ की माता विनता, सर्पो की माता कद्रु, नागजात के सर्पो की माता सुलसा, पशुओ की माता सुरभि और सर्व धान्यादिक बीजो की माता पृथ्वी। (इस प्रकार माताओ में से उत्पन्न जो देवादि समूह, उसका जो विस्तार अर्थात् यह जगत, ऐसा पौराणिको का मानना है।)

(१३) लोकतत्त्वनिर्णय में यह बात कही है।

वैष्णवं केचिदिच्छन्ति केचित् कालकृतं जगत् । ईश्वरप्रेरितं केचित् केचिद्, ब्रह्माविनिर्मित ॥४७॥ प्रभवस्तासां विस्तरमुपगतः केचिदेवमिच्छन्ति । केचिद् वदन्त्यवर्णं, सृष्टं वर्णादिभिस्तेन ॥६०॥ कालः सृजति भूतानि, काल संहरते प्रजाः । काल सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥६१॥

(१४) ईश्वरवादियों का कहना है कि.... **सूक्ष्मोऽचिंत्यो विकरणगणः सर्ववित् सर्वकर्ता, योगाभ्यासाद्निर्मलधिया, योगिना ध्यानगम्यः । चन्द्रार्काग्निक्षितिजलमरुत्दीक्षिताकाशमूर्तिर्ध्येयो नित्यं शमसुखरतैरिश्वरः सिद्धकामैः ॥६४॥** (इन्द्रियो से अगोचर) सूक्ष्म, अचिन्त्य, इन्द्रियरहित, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, योग के अभ्यास से निर्मल बुद्धिवाले योगी के द्वारा ध्यानमें जानने योग्य, तथा चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, यजमान और आकाश ये आठ स्वरुपवाले ईश्वर से जगत बना हुआ है।

(१५) लोकतत्त्वनिर्णय में कहा है कि.. **आसीदितं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणं । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिवं सर्वतः ॥६५॥ तत स्वयंभूर्भगवान्नव्यक्तो व्यंजयन्निदं । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥६६॥ लोकानां स च वृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शुद्रं च विन्यवर्त्तयत् ॥६७॥** - पहेले यह जगत अंधकारमय, न जाना जा सके ऐसा, लक्षणरहित (विचारमें) न आ सके ऐसा, नहि जानने योग्य और सोता हो, वैसे चारो और लगता था। उसके बाद किसी समय अव्यक्त स्वयंभू भगवान (ब्रह्मा) कि जिसका तेज महाभूत इत्यादि से ढका हुआ था, वह भगवान अंधकार का नाश करके उत्पन्न हुआ, (उसके बाद) लोको की वृद्धि करने के लिये (अर्थात् मनुष्यसृष्टि बनाने के लिये) अपने मुख में से ब्राह्मणो, भुजा में से क्षत्रियो, उरु (जंघा)में से वैश्यो और पैर में से शुद्रो को उत्पन्न किया।

(१६) सांख्यो की मान्यता : **पंचविधमहाभूतं, नानाविधदेहानाम् संस्थानं अव्यक्तमुत्थानं जगदेतत् केचिदिच्छन्ति ॥ लो.नि. ६८ ॥**

(१७) बौद्धो की मान्यता : **विज्ञप्तिमात्रमेवैतत्, असमर्थाऽवभासनात् यथा । तैमरिकस्येह कोशकीटादिदर्शनम् ॥७४॥ क्रोधशोकमदोन्मादकामदोषाद्युपद्रुताः । अभूतानि च पश्यन्ति, पुरतोऽवस्थितानि ॥७५॥**

जैसे आंख में अंधेरा आने से भ्रम से कोशीटा (रेशम) का कीडा (कीडे की एक जाति विशेष) इत्यादि के दर्शन होते है वैसे असमर्थ ज्ञान से (जगत को जानने योग्य समर्थज्ञान नहि होने से) यह जगत विज्ञानमात्र रुप में (वह पदार्थ नहि होने पर भी वह पदार्थ देखता हूं, उस रुप में) दिखता है। (परंतु वास्तविक कुछ नहीं है।) क्योंकि क्रोध, शोक, मद, उन्माद, काम इत्यादि दोषो से पराभव पाये हुओ अर्थात् भ्रमवाले जीव अभूतो को (अवस्तुओको)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञानमात्र (विज्ञान स्वरुप) मानते है। अन्य किसीने जगत को [१८]एक जीवस्वरुप माना है। कोई अनेक जीवात्मक मानता है।

दूसरे कुछ लोग पुरातन[१९] कर्म से जगत की उत्पत्ति मानते है। अन्य कुछ लोग जगत की उत्पत्ति[२०] स्वभाव से मानते है। कुछ लोग [२१]अक्षर में से उत्पन्न हुए पंचमहाभूत से जगत की उत्पत्ति मानते है। कुछ लोग जगत को [२२]अण्डे में से उत्पन्न हुआ मानते है। आश्रमीओने जगतको

भी अपने सन्मुख रही हुई वस्तुओ के रुप में देखता है। कहने का आशय यह है कि, जगत जैसा कुछ नहीं होने पर भी भ्रम से जगत दीखता है।

(१८) **एक जीव (ब्रह्म) स्वरुप जगत की मान्यता :** लोकतत्त्वनिर्णय में कहा है कि - **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ यदेजति यन्नैजति, यद्दूरे यदु अन्तिके, यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्यास्य बाह्यो, यस्यात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो, न ज्वायोऽसि कश्चिद् एव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषरुपेण, सर्वं एक वृक्ष एव हि भूतात्मा यदा सर्वं प्रलीयते ॥१॥** जो हुआ है जो होनेवाला है अथवा मोक्षपन का अधिपति और जो अन्न के द्वारा वृद्धि प्राप्त करता है, वह सर्व आत्मा (एक ब्रह्म) ही है, जो गतिशील है (त्रस है।) जो गतिशील नहीं है (स्थावर है।) जो दूर है, जो नजदीक है, जो यह सर्व के अंदर है, सर्व के बाहर है। उससे कोई उत्कृष्ट नहीं है। उससे कोई छोटा नहीं है। जिससे कोई भी बडा नहीं है और (विराटरुप होने से) आकाश में वृक्ष की तरह जो एक स्थिर रहता है, वही एक आत्मा के रुप द्वारा यह जगत परिपूर्ण है। जगत में जब यह एक ही भूतात्मा (पुरुषरुप) होता है, तब दूसरा सब (पृथ्व्यादि रुपान्तर तत्त्व) उस आत्मा में लीन हो जाता है।

(१९) कर्मवादि की मान्यता : लोकतत्त्वनिर्णय में कहा है कि - **चेतनोऽध्यवसायेन, कर्मणा संनिबध्यते । ततो भवस्तस्य भवेत्तदभावात् परं पदम् ॥१२॥ उद्धरेद्दीनमात्मानं, नात्मानमवसादयेत् । आत्मनैवात्मनो बंधुरात्वमैव रिपुरात्मनः ॥१३॥ सुतुष्टानि मित्राणि सुकुद्धाश्चैव शत्रवः। न हि मे तत्करिष्यन्ति, यन्न पूर्वकृतं मया ॥१४॥ शुभाऽऽशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः। स्वयमेवोपकुर्वन्ति, दुःखानि च सुखानि च ॥१५॥ वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा । सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥१६॥**

(२०) स्वभाववादियो का मत : **'यः कंटकानां'....** श्लोक द्वारा पहले कहा गया है।

(२१) **अक्षरवादियो की मान्यता : अक्षरात् क्षरित कालस्तस्माद् व्यापक इष्यते। व्यापकादिप्रकृत्यंतां, तां हि सृष्टिं प्रचक्षते ॥२३॥** अक्षर में से काल गिर पडा इसलिये काल व्यापक माना जाता है। इसलिये जिसके आदि और अंत में प्रकृति है, उसको निश्चय से सृष्टि कहा जाता है।

अक्षरवादियो में कुछ इस अनुसार कहते है - **अक्षरांशस्ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलं। जलात् प्रसृता पृथ्वी, भूतानामेष संभवः ॥२४॥** अक्षर के अंश (आकाश) में से वायु उत्पन्न हुआ, वायु में से अग्नि, अग्नि में से पानी और पानी में से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पञ्चमहाभूत की इस प्रकार उत्पत्ति हुई। (उसे ही जगत कहा जाता है।)

(२२) **अंडवादियो की मान्यता :** लोकतत्त्वनिर्णय - **नारायणपराऽव्यक्ता दंडमव्यक्तसंभवं। अंडस्यांतस्त्वमी भेदाः सप्त द्वीपा च मेदिनी ॥२५॥ गर्भोदकं समुद्राश्च, जरायुश्चापि पर्वताः। तस्मिन्नंडे त्वमीलोकाः सप्त सप्त प्रतिष्ठा ॥२६॥ तत्रेहाद्यः स भगवानुषित्वा परिवत्सरं। स्वयगेवात्मना ध्यात्वा तदंडमकरोद् द्विधा ॥२७॥ ताभ्यां स**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[२३]अहेतुक माना है। पूरण जगतको [२४]नियतिजनित मानते है। पराशर[२५] परिणाम से उत्पन्न हुए जगत को मानते है। कुछ लोगोने [२६]यादृच्छिक जगत की उत्पत्ति को मानी है। [२७]अनेकवादियोने जगत को अनेक स्वरुप में माना है। [२८]तुरुष्को गौस्वामीओने एक दिव्य पुरुष में से उत्पन्न हुआ माना है।

सकलाभ्यां तु, दिवं भूमिं च निर्ममे ॥२८॥ पूर्वार्ध ॥ नारायण से पर (भिन्न) अव्यक्त है। उस अव्यक्त में से एक अण्डा उत्पन्न हुआ। सृष्टि में यह सारा भेद तथा सातद्वीपवाली पृथ्वी भी अण्डे में से ही उत्पन्न हुई जानना। ये समुद्रो को उस अण्डे का गर्भजल जानना और पर्वत उस अण्डे का जरायु (गर्भ में होती पतली चर्मजाल) है। सब ऐसे अण्डे के मध्यभाग में सात-सात लोक रहे हुए है। (भू, भूवः, स्वः, महः, जन, तप और सत्य ये सात लोक ऊपर और तल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, पाताल ये सात लोक नीचे है।) उस अण्ड में वह आदि (नारायण) भगवानने सम्पूर्ण एक साल रहकर-बसकर विचार करके खुद ही उस अण्डे के दो भाग किये, वे दो भाग में से एक भाग को स्वर्ग रुप में और दूसरे भाग को भूमि (पृथ्वी) रुप में स्थापित किया।

(२३) **अहेतुकवादियो की मान्यता :** लोकतत्त्वनिर्णय : **हेतुरहिता भवन्ति हि, भावाः प्रतिसमयभाविनश्चित्राः। भावादृते न भाव्यं, संभवरहितखपुष्पमिव।** प्रत्येक समय विचित्र रुप से होनेवाले ये पदार्थ निश्चय से अहेतुक है। अर्थात् पदार्थो में जो कुछ परिवर्तन होता है उसमे कोई कारण नहीं है। (स्वाभाविक रुप से हुआ करता है।) क्योंकि भाव के बिना भाव्य नहि होता (अर्थात् पदार्थ के बिना पदार्थ परिवर्तना नहीं होता) और भाव्यरहित भाव न होता और यदि भाव हो तो यह सब भाव-भाव्य इत्यादि आकाश-पुष्प की भांति असत् (असंभवित) है। इसलिये जगत की विचित्रताए अहेतुक है।

(२४) **नियतिवादि की मान्यता : प्राप्तव्यो नियतबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥२९॥** जो शुभ अथवा अशुभ अर्थ (वस्तु) नियतिबल के वश से होनेवाला हो तो मनुष्यो को अवश्य होता है। जीव बहोत प्रयत्न करे तो भी जो न होनेवाला हो वह नहीं ही होता और जो होनेवाला है उसका नाश नहीं होता। इसलिये जगत के सर्वभाव नियतिबल के आधीन है।

(२५) **परिणामवादि की मान्यता : प्रतिसमयं परिणामः प्रत्यात्मगतश्च सर्वभावानाम्। संभवति नेच्छयापि, स्वेच्छा क्रमवर्तिनी यस्मात् ॥३०॥** सर्वपदार्थो का अपने-अपने स्वरुप में होता परिणाम, प्रतिसमय इच्छा के बिना भी होता है, क्योंकि अपनी ईच्छा अनुक्रम में प्रवर्तित होनेवाली होती है। (इसलिये वस्तु का परिणाम इच्छा से ही होता है, ऐसा नहीं है।)

(२६) **"यादृच्छिकमिदं सर्वं, केचिद् भूतविकारजं। केचिच्चानेकरुपं तु, बहुधा संप्रधाविताः ॥५०॥** कुछ लोग इस जगत को यादृच्छिक (अतर्कित - अकस्मात से) उत्पन्न हुआ मानते है। कुछ पंचभूत के विकार से बना हुआ मानते है। कुछ लोग अनेकरुपवाला मानते है। ऐसे जगत की उत्पत्ति के विषय में अनेकमतवादियों अनेक विचारो में (मान्यताओ में) दौड रहे है।

(२७) **अनेकवादि की मान्यता : कारणानि विभिन्नानि, कारणानि च यतः पृथक्। तस्मात् त्रिष्वपि कालेषु नैव कर्माऽस्ति निश्चयः ॥३५॥** जिस कारण से कारण (हेतु) भिन्न भिन्न है और (उस कारण से) कार्य भी भिन्न-भिन्न है। इसलिये तीनो काल में कर्म है ही नहि, यह निश्चय है। यहां कर्म एक ही कारणरुप हो तो, उससे हुए कार्य भी समान होने चाहिये। परन्तु जगत में ऐसा दिखता नहीं है। इसलिए जगत की उत्पत्ति अनेक कारणो से है। अर्थात् अनेक स्वरुप से है।

(२८) तुरुष्को गौस्वामिओने एक दिव्यपुरुष में से उत्पन्न हुआ मानते है। यहां गौस्वामी से जितेन्द्रिय पुरुष ऐसा समजना है। अर्थात् दिव्यपुरुषो में से जितेन्द्रिय पुरुषो की उत्पत्ति होती है और उससे जगत की उत्पत्ति हुई।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[२९]इत्यादि अनेकवादि है। उनका स्वरुप पू.आ.श्री हरिभद्रसूरि महाराजा विरचित लोकतत्त्वनिर्णय ग्रंथ से जानना। (जो हमने टिप्पणी ८ से २९ में रखा है।)

एवं सर्वगतादिजीवस्वरूपे ज्योतिश्चक्रादिचरस्वरूपे च नैके विप्रतिपद्यन्ते । तथा [A-49]बौद्धानामष्टादशनिकायभेदा [A-50]वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकादिभेदा वा वर्तन्ते । जैमिनेश्च शिष्यकृता बहवो भेदाः । "ओंबेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः । वामनस्तूभयं वेत्ति न किंचिदपि रेवणः ।। १ ।।" अपरेऽपि बहूदककूटीचरहंसपरमहंसभाट्टप्रभाकरादयोऽनेकेऽन्तर्भेदाः । सांख्यानां चरकादयो भेदाः । अन्येषामपि सर्वदर्शनानां देवतत्त्वप्रमाणमुक्तिप्रभृतिस्वरूपविषये तत्तदनेकशिष्यसंतानकृतास्तत्तद्ग्रन्थकारकृता वा मतभेदा बहवो विद्यन्ते । तदेवमनेकानि दर्शनानि लोकेऽभिधीयन्ते । तानि च सर्वाणि देवतातत्त्वप्रमाणादिभेदेनात्राल्पीयसा प्रस्तुतग्रन्थे नाभिधातुमशक्यानि, तत्कथमत्राचार्येण सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यत इत्येवं गदितुमशक्योऽर्थो वक्तुं प्रत्यज्ञायि, गगनाङ्गुलप्रमितिरिव पारावारोभयतटसिकताकणगणनमिवात्यन्तं दुःशक्योऽयमर्थः प्रारब्ध इति चेत् । सत्यमेतद्यद्यवान्तरतद्भेदापेक्षया वक्तुमेषोऽर्थः प्रक्रान्तः स्यात् । यावता तु मूलभेदापेक्षयैव यानि सर्वाणि दर्शनानि तेषामेव वाच्योऽत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातोऽस्ति नोत्तरभेदापेक्षया, ततो न कश्चन दोषः । सर्वशब्दं च व्याचक्षाणैरस्माभिः पुराप्ययमर्थो दर्शित एव, परं विस्मरणशीलेन भवता विस्मारित इति ।।१।।

---

(२९) इत्यादि पद से कुछ दूसरे मतो की मान्यता :

(१) कुछ ईश्वरवादियों की मान्यता : प्रकृतिनां यथा राजा रक्षार्थमिह चोद्यतः । तथा विश्वस्य विश्वात्मा स जागर्ति महेश्वरः ॥६२॥ अन्यो जतुरनीशोऽयमात्मानः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च ॥६३॥ इस लोक में प्रजा के रक्षण के लिए जैसे राजा प्रयत्नशील होता है, वैसे इस जगत के रक्षण के लिए वह जगत का आत्मा महेश्वर जागता है। (अर्थात् जगत महेश्वर की प्रेरणा से चलता है।) क्योंकि अपने को सुख-दुःख देने में (महेश्वर के सिवा) अन्य जीव समर्थ नहीं है। (क्योंकि) ईश्वर की प्रेरणा से जीव स्वर्ग में या नर्क में जाता है।

(२) भूतवादिकी मान्यता : पृथिव्यपस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा । मदशक्तिवच्चैतन्यं जलबुद्बुद्वज्जीवाश्चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति ॥३१॥ पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्वो के समुदाय में शरीर, इन्द्रिय और विषय ऐसे नाम पडते है। और (जैसे महुडा, गुड इत्यादि सामग्रीयां एक होने से) मद शक्ति उत्पन्न होती है तथा जल में जैसे भिन्न भिन्न बुलबुले उत्पन्न होते है। वैसे इस तत्त्वो के समुदाय में से (भिन्न-भिन्न) जीव उत्पन्न होते है। उसमें चैतन्यविशिष्ट जो शरीर उसकी पुरुष-जीव संज्ञा है। उपरांत **भौतिकानि शरीराणि, विषयाः करणानि च । तथापि मंदैरन्यस्य कर्तृत्वमुपदिश्यते ॥३२॥** शरीर, स्पर्शादि विषय तथा इन्द्रिय (पूर्वोक्त) पृथ्व्यादि भूत से बने हुए है। तो भी मन्दबुद्धिवाले जीव उसकी उत्पत्ति अन्य से उपदेशित करते है।

(३) नास्तिकवाद की मान्यता आगे उपर बताई जायेगी।

(A-49-50) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

इस अनुसार जीव सर्वगत है या नहि ? इत्यादि जीव के स्वरुप में तथा ज्योतिषचक्र के परिभ्रमण के स्वरुपविषयक अनेक विवाद है। तथा बौद्धो के अठारह निकाय तथा (१) वैभाषिक (२) सौत्रान्तिक (३) योगाचार (४) माध्यमिक ऐसे चार भेद है। जैमिनी के शिष्यो द्वारा की गई (विचारणाओ के) बहोत भेद है। (वह जैमिनी के शिष्यो में कुमारिल भट्ट का शिष्य औंबेककारिका को जानता है। (-मानता है।) (जिससे गुरुमत नीकला है वह) प्रभाकर तंत्र=सिद्धांत को जानता है (-स्वीकार करता है।) वामन कारिका-तंत्र उभय को जानते है। तथा अन्य रेवण एक को भी नहीं मानता। इस प्रकार जैमिनी के शिष्यो में अनेक भेद है।

दूसरे भी बहूदक, कूटीचर, हंस, परमहंस, भाट्ट, प्रभाकर इत्यादि अनेक अवांतर भेद है। सांख्यदर्शन में भी श्री चरक आदि अनेक आचार्यो के सिद्धांत भिन्न-भिन्न है।

अन्य भी सर्वदर्शनो में देव, तत्त्व, प्रमाण, मुक्ति इत्यादि के स्वरुप के विषय में तत् तत् दर्शन के शिष्य परंपरा से कीये गये अथवा तत् तत् दर्शन के ग्रंथकारो द्वारा किये गये सिद्धांतो में बहोत मतभेद है। इसलिए ही जगत में अनेक दर्शन है, ऐसा कहा जाता है।

शंका : वे सर्वदर्शनो को देव, तत्त्व और प्रमाणादि के भेद से कहने के लिये इस छोटे से प्रस्तुत ग्रंथ में संभव नहीं है। तो किस प्रकार ग्रंथकार श्री आचार्य भगवंत के द्वारा सर्वदर्शनो का वाच्यार्थ कहूंगा, ऐसा कहा गया ? ग्रंथकारश्रीने कहने के लिये असंभव अर्थो को कहने के लिये प्रतिज्ञा की है। इससे आसमान को अंगली से मापने की तरह तथा समुद्र के उभयतट की रेत के कण को गिनने जैसा अत्यंत दुसंभव ऐसे कार्य का प्रारम्भ किया है।

समाधान : आप की यह आपत्ति सत्य तब कही जायेगी कि, जब (तत् तत् दर्शनो के) अवान्तर भेदो की अपेक्षा से कहने के लिए प्रारम्भ किया होता। (परन्तु हमने तो) मूलभेद की अपेक्षा जो है, वे दर्शनो के वाच्यार्थ को ही यहां कहने के लिए प्रतिज्ञा की है। तत् तत् दर्शनो के उत्तरभेद की अपेक्षा से वाच्यार्थ कहने की प्रतिज्ञा नही की है। इसलिये कोई दोष नहीं है। और (दर्शन के आगे रहे हुए) सर्वशब्द को कहते हुए हमारे द्वारा भी यही बात बताई गई थी। परन्तु भूल जाने के स्वभाववाले आपके द्वारा विस्मरण हो गया है।

एनमेवार्थं ग्रन्थकारोऽपि साक्षादाह-

यही अर्थ को ग्रंथकारश्री भी साक्षात् (श्लोक द्वारा) कहते है।

(मूल श्लो०) दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया ।

देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ।। २ ।।

श्लोकार्थ : मूलभेद की अपेक्षा से देव, तत्त्व के भेद से प्रस्तुत ग्रंथ में बुद्धिमानो द्वारा छः ही दर्शन है, ऐसा जानना।

अत्र प्रस्तुतेऽस्मिन्ग्रन्थे दर्शनानि षडेव मूलभेदव्यपेक्षया मूलभेदापेक्षया मनीषिभिर्मे-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धाविभिर्ज्ञातव्यानि । न पुनरवान्तरतद्भेदापेक्षयाधिकानि परमार्थतस्तेषामेष्वेवान्तर्भावात् । षडेवेति सावधारणं पदम् । केन हेतुना मूलभेदानां षोढात्वमित्याशंक्याह । देवतातत्त्वभेदेनेति । देवा एव देवताः, स्वार्थेऽत्र तल्प्रत्ययः, तत्त्वानि प्रमाणैरुपपन्नाः परमार्थसन्तोऽर्थाः, द्वन्द्वे देवतातत्त्वानि, तेषां भेदेन पार्थक्येन । ततोऽयमत्रार्थः । देवतातत्त्वभेदेन यतो दर्शनानां षडेव मूलभेदा भवेयुस्ततः षडेवात्र दर्शनानि वक्ष्यन्ते, न पुनरुत्तरभेदापेक्षयाधिकानीति । एतेन प्राक्तनश्लोके सर्वशब्दग्रहणेऽपि षडेवात्र दर्शनानि वक्तुं प्रतिज्ञातानि सन्तीति ज्ञापितं द्रष्टव्यम् ।।२।।

टीकाका भावानुवाद :

इस प्रस्तुत ग्रंथ में मूलभेद की अपेक्षा से छः ही दर्शन बुद्धिमानो के द्वारा जानना। परन्तु अवान्तर भेदो की अपेक्षा से अधिक दर्शनो का वाच्यार्थ नहीं कहा। क्योंकि, परमार्थ से तत् तत् अवान्तरदर्शनो का ये छः दर्शनो में अन्तर्भाव हो ही जाता है। श्लोक में जो "**षडेव**" में "**एव**" कार है, वह अवधारण में है। अर्थात् दर्शन छः ही जानना। उससे अधिक नहि ऐसा निश्चय करना।

शंका : किस कारण से दर्शन के मूलभेद छः ही है ?

समाधान : देवता तथा तत्त्व के भेद से दर्शन के छः भेद है। यहां "**देवा एव देवताः**" व्युत्पत्ति से देव को स्वार्थ में "**ता**" (तल्) प्रत्यय लगकर "**देवता**" शब्द बना है। प्रमाणो से उपपन्न परमार्थ से सत्य अर्थो को "तत्त्व" कहा जाता है। "**देवता**" तथा "**तत्त्व**" शब्दो का द्वन्द्वसमास हो के '**देवतातत्त्वानि**' पद बना है। वे देवता और तत्त्व के भेद से छः दर्शन है - ऐसा अन्वय करना।

इसलिए यहाँ यह अर्थ होता है - जिस कारण से देवता तथा तत्त्व के भेद द्वारा दर्शनो के मूलभेद छः ही होते है। उस कारण से छः ही दर्शन यहां कहे जायेंगे। परन्तु उत्तरभेद की अपेक्षा से अधिक दर्शन नहीं कहे जायेंगे। इससे पहले के श्लोक में "**सर्व**" शब्द का ग्रहण होने पर भी छः ही दर्शनो के कहने के लिये प्रतिज्ञा की गई है, ऐसा जानना। ॥२॥

अथ षण्णां दर्शनानां नामान्याह-

अब छः दर्शनो के नाम कहते है।

(मूल लो.) बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ।। ३ ।।

श्लोकार्थ : बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनि ये (छः) दर्शनो के नाम है।

बुद्धाः सुगतास्ते च [A-51]सप्त भवन्ति । विपश्यी १ शिखी २ विश्वभूः ३ क्रकुच्छन्दः ४ काञ्चनः ५ काश्यपः ६ शाक्यसिंहश्चेति ७ । तेषामिदं दर्शनं बौद्धम् । [A-52]न्यायं न्यायतर्कमक्षपादर्षिप्रणीतं

(A-51-52) - तु॰ पा॰ प्र॰ प॰।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थं विदन्त्यधीयते वेति नैयायिकास्तेषामिदं दर्शनं नैयायिकम् । [A-53]संख्यां प्रकृतिप्रभृतितत्त्वपञ्चविंशतिरूपां विदन्त्यधीयते वा सांख्याः । यद्वा तालव्यादिरपि शांख्यध्वनिरस्तीति वृद्धाम्नायः । तत्र शंखनामा कश्चिदाद्यः पुरुषविशेषस्तस्यापत्यं पौत्रादिरिति गर्गादित्वात् यञ्प्रत्यये शांख्यास्तेषामिदं दर्शनं सांख्यं शांख्यं वा । जिना ऋषभादयश्चतुर्विंशतिरर्हन्तस्तेषामिदं दर्शनं जैनम् । एतेन चतुर्विंशतेरपि जिनानामेकमेव दर्शनमजनिष्ट, न पुनस्तेषां मिथो मतभेदः कोऽप्यासीदित्यावेदितं भवति । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा एव वैशेषिकं, विनयादिभ्य इति स्वार्थ इकण् । तद्वैशेषिकं विदन्त्यधीयते वा, तद्वेत्त्यधीत, इत्यणि वैशेषिकास्तेषामिदं वैशेषिकम् । जैमिनिराद्यः पुरुषविशेषस्तस्येदं मतं जैमिनीयं मीमांसकापरनामकम् । तथाशब्दश्चकारश्चात्र समुच्चयार्थौ । एवमन्यत्राप्यवसेयम् । अमूनि षडपि दर्शनानां नामानि । अहो इति शिष्यामन्त्रणे । आमन्त्रणं च शिष्याणां चित्तव्यासङ्गत्याजनेन शास्त्रश्रवणयाभिमुखीकरणार्थमत्रोपन्यस्तम् ।।३।।

टीकाका भावानुवाद :

सुगत सात है। (१) विपश्यी, (२) शिखी, (३) विश्वभू, (४) क्रकुछन्द, (५) काञ्चन, (६) काश्यप, (७) शाक्यसिंह। ये सुगतो का दर्शन वह बौद्धदर्शन। अक्षपाद ऋषि प्रणित न्याय-तर्क से पूर्ण ग्रंथको जो जानता है अथवा पढता है उसे नैयायिक कहा जाता है। वे नैयायिको का दर्शन नैयायिक दर्शन कहलाता है। प्रकृति इत्यादिक २५ तत्त्वो की संख्या को जो जानता है अथवा पढता है वे सांख्य कहलाते है। "शांख्य" इस प्रकार तालव्य "श"कार वाला पाठ भी वृद्ध परंपरा से सुनाई देता है। उसमें शंख नाम के आदि पुरुष की संतति = पुत्रपौत्रादि (गर्गादित्वात् से 'यञ्' प्रत्यय लगने से) "शांख्य" कही जाती है। उनके दर्शन को शांख्य या सांख्य दर्शन कहा जाता है। जिनो के अर्थात् ऋषभादि से श्री महावीर पर्यन्त चौवीस अरिहंतो के दर्शन को "जैनदर्शन" कहा जाता है। इससे चौवीसो जीनेश्वर का एक ही दर्शन है। परन्तु उसमें परस्पर कोई भी मतभेद नहीं है। वह सिद्ध होता है। नित्यद्रव्य के अंदर (समवाय-संबंध से) रहनेवाले और अन्त्य (अर्थात् जिसकी अपेक्षा विशेष नहीं है) वे विशेष कहलाते है और "**विशेषा एव**" इस व्युत्पत्ति से विशेष को "**विनयादिभ्यः**" (**सि.है.७/२/१६९**) सूत्र से स्वार्थ में "**इकण**" प्रत्यय लगके वैशेषिक बनता है अथवा वह विशेषो को जो जानता है या पढता है वह वैशेषिक। उनका दर्शन वह वैशेषिक दर्शन।

जैमिनि आद्यपुरुषविशेष है। उनका जो मत वह जैमिनिदर्शन। उसका दूसरा नाम [३०]मीमांसादर्शन है।

श्लोक में "**तथा**" और "**च**" कार समुच्चयार्थक है। **अहो** शिष्य के आमंत्रण में है। आमंत्रण वाचकपद शिष्यो को दूसरे कार्यो में चित्त लगा हो, उसका त्याग कराके शास्त्रश्रवण के अभिमुख करने के लिए उपन्यास किया है ॥३॥

(३०) मीमांसक दर्शन के दो भेद है। (१) पूर्व मीमांसा, (२) उत्तर मीमांसा। उसमें पूर्व मीमांसा वह जैमिनिदर्शन और उत्तर मीमांसा वह वेदांतदर्शन।

(A-53) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्दर्शन समुच्चय, भाग-१

बौद्ध दर्शन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ अथ प्रथमोऽधिकारः ॥

॥ बौद्ध दर्शन ॥

अथ यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादादौ बौद्धमतमाचष्टे-अब **"यथा उद्देशः तथा निर्देशः"** अर्थात् जिस अनुसार उद्देश किया गया हो उस अनुसार निर्देश करना चाहिए। इस न्याय से दर्शनो के उद्देश क्रम में बौद्धदर्शन का प्रथम निर्देश होने से बौद्धदर्शन को कहते है।

(मूल श्लो०) **तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल ।**
चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः ।।४।।

श्लोकार्थ : वे दर्शनो में, बौद्धमत में दुःखादि चार आर्यसत्य के प्ररुपक सुगत देवता है।

तत्रशब्दो निर्धारणार्थः, तावच्छब्दोऽवधारणे । तेषु दर्शनेष्वपराणि दर्शनानि तावत्तिष्ठन्तु, बौद्धमतमेव प्रथमं निर्धार्योच्यत इत्यर्थः । अत्र चादौ बौद्धदर्शनोपलक्षणार्थं मुग्धशिष्यानुग्रहाय बौद्धानां लिङ्गवेषाचारादिस्वरूपं प्रदर्श्यते । चमरो मौण्ड्यं कृत्तिः कमण्डलुश्च लिङ्गम् । [A-54]धातुरक्तमागुल्फं परिधानं वेषः । शौचक्रिया बह्वी । "[A-55]मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ।।१।। [A-56]मणुन्नं भोयणं भुच्चा मणुन्नं सयणासणं । मणुन्नंमि अगारंमि मणुन्नं जायए मुणी ।।२।।"

भिक्षायां पात्रे पतितं सर्वं शुद्धमिति मन्वाना [A-57]मांसमपि भुञ्जते, मार्गे च जीवदयार्थं [A-58]प्रमृजन्तो व्रजन्ति । ब्रह्मचर्यादिस्वकीयक्रियायां च भृशं दृढतमा भवन्ति । इत्यादिराचारः ।

टीकाका भावानुवाद :

श्लोक में **"तत्र"** शब्द निर्धारण अर्थ में है। **"तावद्"** शब्द अवधारण में है। (भावार्थ यह है कि) वे दर्शनो में अपरदर्शन अभी एक तरह रहे, बौद्धमत ही प्रथम निर्धार करके कहा जाता है। यहां प्रारम्भ में बौद्धदर्शन के लिंग, वेष-आचारादि स्वरुप (३१)उपलक्षणार्थ को मुग्ध शिष्य के अनुग्रह के लिए बताया गया है। वह इस अनुसार है - "चामर का धारण करना, मस्तक पर मुंडन कराना, बैठने के लिए मृगचर्म का आसन और कमण्डलु को धारण करना, वह लिंग है। घुटनो तक लाल रंग का वस्त्र पहनना वह वेष

(३१) वेषादि में ही (बौद्ध) धर्म नहीं रहा, परन्तु वह वेषादि धर्म का कारण है। तत् तत् धर्मसंबंधी विचारो को लाने के लिये माध्यम आचारादि है। इससे उपलक्षण से वेषादि के ज्ञान के साथ साथ उसके धर्मतत्त्व का भी ज्ञान हो जाता है। वैसे तो शुद्धअध्यवसायो की प्राप्ति ही धर्म है। परन्तु उसको लाने के लिए उपचार से वेषादि भी कारण है। इससे उपलक्षण से भी धर्म का कारण है।

(A-54-55-56-57-58) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। शौचक्रिया बारबार करना - वह आचार है। उपरांत .... कोमल शय्या, सुबह उठकर पेय पीना, मध्याह्न में भोजन, अपराह्न में चाय-पानी और अर्धरात्री में अंगूर के टुकडे और शर्करा लेना और (यह सब आचरण करते हुए) अन्त में बुद्धके द्वारा मोक्ष देखा गया है।"

"तथा (मनको अच्छा लगे ऐसा मनोज्ञभोजन, मनोज्ञशय्या, मनोज्ञ आसन और मनोज्ञ घर होने पर भी मुनि मनोज्ञता को प्राप्त करता है।" भिक्षा लेते समय भिक्षा के पात्र में पडा हुआ सर्व शुद्ध है। (इसलिये मांस पडे तो भी मांस को शुद्ध मानकर) मांस को भी खाते है। मार्ग में जीवदयार्थे प्रमार्जना करते करते चलते है। ब्रह्मचर्यादि अपने धर्म की क्रिया में अत्यन्त दृढ होते है। इत्यादि उनके आचार है।

धर्मबुद्धसङ्घरूपं रत्नत्रयम्[A-59] । [A-60]तारादेवी शासने विघ्ननाशिनी । विपश्यादयः सप्त बुद्धाः कण्ठे रेखात्रयाङ्किताः सर्वज्ञा देवाः । बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुरित्यादीनि [अभिधान० २/१४६]। [A-61]तन्नामानि । तेषां प्रासादावर्तुलाबुद्धांडकसंज्ञाः । भिक्षुसौगतशाक्यशौद्धोदनिसुगत-ताथागतशून्यवादिनामानो बौद्धाः । तेषां शौद्धोदनिधर्मोत्तरार्चटधर्मकीर्तिप्रज्ञाकरदिग्नागप्रमुखा ग्रन्थकारा गुरवः । अथ प्रस्तुतश्लोकोऽग्रतो व्याख्यायते । बौद्धमते बौद्धदर्शने सुगतो बुद्धो देवता देवः । किलेत्याप्तप्रवादे । कीदृशः सः । चतुर्णामित्यादि । आराद् दूराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, पृषोदरादित्वाद्रूपनिष्पत्तिः । सतां साधूनां पदार्थानां वा यथासंभवं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तुरूपचिन्तनेन च हितानि सत्यानि । अथवा सद्भ्यो हितानि सत्यानि । आर्याणां सत्यानि [A-62]आर्यसत्यानि तेषामार्यसत्यानामित्यर्थः । चतुर्णां दुःखादीनां दुःखसमुदयमार्गनिरोध-लक्षणानां तत्त्वानां प्ररूपको देशकः । तत्र दुःखं [A-63]फलभूताः पञ्चोपादानस्कन्धा विज्ञानादयो वक्ष्यमाणाः, त एव तृष्णासहाया हेतुभूताः [A-64]समुदयः समुदेति स्कन्धपञ्चकलक्षणं दुःखमस्मादिति व्युत्पत्तितः । निरोधहेतुनैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गः । [A-65]मार्गण् अन्वेषणे, मार्ग्यतेऽन्विष्यते याच्यते निरोधार्थिभिरिति चुरादिणिजन्तत्वेनाल्प्रत्ययः । निःक्लेशावस्था चित्तस्य निरोधः [A-66]निरुध्यते रागद्वेषोपहतचित्तलक्षणः संसारोऽनेनेति करणे घञि, मुक्तिरित्यर्थः दुःखादीनामित्यत्रादि-शब्दोऽनेकार्थोऽपि व्यवस्थार्थो मन्तव्य; यदुक्तम्-"सामीप्ये च व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा । चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत्[A-67] ।।१।।"

तत्रादिशब्दः सामीप्ये यथा ग्रामादौ घोष इति, व्यवस्थायां यथा ब्राह्मणादयो वर्णा इति, प्रकारे यथा आढ्या देवदत्तादय इति देवदत्तादय इति देवदत्तसदृशा आढ्या इत्यर्थः, अवयवे यथा स्तम्भादयो गृहा इति । अत्र तु व्यवस्थार्थः संगच्छते । दुःखमादि प्रथमं येषां तानि तथा तेषामिति बहुव्रीहिः ।।४।।

(A-59-60-61-62-63-64-65-66-67) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

धर्म, बुद्ध और संघ बौद्धदर्शन के तीन रत्न है। (कि जिनको बौद्धदर्शन की सफलता मानी जाती है।) बौद्धदर्शन ऊपर आनेवाले विघ्नो का नाश करनेवाली तारादेवी है। (आगे बताये वे) विपश्यादि सातबुद्ध कंठ में तीन रेखाएं अंकित करते है तथा सर्वज्ञ देवता कहलाते है। उपरांत बुद्ध, सुगत, धर्मधातु इत्यादि उनके नाम है। उनका प्रासाद बुद्ध के अंडक की संज्ञावाला वर्तुल है। प्रासाद (धर्मस्थान) को **''बुद्धांडक''** कहते है। भिक्षु, सौगत, शाक्य, शौद्धोदनि, सुगत, ताथागत, शून्यवादि इत्यादि नाम के बौद्ध है। उनके शौद्धोदनि, धर्मोत्तर, अर्चट, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, दिग्नाग इत्यादि ग्रंथकार गुरु है।

अब प्रस्तुत श्लोक की प्रारम्भ से व्याख्या की जाती है। बौद्धदर्शन में सुगत (बुद्ध) देव है। 'किल' आप्तप्रवाद में है। अर्थात् **किल** शब्द से आप्तप्रवाद की सूचना है।

वह बौद्धदर्शन के देवता किस प्रकार के है ? चार आर्यसत्यो के प्ररुपक है। सर्व हेय से जो दूर हो गया है वह आर्य कहा जाता है। साधुओको यथासंभव मुक्ति प्राप्त करानेवाला या पदार्थो के या यथावस्थित वस्तु के स्वरुप के चिन्तन द्वारा हितकारी हो उसे सत्य कहलाता है। अथवा सज्जनो का जो हित करे उसे सत्य कहा जाता है।

(यहां **''पृषोदरादित्वात्'' सि.है. ३/२/१५५** सूत्र से **''आर्य''** शब्द की निष्पत्ति हुई है। **आर्याणां सत्यानि आर्यसत्यानि तेषाम्** - इस प्रकार समास हुआ है।)

आर्यसत्य चार है। (१) दुःख, (२) दुःख समुदय, (३) दुःखनिरोध, (४) दुःखनिरोध मार्ग। ये दुःखादि चार आर्यसत्य स्वरुप तत्त्वो के प्ररुपक बुद्ध है। उसमें रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, कि जिसका स्वरुप आगे कहा जायेगा वे पांच विपाकस्वरुप उपादानस्कंध ही **दुःख** है। वे पांच उपादानस्कंध तृष्णा की सहायता से जब (नूतन) स्कंधो की उत्पत्ति में कारण बनता है, तब **दुःख समुदय** कहा जाता है। दुःख के निरोध के कारणभूत नैरात्म्यादि आकारयुक्त चित्तविशेष को **मार्ग** कहा जाता है। (अर्थात् निरोध के कारणभूत नैरात्म्यादि आकारयुक्त चित्तविशेष को मार्ग कहते है। अर्थात् निरोध के कारणभूत नैरात्म्यादि भावना से वासित चित्त वह मार्ग है।) और चित्त की निक्लेश अवस्था वह **निरोध** है।

यहाँ अन्वेषणार्थक **''मार्गण''** धातु से **मार्ग्यते-अन्विष्यते याच्यते निरोधार्थिभिः इति मार्गः।''** इस व्युत्पत्ति से अन्वेषणार्थक **''मार्गण'** धातु को चुरादिगण के **'णिच्'** प्रत्यय लगकर **'अल्'** प्रत्यय लगके **''मार्ग''** शब्द बना है। तथा **''निरुध्यते रागद्वेषोपहतचित्तलक्षणः संसारः अनेन इति निरोधः।''** इस व्युत्पत्ति से **नि+रुध्** धातु को करण में **''धञ्''** प्रत्यय लगकर **निरोध** शब्द बना है। इस दुःखनिरोध का अर्थ मुक्ति है। यहाँ श्लोक में **''दुःखादीनां''** पद में रहे हुआ **''आदि''** शब्द अनेक अर्थ में इस्तेमाल होने पर भी यहां (व्यवस्था) अर्थ में इस्तेमाल हुआ है। ऐसा जानना। कहा है कि...... ''सामीप्य, व्यवस्था, प्रकार तथा अवयव, इस प्रकार चार अर्थो में मेधावी पुरुष **''आदि''** शब्द का प्रयोग करते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे कि, (१) "**ग्रामादौ घोषः**" गांव में झोपडीयाँ (कुटिया) है। अर्थात् गांव के समीप में (पासमें) झोपडीयाँ है। यहाँ **आदि** पद से सामीप्य अर्थ लगता है। (२) "**ब्राह्मणादयः वर्णाः**" अर्थात् ब्राह्मण प्रथम है, ऐसे (चार) वर्ण है। यहां **आदि** पद व्यवस्था में है। (३) "**आद्या देवदत्तादयः**" देवदत्त जैसा धनवान है। यहां "**आदि**" पद प्रकारवाचि है। (४) "**स्तम्भादयः गृहाः**" स्तंभादि अवयव ही घर है। यहाँ **आदि** पद अवयववाचि है।

ये (चार में से) आदि पद यहां **व्यवस्था** अर्थ में है। अर्थात् **दुःखादीनां आर्यसत्यानां**-दुःख प्रथम है, ऐसे चार आर्यसत्य है। यहाँ आदि शब्द क्रम की व्यवस्था सूचित करता है। अर्थात् व्यवस्था अर्थ में इस्तेमाल हुआ है। ।।४।।

अथ दुःखतत्त्वं व्याचिख्यासुराह - अब (चार आर्यसत्यो में) प्रथम दुःखतत्त्व की व्याख्या करने की इच्छा से कहते है कि -

(मूल श्लो०) [A-68]**दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीतिताः ।**
[A-69]**विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ।।५।।**

श्लोकार्थ : विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रुप, वे पांच स्कंध को ही संसारी जीवो का दुःख कहा है।

दुःखं दुःखतत्त्वं किमित्याह । संसरन्ति स्थानात्स्थानान्तरं भवाद्भवान्तरं वा गच्छन्तीत्येवंशीलाः **संसारिणः, स्कन्धाः सचेतना अचेतना वा परमाणुप्रचयविशेषाः । ते च स्कन्धाः पञ्च प्रकीर्तिताः । वाक्यस्य सावधारणत्वात्पञ्चैवाख्याताः, न त्वपरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीति । के ते स्कन्धा इत्याह । विज्ञानमित्यादि । विज्ञानस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः, संस्कारस्कन्धः, रूपस्कन्धश्च । एवशब्दः पूरणार्थे, चशब्दः समुच्चये । तत्र रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादि निर्विकल्पकं विज्ञानं विशिष्टज्ञानं** [A-70]**विज्ञानस्कन्धः । निर्विकल्पकं च ज्ञानमेवंरुपमवसेयम्** । "अस्ति ह्यालोचनं (ना) ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकं । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ।।१।।" [मीमां. श्लो० प्रत्य० ११२] इति ।

सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना [A-71]**वेदनास्कन्धः । वेदना हि पूर्वकृतकर्मविपाकतो जायते । तथा च सुगतः कदाचिद्भिक्षामटाट्यमानः कण्टकेन चरणे विद्धः प्राह-"इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः । तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ।।" इति ।।**

टीकाका भावानुवाद :

प्रश्न : दुःख अर्थात् दुःखतत्त्व क्या है ?

(A-68-69-70-71) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर : एक स्थान से दूसरे स्थान पे अथवा एक भव से दूसरे भव में सरकता है = जाता है इसे संसारि कहा जाता है । अचेतन या सचेतन परमाणु के समूहविशेष को स्कंध कहते है । वे स्कंध पांच कहे गये है । (वे पांच स्कंध संसारि जीव का दुःख है ।)

''सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्ति'' अर्थात् सर्ववाक्य सावधारण माने गये है । अर्थात् वाक्य का अवधारणपूर्वक ही प्रयोग होता है । इस न्याय से श्लोक में **''ते च पञ्च प्रकीर्तिताः''** वाक्य में **''एव''** कार न होने पर भी **''पञ्चैव प्रकीर्तिताः = आख्याता''** इस प्रकार समज लेना । यानी कि पांच ही स्कंध है । परन्तु उससे अपर आत्मा नाम का कोई स्कंध नहीं है ।

प्रश्न : वे स्कन्ध कौन से है ?

उत्तर : विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और रुपस्कन्ध, ये पांच स्कन्ध है ।

उसमें रुपविज्ञान, रसविज्ञान, स्पर्शविज्ञान, गंधविज्ञान और शब्दविज्ञान विषयक निर्विकल्पक ज्ञान को **विज्ञानस्कन्ध** कहते है ।

निर्विकल्पक ज्ञान का स्वरुप इस अनुसार जानना । सबसे पहले ''यह है'' इस प्रकार का निर्विकल्पक आलोचनात्मक ज्ञान होता है । वह मूकबालकादिके विज्ञान की तरह शुद्धवस्तु से उत्पन्न होता है ।

सुख, दुःख या असुखदुःख (सुख–दुःख के अभावस्वरुप उदासीनता) ये तीन **वेदनास्कन्ध** है । वेदना पूर्व में (पहले) किये हुए कर्म के विपाक से होती है । (उसकी पुष्टि के लिये कहते है कि....) कभी सुगत भिक्षा के लिए घूम रहे थे, तब उनके पैर में कांटा लगा, उस समय उन्हों ने कहा कि....

''हे भिक्षुओ ! इस कल्प से (इस भवसे) पहले के ९१ कल्प में (भवमें) शक्ति से (छुरीसे) मैंने पुरुष को मारा था । उस कर्म के विपाक से मैं पैर में वींधा गया हूं ।''

(इससे सिद्ध होता है कि पूर्वसञ्चित कर्म के विपाक से वेदना होती है ।)

संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणात्मकः प्रत्ययः संज्ञास्कन्धः[A-72] । तत्र संज्ञा गौरित्यादिका । गोत्वादिकं च तत्प्रतिपत्ति(प्रवृत्ति)निमित्तम् । तयोरुद्ग्रहणा योजना, तदात्मकः प्रत्ययो नामजात्यादियोजनात्मकं सविकल्पकं ज्ञानं संज्ञास्कन्ध इत्यर्थः । पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदायः संस्कारस्कन्धः[A-73], यस्य संस्कारस्य प्रबोधात्पूर्वानुभूते विषये स्मरणादि समुत्पद्यते । पृथिवीधात्वादयो रूपादयश्च [A-74]रूपस्कन्धः । न चैतेभ्यो विज्ञानादिभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चनात्माख्यः[B-2] पदार्थः सुखदुःखेच्छाद्वेष-ज्ञानाधारभूतोऽध्यक्षेणावसीयते । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाभावात् । न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीति । ते च पञ्च स्कन्धाः क्षणमात्रावस्थायिन

(A-72-73-74) - तु० पा० प्र० प० । (B-2) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एव वेदितव्याः, न पुनर्नित्याः कियत्कालावस्थायिनो वा । एतच्च "क्षणिकाः सर्वसंस्कारा" (का० ७) **इत्यत्र दर्शयिष्यते ।।५।।**

टीकाका भावानुवाद :

जिन प्रत्ययो में शब्दो के प्रवृत्तिनिमित्तो की उद्ग्रहणा अर्थात् योजना हो जाती है, वे सविकल्पक प्रत्ययो को संज्ञास्कन्ध कहा जाता है। गौ, अश्व इत्यादि संज्ञाएं है। (वे संज्ञाएं वस्तु के सामान्य धर्म को निमित्त बनाकर व्यवहार में आती है।) जैसे कि, गौ संज्ञा "गोत्व" स्वरुप प्रवृत्तिनिमित्त (सामान्यधर्म) जहाँ जहाँ होगा, वहाँ वहाँ वह संज्ञा लागू पडेगी। (अर्थात् "गौ" यह संज्ञा है और "गोत्व" प्रवृत्तिनिमित्त है। यह संज्ञा और प्रवृत्तिनिमित्तो के उद्ग्राहक प्रत्यय को संज्ञास्कन्ध कहा जाता है। उपरांत "गोत्व" आदि सामान्य, "गौ" आदि संज्ञाओ का प्रवृत्तिनिमित्त बनता है।)

इस प्रकार गौ आदि संज्ञाओ का गोत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तो के साथ योजना करनेवाले सविकल्पक प्रत्यय को संज्ञास्कन्ध कहा जाता है। अर्थात् नाम, जाति इत्यादिकी योजना करके "यह गोत्वविशिष्ट गौ है" "अश्वत्वविशिष्ट अश्व है" इत्यादि व्यवहार में कारणरुप सविकल्पकज्ञान **संज्ञास्कन्ध** कहलाता है।

पुण्य-पाप आदि के समुदाय को **संस्कारस्कन्ध** कहा जाता है। जो संस्कार के उदय से पहले महसूस किये गये विषयो में स्मरणादि उत्पन्न होता है। आदि पद से प्रत्यभिज्ञान इत्यादि जानना।

(कहने का मतलब यह है कि, स्मृति के कारणभूत और अनुभवजन्य मानसिक प्रवृत्ति को संस्कार कहा जाता है।)

पृथ्वी आदि चार धातुएं तथा रुपादि विषय **रुपस्कन्ध** कहे जाते है। वे पांच स्कन्ध ही संसारिजीवो का दुःख है। ये पांच (३२)स्कन्धो से अतिरिक्त सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान के आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं होता है।

अनुमान से भी (स्कन्धो से अतिरिक्त) आत्मा नामका पदार्थ नहीं मालूम होता, क्योंकि आत्मा को ग्रहण करनेवाले अव्यभिचरितलिंग का ही अभाव है। **तथा प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त वस्तु को सिद्ध**

(३२) नाम-जात्यादि योजनारहित निर्विकल्पक ज्ञान "**विज्ञान**" है। नाम-जात्यादि योजनासहित सविकल्पक ज्ञान "**संज्ञा**" है। अर्थात् पदार्थ के साक्षात्कार को भी संज्ञा कहा जाता है। जो वस्तु में गुरुत्व हो और स्थान रोकती हो उसे वस्तु का रुप कहा जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और तज्जन्य शरीर **रुप** कहा जाता है। रुप से विरुद्धधर्मो को धारण करनेवाला अर्थात् गुरु न हो और स्थान नहीं रोकता उस द्रव्य "**नाम**" कहा जाता है। **नाम अर्थात् मन और मानसिक प्रवृत्तियाँ। बौद्धमत अनुसार आत्मा नाम-रुपात्मक है, अर्थात् शरीर, मन, भौतिक तथा मानसिक प्रवृत्तिओ के समुच्चय स्वरुप है। परन्तु स्वतन्त्र चेतना स्वरुप या चैतन्य का अधिष्ठाता नहीं है।**

दुःख सत्य की व्याख्या करते हुअे गौतमबुद्धने कहा है कि पांचो स्कन्ध जब व्यक्ति की तृष्णा का विषय बनकर पास आते है तब उसे ही उपादान स्कन्ध कहा जाता है। ये पांचो उपादानस्कन्ध दुःख स्वरुप है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनेवाला अविसंवादि दूसरा प्रमाण नहीं है। उपरांत वे पांच उपादान स्कन्ध क्षणमात्र रहनेवाले ही जानना, परन्तु नित्य नहीं है। ये सर्वसंस्कार क्षणिक है वह आगे बताया जायेगा। ॥५॥

दुःखतत्त्वं पञ्चभेदतयाभिधायाथ दुःखतत्त्वस्य कारणभूतं समुदयतत्त्वं व्याख्याति-

दुःखतत्त्व के पांच भेद से कहकर अब दुःखतत्त्व के कारणभूत "समुदय" तत्त्व की व्याख्या की जाती है..

(मूल श्लो०) **समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।**
आत्मात्मीयभावाख्यः (B-3)समुदयः स उदाहृतः ॥६॥

श्लोकार्थ : जिस कारण से जगत में "मैं हूँ" और "यह मेरा है" इत्यादि आत्मा-आत्मीयभाव स्वरुप (अहंकारस्वरुप) रागादिभावो का (३३)समुदाय उत्पन्न होता है, उसे समुदय कहा जाता है।

यतो यस्मात्समुदयाल्लोके लोकमध्ये रागादीनां रागद्वेषादिदोषाणां गणः समवायोऽखिलः समस्तः समुदेति समुद्भवति । कीदृशो गण इत्याह । आत्मात्मीयभावाख्यः । आत्मा स्वं, आत्मीयः स्वकीयः, तयोर्भावस्तत्त्वम् । आत्मात्मीयभावः अयमात्मा अयं चात्मीय इत्येवं संबन्ध इत्यर्थः । उपलक्षणत्वादयं

---

(३३) समुदय अर्थात् कारण। विषमदुःख का कोई एक कारण नहीं है। परन्तु कारणो की सब शृंखला है। उस शृंखला का नाम द्वादश निदान है। वह इस अनुसार है - (१) जरा-मरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरुप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या।

अविद्या दुःखो का मुख्य (मूल) कारण है। क्योंकि समुदायशृंखला को भी वही पैदा करती है और टिकाती है।

अविद्या अर्थात् अज्ञान, अज्ञान पूर्वजन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न संस्कार का कारण है। अर्थात् अविद्या "संस्कार" को जन्म देती है। संस्कार विज्ञान को जन्म देता है। विज्ञान के कारण गर्भ में भ्रूण को नामरुप मिलता है। नामरुप अर्थात् शरीर और मन द्वारा बनता संस्थान। नामरुप से षडायतन पैदा होते है। पांच इन्द्रिय और मन यह षडायतन है। इन्द्रिय और मन द्वारा विषय का संपर्क होता है। उसे स्पर्श कहते है। स्पर्श = इन्द्रिय विषय के सम्पर्क से सुख, दुःख या उदासीनता की अनुभूति होती है, वह वेदना है। वेदना से तृष्णा पेदा होती है। तृष्णा=इच्छा. तृष्णा से उपादान पैदा होता है। उपादान अर्थात् आसक्ति। आसक्ति से पुनर्जन्म उत्पन्न करनेवाला कर्म = 'भव' उत्पन्न होता है। भव से जन्म और जन्म से जरा-मरण की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार यह द्वादशनिदान दुःख का कारण बनता है। द्वादशनिदान के प्रत्येक अंग परस्पर कार्य-कारणभाव से जुडे हुऐ है और भवचक्र का कारण है। भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनो भव इस कारणशृंखला के साथ संबंधित है। अविद्या और संस्कार, ये दो निदान अतीतभव के साथ संबद्ध है। विज्ञान, नामरुप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव, ये आठ (निदान) वर्तमानभव के साथ संबद्ध है। जाति और जरामरण, ये दो निदान भविष्य जन्म के साथ संबद्ध है।

द्वादशनिदान की इस प्रक्रिया को प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से भी पहचाना जाता है। जो बौद्धो का मूल सिद्धांत कहा जाता है। प्रतीत्य=अन्य के आधार से उत्पाद=उत्पत्ति अर्थात् सापेक्ष कारणतावाद।

(B-3) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परोऽयं च परकीय इत्यादि संबन्धो द्रष्टव्यः । स एवाख्या नाम यस्य स आत्मात्मीयभावाख्यः । अयं भावः-आत्मात्मीयसंबन्धेन परपरकीयादिसंबन्धेन वा यतो रागद्वेषादयः समुद्भवन्ति सः समुदयो नाम तत्त्वं बौद्धमत उदाहृतः कथितः । अत्रोत्तरार्धे सप्तनवाक्षरपादद्वये छन्दान्तरसद्भावाच्छन्दोभङ्गदोषो न चिन्त्यः, आर्षत्वात्प्रस्तुतशास्त्रस्य ।।६।।

टीकाका भावानुवाद : जिस कारण से लोक में रागद्वेषादिदोषो का समस्तगण उत्पन्न होता है। (वह कारण समुदय है।) **प्रश्न :** वह रागादिभावो का समूह किस प्रकार का है ?

उत्तर : आत्मा-आत्मीयस्वरुप है। अर्थात् आत्मा यानी कि "मैं" और आत्मीय यानी कि "मेरा" यह दोनो के भाव वह आत्मा-आत्मीय भाव कहा जाता है। अर्थात् 'यह मैं हूं' और "यह मेरा है।" ऐसा भावार्थ जानना। उपलक्षण से यह पर है और यह पराया है। इत्यादि संबंध भी करना। कहने का मतलब यह है कि मैं और मेरा तथा पर-परकीय संबंध से जो रागद्वेषादि दोष पेदा होते है वह "**समुदय**" नाम का तत्त्व बौद्धमत में कहा गया है।

यहां श्लोक के उतरार्ध में एक पद में सात अक्षर है, और एक पद में नौ अक्षर है, फिर भी छन्दभंग का दोष नहीं जानना। क्योंकि यह शास्त्र ऋषिवर्णित होने से आर्ष है। इसलिये सात-नौ अक्षरवाले दूसरे छन्द का सद्भाव प्राचीन परंपरा में होगा, ऐसा मान लेना। ।।६।।

अथ दुःखसमुदयतत्त्वयोः संसारप्रवृत्तिनिमित्तयोर्विपक्षभूते मार्गनिरोधतत्त्वे प्रपञ्चयन्नाह-

अब संसार की प्रवृत्ति के निमित्तभूत दुःख और समुदयतत्त्व के विपक्षभूत मार्ग और निरोध तत्त्व का विस्तार करते हुए कहते है कि....

(मूल श्लो०) **क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ।**
स [A-75]मार्ग इह विज्ञेयो [A-76]निरोधो मोक्ष उच्यते ।।७।।

श्लोकार्थ : संसार के सर्व संस्कार क्षणिक है। इस प्रकार की वासना को मार्गतत्त्व तथा रागादि वासनाओ के सर्वथा नाश को निरोध अर्थात् मोक्ष कहा जाता है।

परमनिकृष्टः कालः क्षणः, तत्र भवाः क्षणिकः [A-77]क्षणमात्रावस्थितय [A-78]इत्यर्थः । सर्वे च ते संस्काराश्च पदार्थाः सर्वसंस्काराः क्षणविनश्वराः सर्वे पदार्था इत्यर्थः । तथा च बौद्धा अभिदधति । [A-79]स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यंतेऽविनश्वरस्वभावो वा । [A]यद्यविनश्वरस्वभावः, तदा तद्व्यापिकायाः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात्पदार्थस्यापि

A (१) "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् । अन्यत् संवृत्तिसत् प्रोक्तं; ते स्वसामान्यलक्षणे ।।" [प्र. वा. २/३]
(२) यथा यत् सत् तत् क्षणिकमेव, अक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते । [हेतु बि. पृ. ५४]

(A-75-76-77-78-79) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याप्यस्याभावः प्रसजति[A-80] । तथाहि-[A-81]यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदिति । स च नित्योऽर्थोऽर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण प्रवर्तेत यौगपद्येन वा । न तावत्क्रमेण, यतो ह्येकस्या अर्थक्रियायाः करणकाले तस्यापरार्थक्रियायाः करणस्वभावो विद्यते न वा । यदि विद्यते, कुतः क्रमेण करोति । अथ सहकार्यपेक्षया इति चेत्, तेन सहकारिणा तस्य नित्यस्य कश्चिदतिशयः क्रियते न वा । यदि क्रियते, तदा किं पूर्वस्वभावस्य परित्यागेन क्रियतेऽपरित्यागेन वा । यदि परित्यागेन, ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम् । अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन, ततस्तस्य नित्यस्य तत्कृतोपकाराभावात्किं सहकार्यपेक्षया कर्तव्यम् । अथाकिंचित्करोऽपि सहकारी तेन विशिष्टकार्यार्थमपेक्ष्यते । तदयुक्तं, यतः-

"[A-82]अपेक्ष्येत परः कश्चिद्यदि कुर्वीत किंचन । यदकिंचित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते ।।१।।"

[प्र० वा० - ३ । २७९] अथ तस्य प्रथमार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते, तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः । [A-83]अथासौ नित्योऽर्थो यौगपद्येनार्थक्रियां कुर्यात् । तथा सति प्रथमक्षण एवाशेषार्थक्रियाणां करणाद्द्वितीयक्षणे तस्याकर्तृत्वं स्यात् । तथा च सैवानित्यतापत्तिः । अथ तस्य तत्स्वभावत्वात् ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्यात् तदसांप्रतं, कृतस्य करणाभावादिति । किं च द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थसार्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात्, अतत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वप्राप्तिरिति । तदेवं नित्यस्य [A-84]क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति । अथ विनश्वरस्वभावः समुत्पद्यते । तथा च सति विघ्नाभावादायातमस्मदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम् । तथा चोक्तम् "जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो नश्येत्पश्चात्स केन च ।।१।।

टीकाका भावानुवाद :

परमनिकृष्ट काल को क्षण कहा जाता है। क्षण में उत्पन्न होनेवाले को (३४)क्षणिक कहा जाता है। अर्थात् क्षणमात्र रहनेवाले को क्षणिक कहते है। सर्वसंस्कार (सर्व पदार्थ) क्षणविनश्वर होते है। अर्थात् एक क्षण

(३४)बौद्धो की मान्यता यह है कि..... जगत के सर्वपदार्थ अपने अपने कारणो से उत्पन्न होते है, वह एक निर्विवाद बात है। तो अब बताइये कि कारणो से उत्पन्न होते हुए वे पदार्थ विनश्वर स्वभाववाले उत्पन्न होते है या अविनश्वर स्वभाववाले उत्पन्न होते है ? यदि अविनश्वर स्वभाववाले होते है, तो नित्य पदार्थ होने से असत् सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि जो अर्थक्रिया करता है वही परमार्थ रुप से सत् है। अर्थक्रिया और पदार्थ की सत्ता में कार्य-कारणभाव है । अर्थक्रिया व्यापक है तथा पदार्थ की सत्ता व्याप्य है। अर्थक्रिया क्रम से होती है या युगपद् ? नित्यपदार्थ में क्रम या युगपद् दोनो प्रकार से अर्थक्रिया नहीं होती। इसलिये सत्ता की व्यापक अर्थक्रिया का अभाव है तो व्याप्य ऐसी सत्ता का भी अभाव होने से अविनश्वर स्वभाव की वस्तु का भी अभाव हो जाता है।

(A-80-81-82-83-84) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहकर नष्ट हो जाता है। इस अनुसार बौद्धो का कहना है (इस विषय में बौद्धो का तर्क है कि....) अपने कारणो से उत्पन्न होता पदार्थ, क्या विनाश के स्वभाववाला उत्पन्न होता है कि अविनश्वर स्वभाववाला उत्पन्न होता है ? यदि ''अविनश्वर स्वभाववाले पदार्थ उत्पन्न होते है।'' ऐसा मानेंगें तो युगपद् से और क्रम से होनेवाली अर्थक्रिया स्वरुप व्यापक का अभाव होने से व्याप्य ऐसे पदार्थ का भी अभाव हो जायेगा। (**वस्तु की अपनी जो क्रिया हो, कि जिससे वस्तु पहचानी जाती हो, उसे अर्थक्रिया कहा जाता है।**) वह इस अनुसार-

जिस में अर्थक्रियाकारित्व हो वह वस्तु परमार्थ से सत् है। अर्थक्रिया में प्रवतित नित्यपदार्थ क्या क्रम से प्रवर्तित है या युगपद् से प्रवर्तित है ? अर्थात् नित्यपदार्थ अर्थक्रिया क्रम से करते है कि युगपद् करते है ?

नित्यपदार्थ क्रम से अर्थक्रिया नहीं करता। क्योंकि, (यदि वह क्रम से अर्थक्रिया करता है, ऐसा कहोंगें तो) प्रश्न होगा कि, एक अर्थक्रिया के काल में दूसरी अर्थक्रिया करने का स्वभाव उसका होता है या नहीं ?

यदि ऐसा कहेंगें कि ''एक अर्थक्रिया के काल में दूसरी अर्थक्रिया करने का स्वभाव होता है।'' तो प्रश्न होगा कि क्रम से कैसे करते है ? अर्थात् दो अर्थक्रियाओ को एकसाथ करने का स्वभाव सिद्ध होने से क्रम से अर्थक्रिया करते है, यह बात उड जाती है।

(नित्यवादि की मान्यता है कि... नित्य में यद्यपि सर्व अर्थक्रियाएं करने का स्वभाव सदा विद्यमान होता है। परन्तु जो-जो कार्यो के उत्पादक अन्य सहकारी कारण जब जब मिल जाते है। तब नित्य तत् तत् कार्य को उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार सहकारी कारणो के क्रम से नित्यपदार्थ भी क्रम से अर्थक्रिया करते है। सहकारी कारण तो अनित्य है, इससे उसका सन्निधान क्रम से ही हुआ करता होता है। यह नित्यवादि तर्क करते है कि,)

नित्य तो युगपद् अर्थक्रिया करने के लिये समर्थ है। परन्तु कारणसामग्री अनित्य होने से क्रम से सन्निधान होने के कारण नित्य में क्रम से अर्थक्रिया होती है - **तब क्षणिकवादि प्रश्न करते है कि-**

उस सहकारी से वह नित्यपदार्थ में क्या कोई अतिशय किया जाता है या नहि ?

यदि आप कहेंगें कि सहकारी से नित्यपदार्थ में अतिशय होता है, **तो हमारा प्रश्न है कि...**

सहकारि द्वारा नित्य में अतिशय किया जाता है, तब पहले के स्वभाव के परित्याग द्वारा किया जाता है या परित्याग किये बिना किया जाता है ?

यदि आप कहेंगें कि पूर्वस्वभाव के त्यागपूर्वक सहकारी नित्य में अतिशय करता है तो उससे मनमें जिसका चिन्तन भी न किया हो ऐसी अनित्यत्व की आपत्ति आयेगी। क्योंकि उसके अपने नित्यस्वभाव का सहकारि के सन्निधान से त्याग किया है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब यदि आप कहेंगे कि सहकारी पूर्वस्वभाव का परित्याग नहीं करता। तो.... हमारा प्रश्न है कि नित्य के उपर सहकारिकृत उपकार नहीं होता तो, सहकारिकी अपेक्षा किस लिये रखे ?

तो नित्यवादि कहते है कि.... सहकारीकारण नित्यपदार्थो में कोई नवीन अतिशय उत्पन्न नहीं करता तथा नित्यपदार्थ के पूर्वस्वभाव का विनाश भी नहीं करता, तो भी नित्यपदार्थ विशिष्टकार्य की उत्पत्ति के निमित्त से अकिंचित्कर सहकारिओं की भी अपेक्षा रखते है और वह सहकारिओ के साथ मिलकर नित्य विशिष्ट कार्यो को उत्पन्न करता है।

क्षणिकवादि कहते है कि... आपकी यह बात अयुक्त है। क्योंकि कहा है कि...

''पर पदार्थ यदि कोई कार्य करे अथवा कोई प्रयोजन सिद्ध कर दे, तो ही उसकी अपेक्षा की जाती है। जो अकिंचित्कर है, उसकी अपेक्षा किसके द्वारा की जाती है ? किसके भी द्वारा नहि की जाती है।''

अब आप कहेंगें कि नित्यपदार्थों में प्रथम अर्थक्रिया करने के समय, द्वितियादि समयो में होनेवाले कार्यो को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता। (अर्थात् द्वितीयादि क्षणो में होनेवाली अर्थक्रिया नहीं होती।) तथा द्वितीयादि समयो में जब वह कार्य होनेवाला हो, तब उसमें सामर्थ्य आ जाता है।''

इस अनुसार होने पर भी आप ही बताये कि नित्यता कहाँ रही ? अर्थात् नित्यता की हानि ही हो जायेगी, क्योंकि नित्य में जो सामर्थ्य प्रथम समय पर नहीं था, वह द्वितीय समय में उत्पन्न हो जाता है और कोई भी अविद्यमान स्वभाव का उत्पन्न होना वही अनित्यता है।

अब यदि आप ऐसा कहेंगे कि.... नित्य पदार्थ युगपद् अर्थक्रिया को करते है। -

तो प्रथम क्षण में ही सारी अर्थक्रियाएं हो जाने से द्वितीयादि क्षणो में नित्यपदार्थ अकर्ता बना जायेगा। कहने का मतलब यह है कि नित्यपदार्थने प्रथम क्षण में ही द्वितीयादि अनंतक्षणो में होनेवाली अर्थक्रियाएं कर डाली। तो फिर नित्यपदार्थ द्वितीयादि क्षणो में क्या करेगा ? अब तो प्रथम क्षण में जो कर्ता था, वह अब अकर्ता बन जायेगा। उपरांत, प्रथम क्षण में अर्थक्रिया करने के कारण नित्यपदार्थ सत् था, वह अब द्वितीयादि क्षण में असत् हो जायेगा। इसलिये उसकी नित्यता नहीं रहेगी। इसलिये उसमें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व रुप में परिवर्तन होने रुप अनित्यता आ पडेगी।

यदि आप ऐसा कहेंगे कि - ''नित्यपदार्थ का ऐसा स्वभाव है कि, प्रथम समय में की हुई सारी अर्थक्रियाओं को वह द्वितीयादि क्षणो में बारबार करता है।''

परन्तु आपकी यह बात ग्राह्य नहीं बन सकती। क्योंकि किया गया कार्य का पुन: करण असंभवित है। अर्थात् प्रथम समय में जो कार्य उत्पन्न हो गया है उसे नित्यपदार्थ किस प्रकार दूसरी क्षणो में उत्पन्न कर सकता है ? उपरांत, नित्यपदार्थ का स्वभाव प्रथम क्षण में ही सब अर्थक्रियाएं करने का हो, तो द्वितीयादि क्षण में होनेवाली सब अर्थक्रियाएं भी प्रथम समय में ही संपन्न हो जायेगी, क्योंकि, उसका वही स्वभाव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और यदि.... ''द्वितीयादि क्षणो में होनेवाले कार्यो को प्रथम क्षण में करने का स्वभाव नित्यपदार्थ का नहीं है।'' ऐसा मानोंगें तो उसका अनित्यत्व का प्रसंग स्पष्ट ही है।

इसलिये इस अनुसार नित्यपदार्थ की क्रम से या युगपद् से अर्थक्रिया का अभाव होने से स्वकारणो से अविनश्वर स्वभाववाले नित्यपदार्थ की उत्पत्ति (मान्य) नहीं बनती है। अर्थात् नित्यपदार्थ में क्रम से या युगपद् अर्थक्रिया नहीं बनती। इससे ''स्वकारणो से पदार्थ अविनश्वर अर्थात् नित्यस्वभाववाला उत्पन्न होता है।'' यह बात प्रमाणबाधित है।

अब आप ऐसा कहेंगे कि ''स्वकारणो से पदार्थ विनश्वरस्वभाववाला उत्पन्न होता है।''-

तो इस पक्ष में हमारे द्वारा माने गये सर्वपदार्थो का 'क्षणिकत्व' कोई भी विघ्न के बिना सिद्ध हो जाता है। अर्थात् हमारा क्षणिक सिद्धांत निर्बाध स्वरुप से सिद्ध होता है। इसलिये ही कहा है कि....

''पदार्थो के विनाश में पदार्थो की उत्पत्ति ही कारण मानी जाती है।(अर्थात् पदार्थ का ऐसा स्वभाव होता है कि उत्पत्ति की दूसरी क्षण में ही नाश हो जाना। इससे पदार्थ के नाश में उत्पत्ति कारण बनती है।) और जो पदार्थ उत्पन्न होने के बाद अनंतर क्षण में नष्ट नहीं होता, उसको बाद में कौन नष्ट करेगा ? (अर्थात् वह नित्य बन जायेगा। कभी भी नष्ट नहीं होगा। परन्तु वैसा तो है ही नहीं।)

नन्वनित्यत्वे सत्यपि यस्य घटादिकस्य यदैव मुद्गरादिसामग्रीसाकल्यं तदैव तद्विनश्वरमाकल्पते न पुनः प्रतिक्षणं, ततो विनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति । तदेतदनुपासितगुरोर्वचः, यतो मुद्गरादिसन्निधाने सति योऽस्य घटादिकस्यान्त्यावस्थायां विनाशस्वभावः स स्वभावस्तस्यैवोत्पत्तिसमये विद्यते न वा । विद्यते चेत्, आपतितं तर्हि तदुत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्वरत्वम् । अथ न विद्यते स स्वभाव उत्पत्तिसमये, तर्हि कथं पश्चात्स भवेत् । अथेदृश एव तस्य स्वभावो यदुत कियन्तमपि कालं स्थित्वा तेन विनंष्टव्यमिति चेत्, तर्हि मुद्गरादिसन्निधानेऽप्येष एव तस्य स्वभावः स्यात् । ततो भूयोऽपि तेन तावत्कालं स्थेयम् । एवं च मुद्गरादिघातशतपातेऽपि न विनाशो भवेत् । जातं कल्पान्तस्थायित्वं घटादेः । तथा च जगद्व्यवहारव्यवस्था विलोपपातकपङ्क्लिता । इत्यभ्युपेयमनिच्छुनापि क्षणक्षयित्वं पदार्थानाम् । प्रयोगस्त्वेवम् । यद्विनश्वरस्वभावं तदुत्पत्तिसमयेऽपि तत्स्वरूपं, यथान्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम् । विनश्वरस्वभावं च रूपरसादिकमुदयत आरभ्येति स्वभावहेतुः । तदेवं विनाशहेतोरकिंचित्करत्वात् । स्वहेतुत एव पदार्थानामनित्यानामेवोत्पत्तेः क्षणिकत्वमवस्थितमिति । [A-85]ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः, कथं तर्हि स एवायमिति ज्ञानम् । उच्यते । निरन्तरसदृशापरापरक्षणनिरीक्षणचैतन्योदयादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणप्रलयकाल एव दीपकलिकायां दीपकलिकान्तरमिव तत्सदृशमपरं

(A-85) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षणान्तरमुदयते । तेन समानाकारज्ञानपरंपरापरिचयचिरतरपरिणामान्निरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः प्रसभं प्रादुर्भवति । दृश्यते च यथा लूनपुनरुत्पन्नेषु नखकेशकलापादिषु स एवायमिति प्रतीतिः, तथेहापि किं न संभाव्यते सुजनेन । तस्मात्सिद्धमिदं यत्सत्तत्क्षणिकमिति । अत एव युक्तियुक्तमुक्तमेतत् क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति ।

टीकाका भावानुवाद :

शंका : पदार्थ अनित्य है, यह बात सही, किन्तु घट इत्यादिक पदार्थो के नाशक हेतु मुद्गर इत्यादिक संयोग हो तब ही घटादिका विनाश होता है। इसलिये घटादिको प्रतिक्षण विनाशी मानना उचित नहीं है। इसलिये विनाशक कारणो की अपेक्षावाले अनित्यपदार्थो की भी स्थिति वहाँ तक तो माननी ही पडेगी कि जहाँ तक विनाशक कारणो का संयोग नहीं होता। इससे अनित्य पदार्थ भी कुछ समय रहनेवाले है, प्रतिक्षण विनाशी = क्षणिक नहीं है।

समाधान : ऐसी शंका करनेवाले व्यक्तिने गुरु की उपासना द्वारा ज्ञान प्राप्त किया हो ऐसा लगता नहीं है। **क्योंकि हमारा आपको प्रश्न है कि...** घटादिकी नाशक मुद्गरादिसामग्री उपस्थित होने पर भी क्या घटादिका अंतिम समय पे विनाश होनेवाला है, वह विनाश का स्वभाव घटादिकी उत्पत्ति के समय से ही है या उत्पत्ति के समय से नहीं है ?

यदि आप ऐसा कहेंगें कि, "उत्पत्ति के समय से ही घटादिका विनाश स्वभाव होता है।" तब तो उत्पत्ति के बाद तुरंत ही घटादिका विनाश हो जाने की आपत्ति आ जायेगी।

यदि आप ऐसा कहेंगें कि "पदार्थ की उत्पत्ति के समय में विनश्वर स्वभाव (पदार्थमें) नहीं होता।"

तो हमारा प्रश्न है कि "वह विनश्वर स्वभाव पदार्थ में पीछे से किस प्रकार से आता है ?

यदि आप ऐसा कहेंगें कि "पदार्थ में उत्पत्ति के समय विनाश स्वभाव नहीं होता परंतु उसका ऐसा स्वभाव होता है कि, उत्पत्ति के बाद कुछ काल पदार्थ रहकर नष्ट होता है।

आपकी यह बात भी उचित नहीं है। क्योंकि, मुद्गरादि नाशक सामग्री उपस्थित होने पर भी वह पदार्थ का वह स्वभाव रहेगा। अर्थात् मुद्गरादि सामग्री के सद्भाव में भी पदार्थ कुछ काल रहकर ही नष्ट होगा और इससे पदार्थ का कुछ काल रहने का स्वभाव होने के कारण सेंकडो मुद्गरादि के प्रहार होने पर भी नाश नहीं होगा और कल्पांतकाल तक घटादि के रहने की आपत्ति आयेगी। इससे नाश्य-नाशक, मृत्यु आदि जो जगतव्यवस्था है, उसका लोप करके पापरुपी दलदल (कादव--कीचड) से आप लेपायमान हो जायेंगे।

इसलिये आपकी इच्छा न होने पर भी पदार्थो का क्षणक्षयित्व मानना ही पडेगा। उपरांत पदार्थो के क्षणक्षयित्व को सिद्ध करता हुआ अनुमानप्रयोग इस अनुसार है -

"यद्विनश्वरस्वभावं तदुत्पत्तिसमयेऽपि तत्स्वरुपं, यथा अन्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरुपम्।" अर्थात्

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो (घटादिका) विनश्वर स्वभाव है, वह घटादिकी उत्पत्ति के प्रथम समय में भी वही स्वरुप में ही होता है। अर्थात् घटादि उत्पत्ति के प्रथम समयमें भी विनश्वर स्वभाववाला होता है। जैसे कि, अंत्यक्षणवर्ति घट का विनश्वरस्वभाव होता है। कहने का मतलब यह है कि, घटादिका अंतिम समय में विनश्वर स्वभाव हो तो उत्पत्ति के प्रथम समय में वह स्वभाव निश्चित होना चाहिए। क्योंकि उत्पत्ति के प्रथम समय में विनश्वरस्वभाव था तब ही अंतिम समय में आया न ? यदि उत्पत्ति के प्रथम समय में भी विनश्वरस्वभाव नहीं मानोंगें तो अंतिम समय में वह स्वभाव किस तरह आ गया ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होगा। इससे उत्पत्ति के प्रथम समय में भी विनश्वर स्वभाव होता है। वही अंतिम समय में भी होता है। ऐसा मानना ही पडेगा।

इसी प्रकार जगत के समस्त रुप-रसादि भी अंत में विनश्वर है और वह विनश्वर स्वभाव रुपादि के उदय से आरंभ करके ही होते है।

इसलिये इस अनुसार विनाशकसामग्री अकिंचित्कर बन जाती है और विनश्वर स्वभाव स्वरुप अपने स्वभाव से ही अनित्यपदार्थो की उत्पत्ति होती है और पलभर रहकर नष्ट हो जाते है। अर्थात् विनश्वर स्वभावरुप स्वकारण से ही अनित्य पदार्थ उत्पन्न होकर क्षणभर रहकर नष्ट हो जाते है।

शंका : यदि पदार्थ क्षण में नाश होनेवाले है तो किस प्रकार पदार्थ को देखकर ''वह यही है'' ऐसा ज्ञान होता है ? कहने का मतलब यह है कि पदार्थ क्षण में नाश होता हो तो, थोडे समय पहले देखे गये घट में ''यह वही घट है'' ऐसा ज्ञान किस तरह होता है ? क्योंकि थोडे समय पहले देखा हुआ घट तो नष्ट हो गया था।

समाधान : निरन्तर सदृश अपर-अपर क्षण निरीक्षण करनेवाले चैतन्य के उदय से तथा अविद्या के अनुबंध से जैसे पूर्वक्षण के विनाश समय में ही दीपककी ज्योत में दूसरी उसके समान ज्योत उदित होती है। (तो भी ''वह यही दीपकलिका (ज्योत) है'' ऐसा ज्ञान होता है।) वैसे क्षण के विनाश बाद, उस क्षण के समान दूसरी क्षण का उदय होता है, फिर भी 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होता है।

इस प्रकार बारबार समान आकारवाली क्षण की परंपरा को देखते, समानाकारज्ञानकी परंपरा के दीर्घकाल के परिचय के परिणाम से तथा सतत समान आकारवाली क्षणो के उदय से पूर्वक्षणो का अत्यंत उच्छेद होने पर भी, **''यह वही है''** ऐसा अध्यवसाय एकाएक (अचानक) पैदा होता है। (परन्तु वह भ्रम है, क्योंकि..) जैसे एकबार काटे हुअे नाखून - केश (बाल) का समूह, पुनः उत्पन्न होगा तब नाखून-केश के समूह में भी ''वह यही है'' ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु वह भ्रम है।

इससे क्षणविनश्वर पदार्थ होते है, फिर भी एक क्षण के विनाश के साथ दूसरी क्षण समान आकारवाली उत्पन्न होती है। इसलिए ''वह यही है'' ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु उससे पदार्थो के क्षणविनश्वरत्व का हनन नहीं होता। इस वस्तु को सज्जन (शंकाकार) द्वारा क्यों नहीं सोचा जाता ?

इसलिये सिद्ध होता है कि...... **''यत्सत्तत्क्षणिकम्''** अर्थात्''जो सत् है वह क्षणिक है।''

इससे ''सर्व संस्कार क्षणिक है।'' यह हमारा कहा हुआ युक्तियुक्त है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ प्रस्तुतं प्रस्तूयते-क्षणिकाः **सर्वसंस्कारा इत्यत्रेतिशब्दात्प्रकारार्थात् नास्त्यात्मा कश्चन, किं तु ज्ञानक्षणसंताना एव सन्तीत्यादिकमप्यत्र गृह्यते** । ततोऽयमर्थः **क्षणिकाः सर्वे पदार्थाः, नास्त्यात्मेत्याद्याकारा, एवमीदृशी यका** 'स्वार्थे कप्रत्यये' **या वासना पूर्वज्ञानजनिता तदुत्तरज्ञाने शक्तिः क्षणपरंपराप्राप्ता मानसी प्रतीतिरित्यर्थः । स मार्गो नामार्यसत्यं, इह बौद्धमते विज्ञेयोऽवगन्तव्यः । सर्वपदार्थक्षणिकत्वनैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्ग इत्यर्थः । स च निरोधस्य कारणं द्रष्टव्यः । अथ चतुर्थमार्यसत्यमाह । निरोधो निरोधनामकं तत्त्वं, मोक्षोऽपवर्ग उच्यतेऽभिधीयते । चित्तस्य निःक्लेशावस्थारूपो निरोधो मुक्तिर्निगद्यत इत्यर्थः । एतानि दुःखादीन्यार्यसत्यानि चत्वारि यानि ग्रन्थकृतात्रानन्तरमेवोक्तानि तानि सौत्रान्तिकमतेनैवेति विज्ञेयम् ।।७।।**

टीकाका भावानुवाद :

अब प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या की जाती है। **"क्षणिका सर्वसंस्कारा इति"** यहां **"इति"** शब्द प्रकारवाचि है। इससे "कोई आत्मा नहीं है, परन्तु ज्ञानक्षण संतान ही है।" अर्थात् आत्मा कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, परंतु पूर्वापरज्ञान के प्रवाह स्वरुप संतान ही है। इत्यादि प्रकारो का भी संग्रह हो जाता है। इसलिए श्लोक का फलितार्थ यह है कि **"सब पदार्थ क्षणिक है, आत्मा नहीं है।"** इत्यादि प्रकार की जो वासना है कि जिसको बौद्धमत में **"मार्ग"** नाम का आर्यसत्य कहते है।

प्रश्न : वासना क्या है ?

उत्तर : पूर्वज्ञान से उत्पन्न होनेवाले उत्तरज्ञान में, पूर्वज्ञान की क्षणपरंपरा की जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे वासना या मानसिक प्रतीति कहते है और उस वासना को बौद्धमत में **मार्ग** नाम का आर्यसत्य कहा जाता है। **कहने का भावार्थ यह है कि....** "सब पदार्थो को क्षणिक मानने स्वरुप तथा नैरात्म्यादि का (आत्मा नहीं है एसा) स्वीकार करने स्वरुप आकारवाले चित्त विशेष को **मार्ग** कहा जाता है। **वह मार्ग आर्यसत्य निरोध का कारण है। अब चौथा आर्यसत्य कहते है** - निरोध नामके तत्त्व को मोक्ष=अपवर्ग कहा जाता है। अर्थात् चित्त की निक्लेश अवस्थास्वरुप निरोध को मुक्ति कहते है। जो ये दुःखादि चार आर्यसत्य, ग्रंथकारश्री के द्वारा कहे गये वह (बौद्ध के चार भेद में से) सौत्रान्तिक मत की अपेक्षा से कहे गये है, ऐसा जानना। ।।७।।

वैभाषिकादिभेदनिर्देशं विना सामान्यतो बौद्धमतेन तु द्वादशैव ये पदार्था भवन्ति तानपि संप्रति विवक्षुः श्लोकमेनमाह-

(३५)वैभाषिकादि उत्तर भेदो के निर्देश बिना सामान्य से बौद्धदर्शन द्वारा (माने गये) जो बारह पदार्थ है, वे बारह पदार्थ कहने की इच्छावाले ग्रंथकारश्री इस श्लोकको कहते है।

(३५) बौद्धो के चार निकायोका स्वरुप बौद्धदर्शननिरुपणोत्तर दीए गए विशेषार्थ में देखना।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(मू. श्लो.) पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि [A-86]च ।। ८।।

श्लोकार्थ : श्रोत्रादि पाँच इन्द्रिय, शब्दादि पाँच विषय, मन और सुखादि धर्मो का आयतन (अतीन्द्रियविषय) ये बारह **"आयतन"** है।

व्याख्या-पञ्चसंख्यानीन्द्रियाणि श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शन[(A)]रुपाणि । शब्दाद्याः शब्दरुपरसगन्धस्पर्शा पञ्च विषया इन्द्रियगोचराः । मानसं चित्तं यस्य शब्दायतनमिति नामान्तरम् । धर्माः सुखदुःखादयस्तेषामायतनं गृहं शरीरमित्यर्थः । एतान्यनन्तरोक्तानि द्वादशसंख्यान्यायतनान्यायतनसंज्ञानि तत्त्वानि, चः समुच्चये, न केवलं प्रागुक्तानि चत्वारि दुःखादीन्येव, किं त्वेतानि द्वादशायतनानि च भवन्ति । एतानि चायतनानि क्षणिकानि ज्ञातव्यानि । यतो बौद्धा अत्रैवमभिदधते । अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वं प्रागुक्तन्यायेनाक्षणिकान्निवर्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते । तथा च सति सुलभं क्षणिकत्वानुमानं[A-87], यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा प्रदीपकलिकादि । सन्ति च द्वादशायतनानीति । अनेन चानुमानेन द्वादशायतनव्यतिरिक्तस्यापरस्यार्थस्याभावात्, द्वादशस्वायतनेष्वेव क्षणिकत्वं व्यवस्थितं भवतीति । तदेवं सौत्रान्तिकमतेन चत्वारि दुःखादीनि तत्त्वानि ।

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय, ये पाँच इन्द्रियाँ है। शब्द, रुप, रस, गंध और स्पर्श, ये पाँच इन्द्रियो के विषय है। मन कि जिसका दूसरा नाम शब्दायतन है। सुखादि धर्मो का आयतन = गृह शरीर है। यह नजदीक में कहे गये बारह आयतन है। श्लोक में सूचित "च" समुच्चयार्थक है। कहने का मतलब यह है कि केवल पहले कहे गये दुःखादि चार आर्यसत्य ही तत्त्व नहीं है, परन्तु बारह आयतन भी तत्त्व है। तथा ये आयतनो को क्षणिक जानना, क्योंकि बोद्धो ने इस विषय में इस अनुसार कहा है कि (**"यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदिति"** अर्थात् जो अर्थक्रियाकारि है, वह परमार्थसत् है। यह वचनानुसार बारह आयतनो में भी अर्थक्रियाकारित्व है, इसलिए बारह आयतन भी परमार्थ से सत् है।) और **"यत् सत् तत् क्षणिकम्"** यह पहले कहे गये न्याय से बारह आयतनो में से अक्षणिकत्व निवर्तमान होने से क्षणिकत्व ही आकर खडा रहता है। (कहने का मतलब यह है कि, पहले कहा है कि जो अर्थक्रियाकारि हो, वह सत् है और जो सत् हो वह क्षणिक होता है। इसलिये बारह आयतनो में अर्थक्रियाकारित्व होने से सत् तो है ही। और अक्षणिक में क्रम से या युगपद् से अर्थक्रिया नहीं बनती। इसलिए बारह आयतनो में अर्थक्रियाकारित्व का स्वीकार करने से, उसे क्षणिक भी स्वीकार करना

(A) "आयतनानीति द्वादशायतनानि - चक्खायतनं, रुपायतनं, सोतायतनं, सद्दायतनं, घानायतनं, गन्धायतनं, रसायतनं, कायायतनं, फोट्टब्बायतं, मनायतनं धम्मायतनं ति ।" [वि, मृ. पृ. ३३४] (?)

(A-86-87) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही पडेगा ।) इस अनुसार होने पर भी आयतनो में क्षणिकत्व को सिद्ध करता हुआ अनुमान भी सुलभ है। जैसे कि ''**यत्सत्तत्क्षणिकं यथा प्रदीपकलिका ।**'' इस अनुमान से जैसे दीपककी ज्योत सत् है तो क्षणिक भी है। वैसे बारह आयतन सत् है, तो क्षणिक है ही । इस अनुमान से बारह आयतन से अतिरिक्त अन्य पदार्थ का अभाव है। (क्योंकि जगत् में जो कुछ सत् है, उसका इस बारह आयतनो में अन्तर्भाव (समावेश) हो जाता है।) इससे क्षणिकत्व बारह आयतनो में ही रहता है। इस अनुसार सौत्रान्तिक संमत मत से चार दुःखादि तत्त्व है।

सामान्यतो बौद्धमतेन चायतनरूपाणि द्वादश तत्त्वानि प्रतिपाद्य, संप्रति प्रमाणस्य विशेषलक्षणमत्राभिधानीयम्, तच्च सामान्यलक्षणाविनाभावीति प्रथमं प्रमाणस्य सामान्यलक्षणमुच्यते । "[A-88]प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [प्र.वा. १/३ इति] । **अविसंवादकं ज्ञानं प्रमाणम् । [A-89]अविसंवादकत्वं चार्थप्रापकत्वेन [A-90]व्याप्तमर्थाप्रापकस्याविसंवादित्वाभावात्, केशोण्डुकज्ञानवत्[B-4] । अर्थप्रापकत्वं च प्रवर्तकत्वेन व्यापि, अप्रवर्तकस्यार्थाप्रापकत्वात् । तद्वदेव प्रवर्तकत्वमपि विषयोपदर्शकत्वेन व्यानशे । न हि ज्ञानं हस्ते गृहीत्वा पुरुषं प्रवर्तयति, स्वविषयं तूपदर्शयत्प्रवर्तकमुच्यते प्रापकं चेति । स्वविषयोपदर्शकत्वव्यतिरेकेण नान्यत्प्रापकत्वम् । तच्च शक्तिरूपम् । उक्तं च** "प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं तदेव च प्रापकत्वम्" [ ] **इति । स्वविषयोपदर्शके च प्रत्यक्षानुमान एव, न ज्ञानान्तरम् । अतस्ते एव लक्षणार्हे, तयोश्च द्वयोरप्यवि[A]संवादकत्वमस्ति लक्षणम् । प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधकं वस्तु दृष्टतयावगतं सत्प्रदर्शितं भवति, अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारितयाध्यवसितं सत्प्रदर्शितं भवतीत्यनयोः स्वविषयदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् । यद्यपि च प्रत्यक्षस्य क्षणो ग्राह्यः, स च निवृत्तत्वान्न प्राप्यते, तथापि तत्संतानोऽध्यवसेयः, प्रवृत्तौ प्राप्यत इति । [B-5]संतानविषयं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम् । [B-6]अनुमानस्य तु लिङ्गदर्शनेन विकल्प्यः स्वाकारो ग्राह्यो, न बाह्योऽर्थः । प्राप्यस्तु बाह्यः स्वाकाराभेदेनाध्यवसित इति । तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यम् । तदुक्तम्-**"न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते" इति[(B)] । **प्राप्यमाणं च वस्तु नियतदेशकालाकारं प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोः प्रत्यक्षानुमानयोरेव प्रामाण्यं, न ज्ञानान्तरस्य । तेन पीतशङ्खादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात्प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवति, तेषां प्रदर्शितार्थाप्रापकत्वात् । यद्देशकालाकारं हि वस्तु तैः प्रदर्शितं, न तत्तथा प्राप्यते, यच्च यथा प्राप्यते, न तैस्तत्तथा प्रदर्शितं, देशादिभेदेन वस्तुभेदस्य निश्चितत्वादिति न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता, ततो न**

(A) "तथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति । अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति । अत एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके । तेन ते प्रमाणे । नान्यद्विज्ञानम्" [न्यायवि० टी० पृ० ११]

(B) उद्धृतमिदम् - तत्त्वोप० पृ०-२९ ।।

(A-88-89-90) - तु० पा० प्र० प० । (B-4-5-6) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रामाण्यमपि । नापि प्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं शब्दादिकं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रमाणं, तत्प्रदर्शितस्य देशाद्यनियतस्यार्थस्यासत्वेन प्राप्तुमशक्तेः । तत्प्रदर्शितार्थस्यानियतत्वं च साक्षात्पारंपर्येण वा प्रतिपाद्यादेरर्थस्यानुपपत्तेः । ततः स्थितं प्रदर्शितार्थप्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं प्रामाण्यं द्वयोरेव, प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्तदर्शनपृष्ठभाविना [B-7]विकल्पेन निश्चीयते । तथाहि-प्रत्यक्षं दर्शनापरनामकं यतोऽर्थादुत्पन्नं तद्दर्शकमात्मानं स्वानुरूपावसायोत्पादनान्निश्चिन्वदर्थाविनाभावित्वं प्रापणशक्तिनिमित्तं प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायकमपेक्षतेऽर्थानुभूताविव । ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणं युक्तम् ।। ८ ।।

टीकाका भावानुवाद :

सामान्य से बौद्धमतानुसार बारह आयतनस्वरुप तत्त्वो का प्रतिपादन करके अब प्रमाण का विशेष लक्षण कहना चाहिये। (अर्थात् बौद्धमत के देव और तत्त्व का स्वरुप कहा गया। इसलिये अब तीसरे प्रमाण का विशेष लक्षण कहना चाहिये।) (परन्तु) विशेषलक्षण सामान्य लक्षण को अविनाभावि होता है। इसलिये प्रथम प्रमाण का सामान्य लक्षण कहा जाता है। (कहने का मतलब यह है कि प्रमाण का विशेष लक्षण तो तब ही कहा जा सकता है जब प्रमाण का सर्व सामान्य लक्षण मालूम हो।)

"अविसंवादिज्ञान को प्रमाण कहते है।" इससे अविसंवादिज्ञान ही प्रमाण की कक्षा में आता है। जो ज्ञान अर्थ का प्रापक हो वही ज्ञान अविसंवादि कहा जाता है। जो ज्ञान अर्थ का प्रापक न हो, वह ज्ञान अविसंवादि नहीं होता। जैसे कि केशोडुंक का ज्ञान (आकाश में सूर्य के प्रकाश के कारण बाहर घूमके आने के बाद मकान में सिके बाल जैसी या उडुंक = मच्छरों के जैसी रेखाएं और धब्बे हो ऐसा लगता है- उसे केशोडुंकज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान में बाल और मच्छररुप अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये वह प्रतीति अविसंवादि नहीं है, इसलिये प्रमाणरुप नहीं है।) अर्थप्रापकत्व प्रवर्तक के साथ व्याप्त होता है। अर्थात् अर्थप्रापकत्व प्रवर्तक के साथ अविनाभाव रखता है। क्योंकि जो ज्ञान प्रवर्तक नहीं है, वह ज्ञान अर्थ की प्राप्ति नहीं करा सकता। इस प्रकार प्रवर्तक भी विषयोपदर्शन के साथ अविनाभाव संबंध रखता है। (क्योंकि जो ज्ञान अपने विषय का यथार्थ उपदर्शन अर्थात् प्रतिभास या निश्चय कराता है, वही प्रवृत्ति में प्रयोजन बनकर प्रवर्तक बन सकता है और वह प्रापक भी कहलाता है। ज्ञान ज्ञाता पुरुष का हाथ पकडकर पदार्थ तक नहीं ले जाता। परन्तु ज्ञान अपने विषय को बताकर प्रवर्तक बनता है और प्रापक बनता है। (क्योंकि) अपना विषय बताने के सिवा दूसरी कोई प्रवर्तकता या प्रापकता ज्ञान में नहीं होती। ज्ञान की यह प्रापकता **'शक्ति स्वरुप'** है। कहा है कि **"प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं तदेव च प्रापकत्वम्"** अर्थात् प्रापणशक्ति को ही प्रामाण्य कहा जाता है और वह शक्ति को होना वही प्रापकत्व है। (अर्थात् अर्थ को प्राप्त करा देने की शक्ति को ही प्रामाण्य कहते है और वही शक्ति का (ज्ञानमें) होना वह प्रापकत्व है।)

(B-7) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष और अनुमान ही अपने विषय के उपदर्शक है। उनके सिवा ज्ञान स्वविषय का उपदर्शक नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान अपने विषय का यथार्थ ज्ञान कराता है। उसके सिवा दूसरा कोई ज्ञान नहीं है, जो वस्तु का यथार्थज्ञान करा सके। इससे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही लक्षण के लिये योग्य है। अर्थात् प्रत्यक्ष-अनुमान स्वविषय का यथार्थ उपदर्शक होने के कारण लक्षण के लिये योग्य है।

उपरांत अनुमान और प्रत्यक्ष दोनो का भी (सामान्य) लक्षण अविसंवादिकत्व है। प्रत्यक्ष अर्थक्रियासाधक (स्वलक्षणस्वरुप) वस्तु को साक्षात् विषय करके, उसका उपदर्शक बनता है और उससे उसमें प्रापकत्व आता है।

(कहने का आशय यह है कि, अर्थक्रिया के योग से मालूम होती वस्तु को साक्षात् विषय बनाकर प्रत्यक्ष उस वस्तु का उपदर्शक बनता है। उससे उसमें प्रापकत्व आता है।)

परन्तु अनुमान साक्षात् लिंग का दर्शन करके, उसके साथ अविनाभाव से (अव्यभिचरित रुप से) रहे हुए लिंगी का अध्यवसाय करके लिंगी का यथार्थ प्रदर्शन कराता है। (अर्थात् अनुमान पर्वत के उपर दीखते साक्षात् धूम लिंग का दर्शन करके, वह धूम (लिंग) के अविनाभाव से रहे हुए (अग्निरुप) लिंगी को बताने का काम करता है और वही अनुमान का प्रापकत्व है।)

इस अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान स्वविषय का उपदर्शक है, और इसलिये प्रापक भी है। अर्थात् स्वविषयोपदर्शकरुप प्रापक है। यानी कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो में स्वविषयोपदर्शकरुप प्रापकत्व है।

[**शंका :** आपकी मान्यता अनुसार पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। इससे प्रत्यक्ष से जो अर्थक्षण ग्राह्य होती है अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय अर्थक्षण था, वह तो नष्ट हो गया होने से प्रवृत्ति काल में रहेगी ही नहि। इसलिये वह अर्थक्षण को प्राप्त कराके किस प्रकार उपदर्शक (प्रापक) बनेगा ? और उससे किस प्रकार वे अविसंवादक बनेगा ? उपरांत उससे प्रत्यक्ष में प्रापकता और प्रापकतामूलक प्रमाणता भी किस प्रकार आयेगी ?]

समाधान : यद्यपि प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) का साक्षात् ग्राह्य विषय होनेवाला पदार्थ क्षणस्थायी है और वह द्वितीयक्षण में नष्ट हो जाने से दूसरी क्षण में प्राप्त नहीं होता। तो भी पदार्थ की जो संतान है वह अध्यवसेय = निश्चय से विषय बनती है। अर्थात् प्रत्यक्ष से उत्पन्न होनेवाला विकल्पज्ञान, उस पदार्थ की संतान को विषय बनाता है और उस संतानरुप विषय प्रवृत्ति के बाद प्राप्त होता है। इससे संतान को विषय बनाकर अर्थ को प्रदर्शित करने स्वरुप प्रापकत्व प्रत्यक्ष का प्रामाण्य है। अर्थात् प्रत्यक्ष संतान को विषय बनाकर अर्थ का उपदर्शकरुप प्रापक है। इसलिये प्रत्यक्ष में संतानविषयोपदर्शक रुप प्रापकत्व है और वही प्रत्यक्ष का प्रामाण्य है। संक्षिप्त में प्रत्यक्ष की प्रमाणता संतान को विषय बनाने द्वारा अर्थ को प्रदर्शित करना वह है।

(इससे प्रत्यक्ष में तत्क्षणवर्ती स्वलक्षणपदार्थ की दृष्टि से प्रापकता न बनेगी, परंतु संतान की दृष्टि से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रापकता है ही । उपरांत अनुमानात्मक विकल्प लिंगदर्शन से होता है । इससे अनुमान विकल्पोका ग्राह्यविषय=विकल्प्य स्वाकार होता है, बाह्यार्थ नहीं । कहने का मतलब यह है कि.... अनुमान विकल्पका विषय तो सामान्य पदार्थ अर्थात् विकल्प बुद्धि में प्रतिबिंबित स्वाकार होता है। परन्तु प्राप्यविषय तो बाह्य-स्वलक्षणरुप ही होता है और यह प्राप्य ऐसा बाह्य स्वलक्षण का आलंबनभूत स्वीकार के साथ "मैने जिसका अनुमान किया था उसको ही प्राप्त कर रहा हूं।" ऐसा अभेद अध्यवसाय होता है । इस अभेद का अध्यवसाय करके प्रवृत्ति करने से अर्थ प्रापकता सिद्ध हो जाती है। इससे अनुमान में भी प्राप्तविषय की अपेक्षा से स्वविषयोपदर्शनरुप प्रापकता और प्रापकतामूलक प्रामाण्य भी सिद्ध होता है। इसलिए अनुमान भी अविसंवादि होने से प्रमाण है।) **इसलिये कहा है कि....**

"प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा पदार्थ को जानकर प्रवृत्ति करनेवाले पुरुष की अर्थक्रिया में (कोई भी) विसंवाद नहीं रहता ।"

प्राप्त होनेवाली वस्तु नियतदेश, काल और आकार में ही प्राप्त होती है। अर्थात् जो देश में, जो काल में, जो आकारवाली वस्तु का प्रतिभास होता हो, वह जब उस देस, उस काल और उस आकार में उपलब्ध हो, तो ही यथार्थ अर्थप्रापकता कहा जा सकता है। इस प्रकार यथार्थ वस्तु के प्रदर्शक प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाणकक्षा में आते है। अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान दो में ही प्रामाण्य है। दूसरे ज्ञानो में प्रामाण्य नहीं है। इसलिये (प्रत्यक्ष और अनुमान के सिवा दूसरे मिथ्याज्ञान द्वारा अथवा रोग से अभिभूत आँख द्वारा प्राप्त होते ज्ञान द्वारा) पीतशंखादि को ग्रहण करनेवाले ज्ञानो में प्रापकत्व होने पर भी वे ज्ञानो में प्रामाण्य नहीं है। क्योंकि वे पीतशंखादि को ग्रहण करनेवाले ज्ञानो में यथार्थ अर्थप्रदर्शित करने स्वरुप प्रापकत्व नहीं है। (कहने का आशय यह है कि शंख सफेद होने पर भी अभिभूत रोग से आँख द्वारा पीला दिखाता है। यहाँ वह ज्ञान अर्थ का प्रापक बना, परन्तु शंख ने खुद जो श्वेत रंग प्रदर्शित किया था, वह श्वेतरंग का यथार्थ रुप से प्रदर्शित करनेवाला ज्ञान वह नहीं बना। अर्थात् शंख का विविक्षित ज्ञान न होने से, वह ज्ञान में यथार्थ अर्थप्रदर्शित करने स्वरुप प्रापकत्व नहीं है। इसलिये प्रामाण्य भी नहीं है।) उपरांत प्रत्यक्ष और अनुमान के सिवा दूसरे ज्ञानो में वस्तु जो देश की, जो काल में और जो आकारवाली उसके द्वारा बताई गई थी, वही देश में, वही काल में, वही आकारवाली उपलब्ध नहीं होती। और जो देश-काल-आकारवाली वस्तु प्राप्त की जाती है उस देश-काल-आकार में नहीं बताई गई होती। (कहने का मतलब यह है कि जो देस में, जिस काल में, जिस आकारवाला शंख था, वह श्वेत प्रदर्शित होने पर भी (पीलीये की बिमारी से अभिभूत आंखवाले को) उससे विपरीत पीत है, इस प्रकार से उपलब्ध होता है। तथा वर्तमान में जो पीताकार है, वह पहले पीताकाररुप में प्रदर्शित नहीं हुआ था। इसलिए "**पीतशंखः**" ज्ञान यथार्थ नहीं है।) उपरांत देशादि के भेद से वस्तु का भेद निश्चय से होता है। इस तरह प्रत्यक्ष और अनुमान के सिवा दूसरे ज्ञानो में प्रदर्शित अर्थ प्रापकता नहीं है। और इसलिये वे ज्ञानो में प्रामाण्य भी नहीं है। इसी तरह से प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाण से भिन्न शब्दजन्य आगमज्ञान भी प्रदर्शित अर्थ का प्रापक बनकर प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि, शब्द अनियत देश काल और आकारवाली वस्तु का प्रतिपादन करता है। जब वस्तु किसी न किसी देश,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल या आकार में रहती है। इससे शब्दजन्य आगमज्ञान अनियत देशादिवाली वस्तु का प्रतिपादन करता है तथा वह जिस वस्तु का प्रतिपादन करता है, वह वस्तु उस देश में, उस काल में, उस आकार में होती भी नहीं है और वस्तु जैसे देश-काल-आकार में होती है वैसी शब्दजन्य आगमज्ञान द्वारा प्रदर्शित नहीं की गई होती । इस तरह वस्तु का कथन करना वह शब्द का सामर्थ्य नहीं है । शब्द द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु अनियतदेशादिवाली होने के कारण न तो साक्षात् उपलब्ध होती है या न तो परंपरा से उपलब्ध होती है। (कहने का मतलब यह है कि प्रतिपाद्य वस्तु अनियतदेशादिवाली होती ही नहीं है। तो अनियतदेशादि का बतानेवाला शब्द किस तरह प्रापक बन सकता है ? और जो प्रापक न हो उसमें प्रामाण्य भी किस प्रकार हो सकता है ? हो ही नहीं सकता)

इसलिये तय (सिद्ध) होता है कि प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त करने की शक्ति को अविसंवादकता कहा जाता है और वही प्रामाण्य है। ऐसा प्रामाण्य प्रत्यक्ष और अनुमान दो में ही है।

प्रमाण की प्रापणशक्ति अर्थ - अविनाभावि होती है और उसका निश्चय निर्विकल्पक ज्ञान के बाद होनेवाले विकल्पज्ञान से होता है। वह इस प्रकार से है - दर्शन जिस का अपर नाम है वह प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं अर्थ से उत्पन्न होता है और अर्थ का प्रदर्शक बनता है। (और इस विषय में) अपना निश्चय अपने अनुरुप विकल्प की उत्पत्ति के द्वारा कर लेता है और यही उसके प्रामाण्य का स्वतः निश्चय है। (प्रत्यक्ष में प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है।) क्योंकि कोई भी ज्ञान में प्रापणशक्ति ही प्रामाण्यकी निमित्त बनती है और वह प्रापणशक्ति भी तब ही होती है कि जब ज्ञान का अर्थ के साथ अविनाभाव हो। अर्थात् ज्ञान अर्थ से साक्षात् या परंपरा से उत्पन्न हुआ हो। (कहने का आशय (मतलब) यह है कि निर्विकल्प दर्शन प्रत्यक्ष कहा जाता है। वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अर्थक्रियावाले सत्पदार्थ से उत्पन्न होता है और निर्विकल्प जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, उत्तरकाल में उसके अनुरुप विकल्प को भी उत्पन्न करता है। रक्तनिर्विकल्प में रक्तघट से (अर्थ से) उत्पन्न होने का निश्चय रक्तनिर्विकल्प से उत्पन्न होनेवाला **''रक्तमिदम्''** यह अर्थानुसारी विकल्प से उत्पन्न होता है। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्तर में होनेवाले अर्थानुसारी विकल्प के द्वारा अपना अर्थ के साथ अविनाभावपन का निश्चय करता है। इसी प्रकार 'स्व' की प्रापणशक्ति और उससे प्राप्त हुई प्रमाणता का निश्चय भी कर लेते है।

जैसे अर्थक्रिया से युक्त अर्थ का निश्चय निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वयं करता है। अन्यज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। वैसे उसकी प्रमाणता का निश्चय भी स्वयं भी करता है। दूसरें ज्ञानो की अपेक्षा नहीं करता।

इसलिये अविसंवादकत्व ही प्रमाण का निर्दोष लक्षण है। ॥८॥

अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं प्रमाणसंख्या नियमयन्नाह-

अब प्रमाण के विशेष लक्षण को कहने की इच्छावाले ग्रंथकारश्री प्रथम प्रमाण की संख्या का नियमन करते हुए कहते है कि -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(मूल श्लो०) प्रमाणे द्वे च विज्ञेये तथा सौगतदर्शने ।
प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा[अ] यतः ।।९।।

श्लोकार्थ : बौद्ध दर्शन में दो प्रमाण जानना। एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान, क्योंकि सम्यग्ज्ञान दो प्रकार से है। (इसलिए प्रमाण भी दो ही हो सकते है। अधिक नहीं।)

व्याख्या-तथाशब्दः प्रागुक्ततत्त्वापेक्षया समुच्चये, चशब्दोऽवधारणे, ततोऽयमर्थः । सौगतदर्शने द्वे एव प्रमाणे विज्ञेये, न पुनरेकं त्रीणि चत्वारि पञ्च षड्वा प्रमाणानि । एतेन चार्वाकसांख्यादिपरिकल्पितं प्रमाणसंख्यान्तरं बौद्धा न मन्यन्त इत्यावेदितं भवति । ते द्वे के प्रमाणे इत्याह 'प्रत्यक्षमनुमानं च' कुतो द्वे एव प्रमाणे इत्याह । सम्यगविपरीतं विसंवादरहितमिति यावज्ज्ञानं यतो हेतोर्द्विधा । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्द्विधैव न त्वेकधा त्रिधा वेति । अत्र केचिदाहुः-यथात्र द्विधेत्युक्ते हि द्विधैव न त्वेकधा त्रिधा वेत्येवमन्ययोगव्यवच्छेदः, तथा चैत्रो धनुर्धर इत्यादिष्वपि चैत्रस्य धनुर्धरत्वमेव स्यान्न तु शौर्योदार्यधैर्यादयः । तदयुक्तं यतः सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेऽप्याशङ्कितस्यैव व्यवच्छेदः । परार्थं हि वाक्यमभिधीयते । यदेव च परेण व्यामोहादाशङ्कितं तस्यैव व्यवच्छेदः । चैत्रो धनुर्धर इत्यादौ च चैत्रस्य धनुर्धरत्वायोग एव परैराशङ्कित इति तस्यैव व्यवच्छेदो नान्यधर्मस्य । इह चार्वाकसांख्यादय ऐकध्यमनेकधा च सम्यग्ज्ञानमाहुः, अतो नियतद्वैविध्यप्रदर्शनेनैकत्वबहुत्वे सम्यग्ज्ञानस्य प्रतिक्षिपति ।

टीकाका भावानुवाद :

श्लोक में "**तथा**" शब्द पहले कहे गये तत्त्व के साथ समुच्चय करने के लिए और "**च**" शब्द अवधारणार्थक है। इसलिये यह अर्थ होगा - सौगतदर्शन में दो ही प्रमाण जानना। परन्तु एक, तीन, चार, पांच या छः नहीं। इस कथन से चार्वाक-सांख्य आदि दर्शनो के द्वारा प्ररुपित हुए दो से अधिक दूसरे प्रमाण बौद्धोको मान्य नहीं है, यह सूचित होता है। **प्रश्न :** वे दो प्रमाण कौन से है ? **उत्तर :** प्रत्यक्ष और अनुमान, ये दो प्रमाण है। **प्रश्न :** किस कारण से दो ही प्रमाण है ? **उत्तर :** सम्यग् अर्थात् अविपरित = विसंवादरहित ज्ञान दो होने से प्रमाण भी दो प्रकार के ही है। "सर्ववाक्य सावधारण अर्थात् निश्चयात्मक होते है" इस न्याय से प्रमाण दो ही है। न तो एक प्रकार से या न तो तीन प्रकार से।

शंका : जैसे यहां "दो प्रकार है।" इस अनुसार कहते हुअे प्रमाण दो ही है। परन्तु एक प्रकार या तीन प्रकार से नहीं है। इस अनुसार अन्य के योग का व्यवच्छेद किया है। उस प्रकार "चैत्र धनुर्धर है" इसका अर्थ भी (अन्ययोगव्यवच्छेद के कारण) "चैत्र धनुर्धर ही है, उसमें शौर्य, औदार्य, धैर्य इत्यादि नहीं है।" ऐसा ही होना चाहिये। (कहने का मतलब यह है कि विशेषण के साथ "एव" कार का प्रयोग हो, तब

अ. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम् । प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत् ।। प्र. समु० १/२ ।। द्विविधं सम्यग्ज्ञानं । प्रत्यक्षमनुमानं चेति ।। [न्यायबि० १/२,३]

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''एव'' कार अयोगव्यवच्छेदक बनता है। अर्थात् वह जिसके साथ जुडा हुआ हो उसके अभाव का व्यवच्छेद करके स्वका सद्भाव को निश्चित करता है। जब आप 'यहाँ दो ही है,' उसमें अयोगव्यवच्छेदक **''एव''** कार का अर्थ ''एक या तीन नहीं है'' इस प्रकार का अन्ययोगव्यवच्छेदकबोधक अर्थ करते हो। इस प्रकार से अन्ययोगव्यवच्छेदक (अन्य भिन्न विशेषणो के योग (संबंध) का व्यवच्छेद) मान लेने से, आपत्ति यह आयेगी कि 'चैत्र धनुर्धर ही है', उसमें अन्ययोगव्यवच्छेदक ''एव'' कार का भी 'चैत्र में धनुर्धरत्व ही है'। अन्य शूरता, औदार्य, धैर्य आदि गुण नहीं है। ऐसा अन्य गुणो के निषेध का अर्थ प्राप्त होगा। इसलिये शूरता आदि गुणो के बिना धनुर्धरत्व भी निरर्थक सिद्ध होगा।)

समाधान : आपकी शंका योग्य नहीं है। क्योंकि सर्ववाक्य सावधारण होते है। इस न्याय में जिसकी आशंका हो उसके व्यवच्छेद के लिये है। वाक्य का प्रयोग पर के लिए कहा जाता है। अर्थात् वाक्य का प्रयोग दूसरो को समजाने के लिये किया जाता है। इसलिये दूसरे के व्यामोह से जो धर्मो की आशंका होती है, उसका व्यवच्छेद किया जाता है! जैसे कि, 'चैत्र धनुर्धर' में दूसरो के द्वारा चैत्र में धनुर्धरत्व के अभाव में ही आशंका की गई है। वह दूसरो की आशंका का व्यवच्छेद ही **'एव'** कार से होता है। अन्य धर्मो का नहीं।

यहां प्रमाण की संख्या के विषय में चार्वाक, सांख्य इत्यादि एक और अनेक प्रकार से सम्यग् ज्ञान कहते है। (और इसलिये सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से तथा अनेक प्रकार से होने से प्रमाण के भी एक या अनेक प्रकार होंगे।) इससे नियत दो प्रकार का सम्यग्ज्ञान कहा जाने से एक या अनेक प्रकार के सम्यग्ज्ञान का निषेध होता है।

एवं चायमेवकारो विशेषणेन विशेष्येण क्रियया च सह भाष्यमाणः क्रमेणायोगान्ययोगात्यन्तायोगव्यवच्छेदकारित्वात्त्रिधा भवति यद्विनिश्चयः- "अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव च । व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ।।१।।" **निपात एवकारः, व्यतिरेचको निवर्तकः-**"विशेषण-विशेष्याभ्यां क्रियया यः सहोदितः । विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि तस्यार्थोऽयं प्रतीयते ।।२।।" व्यवच्छेदफलं वाक्यं यतश्चैत्रो धनुर्धरः । पार्थो धनुर्धरो नीलं सरोजमिति वा यथा ।।३।।" [प्र० वा० ४/१९०-९२]

सम्यग्ज्ञानस्य च द्वैविध्य प्रत्यक्षपरोक्षविषयद्वैविध्यादवसेयम् । यतोऽत्र प्रत्यक्षविषयादन्यः सर्वोऽपि परोक्षो विषयः। ततो विषयद्वैविध्यात्तद्ग्राहके सम्यग्ज्ञाने अपि द्वे एव भवतो न न्यूनाधिके । तत्र यत्परोक्षार्थविषयं सम्यग्ज्ञानं, तत्स्वसाध्येन धर्मिणा च संबद्धादन्यतः सकाशात्सामान्येनाकारेण परोक्षार्थस्य प्रतिपत्तिरूपं, ततस्तदनुमानेऽन्तर्भूतमिति ।

टीकाका भावानुवाद :

इस प्रकार **''एव''** कार विशेषण, विशेष्य और क्रियापद के साथ में कह जाने से (संयोग होने से) अनुक्रम में अयोग, अन्ययोग और अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद करता है। इससे **''एव''** कारका तीन प्रकार से निश्चय

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। कहा है कि -

''व्यतिरेचक (अर्थात् व्यावृत्ति करनेवाला) निपात = ''**एव**'' कार (विशेषण के साथ प्रयुजित होकर) अयोग का, (विशेष्य के साथ प्रयुजित होकर) अन्ययोग का तथा (क्रियापद के साथ प्रयुजित होकर) अत्यंतायोग का व्यवच्छेद करता है।''

(यद्यपि वाक्यो में 'एव' कार का) प्रयोग न हो, फिर भी उसका यह अर्थ विशेषण, विशेष्य और क्रिया के साथ कही गई विवक्षा से प्रतीत होता ही है। क्योंकि सर्ववाक्य व्यावृत्ति के फलवाले होते है। अर्थात् सर्व वाक्य व्यवच्छेद करनेवाले होते है। (जैसे कि) (१) ''**चैत्रो धनुर्धर**'' में ''**एव**'' कार प्रयोग न होने पर भी विवक्षा से 'धनुर्धर' विशेषण के साथ वह जुडा हुआ ही है। चैत्र में धनुर्धरत्व का अभाव (अयोग) का व्यवच्छेद यह ''एव'' कार का फल है। (२) ''**पार्थो धनुर्धरः**'' प्रयोग में ''**एव**'' कार न होने पर भी विवक्षा से ''**पार्थ**'' विशेष्य के साथ जुडा हुआ ही है। उससे अन्ययोग का व्यवच्छेद होता है। (अर्थात् ''पार्थ ही धनुर्धर है.'' प्रयोग में पार्थ (अर्जुन) सिवा अन्य में धनुर्धरत्व का अयोग करना वह ''एव'' कार का फल है। (यहां याद रखना कि 'धनुर्धर' तो दूसरे बहोत होंगे, फिर भी अर्जुन में रहा हुआ विशिष्ट धनुर्धरत्व ही अर्जुन का पार्थ नाम रखने में निमित्त बना है। अर्थात् अर्जुन में धनुर्धरत्व का तादात्म्यसंबंध बताया है। इसलिए अर्जुन के सिवा अन्य में तादात्म्य संबंध से धनुर्धरत्व का अयोग कहने में दोष नहीं है।) (३) ''**नीलं सरोजम् अस्ति**'' में ''**एव**'' कार प्रयोग न होने पर भी विवक्षा से ''**अस्ति**'' के साथ ''**एव**'' कार जुडा हुआ ही है। इससे **अत्यन्त अयोग** का व्यवच्छेद होता है। अर्थात् ''कमल नील होते ही है'' यहां ''**अस्ति**'' के साथ जुडा हुआ ''**एव**'' कार कमल में नीलत्व के अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद करके कमल पूर्णरुप से नील होते है। ऐसा क्रिया का अवधारण करता है।

विषय, प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो प्रकार के होने से सम्यग्ज्ञान भी दो प्रकार का जानना। यहाँ प्रत्यक्षविषय से अन्य सब भी परोक्षविषय जानना। इसलिये (प्रत्यक्ष और परोक्ष इस तरह) दो प्रकार के विषय होने से, उस दो प्रकार के विषयो का ग्राहक सम्यग्ज्ञान भी दो प्रकार के है। परन्तु न्यूनाधिक नहीं है। उसमें जो परोक्ष अर्थविषयक सम्यग्ज्ञान है उसका अन्तर्भाव अनुमान में होता है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान अपने साध्यभूत पदार्थ के साथ अविनाभाव रखनेवाला (साध्य के साथ अविनाभाव संबंध रखनेवाला) तथा नियतधर्मी में विद्यमान लिंग द्वारा परोक्ष अर्थ का सामान्याकारक (अविशद) ज्ञान करता है। इसलिये अनुमान में समाविष्ट होता है। कहने का मतलब यह है कि, लिंग द्वारा परोक्ष अर्थ का सामान्याकारक ज्ञान होता है, इसलिए उसका अन्तर्भाव अनुमान में होता है। (यहाँ यह याद रखना कि बौद्धमत में क्षणिक परमाणुरुप विशेष--स्वलक्षण (अर्थक्रियायुक्त विशेष) प्रत्यक्ष का विषय बनता है तथा बुद्धि-प्रतिबिंबित अन्यापोहात्मक सामान्य अनुमान का त्रिषय बनता है। इस प्रकार विषय की द्विविधता के कारण प्रमाण की द्विविधता का अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष सामान्य पदार्थ को तथा अनुमान स्वलक्षणरुप विशेषपदार्थ को विषय बना सकता नहीं है।)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्षानुमानलक्षणे द्वे एव प्रमाणे । तथाहि-न परोक्षोऽर्थः साक्षात्प्रमाणेन प्रतीयते, तस्यापरोक्षत्वप्रसक्तेः । विकल्पमात्रस्य च स्वतन्त्रस्य राज्यादिविकल्पवदप्रमाणत्वात्, परोक्षार्थाप्रतिबद्धस्यावश्यतया तदव्यभिचाराभावात् । न च स्वसाध्येन विना भूतोऽर्थः परोक्षार्थस्य गमकः, अतिप्रसक्तेः । धर्मिणा चासंबद्धस्यापि गमकत्वे प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् स सर्वत्र प्रतिपत्तिहेतुर्भवेत् । ततो यदेवंविधार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रमाणं तदनुमानमेव, तस्यैवंलक्षणत्वात् । तथा च प्रयोगः । यदप्रत्यक्षं प्रमाणं तदनुमानान्तर्भूतं, यथा लिङ्गबलभावि । अप्रत्यक्षप्रमाणं च शाब्दादिकं प्रमाणान्तरत्वेनाभ्युपगम्यमानमिति स्वभावहेतुः । यद्य यत्रान्तर्भूतं तस्य न ततो बहिर्भावः, यथा प्रसिद्धान्तर्भावस्य क्वचित्कस्यापि । अन्तर्भूतं चेदम् । प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणमनुमानमिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, अन्तर्भावबहिर्भावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया विरोधात् ।

टीकाका भावानुवाद :

प्रत्यक्ष और अनुमान स्वरुप दो ही प्रमाण है। वह इस अनुसार है – परोक्ष पदार्थ प्रमाण द्वारा साक्षात् प्रतीत नहीं होता। (यदि परोक्ष पदार्थ भी प्रमाण के द्वारा साक्षात् प्रतीत होता है ऐसा मानेगें तो) परोक्ष पदार्थ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) बन जाने की आपत्ति आयेगी। (क्योंकि प्रमाण के द्वारा साक्षात् प्रतीत न हो वही परोक्ष का लक्षण है।)

(अनुमान एक विकल्पज्ञान है। फिर भी विकल्पज्ञान निर्विकल्प से उत्पन्न होने के बजाय) केवल स्वतंत्रवासना से उत्पन्न होता हो, तो वह राज्यादि–विकल्प की तरह अप्रमाण ही है। अर्थात् ''में राजा हूँ।'' ऐसा विकल्पज्ञान कोई ''राज्य'' जैसे पदार्थ का साक्षात्कार करनेवाले प्रत्यक्ष से उत्पन्न नहीं हुआ, परन्तु अपनी स्वतंत्र कल्पना (वासना) मात्र से उत्पन्न हुआ है। और इसीलिये अप्रमाण है। (अर्थात् कहने का मतलब यह है कि, **'पर्वतो वह्निमान्'** ऐसा विकल्पज्ञान होता है, तब वह विकल्पज्ञान 'अग्नि' पदार्थ का साक्षात्कार करनेवाले धूमपदार्थ के प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुआ है। परन्तु स्वतंत्रकल्पना मात्र से नहीं। जब कि यहाँ **'में राजा हूँ'** यह विकल्पज्ञान राज्य जैसे पदार्थ का प्रत्यक्ष से उत्पन्न नहीं हुआ। केवल स्वतन्त्रकल्पना (वासना) मात्र से हुआ है। संक्षिप्त में स्वतंत्रविकल्प से होनेवाला ज्ञान प्रमाणरुप नहीं है। क्योंकि (पहले कहा ऐसे) परोक्ष अर्थ के साथ अविनाभाव संबंध नहि रखनेवाला विकल्प अवश्य परोक्ष अर्थ का व्यभिचारी होता है। अर्थात् जो विकल्प परोक्ष अर्थ के साथ अविनाभाव नहीं रखता वह विकल्प नियम से अविसंवादि नहीं हो सकता है।

उपरांत जो लिंगभूत अर्थ अपने साध्य के बिना भी हो जाता है, उस लिंगभूत अर्थ से अपने साध्य का (परोक्षार्थ का) नियमपूर्वक ज्ञान नहीं होता। यदि लिंगभूत अर्थ का साध्य के साथ संबंध न हो तो भी साध्य का ज्ञान हो जाता है। ऐसा मानोगें तो अतिव्याप्ति आयेगी। अर्थात् असंबद्ध लिंग से परोक्षार्थ का (साध्यका) अनुमान मानोंगे तो कोई भी लिंग से किसी भी साध्य का अनुमान हो जाने की आपत्ति आयेगी। जैसे कि,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महानसीय धूम से पर्वतीयवह्नि का अनुमान हो जाने की आपत्ति आयेगी। क्योंकि, धर्मि के साथ असंबद्ध लिंग से भी धर्मि का ज्ञान=अनुमान होता है, ऐसा मानने में प्रत्यासत्ति के नियमन का अभाव हो जाता है। अर्थात् पर्वतीय धूम-पर्वतीय वह्नि प्रत्यासत्ति (निकटता) का नियम नहीं रहेगा। (नियम के अभाव से महानसीय धूम से भी पर्वतीय वह्नि का अनुमान हो जाने की आपत्ति आयेगी। उपरांत नियत प्रत्यासत्ति के नियम बिना एक महानसीयधूम से ही पर्वतीयवह्नि, चत्वरीयवह्नि, गौष्ठीयवह्नि इत्यादि तमाम वह्नि का अनुमान हो जाने की आपत्ति आयेगी। अर्थात् एक ही लिंग सर्वत्र साध्य के ज्ञान में कारण बन जाने की आपत्ति आयेगी।

इससे अपने साध्य के साथ संबद्ध (अर्थात् अविनाभाव रखनेवाला) तथा नियत धर्मीमें विद्यमानलिंग से होनेवाले जितने भी सम्यग्विकल्प है उसका अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि, "अविनाभावि लिंग से लिंगी (साध्य) का ज्ञान होता है" उसे अनुमान कहा जाता है। यह अनुमान का लक्षण है। तथा प्रयोग इस अनुसार है - **यद् अप्रत्यक्षं तद् अनुमानान्तर्भूतं यथा लिंगबलभावि।** अर्थात् जो अप्रत्यक्ष है उसका अनुमान में अन्तर्भाव होता है। जैसे कि, लिंग के बल से होनेवाला अप्रत्यक्षलिंगी का ज्ञान अनुमान माना जाता है। (इस तरह अप्रत्यक्षज्ञान का अनुमान में अन्तर्भाव होता है।)

उपरांत, अप्रत्यक्ष शब्दादि प्रमाणो का भी अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि, शब्दादिरुप आगमज्ञान भी अप्रत्यक्ष होता है और प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण अनुमान हांने से शब्दादिरुप आगमज्ञान का भी अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है। इस (शब्दादि प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भाव मानने में) स्वभाव हेतु है। उपरांत, जिसका जिसमें अन्तर्भाव होता है, उसका उससे बहिर्भाव नहीं होता। जैसे कि, प्रसिद्ध ऐसे अप्रत्यक्षज्ञान का अनुमान में अन्तर्भाव होता है इसलिये अप्रत्यक्ष ऐसे शब्दादिप्रमाणो का भी अनुमान में अन्तर्भाव होता है परन्तु बहिर्भाव नहीं होता।

इस प्रकार अंतर्भाव स्वभाव विरुद्धोपलब्धि स्वरुप है। अर्थात् प्रत्यक्ष से अन्यप्रमाण अनुमान है। इस तरह स्वभावविरुद्ध उपलब्धि से प्रत्यक्ष के सिवा दूसरे अप्रत्यक्ष शब्दादिज्ञानो का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि अन्तर्भाव और बहिर्भाव एक दूसरे का परिहार करनेवाले होने से दोनों विरोधी है। (अर्थात् प्रत्यक्षपदार्थ विषयक ज्ञान और परोक्षपदार्थ विषयक ज्ञान परस्पर का परिहार करते है, इसलिए विरोधी है। इसलिये वे दोनो का एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं होता। उसी प्रकार शब्दादिप्रमाण अप्रत्यक्षपदार्थ विषयक होने के कारण उसका अनुमान में अन्तर्भाव होता है। इससे शब्दादि प्रमाणो का अन्तर्भाव अनुमान में है परन्तु प्रत्यक्ष में बहिर्भाव है।)

आह परः। भवतु परोक्षविषयस्य प्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावः। अर्थान्तरविषयस्य च शब्दादेस्तस्यान्तर्भावो न युक्त इति चैन्न, प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामन्यस्य प्रमेयस्यार्थस्याभावात्, प्रमेयरहितस्य च प्रमाणस्य प्रामाण्यासम्भवात्। प्रमीयतेऽनेनार्थ इति प्रमाणमिति व्युत्पत्त्या, सप्रमेयस्यैव तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। तथाहि-यदविद्यमानप्रमेयं न तत्प्रमाणं, यथा केशोंडुकादिज्ञानम्। अविद्यमानप्रमेयं च प्रमाणद्वयातिरिक्तविषयतयाभ्युपगम्यमानं प्रमाणान्तरमिति कारणानुपलब्धिः,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमेयस्य साक्षात्पारंपर्येण वा प्रमाणं प्रति कारणत्वात् । तदुक्तम् - "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः" [न्यायकुसु० पृ. ६४०] इति[अ] । प्रत्यक्षपरोक्षातिरिक्तं प्रमेयान्तरं नास्तीति चाध्यक्षेणैव प्रतिपाद्यते । अध्यक्षं हि पुरःस्थितार्थसामर्थ्यादुपजायमानं तद्गतात्मनियतप्रतिभासावभासादेव तस्यार्थस्य प्रत्यक्षव्यवहारकारणं भवति । तदन्यार्थात्मतां च तस्य व्यवच्छिन्दानमन्यत्परोक्षमर्थजातं सकलं राश्यन्तरत्वेन व्यवस्थापयत्तृतीयप्रकाराभावं च साधयति, अध्यक्षेणाप्रतीयमानस्य सकलस्यार्थजातस्यान्यत्वेन परोक्षतया व्यवस्थापनात् । अन्यथा तस्य तदन्यार्थरूपताऽव्यवच्छेदे स्वीयरूपतयापि परिच्छेदो न भवेदिति न किंचित्प्रत्यक्षेणावगतं भवेत् । प्रतिनियतस्वरूपता हि भावानां प्रमाणतो व्यवस्थिता । अन्यथा सर्वस्य सर्वथोपलम्भादिप्रसङ्गतः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिर्भवेत् । प्रतिनियतस्वरूपता चेन्न प्रत्यक्षावगता किमन्यद्रूपं तेन तस्यावगतमिति पदार्थस्वरूपावभासिनाध्यक्षेण प्रमेयान्तराभावः प्रतिपादित एव । अनुमानतोऽपि तदभावः प्रतीयत एव, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामितरप्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्थापनात् । प्रयोगश्चात्र । यत्र[ब] यत्प्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्था, न तत्र प्रकारान्तरसंभवः । तद्यथा पीतादौ नीलप्रकारव्यवच्छेदेनानीलप्रकारव्यवस्थायाम् । अस्ति च प्रत्यक्षपरोक्षयोरन्यतर-प्रकारव्यवच्छेदेनेतरप्रकारव्यवस्था व्यवच्छिद्यमानप्रकाराविषयीकृते सर्वस्मिन्प्रमेय इति विरुद्धोपलब्धिः, तदतत्प्रकारयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात् । अतः प्रमेयान्तराभावान्न प्रमाणान्तरभावः । उक्तं च- "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः । तस्मात्प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ।।१।।" [प्र. वा० २६३] इति ।।

अत्र शाब्दोपमानार्थापत्त्यभावादिप्रमाणान्तराणां निराकरणं प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावनं वा यथा भवति, तथा प्रमाणसमुच्चयादिबौद्धग्रन्थेभ्यः संमत्यादिग्रन्थेभ्यो वावगन्तव्यम् । ग्रन्थगौरवभयात्तु नोच्यते । ततः स्थितमेतत्, प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे इति ।।९।।

टीकाका भावानुवाद :

शंका : परोक्षविषयक प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव भले ही हुआ, परन्तु अर्थान्तरविषयक शब्दादि प्रमाणो का अनुमान में अन्तर्भाव करना योग्य नहीं है। अर्थात् आगमादि प्रमाण भिन्न प्रकार के पदार्थो को विषय बनाते है। इससे उसका अन्तर्भाव अनुमान में करना उचित नहीं है।

(अ) 'कारणं विषयः' भ० २। अहेतुश्च विषयः कथम्" - [प्र० वा० ३/४०६]
"नाहेतुर्विषयः" [प्र० वार्तिककाल० ३/४०६]। "न ह्यकारणं प्रतीतिविषयः" [हेतु बि० टी० पृ० ८०]

(ब) "यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन यदितरप्रकारव्यवस्थानं न तत्र प्रकारान्तरसंभवः तद्यथा नीलप्रकारव्यवच्छेदेन अनीलप्रकारान्तरव्यवस्थायां पीते -। हेतु बि० टी० पृ० १४८। तत्त्व सं० प० ४३३-४८५॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान : (जगत में) प्रत्यक्ष और परोक्ष से भिन्न कोई अन्य प्रमेय नहीं है और प्रमेयरहित प्रमाण का प्रामाण्य्र संभवित नहीं होता है। तथा "जिसके द्वारा अर्थ (प्रमेय) का ज्ञान किया जाता है उसे प्रमाण कहा जाता है।" इस व्युंत्पत्ति से प्रमेय सहित प्रमाण में ही प्रमाणता रहती है, ऐसा सिद्ध होता है। इस बातको ज्यादा स्पष्ट करने के लिए उदाहरण सहित प्रयोग बताते है - **यद् अविद्यमानप्रमेयं न तत्प्रमाणं यथा केशोडुंकादिज्ञानम्।** अर्थात् जिस ज्ञान का प्रमेय (जगत में) विद्यमान नहीं है, वह ज्ञान प्रमाण नहीं है। जैसे कि स्वच्छ आकाश में (धूप के कारण) दिखते बाल और मच्छर के आकारवाला ज्ञान।

[कहने का मतलब यह है कि, **'प्रमातुं योग्य इति प्रमेयः'** तथा **'प्रमीयतेऽनेनार्थ इति प्रमाणम्'** अर्थात् जो प्रमा के (ज्ञान करने) योग्य हो उसे प्रमेय कहा जाता है। तथा जिसके द्वारा अर्थ (प्रमेय) मालूम होता (प्रतीत होता)है, उसे प्रमाण कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति से सप्रमेय प्रमाण का प्रामाण्य स्थित होता है। प्रमेयरहित प्रमाण में प्रामाण्य नहीं है। इसलिये आकाश में बाल और मच्छररुप प्रमेय न होने पर भी बाल-मच्छरवाले आकाश का ज्ञान हो वह अप्रमाणरुप है।) तथा प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त आगमादि प्रमाणो का प्रमेय (विषय) विद्यमान नहीं है। (इससे वह प्रमाण नहीं हो सकते) यह हेतु कारणानुपलब्धि है। अर्थात् प्रमेय (विषय) रहित (प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त) प्रमाण उपलब्धि (ज्ञान) के कारण बनता नहीं है। क्योंकि, प्रमेय साक्षात् या परंपरा से प्रमाण का कारण बनता है। (इसलिये प्रत्यक्ष और परोक्ष के सिवा अन्य प्रमेय जगत में विद्यमान न होने से आगमादिप्रमाणो का विषय (प्रमेय) परोक्ष नहि मानेंगे तो प्रमेयरहित वह आगमादि प्रमाण अप्रमाणरुप बन जायेंगे और आगमादि प्रमाणो के विषय को परोक्ष मानोंगे तो परोक्षार्थविषयक अनुमान में (पहले कहे अनुसार) अन्तर्भाव हो जायेगा।)

इसलिये कहा है कि - जिसका जिसके साथ अन्वय - व्यतिरेक नहीं है, वह उसका कारण नहीं बन सकता तथा जो पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं है, वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। (इस प्रकार प्रमाण में कारणभूत प्रमेय की अनुपलब्धि होने के कारण आगमादि में प्रमाणता का निषेध करने में कारणानुपलब्धि हेतु बनता है। अर्थात् आगमादि में प्रमाणता का निषेध कारणानुपलब्धि रुप हेतु से किया गया है।)

प्रत्यक्ष-परोक्ष से अतिरिक्त प्रमेय नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है। सामने रहे हुए पदार्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होता प्रत्यक्ष, पदार्थ में रहे हुए स्वरुप का नियत प्रतिभास को अवभासन करता होने से वह पदार्थ के प्रत्यक्ष व्यवहार का कारण बनता है। अर्थात् कहने का आशय यह है कि, प्रत्यक्ष सामने रहे हुअे पदार्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है और वह पदार्थ के आकारवाला होता है। इसलिये उसका प्रतिभास वह पदार्थ के स्वरुप में ही नियत होके वह पदार्थ में प्रत्यक्ष व्यवहार कर देता है। (जैसे कि, सामने रहे हुए घट के सामर्थ्य से उत्पन्न होता प्रत्यक्ष घट के आकारवाला होता है। इसलिये 'यह घट है' इस प्रकार से वह घट पदार्थ के स्वरुप में नियत हो जाता है और घटपदार्थ में ही प्रत्यक्षव्यवहार कराता है।

उपरांत, (प्रत्यक्ष मात्र प्रत्यक्ष का व्यवहार कराके अटक नहीं जाता, परंतु) प्रत्यक्ष विषय से अन्य विषयो का व्यवच्छेद भी करता है और प्रत्यक्ष से व्यवच्छेद हुए अन्यविषयो का अन्तर्भाव परोक्षविषयो के समूह

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष विषय से अन्य परोक्षविषयो की राशि में अन्तर्भाव करता है। क्योंकि, प्रत्यक्ष से प्रतीत न होते सभी पदार्थों के समूह प्रत्यक्ष से अन्य होने के कारण परोक्ष रुप में व्यवस्थापन किया जाता है। अर्थात् परोक्ष विषयो में उसकी गणना होती है। इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष से अन्य तीसरा प्रकार नहीं है। यदि ऐसा नहीं मानोंगें तो प्रत्यक्ष अपने विषयभूत पदार्थ का अन्य (अप्रत्यक्ष) पदार्थों से व्यवच्छेद नहि कर सकेगा और इसलिये प्रत्यक्ष अपने स्वरुप का भी प्रतिनियत रुप में ज्ञान नहीं करा सकेगा। अर्थात् कोई भी पदार्थ प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं बन सकेगा।

क्योंकि, प्रमाण उसे ही कहा जाता है, जिससे पदार्थों की प्रतिनियतस्वरुप से व्यवस्था होती हो। (उपरांत पदार्थों के प्रतिनियतस्वरुप का यथावस्थित प्रतिपादन अन्यधर्मो के व्यवच्छेद से ही होता है। इससे प्रमाण अन्य से व्यवच्छेद करने द्वारा पदार्थ के प्रतिनियतस्वरुप को बताने का काम करता है।) ऐसा नहीं मानेंगे तो (अर्थात् प्रमाण प्रतिनियत स्वरुप की व्यवस्था न करे) तो सभी पदार्थ सर्व आकारो में उपलब्ध होने की आपत्ति आयेगी। ऐसी अवस्था में जगत के ''यह पानी है, यह अग्नि है,'' इत्यादि प्रतिनियत व्यवहारो का लोप हो जायेगा। यदि वस्तु की प्रतिनियत स्वरुपता प्रत्यक्ष से प्रतीत न होती हो, तो प्रत्यक्ष से पदार्थ का कौन सा स्वरुप प्रतीत होगा ?)

इसलिये सिद्ध होता है कि, प्रत्यक्ष प्रतिनियत स्वरुप का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार पदार्थ के यथावस्थित स्वरुप के अवभासक प्रत्यक्ष से (प्रत्यक्ष और परोक्ष के सिवा) दूसरे प्रमेय का अभाव ही प्रतिपादित होता है। (इस प्रकार) अनुमान से भी प्रमेयान्तर का अभाव प्रतीत होता ही है। क्योंकि, अन्योन्यव्यवच्छेदक करनेवाले दो प्रकार में से एक प्रकार का व्यवच्छेद होने से उससे इतर दूसरे प्रकार की व्यवस्था हो जाती है। (अर्थात् कहने का आशय यह है कि परस्पर व्यवच्छेद करनेवाले प्रत्यक्ष और परोक्ष में से एक प्रकार प्रत्यक्ष का व्यवच्छेद करने से उससे इतर परोक्ष की व्यवस्था हो जाती है और एक प्रकार परोक्ष का व्यवच्छेद करने से उससे इतर प्रत्यक्ष की व्यवस्था हो जाती है। इसलिये प्रत्यक्ष और परोक्ष से भिन्न प्रमेयान्तर नहीं है। वह सिद्ध होता है।) प्रयोग इस अनुसार है। – **यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्था, न तत्र प्रकारान्तरसंभवः । तद्यथा पीतादौ नीलप्रकार व्यवच्छेदेन-अनीलप्रकारव्यवस्था ।** जहाँ जिस प्रकार के व्यवच्छेद से उससे इतर प्रकार की व्यवस्था होती है, वहाँ प्रकारान्तर का संभव नहीं है। जैसे कि, पीतादि में नील प्रकार के व्यवच्छेद द्वारा अनील (पीत) प्रकार की व्यवस्था होती है और उससे **नील** और **अनील** से इतर प्रकार की संभावना भी नष्ट होती है।

प्रत्यक्ष और परोक्षरुप प्रकार भी अन्योन्यव्यवच्छेद करके अपने स्वरुप की व्यवस्था करते है। इससे संसार के सर्वप्रमेयो में या तो प्रत्यक्षता का व्यवच्छेद करके परोक्षता होगी अथवा या तो परोक्षता का व्यवच्छेद द्वारा प्रत्यक्षता होगी, वे दोनों से भिन्न प्रकार की संभावना नहीं है। जगत के प्रमेयो में यह व्यवस्था करनेवाला हेतु विरुद्धोपलब्धि है। क्योंकि, तत्प्रकारप्रत्यक्ष और अतत्प्रकारपरोक्ष, परस्पर का परिहार करके अपनी स्थिति निश्चित करते है। इसलिये तीसरे प्रमेय का अभाव होने से प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाण

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भिन्न प्रमाणो का अभाव है। इसलिये **कहा है कि ''प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमेय से अन्य प्रमेय का संभव नहीं है। इसलिये प्रमेय दो होने से प्रमाण भी दो ही है।**

यहाँ शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभावादि प्रमाणो का निराकरण अथवा प्रत्यक्ष या अनुमान में अन्तर्भाव जिस प्रकार होता है, वह '**प्रमाणसमुच्चय**' आदि बौद्ध ग्रंथो से या सन्मतितर्क इत्यादिक अन्यग्रंथो से जान लेना। ग्रंथगौरव के भय से यहाँ कहा नहीं है। इसलिये सिद्ध होता है कि – प्रत्यक्ष और अनुमान, दो ही प्रमाण है ॥९॥

अथ प्रत्यक्षलक्षणमाह :

अब प्रत्यक्ष का लक्षण कहते है। (तथा अनुमानप्रमाण का भी लक्षण कहा जाता है।)

(मू. श्लो.) प्रत्यक्षं [अ]कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुध्यताम् ।
त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिज्ञानं त्वनुमानसंज्ञितम् ।।१०।।

श्लोकार्थ : कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक तथा भ्रान्तिरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। तथा (सपक्षसत्त्व, पक्षधर्मत्व और विपक्षासत्त्व) ये तीन रुपवाले लिंग से लिंगी (साध्य) का ज्ञान हो उसका नाम अनुमान।

व्याख्या-तत्र तयोः प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये प्रत्यक्षं बुध्यतां ज्ञायताम् । तत्र प्रतिगतमक्षमिन्द्रियं प्रत्यक्षम् । कीदृशम् । कल्पनापोढम् । शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना[ब] । कल्पना [B-8]अपोढा अपेता यस्मात्तत् कल्पनापोढम् । ननु बहुव्रीहो निष्ठान्तं पूर्वं निपतति । ततोऽपोढकल्पनमिति स्यात् न वा ? आहिताग्न्यादिष्वति वा वचनात्, आहिताग्न्यादेश्चाकृतिगणत्वान्न पूर्वनिपातः । कल्पनया वापोढं रहितं कल्पनापोढम् । नामजात्यादिकल्पनारहितमित्यर्थः । तत्र नामकल्पना यथा डित्थ इति । जातिकल्पना यथा गौरिति । आदिशब्दाद्गुणक्रियाद्रव्यपरिग्रहः । तत्र गुणकल्पना यथा शुक्ल इति । क्रियाकल्पना यथा पाचक इति । द्रव्यकल्पना यथा दण्डी भूस्थो वेति । आभिः कल्पनाभी रहितं, शब्दरहितस्वलक्षणजन्मत्वात्प्रत्यक्षस्य । उक्तं च "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा, येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेरन्" [उद्घृतमिदम् - न्याय० प्र० वृ० पृ० ३५] [क]इत्यादि । एतेन

(अ) ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'' ॥ प्र० समु० १/३ ॥
''तत्र प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम् ॥ न्याबि० १/४ ॥ ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढभ्रान्तमभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना क्लृप्तिहेतत्वाद्यात्मिका न तु ।'' [तत्त्व सं० श्लो० १२१४]

(ब) ''अभिलापसंसर्गयोग्य, प्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना'' ॥ न्यायबि० १/५ ॥

(क) ''अष्ट स० पृ० ११८ / सिद्धिवि० टी० पृ० ९० ।

(B-8) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिरस्थूलघटपटादिबाह्यवस्तुग्राहिणः सविकल्पकज्ञानस्य प्रत्यक्षतां निरस्यति, पुनः कीदृक्षं प्रत्यक्षम् अभ्रान्तम् "अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः" [ ] इति वचनात्। **नासद्भूत-वस्तुग्राहकं, किं तु यथावत्परस्परविविक्तक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणस्वलक्षणपरिच्छेदकम् । अनेन निर्विकल्पकानां भ्रान्ततैमिरिकादिज्ञानानां प्रत्यक्षतां प्रतिक्षिपति ।**

टीकाका भावानुवाद :

प्रत्यक्ष और अनुमान में (नीचे बताये गये) प्रत्यक्ष का लक्षण जानना। अक्ष = इन्द्रियो को प्रतिगत = आश्रित जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। **प्रश्न :** यह प्रत्यक्ष किस प्रकार का है ? **उत्तर :** कल्पना से रहित है। शब्दसंसर्गवाली प्रतीति को **कल्पना** कहा जाता है। जिस ज्ञान में से कल्पना चली गई है, वह **कल्पनापोढ** = कल्पनारहित कहा जाता है।

शंका : आहिताग्न्यादिषु (सि.है. ३।१।१५३) सूत्र से बहुव्रीहि समास में "**क्त**" अंतवाले नामो का विकल्प से पूर्वनिपात होता है। इसलिये यहाँ भी "**अपोढ**", नाम "**क्त**" अंतवाला होने से पूर्वनिपात करके "**अपोढकल्पनम्**" प्रयोग हो सकता है या नहीं ?

समाधान : "आहिताग्न्यादिषु" सूत्र में "**वा**" का निर्वचन होने से निपात वैकल्पिक है। इसलिये कल्पनापोढ को वैकल्पिक मानना चाहिए। अथवा आहिताग्न्यादि आकृति गणपाठ में 'कल्पनापोढ' रुप की गणना न होने से यह सि० है० सूत्र उसको लागू नहीं पडेगा। (अथवा बहुव्रीहि समास न करके तृतीया तत्पुरुष समास करके इस तरह व्युत्पत्ति होगी।) **कल्पनया अपोढं (रहितं) कल्पनापोढम्** - कल्पना से रहित। अर्थात् नाम-जाति इत्यादि कल्पना से रहित। उसमें "**यथा डित्थ**" नाम कल्पना है। "**यथा गौ**" यह जाति कल्पना है। आदि शब्द से गुणकल्पना, क्रियाकल्पना और द्रव्यकल्पना लेना। उसमें '**यथा शुक्ल**' गुणकल्पना है। "**यथा पाचक**" यह क्रियाकल्पना है। "**यथा दण्डी भूस्थो वा**" यह द्रव्यकल्पना है। (कहने का आशय यह है कि कोई कल्पना नाम इच्छानुसार की हुई संज्ञा के अनुसार होती है। जैसे कि, कोई व्यक्ति का नाम व्यवहार के लिये "डित्थ" रखा जाता है, वह। जाति की अपेक्षा से प्रतीत होती कल्पना जातिकल्पना कही जाती है। जैसे कि, 'गौत्वं' जाति स्वरुप निमित्त को लेके प्रतीत होती गोरुप कल्पना। वैसे हि 'यह शुक्ल है' यहाँ शुक्ल गुण के निमित्त से कल्पना होती है, उससे गुणकल्पना। 'यह पाचक है' यह कल्पना पाचनक्रिया की अपेक्षा से होती है। दंड आदि द्रव्यसंबंधी 'यह दण्डी है' या 'यह पृथ्वी पर रहा है'। ये दो कल्पनाएँ द्रव्यकल्पना है। इस प्रकार कल्पनाएं होती रहती है।) प्रत्यक्ष, ये सब कल्पनाओ से रहित है। क्योंकि प्रत्यक्ष शब्दरहित स्वलक्षणरुप अर्थ से उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष ऐसे स्वलक्षणरुप पदार्थ से उत्पन्न होता है कि, जो शब्दके संसर्ग से रहित है। कहा है कि...

"**न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति,तदात्मनो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेरन्**" अर्थात् पदार्थ में शब्द नहीं होते है या पदार्थ शब्दस्वरुप (भी) नहीं है, कि जिससे पदार्थ प्रकाशित होने पर भी (नामादि) शब्द भी प्रकाशित हो जाय।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे स्थिर और स्थूल घट-पटादि वस्तु को ग्रहण करनेवाले सविकल्पक ज्ञान की प्रत्यक्षता का निराकरण होता है। (कहने का आशय (मतलब) यह है कि, बौद्धमत में निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण बन सकता है। क्योंकि, वह एक क्षणस्थायि होता है तथा विकल्पो से रहित है। इसलिये विकल्प सहित का सविकल्पक ज्ञान प्रमाणभूत नहीं बन सकता।)

उपरांत, वह प्रत्यक्ष किस प्रकार का है? वह प्रत्यक्ष भ्रान्ति से रहित है। **''अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः''** अर्थात् अतस्मिन् में तद् का ग्रह वह भ्रान्ति। अर्थात् जो पदार्थ जैसा न हो वैसा ज्ञान करना उसे भ्रान्ति कहते है। यह भ्रान्ति का लक्षण है। (जैसे कि, शुक्ति में होता रजत का ज्ञान भ्रान्ति है।) तथा **प्रत्यक्ष असद्भूत वस्तु का ग्राहक नहीं है। परन्तु परस्परभिन्न क्षणिकपरंमाणु स्वरुप स्वलक्षणार्थ का परिच्छेदक है।** इससे (अभ्रान्तविशेषण से) तिमिररोगि इत्यादि को होनेवाला प्रत्यक्षज्ञानो का निराकरण हो जाता है।

इदं प्रत्यक्षं चतुर्धा[B-9] । इन्द्रियज्ञानं, मानसं, स्वसंवेदनं, योगिज्ञानं च । तत्र चक्षुरादीन्द्रियपञ्चकाश्रयेणोत्पन्नं बाह्यरूपादिपञ्चविषयालम्बनं ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम्[B-10] । स्वविषयानन्तरं विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन जनितं मनोविज्ञानं मानसम्[B-11], **स्वविषयस्य घटादेरिन्द्रियज्ञानविषयस्यानन्तरो विषयो द्वितीयः क्षणः, तेन सहकारिणा सह मिलित्वेन्द्रियज्ञानेनोपादानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन यज्जनितं मनोविज्ञानं तन्मानसम् । समनन्तरप्रत्ययविशेषणेन योगिज्ञानस्य मानसत्वप्रसङ्गो निरस्तः । समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसंतानवर्तिन्युपादाने ज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धः । ततो भिन्नसंतानवर्तियोगिज्ञानमपेक्ष्य पृथग्जनचित्तानां समनन्तरव्यपदेशो नास्ति । सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं** स्वसंवेदनम्[B-12] **। चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानं । चित्ते भवाश्चैत्ता वस्तुविशेषरुपग्राहकाः सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः । तेषामात्मा येन संवेद्यते तत्स्वसंवेदनमिति । भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं** योगिज्ञानम् **। भूतार्थः प्रमाणोपपन्नार्थः । भावना पुनः पुनश्चेतसि समारोपः । भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्ताज्ज्ञातं योगिज्ञानम्[B-13] ।**

टीकाका भावानुवाद :

प्रत्यक्ष के चार प्रकार है। (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष, (३) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, (४) योगि प्रत्यक्ष।

उसमें बाह्य रुपादि पाँच विषयो का आलंबन करके चक्षु आदि पाँच इन्द्रियो से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान **इन्द्रिय प्रत्यक्ष** कहा जाता है। जो विषयक्षण से इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है उस विषय की द्वितीयक्षण जिसमें विषयरुप से सहकारीकारण है तथा स्वयं इन्द्रिय प्रत्यक्ष जिस में उपादानकारण बनता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्षानन्तरभावि (अनुव्यवसायात्मक) ज्ञान को **मानसप्रत्यक्ष** कहा जाता है। (जैसे कि) जो घटादि

(*B-9-10-11-12-13*) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयक्षण से इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है, वह द्वितीयक्षण जिसमें विषयस्वरुप कारण बनती है तथा (इन्द्रियज्ञान, जिसमें उपादानकारण है अर्थात्) उपादानकारण इन्द्रियज्ञान है, वह इन्द्रियप्रत्यक्षानन्तरभावि उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को मनोविज्ञान = मानस प्रत्यक्ष कहते है।

(इस विषय में न्यायबिंदु में कहा है कि - **''स्वविषयानन्तरे विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन । समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम् ॥ १।९ ॥**

अर्थात् विषय के अनन्तर = पश्चात् विषय के सहकारिसमन्तर प्रत्ययरुप इन्द्रियो के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को मानसप्रत्यक्ष कहा जाता है।

बौद्ध दर्शन में ज्ञान के चार प्रत्यय (कारण) माने जाते है। (१) आबंलन प्रत्यय, (२) सहकारि प्रत्यय, (३) अधिपति प्रत्यय, (४) समनन्तर प्रत्यय। यहाँ घटज्ञान के विषय में ये चारो प्रकार के प्रत्ययो का परिचय इस प्रकार है। नेत्र से घट का ज्ञान होने में प्रथम कारण घट ही है, वह ज्ञान का विषय होने से **''आलंबन प्रत्यय''** कहा जाता है। प्रकाश के बिना चक्षु घट का ज्ञान नहीं कर सकता। इससे 'प्रकाश' को **'सहकारि प्रत्यय'** कहा जाता है। इन्द्रिय का नाम **''अधिपति''** है। इसलिये **''अधिपति प्रत्यय''** स्वयं इन्द्रिय है। चौथा कारण, ग्रहण करने की और विचार करने की जो शक्ति है, जिसके उपयोग से कोई भी वस्तु का साक्षात्कार होता है और वह **''समनन्तर प्रत्यय''** कहलाता है। (संक्षिप्त में चक्षुआदि इन्द्रियो से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस ज्ञान को समनन्तर प्रत्यय बनाकर जो मन उत्पन्न होता है वही मानस प्रत्यक्ष है।]

यहाँ मानस प्रत्यक्ष की व्याख्या में **''समनन्तर प्रत्यय''** विशेषण का ग्रहण होने से योगिज्ञान में मानस प्रत्यक्षत्व की आपत्ति का निराकरण होता है। क्योंकि, योगिज्ञान में इन्द्रियप्रत्यक्ष उपादान कारण नहीं बनता तथा इन्द्रियज्ञान को ''समनन्तर प्रत्यय'' बनाकर योगिज्ञान नहीं होता। परन्तु पदार्थो की भावना के प्रकर्ष पर्यन्त से ज्ञान उत्पन्न होता है वह योगिज्ञान है।

''समनन्तरप्रत्यय'' शब्द स्वसंतानवर्ति उपादान ज्ञान में रुढि से प्रसिद्ध है। अर्थात् **''समनन्तर प्रत्यय''** शब्द का प्रयोग अपनी ही संतान में होनेवाला उपादानभूत पूर्वक्षण में रुढि से होता है। इसलिये हमारे जैसे लोगो के ज्ञान का साक्षात्कार करनेवाले योगिज्ञान में हमारा ज्ञान भिन्न संतानवर्ति होने के कारण ''समनन्तर प्रत्यय'' उपादानकारण नहीं बनता है। (परन्तु हमारा ज्ञान तो योगिज्ञान में आलंबनभूत कारण बनता है। इससे हमारा ज्ञान योगिज्ञान में समनन्तर प्रत्यय न बनकर ''आलंबन प्रत्यय'' ही बनता है।)

सब ''चित्त'' और ''चैत्तो'' का स्वरुप जिसके द्वारा संवेदन किया जाता है वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है। वस्तुमात्र को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को 'चित्त' कहते है। चित्त में होनेवाले भावो को 'चैत्त' कहा जाता है। अर्थात् चैत्त यानी वस्तुका विशेष स्वरुप से ग्राहक ज्ञान=सुख, दुःख और उपेक्षारुप ज्ञान। (चित्त और चैत्त धर्मो का स्वरुप आगे टिप्पणी में विस्तार से बताया गया है।) वह चित्त और चैत्त के धर्मो का स्वरुप जिसके द्वारा संवेदन किया जाये वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है। [श्री दिङ्नागने

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा है कि - "**स्वसंवित् निर्विकल्पकम्**" अर्थात् निर्विकल्पकज्ञान **स्वसंवेदनस्वरुप** है। इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये गये रुप का ज्ञान मानसज्ञान के रुप में परिवर्तित हो जाता है। तब वह विषय के प्रति इच्छा, क्रोध, मोह, सुख, दुःख आदि का जो अनुभव होता है, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है।)

भूतार्थ - वास्तविक क्षणिकनिरात्मक आदि अर्थो की प्रकर्षपर्यन्त (प्रकृष्ट) भावना से उत्पन्न ज्ञान **योगिज्ञान** कहा जाता है। यहाँ **भूतार्थ** यानी प्रमाण से उपपन्न क्षणिक निरात्मक अर्थ और चित्त में बारबार समारोप करना वह **भावना**। अर्थात् चित्त में पदार्थो का बारबार विचार करने से जब वह प्रकृष्ट बनता है, तब योगिज्ञान की उत्पत्ति होती है। (प्रमाणवार्तिक में योगिज्ञान के लिये कहा है कि - "**प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम्, विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते । कामशोकभयोन्मादचोर-स्वप्नाद्युपप्लुताः अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥ ३।२८२ ॥** भावार्थ स्पष्ट है।)

ननु यदि क्षणक्षयिणः परमाणव एव तात्त्विकास्तर्हि किंनिमित्तोऽयं घटपटकटशकटल-कुटादिस्थूलार्थप्रतिभास इति चेत् । [B-14]**निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितस्थूलार्थावभासो निर्विषयत्वादाकाशकेशवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति ।** यदुक्तम् - "बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते । वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते ।। १ ।। नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव [B-15]प्रकाशते ।।२।।" [प्र. वा. २/३२७] इति च ।।

ननु प्रत्यक्षेण क्षणक्षयिपरमाणुस्वरूपं स्वलक्षणं कथं संवेद्यत इति चेत् । उच्यते **। प्रत्यक्षं हि वर्तमानमेव सन्निहितं वस्तुनो रूपं प्रत्येति, न पुनर्भाविभूतं, तदसन्निहितत्वात्तस्य । तर्हि प्रत्यक्षानन्तरं नीलरूपतानिर्णयवत्क्षणक्षयनिर्णयः कुतो नोत्पद्यत इति चेत् ।** उच्यते **। तदेवं स्मृतिः पूर्वदेशकालदशासंबन्धितां वस्तुनोऽध्यवस्यन्ती क्षणक्षयनिर्णयमुत्पद्यमानं निवारयति ।** अत एव सौगतैरिदमभिधीयते **। दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्त्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात्, कुतश्चिद्भ्रम-निमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणं, किं तु प्रत्युताप्रमाणं, विपरीताध्यवसाया-क्रान्तत्वात्, क्षणिकत्वेऽपि न तत्प्रमाणं, अनुरूपाध्यवसायाजननात् । नीलरूपे तु तथाविधनिश्चय-करणात्प्रमाणमिति । ततो युक्तमुक्तं निर्विकल्पकमभ्रान्तं च प्रत्यक्षमिति ।**

टीकाका भावानुवाद :

शंका : यदि क्षणिक (क्षणस्थायी) परमाणु ही तात्त्विक होते है, तो घट, पट, बिछौना, कुटादि स्थूलपदार्थो के प्रतिभास में निमित्त कौन है ?

समाधान : निरालंबन ऐसी अनादिकालीन मिथ्यावासना के बल से घटादि स्थूल पदार्थ है, ऐसा

(B-14-15) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिभास प्रवर्तित है। अर्थात् जैसे आकाश में केश और स्वप्न का ज्ञान निर्विषयक होने से मिथ्या है। वैसे निरालंबन अनादिकालीन वासना से प्रतिभासित घटादि पदार्थ भी निर्विषयक होने से मिथ्या है। तात्त्विक नहीं है। तात्त्विक तो केवल परमाणु ही है। **इसलिये प्रमाणवार्तिक में कहा है कि** -

"जैसे बच्चो के द्वारा बाह्य पदार्थो का विकल्प किया जाता है, फिर भी वह बाह्य पदार्थ विद्यमान हो, ऐसा नहीं बनता है। (वैसे) वासनायुक्त चित्त में (जो बाह्य अर्थ वास्तविक नहीं है, उसका भी) अवभास प्रवर्तित होता है। (अर्थात् मिथ्यावासना से कलूषित अज्ञान लोग जिस-जिस स्थिर-स्थूल आदि स्वरुप से पदार्थो की कल्पना करते है, वस्तुत: वे अर्थ उस स्वरुप से किसी भी प्रकार से बाह्य रुप से अपनी सत्ता नहीं रखते है। परंतु मिथ्यावासना से कलूषित चित्त उस उस अर्थो के आकार में प्रतिभासित होता है।) ॥१॥" तथा

"बुद्धि से अनुभाव्य - अनुभव करने योग्य दूसरा पदार्थ नहीं है या बुद्धि को ग्रहण करनेवाला दूसरा कोई ग्राहक अनुभव नहीं है। (इससे) यह बुद्धि ग्राह्य-ग्राहकभाव से रहित बनकर स्वयं ही प्रकाशमान होती है। ॥२॥"

शंका : प्रत्यक्ष से क्षणिक परमाणुरुप स्वलक्षण का अनुभव किस तरह से होता है ?

समाधान : प्रत्यक्ष प्रमाण सन्निहित (नजदिक) ऐसी वर्तमान क्षणरुप वस्तु के स्वरुप को प्रकट करता है। परन्तु वस्तु की भूत और भावि क्षण सन्निहित नहि होने से उसके स्वरुप को प्रकट नहीं करता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा वर्तमानक्षण रुप वस्तु के स्वरुप का संवेदन किया जाता है।

शंका : यदि प्रत्यक्ष से क्षणिक परमाणुरुप स्वलक्षण का अनुभव होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष से क्षणिकता का ज्ञान होता है तो जैसे नील प्रत्यक्ष से नीलरुपता का निर्णय करानेवाला **'यह नील है'** ऐसा विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे **'यह क्षणिक है'** ऐसा ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं होता ? (अर्थात् प्रत्यक्ष के बाद भी "यह वस्तु स्थिर है" ऐसा लगता है, परंतु "यह क्षणिक है" ऐसा क्यों नहीं लगता है ?)

समाधान : (ऐसी क्षणिकता का निर्णय प्रत्यक्ष से नहीं होता, क्योंकि वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, तब) वस्तु की पूर्व देश, काल, दशा की संबंधिता का अध्यवसाय करती हुई स्मृति होती है। वह स्मृति वस्तु की क्षणिकता का निर्णय नहीं होने देती। कहने का आशय (मतलब) यह है कि, निर्विकल्पक दर्शन द्वारा जिस समय पदार्थ की क्षणिकता का अनुभव होता है, वही समय उस पदार्थ की पूर्वदेशसंबंधिता, पूर्वकालसंबंधिता तथा पूर्वदशा का स्मरण होता है, उसके कारण ऐसा लगा करता है कि यह वही पदार्थ है कि जो उस देश में था, यह वही पदार्थ है जो पूर्वकाल में भी देखा था, यह वही पदार्थ है कि जो पूर्व अवस्था (दशा) में था। इत्यादि स्थिति का स्मरण, 'यह क्षणिक है' ऐसे विकल्पज्ञान को नहीं होने देता।

इसलिये ही बौद्धो के द्वारा कहा जाता है कि - निर्विकल्पक दर्शन द्वारा तो क्षणिक और अक्षणिक उभय साधारण वस्तुमात्र का ग्रहण होता है। (अर्थात् निर्विकल्पक दर्शन के विषय क्षणिक-अक्षणिक उभय साधारण वस्तु बनते है।) इसलिये बाद में कोई विभ्रम के निमित्त से वस्तु में अक्षणिकत्व का आरोप हो

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाये तो भी निर्विकल्पक दर्शन को अक्षणिकत्व अंश में प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता, प्रत्युय विपरीत अध्यवसाय से युक्त होने के कारण वह अक्षणिक अंश में प्रमाण नहीं अप्रमाण ही है। तथा क्षणिक अंश में भी वह प्रमाण नहीं है। क्योंकि वह **''यह क्षणिक है''** ऐसा अनुकूल अध्यवसाय उत्पन्न कर सकता नहीं है। परन्तु (केवल वह) नील अंश में **''यह नील है''** ऐसा नीलरुपता स्वरुप अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करने से प्रमाण बनता है। इसलिये ही अभ्रान्त निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा कहा, वह युक्तियुक्त ही है।

अत्र "[अ]अभ्रान्तं" इति विशेषणग्रहणादनुमाने च तदग्रहणादनुमानं भ्रान्तमित्यावेदयति । तथाहि-**भ्रान्तमनुमानं, सामान्यप्रतिभासित्वात्, सामान्यस्य च बहिः स्वलक्षणे व्यतिरेकाव्यतिरेकविकल्पाभ्यामपाक्रियमाणतयाऽयोगात्, सामान्यस्य स्वलक्षणरूपतयानुमानेन विकल्पनात्[B-16] । अतस्मिन्न-स्वलक्षणे तद्ग्रहस्य स्वलक्षणतया परिच्छेदस्य भ्रान्तिलक्षणत्वात् । प्रामाण्यं पुनः प्रणालिकया बहिः स्वलक्षणबलायातत्वादनुमानस्य ।** तथाहि-**नार्थं विना तादात्म्यतदुत्पत्तिरूपसंबन्धप्रतिबद्धलिङ्गसद्भावो, न तद्विना तद्विषयं ज्ञानं, न तज्ज्ञानमन्तरेण प्रागवधारितसंबन्धस्मरणं, तदस्मरणे नानुमानमित्यर्थाव्य-भिचारित्वाद्भ्रान्तमपि प्रमाणमिति संगीर्यते । तदुक्तम्**-'अतस्मिंस्तद् ग्रहो भ्रान्तिरपि संधानतः प्रमा' [ ] इति[ब] **। अमुमेवार्थं दृष्टान्तपूर्वकं (वि)निश्चये धर्मकीर्तिरकीर्तयत् । यथा** -"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणि-बुद्ध्याभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।। १ ।। यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानं तदा तयोः । अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ।। २ ।।" [प्र० वा० २/५७/५८] इति ।।

टीकाका भावानुवाद :

प्रत्यक्ष के लक्षण में **''अभ्रान्तम्''** विशेषण के ग्रहण से और अनुमान के लक्षण में उसका ग्रहण न होने से ''अनुमान भ्रान्त'' है, ऐसा सूचन होता है वह इस अनुसार है – अनुमान भ्रान्त है, क्योंकि, वह सामान्य पदार्थ को विषय बनाता है। सामान्य पदार्थ तो ''उस स्वलक्षणरुप व्यक्तिओ से भिन्न है या अभिन्न है ?'' इत्यादि विकल्पो से खण्डित हो जाने के कारण सिद्ध नहीं होता। परन्तु अनुमान उस मिथ्या सामान्य को स्वलक्षणरुप से (कल्पना करके) ग्रहण करता है। **अतस्मिन्** = अस्वलक्षण में **तद्** = स्वलक्षणरुप से ज्ञान करना उसे भ्रान्ति कहा जाता है। अर्थात् यदि स्वलक्षण नहीं है ऐसे सामान्य में स्वलक्षणरुप से परिच्छेद

(अ) तथा अभ्रान्तग्रहणेनाप्यनुमाने निवर्तिते कल्पनापोढग्रहणं विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम् । भ्रान्तं हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् । प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रुपे न विपर्यस्तम् ।" [न्यायबि० टी० पृ-४७]

(ब) "भान्तिरपि च वस्तुसंबन्धेन प्रमाणमेव" - ।। प्र० वार्तिकाल० ३/१७५ । "तदाह न्यायवादी - भ्रान्तिरपि संबन्धतः प्रभा ।।" न्यायबि० धर्मोपृ. ७८ ।

(B-16) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना वही अनुमान की भ्रान्तता है।

(प्रश्न : तो अनुमान को प्रमाण क्यों कहते है ?

उत्तर : अनुमान यद्यपि भ्रान्तिरुप होने पर भी) परंपरा से बाह्य स्वलक्षण के बल से उत्पन्न होता है, इसलिए ही वह प्रमाण है।

(बौद्धाचार्यश्री धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान की आवश्यकता बताने के समय उपर्युक्त बात की पुष्टी की है। उसका कहना है कि, वस्तु का जो सामान्यरुप है, उसका ग्रहण कल्पना से अतिरिक्त अन्य वस्तु से हो सकता नहीं है। इसलिए अनुमान की आवश्यकता है। कहा है कि **अन्यत् सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः। (न्यायबिंदु १।१६-१७) स्वलक्षणे च प्रत्यक्षमविकल्पतया विना। विकल्पेन न सामान्यग्रहस्तस्मिन्नतोऽनुमा। (प्रमाण वार्तिक - ३।७५) या च संबन्धिनो धर्माद् भूतिधर्मिणि जायते। सानुमानं परोक्षणामेकं तेनैव साधनम्॥ ३।६२॥**

कोई संबंधित धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्षज्ञान होता है उसे अनुमान कहा जाता है। जगत में हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि सदा साथ में रहनेवाली दो वस्तुओ में से एक को देखकर दूसरी वस्तु की स्थिति की संभावना स्वयं उपस्थित हो जाती है। परन्तु प्रत्येक अवस्था में वह अनुभव प्रमाणकक्षा में नहीं आ सकता। परंतु दोनो वस्तुओ का उपाधिरहित संबंध सदा विद्यमान रहना चाहिए। उसको ही व्याप्तिज्ञान कहते है और इस व्याप्तिज्ञान के उपर ही अनुमान अवलंबित रहता है।)

इस प्रकार अनुमान परंपरा से बाह्य स्व-लक्षण के बल से उत्पन्न होता है, इसलिए प्रमाणरुप बनता है। वह इस प्रकार-यदि स्वलक्षणरुप (धूमादि) अर्थ न हो, तो तादात्म्य या तदुत्पत्तिरुप अविनाभावसंबंध रखनेवाले लिंग की संभावना ही नहीं है और लिंग के बिना लिंगविषयक ज्ञान किस तरह होगा ? (अर्थात् यदि लिंग ही नहीं है, तो लिंगज्ञान किस प्रकार होगा ?) लिंगज्ञान के बिना पहले निश्चित किये हुए संबंध (व्याप्ति) का स्मरण भी किस प्रकार होगा ? और उस व्याप्ति के स्मरण के बिना अनुमान भी किस प्रकार होगा ? इस प्रकार यद्यपि अनुमान भ्रान्त होने पर भी, परंपरा से अर्थ के साथ संबंध होने के कारण अनुमान की प्रमाणता का स्वीकार किया गया है। **इसलिये कहा है कि....** "अनुमान **अतस्मिन्** अर्थात् जो स्वलक्षणरुप नहीं है, उस मिथ्या सामान्य में **तद्ग्रह** अर्थात् स्वलक्षणात्मकता को ग्रहण करने के कारण भ्रान्त है, फिर भी संधान से (अर्थात् उस में परंपरा से अर्थ के साथ संबंध होने के कारण) प्रमाण है।"

यही बात को श्री धर्मकीर्ति ने 'विनिश्चय' नाम के ग्रंथ में दृष्टांत देकर पुष्ट करते हुए कहा है कि...

"मणि और दिपक की प्रभा में मणि की बुद्धि से प्रवृत्ति करनेवाले दो व्यक्तिओं का (अर्थात् मणि की प्रभा में मणि का ज्ञान करने से तथा दिपक की प्रभा में मणि का ज्ञान करने से, ये दो व्यक्तिओ का ज्ञान आलंबन की दृष्टि से भ्रान्त है। (मिथ्याज्ञान ही है।) फिर भी वे दो ज्ञानो से प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषो की अर्थक्रिया में विशेषता होती ही है। (अर्थात् मणिप्रभा में मणिबुद्धिवाले को मणि की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु दिपक की प्रभा में मणिबुद्धिवाले को मणि की प्राप्ति नहीं होती।) इस अनुसार अनुमान और अनुमानाभास

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि मिथ्या (अयथार्थ) है, तो भी अनुमान से प्रवृत्ति करने से अर्थक्रिया हो जाती है। (इस लिए अर्थक्रिया के अनुरोध से) अनुमान में प्रमाणता आती है। अनुमानाभास में प्रमाणता नहीं आती।"

तथानुमानलक्षणमाह-"त्रिरूपाल्लिङ्गतः" [अ]इत्यादि । त्रीणि रुपाणि पक्षधर्मत्वादीनि वक्ष्यमाणानि यस्य तत्त्रिरूपं त्रिस्वभावमित्यर्थः । तस्मात्त्रिरूपालिङ्गाद्धेतोः सम्यगवगताल्लिङ्गिनः परोक्षस्य वस्तुनो यज्ज्ञानं, तदनुमानसंज्ञितं प्रमाणम् । अनु पश्चाल्लिङ्गग्रहणादनन्तरं परोक्षस्य वस्तुनो मानं ज्ञानमनुमानमिति ह्यनुमानशब्दस्यार्थः । अत्र श्लोके चरमपादस्य नवाक्षरत्वेऽप्यार्षत्वान्न दोषः । इदमत्र तत्त्वम्-यथा जने छत्रादिलिङ्गैर्दृष्टैर्लिङ्गी राजा निश्चीयते, तथा त्रिरूपेण लिङ्गेन धूमादिना क्वचिदुपलब्धेन परोक्षः पदार्थो लिङ्गी वह्न्यादिस्तत्र सन् विज्ञायते । इदं च लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानमभिधीयते । तच्च द्वेधा,[B-17] स्वार्थं परार्थं च । यदा च त्रिरूपालिङ्गात् स्वयं लिङ्गिनं साध्यं प्रतिपद्यते, तदा स्वार्थमनुमानम् । यदा तु परं प्रति साध्यस्य प्रतिपत्तये त्रिरूपहेत्वभिधानं, तदा परार्थमनुमानमिति । 'लिङ्गिज्ञानं तु" इति । अत्र तुशब्दो विशेषणार्थ इदं विशिनष्टि । अत्र यत्त्रिरूपं लिङ्गं लिङ्गिनो गमकमुक्तं, तल्लिङ्गमनुपलब्धिस्वभावकार्यभेदात्त्रिधैव[B-18] भवतीति । तत्रानुपलब्धिश्चतुर्धा वर्ण्यते मूलभेदापेक्षया । तद्यथा । विरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, स्वभावानुपलब्धिश्च । विरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीत स्पर्शोऽग्नेः। विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमात् । कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात् । स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः । शेषास्तु सप्ताप्यनुपलब्धयो धर्मबिन्दु(न्यायबिन्दु)प्रभृतिशास्त्रप्रतिपादिता[B-19] एष्वेव चतुर्षु भेदेष्वन्तर्भवन्तीति प्रतिभेदरूपत्वान्नात्र पृथगभिहिताः । [B-20]स्वभावहेतुर्यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वात् । [B-21]कार्यहेतुर्यथाग्निरत्र धूमात् । एषु चानुपलब्ध्यादिषु त्रिषु हेतुषु [B-22]तादात्म्यतदुत्पत्तिसंबन्धबलादविनाभावो विद्यते, आद्यान्त्ययोरनुपलब्ध्योः स्वभावहेतोश्च तादात्म्यभावात्, मध्ययोरनुपलब्ध्योः कार्यहेतोश्च तदुत्पत्तिसद्भावात् । अविनाभावश्च तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव व्याप्तः । तादात्म्यतदुत्पत्ती चानुपलब्धिस्वभावकार्येष्वेव विद्येते, नान्यत्र । ततस्तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धविकलानामनुपलब्धिस्वभावकार्यव्यतिरिक्तानामर्थानां सर्वेषां हेत्वाभासतैव प्रत्येतव्या । तेन संयोग्यादिका[B-23] वैशेषिकादिकल्पिता हेतवो न भवन्ति, व्यभिचारस्य संभवात् । कारणात्कार्यानुमानं तु व्यभिचारित्वेनैव नाभ्युपगम्यते । यदपि रसतः समानसमयस्य रूपादेरनुमानं सौगतैरभ्युपगतं,[B-24] यदपि समग्रेण हेतुना कार्योत्पादानुमानं च, ते अपि स्वभावानुमानतयाभ्युपेते । तथाहि-ईदृशरूपान्तरोत्पादसमर्थः प्राक्तनो रूपक्षणः, ईदृशरसजनकत्वात्, पूर्वोपलब्धरूपवदिति रूपान्तरोत्पादरूपसामर्थ्यानुमानम् । योग्येयं

(अ) तत्र स्वार्थं त्रिरुपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् । न्यायबि० ।२।३।।

(B-17-18-19-20-21-22-23-24) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबन्धकविकला बीजादिसामग्री स्वकार्योत्पादने समग्रत्वात्, पूर्वदृष्टबीजादिसामग्रीवदिति योग्यतानुमानम् । अतः स्वभावहेतुप्रभवे एवैते, न पुनः कारणात् कार्यानुमान इति ।। १० ।।

टीका का भावानुवाद :

अब अनुमान का लक्षण कहते है...

पक्षधर्मत्वादि तीन स्वभावो से अर्थात् तीन लिंगो से परोक्ष ऐसी वस्तु का (लिंगि का) जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान नाम का प्रमाण कहा जाता है । अनुमान शब्द का अर्थ इस अनुसार है - अनु = पश्चात् अर्थात् लिंगग्रहण के अनंतर परोक्षवस्तु का मान = ज्ञान होता है, वह अनुमान कहा जाता है। यहां श्लोक के अंतिम पाद (चरण) में नौ अक्षर होने पर भी श्लोक ऋषिप्रणित होने से दोष नहीं है। (संक्षिप्तमें) कहने का आशय यह है कि, जैसे लोक में छत्रादि लिंगो को देखने के द्वारा लिंगी ऐसे राजा का निश्चय किया जाता है, वैसे तीन स्वरुपवाले कही पर प्राप्त हुए धूमादि लिंग के द्वारा परोक्ष पदार्थ ऐसे लिंगी वह्न्यादि की सत्ता का वहाँ ज्ञान होता है। लिंग से होनेवाला लिंगि के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। **वह अनुमान दो प्रकार से है। (१) स्वार्थानुमान, (२) परार्थानुमान ।** उसमें जब तीनरुपवाले लिंग से स्वयं लिंगि ऐसे साध्य का ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहा जाता है। परन्तु जब दूसरे को साध्य का ज्ञान कराने के लिये तीन रुपवाले हेतु का कथन किया जाये, तब वह परार्थानुमान कहा जाता है। श्लोक में **''लिङ्गिज्ञानं तु''** कहा, उसमें **''तु''** शब्द लिंग के भेदो को सूचित करता है।

यहां श्लोक में तीन रुपवाले लिंग को लिंगि (साध्य) का गमक कहा है, वह लिंग तीन प्रकार के है। (१) अनुपलब्धिहेतु, (२) स्वभावहेतु, (३) कार्यहेतु। उसमें अनुपलब्धि के मूलभेद की अपेक्षा से चार प्रकार है। (१) विरुद्धोपलब्धि, (२) विरुद्धकार्योपलब्धि, (३) कारणानुपलब्धि, (४) स्वभावानुपलब्धि। (अब चारो प्रकारो को उदाहरण के साथ समजाते है।)

(१) **विरुद्धोपलब्धि : ''यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः''** । यहाँ शीत स्पर्श नहीं है । क्योंकि उसका विरोधी अग्नि उपलब्ध है।

(२) **विरुद्धकार्योपलब्धि : ''यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमात् ।''** यहाँ शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि, उसके विरोधी अग्नि का कार्य धूम उपलब्ध है।

(३) **कारणानुपलब्धि : ''यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात् ।''** यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि, (धूमरुप कार्य का) कारण अग्नि उपलब्ध नहीं है ।

(४) **स्वभावानुपलब्धि : ''यथा नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य अनुपलब्धेः ।''** यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि, उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं है। अथवा दृश्य होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है । (उपलब्धिलक्षणप्राप्त का अर्थ है - धूम की उपलब्धि की यावत् सामग्री का समवधान होना ।)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरांत, शेष सात अनुपलब्धि भी धर्मबिंदु (न्यायबिंदु) इत्यादिक शास्त्रो में प्रतिपादित की हुई है। वे सात का (उपरोक्त) चार में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि, वे सात इस चार के प्रतिभेदरुप है, इसलिये यहाँ पृथक् (अलग) नहीं कही है।

★ **स्वभाव हेतु : यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्** । यह वृक्ष है। क्योंकि शिंशपा (एक प्रकार का वृक्ष) है।

★ **कार्य हेतु : यथा अग्निरत्र धूमात्** । यहाँ अग्नि है। क्योंकि (अग्नि का) कार्य धूम है।

यह अनुपलब्धि इत्यादिक तीन हेतुओ में तादात्म्य और तदुत्पत्तिसंबंध के कारण अविनाभाव का निश्चय होता है। उसमें प्रथम विरुद्धोपलब्धि, अंतिम स्वभावानुपलब्धि तथा स्वभावहेतु का तादात्म्यसंबंध है। मध्य के विरुद्धकार्योपलब्धि, कारणानुपलब्धि तथा कार्यहेतु का तदुत्पत्ति संबंध है। **यह अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही व्याप्त है तथा तादात्म्य और तदुत्पत्ति अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य में ही विद्यमान है।** इसलिये वे तीन ही लिंग है, उसके सिवा अन्य नहीं है। इसलिये तादात्म्य और तदुत्पत्ति के संबंध से विकल ऐसे अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य से अतिरिक्त सब अर्थो की हेत्वाभासता जानना। इसलिये संयोगि समवायि इत्यादि वैशेषिकादि द्वारा कल्पित (हेतु वास्तव में) हेतु नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार का संभव है।

उपरांत, कारण से कार्य के अनुमान में व्यभिचार होने से (बौद्धोंने) नहीं माना है। (क्योंकि, कारण होने पर भी कार्य दिखता नहीं है।) उपरांत, बौद्धो के द्वारा रस से समानकालिन अर्थात् रस का अनुभव करने से, उसके समानकालीन रुप का अनुमान तथा समग्र हेतु से कार्योत्पादक अनुमान का स्वीकार किया गया है। वे दोनो का अन्तर्भाव भी स्वभाव हेतु अनुमान में ही हो जाता है। जैसे कि.... पहले रुप क्षण रुपांतर को उत्पन्न करने में समर्थ है। क्योंकि, उसने ऐसा रस उत्पन्न किया है, जैसे कि पहले उपलब्ध रुप। इस प्रकार से पूर्व रूप से रुपांतर को उत्पन्न करने के सामर्थ्य का अनुमान स्वभावहेतु से ही किया गया है। इस प्रतिबंधको से रहित बीजादि सामग्री अपना कार्य उत्पन्न करने में योग्यता से युक्त है। क्योंकि समग्र है। जैसे कि पहले देखी हुई बीजादि सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करती थी। इस प्रकार यहाँ भी स्वभाव हेतु से ही योग्यता का अनुमान किया गया है। इस तरह अनुमानो की स्वभावहेतु से ही उत्पत्ति माननी चाहिए। परन्तु कारण से होनेवाले कार्यानुमानरुप नहीं ॥१०॥

अथानुपलब्ध्यादिभेदेन त्रिविधस्यापि लिंगस्य यानि त्रीणि रुपाणि भवन्ति, तान्येवाह –

अब अनुपलब्धि आदि भेद से तीन प्रकार के हेतुओ के जो तीन रुप होते है, उसे ही कहते है।

(मूल श्लो०) रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।

विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि[अ] विभाव्यताम् ।।११।।

(अ) "त्रैरुप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।।" न्यायबि० २/५ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लोकार्थ : (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्ष में विद्यमानता (= सपक्षसत्त्व), (३) विपक्ष में अविद्यमानता (= विपक्षासत्त्व) इस अनुसार तीन रुप हेतु के जानना।

व्याख्या-साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, तस्य धर्मः पक्षधर्मः, तद्भावः पक्षधर्मत्वम् । [अ]पक्षशब्देन चात्र केवलो धर्म्येवाभिधीयतेऽवयवे समुदायोपचारात् । यदि पुनर्मुख्य एव साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षो गृह्येत, तदानुमानं व्यर्थमेव स्यात्, साध्यस्यापि धर्मिवत्सिद्धत्वात् । ततश्च पक्षधर्मत्वं पक्षे धर्मिणि हेतोः सद्भावः । स[ब] च प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते । तत्र प्रत्यक्षतः कस्मिंश्चित्प्रदेशे धूमस्य दर्शनम् । अनुमानतश्च शब्दे कृतकत्वस्य निश्चयः । इदमेकं रूपम् । तथा समानः पक्षः सपक्षः[B-25], तस्मिन्सपक्षे दृष्टान्ते विद्यमानता हेतोरस्तित्वं सामान्येन भाव इत्यर्थः । इदं द्वितीयं रूपं, अस्य च 'अन्वयः' इति द्वितीयमभिधानम् । तथा विरुद्धः पक्षो विपक्षः साध्यसाधनरहितः, तस्मिन्विपक्षे नास्तिता हेतोरेकान्तेनासत्त्वम् । इदं तृतीयं रूपम्, अस्य च 'व्यतिरेक' इति द्वितीयमभिधानम्[B-26] । बएतानि पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणानि हेतोर्लिङ्गस्य त्रीणि रूपाणि । एवंशब्दस्य इतिशब्दार्थत्वादिति विभाव्यतां हृदयेन सम्यगवगम्यताम् ।

टीकाका भावानुवाद :

साध्य धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहा जाता है। (अर्थात् हेतु के पक्ष में रहना वह पक्षधर्मत्व।) पक्ष शब्द यद्यपि साध्यधर्म के युक्त धर्मी में रुढ है, फिर भी यहाँ पक्ष शब्द से केवल धर्मी का ही ग्रहण करना। यहाँ अवयवभूत शुद्धधर्मी में समुदायवाची पक्ष का उपचार करके पक्ष शब्द से शुद्धधर्म का कथन किया है।

यदि साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी ही मुख्यरुप से पक्ष शब्द द्वारा विवक्षित किया जाये तो अनुमान ही व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि, (पक्ष के ग्रहण समय) धर्मि की तरह धर्म साध्य भी सिद्ध ही होता है। इसलिये पक्षधर्मत्व का अर्थ है, पक्ष में अर्थात् धर्मी में हेतु का सद्भाव होना। हेतु की पक्षधर्मता का ज्ञान प्रत्यक्ष से या अनुमान से होता है। उसमें प्रत्यक्ष से कोई प्रदेश में (जहां अग्नि की सिद्धि करना इष्ट है वहां) धूम का दर्शन करने से पक्षधर्मता का ग्रहण हो जाता है। (अनित्यत्व को सिद्ध करने के लिए प्रयोजित किया गया) कृतकत्व हेतु का शब्दरुप पक्ष में रहना, यह अनुमान द्वारा प्रतीत होता है, इस प्रकार पक्षधर्मत्व हेतु का एक रुप है।

समान पक्ष को सपक्ष कहा जाता है। वह सपक्ष में अर्थात् दृष्टांत में हेतु की विद्यमानता = अस्तित्व (उसे सामान्य से) सपक्षसत्त्व कहा जाता है। (**पर्वतो वह्निमान धूमात्**। स्थल में पर्वतरुप पक्ष में हेतु धूम का

(अ) "पक्षो धर्मी, अवयवे समुदायोपचारात्" - (हेतु बि० - पृ. ५२)

(ब) "तत्र पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धिः । यथा प्रदेशे धूमस्य शब्देवा कृतकत्वस्य" (हेतु बि० पृ-५३)

(B-25-26) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहना वह पक्षधर्मत्व और सपक्ष महानस में हेतु धूम का रहना वह सपक्षसत्त्व ।) यह सपक्षसत्त्व हेतु का दूसरा रुप है और उसका दूसरा नाम **अन्वय** है।

तथा विरुद्ध पक्ष को विपक्ष कहा जाता है। अर्थात् साध्य-साधनरहित जो होता है उसे विपक्ष कहा जाता है। उस विपक्ष में हेतु के एकांत से असत्त्व वह विपक्षासत्त्व । (जैसे कि जलह्रद, साध्य-वह्नि या साधन धूम दोनो से रहित होने से विपक्ष है। उस विपक्ष में धूम हेतु एकांत से नहीं है वह विपक्षासत्त्व) वह हेतु का तीसरा रुप है और उसका दूसरा नाम **व्यतिरेक** भी है। (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व । ये तीन हेतु = लिंग के रुप है। श्लोक में "**एवं**" शब्द "**इति**" शब्दार्थक है। तथा **विभाव्यताम्** - अर्थात् हृदय से सम्यग् जानना ।

तत्र हेतोर्यदि पक्षधर्मत्वं रूपं न स्यात्, तदा महानसादौ दृष्टो धूमोऽन्यत्र पर्वतादौ वह्निं गमयेत्, न चैवं गमयति, ततः पक्षधर्मत्वं रूपम् । तथा यदि सपक्षसत्त्वं रूपं न स्यात्, तदा साध्यसाधनयोरगृहीतप्रतिबन्धस्यापि पुंसो धूमो दृष्टमात्रो धनंजयं ज्ञापयेत्, न चैवं ज्ञापयति, अतः सपक्षसत्त्वं रूपम् । तथा यदि विपक्षासत्त्वं रूपं न स्यात्, तदा धूमः साध्यरहिते विपक्षे जलादावपि वह्निमनुमापयेत्, न चैवमनुमापयति, तेन विपक्षासत्त्वं रूपम् । अथवाऽनित्यः शब्दः, काकस्य कार्ष्ण्यात्, अत्र न पक्षधर्मः । अनित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्, अत्र सपक्षविपक्षाभावादेव न सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वे । अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, पटवत् । लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात्, द्रुमादिवत् । सलोमा मण्डूकः, उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात्, हरिणवत् । निर्लोमा वा हरिणः उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात्, मण्डूकवत् । एष्वनित्यत्वादिसाध्यविपर्ययेऽपि हेतूनां वर्तनान्न विपक्षासत्त्वम् । तत एतानि त्रीणि समुदितानि रूपाणि यस्य हेतोर्भवन्ति, स एव हेतुः स्वसाध्यस्य गमको भवति, नापरः ।

टीकाका भावानुवाद :

अब हेतु के तीनो रुपो की सार्थकता बताते है।

यदि पक्षधर्मत्व हेतु का स्वरुप न माने तो महानस (रसोईघर में) देखे हुए धूम से अन्यत्र पर्वतादि मे भी अग्नि का अनुमान होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये (नियतधर्मी में ही साध्य के अनुमान की व्यवस्था के लिये) पक्षधर्मत्व हेतु का स्वरुप अवश्य मानना चाहिये। उपरांत यदि सपक्षसत्त्व हेतु का स्वरुप न माने तो जिस व्यक्ति ने साध्य तथा साधन का अविनाभाव स्वरुप संबंध ग्रहण किया नहीं है। उसको (प्रथम बार) केवल धूम को देखकर अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिये। परंतु ऐसा अनुमान होता हुआ देखा नहीं है। इसलिये सपक्षसत्त्व को भी हेतु का स्वरुप मानना चाहिए। (जो व्यक्ति ने साध्य-साधन के नियत साहचर्य स्वरुप व्याप्ति को नहीं जाना, वह धूम-अग्नि का अनुमान नहीं कर सकता। इसलिये सपक्षसत्त्व को भी हेतु का स्वरुप मानना चाहिये।)

इस अनुसार यदि हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप नहि मानोंगें तो धूम हेतु साध्य रहित अर्थात् विपक्षभूत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जलाशय में वह्नि का अनुमान करा देता। परन्तु इस तरह हेतु अनुमापक बनता नहीं है। इसलिये हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप भी मानना चाहिए।

अथवा **शब्दोऽनित्यः काकस्य कार्ष्ण्यात्**। शब्द अनित्य है क्योंकि कौआ काला है, यहाँ हेतु का पक्ष में अस्तित्व नहीं है। इसलिए पक्षधर्मत्व हेतु का स्वरुप नहीं है। इसलिये हेतु साध्य का गमक नहीं बनता।

शब्दोऽनित्यः श्रावणत्वात्। शब्द अनित्य है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य है। यहाँ सपक्ष और विपक्ष दोनो का अभाव है। इसलिये सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व स्वरुप हेतु के दो स्वरुप नहीं है।

(१) **शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात् पटवत्**। शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है। यहाँ प्रमेयत्व हेतु साध्यविपर्यय विपक्ष में भी रहता है। इसलिये विपक्षसत्त्व है, विपक्षासत्त्व हेतु का स्वरुप नहीं है।

(२) **वज्रं लोहलेख्यं पार्थिवत्वात् द्रुमादिवत्**। वज्र लोहे से कटाता है क्योंकि पार्थिव (पृथ्वी) है, जैसेकि वृक्षादि। यहाँ पार्थिवत्वहेतु साध्यविपर्यय विपक्ष में रहता होने से हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप नहीं है।

(३) **मण्डूकः सलोमाः उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात् हरिणवत्**। यहां हेतु विपक्ष में रहता है। इसलिये हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप नहीं है।

(४) **हरिणो निर्लोमा, उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात्, मण्डूकवत्**। यहाँ हेतु विपक्ष में रहता है। इसलिये हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप नहीं है।

इस तरह उपरोक्त चार में हेतु विपक्ष में रहता होने से हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप नहीं है। इसलिये वे हेतु साध्य के गमकं नहीं बनते है।

इसलिये ये तीन रुप एकसाथ हेतु के होते है, तब ही वह हेतु स्वसाध्य का गमक होता है। एक या दो रुप हो तो स्वसाध्य का गमक नहीं होता है।

नन्वेतल्लक्षणा हेतवः कति भवन्तीति चेत् ? ननूक्तं पुरापि एतल्लक्षणा अनुपलब्धिस्वभावकार्याख्यास्त्रय[B-27] एव हेतव इति। एषामुदाहरणानि प्रागेवोपदर्शितानि, तथापि पुनः स्वभावहेतुरुदाह्रियते[B-28], सर्वं क्षणिकमिति पक्षः, सत्त्वादिति हेतुः, अयं हेतुः सर्वस्मिन्वर्तत इति पक्षधर्मत्वम्, यत्सत्तत्क्षणिकं यथा विद्युदादीति सपक्षसत्त्वम्। यत्क्षणिकं न भवति, तत्सदपि न भवति, यथा खपुष्पम्। अत्र क्षणिकविपक्षे नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियालक्षणस्य सत्त्वस्यानुपपत्तितो नित्यात्सत्त्वस्य व्यावृत्तिरिति विपक्षासत्त्वम्, सञ्च सर्वमित्युपनयः, सत्त्वात्सर्वं क्षणिकमिति निगमनम्। एवमन्यहेतुष्वपि ज्ञेयम्। यद्यपि व्याप्त्युपेतं पक्षधर्मतोपसंहाररूपं सौगतैरनुमानमाम्नायि, तथापि मन्दमतीन्व्युत्पादयितुं पञ्चावयवानुमानदर्शनमप्यदुष्टमिति। अयमत्र श्लोकद्वयस्य तात्पर्यार्थः, पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणरूपत्रयोपलक्षितानि त्रीण्यैव लिङ्गानि, अनुपलब्धिः, स्वभावः, कार्यं, चेति।

(B-27-28) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

शंका : तीन रुपवाले हेतु कितने प्रकार से होते है ?

समाधान : पहले भी हमने तीन स्वरुपवाले हेतुओ के (१) अनुपलब्धि, (२) स्वभाव और (३) कार्य इस तरह तीन प्रकार कहे थे और उसके उदाहरण भी पहले बता चुके है। तो भी पुनः (फिरसे) स्वभावहेतु का उदाहरण देते है।

सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात् । यहां **'सर्वं क्षणिकम्'** पक्ष है और **'सत्त्व'** हेतु है। "सत्त्व" हेतु, पक्ष **'सर्व'** में रहता है। इसलिये हेतु का पक्षधर्मत्व स्वरुप है।

यत् सत् तत् क्षणिकम् यथा विद्युदादि । अर्थात् जो सत् है वह क्षणिक होता है। जैसे कि, बीजली इत्यादि। यहाँ सपक्ष में हेतु रहता है। इसलिये हेतु का सपक्षसत्त्व स्वरुप विद्यमान है।

यत् क्षणिकं न भवति, तत्सदपि न भवति यथा खपुष्पम् । जो क्षणिक नहीं है वह सत् भी नहीं है। जैसेकि आकाशकुसुम। (यहाँ विपक्ष में हेतु की अवृत्ति है। इसलिये हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप विद्यमान है।) उपरांत क्षणिक के विपक्षभूत नित्य में क्रम से या युगपद् से अर्थक्रिया स्वरुप सत्त्व की (पहेल बताये अनुसार) संगति होती न होने से अर्थात् नित्य में क्रम या युगपद् से अर्थक्रिया संगत न होने से विपक्षभूत नित्य में से सत्त्वरुप हेतु की व्यावृत्ति होती है। इसलिये हेतु का विपक्षासत्त्व स्वरुप है।

तथा **'सच्च सर्वम्'** सर्व सत् है। इस अनुसार उपनय है। **सत्त्वात् सर्वं क्षणिकम्** – सत्त्व होने से सर्व क्षणिक है यह निगमन है।

इस प्रकार अन्य हेतुओ में भी जानना। यद्यपि व्याप्तियुक्त पक्षधर्मता के उपसंहारस्वरुप अनुमान बौद्धो को द्वारा स्वीकृत हुआ है। तो भी मंदबुद्धिवालो को बोध देने के लिये पंचावयवयुक्त अनुमानवाक्य बताया गया है। उसमें कोई दोष नहीं है।

(उपरोक्त) दो श्लोक का तात्पर्यार्थ यह है कि पक्षधर्मत्व, अन्वय और व्यतिरेक स्वरुप तीन रुपो से उपलक्षित लिंग हेतु के अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य ऐसे तीन प्रकार है।

अत्रानुक्तोऽपि विशेषः कश्चन लिख्यते । [अ]**तत्र प्रमाणादभिन्नमर्थाधिगम एव प्रमाणस्य**[B-29] **फलम् । तर्कप्रत्यभिज्ञयोरप्रामाण्यं, परस्परविनिर्लुठितक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणानि स्वलक्षणानि**[B-30]**, प्रमाणगोचरस्तात्त्विकः ।** [B-31]**वासनारूपं कर्म, सुखदुःखे धर्माधर्मात्मके पर्याया एव सन्ति, न द्रव्यम् । वस्तुनि केवलं स्वसत्त्वमेव, न पुनः परासत्त्वमिति सामान्येन बौद्धमतम् । अथवा वैभाषिक-**

अ द्वादशैव पदार्थो आयतनसंज्ञयोच्यंते, तद्यथा-पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च शब्दादयो मनो धर्मायतनं च । धर्मास्तु सुखादयो विज्ञेयाः अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणस्य लक्षणं । प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे । इति प्रत्यन्तरेऽधिकः पाठो दरीदृश्यते ।

(B-29-30-31) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिक-भेदाच्चतुर्धा बौद्धा भवन्ति । तत्रार्यसमितीयापरनामकवैभाषिकमतमदः - चतुःक्षणिकं वस्तु । जातिर्जनयति । स्थितिः स्थापयति । जरा जर्जरयति । विनाशो विनाशयति । तथात्मापि तथाविध एव पुद्गलश्चासावभिधीयते । B-32निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणमिति । सौत्रान्तिकमतं पुनरिदम्-रुपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः सर्वशरीरिणामेते पञ्च स्कन्धाB-33 विद्यन्ते, न पुनरात्मा । त एव हि परलोकगामिनः । तथा च तत्सिद्धान्तःB-34 । पञ्चेमानि भिक्षवः संज्ञामात्रं प्रतिज्ञामात्रं संवृतिमात्रं व्यवहारमात्रम् । कतमानि पञ्च । अतीतोऽद्धा, अनागतोऽद्धा, सहेतुको विनाशः, आकाशं, पुद्गल इति । अत्र पुद्गलशब्देन परपरिकल्पितो नित्यत्वव्यापकत्वादिधर्मक आत्मेति । बाह्योऽर्थो नित्यमप्रत्यक्ष एव ज्ञानाकारान्यथानुपपत्त्या तु सन्नवगम्यते । साकारो बोधः प्रमाणम्B-35 । तथा क्षणिकाः सर्वसंस्काराः । स्वलक्षणं B-36परमार्थः यदाहुस्तद्वादिनः । प्रतिक्षणं विशरारवो रुपरसगन्धस्पर्शपरमाणवो ज्ञानं चेत्येव तत्त्वमिति [ ] । B-37अन्यापोहः शब्दार्थः । तदुत्पत्तितदाकारताभ्यामर्थपरिच्छेदः । B-38नैरात्म्यभावनातो ज्ञानसंतानोच्छेदो मोक्ष इति ।

टीकाका भावानुवाद :

यहाँ मूल श्लोक में नहि कहा हुआ भी कुछ विशेष कहा जाता है। अर्थाधिगम प्रमाण का फल है, कि जो प्रमाण से सर्वथा अभिन्न होता है। तर्क और प्रत्यभिज्ञा प्रमाणभूत नहीं है। स्वलक्षण, परस्पर अत्यंत भिन्न क्षणिक परमाणुरुप होता है। वही प्रमाण का तात्त्विक विषय है। कर्म वासनारुप है। सुख और दुःख धर्माधर्मस्वरुप पर्याय ही है। द्रव्यरुप नहीं है। वस्तु में मात्र स्वसत्त्व ही होता है। परन्तु परासत्त्व नहीं होता है। अर्थात् परस्वरुप से असत्त्व (नास्तिता) नहीं होता। यह सामान्य बौद्धमत का निरुपण है।

अथवा वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक के भेद से चार प्रकार के बौद्ध है। उसमें आर्यसमितीय जिनका दूसरा नाम है उस वैभाषिक का मत यह है कि, वस्तु चार क्षणस्थायी होती है। अर्थात् चारक्षण पर्यन्त रहती है। जाति (क्षण को) उत्पन्न करता है। स्थिति स्थापन करती है, जरा जर्जरित करती है और विनाश नाश करता है। आत्मा भी चारक्षण स्थायी है और उस प्रकार के आत्मा को ही पुद्गल कहा जाता है।

अर्थ के साथ उत्पन्न होनेवाले तथा एकसामग्री को अधीन है, ऐसा निराकारबोध अर्थ में प्रमाण है। (यहाँ याद रखना कि, जैसे पूर्व-अर्थक्षण से उत्तर अर्थक्षण उत्पन्न होती है। उसी तरह उससे ज्ञान भी उत्पन्न होता है। पूर्व अर्थक्षण उत्तर अर्थक्षण में उपादान कारण होती है और ज्ञान में निमित्तकारण होती है।)

सौत्रान्तिक मत यह है - सर्व जीवो के रुप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कन्ध होते है,

(B-32-33-34-35-36-37-38) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु आत्मा नहीं है। वही स्कन्ध परलोक में जाते है। उनका वह (स्पष्ट) सिद्धांत है कि, हे भिक्षुओ ! ये पांचो वस्तुएं संज्ञामात्र है, प्रतिज्ञामात्र है, संवृत्तिमात्र है और व्यवहारमात्र है। वे पांच वस्तुएं कौन सी है ? (१) अतीतकाल, (२) अनागतकाल (३) सहेतुक विनाश, (४) आकाश, (५) पुद्गल

यहाँ पुद्गल शब्द से नैयायिक आदि परपरिकल्पित नित्यत्व - व्यापकत्व आदि धर्मवाला आत्मा अर्थ का अभिप्राय है। अर्थात् नैयायिक आदि द्वारा माना गया नित्य-व्यापक धर्मवाला आत्मा है। वही बौद्धोके माना हुआ पुद्गल है। बाह्यार्थ हंमेशा अप्रत्यक्ष ही रहता है। वह बाह्यार्थ की सत्ता का ज्ञान तो ज्ञान में प्रतिबिंबित आकार से ही किया जाता है। अर्थात् ज्ञान में प्रतिबिंबित होता आकार अन्यथा अनुपपन्न रहता है। इसलिये बाह्यार्थ की सत्ता का अनुमान किया जाता है। **साकारबोध ही प्रमाण है**। तथा सर्व संस्कार क्षणिक है। 'स्वलक्षण' ही वास्तविक अर्थ है। प्रतिक्षण विनाश होता रुप, रस, गंध तथा स्पर्श के परमाणु तथा ज्ञान ही तत्त्व है। शब्द का अर्थ (वाच्य) विधिरुप नहीं होता, परन्तु अन्यथापोहरुप होता है। ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होके तथा पदार्थ के आकार को ग्रहण करके अर्थ का परिच्छेदक बनता है। **नैरात्म्यभावना से ज्ञान के संतान का सर्वथा उच्छेद होता है और वही मोक्ष है।**

योगाचारमतं त्विदम्-[B-39]**विज्ञानमात्रमिदं भुवनम्, नास्ति बाह्योऽर्थः, ज्ञानाद्वैतस्यैव तात्त्विकत्वात् । अनेके ज्ञानसंतानाः । साकारो बोधः प्रमाणम् । वासनापरिपाकतो नीलपीतादिप्रतिभासाः ।** [B-40]**आलयविज्ञानं हि सर्ववासनाधारभूतम् । आलयविज्ञानविशुद्धिरेवापवर्ग इति । माध्यमिकदर्शने** [B-41]**तु-शून्यमिदं,** [B-42]**स्वप्नोपमः प्रमाणप्रमेययोः प्रविभागः ।** "मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः, तदर्थं शेषभावना" [प्र.वा० १/२५६] इति । **केचित्तु माध्यमिकाः** [अ]**स्वस्थं ज्ञानमाहुः ।** [B-43]**तदुक्तम्-**"अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते, प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविस्तरः (विसरः) सौत्रान्तिकैराश्रितः । योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा, मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वस्थां परां संविदम् ।। १ ।।" **[ ]** इति । **ज्ञानपारमिताद्या** [B-44]**दशग्रन्थाः ।** [B-45]**तर्कभाषा हेतुबिन्दुस्तट्टीकार्चटतर्कनाम्नी प्रमाणवार्तिकं तत्त्वसंग्रहो न्यायबिन्दुः कमलशीलो न्यायप्रवेशकश्चेत्यादयस्तद्ग्रन्था इति ।। एवं बौद्धमतमभिधाय तदेव संचिक्षिप्सुरुत्तरं चाभिसंधित्सुराह-**

(मू. लो.) बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य संक्षेपोऽयं निवेदितः ।।१२-पूर्वार्ध।।

बौद्धराद्धन्तस्य सौगतसिद्धान्तस्य यद्वाच्यं तस्य संक्षेपोऽयमनन्तरोदितो निवेदितोऽभिहितः । इति श्रीतपागणनभोंगणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिक्रमकमलोपजीविशिष्यश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकाभिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां बौद्धमतप्रकटनो नाम प्रथमोऽधिकारः ।।

(अ) स्वच्छं प० १, २, भ० १, २।

(B-39-40-41-42-43-44-45) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

● योगाचारमत इस प्रकार है – यह संसारमात्र विज्ञानस्वरुप ही है। बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं है। क्योंकि ज्ञानाद्वैत ही तात्त्विक है। ज्ञानसंतान अनेक है। साकारबोध प्रमाण है। अनादिकालीन वासना के परिपाक से ही ज्ञान में नील–पितादि अनेक आकारो का प्रतिभास होता है। **आलयविज्ञान की विशुद्धि को ही मोक्ष कहा जाता है।**

★ माध्यमिक मत इस प्रकार है : यह जगत शून्य है। प्रमाण और प्रमेय का विभाग स्वप्न जैसा ही है। शून्यता के दर्शन से मुक्ति होती है और क्षणिकत्वादि शेषभावनाएँ शून्यता के पोषण के लिये ही है। कुछ माध्यमिको ने ज्ञान को साकार माना है। (कोई बाह्य पदार्थ आलंबन नहीं होता, वह निरालंबन ही होता है।) कहा है कि – "मतिमान वैभाषिक ज्ञान और अर्थ का स्वीकार करते है। सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु के इस विस्तार को प्रत्यक्ष मानता नहीं है। योगाचार साकारबुद्धि को ही परमतत्त्व मानते है और माध्यमिक स्वाकार ज्ञान = निरालंबन ज्ञान को ही परमतत्त्व मानते है।

बौद्धो के ज्ञानपारमिता इत्यादि दस ग्रंथ है। तर्कभाषा, हेतुबिन्दु, अर्चटकृत हेतुबिंदु की अर्चटतर्क नाम की टीका, प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसंग्रह, न्यायबिन्दु, कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, न्यायप्रवेशक इत्यादि बौद्धो के प्रसिद्ध ग्रंथ है।

इस अनुसार बौद्धमत का निरुपण करके, उसका उपसंहार करने के लिये तथा उत्तर प्रकार दर्शन का प्रारंभ करने के लिए ग्रंथकारश्री कहते है कि...

यह बौद्ध सिद्धांत का संक्षिप्त वर्णन किया गया। बौद्धसिद्धांत का जो वाच्यार्थ है, उसका संक्षेप विवेचन यह नजदीक में (पास में) कहा गया।

॥ श्रीतपागच्छरुपी आकाश में सूर्यसमान प्रतापी श्रीदेवसुन्दरसूरिजी के चरणकमल के उपासक श्रीगुणरत्नसूरिजी विरचित तर्करहस्यदीपिका नाम की षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ की टीका में बौद्धमत को प्रकट करनेवाला प्रथम अधिकार सानुवाद पूर्ण हुआ ॥

॥ अस्तु ॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धदर्शन का विशेषार्थ

बौद्धो के चार भेद : (१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार, (४) माध्यमिक।

(१) वैभाषिक मत की मान्यता : उसका दूसरा नाम आर्यसमितीय है। **उनका मत इस अनुसार है।** वस्तु चारक्षणवाली है। उसमें जातिक्षण उत्पन्न होता है, स्थितिक्षण स्थापित करता है। जराक्षण जर्जरीत करता है। विनाशक्षण विनाश करता है। इस अनुसार आत्मा भी उस प्रकारका ही पुद्गल कहा जाता है। **अर्थ के साथ होनेवाला, एक सामग्री के आधीन जो निराकार बोध है, वह यहाँ अर्थ में प्रमाण है।**

बौद्धधर्म के सिद्धान्त का केन्द्रबिन्दु और बुद्ध-दर्शन का समस्तसिद्धान्त जिसके उपर प्रतिष्ठित है उसका नाम धर्म है। "धर्म" शब्द का प्रयोग भारतीय दार्शनिक जगतमें बहोत सारे अर्थो में होता है। **बौद्धदर्शन में 'धर्म' का अभिप्राय भूत और चित्त के सूक्ष्मतत्त्वो से है।** जिसका पृथक्करण ज्यादा नहीं हो सकता, उसके ही धर्मो के आघात और प्रतिघात से वह वस्तु संपन्न होती है। उसे जगत कहा जाता है। **यह जगत बौद्ध धर्म की कल्पनानुसार धर्मो के परस्पर मिलन से एक संघातमात्र है। वे धर्म अत्यंत सूक्ष्म है वे सत्तात्मक होते है।** और इसलिए सत्ता बौद्धधर्म के आदिकाल में तथा वैभाषिक सहित सौत्रान्तिक और योगाचार को सर्वथा मान्य है।

पुद्गल - नैरात्म्य को मानने का तात्पर्य धर्मो की सत्ता में विश्वास करना वह है। निर्वाण की कल्पना का संबंध इस धर्मो के अस्तित्व से नितान्तगहन है। ये धर्मो के रुप में गौतमबुद्ध के उपदेश का सारांश नीचे के श्लोक में है।

ये धर्मा हेतु- प्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्। अवदच्च यो निरोधो एवंवादी महाश्रमणः ॥

-इस जगत में जितने धर्म है वे हेतु से उत्पन्न हुअे है। उनके हेतु को बुद्धने बताया है। उस धर्मो का निरोध भी होता है। महाश्रमणने उसके निरोध का भी कथन किया है।

धर्म की कल्पना से नीचे की बाते मान्य करते हैं।

(१) प्रत्येक धर्म पृथक् सत्ता रखता है-पृथक् शक्तिरुप है।

(२) एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ किसी प्रकार का अन्योन्याश्रय, समवायसंबंध नहीं है। इसलिये ही गुणो से अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता नहीं होती। **इस प्रकार से भिन्न-भिन्न इन्द्रिय ग्राह्य विषयो को छोडकर 'भूत' की पृथक् सत्ता नहीं होती। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न मानसिक व्यापारो से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है।** (धर्म = अनात्म)

(३) धर्म क्षणिक होता है। एक क्षण में एक धर्म रहता है। चैतन्य स्वयं क्षणिक है। एकक्षण से अतिरिक्त वह रहता नहीं है। गतिशील शरीरो की वस्तुतः स्थिति नहीं होती। प्रत्युत नये स्थानो में नयेधर्मो का संतानरुप में आविर्भाव होता है कि जो गतिशील द्रव्य जैसा दीखता है। **(धर्मतत्त्व = क्षणिकत्व)**

(४) धर्म परस्पर मिलके नवीन वस्तु को उत्पन्न करता है। कोई धर्म अकेला वस्तु का उत्पादन नहीं करता है। धर्म परस्पर मिलकर नयी वस्तु का उत्पादन करता है। **(संस्कृत)**

(५) धर्म के परस्पर व्यापार से जो कार्य उत्पन्न होता है वह कार्य-कारण नियम के वश में रहता है। **इस जगत के सर्व धर्म परस्पर कार्य-कारण रुप से संबद्ध है और उसका नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है।** (जिसका वर्णन आगे किया हुआ है।)

(६) यह जगत वस्तुतः सूक्ष्म (७२ प्रकार के) धर्मो के संघात का परिणाम है। धर्म का यह स्वभाव है कि वह कारण से उत्पन्न होता है। **(हेतु-प्रभव)** और अपने विनाश की ओर स्वतः आगे बढता है। **(निरोध)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) **अविद्या और प्रज्ञा परस्पर विरोधी धर्म है। अविद्या के कारण जगत का यह प्रवाह पूरजोश में चलता है और प्रज्ञा धर्म का उदय होने से इस प्रवाह में ह्रास उत्पन्न होता है और धीरे-धीरे शान्ति के रुप में परिणत होता है।**

(८) **धर्मो को चार भाग में बांटा है।** १. चंचलावस्था (दु:ख), २. चंचलावस्था का कारण (समुदय), ३. परम शान्ति की दशा (निरोध), ४. शान्ति का उपाय (मार्ग)।

(९) **इस जगत की प्रक्रिया का चरम अवसान निरोध में है।** जो निर्विकार शान्ति की दशा है। उस समय संघात का नाश हो जाता है। **(असंस्कृत = निर्वाण)**। इस मान्यताओ को सूत्ररुप से इस तरह रखा जा सकता है।

धर्मता=नैरात्म्य=क्षणिकत्व=संस्कृतत्व=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व=सास्रवत्व=अनास्रवत्व=संक्लेश=व्यवदानत्व=दु:खनिरोध=संसार=निर्वाण।

● **धर्मो का वर्गीकरण :** उस धर्मो के अस्तित्व में वैभाषिक को विश्वास है। इसलिये वैभाषिको की "**सर्वास्तिवादि**" संज्ञा सार्थक है। वैभाषिको के मतानुसार यह नानात्मक जगत वस्तुत: सत्य है और उसकी स्वतंत्र सत्ताका अनुभव हमको हमारे प्रत्यक्षज्ञान द्वारा प्रतिक्षण में होता है। चक्षु-इन्द्रिय द्वारा हम घटको देखते है, देखकर यह घट है। ऐसा जान सकते है। उसका पानी लाने में इस्तेमाल भी कर सकते है। इत्यादि हम प्रत्यक्ष महसूस कर सकते है। इससे "अर्थकारिता" होने से वह घट यथार्थ है, और उस यथार्थता का ज्ञान हमको इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष स्वरुप में होता है। **इससे जगत की स्वतंत्र सत्ता प्रत्यक्ष गम्य है - यह वैभाषिको का मुख्य-तथ्य है।**

इस जगत के दो प्रकार है। (१) बाह्य (घटादि स्वरुप) और (२) अभ्यन्तर (सुख-दु:खादिरुप). भूत तथा चित्त, ये दोनो प्रकार के जगत की सत्ता स्वतंत्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष है।

जगतकी मूलभूत वस्तुओ (धर्मो) के विभाग वैभाषिकोने दो प्रकार से किये है। (अ) विषयीगत (ब) विषयगत।

(अ) विषयीगत विभाजन : विषयीगत विभाजन **तीन प्रकार से होता है।** (१) पंच स्कन्ध, (२) द्वादश आयतन, (३) अठारह धातु।

(१) पंच स्कन्ध : स्थूलरुप से यह जगत "नामरुपात्मक" है। यह शब्द प्राचीन उपनिषदो में से लीया हुआ है। परन्तु बुद्धने उस अर्थ का कुछ परिवर्तन किया हुआ है। "रुप" जगत के समस्त भूतो का सामान्य अधिवचन है। "नाम", मन तथा मानसिक प्रवृत्तिओ की साधारण संज्ञा है। जिसको वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञानरुप से विभक्त करने से चार स्कन्ध होते है। इस प्रकार से "**नामरुप**" का ही विस्तृतविभाजन "**पंचस्कन्ध**" है।

(२) बार आयतन : आयतन का व्युत्पत्ति अर्थ (**आयं प्रवेशं तनोतीति आयतनम्**) है प्रवेशमार्ग। वस्तु का ज्ञान अकेला ही उत्पन्न नहीं होता। उसको अन्य वस्तुओ की सहकारिता अपेक्षित है। इन्द्रियो की मदद (सहाय) के बिना विषय के ज्ञान का उदय नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति के द्वारभूत होने से इन्द्रिय तथा तत्सम्बद्ध विषय को "**आयतन**" शब्द द्वारा अभिहित किया गया है।

अध्यात्म आयतन (अभ्यन्तरद्वार याने इन्द्रिय)	बाह्य आयतन
(१) चक्षुरिन्द्रिय आयतन	(७) रुप आयतन
(२) श्रोत्रइन्द्रिय आयतन	(८) शब्द आयतन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) घ्राणइन्द्रिय आयतन	**(९) गंध आयतन**
(४) जिह्वाइन्द्रिय आयतन	**(१०) रस आयतन**
(५) स्पर्श (कायेन्द्रिय) आयतन	**(११) स्पष्टव्य आयतन**
(६) बुद्धि (मन) इन्द्रिय आयतन	**(१२) बाह्य इन्द्रिय से अग्राह्य विषय (धर्म अथवा धर्मायतन)**

वैभाषिको (सर्वास्तिवादि) का कथन है कि उनके सिद्धांत को बुद्धने स्वयं प्रतिपादित किया है। अपने उपदेश के समय उन्हों ने स्वयं कहा था कि "**समस्त वस्तुएं विद्यमान है। कौनसी वस्तुएं विद्यमान है ? ऐसे प्रश्न के जवाब में बुद्धने कहा था कि बार आयतन सर्वदा विद्यमान रहते है और उसको छोडकर अन्य वस्तुएं विद्यमान रहती नहीं है।**" इस कथन का यह अर्थ है कि वस्तु की सत्ता के लिये बारह आयतन आवश्यक है। वे या तो पृथक् इन्द्रियरुप में अथवा या तो पृथक् इन्द्रिय ग्राह्य विषय होना चाहिए। ये दोनो में से एक भी न हो, तो उसकी सत्ता मान्य नहीं है। जैसे "आत्मा" की सत्ता, जो न तो इन्द्रिय है, न तो इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्यविषय है। इसलिए आत्मा की सत्ता नहीं है।

(३) अठारह धातु : ("धातु" शब्द वैद्यक शास्त्रानुसार लिया है, उस) अनुसार इस शरीर में अनेक धातुओ का सन्निवेश है। इस प्रकार से बुद्धधर्म इस जगत में अनेक धातुओ की सत्ता मानते है।

अथवा "धातु" शब्द खनीज पदार्थो के लिये व्यवहृत होता है। जिस प्रकार से गहरे खड्डे में से धातु बाहर निकाली जाती है। उस प्रकार से सत्ताभूत जगत के भिन्न-भिन्न अवयवो या उपकरणो को "धातु" कहा जाता है। **जो शक्तिओ के एकीकरण से घटनाओ का एक प्रवाह (संतान) निष्पन्न होता है। उसकी संज्ञा "धातु" है।** छः इन्द्रिय, छः विषय, तथा छः विज्ञान, इस प्रकार अठारह धातु है। इन्द्रिय और विषय का वर्णन उपर है। इन्द्रियो का विषय के साथ संपर्क होने से एक प्रकार का विशिष्ट ज्ञान (विज्ञान) उत्पन्न होता है। वह इन्द्रियो की संख्या के अनुसार ६ प्रकार का है।

त्रैधातुक जगत का परस्पर भेद : बौद्धधर्म इस विश्व को तीन लोक में विभक्त करता है और उसके लिए "धातु" शब्द प्रयुक्त है। (उपर के विभाजन में धातु शब्द भिन्न अर्थ में है।) जगत दो प्रकार का है। (१) भौतिक (रुपधातु) (२) अभौतिक धातु।

★ भौतिकलोक दो प्रकार का होता है। वासना-कामना से युक्त लोक=कायधातु तथा कामनाहीन, विशुद्धभूत निर्मित (जगत) रुपधातु है।

★ कायधातु में जो जीव निवास करता है, उसमें अठारह धातु विद्यमान रहता है।

(ब) विषयगत वर्गीकरण : वैभाषिकोने (सर्वास्तिवादियोने) ये धर्मो की संख्या ७५ मानी है। उसके पहले हुअे स्थविरवादियोने १७० मानी है। और उसके बाद होनेवाले योगाचारने १०० मानी है। तीनो संप्रदायो के अनुसार धर्म के प्रथमतः दो विभाग है। (१) संस्कृत, (२) असंस्कृत। संस्कृत - **सम् = सम्भूय अन्योन्यमपेक्ष्य कृताः जनिता इति संस्कृता** - अर्थात् परस्पर मिलकर, एकदूसरे की सहायता से उत्पन्न होनेवाले धर्म, उसे **संस्कृत** कहा जाता है। संस्कृतधर्म हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होता है और इसलिये वह अस्थायी, अनित्य, गतिशील तथा आश्रव (रागादि मल) से संयुक्त होता है। इससे विपरीत धर्मो को **असंस्कृत** कहा जाता है, कि जो हेतुप्रत्यय से उत्पन्न नहीं होते, इसलिये ही वे स्थायी, नित्य, गतिहीन तथा अनाश्रव होता है। असंस्कृत धर्म का अवान्तरभेद नहीं है। **परन्तु संस्कृत धर्मो के चार अवान्तरभेद वैभाषिको ने किया है। (१) रुप, (२) चित्त, (३)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैत्तसिक तथा (४) चित्तविप्रयुक्त, (ये चार भेद योगाचार को भी मान्य है, परन्तु स्थविरवादियो को अंतिम प्रभेद (चित्तविप्रयुक्त) मान्य नहीं है।)

तुलनात्मक वर्गीकरण

	धर्म	स्थविरवादि	सर्वास्तिवादि	योगाचार
	असंस्कृत	१	३	६
संस्कृत	रुप	२८	११	११
	चित्त	८९	१	८
	चैत्तसिक	५२	४६	५१
	चित्तविप्रयुक्त	X	१४	२४
		१७०	७५	१००

★ **वैभाषिको के मतानुसार संस्कृत धर्मो के ७५ भेदो का वर्णन :-**

(१) रुप - ११ प्रकार से है। (१) चक्षुरिन्द्रिय, (२) श्रोत्रेन्द्रिय, (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) रसनेन्द्रिय, (५) कायइन्द्रिय, (६) रुप, (७) शब्द, (८) गंध, (९) रस, (१०) स्पष्टव्य विषय, (११) अविज्ञप्ति। **रुप** का अर्थ साधारण भाषा में भूत है। रुप की व्युत्पत्ति है **'रुप्यते इति रुपम्'** । **जो धर्म रुप धारण करता है वह रुप का लक्षण अप्रतिघत्व है।** प्रतिघ अर्थात् रोकना। **बौद्धधर्मानुसार रुपधर्म एक समय में जो स्थान को ग्रहण करता है, वह स्थान दूसरो के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता।**

पांच इन्द्रिय : वैभाषिक (सर्वास्तिवादि) यथार्थवादि दर्शन है। अर्थात् हमारी इन्द्रियो के द्वारा बाह्य जगत का जो स्वरुप प्रतीत होता है उसको वे सत्य और यथार्थ मानते है। वे परमाणुओकी सत्ता मानते है। विषय परमाणु का पुञ्जरुप नहीं है। प्रत्युत इन्द्रियाँ भी परमाणुजन्य है। जिसको हम साधारणतया नेत्र नाम से पहचानते है। वह वस्तुत: चक्षुरिन्द्रिय नहीं है। चक्षु वस्तुत: अतीन्द्रिय पदार्थ है। जिसकी सत्ता भौतिकनेत्र में विद्यमान है। नेत्र अनेक परमाणुओका पूञ्ज है। उसमें चारमहाभूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु) और चार इन्द्रिय ग्राह्य (शब्द के अतिरिक्त) विषयो के परमाणु विद्यमान ही होते है। साथ ही उसमें कायेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय के परमाणुओ का भी अस्तित्व होता है। इस प्रकार से नेत्र, परमाणुओ का संघात है। श्रोत्रेन्द्रिय, जैसे पैड़ के छिलके को उतार लिया जाये तो अपनेआप छिलका वापस आ जाता है, वैसे ही वे परमाणु कि जिससे श्रोत्र बनी है, वे निरंतर वापस आ जाते है।

घ्राणेन्द्रिय के परमाणु नाक के अन्दर रहते है। रसनेन्द्रिय के परमाणु जिह्वा (जीभ)के उपर रहते है और उसका आकार अर्धचन्द्र जैसा है। काय (स्पर्श) इन्द्रिय के परमाणु समस्त शरीर में फेले हुअे है। शरीर में जितने परमाणु होते है, उतने ही कायेन्द्रिय के परमाणु की संख्या रहती है। इस प्रकार रुप के ११ प्रकार में से पांच कहे गये।

(६) **रुप :** चक्षु का विषय रुप है। जो प्रधानतया दो प्रकार का है। (१) वर्ण (रंग), (२) संस्थान (आकृति)

★ **वर्ण बारह प्रकार के है :** नील, पित्त, लोहित, अवदात (शुभ्र) यह चार **प्रधानवर्ण** है तथा मेघ (मेघ-बादल का रंग) धूम, रज, महिका (पृथ्वी या जल से नीकलनेवाले नीहार का रंग,) छाया, आतप (सूर्य की चमक), आलोक (चन्द्रमा का शीतप्रकाश,) अंधकार, यह आठ **अप्रधानवर्ण** है।

★ **संस्थान आठ प्रकार का है :** दीर्घ, ह्रस्व, वर्तुल (गोल), परिमण्डल, (सूक्ष्म गोल), उन्नत, अवनत, शात (समाकार), विशात (विषम आकार)।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

★ **शब्द :** आठ प्रकार है। (१) **उपात्त महाभूतहेतुक :** ज्ञानशक्ति रखनेवाले प्राणीओ द्वारा उत्पन्न। (२) **अनुपात्त महाभूत हेतुक :** ज्ञान शक्ति से हीन अचेतन पदार्थों के द्वारा उत्पन्न। (३) **सत्त्वाख्य :** प्राणीजन्य वर्णात्मक शब्द। (४) **असत्त्वाख्य :** वायु-वनस्पति के संतानजन्य ध्वन्यात्मक शब्द। प्रत्येक के मनोज्ञ और अमनोज्ञ, दो भेद है। इस प्रकार से आठ प्रकार है।

(८) **गंध :** चार प्रकार की है। (१) सुगंध, (२) दुर्गंध, (३) उत्कट, (४) अनुत्कट। समगंध और विषमगंध ऐसे दो भेद भी अन्यत्र उपलब्ध होते है। उसमें समगंध शरीर की पोषक है और विषमगंध शरीर की पोषक नहीं है।)

(१०) **स्पष्टव्य = स्पर्श :** कायेन्द्रिय से स्पर्श की प्रतीति होती है। उसके प्रकार ११ है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, ये चार महाभूतो का स्पर्श तथा ७ भौतिक स्पर्श। श्लक्ष्ण (चिकनाहट), कर्कश, लघु (हल्का), गुरु (भारी), शीत, बुभुक्षा (भूख) तथा पिपासा (प्यास)।

(११) **अविज्ञप्ति :** कर्म का यह एक विशिष्ट प्रकार है। कर्म दो प्रकार के है। (१) चेतना, (२) चेतनाजन्य।

(चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक् कायकर्मणी। चेतना का अर्थ मानसकर्म। तथा चेतनाजन्य का अर्थ कायिक और वाचिककर्म है। चेतनाजन्य प्रकार के दो कर्म है। (१) विज्ञप्ति, (२) अविज्ञप्ति।

विज्ञप्ति का अर्थ है प्रकटकर्म। अविज्ञप्तिका अर्थ अप्रकट-अनभिव्यक्त कर्म है। कर्म का फल अवश्य मिलता है। कुछ कर्मो का फल प्रकट होता है। कुछ कर्मो का फल तुरंत ही अभिव्यक्त नहीं होता। परन्तु वह कालान्तर में फल देता है। यह दूसरे प्रकारो के कर्मो की संज्ञा ''अविज्ञप्ति'' है। वह वस्तुत: कर्म न होते हुए कर्म का फल है। जैसे कि, कोई व्यक्ति कोई व्रत का अनुष्ठान करे तो वह विज्ञप्ति कर्म हुआ। परंतु उसके अनुष्ठान से उसका विज्ञान गूढरुप से शोभन बन जाता है वह अविज्ञप्ति कर्म। इस प्रकार के अविज्ञप्ति को (कर्म को) ही वैशेषिकोने **अदृष्ट** और मीमांसको ने **अपूर्व** कहा है। वैशेषिक मत में कोई घटनाएं ऐसी होती है कि जिसके कारण हम प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, इसलिये अदृष्ट कारण कहा जाता है।

मीमांसक मानते है कि किये हुऐ यज्ञयाग का फल तत्काल ही उत्पन्न नहीं होता। परन्तु वह **'अपूर्व'** उत्पन्न करता है। जो कालान्तर में तत् तत् कर्म का फल के प्रति कारण बनता है। अविज्ञप्ति को रुप का प्रकार मानना योग्य है। क्योंकि, जिस प्रकार छाया पदार्थ के पीछे-पीछे सदा चलती है, उसी प्रकार अविज्ञप्ति भी भौतिक कर्म का अनुसरण सर्वदा करती है।

(२) चित्त : १ प्रकार से है। **(३) चैत्तसिक :** ४६ प्रकार के है। उसका असंस्कृत धर्म के बाद वर्णन है। **(४) चित्तविप्रयुक्त धर्म :** (१४ प्रकार के है) इस धर्मो का न तो भौतिक धर्मो में अन्तर्भाव होता है न चैत्तधर्मो में।

(१) प्राप्ति : धर्मो को संतानरुप में नियमित रखने की शक्ति। **(२) अप्राप्ति :** प्राप्ति का विरोधी धर्म। **(३) निकाय-सभागता :** प्राणीओ में समानता उत्पन्न करनेवाला धर्म। वह वैशेषिको के सामान्य का प्रतीक है। **(४) आसंज्ञिक :** यह शक्ति जो प्राचीनकर्मो के फलानुसार मनुष्य को चेतनाहीन समाधि में परिवर्तित करती है। **(५) असंज्ञी समापत्ति :** मानस प्रयत्न, जिसके द्वारा समाधि की दशा उत्पन्न होती है। **(६) निरोध-समापत्ति :** यह शक्ति जो चेतना को बंध करके निरोध उत्पन्न करती है। **(७) जीवित :** जिस प्रकार से बाण (तीर) फेंकते समय जो शक्ति का प्रयोग होता है, वह बाण को नीचे पडने के समय को सूचित करता है। उसी प्रकार जन्म के समय की शक्ति, मृत्यु की सूचना देती है - अर्थात् जीवित रहने की शक्ति। **(८) जाति-जन्म (९) स्थिति :** जीवित रहना। **(१०) जरा :** वृद्धावस्था। **(११) अनित्यता :** नाश। **(१२) नाम-कार्य =**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद। (१३) **पद-कार्य** = वाक्य। (१४) **व्यंजन कार्य** = वर्ण।

★ **वैभाषिक मतानुसार असंस्कृत धर्म :**

(पूर्व में) असंस्कृत शब्द की व्याख्या करते वक्त बताया है कि, यह धर्म हेतु प्रत्यय से उत्पन्न न होने से कारण वे स्थायी और नित्य है। आश्रव (रागादि मल) के संपर्क से नितान्त विरहित होने से ये धर्म अनाश्रव (विशुद्ध) तथा सत्यमार्ग का द्योतक माना जाता है।

स्थविरवादियों की (वैभाषिक स्थविरवादि का ही प्रभेद है। उसकी) कल्पना में असंस्कृत धर्म एक ही है और वह निर्वाण है। निर्वाणका अर्थ है बूजना। जैसे अग्नि अथवा दीपक बुज जाता है। **तृष्णाके कारण नामरुप (विज्ञान तथा भौतिक तत्त्व) जीवनप्रवाह का रुप धारण करके सर्वदा प्रवाहित रहता है। इस प्रवाह के अत्यंत उच्छेद को ही निर्वाण कहा जाता है।**

जो अविद्या, राग-द्वेष आदि के कारण यह जीवन-संतान की सत्ता बनी हुई है। उस अविद्या के निरोध अथवा समुच्छेद से निर्वाण का उदय होता है। और वह इस जीवन में उपलब्ध होता है, अथवा शरीरपात होने के बाद उत्पन्न होता है। इसलिये उसके दो प्रकार है। (१) सोपधिशेष, (२) निरुपधिशेष।

★ आश्रव क्षीण होने से जो अर्हत् जीवित रहता है, उसमें पांच स्कन्धप्रयुक्त अनेक विज्ञान शेष रहते है. इसलिए उस निर्वाण का नाम है - **सोपधिशेष। ★** शरीरपात होने से संयोजन (बंधन) के क्षय के साथ साथ उपाधियां दूर हो जाती है उसे ''**निरुपधिशेष**'' निर्वाण कहा जाता है।

★ ये दोनो निर्वाण में इतना भेद है कि जो जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में है। (जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति सेश्वरवादि सांख्य (पातंजल) और अद्वैत वेदांती की मान्यता है।)

क्लेश तथा कर्म की निवृत्ति होने से पुरुष जीता होने पर भी मुक्त होता है। उसको जीवन्मुक्त कहा जाता है। और देह छोड देने के बाद विदेहमुक्त कहा जाता है।) वैभाषिकों ने (सर्वास्तिवादियोंने) इस असंस्कृत धर्म के तीन प्रकार माने है। (१) आकाश, (२) प्रतिसंख्यानिरोध, (३) अप्रतिसंख्यानिरोध।

(१) **आकाश : ''तत्राकाशम् अनावृत्तिः''** अनावृत्ति का तात्पर्य यह है कि आकाश न तो दूसरो को आच्छादित करता है। न तो दूसरे धर्मो के द्वारा (स्वयं) आवृत्त होता है। कोई भी रुप को अपने में प्रवेश करने से रोकता नहीं है। आकाश नित्य, अपरिवर्तनशील असंस्कृतधर्म है। इसलिये आकाश भावात्मक पदार्थ है। वह शून्यस्थान नहीं है। न तो भूत या भौतिक पदार्थो का निशेषरुप है।

(२) **प्रतिसंख्यानिरोध :** 'प्रतिसंख्या' का अर्थ है प्रज्ञा अथवा ज्ञान। प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न सास्रवधर्मो का पृथक्-पृथक् (भिन्नभिन्न) वियोग। यदि प्रज्ञा का उदय होने से कोई सास्रवधर्म के विषय में राग या ममता का सर्वथा परित्याग किया जाये तो उस धर्म के लिये ''प्रतिसंख्यानिरोध'' का उदय होता है। जैसे कि, सत्कायदृष्टि, यह समस्तक्लेशो की जननी है। इसलिये ही ज्ञान द्वारा उस भावना का सर्वथा निरोध कर देना वह असंस्कृत धर्मो का स्वरुप है।

(३) **अप्रतिसंख्यानिरोध :** अर्थात् प्रज्ञा के बिना ही निरोध। पूर्वनिर्दिष्ट निरोध जब प्रज्ञा के बिना ही स्वाभाविक रुप से उत्पन्न होता है, तब वह अप्रतिसंख्यानिरोध कहा जाता है। जिस हेतु-प्रत्ययो के कारण जो धर्म उत्पन्न होता है, उसको ही दूर कर देने से वह धर्म स्वभावतः निरुद्ध हो जाता है। जैसे कि ईन्धन के अभाव से अग्नि। इस निरोध की विशेषता यह है कि वह भविष्य में उत्पन्न नहीं होता।

''प्रतिसंख्यानिरोध'' में ''आश्रवक्षयज्ञान'' उत्पन्न होता है। अर्थात् समस्तमलो के क्षीण होने से ही ज्ञान

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न होता है। भविष्य में उसकी उत्पत्ति की संभावना बनी रहती है। परन्तु ''अप्रतिसंख्यानिरोध'' का फल ''अनुत्पादनज्ञान'' है। भविष्य में रागादि क्लेशो की किसी भी प्रकार से उत्पत्ति नहीं होती। जिससे भवचक्र से सदा के लिये मुक्तिलाभ कर लेता है।

ये तीनो धर्म स्वतंत्र है और नित्य है।

(२) **चित्त :** इस जगत में आत्मा नाम का कोई स्थायी नित्य पदार्थ नहीं है। वस्तुओ को ग्रहण करनेवाला कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। वह केवल हेतु और प्रत्यय के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न होता है। साधारण रुप से हम जिसको जीव कहते है। बौद्धदर्शन उसके लिये चित्त शब्द का प्रयोग करता है। चित्त की सत्ता वहाँ तक रहती है कि जहाँ तक इन्द्रिय तथा ग्राह्यविषयो के परस्पर घात-प्रतिघात अस्तित्व है और जब इन्द्रियो और विषयो के परस्पर घात-प्रतिघात का अंत हो जाता है, तब चित्त की भी समाधि हो जाती है। यह कल्पना सर्वास्तिवादि (वैभाषिक), स्थविरवादि और योगाचार तीनो को मान्य है। वे मानते है कि सर्वदा चित्त प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और कार्य-कारण के नियमानुसार नवीनरुप धारण करता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त, मन तथा विज्ञान समानार्थक माने जाते है। जब हमे चित्त की निर्णयात्मक प्रवृत्ति रखनेवाले अंश के उपर प्रधानता देनी होती है तब हम 'मन' का प्रयोग करते है।

चित्त वस्तुओ को ग्रहण करने में जब प्रवृत्त होता है, तब चित्त की संज्ञा ''विज्ञान'' है।

चित्त का अर्थ है - कोई भी वस्तु का सामान्यज्ञान, आलोचनमात्र या निर्विकल्पज्ञान।

चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है। परन्तु आलंबनो की भिन्नता के कारण उसके सात प्रकार इस अनुसार होते है।

(१) **मनस् :** छठ्ठी इन्द्रिय के रुप में विज्ञान का अस्तित्व। मन के द्वारा हम बाह्य इन्द्रियो से अगोचर पदार्थो को अथवा अमूर्त पदार्थो का ग्रहण करते है। मनोविज्ञान के उदय होने पर भी पूर्वक्षण का मन प्रतीक होता है।

(२-६) चक्षुविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान - आलोचन ज्ञान, जब चक्षु आदि इन्द्रियो के साथ सम्बद्ध होता है, तब उसकी तत् तत् विभिन्न संज्ञाएँ होती है।

(३) **चैत्तधर्म :** चित्त के साथ घनिष्ट रुप से संबंध रखने के कारण चैत्तधर्म को ''**चित्तसंप्रयुक्त धर्म**'' भी कहा जाता है। चैत्तधर्म की संख्या ४६ है। वह नीचे के छः प्रकारो में बांटा गया है।

(क) **चित्तमहाभूमिक धर्म :** साधारण मानसिक धर्म है। जो विज्ञान की प्रतिक्षण में विद्यमान रहता है। इस धर्म की संख्या दस है। **(१) वेदना :** सुख, दुःख, असुखदुःख - उदासीनता। **(२) संज्ञा :** नाम। **(३) चेतना :** प्रयत्न (चित्तप्रस्यन्दः)। **(४) छन्द :** इच्छितवस्तु की अभिलाषा, **(५) स्पर्श :** विषय तथा इन्द्रियो का प्रथम संबंध। **(६) प्रज्ञा :** मति, विवेक जिसके द्वारा संकीर्ण धर्मो का संपूर्ण पृथक्करण होता है। **(७) स्मृति :** स्मरण। **(८) मनसिकार :** अवधान। **(९) अधिमोक्ष :** वस्तु की धारणा। **(१०) समाधि :** चित्त की एकाग्रता।

(ख) **कुशलमहाभूमिक धर्म :** दस शोभन नैतिक संस्कार है कि, जो अच्छे कार्य है। वह अनुष्ठान की प्रतिक्षण में विद्यमान रहता है। **(१) श्रद्धा :** चित्त की विशुद्धि, **(२) अप्रमाद :** अच्छे कार्यो में जागृति, **(३) प्रश्रब्धिः** चित्त की लघुता, **(४) अपेक्षा :** चित्त की समता-प्रतिकूल वस्तु से प्रभावित न होना, **(५) ह्री :** हमारे कार्यो की लज्जा, **(६) अपत्रया :** दूसरो के कार्यो की ओर लज्जा, **(७) अलोभ :** त्यागभाव, **(८) अद्वेष :** मैत्री, **(९) अहिंसा (१०) वीर्य :** शुभकार्य में उत्साह।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) **क्लेशमहाभूमिक धर्म :** बुरे कार्यो के विज्ञान के सम्बन्ध छः धर्म है। **(१) मोह :** (अविद्या) - अज्ञान, प्रज्ञा से विपरित धर्म-संसार का मूल। **(२) प्रमाद, (३) कौसीद्य :** कुशलकार्य में अनुत्साह, **(४) अश्राद्धय :** श्रद्धा का अभाव। **(५) स्त्यान :** अकर्मण्यता, **(६) औद्धत्य :** सुख तथा क्रीडा में हमेशां लगा रहना।

(घ) **अकुशलमहाभूमिक धर्म :** वह दो प्रकार के है। ये दोनो प्रकार में सदैव बुरा फल उत्पन्न करता है। इसलिये वह अकुशल है। **(१) आह्रीक्य :** अपने कुकर्मो के उपर लज्जा का अभाव, **(२) अनपत्रता :** निंदनीय कार्यो में भय न रखना।

(ध) **उपक्लेशभूमिक धर्म :** परिमित रहनेवाले क्लेश उत्पादक धर्म दस यह है। **(१) क्रोध, (२) म्रक्ष :** छल या दंभ, **(३) मात्सर्य :** दूसरे के गुण या उत्कर्ष का द्वेष करना, **(४) ईर्ष्या :** घृणा, **(५) प्रदास :** बुरी वस्तुओ को ग्राह्य मानना, **(६) विहिंसा :** कष्ट पहुंचाना। **(७) उपनाह :** शत्रुता, मैत्री तोडना, **(८) माया :** छल, **(९) शाठ्य :** शठता, **(१०) मद :** आत्मसन्मान से प्रसन्नता। ये दस धर्म बिलकुल मानस है। वह मोह या अविद्या के साथ संबंध रखता है। इसलिये उसे ज्ञान के द्वारा दबाया जा सकता है। उसे क्षुद्रभूमिवाला माना जाता है।

(च) **अनियतभूमिक धर्म :** ये धर्म पूर्वधर्मो से भिन्न है। इस धर्मो की घटना की भूमि निश्चित नहीं है। वे आठ है। **(१) कौकृत्य :** खेद, पश्चात्ताप, **(२) मिद्ध (निद्रा) :** विस्मृति-परक चित्त, **(३) वितर्क :** कल्पना परक चित्त की दशा, **(४) विचार :** निश्चय, **(५) राग, (६) द्वेष, (७) मान, (८) विचिकित्सा :** संशय, संदेह।

(२) **सौत्रान्तिकमत :- नीलपितादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः ।**

सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ॥ (गाथार्थ आगे बताया गया है।)

सौत्रान्तिकमत भी सर्वास्तिवादियो की दूसरी प्रसिद्ध शाखा है। सौत्रान्तिक लोग सूत्र (सुत्रान्त) को ही बुद्धमत की समीक्षा के लिये प्रामाणिक मानता है। ''तथागत'' का आध्यात्मिक उपदेश **''सुत्तपिटक''** के ही कुछ सूत्रो में सन्निविष्ट है। वे लोग उसको प्रमाणित कहते है। इससे उसका नाम सौत्रान्तिक पडा है। (वैभाषिक लोग, अभिधर्म की **'विभाषाटीका'** को ही सर्वतः प्रमाणित मानते है। इससे उसका नाम वैभाषिक पडा हुआ है। सौत्रान्तिको **'अभिधर्मपिटक'** को बुद्धवचन नहीं मानते है।) सौत्रान्तिक मत के संस्थापक आचार्य कुमारलात माना जाता है। और उसे संभवतः नागार्जुन के समकालीन माना जाता है। यह आचार्य महायान (हीनयान और महायान का वर्णन आगे करेगें। उसमें महायान) के प्रति विशेष आदरवाले थे।

सिद्धांत : सत्ता के विषय में सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी है। अर्थात् उनकी दृष्टि में धर्मो की सत्ता मान्य है। वे लोग केवल चित् (या विज्ञान) की ही सत्ता नहीं मानते है। परन्तु बाह्य पदार्थो की भी सत्ता स्वीकार करते है।

(विज्ञानवादियों की यह मान्यता है कि विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। बाह्यपदार्थ की सत्ता मानना वह भ्रान्ति तथा कल्पना पर आश्रित है। इसके उपर सौत्रान्तिको का आक्षेप है कि यदि बाह्य पदार्थ की सत्ता नही मानेंगे तो उसकी काल्पनिक स्थिति की भी समुचित व्याख्या नहीं की जा सकेगी।

विज्ञानवादियो का कहना है कि ''भ्रान्ति के कारण ही विज्ञान बाह्यपदार्थो के समान प्रतीत होता है।'' उसके सामने सौत्रान्तिक लोग कहते है कि, वह साम्य की प्रतीति तब सुयुक्तिक है कि जब बाह्यपदार्थ वस्तुतः विद्यमान हो. अन्यथा जैसे विन्ध्यापुत्र के समान कहना निरर्थक है। इस प्रकार से 'अविद्यमान बाह्यपदार्थ के समान है' ऐसा बताना यह भी अर्थशून्य है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान और बाह्यवस्तु की समकालिनप्रतीति दोनो की एकता बताती है। यह कहना वह भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि, आरंभ से ही जब हम घटका प्रत्यक्ष करते है, तब घटकी प्रतीति बाह्यपदार्थ के रुप में होती है। विज्ञान अनन्तररुप में प्रतीत होता है। लोकव्यवहार भी बताता है कि, ज्ञान का विषय तथा ज्ञान के फल में अंतर है। घट की प्रतीतिकाल में घट प्रत्यक्ष का विषय है। तथा उसका फल अनुव्यवसाय ("घटज्ञानवानहं" अथवा **"वह्निव्याप्यधूमवन्तं पर्वतमहं जानामि"** ऐसा जो अनुव्यवसाय) पीछे से होता है। इसलिये विज्ञान तथा विषय का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है। यदि विषय और विषयी की अभेद कल्पना मान लेंगे तो 'में घट हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। विषयी है 'हूं' और विषय है **'घट'**। दोनो की एकरुप में अभिन्न प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु लोक में ऐसा कभी नहीं होता। इसलिये घट को विज्ञान से पृथक् मानना चाहिए।

यदि समग्रपदार्थ विज्ञानरुप ही हो, तो उसमें परस्पर भेद किस प्रकार मानेंगे ? घट कपडे से भिन्न है। परन्तु विज्ञानवाद में तो वह एक विज्ञान का स्वरुप होने से उसका एकाकारपन होना चाहिए। इसलिये सौत्रान्तिकमत में बाह्यजगत की सत्ता उतनी ही प्रमाणिक और अभ्रान्त है, जितनी आंतरजगत के विज्ञान की सत्ता। बाह्यार्थ की प्रतीति के विषय में सौत्रान्तिको का विशिष्टमत है।

(१) वैभाषिक लोग बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष मानता है। दोषरहित इन्द्रियो द्वारा बाह्य अर्थ की जैसी प्रतीति हमको होती है वैसे ही वे बाह्य पदार्थ है। **परन्तु सौत्रान्तिको का इसके उपर आक्षेप है कि.... यदि समग्रपदार्थ क्षणिक ही है, तो कोई भी वस्तु के स्वरुप का प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है। जिस क्षण में कोई वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियो का सम्पर्क होता है, उसी क्षण में वह वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होके अतीत के गर्भ में चला जाता है। केवल तज्जन्य संवेदन शेष रहते है। प्रत्यक्ष होनेसे पदार्थो के नील, पीत आदि चित्र चित्तके पट के उपर खींचके आते है। मन के उपर जो प्रतिबिंब उत्पन्न होता है, उसको चित्त देखता है और उसके द्वारा वह उसके उत्पादक बाह्यपदार्थो का अनुमान करता है। (नीलपितादि जो श्लोक आगे बताया है। वह इस बात को सूचित करता है।) इसलिये बाह्य अर्थ की सत्ता प्रत्यक्षगम्य नहीं, अनुमानगम्य है। यह सौत्रान्तिकवादियों का सबसे प्रसिद्ध सिद्धांत है।**

(२) **ज्ञान के विषय में वे स्वतः प्रामाण्यवादि है। उनका कहना है कि जिस प्रकार प्रदीप खुद को स्वयं जानता है - प्रकाशित करता है। उस प्रकार से ज्ञान अपना संवेदन अपने आप ही करता है और उसका नाम है "स्वसंवित्ति" अर्थात् संवेदन**। यह सिद्धांत विज्ञानवादियो को संमत (मान्य) है।

(३) **बाह्यवस्तु विद्यमान अवश्य रहती है (वस्तुसत्)। परन्तु सौत्रान्तिको में मतभेद यह है कि बाह्यपदार्थो का कोई आकार है या नहीं**। कुछ लोगो का कहना है कि बाह्य पदार्थो का स्वयं अपना आकार होता है। कुछ दार्शनिको की मान्यता में वस्तु का आकार बुद्धि द्वारा निर्मित किया जाता है। बुद्धि ही आकार को पदार्थ में सन्निविष्ट करती है। तीसरे प्रकार के मत में उपर के दोनो मतो का समन्वय है। उनके अनुसार वस्तु का आकार उभयात्मक होता है।

(४) **परमाणुवाद के विषय में भी सौत्रान्तिको का अपना एक विशिष्ट मत है**। उनका कहना यह है कि, परमाणुओ में कोई प्रकार का पारस्परिक स्पर्श का अभाव होता है। स्पर्श वह पदार्थो में होता है कि जो अवयव से युक्त हो। लेखिनी (पेन-कलम) और हाथ का स्पर्श होता है। क्योंकि दोनो सावयव पदार्थ है। परमाणु निरवयवपदार्थ है। इसलिए एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ स्पर्श नहीं हो सकता। यदि दोनो का स्पर्श होगा तो दोनो में तादात्म्य हो जायेगा। जिससे अनेक परमाणुओ का संघात होने पर भी उसका परिमाण अधिक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होगा। **परमाणु में स्पर्श मानना उचित नहीं है। परमाणुओ के बीच कोई अंतर नहीं है। इसलिए वह अंतरहीन पदार्थ है।**

(५) विनाश का कोई हेतु नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही विनाश के धर्मवाली है। वस्तु अनित्य नहीं है। परन्तु क्षणिक है। उत्पाद का अर्थ है – **अभूत्वा भावः** (अर्थात् सत्ता धारण न करने की अनन्तर अन्तरस्थिति) पुद्गल (आत्मा) तथा आकाश सत्ताहीन पदार्थ है। वस्तुतः सत्य नहीं है। **क्रिया-वस्तु तथा क्रियाकाल में किंचित् मात्र भी अंतर नहीं है। वस्तु असत्त्व से उत्पन्न होती है। एक क्षण तक अवस्थान को धारण करती है और बाद में लीन हो जाती है। तो भूत तथा भविष्य की सत्ता कैसे मानेंगें ?**

(६) वैभाषिक रुप के (१) वर्ण और (२) संस्थान, इस तरह दो प्रकार मानते है। परन्तु सौत्रान्तिक '**रुप**' से '**वर्ण**' ही अर्थ लेते है। संस्थान को रुप में नहीं लेते है।

(७) प्रत्येक वस्तु दुःख उत्पन्न करनेवाली है। सुख भी दुःख उत्पन्न करता है। इसीलिए सौत्रान्तिक मतवाले पदार्थो को दुःखमय मानते है।

(८) सौत्रान्तिक मत में अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) दोनो शून्य है। (**तथा सौत्रान्तिकमतेऽतीतानागतं शून्यमन्यदशून्यम्** ।) वर्तमानकाल ही सत्य है। (वैभाषिको ने भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो काल का अस्तित्व माना है।)

(९) निर्वाण के विषय में सौत्रान्तिक मत के आचार्य (श्रीलब्ध) का एक विशिष्टमत है। **उनका कहना है कि प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध में कोई प्रकार का अंतर नहीं है।**

प्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है – प्रज्ञानिबन्धन भाविक्लेशानुत्पत्ति अर्थात् प्रज्ञा के कारण भविष्य में उत्पन्न होनेवाले समस्त क्लेशो का न होना। **अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है** – क्लेशनिवृत्तिमूलक दुःखानुत्पत्ति अर्थात् क्लेशो की निवृत्ति के उपर ही दुःख अर्थात् संसार की अनुत्पत्ति अवलंबित है। इसलिये क्लेश का उत्पन्न न होना, वह संसार की उत्पत्ति न होने का कारण है।

★ **सौत्रान्तिकमतानुसार धर्मो का वर्गीकरण :** सौत्रान्तिक ४३ धर्मो को मानते है।

प्रमाण दो प्रकार के है। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान।

उसके विषय चार प्रकार के है। (१) रुप, (२) अरुप, (३) निर्वाण, (४) व्यवहार।

(१) **रुप दो प्रकार के है :** (१) उपादान और (२) उपादाय। वह प्रत्येक चार प्रकार के है। उपादान के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज और वायु की गणना होती है। और उपादाय में रुक्षता आकर्षण, गति तथा उष्णता, ये चार धर्मो की गणना होती है। इस प्रकार रुप के आठ प्रकार है।

(२) **अरुप दो प्रकार के है :** (१) चित्त और (२) कर्म

(३) **निर्वाण दो प्रकार के है :** (१) सोपधि और (२) निरुपधि

(४) **व्यवहार दो प्रकार के है :** (१) सत्य और (२) असत्य

४३ धर्मो का वर्गीकरण :

(१) रुप = ८ (४ उपादान + ४ उपादाय), (२) वेदना = ३ (सुख, दुःख, न सुख – न दुःख (उदासीनता)), (३) संज्ञा= ६ (पांच इन्द्रिय + १ चित्त) (४) विज्ञान = ६ (चक्षु आदि पांच और मन, यह इन्द्रियो का विज्ञान।) (५) संस्कार = २० (१० कुशल + १० अकुशल)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) योगाचार (विज्ञानवादि) की मान्यता :

योगाचारमत बौद्धदर्शन के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है । उसकी दार्शनिक दृष्टि शुद्ध प्रत्ययवादकी है । **आध्यात्मिक सिद्धांत के कारण उसे ''विज्ञानवाद'' कहा जाता है । और धार्मिक तथा व्यवहारिक दृष्टि से उसका नाम ''योगाचार'' है ।** ऐतहासिक दृष्टि से 'योगाचार' की उत्पत्ति माध्यमिको के प्रतिवाद के स्वरुप में हुई है ।

माध्यमिक लोग जगत् के सर्वपदार्थो को शून्य मानते है । उसके प्रतिवाद में योगाचार संप्रदाय की उत्पत्ति हुई।

योगाचार मतवाले कहते है कि, जो बुद्धि के द्वारा जगत के पदार्थ असत्य प्रतीत हो रहे है (इसलिये) कम से कम वह बुद्धि को तो सत्य मानना ही पडेगा ।

इसलिये यह संप्रदाय विज्ञान (बुद्धि, चित्त, मन) को एकमात्र सत्य पदार्थ मानते है । इस मत की स्थापना मैत्रेयनाथने की हुई मानी जाती है । वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति इस मत के आचार्य थे ।

(आगे) सौत्रान्तिकमत की पर्यालोचना के अवसर पर उसका दार्शनिक दृष्टि से परिचय किया । उसके मत में बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान द्वारा अनुमेय है । हमको बाह्यार्थ की प्रतीति होती है । इसलिए हमको बाह्यार्थ की सत्ता का अनुमान होता है । इसलिये ज्ञान के द्वारा ही बाह्यपदार्थो के अस्तित्व का परिचय होता है । **विज्ञानवादि (योगाचार) उससे आगे बढकर कहता है कि, यदि बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान के उपर अवलंबित है, तो ज्ञान ही वास्तविक सत्ता है । विज्ञान अर्थात् विज्ञप्ति ही एकमात्र पदार्थ है । जगत के पदार्थ तो वस्तुतः माया-मरीचिका के समान निःस्वभाव तथा स्वप्नसमान निरुपाख्य है । जिसको हम बाह्यपदार्थ कहते है उसका विश्लेषण करे तो वहाँ आंख से देखे गये रंग-आकार, हाथ से छुअे हुअे रुक्षता, चिकनाहट आदि गुण मिलते है । इससे अतिरिक्त कोई वस्तुस्वभाव का परिचय हमको नहीं होता है ।**

प्रत्येक वस्तु को देखकर हमको नीला-पीला रंग तथा लंबाई, चौडाई, बड़ाई आदि को छोडकर केवल रुप-भौतिक तत्त्व दिखाइ देता नहीं है । बाह्यपदार्थ का ज्ञान हमको किसी भी प्रकार से नहीं होता । यदि बाह्यपदार्थ अणुरुप है, तो उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा । और यदि प्रचय रुप है । (अर्थात् अनेक परमाणुओ के संघात से बना हुआ) हो तो भी उसका ज्ञान संभव नहीं है । क्योंकि प्रचयरुप पदार्थो के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का एककालिक ज्ञान संभव नहीं है । ऐसी अवस्था में हम बाह्य पदार्थ की सत्ता किस प्रकार से मान सकते है ? सत्ता केवल एक ही पदार्थ की है । वह पदार्थ विज्ञान है ।

विज्ञानवादि विशुद्धप्रत्ययवादि है । उनकी दृष्टि में भौतिक पदार्थ नितरां असिद्ध है । विज्ञान ही बाह्य पदार्थो के अभाव में भी सत्य पदार्थ है । विज्ञान को अपनी सत्ता के लिये कोई अवलंबन की आवश्यकता नहीं है । वह अवलंबन के बिना ही सिद्ध है । **इस कारण से विज्ञानवादिको निरालंबनावादि की संज्ञा प्राप्त हुई है ।**

माध्यमिको का शून्यवाद विज्ञानवादियो की दृष्टि से नितान्त हेय (त्याज्य) सिद्धांत है । माध्यमिको को लक्ष्य बनाकर उनका कथन है कि....."यदि आपका सर्वशून्यता का सिद्धांत मान्य किया जाये तो शून्य ही आपके लिये सत्यता के माप की कसौटी होगी । इसलिये दूसरे वादि के साथ वाद करने का आपको अधिकार कभी भी प्राप्त नहि होगा ?" (इसलिये कहा है कि "**त्वयोक्तसर्वशून्यत्वे प्रमाण शून्यमेव ते । अतो वादेऽधिकारस्ते न परेणोपपद्यते ॥ सर्वसिद्धांतसंग्रह**") प्रमाण भावात्मक होगा, तो ही वाद-विवाद का अवकाश है । शून्य को प्रमाण मानने से शास्त्रार्थ की कसौटी ही किस प्रकार माने, कि जिससे हार या जीत की व्यवस्था हो सके ? ऐसी दशा में आप किस प्रकार से अपने पक्ष की स्थापना करेंगे और दूसरो के पक्ष में दूषण

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दे सकेंगे ? इस विज्ञान की सत्ता शून्यवादियो को भी माननी पडेगी, नहिं तो तर्कशास्त्र असिद्ध हो जायेगा। विज्ञान की सत्ता के लिये लंकावतार सूत्र में कहा है कि - ''**चित्तं प्रवर्तते चित्तं, चित्तमेव विमुच्यते। चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते ॥१४५॥**'' अर्थात् चित्त-विज्ञान की ही प्रवृत्ति होती है। विज्ञान-चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोडकर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती है और चित्त का ही निरोध होता है। चित्त का नाश नहीं होता। चित्त एकमात्र तत्त्व है।

विज्ञान के अन्यपर्याय चित्त, मन, विज्ञप्ति है। कौई विशिष्टक्रिया की प्रधानता मानकर ये शब्दो का प्रयोग किया गया है। चेतन क्रिया से संबद्ध होने से वह **चित्त** कहा जाता है। मनन क्रिया करने से **मन** तथा विषयो को ग्रहण करने में कारणभूत होने से उसे **विज्ञान** कहा जाता है। वही बात लंकावतारसूत्र के श्लोक १०२में की है।

चित्तमालयविज्ञानं मनो यन्मन्यतात्मकम्। गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं ही तदुच्यते ॥१०२॥

उपरांत उनका यह मानना है कि, इस विश्व में जितने हेतु-प्रत्यय से जनित संस्कृत पदार्थ है। उनका न तो आलंबन है और न तो कोई आलंबन देनेवाला ही है। वे पदार्थ निश्चित रुप से चित्तमात्र है। चित्त के चित्र-विचित्र नानाकार, परिणाम है। साधारण मानवी आत्मा को नित्य स्वतंत्र सत्ता मानता है। परन्तु वह केवल व्यवहार के लिये संज्ञा (प्रज्ञप्तिसत्य) के रुप में खडा किया गया है। वह वास्तव में द्रव्य (द्रव्य सत्) कोई भी प्रकार से नहीं है। वह पाँच स्कन्धो का समुदाय माना जाता है। परन्तु पंचस्कन्ध स्वयं संज्ञारुप है। द्रव्यरुप से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। इस जगत में न तो भाव विद्यमान है न तो अभाव विद्यमान है। चित्त को छोडकर कोई भी पदार्थ सत् नहीं है। परमार्थ को नाना (विविध) धर्मो से बोला जाता है। **तथता, शून्यता, निर्वाण, धर्मधातु ये सब परमतत्त्व के पर्यायवाचि नाम है। चित्त (आलयविज्ञान) को ही तथता के नाम से बोला जाता है।**

इसलिये योगाचार का परिनिष्ठित मत इस अनुसार है।

दृश्यते न विद्यते चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥ लंकावतार ३/३३॥

अर्थात् बाह्य दृश्यजगत विद्यमान नहीं है। चित्त एकाकार नहीं है। परन्तु चित्त इस जगत में विचित्ररुपो से देखा जाता है। कभी वह चित्त देह के रुप में तो कभी भोगके रुप में प्रतिष्ठित रहता है। इसलिये चित्त की वास्तविक सत्ता है। जगत चित्त का परिणाम है।

चित्त दो प्रकारो के प्रतीत होते है। (१) ग्राह्य-विषय, (२) ग्राहक-विषयी। यही बात को बताते है।

चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति, द्विधा चित्तं हि दृश्यते। ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥ लंकावतार ३/६५॥

-ग्रहण करनेवाली वस्तु की उपलब्धि के समय तीन पदार्थ उपस्थित होते है. एक तो जिसका ग्रहण करना हो वह (घट-पटादि विषय). दूसरा वस्तु को ग्रहण करनेवाला (विषयी-कर्ता) और तीसरी वस्तु है वे दोनो का परस्परसंबंध अर्थात् ग्रहण।

ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहण अथवा ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान, ये तीन सर्वत्रविद्यमान होते है। साधारण दृष्टि से ये तीन वस्तु की सत्ता है। परन्तु ये तीन ही एकाकारबुद्धि (या विज्ञान अथवा चित्त) के परिणाम है, जो वास्तविक नहीं है, परन्तु काल्पनिक है। भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही इस त्रिपुटी की कल्पना करके भेदवाला बनाता है। कहा है कि...

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ सर्व सिद्धान्त संग्रह ॥

विज्ञान का स्वरुप एक ही है । भिन्न भिन्न नहीं है । योगाचार विज्ञानाद्वैतवादि है । उनकी दृष्टि अद्वैतवाद की है। परन्तु प्रतिभान-प्रतिभासित होनेवाले पदार्थो की भिन्नता तथा बहुलता के कारण एकाकारबुद्धि बहुल से प्रतीत होती है । विज्ञान में प्रतिभान के कारण किसी प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं होता । कहा है कि...

बुद्धिस्वरुपमेकं हि वस्त्वस्ति परमार्थतः । प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते ॥ सर्वसिद्धान्तसंग्रह ॥४।४।६॥

इस विषय में योगाचार विद्वान प्रमदा (स्वरुपवान स्त्री) का उदाहरण देते है । एक ही प्रमदा के शरीर को संन्यासी (मृतदेह) समजते है । कामुक कामिनी मानते है । तथा कुत्ता उसको भक्ष्य मानता है । परन्तु स्त्री तो एक ही है । केवल कल्पनाओ के कारण यह स्त्री भिन्न भिन्न व्यक्तिओ को भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है । प्रमदा के समान ही बुद्धि की दशा है । एक होने पर भी नाना (भिन्न-भिन्न) प्रतिभासित होती है । कर्ता-कर्म, विषय-विषयी सब स्वयं बुद्धि है ।

● **विज्ञान के प्रभेद :** विज्ञान का स्वरुप एक अभिन्न प्रकार का है । परन्तु अवस्थाभेद के कारण उसके आठ प्रकार माने जाते है । (१) चक्षुर्विज्ञान, (२) श्रोत्रविज्ञान, (३) घ्राणविज्ञान, (४) जिह्वाविज्ञान, (५) कायविज्ञान, (६) मनोविज्ञान, (७) क्लिष्टमनोविज्ञान, (८) आलयविज्ञान ।

(१) चक्षुर्विज्ञान : चक्षु के सहारे जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे चक्षुर्विज्ञान कहा जाता है । इस विज्ञान के तीन आश्रय है ।

(अ) चक्षु कि जो विज्ञान के साथ साथ अस्तित्व में आता है और साथ साथ विलीन हो जाता है । इसलिये सदा संबद्ध होने के कारण **चक्षु 'सहभू' आश्रय है** । (ब) मन कि जो इस विज्ञान की संतति के पीछे आश्रय बनता है, इसलिये **मन समनन्तरआश्रय है** । (क) रुप, इन्द्रिय, मन तथा समग्र विश्व का बीज जिस में सदा विद्यमान रहता है वह **सर्वबीजक** आश्रय **आलय-विज्ञान है** । ये तीनो आश्रयो में चक्षु रुप(भौतिक) होने से रुपी आश्रय है। तथा अन्य दोनो अरुपी आश्रय है।

● **चक्षुर्विज्ञान के आलंबन अर्थात् विषय तीन है।**

(१) वर्ण : नीलादि, **(२) संस्थान (आकृति) :** ह्रस्व, दीर्घ, वृत्त, परिमण्डलादि, **(३) विज्ञप्ति (क्रिया) :** लेना, फेंकना, रखना इत्यादि ।

● **चक्षुर्विज्ञान के कर्म छः प्रकार के है :**

(१) स्वविषयावलम्बी, (२) स्वलक्षण, (३) वर्तमानकाल, (४) एक क्षण, (५) इष्ट अथवा अनिष्ट का ग्रहण, (६) शुद्ध अथवा अशुद्ध मन के विज्ञानकर्म का उत्थान ।

(२-५) चक्षुर्विज्ञान की तरह ही बाकी की चार इन्द्रियो के भी आश्रय, आलंबन, कर्म आदि भिन्न भिन्न होते है।

(६) मनोविज्ञान : चित्त, मन और विज्ञान मनोविज्ञान का स्वरुप है ।

★ संपूर्ण बीजो को धारण करनेवाला जो आलयविज्ञान है वही चित्त है । मन, वह है कि जो अविद्या, अभिमान, अपने को कर्ता मानना तथा विषय की तृष्णा, ये चार क्लेशो से युक्त रहता है। विज्ञान, वह है कि जो आलंबन की क्रिया में उपस्थित रहता है।

मनोविज्ञान का आश्रय स्वयं मन है। और वह **समनन्तर आश्रय** है। क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न होते हुए विज्ञान के अनन्तर ही विज्ञानो का आश्रय बनता है। **इसलिये मन को समनन्तर आश्रय कहा जाता**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। बीज आश्रय तो स्वयं आलयविज्ञान ही है।

इस विज्ञान का विषय पाँचो इन्द्रियो के पाँच विज्ञान है। जिसको साधारणभाषा में धर्म कहा जाता है। मन के सहायको में मनस्कार, वेदना, संज्ञा, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, राग-द्वेष, इर्ष्या आदि चैत्तिक धर्म है। मनका वैशेषिक कर्म नाना (भिन्न भिन्न) प्रकार के है। जिसमें विषय की कल्पना, विषय का चिन्तन, उन्माद, निद्रा, जागना, मूर्छित होना, कायिक-वाचिक कर्मो का करना, शरीर छोडना, शरीर में आना आदि है।

(७) **क्लिष्टविज्ञान :** यह विज्ञान और आलयविज्ञान दोनो विज्ञानवादि दार्शनिको सूक्ष्म मनस्तत्त्व के विवेचन का परिणाम है। **सर्वास्तिवादियो को विज्ञान के भेद छः ही मान्य है। परन्तु योगाचारमतानुयायी पण्डितो ने दो नवीन विज्ञानो को जोड़कर विज्ञान की संख्या आठ मानी है।**

मनोविज्ञान तथा क्लिष्टविज्ञान, मनोविज्ञान का अभिन्न नाम धारण करते है। परन्तु उसके स्वरुप तथा कार्य में पर्याप्त विभिन्नता है। "**मनोविज्ञान**" मननकी साधारण प्रक्रिया का निर्वाहक है। पाँच इन्द्रिय विज्ञानो के द्वारा जो विचार अर्थात् प्रत्यय उसके सामने उपस्थित किया जाता है उसका वह मनन करता है। परन्तु वह भेद नहीं कर सकता कि कौन से प्रत्यय आत्मा के साथ संबंध रखते है। और कौन से प्रत्यय अनात्मा के साथ संबंध रखते है।

परिच्छेद (विवेचन) का यह समग्रव्यापार सातवें विज्ञान (क्लिष्टविज्ञान) का अपना विशिष्ट कार्य है। यह विज्ञान हंमेशा इस कार्य में व्याप्त रहता है। प्राणी निद्रित हो अथवा कोई कारण से चेतनाहीन हो तो भी यह सातवां विज्ञान सदा कार्य में व्याप्त रहता है। मनोविज्ञान सांख्यो के अहंकार का ही प्रतिनिधि है। (अर्थात् सांख्योने मनोविज्ञान को ही अहंकार माना है।)

आठवे विज्ञान (आलय) के साथ ऐसे प्रकार से ये सम्बद्ध होते है कि, जिस प्रकार से एन्जीन के साथ उसके अलग-अलग अवयव। **मनोविज्ञान का विषय आलयविज्ञान का स्वरुप है। मनोविज्ञान अपनी भ्रान्त कल्पना के सहारे आलय विज्ञान को अपरिवर्तनशील जीव समज बैठता है। आलयविज्ञान सतत परिवर्तनशील होने से जीव से भिन्न है। परन्तु अहंकारयुक्त यह सातवां विज्ञान उसको आत्मा मानने के लिये आग्रह करता है और उनके सहायको में नीचे लीखे हुए चैत्तसिक धर्मो की गणना की जाती है।**

५ साधारण चित्तधर्म, प्रज्ञा, लोभ, मोह, मान, सम्यग्दृष्टि, स्त्यान, औद्धत्य, कौसीद्य (आलस्य), मुषितस्मृति (विस्मरण), असंप्रज्ञा (अज्ञान) तथा विक्षेप।

मनोविज्ञान की प्रधानवृत्ति उपेक्षा की होती है। उपेक्षा का अर्थ है कि, न कुशल - न अकुशल = तटस्थता की वृत्ति। उपेक्षा दो प्रकार की है। (१) आवृत्त उपेक्षा, (२) अनावृत्त उपेक्षा। **आवृत्त उपेक्षा की प्रधानता क्लिष्ट विज्ञान में रहती है और वह अहंकारद्योतक तत्त्व होने से निर्वाण का अवरोध करनेवाली है।**

मनोविज्ञान से पार्थक्य (अलगता) बताने के लिए इसको क्लिष्ट (क्लेशो से युक्त) मनोविज्ञान की संज्ञा दी गई है। विज्ञान का यह द्वितीय परिणाम माना जाता है।

(८) **आलयविज्ञान :** योगाचारमत में आलयविज्ञान की कल्पना का महत्त्व ज्यादा है। (अन्य दर्शनकारो ने विज्ञानवादियो के इस सिद्धान्त के उपर बहोत आक्षेप किये है।) **जगत के सर्वधर्मो का बीज आलयविज्ञान में निहित रहता है, उत्पन्न होता है और पुनः विलीन हो जाता है। विज्ञान को 'आलय' शब्द द्वारा अभिहित करने के (आचार्य स्थिरमति अनुसार) तीन कारण है। (तत्र सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथवा आलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु इत्यालयः । (त्रिंशिका भाष्य पृ-१८)

(१) आलय का अर्थ है स्थान। जितने क्लेशोत्पादक धर्मो के बीज है वह सबका स्थान है। वे बीज आलयविज्ञान में एक रहे हुअे है। कालान्तर में विज्ञानरुप में बाहर आकर जगत के व्यवहार का निर्वाह करता है।

(२) आलय विज्ञान से विश्व के समग्र धर्म (= पदार्थ) उत्पन्न होते है। इससे समस्त धर्म कार्यरुप से संबद्ध रहते है। इसलिए विज्ञान का आलय (लय होने का स्थान) है।

(३) आलयविज्ञान सर्व धर्मो का कारण है। इसलिये कारणरुप से सर्वधर्मो में अनुस्यूत (पिरोया हुआ) होने के कारण भी वह आलय कहा जाता है।

ये तीन व्युत्पत्ति के समर्थन में कहा है कि-

''सर्वधर्मा हि आलीना विज्ञाने तेषु तत्तथा । अन्योन्याभावेन हेतुभावेन सर्वदा ।। अर्थात् विश्व के समस्त धर्म फलरुप होने से विज्ञान में आलीन (सम्बद्ध) होते है। तथा आलयविज्ञान भी धर्मो के साथ सर्वदा हेतु होने से सम्बद्ध रहते है। अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थो की उत्पत्ति ''आलयविज्ञान'' से होती है। यह विज्ञान हेतुरुप है और समग्रधर्म फलरुप है।

आलयविज्ञान में अन्तर्निहित बीजो का फल वर्तमान संस्कार के रुप में लक्षित होता है। समग्र संसार तथा उसका अनुभव सात विज्ञानों के द्वारा हमको प्राप्त होता है। वे सब अपने पूर्वकालीन बीजो में से उत्पन्न होते है और वर्तमान संस्कारो तथा अनुभवो से नये-नये बीजो की उत्पत्ति होती है। जो भविष्य में बीजरुप से आलयविज्ञान में अपने को अन्तर्निहित करता है।

★ **आलयविज्ञान का स्वरुप :** आलयविज्ञान का स्वरुप समुद्र के दृष्टांत से अच्छी तरह से समजा जा सके वैसा है। पवन के झोंको से समुद्र में सतत तरंग पैदा होते है। वे कभी विराम नहीं पाते है। (कम-ज्यादा हो ऐसा बन सकता है। परन्तु तरंग विराम नहीं पाते है।) इस प्रकार ''आलयविज्ञान'' में भी विषयरुप वायु के झोंके से चित्र-विचित्र विज्ञानरुप तरंग उठते है और सतत चालुं रहते है। ''आलयविज्ञान'' समुद्रस्थानीय है। विषय पवन के स्थान पे है। तथा (सप्तविध) विज्ञान तरंगो का प्रतीक है। **लंकावतार सूत्र में कहा है कि...**

तरंगा उदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः । नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥९९॥ आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः । चित्रस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते ॥१००॥

जिस प्रकार से समुद्र तथा तरंगो में भेद नहीं है, उसी प्रकार से ''आलयविज्ञान'' और अन्य सात विज्ञानो में विज्ञानाकार से भेद नहीं है।

आचार्य वसुबन्धुने भी आलयविज्ञान की वृत्ति जलप्रवाह के समान बताई है। **(तच्च वर्तते स्त्रोतसौधवत् त्रिंशिका का.४)** जिस प्रकार से जलप्रवाह तृण, काष्ठ, गोमय आदि नाना (विभिन्न) पदार्थो को खींचते खींचते आगे बढता है। उसी प्रकार से आलयविज्ञान भी पुण्य-अपुण्य अनेक कर्मो की वासना से अनुगत स्पर्श, संज्ञा-वेदना आदि चैत्तधर्मो को खींचता-खींचता आगे बढता है। जब तक यह संसार है तब तक ''आलयविज्ञान'' का विराम नहीं है।

वह आलयविज्ञान आत्मा का प्रतिनिधि माना जाता है। परन्तु दोनो में स्पष्ट अंतर भी विद्यमान है। उसकी अवहेलना (उपेक्षा) भी की जा सके ऐसी नहीं है। आत्मा अपरिवर्तनशील रहता है। सदा एकाकार एकरस। परन्तु आलयविज्ञान परिवर्तनशील होता है। अन्य विज्ञान क्रियाशील रहे अथवा अपना कार्य बंद भी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दे। परन्तु आलयविज्ञान का प्रवाह सतत चालू रहता है। आलयविज्ञान की चैतन्यधारा कभी उपशांत नहीं होती। वह प्रत्येक व्यक्ति में रहता है। परन्तु समष्टिचैतन्य का प्रतीक है।

★ **आलयविज्ञान के चैत्तधर्म :** आलयविज्ञान के साथ सम्बद्ध सहायक चैत्तधर्म पाँच माने जाते है। **(१) मनस्कार :** (चित्त की विषय के प्रति एकाग्रता) **(२) स्पर्श :** (इन्द्रिय तथा विषय के साथ विज्ञान का सम्पर्क), **(३) वेदना :** (सुख-दुःख की भावना), **(४) संज्ञा :** (कोई वस्तु का नाम), **(५) चेतना :** (मन की वह चेष्टा कि जो रहने से चित्त आलंबन के प्रति स्वतः झूकता है।) (स्थिरमति कहते है कि, **चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा। यस्यां सत्यात्मालम्बनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द इव भवति, अयस्कान्तवशाद् अयः प्रस्यन्दवत्)**

जो वेदना आलयविज्ञान के साथ सहायक धर्म है, वह उपेक्षाभाव है, कि जो अनिवृत्ति तथा अव्याकृत माना जाता है। उपेक्षा मनोभूमि में विद्यमान रहनेवाले आगंतुक उपक्लेशो से ढकी हुई नहीं रहती। इसलिये वह उपेक्षा प्राणीओ को निर्वाण पहुंचाने में समर्थ होती है। जो विज्ञान का यह विश्व विजृम्भणमात्र माना जाता है, वह विज्ञान आलयविज्ञान है।

★ **योगाचारमतानुसार पदार्थ समीक्षा :** योगाचार मतवाले आचार्यो विश्व के समग्र धर्मो (पदार्थो) का वर्गीकरण दो प्रधानविभाग में करते है। (१) संस्कृत, (२) असंस्कृत।

जो हेतु-प्रत्यय जनित है अर्थात् जो कोई कारण तथा सहायक कारण से उत्पन्न होकर अपनी स्थिति प्राप्त करते है वे संस्कृत धर्म है और जो हेतु-प्रत्यय में जन्य नहीं है परन्तु स्वतः सिद्ध है वह असंस्कृत धर्म है। इस धर्म की स्थिति कोई कारण के उपर अवलंबित नहीं है। इन दोनो के अंदर अवान्तरभेद भी है।

★ **संस्कृतधर्मो के चार भेद है :** (१) रुपधर्म - ११ है। वह वैभाषिको के अनुसार जानना। (२) चित्त के ८ भेद है। (३) चैत्तसिक के ५१ भेद है। (४) चित्तविप्रयुक्त के २४ भेद है। चौदह भेद वैभाषिक मत में बताये उस अनुसार तथा १० नये धर्म इस अनुसार है।-

(१) प्रवृत्ति-संसार, (२) एवंभागीय-व्यक्तित्व, (३) प्रत्यनुबन्ध-परस्पर सापेक्षसंबंध, (४) जघन्य-परिवर्तन, (५) अनुक्रम-क्रमशःस्थिति, (६) देश-स्थान, (७) काल-समय, (८) संख्या-गणना, (९) सामग्री-परस्परसमवाय, (१०) भेद-पृथक् स्थिति।

असंस्कृत छः धर्म : (१) आकाश, (२) प्रतिसंख्यानिरोध, (३) अप्रतिसंख्यानिरोध, (४) अचल, (५) संज्ञा-वेदना-निरोध, (६) तथता।

(१-३) प्रथम तीन वैभाषिकों के (सर्वास्तिवादियों की) कल्पनानुसार है। वे पूर्व में बताये गये है। बाकी के तीन की व्याख्या की जाती है।

(४) अचल : इस शब्द का अर्थ है उपेक्षा। उपेक्षा से सुखदुःख की भावना का सम्पूर्ण तिरस्कार है। विज्ञानवादियो के मत से 'अचल' की दशा का भी तब ही साक्षात्कार होता है कि जब सुख और दुःख उत्पन्न न हो। इस चतुर्थ ध्यान में देवता की मनःस्थिति के समान मानसस्थिति है।

(५) संज्ञा-वेदना-निरोध : यह दशा तब प्राप्त होती है कि, जब योगी निरोधसमापत्ति में प्रवेश करते है और सत्ता तथा वेदना के मानसधर्मो को बिलकुल अपने वश में कर लेते है।

प्रथम पाँच संस्कृतधर्मो को स्वतंत्र मानना उचित नहीं है। क्योंकि **'तथता'** के परिणाम से तत् तत् भिन्न-भिन्न रुप है। **'तथता'** ही विश्व में परिणाम धारण करती है और वे पांचो धर्म तथता का आंशिक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकासमात्र है।

(६) **तथता :** तथता का अर्थ है तथा (जैसी वस्तु हो वैसी उसकी स्थिति) का भाव। **ये विज्ञानवादियो का परमतत्त्व है।** विश्व के समग्र धर्मो का नित्यस्थायी धर्म '**तथता**' ही है। तथता का अर्थ है अविकारी तत्त्व। अर्थात् ऐसा पदार्थ कि जिस में कोई प्रकार का विकार उत्पन्न न हो (स्थिरमति की टीका में यही बात की है।) **तथता अविकारार्थेनेत्यर्थः। नित्यं सर्वस्मिन् कालेऽसंस्कृततत्त्वान्न विक्रियते। (मध्यान्तविभाग-पृ.४१)** विकार हेतु-प्रत्ययजन्य होते है। इसलिये '**तथता**' असंस्कृत धर्म होने के कारण उसका अविकार होना स्वाभाविक है। **इस परमतत्त्व के भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थ और धर्मधातु पर्यायवाचि शब्द है।**

भूत = सत्य + अविपरीत पदार्थ; कोटी = अन्त, इससे अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं है। इसलिये उसको भूतकोटि (सत्य वस्तुओ का पर्यवसान) कहा जाता है। (**भूतं सत्यमविपरीतमित्यर्थः कोटिः पर्यन्तः। यतः परेणान्यत् ज्ञेयं नास्ति अतो भूतकोटिः भूतपर्यन्तः। (स्थिरमति की टीका, मध्यान्तविभाग पृ.४१)** सब निमित्तो से विहीन होने के कारण वह "**अनिमित्त**" कहा जाता है। वह लोकोत्तर ज्ञान द्वारा साक्षात्कृततत्त्व है। इसलिये परमार्थ है और यह आर्यधर्मो की सम्यक्दृष्टि, सम्यक्व्यायाम (प्रयत्न) आदि श्रेष्ठ धर्मो का कारण (धातु) है। इसलिये उसकी संज्ञा "**धर्मधातु**" है।

★ **सत्तामीमांसा :** योगाचारमत में सत्ता माध्यमिक मत के समान ही दो प्रकार की मानी जाती है। **(१) पारमार्थिक (२) व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता को विज्ञानवादि आचार्य दो विभाग में बांटते है। (१) परिकल्पित सत्ता, (२) परतंत्र सत्ता।** अद्वैतवेदान्तियो के समान ही विज्ञानवादियो का कथन है कि जगत के समस्त व्यवहार आरोप अर्थात् उपचार के उपर अवलंबित रहता है। वस्तु में अवस्तु के आरोप को **अध्यारोप** कहा जाता है। जैसे कि रज्जु (रस्सी) में सर्प का आरोप।

इस दृष्टांत में रज्जु में किया गया सर्प का आरोप मिथ्या है। क्योंकि, दूसरी क्षण में हमको उचित परिस्थिति में इस भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है और रज्जु का रज्जुत्व अपनी समक्ष उपस्थित हो जाता है। यहाँ सर्प की भ्रान्ति का ज्ञान परिकल्पित है। रज्जु की सत्ता परतन्त्र शब्द से अभिहित की जाती है। वह वस्तु जिस से रज्जु बनकर तैयार हुई है वह वस्तु को **परिनिष्पन्न सत्ता** कहा जाता है।

लंकावतार सूत्र में भी परमार्थ और संवृत्ति ऐसे (सत्ता के) दो भेद बताये गये है। संवृत्तिसत्य (व्यावहारिक सत्य) परिकल्पित तथा परतंत्रसत्य स्वभाव के साथ सदा सम्बद्ध रहता है। ये दोनो प्रकार का ज्ञान होने के बाद ही परिनिष्पिन्न ज्ञान होता है। परमार्थसत्य का संबंध वह ज्ञान से है। परमार्थ का ही दूसरा नाम '**भूतकोटि**' है। संवृत्ति परमार्थ का प्रतिबिम्बमात्र है। **संवृत्ति का अर्थ होता है बुद्धि। वह दो प्रकार की मानी गई है।**

(१) प्रविचयबुद्धि, (२) प्रतिष्ठापिकाबुद्धि।

प्रविचयबुद्धि से पदार्थो का यथार्थरुप ग्रहण किया जाता है। शून्यवादियो के समान ही समस्त पदार्थ सत्, असत्, अस्तित्व और नास्तित्व, ये चार कक्षा से सदा मुक्त रहते है।

लंकावतारसूत्र का कथन है कि, बुद्धि से पदार्थो की विवेचना करने से उसका स्वभाव ज्ञानगोचर नहीं होगा। इसलिये विश्व के समस्तपदार्थो को लक्षणहीन (अनभिलाप्य) तथा स्वभावहीन (निःस्वभाव) मानने ही पडेंगे। वस्तु तत्त्व का यह विवेचन प्रविचयबुद्धि का कार्य है।

प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेद-प्रपंच आभासित होते है। तथा असत् पदार्थ सत् रुप से प्रतीत होते है। इस प्रतिष्ठापन व्यापार को '**समारोप**' कहा जाता है। **लक्षण, इष्ट, हेतु और भाव, ये चार का आरोप होता है।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारांश यह है कि, **जो लक्षण अथवा भाव वस्तु में स्वयं उपस्थित न हो, उसकी कल्पना करना वह प्रतिष्ठापन कहा जाता है।** लोकव्यवहार के मूल में यह प्रतिष्ठापन व्यवहार सदा प्रवृत्त रहता है और इस प्रतिष्ठापिकाबुद्धि का अतिक्रमण करना योगीजन का प्रधान कार्य है। इसके सिवा रागद्वेषादि द्वन्द्वातीत नहीं होगा। और निर्वाण प्राप्त नहीं होगा।

परिकल्पित और परतंत्रसत्य में परस्परभेद है। परिकल्पित केवल निर्मूल कल्पनामात्र है। परन्तु परतंत्र बाह्य सत्यसापेक्ष है। परतंत्र उतना दूषित नहीं है। परन्तु परिकल्पित सत्य भ्रान्ति का कारण है। परतंत्र शब्द का ही अर्थ यह है कि, दूसरे के उपर अवलंबित। इसलिये तात्पर्य यह है कि, परतंत्र सत्ता स्वयं उत्पन्न नहीं होती। परन्तु हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होती है। परिकल्पित लक्षण में ग्राह्य-ग्राहकभाव का स्पष्ट उदय होता है। परन्तु भेद की कल्पना नितान्तभ्रान्त है।

ग्राहकभाव और ग्राह्यभाव दोनो परिकल्पित है। क्योंकि, विज्ञान एकाकार रहता है। उसमें न तो ग्राहकत्व है और न तो ग्राह्यत्व है। जब तक यह संसार है तब तक यह द्विविध कल्पना चलती रहती है। जिस समय ये दोनो भाव निवृत्त होते है, उस समय की अवस्था **परिनिष्पन्न**लक्षण कही जाती है।

परतंत्र हंमेशा परिकल्पित लक्षण के साथ मिश्रित हो के हमारे सामने उपस्थित होता है। जिस समय यह मिश्रण समाप्त हो जायेगा और अपने विरुद्ध रुप में प्रतीत होने लगेगा वह उसकी परिनिष्पन्नावस्था है।

आचार्य असंगने ''महायानसूत्रालंकार'' में सत्य के ये तीन प्रकारो का वर्णन नीचे बताये अनुसार किया है।

(१) परिकल्पितसत्ता : जिसमें कोई वस्तुका नाम अथवा अर्थ अथवा नाम का प्रयोग, संकल्प द्वारा किया जाये वह परिकल्पित सत्ता है। **(यथा नामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रख्यानता च या । संकल्पनिमित्तं हि परिकल्पितलक्षणं ॥ (म.सू.लं. ११।३९)**

(२) परतंत्र सत्ता : जिसमें ग्राह्य और ग्राहक के तीनो लक्षण कल्पना के उपर अवलम्बित हो, उसे परतंत्रसत्ता कहा जाता है। ग्राह्य के तीन भेद है। (१) पदाभास, (२) अर्थाभास, (३) देहाभास। ग्राहक के तीन भेद है। (१) मन, (२) उदग्रह, (चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रिय विज्ञान।) (३) विकल्प। ग्राह्य और ग्राहक के ये तीन भेद जिस अवस्था में उत्पन्न होते है, उस अवस्था की सत्ता **परतंत्र सत्ता** कही जाती है।

महायान सूत्रालंकार में कहा है कि...

त्रिविधं विविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षणः। अभूत परिकल्पो हि परतन्त्रस्य लक्षणम् ॥११।४०॥

(३) परिनिष्पन्न : परिनिष्पन्न वस्तु वह है कि जो भाव और अभाव से इस प्रकार से अतीत है, कि जिस प्रकार से दोनो के मिश्रणरुप से और वह सुख और दुःख की कल्पना से नितान्तमुक्त है। महायान सूत्रालंकार में कहा है कि..

''अभावभावता या च भावाभावसमानता। अशान्तशान्ताऽकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम् ॥११।४५॥

उसका दूसरा नाम **'तथता'** है। उस तथता की प्राप्त कर लेने से बुद्ध तथागत नाम से प्रसिद्ध हुए थे (ऐसा माना जाता है।) वह परमार्थ अद्वैतरुप है।

उसके स्वरुप का वर्णन करते हुए आचार्य असंगने महायान सूत्रालंकार में कहा है कि - **''न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते न व्येति न चावहीयते। न वर्धते नापि विशुद्ध्यते पुनः, विशुद्ध्यते**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्परमार्थलक्षणम् ॥६।१॥ अर्थात् परमतत्त्व पाँच प्रकार से अद्वैतरुप है। सत्-असत्, तथा-अतथा, जन्म-मरण ह्रास -वृद्धि, शुद्धि-अविशुद्धि, वे पाँचो कल्पनाओ से परमार्थतत्त्व नितान्तमुक्त है।

उपरांत बोधिसत्त्व (ज्ञान प्राप्त करने की इच्छावाला व्यक्ति) वास्तविक शून्यज्ञ (शून्य के सत्य स्वरुप को जाननेवाला) तब कहा जा सकता है कि, जब शून्यता के त्रिविध प्रकारो से अच्छी तरह से परिचित हो। वे तीन प्रकार इस अनुसार है।

(क) अभावशून्यता : अभाव का अर्थ, वे लक्षणो से हीन होने का है। जिनको हम साधारण कल्पना में कोई वस्तु के साथ सम्बद्ध मानते है। **(परिकल्पित)**

(ख) तथाभावशून्यता : वस्तु को जो स्वरुप में साधारणतया हम मानते है, वह नितान्त असत्य है। जिनको हम साधारण भाषा में घट से पहचानते है, उसका कोई वास्तविक स्वरुप नहीं है। **(परतंत्र)**

(ग) प्रकृतिशून्यता : स्वभाव से ही समग्र पदार्थ शून्यरुप है। **(परिनिष्पन्न).** महायान सूत्रालंकार में यही बात कही है।

अभावशून्यता ज्ञात्वा तथा - भावस्य शून्यताम् । प्रकृत्या शून्यतां ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते ॥१४।३४॥

तुलना :

माध्यमिक	योगाचार
(१) संवृत्तिसत्य	परिकल्पित
	परतंत्र
(२) परमार्थसत्य	परिनिष्पन्न

परिकल्पितसत्य यह है कि, जो प्रत्यय - जन्य हो, कल्पना द्वारा जिसका स्वरुप आरोपित किया गया हो तथा सत्यरुप हमारी दृष्टि से अगोचर हो।

परतंत्र हेतु - प्रत्यय जन्य होने से दूसरे के उपर आश्रित रहता है। जैसे कि, लौकिक प्रत्यक्ष से गोचर घटादिपदार्थ कि जो मृत्तिका (मिट्टी), कुंभकारादि (कुम्हार) के संयोग से उत्पन्न होता है। इसलिये उसका स्वविशिष्ट स्वरुप से नहीं होता। 'परिनिष्पन्न' सत्य अद्वैतवस्तु का ज्ञान है।

(४) माध्यमिक (शून्यवाद) की मान्यता :

'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्यामहे। सा प्रज्ञप्तिरुपमादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥' माध्यमिक कारिका-२४/१८, नागार्जुन)

अखण्ड तापसजीवन तथा सौम्य भोगविलास, जीवन के ये दोनो छोर को छोडकर बुद्धने मध्यममार्ग को अपनाया। तत्त्वविवेचन में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद दोनो एकांगीमतो का परिहार करके ''मध्यममत'' ग्रहण किया। इस मत का पक्षपात रखनेवाले ''माध्यमिक'' कहे गये।

बुद्ध के ''प्रतीत्यसमुत्पाद'' के सिद्धांत का विकास करके ''शून्यवाद'' की प्रतिष्ठा माध्यमिकोने की। इसलिये वे **'शून्यवादि'** भी कहे जाते है। वे शून्य को परमार्थ मानते है। इस मत के मुख्य स्थापक नागार्जुन माने जाते है। बौद्धदर्शन का यह चरम विकास माना जाता है।

सिद्धांत : (क) ज्ञानमीमांसा : नागार्जुनने अपनी तार्किकशक्ति द्वारा अनुभव की एक विशाल मार्मिक व्याख्या की है। उनका कहना है कि, यह जगत मायिक (माया से युक्त) है। स्वप्नमें देखे गये पदार्थो की सत्ता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समान ही जगत के समग्रपदार्थ की सत्ता काल्पनिक है। जाग्रत और स्वप्न में कोई अंतर नहीं है। केवल व्यवहार के निमित्त से जगत की सत्ता माननीय है। **विश्व व्यवहारिक रुप से सत्य है। पारमार्थिक रुप से असत्य है। जगत असिद्ध संबंधो का समुच्चयमात्र है।** जिस प्रकार से पदार्थों की गुणो को छोडकर स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उस प्रकार से यह जगत भी संबंधो का संघातमात्र है। इस जगत में सुख-दुःख, बंध-मोक्ष, उत्पाद-नाश, गति-विराम, देश-काल जितनी धारणाएँ मान्य है वे केवल कल्पनाएँ है। मानवोने अपना व्यवहार चलाने के लिये इस प्रकार से कल्पनाएं खडी की है। परन्तु तार्किकदृष्टि से विश्लेषण करने से वह केवल असत् सिद्ध होता है।

(१) सत्तापरीक्षा : सत्ता की मीमांसा करते करते माध्यमिक आचार्य इस परिणाम के उपर पहुँचे है कि यह शून्यरुप है। विज्ञानवादियो का विज्ञान अर्थात् चित्त परमतत्त्व नहीं है। चित्त की सत्ता प्रमाणो से सिद्ध नहीं हो सकती। समग्र जगत स्वभाव शून्य है।

चित्त के अस्तित्व का प्रमाण क्या है ? यदि ऐसा कहोंगे कि, चित्त ही अपने को देखने की क्रिया स्वयं करता है। तो वह विश्वसनीय नहीं है। क्योंकि, बुद्ध का स्पष्ट कथन है कि "**नहि चित्तं चित्तं पश्यति**" चित्त चित्त को देखता नहीं है। सुतीक्ष्ण भी तलवार की धार जिस अनुसार अपने को काटने के लिए असमर्थ है, उस प्रकार से चित्त अपने को देखने में समर्थ नहीं है।

कहा है कि - **उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति।**

न च्छिन्ति यथाऽत्मानमसिधारा तथा मनः ॥ (बोधिचर्यावतार ९।१७)

वेद्य, वेदक और वेदन तथा ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान ये तीन वस्तुएँ पृथक् पृथक् है। एक ही वस्तु (ज्ञान) त्रिस्वभाव किस तरह से हो सकता है ? इस विषय में आर्यरत्नचूडसूत्र की एक उक्ति है कि चित्त की उत्पत्ति आलंबन होने पर होती है। **तो प्रश्न होता है कि,** आलंबन चित्त से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि आलंबन और चित्त को भिन्न भिन्न मानेंगे तो दो चित्त होने का प्रसंग उपस्थित होगा। और तब तो विज्ञानाद्वयवाद की विरुद्ध होगा और यदि आलंबन और चित्त की अभिन्नता मानेंगे तो चित्त, चित्त को नहीं देख सकता। इसलिये चित्त न तो आलंबन से भिन्न सिद्ध होता है या न अभिन्न और आलंबन के अभाव में चित्त की उत्पत्ति का संभव नहीं है।

विज्ञानवादि इसके उत्तर में चित्त की स्वप्रकाश्यता का सिद्धांत लाते है। उनका कहना है कि जिस प्रकार से घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करने के समय दीपक स्वयं अपने को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार से चित्त स्वयं खुद को प्रकाशित करेंगा। परंतु (शून्यवाद के मतानुसार) यह पक्ष ठीक नहीं है। प्रकाशन का अर्थ है - "**विद्यमानस्यावरणस्यापनयनं प्रकाशनम् ।**" विद्यमान आवरण का अपनयन। घटपटादि पदार्थों की स्थिति पूर्वकाल से है। इसलिये उसके आवरण का अपनयन न्यायप्राप्त है। परन्तु चित्त की पूर्वस्थिति है ही नहीं, तो चित्त का प्रकाशन किस प्रकार से संभवित हो सकेगा ?

आत्मभावं यथा दीपः संप्रकाशयतीति चेत्। नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसा वृत्तः ॥ (बोधिचर्यावतार - ६।१८ ॥)

"दीपक प्रकाशित होता है।" इसका ख्याल हमको ज्ञान से होता है। उस प्रकार से बुद्धि प्रकाशित होती है, उसका ख्याल किस प्रकार से होता है ? बुद्धि प्रकाशरुप हो या अप्रकाशरुप हो, (परन्तु) यदि कोई उसका दर्शन करे तो उसकी सत्ता मान्य हो। परन्तु उसका दर्शन न होने से उसकी संज्ञा किस प्रकार से अंगीकार की जाये ? वन्ध्या का पुत्र ही असिद्ध है, तो उसकी लीला किस प्रकार से बने ? सुतरां न बने। उस प्रकार से बुद्धि की सत्ता ही असिद्ध है, तो उसकी स्वप्रकाश या परप्रकाश की कल्पना नितरां असिद्ध है। कहा है कि..

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशा वाप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केनचित् ।
वन्ध्यादुहितृलीलैव कथ्यमानापि सा मुधा ॥ (बोधिचर्यावतार - ९-२३)

- इसलिए विज्ञान की कल्पना प्रमाणो के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती । जगत के समस्तपदार्थ निःस्वभाव है । विज्ञान भी इस प्रकार से निःस्वभाव है । शून्य ही परमतत्त्व है । इसलिए विज्ञान की सत्ता किसी भी प्रकार से मान्य नहीं है ।

★ **कारणतावाद :** जगत कार्य-कारण के नियम के उपर चलता है और दार्शनिको को उसकी सत्ता में दृढ विश्वास है । परन्तु नागार्जुन की समीक्षा कार्य-कारण की कल्पना को खण्डित करती है । (वह मानते है कि,) कार्य-कारण की स्वतंत्र कल्पना हम नहीं कर सकते । कोई भी पदार्थ कारण को छोडकर नहीं रह सकता और कारण भी कार्य से पृथक् कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होता । कार्य के बिना कारण की सत्ता और कारण के बिना कार्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती । **कार्य-कारण की कल्पना सापेक्षिक है । इसलिये असत्य है तथा निराधार है । नागार्जुन कहते है कि,** पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होता है न तो दूसरो की सहाय से (परतः) उत्पन्न होता है और न तो दोनो से और अहेतु से भी उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार ये सब में किसी भी प्रकार से भावो की-पदार्थो की उत्पत्ति प्रमाणो के द्वारा सिद्ध नहीं होती । **माध्यमिककारिका में यही बात की है -**

''न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वाचन केचित् ॥'' पृष्ठ-१२ ॥

उत्पादके अभाव में विनाश सिद्ध नहीं होता । यदि विभव (विनाश) तथा संभव (उत्पत्ति) इस जगत में है, तो वह एक दूसरे के साथ रह सकते है या एकदूसरे के बिना भी विद्यमान रह सकेगा । विभव (विनाश) संभव के बिना किस प्रकार से उत्पन्न हो सकेगा ? जब तक पदार्थ का जन्म ही नहीं हुआ, तब तक उसके विनाश की चर्चा करना बिलकुल अनुचित है । माध्यमिक कारिका में यही बात की है । **''भविष्यति कथं नाम विभवः संभवं विना । विनैव जन्ममरणं विभवो नोद्भवं विना ॥** २१।२॥

इसलिए विभव, संभव के बिना रह नहीं सकता । संभव के साथ भी विभव नहीं रह सकता । क्योंकि, भावनाएं परस्परविरुद्ध है । ऐसी दशा में जिस प्रकार से जन्म और मृत्यु एक समय में साथ नहीं रह सकते, उस प्रकार से उत्पत्ति और विनाश, की जो विरुद्धपदार्थ है, वे भी तुल्यसमय में साथ नहीं रह सकता ।

माध्यमिक कारिका में यही बात की है । **''सम्भवेनैव विभवः कथं सह भविष्यति । न जन्ममरणं चैवं तुल्यकालं हि विद्यते ॥** (२१।३)

इसलिये उत्पत्ति और विनाश की कल्पना प्रमाणतः सिद्ध नहीं होती । इस कारण से नागार्जुन के मत में **''परिणाम''** नाम की कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती । इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि - साधारण भाषा में हम कहते है कि, युवक वृद्ध होता है तथा दूध दहीं बनता है । परन्त वस्तुतः यह बन सकता है ? युवान जीर्ण (वृद्ध) नहीं हो सकता, क्योंकि युवानी में एक साथ यौवन तथा जीर्णता (वृद्धता) विरोधीधर्म नहीं रह सकते । किसी पुरुष को हम यौवन के कारण युवान कहते है, तब युवान वृद्ध किस तरह होगा ? जीर्ण को जरायुक्त बताना वह ठीक नहीं है । जो स्वयं वृद्ध है, वह पुनः किस तरह जीर्ण होगा ? इसलिए उपर जो ''युवक वृद्ध होता है'' वह साधारण भाषा में की हुई कल्पना ही अनावश्क होने से व्यर्थ है । **माध्यमिककारिका में कहा है कि-**

तस्यैव नान्यथाभावो नाप्यन्यस्यैव युज्यते । युवा न जीर्यते यस्माद् यस्माज्जीर्णो न जीर्यते ॥ १३।५ ॥

इसी प्रकार से दहीं दूध में से बन जाता है । वह साधारण कल्पना भी अनावश्यक होने से व्यर्थ है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यमिककारिका में कहा है कि –

तस्य चेदन्यथाभाव: क्षीरमेव भवेद् दधि । क्षीरादन्यस्य कस्यचिद् दधिभावो भविष्यति ॥ १३।६ ॥

इसलिये यदि वस्तु का कोई अपना स्वभाव है, तो वह परिवर्तित न होगा। परन्तु माध्यमिक मत में सब वस्तु नि:स्वभाव है । **इसलिये कार्य-कारण भाव, उत्पाद-विनाश परिणाम आदि परस्पर धारणाओ का वास्तविकता की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है।**

★ **स्वभाव परीक्षा :** जगत के पदार्थो की विशेषता यह है कि, वे कोई हेतु से उत्पन्न होता है, ऐसी दशा में वे पदार्थो की स्वतंत्र सत्ता किस प्रकार से मान सकते है ? जिस हेतुओ के उपर कोई भी पदार्थ की स्थिति अवलंबित है और उसके हटने के साथ पदार्थ नष्ट हो जाता है ऐसी विषमस्थितिमें वस्तुओ को प्रतिबिम्ब समान मानना यही न्यायसंगत है। **माध्यमिक वृत्ति में यही बात की है।**

हेतुत: सम्भवो येषां तदभावान्न सन्ति ते । कथं नाम ते स्पष्टं प्रतिबिम्बिसमा मता: ॥

युक्तिषष्टिक नाम के ग्रंथ में नागार्जुने स्पष्ट कहा है कि- **हेतुत: सम्भवो यस्य स्थितिर्न प्रत्ययैर्विना । विगम: प्रत्ययाभावात् सोऽस्तीत्यवगत: कथम् ॥**

आशय यह है कि, जिसकी उत्पत्ति कारण से होती है, जिसकी स्थिति प्रत्ययो (सहायककारणो) के बिना नहीं होती है। प्रत्यय के अभाव में जिसका नाश होता है, वह पदार्थ **''अस्ति''** विद्यमान है, वह किस प्रकार जानेगें ? अर्थात् पदार्थ की तीन अवस्थाएँ उत्पाद, स्थिति और भंग पराश्रित है। जो दूसरो के उपर अवलंबित रहता है, वह किसी भी प्रकार से सत्ताधारी नहीं हो सकता। जगत के सर्वपदार्थो में यह विशिष्टता देख सकते है कि, वे दूसरो के उपर अवलंबित रहते है। इसलिये वे पदार्थो को कभी भी सत्तात्मक नहीं माना जा सकता। **जगत के सर्व पदार्थ गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका, प्रतिबिम्बकल्प होने से नितरां मायिक है।**

लोक में उसको ''स्वभाव'' कहते है, कि जो कृतक न हो, जिसकी उत्पत्ति किसी भी कारण से न हो। जैसे कि, अग्नि की उष्णता। जो उष्णता धर्म है, वह अग्नि के लिये स्वाभाविक धर्म है। परन्तु जल के लिए कृतक है। इसलिये उष्णता अग्नि का स्वभाव है, जलका नहीं।

इस युक्ति से साधारण जन वस्तुओ के स्वभाव में परम श्रद्धा रखते है। परन्तु नागार्जुन का कहना है कि, अग्नि की उष्णता है, वह क्या कारण निरपेक्ष है ? वह तो मणि, इन्धन, आदित्य के समागम से तथा अरणि के घर्षण से उत्पन्न होता है। उष्णता अग्नि को छोडकर पृथक्‌रुप से अवस्थित नहीं रहती। इसलिये अग्नि की उष्णता हेतु – प्रत्ययजन्य है। इसलिये कृतक अनित्य है। उष्णता को अग्नि का स्वभाव बताना वह तर्कको अवहेलना करनेके बराबर है। जब वस्तु का स्वभाव नहीं तब उसमें परभाव की कल्पना न्यायी नहीं है। स्वभाव तथा परभाव के अभाव में भाव की भी सत्ता नहीं है। और अभाव की भी सत्ता नहीं है। इसलिये माध्यमिको के मत में जो विद्वान स्वभाव, परभाव, भाव तथा अभाव की कल्पना वस्तुओ के विषय में करता है वह परमार्थ के ज्ञान से दूर है। **माध्यमिक वृत्ति में कहा है कि....**

स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च । ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने ॥ १५।६॥

★ **द्रव्यपरीक्षा :** साधारण से जगत में द्रव्यो की सत्ता मानी जाती है। परन्तु परीक्षा करने से द्रव्य की कल्पना भी अन्य की कल्पना के समान हमको कोई परिणाम के उपर नहीं पहुंचाती। जिनको हम द्रव्य कहते है वह वस्तुत: है क्या ? रंग, आकार आदि गुणो का समुदायमात्र है। क्योंकि नीलरंग, विशिष्ट आकार तथा खुर्दरा स्पर्श, इससे

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त घट की स्थिति क्या है ? घट का विश्लेषण करने से यही गुण हमारी समक्ष आते है।

इसलिये द्रव्य की परीक्षा करने से हम गुणो के उपर आ पहुंचते है और गुणो की परीक्षा हमको द्रव्य तक लाकर रखती है। हमको स्पष्ट ख्याल नहीं आता कि द्रव्य और गुण में मुख्य कौन और अमुख्य कौन ? दोनो एकाकार होते है या भिन्न ?

नागार्जुनने समीक्षाबुद्धि से दोनो की कल्पना को सापेक्षिक बताया है। रंग, चिकनाहट, रुक्षता, गंध आदि आभ्यन्तर पदार्थ है। उसकी स्थिति इसलिए है कि हमारी इन्द्रियो की सत्ता है। आँख के बिना न रंग है और कान के बिना शब्द नहीं है। इसलिये हम से भिन्न तथा बाहर के हेतुओ के उपर अवलंबित है। इसलिए उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। (क्योंकि) इन्द्रियो के उपर अवलंबित रहते है।

इस प्रकार से गुण प्रतीत या आभासमात्र है। इसलिये जो पदार्थो में यह गुण विद्यमान रहते है वे पदार्थ भी आभासमात्र है। हम समजते है कि हमने द्रव्य का ज्ञान संपादित किया है, परन्तु वस्तुतः हम गुणो के समुदाय के उपर संतोष करते है। वास्तव में द्रव्य के स्वभाव से हम कभी भी परिचित नहीं है और हो भी नहीं सकते। क्योंकि, वस्तुएँ जो स्वयं सत्य परमार्थ है, वह ज्ञान तथा वचन दोनो से अतीत वस्तु है, उसका ज्ञान तो प्रातिभचक्षु के सहारे ही भाग्यशाली योगीयों को हो सकता है।

यह द्रव्य एक संबंधमात्र है। अन्य कुछ नहीं है। द्रव्यगुणो का एक अमूर्त संबंध है और जितने संसर्ग है वे सब अनित्य और असिद्ध है। इसलिए द्रव्य प्रमाणतः सुतरां सिद्ध नहीं हो सकता। यह पारमार्थिक विवेचना हुई।

व्यवहार की सिद्धि के लिये हम द्रव्यो की कल्पना गुणो के संचयरुप में मान सकते है। क्योंकि यह निश्चित बात है कि गुण-रंग, आकार आदि कोई मूलभूत आधार को छोड के दूसरे स्थान पर नहीं रह सकते। इस तरह से नागार्जुनने द्रव्य के पारमार्थिक रुप का निषेध करने पर भी व्यावहारिक रुप का अपलाप (विरोध) नहीं किया।

★ **जाति :** जिसको हम "जाति" के नाम से कहते है। उसका स्वरुप क्या है ? क्या जाति वह पदार्थो से भिन्न होती है या अभिन्न होती है ? नागार्जुनने जाति की नितान्त असत्ता सिद्ध की है।

जगत का ज्ञान वस्तु के सामान्यरुप को लेकर प्रवृत्त नहीं होता। प्रत्युत दूसरी वस्तु से उसकी विशिष्टता का स्वीकार करके ही आगे बढता है। गाय किसे कहा जाता है ? जो घोडा न हो या हाथी न हो। गाय का अपना जो रुप है वह तो ज्ञान से अतीतवस्तु है। उसको हम किसी भी प्रकार से नहीं जान सकते। गाय के विषय में हम इतना ही जानते है कि वह पशुविशेष है वह घोडे और हाथी से भिन्न है। शब्दार्थ का विचार करने के समय पीछे के काल में बौद्ध पण्डितोने उसको **अपोह की संज्ञा** दी हुई है। जिसका शास्त्रीय लक्षण है – **'तदितरेतरत्व'** अर्थात् उस पदार्थ से भिन्न वस्तु से भिन्नता का ज्ञान। जैसे कि, गाय जो है उससे भिन्न हाथी आदि और हाथी आदि से भिन्न गाय है।

जगत स्वयं असत्तात्मक है। तो गोत्व भी असत् धर्म सिद्ध होता है। उस धर्म द्वारा हम किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकते है। इसलिये सामान्य का ज्ञान असिद्ध है। किसी भी वस्तु के स्वरुप से हम परिचित हो ही नहीं सकते है। इसलिये निष्कर्ष यह नीकलता है कि समस्तद्रव्यो का सामान्य तथा विशिष्टरुप ज्ञान के लिए अगोचर है।

★ **संसर्गविचार :** यह जगत संसर्ग-संबंध का समुदाय मात्र है। परन्तु परीक्षा करने से वह संसर्ग भी बिलकुल असत्य प्रतीत होता है। इन्द्रियो तथा विषयो के साथ संसर्ग होने से तत् तत् विशिष्टज्ञान उत्पन्न होता है। चक्षु का रुप के साथ संबंध होने से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। परंतु यह संसर्ग सिद्ध नहीं होता। संसर्ग उस वस्तुओ का होता है जो एकदूसरे से पृथक् (भिन्न) हो। पट से घट का संबंध तब ही प्रमाण बनता है, कि जब ये दोनो पृथक्

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। परन्तु पृथक् तो नहीं है। माध्यमिक कारिका में कहा है कि –

अन्यदन्यत् प्रतीत्यान्यन्नान्यदन्यदृतेऽन्यतः। यत्प्रतीत्य च यत् तस्मात्तदन्यन्नोपपद्यते ॥ १४।५॥

– घट को निमित्त मानकर (प्रतीत्य) पट पृथक् है और पटकी अपेक्षा से घट अलग वस्तु प्रतीत होता है। सर्व सामान्य नियम यह है कि जो वस्तु जिस निमित्त से उत्पन्न होती है वह उससे पृथक् नहीं हो सकती। जैसे कि बीज और अंकुर। इस नियमानुसार पट घट से पृथक् नहीं है। तो दोनो का संसर्ग भी किस प्रकार हो सकेगा ? इस प्रकार से संसर्ग की कल्पना असिद्ध होने से जगत की धारणा भी सर्वथा निर्मूल सिद्ध होती है।

★ **गतिपरीक्षा :** नागार्जुनने लोकसिद्ध गमनागमन क्रिया की बहोत आलोचना की है। लोक में (व्यवहार में) हमको प्रतीत होता है कि, देवदत्त **''अ''** जगह से चलकर **''ब''** जगह पर पहुँचा। परन्तु विचार करने से यह वास्तविक सिद्ध नहीं होता। कोई भी व्यक्ति एक समय में दो स्थानो में विद्यमान नहीं रह सकता। **''अ''** से **''ब''** स्थान तक चला, इसका अर्थ यह हुआ कि एक काल में दोनो स्थानो के उपर विद्यमान रहता है। जो साधारण रुप में असंभव है। **माध्यमिक कारिका में कहा है कि...**

गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते। गतागतं विनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥ २।१॥

जो मार्ग गमन द्वारा पार कर दीया है, उसको हम **''गम्यते''** (वह मार्ग पार किया जाता है – हो रहा है एसा) नहीं कह सकते। **''गम्यते''** वर्तमानकालीक क्रिया है कि जो भूत (भूतकालीन) पदार्थ के विषय में प्रयुक्त नहीं हो सकता। और जो मार्ग के उपर अभी चलना है उसके लिये भी **''गम्यते''** नहीं कह सकेगें।

मार्ग के दो ही विभाग हो सकते है – एक जो पार कर दिया है (**गत**) और दूसरा कि जिसको अब भविष्य में पार करना है। (**अगत**)। ये दोनो के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है कि जिसके उपर चला जा सके। इसलिये फलतः गमनक्रिया असिद्ध हो जाती है। कर्ता की क्रिया कल्पना के साथ सम्बद्ध रहती है, जब क्रिया ही असिद्ध है, तब स्वाभाविक कर्ता की असिद्धि है।

गमन के समान ही स्थिति की कल्पना निराधार है। स्थिति किसके विषय में प्रयुक्त की जा सकती है – (**गन्ता**) गमनकर्ता के विषय में या **''अगन्ता''** (गमन नहीं करनेवाले) के विषय में ? गमन करनेवाला खड़ा रहता है, वह कल्पना विरोधि होने से त्याज्य है। गमन स्थिति की विरुद्धक्रिया है। इसलिये गमन का कर्ता विरोधीक्रिया (स्थिति) का कर्ता नहीं हो सकता। ''अगन्ता (गमन नहीं करनेवाला) खड़ा रहता है।'' यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति गमन ही नहीं करता वह तो स्वयं स्थित है। तो उसको फिरसे खडा रहने की आवश्यकता क्या है ? इसलिये अगन्ता का भी अवस्थान उचित नहीं है। ये दोनो को छोडकर तीसरा व्यक्ति कौन है कि जो स्थिति करे। फलतः कर्ता के अभाव में क्रिया का निषेध अवश्यंभावी (निश्चित) है। इसलिये स्थिति की कल्पना मायिक है। गति और स्थिति दोनो सापेक्षिक होने से अविद्यमान है। इसलिये कहा है कि

गन्ता न तिष्ठति तावदगन्ता नैव तिष्ठति। अन्यो गन्तुरगन्तु कस्तृतीयोऽथ तिष्ठति ॥

★ **आत्मपरीक्षा :** नागार्जुनने आत्मा की परीक्षा के लिये माध्यमिक कारिका ग्रंथ में एक स्वतंत्र प्रकरण-१८की रचना की है।

पहले जो द्रव्य की कल्पना समजाई गई है उससे स्पष्ट है कि गुण समुच्चय से अतिरिक्त उसकी (द्रव्यकी) स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यही नियग का उपयोग करके हम कह सकते है कि मानसव्यापारो से अतिरिक्त आत्मा नाम के पदार्थ की पृथक्सत्ता नहीं है। दैनिक अनुभव में हम हमारे मानस व्यवहारो से सर्वथा परिचित है। ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न-हमारे जीवन के प्रधान साधन है। हमारा मन कभी भी ये तीनो

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के व्यापारो से हमको मुक्त नहीं कर सकता। ये तीनो के समुदाय को हम आत्मा कहते है, केवल व्यवहार के लिए। वस्तुतः कोई आत्मा है ऐसा मानने के लिए नागार्जुन तैयार नहीं है। नागार्जुन का कहना है कि...

कुछ लोग (बौद्ध का जो विशिष्ट संप्रदाय है कि जो '**पुद्‌गलवाद**' का समर्थक है। उनको सम्मितीय लोग कहा जाता है।) दर्शन, श्रवण, वेदन आदि होने के पूर्व ही एक पुद्‌गल पदार्थ (आत्मा, जीव) की कल्पना मानते है। उनकी युक्ति है कि (जो माध्यमिक कारिका में बताई गई है।)

कथं ह्यविद्यमानस्य दर्शनादि भविष्यति। भावस्य तस्मात् प्रागेभ्यः सोऽस्तिभावो व्यवस्थितः ॥ ९।२॥

विद्यमान व्यक्ति ही उपादान का ग्रहण करती है। विद्यमान देवदत धन का संग्रह करता है। अविद्यमान वन्ध्यापुत्र ग्रहण नहीं करता है। इसलिये विद्यमान होने से ही पुद्‌गल दर्शन, श्रवणादि क्रियाओ को ग्रहण करेगा, अविद्यमान नहीं।

इस युक्ति के उपर नागार्जुन का आक्षेप है कि दर्शनादि से पूर्व (पहले) विद्यमान आत्मा का ज्ञान हमें किस प्रकार से होगा ? आत्मा और दर्शनादि क्रियाओ का परस्पर सापेक्ष संबंध है। यदि दर्शनादि के बिना ही आत्मा की स्थिति हो तो दर्शनादिक्रियाओ की स्थिति भी आत्मा के बिना हो जायेगी। माध्यमिक कारिका में वही कहा है कि..

विनापि दर्शनादीनि यदि चासौ व्यवस्थितः। अमून्यपि भविष्यन्ति विना तेन न संशयः ॥ ९।४ ॥

''समग्र दर्शन, श्रवण, वेदन आदि क्रियाओ से पूर्व हम किसी वस्तु (आत्मा) का अस्तित्व नहीं मानते, कि जिसका ज्ञानके लिए अन्यपदार्थ की आवश्यकता रहे। परन्तु हम प्रत्येक दर्शनादिक्रिया से पूर्व आत्मा का अस्तित्व मानते है।''

प्रतिवादि के इस तर्क के उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि, यदि आत्मा समग्र दर्शनादि से पूर्व (पहले) स्वीकृत न हो तो वह आत्मा एक भी दर्शनादि से पहले सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, जो वस्तु सर्वपदार्थो के पहले नहीं होती, वह वस्तु एक-एक पदार्थो के पहले भी नहीं होती। जैसेकि, रैत में तेल। समग्र रेत में से तेल उत्पन्न नहीं होता। ऐसी दशा में एक एक रेत के कण में से (**बालू में से**) भी तेल उत्पन्न नहीं होगा। यही बात माध्यमिक कारिका में की गई है।

सर्वेभ्यो दर्शनादिभ्यो यदि पूर्वो न विद्यते। एकैकस्मात् कथं पूर्वो दर्शनादेः स युज्यते ॥ ९।७ ॥

उपरांत दर्शन, श्रवणादि जो महाभूतो में से उत्पन्न होते है, वे महाभूतो में भी आत्मा विद्यमान नहीं है। यह बात माध्यमिककारिका में की है।

दर्शनश्रवणादीनि वेदनादीनि चाप्यथ। भवन्ति येभ्यस्तेष्वेष भूतेष्वपि न विद्यते ॥ ९।१० ॥

निष्कर्ष यह है कि दर्शनादिक्रियाओ से पहले आत्मा के अस्तित्व का हमको परिचय नहीं होता। इसके साथ (दर्शनादि के साथ) भी आत्मा विद्यमान नहीं रहता। क्योंकि, सहभाव उस पदार्थो का संभव है कि जिसकी पृथक्-पृथक् सिद्धि हो। परंतु साक्षेप होने से आत्मा दर्शनादि क्रियाओ से पृथक् सिद्ध नहीं होता। ऐसी दशा में दोनो का सहभाव असंभव है।

उपरांत, आत्मा दर्शनादि क्रियाओ के पश्चात् उतरकाल में ही विद्यमान नहीं रहता है। क्योंकि, दर्शनादि क्रियारुप है। वह कर्ता की अपेक्षा रखता है। (प्रसन्नपदा ग्रन्थ में कहा है कि -)

यदि हि पूर्वं दर्शनादीनि स्युः, उत्तरकालमातगा स्याद्, तदानीमूर्ध्वं सम्भवेत्। न चैवमकर्तृकस्य कर्मणोऽसिद्धत्वात् ॥ (पृ.१९९)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यदि स्वतंत्ररुप से ही दर्शनादिक्रियाएं संपन्न होने लगे, तो कर्तारुप से आत्मा को मानने की आवश्यकता क्या है ? इसलिये नागार्जुनने कहा है कि –

प्राक् च यो दर्शनादिभ्यः साम्प्रतं चोर्ध्वमेव च । न विद्यतेऽस्ति नास्तीति विवृत्तास्तत्र कल्पना ॥ (मा.का. ९।१२ ॥)

साधारण रुप से पंचस्कन्ध–रुप, संज्ञा, वेदना, संस्कार तथा विज्ञान को आत्मा बताया जाता है। परन्तु वह उचित नहीं है। क्योंकि स्कन्धो की उत्पत्ति तथा नाश होता है। तदात्मक होने से आत्मा का भी उदय तथा व्यय मानने की आपत्ति आयेगी। स्कन्ध उपादान है, आत्मा उपादाता है। क्या उपादान–उपादाता–ग्राह्य तथा ग्राहक कभी एक सिद्ध हो सकते है ? नहीं हो सकते, तो ऐसी अवस्था में आत्मा को स्कन्धात्मक किस प्रकार से स्वीकार किया जा सकता है ? माध्यमिक कारिका में कहा है कि–

(न चोपादानमेवात्मा व्येति तत् समुदेति च। कथं हि नामोपादानमुपादाता भविष्यति ॥ २७।६ ॥)

यदि आत्मा को स्कन्धो से व्यतिरिक्त मानेंगें तो वह स्कन्ध लक्षण (स्कन्धो द्वारा लक्षित) नहीं होगा। इसलिये विषम स्थिति होगी कि हम आत्मा को न स्कन्धो से अभिन्न मान सकेंगे या न भिन्न।

आत्मा स्कन्धा यदि भवेदुदयव्ययभाग् भवेत् । स्कन्धेभ्योऽन्यो यदि भवेद् भवेदस्कन्धलक्षणः ॥ मा.का. १८।१ ॥

इसलिये आत्मा की असिद्धि होने से आत्मीय उपादान (स्कन्धो) की भी सिद्धि नहीं होती।

कुछ लोग आत्मा को कर्ता मानते है। नागार्जुन के मतानुसार कर्ता और कर्म की भावना भी निःसार है। क्रिया करनेवाले व्यक्ति को कर्ता कहा जाता है। वह यदि विद्यमान है, तो क्रिया नहीं कर सकता। क्रिया के कारण ही उसको कारकसंज्ञा प्राप्त हुई है। ऐसी दशा में उसको दूसरी क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं है। तो कर्म (क्रिया) की स्थिति के बिना कारक (कर्ता) को किस प्रकार मानेंगें ? (सद्भूतस्य क्रिया नास्ति, कर्म च स्यादकर्तृकम् । मा.का. ८।२ ॥)

परस्पर सापेक्ष होने से क्रिया, कारक तथा कर्म की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जा सकती। क्रिया का असंभव होने से धर्माधर्म विद्यमान नहीं रह सकते। देवदत्त अहिंसादि क्रिया का संपादन करता है, तब वह धर्मभागी–अधर्मभागी बनता है। यदि क्रिया ही असिद्ध बन गई है, तो धर्म–अधर्म का असिद्ध होना सुतरां निश्चित है। धर्माधर्म के अभाव में उसके फल सुगति–दुर्गति का भी अभाव होगा। तो स्वर्ग या मोक्ष के लिये विहितमार्ग भी व्यर्थ है। इसलिये कहा है कि...

धर्माधर्मा न विद्यते क्रियादीनामसम्भवे। धर्मे चासत्यधर्मे च फलं तज्जं न विद्यते ॥

इसलिये नागार्जुन के मतानुसार आर्यसत्यो का भी अस्तित्व मायिक है। इस प्रकार से आत्मा की कल्पना किसी भी तरह से मान्य नहीं है। सारांश में....

आत्मेत्यपि प्रज्ञपिमनात्मेत्यपि देशितम् । बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदेत्यपि देशितम् । मा.का.१८।६ ॥

★ **कर्मफल परीक्षा :** कर्म का सिद्धांत वैदिकधर्म के समान बौद्ध धर्म को भी संमत है। जो कर्म किया जाता है, उसका अवश्य फल प्राप्त होता है। परन्तु परीक्षा करने से यह तथ्य प्रमाणित नहीं होता है। कर्म का फल तुरंत ही प्राप्त न होने से कालान्तर में संपन्न होता है। यदि कर्म के विपाक तक कर्म टिक सके, तो कर्म नित्य हो जायेगा और यदि विपाक तक उसकी सत्ता मानकर विनाशशाली माना जाये तो अविद्यमान कर्म किस प्रकार से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फल उत्पन्न कर सकेगा ? कहा है कि...

फले सति न मोक्षाय न स्वर्गायोपपद्यते । मार्गः सर्वक्रियाणां च नैरर्थक्यं प्रसज्ज्यते ॥ मा.का. ८।५ ॥

यदि कर्म की प्रवृत्ति स्वभावतः मानी जाये तो, निःसंदेह शाश्वत हो जायेगी । परन्तु वस्तुतः कर्म वैसा नहीं है । कर्म यह है कि जिसको स्वतंत्र कर्ता अपनी क्रिया द्वारा संपादन करता है । शाश्वत माना जायेगा तो उसका क्रिया के साथ संबंध किस तरह से माना जायेगा ? क्योंकि जो वस्तु शाश्वत होती है, वह कृतक (क्रिया के द्वारा निष्पन्न) नहीं होती ।

यदि कर्म अकृतक हो तो, किये बिना भी फल की प्राप्ति होने लगेगी (अकृताभ्यागम) और निर्वाणकी इच्छावाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य का निर्वाह किये बिना ही खुद को कृतकृत्य मानने लगेगा ।

इसलिये न तो जगत में कर्म विद्यमान है, न कर्म का फल. दोनो कल्पनाएं केवल व्यवहारकी सिद्धि के लिये है ।

★ **ज्ञान परीक्षा :** ज्ञान के स्वरुप का विचार करने से ज्ञान भी अनेक प्रकार के विरोध से परिपूर्ण प्रतीत होता है ।

छःइन्द्रियो के रुपादि छः विषय है । वे विषयो का प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है । परन्तु वह आभासमात्र है । तथ्य नहीं है । उदा. चक्षु जब खुद को ही नहीं देखती, तब अन्य वस्तुरुप को कैसे करके देख सकेगी ? अग्नि का दृष्टांत ले सके वैसा नहीं है । ''जिस प्रकार से अग्नि खुद को नहीं जलाती, केवल बाह्यपदार्थ (इन्धनादि) को जलाती है, उसकी तरह चक्षु भी खुद अपना दर्शन करने में असमर्थ होने पर भी रुप के प्रकाश में समर्थ है ।'' परंतु यह कथन एक मौलिकभ्रान्ति के उपर अवलंबित है । गति के समान ''जलाना'' क्रिया स्वयं असिद्ध है । इसलिये उसका दृष्टांत देखकर चक्षु के दर्शन की घटना पुष्ट नहीं हो सकती । क्योंकि, ''दर्शन'' क्रिया भी गति, स्थिति के समान निर्मूल कल्पनामात्र है ।

जो वस्तु दृष्ट है, उसके लिये वह 'दीखता है' (दृश्यते) ऐसा वर्तमानकालीक प्रयोग नहीं किया जा सकता और जो वस्तु अदृष्ट है, उसके लिये भी **दृश्यते** का प्रयोग अनुपयुक्त है । वस्तु दो ही प्रकार की हो सकती है – दृष्ट और अदृष्ट । ये दोनो से अतिरिक्त दृश्यमान वस्तु की सत्ता हो ही नहीं सकती । माध्यमिक कारिका में कहा है कि....

न दृष्टं दृश्यते तावत् अदृष्टं नैव दृश्यते । दृष्टादृष्टविनिर्मुक्तं दृश्यमानं न दृश्यते ॥

इस प्रकार से दर्शन क्रिया के अभाव में उसका कोई भी कर्ता सिद्ध नहीं हो सकता । यदि कर्ता विद्यमान भी रहे, तो भी वह अपना दर्शन नहीं कर सकता, तो वह अन्य वस्तुओ का दर्शन किस प्रकार से कर सकेगा ?

दर्शन की अपेक्षा करके या निरपेक्षभाव से द्रष्टा की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकते । यदि द्रष्टा सिद्ध है तो उसको दर्शनक्रिया की अपेक्षा ही किसके लिये हो ? और यदि असिद्ध है तो भी वन्ध्यापुत्र के समान वह दर्शन की अपेक्षा नहीं करेगा । दृष्टा और दर्शन परस्पर सापेक्षिक कल्पनाएँ है । इसलिये दृष्टा को दर्शन से निरपेक्ष भाव से स्थित मानना वह भी न्यायसंगत नहीं है । इसलिये दृष्टाका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये दृष्टा के अभाव में द्रष्टव्य (विषय) तथा दर्शन का अभाव सुतरां सिद्ध है ।

सत्य तो यह है कि, रुप की सत्ता के उपर चक्षु अवलंबित है और चक्षु की सत्ता के उपर रुप नील–पितादि रंगो की कल्पना से हम चक्षु के अनुमान करते है । और चक्षु की स्थिति नीलादि रंगो का ध्यान करती है । 'जिस प्रकार से माता–पिता के कारण पुत्र का जन्म होता है । उसी प्रकार से चक्षु और रुप को निमित्त मानकर चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है । माध्यमिक कारिका में कहा है कि –

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत्य मातापितरौ यथोक्तः पुत्रसंभवः । चक्षुरुपे प्रतीत्यैवमुक्त विज्ञानसम्भवः ॥ ३।७ ॥

इसलिये दृष्टा के अभाव में द्रष्टव्य तथा दर्शन विद्यमान नहीं है। तो विज्ञान की कल्पना किस प्रकार से सिद्ध हो सकेगी ? जैसे कि, हम किसी वस्तु को देख रहे है, वह वैसी ही है, उसका निश्चित ज्ञान हमको किस तरह से होगा ? एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न आकार को देखकर बताते है। दर्शन के समान ही अन्य प्रत्यक्षज्ञान की दशा है। इसलिये ज्ञान की धारणा ही सर्वथा भ्रान्त है।

नागार्जुन के तर्क का यह निष्कर्ष है कि, जगत आभासमात्र है। जगत के पदार्थो का अस्तित्व मानना वह स्वप्न के मोदक से क्षुधा शांत करने बराबर है। मरीचिका (मृगजल) के जल से प्यास बुजाने बराबर है। प्रातःकाल में घास के उपर पडे हुए ओस की बुन्द दिखने में मोती के समान चमकते है परन्तु सूर्य के उग्र किरणो के पडने से तुरंत ही विलीन हो जाती है। जगत के पदार्थो की दशा भी इस प्रकार की है।

असाधारण दृष्टि से देखने में सत्य तथा अभिराम (आनंद देनेवाला) प्रतीत होता है। परन्तु तर्क का प्रयोग करने के साथ ही स्वभावशून्य बनकर अनस्तित्व में मिल जाता है। इसलिये नागार्जुन का कथन है कि शून्य ही एकमात्र सत्ता है, जगत प्रतिबिंब तुल्य है।

(ख) सत्तामीमांसा :- माध्यमिको के मत में सत्य (सत्ता) दो प्रकार की है। (१) सांवृत्तिक (सावृत्तिक) विज्ञान (=अविद्या जनित व्यावहारिक सत्ता) (२) पारमार्थिक सत् (= प्रज्ञाजनित सत्य)

ये दो ही सत्य का बुद्धने उपदेश दिया था। इसलिये नागार्जुन का यह द्विविधसत्य का सिद्धांत अभिनव नहीं है।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोक संवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः । माध्यमिक वृत्ति - पृ. ४९२, बोधि चर्या - पृ. ३६१)

सांवृत्तिक सत्य यह है कि जो संवृत्ति द्वारा उत्पन्न हुंआ हो। संवृत्ति शब्द की व्याख्या तीन प्रकार की जाती है। (१) संवृत्ति शब्द का अर्थ है अविद्या, कि जो सत्य वस्तु के उपर आवरण डालती है। (यही बात बोधिचर्या पञ्जिकामें पृ. ३५२के उपर की है । **संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृत्तप्रकाशनाच्चानयेति संवृत्तिः अविद्या ह्यसत्पदार्थस्वरुपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृत्तिरुपपद्यते ।**) उसके अविद्या, मोह तथा विपर्यास पर्यायवाचि शब्द है। अविद्या का स्वरुप आवरणात्मक है। कहा है कि -

अभूतं खापयत्यर्थं भूतमावृत्त्य वर्तते । अविद्या जायमानेव कामलातङ्क वृत्तिवत् । अर्थात् जिस प्रकार से कामला (पीलिया पाण्डु) रोग होने से रोगी श्वेत वस्तु के रुप को छिपा देता है और उसके उपर पीले रंग को आरोपित करता है। उसी प्रकार से अविद्या भूत के सत्य स्वरुप को आवृत्त करके अविद्यमान रुप को आरोपित कर देती है। **इस तरह से संवृत्ति का अर्थ अविद्या है।**

(२) संवृत्ति का अर्थ है हेतु - प्रत्यय के द्वारा उत्पन्न वस्तु का रुप। (**"प्रतीत्य समुत्पन्नं वस्तुरुपं संवृत्तिरुच्यते"** अर्थात् कारण से उत्पन्न होते वस्तु के रुप को संवृत्ति कहा जाता है।) सत्य पदार्थ अपनी सत्ता के लिए किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता। इस कारण से उत्पन्न होनेवाली लौकिकवस्तु सांवृत्तिक कही जाती है।

(३) संवृत्ति से वे चिन्हो तथा शब्दो से अभिप्राय है, जो साधारणतया मनुष्यो के द्वारा ग्रहण किया जाये तथा प्रत्यक्ष के उपर अवलंबित रहता है। कहा है कि-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्षमपि रुपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणतः । अशुच्यादिषु शुच्यादि प्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥ बोधिचर्या ९।६ ॥

रुप शब्दादि को परमार्थ सत्य नहीं मानना चाहीए। क्योंकि, लोक के द्वारा एक ही प्रकार से ग्रहण किया जाता है और इन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाती वस्तु यदि वास्तविक हो, तो जगत के सारे मूर्खलोग तत्त्वज्ञ बन जायेगा। सत्य की खोज के लिये विद्वानो का कभी भी आग्रह न रहता। प्रज्ञाकर मतिने स्त्री के शरीर का उदाहरण लिया है। कामुक को वह पवित्र तथा शुचिमय प्रतीत होता है।

संवृत्ति के दो प्रकार : ''सांवृत्तिक सत्य''का अर्थ है अविद्या या मोह के द्वारा उत्पादित काल्पनिक सत्य। जिसको अद्वैतवेदांत में ''व्यावहारिक सत्य'' कहते है। इस सत्य के दो प्रकार है। (१) लोकसंवृत्ति, (२) अलोकसंवृत्ति।

★ घटपटादि को सामान्य जनसमाज सत्य कहकर मानते है वह लोकसंवृत्ति।

★ कुछ (पांडुरोगी) लोग शंख में पीतरंग का ग्रहण करते है वह अलोकसंवृत्ति है। प्रज्ञाकारमतिने यह दोनो को ही क्रमशः (१) तथ्यसंवृत्ति तथा (२) मिथ्यासंवृत्ति की संज्ञा दी है।

★ **तथ्यसंवृत्ति का अर्थ है-किंचित् कारण से उत्पन्न तथा दोषरहित इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध रुप (नीलादि), वह लोक से (व्यवहार से) सत्य है।**

★ **मिथ्यासंवृत्ति भी किंचित् प्रत्ययजन्य है।** परन्तु वह दोषसहित इन्द्रियो से उपलब्ध होता है। जैसे कि, मरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि।

चार आर्यसत्यो में दुःख, समुदय तथा मार्ग संवृत्तिसत्य के अन्तर्गत जाता है और केवल निरोध (निर्वाण) सत्य ही परमार्थ सत्य के अन्तर्गत जाता है।

अग्राह्य होने पर भी संवृत्तिसत्य का हम तिरस्कार नहीं कर सकते। क्योंकि, व्यवहार सत्य में रहकर ही परमार्थ की देशना दी जाती है। इसलिये परमार्थ के लिये व्यवहार उपादेय है। इसलिये कहा है कि :
व्यवहारमनादृत्य परमार्थो न देश्यते। परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

★ **आदिशान्त :** माध्यमिक ग्रंथो में जगत के पदार्थो के लिए ''आदिशान्त'' तथा ''नित्यशान्त'' शब्दो का प्रयोग किया है। शांत का अर्थ है स्वभावरहित, विशिष्टसत्ता से विहीन। नागार्जुन की उक्ति इस विषय में स्पष्ट है।
प्रतीत्य यद्यद् भवति, तत्तच्छान्तं स्वभावतः। तस्मादुत्पद्यमानं च शान्तमुत्पत्तिरेव तु। मा. का. ७।१६ ॥
अर्थात् जो जो वस्तु कोई अन्य वस्तु के निमित्त से (प्रतीत्य) उत्पन्न होती है, वे दोनो स्वभाव से ही शांत-स्वभावहीन होते है।

(माध्यमिकमत के आचार्य) श्री धर्मकीर्ति का इस विषय में कथन है कि - **जो पदार्थ विद्यमान रहते है, वे अपना अनपायी स्वभाव अवश्य धारण करते है और विद्यमान होने के कारण किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। और किसी कारण से उत्पन्न भी नहीं होता। प्रसन्नपदा (मा.वृ.) में यही बात की है।**

''यो हि पदार्थो विद्यमान सः सस्वभावः स्वेनात्मना स्वं स्वभावमनपायिनं बिभर्ति । स संविद्यमानत्वान्नैवान्यत् किञ्चिदपेक्षते नाप्युत्पद्यते।''

परन्तु जगत के पदार्थो में यह नियम दृष्टिगोचर नहीं होता. वस्तुओका अपना स्वरुप बदलता रहता है। आज जो मिट्टी है वह कालांतर में घडा और उसका प्याला बनता है। इसलिये जगत के पदार्थ निःस्वभाव-शान्त है। घट और मिट्टी, अंकुर और बीज दोनो स्वभावहीन है। इसलिये शान्त है। माध्यमिकवृत्ति में पृ.१६० के उपर यही

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात को बताया है : **मया तु यत्प्रतीत्य बीजाख्यं कारणं भवति अंकुराख्यं कार्यं तच्चोभयमपि शान्तं स्वभावरहितं प्रतीत्यसमुत्पन्नम् ।**

कार्य-कारण की कल्पना करना, वह तो बच्चो का खेल है। वस्तुस्थिति का परिचय रखनेवाली कोई भी व्यक्ति जगत को उत्पन्न नहीं मान सकती। वस्तुतः संसार की ही पूर्वाकोटि (कारणभाव) विद्यमान नहीं है। जगत के समस्त पदार्थो की यही दशा है। माध्यमिक कारिका में कहा है कि, **पूर्वा न विद्यते कोटिः संसारस्य न केवलम् । सर्वेषामपि भावनां पूर्वाकोटि न विद्यते ॥ ११।८ ॥**

इसलिये हेतु प्रत्यय जनित पदार्थो को शून्यवादी आचार्यो ने स्वभावहीन (शान्त) माना है।

★ **परमार्थ सत्य :** वस्तु का अकृत्रिम स्वरुप ही **परमार्थ** है। जिसके ज्ञान से संवृत्तिजन्य समस्तक्लेशो की प्राप्ति की जाती है। परमार्थ = धर्मनैरात्म्य अर्थात् सर्व धर्म (साधारणतया भूतो) की निःस्वभावता। उसके ही **शून्यता, तथता** (जैसा हो वैसा भाव), **भूतकोटि** (पदार्थो का सत्यपर्यवसान) और **धर्मधातु** (वस्तुओ की समग्रता) पर्याय है। बोधिचर्या में पृ.३५४ में कहा है कि -

सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटिः धर्मधातुरिति पर्यायाः । सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रुपम् ।

समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थ की स्वभावहीनता ही पारमार्थिकरुप है। जगत के सर्वपदार्थ हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होते है। इसलिये वे पदार्थो का कोई विशिष्टरुप नहीं है। वही निःस्वभावता अर्थात् शून्यता पारमार्थिकरुप है।

नागार्जुन के कथनानुसार निर्वाण ही परमार्थसत्य है। उसमें विषय-विषयी, कर्ता-कर्म की किसी प्रकार की विशेषता नहीं होती।

इसके लिये **प्रज्ञाकरमतिने** परमार्थसत्य को **सर्वव्यवहारसमातिक्रान्त**-अर्थात् सर्व व्यवहारो से अतीत-निर्विशेष, असमुत्पन्न, अनिरुद्ध, अभिधेय-अभिधान से रहित तथा ज्ञेय-ज्ञान से विगत बताई गई है।

संवृत्ति का अर्थ है बुद्धि। बुद्धि द्वारा जो जो तथ्य ग्रहण होते है, वह समस्त व्यावहारिक (सांवृत्तिक) सत्य है।

परमार्थसत्य बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। बुद्धि कोई विशेष को लक्ष्य करके वस्तु को ग्रहण करती है। परमार्थसत्य विशेषहीन होने से वह बुद्धि से किस तरह ग्राह्य हो सके ? परमार्थसत्य मौनरुप है। बुद्धो के द्वारा उसकी देशना नहीं हो सकती। देशना उस तत्त्व की होती है, कि जो शब्दो के द्वारा अभिहित किया जा सके। परमतत्त्व न तो वाणी का विषय है, न चित्त का विषय (गोचर) है। वाणी और मन उस तत्त्व तक नहीं पहुंच सकते। **माध्यमिक कारिका** में कहा है कि "**निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचरे । अनुत्पन्ना निरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता ॥ १८।७ मा०का० ॥** अपने ही आत्मा से उस तत्त्व की अनुभूति कर सकते है। **इसलिये ही परमार्थसत्य "प्रत्यात्मवेदनीय" है।**

★ **व्यवहार की उपयोगिता :** माध्यमिको का यह (उपरोक्त बताया गया) पक्ष हीनयानिओ की दृष्टि में नितान्त गर्हणीय है। आक्षेप का बीज यह है कि जब परमार्थ शब्दतः अवर्णनीय है और व्यवहारसत्य जादू से चलते फिरते रुपो की भांति भ्रममात्र है। तो स्कन्ध, आयतनादितत्त्वो का उपदेश देने की सार्थकता किस प्रकार से प्रमाणित किया जा सकेगा ? इस आक्षेप का नागार्जुन उत्तर देते है कि-

"व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते । परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते । तदेतदार्याणामेव स्वसंविदितस्वभावतया प्रत्यात्मसंवेद्यं परमार्थसत्यम् ।" (बोधिचर्या - पृ.३६७)

आशय यह है कि व्यवहार का आश्रय लिये बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और परमार्थ की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति के बिना निर्वाण नहीं मिल सकता। इस सारगर्भित कथन का अर्थ यह है कि साधारण मानवों की बुद्धि व्यवहार में इतनी ज्यादा संलग्न है कि उनको परमार्थ का लौकिक वस्तुओ की दृष्टि से ही उपदेश दिया जा सकता है। जो संकेतो से उनको आजन्म परिचय है वही संकेतो की भाषा में परमार्थ को वे समज सकते है। इसलिए व्यवहार का सर्वथा उपयोग है। यही वस्तु का प्रतिपादन बौद्धाचार्य श्री चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिकावतार (६।८०)में किया है।

''**उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्**। उपरांत, **न च सुभूते संस्कृतव्यतिरेकेण असंस्कृतं शक्यं प्रज्ञापयितुम्** अर्थात् संस्कृत (व्यवहारके) बिना असंस्कृत (परमार्थ) का प्रज्ञापन संभव नहीं है।

★ **शून्यवाद :** माध्यमिक लोग परमार्थसत्य को शून्य के नाम से पहचानते है। इसलिए ये आचार्यो का मत शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस शून्यवाद के तात्त्विकस्वरुप का निरुपण करने में विद्वानो को अतिशयवैमत्य है। हीनयानी आचार्य (माध्यमिक महायानि कहा जाता है) तथा दूसरे कुछ विद्वानोने शून्य शब्द का अर्थ सर्वत्र सकल ''**सत्ता**'' का निषेध या ''**अभाव**'' ही किया है। उसका कारण यह है कि लोकव्यवहार में यह शब्द का प्रसिद्ध अर्थ वह है। परन्तु माध्यमिक आचार्यो के ग्रंथो के अभिप्राय अनुसार शून्य शब्द का अर्थ ''**नास्ति**'' तथा ''**अभाव**'' नहीं है, कोई भी पदार्थ के स्वरुपनिर्णय में चार ही कक्षाओ का प्रयोग प्रतीत होता है। ''**अस्ति**'' विद्यमान है), ''**नास्ति**'' (विद्यमान नहीं है), **तदुभयं** (**अस्ति** और **नास्ति** एकसाथ), **नोभयं** (नास्ति और अस्ति दोनो कल्पना का निषेध।)

इस कोटि (कक्षाओका) संबंध सांसारिक पदार्थ से है। परंतु परमार्थ मनो-वाणी से अगोचर होने के कारण नितरां अनिर्वाच्य है। सविशेष वस्तु का विवेचन होता है। निर्विशेष वस्तु का कभी भी विवेचन नहीं होता। इस कारण से अनिर्वचनीयता की सूचना देने के लिए 'परमतत्त्व' के लिये शून्य का प्रयोग किया है। परमार्थ चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। **माध्यमिक कारिका में कहा है कि-**

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥ १।७ ॥

शून्य का प्रयोग एक विशेष सिद्धांत का सूचक है। हीनयानो (बुद्धके) मध्यममार्ग को ये चार के विषय में अंगीकार करते है। परन्तु माध्यमिक लोग तत्त्वमीमांसा के विषय में भी मध्यगमार्ग को अपनाते है। उनके मतानुसार वस्तु न एकांतिक सत् है या न एकान्तिक असत् है। प्रत्युत उस वस्तु का स्वरुप ये दोनो के मध्यबिंदु पर ही निर्णीत हो सकता है। जो शून्यरुप से होता है। **समाधिराजसूत्र में कहा है कि-**

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता। तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः ॥

शून्य ''अभाव'' नहीं है। क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्षकल्पना है। अभाव को भाव की अपेक्षा है। परंतु शून्य परमार्थ का सूचक होने से स्वयं निरपेक्ष है। इसलिये निरपेक्ष होने के कारण शून्य का अभाव नहीं माना जा सकता। यह आध्यात्मिक मध्यमगार्ग का प्रतिष्ठापक होने से इस दर्शन का नाम माध्यमिक दिया गया है।

यह शून्य ही सर्वश्रेष्ठ अपरोक्षतत्त्व है। इस तरह माध्यमिक आचार्य ''शून्याद्वैतवाद'' के समर्थक है। यह समस्त नानात्मक प्रपंच (विभिन्न प्रकार का जगत व्यवहार) इसी ''शून्य'' का ही विवर्त है।

★ **शून्यता का उपयोग :** जगत के समस्त पदार्थो के पीछे कोई नित्यवस्तु (जैसेकि, आत्मा, द्रव्य) विद्यमान नहीं है। प्रत्युत वह निरालंबन तथा निःस्वभाव है। यह ज्ञान, शून्यता का ज्ञान है। मानवजीवन में इस तथ्य का ज्ञान अत्यंत उपयोगी है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोक्ष, कर्म तथा क्लेश के क्षय से होता है। कर्म और क्लेशो की सत्ता संकल्पो के कारण है। शुभ संकल्प से राग का, अशुभ संकल्प से द्वेष का और विपर्यास के संकल्प से मोह का उदय होता है और संकल्प का कारण प्रपंच है। प्रपंच का अर्थ है ज्ञान-ज्ञेय, वाच्य-वाचक, घट-पट, स्त्री-पुरुष, लाभालाभ, सुख-दुःख आदि विचार। उस प्रपंच का निरोध शून्यता-सब नैरात्म्यज्ञान में है। अतः शून्यता मोक्षोपयोगिनी है। (मोक्ष के लिए उपयोगी है)

वस्तु की उपलब्धि (प्राप्ति) होने से प्रपञ्च का जन्म होता है और संकल्पो के द्वारा वह कर्म-क्लेशो को उत्पन्न करता है। जिससे प्राणी संसार के आवागमन में (आने-जाने में) भटकता रहता है और वस्तु की प्राप्ति नहीं होने से प्रपंच का जन्म नहीं होता। उससे संकल्पो के द्वारा क्लेशादि उत्पन्न नहीं होते। इसलिए जीव को इस प्रकार से शून्यता के ज्ञान से प्रपंच का जन्म रोकना चाहिए। इसलिये दूसरी कोई अनर्थ की परंपरा नहीं चलती। **इसलिये सर्वप्रपंचो की निवृत्ति उत्पन्न होने के कारण शून्यता ही निर्वाण है और निर्वाण के बाद भी कुछ भी शेष नहीं रहता इसलिये निर्वाण असत्य है।**

नागार्जुनने इस कारण से शून्यता को आध्यात्मिकता के लिये विशेष महत्व प्रदान किया है।

कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः। ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुद्ध्यते ॥१८।९ मा.का ॥

★ **शून्यता का लक्षण :** नागार्जुन ने शून्य का लक्षण एक कारिका द्वारा बताया है।

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्। निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥ मा.का. १८।९ ॥

शून्य का लक्षण इस प्रकार से है।

(१) वह (शून्य) **अपरप्रत्यय** है। अर्थात् एक के द्वारा दूसरे को उसका उपदेश नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक प्राणी को इस तत्त्व की अनुभूति स्वयं अपने आप करनी चाहिए। (**प्रत्यात्मवेद्य**). आर्यो के उपदेश के श्रवण से इस (शून्य) तत्त्व का ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता। क्योंकि, आर्यो का तत्त्वप्रतिपादन 'समारोप' द्वारा ही होता है।

(२) वह (शून्य) **शान्त** है। अर्थात् स्वभावरहित है।

(३) वह प्रपंचो के द्वारा कभी भी प्रपंचित नहीं होता। यहाँ प्रपंच का अर्थ शब्द है। क्योंकि वह अर्थ को प्रपंचित-प्रकट करता है। शून्य के अर्थ का प्रतिपादन किसी भी शब्द के द्वारा नहीं हो सकता। इसलिये वह 'अशब्द' तथा 'अनक्षर' तत्त्व कहा जाता है।

(४) वह (शून्य) **निर्विकल्पक** है। विकल्पका अर्थ है - चित्त का चलना अर्थात् चित्त का व्यापार (चित्तप्रचार)। शून्यता चित्त व्यापार के अन्तर्गत नहीं आती। चित्त इस तत्त्व का विचार नहीं कर सकता।

(५) **शून्य अनानार्थ है :** नाना (अनेक) अर्थो से विरहित है। जिसके विषय में धर्मो की उत्पत्ति मानी जाती है, वह वस्तु नानार्थ होती है। वस्तुतः सर्वधर्मो का उत्पाद नहीं होता। इसलिए यह (शून्य) तत्त्व नानार्थरहित है।

शून्य का इस प्रकार का स्वभाव है - सर्व प्रपंचो की निवृत्ति। वस्तुतः वह भावपदार्थ है, अभाव नहीं है। जगत के मूल में विद्यमान होनेवाला यह भावपदार्थ है। **शून्यता ही प्रतीत्य समुत्पाद है।**

यः प्रत्ययसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥

★ **शून्यवाद की सिद्धि :** शून्यवाद के निराकरण के निमित्तरुप पूर्वपक्ष की अनेक युक्तियां है, उसका ही विशेष खण्डन नागार्जुन ने अपने **विग्रह-व्यावर्तिनी** ग्रंथ में विस्तार से किया है। यहाँ सारांश में शून्यवाद की सिद्धि किस प्रकार से करते है वह देखे।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

★ **पूर्वपक्ष :** (१) वस्तुओ का निषेध (शून्यवाद) ठीक नहीं है, क्योंकि.... (i) जिन शब्दो का युक्ति के सहारे से प्रयोग किया जाता है। वह भी शून्य असार ही हो जायेगा। (ii) यदि ऐसा नही मानोंगें तो तुमारी बात है कि, सर्ववस्तुएँ शून्य है, वह असत्य सिद्ध होगा। (iii) शून्यता को सिद्ध करने के प्रमाण का नितान्त अभाव है।

उपरांत (२) सर्व वस्तुओ को वास्तविक माननी चाहिए। क्योंकि.... (i) सच्चे-जुठे का भेद सब स्वीकार करते है। (ii) असिद्ध वस्तु का नाम नहीं मिलता, परन्तु जगत की समस्त वस्तुओ का नाम मिलता है। (iii) वास्तविक पदार्थ का निषेध युक्तियुक्त नहीं है। (iv) प्रतिषेध्य को भी सिद्ध नहीं कर सकता है।

उत्तरपक्ष : नागार्जुन इस पक्ष का खंडन करते है।

(१) (i) जिन प्रमाणो के बल पर भावो की वास्तविकता सिद्ध की जाती है, उन प्रमाणो को हम कभी सिद्ध नहीं कर सकते है। प्रमाण दूसरे प्रमाणो के द्वारा सिद्ध नहि किया जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह प्रमाण न रहेते हुए प्रमेय बन जायेगा। (ii) प्रमाण अग्नि के समान स्वात्म प्रकाशक नहीं होता। (iii) प्रमेयो के द्वारा भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रमेय तो अपनी सिद्धि के लिए परतंत्र है, तो वह किस तरह से प्रमाणो को सिद्ध कर सकेगा ? और करेंगे तो प्रमाण हो जायेगा, प्रमेय नहीं रह सकेगा। (iv) अकस्मात संयोग से प्रमाण सिद्ध नहीं होता। इसलिये प्रामाण्यवाद के विषय पर नागार्जुन का यह सारगर्भित मत है।

नैव स्वतः प्रसिद्धिर्न परस्परतः प्रमाणैर्वा ।
भवति न च प्रमेयैर्न चाप्यकस्मात् प्रमाणानाम् ॥ विग्रह-व्यावर्तिनी कारिका - ५२ ॥

उपरांत,

(२) भावो की सत्यता शून्यरुप है। (i) वह सच्ची-जूठी भावना से विरुद्ध नहीं है। वह भावना भी प्रतीत्य समुत्पादके कारण ही है। यदि यह बात न मानी जायें और उसके बदले अच्छे-बुरे का (सच्चे-जूठेका) भेद स्वतः परमार्थरुप से माना जाये तो वह अचल एक रस है। और उसको ब्रह्मचर्यादि अनुष्ठान के द्वारा कभी भी परिवर्तनशील नहीं किया जायेगा। (ii) शून्यता होने से ही नाम होता है। नाम की कल्पना स्वयं सद्भूत नहीं असद्भूत है। "जो पदार्थ सद्, स्थिर तथा अविकारी हो उसका ही नाम हो सकता है। जो असत् हो उसका नाम न हो सके" - यह कल्पना नितान्त असार है।

● **शून्यता के प्रकार :** शून्यता का अध्ययन बोधिसत्त्व की प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, कि जो निर्वाण की प्राप्ति का कारण है।

(१) **अध्यात्म-शून्यता (आंतरिक वस्तुओ की शून्यता) :** अध्यात्म का अभिप्राय छः विज्ञानो से है। उसको शून्य बताने का अर्थ यह है कि हमारी मानसक्रिया के मूल में उसका नियामक 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ नहीं है। हीनयानीओ का अनात्मवाद इस शून्यता का द्योतक है।

(२) **बहिर्धा शून्यता (बाहर की वस्तुओ की शून्यता) :** इन्द्रिय के रुप, रस, स्पर्शादि स्वभावशून्य है। जिस प्रकार हमारा अंतर्जगत स्वरुपशून्य होने से अवास्तव है। उस प्रकार बाह्यजगत के मूल में कोई आत्मा नहीं है। **"अध्यात्म-शून्यता" तो हीनयानीओ का अभीष्ट सिद्धांत था, परन्तु बाहर की वस्तुओ को (धर्मो को) स्वरुपशून्य बताना, वह महायानीओ का गौलिक सिद्धांत है।**

(३) **अध्यात्म - बहिर्शून्यता :** हम साधारणतया आंतरिक और बाह्य वस्तुओ में भेद करते है। परन्तु वह भेद भी वास्तविक नहीं है। वह विभेद कल्पनामें से पैदा हुए है। स्थान-परिवर्तन करने से जो बाह्य होता है वे अभ्यन्तर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन जाता है और जो अभ्यन्तर होता है वह बाह्य बन जाता है। इस तत्त्व की सूचना इस प्रकार में दी जाती है।

(४) **शून्यता - शून्यता :** सर्वधर्मो की शून्यता सिद्ध होने से हमारे हृदय में विश्वास हो जाता है कि, यह शून्यता वास्तविक पदार्थ है। **अथवा** हमारे प्रयत्नो के द्वारा प्राप्त करने योग्य बाह्य पदार्थ है। परन्तु इस विश्वास को दूर करना, वह इस प्रकार का उद्देश्य है। 'शून्यता' भी यथार्थ नहीं है। उसकी भी शून्यता परम तत्त्व है।

(५) **महा शून्यता :** दिशा की शून्यता। दसो दिशाओ का व्यवहार कल्पनाप्रसूत है। दिक् की कल्पना सापेक्षिकी है। पूर्व-पश्चिम परस्पर को निमित्त मानकर कल्पित किया गया है। उसकी शून्यता मानना उपयुक्त है। दिशा के महासन्निवेश के कारण वह शून्यता महान विशेषण से लक्षित की जाती है।

(६) **परमार्थ शून्यता :** परमार्थ का अभिप्राय निर्वाण से है। **निर्वाण सांसारिक प्रपंच से विसंयोगमात्र है।** इसलिये निर्वाण स्वरुप से शून्य होने से निर्वाण भी शून्य पदार्थ है।

(७) **संस्कृत शून्यता :** संस्कृत का अर्थ हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न पदार्थ। त्रैधातुक जगत के अन्तर्गत कायधातु, रुपधातु और अरुपधातु का सन्निवेश माना जाता है। उत्पन्न पदार्थ स्वरुप से शून्य है, इसका अर्थ यह हुआ कि जगत की आभ्यन्तर और बाह्य समग्र वस्तुएं शून्यरुप है।

(८) **असंस्कृत शून्यता :** असंस्कृत पदार्थ उत्पादरहित, विनाशरहित आदि धर्मो से युक्त है। परंतु अनुत्पाद तथा अनिरोध भी नाममात्र (प्रज्ञप्ति) है। उसकी कल्पना सापेक्षिक है। संस्कृत से विरुद्ध होने के कारण असंस्कृत कहा जाता है। दोनो कल्पनाएँ निराधार, निरालंबन है, इसलिए ही शून्य है।

(९) **अत्यन्त शून्यता :** प्रत्येक ''**अन्त**'' स्वभावशून्य होता है। शाश्वत (नित्यता) एक अंत है और उच्छेद (विनाश) दूसरा अंत है। इन दोनो के बाद दूसरी कोई वस्तु विद्यमान नहीं है कि वे दोनो में अन्तर बताये। इसलिए उसका भी कोई अपना स्वरुप नहीं है। अत्यंत शून्यता का अर्थ है कि बिलकुल शून्यता (पूर्ण शून्यता). अर्थात् शून्यता -शून्यता का ही यह दूसरा प्रकार है।

(१०) **अनवराग्र शून्यता :** आरंभ, मध्य और अंत, ये तीनो की कल्पना सापेक्षिक है। इसलिए उसका अपना वास्तविक स्वरुप कुछ नहीं है। किसी वस्तु को आदिमान मानना जिस प्रकार से काल्पनिक है, उस प्रकार से अन्य वस्तु को आदिहीन मानना भी काल्पनिक है। आदि और अंत, दोनो परस्पर विरुद्ध धारणाएं है। ये धारणाओ की शून्यता बताना वह इस प्रभेद का अभिप्राय है।

(११) **अनवकार शून्यता :** ''**अनवकार**'' का अभिप्राय ''**अनुपधिशेष निर्वाण**'' से है। जिसका अपाकरण किसी भी प्रकार से न किया जा सके, वह ''अनुपधिशेष निर्वाण'' है। यह कल्पना भी शून्यरूप है। क्योंकि, ''अपाकरण'' क्रियारुप होने से ''अनापकरण'' की भावना पर अवलंबित है। ''अपाकरण'' अपने से विरुद्ध कल्पना के उपर आश्रित है। इसलिये सापेक्ष होने के कारण शून्यरुप है।

(१२) **प्रकृत शून्यता :** किसी वस्तु की प्रकृति अथवा स्वभाव सब विद्वानो के द्वारा मिलकर भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। उसका अपना कोई विशिष्टरुप नहीं है। वह संस्कृतरुप हो या असंस्कृतरुप हो, परन्तु उसमें किसी प्रकार की परिवर्तन और अपरिवर्तन क्रिया नहीं कर सकता।

(१३) **सर्वधर्म शून्यता :** जगत के समस्तधर्म (पदार्थ) स्वभाव से विहीन है। क्योंकि, संस्कृत और असंस्कृत दोनो प्रकारो से संबंध रखनेवाला धर्म परस्पर अवलंबित है। इसलिये वह परमार्थसत्ता से विहीन है।

(१४) **लक्षण शून्यता :** लक्षण भी वस्तुतः शून्य है। क्योंकि, हेतु - प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण उसकी भी कोई

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसलिए वस्तुओ का सामान्य तथा विशेषलक्षण (जिससे वस्तु का स्वरुप बताया जाता है वह लक्षण) नाममात्र (विज्ञप्तिमात्र) है।

(१५) **उपलम्भ शून्यता :** भूत, वर्तमान, भविष्य, ये त्रिविध काल की कल्पना दिशा की कल्पना की भांति बिलकुल निराधार है। मनुष्य अपने व्यवहार के लिए काल की कल्पना खडी करता है। काल ऐसा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है कि जिसकी सत्ता स्वतंत्र प्रमाणो से सिद्ध की जा सके।

(१६) **अभाव-स्वभाव शून्यता :** अनेक धर्मो के संयोग से जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका भी कोई अपना विशिष्ट स्वरुप नहीं होता। क्योंकि, परस्पर सापेक्ष होने के कारण ऐसी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता होती ही नहीं है।

(१७) **भाव शून्यता :** पंचस्कन्ध के समुदाय को साधारणतया हम "आत्मा" नाम से पहचानते है। परन्तु वे पंचस्कन्ध भी स्वरुप से हीन है। स्कन्ध शब्द का अर्थ है राशि या समुदाय। जो वस्तु समुदायात्मक होती है वह स्वतः सिद्ध नहीं होती। इसलिये वह (राशि) जगत के पदार्थो की किसी भी प्रकार से निमित्त नहीं बनती। स्कन्ध की सत्ता का निषेध इस विभाग का तात्पर्य है।

(१८) **अभाव शून्यता :** आकाश और दोनो प्रकार का निरोध (प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध) स्वभावरहित है। वह केवल संज्ञामात्र है। वह वस्तुतः सांसारिक सत्यता के अभावरुप होने से स्वयं सत्ताहीन है।

(१९) **स्वभाव शून्यता :** साधारणतया हमारी जो धारणा है कि, प्रत्येक वस्तु का अपना (स्वतंत्ररुप से) स्वभाव होता है। वह स्वभाव अलौकिक(प्रातिभ) ज्ञान या दर्शन के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। ज्ञान और दर्शन वस्तु के यथार्थरुप के द्योतक होते है। सत्तारहित पदार्थ की अभिव्यक्ति वे कभी भी नहीं कर सकते है।

(२०) **परभाव शून्यता :** वस्तु का परमार्थरुप नित्य वर्तमान रहता है। वह उत्पत्ति और विनाश की अपेक्षा नहीं रखते हुए स्वतंत्ररुप से सदा (हंमेशा) विद्यमान रहनेवाला है, उस स्वभाव को किसी बाह्य कारण (परभाव) के द्वारा उत्पन्न हुआ मानना वह अत्यंत तर्कहीन है।

★ "सत्ता" के प्रश्न को लेकर बौद्ध दर्शन के चार संप्रदाय :

बौद्धदर्शन के चार संप्रदायो की सत्ता के विषय की मान्यता को प्रकट करता संग्रहश्लोक यह है –

अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते, प्रत्यक्षेण न हि बाह्यवस्तुविस्तरः सौत्रान्तिकैराश्रितः।
योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा, मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम् ॥१४५॥

भावार्थ : सत्ता की मीमांसा करनेवाले बौद्धदर्शन के चार संप्रदाय है। व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरुपण किया जाता है। स्थूलपदार्थो से सूक्ष्मपदार्थो की विवेचना की ओर जानेवालो में पहला मत उस दार्शनिको का यह है कि, जो बाह्य तथा अभ्यन्तर समस्त धर्मो के अस्तित्व का स्वीकार करते है।

जगत में बाह्य वस्तु का अपलाप किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता। जो वस्तु को लेकर हमारा जीवन है, उसी प्रकार से उसकी (बाह्यपदार्थ की) सत्यता स्वयं प्रकट करता है। **इस तरह बाह्यार्थ को प्रत्यक्षरुप से सत्य माननेवाला वैभाषिक संप्रदाय है।**

इससे दूसरे दार्शनिक आगे बढते है। उनका कहना है कि, बाह्यवस्तु का प्रत्यक्षज्ञान हमको नहीं हो सकता। यदि समग्र वस्तु क्षणिक है तो किसी भी वस्तु के स्वरुप का प्रत्यक्षज्ञान संभव नहीं है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थो का नील, पीत आदि चित्र चित्त के पट के उपर खींचे चले आते है। जिस प्रकार दर्पण में (आयने में) प्रतिबिंब

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को देखकर बिंब की सत्ता का हम अनुमान करते है, उसी प्रकार से चित्तरुप पटके वे प्रतिबिंबो से हमको प्रतीति होती है कि बाह्य अर्थ की भी सत्ता अवश्य है। **इसलिये बाह्य अर्थ की सत्ता अनुमान के उपर अवलंबित (आधारित) है। यह बौद्धो का दूसरा संप्रदाय सौत्रान्तिक कहा जाता है।**

तीसरा मत बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं मानता है। सौत्रान्तिक के द्वारा कल्पित प्रतिबिंब द्वारा बिंबसत्ता का अनुमान उनको अभीष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि में बाह्य भौतिक जगत नितान्त मिथ्या है। चित्त ही एकमात्र सत्ता है। जिसके नाना (भिन्न-भिन्न) प्रकार के आभास को हम जगत से पहचानते है। **चित्त को ही विज्ञान कहा जाता है। यह मत विज्ञानवादि योगाचारो का है।**

सत्ताविषयक चौथा मत यह है कि वे चित्त की भी सत्ता स्वतंत्र नहीं मानता। जिस प्रकार से बाह्यार्थ असत् है। उसी प्रकार से विज्ञान भी असत् है। शून्य ही परमार्थ है। जगत की सत्ता व्यावहारिक है। शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। इस मत के अनुयायी शून्यवादि या माध्यमिक कहे जाते है। इस प्रकार चारो संप्रदाय की सत्ता के विषय में सैद्धान्तिक मान्यता इस अनुसार है। (१) वैभाषिक - बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद, (२) सौत्रान्तिक - बाह्यार्थानुमेयवाद, (३) योगाचार - विज्ञानवाद, (४) माध्यमिक - शून्यवाद।

उपरोक्त चारो संप्रदायो में वैभाषिक का संबंध हीनयान से है तथा अंतिम तीन संप्रदाय का संबंध महायान से है। ये तीनो मतो का सत्ता के विषय में विभिन्न मत है। फिर भी महायान के सामान्यमत का स्वीकार करते है। तत्वमीमांसा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पे है। तो योगाचार और माध्यमिक एक छोर पे है। सौत्रान्तिक वे दोनो के बीच में है। कुछ अंशो में वह वैभाषिक का समर्थक है। परन्तु अन्यसिद्धांत योगाचार की ओर झूकते है।

★ **हीनयान और महायान की निर्वाण के विषय में मान्यता :**

(१) **हीनयान :** हीनयान मतानुयायी अपने को तीन प्रकार के दुःखो से पीडित मानते है। (i) **दुःख - दुःखता :** अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणो से उत्पन्न होनेवाला क्लेश। (ii) **संस्कार - दुःखता :** उत्पत्ति-विनाशशाली जगत की वस्तुओ से उत्पन्न होनेवाला क्लेश। (iii) **विपरिणाम दुःखता :** अर्थात् सुख, दुःख रुप में परिणत होने से उत्पन्न क्लेश। आगे बताये गये अष्टाङ्गिक मार्ग के अनुशीलन से तथा जगत के पदार्थो में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, सांसारिक पदार्थो की अनित्यता, आर्यसत्य तथा अनात्मतत्त्व का ज्ञान इत्यादि ज्ञान का बारबार परिशीलन करने से क्लेशो से सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करता है।

हीनयानीयो की मान्यता है कि निर्वाण क्लेशाभावरुप है। जब क्लेश के आवरण का सर्वथा परिहार होता है, तब निर्वाण की अवस्था (स्थिति) का जन्म होता है। **निर्वाण को सुखरुप बताया गया है, परन्तु अधिकतर बौद्धनिकाय निर्वाण को अभावात्मक ही मानते है।**

वैभाषिको के मत में निर्वाण क्लेशाभावरुप माना जाता है। परंतु अभाव होने पर भी वह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक निर्वाण को स्वतः सतावान् पदार्थ नहीं मानते है। निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है कि जो चरम शांति में डूबी हुई रहती है।

(२) **महायान :** हीनयान के मतानुसार निर्वाण का स्वरुप बताया परन्तु वह स्वरुप महायानवाले मानने के लिए तैयार नहीं है। **उनके मतानुसार निर्वाण होने से क्लेशावरण का क्षय होता है। ज्ञेयावरण की सत्ता रहती है।**

हीनयान की दृष्टि में राग-द्वेष की सत्ता पंचस्कन्ध के रुप से अथवा उससे भिन्न प्रकार की आत्मा की सत्ता मानने के उपर निर्भर (आधारित) है। आत्मा की सत्ता रहने से ही मनुष्य के हृदय में यज्ञ-यागादिक में हिंसा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने की प्रवृत्ति होती है। परलोक में आत्मा को सुख पहुँचाने के लिए ही मनुष्य नाना (विविध प्रकार के) अकुशलकर्मो का आरंभ करता है। इसलिये समस्तक्लेश और दोष यह आत्म-दृष्टि (सत्कायदृष्टि) का विषम परिणाम है। **इसलिये आत्मा का निषेध करना क्लेशनाश का परम उपाय है। उसको कहा जाता है पुद्गलनैरात्म्य। हीनयानी ऐसे प्रकार के नैरात्म्य को मानते है। परन्तु इस नैरात्म्य के ज्ञान से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है। इससे अतिरिक्त एक दूसरे आवरण की भी सत्ता है जिसको ज्ञेयावरण कहा जाता है।**

नैरात्म्य दो प्रकार का है। (१) पुद्गलनैरात्म्य, (२) धर्मनैरात्म्य। रागादि क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते है। इसलिए पुद्गलनैरात्म्य के ज्ञान से प्राणी सर्व क्लेशो को छोड देते है।

जगत के पदार्थो के अभाव या शून्यता के ज्ञान से सत्यज्ञान के उपर पडा हुआ आवरण अपनेआप दूर हो जाता है और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए ये दोनो आवरण (क्लेशावरण, ज्ञेयावरण) का दूर होना अत्यंत आवश्यक है। क्लेश मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवरणका काम करता है अर्थात् मुक्ति को रोकता है। ज्ञेयावरण सब ज्ञेयपदार्थो के उपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है। इसलिए ज्ञेयावरण दूर हो जाने से सर्ववस्तुओ में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न होता है। जिससे सर्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

आवरण के ये दो प्रकार के भेद दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व के है। महायानानुसार हीनयानी की मान्यतानुसार के निर्वाण में केवल पहले आवरण (क्लेशावरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता के ज्ञान से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जब तक दूसरे आवरण का नाश न हो तब तक वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को (दूसरे भेद को) मानने के लिए तैयार नहीं है। उनकी दृष्टि से ज्ञान प्राप्त कर लेने से अर्हंतो को ज्ञान अनावरण हो जाता है। परन्तु महायानी की वह कल्पना नितान्त मौलिक है।

हीनयानी की मान्यतानुसार ''अर्हत्'' पद की प्राप्ति ही मानवजीवन का अंतिम लक्ष्य है। परंतु महायान के अनुसार बुद्धत्व की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। इस उद्देश्य की भिन्नता के कारण निर्वाण की कल्पना में भेद है।

नागार्जुन ने निर्वाण की परीक्षा माध्यमिक कारिका-२५वी में बहोत विस्तार से की है। वहाँ कहा है कि-

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्। अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते। अर्थात् निर्वाण न तो छोडा जा सकता है। न तो प्राप्त किया जा सकता है। वह पदार्थ न तो उच्छेद होनेवाला पदार्थ है कि न शाश्वत पदार्थ है। न तो वह निरुद्ध है। न तो वह उत्पन्न है। उत्पत्ति होने पर ही कोई वस्तु का निरोध होता है। निर्वाण दोनो से भिन्न है।

महायानिओ के मतानुसार निर्वाण और संसार में कुछ भी भेद नहीं है। कल्पना की जाल का क्षय होना उसका ही नाम मोक्ष-निर्वाण है।

★ **निर्वाण और संसार के विषय में चार मतो की विशेषता :**

(१) वैभाषिक	संसार सत्य	निर्वाण सत्य
(२) सौत्रान्तिक	संसार सत्य	निर्वाण असत्य
(३) योगाचार	संसार असत्य	निर्वाण सत्य
(४) माध्यमिक	संसार असत्य	निर्वाण असत्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

★ **वैभाषिक मानते है कि निर्वाण के बाद भी चैतन्य की शुद्ध धारा अखंड रहती है। इसलिये निर्वाण वस्तुसत् पदार्थ है। सौत्रान्तिक मानते है कि निर्वाण के समय चित्त की तमाम धाराओ का विलय होता है। शुद्ध-चैतन्य भी नहीं रहता। इस प्रकार निर्वाण अवस्तुसत् है। योगाचारो का मानना है कि निर्वाण के बाद शुद्ध चित्त की धारा का अस्तित्व रहता है। इसलिए निर्वाण सत् पदार्थ है। माध्यमिको का मानना है कि निर्वाण के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। इसलिये निर्वाण असत्य है।**

★ **बौद्धमत में काल विषयक मान्यता :** काल बौद्धो (दार्शनिको) के लिए नितान्त विवाद का विषय रहा है। भिन्न-भिन्न दो संप्रदायो की इस विषय में विभिन्न मान्यता है। सौत्रान्तिको की दृष्टि में वर्तमान ही वास्तविक सत्य है। भूतकाल की और भविष्यकाल की सत्ता निराधार तथा काल्पनिक है।

विभज्यवादियों का कहना है कि वर्तमान धर्म तथा अतीत विषयो में जो कर्मो का फल अब तक उत्पन्न नहीं हुआ, वह दोनो पदार्थ वस्तुत: सत् है। वे भविष्यकाल का अस्तित्व नहीं मानते और अतीत विषयो का भी अस्तित्व नहीं मानते, कि जिसने अपना फल उत्पन्न कर दिया है। काल के विषय में इस प्रकार मानने के कारण संभवत: यह संप्रदाय ''विभज्यवादि'' नाम से अभिहित किया गया है। सर्वास्तिवादियों का कालविषयक सिद्धांत अपने नाम के अनुरुप है। उनके मत में समग्र धर्म त्रिकाल स्थायी होता है। वर्तमान (प्रत्युत्पन्न), भूत (अतीत) तथा भविष्य (अनागत), ये तीन कालो की वास्तविक सत्ता है। इस सिद्धांतो को पुष्ट करने के निमित्त नीचे बताई गई चार युक्तियाँ है।

(१) **तदुक्ते:** बुद्ध के संयुक्तागम (३।१४) में तीन कालो की सत्ता का उपदेश किया है। **''रुपमनित्यं अतीतम् अनागतं क: पुनर्वाद प्रत्युत्पन्नस्य ?''** अर्थात् रुप अनित्य होता है। अतीत और अनागत होता है। उपरांत वर्तमान का क्या कहना ?

(२) **द्वयात्** = विज्ञान दो हेतुओ से उत्पन्न होता है। (१) इन्द्रिय (२) विषय। चक्षुर्विज्ञान चक्षुरिन्द्रिय तथा रुप से, श्रोत्रविज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय तथा शब्द से, मनोविज्ञान मन तथा धर्म से उत्पन्न होता है। यदि अतीत और अनागत धर्म है, तो मनोविज्ञान दो वस्तुओ से किस तरह उत्पन्न हो सकता है ?

(३) **सद्विषयात् :** विज्ञान के लिये विषय की सत्ता होने से विज्ञान किसी आलंबन-विषय को लेकर ही प्रवृत्त होता है। यदि अतीत तथा भविष्यत् वस्तुओ का अभाव हो, तो विज्ञान निरालंबन (निर्विषय) हो जायेगा।

(४) **फलात् :** फल उत्पन्न होने से। फल की उत्पत्ति के समय विपाक का कारण अतीत हो जाता है। अतीतकर्मो का फल वर्तमान में उपलब्ध होता है। यदि अतीत का अस्तित्व ही न हो, तो फल की उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसलिये सर्वास्तिवादियों की दृष्टि से अतीत और अनागत की सत्ता उतनी ही वास्तविक है कि जितनी वर्तमान की।

यह युक्ति को सौत्रान्तिक मानने के लिए तैयार नहीं है। **सौत्रान्तिक मत में अर्थ, क्रियाकारिता तथा उसके आविर्भाव का काल, ये तीनो में किसी प्रकार का अंतर नहीं है।** सौत्रान्तिको ''अतीतकर्म वर्तमानकालिक फलके उत्पादन में समर्थ होता है।'' यह वैभाषिक युक्ति का विरोध किया है। उनका कहना है कि, दोनो कर्म समभावेन अपना फल उत्पन्न करते है। ऐसी दशा में अतीत तथा वर्तमान का भेद ही किंमूलक है ? वस्तु और क्रियाकारिता में यदि अंतर मानेंगे तो कौन सा कारण है कि जिससे वह क्रियाकारिता जो कोई काल में उत्पन्न की जाती है और दूसरे काल में बंद हो जाती है ?

अतीत के क्लेशो से वर्तमान कालिक क्लेश उत्पन्न नहीं होते। परन्तु उस क्लेशो के जो संस्कार अवशिष्ट रहते

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उससे नवीन क्लेशो का उदय होता है। इसलिए वैभाषिको का काल विषयक सिद्धांत सौत्रान्तिको को मान्य नहीं है।

नागार्जुनने (माध्यमिक कारिका के १६ वें प्रकरण में) काल की समीक्षा की है। लोकव्यवहार में काल तीन प्रकारका होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य। अतीत की हमको खबर (जानकारी) नहीं है। भविष्य का अभी जन्म नहीं हुआ है। बाकी रहा वर्तमान। उसकी सत्ता भी अतीत तथा भविष्य के आधार पर अवलंबित है। वर्तमान क्या है ? जो भूत नहीं है और भविष्य नहीं है। फलतः (परिणामस्वरुप) हेतुजनित होने से वर्तमान की कल्पना निराधार है। इसलिए काल की समग्र कल्पना अविश्वसनीय है।

★ **सम्मितीय संप्रदाय (पुद्‌गलवादि) के सिद्धांत :**

सम्मितीयों का प्रसिद्ध नाम वात्सीपुत्रीय है। वह स्थविरवाद की ही उपशाखा है। इस संप्रदाय का पुद्‌गल का सिद्धांत दूसरे संप्रदाय से भिन्न है।

सम्मितीयों ने लोकानुभव की परीक्षा करके यह परिणाम (फैंसला) निकाला कि, इस शरीर में **'अहं'** इस प्रकार की एकाकार प्रतीति लक्षित होती है, वह क्षणिक नहीं चिरस्थायी है और वह प्रतीति पंचस्कन्धो के सहारे उत्पन्न नहीं की जा सकती। किसी भी पुरुष केवल एक व्यक्ति के रुप में कार्य करता है-सोचता है। परन्तु पांच विभिन्न वस्तुओ के रुप में नहीं। मनुष्य के गुण भिन्न-भिन्न जन्मो में एक ही रुप से अनुस्यूत (पिरोये हुए) रहते है और पांच स्कन्धो से अतिरिक्त एक नवीन मानस व्यापार विद्यमान है। जो अहंभाव का आश्रय है। तथा एक जन्म से दूसरा जन्म में कर्मो के प्रवाह का अवच्छिन्न रुप से बना रहता है। स्कन्धो के परिवर्तन के साथ साथ ही मानस व्यापार भी बदलता रहता है। इसलिये पंचस्कन्धो से अतीतजन्म तथा उसकी घटनाओंकी स्मृति नहीं हो सकती। इसलिए सम्मितीयों ने एक छठ्ठे मानस व्यापार की सत्ता मान्य की है। उस मानस व्यापार का नाम पुद्‌गल है। वह पुद्‌गल स्कन्धो के साथ ही रहता है।

इसलिए निर्वाण में जब स्कन्धो का निरोध हो जाता है, तब पुद्‌गल का भी उपशम अवश्य होता है। यह पुद्‌गल न तो संस्कृत कहा जाता है या न तो असंस्कृत. पुद्‌गल स्कन्धो के समान क्षणिक नहीं है। इसलिए उसमें संस्कृत धर्मो के गुण विद्यमान नहीं रहते। पुद्‌गल निर्वाण की भांति न तो अपरिवर्तनीय है, न तो नित्यस्थायी है, इसलिए उसको असंस्कृत भी नहीं कहा जा सकता।

★ **सम्मितीय संप्रदाय के अन्य सिद्धांत : (१) पंचविज्ञान न तो राग उत्पन्न करता है, न तो विराग। (२) विराग को उत्पन्न करने के लिए साधक को संयोजन-बंधन तोडने पडते है। (३) दर्शन मार्ग में रहने से संयोजनो का नाश नहीं होता। परन्तु भावनामार्ग में रहने से उस संयोजनो का नाश अवश्य होता है।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्दर्शन समुच्चय, भाग-१

नैयायिक दर्शन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।। अथ द्वितीयोऽधिकारः ।। ।। नैयायिक दर्शन ।।

(मूल श्लो०) नैयायिकमतस्येतः, कथ्यमानो निशम्यताम् ।। १२-उत्तरार्ध ।।

श्लोकार्थ : यहाँ से कहा जाता नैयायिक मत सुनिये। ॥१२॥

नैयायिकमतस्य शैवशासनस्य संक्षेप इत उर्ध्वं कथ्यमानो निशम्यतां श्रूयताम् ।।

अथादौ नैयायिकानां यौगापराभिधानानां लिङ्गादिव्यक्तिरुच्यते । ते च दण्डधराः प्रौढकौपीनपरिधानाः, कम्बलिकाप्रावृताः, जटाधारिणः, भस्मोद्धूलनपराः यज्ञोपवीतिनः, जलाधारपात्रकराः, नीरसाहाराः, प्रायो वनवासिनो द्रोर्मूले तुम्बकं बिभ्राणाः, कन्दमूलफलाशिनः, आतिथ्यकर्मनिरताः, सस्त्रीकाः, निस्त्रीकाश्च । निस्त्रीकास्तेषूत्तमा; । ते च पञ्चाग्निसाधनपराः करे जटादौ च प्राणलिङ्गधराश्चापि भवन्ति । उत्तमां संयमावस्थां प्राप्तास्तु नग्ना भ्रमन्ति । एते प्रातर्दन्तपादादिशौचं विधाय शिवं ध्यायन्तो भस्मनाङ्गं त्रिस्त्रिः स्पृशन्ति । यजमानो वन्दमानः कृताञ्जलिर्वक्ति "ओं नमः शिवाय" इति । गुरुस्तथैव "शिवाय नमः" इति प्रतिवक्ति । ते च संसद्येवं वदन्ति- "शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं सेवित्वा योऽपि मुञ्चति । दासी दासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति ।।१।।" [ ]

तेषामीश्वरो देवः सर्वज्ञः सृष्टिसंहारादिकृत् । तस्य चाष्टादशावतारा अमी-नकुली १, शोष्यकौशिकः २, गार्ग्यः ३, मैत्र्यः ४, अकौरुषः ५, ईशानः ६, पारगार्ग्यः ७, कपिलाण्डः ८, मनुष्यकः ९, कुशिकः १०, अत्रिः ११, पिङ्गलः १२, पुष्पकः १३, बृहदार्यः १४, अगस्तिः १५, संतानः १६, राशीकरः १७, विद्यागुरुश्च १८ । एते तेषां तीर्थेशाः पूजनीयाः । एतेषां पूजाप्रणिधानविधिस्तु तदागमाद्वेदितव्यः । तेषां सर्वतीर्थेषु भरटा एव पूजकाः । देवानां नमस्कारो न सन्मुखैः कार्यः । तेषु ये निर्विकारास्ते स्वमीमांसागतमिदं पद्यं दर्शयन्ति-"न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम, नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म । यत्रान्यदेव च न किंचिदुपास्महे तद्रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ।। १ ।। स एव योगिनां सेव्यो ह्यर्वाचीनस्तु भोगभाक् । स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते ।। २ ।।" उक्तं च तैः स्वयोगशास्त्रे-"वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागत्वमश्नुते, सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्वं तु निश्चितम् ।। ३ ।। येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः । तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ।। ४ ।।" **इति ।।**

टीकाका भावानुवाद :

यहाँ से आगे कहा जानेवाला नैयायिकमत कि जिसका दूसरा नाम शैवशासन है, उसका संक्षेप सुनिये। अब शुरुआत में 'यौग' जिन का दूसरा नाम है वे नैयायिको के लिंग, वेष और आचार को कहते है। वे नैयायिक दंड को धारण करनेवाले, प्रौढ (बड़ी) लंगोट को धारण करनेवाले, शरीर के उपर भस्म लगानेवाले, जनेऊ को धारण करनेवाले, हाथ में पानी पीने के लिए पात्र रखनेवाले, नीरस आहार करनेवाले, कंदमूल और फल खानेवाले आतिथ्यकर्म में निरत, स्त्री को रखनेवाले और स्त्री को नहिं रखनेवाले होते है। उसमें

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्री नहि रखनेवाले, उत्तम कहे जाते है। वे पंचाग्नि की साधना में लगे होते है। (रुद्राक्ष की माला, कि जिसको प्राणलिंग कहा जाता है।) हाथ में तथा जटादि में उस प्राणलिंग को धारण करनेवाले होते है। उपरांत, उत्तम संयमावस्था को प्राप्त करे हुए नग्न (वस्त्रहीन) फिरते है।

वे सुबह दंतमंजन और पैर आदि की शुद्धि करके शिव का ध्यान करते हुए भस्म के द्वारा अंग के उपर तीन-तीन बार स्पर्श करते है। अर्थात् शरीर के कुछ खास अंगो के उपर भस्म की (१)तीन-तीन लाइने (रेखायें) करते है। वंदन करता हुआ यजमान अंजलीपूर्वक (हाथ जोड के) "**ॐ नमः शिवाय**" बोलाता है और गुरु सामने "**शिवाय नमः**" बोलते है। वे सभा में इस अनुसार बोलते है। (कहते है।) - "जो शैवधर्म का दासी या दास भी शैवशासन की दीक्षा को बारह साल आचरण करके (सेवन करके) छोड देते है, वे भी निर्वाण को प्राप्त करते है ॥१॥"

सृष्टि और संहार करनेवाले सर्वज्ञ देव उनके ईश्वर है। उस ईश्वर के अठारह अवतार है। वे इस अनुसार - (१) नकुली, (२) शौष्यकौशिक, (३) गार्ग्य, (४) मैत्र्य, (५) अकौरुष, (६) इशान, (७) पारगार्ग्य, (८) कपिलाण्ड, (९) मनुष्यक, (१०) कुशिक, (११) अत्रि, (१२) पिंगल, (१३) पुष्पक, (१४) बृहदार्य, (१५) अगस्ति, (१६) संतान, (१७) राशीकर, (१८) विद्यागुरु।

ये उस नैयायिको के पूजनीय तीर्थंकर (तीर्थ को करनेवाला) है। ये तीर्थेशो की पूजा-प्रणिधान की विधि उनके शास्त्र से जान लेना। उनके सर्व तीर्थो में भरट (दास) ही पूजा करनेवाले होते है।

वे देवो को सामने से नमस्कार नहीं करते है। उनमें जो निर्विकार है वे अपनी मीमांसा का इस पद्य को कहते है। "हम तो प्राचीन मुनियो के द्वारा ध्यान किये गये ईश्वर के उस निर्विकार स्वरुप की उपासना करते है। जिसमें न तो स्वर्गगंगा है न तो सर्प है न तो मुण्डमाला है, न चन्द्रमा की कला है। न आधे शरीर में पार्वती है, न जटा है, न भस्म का लेप है तथा ऐसी अन्य कोई उपाधियाँ नहीं है, वैसे निरुपाधि निर्विकार स्वरुप ही योगियों के द्वारा सेव्य है। आज ईश्वर का जो स्वरुप पूजा जाता है वह तो भोगरुप है और राज्यादि ऐहिक सुखो के लोलुप जीव ही उस स्वरुप की उपासना करते है।" (२)

उन्हो नें अपने योगशास्त्र में कहा भी है कि... "वीतराग का स्मरण - ध्यान करनेवाला योगी वीतरागता को प्राप्त कर लेता है और सराग का ध्यान करनेवाले की सरागता निश्चित है। (१) (तात्पर्य यह है कि..) मन रुप यन्त्र को चलानेवाला आत्मा (यंत्रवाहक) जो जो भाव से युक्त होके जिसका जिसका ध्यान करते है, वह स्वयं तन्मय हो जाता है। जैसे कि स्फटिक मणि को जो जो प्रकार की उपाधियाँ मिलती है (तब) उसका रंग उस उपाधियों के अनुसार अनेक प्रकार का हो जाता है।

एतत्सर्वं लिङ्गवेषदेवादिस्वरूपं वैशेषिकमतेऽप्यवसातव्यं, यतो नैयायिकवैशेषिकाणां हि मिथः प्रमाणतत्त्वानां संख्याभेदे सत्यप्यन्योन्यं तत्त्वानामन्तर्भावनेऽल्पीयानेव भेदो जायते । तेनैतेषां प्रायो

---

(१) मस्तक, हृदय, नाभि के उपर तीन लाईन करते है। मस्तक के उपर शिव का वास मानते है। हृदय के उपर ब्रह्मा का वास मानते है। नाभि के उपर विष्णु का वास मानते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मततुल्यता । उभयेऽप्येते तपस्विनोऽभिधीयन्ते । ते च शैवादिभेदेन चतुर्धा भवन्ति । तदुक्तम्- "आधारभस्मकौपीनजटायज्ञोपवीतिनः । स्वस्वाचारादिभेदेन चतुर्धा स्युस्तपस्विनः ।। १ ।। शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा । तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदा एते तपस्विनाम् ।। २ ।।"

तेषामन्तर्भेदा भरटभक्तलैङ्गिकतापसादयो भवन्ति । भरटादीनां व्रतग्रहणे ब्राह्मणादिवर्णनियमो नास्ति । यस्तु तु शिवे भक्तिः स व्रती भरटादिर्भवेत् । परं शास्त्रेषु नैयायिकाः सदा शिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते, वैशेषिकास्तु पाशुपता इति । तेन नैयायिकशासनं शैवमाख्यायते, वैशेषिकदर्शनं च पाशुपतमिति । इदं मया यथाश्रुतं यथादृष्टं चात्राभिदधे । तत्तद्विशेषस्तु तद्ग्रन्थेभ्यो विज्ञेयः ।। १२ ।।

टीकाका भावानुवाद :

यह लिंग, वेष, देवादि का स्वरुप है। वे सब वैशेषिकमत में भी जानना, क्योंकि नैयायिको और वैशेषिको में परस्पर प्रमाण और तत्त्वो की संख्या में भेद होने पर भी अन्योन्य तत्त्वो का अंतर्भाव हो जाने से बहोत अल्प ही भेद (भिन्नता) है। इसलिए नैयायिको तथा वैशेषिको के मत की प्रायः तुल्यता है। दोनो ही तपस्वी कहे जाते है। वे शैवादि के भेद से चार प्रकार के है। **इसलिए कहा है कि,**

"आधार (रहने का स्थान, आसान आदि) भस्म, लंगोट, जटा और जनेऊ (यज्ञोपवित) को धारण करनेवाले तपस्वी अपने-अपने आचारादि की भिन्नता के कारण चार प्रकार के है ॥१॥ इन तपस्वीयो के शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा चौथा कालमुख (ऐसे) मुख्य चार भेद है ॥२॥

उनके आंतर्भेद भरट, भक्त,लैंगिक, तापसादि है। भरटादि नियम व्रत ग्रहण में ब्राह्मणादि वर्ण का नियम नहीं है। परन्तु जिनकी शिव में भक्ति है, वे व्रत लेकर भरटादि होते है।

परन्तु नैयायिक हंमेशा शिव के आराधक भक्त होने से शास्त्रो में उनको "**शैव**" कहा जाता है। परन्तु वैशेषिको को "**पाशुपत**" कहा जाता है। इसलिए नैयायिक शासन "**शैव शासन**" कहा जाता है और वैशेषिक दर्शन "**पाशुपत शासन**" कहा जाता है। वह मेरे द्वारा जिस अनुसार परंपरा से सुना गया और जिस अनुसार देखा गया है, उसी अनुसार कहा गया है। परन्तु उस उस विषय में जिसको विशेष जानना हो, उनको उस ग्रंथो से जानना ॥१२॥

अथ पूर्वप्रतिज्ञातं नैयायिकमतसंक्षेपमेवाह -

अब पूर्व की प्रतिज्ञानुसार नैयायिक मत के संक्षेप को ग्रंथकारश्री कहते है।

(मूल श्लो०) अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः ।
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ।। १३ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लोकार्थ : अक्षपाद (नैयायिक) मत में विभु, नित्य, एक, सर्वज्ञ, नित्यबुद्धि के आश्रय (नित्यज्ञानवाले) जगत का सर्जन और विसर्जन करनेवाले देव शिव है।

व्याख्या-अक्षपादेनाद्येन गुरुणा यतः प्रणीतं नैयायिकमतस्य मूलसूत्रं, तेन नैयायिका आक्षपादा अभिधीयन्ते, तन्मतं चाक्षपादमतमिति । तस्मिन्नाक्षपादमते शिवो महेश्वरः, सृष्टिश्चराचरस्य जगतो निर्माणं, संहारस्तद्विनाशः, द्वन्द्वे सृष्टिसंहारौ, तावसावचिन्त्यशक्तिमाहात्म्येन करोतीति सृष्टिसंहारकृत् । केवलायाः सृष्टेः करणे निरन्तरोत्पाद्यमानोऽसंख्यः प्राणिगणो भुवनत्रयेऽपि न मायादिति सृष्टिवत्संहारस्यापि करणम् । अत्र [B-46]प्रयोगमेवं शैवा व्याहरन्ते । भूभूधरसुधाकरदिनकरमकराकरादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं, कार्यत्वात् । यद्यत्कार्यं तत्तद्बुद्धिमत्पूर्वकं, यथा घटः, कार्यं चेदं, तस्माद्बुद्धिमत्पूर्वकम् । यश्चास्य बुद्धिमान्स्रष्टा, स ईश्वर एवेत्यन्वयः । व्यतिरेके गगनम् । न चायमसिद्धो हेतुः, भूभूधरादीनां स्वस्वकारणकलापजन्यत्वेनावयवितया वा कार्यत्वस्य जगति सुप्रसिद्धत्वात् । नापि विरुद्धोऽनैकान्तिको वा, विपक्षादत्यन्तं व्यावृत्तत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः प्रत्यक्षागमाबाध्यमानसाध्यधर्मधर्मिविषये हेतोः प्रवर्तनात् । नापि प्रकरणसमः, तत्प्रतिपन्थिपदार्थस्वरूपसमर्थनप्रथितप्रत्यनुमानोदयाभावात् । अथ निर्वृतात्मवदशरीरत्वादेव न संभवति सृष्टिसंहारकर्तेश्वर इति प्रत्यनुमानोदयात्कथं न प्रकरणसम इति चेत्, उच्यते, अत्र त्वदीयानुमाने साध्यमान ईश्वरो धर्मी त्वया प्रतीतोऽप्रतीतो वाभिप्रेयते । अप्रतीतश्चेत्, तदा त्वत्परिकल्पितहेतोराश्रयासिद्धिदोषः प्रसज्येत । प्रतीतश्चेत्, तर्हि येन प्रमाणेन प्रतीतस्तेनैव स्वयमुद्भावितनिजतनुरपि किमिति नाभ्युपेयत इति कथमशरीरत्वम् । ततो न प्रकरणसमदोषता हेतोः, अतः साधूक्तं "सृष्टिसंहारकृच्छिवः" इति । तथा विभुराकाशवत्सर्वजगद्व्यापकः । नियतैकस्थानवर्तित्वे ह्यनियतप्रदेशवर्तिनां पदार्थानां प्रतिनियतयथावन्निर्माणानुपपत्तेः । न ह्येकस्थानस्थितः कुम्भकारोऽपि दूरतरघटादिघटनायां व्याप्रियते, तस्माद्विभुः तथा नित्यैकसर्वज्ञः[B-47] ।

टीकाका भावानुवाद :

(जिनका दूसरा नाम गौतम है वह)अक्षपाद नाम के आद्यगुरु के द्वारा नैयायिकमत का मूलसूत्र रचा गया है। उस ग्रंथ का नाम नैयायिकसूत्र है। इसलिये नैयायिको को "आक्षपाद" भी कहा जाता है। उस आक्षपादमत में शिव-महेश्वर चराचर जगत (सृष्टि) का निर्माण (सर्जन) और विसर्जन (नाश) करनेवाले है। वे महेश्वर जगत का सर्जन और नाश अचिन्त्यशक्ति के माहात्म्य से करते है।

वे महेश्वर यदि केवल जगत के सर्जन में ही प्रवृत्त है, ऐसा मानेंगे तो निरंतर उत्पन्न होता असंख्य प्राणीओ

(B-46-47) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का समूह तीन भुवन में भी नहीं समायेगा। इसलिये वे महेश्वर जगत के सर्जन की तरह जगत का विनाश भी करते है। यहाँ इश्वर के जगत्कर्तृत्व की सिद्धि के लिए नैयायिक इस अनुसार के अनुमान प्रयोग का व्यवहार करते है।

भूभूधरसुधाकरदिनकरमकराकरादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं, कार्यत्वात्। अर्थात् पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य और समुद्रादि में बुद्धिमत्पूर्वकत्व है। क्योंकि वे पृथ्वीआदि कार्य है। जैसे कि **"यत् यत् कार्यं तत् तत् बुद्धिमत्पूर्वकं यथा घटः"** - अर्थात् जैसे घट कार्य है, इसलिए उसमें बुद्धिमत्पूर्वकत्व है, यानी कि बुद्धिमान के द्वारा बना हुआ है। (वैसे पृथ्वी आदि भी कार्य होने से बुद्धिमान पुरुष द्वारा बना हुआ है, वह अनुमान से सिद्ध होता है।) और यह पृथ्वी आदि कार्य है। इसलिये उसमें बुद्धिमत्पूर्वकत्व है और पृथ्वी आदि का जो बुद्धिमान सर्जनकार है, वह इश्वर ही है। इस अन्वय से इस जगत के सर्जनकार (२)इश्वर सिद्ध होता है।

उपरांत, जो जो बुद्धिमत्पूर्वक नहीं है, वह वह कार्य नहीं है। जैसे कि आकाश, इस व्यतिरेक से भी सिद्ध होता है कि जो कार्य होता है वह बुद्धिमान कर्ता द्वारा बना हुआ होता है और पृथ्वी आदि में कर्तृत्व हमारे जैसे अल्पज्ञ लोग का संभवित नहीं है। इसलिये पृथ्वी आदि के कर्ता के रुप में इश्वर की सिद्धि होती है।

पूर्वपक्ष : "भूभूधरसुधाकरदिनकरमकराकरादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्।" इस प्रयोग में कार्यत्व हेतु (३)असिद्ध है। क्योंकि, पृथ्वी आदि में कार्यत्व नहीं है। पक्ष में हेतु की अवृत्ति होने से हेतु असिद्ध है।

उत्तरपक्ष (नैयायिक) : आपकी बात ठीक नहीं है। (क्योंकि कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है।) क्योंकि जगत में पृथ्वी, पर्वत आदि अपने अपने कारण-कलाप से उत्पन्न होते हुए अथवा अवयवपन से कार्य के रुप में प्रसिद्ध है। इसलिए पृथ्वी आदि में कार्यत्व रहा हुआ है। (अवयव के समूह को अवयवी कहा जाता है। भिन्न-भिन्न अवयव साथ मिलकर अवयवी बनता है। इसलिए अवयवी पृथ्वी आदि भी कार्य है। परन्तु आकाश अवयवो का समूह न होने के कारण कार्य नहीं है।) इसलिये कार्यत्व हेतु **"भूभूध..."** पक्ष में रहता है। इसलिए असिद्ध नहीं है।

उपरांत "कार्यत्व" हेतु **विरुद्ध या अनैकान्तिक** भी नहीं है। क्योंकि विपक्ष से अत्यंत व्यावृत्त है। यानी

---

(२) ईश्वर का जगत्कर्तृत्व किस तरह से है,वह बताते है। **न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां संभवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वर-सिद्धिः। (न्याय सि.मु.)** अर्थात् (उपर जो अनुमान द्वारा सिद्धि किया कि जो जो कार्य है वह वह बुद्धिमत्पूर्वक होता है। वहां पृथ्वी आदि का कर्तृत्व हमारे जैसो का संभवित नहीं है। (क्योंकि हमको उस उस कार्य के उपादानकारणो का ज्ञान नहीं है।) इसलिए पृथ्वी आदि के कर्ता के रुप में ईश्वर की सिद्धि होती है। (क्योंकि नित्यज्ञानवाले ईश्वर को उस उस कार्य के उपादानकारणो का ज्ञान होता है।)

(३) यहाँ असिद्ध से स्वरुपासिद्ध समजना। **यो हेतुः पक्षे न वर्तते स स्वरुपासिद्धः।** जो हेतु पक्ष में न रहता है उसे स्वरुपासिद्ध कहा जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि विपक्ष ऐसे आकाश में कार्यत्व हेतु रहता न होने से, कार्यत्व हेतु विरुद्ध या अनैकान्तिक नहीं है।" ("**विपक्षे सन्सपक्षे चासन् विरुद्धः** अर्थात् जो हेतु विपक्ष में रहता हो और सपक्ष में न रहता हो, वह विरुद्ध कहा जाता है। जैसे कि, "**शब्दः नित्य कार्यत्वात्**" यहाँ कार्यत्व हेतु विपक्ष ऐसे घटादि में रहता है और सपक्ष ऐसे आकाशमें नहीं रहता है। इसलिए कार्यत्व हेतु विरुद्ध है।

परन्तु उपरोक्त ईश्वर की सिद्धि के लिए दिये गये अनुमान में कार्यत्व हेतु विरुद्ध नहीं है। क्योंकि वह विपक्ष ऐसे आकाश में नहीं रहता है। "**पक्षादित्रयवृत्तिरनैकान्तिकः**" अर्थात् जो हेतु पक्ष, विपक्ष और सपक्ष तीनो में रहता है उसे अनैकान्तिक कहा जाता है। जैसे कि "**शब्दः अनित्यः प्रमेयत्वात्।**" यहाँ प्रमेयत्व हेतु पक्ष = शब्द में, सपक्ष = घटमें, विपक्ष = आकाश में रहता है। इसलिए अनैकान्तिक है। परन्तु उपरोक्त ईश्वरसाधक अनुमान में कार्यत्व हेतु विपक्ष = आकाश में रहता नहीं है, इसलिए कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक नहीं है।

उपरांत, कार्यत्व हेतु **कालात्ययापदिष्ट** (कि जिसका दूसरा नाम बाधित है, वह) भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम से अबाध्य रुप से साध्यधर्म बुद्धिमत्पूर्वकत्व के धर्मी ऐसे पृथ्वी आदि विषय में "कार्यत्व" हेतु विद्यमान है।

(कहने का मतलब यह है कि प्रत्यक्ष से पृथ्वी आदि कार्य के रुप में प्रतीत होता है। (और उसके कर्ता के रुप में हमारे जैसो को संभव नहीं है। इसलिए उसके कर्ता के रुप में नित्यज्ञानवाला ईश्वर सिद्ध होता है।) और पृथ्वी आदि कार्य के रुप मे तथा उसके कर्ता के स्वरुप में नित्यज्ञानवाला ईश्वर आगम में बताया गया है। इसलिए प्रत्यक्ष और आगम से धर्मि ऐसे पृथ्वी आदि में कार्यत्व हेतु रहता होने से कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है।)

उपरांत "कार्यत्व" हेतु **प्रकरणसम** भी नहीं है। क्योंकि बुद्धिमत्पूर्वकत्वाभाव के सिद्ध करनेवाले दूसरे अनुमानका अभाव है। (कहने का मतलब यह है कि, जैसे "**शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्**" इस अनुमान के "**श्रावणत्व**" हेतु का साध्य = नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व का साधक दूसरा हेतु "**कृतकत्व**" है। जैसे कि "**शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्।**" इसलिए "**श्रावणत्व**" हेतु प्रकरणसम बनता है। परन्तु उपरोक्त ईश्वर की जगत्कर्तृत्व की सिद्धि के लिए बताये अनुमान में कार्यत्व हेतु प्रकरणसम बनता नहीं है। क्योंकि पृथ्वी आदि कार्य में बुद्धिमत्पूर्वकत्वाभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा कोई हेतु विद्यमान (मौजूद) नहीं है। इसलिए "**कार्यत्व**" हेतु प्रकरणसम भी नहीं है।)

पूर्वपक्ष : जगत में कोई भी कार्य शरीरसहित के व्यक्ति द्वारा होता हुआ दीखाई देता है। और ईश्वर तो मुक्त आत्मा की तरह अशरीरि है। तो ईश्वर जगत के सर्जक और नाशक किस प्रकार से संभव है? (अर्थात् **भूभूधरसुधाकरदिनकरमकराकरादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं, कार्यत्वात्।** इस अनुमान में हेतु "कार्यत्व" के साध्य बुद्धिमत्पूर्वकत्व के अभाव को साधनेवाला "**भूभूधरसुधाकरदिनकरमकराकरादिकं न बुद्धिमत्पूर्वकं** (अर्थात् **ईश्वरो विधाता न भवति**) **अशरीरत्वात् निर्वृतात्मवत्।**" इस प्रति अनुमान से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर में बुद्धिमत्पूर्वकत्व को साधनेवाला हेतु "कार्यत्व" प्रकरणसम बन जाता है। तो आप किस तरह कह सकते है कि 'कार्यत्व' हेतु प्रकरणसम नहीं है ?)

उत्तरपक्ष (नैयायिक) : हे पूर्वपक्षी ! आपके अनुमान में बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन ईश्वर जो साध्य है। वह आपके द्वारा प्रतीत या अप्रतीत चाहा जाता है ? (अर्थात् धर्मीरुप ईश्वर को आप जानते है या नहि ?

यदि आप ऐसा कहोंगे कि साध्यमान ईश्वर अप्रतीत है। अर्थात् हम जानते नहीं है, तो आपके अनुमान में परिकल्पित हेतु आश्रयासिद्धि दोष से दूषित है, क्योंकि '**अशरीरत्व**' हेतु का पक्ष अप्रसिद्ध है।

और यदि ऐसा कहोंगे कि साध्यमान ईश्वर प्रतीत है अर्थात् जानते है तो जिस प्रमाण के द्वारा ईश्वर प्रतीत होता है उसी प्रमाण के द्वारा ही स्वयं ईश्वर का शरीर प्रतीत होगा। तो क्यों ईश्वर को सशरीरिक स्वीकार नहीं करते है ? इसलिए किस तरह से ईश्वर का '**अशरीरत्व**' है ?

इसलिए कार्यत्व हेतु प्रकरणसम दोष से दूषित नहीं है और इससे "**सृष्टिसंहारकृच्छिवः**" कहा वह सत्य है। उपरांत शिव-महेश्वर कैसे है ? विभु है। अर्थात् आकाश की तरह सर्वजगत में व्यापक है। (यदि ईश्वर को सर्वव्यापक विभु नहि मानोंगे तो) ईश्वर नियतस्थान में रहे हुए हो, तो अनियत (अलग-अलग) प्रदेश में रहे हुए पदार्थों का प्रतिनियत और यथावत् निर्माण करना संगत नहीं होता) जैसे कि एक स्थान में रहा हुआ कुम्भकार (कुम्हार) भी बहोत दूर रहे हुए घटादि को रचने में व्यापार (प्रवृत्ति) करता नहीं है। (और इसलिए दूर-दूरतर रही हुए वस्तुओ के निर्माण में सर्वव्यापकत्व आवश्यक है।) इसलिए ईश्वर विभु-सर्वव्यापक है। वह महेश्वर (ईश्वर) नित्य, एक और सर्वज्ञ है।

नित्यश्चासावेकश्च नित्यैकः स चासौ सर्वज्ञश्चेति विशेषणत्रयसमासः । तत्र नित्योऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः कूटस्थः । ईश्वरस्य ह्यनित्यत्वे पराधीनोत्पत्तिसव्यपेक्षया कृतकत्वप्राप्तिः । स्वोत्पत्तावपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इष्यते । कृतकश्चेज्जगत्कर्ता स्यात्, सदा तस्याप्यपरेण कर्त्रा भाव्यमनित्यत्वादेव । अपरस्यापि च कर्तुरन्येन कर्त्रा भवनीयमित्यनवस्थानदी दुस्तरा स्यात् । तस्मान्नित्य एवाभ्युप-गमनीयः, नित्योऽपि स एकोऽद्वितीयो मन्तव्यः, बहूनां हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्परं पृथक् पृथगन्यान्यविसदृशमतिव्यापृतत्वेनैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति युक्तं "एकः" इति विशेषणम् । एकोऽपि सर्वज्ञः सर्वपदार्थानां सामस्त्येन ज्ञाता, सर्वज्ञत्वाभावे हि विधित्सितपदार्थोपयोगिजगत्प्रसृमरविप्रकीर्णपरमाणुकणप्रचयसम्यक्सामग्रीमीलनाक्षमतया याथातथ्येन पदार्थानां निर्माणं दुर्धटं भवेत् । सर्वज्ञत्वे पुनः सकलप्राणिनां संमीलितसमुचितकारणकलापानुरूप्येण कार्यं वस्तु निर्मिमाणः स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन च स्वर्गनरकयोः सुखदुःखोपभोगं ददानः सर्वथौचितीं नातिवर्तेत । तथा चोक्तं तद्भक्तैः-"[B-48]ज्ञानमप्रतिघं यस्य**

(B-48) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ।।१।। अज्ञो (अन्यो) जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।२।।" [महा. भा. वन प० ३०/२८]

अथवा नित्यैकसर्वज्ञ इत्येकमेव विशेषणं व्याख्येयम् । नित्यः सदैकोऽद्वितीयः सर्वज्ञो नित्यैकसर्वज्ञः । एतेनानादिसर्वज्ञमीश्वरमेकं विहायान्यः कोऽपि सर्वज्ञः कदापि न भवति । यत ईश्वरादन्येषां योगिनां ज्ञानान्यपरं सर्वमतीन्द्रियमर्थं जानानान्यपि स्वात्मानं न जानते, ततस्ते कथं सर्वज्ञाः स्युरित्यावेदितं भवति । तथा नित्यबुद्धिसमाश्रयो नित्याया बुद्धेर्ज्ञानस्य स्थानं, क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षणेन मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्वप्रसक्तिरिति । इदृशविशेषणविशिष्टो नैयायिकमते शिवो देवः ।।१३।।

टीकाका भावानुवाद :

'नित्यश्चासौ एकश्च इति नित्यैकः तथा नित्यैकः स चासौ सर्वज्ञश्च इति नित्यैकसर्वज्ञः ।'-इस तरह से तीन विशेषणो का समास हुआ है।

वहाँ अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर, इस प्रकार सर्वकाल में एक स्वरुप रहनेवाले को कूटस्थनित्य कहा जाता है। अर्थात् नाश न होना, उत्पन्न न होना और स्थिर रहना, इस प्रकार सर्वकाल में एकरुप रहनेवाले को कूटस्थनित्य कहा जाता है। ईश्वर कूटस्थनित्य है।

यदि ईश्वर को अनित्य मानोंगे तो, ईश्वर को अपनी उत्पत्ति में पर की अपेक्षा रहेगी और इसलिए कृतकत्व की आपत्ति आयेगी। अर्थात् **कहने का मतलब यह है कि अनित्य की उत्पत्ति में पर की अपेक्षा होती है। और स्व की उत्पत्ति में दूसरो का व्यापार अपेक्षित है वह कृतक कहा जाता है।** इसलिए ईश्वर को अनित्य मानने में **कृतक** मानने की आपत्ति आयेगी।

और यदि जगत्कर्ता (ईश्वर) कृतक हो तो, उसकी उत्पत्ति दूसरे कर्ता के द्वारा होनी चाहिए। क्योंकि अनित्य है और दूसरे कर्ता की उत्पत्ति भी अन्य कर्ता के द्वारा होनी चाहिए। इस तरह से नये नये कर्ताओ की कल्पनाएं करने से अनवस्थारुप नदी पार करनी कठिन (मुश्किल) बन जायेगी। अर्थात् अनवस्था दोष आयेगा। इसलिए ईश्वर को नित्य ही स्वीकारना चाहिए। वह ईश्वर नित्य के साथ साथ अद्वितीय=एक भी मानना ही पडेगा। यदि ईश्वर अनेक (बहु-ज्यादा) मानोंगे तो अर्थात् बहोत ईश्वर जगत के कर्ता है, ऐसा स्वीकार करोंगे तो, वे बहोत ईश्वरो की परस्पर भिन्न-भिन्न एक-दूसरे से विसदृशमति के व्यापार से एक-एक पदार्थो का निर्माण विसदृश होगा और इससे जगत में असमंजस = अव्यवस्था खडी हो जायेगी, इसलिए ईश्वर का 'एक' विशेषण योग्य ही है।

एक ईश्वर भी सर्वज्ञ है। वह सर्वज्ञ ईश्वर सर्वपदार्थो का समग्रतया ज्ञाता है। (अर्थात् कौन सा पदार्थ

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन से परमाणुओ के समूह से बनता है। इत्यादि सर्वपदार्थो के उपादान कारण को जानते होने से समग्रता को जानते है और यदि ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं मानोंगे तो) सर्वज्ञत्व के अभाव में निर्माण करने के लिए इच्छित पदार्थ के लिए उपयोगी ऐसे जगत के प्रवाह में बहते हुए अलग-अलग परमाणुओ के कणो को इकट्ठा करके अच्छी तरह से पदार्थ प्रायोग्य सामग्री इकट्ठा करने की क्षमता नहीं होती है और इसलिए जिस अनुसार (पदार्थ बनना चाहिए) उस अनुसार नहीं बनने से पदार्थो का निर्माण दुर्घट हो जायेगा। (सर्वज्ञ होगा, तो ही कौन से पदार्थ के लिए कौन कौन से परमाणु उपयोगी है, वह जान सकेगा और उस परमाणुओ को इकठ्ठा करके इच्छित पदार्थ बना सकेगा।)

तथा उनके भक्तो द्वारा कहा जाता है कि अप्रतिघ (अव्याहत-सर्वव्यापी) ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म ये चारो जगत्पति को एक साथ सिद्ध है। ॥१॥ आत्मा के सुख-दुःख को जानने में अन्य अज्ञ जीव असमर्थ है। ईश्वर से प्रेरित जीव ही स्वर्ग में या नर्क में जाता है। ॥२॥

अथवा "नित्यैकसर्वज्ञ" इस अनुसार एक ही विशेषण की व्याख्या करनी चाहिए।

"नित्यः = सदा एक = अद्वितीयः सर्वज्ञो - नित्यैकसर्वज्ञः" अर्थात् सदा एक सर्वज्ञ है। वह (ईश्वर ऐसा अन्वय करना)

इस (विशेषण) के द्वारा अनादिकाल से सर्वज्ञ एक ईश्वर है और उस ईश्वर को छोडकर अन्य कोई भी सर्वज्ञ कभी भी नहीं होते है। (ऐसा सूचित होता है।) क्योंकि ईश्वर से अन्य योगीओ का ज्ञान दूसरे सब अतीन्द्रिय पदार्थो को जानता होने पर भी अपने आत्मा को नहीं जानता। इसलिये वे योगी किस तरह से सर्वज्ञ हो सकते है ? (इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर को छोडकर दूसरा कोई सर्वज्ञ नहीं है।)

तथा नित्यबुद्धि का आश्रय ईश्वर है। अर्थात् नित्य ज्ञान का स्थान ईश्वर है। (यदि ईश्वर को क्षणिक बुद्धिवाले मानोंगे तो) क्षणिकबुद्धिवाले को कार्य में दूसरो की अपेक्षा होने से मुख्यकर्तृत्व का अभाव होगा। इसलिए अनीश्वरत्व की आपत्ति आयेगी। नैयायिक मत में नित्य, एक, सर्वज्ञ, नित्यज्ञान के आश्रय ऐसे विशेषण से विशिष्ट शिव महेश्वर देव है। ॥१३॥

अथ तन्मते तत्त्वानि विवरिषुः प्रथमं तेषां संख्यां नामानि च समाख्याति । - अब नैयायिक मत में तत्त्वो का विवरण (विस्तृत वर्णन) करने की इच्छावाले ग्रंथकारश्री इन तत्त्वो की संख्या और तत्त्वो के नाम कहते है।

(मूल श्लोक.)

तत्त्वानि [B-49]षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा । प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ।।१४।।
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवास्तर्कनिर्णयौ । वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासा छलानि च ।।१५।।
जातयो निग्रहस्थानान्येषामेवं प्ररूपणा । [B-50]अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : इस नैयायिक मत में प्रमाणादि १६ तत्त्व है। वे इस अनुसार है। (१) प्रमाण, (२) प्रमेय,

(B-49-50) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टांत, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितंडा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, (१६) निग्रहस्थान। ये १६ तत्त्वो की प्ररुपणा इस अनुसार की गई है।

पदार्थ की उपलब्धि में जो हेतु बनते है उसे प्रमाण कहा जाता है। वे प्रमाण चार प्रकार के है। (ये तीन श्लोक का अन्वय एकसाथ अन्वय होने से उसको विशेषक कहा जाता है।)

व्याख्या-अमुत्रास्मिन्प्रक्रान्ते नैयायिकमते प्रमाणादीनि प्रमाणप्रमेयप्रभृतीनि षोडश तत्त्वानि भवन्ति । तद्यथेत्युपदर्शने । "प्रमाणं च" इत्यादि । तत्र प्रमितिरूपलब्धिर्ज्ञानं येन जन्यते, तज्ज्ञानस्य जनकं कारणं प्रमाणम् । **प्रमीयते ज्ञानं जन्यतेऽनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः । ज्ञानस्य च जनकं द्विविधम् । अचेतनं ज्ञानं च । तत्राचेतनमिन्टियतदर्थसन्निकर्षप्रदीपलिङ्गशब्दादिकं ज्ञानस्य कारणत्वात्प्रमाणं, ज्ञानं च-ज्ञानान्तरजन्मनि यद्व्याप्रियते तदपि ज्ञानजनकत्वात्प्रमाणम् । ज्ञानस्याजनकं तु प्रमाणस्य फलं भवेन्न पुनः प्रमाणम् १ ।** [B-51]प्रमेयं **प्रमाणजन्यज्ञानेन ग्राह्यं वस्तु २ । दोलायमाना प्रतीतिः** संशयः[B-52] । **चकारास्त्रयोऽपि प्रमाणादीनामन्योन्यापेक्षया समुच्चयार्थाः ३ ।** [B-53]प्रयोजन**मभीष्टं साधनीयं फलम् ४ ।** [B-54]दृष्टान्तो **वादिप्रतिवादिसंमतं निदर्शनम् ५ । अपिः समुच्चये । अथ शब्द आनन्तर्ये ।** [B-55]सिद्धान्तः [B-56]**सर्वदर्शनसंमतशास्त्रप्रभृतिः ६ ।** [B-57]अवयवाः **पक्षादयोऽनुमानस्याङ्गानि ७ । संदेहादूर्ध्वमन्वयधर्मचिन्तनं** तर्कः[B-58]**, स्थाणुरत्राधुना संभवतीति ८ । स्थाणुरेवायमित्यवधारणं** निर्णयः[B-59] । द्वन्द्वे तर्कनिर्णयौ ९ । **गुरुणा समं तत्त्वनिर्णयार्थं वदनं** वादः[B-60] **१० । परेण समं जिगीषया जल्पनं** जल्पः[B-61] **११ । अपरामृष्टवस्तुतत्त्वं मौखर्यमात्रं** वितण्डा[B-62] **१२ । हेतुवदाभासमाना** हेत्वाभासा[B-63] **न सम्यग्घेतव इत्यर्थः १३ । परवचनविघातार्थविकल्पोत्पादनानि** छलानि[B-64] **१४ ।** जातयोऽसम्यग्दुषणानि[B-65] **१५ । यैरुक्तैर्वक्ता निगृह्यते तानि** निग्रहस्थानानि[B-66] **१६ । इति । एषामनन्तरोक्तानां प्रमाणादीनामेवमित्थं प्ररूपणा स्वरूपप्रदर्शना भवति । तत्रादौ प्रमाणस्य प्ररूपणां चिकीर्षुः प्रथमतस्तस्य सामान्यलक्षणं संख्यां च प्राह "अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणम्" । अर्थस्य ग्राह्यस्य बाह्यस्य स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादेरान्तरस्य च ज्ञानसुखादेरुपलब्धिर्ज्ञानमर्थोपलब्धिः । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायादत्राव्यभिचारिण्य-व्यपदेश्या व्यवसायात्मिका चार्थोपलब्धिर्ग्राह्या, न तूपलब्धिमात्रम् । तस्या यो हेतुः कारणं स प्रमाणं स्याद्भवेत् । अर्थोपलब्धिस्तु प्रमाणस्य फलम् ।** अयमत्र भावः । **अव्यभिचारादिविशेषण-विशिष्टार्थोपलब्धिजनिका**[B-67] **सामग्री तदेकदेशो वा चक्षुःप्रदीपज्ञानादिर्बोधरूपोऽबोधरूपो वा साधकतमत्वात्प्रमाणम् । तज्जनकत्वं च तस्य प्रामाण्यम् । तज्जन्यार्थोलब्धिः फलमिति ।**

(B-51-52-53-54-55-56-57-58-59-60-61-62-63-64-65-66-67) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियजत्वलिङ्गजत्वादिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिर्यतः स्यात्, तदेव प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य विशेषलक्षणं वक्ष्यते । केवलमत्राव्यपदेश्यमिति विशेषणं न शाब्दे संबन्धनीयं, तस्य शब्दजन्यत्वेन व्यपदेश्यत्वात् । अथ प्रमाणस्य भेदानाह-'तच्चतुर्विधम्' तत्प्रमाणं चतुर्विधं चतुर्भेदम् ।।१४-१५-१६।।

टीकाका भावानुवाद :

यहां इस नैयायिक मत में प्रमाण-प्रमेय आदि १६ तत्त्व है। श्लोक में "तद्यथा" पद उपदर्शन में है। अर्थात् (जो प्रमाणादि १६ (सोलह) तत्त्व है।) वे इस अनुसार है। इस तरह से अर्थ करना।

(१) **प्रमाण :** जिसके द्वारा यथार्थज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रमाण कहा जाता है। यानी कि यथार्थ ज्ञान का जनक (=कारण) प्रमाण है।

"प्रमीयते ज्ञानं जन्यते अनेन इति प्रमाणम् ।" (अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान प्रतीत होता है। अर्थात् उत्पन्न होता है। वह प्रमाण कहा जाता है।) इस व्युत्पत्ति से "प्रमाण" शब्द बना हुआ है। (यहाँ यह जानना कि **"प्रमाकरणं प्रमाणं"** अर्थात् सत्यज्ञान का असाधारण कारण वह प्रमाण कहा जाता है। यह भी प्रमाण का लक्षण अन्य ग्रंथो में दिखाई देता है।

ज्ञान का [४]जनक (उत्पादक-कारण) दो प्रकार के है। (१) अचेतन, (२) ज्ञान। वहाँ इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष, प्रदीप, लिंग और शब्दादि, कि जो अचेतन है, वह ज्ञान का कारण होने से प्रमाण है। और दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति में जो ज्ञान का व्यापार किया जाता है, वह ज्ञान की उत्पत्ति में जनक होने से प्रमाणरुप है। परन्तु ज्ञान का अजनक ज्ञान प्रमाण का फल होता है, परन्तु प्रमाण नहि होता है। (अर्थात् जो ज्ञान दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं करता, वह प्रमाण नहि होता, परन्तु फलरुप है।)

(२) **प्रमेय :** प्रमाण से जन्य ज्ञान के द्वारा ग्राह्य वस्तु को प्रमेय कहा जाता है। (वे प्रमेय बारह प्रकार के है।) (३) **संशय :** दोलायमान प्रतीति को संशय कहा जाता है। अर्थात् एक ही धर्मि में परस्पर विरुद्ध प्रतीति को संशय कहा जाता है।

---

(४) यही बात न्यायमञ्जरी ग्रंथ में की है। न्यायमञ्जरी ग्रंथ में बताया है कि, **"अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् ।"** अर्थात् अव्यभिचारी और असंग्धि ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला बोध (ज्ञान) स्वभाववाली और अबोध (अचेतन) स्वभाववाली सामग्री को प्रमाण कहते है। अर्थ (विषय) और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के संबंध से जो प्रमा उत्पन्न होती है, उसमें अर्थ और इन्द्रिय का संबंध अबोध (अचेतन) स्वभाववाला है। उसी तरह से प्रदीप द्वारा अर्थ का प्रकाशन होगा, उसमें प्रदीप अबोध (अचेतन) स्वभाववाला है। इस प्रकार लिंग और शब्दादि से जो ज्ञान होता है, उसमें लिंग, शब्दादि अबोध (अचेतन) स्वभाववाले है और वह ज्ञान का कारण होने से प्रमाण माना जाता है।

अनुमितिज्ञान में जो व्याप्ति आदि का ज्ञान कारणरुप बनता है, वे बोध (ज्ञान) स्वभाववाला है और वह भी अनुमितिज्ञान में कारण होने से प्रमाणरुप माना जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ श्लोक १४ में प्रमाण, प्रमेय और संशय, ऐसे तीनो पद के बाद ''च''कार का प्रयोग है। वह प्रमाणादि तीनो को अन्योन्य अपेक्षा होने से समुच्चय के लिए किया है। कहने का मतलब यह है कि, प्रमाण द्वारा प्रमेय का ज्ञान होता है। प्रमेय प्रमाण के द्वारा ग्राह्य वस्तु है और प्रमेय का संशयरहित यथार्थज्ञान प्रमाण कराता होने से प्रमाण का कार्य प्रमेय का ज्ञान कराना और संशय का निराकरण करना वह है। संशय हो तब तक प्रमेय का ज्ञान यथार्थ नहीं बनता। इस प्रकार प्रमाण, प्रमेय और संशय तीनो को परस्पर अपेक्षा होने से ''च'' कार के प्रयोग द्वारा समुच्चय किया है।

(४) **प्रयोजन :** इच्छित साधने योग्य फल को प्रयोजन कहा जाता है। अर्थात् इच्छित वस्तु को उद्देश्य करकर उसको सिद्ध करने के लिए जो प्रवृत्ति होती है, उसे **प्रयोजन** कहा जाता है। (५) **दृष्टांत :** वादि और प्रतिवादि दोनो को संमत उदाहरण को **दृष्टांत** कहा जाता है। श्लोक १५ में ''दृष्टांत'' पद के बाद का ''अपि'' समुच्चयार्थक है और उसके बाद का ''अर्थ'' शब्द[(५)] आनन्तर्य अर्थ में है।

(६) **सिद्धांत :** सर्वदर्शन को संमत शास्त्रादि है, वह सिद्धांत है। (७) **अवयव :** पक्षादि अनुमान के अंगो को अवयव कहा जाता है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव है। (८) **तर्क :** संदेह के बाद होनेवाले (वस्तुके) अन्वयधर्म के चिन्तन को **तर्क** कहा जाता है। जैसे कि, यहाँ अभी 'स्थाणु' संभवित होती है। कहने का मतलब यह है कि, स्थाणु को देखने के बाद संदेह हुआ था कि ''यह स्थाणु है या पुरुष ?'' इस संदेह के बाद विचार आता है कि ''अभी सन्ध्या का समय है, उसके आसपास पक्षी फिर रहे है, चलता फिरता नहीं होता, इसलिए 'स्थाणु' का ही संभव है।'' इस तरह से स्थाणु के अन्वयधर्म के चिन्तन को तर्क कहा जाता है।

(९) **निर्णय :** संदेह के बाद तर्क द्वारा तय होता है कि ''यह, यह ही है।'' ऐसा अवधारण करना वह निर्णय कहा जाता है। जैसे कि, ''यह स्थाणु ही है।'' ऐसा निश्चय को निर्णय कहा जाता है। तर्क और निर्णय, दो पदो का द्वन्द्व समास हुआ है। (१०) **वाद :** गुरु के साथ तत्त्वनिर्णय के लिए बोलना (चर्चा करना) वह वाद कहा जाता है। (११) **जल्प :** दूसरो के साथ जीतने की इच्छा से बोलना (चर्चा करना) उसे जल्प कहा जाता है।

(१२) **वितंडा :** वस्तुतत्त्व को सोचे बिना बोल-बोल करना वह वितंडा कहा जाता है। (अथवा वादिने स्थापित किये हुए पक्ष का स्पर्श किये बिना (वादिके) तत्त्व का प्रतिवादि द्वारा खण्डन करना अथवा प्रतिवादि के द्वारा तत्त्व के विषय में जूठा इल्ज़ाम (आरोप) लगाना उसे वितंडा कहा जाता है।)

(१३) **हेत्वाभास :** जो हेतु नहीं है परंतु हेतु जैसा दीखाता हो उसे हेत्वाभास कहा ज़ाता है। अर्थात् वे

(५) मंगल, अनंतर आरंभ, प्रश्न, कात्स्न्र्य इस अर्थ के लिए ''अथ'' शब्द का उपयोग होता है। यहाँ ''**अथ**'' शब्द आनन्तर्य में इस्तेमाल हुआ है। एक पदार्थ कि जो अन्यपदार्थ से भिन्न हो, वह उससे अनन्तर कहा जाता है। अथवा जो दो पदार्थो के बीच कार्य कारणभाव होता है उस पदार्थो में जो कार्य है वह कारण से अनंतर कहा जाता है। यहाँ प्रथम अर्थ में '**अनंतर**' है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्यग् हेतु नहीं है। (१४) **छल :** दूसरो के वचन के विघात के लिए विकल्पो को उत्पन्न करना उसे छल कहा जाता है। अर्थात् वादि द्वारा जो इष्ट अर्थ है उससे दूसरे अर्थ की उपपत्ति करके वादिने कहे हुए वाक्य का खंडन करना उसका नाम छल है। (१५) **जाति :** असम्यग् दूषणो को जाति कहा जाता है। (अथवा साधर्म्य और वैधर्म्य से साध्य का प्रतिषेध करना उसका नाम जाति है।) (१६) **निग्रह स्थान :** जो कहने से वक्ता का पराजय हो जाये=वक्ता निगृहीत हो जाये, उसे निग्रहस्थान कहा जाता है। इस तरह पास में (उपर) कहे हुए प्रमाण आदि का इस प्रकार से सामान्य से स्वरुप कहा। वहाँ प्रारंभ में प्रमाणतत्त्व की प्ररुपणा करने की इच्छावाले ग्रंथकारश्री प्रथम उसका सामान्यलक्षण और प्रमाण की संख्या कहते है।

प्रमाण का सामान्य लक्षण "**अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणम्**" अर्थात् पदार्थ की उपलब्धि (ज्ञान) में जो कारण हो, उसको प्रमाण कहा जाता है।

प्रमाण द्वारा ग्राह्य ऐसे स्तंभ (खंभा), कुम्भ (घडा), मेघ (बादल) आदि बाह्य अर्थो की तथा सुख-दुःखादि आंतरअर्थोकी उपलब्धि (ज्ञान) होती है। "**व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः**" अर्थात् "पद की व्याख्या करने से विशेषज्ञान होता है।" इस न्याय से यहाँ अव्यभिचारि, अव्यपदेश्य (शब्द से कहा न जा सके ऐसा) व्यवसायात्मिक (निश्चयात्मक) अर्थोपलब्धि ग्रहण करनी चाहिए, परन्तु उपलब्धि मात्र नहीं।

उस उपलब्धि का जो हेतु (कारण) है, वह प्रमाण है। अर्थोपलब्धि प्रमाण का फल है।

अयमत्र भाव : कहने का तात्पर्य यह है कि, अव्यभिचारादि विशेषण से विशिष्ट अर्थोपलब्धि को उत्पन्न करनेवाली समग्रसामग्री अथवा उसका एकदेश चक्षु-प्रदीप-ज्ञानादि, कि जो बोधरुप (ज्ञानरुप) या अबोधरुप (अचेतनरुप) है। वह (अर्थोपलब्धिका) साधकतम (प्रकृष्ट उपकारक कारण) होने से प्रमाण कहा जाता है और अर्थोपलब्धि का जनकत्व प्रमाण में है और अर्थोपलब्धि (पदार्थ का ज्ञान) कराना वह प्रमाणका प्रामाण्य है और प्रमाण से जन्य अर्थोपलब्धि (अर्थ का ज्ञान) प्रमाण का फल है। वह अर्थोपलब्धि जब इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न होती है, तब प्रत्यक्ष कहा जाता है और जब लिंग द्वारा उत्पन्न होती है, तब अनुमान कहा जाता है। इस तरह से प्रमाणो का विशेष लक्षण आगे कहा जायेगा।

केवल "**अर्थोपलब्धि**" के जो अव्यभिचारी, अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मिक, ऐसे तीन विशेषण पहले कहे, उसमें अव्यपदेश्य विशेषण का शाब्द बोध में संबंध नहीं करना। क्योंकि, शाब्द बोध शब्द से जन्य होने के कारण व्यपदेश्य (शब्द से कहा जा सके वैसा) है। अर्थात् शाब्दप्रमाण से होनेवाली अर्थोपलब्धि अव्यपदेश्य नहीं होती, व्यपदेश्य ही होती है। प्रमाण के चार प्रकार है उसका वर्णन आगे कहा जायेगा। ॥१४-१५-१६॥

अथ तच्चातुर्विध्यमेवाह। अब प्रमाण के चार प्रकार को कहते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(मूल श्लोक.)

प्रत्यक्षमनुमानं चोपमानं शाब्दिकं [B-68]तथा । तत्रेन्द्रियार्थसंपर्कोत्पन्नमव्यभिचारि च ।। १७ ।।

व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम् । प्रत्यक्षमनुमानं तु [B-69]तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत् ।। १८ ।।

पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा । [B-70]तत्राद्यं कारणात्कार्यानुमानमिह गीयते ।। १९ ।।

श्लोकार्थ : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह चार प्रमाण है। वहाँ इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होनेवाला, अव्यभिचारि, व्यवसायात्मक और व्यपदेशरहित (शब्दप्रयोग रहित) ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। प्रत्यक्ष (= व्याप्तिज्ञान) पूर्वकका ज्ञान अनुमान है। वे तीन प्रकार के है। (१) पूर्ववत् अनुमान, (२) शेषवत् अनुमान, (३) सामान्यतोदृष्ट अनुमान। उसमें कारण से कार्य का अनुमान करना, वह प्रथम पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है। ॥१७-१८-१९॥

व्याख्या-प्रत्यक्षमध्यक्षं, अनुमानं लैङ्गिकं, चकारः समुच्चयार्थः, उपमानमुपमितिः, तथा शब्दस्य समुच्चयार्थत्वाच्छाब्दिकं च शब्दे भवं शाब्दिकमागम इत्यर्थः । अथ प्रत्यक्षस्य लक्षणं लक्षयति । "तत्रेन्द्रियार्थ" इत्यादि । तत्रेति तेषु प्रमाणेषु प्रथमं प्रत्यक्षमुच्यते । अत्रास्येदमक्षपादप्रणीतं सूत्रम् । "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" इति (१,१,४) । इन्द्रियं चक्षुरादिमनःपर्यन्तं, तस्यार्थः परिच्छेद्य इन्द्रियार्थ इन्द्रियविषयभूतोऽर्थो रूपादिः, 'रूपादयस्तदर्थाः" [ ] इति[B-71] वचनात्[A] । तेन सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिरिन्द्रियस्य प्राप्तिः संबन्ध इति यावत् । स च षोढा[B-72] । इन्द्रियेण सार्धं द्रव्यस्य संयोग एव १ । रूपादिगुणानां संयुक्तसमवाय एव द्रव्ये समवेतत्वात् २ । रूपत्वादिषु गुणसमवेतेषु संयुक्तसमवेतसमवाय एव ३ । शब्दे समवाय एवाकाशस्य श्रोत्रत्वेन व्यवस्थितत्वात्, शब्दस्य तद्गुणत्वेन तत्र समवेतत्वात् ४ । शब्दत्वे समवेतसमवाय एव शब्दे समवेतत्वात् ५ । समवायाभावयोर्विशेषणविशेष्यभाव एव उक्तरूपपञ्चविधसंबन्धसंबद्धेषु वस्तुषु समवायघटादिदृश्याभावयोर्विशेषणत्वं विशेष्यत्वं भवतीत्यर्थः तद्यथा - तन्तवः पटसमवायवन्तः तन्तुषु पटसमवाय इति । घटशून्यं भूतलमिह भूतले घटो नास्तीति ६ षोढा [६]सन्निकर्षः ।

(६) **सन्निकर्षोकी विशेष समज :**

चाक्षुष, त्वाच, मानस, रासन, घ्राणज और श्रावण, ये छः प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण सन्निकर्ष छः है।

घटादि द्रव्य और आत्मद्रव्य के प्रत्यक्ष के प्रति चक्षु, त्वक् और मन इन्द्रिय करण है। घटादि द्रव्य के साथ जब "चक्षु" और "त्वक्" इन्द्रिय का संयोग तथा आत्मा के साथ "मन" इन्द्रिय का संयोग हो तब ही घटादि द्रव्य का और आत्मद्रव्य का अनुक्रम से चाक्षुष अथवा त्वाच और मानसप्रत्यक्ष होता है। चक्षु इत्यादिक इन्द्रियो के सन्निकर्ष से होता है वह प्रत्यक्ष है. उसे लौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसलिए एतादृश प्रत्यक्ष के विषय घटादि

A "गन्धरसरुपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।" न्यायसू० १।१।१४।

(B-68-69-70-71-72) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : प्रत्यक्ष का दूसरा नाम अध्यक्ष भी है। अनुमान का दूसरा नाम लैङ्गिक है। श्लोक में "च" और "तथा" शब्द समुच्चयार्थक है। उपमान अर्थात् उपमिति और शब्द द्वारा उत्पन्न (होता ज्ञान) शाब्दिक= आगम कहा जाता है।

ये चार प्रमाण है। अब प्रत्यक्ष का लक्षण बताते है। वहाँ चार प्रमाण में प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

में लौकिकविषयता मानी जाती है। उपर बताये अनुसार द्रव्यप्रत्यक्ष में चक्षु, त्वाच और मन ये तीन इन्द्रियाँ कारण है। बाकी की तीन इन्द्रियाँ द्रव्यग्राहक नहीं है। द्रव्य प्रत्यक्ष में चक्षुसंयोग, त्वक्संयोग और मनसंयोग, ये तीन ही सन्निकर्ष कारण है।

सामान्यतः द्रव्यसमवेत द्रव्यत्वादि जाति, रुपादि गुण तथा क्रिया का प्रत्यक्ष पाँच इन्द्रिय से जन्य है। उसमें इन्द्रियसंयुक्त(द्रव्य)समवाय सन्निकर्ष कारण बनता है। घटादि द्रव्यसमवेत घटत्वादि जाति, रुपादि गुण अथवा गमनादिक्रिया का प्रत्यक्ष घटादिसमवेतवृत्ति लौकिकविषयतासंबंध से घटत्वादि जाति, रुपादि गुण अथवा क्रिया में रहता है। वहाँ चक्षु इत्यादिक इन्द्रियसंयुक्त घटादि में वृत्ति, घटत्वादि जाति, रुपादिगुण अथवा क्रिया का समवाय सन्निकर्ष, स्वरुपसंबंध से वृत्ति है।

इस तरह से द्रव्यसमवेतगुणादि प्रत्यक्ष और उसके कारण इन्द्रियसंयुक्तसमवाय के कार्य कारणभाव पाँच है। द्रव्यसमवेतशब्द प्रत्यक्ष के लिए यह सन्निकर्ष कारण नहीं है। क्योंकि श्रवणेन्द्रिय आकाशस्वरुप होने से श्रवणेन्द्रियसंयुक्त घटादि में शब्द का समवाय नहीं है।

इसी ही तरह से द्रव्यसमवेत (गुण-कर्म) समवेत (गुणत्व-कर्मत्वादि) जाति का प्रत्यक्ष भी श्रवणेन्द्रिय को छोडकर अन्य पाँच इन्द्रियो से जन्य है। उसमें चक्षु इत्यादिक इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण बनता है। घटादि द्रव्यसमवेत रुपादिसमवेत रुपत्वादि जाति का प्रत्यक्ष द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्तिलौकिक विषयत्व संबंध से रुपत्वादिजाति में रहता है। वहां चक्षु इत्यादि इन्द्रियसंयुक्त(घटादि)समवेत(रुपादि)वृत्ति रुपत्वादि का समवाय, स्वरुप संबंध से वृत्ति है। इस तरह से द्रव्यसमवेतसमवेत रुपत्वादिप्रत्यक्ष और उसके कारण इन्द्रिय संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष के पाँच कार्य-कारणभाव होते है।

शब्द का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय से ही होता है। श्रवणेन्द्रिय आकाशस्वरुप होने से शब्द के साथ श्रवणेन्द्रिय का समवाय संबंध है। शब्दवृत्तिलौकिकविषयता संबंध से शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष शब्द में वृत्ति है। वहाँ श्रवणेन्द्रिय वृत्ति शब्द का समवायसंबंध (सन्निकर्ष) स्वरुपसंबंध से वृत्ति है।

इसी ही तरह से शब्दवृत्ति शब्दत्व, कत्व, खत्वादि जाति का प्रत्यक्ष भी श्रवणेन्द्रिय से ही होता है। उसमें समवेतसमवायसन्निकर्ष कारण बनता है। शब्दसमवेत (शब्दत्वादि) वृत्ति लौकिकविषयता संबंध से श्रावणप्रत्यक्ष शब्दत्वादिजाति में रहता है। वहाँ श्रवणेन्द्रिय समवेत शब्दवृत्ति शब्दत्व का समवाय स्वरुपसंबंध से वृत्ति है।

अभाव प्रत्यक्ष के कारणभूत सन्निकर्ष का विचार करने से पहले अभाव का अधिकरण प्रत्यक्ष के लिए योग्य है या नहीं ? अभाव का प्रतियोगी किसी भी स्थान पे प्रत्यक्ष का विषय बनता है या नहीं ? जो इन्द्रिय से अभाव का प्रत्यक्ष करना है वह इन्द्रिय के लिए वह योग्य है या नहीं ? इत्यादि का विचार करने के बाद ही अभाव के प्रत्यक्ष की योग्यतायोग्यता का विचार करना चाहिए।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्षपाद-गौतम प्रणीत (न्यायसूत्रमें) प्रत्यक्ष का लक्षण सूचित करता यह सूत्र है - **''इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं ॥१-१-४-न्यायसूत्र ॥** इन्द्रिय और रुपादि अर्थो के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ, अव्यपदेश्य (शब्द प्रयोग रहित), अव्यभिचारि (संशय और विपर्यय रहित) तथा व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है।

परमाणु में रुपाभाव का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से नहीं होता। क्योंकि, रुपाभाव का अधिकरण परमाणु योग्य नहीं है। परमाणु में प्रत्यक्ष के प्रति कारणभूत महत् परिमाण नहीं है। इसलिए अधिकरण की अयोग्यता को लेकर रुपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जलादि में गंधाभाव का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से नहीं होता है। क्योंकि गंधाभाव के प्रत्यक्ष के प्रति चक्षु इन्द्रिय अयोग्य है। तेज में गुरुत्वाभाव होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि गुरुत्वाभाव का प्रतियोगी गुरुत्व अतीन्द्रिय है। इसलिए कहने का मतलब यह है कि **'यद्यत्र स्यात् तर्हि उपलभ्येत्'** इस आरोप का विषय जो अभाव बनता है उसका प्रत्यक्ष होता है। सामान्यतः इस आरोप की संभावना न हो, वहाँ अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता।

अभाव का प्रत्यक्ष, अभाववृत्ति लौकिकविषयता संबंध से अभाव में रहता है। और वहाँ अभाव प्रत्यक्ष के कारणभूत इन्द्रियसंयुर्क्तविशेषणता इत्यादिक सन्निकर्ष स्वरुपसंबंध से रहते है। द्रव्याधिकरण अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुर्त्तविशेषणतासन्निकर्ष कारण बनता है। चक्षु और त्वक्इन्द्रिय से भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। आम्रादि में घ्राणेन्द्रिय से सुरभिगंधाभाव का प्रत्यक्ष होता है। द्रव्य में रसनेन्द्रिय से अम्लादिरसाभाव का प्रत्यक्ष होता है। और मन से आत्मा में दुःखाभाव का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए **''घटाभाववद् भूतलम्, सुरभिगंधाभाववदाम्रफलम्, आम्लरसाभाववज्जलम् और दुःखाभाववान् आत्मा**, इत्याकारक प्रतीति के विषयभूत द्रव्याधिकरण अभावप्रत्यक्ष में अनुक्रम से चक्षुःसंयुक्त(भूतल)विशेषणता तथा त्वक्संयुक्त(भूतल) विशेषणता, घ्राणसंयुक्त(आम्र)विशेषणता, रसनसंयुक्त(जल)विशेषणता और मनःसंयुक्त(आत्मा)विशेषणता सन्निकर्षता कारण बनती है। अभाव के अधिकरण भूतलादि द्रव्य इन्द्रियसंयुक्त है, उसमें अभाव विशेषण है। अर्थात् तादृश विशेषणता सन्निकर्ष अभाव में है। जहाँ अभाव का प्रत्यक्ष भी उक्त विषयता संबंध से विद्यमान है। और इन्द्रियसंयुक्त विशेषणतासन्निकर्ष के इन्द्रिय के भेद से पाँच भेद है।

श्रवणेन्द्रिय से श्रोत्रावच्छिन्नविवररुप आकाश में शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु उसमें श्रवणेन्द्रिय संयुक्त विशेषणतासन्निकर्ष कारण नहीं है। क्योंकि श्रवणेन्द्रिय आकाशस्वरुप होने से तत्संयुक्त अन्य आकाश नहीं है। जिससे केवल श्रवणेन्दिंयविशेषणतासन्निकर्ष से शब्दाभाव का प्रत्यक्ष आकाश में होता है। अन्य अधिकरण में शब्दाभाव के प्रत्यक्ष का प्रसंग ही नहीं है। क्योंकि अन्य अधिकरण में शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए प्रतियोगि की अयोग्यता के कारण श्रवणेन्द्रिय से शब्दाभाव का प्रत्यक्ष आकाश से अतिरिक्त स्थान पे नहीं मानते।

द्रव्यसमवेतगुणादिवृत्ति अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्तसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष कारण बनता है। **पीतत्वाभाववान् नीलम्, शीतत्वाभाववदुष्णस्पर्शः, सुरभित्वाभाववान् दुरभिगन्धः, आम्लत्वाभाववान् मधुररस और दुःखत्वाभाववत्सुखम्** इत्याकारक प्रतीति के विषयभूत पीतत्वादि अभाव का प्रत्यक्ष अनुक्रम से चक्षु, त्वक्, घ्राण, रसन और मन इन्द्रिय से होता है। **पीतत्वाद्यभाव,** यहाँ द्रव्यसमवेतनीलादिवृत्ति है। द्रव्य समवेत नीलादि में पीतत्वाद्यभाव विशेषण है। अर्थात् चक्षु इत्यादि इन्द्रियसंयुक्त(घटादि)समवेत(नीलादि) निरुपित विशेषणतात्मकसन्निकर्ष पीतत्वाद्यभाव में है और वहाँ द्रव्यसमवेतवृत्ति अभाववृत्ति लौकिकविषयता संबंध से पीतत्वाद्यभाव का चाक्षुषादि प्रत्यक्षात्मक कार्य भी है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रासन, स्पर्शन और मन, ये छः इन्द्रियाँ है। वे इन्द्रियो का अर्थ, वह इन्द्रियार्थ अर्थात् इन्द्रियो के विषय। "**रुपादयस्तदर्थाः**" इस वचन से रुपादि इन्द्रियो के अर्थ (विषय) है। उस रुपादि के साथ इन्द्रियो का सन्निकर्ष-संबंध होना, वह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कहा जाता है। वह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है। (१) **संयोग :** इन्द्रिय के साथ द्रव्य का संयोग। (२) **संयुक्तसमवाय :** रुपादिगुण संयुक्त समवाय संबंध से ही द्रव्य में समवेत है। अर्थात् संयुक्तसमवायसन्निकर्ष से रुपादि गुणो का प्रत्यक्ष होता है। (३) **संयुक्तसमवेत समवाय :** रुपादि गुणो में समवाय संबंध से रहे हुए रुपत्वादि, द्रव्य में संयुक्त समवेतसमवाय संबंध से रहते है। अर्थात् संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष से गुणत्वादि-रुपत्वादि जाति का प्रत्यक्ष होता है। (४) **समवाय :** शब्द का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है और श्रवणेन्द्रिय आकाश स्वरुप है। शब्द आकाश का गुण है तथा शब्द आकाश में समवाय संबंध से रहता है। इसलिए शब्द के साथ श्रवणेन्द्रिय का समवाय संबंध है। इस समवायसन्निकर्ष से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। (५) **समवेत समवाय:** आकाश में शब्द समवाय संबंध से रहते है। और शब्द में शब्दत्व समवायसंबंध से रहते है। आकाश श्रोत्रेन्द्रिय स्वरुप है। इसलिए जैसे शब्द का प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। वैसे शब्दत्वजाति का प्रत्यक्ष भी श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। उसमें कारण समवेतसमवायसन्निकर्ष बनता है। अर्थात् समवेतसमवायसन्निकर्ष से शब्दत्व का प्रत्यक्ष होता है। (६) **विशेषण विशेष्यभाव :** समवाय और अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष कारण बनता है।

द्रव्यसमवेतगुणादिसमवेतनीलत्वादिजातिवृत्ति पीतत्वाद्यभाव के प्रत्यक्ष में "**इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवेत विशेषणता**" सन्निकर्ष कारण बनता है। **पीतत्वाभाववन्नीलत्वम्, शीतत्वाभाववदुष्णत्वम् सुरभित्वाभाववद्दुरभित्वम्, आम्लत्वाभाववन्मधुरत्वम्** और **सुखत्वाभाववद् दुखत्वम्** इत्याकारक प्रतीति के विषयभूत पीतत्वाद्यभाव इन्द्रियसंयुक्त(घटादि)समवेत (नीलादि)समवेत नीलत्वादि में वृत्ति है और एतादृश पीतत्वाद्यभाव प्रत्यक्ष अनुक्रम से चक्षु, त्वक्, घ्राण, रसन और मन इन्द्रिय से जन्य है। उसमें इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवेत विशेषणता सन्निकर्ष कारण बनता है।

आकाशात्मकद्रव्यसमवेत "**क**" "**ख**" इत्यादिक शब्दवृत्ति गत्वाद्यभावका प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय से होता है। उसमें श्रवणेन्द्रियसमवेतशब्दनिरुपित विशेषणता सन्निकर्ष कारण बनता है। शब्दाधिकरणकाभाववृत्तिलौकिक विषयतासंबंध से गत्वाद्यभावप्रत्यक्ष तादृशशब्दादिकाभाव में है। वहाँ श्रवणेन्द्रियसमवेतनिरुपित विशेषणता सन्निकर्ष कारण भी है।

शब्दसमवेतशब्दत्वादिवृत्ति कत्वाद्यभाव का प्रत्यक्ष, श्रवणेन्द्रिय से जन्य है। उसके प्रति श्रवणेन्द्रिय समवेत शब्दसमवेतनिरुपितविशेषणतासन्निकर्ष कारण बनता है। शब्दसमवेताधिकरणकाभाव का प्रत्यक्ष, शब्द समवेताधिकरणकाभाववृत्ति लौकिकविषयत्व संबंध से शब्दसमेवताधिकरणकाभाव में है। और वहाँ श्रवणेन्द्रिय समवेतसमवेत (शब्दत्वादि) निरुपितविशेषणता सन्निकर्ष है।

यह विशेषणात्मकसन्निकर्ष "**घटाभाववद् भूतलम्**" इत्यादि स्थान पे अर्थात् जहाँ अभाव का विशेषणविधया भान है, वहाँ ही उपयोगी है। परन्तु "**भूतले घटो नास्ति**" अथवा "**भूतले घटाभाव**" इत्यादि स्थान पे अभाव का विशेष्यतया भान होने से उपर्युक्त विशेषणता के स्थान पे विशेष्यतासन्निकर्ष का पाठ समज के अभावप्रत्यक्ष के प्रति विशेष्यतासन्निकर्ष की कारणता स्वयं समजनी चाहिए।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उपरोक्त) कहे हुए सन्निकर्षो में पाँच प्रकार के संबंध (सन्निकर्ष) से संबद्ध वस्तु में समवाय और घटादि दृश्याभाव (घटाद्यभाव) का विशेषणत्व और विशेष्यत्व होता है। वह इस अनुसार (१) तन्तुओ में पट समवाय संबंध से रहता है। अर्थात् **"तन्तवः पटसमवायवन्तः"** या **"तन्तुषु पटसमवायः"** यहां **"पटसमवायवन्तः"** विशेषण है और **"तन्तवः"** विशेष्य है। इसलिए विशेषण-विशेष्यभाव संबंध से समवाय का प्रत्यक्ष होता है।

(२) **"घटशून्यं भूतलम्, इह भूतले घटो नास्ति"** अर्थात् **घटाभाववत्भूतलम्** यहाँ **"घटाभाव"** विशेषण और **"भूतलम्"** विशेष्य है। इस विशेषण-विशेष्यभाव संबंध से अभाव का प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से समवाय और अभाव का प्रत्यक्ष होता है। इस अनुसार छः प्रकार के सन्निकर्ष है।

अथ निकर्षग्रहणमेवास्तु सं-ग्रहणं व्यर्थम्, न, सं-शब्दग्रहणस्य सन्निकर्षषट्कप्रतिपादनार्थत्वात् । एतदेव सन्निकर्षषट्कं ज्ञानोत्पादे समर्थं कारणं, न संयुक्तसंयोगादिकमिति संग्रहणाल्लभ्यते । इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नं जातम् । उत्पत्तिग्रहणं कारकत्वज्ञापकार्थम् । अत्रायं भावः । इन्द्रियं हि नैकट्यादर्थेन सह संबध्यते, इन्द्रियार्थसंबन्धाच्च ज्ञानमुत्पद्यते । यदुक्तम्-

"[B-73]आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण, स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः । योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति, यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ।।१।।"

[B-74]**ज्ञानसंग्रहणं सुखादिनिवृत्त्यर्थं, सुखादीनामज्ञानरूपत्वात् । सुखादयो ह्याह्लादादिस्वभावा ग्राह्यतयानुभूयन्ते, ज्ञानं त्वर्थावगमस्वभावं ग्राहकतयानुभूयत इति ज्ञानसुखाद्योर्भेदोऽध्यक्षसिद्ध एव ।** अव्यपदेश्यं **नामकल्पनारहितं, नामकल्पनायां हि** शाब्दं **स्यात् ।** [B-75]**अव्यपदेश्यपदग्रहणाभावे हि व्यपदेशः शब्दस्तेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण चोभाभ्यां यदुत्पादितं ज्ञानं तदप्यध्यक्षफलं स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमव्यपदेशपदोपादानम् ।** इदमत्र तत्त्वम्-**चक्षुर्गोशब्दयोर्व्यापारे सत्ययं गौरिति विशिष्टकाले यज्ज्ञानमुपजायमानमुपलभ्यते, तच्छब्देन्द्रियोभयजन्यत्वेऽपि प्रभूतविषयत्वेन शब्दस्य प्राधान्याच्छाब्दमिष्यते, न पुनरध्यक्षमिति । इन्द्रियजन्यस्य मरुमरीचिकासूदकज्ञानस्य, शुक्तिशकले कलधौतबोधादेश्च निवृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदोपादानम्**[B-76] **। यदतस्मिंस्तदित्युत्पद्यते तद्व्यभिचारि ज्ञानम्, तद्व्यवच्छेदेन तस्मिंस्तदिति ज्ञानमव्यभिचारि । व्यवसीयतेऽनेनेति व्यवसायो विशेष उच्यते । विशेषजनितं** व्यवसायात्मकं, **अथवा व्यवसायात्मकं** निश्चयात्मकम्[B-77] **। एतेन संशयज्ञानमनेकपदार्थालम्बनत्वादनिश्चयात्मकत्वाच्च प्रत्यक्षफलं न भवतीति ज्ञापितम् । नन्वेवमपि ज्ञानपदमनर्थकमन्त्यविशेषणाभ्यां ज्ञानस्य लब्धत्वात्, न । धर्मिप्रतिपादनार्थत्वादस्य, ज्ञानपदोपात्तो हि**

(B-73-74-75-76-77) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादिभिर्विशेष्यते । अन्यथा धर्म्यभावे क्वाव्यभिचारादीन् धर्मांस्तत्पदानि प्रतिपादयेयुः । केचित्पुनरेवं व्याचक्षते । अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकमिति पदद्वयेन निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन प्रत्यक्षस्य द्वैविध्यमाह, शेषाणि तु ज्ञानविशेषणानीति ।

टीकाका भावानुवाद :

शंका : सन्निकर्ष शब्द में ''सं'' का ग्रहण न करो और ''निकर्ष'' रखो तो भी चलेगा। क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ नजदीक आने से प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायेगा। (निकर्ष का अर्थ नजदीक है।) इसलिए सन्निकर्ष शब्द के स्थान पे निकर्ष शब्द ही रखो, 'सं' शब्द का ग्रहण निरर्थक है।

नैयायिक : ऐसा मत कहना, क्योंकि ''सं'' शब्द का ग्रहण छः सन्निकर्ष के प्रतिपादन के लिए है और (उपरोक्त बताये गये) ये सन्निकर्ष ही ज्ञान-उत्पादान में समर्थकारण है। परन्तु संयुक्त-संयोगादि ज्ञानोत्पत्ति में कारण नहीं है। इस अनुसार ''सं'' ग्रहण से ज्ञानोत्पत्ति में कारणभूत छः सन्निकर्षो का लाभ होता है। इसलिए **''सं''** ग्रहण व्यर्थ नहीं है। सार्थक ही है। तथा ''इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्नज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है।'' यहाँ उत्पत्ति का ग्रहण सन्निकर्ष में कारकत्व का सूचन करने के लिए है। अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष **'कारक'** है। ऐसा बताने के लिए है।

कहने का मतलब यह है कि, इन्द्रिय का नजदीकी से अर्थ (पदार्थ) के साथ संबंध होता है। और इन्द्रियार्थ के संबंध से ज्ञान उत्पन्न होता है। **जिससे कहा है कि-**

''स्व-स्व अर्थो (विषयो) के साथ इन्द्रिय, इन्द्रिय के साथ मन और मन के साथ आत्मा (संबंध करता है।) यह शीघ्र क्रम है। जहाँ मन जाता है वहाँ यह आत्मा गया हुआ ही है। (इसलिए) मन का यह योग ही क्या अगम्य है? ॥१॥''

(कहने का मतलब यह है कि इन्द्रिय का स्व अर्थ (विषय) के साथ संबंध होता है तथा इन्द्रिय के साथ मन का तथा मन के साथ आत्मा का संबंध होता है। और इस संबंध से ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे कि यह घट है' इत्यादि।)

यहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। यहाँ ज्ञान का ग्रहण सुखादि की निवृत्ति के लिए है। क्योंकि सुखादि अज्ञानरुप है। (उपरांत ज्ञान और सुखादि में जो भेद है वह प्रत्यक्षसिद्ध है।) सुखादि आह्लादादि स्वभाववाले है। और वे ग्राह्यतया अनुभव किये जाते है। (अर्थात् अर्थ की-विषय की प्राप्ति होने से अनुकूलता - प्रतिकूलता के योग से जो सुख-दुःख होते है, वह ग्राह्यतया महसूस किये जा सकते है।) परन्तु ज्ञान अर्थ के अवगम का स्वभावरुप है और ग्राहकतया महसूस किया जाता है। (अर्थात् ज्ञान अर्थ-विषयो को बताने का स्वभाववाला है और वह ज्ञान वस्तु में रहे हुए सुख-दुःख आदि को ग्रहण करनेवाला ग्राहक है। इस प्रकार ज्ञान ग्राहकतया अनुभव किया जाता है।) इसलिये इस तरह से ज्ञान तथा सुखादि में ग्राह्य - ग्राहकतया स्पष्ट भेद प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष के लक्षण में जो '**अव्यपदेश्य**' पद है, उसकी विवक्षा करते है। नाम-कल्पना से रहित को अव्यपदेश्य कहा जाता है। नाम तथा कल्पना के होने पर वह शाब्द प्रमाण हो जाता है। (प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होगा।) इसलिये ''अव्यपदेश्य'' विशेषण को ग्रहण किया है। (७)अव्यपदेश्य पद का ग्रहण किया न जाये तो 'व्यपदेश= शब्द, उस शब्द के द्वारा और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा, ऐसे दोनो के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी अध्यक्ष=प्रत्यक्ष का फल होगा। (अर्थात् व्यपदेश = शब्द द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी प्रत्यक्षका फल होगा और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष का फल होगा। परन्तु शब्द द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान शाब्द प्रमाणका फल है। परन्तु प्रत्यक्ष का फल नहीं है।) इसलिए उसकी निवृत्ति के लिए (अर्थात् शब्द से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान में प्रत्यक्षफलत्व की आपत्ति के निवारण के लिए) प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्यपदेश्य पद का उपादान किया गया है।

''**इदमत्र तत्त्वम्**''-कहने का तात्पर्य यह है कि, चक्षु, गाय और ''**गो**'' शब्द के व्यापार में होने पर भी ''**अयं गौः**'' इस अनुसार विशिष्ट काल में जो (गाय संबंधी) ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा मालूम पडता है। वह ज्ञान शब्द और इन्द्रिय (चक्षु) दोनो से उत्पन्न होने पर भी (इस ज्ञान में) शब्द का बहोत विषय होने के कारण (शब्दका) प्राधान्य है। इसलिए वह ज्ञान शाब्दज्ञान के रुप में इच्छित है। परन्तु प्रत्यक्ष के रुप में नहीं।

प्रत्यक्षज्ञान के लक्षण में '**अव्यभिचारि**' पद रखने का प्रयोजन जनाते है - इन्द्रिय जन्य मरुमरीचिका में (मृगजल के जल में) होता हुआ पानी के ज्ञान की और शुक्ति के टुकडे में (८)कलधौत (रजत-चाँदी) के बोधादि की निवृत्ति के लिए अव्यभिचारिपद का उपादान किया गया है। (संशय और विपर्यय से रहित

---

(७) नाम और कल्पनारहित को अव्यपदेश्य कहा जाता है। नैयायिकोने प्रत्यक्ष के जो दो प्रकार माने है, उसमें **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष** का सूचन ''**अव्यपदेश्य**'' पद से होता है और ''**व्यवसायात्मक**'' पद से **सविकल्पकप्रत्यक्ष** का सूचन जानना।

उपरांत इस विषय में विशेष विचार करे तो, जिसमें विशेषण हो वह व्यपदेश्य। और जिसमें विशेषण न हो, वह अव्यपदेश्य। अर्थात् विशेषण के बिना उत्पन्न हुआ जो शुद्धज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। जब उसमें विशेषण जुड जाये तब वह व्यपदेश्य बनता है। जैसे कि घटज्ञान में घटत्व विशेषण और वृक्षज्ञान में वृक्षत्व विशेषण है। अर्थात् व्यवहार में आनेवाला सर्व ज्ञान विशेषणवाला होता है। और उत्पत्ति के समय तो ज्ञान विशेषण रहित ही होता है।

अव्यपदेश्य का दूसरा अर्थ भी होता है। वह इस अनुसार है - जिसमें शब्द भी संबंधी के रुप में हो वह व्यपदेश्य। अव्यपदेश्य अर्थात् जिसमें शब्द संबंधी के रुप में या विशेषण के रुप में न हो वह। जैसे कि, चक्षु आदि इन्द्रियो का जब अर्थ के साथ संबंध होता है। तब द्रष्टा के आत्मा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें शब्द लेशमात्र भी संबंधी रुप में होता नहीं है। छोटा छह मास का बालक जब हाथी आदि प्राणीयों को देखता है, तब उसके आत्मा में ज्ञान तो अवश्य उत्पन्न होता है। परन्तु उस वक्त हाथी ऐसा शब्द ज्ञान का संबंधी और विशेषण के रुप में बिलकुल नहीं होता। इसलिए प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्ति में शब्द संबंधी के रुप में, वाचक के रुप में, विशेषण के रुप में ज्ञान के साथ नहीं होता। इस बात को बताने के लिए अव्यपदेश्य ऐसा विशेषण ज्ञान को दिया है।

(८) **कलधौत** के स्थान पे ''रजत'' पाठ हो तो ज्यादा योग्य लगता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो उसे अव्यभिचारि ज्ञान कहा जाता है ।)

''**यदतस्मिंस्तद्**'' अर्थात् अतस्मिन् में तद् का जो ज्ञान होता है वह व्यभिचारिज्ञान कहा जाता है। जैसे कि, शुक्ति में रजत का ज्ञान। इस प्रकार इस व्यभिचारिज्ञान के व्यवच्छेदके लिए ''**तस्मिन्**'' में '**तद्**' के ज्ञानरुप अव्यभिचारि ज्ञान को ग्रहण किया है ।

अब ''**व्यवसायात्मक**'' पद के ग्रहण का प्रयोजन बताते है। जिसके द्वारा विशेष किया जाये वह व्यवसाय=विशेष कहा जाता है। विशेष से जनित है, उसको व्यवसायात्मिक कहा जाता है। अथवा निश्चयात्मक ज्ञान को व्यवसायात्मिक ज्ञान कहा जाता है और व्यवसायात्मक पद के ग्रहण से संशयज्ञान अनेक पदार्थ के आलंबनवाला होने से तथा निश्चयात्मक न होने से प्रत्यक्ष का फल नहीं है, ऐसा बताया गया है। (जैसे कि, द्रष्टा आँख से दूरस्थ पदार्थ को देखता है, परन्तु वह निश्चित नहीं कर सकता है कि यह सामने दीखता हुआ धुआँ है या उडती हुइ धूल है ? अथवा सामने जो दीखता है वह पुरुष है या स्थाणु है ? इस अनुसार चक्षुसंबंध पदार्थ के साथ होने पर भी द्रष्टा (देखनेवाला) निर्णय नहीं कर सकता होने से यह ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जाता। इसलिए व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है।)

शंका : व्यवसायात्मक और अव्यभिचारि, ये दो अंतिम विशेषणो के द्वारा ज्ञान का ग्रहण हो जाता है। तो प्रत्यक्ष के लक्षण में '**ज्ञान**' पद का ग्रहण व्यर्थ है – अनर्थक है।

समाधान : ऐसा मत कहना। क्योंकि ज्ञानपद धर्मी के प्रतिपादन के लिए है। अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण में ज्ञान धर्मी है और अव्यभिचारि आदि पद ज्ञान के धर्म है और धर्मी को बताने के लिए '**ज्ञान**' पद का ग्रहण होने से '**ज्ञान**' पद निरर्थक नहीं है। और ज्ञानपद से प्राप्त धर्मी ही 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादि' के द्वारा विशेषित किया जाता है। (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य है ऐसा कहा जाता है। अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्यज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है। यहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व धर्म है और ज्ञान धर्मी है। इस तरह धर्मी को बताने के लिए ज्ञानपद का ग्रहण किया गया है।)

अन्यथा (यदि ऐसा नहीं मानोंगे तो, यानी कि ज्ञान पद अनर्थक है। इसलिए उसका ग्रहण आवश्यक नहीं है, तो) धर्मी ऐसे ज्ञान के अभाव में जो अव्यभिचारि आदि धर्म है, उस पदो का कहाँ प्रतिपादन किया जायेगा ? अर्थात् धर्मी के अभाव में धर्मो का प्रतिपादन निराधार बन जायेगा।

''**केचित्पुनरेवं व्याचक्षते**'' उपरांत कुछ लोग ऐसा कहते है कि, अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक, ये दो पद द्वारा निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से प्रत्यक्ष के दो प्रकार है। (ऐसा सूचित होता है।) परन्तु शेष इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व और अव्यभिचारि, ये दो ज्ञान के विशेषण है।

अत्र च सूत्रे फलस्वरूपसामग्रीविशेषणपक्षास्त्रयः संभवन्ति । (B-78) तेषु स्वरूपविशेषणपक्षो न युक्तः

(*B*-78) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

। यथोक्तविशेषणं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति हि तत्रार्थः स्यात् । तथा चाकारकस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रसक्तिः, न चाकारकस्य प्रत्यक्षत्वं युक्तं, असाधकतमत्वात्साधकतमस्यैव च प्रमाणत्वात् । तुलासुवर्णादीनां प्रदीपादीनां सन्निकर्षेन्द्रियादीनां चाबोधरुपाणामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गश्च । इष्यते चैषां सूत्रकृता प्रत्यक्षत्वं, तन्न स्वरूपविशेषणपक्षो युक्तः । नापि सामग्रीविशेषणपक्षः । सामग्रीविशेषणपक्षे ह्येवं सूत्रार्थः स्यात् । प्रमातृप्रमेयचक्षुरादीन्द्रियालोकादिका ज्ञानजनिका सामग्रीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणविशिष्ट-ज्ञानजननादुपचारेणेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणविशिष्टा सती प्रत्यक्षमिति । एवं च सामग्र्याः सूत्रोपात्तविशेषणयोगित्वं तथाविधफलजनकत्वादुपचारेणैव भवति, न तु स्वत इति । न तु युक्तस्तत्पक्षोऽपि । फलविशेषणपक्षस्तु युक्तिसंगतः । अत्र पक्षे यत इत्यध्याहार्यम् । [B-79]ततोऽयमर्थः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणं ज्ञानं यत इन्द्रियार्थसन्निकर्षादेर्भवति, स इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । ज्ञानं च प्रत्यक्षप्रमाणफलम् । यदा तु ततोऽपि ज्ञानाद्धानोपादानादिबुद्धय उत्पद्यन्ते, तदा हानादिबुद्ध्यपेक्षया ज्ञानं प्रमाणं हानादिबुद्धयस्तु फलं, "यदा ज्ञानं प्रमाणं, तदा हानादिबुद्धयः फलम्" इति वचनात् [न्यायभा. १/१/३] । यथा चानुभवज्ञानवंशजायाः स्मृतेस्तथा चायमित्येतज्ज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्प्रत्यक्षफलम् । तत्स्मृतेस्तु प्रत्यक्षता । सुखदुःखसंबन्ध-स्मृतेस्त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षसहकारित्वात्तथा चायमिति सारूप्यज्ञानजनकत्वेनाध्यक्षप्रमाणता । सारूप्यज्ञानस्य च सुखसाधनोऽयमित्यानुमानिकफलजनकत्वेनानुमानप्रमाणता । न च सुखसाधनत्वशक्तिज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं, शक्तेरसन्निहितत्वात् । आत्मनो मनइन्द्रियेण सन्निकर्षे सुखादिज्ञानं फलम् । मनइन्द्रियस्य तत्सन्निकर्षस्य च प्रत्यक्षप्रमाणता । एवमन्यत्रापि यथार्हं प्रमाणफल-विभागोऽवगन्तव्य इति । एतदेवेन्द्रियार्थसन्निकर्षादिसूत्रं ग्रन्थकारः पद्यबन्धानुलोम्येनेत्थमाह । "इन्द्रियार्थसंपर्कोत्पन्नम्" इत्यादि । अत्र संपर्कः संबन्धः । अव्यभिचारि चेत्यत्र चकारो विशेषणसमुच्चयार्थः । अव्यभिचारिकमिति पाठे त्वव्यभिचार्येवाव्यभिचारिकं स्वार्थे कप्रत्ययः । व्यपदेशो नामकल्पना । अत्रापि व्याख्यायां यत इत्यध्याहार्यम् । भावार्थः सर्वोऽपि प्रागवदेवेति ।

टीकाका भावानुवाद :

यहाँ सूत्र में (प्रत्यक्षका जो लक्षण किया है, उस सूत्रमें) (१) फल, (२) स्वरुप और (३) सामग्री ऐसे तीन विशेषण पक्ष संभवित है।

उस तीन विशेषण पक्षमें 'स्वरुपविशेषण' पक्ष युक्त नहीं है। (यदि स्वरुपविशेषण पक्ष स्वीकार करोंगे तो) यथोक्त विशेषण से युक्त ज्ञान प्रत्यक्ष है। ऐसा उस सूत्र का अर्थ होगा और इसलिए अकारक ऐसे ज्ञान के प्रत्यक्षत्व की आपत्ति आयेगी और अकारकज्ञान का प्रत्यक्षत्व युक्त नहीं है। क्योंकि अकारकज्ञान

(B-79) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधकतम नहीं है। साधकतम ही प्रमाण होता है। (कहने का मतलब यह है कि यथोक्तिविशेषण से युक्तज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा अर्थ करने से प्रत्यक्ष का कर्ता कौन है। अर्थात् वह प्रत्यक्ष किससे उत्पन्न हुआ ? वह प्रश्न आयेगा। ज्ञान तो फल होने से कर्ता नहीं बन सकता। और अकारकज्ञान का प्रत्यक्षत्व युक्त नहीं है और असाधकतम प्रमाणरुप भी नहीं है।) उपरांत यथोक्त विशेषण से युक्तज्ञान प्रत्यक्ष है। सूत्र का ऐसा अर्थ करने से अर्थात् स्वरुप विशेषण पक्ष में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया होने से तुला, सुवर्णादि, प्रदीपादि और इन्द्रियो के सन्निकर्षादि अबोधस्वरुपो (अचेतनस्वरुपो) के अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति आयेगी और सूत्रकारको प्रत्यक्षज्ञान के जनक के रुप में ज्ञान की तरह अचेतन ऐसे सन्निकर्षादि भी इष्ट है। इसलिये सन्निकर्षादि अचेतनस्वरुपो का अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति आयेगी, वह इष्ट नहीं है। **इसलिये स्वरुपविशेषणपक्ष युक्त नहीं है।**

'सामग्रीविशेषणपक्ष' भी युक्त नहीं है। क्योंकि, सामग्रीविशेषणपक्ष में उसी अनुसार ही सूत्रार्थ होता है। अर्थात् यथोक्तविशेषण से युक्तज्ञान प्रत्यक्ष है। ऐसा सूत्रार्थ होगा और प्रमातृ, प्रमेय, चक्षुआदि इन्द्रिय तथा आलोक आदि ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली सामग्री इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादि विशेषण से विशिष्टज्ञान को उत्पन्न करती होने से, उपचार से इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नत्वादि विशेषण से विशिष्ट होती हुई सामग्री प्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है और इस अनुसार सामग्री सूत्र में ग्रहण किये हुए विशेषण से युक्त वैसे प्रकार के फल को उत्पन्न करनेवाली उपचार से ही होती है। परन्तु सामग्री स्वतः फल को उत्पन्न नहीं करती है। इसलिए सामग्रीविशेषणपक्ष भी युक्त नहीं है।

'फल विशेषण' पक्ष युक्तिसंगत है। इस पक्ष में 'यतः' का अध्याहार करना। इसलिए सूत्र का यह अर्थ होगा-'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादि' विशेषण से विशिष्टज्ञान जो कारण से इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि से (उत्पन्न) होता है (उस कारण से) वह इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि प्रत्यक्षप्रमाण है और ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण का फल है।

परन्तु जब वह ज्ञानादि से भी हान-उपादान बुद्धि उत्पन्न होती है तब हानादि बुद्धि की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण होगा और हानादि बुद्धि फल होगा। क्योंकि **''जब ज्ञान प्रमाण हो, तब हानादि बुद्धि फल होती है।''** इस अनुसार शास्त्र का वचन है। (कहने का मतलब यह है कि, इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से किसी वस्तुका ज्ञान होने के बाद उसमें यह वस्तु हेय (त्याज्य) है और यह वस्तु उपादेय (ग्राह्य) है, ऐसी जो बुद्धि पेदा होती है, उसमें उस वस्तु का ज्ञान प्रमाण है। और हेयोपादेय का विवेक उस (ज्ञानका) फल है।)

जैसे अनुभवज्ञान की वंश (संस्कार) से उत्पन्न हुई स्मृति प्रत्यक्ष का फल है, वैसे **''अयम्''** अर्थात् 'यह है' इस अनुसार, यह ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष का फल है। उपरांत वह स्मृति की प्रत्यक्षता (भी) है। अर्थात् स्मृति प्रत्यक्षप्रमाण भी है। (स्मृति की प्रत्यक्षता इस अनुसार है) सुख-दुःख संबंधित स्मृति इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष के सहकार से होती है। अर्थात् सुख-दुःख संबंधित स्मृति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सहकारी (कारण) बनता है। (वह इस तरह से-अर्थ के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अर्थ अनुकूल हो तो सुख और अर्थ प्रतिकूल हो तो दुःख होता है। इस प्रकार सुख-दुःख संबंधित स्मृति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के सहकार से होती है । इसलिए सुख-दुःख संबंधित स्मृति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सहकारि है ।) और वह सहकारी होने से **'तथा चायम्'** अर्थात् 'उस अनुसार वह है' ऐसा सारुप्यज्ञान उत्पन्न होता है। वह सारुप्यज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के सहकार से स्मृति द्वारा होता है। इसलिए स्मृति की (भी) प्रत्यक्षप्रमाणता है। इस प्रकार स्मृति प्रत्यक्षप्रमाण है।

(इसलिए अनुभव के वंश (संस्कार) से उत्पन्न हुई स्मृति प्रत्यक्ष का फल है तथा उपरोक्त कथनानुसार स्मृति प्रत्यक्षप्रमाण भी है।) (उपर पूर्व जैसे **''तथा चायम्''** यह सारुप्यज्ञान फल है, ऐसा बताया, वैसे सारुप्यज्ञान प्रमाण भी है, वह बताते है)

सारुप्यज्ञान 'यह सुख का साधन है' - इस अनुसार आनुमानिक फल को उत्पन्न करनेवाला (जनक) होने से अनुमान प्रमाण है।

शंका : ''यह सुख का साधन है'' - इस अनुसार सुखसाधनत्व का शक्तिज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। इसलि सारुप्यज्ञान अनुमान प्रमाण नहीं है, परन्तु प्रत्यक्षप्रमाण ही है।

समाधान : सुखसाधनत्व का शक्तिज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि, अर्थ इन्द्रिय से सन्निहित (नजदीक) हो, तो ही वह अर्थ का ज्ञान उत्पन्न कर सकेंगा। शक्ति इन्द्रिय से सन्निहित न होने से शक्तिज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता है । इसलिए.सुखसाधनत्वरुप आनुमानिक ज्ञान सारुप्यज्ञान से उत्पन्न होने से, सारुप्यज्ञान अनुमान प्रमाण है।

आत्मा का मन-इन्द्रिय के साथ के सन्निकर्ष में सुखादिज्ञान फल है और मन-इन्द्रिय की तथा उसके सन्निकर्ष की प्रत्यक्षप्रमाणता है। इस तरह से अन्यत्र भी यथायोग्य प्रमाण-फल का विभाग जानना।

यह **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि'** (१-१-४) इस न्यायसूत्र को ग्रंथकारश्री श्लोक में (पद्यमें) पीरो के इस सूत्र के अर्थ को अनुकूल रुप से श्लोक में प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण करते हुए कहते है । **''इन्द्रियार्थसंपर्कोत्पन्नम्''** (अर्थ पहले बताया है) यहाँ सम्पर्क=संबंध। श्लोक में जो **'व्यभिचारि च'** ऐसा कहा है वहा **''च''** कार विशेषणो के समुच्चय के लिए है। उपरांत **''अव्यभिचारिकम्''** इस अनुसार (जहाँ) पाठ है, वहाँ 'अव्यभिचारि एव' इस व्युत्पत्ति से स्वार्थ में **''क''** प्रत्यय लगा हुआ है।

व्यपदेश अर्थात् शब्दकल्पना. यहाँ भी श्लोक की व्याख्या में **'यतः'** अध्याहार से लेना। श्लोक का भावार्थ सर्व पूर्ववत् जानना।

अथ प्रत्यक्षतत्फलयोरभेदविवक्षया प्रत्यक्षस्य भेदा उच्यन्ते । प्रत्यक्षं द्वेधा, अयोगिप्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षं च यदस्मदादीनामिन्द्रियार्थसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते, तदयोगि-प्रत्यक्षम् । तदपि द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पं च तत्र वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकं, यथा प्रथमाक्षसन्निपातजं ज्ञानम् । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकं, यथा देवदत्तोऽयं दण्डीत्यादि ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

B-80योगिप्रत्यक्षं तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम् । तद्द्विविधं, **युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च । तत्र समाध्यैकाग्र्यवतां योगधर्मेश्वरादिसहकृतादात्मान्तःकरणसंयोगादेव बाह्यार्थसंयोगनिरपेक्षं यदशेषार्थग्रहणं, तद्युक्तानां प्रत्यक्षम् । एतच्च निर्विकल्पकमेव भवति, विकल्पतः समाध्यैकाग्र्यानुपपत्तेः । इदं चोत्कृष्टयोगिन एव विज्ञेयं, योगिमात्रस्य तदसंभवात् । असमाध्यवस्थायां योगिनामात्ममनोबाह्येन्द्रियरूपाद्याश्रयचतुष्कसंयोगाद्रूपादीनां, आत्ममनःश्रोत्रत्रय-संयोगाच्छब्दस्य, आत्ममनोद्वयसंयोगात्सुखादीनां च यद्ग्रहणं, तद्वियुक्तानां प्रत्यक्षम् । तच्च निर्विकल्पकं सविकल्पकं च प्रतिपत्तव्यम् । विस्तरार्थिना तु न्यायसारटीका विलोकनीयेति ॥**

टीकाका भावानुवाद :

अब प्रत्यक्ष शब्द का प्रत्यक्षप्रमाण और उसका प्रत्यक्षफल में अभेद की विवक्षा करके प्रत्यक्ष के भेद कहते है। प्रत्यक्ष दो प्रकार से है। (१) अयोगिप्रत्यक्ष, (२) योगिप्रत्यक्ष।

हमारा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अयोगिप्रत्यक्ष ज्ञान है। अयोगिप्रत्यक्ष दो प्रकार का है। (१) निर्विकल्पक, (२) सविकल्पक।

वस्तु के स्वरुपमात्र का अवभासकज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है। जैसे कि, प्रथम इन्द्रिय के सन्निपात-सम्पर्क से उत्पन्न हुआ ज्ञान।

संज्ञा-संज्ञि संबंध के उल्लेख के द्वारा ज्ञानोत्पत्ति में निमित्तरुप सविकल्पकज्ञान-प्रत्यक्ष है। जैसे कि, **"देवदत्तोऽयं दण्डी"** इत्यादि-यहाँ वाचक-संज्ञा (**दण्ड**) और वाच्य-संज्ञि (देवदत्त), ये दोनो के संबंध द्वारा **"देवदत्तोऽयं दण्डी"** ऐसा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सविकल्पक (प्रत्यक्ष) कहा जाता है।

(यह अयोगिप्रत्यक्ष अविप्रकृष्ट (नजदीक रहे हुए) पदार्थ का ज्ञान कराता है।)

योगि प्रत्यक्ष देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट (अतिशय दूर रहे हुए) अर्थ का ग्राहक है। अर्थात् दूरदेशवर्ती, अतीतानागतकालवर्ती तथा सूक्ष्मस्वभाववाला यावत् अतीन्द्रिय पदार्थों का ग्राहक है।

योगिप्रत्यक्ष दो प्रकार का है। (१) युक्तयोगियों का प्रत्यक्ष और (२) वियुक्तयोगियों का प्रत्यक्ष।

(१) युक्तयोगियों का प्रत्यक्ष : समाधि में जिनका चित्त परम एकाग्रतावाला हुआ है, वे योगियो को योग-धर्म और ईश्वरआदि के सहकार से, आत्मा तथा अंतःकरण के संयोग से ही, बाह्यार्थसंयोग से निरपेक्ष, जो सभी पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे युक्तयोगियों का प्रत्यक्ष कहा जाता है। और यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होता है। क्योंकि, विकल्प से समाधि में एकाग्रता संगत नहीं होती है। और यह प्रत्यक्ष उत्कृष्ट योगियों को ही जानना अर्थात् उत्कृष्ट योगियों को ही होता है। क्योंकि, योगिमात्र को (सभी योगियो को) इस प्रत्यक्ष का संभव नहीं है।

(B-80) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) **वियुक्तयोगियों का प्रत्यक्ष :** असमाधि अवस्था में योगियो को आत्मा-मन-बाह्येन्द्रिय और रुपादि चार के संयोग से रुपादिका, आत्मा-मन-श्रोत्रेन्द्रिय ये तीन के संयोग से शब्द का, आत्मा, मन, ये दोनो के संयोग से सुखादि का जो ग्रहण होता है, उसे वियुक्तयोगियों का प्रत्यक्ष कहा जाता है और वह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनो प्रकार का जानना।

इस विषय में विस्तार से जानने की इच्छावालो के द्वारा न्यायसार की टीका देखना।

अथानुमानलक्षणमाह **"अनुमानं तु तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत्पूर्ववच्छेषवच्चैव"** इत्यादि । **अत्र चैवशब्दौ पूर्ववदादीनामर्थबाहुल्यसूचकौ । तथाशब्दश्चकारार्थः समुच्चये । शेषं तु सूत्रव्याख्ययैव, व्याख्यास्यते, सूत्रं त्विदं** "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च" **[ ] इति । एके व्याख्यान्ति । अत्रैकस्य पूर्वकशब्दस्य सामान्यश्रुत्या लुप्तनिर्देशो द्रष्टव्यः । तत्पूर्वकमित्यत्र तच्छब्देन प्रत्यक्षं प्रमाणमभिसंबध्यते । तत्पूर्वकं प्रत्यक्षफलं लिङ्गज्ञानमित्यर्थः । तत्पूर्वकपूर्वकं लिङ्गिज्ञानम् ।** अयमत्र भावः **। प्रत्यक्षाद्धूमादिज्ञानमुत्पद्यते, धूमादिज्ञानाच्च वह्न्यादिज्ञानमिति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्ववर्जाणि च ज्ञानादिविशेषणानि प्रत्यक्षसूत्रादत्रापि संबन्धनीयानि । एषां च व्यवच्छेद्यानि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं परिभाव्यानि । तथा द्वितीयलिङ्गदर्शनपूर्विकाया अविनाभावसंबन्धस्मृतेस्तत्पूर्वकपूर्वकत्वात्तज्जनकस्यानुमानत्वनिवृत्त्यर्थमर्थोपलब्धिग्रहणं कार्यं, स्मृतेस्त्वर्थं विनापि भावात् ।** ततोऽयमर्थः**। अर्थोपलब्धिरूपमव्यभिचरि-तमव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं ज्ञानं तत्पूर्वकपूर्वकं, यतो लिङ्गादेः समुपजायते तदनुमानमिति १ । तथा ते द्वे प्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिसंबन्धदर्शनं लिङ्गिदर्शनं (लिङ्गदर्शनं) च पूर्वं यस्य तत्तत्पूर्वकमिति विग्रहविशेषाश्रयणादनुमानस्याध्यक्षफलद्वयपूर्वकत्वं ज्ञापितं द्रष्टव्यम्[B-81] २ । तथा तानि प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणानि पूर्वं यस्य तत्तत्पूर्वकमिति विग्रहविशेषाश्रयणेन सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमप्यनुमानस्य लभ्यते । न च तेषां पूर्वमप्रकृतत्वात्कथं तच्छब्देन परामर्श इति प्रेर्यम् । यतः साक्षादप्रकृतत्वेऽपि प्रत्यक्षसूत्रे व्यच्छेद्यत्वेन प्रकृतत्वादिति ।**

टीकाका भावानुवाद :

अब अनुमान प्रमाण का लक्षण करते है। **''अनुमानं तु तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत्पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यस्तथा''**। अर्थात् प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला अनुमान पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसे तीन प्रकार से है।

यहाँ ''चैव'' - च और एव शब्द पूर्ववत् आदि अनुमान के प्रकारो का अर्थबाहुल्य का सूचक है। अर्थात् पूर्ववत् आदि पदो की अनेक व्याख्या की सूचना करता है। **'तथा'** शब्द **''च''** कार अर्थ में है। अर्थात् समुच्चयार्थक है। श्लोक की शेषव्याख्या न्यायसूत्र की नीचे की व्याख्या द्वारा ही कि जायेगी। इस न्यायदर्शन का अनुमान यह है -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''**तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च**''-यह सूत्र की व्याख्या एक वादि करते है कि, यहाँ एक '**पूर्वक**' शब्द का (सामान्यश्रुति से) लोप हुआ जानना। कहने का आशय यह है कि सूत्रमें ''**तत्पूर्वकं**'' पद है, वहाँ दो पूर्वकशब्द थे, उसमें से समानश्रुति के कारण एक का लोप हुआ है। वहाँ तत् शब्द से प्रत्यक्ष प्रमाण का संबंध करेंगे। इसलिए तत्पूर्वक = प्रत्यक्ष का फल लिंगज्ञान और लिंगज्ञान जिसके पहले है, उस **तत्पूर्वकपूर्वक** = लिंगिज्ञान होता है। अर्थात् अनुमिति कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि प्रत्यक्ष से धूमादि का ज्ञान उत्पन्न होता, अर्थात् लिंगज्ञान होता है और धूमादि के ज्ञान से वह्नि आदि का ज्ञान होता है। अर्थात् लिंगि का ज्ञान होता है।)

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्व विशेषण को छोड़कर ज्ञानादिविशेषणों प्रत्यक्ष के सूत्र से यहाँ अनुमान के सूत्र में भी जोडना और ये तीनो विशेषणो को अलग करके (विशेष करके) पहले कहे अनुसार (प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या में कहे अनुसार) स्वयं सोचना। अर्थात् तीनो विशेषणो की भिन्न-भिन विशेषता और उसकी सूत्र में आवश्यकता स्वयं सोचना। अर्थात् [९]द्वितीय लिंगदर्शन पूर्वक होनेवाली अविनाभाव से संबद्ध स्मृति (स्मरण) तत्पूर्वकपूर्वक होने से, स्मृति के जनक में अनुमानत्व नहि आयेगा, अर्थात् द्वितीय लिंगदर्शन अर्थात् लिंग के दूसरी बार के प्रत्यक्ष से अविनाभाव के संबंध से स्मृति भी होती है। वह स्मृति भी तत्पूर्वकपूर्वक कही जाती है। इसलिए स्मृति को उत्पन्न करनेवाले द्वितीयलिंगदर्शन में भी अनुमान प्रमाणता आने की आपत्ति है। उसकी निवृत्ति के लिए अर्थोपलब्धि (पदको) ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि, स्मृति का तो अर्थ के बिना भी सद्भाव होता है। इसलिए वह अर्थोपलब्धि नहीं है। इसलिए सूत्र का यह अर्थ होगा- अर्थोपलब्धिरुप अव्यभिचारि, अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मिक तत्पूर्वकपूर्वक ज्ञानरुप अर्थात् जो लिंगादि से लिंगिज्ञानरुप अर्थोपलब्धि उत्पन्न होती है उसे अनुमान कहा जाता है। इस तरह से एक वादि का मत है। (दूसरा वादि की मान्यता है कि) लिंग-लिंगि के संबंधका दर्शन तथा लिंगदर्शनरुप दो प्रत्यक्ष जिस के पूर्व में है, वह '**तत्तत्पूर्वकः**'-इस विग्रहविशेष के आश्रय से अनुमान प्रत्यक्ष के दो फल पूर्वक है ऐसा बताया हुआ जानना। लिंग-लिंगि के संबंधका दर्शन तथा लिंगदर्शनपूर्वक अनुमान होता है।

तथा वे प्रत्यक्षादि प्रमाण है पहले जिसको, वह तत्तत्पूर्वक, इस विग्रहविशेष के आश्रय से अनुमान का सर्वप्रमाणपूर्वकत्व प्राप्त होता है।

प्रश्न : वे प्रत्यक्षादि प्रमाण (अनुमान के) पहले अप्रकृत है, तो किस तरहसे तत् शब्द से उसका परामर्श

(९) अनुमान के अंदर तीन लिंगपरामर्श होते है (१) धूमादिको (पर्वतमें) देखना-''**पर्वतो धूमवान्।**'' (२) व्याप्ति का स्मरण-''**धूमो वह्निव्याप्य।**'' (३) **वह्निव्याप्यधूमवान्।** - मतलब यह है कि, जब व्यक्ति पर्वत के उपर धूमादि को देखता है, तब उसको ''**पर्वतो धूमवान्**'' ऐसा लिंगपरामर्श होता है। इसके बाद महानस (रसोईघर) में धूम और अग्नि के साहचर्य से प्राप्त किये हुए ''**यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः**'' व्याप्ति का स्मरण होता है, इसलिए उसको ''**धूमो वह्निव्याप्य**'' ऐसा दूसरा लिंगपरामर्श होता है और उसके बाद धूमादि हेतु में व्याप्ति और यह हेतु पर्वतादि पक्ष में है ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए ''**वह्निव्याप्यधूमवान् अयं**'' ऐसा तीसरा लिंगपरामर्श होता है।

(B-81) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा ? (अर्थात् प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाणो का प्रकरण पहले आया नहीं है, तो बहुवचनान्त "तत्" शब्द के विग्रह में उस प्रमाणो का ग्रहण किस तरह से कर सकेंगे ?)

समाधान : ऐसा मत कहना, क्योंकि साक्षात् अप्रकृत होने पर भी प्रत्यक्ष के लक्षणसूत्र में अन्य प्रमाणो की व्यावृत्ति हो गई है। इसलिए व्यवच्छेद रुप से उनका प्रकरण था ही। इसलिये तत् शब्द से इस प्रमाणो का परामर्श करने में बाध नहीं है।

अस्यां व्याख्यायां नाव्याप्त्यादिदोषः कश्चनापि । ये तु पूर्वशब्दस्यैकस्य लुप्तस्य निर्देशं नाभ्युपगच्छन्ति, तेषां प्रत्यक्षफलेऽनुमानत्वप्रसक्तिः, तत्फलस्य प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वकत्वात् । अथाकारकस्याप्रमाणत्वात्साधकतमस्य कारकत्वं लभ्यते । ततोऽयमर्थः । अव्यभिचरिताव्यपदेश्य-व्यवसायात्मिकार्थोपलब्धिजनकमेवाध्यक्षफलं लिङ्गज्ञानमनुमानमिति चेत्, उच्यते । एवमपि विशिष्टज्ञानमेवानुमानं प्रसज्यते । न च ज्ञानस्यैवानुमानत्वम्, "स्मृत्यनुमानागमसंशय-प्रतिभास्वप्रज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि [न्याय भा० १/१/१६] **इति वचनात् सर्वस्य बोधाबोधरूपस्य विशिष्टफलजनकस्यानुमानत्वादित्यव्याप्तिलक्षणदोषः । अतोऽर्थोपलब्धिर-व्यभिचारादिविशेषणविशिष्टा तत्पूर्वकपूर्विका, यतस्तदनुमानमित्येव व्याख्यानं युक्तिमत्**[B-82] **।**

टीकाका भावानुवाद :

इस व्याख्या में अव्याप्ति आदि कोई भी दोष नहीं है। उपरांत जो लोक एक "पूर्व" शब्द के लोप के निर्देश का स्वीकार नहीं करते है, उनको प्रत्यक्ष के फल में अनुमानत्व की आपत्ति आयेंगी। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण का फल प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वक होता है। इसलिए तत्पूर्वक होने से, वह भी अनुमानरुप बन जायेगा।

शंका : प्रमाके प्रति साधकमत कारक को ही प्रमाण कहा जाता है। इसलिए अकारक प्रमाण नहीं बन सकता। प्रत्यक्ष के फल में अकारकत्व होने से अनुमानत्व का प्रसंग नहीं है। कहने का मतलब यह है कि, प्रत्यक्षप्रमाण का फलभूत लिंगज्ञान अव्यभिचरित, अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मिक अर्थोपलब्धि को उत्पन्न करता है, वही अनुमानरुप बन सकता है, अन्य नहीं।

समाधान : आपकी इस व्याख्या से तो विशिष्टज्ञान ही अनुमान हो सकता है, ज्ञानमात्र नहि। शास्त्र में तो अज्ञानात्मक पदार्थ भी लिंगिज्ञान में साधकतम होने से अनुमानरुप कहा है। **न्यायसूत्र में कहा है कि,** "स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्नज्ञान, उहा, सुखादि प्रत्यक्ष तथा इच्छादि मन के लिंग है।" इसमें स्मृति ज्ञानो की तरह इच्छादि अज्ञानात्मक पदार्थो का भी लिंगअनुमान माना ही है। **सूत्रकारका तात्पर्य वह है कि** – लिंगिज्ञानरुप विशिष्टफल को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ ज्ञानरुप हो या अज्ञानरुप हो तो भी अनुमान कहना चाहिए। इसलिए पूर्वोक्त व्याख्या में अव्याप्तिदोष आता ही है।

(B-82) – तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए "अव्यभिचरितआदि विशेषणो से विशिष्ट तत्पूर्वकपूर्विका अर्थोपलब्धि जिससे भी उत्पन्न होती है, उसे अनुमान कहा जाता है। फिर वह ज्ञानरुप हो या अज्ञानरुप हो"। यह व्याख्या युक्तियुक्त है।

नन्वत्रापि त्रिविधग्रहणमनर्थकमिति चेत्, न । अनुमानविभागार्थत्वात् । पूर्ववदादिग्रहणं च स्वभावादिविषयप्रतिषेधेन पूर्ववदादिविषयज्ञापनार्थम् । पूर्ववदाद्येव त्रिविधविभागेन विवक्षितं, न स्वभावादिकमिति प्रथमं व्याख्यानम् । अपरे त्वेवं सूत्रं [B-83]व्याचक्षते **। तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमिति, त्रिभेदमनुमानम् ।** के पुनर्भेदा इत्याह-**पूर्ववदित्यादि, पूर्वशब्देनान्वयो व्यपदिश्यते, व्यतिरेकात्प्रागवसीयमानत्वात् पूर्वोऽन्वयः, स एवास्ति यस्य तत्पूर्ववत्**केवलान्वय्यनुमानम् १ **। शेषो व्यतिरेकः, स एवास्ति यस्य तच्छेषवत्,** केवलव्यतिरेकि च २ **। सामान्येनान्वयव्यतिरेकयोः साधनाङ्गयोर्यद्दृष्टं** तत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेकि **चेति ३ अथवा [B-84]त्रिविधमिति** त्रिरूपम् **। कानि त्रीणि रूपाणीत्याह पूर्ववदित्यादि, [B-85]पूर्वमुपादीयमानत्वात्पूर्वः पक्षः सोऽस्यास्तीति पूर्ववत्पक्ष-**धर्मत्वम् **। शेष उपयुक्तादन्यत्वात्साधर्म्यदृष्टान्तः सोऽस्त्यत्रेति शेषवत्सपक्षे** सत्त्वम् **। सामान्यतो-दृष्टमिति** वि[1]पक्षे सर्वत्रासत्त्वं तृतीयं रूपम् **।** चशब्दात्प्रत्य-क्षागमाविरुद्धत्वासत्प्रतिपक्षत्वरूपद्वयं च **। एवं च पञ्चरूपलिङ्गालम्बनं यत्तत्पूर्वकं तदन्वयव्यतिरेक्यनुमानम् । विपक्षासत्त्वसपक्षसत्त्वयोरन्य-तररुपस्यानभिसंबन्धात्तु चतूरुपलिङ्गालम्बनं केवलान्वयि केवलव्यतिरेकि चानुमानम् ।**

टीकाका भावानुवाद :

शंका : सूत्र में "**पूर्ववत्**" आदि तीन नाम की गणना हो गई है। फिर "**त्रिविधं**" का ग्रहण निरर्थक है।

समाधान : "**त्रिविधं**" का ग्रहण निरर्थक नहीं है। क्योंकि "**त्रिविधं**" पद अनुमान का प्रकार सूचित करने के लिए है। पूर्ववत् आदि तीन प्रकार का ग्रहण स्वभावादिविषय के प्रतिषेध द्वारा 'पूर्ववत्' आदि विषय को बताने के लिए है। (यानी कि) पूर्ववत् आदि तीन विभाग (प्रकार) द्वारा अनुमान की विवक्षा की है। परन्तु स्वभाव, हेतु, कार्यरुप द्वारो से नहीं। इस तरह से सूत्र की यह प्रथम व्याख्या हुई। परन्तु दूसरे लोग सूत्र की व्याख्या इस अनुसार कहते है –

तत्पूर्वक अर्थात् प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान के तीन भेद है। अनुमान के वे भेद कौन से है ? (१) पूर्ववत्, (२) शेषवत्, (३) सामान्यतोदृष्ट।

यहाँ पूर्व शब्द के द्वारा अन्वय का व्यपदेश किया जाता है। क्योंकि वह व्यतिरेक से पहले मालूम पडता है। अर्थात् व्यतिरेक से पहले ज्ञात होनेवाला अन्वय है। इसलिये "**पूर्वोऽन्वयः, स एवास्ति यस्य**

---

१ विपक्षे मनागपि यन्न दष्टं, इति प्रत्यन्तरेऽधिकं दरीदृश्यते ।

(B-83-84-85) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्पूर्ववत्''-पहले अन्वय है जिसका वह तत्पूर्ववत्। अर्थात् केवलान्वयी अनुमान है। अर्थात् जिस अनुमानमें केवल अन्वय व्याप्ति मिलती है, उसे केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है। ''**शेषो व्यतिरेकः, स एवास्ति यस्य तच्छेषवत्।**'' अर्थात् शेष यानी व्यतिरेक है जिसका वह तत्शेषवत्। अर्थात् केवलव्यतिरेकी अनुमान है। अर्थात् जिस अनुमान की सिर्फ व्यतिरेकव्याप्ति मिलती है, उसे केवलव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। सामान्य से अन्वय व्यतिरेकरुप साधन के अंगो का जो देखना वह सामान्यतोदृष्ट अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। अर्थात् जिस अनुमान में अन्वय-व्यतिरेक दोनो व्याप्ति मिलती है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। (अब त्रिविध का प्रतिपादन दूसरी तरह से करतें है।) अथवा त्रिविध=त्रिरुप, वे तीन रुप कौन से है? पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पहले ग्रहण किया जाता होने से पूर्व। अनुमान में पहले पक्ष (पक्ष में हेतु का) ग्रहण किया जाता है। इसलिए पूर्व=पक्ष है जिसको वह पूर्ववत् अर्थात् पक्षधर्मत्व। इस प्रकार '**पक्षधर्मत्व**' प्रथम **रुप** है।

शेष यानी दूसरी जगह पे उपयुक्त होने से साधर्म्य दृष्टांत और साधर्म्यदृष्टांत जहाँ है वह **शेषवत्** कहा जाता है। उसको '**सपक्षसत्त्व**' भी कहा जाता है।

इस प्रकार सपक्षसत्त्व द्वितीयरुप है (जैसे कि धूम हेतु सपक्ष ऐसे महानसमें रहता है इसलिए सपक्षसत्त्व।) सामान्यतोदृष्ट यानी विपक्ष में सर्वत्र असत्त्व अर्थात् विपक्ष में कहीं (मनाक्) भी न दिखे वह सामान्यतोदृष्ट अर्थात् **विपक्षासत्त्व**। इस प्रकार 'विपक्षासत्त्व' यह तीसरा रुप है।

च शब्द से प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध तथा असत्प्रतिपक्षत्व, ये दो रुप जानना।

इस तरह अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अविरुद्ध (अबाधितविषयत्व) और असत्प्रतिपक्षत्व, ये पाँच लिंगों-रुपों का आलंबन है।

केवलान्वयी अनुमान में विपक्षासत्त्व के सिवा चार लिंगों-रुपों का आलंबन है। व्यतिरेकी अनुमान में सपक्षसत्त्व के सिवा बाकी के चार लिंगों-रुपों का आलंबन है।

तत्रानित्यः शब्दः कार्यत्वात्, घटादिवदाकाशादिवच्चेत्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः १ । **अदृष्टादीनि कस्यचित्प्रत्यक्षाणि प्रमेयत्वात्करतलादिवदित्यत्र कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे साध्येऽप्रत्यक्षस्य कस्यापि वस्तुनो विपक्षस्याभावादेव** केवलान्वयी २ । **सर्ववित्कर्तृपूर्वकं सर्वं कार्यं, कादाचित्कत्वात् । यत्सर्ववित्कर्तृपूर्वकं न भवति, तन्न कादाचित्कं, यथाकाशादि । अत्र सर्वस्य कार्यस्य पक्षीकृतत्वादेव सपक्षाभावात्केवलव्यतिरेकी । प्रसङ्गद्वारेण वा केवलव्यतिरेकी । यथा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गाल्लोष्टवदिति प्रसङ्गः ।** प्रयोगस्त्वित्थम् । **इदं जीवच्छरीरं सात्मकं, प्राणादिमत्त्वात् । यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमद्यथा लोष्टमिति प्रसङ्गपूर्वकः** केवलव्यतिरेकीति ३ ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

अब ये तीनो रुपो के उदाहरण देते है।

(१) **अन्वयव्यतिरेकी हेतु : ''शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वात्, घटादिवत्, आकाशादिवत्।''** यहाँ **''कार्यत्व''** हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। क्योंकि उसमें पक्षधर्मत्वादि पाँचो रुपो का आलंबन है। वह इस अनुसार–

(१) [१०]**पक्षधर्मत्व :** पक्ष शब्द में हेतु कार्यत्व की वृत्ति है। (२) **सपक्षसत्त्व :** सपक्ष ऐसे घट में कार्यत्व हेतु की वृत्ति है। (३) **विपक्षासत्त्व :** विपक्ष ऐसे आकाश में कार्यत्व हेतु की वृत्ति नहीं है। (यहाँ जिस में साध्य का संदेह हो और साध्य की सिद्धि करनी हो, उसे पक्ष कहा जाता है। जिसमें साध्य का निश्चय हुआ हो अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान के विषयभूत साध्य के आश्रय को **सपक्ष** कहा जाता है। जिसमें साध्य का निश्चय से अभाव हो अर्थात् निश्चयात्मकज्ञान के विषयभूत साध्याभाव के आश्रय को **विपक्ष** कहा जाता है। (४) **अविरुद्धत्व :** (अबाधितविषयत्व): पक्ष (शब्द) में साध्याभाव = अनित्यत्वाभाव = नित्यत्व का निश्चय नहीं है। इसलिए बाध भी नहीं है। (५) **असत्प्रतिपक्षत्व :** शब्द में (अनित्यत्वाभाव = साध्याभाव =) नित्यत्व का साधक दूसरा कोई हेतु नहीं है। इसलिए सत्प्रतिपक्षत्व नहीं है।

(२) **केवलान्वयी हेतु : ''अदृष्टादीनि कस्यचित्प्रत्यक्षाणि, प्रमेयत्वात्, करतलादिवत्।''** यहाँ **''कस्यचित्प्रत्यक्षत्व''** साध्य में अप्रत्यक्ष ऐसी किसी वस्तु का (विपक्षका) अभाव होने से हेतु केवलान्वयी है।

प्रमेयत्व हेतु में विपक्षासत्त्व के सिवा बाकी के चार रुपो का आलंबन होने से वह केवलान्वयी हेतु है, वह इस अनुसार है – (१) **पक्षधर्मत्व :** प्रमेयत्व हेतु अदृष्टादि पक्ष में विद्यमान (मौजूद) है। (२) **सपक्षसत्त्व :** सपक्ष ऐसे करतल (हथेली) में प्रमेयत्व हेतु विद्यमान (मौजूद) है। (३) **अबाधितविषयत्व :** पक्ष (अदृष्टादि) में साध्याभाव (**कस्यचित्प्रत्यक्षत्वाभाव**) का निश्चय नहीं है। इसलिए बाध दोष नहीं है।

(४) **असत्प्रतिपक्षत्व :** कस्यचित्प्रत्यक्षत्व के साधक प्रमेयत्व हेतु का कोई प्रतिपक्ष (विरोधी दूसरा) हेतु नहीं है, कि जो साध्याभाव को सिद्ध करे। इसलिए प्रमेयत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष नहीं है।

(३) **केवलव्यतिरेकी हेतु :**

सर्ववित्कर्तृपूर्वकं सर्वं कार्यं, कादाचित्कत्वात् –
सर्वकार्यं सर्ववित्कर्तृपूर्वकं कादाचित्कत्वात्।

---

(१०) (१) **पक्षधर्मत्व :** पक्ष में हेतु का होना (सत्त्व) वह पक्षधर्मत्व।
(२) **सपक्षसत्त्व :** सपक्ष में हेतु का होना (सत्त्व) वह सपक्षसत्त्व।
(३) **विपक्षासत्त्वः** विपक्ष में हेतु का न होना (असत्त्व) वह विपक्षासत्त्व।
(४) **अविरुद्धत्व (अबाधितविषयत्व) :** जो हेतु का साध्यरुप विषय पक्ष में बाधित न हो अर्थात् पक्ष में साध्याभाव का निश्चय न हो, वह अबाधितविषयत्व।
(५) **असत्प्रतिपक्षत्व :** साध्याभाव का साधक प्रतिपक्ष (दूसरा विरोधि) हेतु न हो वह असत्प्रतिपक्षत्व।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सर्ववित्कर्तृपूर्वकत्व नहीं है, वह कादाचित्क नहीं है। जैसे कि आकाश। यहाँ सर्वकार्य को पक्ष ही बनाया गया होने से सपक्ष का अभाव है। इसलिये कादाचित्कत्व हेतु केवलव्यतिरेकी है।

'कादाचित्कत्व' हेतु में सपक्षसत्त्व के सिवा बाकी के चार रुपो का आलंबन होने से वह केवलव्यतिरेकी है, वह इस अनुसार है –

(१) **पक्षधर्मत्व :** कदाचित्कत्व हेतु पक्ष में विद्यमान है। (२) **विपक्षासत्त्व :** विपक्ष ऐसे आकाश में कदाचित्कत्व हेतु विद्यमान (उपस्थित) नहीं है। (३) **अबाधितविषयत्व :** सर्व कार्यो में (पक्षमें) सर्ववित्कर्तृपूर्वकत्वाभाव (साध्याभाव) का निश्चय नहीं है। इसलिए बाध भी नहीं है। इसलिए कादाचित्कत्व हेतु बाधित नहीं है। (४) **असत्प्रतिपक्षत्व :** सर्ववित्कर्तृपूर्वकत्वाभाव (साध्याभाव) का साधक प्रतिपक्ष (दूसरा विरोधी) हेतु नहीं है। इसलिए सत्प्रतिपक्षत्व भी नहीं है।

अब प्रसंगद्वार से केवलव्यतिरेकी अनुमान बताते है।

अप्राणादिमत्त्व के प्रसंग से लोष्ट (पत्थर) की तरह जीवत्शरीर निरात्मक नहीं है। इस अनुसार प्रसंगद्वार है। प्रयोग इस अनुसार है –

''इदं जीवच्छरीरं सात्मकं, प्राणादिमत्त्वात्। यह जीवत्शरीर (जीवित शरीर) आत्मासहित है। क्योंकि प्राण से युक्त है। **तथा यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमद्यथा लोष्टम्** अर्थात् जो सात्मक नहीं है। वह प्राणादि से युक्त नहीं है। जैसे कि ''मिट्टी का पत्थर''। इस तरह से प्रसंग द्वारा केवल व्यतिरेकी अनुमान कहा।

एवमनुमानस्य भेदान् स्वरूपं च व्याख्याय विषयस्य त्रैविध्यप्रतिपादनायैवमाहुः । अथवा तत्पूर्वकमनुमानं त्रिविधं त्रिप्रकारं । **के पुनस्त्रयः प्रकारा इत्याह पूर्ववदित्यादि, [B-86]पूर्वं कारणं विद्यते यत्रानुमाने तत्पूर्ववत्, यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा विशिष्टमेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति । अत्र कारणशब्देन कारणधर्म उन्नतत्वादिर्ग्राह्यः । प्रयोगस्त्वेवम्, अमी मेघा वृष्ट्युत्पादकाः, गम्भीरगर्जितत्वेऽचिरप्रभावत्वे च सत्यत्युन्नतत्वात्, य एवं ते वृष्ट्युत्पादका यथा वृष्ट्युत्पादकपूर्वमेघास्तथा चामी तस्मात्तथा ।**

टीकाका भावानुवाद :

इस तरह से अनुमान के भेदो की और स्वरुप की व्याख्या करके विषय के तीन प्रकार के प्रतिपादन के लिए कहते है। अथवा (उपर जिस तरहसे व्युत्पत्ति करके अनुमान के भेद और स्वरुप की चर्चा की, वैसे यहाँ अलग प्रकार से व्युत्पत्ति करके अनुमान के विषय के तीन प्रकार बताये है।) तत्पूर्वक अनुमान के तीन प्रकार है। वे प्रकार कौन से है ?

(B-86) – तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर : पूर्ववत् आदि। जहाँ अनुमान में पहले कारण विद्यमान होता है, उसे पूर्ववत् कहा जाता है। अर्थात् जहाँ कारण के द्वारा कार्य का अनुमान किया जाये, उसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है। जैसे कि, विशिष्ट मेघ (बादल की) उन्नति से वृष्टि (बारीश) होगी, ऐसा अनुमान किया जाये उसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

यहाँ कारण शब्द से कारणधर्म ग्रहण करना है। उपरोक्त उदाहरण में (विशिष्टमेघ का) उन्नत्वादि धर्म ग्रहण करना चाहिए। प्रयोग इस अनुसार है - **"अमी मेघा वृष्ट्युत्पादकाः गम्भीरगर्जितत्वेऽचिर-प्रभावत्वे च सति उन्नतत्वात्, य एवं ते वृष्ट्युत्पादका यथा वृष्ट्युत्पादकपूर्वमेघास्तथा चामी तस्मात्तथा।"** अर्थात् वृष्टि उत्पादक पूर्वमेघ की तरह (यह मेघ) गंभीर तरह से गर्जना करता होने से और अचिर प्रभाववाला होने से उन्नत होने के कारण वृष्टि का उत्पादक है।

यहाँ **"अमी मेघा वृष्ट्युत्पादकाः"** यह प्रतिज्ञावाक्य है। **"गम्भीरगर्जितत्वेऽचिरप्रभावत्वे च सति उन्नतत्वात्"** यह हेतुवाक्य है। **"य एवं ते वृष्ट्युत्पादका यथा वृष्ट्युत्पादकपूर्वमेघाः।"** यह उदाहरण वाक्य है।

तथा चामी - यह उपनयवाक्य है। व्याप्ति से विशिष्ट पक्षसंबंध को बतानेवाले वचन को उपनयवाक्य कहा जाता है। **तथा चामी** = "(वृष्टि के उत्पादक पहले के मेघ की तरह) वृष्टि के उत्पादक का व्याप्य गंभीरगर्जना से युक्त और अचिरप्रभाव से युक्त अत्युन्नत यह मेघ है।" यह उपनयवाक्य है।

तस्मात् तथा - यह निगमनवाक्य है। पक्ष में साध्य के अबाधितत्व को बतानेवाले वचन को निगमनवाक्य कहा जाता है। **तस्मात् तथा** - "वृष्टि के उत्पादक का व्याप्य गंभीर गर्जना से युक्त तथा अचिर प्रभाव से युक्त अत्युन्नत मेघ है। इसलिए वह वृष्टि का उत्पादक है।" यह निगमनवाक्य है।

(यह [११]पंचावयववाक्य से प्रयोज्य अनुमान परार्थानुमान कहा जाता है।)

---

(११) न्यायप्रयोज्यानुमानं परार्थानुमानम्। न्यायत्वं च प्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकसमुदायत्वं। अवयवत्वं च प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम्। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। साध्यविशिष्टं पक्षबोधकवचनं प्रतिज्ञा। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। पञ्चम्यन्तं तृतीयान्तं वा लिङ्गवचनं हेतुः। धूमवत्त्वादिति हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसमित्युदाहरणम्। उदाहृतव्याप्तिविशिष्टत्वेन हेतोः पक्षधर्मताप्रतिपादकवचनमुपनयः। तथा चायमित्युपनयः। पक्षे साध्यस्याबाधितत्वप्रतिपादकवचनं निगमनम्। तस्मात्तथेति निगमनम्।

न्यायप्रयोज्य अनुमान को **परार्थानुमान** कहा जाता है। प्रतिज्ञा-हेतु आदि पाँच अवयव के समुदाय को **न्याय** कहा जाता है। प्रतिज्ञादि पंचान्यतमको **अवयव** कहा जाता है। वहाँ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन ये पाँच अवयव है।

(१) **प्रतिज्ञा :** साध्यविशिष्ट पक्ष को बतानेवाला वचन को प्रतिज्ञा कहा जाता है। **"पर्वतो वह्निमान्"** यह वाक्य वह्निरुप साध्यविशिष्ट पर्वतरुप पक्ष को बतानेवाला है और पर्वत में साध्यरुप वह्नि रहा हुआ है। इसलिए वह्निरुपसाध्यविशिष्ट पर्वतरुप पक्ष है।

(२) **हेतु :** पञ्चम्यन्त अथवा तृतीयान्त लिंगवचन को हेतु कहा जाता है। **पर्वतो वह्निमान्, धूमात् धूमेन वा।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह कारण से कार्य के अनुमानरुप पूर्ववत् अनुमान है।

ननून्नतत्वादिधर्मयुक्तानामपि मेघानां वृष्ट्यजनकत्वदर्शनात्, कथमैकान्तिकं कारणात्कार्यानुमानमिति चेत्, न । विशिष्टस्योन्नतत्वादेर्धर्मस्य गमकत्वेन विवक्षिततत्वात् । न च तस्य विशेषो नासर्वज्ञेन निश्चेतुं पार्यत इति वक्तुं शक्यं, सर्वानुमानोच्छेदप्रसक्तेः । तथाहि-**मशकादिव्यावृत्तधूमादीनामपि स्वसाध्याव्यभिचारित्वमसर्वविदा न निश्चेतुं शक्यमिति वक्तुं शक्यत एव । अथ** "सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति" [B-87]**न्यायाद्धूमादेर्गमकत्वम्, तत्तर्ह्यत्रापि समानम् । यो हि भविष्यद्वृष्ट्यव्यभिचारिणमुन्नत्वादिविशेषमवगन्तुं समर्थः, स एव तस्मात्तमनुमिनोति, नागृहीतविशेषः ।** तदुक्तम्, "अनुमातुरयमपराधो[B-88] नानुमानस्ये"ति ।

टीकाका भावानुवाद :

शंका : उन्नत्वादि धर्म से युक्त बादल भी वृष्टि के अजनक दिखाई देते है। (अर्थात् घनघोर बादल भी बरसते नहीं है, ऐसा दिखाई देता है।) तो कारण से कार्य का (१२)अनुमान एकान्तिक सत्य किस तरह से होगा ?

यहाँ धूमरुप लिंगवचन तृतीयान्त-पञ्चम्यन्त है। इसलिए उसे हेतु कहा जाता है।

(३) **उदाहरण :** व्याप्ति के प्रतिपादक दृष्टांतरुप वचन को उदाहरण कहा जाता है।

व्याप्ति का प्रतिपादक जो दृष्टांत अर्थात् पहले जिस में व्याप्तिज्ञान किया गया है। उसके बाद ही अनुमिति में दृष्टांत के रुप में स्थापन किया जा सकता है। "महानस" में बहोत बार दर्शन के द्वारा वह्नि और धूम की व्याप्ति का ज्ञान किया गया है। इसलिए यह महानस, जब पर्वत में वह्नि की अनुमिति की जाये तब दृष्टांत के रुप में दिया जाता है। जैसे कि "**पर्वतो वह्निमान् धूमात् । यथा महानसम् ।**"(यहाँ जैसे "**यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम् ।** (अथवा **यत्र यत्र धूम, तत्र तत्र वह्नि यथा महानसम्**) इत्याकारक व्याप्ति प्रतिपादक महानस, यह दृष्टांत के रुप में होने से उदाहरण कहा जाता है।

(४) **उपनय :** साध्यनिरुपित व्याप्तिविशिष्ट धूम की पक्षधर्मता का प्रतिपादन करनेवाले वचन को उपनय कहा जाता है। "**अयं पर्वतः वह्निव्याप्यधूमवान्**" यह उपनय "**तथा चायं**" जैसे शब्दो के द्वारा समजाया जा सकता है।

तथा चायं-अयं पर्वतः तथा = **वह्निव्याप्यधूमवान्,** यह वचन व्याप्तिविशिष्ट धूम का पर्वत में संबंध का प्रतिपादक वचन है।

(५) **निगमन :** पक्ष के अंदर साध्य को अबाधितत्व का प्रतिपादकवचन निगमन कहा जाता है।

तस्मात् तथा = '**वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत**' होने से 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुसार का यह वचन पक्ष के अंदर साध्य के अबाधिततत्व का प्रतिपादक वचन है।

(१२) अनैयायिको के मतानुसार अनुमान (प्रमाण) के बारे में कुछ विशेषः - **अनुमितिकरणम् अनुमानम्** - अनुमिति के करण को अनुमान कहा जाता है और "**अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः अनुमितिः फलम् ।**"

(B-87-88) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान : ऐसा मत कहना। क्योंकि यहाँ विशिष्ट उन्नत्वादि धर्म ही (वृष्टिके) गमक के रुप में विवक्षित है।

शंका : उन्नत्वादि का विशिष्टत्व असर्वज्ञ के द्वारा निश्चित करने के लिए संभव नहीं है।

समाधान : ऐसा कहना योग्य नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा मानोंगे तो (= कारण का विशिष्टत्व असर्वज्ञ के द्वारा निश्चित करने के लिए संभव नहीं है ऐसा मानोंगे तो) सब अनुमानो के उच्छेद की आपत्ति आयेगी। जैसे कि (वह इस अनुसार) ''मशकादि से व्यावृत्त धूमादि का भी स्वसाध्य के साथ अव्यभिचारित्व असर्वज्ञ के द्वारा निश्चित करने के लिए संभव नहीं है।'' अर्थात् मच्छरादि से धूम का भेद जाना भी लिया जाये, तो भी वह धूम सदा स्वसाध्य का अव्यभिचारी होगा, ऐसा जानना असर्वज्ञो के सामर्थ्य की बात नहीं है, ऐसा भी कहना संभव नहीं है। इसलिए धूम से अग्नि का अनुमान करना मुश्किल हो जायेगा। इसलिए सब अनुमानो का उच्छेद होने की आपत्ति आयेगी।

अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान करण है। और परामर्श व्यापार है। अनुमिति फल है।

अनुमान ज्ञान के पहले दो प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिए। एक हेतु का प्रत्यक्षज्ञान और समान्तर में हेतु और साध्य के संबंध का प्रत्यक्षज्ञान। जैसे कि, धूम हेतु से पर्वत आदि प्रदेश में अग्नि का अनुमान करना है। तो पर्वत तथा धूम और अग्नि के संबंध का प्रत्यक्षज्ञान महानस में हुआ होना चाहिए। धूम को देखने के बाद धूम और अग्नि के संबंध के प्रत्यक्षज्ञान का स्मरण होगा, इस से अग्नि का अनुमान भी आसानी से हो सकेगा। आदिमें धूम का प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिए। ''जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि भी है।'' ऐसा व्याप्तिज्ञान जो इन्सान को नहीं होगा, उसको धूम देखने पर भी अग्नि का अनुमान नहीं हो सकेगा। न्यायबोधिनी में व्यापार का लक्षण इस अनुसार है- **''तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वात् व्यापारः**। जो कारण से उत्पन्न होता है और कारण से उत्पन्न होनेवाले फल का भी जो जनक हो, उसे व्यापार कहा जाता है।

उदा. दंड से चक्र में भ्रमण उत्पन्न होता है और भ्रमण दंड से उत्पन्न होनेवाला घटका भी जनक है। इसलिए दंड से उत्पन्न होनेवाला घट प्रति चक्रभ्रमण वह व्यापार है।

अनुमितिज्ञान में भी व्याप्तिज्ञान से अनुमिति उत्पन्न होती है और दो ज्ञान के बिच ''**परामर्श**'' ज्ञान भी अवश्य होता है। परामर्श का आकार इस अनुसार है - ''**व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्माताज्ञानं परामर्शः**'' धूमादि हेतु में व्याप्ति और हेतु पर्वतादि पक्ष में है, ऐसा जो ज्ञान है, उसे परामर्श कहा जाता है।

अर्थात् ''**वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत**'' - इत्याकारक ज्ञान परामर्श है। यह ज्ञान होने से पहले दो ज्ञान होने चाहिए। (१) धूमादि हेतु में व्याप्ति ''**यत्र यत्र धूम, तत्र तत्र वह्नि**'' ऐसी व्याप्ति का ज्ञान। तथा (२) हेतु धूम पर्वतादि पक्षमें है अर्थात् ''**पर्वतो धूमवान्**''

मतलब यह है कि (१) **पर्वतो धूमवान्** और (२) **धूमो वह्निव्याप्य** (व्याप्ति का स्मरण) ये दो लिंगपरामर्श होने के बाद ''**वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत्**'' ऐसा परामर्श होता है और इस परामर्श से ''**पर्वतो वह्निमान्**'' इत्याकारक ज्ञान होता है। उसको अनुमिति कहा जाता है।

अनुमान के दो प्रकार : (१) स्वार्थानुमान, (२) परार्थानुमान।

(१) **स्वार्थानुमान : स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः** स्वानुमिति (स्वसमवेत अनुमिति) के कारणभूत अनुमान को

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंका (पूर्वपक्ष) : ''सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति'' इति न्यायाद् -अतिप्रसिद्ध (कारण का) कार्य कारण का व्यभिचारी नहीं बनता है, इस न्याय से मशकादि से व्यावृत्त धूमादि का भी स्वसाध्य (वह्न्यादि) के साथ अव्यभिचारित्व असर्वज्ञ के द्वारा निश्चय करने के लिए शक्य है। क्योंकि वह अतिप्रसिद्ध (धूमादिका) कार्य वह्नि कारण (धूम) को अव्यभिचरित नहीं करता है। इसलिए धूमादि (वह्नि के ज्ञान से) गमक है ही।

समाधान (उत्तरपक्ष) : तो वहाँ (उपर के अनुमान में) भी समानयुक्ति है। **''सुविवेचितं..''** न्याय से अतिप्रसिद्ध (विशिष्ट उन्नत्व का) कार्य (वृष्टि) कारण (विशिष्ट उन्नत्व) को व्यभिचरित नहीं करता है। इसलिए विशिष्ट उन्नत्व (वृष्टि के ज्ञान से) गमक है ही।

उपरांत, जो व्यक्ति भविष्य की वृष्टि को अव्यभिचरित उन्नत्वादिविशेष को जानने के लिए समर्थ है, वही व्यक्ति उससे (विशेष उन्नत्वादि से) उसका (वृष्टिका) अनुमान करता है। जिसने उन्नत्वादि विशेष का ज्ञान किया नहीं है वह अनुमान नहीं करता है। इसलिए कहा है कि - ''(जिसने कारण का विशेष से ज्ञान किया नहीं है, वह कारण से कार्य का अनुमान नहीं कर सकते है, उसमें) अनुमाता का अपराध है, अनुमानका नहीं है।

शेषं कार्यं तदस्यास्ति [B-89]तच्छेषवत्, **यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, यथा नदीपूरदर्शनाद्वृष्टिः । अत्र कार्यशब्देन कार्यधर्मो लिङ्गमवगन्तव्यम् ।** प्रयोगस्त्त्वित्थम्, **उपरिवृष्टिमद्देशसंबन्धिनी नदी शीघ्रतरस्रोतस्त्वे फलफेनसमूहकाष्ठादिवहनत्वे च सति पूर्णत्वात् तदन्यनदीवत् ।** सामान्यतोदृष्टं

स्वार्थानुमान कहा जाता है।

स्वयं ही बारबार धूम और वह्नि को महानसादि में देखने से, ''जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ वह्नि है।'' इस अनुसार व्याप्ति को ग्रहण करके पर्वत के पास पहुंचा। वहाँ पर्वत में अग्नि के संदेहवाला धूम देखकर पूर्व में ग्रहण की हुई व्याप्ति का स्मरण करता है कि, ''जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ वह्नि है।'' उसके बाद उसको **''वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः''** इत्याकारक ज्ञान होता है। जो लिंगपरामर्श कहा जाता है। उस लिंगपरामर्श से उसको **''पर्वतो वह्निमान्''** इत्याकारक अनुमित्यात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। जिस कारण से यहाँ अनुमान स्वानुमिति का कारण बनता है, उस कारण से उस अनुमान को ''स्वार्थानुमान'' कहा जाता है।

न्यायबोधिनी में स्वार्थानुमान की व्याख्या इस अनुसार की हुई है। **''स्वार्थानुमानं नाम न्यायाप्रयोज्यानुमानम् ।** पंचावयवरुप न्याय से अप्रयोज्य अनुमान को स्वार्थानुमान कहा जाता है।

(२) **परार्थानुमान : ''यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम् ।''** स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करकर दूसरे को उसका ज्ञान कराने के लिए जो पंचावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहा जाता है। जैसेकि (१) **पर्वतो वह्निमान्** (प्रतिज्ञा), (२) **धूमवत्त्वात्** (हेतु), (३) **यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्** (दृष्टांत), (४) **तथा चायम्**, (५) **तस्मात्तथा** - यह पंचावयववाक्य से प्रतिपादित लिंग द्वारा दूसरा व्यक्ति भी अग्नि का स्वीकार करता है। (जानता है।) यह पाँच अवयवो का वर्णन आगे टीप्पणी ११ में किया हुआ है।

(B-89) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामाऽकार्यकारणभूतेनाविनाभाविना लिङ्गेन यत्र लिङ्गिनोऽवगमः, यथा बलाकया सलिलस्येति । प्रयोगस्त्वयं, बलाकाजहद्वृत्तिः प्रदेशो जलवान्बलाकावत्वात्, संप्रतिपन्नदेशवत् । यथा वान्यवृक्षोपरिदृष्टस्यादित्यस्यान्यपर्वतोपरिदर्शनेन गतेरवगमः । प्रयोगः पुनः रवेरन्यत्र दर्शनं गत्यविनाभूतं अन्यत्र दर्शनत्वात्, देवदत्तादेरन्यत्रदर्शनवत् । अत्र यथा देवदत्तादेरन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनं व्रज्यापूर्वं, तथादित्यस्यापीति, अन्यत्र दर्शनं च न गतेः कार्यं संयोगादेर्गतिकार्यत्वात् । अन्ये त्वेवं वर्णयन्ति । समानकालस्य स्पर्शस्य रूपादकार्यकारणभूतात्प्रतिपत्तिः सामान्यतोदृष्टानुमानप्रभवाः । अत्र प्रयोगः-ईदशस्पर्शमिदं वस्त्रमेवंविधरूपत्वात्, तदन्यतादृशवस्त्रवत् । एवं चूतं फलितं दृष्ट्वा पुष्पिता जगति चूता इति प्रतिपतिर्वा । प्रयोगस्तु पुष्पिता जगति चूताश्चूतत्वात्, दृष्टचूतवदित्यादि ।

टीकाका भावानुवाद :

''शेषः कार्यं तदस्यास्ति तच्छेषवत्''। शेष अर्थात् कार्य. जिसके पहले है, उसे शेषवत् अनुमान कहा जाता है। अर्थात् कार्य के द्वारा कारण का अनुमान किया जाये, वह शेषवत् अनुमान है। जैसे कि, नदी में जल की बाढ़ देखने से वृष्टि का (बारीशका) अनुमान करना। यहाँ कार्य शब्द से कार्यधर्म = लिंग जानना। अनुमान प्रयोग इस अनुसार है -

''उपरिवृष्टिमद्देशसंबन्धिनी नदी शीघ्रतरस्त्रोतस्त्वे फलफेनसमूहकाष्ठादिवहनत्वे सति पूर्णत्वात्, तदन्यनदीवत् ।''

यहाँ नदी के बाढरुप कार्य द्वारा उपरीतनदेशसंबंधित वृष्टि - बारीश (कारण) का अनुमान किया गया है। इसलिए शेषवत् अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट अर्थात् कार्य-कारणभाव से भिन्न अविनाभावि लिंग द्वारा जहाँ लिंगि का ज्ञान होता है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। जैसे कि, बगुलेकी पंक्ति द्वारा पानी का ज्ञान।

जहाँ जहाँ (आकाश में) बगुले की श्रेणी है, वहाँ वहाँ (नीचे) पानी होता है। ऐसे कार्य-कारणभाव से भिन्न अविनाभावि लिङ्ग (बगुले की पंक्ति) के द्वारा लिंगि ऐसे पानी का अनुमान किया जाता है। उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। अनुमान प्रयोग इस अनुसार है। **''बलाकाजहद्वृत्तिः प्रदेशो जलवान् बलाकावत्वात्, संप्रतिपन्नदेशवत् ।''** इस अनुमान के द्वारा लिंग बलाका (बगुले) की पंक्ति के द्वारा लिंगि पानी का अनुमान किया जाता है। क्योंकि, सामान्य से जहाँ जहाँ बगुले की श्रेणी आकाश में उडती होती है, वहाँ (पानीवाला प्रदेश) होता है। ऐसी व्याप्ति प्राप्त होती है।

अथवा (दूसरा उदाहरण देते है।) अन्य वृक्ष के उपर देखे हुए सूर्य को (कुछ समय के बाद) अन्य पर्वत के उपर देखने के द्वारा सूर्य की गति का अनुमान होता है। अनुमान प्रयोग इस अनुसार है -

''रवेरन्यत्र दर्शनं गत्यविनाभूतं, अन्यत्र दर्शनत्वात्, देवदत्तादेरन्यत्रदर्शनवत् ।''

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ जैसे अन्यत्र देखे हुए देवदत्तादिका, उससे दूसरे स्थान पे दर्शन होता है वह गतिपूर्वक है। अर्थात् देवदत्त की गति होने से गतिपूर्वक दो अलग स्थान पे देवदत्त का दर्शन होता है। वैसे सूर्य का वृक्ष के उपर दर्शन करने के बाद थोडे समय के बाद पर्वत के उपर दर्शन होता है वह गतिपूर्वक है। अर्थात् सूर्य की गति होने से (गतिपूर्वक) दो अलग स्थान पे सूर्य का दर्शन होता है। इस प्रकार से सूर्य की गति का अनुमान होता है। यहाँ (सूर्य का) अन्यत्र दर्शन गति का कार्य नहीं है। क्योंकि गति का कार्य तो संयोगादि है।

परन्तु दूसरे कुछ लोग सामान्यतोदृष्ट अनुमान को इस तरह वर्णन करते है - समान काल के स्पर्श की प्रतिपत्ति अकार्यकारणभूत रुप से होती है। वह प्रतिपत्ति सामान्यतोदृष्ट अनुमान से पेदा हुई है। अर्थात् रुप देखकर तत्समानकालवर्ती स्पर्श का अनुमान करना वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। यहाँ रुप न तो स्पर्श का कार्य है, कि न तो कारण है।

अनुमान प्रयोग इस अनुसार है । **"इदृशं स्पर्शं इदम् वस्त्रम्, एवंविधरुपत्वात्, तदन्यतादृशवस्त्रवत्"** अर्थात् इस वस्त्र का ऐसे प्रकार का स्पर्श है, क्योंकि कुछ खास प्रकार का रुप दिखता है। जैसे कि रुप-स्पर्शवाला अन्य वस्त्र।

अथवा एक आम के पेड को (आमके) फलवाला देखकर जगत में आम के वृक्ष फल देते है, इस अनुसार प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है। प्रयोग इस अनुसार है -**जगति पुष्पिता चुताः चूतत्वात्, दृष्टचूतवत्।**

अथवा [B-90]**पूर्वेण व्याप्तिग्राहकप्रत्यक्षेण तुल्यं वर्तत इति पूर्ववत्संबन्धग्राहकप्रत्यक्षेण विषयतुल्यत्वात्कथंचित्परिच्छेदक्रियाया अपि तुल्यतात्रानुमाने समस्तीति** [B-91]**क्रियातुल्यत्ववतः प्रयोगः सिद्धः,** तेन पूर्वप्रतिपत्त्या तुल्या प्रतिपत्तिर्यतो भवति, तत्पूर्ववदनुमानम् । **इच्छादयः परतन्त्रा गुणत्वात् रूपादिवदिति** । शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्तानां प्रतिषेधेऽन्यत्र प्रसङ्गासंभवाच्छिष्यमाणस्य संप्रत्ययः, **यथा गुणत्वादिच्छादीनां पारतन्त्र्ये सिद्धे शरीरादिषु प्रसक्तेषु प्रतिषेधः । शरीरविशेषगुणा इच्छादयो न भवन्ति, तद्गुणानां रूपादीनां स्वपरात्मप्रत्यक्षत्वेनेच्छादीनां च स्वात्मप्रत्यक्षत्वेन वैधर्म्यात् । नापीन्द्रियाणां विषयाणां वा गुणा** उपहतेष्वप्यनुस्मरणदर्शनात् । **न चान्यस्य प्रसक्तिरस्ति, अतः परिशेषादात्मसिद्धिः । प्रयोगश्चात्र, योऽसौ परः स आत्मशब्दवाच्यः, इच्छाद्याधारत्वात् । ये त्वात्मशब्दवाच्या न भवन्ति, त इच्छाद्याधारा अपि न भवन्ति, यथा शरीरादयः । अत्र प्रत्यक्षेणागृहीत्वान्वयं केवलव्यतिरेकबलादात्मनः प्रमा शेषवतः फलम् ।** यत्र धर्मी साधनधर्मश्च प्रत्यक्षः साध्यधर्मश्च सर्वदाऽप्रत्यक्षः साध्यते तत्सामान्यतोदृष्टम्[B-92] **। यथेच्छादयः परतन्त्रा गुणत्वाद्रुपवत् । उपलब्धिर्वा करणसाध्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत् । असाधारणकारणपूर्वकं जगद्वैचित्र्यं चित्रत्वाच्चित्रादिवैचित्र्यवदित्यादि सामान्यतोदृष्टस्यानेकमुदाहरणं मन्तव्यम् ।**

(B-90-91-92) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद : अब दूसरी तरह से तीनो अनुमानो को बताते है -

(१) **पूर्ववत् अनुमान :** पूर्व के व्याप्तिग्राहक प्रत्यक्ष के साथ अर्थात् (पहले कार्य-कारण के साहचर्यरुप व्याप्ति जिसके द्वारा ग्रहण की जाती है, उस प्रत्यक्ष के साथ) समान वर्तित होता है, वह पूर्ववत् संबंध के ग्राहक प्रत्यक्ष द्वारा, विषय तुल्य होने से (अर्थात् पहले जो व्याप्ति के ग्रहण समय विषय था वही विषय अभी उपस्थिति हुआ होने के कारण विषय तुल्य होने से) कथंचित् परिच्छेदक्रिया की भी तुल्यता यहाँ अनुमान में होती है। इस अनुसार क्रियातुल्यत्ववालो का प्रयोग सिद्ध है। इसलिए पूर्व की प्रतिपत्ति (ज्ञान) से तुल्यप्रतिपत्ति (वर्तमानमें) जिससे होती है, उसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है। जैसे कि, **"इच्छादयः परतन्त्राः गुणत्वात् रुपादिवत् ।"** जैसे रुपादिगुण होने से परतंत्र है, वैसे इच्छादि भी गुण होने से परतंत्र है।

आशय यह है कि रुपादि परतंत्र है, ऐसा पहले ज्ञान हुआ है। क्योंकि गुण हमेशां परतंत्र होते है। इस ज्ञान द्वारा इच्छादि गुण भी परतंत्र है ऐसा तुल्यज्ञान होता है। यह (तुल्य प्रतीतिका) ज्ञान जिससे होता है वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

"जो गुण है, वह परतंत्र (द्रव्य के आश्रय में) होते है।" ऐसी पूर्वव्याप्ति के ग्राहक प्रत्यक्ष से (जब) समान विषय उपस्थित होता है (= इच्छादि भी गुण है इसलिए समान विषय उपस्थित होता है।) तब (पहले ग्रहण किये हुए व्याप्ति के ग्राहक प्रत्यक्ष से) वर्तमान में भी (रुपगुण होने से परतंत्र है, उस प्रकार इच्छादि भी गुण होने से परतंत्र है, ऐसी) समान तुल्य प्रतिपत्ति जिससे होती है, वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

(२) **शेषवत्अनुमान :** शेषवत् अर्थात् **परिशेष**। प्रसक्तो के प्रतिषेध में अन्यत्र प्रसंग का संभव न होने से बाकी (शेष) रहेनावाला का ज्ञान करे वह परिशेष। यानी कि... प्रसक्त अर्थात् जिसमें प्रकृत पदार्थ के रहनेकी संभावना हो सकती है, वे पदार्थो का निषेध करने से, जब अन्य कोई अनिष्ट अर्थ की संभावना न रहे, तब शेष रहे हुए इष्ट पदार्थ की प्रतिपत्ति कराता है, वह परिशेषानुमान कहा जाता है।

जैसे कि, गुण होने के कारण इच्छादि का पारतंत्र्य सिद्ध होने पर भी शरीरादि प्रसक्तो में (इच्छादिका) प्रतिषेध है। क्योंकि शरीर के विशेषगुण इच्छादि नहीं है। क्योंकि शरीर के गुण रुपादि है। और शरीर के रुपादि गुणो का स्व-पर दोनो आत्मा को प्रत्यक्ष होता है। जब कि इच्छादि का स्व-आत्माको ही प्रत्यक्ष होता है। इस वैधर्म्य से इच्छादि शरीर के गुण नहीं है।

इच्छादिगुण इन्द्रियो के या विषयो के भी नहीं है। क्योंकि इन्द्रियो का हनन होने के बाद (इन्द्रियो का नाश होने के बाद) भी इच्छादि का अनुस्मरण दिखाई देता है और शरीर, इन्द्रिय और विषयके सिवा अन्य की भी प्रसक्ति नहीं है। इसलिए परिशेष से (इच्छादि गुणो के आधार के रुप में) आत्मा की सिद्धि होती है। यहाँ अनुमान प्रयोग इस अनुसार है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योऽसौ परः स आत्मशब्दवाच्यः, इच्छाद्याधारत्वात् । अर्थात् जो यह पर है, वह आत्मा शब्द से वाच्य है, क्योंकि इच्छादि का आधार है । उपरांत "**ये आत्मशब्दवाच्या न भवन्ति, त इच्छाद्याधार अपि न भवन्ति, यथा शरीरादयः** ।" अर्थात् जो "**आत्मा**" शब्द वाच्य से नहीं है , वह इच्छादि का आधार भी नहीं है। जैसे कि, शरीरादि। इस व्यतिरेकव्याप्ति से इच्छादि के आधार के रुप में आत्मा की सिद्धि होती है ।

यहाँ शेषवत् अनुमान में प्रत्यक्ष से अन्वय गृहीत (ग्रहण होता) न होने से केवल व्यतिरेकी के बल से आत्मा की जो प्रमा (ज्ञान) होती है, वह शेषवत् अनुमान का फल है ।

(३) **सामान्यतोदृष्ट :** जहाँ धर्मी (पक्ष) और साधनधर्म (हेतु) प्रत्यक्ष और साध्यधर्म हंमेशां ही अप्रत्यक्ष साधित होता है । उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है ।

जैसे कि **इच्छादयः परतन्त्रा गुणत्वात्, रुपवत् । उपलब्धिः करणसाध्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् । असाधारणकारणपूर्वकं जगद्वैचित्र्यं चित्रत्वात्, चित्रादिवैचित्र्यवद्** ।" इत्यादि सामान्यतोदृष्ट अनुमान के अनेक उदाहरणो को जानना ।

ननु साध्यधर्मस्य सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वेन साध्येन हेतोः कथं व्याप्तिग्रहणमिति चेत्, उच्यते । धर्मिण इच्छादेः प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वं गुणत्वकार्यत्वादेरपि साधनस्य तद्धर्मत्वं प्रतिपन्नमेव । पारतन्त्र्येण च स्वसाध्येन तस्य व्याप्तिरध्यक्षतो रूपादिष्ववगतैव । साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिरपि प्रमाणान्तरादेवावगता । नन्वेवं (B-93)**पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टानां परस्परतः को विशेषः ? उच्यते । इच्छादेः पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपत्तौ गुणत्वं कार्यत्वं वा पूर्ववत्, तदेवाश्रयान्तरबाधया विशिष्टाश्रयत्वेन बाधकेन प्रमाणेनावसीयमानं शेषवतः फलम्, तस्य साध्यधर्मस्य धर्म्यन्तरे प्रत्यक्षस्यापि तत्र धर्मिणि सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वं सामान्यतोदृष्टव्यपदेशनिबन्धनम् । अतस्त्रयाणामेकमेवोदाहरणम् । तदेवं कारणादित्रैविध्यात्त्रिप्रकारं लिङ्गं प्रमितिं जनयत्तत्पूर्वकं सदनुमानमिति द्वितीय व्याख्यानम् । अत्र व्याख्याद्वये प्रथमव्याख्यानमेव बहूनामध्ययनप्रभृतीनामभिमतम् । तत्र च पूर्ववदादीनां व्याख्या द्वितीयव्याख्याने या चतुःप्रकाराभिहिता सैव द्रष्टव्येति ।।**

टीकाका भावानुवाद :

शंका : यदि साध्यधर्म सर्वदा अप्रत्यक्ष हो, तो साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति का ग्रहण किस तरह से होगा ? क्योंकि दोनो संबंधिओ का प्रत्यक्ष हो, तब ही होता है न ?

समाधान : धर्मि ऐसे इच्छादि प्रत्यक्ष से प्रतिपन्न है (-दीखते है ।) वैसे गुणत्व-कार्यत्वादि साधन भी धर्मि के धर्मपन से प्रतिपन्न ही है और स्वसाध्य ऐसे पारतंत्र्य के साथ गुणत्व की व्याप्ति रुपादि में मालूम

(B-93) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती ही है। (अर्थात् इच्छादि धर्मी तो "**अहमिच्छावान्**" ऐसे मानसप्रत्यक्ष से सिद्ध ही है। उसी प्रकार उसमें रहनेवाले गुणत्व या कार्यत्वरुप साधनधर्मो का भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है। उस साधनो की पारतंत्र्यरुप साध्य के साथ व्याप्ति भी रुपादि में प्रत्यक्ष से देखी ही जाती है, कि रुपादि गुण भी है और घटादि (द्रव्य) के आश्रित भी है।) इस तरह परतंत्रत्वरुप साध्य की व्यावृत्ति से गुणत्वरुप साधन की व्यावृत्ति भी प्रमाणान्तर से ही जान ली जाती है।

प्रश्न : पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट, ये तीनो में परस्पर क्या विशेष (भेद) है ?

उत्तर : यहाँ एक ही उदाहरण लेके तीनो में क्या विशेषता है वह बताते है। "**इच्छादेः परतन्त्रा, गुणत्वात्, कार्यत्वात् वा रुपवत्।**" इच्छादि के पारतंत्र्यमात्र की प्रतिपत्ति में (ज्ञानमें) गुणत्व अथवा कार्यत्व हेतु पहले है, इसलिए पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है। क्योंकि कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसे कि गुणत्व हेतु से इच्छादि में पारतंत्र्य का ज्ञान किया जाता है। यहाँ हेतु पूर्व में (पहले) होने से पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

गुण होने के कारण इच्छादि का पारतंत्र्य सिद्ध होते हुए, वह इच्छादि का (आत्मा के सिवा) दूसरे आश्रय का बाध होने से आत्मा ही विशेष आश्रय होने के कारण (इच्छादि की आत्मा के सिवा अन्य शरीरादि में प्रसक्ति का निषेध बताते हुए बाधक प्रमाण के द्वारा इच्छादिक के आश्रय के रुप में) आत्मा मालूम होता है। वह शेषवत् अनुमान का फल है। (सारांश में, "जो 'आत्मा' शब्द से वाच्य नहीं है, वह इच्छादि का आधार भी नहीं है।" इस व्यतिरेकव्याप्ति से इच्छादिके आधार के रुप में आत्मा की प्रमा (ज्ञान) करना वह शेषवत् अनुमान का फल है। अर्थात् पूर्ववत् अनुमान से इच्छादि का पारतंत्र्य सिद्ध होता है और शेषवत् अनुमान से इच्छादि के आधार के रुप में आत्मा की सिद्धि होती है।)

उस साध्यधर्म पारतंत्र्य के दूसरे धर्मी ऐसे रुप में प्रत्यक्षत्व होने पर भी, वहाँ इच्छादि धर्मी में सर्वदा अप्रत्यक्षत्व है। यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान के व्यपदेशका कारण है। इसलिए "**इच्छादयः परतन्त्रा, गुणत्वात्, कार्यत्वात् वा रुपवत्**। यह एक ही उदाहरण तीनो प्रकार के अनुमान का है।

इसलिए इस तरह कारणादि तीन प्रकार होने से, तीन प्रकार का लिंग प्रमिति (यथार्थ ज्ञान) को उत्पन्न करने से, तत्पूर्वक (अर्थात् तीन प्रकार के लिंगपूर्वक) सत्य अनुमान होता है। इस तरह से द्वितीय व्याख्यान है।

यहाँ दो व्याख्यान में प्रथम व्याख्यान ही बहोत लोग को अध्ययन इत्यादि में इच्छित है और वहाँ पूर्ववत् आदि की व्याख्या द्वितीय व्याख्यान में जो चार प्रकार से कही हुई है, वही जानना।

अथ शास्त्रकार एव बालानामसंमोहार्थं शेषव्याख्याप्रकारानुपेक्ष्यानुमानस्य त्रिविधस्य विषयज्ञापनाय पूर्ववदादीनि पदानि व्याख्यानयन्नाह "तत्राद्यम्" इत्यादि । तत्र तेषु पूर्ववदादिष्वाद्यं पूर्ववदनुमानं किमित्याह-कारणाल्लिङ्गात्कार्यस्य लिङ्गिनोऽनुमानं ज्ञानं कार्यानुमानम्, इहानुमानप्रस्तावे,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीयते प्रोच्यते । कारणात्कार्यमनुमानमिहोदितमिति पाठो वा । तत्रास्तीतिशब्दाध्याहारे कारणात्कार्यमस्तीत्यनुमानम् । कारणात्कार्यमस्तीति ज्ञानमिहानुमानप्रस्ताव उदितं प्रोक्तम् । पाठद्वयेऽप्यत्र यल्लिङ्गिज्ञानमनुमानशब्देनोचे, तद्द्वितीयव्याख्यानकारिणां मतेन, न तु प्रथमव्याख्यानकर्तृमतेन । प्रथमव्याख्याकारिमतेन हि ज्ञानस्य हेतुरेवानुमानशब्दवाच्यः स्यात् । एवं शेषवत्यपि ज्ञेयम् । यत्र कारणात्स्वज्ञानविशिष्टात्कार्यस्य ज्ञानं भवति, तत्पूर्ववदनुमानम् । अत्र ह्यर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति वचनात्कार्यज्ञानमनुमानस्य फलं, तद्धेतुस्त्वनुमानं प्रमाणम् । तेनात्र कारणं वा तज्ज्ञानं वा कार्यकारणप्रतिबन्धस्मरणं वा कार्यं ज्ञापयत्पूर्ववदनुमानमिति ।। १७-१८-१९ ।।

टीकाका भावानुवाद :

अब ग्रंथकार श्री ही बालजीवो को (इतनी सारी अनुमान के विषय की चर्चा में) संमोह न हो, इसलिए शेष (बाकी रहीं) व्याख्याओ के प्रकारो की उपेक्षा करके तीन प्रकार के अनुमान के विषय को बताने के लिए ''पूर्ववत्'' आदि पदो की व्याख्या करते हुए कहते है कि ''**तत्राद्यम्....**'' इत्यादि ।

यहाँ शिष्य को जानने की इच्छा होती है कि, वहाँ अनुमान के पूर्ववत् आदि तीन प्रकार में प्रथम ''पूर्ववत्'' अनुमान क्या है ? इसका उत्तर देते हुए बताते है कि - कारण (लिंग) से कार्य (लिंगी) का ज्ञान हो वह कार्यानुमान । अर्थात् यहाँ अनुमान प्रस्ताव में यह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है । अथवा कारण से कार्य के अनुमान को यहाँ अनुमान प्रस्ताव में पूर्ववत् अनुमान कहा गया है ।

श्लोक में ''**अस्ति**'' शब्द का अध्याहार है । इसलिए कारण से कार्य है, इस अनुसार अनुमान होता है ।

यहाँ अनुमान प्रस्ताव में कारण से कार्य है, इस अनुसार के ज्ञान को पूर्ववत् अनुमान कहा गया है ।

दोनो पाठो में भी यहाँ जो लिंगीज्ञान है, वह अनुमान शब्द से कहा गया है और वह भी दूसरे व्याख्यानकार के मत से कहा गया है । परन्तु प्रथम व्याख्यानकार के मत से नहीं । प्रथम व्याख्यान के मतानुसार तो हेतु ही अनुमान शब्द से वाच्य है । अर्थात् साध्य का ज्ञान जिससे हो, वह हेतु ही अनुमान शब्द से वाच्य है ।

इस अनुसार शेषवत् अनुमान में भी जानना । जहाँ स्वज्ञान के विशिष्टकारण से कार्य का ज्ञान होता है, उसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है ।

यहाँ ''**अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्**'' अर्थात् अर्थ-पदार्थ की उपलब्धि (ज्ञान) में कारण हो उसे प्रमाण कहा जाता है । इस वचन से कार्यज्ञान अनुमान का फल है और कार्यज्ञान का हेतु अनुमान प्रमाण है ।

इसलिए यहाँ कारण या कारण का ज्ञान या कार्यकारण के संबंध का स्मरण, सब कार्य को बताता होने से पूर्ववत् अनुमान है । ।।१७-१८-१९।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्योदाहरणमाह -

अब पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण कहते है। यथा–

(मू. श्लोक.) रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।

वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः[B-94] **।।२०।।**

श्लोकार्थ : जैसेकि भौरा, भैंसा, साँप, हाथी और तापिच्छवृक्षो के (तमालवृक्षो के) जैसी मलिन (श्याम) कान्ति है जिसकी, ऐसे बादल ज्यादातर वृष्टि के व्यभिचारि नहीं होते है। अर्थात् अवश्य वृष्टि (बारीश) करनेवाले होते ही है। (इसलिए ऐसे प्रकार के बादलो को देखकर बारीश का अनुमान होता है।) ।।२०।।

व्याख्या-'यथेति' निदर्शनदर्शनार्थः । रोलम्बा भ्रमराः, गवला अरण्यजातमहिषाः, व्याला दुष्टगजा सर्पाश्च, तमालास्तापिच्छवृक्षः । तद्वन्मलिनाः श्यामलास्त्विषः कान्तयो येषां ते तथा । एतेन मेघानां कान्तिमत्ता वचनेनानिर्वचनीया काप्यतिशयश्यामता व्यज्यते, 'एवंप्रायाः' एवंशब्द इदंप्रकारवचनः । प्रायशब्दो वाहुल्यवाचकः । **तत एवमिदं प्रकाराणां प्रायो बाहुल्यं येषु त एवंप्राया ईदक्प्रकारबाहुल्या इत्यर्थः । एतेन गम्भीरगर्जितत्वाचिरप्रभावत्त्वादिप्रकाराणां बाहुल्यं मेघेषु सत्सूचितम् । उक्तविशेषणविशिष्टा मेघा इह जने वृष्टिं न व्यभिचरन्ति, वृष्टिकरा एव भवन्तीत्यर्थः । प्रयोगस्तु सूत्रव्याख्यावसरोक्त एवात्रापि वक्तव्यः ।।२०।।**

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : श्लोक में दिया गया "यथा" पद उदाहरण को बताने के लिए संकेत है। रोलम्ब यानि भौंरा, गवल अर्थात् जंगल में उत्पन्न हुआ भैंसा, व्याल अर्थात् दुष्ट हाथी और सर्प, तमाल अर्थात् तापिच्छवृक्ष। भौंरा, भैंसा, सर्प और तापिच्छवृक्षो का जैसी काली (श्याम) कान्तिवाला मेघ है। इसलिए (मेघ की भौंरे आदि के साथ तुलना करने से) बादलो की श्यामकान्तिमत्ता वचन से न कही जा सके ऐसी अतिशय श्याम है, वह सूचित किया जाता है। "**एवंप्रायाः**" पद में '**एवं**' शब्द "**इदं**" प्रकार को सूचित करता हुआ वचन है। "**प्रायः**" शब्द बाहुल्य का वाचक है।

इसलिए यह "**एवं इदं प्रकाराणां प्रायो बाहुल्यं येषु ते एवंप्राया ईदृक्प्रकारबाहुल्या ।**" अर्थात् इस व्युत्पत्ति अनुसार "**एवंप्रायः**" का "**ईदृकप्रकारबाहुल्य**" अर्थ होता है। इससे गभीरगर्जनापन और अचिरप्रभावपन इत्यादि प्रकार ज्यादातर बादलो में सूचित होते है। उक्त विशेषण से विशिष्ट अर्थात् भौंरादि के जैसी काली कान्तिवाला मेघ लोक में बारीश को (वृष्टि को) व्यभिचरित नहीं करता है। अर्थात् वृष्टि करनेवाला ही होता है। यानी कि भौंरा, भैंसा, साँप, हाथी और तमाल के पेड़ो की भांति श्यामकान्तिवाला

(B-94) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेघ गंभीरगर्जना और अचिरप्रभाव से युक्त होने से वृष्टि (बारीश) बरसाता ही है।

अनुमान प्रयोग, सूत्र की व्याख्या करते वक्त कहा हुआ, वही प्रयोग यहाँ भी कहना चाहिए। वह ये रहा "**अमी मेघा वृष्ट्युत्पादका, गम्भीरगर्जितत्वेऽचिरप्रभावत्वे च सत्यत्युन्नतत्वात्। ॥२०॥**

अथ शेषवद्व्याख्यामाह -

अब शेषवत् अनुमान की व्याख्या को कहते है।

(मू. श्लोक.) कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम् ।
तथाविधनदीपूराद्देवो वृष्टो यथोपरि ।।२१।।

श्लोकार्थ : कार्य से कारण का अनुमान होता है, उसे शेषवत् अनुमान माना जाता है। जैसे कि, तथाविध नदीकी बाढ़ को देखने से उपरीतनवास में (उपर के गाँवो या प्रदेशो में) बारीश हुई है (ऐसा अनुमान होता है।) अर्थात् नदी की बाढ़ कार्य है, उसे प्रत्यक्ष देखने से उसकी कारण बरसात का अनुमान होता है। ॥२१॥

व्याख्या-कार्याल्लिङ्गात्कारणस्य लिङ्गिनोऽनुमानं ज्ञानं यत्, चकारः प्रागुक्तपूर्ववदपेक्षया समुच्चये, तच्छेषवन्मतम् । अयमत्र तत्त्वार्थः । **यत्र कार्यात्कारणज्ञानं भवति, तच्छेषवदनुमानम् । अत्रापि प्राग्वत्कारणज्ञानस्य हेतुः कार्यं कार्यदर्शनं तत्सबन्धस्मरणं चानुमानशब्देन प्रतिपत्तव्यम् । यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः प्रथममत्र योज्यः । तथाविधशीघ्रतरस्त्रोतस्त्वफलफेनादिवहनत्वोभय-तटव्यापित्वधर्मविशिष्टो यो नदीपूरस्तस्माल्लिङ्गादुपरिदेशे देवो मेघो वृष्ट इति ज्ञानम् । अत्र प्रयोगः प्राग्वत् ।।२१।।**

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : कार्यरुप (लिंगसे) कारणरुप (लिंगि) का ज्ञान (अनुमान) जो है, वह शेषवत् अनुमान कहा जाता है। (यहाँ जिस के द्वारा ज्ञान हो वह लिंग और जिसका ज्ञान हो वह लिंगि कहा जाता है। तदनुसार शेषवत् अनुमान में कार्य से कारण का ज्ञान-अनुमान होता है। इसलिए कार्य को लिंग के रुप में तथा कारण को लिंगि के रुप में बताया है, ऐसा जानना।)

"**च**" कार पहले कहे हुए पूर्ववत् अनुमान की अपेक्षा से समुच्चयार्थक है। यहाँ तात्पर्यार्थ यह है कि.. कार्य से कारण का अनुमान (ज्ञान) जहाँ होता है, उसे शेषवत् अनुमान कहा जाता है।

यहाँ भी पहले की तरह कारणज्ञान का हेतु कार्य, कार्य का दर्शन तथा कार्य-कारण के संबंध का स्मरण अनुमान शब्द से स्वीकार करना। अर्थात् कार्य, कार्य का दर्शन और कार्य-कारण के संबंध का स्मरण सब कारण को बताता होने से शेषवत् अनुमान है।

उदाहरण के उपन्यास अर्थे प्रयोजित '**यथा**' शब्द, कि जो आखिर में है, वह यहाँ पहले रखना। शेषवत्

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान का उदाहरण इस अनुसार है ।

जैसे कि, वैसे प्रकार का शीघ्र प्रवाह, फल-फेनादि का बहना, दोनो किनारो को व्याप्त आदि धर्म से विशिष्ट जो नदी की बाढ़ है, उस लिंग से उपरीतनवास में (उपर के गांव या प्रदेश में) बरसात हुई है, इस अनुसार ज्ञान होता है । यहाँ अनुमान प्रयोग पहले की तरह जानना । वह इस अनुसार है - **''उपरिवृष्टिमद्देशसंबन्धिनी नदी शीघ्रतरस्त्रोतत्वे फलफेनसमूहकाष्ठादिवहनत्वे च सति पूर्णत्वात्, तदन्यनदीवत् । ॥२१॥**

क्रमप्राप्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान की व्याख्या करते हुए ग्रंथकारश्री कहते है कि -

(मू. श्लोक.) यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं गतिपूर्विका ।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा ।। २२ ।।

श्लोकार्थ : उपरांत, जो (कार्य-कारणभाव से अन्यत्र सामान्यतः अविनाभाव के द्वारा दिखता लिंग) है, वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। जैसे कि, पुरुष एक जगह से दूसरी जगह पहुँचता है, वह गतिपूर्वक होता है, वैसे सूर्य भी एक जगह से दूसरी जगह गतिपूर्वक पहुँचता है। ॥२२॥

व्याख्या-चः पुनरर्थे, यत्पुनः कार्यकारणभावादन्यत्र सामान्यतोऽविनाभावबलेन दृष्टं लिङ्गं सामान्यतोदृष्टं, तदेवम् । कथमित्याह-**यथा पुंस्येकस्माद्देशाद्देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका तथा सूर्येऽपि सा देशान्तरप्राप्तिस्तथा गतिपूर्विका । अत्र देशान्तरप्राप्तिशब्देन देशान्तरदर्शनं ज्ञेयम् । अन्यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वेन शेषवतोऽनुमानादस्य भेदो न स्यात् । यद्यपि गगने संचरतः सूर्यस्य नेत्रावलोकप्रसराभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाप्युदयाचलात्कालान्तरेऽस्ताचलचूलिकादौ तद्दर्शनं गतिं गमयति ।** प्रयोगः पुनः पूर्वमुक्त एव **। अथवा देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वं लोको न प्रत्येतीति इदमुदाहरणं कार्यकारणभावाविवक्षयात्रोपन्यस्तम् ।** प्रयोगस्त्वेवम्, **सूर्यस्य देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तित्वाद्देवदत्तदेशान्तरप्राप्तिवत् ।।२२।।**

टीकाका भावानुवाद :

''च'' पुनः अर्थ में है। उपरांत कार्यकारण भाव से अन्यत्र सामान्यतः अविनाभाव के बल से जो लिंग देखा जाये, उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। जैसे, पुरुष की एकदेश से दूसरे देश की प्राप्ति गतिपूर्वक होती है। वैसे सूर्य में भी देशान्तरप्राप्ति गतिपूर्वक होती है।

मतलब यह है कि, पुरुष की देशान्तरप्राप्ति गति द्वारा है। ऐसा देखने के बाद सूर्य की भी देशान्तरप्राप्ति गति के द्वारा होती है। ऐसा जो अनुमान करना वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है।

यहाँ देशान्तरप्राप्ति शब्द से देशान्तर का दर्शन जानना, नहि तो देशान्तरप्राप्तिरुप कार्य गतिरुप कारण का कार्य होने से (कार्य से कारण के अनुमान (ज्ञान) रुप) शेषवत् अनुमान से इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फर्क नहीं रहेगा। (और देशान्तरप्राप्ति शब्द से देशान्तरदर्शन अर्थ करेंगे तो वे दोनो में फर्क रहेगा। वह इस प्रकार से–शेषवत् अनुमान में नदी की बाढ रुप कार्य से उपरीतनवास में बरसात (कारण) का अनुमान होता है। यहाँ नदी की बाढ का स्थान और बरसात होने का स्थान ये दोनो में से केवल नदी की बाढ़ को देखकर बरसात का अनुमान किया जाता है। परन्तु बरसात जहाँ हुई है, उस स्थान का दर्शन नहीं होता। जब कि, सामान्यतो दृष्ट अनुमान में उदयाचल के स्थान पे देखे हुआ सूर्य कालान्तर में अस्ताचल की चूलिका में पहुँचता है, तब भी सूर्य का दर्शन होता है। इसलिए देशान्तरप्राप्ति शब्द से देशान्तरदर्शन अभिप्राय लेने से दोनो अनुमानो में भेद स्पष्ट रुप से समजा जा सकता है। उपरांत केवल **"देशान्तरप्राप्ति"** शब्द ही रखा जाये तो असमंजस (द्विधा) होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि दोनो अनुमानो में देशान्तर की प्राप्ति तो होती ही नहीं है। इसलिए देशान्तरप्राप्ति का देशान्तरदर्शन मंतव्य दोनो अनुमानो में भेद को सूचित करने के लिए ग्रहण किया गया है, वह योग्य ही है।)

यद्यपि (वैसे तो) आकाश में संचरित सूर्य की गति नेत्र के नीरिक्षण के प्रसर का अभाव होने से दीखती नहीं है, फिर भी उदयाचल (पूर्व दिशा से) कालान्तर में (दूसरे समय पे) अस्ताचल (पश्चिम दिशा की) चूलिका आदि में होता सूर्य का दर्शन सूर्य की गति को बताता है। उपरांत, प्रयोग पहले कहा उस अनुसार से जानना। अथवा देशान्तरप्राप्ति गति का कार्य है, ऐसा लोक नहीं जानता है। इस अनुसार यहाँ कार्य–कारण भाव की विवक्षा के बिना (लोकप्रसिद्ध) दृष्टान्त दिया हैं। प्रयोग इस प्रकार है–

"सूर्यस्य देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तित्वात्, देवदत्तदेशान्तरप्राप्तिवत् ॥२२॥

उपमानलक्षणमाह – अब ग्रन्थकारश्री उपमान का लक्षण कहते है –

(मू. श्लोक.) प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
B-95उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ।।२३।।

श्लोकार्थ : प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध (का ज्ञान करानेवाला) साधन **उपमान प्रमाण** कहा जाता है। अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से अप्रसिद्ध की सिद्धि करनेवाला उपमान प्रमाण है। जैसे कि **'जैसी गाय होती है, वैसा गवय होता है।'** (अर्थात् प्रसिद्ध गाय के आधार से अप्रसिद्ध गवय का ज्ञान उपमानप्रमाण कराता है।) ॥२३॥

व्याख्या-"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् (१, १, ६)" इति [न्याय] सूत्रम् । **अत्र यत इत्यध्याहार्यम्, ततश्च प्रसिद्धेन वस्तुना गवा यत्साधर्म्यं समानधर्मत्वं तस्मात्प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयगतस्य साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्य साधनं प्रतिपत्तिर्यतः साधर्म्यज्ञानाद् भवति तदुपमानं समाख्यातम् । साधर्म्यस्य च B-96प्रसिद्धिरागमपूर्विका । तत** आगमसंसूचनायाह-**यथा गौस्तथा गवय इति । गवयोऽरण्यगवयः,** अयमत्र भावः **। कश्चित्प्रभुणा**

(B-95-96) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गवयानयनाय प्रेषितस्तदर्थमजानानस्तमेवाप्राक्षीत् कीदृग्गवय इति, स प्रोचे यादृग्गौस्तादृग्गवय इति । ततः सोऽरण्ये परिभ्रमन्समानमर्थं यदा पश्यति, तदा तस्य तद्वाक्यार्थस्मृतिसहायेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षाद्गोसदशोऽयमिति यत्सारूप्यज्ञानमुत्पद्यते, तत्प्रत्यक्षफलं, तदेवाव्यभिचार्यादिविशेषणमयं स गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिं जनयदुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तूप-मानस्य फलम् । न पुनरागमिकी सा, शब्दस्य तज्जनकस्य तदानीमभावात् । गवयपिण्डविषये च हेयादिज्ञानं यदुत्पद्यते तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वात्प्रत्यक्षफलम् ।।२३ ।।

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : **प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।।२।२।६।।**

यहाँ न्यायसूत्र में "**यतः**" अध्याहार से समजना। इसलिए सूत्र का इस तरह का अर्थ होगा। [(१३)]प्रसिद्ध वस्तु ऐसी गाय के साथ जो साधर्म्य है, इससे अप्रसिद्ध ऐसे गवय में रहनेवाले साध्य की संज्ञासंज्ञिसंबंध के साधन की प्रतिपत्ति (ज्ञान) साधर्म्यज्ञान से होती है, उसे उपमान कहा जाता है।"

और साधर्म्यकी प्रसिद्धि आगमपूर्वक है। इसलिए आगम का सूचन कहता है कि "**यथा गौस्तथा गवयः**" अर्थात् जैसी गाय होती है वैसी गवय होती है। गाय और गवय का साधर्म्य आगम द्वारा सूचित किया है। यहाँ गवय-जंगली पशुविशेष जानना।

कहने का भाव यह है कि, किसी मालिक के द्वारा अपने नोकर को (जंगल में से) गवय लेने के लिए भेजा गया। तब वह नौकर उस गवय को जानता न होने से उसने अपने स्वामी को पूछा कि गवय किस प्रकार का होता है। तब स्वामीने कहा कि - जैसी गाय होती है वैसा गवय होता है।

उसके बाद जंगल में घूमता घूमता जब गाय के समान अर्थ देखता है, तब उसको "**जैसी गाय होती**

(१३) गाय वह प्रसिद्ध पशु है और गवय (जंगली गाय जैसा पशु) है, यह किसी नगरवासी इन्सान को अप्रसिद्ध अर्थात् अज्ञात है और नगरवासी को किसीने कहा कि "**यथा गोस्तथा गवयः**" अर्थात् जैसी गाय हो वैसा गवय होता है। इस वाक्य को नैयायिको ने अतिदेशवाक्य कहा है। (**एकत्र श्रुतस्यान्यत्र संबंधोऽतिदेशः ।**) (अर्थात् एक जगह पे सुने हुएका अन्यत्र संबंध करना उसे अतिदेश कहा जाता है।) बाद में वह इन्सान जंगल में किसी वक्त गया। गाय जैसा पशु देखा और जाना कि यह गाय जैसा पशु है, फिर "**यथा गौस्तथा गवयः**" इस अतिदेश वाक्य का उसको स्मरण हुआ। इस अनुसार अतिदेशवाक्य के स्मरण के साथ सादृश्यज्ञान से इस पशु का नाम गवय है, ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इस ज्ञान का नाम उपमितिज्ञान कहा जाता है। और सादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण के रुप में माना जाता है।

सादृश्यज्ञान से जो वाच्य-वाचकभावरुप संबंध का ज्ञान होना, उसका नाम उपमितिज्ञान । तर्कसंग्रह-न्यायबोधिनी में कहा है कि, "**पदपदार्थसम्बन्धज्ञानमुपमितिः**" । अर्थात् पद और पदार्थ के संबंध का ज्ञान वह उपमिति । यहाँ "**गोसदृशगवयपदवाच्यः**" इत्याकारक स्मरण उपमिति के प्रति व्यापार है और "**असौ गवयपदवाच्यः**" इत्याकारक "उपमिति" फल है अर्थात् उपमान का कार्य है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वैसा गवय होती है।'' यह वाक्यार्थ (अतिदेश वाक्यार्थ) का स्मरण होता है। उस वाक्यार्थ का स्मरण और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गाय की समान यह है, इस अनुसार जो सारुप्यज्ञान (सादृश्यज्ञान) उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्षफल है। और वही सारुप्यज्ञान अव्यभिचारि आदि विशेषण से युक्त ''**स गवयशब्द-वाच्यः**'' इस अनुसार संज्ञासंज्ञिसंबंध ज्ञान को (उपमिति को) उत्पन्न करता उपमान है। परन्तु संज्ञासंज्ञिसंबंध का ज्ञान (उपमिति) उपमान का फल है। उपरांत वह संज्ञा संज्ञि संबंध की प्रतिपत्ति (उपमिति) आगमिक नहीं है। क्योंकि उपमिति के जनक शब्द का अभाव है। अर्थात् जैसी गाय है वैसा गवय होती है यह वाक्यार्थ जब जंगल में गवय का प्रत्यक्ष हो तब साक्षात् नहीं होता, परन्तु वाक्यार्थ का स्मरणमात्र होता है। और गवय के पिंडविषय में जो हेयादि (त्याज्यादि) का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता होने से प्रत्यक्षफल है। ॥२३॥

अथ तुर्यं शाब्दमाह –

अब चौथा शब्द (= आगम) प्रमाण को कहते है।

(मू. श्लोक.) [B-97]**शाब्दमाप्तोपदेशस्तु मानमेवं चतुर्विधम् ।**
प्रमेयं त्वात्मदेहाद्यं बुद्धीन्द्रियसुखादि च ।।२४।।

श्लोकार्थ : आप्तपुरुष का उपदेश शाब्दप्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार चार प्रकार के प्रमाण है। उपरांत आत्मा, देह आदि तथा बुद्धि, इन्द्रिय, सुखादि (बारह) प्रमेय है। ॥२४॥

व्याख्या-**शब्दजनितं शाब्दमागम इत्यर्थः** ।तुर्भिन्नक्रमे, शाब्दं तु प्रमाणमाप्तोपदेशः **।आप्त एकान्तेन सत्यवादी हितश्च, तस्योपदेशो वचनमाप्तोपदेशः; । तज्जनितं तु ज्ञानं शाब्दस्य फलम् । मानं प्रमाणमेवमुक्तविधिना चतुर्विधम्** । तदेवं प्रथमं प्रमाणतत्त्वं व्याख्याय संप्रति द्वितीयं प्रमेयतत्त्वं व्याख्यातुमाह-"**प्रमेयं त्वात्मदेहाद्यम्**" **।प्रमेयं तु प्रमाणफलम् ग्राह्यं पुनरात्मदेहाद्यम्, आत्मा जीवः, देहो वपुः, तावाद्यौ यस्य तदात्मदेहाद्यम् । बुद्धीन्द्रियसुखादि च प्रमेयम् । बुद्धिर्ज्ञानं, इन्द्रियं चक्षुरादिमनःपर्यन्तं, सुखं सातं तान्यादीनि यस्य तद्बुद्धीन्द्रियसुखादि ।चकार आत्मदेहाद्यपेक्षया समुच्चये ।अत्र विशेषणद्वय आद्यशब्देनादिशब्देन च शेषाणामपि सप्तानां प्रमेयानां संग्रहो द्रष्टव्यः ।तथा च नैयायिकसूत्रम् ।** "[B-98]आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधं तदिति प्रमेयम् । (१, १, ९) । [B-99]**तत्र शरीरादिदुःखपर्यन्तं हेयं, अपवर्ग उपादेयः, आत्मा तु कथञ्चिद्धेयः कथञ्चिदुपादेयः, सुखदुःखादि भोक्तृतया हेयः तदुन्मुक्ततयोपादेय इति । तत्रेच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानादीनामाश्रय** आत्मा[B-100] **। सचेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मैरात्मा**

(B-97-98-99-100) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीयते १ । तद्भोगायतनं शरीरम्[C-1] २ । [C-2]पञ्चेन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि ३ । [C-3]पञ्चार्था रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः । [C-4]तत्र गन्धरसरुपस्पर्शाश्चत्वारः पृथिवीगुणाः, रूपरसस्पर्शास्त्रयोऽपां गुणाः, रूपस्पर्शौ तेजसो गुणौ, एकः स्पर्शो वायोर्गुणः, शब्द आकाशस्य गुण इति ४ । [C-5]बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थः सा क्षणिका, भोगस्वभावत्वाच्च संसारकारणमिति हेया ५ ।

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : शब्द से उत्पन्न हुआ वह शाब्द अर्थात् आगम। श्लोक में **''आप्तोपदेशः''** पद के बाद **''तु''** है। परन्तु वह **''तु''** भिन्नक्रम में है। यानी कि शाब्द पद के बाद **''तु''** को जानना। इसलिए अर्थ इस अनुसार होगा। उपरांत शाब्दप्रमाण आप्त का उपदेश है। अर्थात् (१४)आप्तपुरुष के उपदेश को (१५)शाब्दप्रमाण कहा जाता है। एकान्त से सत्य और हितकारी बोलनेवाले को आप्त कहा जाता है। उस आप्त के उपदेश = वचन को शाब्दप्रमाण कहा जाता है। शाब्दप्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान शाब्दप्रमाण का फल है। इस अनुसार से (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शाब्द, ऐसे चार प्रमाण उपरोक्त कही हुई विधि के मुताबिक जानना।

इसलिए इस अनुसार प्रथम प्रमाणतत्त्व को कहकर, अब (सोलह तत्त्व में से) दूसरे प्रमेयतत्त्व की व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकारश्री कहते है कि (१६)आत्मा, देह आदि प्रमेय है। प्रमेय प्रमाण का फल है और प्रमाण से ग्राह्य आत्मा, देह आदि प्रमेय है।

आत्मा = जीव और देह = शरीर है जिसके आदि में वह आत्मा, शरीर आदि तथा बुद्धि = ज्ञान, चक्षु आदि पाँच इन्द्रिय तथा मन, सुख है आदि में वह सुखादि प्रमेय है। अर्थात् आत्मा आदि, इन्द्रियां और सुखादि प्रमेय है। यहाँ दोनो विशेषण में आदि पद से बाकी के सात प्रमेय का संग्रह जानना। इस प्रकार आत्मा, शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय, सुख आदि बारह प्रमेय है। ये बारह प्रमेय नैयायिकसूत्र में कहे हुए है।

(१४) **प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानवत्त्वमाप्तस्य लक्षणम्** - शब्द के प्रयोग में कारणभूत यथार्थ ज्ञान के आश्रय को आप्त कहा जाता है। अर्थात् जो शब्दप्रयोग करना हो, उसके यथार्थज्ञान से युक्त हो उसे आप्त कहा जाता है।

(१५) शाब्दप्रमाण न्यायसूत्र में दो प्रकार के बताये गये है। **''स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्** ॥१।१।८॥ अर्थात् (१) जिसने अर्थ का प्रत्यक्षज्ञान करकर उस अर्थ का उपदेश दिया हो, उस दृष्टार्थक उपदेश को **''दृष्टार्थकशब्दप्रमाण''** कहा जाता है। और (२) जिसने अनुमान से अर्थ को जानकर उपदेश दिया हो, उस अदृष्टार्थक उपदेश को **''अदृष्टार्थक शब्दप्रमाण''** कहा जाता है।

(१६) आत्मा का लक्षण नैयायिक सूत्र में इस अनुसार कहा गया है।

''इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानात्मनो लिङ्गम्'' ॥१-१-१०॥ अर्थात् इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान, यह छः आत्मा के लिंग अर्थात् अनुमापकहेतु है। आत्मा में किसी भी प्रकार का रुप और स्थूलत्व नहीं है। इसलिए उसका चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारा बाह्यप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मन से तो उसका प्रत्यक्ष हो सकता है।

(C-1-2-3-4-5) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधं तदिति प्रमेयम्। (२-१-९)। अर्थात् आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग, ये बारह प्रमेय है। इन बारह प्रमेयो में शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल और दुःख ये १० (दस) प्रमेय हेय (त्याज्य) है। अपवर्ग उपादेय (ग्राह्य)है। परन्तु आत्मा कथंचित् हेय और कथंचित् उपादेय है। सुखदुःखादि भोक्तृपन से हेय है और उन्मुक्तपन से उपादेय है। वहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञानादि का आश्रय आत्मा है। सचेतनत्व, कर्तृत्व, सर्वगतत्व आदि धर्मो के द्वारा आत्मा प्रतीत होता है। (१)

(२) [१७]**शरीर :** भोक्ता के भोग का जो आयतन (स्थान) है, वह शरीर कहा जाता है। (यह व्याख्या न्यायकंदलीकार के मतानुसार है।)

परकीय आत्मा का तो मानसप्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। उपरोक्तसूत्र में सूत्रकार ने आत्मा के अनुमान का प्रकार बताया है। इच्छादि आत्मा के असाधारण धर्म है। इसलिए वह आत्मा का लक्षण हो सकता है। इच्छादि गुण शरीर में रहते न होने से शरीर से अन्य आत्मा का अनुमान हो सकता है। इच्छादि गुण शरीर में नहीं है। यदि शरीर में माने, तो मृतशरीर में भी इच्छादि की आपत्ति आयेगी। इसलिए इच्छादि शरीर के गुण नहीं है। मन में भी इच्छादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि मन तो इच्छाआदि को उत्पन्न करने का साधन है। **जो साधन हो वह कार्य का आधार (उपादान कारण) नहीं हो सकता।** पृथ्व्यादि नवद्रव्यो में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल और दिशा, ये द्रव्यो में से कोई भी द्रव्य इच्छादि का आधार नहीं है, यह तो स्पष्ट है और मन तो साधन है। इसलिए आधार नहीं बन सकता। **सामान्य नियम है कि साधनजन्य क्रिया साधन में नहीं परन्तु अन्य में बनती है।** इसलिए मनरुप साधनजन्य इच्छादि मन में नहीं है, परन्तु अन्य में होनी चाहिए। उपरांत इच्छादिगुण होने के कारण उसका आधार भी होना चाहिए। इसलिए आधार के रुप में नौंवा द्रव्य आत्मा सिद्ध होता है।

में चाहता हूं, मैं जानता हूं, ऐसी प्रतीति भी होती है, इसलिए आत्मा ही इच्छादि गुणो का उपादानकारण (समवायिकारण) है। ऐसा पारिशेष अनुमान से सिद्ध होता है।

इस सूत्र से परमात्मा का लक्षण भी सूचित होता है। वह इस अनुसार-जिस के अंदर नित्य इच्छा है, नित्य प्रयत्न है, नित्य सुख हे, नित्यज्ञान है, वह परमात्मा ईश्वर है, आत्मा का स्वरुप समजे बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्त अवस्था में भी आत्मा अपने स्वरुप में स्थित रहता है, इसलिए आत्मस्वरुप उपादेय पक्षमें रहता है।

(१७) न्यायसूत्रानुसार शरीर का लक्षण - **"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"** (१-१-११) अर्थात् चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का जो आश्रय है उसे शरीर कहा जाता है।

यदि चेष्टा का अर्थ केवल क्रिया ही लिया जाये तो वृक्ष-रथ गाडी आदि में भी क्रिया दिखाई देती है। इसलिए उसको भी शरीर कहने की आपत्ति आयेगी। इसलिए यहाँ **"चेष्टा"** शब्द विशेष प्रकार की क्रिया का वाचक है, ऐसा समजना चाहिए।

प्राप्त करने इच्छित अर्थ और त्याग करने इच्छित अर्थ को ध्यान में रखकर इप्सा (पाने की इच्छा) और जिहासा (छोड़ने की इच्छा) से प्रेरित पुरुष का व्यापार = प्रयत्न जिसके कारण होता है वह शरीर। अर्थात् चेष्टा का अर्थ पुरुष के अंदर होता प्रयत्न लेना और यह प्रयत्न पुरुष (जीवात्मा) शरीर के कारण ही कर सकता है, इसलिए चेष्टा का आश्रय शरीर कहा जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र, इस प्रकार (१८)पाँच इन्द्रियाँ है। रुप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ऐसे पाँच अर्थ (विषय) है। उसमें गंध, रस, रुप और स्पर्श ये चार पृथ्वी के गुण है। रुप, रस, स्पर्श ये तीन जल के गुण है। रुप और स्पर्श तैजस् के गुण है। एक स्पर्श वायु का गुण है और शब्द आकाश का गुण है।

- इन्द्रियका आश्रय शरीर है। शरीर की वजह से ही इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य में प्रवृत होती है। यदि शरीर न हो तो निराधार = स्वतंत्र बनी हुई इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य नहीं कर सकेगी। शरीर में शक्ति होगी, तो इन्द्रियो में ग्राहकशक्ति होती है। और शरीर अत्यंत क्षीण होगा, तो इन्द्रियाँ की ग्राहकशक्ति भी मंद पड जाती है। इस प्रकार शरीर इन्द्रियो को मदद करनेवाला होने से शरीर इन्द्रियाँ का आश्रय माना जाता है। आश्रय का अर्थ यहाँ इन्द्रियों का समवायिकारण (उपादानकारण) नहीं समजना है।
- जिसकी वजह से इन्द्रियाँ बाह्यपदार्थो के साथ संबंध पाकर सुख-दुःखस्वरुप अर्थ का कारण बनती है, वही शरीर। यहाँ अर्थ शब्द से सुख-दुःख ही समजना, परन्तु रुपादि अर्थ नहीं।

(१८) न्यायसूत्र में बताया है कि **''घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः** ॥१-१-१२॥ अर्थात् घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ है। उसकी उत्पत्ति अनुक्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश में से होती है।

यहाँ बाह्य इन्द्रियो का लक्षण अभीष्ट होने से मन का ग्रहण किया नहीं है। क्योंकि मन आंतर इन्द्रिय है। इस सूत्र में बाह्य इन्द्रियाँ जो लक्ष्य के रुप में है, उसे **''भूतेभ्यः''** शब्द द्वारा सूचित करता है। **'भूतेभ्यः'** शब्द इन्द्रियो के समावायिकारण के रुप में सूत्र में इस्तेमाल हुआ है। मन आंतर इन्द्रिय और नित्य होने से उसका उपादानकारण (समवायिकारण) कोई भी महाभूत संभवित नहीं हो सकता। जो लोग (सांख्य) इन्द्रियों का उपादान कारण अहंकार है, ऐसा मानते है, उस मत का खंडन भी **''भूतेभ्यः''** कारण-वाचक शब्द रखने से हो जाता है। नैयायिक इन्द्रियों को अहंकार में से उत्पन्न हुई नहीं मानते है। परन्तु पाँच महाभूतो में से उत्पन्न हुई मानते है। सूत्र ३-१-६३ में कहा है कि, **''भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्''** अर्थात् पृथ्वी आदि भूतो के विशेष गुणो की उपलब्धि (अभिव्यक्ति) का कारण होने से इन्द्रियो के कारण पृथ्वी आदि पाँचभूत है। (सांख्यमत में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन, ऐसे ग्यारह इन्द्रियाँ बताई है।)

इन्द्रियों की संख्या के विषय में श्री वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में कहा है कि इन्द्रियाँ पाँच होने से हाथ, पैर, पायु, उपस्थ और वाणी में इन्द्रियत्व नहीं है, वह सूचित किया है। क्योंकि उसमें इन्द्रिय का लक्षण संगत नहीं होता है। **''जो शरीर के साथ संयुक्त हो, संस्कारदोष से शून्य हो और साक्षात् ज्ञान का साधन हो, उसे ही इन्द्रिय कहा जाता है।''** हाथ आदि में यह लक्षण संगत नहीं होता है। यदि सांख्यो; ऐसा कहेंगे कि, उक्त लक्षण तो ज्ञानेन्द्रियो का है और हाथ आदि तो कर्मेन्द्रिय है, तो सांख्यो को कर्मेन्द्रिय का लक्षण कहना चाहिए। यदि कर्मेन्द्रिय का लक्षण ''शरीर में जो आश्रित हो और असाधारण कार्य करे वह कर्मेन्द्रिय।'' ऐसा कहोंगे तो आपको (सांख्योको) कहना चाहिए कि ''हाथ आदि में असाधारण कार्य क्या है ?'' आप ऐसा कहे कि ''बोलना वह वाणी का, ग्रहण करना वह हाथ का, चलना वह पैर का, उत्सर्ग और आनन्द यह पायू और उपस्थ का असाधारण कार्य है'' तो सांख्यो की यह ठीक नहीं है। क्योंकि ग्रहण करने रुप कार्य तो जैसे हाथ से होते है, वैसे मुंह से भी होते है, इसलिए वह असाधारण कार्य नहीं है। उपरांत कंठ, हृदय, आमाशय, पक्वाशय भी असाधारण कार्य करते है, तो उसको भी इन्द्रियाँ माननी पडेगी, इसलिए कर्मेन्द्रियों का लक्षण बाँधना वह निरर्थक है, इसलिए समजा जा सकता है कि नैयायिकों, जो ज्ञान उत्पन्न करने का असाधारण कारण है, उसको ही इन्द्रियाँ मानते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह से पाँच रुपादि [१९]अर्थो को जानना। [२०]उपलब्धि और ज्ञान बुद्धि के पर्यायवाचि (समानार्थी) शब्द है। यह बुद्धि क्षणिक और भोग के स्वभाववाली होने से संसार का कारण है। इसलिए हेय है।

---

(१९) पृथ्वी, जल और तैजस्, ये तीन द्रव्यो का ग्रहण बाह्य इन्द्रियो से होता है और बाकी के छः द्रव्यो का अनुमान से ग्रहण होता है। गंधादि गुणो का ग्रहण घ्राणादि इन्द्रियों से होता है। प्रशस्तपाद भाष्य में गुणो के दो विभाग किये है। रुप, रस, गंध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द विशेषगुण है। तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमितिक द्रवत्व और वेग सामान्यगुण है। **स्वाधारभूत द्रव्य को जो गुण अन्य द्रव्यो से अलग करके बताये उसे विशेष गुण कहा जाता है।**

शंका : पृथ्वी में गंधआदि चार गुण होने पर भी घ्राण इन्द्रिय से ही गंध का ग्रहण कैसे होता है ?

समाधान : न्यायसूत्र में **"तद्व्यवस्थापनं तु भूयस्त्वात्"** ॥३।१।७१॥ सूत्र से उसका कारण बताया गया है। यहाँ भूयस्त्व = प्रधानता। पृथ्वी में गंध गुण की प्रधानता है और घ्राणेन्द्रिय में भी गंध गुण की प्रधानता है। इसलिए पृथ्वी और घ्राणेन्द्रिय का कार्यकारण भाव मानना चाहिए। उसी तरह से रसना इन्द्रिय और जलका तथा चक्षुरिन्द्रिय और तेज का भी कार्यकारणभाव मानना चाहिए। इन्द्रिय की रचना में जीवात्मा का अदृष्ट भी कारण के रुप में है।

इसलिए समजा जा सकता है कि, पृथ्वी आदि द्रव्य और गंधादि गुण परस्पर भिन्न है। परन्तु समवाय संबंध के कारण दो फल की तरह अलग-अलग महसूस नहीं कर सकते।

(२०) न्यायसूत्र में कहा है कि **"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।"** ॥१।१।१५॥ अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये तीनो एक अर्थ के वाचक है।

इन्द्रियो का अर्थ के साथ संबंध होने से आत्मा के अंदर जो अर्थ का अभौतिक प्रकाश पैदा होता है, उसका नाम बुद्धि है और वही ज्ञान है। यदि ज्ञान को बुद्धि का धर्म माना जाये, तो बुद्धि को चेतन माननी चाहिए और उसे चेतन मानी जाये, तो शरीर में एक पुरुषरुप चेतन आत्मा और बुद्धिरुप चेतना = आत्मा, ऐसे दो चेतन होंगे। परन्तु शरीर में एक ही आत्मा सर्वयुक्ति और प्रमाण से सिद्ध है।

इस सूत्र में उपलब्धि और ज्ञान, ये बुद्धि के पर्यायवाचक शब्द है। और वे समान और असमानजातीय अर्थो से बुद्धि को अलग करते होने से लक्षणवाचक हो सकते है। जो लोग बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान को भिन्न-भिन्न मानते है, वह अयोग्य है, ऐसा बताने के लिए सूत्रकार ने बुद्धि के पर्यायवाचक शब्दो को लक्षणवाचक के रुप में रखे है।

(सांख्यमत के अनुयायि तीन शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थ करते है।)

बुद्धि : सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, ये तीन गुणो का जो विकार है, वही बुद्धि और उसका दूसरा नाम **"महत्"** तत्त्व है। तीनो गुण जड होने से बुद्धि भी जड है। तीनो गुण नित्य होने से उसका परिणाम जो बुद्धि है, वह भी नित्य है, क्योंकि सांख्यमत में परिणाम और परिणामी भिन्न नहीं माने जाते।

ज्ञान : बुद्धि, जो इन्द्रिय द्वारा अर्थरुप में परिणमित होती है, वही ज्ञान है अर्थात् बुद्धि की जो कुछ खास प्रकार की वृत्ति, उसका नाम ज्ञान है। इसलिए घटज्ञान, पटज्ञान आदि बुद्धि की वृत्तियाँ गानी जाती है।

उपलब्धि : आत्मा यह चितिशक्ति है, और वह अपरिणामी है। उसका बुद्धि के साथ सदैव सन्निधान होने से बुद्धि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सत्यपि C-6युगपज्ज्ञानानुत्पादादान्तरसुखादि विषयोपलब्धेश्च बाह्यगन्धादिविषयो-पलब्धिवत्करणसाध्यत्वादान्तरं C-7करणं मनोऽनुमीयते, तत्सर्वविषयं तच्चाणु वेगवदाशुसंचारि नित्यं चC-8 ६ । वाग्मनःकायव्यापारः शुभाशुभफलः प्रवृत्तिःC-9 ७ । रागद्वेषमोहास्त्रयो दोषाःC-10, इर्ष्यादीना-मेतेष्वेवान्तर्भावः, तत्कृतश्चैष संसारः ८ । देहेन्द्रियादिसंघातस्य प्राक्तनस्य त्यागेन संघातान्तरग्रहणं प्रेत्यभावःC-11, एष एव संसारः ९ । C-12प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं, तत्साधनं तु गौणम् १० । पीडासंतापस्वभावजं दुःखम्, C-13फलग्रहणेनाक्षिप्तमपीदं सुखस्यापि दुःखाविनाभावित्वात् दुःखत्वभावनार्थमुपदिश्यते ११ । आत्यन्तिको दुःखवियोगोऽपवर्गः, C-14सर्वगुणवियुक्तस्यात्मनः स्वरूपेणावस्थानं सुखदुःखयोर्विवेकेन हानस्याशक्यत्वात् दुःखं जिहासुः सुखमपि जह्याद् । यस्माज्जन्म-जरामरणप्रबन्धोच्छेदरूपः परमः पुरुषार्थोऽपवर्गः, स च तत्त्वज्ञानादवाप्यते १२ ।।२४ ।।

टीकाका भावानुवाद :

(६) मन : सर्वपदार्थो के साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर भी एकसाथ सभी रुपादि ज्ञानो की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए ज्ञान तब ही होता है कि, जब जिस इन्द्रियो का मन के साथ संयोग (मिलन) हो, इसलिए मन के साथ संयोगवाली (मिली हुई) इन्द्रियों से ज्ञान उत्पन्न होता है, दूसरे से नहि, उसी तरह एकसाथ ज्ञानो की अनुत्पत्ति से मन का सद्भाव सिद्ध होता है। तथा जैसे गंधादि बाह्यपदार्थो की उपलब्धि करण (साधन) रुप इन्द्रियो के बिना नहीं हो सकती, वैसे अंतरंगसुखादि विषयो की उपलब्धि के लिए भी एक साधकतम करण की आवश्यकता है। वह करण मन ही हो सकता है। इस तरह से मन का अनुमान हो सकता है। (२२)मन सर्वपदार्थो को विषय बनाता है, अणुरुप है, वेगवान होने से बहोत ही शीघ्र संचार करनेवाला है तथा नित्य है।

में आत्मा का प्रतिबिम्ब पडता है। इसलिए बुद्धि जड होने पर भी चेतन जैसी लगती है और अर्थ को जानती है जैसे चन्द्र स्वयं प्रकाशरहित होने पर भी सूर्य के तेज को ग्रहण करके प्रकाशित बनता है और जगत को प्रकाशित करता है, वैसे बुद्धि में जो आत्मा का प्रतिबिंब पडता है वही उपलब्धि। नैयायिक सूत्रकार को सांख्यो की उपरोक्त मान्यता मान्य नहीं है। बुद्धि प्रकृति का–गुणो का विकार नहीं है। परन्तु आत्मा का गुण है, इसलिए बुद्धि और ज्ञान भी एक ही है।

(२२) न्यायसूत्र में कहा है कि ''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'' ॥१-१-१६॥ अर्थात् एकसाथ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। वह मनका ज्ञापक है।

कहने का आशय यह है कि, एक फल में रुप, रस, गंध और स्पर्श, ऐसे चार अर्थ (विषय) है। रुप आदि चारों विषय के साथ चारों इन्द्रिय (चक्षु, रसन, घ्राण और त्वक्) का एक साथ संबंध होने पर भी चारों ज्ञान एकसाथ नहीं होते, परन्तु अनुक्रम से ही होते है। इसका कारण क्या है ? उसको सूत्रकार बताते है कि, ज्ञान उत्पन्न करने में केवल बाह्य इन्द्रियाँ और रुपादि अर्थो (विषयो) के साथ का संबंध ही पर्याप्त नहीं है। परन्तु उसके साथ मन

(C-6-7-8-9-10-11-12-13-14) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्ति : वचन, मन और काया का व्यापार, कि जो शुभाशुभ फल को देता है, वह प्रवृत्ति कहा जाता है।

राग, द्वेष और मोह, ये तीन (२४)दोष है, इर्ष्या, असूया, क्रोध आदि का तीन में ही अन्तर्भाव होता है और इन दोषो के कारण ही संसार है। पूर्वकालीन देह-इन्द्रियादिक के समूह (संघात) का त्यागपूर्वक (त्याग करके)

का भी संबंध होना चाहिए। मनसंयोगी जो इन्द्रिय जिस अर्थ के साथ संबंध पायेगा, उस इन्द्रिय द्वारा वही अर्थ का ही ज्ञान होगा, दूसरे अर्थो का नहीं, क्योंकि उस वक्त घ्राणआदि इन्द्रियो के साथ मन का संबंध नहीं है। और उसके द्वारा मन सूक्ष्म (अणु) है, वह भी सिद्ध होता है। यदि वह व्यापक हो, तो उसका संबंध सभी इन्द्रियो के साथ होगा, परन्तु वह नहीं है। इसलिए मन सूक्ष्म (अणु) है, वैशेषिक सूत्र में भी मन को अणु कहा है। **तदभावाच्चाणु मनः** ।।७।१।२५।।

उपरांत, इस न्यायसूत्र में मन के अस्तित्व का भी साधन है और उसके अंदर रहा हुआ असाधारण धर्म लक्षण के रुप में बताया है। "**युगपज्ज्ञानाजनकत्वम्**" वह मन का असाधारण धर्म है। मन द्रव्य है और श्रीकणादने नवद्रव्यो में उसकी गणना की है। मन अवयव रहित द्रव्य होने से नित्य है। अर्थात् उत्पत्ति-विनाश से रहित है। संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग ये आठ मन के सामान्यगुण है।

नैयायिको ने माना है कि, प्रत्येक आत्मा में एक-एक मन (उस आत्मा के) कर्मानुसार परमात्माने योजित किया है। मन को ही अंतःकरण कहा जाता है। मन ही विषयजन्य सुख-दुःख का कारण है। आत्मा की इच्छा तथा जीवन-जनक प्रयत्न से मन एक जगह से दूसर जगह पे जाता है। तथा धर्म-अधर्म रुप अदृष्टकारण की वजह से मरण के बाद दूसरे शरीर में जाता है और आत्मा के भोग का साधन बनता है।

(२३) न्यायसूत्र में कहा है कि "**प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भेति ।**" ।।१।१-१७।। राग-द्वेष से प्रेरित होके जो वाणी का उच्चार किया जाता है, उसे **वाचिकप्रवृत्ति** कहा जाता है। रागद्वेष से प्रेरित होके मन में जो चिंतन किया जाता है, उसे **मानसिक प्रवृत्ति** कहा जाता है। रागद्वेष से प्रेरित होके शरीर द्वारा जो क्रिया की जाती है, उसे **शारीरिक प्रवृत्ति** कहा जाता है।

राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति बन्ध-जनक नहीं होती है। जीवन्मुक्त पुरुष की प्रवृत्ति रागद्वेषरहित होती है। यहाँ सूत्र में राग-द्वेषपूर्वक की प्रवृत्ति लक्षित है। और वह संसारचालक है। इसलिए वह हेय (त्याज्य) है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त जितनी क्रियाएँ राग-द्वेषपूर्वक हुई हो, वे सभी ही स्थिर संस्कार आत्मा में पाडती है और ये संस्कार आखिर में मरण को उत्पन्न करके जाति, आयुष्य और भोगरुप फल उत्पन्न करते है।

(२४) न्यायसूत्र में कहा है कि "**प्रवर्तनालक्षणो दोषाः** ।।१-१-१८।।-प्रवृत्तिजनकत्व यह दोष का लक्षण है। यहाँ सूत्र में दोष लक्ष्य पदार्थ है और प्रवृत्तिजनकत्व लक्षण है।

कहने का मतलब यह है कि, राग-द्वेष और मोह के कारण ही मनुष्य प्रवृत्ति करता है। ये तीनो को दोष नाम दिया गया है। क्योंकि "**दुष्यति आत्मा येन स दोषः ।**" जिससे आत्मा दूषित होता है वह दोष अर्थात् आत्मा अपना वास्तविक स्वरुप जिसके कारण जान सकता नहीं है, इसलिए उसको दोष कहा जाता है। ये तीनो मोक्ष का प्रतिबंधक है। जब तक ये तीनो है, तब तक वैराग्य का स्फुरण नहीं होता है और उसके बिना तत्त्वज्ञान संभवित नहीं है और तत्त्वज्ञान के सिवा मुक्ति भी नहीं मिल सकती।

अनुकूल अर्थ की अभिलाषा को राग कहा जाता है। काम, स्पृहा, तृष्णा तथा लोभ, ये सब राग के ही प्रकार है। प्रतिकूल अर्थ को सहन न करना, उसे द्वेष कहा जाता है। क्रोध, इर्ष्या, असूया, द्रोह और आमर्ष, ये सब द्वेष के प्रकार है। वस्तु का वास्तविक ज्ञान न होना वह मोह है। मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा, मान और प्रमाद, ये चारो मोह के प्रकार है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे देह-इन्द्रियादि के संघात का ग्रहण करना, उसे [२५]**प्रेत्यभाव** कहा जाता है और यही संसार है।

प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न होनेवाले सुखादि को [२६]**फल** कहा जाता है। वहाँ सुख-दुःखात्मक **मुख्य फल** है। और उसके साधन शरीरादि **गौण** फल है। पीडा और संताप के स्वभाव को उत्पन्न करे उसे [२७]**दुःख** कहा जाता है। अर्थात् जिसकी वजह से आत्मा पीडा और संताप महसूस करता है, वह दुख। (पूर्व की प्रवृत्ति और दोष के फल के रुप में सुख-दुःख की गणना की है।) उस फल के ग्रहण से प्राप्त इस सुख का भी दुःख के साथ अविनाभाव होने से (सुखको भी) दुःखरुप से समजने का उपदेश किया जाता है।

आत्यन्तिक दुःखवियोग को अपवर्ग (मोक्ष) कहा जाता है। सर्व गुण से रहित आत्मा का स्वरुप में जो अवस्थान है, उसे मोक्ष कहा जाता है। सुख-दुःख के विवेक से हान (दुःख की अत्यन्त निवृत्ति) अशक्य है। इसलिए दुःख से निवृत्त होने की इच्छावालो को सुख भी छोडना चाहिए। इसलिए जन्म-जरा-मृत्यु के प्रबंध के उच्छेदरुप (नाशरुप) परम पुरुषार्थ [२८]अपवर्ग है और वह अपवर्ग तत्त्वज्ञान से प्राप्त किया जाता है। ॥२४॥

---

(२५) न्यायसूत्र में कहा है कि "**पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।**" ॥१-१-१९॥ अर्थात् पुनः पुनः उत्पन्न होना उसका नाम प्रेत्यभाव है।

कहने का मतलब यह है कि, आत्मा अनादि अनंत है। उसका कभी भी विनाश नहीं होता है, इसलिए उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। शरीर स्थिर न होने से वह फिर से उत्पन्न नहीं हो सकता। ध्वंस अनंत होने से ध्वंस का प्रतियोगी फिर से पेदा नहीं हो सकता। तब बारबार उत्पत्ति किसकी होती है? यह विचारणीय प्रश्न है। इसके समाधान में इस सूत्र में जो उत्पत्ति शब्द है, उसका अर्थ संबंध किया है, अर्थात् आत्मा एक शरीर के साथ का संबंध छोडकर दूसरे नये शरीर के साथ जो संबंध बांधता है, वही "**पुनरुत्पत्ति**" और ऐसा संबंध बारबार आत्मा का अलग-अलग शरीर के साथ होता है। इसलिए प्रेत्यभाव आत्मा का ही समजना चाहिए। विजातीय शरीर, इन्द्रियाँ और प्राण आदि के साथ आत्मा का संयोग होना वही जन्म और शरीर के अंदर अंतिम प्राण का ध्वंस होना वह मृत्यु।

यह प्रेत्यभाव अनादि है। उसे अनादि मानने में अनुमानप्रमाण इस अनुसार है - यदि सबसे पहला दुःख माने, तो वह जन्म के बिना कैसे बन सकेगा? यदि प्रथम जन्म माने, तो धर्म और अधर्म बने किस तरह से? यदि सबसे पहले राग-द्वेष माने, तो वह मिथ्याज्ञान के बिना कैसे संभवित हो सकते है? इसलिए दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का कार्यकारणभाव अनादि ही मानना चाहिए।

(२६) न्यायसूत्र में कहा है कि "**प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्।**" ॥१-१-२०॥ अर्थ स्पष्ट है। राग-द्वेष आदि दोष से प्रवृत्ति होती है और उससे धर्म-अधर्म उत्पन्न होते है। धर्म और अधर्म से शरीर, विषय, सुख, दुःख उत्पन्न होते है। इसलिए शरीरादि फल कहा जाता है।

(२७) न्यायसूत्र में कहा है कि "**बाधनालक्षणं दुःखम्** ॥१-१-२१॥ बाध करे वह दुःख। कहने का मतलब यह है कि, सुख के साथ दुःख भी जुड़ा हुआ है। इसलिए सुख भी दुःख के अविनाभाववाला है।

(२८) न्यायसूत्र में कहा है कि "**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः** " ॥१-१-२२॥ अर्थात् दुःख के आत्यन्तिक वियोग को अपवर्ग (मोक्ष) कहा जाता है। वेदान्ती मानते है कि "जीव स्वयं ही मुक्ति अवस्था में ब्रह्म अर्थात् परमात्मा बन जाता है।" यह मान्यता नैयायिको को मान्य नहीं है। क्योंकि (जीव और ब्रह्म ऐसे) दो अनादि भिन्न पदार्थ कभी भी अभिन्न नहीं हो सकते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संशयप्रयोजनयोः स्वरुपं प्राह- अब संशय और प्रयोजन का स्वरुप कहते है।

(मू. श्लोक.) किमेतदिति संदिग्धः प्रत्ययः संशयो [C-15]मतः ।
प्रवर्तते यदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम्[C-16] ।।२५।।

श्लोकार्थ : यह क्या है ? ऐसे संदिग्धविमर्शको [२९]संशय कहा जाता है। जो साध्य को प्राप्त करने की इच्छा से व्यक्ति जिस में प्रवर्तित होती है, वह प्राप्त करने योग्य अर्थ को प्रयोजन कहा जाता है।

व्याख्या-**अयं किंशब्दोऽस्ति क्षेपे 'किं सखा योऽभिद्रुह्यति' अस्ति प्रश्ने 'किं ते प्रियं' अस्ति निवारणे 'किं ते रुदितेन' अस्त्यपलापे 'किं तेऽहं धारयामि' अस्त्यनुनये 'किं तेऽहं प्रियं करोमि' अस्त्यवज्ञाने 'कस्त्वामुल्लापयते' अस्ति वितर्के 'किमिदं दूरे दृश्यते,' इह तु वितर्के, दूरावलोकनेन पदार्थसामान्यमवबुध्यमानस्तद्विशेषं संदिहानो वितर्कयति, एतत् प्रत्यक्षमूर्ध्वस्थितं वस्तु किं तर्के स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । यः संदिग्धोऽनेककोटिपरामर्शो प्रत्ययो विमर्शः, स संशयो मतः संमत इति । अथ प्रयोजनम्, यदर्थित्वाद्यस्य फलस्यार्थित्वमभिलाषुकत्वे यदर्थित्वं, तस्मात्प्रवर्तते तत्तदीयसाधनेषु यत्नं कुरुते, तत्तु तत्पुनः साध्यं कर्तव्यतयेष्टं प्रयोजनं फलं यस्य वाञ्छया कृत्येषु प्रवर्तते तत्प्रयोजनमित्यर्थः । प्रयोजनमूलत्वाच्च प्रमाणोपन्यासप्रवृत्तेः प्रमेयान्तर्भूतमपि प्रयोजनं पृथगुपदिश्यते ।। २५ ।।**

नैयायिक ब्रह्म को परिणामी नहीं मानते है। उसके समर्थन में वे बताते है कि, यदि ब्रह्म का सर्वात्मकरुप में परिणाम हो जाये तो ब्रह्म का नाश हो जायेगा। दूध का दहीं के रुप में परिणाम होने के बाद दूध नष्ट ही हो जाता है। यदि ब्रह्म के एक भाग में परिणाम होता हो, तो ब्रह्म को भागवाला (अवयवी) मानना पडेगा। और जो वस्तु भागवाली होती है, वह अनित्य ही होती है। जबकि ब्रह्म नित्य है। उपरांत ब्रह्म अविकारी है। विवर्तरुप परिणाम भी ब्रह्म में नहीं हो सकता है। इसलिए समजा जा सकता है कि, जीव ब्रह्म में से बना हुआ नही है परन्तु अनादि अनंत है। इसलिए मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म में लीन नहीं होता है, परन्तु ब्रह्म के साथ संयुक्त रहता है।

बौद्धो ने क्षणिक ज्ञानो की संतान = परंपरा का सदा के लिये उच्छेद होना, उसको निर्वाण (मोक्ष) कहा है। बौद्धमत में क्षणिकज्ञान की संतति आत्मा है। इसलिए आत्मा का उच्छेद होना वही उनके मत में निर्वाण (मुक्ति) है। यह बात युक्त नहीं है। क्योंकि वह तो **"अमृत्युपद"** है। अर्थात् उसकी कभी भी मृत्यु नहीं होती। रागादि रहित जो आत्मस्वरुप है, वही मुक्ति अवस्था है । **मुक्ति अवस्था में आत्मा को प्राण संबंधित भूख (क्षुधा) और प्यास (पिपासा), मन संबंधित लोभ और मोह तथा शरीर संबंधित शीत और आतप, ये छः उर्मियाँ (अनुभूतियाँ) नहीं होती है और इसलिए शिव कहा जाता है।**

(२९) न्यायसूत्र में संशय का लक्षण इस अनुसार किया गया है । **समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्था तश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशय ।** ॥१-१-२३॥. अर्थात् साधारण धर्म और असाधारणधर्म के ज्ञान से परस्परविरुद्ध वाक्यो से उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेषधर्म का स्मरण होने से अथवा विशेषधर्म की अपेक्षा रखते हुए एक ही अर्थ में विरुद्ध धर्म का अवलंबन करनेवाला जो ज्ञान है, उसे संशय कहा जाता है।

(C-15-16) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

यहाँ ''अयं किं ?'' में ''किं'' शब्द अनेक अर्थ में इस्तेमाल होता है। क्षेप, प्रश्न, निवारण, अपलाप, अनुनय, अवज्ञा करने में तथा वितर्क में ''**किं**'' शब्द का प्रयोग होता है। वह अब क्रमशः देखे,

(१) क्षेप में : ''**किं सखा योऽभिद्रुह्यति ?**'' जो द्रोह करता है, वह क्या मित्र है ?

(२) प्रश्न में : ''**किं ते प्रियम्**'' तुम्हारा प्रिय क्या है ?

(३) निवारण में : ''**किं ते रुदितेन ?**'' तुम्हारे रोने से क्या ? अर्थात् तुम्हारा रोना बंद करो।

(४) अपलाप में : ''**किं तेऽहं धारयामि ?**'' तेरा में क्या धारण करुं ? (अर्थात् कुछ नहीं।)

(५) अनुनय में (विनय में) : ''**किं तेऽहं प्रियं करोमि ?**'' तुम्हारा मैं क्या प्रिय करुं ?

(६) अवज्ञा में : ''**कस्त्वामुल्लापयते**'' तुमको कौन डांटे ? (डांट दे ?)

(७) वितर्क में : ''**किमिदं दूर दृष्यते ?**'' दूर यह क्या दिखाई देता है ?

इस सूत्र में संशय का सामान्य लक्षण और उसके पाँच कारण बताये है। न्यायसूत्र के भाष्यकार के मत अनुसार इस सूत्रो के भाग नीचे बताये अनुसार है।

(१) **समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।**

स्थाणु और पुरुष के जो समानधर्म (साधारण धर्म) ऊंचाई और चौडाई पहले देखा था, वे पूरोवर्ति पदार्थ में देखने के बाद वे दोनो में (स्थाणु और पुरुष में) रहे हुए धर्म (हाथ, पग तथा कोटरादि) दूरत्वादि के कारण देख नहीं सकने की वजह से तथा उस विशेषधर्म को जानने की इच्छा चालू रहने से दृष्टा को यह स्थाणु होगा या पुरुष ? ऐसा संशय होता है। सामान्यधर्म देखने से और विशेषधर्म की स्मृत्ति होने से उत्पन्न होनेवाला विमर्श साधारण धर्मजन्य संशय कहा जाता है।

(२) **अनेकधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षा विमर्शः संशयः।**

यहाँ अनेकधर्म अर्थात् असाधारणधर्म। पृथ्वी नौ द्रव्य में से एक है। पृथ्वी में रहे हुए गंधवत्त्व धर्म असाधारण धर्म है। क्योंकि समानजातीय (द्रव्यत्व जातिवाले) जल-द्रव्यो में नहीं है। उपरांत असमानजातीय (गुणत्वादि-जातिवाले) गुण आदि में भी नहीं है। इसलिए सजातीय और विजातीय से व्यावृत्त गंधवत्त्व धर्म पृथ्वी में ही है।

अब इस धर्म के कारण पृथ्वी को द्रव्य मानना या गुणादि में से कोई पदार्थ मानना, ऐसा संशय होता है। अथवा गंधवत्त्वधर्म द्रव्य का होगा या गुण का होगा या कर्म का होगा ? इस प्रकार अनेक पदार्थ संबंधित धर्म होने से, उसके बारे में शंका होने से पृथ्वी द्रव्य होगी, गुण होगी या कर्म होगी ? ऐसा संशय उत्पन्न होता है।

इस संशय को टालने के लिए विशेष को जानने की अपेक्षा है। वह इस अनुसार है - गंधवत्त्व अर्थात् गंध और गंध चौबीस गुणो में से एक है। इसलिए गंधरुप गुण का आधार पृथ्वी द्रव्य ही है। गुण या कर्म नहीं, पृथ्वी गंधगुण का आधार इस तरह से है-गंध विशेषगुण होने से दिशा, काल और मन में नहीं है। क्योंकि ये तीनो में विशेषगुण नहीं होते है। गंध बाह्येन्द्रिय से ही ग्राह्य है। इसलिए आत्मा का गुण भी नहीं है। क्योंकि आत्मा के गुण बाह्येन्द्रियग्राह्य नहीं है। आकाश का कोई भी विशेषगुण घ्राणेन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिए गंध आकाश का भी गुण नहीं है। तेज और जल के कोई भी विशेषगुण घ्राणेन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिए गंध उन दोनो का भी गुण नहीं है। बाकी रहा हुआ पृथ्वी द्रव्य ही गंध गुण का आधार है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ श्लोक में ''**किं**'' शब्द सात अर्थो में से ''वितर्क'' अर्थ में है। दूर से देखकर पदार्थ का सामान्य तौर से जानता हुआ द्रष्टा, उस पदार्थ के विशेषस्वरुप का संदेह करता हुआ वितर्क-विचारणा करता है कि, यह सामने रही हुइ प्रत्यक्ष वस्तु क्या स्थाणु है या पुरुष है ?

जो अनेककोटी परामर्श का संदिग्धविमर्श है उसे संशय माना गया है। अर्थात् जहाँ परस्परविरुद्ध अनेक कोटी का परामर्श होता है, वह संदिग्धविमर्श को संशय कहा जाता है।

---

(३) **विप्रतिपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ।**

विप्रतिपत्ति अर्थात् एक अर्थ के संबंध में बोले जाते परस्परविरुद्ध वाक्य। उन वाक्यो को सुनने से और उसमें निर्णायकविशेष वस्तु क्या है ? यह न जान सकने से संशय उत्पन्न होता है। जैसे कि, एकवादि आत्मा को नित्य कहता है। जबकि दूसरा प्रतिवादि आत्मा को अनित्य कहता है। इस प्रकार परस्परविरुद्ध वाक्य सुनने से विशेषवस्तु के ज्ञान में संशय होता है।

(४) **उपलब्ध्यव्यवस्थातो विमर्शः संशयः ।**

उपलब्धि की अव्यवस्था (अनियम) से पैदा होता संशय। सत्य पानी तालाबादि में मालूम होता है। और असत्य पानी मृगतृष्णिका (मृगमरीचिका) में भी मालूम पडता है। अब किसी वक्त किसी जगह पे ज्ञाता को पानी की उपलब्धि हुई। उस वक्त दृष्टा को यह सच्चे पानी की उपलब्धि होती होगी या जूठे पानी की उपलब्धि होती होगी ? ऐसी विचारणा में पड जाते है। इसको उपलब्धि की अव्यवस्था कहा जाता है। सत्य और असत्य का अनुक्रम से साधक और बाधक प्रमाण ज्ञाता को न मिलने से संशय उत्पन्न होता है। इस संशयको उपलब्धि की अव्यवस्था से होता संशय कहा जाता है।

(५) **अनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विमर्शः संशयः ।**

वस्तु विद्यमान (मौजूद) होने पर भी किसी भी आवरण से ढकी हुई अथवा भूमि में गडी हुई हो तो उसकी उपलब्धि नहीं होती है। अब किसी वक्त ज्ञाता को एक जगह पे वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। उस वक्त ज्ञाता सोच में पड जाता है कि यह जो अनुपलब्धि हो रही है, वह वस्तु के होने के कारण है या न होने के कारण ? यह अनुपलब्धि की अव्यवस्था है। इससे होनेवाला जो संशय है, उसे अनुपलब्धि की अव्यवस्था से होनेवाला संशय कहा जाता है।

इन पाँच कारणो से होनेवाले संशयो में पहले दो में जो समानधर्म और अनेक (असाधारण) धर्म बताये गये है, वह ज्ञेय के अंदर रहे हुए धर्म है। और उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धिकी अव्यवस्था यह ज्ञाता-आत्मा के अंदर रहे हुए धर्म है।

प्रश्न : संशय को सोलह तत्त्वो में क्यों माना गया है ?

उत्तर : संशय यह न्याय का पूर्व अंग है। इसलिए उसका तत्त्वो में समावेश किया गया है। संशयवाली बात में अथवा संशयवाले अर्थ में ही न्याय (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन, ये पाँच वाक्य द्वारा किसी भी विषय को स्पष्ट समजाना वह न्याय) की प्रवृत्ति हो सकती है। जिस विषय में जरा भी संशय नहीं है, वह न्याय का विषय नहीं बन सकता है। तथा जो अर्थ सामान्य रुप में जाना न हो, उसमें भी न्याय नहीं चल सकता। परन्तु जो अर्थ संदिग्ध हो उसमें ही न्याय चल सकता है। जैसे कि, वादि कहता है कि प्रयत्न करने से शब्द उत्पन्न होता है, इसलिए शब्द अनित्य है, जब प्रतिवादि कहता है कि प्रयत्न करने से केवल शब्द के उपर रहा हुआ आवरण ही दूर होता है और आवरण दूर होने पर शब्द सुनाई देता है। इसलिए शब्द सदैव विद्यमान है और इसलिए नित्य है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब (३०)प्रयोजनतत्त्व को कहते है। जिस फल के अर्थिपन से फल का अर्थी, उस उस फल के उस उस साधन में प्रवर्तित होता है, उसे **प्रयोजन** कहा जाता है। उपरांत उस उस साध्य, कि जो कर्तव्यतया इष्ट है, उस फलकी अभिलाषा से उस उस कार्यो में प्रवर्तित होता है उसे **प्रयोजन** कहा जाता है। प्रमाण के उपन्यास की प्रवृत्ति प्रयोजनमूलक है। अर्थात् प्रमाण का वर्णन करने की प्रवृत्ति (प्रमाण द्वारा अर्थ का ज्ञान पाने के) प्रयोजन से होती है। यानी कि अर्थ का ज्ञान पाने का प्रयोजन होने से प्रमाण का प्रपंच जरुरी है। इस प्रकार प्रमाण के उपन्यास की प्रवृत्ति प्रयोजनमूलक होने से प्रयोजन का प्रमेय में अन्तर्भाव होने पर भी अलग उपदेश किया गया है। आशय यह है कि, प्रमाण द्वारा प्रमेय का ज्ञान पाया जाता है। और प्रयोजन का प्रमेय में अन्तर्भाव हो सकता है। फिर भी प्रमाण का कथन प्रयोजन को लेके है, यह बताने के लिए प्रयोजन का उपदेश प्रमेय से पृथक् (अलग) किया है। ॥२५॥

अथ दृष्टान्तसिद्धान्तौ व्याचिख्यासुराह ।

अब दृष्टांत और सिद्धांत (तत्त्वकी) व्याख्या करने की इच्छावाले ग्रंथकारश्री कहते है।

(मू. श्लोक.) C-17दृष्टान्तस्तु भवेदेष विवादविषयो न यः ।
C-18सिद्धान्तस्तु चतुर्भेदःC-19 सर्वतन्त्रादिभेदतः ।।२६।।

श्लोकार्थ : जो विवाद का विषय न हो वह दृष्टांत होता है। (अर्थात् वादि और प्रतिवादि दोनो को सम्मतविषय दृष्टांत बनता है।) उपरांत सर्वतंत्रादिभेद से सिद्धांत चार प्रकार से है। (सिद्धांत अर्थात् शास्त्रप्रतिपादित नियम।) ॥२६॥

व्याख्या-दृष्टोऽन्तो निश्चयोऽत्रेति दृष्टान्तः, दृष्टान्तः पुनरेषोऽयं भवेत् । एष क इत्याह-य **उपन्यस्तः सन् विवादविषयो वादिप्रतिवादिनोर्मिथो विरुद्धो वादो विवादः, तस्य विषयो गोचरो न भवति, वादिप्रतिवादिनोरुभयोः संमत एवानुमानादौ दृष्टान्त उपन्यस्तव्य इत्यर्थः । पञ्चस्ववयवेषु वक्ष्यमाणोऽपि दृष्टान्तः साध्यसाधनधर्मयोः प्रतिबन्धग्रहणस्थानमिति पृथगिहोपदिश्यते । तावदेव**

यह दो वादि और प्रतिवादि के कथन से सुननेवाले को "शब्द नित्य होगा या अनित्य" ऐसा संदेह होता है। अब इस संदेह को न्याय से दूर करके निर्णय लाना चाहिए।

उपरांत न्यायसूत्र के भाष्य में लिखा है कि "**नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे**" अर्थात् नहीं जाने हुए अर्थ में, उपरांत निश्चयपूर्वक जाने हुए अर्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तो किस में न्याय की प्रवृत्ति होती है? संशयवाले अर्थ में। इस प्रकार न्याय का कथन संशय में से होता है। इसलिए उसका सोलह तत्त्वो में अन्तर्भाव है।

(३०) न्यायसूत्र में प्रयोजन का लक्षण : "**यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ।**" ॥१-१-२४॥-जो अर्थ - फल को ध्यान में रखकर प्रवृत्ति करे, उसे प्रयोजन कहा जाता है।

(C-17-18-19) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यन्वयव्यतिरेकयुक्तोऽर्थः स्खलति, यावन्न स्पष्टदृष्टान्तावष्टम्भः । उक्तं च-"तावदेव चलत्यर्थो मन्तुर्विषयमागतः । यावन्नोत्तम्भनेनैव दृष्टान्तेनावलम्ब्यते ।।१।।" [ ] 'सिद्धान्तस्तु' सिद्धान्तः पुनश्चतुर्भेदो भवेत्, । कुत इत्याह-सर्वतन्त्रादिभेदतः सर्वतन्त्रादिभेदेन । प्रथमः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, आदिशब्दात्प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्च वेदितव्यः । इह तन्त्रशब्देन शास्त्रं विज्ञेयम् तत्र[C-20] सर्वतन्त्राविरुद्धः स्वतन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः सर्वेषां शास्त्राणां संप्रतिपत्तिविषयः, यथा प्रमाणानि प्रमेयसाधनानि, घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादयस्तदर्थाः, प्रमाणेन प्रमेयस्य परिच्छेद इत्यादि । [C-21]समानतन्त्रप्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः यथा भौतिकानीन्द्रियाणि यौगानां काणादादीनां च, अभौतिकानि सांख्यानाम् । तथा सांख्यानां सर्वं सदेवोत्पद्यते न पुनरसत्, नैयायिकादीनां सर्वमसदेवोत्पद्यते सामग्रीवशात्, जैनानां तु सदसदुत्पद्यत इत्यादि । यस्य सिद्धान्तस्य प्रक्रियमाणस्य प्रतिज्ञार्थस्य प्रसङ्गेनाधिकस्य सिद्धिः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः[C-22], यथा कार्यत्वादेः क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणसामान्यसिद्धावन्यस्य तत्कारणसमर्थस्य नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नाधारस्य तत्कारणस्य सिद्धिरिति । प्रौढवादिभिः स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया यत्किंचिद्वस्त्वपरीक्षितमभ्युपगम्य विशेषः परीक्ष्यते, सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः[C-23], यथास्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽनित्यो वेति शब्दस्य द्रव्यत्वमनिष्ट-मभ्युपगम्य नित्यानित्यत्वविशेषः परीक्ष्यते एवं चतुर्विधः सिद्धान्तः ।।२६।।

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : प्रत्यक्ष निश्चय जिस में हो, वह दृष्टांत कहा जाता है। अर्थात् जिस में प्रत्यक्ष रुप से निश्चय होता है, वह दृष्टांत बनता है। फिर प्रश्न है कि, यह दृष्टांत कैसा होता है।

उत्तर : जो उपन्यस्त करने पर वादि और प्रतिवादि दोनो को परस्पर विवाद का विषय न हो, वह दृष्टांत कहा जाता है। इसलिए कहने का मतलब यह है कि, अनुमानादि में वादि और प्रतिवादि दोनो को संमत (मान्य हो ऐसा) ही दृष्टांत का उपन्यास करना चाहिए। (रखना चाहिए।)

प्रश्न : (सांतवे तत्त्व) अवयव में (पाँच अवयवों में) यह दृष्टांत कहा जायेगा, तो यहाँ पृथग् (दूसरे) तत्त्व के तौर पे उसका उपन्यास क्यों किया है ? (क्या रक्खा है ?)

उत्तर : यद्यपि पाँच अवयवो में दृष्टांत कहा जायेगा, फिर भी दृष्टांत साध्य-साधनधर्म के प्रतिबंध (संबंध) के ग्रहण का स्थान है। (साध्य वह्नि और साधन धूम के संबंध ग्रहण का स्थान जैसेकि-महानस है।) इसलिए दृष्टांत का उपदेश पृथक् (अलग) किया है। उपरांत जब तक स्पष्ट दृष्टांत का अवलंबन-आधार न हो, तब तक अन्वय-व्यतिरेक से युक्त अर्थ (विषय) स्खलना ही पाता है। (टिकता नहीं है।)

(C-20-21-22-23) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा है कि,

"जब तक आलंबनरुप [३१]दृष्टांत के द्वारा (अर्थ का) अवलंबन नहीं किया जाता, तब तक विद्वान को (भी) विषय बनकर (सामने) आया हुआ अर्थ चलित होता है – निश्चित नहीं होता है। अर्थात् अर्थ का निश्चय नहीं होता है। ॥१॥"

उपरांत सिद्धांत चार प्रकार के है। सिद्धांत के किस कारण से चार भेद है ?

उत्तर : सर्वतंत्रादि के भेद से चार प्रकार है। (१) सर्वतंत्र सिद्धांत, (२) प्रतितंत्र सिद्धांत, (३) अधिकरण सिद्धांत, (४) अभ्युपगम सिद्धांत। ऐसे सिद्धांत के चार भेद जानना। यहाँ तंत्र शब्द से शास्त्र जानना।

(१) **सर्वतंत्र सिद्धांत :** सभी शास्त्रो के साथ जिसका विरोध नहीं है और स्वशास्त्र में प्रतिपादित अधिकृत जो अर्थ है, वह [३२]सर्वतंत्र सिद्धांत कहा जाता है और वह सर्वशास्त्रो को स्वीकार्य विषय है।

जैसे कि, प्रमेय के साधन प्रमाण। (प्रमाण का फल प्रमेय है। इसलिए प्रमेय का साधन प्रमाण है।) घ्राण, रसन, त्वक्, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ और उसके गंधादि विषय, प्रमाण के द्वारा प्रमेय का ज्ञान, इत्यादि।

यहाँ प्रमाण, इन्द्रिय, अर्थ इत्यादि सर्वशास्त्रो को संमत (मान्य) होने से वह प्रतिपादित अर्थ सर्वतन्त्र सिद्धांत कहा जाता है।

(२) [३३]**प्रतितन्त्र सिद्धांत :** समानशास्त्र में सिद्ध और परशास्त्र में असिद्ध अर्थ को प्रतितंत्र सिद्धांत कहा जाता है। जैसे कि, नैयायिको और वैशेषिको ने इन्द्रियों को भौतिक (भूत से उत्पन्न हुई) माना है। और सांख्यो ने अभौतिक माना है।

---

(३१) न्यायसूत्र में दृष्टांत का लक्षण : **लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः** ॥१-१-२५॥ अर्थात् लौकिक और परीक्षक मनुष्यो का जिस विषय में बुद्धि का साम्य हो, उसे दृष्टांत कहा जाता है।

(३२) न्यायसूत्र में सर्वतंत्रसिद्धांत का लक्षण : **सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः** ॥१-१-२८॥ अर्थ स्पष्ट है।

(३३) न्यायसूत्र में प्रतितन्त्रसिद्धांत का लक्षण : **समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धांतः** ॥१-१-२९॥ समानतंत्र में जो अर्थ सिद्ध हो और परतंत्र में जो अर्थ असिद्ध हो, ऐसा जो अर्थ है उसे प्रतितन्त्रसिद्धांत कहा जाता है।

बहोत बातो में (विषयमें) नैयायिको की वैशेषिको के साथ समानता होने से वे दोनो समानतंत्र कहे जाते है।

जैसेकि, वैशेषिक और नैयायिक दोनो पृथ्वी, अप्, तैजस, वायु और आकाश, इन पाँच भूत में से अनुक्रम से घ्राण, रसन, चक्षु, स्पर्शन और श्रोत्र इन्द्रियाँ बनी हुई है, ऐसा मानते है और इसलिए उनको समानतंत्र कहा जाता है।

जबकि, सांख्यो ने इन्द्रियो को पंचमहाभूतमें से उत्पन्न नहीं माना है। सांख्यो ने माना है कि प्रकृति में से महत् (बुद्धि) तत्त्व उत्पन्न होता है। बुद्धि में से अहंकार और अहंकार में से घ्राणादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होती है। इसलिए सांख्यो को परतन्त्र कहा जायेगा। इसलिए इन्द्रियो को भौतिक मानना, उसे प्रतितन्त्रसिद्धांत (उस उस (प्रति) दर्शन में मान्य सिद्धांत) कहा जायेगा।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा सांख्यो ने सभी अर्थ सत् में से ही उत्पन्न होते है। परन्तु असत् में से नहीं ऐसा माना है। (इसलिए सांख्य सत्कार्यवादि कहे जाते है। उनकी मान्यता है कि, उपादानकारण में कार्य अवश्य विद्यमान (सत्) (मौजूद) होता है, तो ही कार्य पैदा हो सकता है। सत्त्व, रजस और तमस् प्रकृति में है। इसलिये सभी विकृति में भी आते है।)

नैयायिको ने सभी अर्थो को असत् में से सामग्री के वश से उत्पन्न होते है, ऐसा माना है। (इसलिए नैयायिक असत्कार्यवादि कहे जाते है। उनकी मान्यता है कि, उपादानकारण में कार्य विद्यमान नहीं होता है (असत्)। अर्थात् कार्य पहले था ही नहीं। किन्तु बाद में सामग्री के वश से (कारण में से) होता है। परन्तु जैनो ने सत् में से और असत् में से कार्यकी उत्पत्ति मानी है। (इसलिए जैन सदसत् कार्यवादि है। जैनो की मान्यता है कि, उपादानकारण में कार्य विद्यमान (सत्) भी होता है और अविद्यमान (असत्) भी होता है। मतलब यह है कि कारण और कार्य, कथंचित् भिन्न होने से असत्कार्यवाद भी हो सकता है तथा कारण और कार्य कथंचित् अभिन्न होने से सत्यकार्यवाद भी हो सकता है। जैसे मिट्टी और घडा कथंचित् भिन्न होने से मिट्टी में घट अविद्यमान (असत्) है और इसलिए कथंचित् भिन्नता की अपेक्षा से जब मिट्टीमें से घडा बनेगा तब घट अर्थ असत् में से बना ऐसा कहा जायेगा और वह असत्कार्यवाद होगा।

तथा मिट्टी और घडा कथंचित् अभिन्न होने से मिट्टी में घट (घडा) विद्यमान (सत्) है और इसलिए कथंचित् अभिन्नता की अपेक्षा से जब मिट्टी में से घट बनेगा, तब घट अर्थ सत् में से बना ऐसा कहा जायेगा और वह सत्कार्यवाद होगा। अथवा मिट्टीमें घट (घडा) मृत्पिंडरुप से (मिट्टी के पिंड के रुप से) विद्यमान (सत्) है और घटाकाररुप से अविद्यमान (असत्) है, इस प्रकार सत्-असत् उभयवाद का स्वीकार करनेवाला जैनदर्शन है।)

(३) **अधिकरण सिद्धांत :** जो सिद्धांत है कि जो प्रतिज्ञात अर्थ है, उसकी सिद्धि होने के बाद प्रसंग से (प्रसंग प्राप्त) अधिक अर्थ की सिद्धि हो, उसे अधिकरण सिद्धांत कहा जाता है।

जैसे कि कार्यत्वादि हेतु से पृथ्वी आदि में बुद्धिमत्कर्तृत्व सामान्य की सिद्धि होने के बाद उसके कर्ता के तौर पे नित्यज्ञान, कार्य करने की नित्य इच्छा और नित्य प्रयत्न के आधार के रुप

उपरांत, "यह जगत ईश्वर से उत्पन्न हुआ है।" यह सिद्धांत प्रतितंत्रसिद्धांत है। क्योंकि यह सिद्धांत नैयायिको और वैशेषिको को मान्य है। सांख्यो-जैनो को मान्य नहीं है।

उपरांत वेदांतीओ ने "**माया**" को माना है और दूसरे शास्त्र माया को नहीं मानते है। इसलिए उसे प्रतितंत्रसिद्धांत कहा जाता है। विश्वनाथकृति में कहा है कि "**वादिप्रतिवाद्यैकतरमात्राभ्युपगमतस्तदेकतरस्य प्रतितन्त्रसिद्धांतः।**" अर्थात् वादि और प्रतिवादि, वे दोनो में से एक कुछ खास अर्थ को मानता हो, जब कि दूसरा वादि उस अर्थ को न मानता हो, वह अर्थ प्रतितंत्रसिद्धांत कहा जाता है। जैसे कि नैयायिको ने शब्द को अनित्य माना है, जब कि मीमांसको ने शब्द को नित्य माना है। इसलिए शब्द का नित्यत्व या अनित्यत्व मानना उसे प्रतितंत्रसिद्धांत गिना जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में समर्थ ईश्वर की सिद्धि होती है। (अर्थात् पृथ्वी आदि के कर्ता में सर्वज्ञत्व और विभुत्व मानना चाहिए।)

कहने का मतलब यह है कि, कार्यत्वहेतु से पृथ्वी आदि में बुद्धिमत्कर्तृत्व सिद्ध होता है। उस पृथ्वी आदि के उपादानकारण का प्रत्यक्ष, कार्य करने की इच्छा और प्रयत्न, ये तीन के कारण हुआ है, ऐसा माना जाता है। इसलिए पृथ्वी आदि के कर्ता के रुप में उपादानकारणो का नित्यज्ञान (सर्वज्ञत्व) और विभुत्व ये दोनो से युक्त ईश्वर की सिद्धि होती है।

इस प्रकार पृथ्वी आदि में बुद्धिमत्कर्तृत्व की सिद्धि होने के बाद पृथ्वी आदि के कर्ता के रुप में सर्वज्ञत्व और विभुत्व से युक्त ईश्वर की सिद्धि होती है। उसे अधिकरणसिद्धांत कहा जाता है।

(४) **अभ्युपगम सिद्धांत :** प्रौंढवादियो के द्वारा अपनी बुद्धि का अतिशय बताने की इच्छा से किसी भी अपरीक्षित वस्तु का स्वीकार करके (उस वस्तु की परीक्षा करना एक तरफ रखकर) विशेष परीक्षा की जाये, उसे अभ्युपगम सिद्धांत कहा जाता है।

जैसे कि **''शब्द द्रव्य है''** (यहाँ शब्द द्रव्य है कि गुण है, वह अपरीक्षित है। फिर भी उसको द्रव्य के रुप में परीक्षा किये बिना स्वीकार करके) वह शब्द नित्य है की अनित्य ? ऐसी विशेषपरीक्षा की जाती है। अर्थात् शब्द का द्रव्यत्व इष्ट नहीं है। (फिर भी उसको) स्वीकार करके नित्यत्व - अनित्यत्व की विशेष परीक्षा की जाती है। उसे अभ्युगम सिद्धांत कहा जाता है।

यहाँ यह जानना कि, नैयायिको को शब्द का द्रव्यत्व इष्ट नहीं है। परन्तु अपनी बुद्धि का अतिशय बताने के लिए और प्रतिवादी की बुद्धि की उपेक्षा करने के लिए शब्द में कुछ समय तक द्रव्यत्व का स्वीकार करके, उसमें नित्यत्व है, या अनित्यत्व, उसकी विशेष परीक्षा करना उसे (३४)अभ्युगम सिद्धांत कहा जाता है। इस अनुसार सिद्धांत के चार प्रकार है। ॥२६॥

---

(३४) न्यायसूत्र में इस सिद्धांत के दो अर्थ करके बताये गये है, एक उपर अनुसार का अर्थ और दूसरा नीचे अनुसार का अर्थ जानना।

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धांतः ॥१-१-३१॥

अर्थात् कोई भी वस्तु का सूत्र में निर्देश न किया हो, फिर भी उस वस्तु के विशेषधर्मो की परीक्षा करना वह अभ्युपगमसिद्धांत है।

जैसे कि, मन का इन्द्रिय के रुप में न्यायदर्शन में किसी जगह पे निर्देश नहीं किया है, फिर भी मन इन्द्रिय है, इस प्रकार न्यायसूत्रकार गौतम मानते है। इसलिए उसकी विशेष परीक्षा करते है। मन में इन्द्रियत्व बताये बिना उसकी विशेष परीक्षा करना यह अभ्युपगमसिद्धांत के कारण है। **''परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति।''** (अन्य के मत का खंडन न किया हो, तो वह मत मान्य है, ऐसी शास्त्र की युक्ति है।) वैशेषिकशास्त्र में मन को इन्द्रिय के रुप में गिनाया है और ''मन में इन्द्रियत्व नहीं है''। ऐसा खंडन न्यायसूत्र में कहीं भी किया नहीं है। इसलिए स्पष्ट अनुमान होता है कि न्यायदर्शनकारको मन में इन्द्रियत्व मान्य है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवयवादितत्त्वत्रयस्वरुपं प्ररुपयति ।

अब ग्रंथकारश्री अवयव, तर्क और निर्णय, ये तीन तत्त्वो के स्वरुप की प्ररुपणा करते है -

(मू० श्लो०) प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमस्तथा ।
अवयवाः पञ्च तर्कः संदेहोपरमे भवेत् ।।२७।।
यथा काकादिसंपातात्स्थाणुना भाव्यमत्र हि ।
ऊर्ध्वं संदेहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ।।२८।। युग्मम् ।।

श्लोकार्थ : प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयव है । संदेह का उपरम (नाश) होने के बावजूद तर्क होता है । जैसे कि, कौआ इत्यादि पक्षीओ के संपात से (अभी) यहाँ स्थाणु होना चाहिए । संदेह और तर्क से उर्ध्व (अनंतर) जो ज्ञान होता है, उसे निर्णय माना जाता है । ।।२७-२८।।

व्याख्या-अवयवाः[C-24] पञ्च, के पञ्चेत्याह प्रतिज्ञा हेतुर्दृष्टान्त उपनयो निगमशब्देन निगमनं चेति । तत्र प्रतिज्ञा[C-25] पक्षः धर्मधर्मिवचनं, कृशानुमानयं सानुमानित्यादि । हेतुः[C-26] साधनं [C-27]लिङ्गवचनं, धूमवत्त्वादित्यादि । [C-28]दृष्टान्त उदाहरणाभिधानं, तद्विविधं, अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन च । [C-29]अन्वयमुखेन यथा, यो यो धूमवान्, स स कृशानुमान्, यथा महानसमित्यादि । व्यतिरेकमुखेन यथा, यो यः कृशानुमान्न भवति, स स धूमवान्न भवति, यथा जलमित्यादि । [C-30]उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्, धूमवांश्चायमित्यादि । [C-31]निगमनं हेतूपदेशेन साध्यधर्मोपसंहरणम्, धूमवत्त्वात्कृशानुमानित्यादि ।।

व्याख्या : [३५]अवयव पाँच है। ये पाँच अवयव कौन से है ? प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन ये पांच अवयव है। (श्लोक में "**निगम**" है उसके बदले "निगमन" जानना।)

(१) [३६]**प्रतिज्ञा :** धर्मविशिष्टधर्मी का निर्देश करना, उसे **प्रतिज्ञा** कहा जाता है। अर्थात् साध्यविशिष्ट पक्षबोधक वचन को **प्रतिज्ञा** कहा जाता है। जैसे कि, **कृशानुमान् अयं सानुमान् (= अग्निमान् पर्वतः)** यह प्रतिज्ञावाक्य है।

---

(३५) न्यायमञ्जरीकार ने अवयव की व्याख्या इस अनुसार की है - "**साधनीयार्थप्रतिपत्तिपर्यन्तवचनकलापैकदेशत्वम् अवयवत्वम्**" अर्थात् दूसरे को समजाने के लिए इच्छित अर्थ जितने वाक्यो से सम्पूर्ण तरह से समजाया जा सकता है, इस वाक्यो में से प्रत्येक वाक्य अवयव कहा जाता है।

(३६) प्रतिज्ञा की आवश्यकता क्या है ? प्रतिज्ञा इसलिए दी जाती है कि, आगे दिये जानेवाला हेतु का आधार अथवा विषय वह बन सके। यदि प्रतिज्ञावाक्य उच्चारित न किया जाये, तो हेतु वाक्य निराधार अथवा निर्विषय हो जाये। यदि

(C-24-25-26-27-28-29-30-31) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) [३७]**हेतु :** अर्थात् साधन = लिंग को बतानेवाला वचन। जैसे कि, **धूमवत्त्वात्।**

(३) [३८]**दृष्टांत :** उदाहरण के कथन को दृष्टांत कहा जाता है। उसके दो प्रकार है। (१) अन्वयी दृष्टांत और (२) व्यतिरेकी दृष्टांत। अन्वयी दृष्टांत - **यो यो धूनवान्, स स कृशानुमान्, यथा महानसम्।** व्यतिरेकी दृष्टांतः - **"यो यः कृशानुमान्न भवति, स स धूमवान्न भवति यथा जलम्।"**

(४) **उपनय :** हेतु का उपसंहार करनेवाले वचन को उपनय कहा जाता है। अर्थात् हेतु का पक्ष में उपसंहार करनेवाले **"तथा चायं"** वचन को उपनय कहा जाता है। **"तथा चायं"=धूमवांश्चायम् (पर्वतः)**

(५) **निगमन :** हेतु के उपदेश द्वारा साध्यधर्म का उपसंहार करना, उसे निगमन कहा जाता है। अर्थात् हेतु के उपदेश द्वारा साध्यधर्म का पक्ष में उपसंहार करनेवाले **"तस्मात् तथा"** वचन को निगमन कहा जाता है। **तस्मात् तथा** = **धूमवत्त्वात् कृशानुमान् (अयं = पर्वतः)** (ये पाँच वाक्यो का सामान्य अर्थ इस अनुसार है। (१) साध्यधर्म का धर्मी (पक्ष) के साथ संबंध बताना वह **प्रतिज्ञा, पक्षः साध्यवान्।** (२) उदाहरण के साथ समानता अथवा असमानता रखनेवाले धर्म को साधन के तौर पे बताना उसका नाम **हेतु !** (३) दो धर्मो का जहाँ साध्य-साधन भाव बताया जाये वह **उदाहरण**। (४) साधनरुप धर्म का साध्यरुप धर्म के साथ सामानाधिकरण्य सिद्ध करना उसका नाम [३९]**उपनय**। (५) विपरीत अर्थ

"अग्निमान् पर्वतः" यह वाक्य न बोला जाये तो "धूमात्" यह अकेला वाक्य बोलने का कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होगा। इसलिए न्याय से सिद्ध करने में प्रतिज्ञा महत्वपूर्ण अंग है। न्यायसूत्र **"साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥१-१-३३॥** अर्थात् साध्य का जो निर्देश-कथन है, उसे प्रतिज्ञा कहा जाता है।

प्रशस्तपादभाष्य में कहा है कि प्रतिज्ञा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्वशास्त्र और स्ववचन से विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। जैसे कि (१) **प्रत्यक्षविरोधी : "अनुष्णोऽग्निः", (२) अनुमानविरोधी : "घनम् अम्बरम्"** (आकाश अवयववाला पदार्थ नहीं है।) **(३) आगमविरोधी : "ब्राह्मणेन सुरा पेया" (४) स्वशास्त्र विरोधीः वैशेषिकस्य सत्कार्यम्** इति (वैशेषिक सत्कार्यवादि है।) **(५) स्ववचनविरोधी : "न शब्दोऽर्थप्रत्यायकः"**

(३७) न्यायसूत्र में हेतु का लक्षण साध्य के साधर्म्य से और वैधर्म्य से, ऐसे दो प्रकार बताया गया है। **"उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥१-१-३४॥** अर्थात् उदाहरण के साथ साधर्म्य होने से साध्य का जो साधन हो, उसे हेतु कहा जाता है। जैसे कि, अग्निरुप साध्य की सिद्धि साधन धूमरूप अर्थ बता सकती है। **"तथा वैधर्म्यात्" ॥१-१-३५॥** अर्थात् उसी अनुसार साध्य का साधक हेतु व्यतिरेक से भी हो सकता है।

(३८) न्यायसूत्र में दृष्टांत का लक्षण : **"साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥१-१-३६॥"** अर्थात् साध्य-पक्ष के साथ साधर्म्य से पक्ष के धर्म को बताता हुआ जो दृष्टांत है, इसे उदाहरण कहा जाता है। यहाँ सूत्र में दृष्टांत यह अर्थात्मक है और उदाहरण यह वाक्यात्मक तीसरा अवयव है। इसलिए दृष्टांतरुप अर्थ से उसका वाचक वाक्य उपलक्षित है।

(३९) उपनय का लक्षण न्यायसूत्रकार दूसरी तरह से करते है। **"उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः। ॥१-१-३८॥** अर्थात् अन्वयी और व्यतिरेकी उदाहरण की अपेक्षा रखकर साध्य का उपसंहार करना उसका नाम उपनय कहा जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रतिषेध के लिए प्रतिज्ञेय अर्थ सिद्ध हुआ है, एसा कथन करना उसका नाम [४०]निगमन।

अथ तर्कतत्त्वम् । 'तर्कः **सन्देहोपरमे भवेत्** । **सम्यग्वस्तुस्वरूपानवबोधे किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदेहः संशयस्तस्योपरमे व्यपगमे** [C-32]**तर्कोऽन्वयधर्मान्वेषणरूपो भवेत्** । कथमित्याह-'**यथा काकादीत्यादि**' **यथेत्युपदर्शने काकादिसंपातात् वायसप्रभृतिपक्षिसंपतनादुपलक्षणत्वान्निश्चलत्व-वल्यारोहणादिस्थाणुधर्मेभ्यश्चात्रारण्यप्रदेशे स्थाणुना कीलकेन भाव्यं भवितव्यम्** । हिशब्दोऽत्र निश्चयोत्प्रेक्षणार्थो द्रष्टव्यः । **संप्रति हि वनेऽत्र मानवस्यासंभवात्स्थाणुधर्माणामेव दर्शनाच्च स्थाणुरेवात्र घटत इति । तदुक्तम्**-"आरण्यमेतत्सवितास्तमागतो, न चाधुना संभवतीह मानवः । ध्रुवं तदेतेन खगादिभाजा, भाव्यं स्मरारातिसमाननाम्ना ।।१।।" **[ ] इत्येष तर्कः** ।। अथ निर्णयतत्त्वमाह-'**उर्ध्वमित्यादि**' **पूर्वोक्तस्वरूपाभ्यां संदेहतर्काभ्यामूर्ध्वमनन्तरं यः प्रत्ययः स्थाणुरेवायं पुरुष एव वेति प्रतीतिः स** निर्णयो निश्चयो [C-33]**मतोऽभीष्टः । यत्तदावर्थसंबन्धादनुक्तावपि क्वचन गम्येते, तेनात्र तौ व्याख्यातौ । एवमन्यत्रापि मन्तव्यम्** ।।२७-२८।।

टीकाका भावानुवाद :

अब तर्कतत्त्व को कहते है। संदेह के उपरम (नाश) से तर्क होता है। अर्थात् संदेह का उपरम (नाश) होने पर तर्क की उत्पत्ति होती है।

मतलब यह है कि, वस्तु के स्वरुप का अच्छी तरह से अवबोध (ज्ञान) न होने के कारण, "क्या यह स्थाणु है या पुरुष ? इस अनुसार संदेह होता है और इस संदेह के दूर होने पर (वस्तुके) अन्वयधर्मो के अन्वेषण (तलाश) रुप तर्क की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न : किस तरह से तर्क की उत्पत्ति होती है ?

उत्तर : जैसे कि, कौंओ जैसे दूसरे पक्षीओ का संपात होने से (अर्थात् उस वस्तु की ओर कौंओ फिरते

(१) अन्वयी उदाहरण की अपेक्षा से उपसंहार किया जाता है। जैसे कि, उत्पत्तिधर्मक घटादिद्रव्य अनित्य दिखाई देते है "तथा शब्द भी उत्पत्तिधर्मक है।" इस वाक्य में शब्द के उत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार होता है। (१) **शब्दः अनित्यः** (२) **उत्पत्तिधर्मकत्वात्**, (३) **यो य उत्पत्तिधर्मकः स सोऽनित्यः दृष्टः, यथा घटः** (४) **तथा च शब्दः**

(२) व्यतिरेकी उदाहरण की अपेक्षा रखकर उपसंहार किया जाये तो '**न तथा**' ऐसा शब्द रखकर साध्य का उपसंहार किया जाता है। (१) **शब्दः अनित्यः** (२) **उत्पत्तिधर्मकत्वात्**, (३) **यो य उत्पत्तिधर्मको न भवति, स स अनित्यो न भवति यथा आत्मा**, (४) **न च तथा शब्दः**।

(४०) **निगमन :** साध्य अर्थ अवयव द्वारा सर्वप्रमाणो से सिद्ध होने के बाद उसमें किसी भी प्रकार का विपरीत प्रसंग नहीं है, ऐसा बताने के लिए प्रतिज्ञा के अर्थ का फिर से कथन करना, उसका नाम निगमन कहा जाता है।

(C-32-33) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से) और उपलक्षण से (वह वस्तु) निश्चल है। तथा उसके उपर बेले चडी हुई है, इत्यादि स्थाणु के धर्मो से यहाँ (अभी) जंगल में स्थाणु होना चाहिए। (यथा उपदर्शन में है।) श्लोक में ''हि'' शब्द, यहाँ निश्चय या उत्प्रेक्षण में रहे हुए लिंग को देखकर होती संभावना) अर्थ में जानना। इसलिए भावार्थ इस तरह होगा –

अभी यहाँ वन में मानव का संभव न होने से और स्थाणु के धर्मो का दर्शन होता होने से यहाँ वन में स्थाणु ही हो सकता है। इसलिए कहा है कि...

''यह अरण्य (जंगल) है। सूर्य अस्त हुआ है। (इसलिए)यहाँ अभी मानव का होना संभवित नहीं है। (इसलिए) निश्चय से पक्षीओ को भजनेवाला (अर्थात् पक्षी जिसके आसपास फिर रहे है, वह) स्मराराति समान नाम है, वह स्थाणु होना चाहिए। अर्थात् स्थाणु होना चाहिए। ॥१॥''

(स्मराराति शंकर का एक नाम है और स्थाणु भी शंकर का नाम है। इसलिए शंकर (स्थाणु) समान नाम स्थाणु है।)

यह [(४१)]तर्क की व्याख्या हुई। अब [(४२)]निर्णयतत्त्व को कहते है। पहले जिसका स्वरुप कहा उस स्वरुपवाले संदेह और तर्क के बाद ज्ञान होता है कि ''यह स्थाणु ही है'' अथवा ''यह पुरुष ही है।'' उसे निर्णय-निश्चय कहा जाता है। ''यत् (यः)'' और ''तत् (सः) अर्थ का नियत संबंध होने से श्लोक में न कहा होने पर भी कहीं कहीं दिखाई देता है। इसलिए यहाँ (निर्णय की व्याख्या में) उन दोनो का संबंध करके व्याख्या की है। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना ॥२७-२८॥

---

(४१) न्यायसूत्र में तर्क का लक्षण : (यहाँ तर्क और निर्णय का लक्षण उपर के लक्षण के साथ संगत होने पर भी रजुआत की शैली भिन्न है।) वह देखे - ''**अविज्ञाततत्त्वाऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः** ॥१-१-४०॥'' अर्थात् जिस तत्त्व का (अर्थका) ज्ञान हुआ नहीं है, उस अर्थ का ज्ञान पाने के लिए (कारणोपपत्तितः) व्याप्य के आरोप से तत्त्व के ज्ञान के लिए (ऊहः) व्यापक का आरोप करना उसका नाम तर्क है। कहने का मतलब यह है कि, जिस वस्तु के सामान्यधर्म समज में आये हो, परन्तु विशेषधर्म समज में न आये, तो उसे समजने के लिए कारण (लिंग-हेतु) की सिद्धि द्वारा साध्यवस्तु की सिद्धि की संभावना करना उसका नाम तर्क है।

तर्क की उपयोगिता : तर्क प्रमाणो से भिन्न है। और तत्त्वज्ञान से भी भिन्न है। प्रमाण जिस वक्त (व्यभिचार आदि) शंका के कारण तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करने में कुंठित बनते है। उस वक्त तर्क प्रमाण के मार्ग में आई हुई शंका को दूर कर देता है। और बाद में प्रमाण तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ बनता है। तर्क प्रमाणो को मदद करनेवाला होने से वाद में उसका उपयोग होता है। तर्क के पाँच भेद माने गये है। (१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था, (५) अबाधितार्थ प्रसंग।

(४२) **निर्णय : न्यायसूत्र : ''विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः** ॥१-१-४१॥ अर्थात् संदेह पाकर (विमृश्य) साधन और उपालंभ द्वारा (पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्) अर्थ का अवधारण करना उसका नाम निर्णय है।

यहाँ पक्ष अर्थात् साधक हेतु और प्रतिपक्ष अर्थात् बाधकहेतु लेना। इसलिए स्वपक्ष के साधकहेतु की स्थापना से और प्रतिपक्ष ने दिये हुए बाधकहेतु का खंडन करने से संदिग्ध अर्थ का निर्णय हो सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ वादतत्त्वमाह । अब दसवां वादतत्त्व को कहते है ।

(मूल श्लो०) **आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् ।**
या कथाभ्यासहेतुः स्यादसौ वाद[C-34] उदाहृतः ।।२९।।

श्लोकार्थ : पक्ष और प्रतिपक्ष की स्थापना करके अभ्यास के लिए आचार्य और शिष्य की जो कथा है, (अर्थात् आचार्य और शिष्य जो कथा करते है) उसे वाद कहा जाता है । ॥२९॥

व्याख्या-वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः [C-35]कथा, सा द्विविधा, **वीतरागकथा विजिगीषुकथा च । यत्र वीतरागेण गुरुणा सह शिष्यस्तत्त्वनिर्णयार्थे साधनोपालम्भौ करोति, साधनं स्वपक्षे, उपालम्भश्च परपक्षेऽनुमानस्य दूषणं, सा वीतरागकथा वादसंज्ञयैवोच्यते । वादं प्रतिपक्षस्थापनाहीनमपि कुर्यात् । प्रश्नद्वारेणैव यत्र विजिगीषुर्जिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामो जयपराजयार्थं प्रवर्तते, वीतरागो वा परानुग्रहार्थं ज्ञानाङ्कुरसंरक्षणार्थं च प्रवर्तते, सा चतुरङ्गा वादिप्रतिवादिसभ्यापतिप्राश्निकाङ्गा विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञोक्ता**[C-36] । तथा चोक्तम्- "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं [1]कण्टकशाखावरणवत्" [न्यायसू ४/२/५०] इति । यथोक्तक्षणोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा [न्याय सू. १/२/२,३] इति ।" **वादजल्पवितण्डानां व्यक्तिः ।**

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : वादि और प्रतिवादि की (अनुक्रम से) पक्ष और प्रतिपक्ष की स्थापनारुप कथा दो प्रकार की है । (१) वीतरागकथा, (२) विजिगीषुकथा ।

जहाँ वीतराग गुरु के साथ शिष्य तत्त्व के निर्णय के लिए स्वपक्ष की सिद्धिरुप साधन और परपक्ष में अनुमान का दूषण बताने का उपालम्भ करता है, वह वीतरागकथा है । उसे वाद संज्ञा से कहा जाता है । अर्थात् वीतरागकथा को वाद कहा जाता है ।

वादि प्रतिपक्ष की स्थापना के बगैर भी वाद करता है । अर्थात् वादि तत्त्वनिर्णय के लिए स्वपक्ष की स्थापना के द्वारा, प्रतिपक्ष की स्थापना के बिना भी वाद करता है ।

जहाँ प्रश्नो के द्वार से जीतने की इच्छा के साथ-साथ लाभ, पूजा और प्रसिद्धि की चाहवाला, जो स्व के जय और पर के पराजय के लिए प्रवर्तित होता है, उसे विजिगीषु कथा कहा जाता है । अथवा वीतरागी भी दूसरे के अनुग्रह के लिए और ज्ञानांकुर के संरक्षण के लिए प्रवर्तित होते है । उसे विजिगीषु कथा कहा जाता है ।

(C-34-35-36) - तु० पा० प्र० प० । (१) **"कण्टकशाखापरिचरणवत्, इति प्रत्यन्तरे ।"**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस कथा के चार अंग है। (१) वादि, (२) प्रतिवादि, (३) सभापति, (४) प्राश्निक (सभासद = सभ्य)। विजिगीषुकथा के जल्प और वितंडा ऐसे दो नाम (संज्ञा) कहे हुए है और इसलिए कहा है कि "जैसे बीज के अंकुरो के संरक्षण के लिए कांटो की शाखा का आवरण होता है, (वैसे) तत्त्व के(४३)अध्यवसाय (निश्चय) के संरक्षण के लिए जल्प और वितंडा है।"

अब अवसर प्राप्त जल्प और वितंडा का लक्षण बताते है। (वैसे तो वे दोनो का विवरण गाथा-२० में है।) वाद में जो जो बाते कही हो, उसमें से जो योग्य हो, उससे युक्त और छल, जाति, निग्रहस्थान द्वारा जिसमें साधन का उपालंभ हो उसे जल्प कहा जाता है। और वह जल्प प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन (रहित) हो, तो वितंडा कहा जाता है। इस तरह से वाद, जल्प और वितंडा की स्पष्टता हुई।

अथ प्रकृतं प्रस्तुमः आचार्योऽध्यापको गुरुः, शिष्योऽध्येता विनेयः, तयोराचार्यशिष्ययोः 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्' पक्षः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञादिसंग्रहः, प्रतिपक्ष उत्तरपक्षः पूर्वपक्षप्रतिपन्थी पक्ष इत्यर्थः, तयोः परिग्रहात्स्वीकारात् अभ्यासस्य हेतुरभ्यासकारणम् या कथा प्रामाणिकी वार्त्ता असौ कथा वाद उदाहृतः कीर्तितः । आचार्यः पूर्वपक्षं स्वीकृत्याचष्टे शिष्यश्चोत्तरपक्षमुररीकृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति । एवं पक्षप्रतिपक्षसंग्रहेण निग्राहकसभापतिजयपराजयछलजात्याद्यनपेक्षतयाभ्यासार्थं यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः, स वादो विज्ञेयः ।।२९।।

टीकाका भावानुवाद :

अब मूल बात के उपर आये। आचार्य = अध्यापक गुरु, शिष्य = अध्ययन करनेवाला शिष्य। वह आचार्य और शिष्य की प्रतिज्ञादि से युक्त पूर्वपक्ष की और पूर्वपक्ष के प्रतिपन्थि उत्तरपक्ष की स्थापना करके

---

(४३) यहाँ शंका होती है कि जल्प और वितंडा केवल जितने की इच्छा से होती है और उससे तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता। तो उसकी प्रमाण में गिनती किस तरह से होगी ? और उसे मुक्ति का साधन किस तरह से गिना जायेगा? और उससे तत्त्व के अध्यवसाय का (निश्चय का) संरक्षण किस तरह से होगा ?

इसका उत्तर यह है कि, जैसे बीज के अंकुरो को रक्षण की जरुरत होती है। इसलिए उसका चारो ओर कांटो की बाड (दिवाल) की जाती है, कि जिससे कोई उसको नुकसान न कर सके। उसी अनुसार तत्त्व के रक्षण के लिए किसी वक्त मुमुक्षु को जल्प और वितंडा की भी जरुरत पडती है।

अथवा जल्प का ज्ञान इसलिए मुमुक्षु को देना है कि, मुमुक्षु वादि और प्रतिवादि किस प्रकार की कथा करना चाहते है, वह समज सके। इसलिए वाद का नाम लेकर कोई जल्प में उत्तर पडे तो मुमुक्षु को उसके साथ वार्ता (चर्चा) बंद कर देनी चाहिए। परन्तु ऐसे वक्त में मुमुक्षु को जल्प और वितंडा का ज्ञान होगा, तो ही जल्पक को वह समज सकता है। इस तरह से तत्त्व के अध्यवसाय के (निश्चय के) रक्षण के लिए जल्प और वितंडा आवश्यक है। इसलिए उसका अन्तर्भाव तत्त्वो में किया गया है। इसलिए वह मुक्ति का साधन बन सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभ्यास के लिए जो प्रामाणिक वार्ता (कथा) होती है, उसे (४४)वाद कहा जाता है। (वादमें) आचार्य पूर्वपक्ष की स्थापना करके बोलते है और शिष्य उत्तरपक्ष का स्वीकार करके पूर्वपक्ष का खण्डन करता है। इस अनुसार पक्ष और प्रतिपक्ष के संग्रह के द्वारा निग्राहक, सभापति, जय, पराजय, छल, जाति आदि की अपेक्षा के बिना अभ्यास के लिए जहाँ गुरु-शिष्य गोष्ठी (बातचीत) करते है, उसे वाद जानना। ॥२९॥

अथ जल्पवितण्डे विवृणोति। अब जल्प और वितंडा के स्वरुप को बताते है।

(मूल श्लो०) विजिगीषुकथा या तु छलजात्यादिदूषणा ।
स जल्पः[C-37] सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षवर्जिता ।।३०।।

श्लोकार्थ : छल, जाति आदि से दूषित जो जितने की इच्छा से कथा होती है, उसे जल्प कहा जाता है। (अर्थात् छल, जाति इत्यादि का इस्तेमाल करके केवल जितने की इच्छा से किया जाता हुआ वाद जल्प कहा जाता है।) और (वही विजिगीषु कथा) प्रतिपक्ष से रहित हो तो उसे वितंडा कहा जाता है। (= स्वपक्ष की स्थापना के बिना वाद द्वारा पर पक्ष का खंडन करना, उसे वितंडा कहा जाता है।) ॥३०॥

व्याख्या-या तु या पुनर्विजिगीषुकथा विजयाभिलाषिभ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां प्रारब्धा प्रमाणगोष्ठी, कथंभूता, छलानि जातयश्च वक्ष्यमाणलक्षणानि, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं परोपन्यस्तपक्षादेर्दोषोत्पादनं यस्यां सा छलजात्यादिदूषणा, स विजिगीषुकथारूपो जल्पः उदाहृत इति पूर्वश्लोकात्संबन्धनीयम् । ननु छलजात्यादिभिः परपक्षादेर्दूषणोत्पादनं सतां कर्तुं न युक्तिमिति चेत्, न। सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्तं तस्याभ्यनुज्ञातत्वात्[C-38] । अनुज्ञातं हि स्वपक्षस्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैरपि परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम् । तथा चोक्तम्-

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः । शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोप मण्डिताः ।।१।।

---

(४४) न्यायसूत्र में वाद का लक्षण : "**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्तविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्न पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।॥१-२-१॥**" अर्थात् जिसमें प्रमाण और तर्क से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का खंडन किया जाये, जो सिद्धांत से अविरुद्ध हो, प्रतिज्ञादि पाँच अवयवो से युक्त हो तथा पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार हो, उसका नाम वाद है।

- एक ही अधिकरण में अस्तित्व और नास्तित्व, ऐसे दो विरुद्धधर्म होंगे तो ही वाद हो सकता है। दो विरुद्धधर्म भिन्न-भिन्न अधिकरण में माने जाये तो वाद नहीं हो सकता है। जैसे कि आत्मा है और आत्मा नहीं है, यहाँ एक ही अधिकरण में दो विरुद्ध धर्म होने से वाद हो सकेगा। परन्तु वादि कहता है कि आत्मा नित्य है और प्रतिवादि कहता है कि बुद्धि अनित्य है, तो दो विरुद्ध धर्मो का अधिकरण एक नहीं होने से वाद नहीं हो सकेगा।

(C-37-38) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः । मार्गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ।।२।।" [न्यायम० प्रभा० पृ० ११] इति । **संकटे प्रस्तावे च सति छलादिभिरपि स्वपक्षस्थापनमनुमतम् । परविजये हि न धर्मध्वंसादिदोषसंभवः, तस्माद्वरं बलादिभिरपि जयः 'सा वितण्डा त्वित्यादि' तुशब्दोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च । सा तु सैव विजिगीषुकथैव प्रतिपक्षविवर्जिता वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिपन्थी प्रतिवाद्युपन्यासः प्रतिपक्षस्तेन विवर्जिता रहिता प्रतिपक्षसाधनहीनेत्यर्थः वितण्डोदाहृता । (C-39)वैतण्डिको हि स्वाभ्युपगतपक्षमस्थापयन् यत्किंचिद्वादेन परोक्तमेव दुषयतीत्यर्थः ।।३०।।**

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : विजय की अभिलाषा से वादि और प्रतिवादि के द्वारा प्रारंभ की गई हुई जो प्रमाणगोष्ठी है, उसमें छल-जाति-निग्रहस्थानादि के द्वारा दूसरे ने रखे हुअे पक्षादि में दोषोत्पादान होता है, उसे विजिगीषु कथारुप (४५)**जल्प** कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि, वादि और प्रतिवादि की बातचीत चलती हो, उसमें वादि के द्वारा स्थापित किये हुए पक्षादि में जितने की इच्छा से प्रतिवादि छल-जाति-निग्रहस्थानादि के द्वारा दूषण बताये तो उसे विजिगीषु कथारुप जल्प कहा जाता है। **"उदाहृतः"** पद इस श्लोक में नहीं है। उसका पहले के श्लोक में से यहाँ संबंध करना।

शंका : छल-जाति आदि के द्वारा दूसरे के पक्षादि में दूषण का उत्पादन करना, वह सज्जनो के लिए योग्य नहीं है। (इसलिए जल्प में उसका सहारा लेने के लिए कहा वह योग्य नहीं है।)

(४५) न्यायसूत्र में जल्प का लक्षण ॥१-२-२॥ अर्थ गाथा-२९ में दिया गया है। वाद के अधिकारी मुमुक्षु तत्त्वज्ञानी और वीतराग मनुष्य होते है। जब कि जल्प के अधिकारी जय की इच्छा रखनेवाले होते है।

प्रमाण और तर्क द्वारा पक्ष का स्थापन करना और प्रतिवादि के पक्ष का खंडन भी प्रमाण और तर्क द्वारा करना तथा पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह करना यह वाद का नियम है। जल्प में भी इस अनुसार होना चाहिए। जल्प में ज्यादा इतना जानना कि, प्रमाणाभास का भी यदि आश्रय लिया जा सके तो लेना। यदि प्रतिवादि प्रमाणाभास को समज न सके और उसका खंडन न कर सके तो उसका पराजय होता है। यहां सामान्य से छल-जाति-निग्रहस्थान का स्वरुप बताया गया है। (विशेषस्वरुप तो आगे विस्तार से बताया गया है।)

छल : एक शब्द के एक से ज्यादा अर्थ का स्फूरण होने से वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके उसके वचन का खंडन करना वह **छल**।

जाति : केवल साधर्म्य द्वारा अथवा केवल वैधर्म्य द्वारा खंडन करना वह **जाति**।

निग्रहस्थान : "विपरीत समजना अथवा समज न सकना, उसका नाम **निग्रहस्थान**।"

ये तीन से किसी वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता है। परन्तु वे केवल खंडन के लिए ही है।

(C-39) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान : ऐसा मत कहना । सन्मार्ग की प्रतिपत्ति के निमित्त से छल-जाति का सहारा लेने की भी अनुज्ञा है ही । अर्थात् सन्मार्ग की प्रतिपत्ति (ज्ञान) के निमित्तपन से स्व-परपक्ष के स्थापन से छल-जाति, आदि के उपन्यास के द्वारा भी पर के प्रयोग में (पक्ष में) दूषण का उत्पादन करने की अनुज्ञा है। **इसलिए कहा है कि,** वितंडा के आटोप से (फन से) मंडित ऐसे दुशिक्षित और कुतर्क से भरे हुए बहोत बोलनेवालो के मुंह क्या दूसरी तरह से (छल-आदि के सहारे बिना) जीतने के लिए (बंद करने के लिए) संभव है ?। ॥१॥ और उनसे छल गया (धोखा खाया हुआ) गतानुगतिक लोक मार्ग में से कुमार्ग की और जाता है। इसलिये करुणावान् मुनि (लोगो को मार्ग में लाने के लिए वाद में) छलादि को कहते है । ॥२।

इस अनुसार संकट और अवसर आने पर छलादि के द्वारा भी स्वपक्ष की स्थापना करने की अनुज्ञा दी है। उपरांत (स्व द्वारा) दूसरे के विजय में धर्मध्वंसादि दोष का संभव नहीं है। इसलिए छलादि द्वारा भी विजय श्रेष्ठ है।

''सा वितण्डा तु'' यहाँ **''तु''** निश्चय (अवधारण) के अर्थ में है। और उसका क्रम भिन्न है। वह **''सा''** के साथ लेना है। अर्थात् **''सा तु''** = सैव । वह विजिगीषु कथा ही वादि ने प्रयोजित कीये हुई पक्ष और प्रतिवादि ने प्रयोजित कीये हुई प्रतिपक्ष रहित (अर्थात् प्रतिपक्ष के साधन से रहित) हो, तो उसे वितंडा कहा जाता है। [४६]वितंडा करनेवाला (वादि या प्रतिवादि) अपने को स्वीकृत पक्ष का स्थापन किये बिना जो कुछ बोल के (वाद द्वारा) दूसरे के पक्ष का खंडन करते है । ॥३०॥

अथ हेत्वाभासादितत्त्वत्रयस्वरुपं प्रकटयति । अब ग्रंथकारश्री हेत्वाभास, छल और जाति, ये तीन तत्त्व के स्वरुप को प्रकट करते है।

(मूल श्लो०) हेत्वाभासा[C-40] **असिद्धाद्याश्छलं कूपो नवोदकः ।**
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ।।३१।।

श्लोकार्थ : (जो हेतु साध्य की सिद्धि करने के लिए समर्थ नहीं है, परन्तु हेतु जैसा दिखता है, उसे

(४६) न्यायसूत्र में वितंडा का लक्षण : **''स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥१-२-३॥** अर्थात् जो जल्प प्रतिपक्ष की स्थापना के बगैर का हो, तो उसे वितंडा कहते है । वादि पक्ष की स्थापना करे, और प्रतिवादि अपने पक्ष की स्थापना किये बिना वादि के पक्ष का खंडन करे तो समजना कि प्रतिवादि वितंडा करता है । प्रतिवादि को पक्ष होता है, परन्तु वह स्थापना नहीं करता है, वह समजता है कि वादि के पक्ष का खंडन होगा तो मेरा पक्ष स्थापन हो ही जानेवाला है। इसलिए प्रतिवादि प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं करता है। खंडन करने में वितंडावादि प्रमाण का, प्रमाणाभास का, छल का, निग्रहस्थान का भी उपयोग करता है। वितंडा का फल प्रतिवादि के गुप्त पक्ष की सिद्धि होना वही है । ऐसी वितंडारुप कथा मुमुक्षु को स्वपक्ष के समर्थन के लिए कभी भी उपयोग में नहीं लेनी चाहिए । केवल जितने की इच्छावाले राग-द्वेषवाले वादि-प्रतिवादि ही स्वपक्ष के समर्थन के लिए वितंडा का आश्रय लेते है ।

(C-40) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेत्वाभास कहा जाता है।) वे हेत्वाभास असिद्धआदि पाँच है। (एक शब्द के एक से ज्यादा अर्थ का स्फुरण होने से वक्ता के मंतव्य (अभिप्राय) से भिन्न अर्थ की कल्पना करके उसके वचन का खण्डन करना वह) छल है। जैसे कि "**नवोदक कूप**"। जिसके द्वारा पक्षादि दूषित नहीं होते, (फिर भी दूषित करने के लिए प्रयोजित किया जाता है, उस) दूषणाभास को '**जाति**' कहा जाता है। ॥३१॥

व्याख्या-असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासाः **। तत्र पक्षधर्मत्वं यस्य नास्ति, सोऽसिद्ध[C-41]:, अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति १ । विपक्षे सन्सपक्षे चासन् विरुद्धः [C-42], नित्यः शब्दः कार्यत्वादिति २ । [C-43]पक्षादित्रयवृत्तिरनैकान्तिकः[C-44] अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति ३ । हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमयस्तमतीत्यापदिष्टः प्रयुक्तः, प्रत्यक्षागमविरुद्धे पक्षे वर्तमानः (इत्यर्थः) हेतुःकालात्ययापदिष्टः[C-45], अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात्, ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवदिति ४ । स्वपक्षसिद्धाविव परपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः[C-46], प्रकरणे पक्षे प्रतिपक्षे च तुल्य इत्यर्थः । अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्, सपक्षवदित्येकेनोक्ते द्वितीयः प्राह यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं साध्यते, तर्हि नित्यतासिद्धिरप्यस्तु, यथा नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् सपक्षवदिति, अथवाऽनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटवत्, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुप-लब्धेराकशवदिति । न चैतेष्वन्यतरदपि साधनं बलीयो यदितरस्य बाधकमुच्यते ५ । निग्रहस्थानान्तर्गता अप्यमी हेत्वाभासा न्यायविवेकं कुर्वन्तो वादे वस्तुशुद्धिं विदधतीति पृथगेवोच्यन्ते ।**

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : असिद्ध (साध्यसम), विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट, (कालातीत-बाधित) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) ये पांच हेत्वाभास है।

(१) [४७]**असिद्ध हेत्वाभास :** जो हेतुका पक्षधर्मत्व रूप नहीं है, वह असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। अर्थात् जो हेतु पक्ष में प्रवर्तित न हो, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे कि "**शब्दोऽनित्यः,**

---

(४७) न्यायसूत्र में असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण : **साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः** । अर्थात् साध्य के साथ जिसकी समानता हो, उसमें साध्यत्व (सिद्धत्व नहीं) होने से वह हेतु साध्यसम हेत्वाभास कहा जाता है। इसका दूसरा नाम असिद्ध हेत्वाभास है।

भावार्थ : पक्ष में जैसे वह्नि आदि साध्य होते है। वैसे साध्य को सिद्ध करने के लिये दिया गया हेतु भी सिद्ध करने योग्य हो अर्थात् सिद्ध न हो (असिद्ध हो) तो वह साध्य का साधक नहीं बन सकता है। जो सिद्ध हो वही हेतु बन सकता है। असिद्ध नहीं। जैसे कि "**द्रव्यं छाया गतिमत्त्वात्**" यहाँ छाया पक्ष है। द्रव्यत्व साध्य है। 'गतिमत्त्व' हेतु है। छाया द्रव्य है, क्योंकि उसमें गतिमत्त्व है। यहाँ गतिमत्त्व हेतु असिद्ध है। क्योंकि छाया में गति है या नहि

(C-41-42-43-44-45-46) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाक्षुषत्वात् ।" यहाँ चाक्षुषत्व हेतु पक्ष (शब्द) में नहीं है। (क्योंकि चाक्षुषत्व रुप में होता है, शब्द में नहीं ।) इसलिए **"चाक्षुषत्व"** हेतु असिद्ध है। चाक्षुषत्व यानि चक्षुजन्य प्रत्यक्षविषयत्व।

है ? वह सिद्ध करना है। जब तक छाया में गति सिद्ध न हो तब तक छाया में द्रव्यत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।

प्रकाश का जो अभाव है, वह छाया है। इसलिए उसमें गति नहीं हो सकेगी। छाया चलती हुई दिखती है। वह भ्रम है। द्रव्य में ही गुण और क्रिया रह सकते है। छाया तो प्रकाश का अभाव होने से गुण या क्रिया नहीं है। छाया में या अंधकार में किसी भी प्रकार का रुप नहीं है। क्योंकि किसी भी काली अथवा रुपवाली वस्तु को देखने के लिए बाह्य प्रकाश की जरुरत ही नहीं पडती है। छाया यह भी हलका सा अंधकार ही है। इसलिए छाया द्रव्य ही नहीं है। वैसे उसमें गति हो ही नहीं सकती। इसलिए गतिमत्त्व हेतु असिद्ध (साध्यसम) हेत्वाभास है।

- **न्यायवार्तिक तथा विश्वनाथवृत्ति आदि ग्रंथो में असिद्ध हेत्वाभास के (अ) आश्रयासिद्धि, (ब) स्वरुपासिद्धि, (क) व्याप्यत्वासिद्धि, यह तीन भेद किये हुए है। परन्तु न्यायसूत्र, उसके उपर के भाष्य में और इस षडदर्शन समुच्चय में असिद्ध (साध्यसम) हेत्वाभास के तीन भेद किये नहीं है। ये तीन भेद तर्कसंग्रह में न्यायबोधिनीकार ने दिये है। इसे संक्षिप्त में देखें।**

(अ) **आश्रयासिद्धि : "आश्रयासिद्धिर्नाम पक्षतावच्छेदकविशिष्टपक्षाप्रसिद्धिः।"** अर्थात् पक्षतावच्छेदक विशिष्ट पक्ष की अप्रसिद्धि को **"आश्रयासिद्धि"** कहा जाता है। सरल भाषा में कहे तो **"यस्य हेतोः पक्षोऽप्रसिद्धः स आश्रयासिद्धिः"** जिस हेतु का पक्ष अप्रसिद्ध हो, उसे आश्रयासिद्धि कहा जाता है।

जैसे कि, **"गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात्"** यहाँ **"अरविन्दत्व"** हेतु का पक्ष **"गगनारविन्द"** अप्रसिद्ध है। इसलिए **'अरविन्दत्वं'** हेतु आश्रयासिद्ध है।

(ब) **स्वरुपासिद्धि : "स्वरुपासिद्धिर्नाम पक्षे हेत्वभावः"** (अर्थात् **यो हेतुः पक्षे न वर्तते स स्वरुपासिद्धिः**)। जो हेतु पक्ष में रहता नहीं है, उसे स्वरुपासिद्धि कहा जाता है। जैसे कि **"शब्दो गुणश्चाश्रुषत्वात्, रुपवत्"**-यहाँ **'चाक्षुषत्व'** हेतु पक्ष शब्द में नहीं है। क्योंकि, चाक्षुषत्व हेतु रुप में होता है, शब्द में नहीं। इसलिए चाक्षुषत्व हेतु स्वरुपासिद्ध है।

(क) **व्याप्यत्वासिद्धि : "सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः।"** उपाधिसहित हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है।

"साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः" अर्थात् जिसमें साध्य व्यापक हो और साधन अव्यापक हो, उसे उपाधि कहा जाता है।

साध्याधिकरणवृत्ति अत्यन्ताभावीयप्रतियोगिता का अभाव जिस में है, वह "साध्य व्यापक" है और साधनाधिकरणवृत्ति अत्यान्ताभावीयप्रतियोगिता जिसमें है। वह साधनाव्यापक है।

जैसे कि, **"पर्वतो धूमवान् वह्नेः"** यहाँ **"आर्द्रेन्धनसंयोग"** उपाधि है। साध्य धूमाधिकरण मात्र में आर्द्रेन्धनसंयोग का अभाव नहीं है। परन्तु घटादि का अभाव है। तादृशघटाद्यभावीय प्रतियोगिता का अभाव आर्द्रेन्धन संयोग में है। इसलिए साध्य धूम का व्यापकत्व आर्द्रेन्धनसंयोग में है। और जो **यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्रार्द्रेन्धनसंयोगः** इत्याकारक व्याप्ति में समजा जा सकता है। साध्यवह्न्यधिकरण अयोगोलक में आर्द्रेन्धन संयोग का अभाव है। तादृश अभावीय प्रतियोगिता आर्द्रेन्धन संयोग में होने से साधन (वह्नि का) अव्यापकत्व आर्द्रेन्धनसंयोग में है। जो, **यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र नार्द्रेन्धनसंयोगः यथा अयोगोलके।** इस व्याप्ति से समजा जा सकता है। इसलिए आर्न्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है और तादृशउपाधि विशिष्ट वह्नि हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) **विरुद्ध हेत्वाभास :** जो हेतु विपक्ष में है और सपक्ष में न हो, वह विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे कि, "**शब्दो नित्यः कार्यत्वात्।**" यहाँ कार्यत्व हेतु विपक्ष घट में रहता है और सपक्ष आकाश में नहीं रहता है। इसलिए कार्यत्व हेतु (४८)विरुद्ध है।

(३) **अनैकान्तिक :** पक्षादित्रय में वृत्ति हेतु अनैकान्तिक कहा जाता है। जैसे कि, "**अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वात्।**" यहाँ प्रमेयत्वहेतु पक्ष शब्द में वृत्ति है। सपक्ष = घट में है और विपक्ष = आकाश में भी है। इसलिए प्रमेयत्वहेतु (४९)अनैकान्तिक है।

---

(४८) **न्यायसूत्र में विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण : "सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥१-२-६॥"** सिद्धांत-साध्य को स्वीकार करके, उसका विरोध करनेवाले हेतु का स्थापन करना, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहा जाता है।

जैसे कि "**अयं वह्निमान् ह्रदत्वात्**" - **ह्रदत्व** हेतु साध्यरुप जो वह्नि है, उसके अभाव को सिद्ध करता है। क्योंकि सरोवर में अग्नि नहीं होता है। इसलिए ह्रदत्व हेतु विरुद्ध है।

दूसरी तरह से : साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः साध्याभाव के व्याप्त हेतु को विरुद्ध कहा जाता है। जैसे कि **शब्दो नित्यः कृतकत्वात्**। यहाँ कृतकत्व हेतु विरुद्ध है। क्योंकि 'जहाँ जहाँ कृतकत्व है, वहाँ वहाँ अनित्यत्व है' । यह व्याप्ति विशिष्ट कृतकत्व हेतु नित्यत्वाभाव (अनित्यत्व को) व्याप्त है।

(४९) **न्यायसूत्र में अनैकान्तिक को सव्यभिचार हेत्वाभास कहा हुआ है। "अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥१-२-७॥** किसी भी दो वस्तु का एक दूसरे में नियत सहचार न होना, उसे सव्यभिचार हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे कि **नित्यः शब्दः, अस्पर्शत्वात्**। शब्द नित्य है। क्योंकि उसमें स्पर्श नहीं है।

अस्पर्शत्व हेतु का साध्य (अर्थात् नित्यत्व) के साथ नियतसहचार नहीं है। "जहाँ जहाँ अस्पर्शत्व है, वहाँ वहाँ नित्यत्व है।" ऐसी व्याप्ति नहीं बाँधी जा सकती। क्योंकि अस्पर्शत्व बुद्धि में हैं और उसमें नित्यत्व नहीं है।

उपरांत "जहाँ जहाँ अस्पर्शत्व है, वहाँ वहाँ अनित्यत्व है" ऐसी व्याप्ति भी नहीं बांधी जा सकती। क्योंकि, अस्पर्शत्व आत्मा में है परन्तु वहाँ अनित्यत्व नहीं है। इस प्रकार शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए दिया गया हेतु सव्यभिचार है।

- अन्य ग्रंथो में अनैकान्तिक हेत्वाभास के तीन प्रकार कहे गये है। (तर्कसंग्रहानुसार)

(अ) **साधारण अनैकान्तिक : "साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः"** जिस हेतु की साध्याभाववत् में वृत्ति होती है उसको साधारण अनैकान्तिक कहा जाता है। जैसे कि "**पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्**" यहाँ प्रमेयत्व हेतु साध्याभाववद् = वह्न्यभाववद् ह्रदादि में वृत्ति है। इसलिए साधारण अनैकान्तिक है।

(ब) **असाधारण अनैकान्तिक : सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः** सर्व सपक्ष और विपक्ष से व्यावृत्त और पक्षमात्र में वृत्ति हेतु को असाधारण अनैकान्तिक कहा जाता है। जैसे कि, "**शब्दो नित्यः शब्दत्वात्**"। यहाँ सर्व सपक्ष नित्यपदार्थ में और विपक्ष अनित्यपदार्थ में शब्दत्व अवृत्ति है और पक्षमात्र में वृत्ति है। इसलिए "**शब्दत्व**" हेतु असाधारण अनैकान्तिक कहा जाता है।

(क) **अनुपसंहारी अनैकान्तिक : अन्वयव्यतिरेकदृष्टांतरहितोऽनुपसंहारी** - अन्वय और व्यतिरेक दृष्टांत से रहित हेतु को अनुपसंहारी अनैकान्तिक कहा जाता है। जैसे कि "**सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्**" यहाँ सर्व पक्ष होने से (और पक्ष को दृष्टान्त के रुप में न दिया जा सकता होने से)अनित्यत्व की व्याप्ति प्रमेयत्व में है या नहि ? इस संदेह को दूर करने के लिए अन्वयी या व्यतिरेकी भी उदाहरण न मिलने से व्याप्ति नहीं बाँधी जा सकती।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) **कालात्ययापदिष्ट :** हेतु का प्रयोग प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध (अनुपहत) ऐसे पक्ष में स्वीकार किया गया हो, उसको अतीत्यापदिष्ट कहा जाता है और प्रत्यक्ष तथा आगम से विरुद्ध पक्ष में रहा हुआ हेतु (५०)कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है।

जैसे कि, "**अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात्**"। यहाँ पक्ष अग्नि है। साध्य अनुष्णत्व और हेतु कृतकत्व है। स्पर्शन प्रत्यक्ष से अग्नि उष्ण है, ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए प्रत्यक्ष विरुद्ध पक्ष-अग्नि में कृतकत्वहेतु विद्यमान है। इसलिए कृतकत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट है।

बाह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात्, क्षीरवत्। यहाँ "ब्राह्मण सुरापान करे" वह आगम से विरुद्ध है। इसलिए द्रवद्रव्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट है।

(५) **प्रकरणसम :** स्वपक्ष की सिद्धि की तरह परपक्ष की सिद्धि भी होती है, वह तीन स्वरुपवाला हेतु (५१)प्रकरणसम हेत्वाभास कहा जाता है। अर्थात् प्रकरण, पक्ष और प्रतिपक्ष तीनो में तुल्य होता है।

(निर्णय लाने के लिए जिसके उपर विचार होता है। उसे प्रकरण कहा जाता है। साध्यवाला पक्ष और साध्याभाववाला प्रतिपक्ष कहा जाता है। हेतु का यह काम है कि ऐसे स्थान पे निर्णय करना कि जिससे प्रकरण की समीक्षा पूरी हो जाये और उसके साथ पक्ष और प्रतिपक्ष भी दूर हो जाये। परन्तु ऐसे स्थान पे वादि और प्रतिवादि अपनी असमर्थता के कारण ऐसा हेतु रखता है, कि जिससे प्रकरण का विचार चलता ही रहे, निर्णय न दे सके। तब वह हेतु प्रकरण जैसा ही हुआ अर्थात् प्रकरणसम हुआ।) जैसे कि "**अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यत्वात् सपक्षवत्**" ऐसा एकके द्वारा कहा गया (तब) दूसरे ने कहा कि, इस प्रकार

---

(५०) **कालात्ययापदिष्ट :** न्यायसूत्र में इसको कालातीत हेत्वाभास कहा गया है। "**कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।** ॥१-२-९॥ साध्यकाल के अभाव में प्रयुक्त हेतु कालात्ययापदिष्ट-कालातीत हेत्वाभास कहा जाता है।

तर्कसंग्रहानुसार : नव्यनैयायिको ने कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास को **बाध** (बाधित) हेत्वाभास कहा है।

"**यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः**" जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित है, उस हेतु को बाधित कहा जाता है। जैसे कि "**वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्**" यहाँ द्रव्यत्व हेतु का साध्य (अनुष्ण) का अभाव (उष्णत्व) स्पार्शन प्रत्यक्ष से वह्नि में निश्चित है। इसलिए द्रव्यत्व हेतु बाधित है।

दूसरी तरह से : साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु के रुप में बताया गया हो, उसका एक भाग साध्य के अभाव के साथ जुड़ता हो, तो उसे कालात्ययापदिष्ट-कालातीत कहा जाता है।

(५१) न्यायसूत्रानुसार "**यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट स प्रकरणसमः**" ॥१-२-७॥ जिससे साध्यसंबंधित समीक्षा चालू ही रहे, ऐसा हेतु निर्णय के लिए दिया गया हो, उसे प्रकरणसम हेत्वाभास कहा जाता है। अनुमान प्रयोग उपर अनुसार जानना। नव्यनैयायिको ने इसको सत्प्रतिपक्ष कहा है उस अनुसार : "**साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः**" जिसके साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु है, उस हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है। जैसे कि "**शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववद्**" यहाँ श्रावणत्व हेतु का साध्य नित्यत्व के अभाव (अनित्यत्व) का साधक "**शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, घटवत्**" यह कृतकत्वहेतु है। इसलिए श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है, तो शब्द की नित्यता भी सिद्ध हो जायेगी। जैसे कि, "**नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् सपक्षवत्।**" अथवा एकके द्वारा (शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए) ऐसा कहा जाता है कि "**अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटवत्।**" तब दूसरे के द्वारा (शब्द की नित्यता सिद्ध करने) कहा गया कि, "**नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेराकाशवत्।**"

इस प्रकार ये सब अनुमानप्रयोग में एक भी साधन ऐसा बलवान (मजबूत) नहीं है कि, जो दूसरे के साधन का बाध करनेवाला हो। अर्थात् प्रकरण की समीक्षा पूरी करे वैसा एक भी हेतु नहीं है। इसलिए वह त्रिस्वरुपवान् हेतु प्रकरणसम है।

ये हेत्वाभास निग्रहस्थान के अंतर्गत आ जाते है। फिर भी ये हेत्वाभास न्याय का विवेक करते हुए वाद में वस्तुशुद्धि को करते है। इसलिए उसे निग्रहस्थान से पृथक् (भिन्न) ही कहा जाता है।

"छलं कूपो नवोदकः" इति। परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतकल्पनया वचनविघात छलम्[C-47]**। तत्त्रिविधं**[C-48] **वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारछलं च। परोक्तेऽर्थान्तरकल्पना** वाक्छलम्[C-49] **। यथा नव्यः कम्बलोऽस्येत्यभिप्रायेण नवकम्बलो माणवक इत्युक्ते छलवाद्याह, कुतोऽस्य नवसंख्याः कम्बला इति १। संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः** सामान्यछलम्[C-50] **। यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति। तच्छलवादि ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते। व्रात्येनानैकान्तिकमेतत्, यदि हि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति, तदा व्रात्येऽपि सा भवेत्। व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति २। औपचारिके प्रयोगे मुख्यार्थकल्पनया प्रतिषेध** उपचारछलम्[C-51] **। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते छलवाद्याह, मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति, न मञ्चास्तेषामचेतनत्वादिति ३। अथ ग्रन्थकृच्छलं व्याचिख्यासुराद्यस्य वाक्छलस्योदाहरणमाह, 'कूपो नवोदक' इति, अत्र नूतनार्थनवशब्दस्य प्रयोगे कृते छलवादी दूषयति। कुत एक एव कूपो नवसंख्योदक इति। अनेन शेषछलद्वयोदाहारणे अपि सूचिते द्रष्टव्ये**[C-52] **इति॥**

टीकाका भावानुवाद :

अब छल का स्वरुप कहा जाता है। दूसरो ने उपन्यास किये हुए (रखे हुए) वाद में अपनी इच्छित कल्पना के द्वारा वचन का विघात करना उसे छल कहा जाता है। (अर्थात् जब दूसरे ने एक कथन किया, तब एक शब्द के एक से ज्यादा अर्थ होते होने से, दूसरे द्वारा वक्ता के कथन के अभिप्राय से (मंतव्य से) भिन्न अर्थ की कल्पना करके उसका वाक्य का-वचन का खंडन करना उसे छल कहा जाता है। जैसे कि, "**कूपो नवोदकं**" यहाँ वक्ता का अभिप्राय "नये पानीवाला कुआँ है।" ऐसा कहने का है। परन्तु "**नव**" शब्द

(C-47-48-49-50-51-52) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का "**नया**" और "**नवसंख्या**" ऐसे दो अर्थ होते है। ऐसे समय कोई व्यक्ति वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके "**कुतः एक एव कूपो नवसंख्योदकः ?**" इस तरह से उसके वचन का विघात (खंडन) करता है, उसे छल कहा जाता है।)

इस छल के तीन प्रकार है। (१) वाक्छल, (२)सामान्यछल, (३) उपचारछल।

(१) **वाक्छल :** दूसरो ने कहे हुए अर्थ में अर्थान्तर की कल्पना करना वह **वाक्छल** है। अर्थात् दूसरे ने उपन्यास किये हुए (रखे हुए) अर्थ में अर्थान्तर (दूसरे अर्थ की) कल्पना द्वारा उसके वचन को गलत सिद्ध करना उसे **वाक्छल** कहा जाता है।

जैसे कि "**नव्य कम्बलोऽस्य**" इस अनुसार के अभिप्राय से "**नवकम्बलको माणवकः**" इस अनुसार कहने पर भी छलवादि कहते है कि "**कुतोऽस्य नवसंख्याः कम्बलाः**" तो यह वाक्छल है।

कहने का मतलब यह है कि "नया कंबल है जिसका वह माणवक" अर्थात् "नये कंबलवाला माणवक" ऐसे अभिप्राय से वक्ता के बोलने पर भी (नव शब्द के अनेक अर्थ होते होने से) छलवादि वक्ता के अभिप्राय से दूसरे अर्थ की कल्पना करके ९ (नौ) कंबल इसके पास कहां से ? ऐसा छल करके वक्ता के वाक्य को गलत साबित करने का प्रयत्न करे, उसे **वाक्छल** कहा जाता है।

(२) **सामान्य छल :** संभावना द्वारा अतिसामान्य के उपन्यास में भी हेतुत्व के आरोप द्वारा उसका निषेध करना उसे **सामान्य छल** कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि, संभवित होनेवाला अर्थ का अतिसामान्य (जो सामान्यरुप धर्म किसी जगह उल्लंघन करे, उसे अतिसामान्य कहा जाता है। उस अतिसामान्य) के साथ संबंध लगा के असंभवित अर्थ की कल्पना करना उसका नाम **सामान्यछल** है।

जैसे कि, किसी सभा में कोई व्यक्ति ने किसी पवित्र और विद्वान ब्राह्मणमात्र को ध्यान में रखकर कहा कि "**अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्नः**" अर्थात् यह ब्राह्मण कितना सदाचारी और विद्वान है।

इस ब्राह्मण की स्तुति के प्रसंग में, (इस वाक्य को सुनकर वाक्य को अनुमोदन (समर्थन) देते हुए) किसी ने कहा कि "**संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्**" बाह्मण में विद्या और पवित्र आचरण होना यह संभवित है।

यह सुनकर ब्राह्मणत्व में हेतुत्व का आरोप करके (उपरोक्त विधान का) खंडन (निराकरण) करता हुआ छलवादि कहता है कि - यह हेतु व्रात्य के साथ अनैकान्तिक है। क्योंकि "**यदि हि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद् भवति, तथा व्रात्येऽपि सा भवेत्। व्रात्योऽपि ब्राह्मण एव।**" अर्थात् यदि ब्राह्मण में विद्या और सदाचार संभवित हो, तो व्रात्य भी ब्राह्मण है। इसलिए वह भी विद्या और सदाचार संपन्न होना चाहिए।

इसे सामान्यछल कहा जाता है। (क्योंकि ब्राह्मणत्व यह सामान्य वस्तु है और उसका विद्या और

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचरण के साथ किसी जगह पे संबंध होता है और किसी जगह पे नहीं भी होता है। इसलिए वह हेतु अनैकान्तिक है।) वक्ता ने ब्राह्मणत्व को विद्या और आचरण के हेतु के रुप में नहीं बताया है। (जो ब्राह्मण में विद्या और आचरण हो वही सच्चा ब्राह्मण और जिसमें वह न हो, तो वह केवल नामका ही ब्राह्मण है। जिसका समय अनुसार उपनयन संस्कार (यज्ञोपवित जनेऊ धारण करना) न हुआ हो, उसे व्रात्य कहा जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का देर से देर उपनयन का समय १६-२२ और २४ साल का है।) इसलिए जैसा धूम का अग्नि के साथ अव्यभिचरित संबंध है, वैसा ब्राह्मणत्व का विद्या और आचरण के साथ अव्यभिचरित संबंध मालूम नहीं होता है।

इसलिए ब्राह्मण में विद्या और सदाचार है, यह तो ब्राह्मण की प्रशंसा है। परन्तु यह हेतु नहीं है। इसलिए ब्राह्मणत्व को हेतु के रुप में मानकर जो असंभवित अर्थ की कल्पना की है, वह छल है, इसलिए आपका खण्डन असत्य है। जैसे कि कोई कहे कि - "इस खेत में अन्न अच्छा पैदा होता है।"

यहाँ इस वाक्य का अभिप्राय खेत की प्रशंसा में ही है। परन्तु खेत बीज के बिना, योग्य ऋतु के बिना और बरसात के बिना धान्य के ढेर उत्पन्न करता है, ऐसा अर्थ नहीं है। उसी अनुसार ब्राह्मण विद्या का और सदाचार का पात्र होना संभवित है (परन्तु) हेतु नहीं है। इतना ही उपरोक्त वाक्य का भावार्थ है।

प्रशंसा और हेतु ये दोनो एक नहीं है। इसलिए प्रतिवादिने अतिसामान्य से संबंध लगाकर वक्ता के वाक्य में रहे हुए अभिप्राय का अर्थान्तर (दूसरा अर्थ) किया। वह सामान्य छल है।

(३) **उपचारछल :** औपचारिक प्रयोग में मुख्य अर्थ की कल्पना के द्वारा जो प्रतिषेध करना, उसे उपचार छल कहा जाता है।

जैसे कि, वक्ता ने कहा कि "**मञ्चाः क्रोशन्ति**"-यह सुनकर छलवादि खण्डन करता हुआ कहता है कि "**मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति, न मञ्चाः, तेषामचेतनत्वात्**" अर्थात् मंच के उपर बेठे हुए पुरुष बोलते है। मंच बोलता नहीं है। क्योंकि वह अचेतन है।

(यह खण्डन प्रतिवादि (छलवादि) का बिलकुल गलत है। क्योंकि वादि ने मंच शब्द का गौण अर्थ मंच के उपर बैठे हुए पुरुष ही लिया है, क्योंकि "**क्रोशन**" रुप अर्थ मंच में संभवित नहीं है। मंच का मुख्य अर्थ तो लकड़ी का बनाया हुआ मंच ही होता है। इसलिए वादि के अभिप्राय से विरुद्ध जाकर प्रतिवादिने मुख्य अर्थ लेकर मंच बोलते नहीं है, इस अनुसार छल किया, उसे उपचारछल कहा जाता है।

अब ग्रंथकार श्री प्रथम वाक्छल के उदाहरण को कहते है। "**कूपो नवोदकः**" यहाँ नूतनअर्थ में "**नव**" शब्द का प्रयोग करने पर भी छलवादि दूषण देते है कि "**कुतः एक एव कूपो नवसंख्योदकः**" एक ही कुअे में नो संख्या के पानी कहाँ से ? इस तरह से छल करके वादि के विधान का खंडन करता है। उसे वाक्छल कहा जाता है। (विशेष आगे देखना।)

इससे शेष दो छल के उदाहरण भी सूचित हुए जानना।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जातय" इत्यादि, दूषणाभासा जातयः । C-53 अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः । यैः पक्षादिः पक्षहेत्वादिर्न दुष्यत आभासमात्रत्वान्न दूषयितुं शक्यते, केवलं सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झगिति तद्दोषत्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः । सा च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन । यथा-[१]साधर्म्य [२]वैधर्म्य [३]उत्कर्ष [४]अपकर्ष [५]वर्ण्य [६]अवर्ण्य विकल्प[७] [८]साध्य [९]प्राप्ति [१०]अप्राप्ति [११]प्रसङ्ग प्रतिदृ[१२]ष्टान्त [१३]अनुत्पत्ति [१४]संशय [१५]प्रकरण हेतु[१६] [१७]अर्थापत्ति [१८]अविशेष [१९]उपपत्ति [२०]उपलब्धि [२१]अनुपलब्धि नित्य[२२] [२३]अनित्य [२४]कार्यसमा । तत्र [(अ)]साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् । यद्यनित्यघटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्द इष्यते, तर्हि नित्याकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यत्वं प्राप्नोतीति १ ।

टीकाका भावानुवाद :

दूषण के आभास को जाति कहा जाता है। अदूषण भी दूषण जैसे लगे उसे दूषणाभास कहा जाता है और वह दूषणाभास जातिरुप है।

कहने का मतलब यह है कि जिनके द्वारा पक्ष, हेतु आदि दूषित नहीं होते। क्योंकि आभासमात्र होने से दूषित करने के लिए संभव भी नहीं है। परन्तु केवल वादि के द्वारा प्रयोजित सम्यग् हेतु में या हेतु के आभास में यकायक (अचानक) उसके दोषत्व का अप्रतिभास होने पर भी हेतु की तुलना द्वारा किसी भी प्रकार से, खण्डन करना उसे जाति कहा जाता है। वह जाति साधर्म्यादि प्रत्यवस्थान के भेद से २४ प्रकार की है। (१) साधर्म्य, (२) वैधर्म्य, (३) उत्कर्ष, (४) अपकर्ष, (५) वर्ण्य, (६) अवर्ण्य, (७) विकल्प, (८) साध्य, (९) प्राप्ति, (१०) अप्राप्ति, (११) प्रसंग, (१२) प्रतिदृष्टांत, (१३) अनुत्पत्ति, (१४) संशय, (१५) प्रकरण, (१६) हेतु, (१७) अर्थापत्ति, (१८) अविशेष, (१९) उपपत्ति, (२०) उपलब्धि, (२१) अनुपलब्धि, (२२) नित्य, (२३) अनित्य और (२४) कार्य। यहाँ प्रत्येक २४ जाति के नाम के पीछे "**समा**" जोडना। इसलिए साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा इत्यादि समजना।

(१) **साधर्म्यसमा जाति :** साधर्म्य के द्वारा खंडन करना उसे साधर्म्यसमा जाति कहा जाता है। अर्थात् साधर्म्य के द्वारा साध्य का प्रतिषेध करना उसे **साधर्म्यसमा** जाति कहा जाता है।

जैसे कि "**शब्दोऽनित्य, कृतकत्वात्, घटवत् ।**" इस अनुसार प्रयोग किया होने पर भी साधर्म्य का प्रयोग द्वारा खंडन करना। (उसे साधर्म्यजाति कहा जाता है।) वह इस प्रकार से है -

---

(अ) साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ।। न्याय सू. ५ ।१ ।२ ।। साधर्म्येण समवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति ।। न्याक० पृ० १७ ।।

(C-53) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि अनित्य घट के साधर्म्य से, कृतकत्व हेतु द्वारा (अर्थात् घट कृतक है, वैसे शब्द भी कृतक है, ऐसे कृतकत्व हेतु द्वारा) शब्द अनित्य इच्छित है, तो नित्य आकाश के साधर्म्य से अमूर्तत्व हेतु द्वारा (अर्थात् आकाश अमूर्त है, वैसे शब्द भी अमूर्त है। ऐसे अमूर्तत्व हेतु द्वारा) शब्द में नित्यत्व प्राप्त होता है। क्योंकि शब्द और आकाश दोनो अमूर्त होने से, उस साधर्म्य द्वारा शब्द भी आकाश की तरह नित्य होगा।

इस प्रकार, अमूर्त का साधर्म्य से शब्द में साध्याभाव = नित्यत्व सिद्ध हुआ। अर्थात् साध्य का प्रतिषेध (खंडन) हुआ। इस प्रकार से वहाँ साधर्म्य के द्वारा साध्य का खंडन होने से साधर्म्यसमा जाति है।

वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः, **अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवदित्यत्रैव प्रयोगे वैधर्म्येणोक्ते वैधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानम्** । नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, अनित्यं हि मूर्तं दृष्टं, यथा घटादीनि । यदि हि नित्याकाशवैधर्म्यात्कृतकत्वादनित्य इष्यते, तर्हि घटाद्यनित्यवैधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यत्वं प्राप्नोति, विशेषाभावादिति २ । [अ]**उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः** । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तसाधर्म्यं किंचित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत्कृतत्वादनित्यः शब्दस्तर्हि घटवदेव मूर्तोऽपि भवेत् । न चेत् मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति ३ । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः, एवं शब्दोऽपि भवतु । नो चेत् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वमपकर्षति ४ । [व]वर्ण्यावर्ण्याभ्यां **प्रत्यवस्थानं** वर्ण्यावर्ण्यसमे **जाती भवतः** । ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन्वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुक्ते । यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृक् च घटधर्मो, यादृक् च घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति । साध्यधर्मो दृष्टान्तधर्मश्च हि तुल्यौ कर्तव्यौ । अत्र तु विपर्यासः । यतो यादृग् घटधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृक् शब्दधर्मः । घटस्य ह्यन्यादृशं कुम्भकारादिजन्यं कृतकत्वं, शब्दस्य हि ताल्वोष्ठादिव्यापारजमिति ५-६ ।

टीकाका भावानुवाद :

(२) **वैधर्म्यसमा जाति :** वैधर्म्य द्वारा (साध्यका) प्रतिषेध (खंडन) करना, उसे वैधर्म्यसमा जाति कहा जाता है। जैसे कि **शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, घटवत्** - इस अनुसार प्रयोग करने पर भी वैधर्म्य के प्रयोग से (साध्य का) खंडन किया जाता है कि **"नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्"** (यहाँ अमूर्तस्वरुप धर्म अनित्य घट का वैधर्म्य है।) क्योंकि जो अनित्य है, वह मूर्त ही होता है। जैसे कि, घट। इस प्रकार से अनित्य घट के वैधर्म्य अमूर्तत्वरुप धर्म से शब्द नित्य सिद्ध होता है। इस प्रकार वैधर्म्य से साध्य का अभाव सिद्ध हुआ। इसलिये वह वैधर्म्यसमा जाति है।

अ उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाति भवतः ।। न्यायक. पृ ११ ।। व. वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यौ जाती भवतः । ख्यापनीयो वर्ण्यः साध्यधर्मः । तद्विपर्ययादवर्ण्य सिद्धो दृष्टान्तधर्मः । न्यायक० पृ. १८ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(दूसरे प्रकार से ग्रंथकारश्री बताते है कि) **'यदि'** = यदि आपके द्वारा नित्य आकाश के वैधर्म्यरुप कृतकत्व धर्म से शब्द में अनित्यत्व इच्छित है। **तर्हि** = तो घटादि अनित्य के वैधर्म्यरुप अमूर्तत्व हेतु से शब्द में नित्यत्व की प्राप्ति होती है। क्योंकि दोनो में विशेषता का अभाव है। अर्थात् दोनो में वैधर्म्यरुप संबंध सामान्य है।

(३) **उत्कर्षसमा जाति :** उत्कर्ष के द्वारा खंडन करना, उसे उत्कर्षसमा जाति कहा जाता है। उस प्रयोग में ही (अर्थात् उपर दीये गये **"अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवत्"** इस प्रयोग में ही) दृष्टांत के साधर्म्य को कुछ साध्यधर्मि (पक्ष) में बताता (प्रतिवादि) उत्कर्षसमा जाति का प्रयोग करता है। जैसे कि, यदि घट की तरह कृतकत्व हेतु से शब्द अनित्य है, तो घट की तरह शब्द भी मूर्त होगा। (क्योंकि घट मूर्त है।) और यदि शब्द मूर्त नहीं है, तो घट की तरह अनित्य भी न होगा। (यहाँ घट दृष्टांत के साधर्म्य को साध्यधर्मि-पक्ष (शब्द में) बताता हुआ प्रतिवादि शब्द में दूसरे धर्म का प्रयोग करके, उसके साध्य अनित्यत्व का खंडन करता है, उसे उत्कर्षसमा जाति कहा जाता है।

(४) **अपकर्षसमा जाति :** अपकर्ष के द्वारा खंडन करना, उसे अपकर्षसमा जाति कहा जाता है। **"अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवत्"** इस स्थान पे यदि कोई कहे कि शब्द में श्रावणत्व अर्थात् श्रोत्रग्राह्यत्व है। परन्तु घट में श्रावणत्व नहीं है। इसलिए शब्द का साधर्म्य घट के साथ है, तो घट भी श्रोत्रग्राह्य होना चाहिए। परन्तु घट में श्रावणत्वरुप धर्म नहीं है। इसलिए शब्द में भी (श्रावणत्व धर्म) नहीं होना चाहिए और इसलिए घट की तरह शब्द अनित्य भी नहीं होना चाहिए।

ऐसे प्रकार के खंडन को **"अपकर्षसमा"** जाति कहा जाता है। इस स्थान पे पक्षरुप जो शब्द है, उसका धर्म जो श्रावणत्व है, उसका अभाव दृष्टांतरुप घट में बताया गया है। यहाँ दृष्टांत की कमी आगे करके साध्य का प्रतिषेध (खंडन) किया गया है। इसलिए अपकर्षसमा जाति कहा जाता है।

(५-६) **वर्ण्य-अवर्ण्यसमा जाति :** वर्ण्य और अवर्ण्य के द्वारा खंडन करना, उसे अनुक्रम से वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति कहा जाता है।

प्रसिद्ध हो उसे वर्ण्य कहा जाता है और उससे विपरीत (अर्थात् प्रसिद्ध न हो उसे) अवर्ण्य कहा जाता है। वे दोनो साध्य और दृष्टांत के धर्म का विपर्यास करते हुए [५२]वर्ण्यावर्ण्यसमा जाति का प्रयोग करते

(५२) **न्यायसूत्र में वर्ण्यसमा - अवर्ण्यसमा जाति का लक्षण :** जिसमें साध्य संदिग्ध है, उसे वर्ण्य कहा जाता है। पक्षमें साध्य संदिग्ध होने से पक्ष वर्ण्य कहा जाता है। जैसे कि **"घटोऽनित्यः कृतकत्वात्, शब्दवत्"** यदि घट अनित्य न हो तो, शब्द भी अनित्य नहीं होना चाहिए। इस जगह पे घट में अनित्यत्व होने का संदेह ही नहीं है। फिर भी उसको जातिवादि ने पक्ष के रुपमें बताया है। इसलिए **वर्ण्यसमा** जाति मानी जाती है। उपर के ही उदाहरण में शब्द में अनित्यत्व संदिग्ध होने पर भी उसको दृष्टांत के रुप में बताया गया है। इसलिए उसको वर्ण्यसमा जाति कहा जाता है। दृष्टांत अवर्ण्य=असाधनीय होता है। जब उपर के उदाहरण में शब्द में अनित्यत्व संदिग्ध होने से वर्ण्य बन जाता है। शब्द 'अवर्ण्य' न होने पर भी उसको अवर्ण्य (दृष्टांत) बनाया, इसलिए अवर्ण्यसमा जाति बनती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। जैसे कि, जिस प्रकार का शब्द (साध्य) का धर्म कृतकत्वादि है। उस प्रकार का घट (दृष्टांत) का धर्म नहीं है। और जिस प्रकार का घटधर्म है। उस प्रकार का शब्दधर्म नहीं है। साध्यधर्म और दृष्टांतधर्म समान करने चाहिए, परन्तु यहाँ विपर्यास है। क्योंकि जिस प्रकार का घटधर्म कृतकत्वादि है, ऐसे प्रकार का शब्दधर्म नहीं है। वह इस प्रकार से-घट का कृतकत्व कुम्भकारादि से जन्य अन्य प्रकार का है और शब्द का कृतकत्व तालु, ओष्ठादि के व्यापार से जन्य अन्य प्रकार का है।

धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं (अ)विकल्पसमा जातिः । **यथा कृतकं किंचिन्मृदु दृष्टं तूलशय्यादि, किंचित्तु कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किंचिदनित्यं भविष्यति घटादिकं, किंचिच्च नित्यं शब्दादीति ७ । साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं** साध्यसमा[C-54] जातिः । **यदि यथा घटस्तथा** शब्दः प्राप्तः, **तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात् । न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात्सुतरां न दृष्टान्त इति । प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं** प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती[C-55] । **यदेतत्कृतकत्वं साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साध्यं साधयत्यप्राप्य वा । प्राप्य चेत्, तर्हि द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति न सदसतोरिति । द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा । अप्राप्य तु साधनत्वमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति ९-१० । प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं** प्रसङ्गसमा[C-56] जातिः । **यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं, तदा कृतकत्वे किं साधनं, तत्साधनेऽपि किं साधनमिति ११ । प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं** प्रतिदृष्टान्तसमा[C-57] जातिः । **अनित्यः** शब्दः **प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह । यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्टः, एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं, कूपखननप्रयत्नानन्तरं तदुपलम्भादिति । न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं भंग्यन्तरेण प्रत्यवस्थानात् १२ । अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम**नुत्पत्तिसमा[C-58] जातिः । **अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते । तदेवं हेत्वाभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३ । साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जाति : पूर्वमुदाहारि सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा** संशयसमा[C-59] **जातिर्भवति । किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्य इति १४ । द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा च जातिः** प्रकरणसमा[C-60] **भवति । तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति । उद्भावनप्रकारभेदमात्रेण च जातिनानात्वं द्रष्टव्यम् १५ ।**

टीकाका भावानुवाद :

(७) **विकल्पसमा जाति :** धर्मान्तर के (दूसरे धर्मके) विकल्प के द्वारा खंडन करना, उसे विकल्पसमा

(अ) धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः ।। न्यायक० पृ.१८।।

(C-54-55-56-57-58-59-60) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति कहा जाता है। जैसे कि, कोई कृतक ऐसी रुई की गद्दी आदि में मृदुता है, किसी कृतक कुल्हाडी आदि में कठिनता है । इस अनुसार कृतक ऐसे कुछ घडे अनित्य होगे और कृतक ऐसे शब्द नित्य होंगे ।

यहाँ जैसे मृदुत्व और कठिनत्व धर्मान्तरो के द्वारा कृतकत्वधर्म में व्यभिचार बताने का प्रयत्न किया है । वैसे अनित्यत्व और नित्यत्व धर्मान्तरो के द्वारा भी कृतकत्व में व्यभिचार बताने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार, धर्मान्तर द्वारा शब्द में अनित्यत्व का खंडन किया है, वह विकल्पसमा जाति है ।

(८) [(५३)]**साध्यसमा जाति :** साध्य के साथ समानता बताकर खंडन करना, उसे **साध्यसमा** जाति कहा जाता है। **जैसे कि**, यदि जिस अनुसार घट है, उस अनुसार (कृतकत्व धर्म के कारण) शब्द भी प्राप्त हो, तो जिस अनुसार शब्द है, उस अनुसार घट भी प्राप्त हो । और इसलिए शब्द साध्य है । इस अनुसार घट भी साध्य होगा और इसलिए साध्य (घट) साध्य का (शब्द का) दृष्टांत नहीं होगा। यदि आप ऐसा कहेंगे कि घट और शब्द में इस प्रकार से समानता नहीं है। तो सुतरां घट दृष्टांत नहीं होगा, क्योंकि दोनो विलक्षण है।

(९-१०) **प्राप्तिसमा - अप्राप्तिसमा जाति :** प्राप्त और अप्राप्त विकल्पो के द्वारा खंडन करना, उसे अनुक्रम से **प्राप्तिसमा** और **अप्राप्तिसमा** जाति कहा जाता है। जैसे कि, जो कृतकत्व का हेतु के रुप में उपन्यास किया है, वह हेतु क्या साध्य को प्राप्त करके (साध्य को) सिद्ध करता है, कि साध्य को प्राप्त किये बिना (साध्यको) सिद्ध करता है? यदि ऐसा कहोंगे कि, हेतु साध्य को प्राप्त करके (साध्य को) सिद्ध करता है, तो विद्यमान ही हेतु और साध्य की प्राप्ति होती है और एक विद्यमान और दूसरा अविद्यमान नहीं होंगे और (इसलिए) दोनो विद्यमान होने से, कौन किसका साधन होगा और कौन किसका साध्य होगा ? (अर्थात् साध्य कौन बनेगा और साधन कौन बनेगा, वह तय करनेवाला नियामक कौन बनेगा ?)

कहने का मतलब यह है कि, यदि हेतु पक्ष में साध्य के साथ हो, तो साध्य से ज्यादा उसमें कुछ विशेषता नहीं रहती है। इसलिए वह साध्य का साधक नहीं बनता है। अथवा साध्य खुद ही स्वयं अपना या हेतु का साधक क्यों न बनेंगा ? क्योंकि दोनो एकसाथ पक्ष में रहते है । इसलिए यदि हेतु पक्ष में है, तो [(अ)]"प्राप्तिसमा" जाति बनती है ।

---

(५३) ● **न्यायसूत्रानुसार साध्यसमा जाति का लक्षण : साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिर्भवति** ।। न्यायक० पृ.१८ ।। पक्ष और दृष्टांत आदि को साध्य समान बताना उसको साध्यसमा जाति कही जाती है। जैसे कि, "**आत्मा, क्रियावान्, क्रियाहेतुगुणयोगात्, लोष्ठवत्**" आत्मा क्रियावाला है, क्योंकि क्रियाका हेतु जो संयोगादि गुण है, उसका संबंधी होने से, लोष्ठ की तरह। इस अनुसार स्थापना हो जाने के बाद प्रतिवादि कहता है कि जैसे लोष्ठ क्रियावान् है, वैसे आत्मा भी क्रियावान् है। तो जैसे आत्मा क्रियावत्त्व रुप से साध्य है। वैसे लोष्ठ भी साध्य होना चाहिए और यदि उसको साध्य के रुप में लेंगे, तो दृष्टांत के रुप में नहीं ले सकेंगे। इस प्रकार से खण्डन करना, उसका नाम **साध्यसमा** जाति कहा जाता है।

पक्ष और दृष्टांत को भी पाँच अवयव के विषय होने से, अनुमेय के रुप में बताना यह भी **साध्यसमा** जाति कहा जाता है।

(अ) प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाति भवतः ।। न्याय. पृ. १८ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हेतु पक्ष में प्राप्त न हो, तो हेतु साध्य को सिद्ध क्यों करे ? क्यों साध्य के अभाव को सिद्ध न करे ? (इस प्रकार से अतिप्रसंग आता है।) क्योंकि हेतु साध्य को प्राप्त नहीं है। इसलिए यदि अप्राप्त हेतु साध्य को सिद्ध करता हो, तो साध्य के अभाव को भी सिद्ध करेगा ही, इस अनुसार [अ]**अप्राप्तिसमा** जाति बनती है। (यहाँ कारक और ज्ञापक दोनो प्रकार के हेतु लेना।)

(११) **प्रसंगसमा जाति :** प्रसंग बताने के द्वारा जो खंडन करना उसे **प्रसंगसमा** जाति कहा जाता है। जैसे कि, यदि अनित्यत्व सिद्ध करने में कृतकत्व साधन है, तो कृतकत्व को सिद्ध करने में कौन सा साधन है ? उपरांत उस साधन को सिद्ध करने में कौन सा साधन है ?

इस तरह से प्रसंग बताने के द्वारा अनवस्था खडी करना, उसे [ब]प्रसंगसमा जाति कहा जाता है।

(१२) **प्रतिदृष्टांतसमा जाति :** प्रतिदृष्टांत द्वारा खंडन करना, उसे [क]प्रतिदृष्टांतसमा जाति कहा जाता है। वादि के द्वारा "**अनित्यः शब्द प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत्।**" अर्थात् शब्द अनित्य है। क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न होता है। (इसलिए उत्पत्ति में प्रयत्न अवश्य जुडा हुआ है।) जैसे कि घट। यह कहने पर भी जातिवादि कहता है कि, जैसे घट प्रयत्न से उत्पन्न होता होने से अनित्य देखा जाता है, उस अनुसार (घट का) प्रतिदृष्टांत नित्य आकाश भी प्रयत्न से उत्पन्न होता दिखाई देता है। (किस प्रकार ?) जैसे कि, कुआं खोदने के प्रयत्न के उत्तर में (बाद में) अवकाश (आकाश) दिखाई देता है। इसलिए प्रयत्न से उत्पन्न होने पर भी जैसे आकाश नित्य है। वैसे शब्द भी नित्य है। इस तरह से प्रतिदृष्टांत द्वारा जातिवादि ने साध्याभाव सिद्ध किया।

इस अनुसार से अनैकान्तिकत्व का उद्भावन दूसरे भांगो के द्वारा करके खंडन करना योग्य नहीं है। (दृष्टान्त सिद्ध ही होने से उसको सिद्ध करने के लिए हेतु की जरुरत नहीं होती। इसलिए दूसरा दृष्टांत लेने की जरुरत नहीं होती। जैसे अंधियारे में पडी हुई वस्तु को देखने के लिए दीपक की जरुरत पडती है। परन्तु दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपककी जरुरत नहीं पडती है। वैसे साध्य को सिद्ध करने के लिए दीये हूए दृष्टांत को सिद्ध करने के लिए दूसरे दृष्टांत की जरुरत नहीं है। इस प्रकार से उपर की प्रसंगसमा जाति की निवृत्ति हो जाती है। न्यायसूत्रकार कहते है कि एक दृष्टांत से साध्य की सिद्धि होती हो, तो दूसरा दृष्टांत क्यों लेंना ? उसमें कोई हेतु नहीं होता है। प्रतिदृष्टांत साधक होने पर भी मूल दृष्टांत को जब तक हेतु से खंडित नहीं किया जाय, तब तक वह भी साधक ही है। इसलिए बिना कारण मूल दृष्टांत को छोडकर दूसरा दृष्टांत लेने की जरुरत नहीं है। इस कारण से प्रतिदृष्टांतसमा जाति असत्य सिद्ध होती है।)

(१३) [ड]**अनुत्पत्तिसमा जाति :** अनुत्पत्ति के द्वारा खंडन करना, उसे **अनुत्पत्तिसमा** जाति कहा जाता है। अर्थात् उत्पत्ति से पहले हेतुरुप कारण रहता न होने से अनुत्पत्तिसमा जाति बनती है। जैसे कि, शब्द नाम का धर्मी उत्पन्न होने से पहले कृतकत्व नाम का धर्म कहाँ रहेगा ? इसलिए कृतकत्व हेतु नहीं है, परन्तु

(अ) प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्ति समे जाती भवतः ।। न्याय. पृ. १८ ।। (व) प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिर्भवति ।। न्यायक० - पृ. १८ ।। (क) प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः ।। न्यायक० - पृ. १८ ।। (ड) अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमाजातिर्भवति ।। न्यायक० पृ. १९९ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेत्वाभास है, इसलिए असिद्ध हेतु से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि नहीं होगी।

(१४) (अ)**संशयसमा जाति :** पहले बताई गई साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति को संशय के द्वारा उपसंहार किया जाये तो, उसे **संशयसमा** जाति कहा जाता है। जैसे कि, क्या घट के साधर्म्य से शब्द कृतक होने से अनित्य है या घट के वैधर्म्य ऐसे आकाश के साधर्म्य से शब्द अमूर्त होने से नित्य है ? इस तरह से साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति संशय के द्वारा उपसंहार पाई हुई है। इसलिए उसे संशयसमा जाति कहा जाता है।

(१५) (ब)**प्रकरणसमा जाति :** द्वितीयपक्ष के उत्थापन की बुद्धि से प्रयोजित वही साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति को **प्रकरणसमा** जाति कहा जाता है। (कहने का मतलब यह है कि, साध्य और असाध्य दोनो के साथ साधर्म्य होने से पक्ष और प्रतिपक्ष चलते रहते होने से प्रकरणसमा जाति बनती है। अर्थात् दोनो के हेतु का, हेतु द्वारा साध्य का निश्चय नहीं हो सकता होने के कारण प्रकरण चलता रहता है।)

जैसे कि, वादि द्वारा **"अनित्य शब्दः कृतकत्वात्, घटवत्।"** यह प्रयोग करने पर प्रतिवादि **"नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्।"** इस प्रयोग के द्वारा शब्द में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करता है। परन्तु शब्द कृतकत्वेन अनित्य है या शब्द श्रावणत्वेन नित्य है ? वह तय होता नहीं है, इसलिए प्रकरण चलता ही रहता है। इसे प्रकरणसमा जाति कहा जाता है।

कहने का मतलब यह है कि वादि ने शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए कृतकत्वरुप हेतु देने के बाद प्रतिवादि (जातिवादि) यदि कहे कि, शब्द में तो अनित्यपदार्थ का (घटका) जैसे साधर्म्य है, वैसे नित्यपदार्थ (शब्दत्व) का भी साधर्म्य है। जैसे कि **"शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्"** शब्द में श्रावणत्व= श्रोत्रग्राह्यत्व है। वैसे ही शब्दत्व में भी श्रावणत्व = श्रोत्रग्राह्यत्व है। शब्दत्व नित्यपदार्थ है। इसलिए शब्द जैसे अनित्य घट के साथ साधर्म्य रखता है। वैसे नित्य शब्दत्व के साथ भी साधर्म्य रखता है, इसलिए श्रावणत्वहेतु से शब्द को नित्य मानना या कृतकत्वहेतु से शब्द को अनित्य मानना, वह निश्चय नहीं हो सकता है। इसलिए प्रकरण चलता रहता है। इसलिए प्रकरणसमा जाति से कृतकत्वहेतु असिद्ध होता है।

यहाँ जाति के उद्भावन (उद्भव) के प्रकार के भेदमात्र से जाति में अनेकत्व है। अर्थात् जाति के अनेक प्रकार दोष के उद्भावन (उद्भव) के प्रकार की भिन्नता के कारण है। (परन्तु तात्त्विक जाति एक ही है)

त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानं हेतुसमा जातिः **। हेतुः साधनं तत्साध्यात्पूर्वं पश्चात्सह वा भवेत् । यदि पूर्वमसति साध्ये तत्कस्य साधनम् । अथ पश्चात्साधनं तर्हि पूर्वं साध्यं तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन । अथ युगपत्साध्यसाधने तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६ । अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जातिः । यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः**

(अ) साधर्म्यवैधर्म्यसमा जातिर्या पूर्वमुदाहृता सैव संशयेन उपक्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति ।। न्याक० - पृ. १९ ।। (ब) द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा जातिः प्रकरणसमा भवति ।। न्यायक० पृ १९ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दोऽर्थादापद्यते, तदा नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य नित्येनाकाशादिना साधर्म्यममूर्तत्व-मित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति १७ । अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः । यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते, तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति १८ । उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः । कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं, तर्ह्यमूर्तत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवतीति पक्षद्वयोपपत्त्यानध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् १९ । उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः । अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते प्रत्यवतिष्ठते । न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम् । साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते । उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनापि विद्युदादावनित्यत्वं, शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति २० । अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः । तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी । न प्रयत्नानन्तरीयकः कार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासौ, आवरणयोगात्तु नोपलभ्यते । आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येवोच्चारणात्प्राक्शब्द इति चेत् न । अत्र हि यानुपलब्धिः सा स्वात्मनि वर्तते न वा । वर्तते चेत्तदा यत्रावरणेऽनुपलब्धिर्वर्तते, तस्यावरणस्य, यथानुपलम्भस्तथावरणानुपलब्धेरप्यनुपलम्भः स्यात् । आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावो भवेत् । तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति । ततश्च मृदन्तरितमूलकलादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणम् । अथानुपलब्धिः स्वात्मनि न वर्तते चेत्, तर्ह्यनुपलब्धिः स्वरूपेणापि नास्ति । तथाप्यनुपलब्धेरभाव उपलब्धिरूपस्ततोऽपि शब्दस्य प्रागुच्चारणादप्यस्तित्वं स्यादिति । द्वेधापि प्रयत्नकार्यत्वाभावन्नित्यः शब्द इति २१ ।

टीकाका भावानुवाद :

(१६) [अ]**हेतुसमा जाति :** तीनो काल की (भूत, भविष्य या वर्तमान, ऐसे तीन कालकी) अनुत्पत्ति से हेतु का खंडन करना उसे [५४]**हेतुसमा** जाति कहा जाता है। जैसे कि "हेतु है, तो वह साध्य के पहले, बाद में या साथ होता है ?" यदि हेतु साध्य से पहले हो तो साध्य की अविद्यमानता में वह हेतु किसका साधन होगा ? यदि साध्य के बाद हेतु हो, तो साध्य पहले (स्वयं) सिद्ध होने पर वह साधन के द्वारा क्या ? और यदि साध्य-साधन साथ हो, तो दाये और बाये गाय के सिंग की तरह एकदूसरे का साध्य-साधनभाव ही नहीं होगा। अर्थात् जैसे गाय के दोनो सिंग एकसाथ पैदा होते होने से गाय का बायां सिंग दायें सिंग का

---

(५४) न्यायसूत्रकारने इस हेतुसमा जाति को अहेतुसमा जाति कहा है । दोनों का भाव समान है । "**त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ।**" ॥५-१-१८॥ अर्थात् तीनो काल में असिद्ध होने से अहेतुसमा जाति बनती है।

(अ) त्रैकाल्यानुपपत्त्या प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिर्भवति ।। न्यायक० पृ. १९ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण नहीं है या दायां सिंग बायें सिंग का कारण नहीं है, वैसे साध्य और साधन एकसाथ हो तो एक में साध्य का व्यपदेश और एक में साधन का व्यपदेश नहीं हो सकता है ।

(१७) [अ]**अर्थापत्तिसमा जाति :** अर्थापत्ति से खण्डन करना, उसे **अर्थापत्तिसमा** जाति कहा जाता है । जैसे कि, यदि अनित्य (घट) के साधर्म्य द्वारा कृतकत्व हेतु से शब्द अर्थापत्ति से अनित्य प्राप्त (सिद्ध) हो, तो नित्य के साधर्म्य से शब्द अर्थापत्ति से नित्य होगा । और शब्द का नित्य आकाश के साथ साधर्म्य अमूर्तत्व है। इसलिए नित्य आकाश के साधर्म्य द्वारा अमूर्तत्व हेतु से शब्द नित्य है। ऐसा अर्थापत्ति से प्राप्त होता है। यह जाति साधर्म्यसमा जाति के समान होने पर भी उद्भावन के प्रकार के भेद के कारण ही यह अर्थापत्तिसमा जाति भिन्न कही गई है ।

(साधर्म्यसमा जाति में वादिप्रयुक्त प्रयोग में प्रतिवादि साधर्म्य के द्वार से प्रतिहेतु द्वारा दोष का उद्भव करता है। जब कि अर्थापत्तिसमा जाति में वादिप्रयुक्त प्रयोग में साधर्म्य के द्वार से जो सिद्ध किया हो, उससे विरुद्ध प्रतिवादि साधर्म्य के द्वार से अर्थापत्ति से सिद्ध करते है। इस प्रकार दोनो में साधर्म्य के द्वार से खंडन होने पर भी जो दोष के उद्भावन की भिन्नता है वह समजी जा सकती है।

(१८) [ब]**अविशेषसमा जाति :** सामान्यधर्म बताने के द्वारा जिसे खंडन किया जाये, उसे **अविशेषसमा** जाति कहा जाता है ।

जैसे कि, यदि शब्द और घटका एक धर्म कृतकत्व इच्छित है, तो समानधर्म के योग से वे दोनो सामान्य (एक) बन जायेंगे और इस तरह से सर्वपदार्थ सामान्य बन जायेंगे । (क्योंकि सभी पदार्थो में समानधर्म प्रमेयत्व है ही ।) कहने का मतलब यह है कि, यदि कृतकत्वेन शब्द और घट को सामान्य मानोंगे और दोनो को अनित्य मानोंगे तो प्रमेयत्वेन सभी पदार्थ सामान्य होने से सभी पदार्थो को अनित्य मानने की आपत्ति आयेगी ।

(१९) [क]**उपपत्तिसमा जाति :** उपपत्ति से खंडन करना, उसे **उपपत्तिसमा** जाति कहा जाता है। जैसे कि, कृतकत्व की उपपत्ति से शब्द का अनित्यत्व है, तो अमूर्तत्व की उपपत्ति से शब्द का नित्यत्व क्यों नहीं होता ? अर्थात् होता है। इस अनुसार दो पक्ष की उपपत्ति से आखिर में कोई निश्चय (निर्णय) नहीं होता। इस प्रकार उद्भावन के प्रकार की भिन्नता के योग से उपपत्तिसमा जाति बनती है।

(२०) [ड]**उपलब्धिसमा जाति :** उपलब्धि के द्वारा खंडन करना, उसे **उपलब्धिसमा** जाति कहा जाता है ।

(अ) अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिसमा जातिर्भवति ।। न्यायक० पृ १९।। (ब) अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमाजातिर्भवति ।। न्यायक० पृ - १९ ।। (क) उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिर्भवति ।। न्यायक० पृ. १९ ।। (ड) उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिर्भवति ।। न्यायक० पृ० २० ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे कि, वादि के द्वारा ''**अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्**'' इस अनुसार कहने पर भी प्रतिवादि खंडन करता है कि ''**प्रयत्नानन्तरीयकत्व**'' यह अनित्यत्व को (सिद्ध करने में) साधन नहीं है, क्योंकि साधन वही कहा जाता है कि, जिसके बिना साध्य की प्राप्ति न हो। जब कि, यहाँ तो ''**प्रयत्नानन्तरीयकत्व**'' बिना भी विद्युतादि में अनित्यत्व मालूम होता है ? और कहीं वायु के वेग से या वनस्पति के टुकडे करते हुए उत्पन्न होनेवाला शब्द में भी प्रयत्नानन्तरीयकत्व के बिना अनित्यत्व है ही। इस प्रकार ये दोनो स्थान पे साधन ''**प्रयत्नानन्तरीयकत्व**'' न होने पर भी साध्य अनित्यत्व सिद्ध होता है।

(२१) (अ)**अनुपलब्धिसमा जाति :** अनुपलब्धि के द्वारा जो खंडन करना, उसे **अनुपलब्धिसमा** जाति कहा जाता है।

(यहाँ पहले एक बात समज लेना कि, नैयायिको ने शब्द को अनित्य माना है, जब कि प्रतिवादि मीमांसक शब्द को नित्य मानते है। मीमांसक, नैयायिक मत का अनुपलब्धि के द्वारा खंडन करते है। इसलिए अनुलपब्धिसमा जाति बनती है।)

जब वादि (नैयायिक) शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए ''**प्रयत्नानन्तरीयकत्व**'' हेतु को रखते है। (उपन्यास करते है।) तब प्रतिवादि (मीमांसक) कहते है कि, प्रयत्नानन्तरीयकत्व का कार्य शब्द नहीं है। क्योंकि शब्द उच्चारण के पूर्व (पहले) होता ही है। परन्तु शब्द के उपर आवरण होने के कारण मालूम नहीं होता है।

नैयायिक : शब्द के उपर आवरण है, ऐसा आप कहते हो, तो वह आवरण क्यों दिखता नहीं है ? इसलिए आवरण की अनुपलब्धि होने के कारण उच्चारण के पूर्व (पहले) शब्द भी होता ही नहीं है।

मीमांसक : नहीं, ऐसा नहीं है। यहाँ आप नैयायिक आवरण की जो अनुपलब्धि है, ऐसा कहते हो, तो अनुपलब्धि क्या अपने आत्मा में प्रवर्तित है या अपने आत्मा में प्रवर्तित नहीं होती है ?

यदि ऐसा कहोंगे कि, अपने आत्मा में प्रवर्तित होती है, तो जहाँ आवरण की अनुपलब्धि प्रवर्तित होती है। उस आवरण की जिस अनुसार अनुपलब्धि है उस अनुसार वह आवरण की अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि ही है। (अर्थात् आप नैयायिको को जिस तरह आवरण की उपलब्धि मालूम नहीं होती, उस तरह हमको (मीमांसको को) आवरण की अनुपलब्धि भी मालूम नहीं होती।) इसलिए अनुपलब्धि की अनुपलब्धि = उपलब्धि ही हुई। इस प्रकार आवरण की उपलब्धि का अस्तित्व (सद्भाव) है। और इसलिए मिट्टी के अंदर रहे हुए मूली-कलिकादि की (मिट्टी के) आवरण के कारण उपलब्धि नहीं होती है। वैसे आवरण की उपलब्धि से बने हुए शब्द का उच्चारण से पूर्व (पहले) ग्रहण नहीं होता। अर्थात् आवरण के योग से उच्चारण से पहले शब्द की उपलब्धि नहीं होती है। (और आवरण, संयोग और विभाग आदि के कारण खिसक जाता है, तब शब्द सुनाई देता है।)

अब यदि आप ऐसा कहोंगे कि आवरण की अनुपलब्धि अपने आत्मा में प्रवर्तित नहीं होती, तो अनुपलब्धि अपने स्वरुप से है ही नहीं, तो भी अनुपलब्धि का अभाव उपलब्धिस्वरुप है। इसलिए शब्द

(अ) अनुपलव्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिर्भवति ।। न्यायक० पृ. २० ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उच्चारण से पूर्व (पहले) भी अस्तित्व है। और दोनो प्रकार से भी अर्थात् प्रयत्न के कार्य के रुप में शब्द का अभाव (अर्थात् शब्द में प्रयत्नानन्तरीयकत्व का अभाव) होने से शब्द नित्य है। यह सिद्ध होता है। इस प्रकार से मीमांसको ने नैयायिको के मत का खंडन किया है।

साध्यधर्मनित्यानित्यविकल्पेन शब्दस्य नित्यत्वापादनंनित्यसमा जातिः । अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति । येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति । यद्यनित्या तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायान्नित्यः शब्दः । अथानित्यता नित्यैव तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्य एव स्यात्, तस्यानित्यत्वे तद्धर्मस्य नित्यत्वायोगात् । इत्युभयथापि नित्यः शब्द इति २२ । एवं सर्वभावानामनित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः । घटसाधर्म्यमनित्यत्वेन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तदा घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात् । अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वं, तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति, अनित्यत्वमात्रोपपादनपूर्वकविशेषोद्भावनादविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः२३ । प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमाजातिः । अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह । प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम् । किंचिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादिकम् । किंचिच्च सदेवावरणव्युदासादिनाभिव्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलकादि गर्भगतपुत्रादि वा । एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेष शब्दः प्रयत्नेन व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति । संशयापादनप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते २४ । तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽप्यसंकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा एते प्रदर्शिताः । प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनां पक्षधर्मत्वाद्यनुमानलक्षणपरीक्षालक्षणमेव । न ह्यविप्लुतलक्षणे हेतावेवं प्रायाः पाशुपाताः प्रभवन्ति । कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च दृढकृतप्रतिबन्धात् नावरणादिकृतं शब्दानुपलम्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव । जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यम्, न तु प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमासमंजस्य प्रसङ्गादिति ।।३१।।

टीकाका भावानुवाद :

(२२) (अ)**नित्यसमा जाति :** साध्यधर्म के नित्यत्व और अनित्यत्व के विकल्प के द्वारा शब्द का नित्यत्व सिद्ध करना, उसे **नित्यसमा** जाति कहा जाता है। जैसे कि, शब्द अनित्य है, ऐसी वादिने प्रतिज्ञा करने से, प्रतिवादि विकल्प करते है कि, जो यह शब्द की अनित्यता कही जाती है। वह क्या नित्य है या अनित्य है ?

यदि शब्द की अनित्यता को अनित्य मानोंगे तो, वह अवश्य नाश होनेवाली होने से अनित्यता के अपाय

(अ) साध्यधर्मविकल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिर्भवति ।। न्यायक० पृ. २० ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(नाश) से शब्द नित्य ही रहेगा। (अर्थात् शब्द की अनित्यता नाश होने से, शब्द की नित्यता आयेगी इसलिए शब्द नित्य है, ऐसा सिद्ध होगा।)

अब यदि शब्द की नित्यता नित्य है, ऐसा मानोंगे तो भी अनित्यता एक धर्म है और धर्म नित्य है, तथा धर्म निराश्रय नहीं होता है। इसलिए कहीं रहना चाहिए और उस धर्म का आश्रय शब्द है। इसलिए नित्यधर्म का आश्रय शब्द भी नित्य ही होगा और यदि शब्द को अनित्य मानोंगे तो शब्द के धर्म की नित्यता का अयोग होगा। अर्थात् शब्द का धर्म अनित्य होने की आपत्ति आयेगी परन्तु वह योग्य नहीं है क्योंकि धर्म नित्य होता है।

इस अनुसार दोनो तरह से भी शब्द नित्य है।

(२३) (अ)**अनित्यसमा जाति :** सभी पदार्थो में अनित्यत्व सिद्ध करके जो खंडन करना इसे **अनित्यसमा** जाति कहा जाता है। जैसे कि अनित्यत्वेन शब्द का घट के साथ साधर्म्य है। इसलिए शब्द अनित्य है, ऐसा यदि स्वीकार किया जाये तो घट के साथ सभी पदार्थो का कोई न कोई साधर्म्य भी है ही। इसलिए सर्वपदार्थ अनित्य होंगे।

अब यदि आप ऐसा कहेंगे कि, घट के साथ सभी पदार्थो का कोई न कोई भी साधर्म्य होने पर भी सर्वपदार्थ अनित्य नहीं है। तो शब्द भी अनित्य नहीं होगा।

शंका : अविशेषसमा जाति भी इसी प्रकार से है, तो दोनो को पृथक् (अलग) उपादान क्यों किया है।

समाधान : दोनो समान नहीं है। अविशेषसमा जाति में सामान्य धर्म को आगे करके शब्द का अनित्यत्व सिद्ध किया गया है। जब कि, अनित्यसमा जाति में अनित्यत्वमात्र को आगे करके शब्द को अनित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इसलिए उद्भावन की विशेषता के कारण दोनो का पृथक् उपादान किया गया है।

(२४) (ब)**कार्यसमा जाति :** प्रयत्न के कार्यो का अनेक प्रकार से उपन्यास करने के द्वारा (रखकर) जो खंडन करना, उसे कार्यसमा जाति कहा जाता है।

जैसे कि, वादि द्वारा **"अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्"** इस अनुसार कहने पर भी जातिवादि (प्रतिवादि) कहते है कि, प्रयत्न दो प्रकार का होता है । (१) कुछ असत् ही प्रयत्न के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। जैसे कि घट। (अर्थात् मिट्टी में घट असत् (अविद्यमान) है और कुम्हार के प्रयत्न द्वारा उत्पन्न किया जाता है।) (२) कुछ सत् ही होने पर भी आवरण होता है , उस आवरण को प्रयत्न द्वारा दूर करने से प्रकट किया जाता है। जैसे मिट्टी में गडे हुए मूल और कीलिकादि (अर्थात् मिट्टी में मूल और कीलिकादि सत् विद्यमान है और पुरुष के प्रयत्न द्वारा आवरण दूर करके प्रकट किया जाता है।) अथवा गर्भ में रहा हुआ पुत्र । इस तरह से प्रयत्न के कार्य अनेक होने से यह शब्द प्रयत्न द्वारा प्रकट किया जाता है या उत्पन्न किया जाता

(अ) सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमाजातिर्भवति ।। न्यायक० - पृ-२१ ।। (ब) प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिर्भवति ।। न्याय क० पृ० २१ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ? इस प्रकार का संशय होता है।

शंका : संशयसमा जाति में भी संशय किया जाता है। और उसके द्वारा खंडन होता है। तो संशयसमा और कार्यसमा दोनो जाति में भिन्नता क्या रही ? और इसलिए दोनो को पृथक् क्यों कही ?

समाधान : संशय को उत्पन्न करने के प्रकार की भिन्नता के कारण संशयसमा जाति से कार्यसमा जाति भिन्न है। वह इस तरह से-संशयसमा जाति में उदाहरण का साधर्म्य और वैधर्म्य बताकर संशय पैदा किया जाता है। जब कार्यसमा जाति में प्रयत्न के कार्य (फल) अनेक होने के कारण संशय होता है।

इसलिए संशय का उद्भावन (उद्भव) करने के प्रकार की भिन्नता के कारण वे दोनो जाति भिन्न है।

इस प्रकार चौबीस जाति का वर्णन पूरा होता है। इसलिए इस प्रकार से उद्भावन के प्रकार और विषय विकल्पो में भिन्नता होने से जातियाँ अनंत है। परंतु असंकीर्ण (एक दूसरे में अंतर्भूत न होनेवाले) उदाहरणो की विवक्षा से ये २४ जाति के भेद बताये गये है। सब जातिओ का [(५५)]प्रतिसमाधान (कि जो इस ग्रंथ में नहीं है, परन्तु न्यायसूत्रानुसार नीचे टिप्पणीमें दिया गया है। वह प्रतिसमाधान) पक्षधर्मत्वादि अनुमान के सद्हेतुओ के द्वारा अनुमान की परीक्षा करने द्वारा किया है और इस अनुसार अविप्लुतस्वरुपवाले हेतु में प्राय: नैयायिकों (प्रवृत्ति करते) नहीं है। कृतकत्व और प्रयत्नानन्तरीयकत्व का दृढसंबंध होने से (अविना-भावरुप संबंध होने से) शब्द की अनुपलब्धि भी आवरणादिकृत नहीं है। परन्तु अनित्यत्वकृत ही है।

---

(५५) **उपरोक्त जातिओ का प्रतिसमाधान न्यायसूत्रानुसार यहाँ दिया गया है। (१-२) साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा** जाति असत्य उत्तर है, वह बताते है। "**गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ॥५-१-३॥**" अर्थात् गोत्व से जैसे गाय की सिद्धि होती है, वैसे उसकी सिद्धि होती है।

कहने का मतलब यह है कि, गोत्व में गाय की व्याप्ति है। इसलिए गोत्व का जहाँ समवाय संबंध हो, उसे गाय कहा जाता है। शृंग, पुच्छ आदि का संबंध गाय में है, परन्तु गाय की व्याप्ति शृंग या पुच्छ में नहीं है। क्योंकि, गाय के सिवा दूसरे पशुओ में भी शृंग और पुच्छ आदि का संबंध होता है। इसलिए ही जो धर्म में साध्य की व्याप्ति हो, वही धर्म से साध्य की सिद्धि हो सकती है।

"**शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्**" इस उदाहरण में भी अनित्यत्वरुप साध्य की व्याप्ति कृतकत्व में है, क्योंकि नित्यपदार्थ में कृतकत्व (कार्यत्व) होता ही नहीं है। अनित्यधर्म की व्याप्ति अमूर्तत्व में नहीं होती है। क्योंकि, अमूर्तत्व नित्य में भी होता है। जैसे कि, आत्मा, आकाश, काल आदि नित्यपदार्थो में अमूर्तत्व है। अनित्य में भी होता है। जैसे कि बुद्धि, इच्छा आदि अनित्यपदार्थो में अमूर्तत्व है। इसलिए अमूर्तत्व धर्म का अनित्य के साथ व्याप्ति रहित साधर्म्य है।

इस कारण से अमूर्तत्वरुप धर्म नित्यत्वरुप साध्य का हेतु नहीं हो सकता है। इसके उपर से सिद्ध होता है कि, व्याप्तिरहित साधर्म्य या वैधर्म्य साध्य का साधक नहीं बन सकता है। इसलिए ऐसे साधर्म्य और वैधर्म्य में व्याप्ति न होना, यही जाति होने का कारण है।

● उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा और साध्यसमा, यह छः जातियाँ असत्य उत्तररुप होने के कारण बताते है।

"**किंचित्साधर्म्यात् उपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥५-१-५॥**" अर्थात् कोई भी अल्प ही साधर्म्य से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार सिद्ध होता होने से, बाद में वैधर्म्य रहने पर भी खंडन नहीं हो सकता है।

कहने का मतलब यह है कि, जो साधर्म्य प्रसिद्ध हो अर्थात् जिसमें व्याप्ति है, वह साधर्म्य से उपसंहार हो सकता है। जो साधर्म्य व्याप्तिरहित हो, उससे साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। और ऐसे साधर्म्य से उपसंहार भी नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्ति निरपेक्ष साधर्म्य से जो खंडन किया गया है, वह असत्य उत्तर है।

"शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, घटवत्" इस जगह पे घट में और शब्द में जो अनित्यत्व और कृतकत्व है, उसमें व्याप्ति है। और इसलिए साध्य की सिद्धि हो सकती है। घट में अनित्यत्व और रुपकी व्याप्ति नहीं है, इसलिए रुप की निवृत्ति से अनित्यत्व की निवृत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण से उत्कर्षसमा आदि जातियाँ असत्य सिद्ध होती है। अब दूसरा कारण बताते है।

"साध्यातिदेशाश्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥५-१-६॥" और (साध्यातिदेशात्) कुछ खास पदार्थ में साध्य बताने से दृष्टांत की सिद्धि हो सकती होने से।

कहने का मतलब यह है कि, जो अर्थ में साध्य प्रसिद्धता से बताया जा सकता हो, वही दृष्टांत हो सकता है। दृष्टांत में जितने धर्म हो, वे सब पक्ष में आने ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं बांध सकते। थोडा भी वैधर्म्य के लिए दृष्टांत ही नहीं बन सकेगा। **"यथा गौस्तथा गवयः"** इस जगह पे **"गौ"** और **"गवय"** में साधर्म्य होने पर भी वैधर्म्य तो रहता ही है। परन्तु प्रसिद्ध साधर्म्य के कारण ही, जैसे गवय का उपमान गौ बन सकता है। वैसे पक्ष का प्रसिद्धसाधर्म्य हो वह सपक्ष हो ही सकता है। इसलिए वर्ण्यसमा और साध्यसमा जातियाँ भी असत् उत्तर है।

● **प्राप्तिसमा जाति और अप्राप्तिसमा जाति का उत्तर : "घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥५-१-८॥"** अर्थात् घट आदि की उत्पत्ति हेतु से होती होने से और अभिचार से (शत्रुका वध, वशीकरण अथवा मांत्रिकप्रयोग से) शत्रु का पीडन होता होने से, हेतु का खंडन नहीं हो सकता है।

कहने का मतलब यह है कि, घटआदि कार्य उत्पन्न करने में हेतु का घट के उपादान कारण के साथ अवश्य संबंध होता है यह सब कोई जानता है। इसलिए हेतु साध्य के अधिकरण में रहकर भी साध्य को सिद्ध कर सकता है। अभिचारीकर्म में शत्रु जिस देश में हो, उस देशमें हेतु न हो, तो भी शत्रु को पीडा (दुःख) उत्पन्न कर सकता है, इसलिए हेतु साध्य के अधिकरण में न हो, तो भी साध्य को सिद्ध कर सकता है। इसलिए प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा जूठे उत्तर है।

● **प्रसंगसमा जाति का उत्तर : "प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत् तद्विनिवृत्तिः ॥५-१-१०॥"** अर्थात् अन्यप्रदीप (दीपक) लेने का प्रसंग जैसे नहीं होता है, वैसे प्रतिदृष्टांत की भी निवृत्ति होती है।

कहने का मतलब यह है कि, दृष्टांत सिद्ध ही होने से उसको सिद्ध करने के लिए हेतु की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए दूसरा दृष्टान्त लेने की जरुरत नहीं होती है। जैसे अंधेरे में पडी हुई वस्तु को देखने के लिए दीपक की जरुरत पडती है लेकिन दीपक को देखने में अन्य दीपक की जरुरत पडती नहीं है। वैसे साध्य को सिद्ध करने के लिए दिये गये दृष्टांत को सिद्ध करने के लिए दूसरे दृष्टांत की जरुरत नहीं है। इस अनुसार प्रसंगसमा जाति की निवृत्ति हो जाती है।

● **प्रतिदृष्टांतसमा जाति का उत्तर : "प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टांतः ॥५-१-१२॥"** और दूसरे दृष्टांत को साधक के रुप में माना जाये, तो भी पहला दृष्टांत असाधक नहीं है।

कहने का मतलब यह है कि, एक दृष्टांत से साध्य की सिद्धि होती है, तो दूसरा दृष्टांत क्यों ले ? उसमें कोई हेतु नहीं होता है। प्रतिदृष्टांत साधक होने पर भी मूल दृष्टांत को जब तक हेतु से खंडित न किया जाये तब तक वह भी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधक ही है। इसलिए बिना कारण मूल दृष्टांत को छोडकर दूसरा दृष्टांत लेने की आवश्यकता ही नहीं है। इस कारण से प्रतिदृष्टांतसमा जाति असत्य सिद्ध होती है।

● **अनुत्पत्तिसमा जाति का उत्तर : "तदाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥५-१-१३॥"** अर्थात् उत्पन्न हुआ पदार्थ घटादिरुप में होने से कारण की सिद्धि होती होने से कारण का प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

कहने का भावार्थ यह है कि, शब्द उत्पन्न होने के बाद ही शब्द कहा जाता है। पक्ष भी तब ही कहा जाता है। उसी अनुसार हेतु और दृष्टांत में भी समजना। उत्पन्न होने के बाद उसमें कारण की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए पक्ष, हेतु और दृष्टांत को उत्पत्ति से पहले असिद्ध बताकर हेतु को असिद्ध बताना गलत खंडन है। यदि उत्पत्ति से पहले शब्द न होने के कारण उसमें अनित्यत्व सिद्ध न हो सकता हो, तो उसमें नित्यत्व भी कहाँ से रह सकेगा? क्योंकि उभय पक्षमें शब्द का अभाव समान होने से उत्पत्ति पहले नित्यत्व धर्म भी नहीं है। तो आपका इष्ट नित्यत्व भी शब्द में हो ही नहीं सकता। इस अनुसार अनुत्पत्तिसमा जाति का निवारण हो सकता है।

● **संशयसमा जाति का उत्तर : "साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वान्नाभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥५-१-१५॥"** अर्थात् समानधर्म के दर्शन से संशय होता होने पर भी वैधर्म्यदर्शन से संशय नहीं होता है और (उभयथा) साधारणधर्म और विशेषधर्म दोनो के दर्शन से यदि संशय माना जाये, तो संशय को नित्य मानना पडेगा और समानधर्म को नित्यसंशयजनक के रुप में माना जाता न होने से संशयसमा जाति से हेतु का खंडन नहीं हो सकता है।

भावार्थ यह है कि - समानधर्म के दर्शन से संशय होता है। परन्तु जब विशेषधर्म का दर्शन होता है, तब संशय मिट जाता है। जैसे कि, स्थाणु और पुरुष में ऊंचाई यह समान है और उसका ही जब दर्शन होता है, तब संशय होता है परंतु जब हाथ-पैर इत्यादिक विशेषधर्म का दर्शन होता है। तब यह स्थाणु है या पुरुष है, ऐसा संशय नहीं रहता है।

उसी अनुसार शब्द में कार्यत्वरुप विशेषधर्म देखने से शब्द नित्य होगा या अनित्य? ऐसा संशय नहीं रहेगा। यदि विशेषधर्म का दर्शन भी संशय का कारण हो तो संशय की कभी भी निवृत्ति हो ही नहीं सकेगी। इसलिए विशेषधर्म का दर्शन होने के बाद सामान्यधर्म का दर्शन संशय का कारण नहीं रहता है। इस हेतु से संशयसमा जाति असत्य उत्तर है।

● **प्रकरणसमा जाति का उत्तर :"प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिक्षेपोपपत्तेः ॥५-१-१७॥"** अर्थात् विपरीत साध्य के हेतु से पक्ष और प्रतिपक्षरुप प्रकरण चालू हो तो भी उसके द्वारा पूर्वोक्त हेतु में व्याप्ति आदि का बल होने से उससे सिद्धि हो सकेगी। इसलिए व्याप्तिविशिष्ट हेतु का प्रतिषेध नहीं हो सकता।

कहने का मतलब यह है कि **"शब्दः अनित्यः कार्यत्वात्"** शब्द अनित्य है। क्योंकि वह कार्य है। यहाँ कार्यत्वरुप हेतु का विरोधी श्रावणत्वरुप हेतु है। श्रावणत्व हेतु से शब्द में नित्यत्वरुप विपरीत साध्य प्रतिवादि सिद्ध करना चाहता है। यहाँ कार्यत्वरुप हेतु में व्याप्ति होने से वह सबल बनता है और श्रावणत्व हेतु में व्याप्ति हो तो भी उसको जानने के लिए अन्वयी उदाहरण नहीं मिल सकता है। इसलिए वह निर्बल है। इसलिए प्रतिपक्षरुप कार्यत्व हेतु से ही साध्य की सिद्धि होती होने से प्रकरणसमा जाति नहीं बन सकती।

● **हेतुसमा जाति का उत्तर : "न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥५-१-१९॥"** हेतु से ही साध्य की सिद्धि होती होने से त्रैकाल्य की असिद्धि नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहने का भावार्थ यह है कि, तीन काल में हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती है, यह कहना गलत है। क्योंकि साध्य की सिद्धि हेतु से ही सब कोई स्वीकार करते है। यदि भूख की शांति भोजन से न होती हो, तो भोजन करने में कोई भी मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसलिए भूख का मिटना यह साध्य है। और उसका हेतु भोजन, यह सब कोई मान सके ऐसी स्पष्ट बात है।

● **दूसरा कारण बताते है : ''प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥५-१-२०॥''** प्रतिषेध की उत्पत्ति न होने से प्रतिषेध करने योग्य का प्रतिषेध भी नहीं हो सकता है।

कहने का मतलब यह है कि यदि आप हेतुफलभाव का खंडन करोंगे तो आप जिसका प्रतिषेध करते हो उसका प्रतिषेद्धव्य क्या है ? प्रतिषेध भी साधन होने से इससे भी साध्य की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इसलिए हेतु से साध्य की सिद्धि माननी ही चाहिए।

● **अर्थापत्तिसमा जाति का उत्तर : ''अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥५-१-२२॥''** अर्थात् अनुक्तमात्र की सिद्धि यदि अर्थापत्ति के आभास से हो सकती है, तो पक्षहानि की भी सिद्धि हो सकेगी। क्योंकि वह अनुक्त है। उपरांत असमर्थ अर्थापत्ति से अनैकान्तिकदोष भी आता है।

भावार्थ यह है कि, यदि अर्थापत्ति से अनुक्तमात्र की सिद्धि होती है, तो प्रतिपक्ष की हानि भी सिद्ध होनी चाहिए। क्योंकि खंडन करनेवाले ने अपने पक्ष की हानि भी नहीं कही है।

उपरांत असमर्थ अर्थापत्ति से नित्य का साधर्म्य बताकर वादि जैसे शब्द में नित्यत्व मानता है। वैसे उसी असमर्थ अर्थापत्ति से अनित्य के साथ साधर्म्य बताकर शब्द में अनित्यत्व को भी प्रतिवादि मान सकता है। एक हीं पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व ऐसे विरुद्धधर्म किस तरह से मान सकेंगे। क्या घट काला है ? ऐसा कहा यानी दूसरी सब वस्तुएं काली नहीं है, ऐसा अर्थापत्ति से सिद्ध हो सकेगा ? विशेष का विधान करने से बाकी रहे हुए का निषेध होता है। यह कैसे बन सकेगा ? इसलिए असमर्थ अर्थापत्ति से खंडन करना वह असत्य उत्तर है।

● **अविशेषसमा जाति का उत्तर : ''क्वचिद् धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥५-१-२४॥''** अर्थात् किसी जगह पे धर्म की उपपत्ति न होने से और किसी जगह पे उपपत्ति हो सकती होने से प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

कहने का मतलब यह है कि, कोई एक साध्यरुप धर्म की व्याप्ति किसी खास धर्म में ही होने से, सर्वधर्म साध्य को सिद्ध नहीं कर सकते है। इसलिए कोई भी धर्म के कारण पदार्थो को अविशेष नहीं माना जा सकता। सत्त्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व रुप धर्म समान होने पर भी उससे सभी पदार्थ नित्य या अनित्य नहीं हो सकते। क्योंकि, अनित्यत्वरुप साध्य की व्याप्ति सत्त्व, प्रमेयत्व आदि में नहीं है। इसलिए अविशेषसमा जाति नहीं बन सकती है।

● **उपपत्तिसमा जाति का उत्तर :''उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥५-१-२६॥''** अर्थात् उपपत्ति का कारण स्वीकार करने से प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

भावार्थ यह है कि, मेरे पक्ष में जब तुम प्रमाण मानते हो, तो फिर खंडन किसका हुआ ? प्रमाण मानने से तो मेरे पक्ष की सिद्धि होती है।

यदि शब्द में अनित्यत्व तुम प्रमाण से स्वीकार करते हो, तो फिर अनित्यत्व का खंडन हो ही नहीं सकता। नित्यत्व और अनित्यत्व दोंनो विरुद्ध है। विरुद्ध दो स्वरुपवाला कोई भी पदार्थ होता ही नहीं है। इसलिए तुम्हारा पक्ष अपनेआप असत्य सिद्ध होता है। उपरांत नित्यत्व की व्याप्ति अस्पर्शत्व में न होने से अस्पर्शत्व नित्यत्व का साधक भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार उपपत्तिसमा जाति असत्य उत्तर के रुप में सिद्ध होती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

● **उपलब्धिसमा जाति का उत्तर : ''कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥५-१-२८॥''** अर्थात् दूसरे कारण से भी साध्यरुप धर्म की सिद्धि होती होने से पहले कहे हुए कारण का खंडन नहीं हो सकता है।

कहने का मतलब यह है कि, धूमरुपहेतु से अग्नि की सिद्धि होती है। आलोक (प्रकाश) से भी अग्नि की सिद्धि होती है। यहाँ दोनो हेतु अग्नि के साधक है। साध्य का साधन एक ही होना चाहिए, ऐसा कोई अवधारण हम नहीं करते है। जो जो हेतु में साध्य की व्याप्ति होगी, वह वह सब हेतु साधक हो सकेंगे। परन्तु आलोक हेतु देने से धूमरुप हेतु अग्नि की सिद्धि के लिए असत्य सिद्ध नहीं होता है। इसलिए उपलब्धिसमा जाति असत्य उत्तर सिद्ध होती है।

● **अनुपलब्धिसमा जाति का उत्तर : ''अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥५-१-३०॥''** अर्थात् अनुपलम्भस्वरुप अनुपलब्धि होने से प्रतिषेध करनेवाला हेतु असत्य सिद्ध होता है।

कहने का मतलब यह है कि - ''अनुपलब्धि अभावरुप में ही होती है। भावरुप पदार्थ में अस्तित्व होता है और अभाव में नास्तित्व होता है। एक ही पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व ऐसे विरुद्धधर्म संभवित है ही नहीं। इसलिए आवरण की अनुपलब्धि का विषय अभावरुप में ही है। वह केवल शब्द के आडंबर से भावरुप बन ही नहीं सकता। जिसका उपलंभ होता हो, उसे '**है**' ऐसा कहा जायेगा, जैसे कि मनुष्य। मनुष्य का उपलंभ होता है इसलिए 'मनुष्य' है। जिसका उपलंभ न होता हो, उसे '**नहीं है**' ऐसा कहा जायेगा। जैसे कि, 'मनुष्य का शृंग' (सिंग) मनुष्य के सिंग का उपलंभ नहीं होता है, इसलिए मनुष्य को सिंग नहीं है। ऐसा कहा जाता है। इसलिए अनुपलब्धि समा जाति असत्य उत्तररुप है।

दूसरी तरह से भी अनुपलब्धिसमा जाति असत्य उत्तर के रुप में सिद्ध होती है। **''ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥५-१-३१॥''** अर्थात् आत्मा में ज्ञान के विशेषो का भाव और अभाव मन से जाने जाते होने से।

कहने का मतलब यह है कि, यदि आत्मा में किसी भी विषय का संशयात्मक ज्ञान हो, तो उसे मन से समज सकता है। और कहता है कि ''मुझको कुछ खास विषय में संशय है।'' उसी तरह से यदि किसी विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो, तो भी आत्मा कहता है कि ''मुझको कुछ खास विषय में निश्चय है'' । इस अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, स्मृति आदि ज्ञानोंको भी आत्मा अपने मन से समज सकता है। शब्द के उपर रहा आवरण में नहीं जान सकता। इसलिए शब्द के उपर आवरण नहीं है, ऐसा निश्चय भी आत्मा को है। इसलिए आवरण की अनुपलब्धि भी आत्मा मन से निश्चय कर सकता है। उसमें व्यर्थ तर्क का जरा भी स्थान नहीं है।

● **अनित्यसमा जाति का उत्तर :''साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥५-१-१२॥''** यदि साधर्म्य से कोई भी हेतु न होता हो, तो प्रतिषेधक हेतु की भी सिद्धि नहीं होगी। प्रतिषेध्य हेतु के साथ किसी को किसी भी अंश में साधर्म्य होने से।

कहने का मतलब यह है कि, कोई भी साधर्म्य से सर्व में साध्यत्व का आपादान करने का हेतु भी असत्य ही सिद्ध होगा। क्योंकि उसके हेतु में भी प्रतिषेध्य में रहे हुए सत्त्व, प्रमेयत्वरुप धर्म है ही। तो वह साधर्म्य के कारण प्रतिवादि का हेतु भी मिथ्या ही होता है। इसलिए किसी भी साधर्म्य से हेतु की सिद्धि अथवा खंडन नहीं होता है। परन्तु जिस हेतु में व्याप्ति विशिष्ट साधर्म्य हो, उससे ही हेतु साधक अथवा बाधक हो सकता है। दूसरा कारण बताते है।

''दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः ॥५-१-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३४।।'' अर्थात् दृष्टान्त में साध्यसाधनभाव से बताये गये धर्म का हेतुपन होने से और साधर्म्य से और वैधर्म्य से भी हेतु साधक बनता होने से समानता नहीं है।

कहने का मतलब यह है कि, जिस धर्म में साध्य और साधन में रही हुई व्याप्ति दिखाई देती हो, वही धर्म हेतु हो सकता है। वह व्याप्ति साधर्म्य के साथ होती है और वैधर्म्य के साथ भी होती है। साधर्म्य में जो व्याप्ति हो, वह अन्वयव्याप्ति और वैधर्म्य के साथ हो वह व्यतिरेकव्याप्ति। इस अनुसार साधर्म्य से भी हेतु बनता है। और वैधर्म्य से भी हेतु बनता है। इसलिए असत्यहेतु और सत्यहेतु दोनो समान नहीं है।

● **नित्यसमा जाति का उत्तर : ''प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ।।५-१-३६।।''** अर्थात् प्रतिषेध करने योग्य शब्द में नित्य-अनित्यत्व मान लेने से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि होने से शब्द के अनित्यत्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

कहने का भावार्थ यह है कि जब आप शब्द में नित्य-अनित्य का स्वीकार करते हो, तो शब्द अनित्य हो गया। क्या शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनो विरुद्धधर्म रह सकेंगे ? अनित्यत्व यह अभावात्मक धर्म है। अभाव कोई दिन भी (कभी भी) प्रतियोगि का आश्रय करके रहता नहीं है। घट का अभाव घट में रह ही नहीं सकता। इसलिए अभावरुप धर्म के आधार के रुप में शब्द के अस्तित्व को स्वीकार करने की जरा भी जरुरत नहीं है। अनित्यत्व अर्थात् निरोध अथवा प्रध्वंसाभाव। शब्द का प्रध्वंसाभाव मानने से शब्द अनित्य के रुप में सिद्ध होता है। इसलिए नित्यसमा जाति असत्य उत्तर सिद्ध होती है।

● **कार्यसमा जाति का उत्तर : ''कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ।।५-१-३८।।''** अर्थात् प्रयत्न के कार्य में भेद होने पर भी प्रकृत प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धिका कारण न मिलता होने से। कहने का भाव यह है कि, प्रयत्न के कार्य अर्थात् फल में भेद होता है। फिर भी **''शब्दः अनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्''** इस जगह पे प्रयत्न से शब्द उत्पन्न होता है। उसमें कोई दोष नहीं है। शब्द यदि विद्यमान और किसी से भी ढका हुआ हो, तो उसके (शब्द के) उपर रहे हुए आवरण का ज्ञान होना चाहिए। जैसे धरती में विद्यमान पानी का आवरण मिट्टी होती है, वैसे शब्द के उपर किसी भी प्रकार का आवरण नहीं है, इसलिए शब्द विद्यमान न मानकर उसकी अभिव्यक्ति मानना वह गलत है। शब्द को प्रयत्न के कारण नया ही उत्पन्न होता है, ऐसा मानना ही चाहिए। इसलिए कार्यसमा जाति का यहाँ अवकाश नहीं है। इसलिए शब्द की उत्पत्ति में दिया गया प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु सत्य ही है। इसके संबंध में आगे भी बहोत कहा गया है।

इस अनुसार २४ जातियाँ बताई गई है। इसमें केवल उद्भावन करने में ही विलक्षणता है। इसलिए बहोत स्थान पे उपलक दृष्टि से पुनरुक्ति जैसा लगेगा। अथवा एक जाति में दूसरी जाति का अन्तर्भाव होता मालूम होगा। परन्तु दोष देने के प्रकार की सूक्ष्मता के उपर ध्यान दिया जायेगा तो भेद स्पष्ट दिखाई देगा। कुछ नैयायिको ने इसके सिवा दूसरी जातियों को भी माना है। क्योंकि दोष देने के प्रकार की मर्यादा बांधी नहीं जा सकती। इसलिए इस जाति के गण को आकृतिगण के रुप में माना है।

तुम्हारे पक्ष में भी कोई-न-कोई दोष होना ही चाहिए। क्योंकि संसार में सर्वथा निर्दोष वस्तु कोई नहीं है। ऐसा कहकर वादि के हेतु में शंका लाना उसे **शाठीसमा** जाति कहा जाता है। इस अनुसार से दूसरी जातियों का उद्भावन (उद्भव) किया जा सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे के द्वारा जाति का प्रयोग किया जाने पर भी सम्यग् उत्तर ही देना चाहिए। परन्तु बदले में जाति से उत्तर देकर खंडन नहीं करना चाहिए। क्योंकि उस तरह से करने से तो असमंजस (अव्यवस्था) का प्रसंग आता है। ॥३१॥

अथ निग्रहस्थानमाह ।

अब निग्रहस्थान के स्वरुप को ग्रंथकार श्री कहते है।

(मूल श्लो०) [C-61]**निग्रहस्थानमाख्यातं परो येन निगृह्यते ।**
प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदतः ।।३२।।

श्लोकार्थ : जो प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास, प्रतिज्ञाविरोधादि विशिष्टभेद से पर (प्रतिवादि-विपक्ष) निगृहीत किया जाये उसको प्रतिज्ञाहानि आदि (बाईस) निग्रहस्थान कहे गये है।

व्याख्या-येन केनचित्प्रतिज्ञाहान्याद्युपरोधेन परो विपक्षो निगृह्यते, परवादी वचननिग्रहे पात्यते तन्निग्रहस्थानम् । पराजयस्तस्य स्थानमाश्रयः कारणमित्यर्थः । आख्यातं कथितम् । कुतो नामभेदत इत्याह-'प्रतिज्ञाहानीत्यादि' । हानिस्त्यागः, संन्यासोऽपह्नवं, विरोधो हेतोर्विरुद्धता, तेषां द्वन्द्वे हानिसंन्यासविरोधाः । ततः प्रतिज्ञाशब्देनेत्थं सम्बन्धः, प्रतिज्ञायाः पक्षस्य हानिसंन्यासविरोधाः प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधास्ते आदिर्येषां ते प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादयः, आदिशब्देन शेषानपि भेदान्परामृशति, तेषां विभेदतो विशिष्टभेदतः, येन प्रतिज्ञाहान्यादिदूषणजालेन परो निगृह्यते, तन्निग्रहस्थानमित्यर्थः । निग्रहस्थानं च सामान्यतो द्विविधं, विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च[C-62] । तत्र [C-63]विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । [C-64]अप्रतिपत्तिस्तु साधनस्यादूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम् । द्विधा हि वादी पराजीयते । यथा-कर्तव्यमप्रतिपद्यमानो विपरीतं वा प्रतिपद्यमान इति विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिभेदाच्च द्वाविंशतिर्निग्रहस्थानानि भवन्ति । तद्यथा-प्रतिज्ञा[१]हानिः [२]प्रतिज्ञान्तरं प्रति[३]ज्ञाविरोधः प्रति[४]ज्ञासंन्यासः हे[५]त्वन्तरं [६]अर्थांतरं निर[७]र्थकं [८]अविज्ञातार्थं [९]अपार्थकं [१०]अप्राप्तकालं [११]न्यूनं [१२]अधिकं [१३]पुनरुक्तं [१४]अननुभाषणं [१५]अज्ञानं [१६]अप्रतिभा [१७]विक्षेपः [१८]मतानुज्ञा पर्यनु[१९]योज्योपेक्षणं नि[२०]रनुयोज्यानुयोगः [२१]अपसिद्धान्तः हे[२२]त्वाभासाश्च[C-65] ।। [C-66]**अत्राप्यननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिप्रकाराः, शेषाश्च विप्रतिपत्तिभेदाः ।**

टीकाका भावानुवाद :

व्याख्या : जो कोई प्रतिज्ञाहानिआदि के उपरोध से विपक्ष (परवादि) निगृहीत किया जाये अथवा परवादि को वचननिग्रह में गिराया जाये, तो उसे प्रतिज्ञाहानिआदि निग्रहस्थान कहे गये है। तात्पर्य यह है कि पराजय

(C-61-62-63-64-65-66) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारणभूत आश्रय (स्थल) को निग्रहस्थान कहा जाता है। (अर्थात् जिसके द्वारा परवादि का पराजय हो, उस स्थान को निग्रहस्थान कहा जाता है।)

निग्रहस्थान नाम के भेद से कितने है ? (अर्थात् निग्रहस्थान कौन से है ?) प्रतिज्ञाहानि इत्यादि। हानि यानी कि त्याग, संन्यास=छुपाना। (वस्तु होते हुए भी नहीं है, ऐसा कहना।) विरोध अर्थात् हेतु की विरुद्धता। ये तीनो का द्वन्द्व समास होके, **"हानिसंन्यासविरोधाः"** यह पद बना हुआ है। इसलिए प्रतिज्ञा शब्द के साथ इस प्रकार से संबंध करना। प्रतिज्ञा अर्थात् पक्ष की हानि, संन्यास और विरोध है, वह प्रतिज्ञाहानि-संन्यासविरोध और प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोध आदि में है जिनके वे प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादि। उस प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादि विशिष्ट भेद से दूसरे परवादि का निग्रह किया जाये उसे निग्रहस्थान कहा जाता है। आदि पद से निग्रहस्थान के ये तीन के सिवा दूसरे भेदो को बताते है।

निग्रहस्थान सामान्य से दो प्रकार से होते है। (१) विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान, (२) अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान

साधनाभास में साधनबुद्धि और दूषणाभास में दूषणबुद्धि होना उसे विप्रतिपत्ति कहा जाता है। तथा साधन का दूषण न बता सकना और साधन में बताये हुए दूषण का उद्धार न करना उसे अप्रतिपत्ति कहा जाता है।

इस प्रकार विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति, ऐसे दो प्रकार से वादि को पराजित किया जाता है।

(कहने का मतलब यह है कि, निग्रहस्थान वस्तु की रजुआत को नहीं समज सकने से या विपरित समजने से होता है। वस्तु को नहीं समजना वह अप्रतिपत्ति और वस्तु को विपरीत समजना वह विप्रतिपत्ति।)

इस तरह से कर्तव्य का स्वीकार नहीं करने से और कर्तव्य से विपरीत स्वीकार करने से अनुक्रम में अप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति के भेद से बाईस निग्रहस्थान है। वह इस अनुसार (१) प्रतिज्ञाहानि, (२) प्रतिज्ञान्तर, (३) प्रतिज्ञाविरोध, (४) प्रतिज्ञासंन्यास, (५) हेत्वन्तर, (६) अर्थान्तर, (७) निरर्थक, (८) अविज्ञातार्थ, (९) अपार्थक, (१०) अप्राप्तकाल, (११) न्यून, (१२) अधिक, (१३) पुनरुक्त, (१४) अननुभाषण, (१५) अज्ञान, (१६) अप्रतिभा, (१७) विक्षेप, (१८) मतानुज्ञा, (१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण, (२०) निरनुयोज्यानुयोग, (२१) अपसिद्धांत और (२२) हेत्वाभास।

इन बाईस में अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप और पर्यनुयोज्योपेक्षण, ये पाँच अप्रतिपत्ति के भेद है और बाकी के विप्रतिपत्ति के भेद है।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः [C-67]प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद्धटवदिति साधनं वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात्सामान्यवद्धटोऽपि नित्यो भवत्विति स एवं ब्रुवाणः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् । शब्दोऽपि नित्य एव स्यात् । ततः प्रतिज्ञाहान्या पराजीयते १ ।

(C-67) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः [C-68]प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे नोदिते यदि ब्रूयाद्युक्तं यत्सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति । सोऽयमनित्यः शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति प्रतिजानानः प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति २ । प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः, प्रतिज्ञाविरोधो[C-69] नाम निग्रहस्थानं भवति । गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । यदि हि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं न तर्हि रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः । अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति । तदयं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात्पराजीयते ३ । पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य [C-70]प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात्क एवमाह अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यासात्पराजितो भवति ४ ।

टीकाका भावानुवाद :

अब प्रत्येक निग्रहस्थान की व्याख्या की जाती है।

(१) **प्रतिज्ञाहानि :** हेतु अनैकान्तिक करने पर भी प्रतिदृष्टांतधर्म को स्वदृष्टांत में स्वीकार करना, वह प्रतिज्ञाहानि नाम का निग्रहस्थान है। जैसे कि, "**अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद्, घटवत्।**" इस अनुसार शब्द में अनित्यत्व को सिद्ध करता हुआ ऐन्द्रियकत्व साधन को बोलता वादि दूसरे के द्वारा (प्रतिवादि द्वारा) सामान्य भी ऐन्द्रियक है। (फिर भी) सामान्य नित्य है। इस अनुसार हेतु अनैकान्तिक करने पर भी, यदि इस अनुसार (वादि) बोले कि, तो सामान्य की तरह घट भी नित्य हो। इस अनुसार बोलता वह वादि "**अनित्यः शब्दः**" अर्थात् शब्द की जो अनित्यत्व के रुप में प्रतिज्ञा की थी, उसका त्याग करता है और शब्द भी नित्य ही होगा और इसलिए वादि प्रतिज्ञाहानि से पराजय प्राप्त करता है।

(**न्यायसूत्र : प्रतिदृष्टांतधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः।।५-२-२।।** अर्थात् स्वपक्ष में परपक्ष के धर्म का स्वीकार करना, उसका नाम प्रतिज्ञाहानि नाम का निग्रहस्थान कहा जाता है।)

कहने का मतलब यह है कि, (वादिने प्रतिज्ञा की कि) "**अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वात्, घटवत्।**" अर्थात् जिस प्रकार घट इन्द्रिय से ग्राह्य होने से अनित्य है, उस प्रकार शब्द भी इन्द्रिय से ग्राह्य होने से अनित्य है। इस अनुसार वादिने अपना पक्ष स्थापित किया, उसके बाद प्रतिवादि कहता है कि यदि इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द अनित्य के रुप से सिद्ध होता हो, तो घटत्व आदि सामान्य भी इन्द्रियग्राह्य होने से, वह भी अनित्य के रुप में सिद्ध होने चाहिए। (परन्तु सामान्य तो नित्य है।) यह सुनकर वादि विचार किये बिना कहता है

(C-68-69-70) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि, तो घट भी नित्य हो जाओ। इस तरह से घट को नित्य मानने से वादि ने शब्द को भी नित्य मान लिया। क्योंकि घट यह तो वादि का दृष्टांत है। शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करना यह तो वादि का पक्ष था और बाद में शब्द में नित्यत्व मान लिया। इसलिए मूल प्रतिज्ञा की हानि हुई। इसलिए वादि प्रतिज्ञाहानि नाम के निग्रहस्थान में आ गया। **यहाँ यह निग्रहस्थान दूषणाभास में दूषणबुद्धि होने रुप विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान है।**

(२) **प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान :** दूसरे के द्वारा प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का प्रतिषेध (निषेध) करने पर भी उसी ही धर्मि में धर्मान्तर सिद्ध होना चाहिए, ऐसा बोलना वह प्रतिज्ञान्तर नाम का निग्रहस्थान है। अर्थात् प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का दूसरे द्वारा प्रतिषेध होने के बाद प्रतिज्ञात और खंडित हुए अर्थ में दूसरा कोई विशेषण देकर प्रतिज्ञात अर्थ का निर्देश करना, उसका नाम "**प्रतिज्ञान्तर**" निग्रहस्थान है।

जैसे कि, वादिने प्रतिज्ञा की कि, शब्द अनित्य है क्योंकि अनित्य घट में जैसे इन्द्रियग्राह्यत्व है, वैसे शब्द में भी इन्द्रियग्राह्यत्व है। अब प्रतिवादि उपर के हेतु का खंडन करता है कि, ऐन्द्रियकत्व तो सामान्य में भी है, फिर सामान्य तो नित्य पदार्थ है। इसलिए जिस में ऐन्द्रियकत्व (इन्द्रियग्राह्यत्व) हो, वह अनित्य होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। इसके उत्तर में वादि कहता है कि, सामान्य तो सर्वगत है। इसलिए असर्वगत शब्द असर्वगत घट के समान अनित्य है। यहाँ वादि ने अलग ही प्रतिज्ञा कर ली। "**शब्द अनित्य है**" यह पहली प्रतिज्ञा और 'शब्द असर्वगतत्व विशेषण से युक्त होने से अनित्य है', यह दूसरी प्रतिज्ञा।

(इस तरह से दूसरी प्रतिज्ञा करने का कोई अर्थ नहीं है। एक प्रतिज्ञा को दूसरी प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं कर सकती है। प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए सत्य हेतु देना चाहिए।) इस अनुसार न करने से वादि अलग प्रतिज्ञा करके प्रतिज्ञान्तर नाम के निग्रहस्थान में आ जाता है। **न्यायसूत्र : प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥५-२-३॥** अर्थ स्पष्ट है।

(३) **प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान :** प्रतिज्ञा और हेतु का जो विरोध है, वह प्रतिज्ञाविरोध नाम का निग्रहस्थान है। अर्थात् प्रतिज्ञात अर्थ में और हेतु में विरोध हो, तो वह प्रतिज्ञाविरोध नाम का निग्रहस्थान है।

जैसे कि, **गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रुपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेः।** अर्थात् द्रव्य गुण से भिन्न है। क्योंकि रुपादि गुणो से भिन्न मालूम नहीं होता। (ये दो वाक्यो में पहला वाक्य प्रतिज्ञा बताता है और दूसरा हेतु बताता है। अब यदि द्रव्य गुण से भिन्न पदार्थ है, तो वह रुपादि गुणो से भिन्न बताना चाहिए। फिर भी अभिन्न है, ऐसा कहना उसमें स्पष्ट विरोध है। (ऐसे स्थानो पे वादि या प्रतिवादि प्रतिज्ञा विरोध नाम के निग्रहस्थान में आ गिरते है।) यदि गुण से व्यतिरिक्त (भिन्न) द्रव्य है, तो रुपादि गुणो से भिन्न नहीं लगता, ऐसा नहीं अर्थात् लगता है। (ऐसा कहना चाहिए।) और वैसे भी रुपादि गुणो से अलग नहीं लगता है, तो गुण से व्यतिरिक्त (भिन्न) द्रव्य किस तरह हो ?

इस तरह से प्रतिज्ञा से विरुद्ध कहने से पराजित किया जाता है। (**न्यायसूत्र : प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिज्ञाविरोधः ।।५-२-४।। अर्थ स्पष्ट है ।

(४) **प्रतिज्ञा संन्यास :** दूसरे के द्वारा पक्ष के साधन में दूषण बताने पर भी उस दूषण का उद्धार करने की अशक्ति से प्रतिज्ञा का ही (प्रतिज्ञात अर्थ का) अपलाप करनेवाले को प्रतिज्ञासंन्यास नाम का निग्रहस्थान होता है ।

जैसे कि, वादिने प्रतिज्ञा की कि "शब्द अनित्य है, क्योंकि उसका बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण होता है ।" इसके उपर प्रतिवादि कहता है कि, शब्दत्वादि सामान्य भी बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य है और वह तो नित्य है । यह सुनकर वादि फिर से कहता है कि, कौन कहता है कि शब्द अनित्य है ? इस अनुसार वादि अपने प्रतिज्ञात अर्थ को छिपाने का प्रयत्न करता है । इसलिए वह प्रतिज्ञासंन्यास नाम के निग्रहस्थान में आ गिरता है और इसलिए उसका पराजय होता है । (**न्यायसूत्र : पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः** ।।५-२-५।। अर्थ स्पष्ट है ।)

अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो [C-71]हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्यस्य व्यभिचारेण दूषिते जातिमत्त्वे सतीत्यादि विशेषणमुपादानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति ५ । प्रकृतादर्थादन्योऽर्थोऽर्थान्तरं तदनौपायिकमभिदधतोऽर्थान्तरं[C-72] नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुः । हेतुरिति च हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम् । पदं च नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदाच्चतुर्विधमिति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणः प्रकृतानुपयोगिनार्थान्तरेण निगृह्यत इति ६ । अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं[C-73] निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वात् घझढधभवदित्येतदपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय भवति साध्यानुपयोगाद्वा, । यत्साधनवाक्यं दूषणं वा किंचित्त्रिरभिहितमपि पर्षत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते, तत् क्लिष्टशब्दमप्रसिद्धप्रयोगमतिह्रस्वोच्चारितमित्येवंप्रकारमविज्ञातार्थं[C-74] नाम निग्रहस्थानं भवति । असामर्थ्यसंवरणप्रकारो ह्ययमिति निगृह्यते ८ । पूर्वापरासंगतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं[C-75] नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्ड इत्यादि ९ । प्रतिज्ञाहेतूदाह-रणोपनयनिगमन-वचनक्रममुल्लंघ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं[C-76] नाम निग्रहस्थानं भवति स्वप्रतिपत्तिवत्परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमानक्रमस्यापगमात् १० । पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं प्रयुञ्जानस्य न्यूनं[C-77] नाम निग्रहस्थानं भवति । प्रतिज्ञादीनां पञ्चानामपि परप्रतिपत्तिजन्मन्युपयोगादिति ११ । एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं[C-78] नाम निग्रहस्थानं भवति, निष्प्रयोजनाभिधानात् १२ ।

(C-71-72-73-74-75-76-77) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं[C-79] नाम निग्रहस्थानं भवति, अन्यत्रानुवादात् । शब्दपुनरुक्तं नाम, यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते, यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दः इति । अर्थपुनरुक्तं तु, यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोच्चार्यते पुनश्च पर्यायान्तरेणोच्यते, यथोऽनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति । अनुवादे तु पौनरुक्त्यं न दोषो, यथा हेतूपदेशेन प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति १३ । पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं, तदननुभाषणं[C-80] नाम प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं भवति । अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं दूषणमभिदधीत १४ । पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं, तदज्ञानं[C-81] नाम निग्रहस्थानं भवति, अविदितोत्तरविषयो हि किमुत्तरं ब्रूयात्, न चाननुभाषणमेवेदं ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् १५ । परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभानाम निग्रहस्थानं भवति १६ । कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपो नाम निग्रहस्थानं भवति, सिसाधयिषितस्यार्थस्याशक्य-साधनतामवसाय कथां विच्छिनत्ति, इदं मे करणीयं परिहीयते पीनसेन कण्ठ उपरुद्ध इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते १७ ।

टीकाका भावानुवाद :

(५) **हेत्वन्तर निग्रहस्थान :** हेतु सामान्यरुप से दिया हो और बाद में उस हेतु का खंडन करने पर, उस हेतु में (वादी) विशेषण देना चाहता है, तो उसे हेत्वन्तर नाम का निग्रहस्थान होता है।

कहने का मतलब यह है कि, वादि किसी भी अर्थ को सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा करता है और उस प्रतिज्ञात अर्थ को सिद्ध करने के लिए हेतु देता है। परन्तु जब प्रतिवादी हेतु का खंडन करता है, तब वादी उसमें कुछ विशेषण लगाता है। वह वादी का हेत्वन्तर नाम का निग्रहस्थान हुआ। क्योंकि वह मूल हेतु की अपूर्णता एक तरह से मान लेता है। जैसे कि, वादी द्वारा शब्द अनित्य है, क्योंकि बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य है। यह कहने पर भी इसके सामने प्रतिवादी कहता है कि, सामान्य भी बाह्यइन्द्रिय से ग्राह्य है। फिर भी वह तो नित्य है।

इसके उपर से वादी अपने (शब्द में अनित्यत्व को सिद्ध करता हुआ) मूल हेतु में एक विशेषण लगाता है कि, "जो सामान्यवान् हो और बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य भी हो, वह अनित्य है।" अर्थात् **"जातिमत्त्वे सति ऐन्द्रियकत्वात्"** यह नया हेतु देता है। इस अनुसार प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए सामान्यतत्त्व (जातिमत्त्व) रुप विशेषण हेतु में पीछे से लगाता है। इसलिए हेत्वन्तर द्वारा वादी निगृहीत होता है और वह हेत्वन्तर नाम का निग्रहस्थान है। **(न्यायसूत्र : अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् । ।।१-२-६।।** अर्थ स्पष्ट है।)

(६) **अर्थान्तर निग्रहस्थान :** प्रकृत अर्थ की उपेक्षा करके अनौपयिक (असंबद्ध-अनुपयोगी) अर्थान्तर

(C-79-80-81) - तु० पा०-प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कथन करनेवाले को अर्थान्तर नामका निग्रहस्थान होता है।

जैसे कि, वादीने "**अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्।**" इस अनुसार शब्द को अनित्य सिद्ध करने कृतकत्व हेतु दिया है, परन्तु प्रतिवादी प्रस्तुत अर्थ की उपेक्षा करके "**हि**" धातु को "**तु**" प्रत्यय लगकर कृदन्तपद बना हुआ है और पद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के भेद से चार प्रकार का है। इस तरह से वर्णन करके नामादि को कहता प्रस्तुत में अनुपयोगी अर्थान्तर के द्वारा निगृहीत होता है।

कहने का मतलब यह है कि, उपरोक्त अनुमान में शब्द को कृतकत्वेन अनित्य सिद्ध करना, वह प्रकृत (मूल) प्रयोजन है। उसके बदले 'हेतु' शब्द की व्याकरण की दृष्टि से सिद्धि करनी, यह असंबद्ध है। इसलिए अर्थान्तर नाम का निग्रहस्थान आ गिरता है। **न्यायसूत्र : प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्** ॥५-२-७॥ अर्थ स्पष्ट है।)

(७) **निरर्थक निग्रहस्थान :** अभिधेय (अर्थ) रहित वर्णो के क्रमानुसार प्रयोगमात्र करनेवाले को निरर्थक नाम का निग्रहस्थान होता है।

जैसे कि, "**अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वात्, घझढधभवत्।**" यह कथन सर्वथा अर्थ से शून्य होने से निग्रह के लिए होता है। अथवा साध्य को (सिद्ध करने में) उपयोगी नहीं होने से निग्रह के लिए होता है। **(न्यायसूत्र : वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्** ॥५-२-८॥ भावार्थ स्पष्ट है।)

(८) **अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान :** जो साधनवाक्य और दूषण तीन बार बोलने पर भी सभा और प्रतिवादी द्वारा जानने के लिए संभव नहीं है, वह अविज्ञातार्थ नाम का निग्रहस्थान है।

जैसे कि, वादी जब क्लिष्टशब्द का प्रयोग, असिद्धवाक्य का प्रयोग या अति धीरे स्वर से अस्पष्ट उच्चारण करता है, तब सभा और प्रतिवादी को बोध नहीं होता है। इसलिए वादी को अविज्ञातार्थ नाम का निग्रहस्थान आ गिरता है और ऐसा वाक्य (उपरोक्त कहे हुए वाक्य) बोलने में वादी अपने में रहा हुआ असामर्थ्य छिपाना चाहता है, इसलिए निगृहित होता है। **(न्यायसूत्र : परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञात-मविज्ञातार्थम्** ॥५-२-९॥ अर्थ स्पष्ट है।)

प्रश्न : निरर्थक और अविज्ञातार्थ निग्रहस्थानो में भेद क्या है ?

उत्तर : "**निरर्थक**" में अर्थवाचक पद होता ही नहीं है, जब कि, 'अविज्ञातार्थ' में पद तो अर्थवाचक होता है परन्तु वादी सभा और प्रतिवादी समज न सके इसलिए अप्रसिद्ध शब्दोवाला, क्लिष्ट शब्दोवाला अथवा अस्पष्ट उच्चारण वाला वाक्य बोलता है।)

(९) **अपार्थक निग्रहस्थान :** पूर्वापर को असंगत ऐसे पदो के समूह के प्रयोग से अप्रतिष्ठित वाक्यार्थ जिस में लगता हो, वह अपार्थक नाम का निग्रहस्थान है। **जैसे कि,** दस दाडिम, छः मालपूआँ, कुन्ड, बकरे का चमडा, मांस का पिण्ड इत्यादि कोई बोले तो इन सब में पूर्वापर का कोई संबंध न होने के कारण प्रतिष्ठित अर्थ निकलता न होने से अपार्थक नाम का निग्रहस्थान आ गिरता है। **(न्यायसूत्र :**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ।।५-२-१०।। अर्थ स्पष्ट है ।)

(१०) **अप्राप्तकाल निग्रहस्थान :** प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये अवयवो के क्रम का उल्लंघन करके अवयव के विपर्यास से प्रयोजित अनुमानवाक्य हो तो उसे अप्राप्तकाल नाम का निग्रहस्थान होता है। यहाँ यह जानना कि, खुद को जो ज्ञान हुआ है वह दूसरे को हो, इसलिए पंचावयवयुक्त परार्थानुमान का प्रयोग होता है। परन्तु वह क्रमशः प्रयोजित हो, तो ही दूसरे के बोध का कारण बनता है और क्रम का उल्लंघन हो, तो अवयव के विपर्यास से अप्राप्तकाल नाम का निग्रहस्थान आ गिरता है। (**न्यायसूत्र : अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्** ।।५-२-१२।। अर्थ स्पष्ट है ।)

इस उपरोक्त क्रम से भिन्न दूसरा क्रम भी न्यायसूत्र में बताया गया है। उसमें क्रम इस अनुसार है -

वादी को अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए हेतु देना चाहिए और हेत्वाभास को दूर करना चाहिए । वह प्रथमपद। प्रतिवादी को वादी के हेतु का खंडन करना चाहिए। यह दूसरा पद। प्रतिवादी को अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए हेतु देना चाहिए और हेत्वाभास का उद्धार करना चाहिए। यह तीसरा पद। उसके बाद जय और पराजय की व्यवस्था करना, यह चौथा पद।- इस क्रम के अनुसार विजय चाहनेवालो को कथा चलानी चाहिए। इस क्रम का भंग करे तो भी "अप्राप्तकाल" नाम का निग्रहस्थान आ गिरता है।

(११) **न्यून निग्रहस्थान :** (स्व को हुआ ज्ञान दूसरे को हो, इसलिए परार्थानुमान के अंगरुप) पाँच अवयव से युक्त वाक्यप्रयोग करना चाहिए। फिर भी उन पाँच में से (एक) अवयव से हीन वाक्य का प्रयोग करनेवाले को न्यून नाम का निग्रहस्थान होता है। अर्थात् वाक्य के प्रयोग के अवसर पर पाँच अवयव में से किसी भी एक अवयव से हीन प्रयोग हो, तो न्यून नाम का निग्रहस्थान है।

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयव दूसरे को ज्ञान उत्पन्न करने में उपयोगी है। उसमें से एक अवयव से हीन वाक्यप्रयोग निग्रहस्थान बनता है। (**न्यायसूत्र : हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्** ।।५-२-१३।। अर्थ स्पष्ट है ।) यह निग्रहस्थान विजय चाहनेवालो की कथा में होता है। यह भूल भी विजयकथा में घबराहट के कारण होती है।

(१२) **अधिक निग्रहस्थान :** एक ही उदाहरण या एक ही हेतु द्वारा प्रतिपादित अर्थ में दूसरे हेतु या दूसरे उदाहरण का उपन्यास करनेवाले को (रखनेवाले को) **अधिक** नामका निग्रहस्थान होता है। क्योंकि दूसरा हेतु और दूसरा उदाहरण देने का कोई प्रयोजन नहीं है। (**न्यायसूत्र : हेतूदाहरणाधिकमधिकम्** । ।।५-२-१३।। अर्थ स्पष्ट है।) यह प्रसंग जल्पकथा में बनता है और यह दूसरा हेतु और दूसरा उदाहरण देना वह भी घबराहट का चिह्न है।)

(१३) **पुनरुक्त निग्रहस्थान :** शब्द और अर्थ का पुनः कथन करना, इसे पुनरुक्त नाम का निग्रहस्थान कहा जाता है। यह अनुवाद के सिवा जानना। अर्थात् अनुवाद में पुनरुक्तदोष नहीं लगता।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ वही का वही शब्द फिर से कहा जाता है, वह शब्द पुनरुक्त निग्रहस्थान है, जैसे कि **''अनित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दः ।''** जहाँ अर्थ वही का वही हो, परन्तु वह अर्थ प्रथम अन्य शब्द के द्वारा बोला जाये और फिर से वही अर्थ दूसरे पर्याय द्वारा कहा जाये उसे अर्थ पुनरुक्त निग्रहस्थान कहा जाता है। जैसे कि **''अनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिः ।''** परन्तु अनुवाद में पुनरुक्ति दोष नहीं लगता है। जैसे कि, निगमन। निगमन में हेतु के उपदेश से प्रतिज्ञा का पुनः कथन होता है। वह पुनरुक्तदोषरुप नहीं है। क्योंकि, दूसरो के ज्ञान के लिए प्रयोजित हुआ होता है। (यहाँ यह जानना कि, प्रथम प्रतिज्ञा की थी, वह केवल साध्य का निर्देश था और फिर से जो वही प्रतिज्ञा की जाती है, उसमें हेतु का संबंध बताया गया होता है। इसलिए वह निरर्थक नहीं है परन्तु सार्थक है। इस कारण से अनुवाद में पुनरुक्तिदोषरुप में नहीं है। वैसे भी **अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः ।।५-२-१५।।** अर्थात् अनुवाद में जो पुनः कथन होता है, उसमें शब्द का अभ्यास से विशेष अर्थ मालूम होता होने से पुनरुक्त निग्रहस्थान नहीं गिना जाता।)

(१४) **अननुभाषण निग्रहस्थान :** सभा के द्वारा जाने हुए और वादी के द्वारा तीन बार कहे हुए अर्थ के सामने प्रति-उत्तर न देना, वह अननुभाषण नाम का प्रतिवादी का निग्रहस्थान होता है।

कहने का मतलब यह है कि वादी ने अपने पक्ष की स्थापना की हो और प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए हेतु दिया हो, उसका कथन तीन बार किया हो और सभा ने जाना हो, फिर भी प्रतिवादी कोई उत्तर न देता हो, तो उत्तर को नहि देनेवाला प्रतिवादी दूषण का स्थान क्या कहेगा। अर्थात् प्रतिवादि दूषण नहीं बता सकता है। इसलिए मौन रखता है। **(न्यायसूत्र : विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् ।।५-२-१७।।** अर्थ स्पष्ट है।)

(१५) **अज्ञान निग्रहस्थान :** सभा के द्वारा जाने हुए परन्तु वादी के वाक्यार्थ को जो प्रतिवादी जान नहीं सकता अर्थात् उसका अज्ञान है, वह अज्ञान नाम का निग्रहस्थान कहा जाता है। यानी कि, विषय का ही जिसको अज्ञान हो, वह उत्तर किस तरह से दे सकेंगा ? अर्थात् दे ही नहीं सकेगा।

प्रश्न : अननुभाषण और अज्ञान, दोंनो निग्रहस्थान में प्रतिवादी उत्तर नहीं देता है। तो दोनो एक ही निग्रहस्थान होने चाहिए। भिन्न नहीं होने चाहिए। तो दोंनो का पृथक् उपादान क्यों किया है ? (अलग क्यों बताया है ?)

उत्तर : अज्ञान निग्रहस्थान अननुभाषण निग्रहस्थान नहीं है। क्योंकि, अननुभाषण में प्रतिवादी वस्तु को जानता होने पर भी उत्तर नहीं देता है। जब कि, अज्ञान नाम के निग्रहस्थान में प्रतिवादी वस्तु को जानता ही नहीं है। और इसलिए उत्तर नहीं देता है। दोनो के बिच के इस अंतर के कारण पृथक् उपादान किया गया है। (अलग बताया गया है।) **(न्यायसूत्र : अविज्ञातञ्चाज्ञानम् ।।५-२-१८।।)**

(१६) **अप्रतिभा निग्रहस्थान :** परपक्ष ग्रहण करने पर भी, उसके विषय में बोलने पर भी, जो उत्तर की प्रतिपत्ति न करना, उसको अप्रतिभा नाम का निग्रहस्थान होता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहने का मतलब यह है कि, प्रतिवादीने वादी के हेतु का जो खंडन किया हो, उसे वादी समज तो सके, परन्तु उसका अब उत्तर क्या देना, वह वादी समज न सके, तो वादी को अप्रतिभा नामका निग्रहस्थान आ गिरता है और इसलिए उसका पराजय होता है। उसी प्रकार से वादी का कथन समजने पर भी उसका उत्तर क्या देना ? वह यदि प्रतिवादी को समज में न आये, तो प्रतिवादी अप्रतिभा नाम के निग्रहस्थान में आ गिरता है और उसका पराजय होता है। (**न्यायसूत्र : उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ।।५-२-१९।।** अर्थ स्पष्ट है।)

(१७) **विक्षेप निग्रहस्थान :** किसी भी कार्य का बहाना निकाल के कथा का विच्छेद करना, उसका नाम **विक्षेप** निग्रहस्थान है।

कहने का मतलब यह है कि, वादी अथवा प्रतिवादी सिद्ध करने की इच्छावाले अर्थ की अशक्य साधनता जान के कथा का छेद करता है। अर्थात् वादी या प्रतिवादी अपने साधन को सिद्ध करने में अपने में असमर्थता को जानकर, कोई बहाना निकालकर कथा का विच्छेद करता है। इसलिए वह निग्रहस्थान में आ गिरता है। जैसे कि, वादी या प्रतिवादी यह मुझे करना बाकी है, पिनस से (रोग विशेष) से कंठावरोध होता है। इत्यादि कहकर कथा का विच्छेद करने से विक्षेप से पराजित होता है। (**न्यायसूत्र : कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ।।५-२-२०।।** अर्थ स्पष्ट है।

यहाँ यह जानना कि, कथा का जो विच्छेद करे वह वादी या प्रतिवादी निग्रहस्थान में आ जाता है।)

स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा[C-84] **नाम निग्रहस्थानं भवति । चौरो भवान्पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते भवानपि चौरः पुरुषत्वादिति प्रतिब्रुवन्नात्मनः परापादितं चौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते १८ । निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः** पर्यनुयोज्योपेक्षणं[C-85] **नाम निग्रहस्थानं भवति, पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीय इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसीति वचनीयः, तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते १९ । अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो** निरनुयोज्यानुयोगो[C-86] **नाम निग्रहस्थानं भवति, उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि निगृहीतोऽसीति यो ब्रूयात्, स एवमसद्भूतदोषोद्भावनया निगृह्यते २० । सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गो**ऽपसिद्धान्तो[C-87] **नाम निग्रहस्थानं भवति, यः प्रथमं किंचित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते तत्र च सिसाधयिषितार्थसाधनाय वा परोपलम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते, सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते, यथा मीमांसामभ्युपगम्य कश्चिदग्निहोत्रं स्वर्गसाधनमित्याह कथं पुनरग्निहोत्रक्रिया ध्वस्ता सती स्वर्गस्य साधिका भवतीत्यनुयुक्तः प्राह अनया क्रिययाराधितो महेश्वरः फलं ददाति राजादिवदिति, तस्य मीमांसानभिमतेश्वरस्वीकारा-**

(C-84-85-86-87) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानं भवति २१ । [C-88]हेत्वाभासाश्च **यथोक्ता असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम्**[C-89] २२ । इति भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानानां द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति । तदेवं[C-90] छलजातिनिग्रहस्थानस्वरूपभेदाभिज्ञः स्ववाक्ये तानि वर्जयन्परप्रयुक्तानि समादधद्यथाभिमतसाध्यसिद्धिं लभत इति ।।

टीकाका भावानुवाद :

(१८) **मतानुज्ञा निग्रहस्थान :** स्वपक्ष में दूसरो के द्वारा दीये गये दोष का उद्धार किये बिना, बदले में उस दूषण को ही परपक्ष में देनेवाले को मतानुज्ञा नाम का निग्रहस्थान होता है।

जैसे कि, "**चोरो भवान् पुरुषत्वात्, प्रसिद्धचौरवत्**" प्रसिद्ध चोर की तरह, आप भी पुरुष होने से चोर हो, क्योंकि पुरुष हो। यहाँ प्रतिवादीने दीये हुए दोष का उद्धार किये बिना ही वादीने आप भी चोर है, ऐसा कहा तो वादीने प्रतिवादी के द्वारा दिये गये, चौरपन के दोष का स्वीकार कर लिया होता है। क्योंकि "**अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति**" अर्थात् प्रतिषेध नहीं करने से अनुमति (आ) जाती है। इस तरह से वादी प्रतिवादी के मत की अनुज्ञा से निगृहीत किया जाता है। (**न्यायसूत्र : स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा । ।।५-२-२१।।** अर्थ स्पष्ट है।)

(१९) **पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान :** निग्रहस्थान में प्राप्त (आये हुए) का निग्रह न करना, वह पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान कहा जाता है।

पर्यनुयोज्य अर्थात् निग्रहस्थान में आने पर अवश्य यह कहना चाहिए कि, आप निग्रहस्थान में आ के पडे है। इसलिए निगृहीत हुए हो। उसकी उपेक्षा करके जो निग्रह नहीं किया जाता है, वह पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान के द्वारा निगृहीत होता है। कहने का मतलब यह है कि, वादी अथवा प्रतिवादी निग्रहस्थान में आया हो, फिर भी तुम कुछ खास प्रकार के निग्रहस्थान में आ गये हो। ऐसा नहीं कहना, उसका नाम पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान है। इस तरह से परस्पर एकदूसरे की उपेक्षा करते रहने से जल्परुप कथा का अंत ही नहीं आयेगा। इसलिए जल्प करनेवाले वादी या प्रतिवादी दोनो में से कोई भी निग्रहस्थान में आ जाये तो स्पष्ट कह देना चाहिए कि, तुम निग्रहस्थान में आ गया है। ऐसा कथन जो वादी या प्रतिवादी निग्रहस्थान में आया न हो, वह कर सकता है। (**न्यायसूत्र : निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् । ।।५-१-२१।।** अर्थ स्पष्ट है।)

(२०) **निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान :** निग्रहस्थान में आया न हो, फिर भी निग्रहस्थान में आ गया है, ऐसा कहना वह निरनुयोज्यानुयोग नाम का निग्रहस्थान होता है। अप्रमादि, निग्रह को अयोग्य ऐसे उपपन्नवादि को भी "तुम निगृहीत हुए हो" इस अनुसार (प्रतिवादी के द्वारा) जो कहा जाता है। वह प्रतिवादी इस अनुसार असद्भूत दोष के उद्भव के द्वारा निगृहीत होता है।

(C-88-89-90) – तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहने का मतलब यह है कि, वादी के पक्ष में कोई भी दोष न होने पर भी प्रतिवादी वादी को भूलावे में डालते हुए बिलकुल गलत ही कहता है कि ''तुम कुछ खास प्रकार के निग्रहस्थान में आ गया है।'' तो असत्य बोलनेवाला प्रतिवादी स्वयं ही ''निरनुयोज्यानुयोग'' नाम के निग्रहस्थान में आके पडता है। प्रतिवादी असत्य बोलता है, उसमें उसका यह हेतु होता है कि ''मेरे कहने के उपर विश्वास रखकर वादी प्रतिज्ञा छोड देगा अथवा प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए दूसरा हेतु देगा। वादि का ये दोनो प्रकार के प्रयत्न निग्रहस्थान में परिणमित होगा। और मेरा विजय होगा।'' यह दुष्ट हेतु सिद्ध नहीं हो, इसलिए शास्त्रकारने ''निरनुयोज्यानुयोग'' नाम का निग्रहस्थान बताया है। (**न्यायसूत्र : अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।॥५-२-२३॥** अर्थ स्पष्ट है।)

(२१) **अपसिद्धांत निग्रहस्थान :** सिद्धांत का स्वीकार करके नियम भंग करने से जो कथा का प्रसंग उपस्थित किया जाता है, वह अपसिद्धांत नाम का निग्रहस्थान है।

जो पहले किसी सिद्धांत का स्वीकार करके कथा का प्रारंभ करे और उस कथा में सिद्ध करने की इच्छावाले अर्थ को सिद्ध करने के लिए या दूसरे के उपलंभ के लिए (स्वीकार कीये गये) सिद्धांत विरुद्ध कहते है, वह अपसिद्धांत के द्वारा निगृहीत होता है। जैसे कि, कोई (वादी) मीमांसको के सिद्धांत का स्वीकार करके ''अग्निहोत्र स्वर्ग का साधन है।'' इस अनुसार कहता है, उस वक्त प्रतिवादी सामने पूछता है कि, अग्निहोत्र क्रिया नाश होने पर भी वे क्रिया स्वर्ग को सिद्ध करनेवाली किस तरह से होती है? तब वादी कहता है कि, सेवित राजा फल को देता है, वैसे इस क्रिया से आराधित महेश्वर फल को देता है।

यहाँ वादि को मीमांसक को अनभिप्रेत ईश्वर के स्वीकार से अपसिद्धांत नामका निग्रहस्थान होता है। (मीमांसको की मान्यता है कि, अग्निहोत्र क्रिया द्वारा अपूर्व पेदा होता है। वह अपूर्व स्वर्गादि का जनक है। याग इत्यादि से उत्पन्न होनेवाला, स्वर्ग इत्यादि को देनेवाला कोई गुणविशेष है। उस गुणविशेष को मीमांसकोने अपूर्व कहा है। 'प्रारब्धकर्म' इस तरह से वेदान्तिओ ने माना है। 'धर्म और अधर्म' यह अपूर्व ऐसा नैयायिको का मानना है। अदृष्ट वह अपूर्व, ऐसा वैशेषिको ने माना है। पुण्य और पाप को अपूर्व पौराणिकोने कहा है।) (**न्यायसूत्र : सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गो अपसिद्धान्तः ॥५-२-२४॥** अर्थ स्पष्ट है।)

(२२) **हेत्वाभास निग्रहस्थान :** असिद्ध, विरुद्ध आदि हेत्वाभास, कि जिसके लक्षण आगे बताये है, वह हेत्वाभास निग्रहस्थान है।

(**न्यायसूत्र : हेत्वाभासाश्च यथोक्ता ॥५-२-२५॥** अर्थ स्पष्ट है।) हेत्वाभास निग्रहस्थान होने पर भी प्रमेय-प्रमाणादि की तरह अलग ग्रहण किया है। उसके कारण अलग-अलग ग्रंथो में भिन्न-भिन्न दिये गये है।

भाष्यकार के मत में हेत्वाभास वाद में देशनीय होने से अलग (पृथक्) ग्रहण किया है। न्यायवार्तिकानुसार (१) त्रयी (वेदप्रतिपाद्य धार्मिकक्रियाएं, जैसे कि अग्निहोत्र आदि।) (२) वार्ता (खेती,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और गृह आदि का निर्माण इत्यादि) (३) दंडनीति (=राजनीति) (४) आन्वीक्षिकी=न्यायविद्या, ये चार विद्या है। न्यायशास्त्र आन्वीक्षिकी विद्या माना जाता है। इसलिए उसका प्रस्थानभेद बताने के लिए हेत्वाभास अलग ग्रहण किया गया है। वृत्तिकार के मत में हेत्वाभास निग्रहस्थान नहीं है, परन्तु उसका प्रयोग ही निग्रहस्थान है। (इस विषय में विशेष उस उस ग्रंथो से जान लेना।)

ये बाईस निग्रहस्थानो उपरांत अनंत निग्रहस्थान होने पर भी यहाँ निग्रहस्थानो के बाईस मूलभेद बताये गये है। इसलिए इस अनुसार छल,. जाति और निग्रहस्थानो के स्वरुप को जाननेवाला स्ववाक्य में दूसरे ने दिये हुए वह छलादि का त्याग करता हुआ, अच्छी तरह से पदार्थ की धारण करता हुआ, अपने साध्य की सिद्धि को प्राप्त करता है।

अत्रानुक्तमपि किंचिन्निगद्यते । अर्थोपलब्धिहेतुः[C-91] प्रमाणम् । **एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यं[C-92] ज्ञानं प्रमाणाद्भिन्नं फलं, पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलम्[C-93] । स्मृतेरप्रामाण्यम्,[C-94] परस्परविभक्तौ सामान्यविशेषौ नित्यानित्यत्वे सदसदंशौ च, प्रमाणस्य विषयः** पारमार्थिकः, **तमश्छाये अद्रव्ये[C-95]**, आकाशगुणः [C-96]शब्दोऽपौ ललिकः, **संकेतवशादेव शब्दादर्थप्रतीतिर्न पुनस्तत्प्रतिपादनसामर्थ्यात्, धर्मधर्मिणोर्भेदः, सामान्यमनेकवृत्ति[C-97], आत्मविशेषगुणलक्षणं[C-98]** कर्म, **वपुर्विषयेन्द्रियबुद्धि-सुखदुःखानामुच्छेदादात्मसंस्थानं** मुक्तिरिति[C-99] **न्यायसारे[C-100] पुनरेवं नित्यसंवेद्यमानेन सुखेन विशिष्टात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य** मोक्ष **इति ।। एषां तर्कग्रन्था न्यायसूत्र-भाष्य-न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका-तात्पर्यपरिशुद्धि-न्यायालंकारवृत्तयः । क्रमेणाक्षपादवात्स्यायनोद्योतकरवाचस्पतिश्रीउदयन-श्रीकण्ठाभयतिलको-पाध्यायविरचिताः ५४००० । भासर्वज्ञप्रणीते न्यायसारेऽष्टादश टीकाः । तासु मुख्या टीका न्यायभूषणाख्या न्यायकलिका जयन्तरचिता न्यायकुसुमाञ्जलितर्कश्च ।।३२ ।।**

टीकाका भावानुवाद :

यहाँ (श्लोक द्वारा) नहीं कहा हुआ भी कुछ विशेष (नैयायिकमत के विशेष तत्त्व कहा जाता है।) पदार्थ का बोध होने में जो कारण हो, उसको प्रमाण कहा जाता है। (उत्पन्न हुआ ज्ञान) एक का एक वही आत्मामें समवायसंबंध से तुरंत ही दूसरी क्षण में उत्पन्न हुए मानसप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा ही मालूम होता है। (परन्तु उत्पन्न हुआ वह प्रथम समवर्तीज्ञान स्वयं अपने द्वारा मालूम नहीं होता है। इसलिए ज्ञान स्वयं प्रकाशित नहीं है।)

प्रमाण और फल भिन्न है। पहले प्रमाण और बाद में (प्रमाणका) फल होता है। स्मृति की प्रमाणता नहीं है। अर्थात् स्मृति प्रमाण नहीं है। सामान्य-विशेष, नित्यत्व-अनित्यत्व, सत्-असत् ये अंश परस्परभिन्न है। प्रमाण का विषय पारमार्थिक है। अंधकार और छाया द्रव्य नहीं है। आकाश का गुण शब्द पौद्गलिक

(C-91-92-93-94-95-96-97-98-99-100) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। संकेत के वश से शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है। परन्तु उसके प्रतिपादन के सामर्थ्य से नहीं है। धर्म और धर्मीमें भेद है। सामान्य अनेक में वृत्ति है। कर्म आत्मा के विशेषगुण स्वरुप है। शरीर, विषय, इन्द्रिय, बुद्धि और सुख-दुःखो के उच्छेद से (आत्मा का) आत्मा में जो अवस्थानविशेष है, उसे मुक्ति कहा जाता है। ऐसा न्यायसारग्रंथ में कहा गया है। उपरांत नित्य संवेदित सुख के द्वारा विशिष्ट आत्यन्तिकी (अपुनर्भाव) दुःखनिवृत्ति पुरुष का मोक्ष है। (ऐसा भी कुछ नैयायिक मानते है।)

श्री अक्षपादरचित न्यायसूत्र, श्री वात्स्यायनरचित भाष्य (न्यायसूत्र उपर का भाष्य), श्री उद्योतकररचित न्यायवार्तिक, श्री वाचस्पतिमिश्र रचित तात्पर्यटीका, श्रीउदयनाचार्यरचित तात्पर्यपरिशुद्धि और श्रीकंठाभयतिलक उपाध्यायरचित न्यायालंकारवृत्ति, ये नैयायिको के तर्कग्रंथ है। भासर्वज्ञप्रणीत न्यायसारग्रंथ के उपर अठारह टीका है। उसमें मुख्य टीका न्यायभूषण नाम की न्यायकलिका और जयन्तरचित न्यायकुसुमांजलितर्क है। ॥३२॥

अथ तन्मतमुपसंहरन्नुतरं च मतमुपक्षिपन्नाह ।

अब नैयायिक मत का उपसंहार करते हुए और उत्तर के सांख्यमत के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हुए कहते है कि -

(मूल श्लो०) नैयायिकमतस्यैष समासः कथितोऽञ्जसा ।
सांख्याभिमतभावानामिदानीमयमुच्यते ।।३३।।

श्लोकार्थ : इस अनुसार नैयायिकमत का संक्षेप से वास्तविक निरुपण किया गया है। अब सांख्यो के द्वारा माने गये पदार्थो का विवेचन किया जाता है।

व्याख्या-एषोऽनन्तरोदितो नैयायिकमतस्य समासः संक्षेपः कथित उक्तोऽञ्जसा द्राग् सांख्याभिमतभावानां सांख्याः कापिलास्तेषामभिमता अभिष्टा भावा ये पञ्चविंशतितत्त्वादयः पदार्थास्तेषामयं समास इदानीमुच्यते ।।

इति श्री तपोगगनभोंगणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपादपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकाभिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तौ नैयायिकमतस्वरूपप्रकटनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।।

यहाँ नजदिक में नैयायिकमत का संक्षेप कहा गया। अब कपिलऋषि के अनुयायि सांख्यो को इच्छित २५ तत्त्वो (पदार्थो) का संक्षेप कहा जाता है।

॥ इस प्रकार से श्री तपागच्छरूप आकाशमण्डल में सूर्य जैसे तेजस्वी श्री देवसुन्दरसूरीश्वरजी महाराजा के चरणकमल के उपासक श्री गुणरत्नसूरि विरचित तर्करहस्यदीपिका नामकी षडदर्शन समुच्चय की टीका में नैयायिक दर्शन के स्वरुप को प्रकट करनेवाला दूसरा अधिकार (सानुवाद) पूर्ण होता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्दर्शन समुच्चय, भाग-१

सांख्यदर्शन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ तृतीयोऽधिकारः

।। तीसरा अधिकार - सांख्य दर्शन ।।

अथादौ सांख्यमतप्रपन्नानां परिज्ञानाय लिङ्गादिकं निगद्यते । त्रिदण्डा एकदण्डा वा कौपीनवसना धातुरक्ताम्बराः शिखावन्तो जटिनः क्षुरमुण्डा मृगचर्मासना द्विजगृहाशनाः पञ्चग्रासीपरा वा द्वादशाक्षरजापिनः परिव्राजकादयः । तद्भक्ता वन्दमाना ॐ नमो नारायणायेति वदन्ति, ते तु नारायणाय नम इति प्राहुः । तेषां च महाभारते बीटेति ख्याता दारवी मुखवस्त्रिका मुखनिःश्वासनिरोधिका भूतानां दयानिमित्तं भवति । यदाहुस्ते "घ्राणदितोऽनुयातेन श्वासेनैकेन जन्तवः हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिनाम् ।।१।।" **ते च जलजीवदयार्थं स्वयं गलनकं धारयन्ति, भक्तानां चोपदिशन्ति ।** "षट्त्रिंशदङ्गुलायामं विंशत्यङ्गुलविस्तृतम् । दृढं गलनकं कुर्याद्भूयो जीवान्विशोधयेत् ।।१।। म्रियन्ते मिष्टतोयेन पूतराः क्षारसंभवाः । क्षारतोयेन तु (चा) परे न कुर्यात्संकरं ततः ।।२।। लूतास्यतन्तुगलिते ये बिन्दौ सन्ति जन्तवः । सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते नैव मान्ति त्रिविष्टपे ।।३।।" इति गलनकविचारो मीमांसायाम् । **सांख्याः केचिदीश्वरदेवाः अपरे च निरीश्वराः । ये च निरीश्वरास्तेषां नारायणो देवः । तेषामाचार्या विष्णुप्रतिष्ठाकारकाश्चैतन्यप्रभृति-शब्दैरभिधीयन्ते । तेषां मतवक्तारः कपिलासुरिपञ्चशिखभार्गवोलूकादयः, ततः सांख्याः कापिला इत्यादिनामभिरभिधीयन्ते । तथा कपिलस्य परमर्षिरिति द्वितीयं नाम, तेन तेषां पारमर्षा इत्यपि नाम ज्ञातव्यम् । वाराणस्यां तेषां प्राचुर्यम् । बहवो मासोपवासिका ब्राह्मणा अर्चिर्मार्गविरुद्ध-धूममार्गानुगामिनः । सांख्यास्त्वर्चिर्मार्गानुगाः । तत एव ब्राह्मणा वेदप्रिया यज्ञमार्गानुगाः । सांख्यास्तु हिंसाढ्यवेदविरता अध्यात्मवादिनः । ते च स्वमतस्य महिमानमेवमामनन्ति ।** तदुक्तं [D-1]**माठरप्रान्ते** "हस पिब लल खाद मोद नित्यं भुंक्ष्व च भोगान् यथाभिकामम् । यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ।।१।।" -**शास्त्रान्तरेऽप्युक्तम्**[D-2]- "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी वापी मुच्यते नात्र संशयः ।।२।।" ।।३३।।

टीकाका भावानुवाद :

अब प्रारंभ में सांख्यमत के अनुयायियों के परिज्ञान के लिए (उनके) लिंग, वेष और आचार को कहा जाता है। तीन या एक दंड को धारण करनेवाले, लंगोट पहननेवाले, लाल-रंगीन वस्त्र पहननेवाले, शिर पे शीखा-चोटी रखनेवाले, जटाधारी, मस्तक पें मुंडन किये गये, मृगचर्म का आसन रखनेवाले, ब्राह्मणोके घर पे भोजन करनेवाले अथवा पाँच ग्रास से निर्वाह करनेवाले तथा बारह अक्षरो का जाप करनेंवाले

(D-1-2) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिव्राजक (सांख्य मत के अनुयायि) है। उस परिव्राजको को उनके भक्त "**ॐ नमो नारायणाय**" कहकर वंदन करते है और परिव्राजक (सामने) "**नारायणाय नमः**" कहते है। वे परिवाज्रक जीवो की दया के लिए मुखमें से निकलती हुई सांस को रोकने के लिए लकडी की मुखवस्त्रिका रखते है। उसको महाभारत में "**बीटा**" कही गई है। वे कहते है कि, हे ब्रह्मन्! एक ह्रस्वाक्षर का उच्चारण करते समय नाक में से निकलती हुई सांस से सेंकडो जीव मरते है ॥१॥

वे लोग पानी के जीवो की दया के लिए स्वयं गलनक (छनना) रखते है। और छनना रखने का भक्तो को उपदेश देते है। (उस छनने का माप बताते हुए कहते है कि..) ३६ अंगुल लम्बा और २० अंगुल चौडा दृढ छनना करना चाहिए। (और उससे) बारबार जीवो को ढुंढना चाहिए = रक्षण करना चाहिए। (१) तथा मीठे पानी से क्षारवाला पानी के जीव मर जाते है और क्षारवाले पानी से मीठे पानी के जीव मर जाते है। इसलिए मीठे और क्षारवाला पानी को इकट्ठा नहीं करना ॥२॥ मकडी (लूता) के मुख की लार में से द्रवित (गलित) जो बिन्दु है, उसमें सूक्ष्म जंतु होते है। वे सूक्ष्म जीव भौंरे के जैसे हो, तो तीनो लोक में भी समाविष्ट नहीं होते है ॥३॥"

इस तरह से जीवरक्षा के विषय की मीमांसा में सांख्य परिव्राजको का छनने के बारे में विचार है। कुछ सांख्यो ने ईश्वर को देव माना है। कुछ [(१)]सांख्य निरीश्वरवादि है। उसमें जो निरीश्वरवादि है, उनके देवता नारायण है। उनके आचार्य विष्णु, प्रतिष्ठाकारक, चैतन्य आदि शब्दो से बुलाये जाते है। उनके मत के वक्ता कपिल, आसुरि, पंचशिख, भार्गव, उलूकादि है। इसलिए सांख्य, कपिल आदि नामो से उनका व्यवहार होता है, वे बुलाये जाते है। कपिल का परमर्षि भी नाम है। इसलिए वे पारमर्ष भी कहा जाते है।

सांख्य लोगो की बस्ती वाराणसी में ज्यादा है। बहोत महिनो के उपवास करनेवाले ब्राह्मण अर्चिमार्ग से विरुद्ध धूममार्ग का अनुसरण करते थे। (अर्चिमार्ग यानी देवायनमार्ग तथा धूममार्ग यानी पितृयानमार्ग। वे दोनो का स्वरुप अन्य ग्रंथो से जान लेना।) परन्तु सांख्य लोग अर्चिमार्ग का अनुसरण करनेवाले होते है। इसलिए ही वेदप्रिय ब्राह्मण यज्ञमार्ग का अनुसरण करनेवाले होते है। परन्तु सांख्य लोग हिंसा से भरे हुए वेदनिर्दिष्ट यज्ञो से विरत अध्यात्मवादि लोग है। वे लोग अपने मत के महिमा का वर्णन करते हुए कहते है कि – खूब हँसो, खूब पीओ, मस्ती आनंद करो, खूब खुशी से मौज करो, हररोज इच्छानुसार भोगो को उपभोग करो, (परन्तु) यदि आपने कपिलमत को जाना है, तो बिना विलंब मोक्षसुख को प्राप्त करोंगे। दूसरे शास्त्रमें भी कहा है कि... "प्रकृति इत्यादिक २५ तत्त्व को जाननेवाला, चाहे वह आश्रम में रहे, चाहे वह शिखा रखे, चाहे सिर पे मुंडन करवाये या जटा रखे, परन्तु मुक्त होता है, उसमें संशय नहीं है। (३३)

अथ शास्त्रकारः सांख्यमतमुपदर्शयति। अब शास्त्रकार परमर्षि सांख्यमत को बताते है।

(मूल श्लो०) सांख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ।।३४।।

(१) सांख्यदर्शन का विशेषार्थ पीछे (दर्शननिरुपणोत्तर) देखना।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लोकार्थ : कुछ सांख्य निरीश्वरवादि है। (तो) कुछ ईश्वर को देवता मानते है। वे सब भी सांख्यो के तत्त्वो की संख्या २५ है। ॥३४॥

व्याख्या-**केचित्सांख्या** निर्गत **ईश्वरो येभ्यस्ते निरीश्वराः, केवलाध्यात्मैकमानिनः, केचिदीश्वरदेवताः-ईश्वरो देवता येषां ते तथा, तेषां सर्वेषामपि निरीश्वराणां सेश्वराणां चोभयेषामपि तत्त्वानां पञ्चविंशतिः स्यात्** । **सांख्यमते किल** [A]**दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदुपघातहेतुस्तत्त्वजिज्ञासोत्पद्यते** । **आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति** दुःखत्रयम् । अत्राध्यात्मिकं **द्विविधं, शारीरं मानसं च** । **तत्र वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तं यद्दुःखमात्मानं देहमधिकृत्य ज्वरातीसारादि समुत्पद्यते** तच्छारीरम्, मानसं **च कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम्, सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्** । **बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा, आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति** । तत्राधिभौतिकं **मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तं,** आधिदैविकं **यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम्** । **अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदेन बुद्धिवर्तिनाभिहतस्य प्राणिनस्तत्त्वानां जिज्ञासा भवति दुःखविघाताय** । **तत्त्वानि च पञ्चविंशतिर्भवन्ति** ।।३४।।

टीकाका भावानुवाद :

कुछ सांख्यो ने ईश्वर को नहीं माना है। केवल एक अध्यात्म को माना है। (**निर्गत ईश्वरो येभ्यस्ते निरीश्वराः** - इस व्युत्पत्ति से निरीश्वर शब्द बना है।) कहने का मतलब यह है कि, कुछ सांख्य ईश्वर को देवता नहीं मानते है। ईश्वर सृष्टि का सर्जन नहीं करते है। कुछ सांख्य ईश्वर को देवता मानते है, वे सेश्वरवादि कहे जाते है। वे सेश्वरवादि और निरीश्वरवादि दोनो भी सांख्यो के तत्त्वो की संख्या पच्चीस (२५) है। सांख्यमत में (माना जाता है कि) तीन प्रकार के दुःखो से पिडीत पुरुषो को उन दुःखो के विघात के कारणरुप तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न होती है। वे दुःख के तीन प्रकार इस अनुसार है। (१) आध्यात्मिक दुःख, (२) आधिदैविक दुःख और (३) आधिभौतिक दुःख।

आध्यत्मिक दुःख दो प्रकार का है। (१) शारीरिक, (२) मानसिक। उसमें वात-पित्त-कफ की विषमता से आत्मा को शरीर के आश्रय से बुखार, अतिसार आदि जो दुःख उत्पन्न होता है, उसे शारीरिक दुःख कहा जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, इर्ष्या, विषयादर्शन के कारण (मनमें) उत्पन्न होता दुःख मानसिक दुःख, कहा जाता है। यह वात-पित्तादि की विषमता या काम क्रोधादि विकार अंदर ही अंदर उत्पन्न होते है, बाहर

A दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ । सांख्य कारिका ।। कि पुनस्तद्दुःखत्रयम् ? तदाह - आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकम् । तत्र प्रथमं द्विविधं शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां देहधातूनां वैषम्यात् यद् दुःखमात्मानं देहमधिकृत्य ज्वरातीसारादि प्रवर्तते । मानसं प्रियवियोगादप्रियसंयोगाच्च द्विविधम् । एतदाध्यात्मिकं दुःखमभिहितम् । आधिभौतिकं तु भूतान्यधिकृत्य यत्प्रवर्तते मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं तु दिवमधिकृत्य यत्प्रवर्तते शीतोष्णवातवर्षादिकम् । एवमेतैस्त्रिभिर्दुःखैरभिहतस्यासुरिसगोत्रस्य ब्राह्मणस्य जिज्ञासा समुत्पन्ना । સાંખ્ય કારિકા માઠર वृत्ति ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखते नहीं है, इसलिए उसे आध्यात्मिक दुःख कहे जाते है। और ये आध्यात्मिक दुःख आंतरिक उपाय से साध्य है। बाह्य उपाय से नहीं।

बाह्य उपाय से साध्य दुःख दो प्रकार के है। (१) आधिभौतिक और (२) आधिदैविक। मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सरिसृप, ये त्रस और स्थावरजीवो के निमित्त से जो दुःख आता है, उसे आधिभौतिक कहा जाता है। यक्ष, राक्षस तथा भूतादि के वश के कारण जो दुःख आये वह आधिदैविक। ये तीनो दुःख रजोगुण के परिणाम है। बुद्धि में होनेवाले इन दुःखो के लिए तत्त्वो की जिज्ञासा होती है। (ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवाले सेश्वरवादि सांख्यो की मान्यता है कि, ईश्वर जगत का सर्जन प्रकृति में क्षोभ करके करते है। यहाँ किसी को प्रश्न होगा कि, ईश्वर परमकृपालु है, तो जीवो को दुःख क्यों देते है? तब सेश्वरवादि सांख्यो ने उत्तर दिया है कि, जब तक जीवो को दुःख न आये, तब तक मोक्ष की जिज्ञासा नहीं होती है और दुःखत्रय के विघात की भी जिज्ञासा नहीं होती है, इसलिए ईश्वर उन को दुःख देते है।) तत्त्व पच्चीस है। ॥३४॥

अथ तत्त्वपञ्चविंशतिमेव विवक्षुरादौ सत्त्वादिगुणस्वरुपमाह। अब पच्चीस तत्त्वोको ही कहने की इच्छावाले ग्रंथकारश्री प्रारंभ में सत्त्वादि तीन गुण के स्वरुप को कहते है।

(मूल श्लो०) सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद्गुणत्रयम्[D-3]।
प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गं क्रमेण तत् ॥३५॥

श्लोकार्थ : सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण है। प्रसाद, ताप तथा दीनता आदि कार्यो से उनका क्रमशः अनुमान होता है।

व्याख्या-तावच्छब्दः अवधारणे (प्रक्रमे) तच्चैवं ज्ञातव्यं । **तेषु पञ्चविंशतौ तत्त्वेषु** सत्त्वं **सुखलक्षणं,** रजो दुःखलक्षणं, तमश्च **मोहलक्षणमित्येवं प्रथमं तावद्गुणत्रयमेव ज्ञेयम्** । तस्य गुणत्रयस्य कानि लिङ्गानीत्याह-"प्रसाद" इत्यादि । **तत्सत्त्वादिगुणत्रयं क्रमेण प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम्** । **प्रसादः**-प्रसन्नता, **तापः**-संतापः, **दैन्यं**-दीनवचनादिहेतुर्विषण्णता, द्वन्द्वे **प्रसादतापदैन्यानि, तानि आदिः प्रकारो येषां कार्याणां तानि प्रसादतापदैन्यादीनि, प्रसादतापदैन्यादीनि कार्याणि लिङ्गं-गमकं-चिह्नं यस्य तत्प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम्**[D-4] । अयं भावः । **प्रसादबुद्धिपाटवलाघवप्रसवानभिष्वङ्गाद्वेषप्रीत्यादयः** कार्यं सत्त्वस्य लिङ्गम् । **तापशोषभेदचलचित्ततास्तम्भोद्वेगाः** कार्यं रजसो लिङ्गम् । **दैन्यमोहमरण-सादनबीभत्साज्ञानागौरवादीनि** कार्यं तमसो लिङ्गम् । **एभिः कार्यैः सत्त्वादीनि ज्ञायन्ते** । तथाहि-**लोके**[D-5] **यः कश्चि**[अ]**त्सुखमुपलभते स आर्जवमार्दवसत्यशौचह्रीबुद्धिक्षमानुकम्पाप्रसादादिस्थानं भवति,** तत्सत्त्वम् । **यः कश्चिद्दुःखमुपलभते, स तदा द्वेषद्रोहमत्सरनिन्दावञ्चनबन्धनतापादिस्थानं भवति,**

(अ) આ જ પ્રકારનું વર્ણન સાં. કા. માઠરવૃત્તિ પૃ.૨૧ તથા સાંખ્યસં. પૃ.૧૧ ઉપર જોવા મળે છે.

(D-3-4-5) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्रजः । यः कश्चित्कदापि मोहं लभते, सोऽज्ञानमदालस्यभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिकताविषादोन्मादस्वप्नादिस्थानं भवति, तत्तम इति । सत्त्वादिभिश्च परस्परोपकारिभिस्त्रिभिरपि गुणैः सर्वं जगद्व्याप्तं विद्यते, परमूर्ध्वलोके प्रायो देवेषु सत्त्वस्य बहुलता, अधोलोके तिर्यक्षु नारकेषु च तमोबहुलता, नरेषु रजोबहुलता, यद्दुःखप्राया मनुष्या भवन्ति । यदुक्तम् (सांख्यकारिका ५४) "ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः । मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ।।१।।" अत्र ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त इति ब्रह्मादिपिशाचान्तोऽष्टविधः सर्ग इति ।।३५।।

टीकाका भावानुवाद :

श्लोक में "तावत्" शब्द प्रक्रमार्थक है। वह इस प्रकार से-वे पच्चीस तत्त्वो में सत्त्व-सुखस्वरुप है। रजस् दुःखस्वरुप है और तमस् मोहस्वरुप है। इस अनुसार से प्रथम ये तीन गुणो को जान लेना।

प्रश्न : उन तीन गुण को (जानने के) लिंग कौन से है ?

उत्तर : प्रसाद से सत्त्वगुण, ताप से रजस्गुण तथा दैन्य से तमस्गुण का अनुमान होता है। रजस्गुण जानने का लिंग ताप=संताप है। और तमस्गुण को जानने का लिंग दैन्य = दीन वचन के कारणरुप दीनता है। (यहां प्रथम द्वन्द्व समास होकर, बाद में बहुव्रीहि समास होके "**प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम्**" पद बना हुआ है।)

कहने का मतलब यह है कि, प्रसाद = प्रसन्नता, बुद्धि की पटुता, लाघव = लघुता - निराभिमानपन, अनिभष्वंग = अनासक्ति, अद्वेष = द्वेषरहितता, प्रीति आदि कार्य सत्त्वगुण के लिंग है। ताप = संताप, शोष = शरीर - हृदय का सुख जाना, भेद = कूटनीति, चित्त की चंचलता, स्तम्भ = किसी की संपत्ति देखकर स्तब्ध हो जाना, उद्वेग = उबना इत्यादिक कार्य रजस् गुण के लिंग है। दैन्य = दीनता, मोह = मूढता, मरण, सादन = दूसरो को दुःख पहुंचाना, बीभत्स = भयानकता-डरावनापन, अज्ञान = मूर्खता या विपरीत ज्ञान अगौरव = स्वाभिमानशून्यता आदि कार्य तमस् के लिंग है। ये (उपर सूचित किये गये) कार्यो के द्वारा सत्त्वादि गुण मालूम होते है।

जैसे कि, लोक में कोई व्यक्ति सुख को प्राप्त करता है। वह आर्जव = सरलता, मार्दव = निराभिमानता, सत्य, सौच = मन, वचन - काया की पवित्रता, ह्री = लोकलज्जा, क्षमा, अनुकंपा, प्रसन्नतादि का स्थान होता है। यही सत्त्वप्रधान पुरुष की पहचान है।

जो कोई व्यक्ति दुःख को प्राप्त करता है, तब वह द्वेष, द्रोह, मत्सर=इर्ष्या (जलन), निंदा, वंचन = दूसरो को छलना, बंधन, तापादिका स्थान होता है, वही रजस्प्रधान पुरुष का परिचय है। जो कोई व्यक्ति जब भी मोह को प्रांप्त करता है, तब वह अज्ञान, मद, आलस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिकता, विषाद, उन्माद, भयंकर स्वप्न आना इत्यादिक का स्थान होता है, वही तमस् प्रधान व्यक्ति की पहचान है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा परस्पर उपकारि ऐसे तीनो भी सत्त्वादि गुणो से सारा जगत व्याप्त है। (तो)भी उर्ध्वलोक में प्रायः देवो में सत्त्व की बहुलता होती है। अधोलोक में तिर्यंचो और नारको में तमोगुण की बहुलता है और मनुष्यो में रजोगुण की बहुलता होती है। जिससे मनुष्य प्रायः दुःखी होते है। जिससे सांख्यकारिका-५४ में कहा है कि-

''ब्रह्म से शुरु करके स्तम्ब = स्थावरपर्यन्त, यह समस्तसृष्टि उर्ध्वलोक में (उत्कृष्ट चैतन्यवाले देवो में) सत्त्वगुणप्रधान, मूल = अधोलोक में (अपकृष्ट चैतन्यवाले पशु-नारक आदि में), तमोप्रधान मध्यलोक में (मध्यम चैतन्यवाले मनुष्यो में) रजोप्रधान है। ॥१॥

ब्रह्म से स्तम्बपर्यन्त समस्त सृष्टि में ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा पिशाच ये आठ प्रकार की दैविसृष्टि है। (सर्ग का वर्णन करते हुए सांख्यकारिका में कहा है कि... लिंगशरीर के आसपास भूत जो स्थूलशरीर की सृष्टि का सर्जन करते है, वह भूतादि सर्ग तीन प्रकार के है। (१) दैवसर्ग, (२) तिर्यग्योनिसर्ग, (३) मनुष्यसर्ग। उसमें दैवसर्ग उपर कहे अनुसार आठ प्रकार का है।

तिर्यंचयोनिसर्ग पांच प्रकार का है। (१) पशु (ग्राम्य अथवा खुरवाले प्राणी, जैसे कि गाय इत्यादि..) (२) **मृग** वन में (जंगलमें) रहनेवाले अथवा बिना खुर के हिरन इत्यादि.. (३) **पक्षी**, (४) **सरीसृप** (पेट से चलनेवाले सांप इत्यादि..) और (५) स्थावर (वृक्ष इत्यादि). मनुष्यसर्ग एक ही प्रकार का है।

सांख्याचार्य श्रीगौड की मान्यता है कि, दैवसर्ग, मनुष्यसर्ग, स्थावर उपरांत जंगम ऐसे दो प्रकार का तिर्यग्योनिसर्ग, ऐसे कुल मिला के चार सर्ग है। उन प्रत्येक के अभौतिक, लिंग, भाव और भूत, ऐसे चार प्रकार है। इसलिए कुल मिलाकर १६ सर्ग हुए।) ॥३५॥

(मूल श्लो०) एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः[D-6] किलोच्यते ।
प्रधानाऽव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ।।३६।।

श्लोकार्थ : सत्त्वादि तीन गुणो की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है। उसको प्रधान, अव्यक्त शब्दो के द्वारा भी बोला जाता है। उसका स्वरुप नित्य होने से नित्यस्वरुपिका भी कहा जाता है।

व्याख्या-एतेषां-सत्त्वादिगुणानां या समा-तुल्यप्रमाणा अवस्था-अवस्थानं, सा सत्त्वादीनां समावस्थैव प्रकृतिरुच्यते । किलेति पूर्ववार्तायाम् सत्त्वरजस्तमसां गुणानां क्वचिद्देवादौ कस्यचिदाधिक्येऽपि मिथः प्रमाणापेक्षया त्रयाणामपि समानावस्था प्रकृतिः कीर्त्यत इत्यर्थः । प्रधानाऽव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या, सा च प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं चोच्यते नामान्तराभ्याम् । नित्यम्-अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं स्वरूपं यस्याः सा नित्यस्वरूपिकाऽविचलितस्वरूपेत्यर्थः । अत एव सानवयवा साधारण्यशब्दास्पर्शारसारूपागन्धाव्यया चोच्यते । मौलिक्यसांख्या

(D-6) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् पृथक् प्रधानं वदन्ति, उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः ।।३६।।

टीकाका भावानुवाद :

इन सत्त्वादिगुणोकी समान – तुल्य अवस्था को ही प्रकृति कहा जाता है। "किल" पहले कही हुई बात का संकेत करता है। (अर्थात् पहले कहे अनुसार) सत्त्व, रजस् और तमस् गुणो का अनुक्रम से देवो में, मनुष्यो में और तिर्यंचो – नारको में अधिकपन होने पर भी परस्पर प्रमाण की अपेक्षा से सत्त्वादि तीनो गुणो की समान अवस्था को प्रकृति कहा जाता है। उसे प्रधान और अव्यक्त शब्दो के द्वारा भी कहा जाता है। अर्थात् प्रकृति के प्रधान और अव्यक्त दूसरे नाम ही है।

उपरांत, वह प्रकृति अप्रच्युत(अविनाशि), अनुत्पन्न (उत्पत्तिरहित) और स्थिर एक कूटस्थ स्वभाववाली है। अर्थात् उसका स्वरुप कूटस्थ है। अर्थात् अविचलित स्वरुपवाली है। इसलिए ही वह प्रकृति अवयवरहित, साधारण, शब्दशून्य, स्पर्शरहित, रसरहित, रुपरहित, गंधरहित और अव्यय = अविनाशी कही जाती है।

मूलसांख्य प्रत्येक आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकृति होती है, ऐसा कहते है। परन्तु उसके बाद के सांख्य सब आत्माओ में एक नित्यप्रधान (प्रकृति) का स्वीकार करते है। (कहने का मतलब यह है कि मूल सांख्यो की मान्यता यह है कि सर्ग के प्रारंभ से ही प्रत्येक पुरुष को अपनी अलग अलग प्रकृत्ति थी, वह सर्ग के प्रारंभ में उस उस पुरुष के साथ संयोग प्राप्त करती है और वहां सृष्टि का सर्जन होता है। बाद में जब प्रलय होता है। तब वही प्रकृति साम्यावस्था में आ जाती है तथा फिर से जब सर्ग का प्रारंभ होता है, तब वही वही पुरुष को वही वही (प्रधान –) प्रकृति का संयोग होता है। जब पुरुष विवेकख्याति द्वारा आत्यंति की प्रकृति के संयोग का वियोग करता है, तब मोक्ष प्राप्त करता है। जब कि उत्तरके (पीछे के) सांख्यो का ऐसा मानना है कि सभी आत्माओ को एक स्वरुपवाली ही प्रकृति होती है।) ॥३६॥

प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिर्जायते । अतः सृष्टिक्रममेवाह ।

(२)प्रकृति और आत्मा के संयोग से सृष्टि का सर्जन होता है। इसलिए अब सृष्टि के क्रम को ही कहते है–

(मूल श्लो०) ततः[D-7] संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहंकारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः ।।३७।।

श्लोकार्थ : प्रकृति में से बुद्धि उत्पन्न होती है। उसको महान भी कहा जाता है। बुद्धि में से अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार में से सोलह गणो की उत्पत्ति होती है। ॥३७॥

---

(२) सांख्यदर्शन का विशेषार्थ पीछे दर्शननिरुपणोत्तर देखना।

(D-7) – तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या : ततः प्रकृतेर्बुद्धिः संजायत उत्पद्यते, सा च गवादौ पुरो दृश्यमाने गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेवायं न पुरुष इति विषयनिश्चयाध्यवसायरूपा महानिति यका प्रोच्यते महदाख्यया याभिधीयते । बुद्धेश्च तस्या अष्टौ रूपाणि[D-8] । धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानीति । ततोऽपि बुद्धेरप्यहंकारः स्यादुत्पद्यते । स चाहं सुभगः, अहं दर्शनीय इत्याद्यभिमानरूपः । तस्मादहङ्कारात्षोडशको गण[D-9] उत्पद्यते । षोडशसंख्यामानमस्य षोडशको गणः-समुदायः ।।३७।।

टीकाका भावानुवाद :

प्रकृति में से बुद्धि उत्पन्न होती है। अर्थात् सामने रही हुई गाय में **"यह गाय ही है, अश्व नहीं है।"** तथा सामने रहे हुए स्थाणु में **"यह स्थाणु ही है, पुरुष नहीं है।"** ऐसे विषय के निश्चय के अध्यवसाय स्वरुप बुद्धि उत्पन्न होती है। उस बुद्धि के आठ रुप (गुण) है। (वह इस अनुसार से है-(१) **सुश्रुषा :** तत्त्व के सुनने की इच्छा। (२) **श्रवण :** तत्त्व को सुनना। (३) **ग्रहण :** शास्त्र के अर्थो को ग्रहण करना। (४) **धारणा :** ग्रहण किये हुए शास्त्रार्थ की अविस्मृति। (५) **विज्ञान :** ग्रहण किये हुए शब्दार्थ का संशय, विपर्यय या अस्पष्टबोध से भिन्नबोध। (६) **ऊह :** विज्ञातार्थ में (जाने हुए अर्थ में) तथाविध आलंबनो के बारे में विस्तार से पूर्वापर में (अनुसंधान की) विचारणा। (७) **अपोह :** विचारे हुए अर्थ के विषय में अनुपपत्ति का परिहार। (८) **अभिनिवेश :** विज्ञान, अपोह और ऊह से विशुद्ध अर्थ में **"यह इस तरह ही है।"** ऐसा निश्चय, (सामान्यज्ञान को ऊह कहा जाता है। विशेषज्ञान को **अपोह** कहा जाता है।)

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, ये चार सात्त्विकरुप है। उसके प्रतिपक्षभूत अधर्म, अज्ञान, विषयाभिलाषा और अनैश्वर्य, ये चार तामसिक रुप है।

उस बुद्धि में से भी अहंकार उत्पन्न होता है। वह अहंकार "मैं सुन्दर हूं" "मैं दर्शनीय हूं" इत्यादि अभिमानस्वरुप है। उस अहंकार से सोलह का समुदाय उत्पन्न होता है।

अथ षोडशसंख्यं गणं श्लोकद्वयेनाह- अब अंहकार से उत्पन्न सोलह का समुदाय दो गाथा के द्वारा कहते है,

(मूल श्लो०)

[D-10]स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम् । पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्यत्र तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।।३८।।
पायूपस्थवचः पाणिपादाख्यानि मनस्तथा । अन्यानि पञ्च रूपादितन्मात्राणीति षोडश ।।३९।।

श्लोकार्थ : स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ = ज्ञानेन्द्रियाँ है। पायु (मलस्थान)

(D-8-9-10) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपस्थ (मूत्रस्थान), वचन (उच्चारण स्थान), हाथ तथा पैर (पाँच) ये पाँच कर्मेन्द्रियां है। रुप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श ये पाँच तन्मात्रा है और मन, यह सोलह का समुदाय है। ॥३८-३९॥

व्याख्या-**स्पर्शनं-त्वक्, रसनं-जिह्वा, घ्राण नासिका, चक्षुः-लोचनं, श्रोत्रं च श्रवणं पञ्चमम्, एतानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्यत्र षोडशके गणे भवन्ति । स्वं स्वं विषयं बुध्यन्त इति कृत्वेन्द्रियाण्येव बुद्धीन्द्रियाणि प्रोच्यन्ते ।** तथाहि-**स्पर्शनं स्पर्शविषयं बुध्यते, एवं रसनं रसं, घ्राणं गन्धं, चक्षू रूपं, श्रोत्रं च शब्दमिति । तथाशब्दः पञ्चेतिपदस्यानुकर्षणार्थः । पञ्चसंख्यानि कर्मकारणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि च**, कानि तानीत्याह - "पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि" **। तत्र पायुर्गुदं, उपस्थः-स्त्रीपुंश्चिह्नद्वयं, वचश्चेहोच्यतेऽनेनेति वचः, उरःकण्ठादिस्थानाष्टतया वचनमुच्चारयति, पाणी पादौ च प्रसिद्धौ, एतैर्मलोत्सर्ग-संभोगवचनादानचलनादीनि कर्माणि सिध्यन्तीति कर्मेन्द्रियाण्युच्यन्ते । तथाशब्दः समुच्चये । एकादशं मनश्च**, मनो हि बुद्धीन्द्रियमध्ये बुद्धीन्द्रियं भवति, कर्मेन्द्रियमध्ये कर्मेन्द्रियम्, तच्च तत्त्वार्थमन्तरेणापि संकल्पवृत्ति । तद्यथा-**कश्चिद्बटुः श्रृणोति "ग्रामान्तरे भोजनमस्ति" इति, तत्र तस्य संकल्पः स्यात् "तत्र यास्यामि तत्र चाहं किं गुडदधिरूपं भोजनं लप्स्य उतश्चिद्दधि किं वा किमपि न"** इत्येवंरूपं मन इति **। तथाहंकारादन्यान्यपराणि रूपादितन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि पञ्चोत्पद्यन्ते । तत्र** रूपतन्मात्रं **शुक्लकृष्णा-दिरूपविशेषः**, रसतन्मात्रं **तिक्तादिरसविशेषः**, गन्धतन्मात्रं **सुरभ्यादिगन्धविशेषः** शब्दतन्मात्रं **मधुरादिशब्दविशेषः**, स्पर्शतन्मात्रं **मृदुकठिनादिस्पर्शविशेषः इति षोडश । अयं षोडशको गण इत्यर्थः ।। ३८-३९ ।।**

टीकाका भावानुवाद :

यहाँ सोलह के समुदाय में स्पर्शन = त्वचा, रसन = जिह्वा, घ्राण = नासिका, चक्षु = आंख, श्रोत्र = श्रवण (कान), ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ = ज्ञानेन्द्रियाँ है। अपने - अपने विषय का बोध करती होने से ही उस इन्द्रियो को बुद्धीन्द्रियाँ = ज्ञानेन्द्रियाँ कहा जाता है। जैसे कि-

श्लोक - ३८ के उत्तरार्ध में "तथा" शब्द है वह "बुद्धीन्द्रिया" पदके आगे रहे हुए "पञ्च" शब्द को कर्मेन्द्रिय पद के साथ जोडने के लिए है। पाँच संख्या क्रिया का कारण होने से कर्मेन्द्रिय कही जाती है। वह पांच कर्मेन्द्रियां कौन सी है ? पायु, उपस्थ, वचः, पाणि और पाद, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है, उसमें पायु अर्थात् गुदा (मलविसर्जन का स्थान), उपस्थ अर्थात् स्त्री और पुरुष का चिह्न, वचः अर्थात् सीना, कंठ, मस्तक, जिह्वामूल, दांत, नासिका, ओष्ट (होठ) और तालु, वे आठ स्थान, इन आठ स्थानो से वचन उच्चारण किया जाता है। पाणि अर्थात् दो हाथ और पाद अर्थात् दो पाँव प्रसिद्ध है।

यह पायु, उपस्थ, वचः, पाणि और पाद ये पाँच, से क्रमशः मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग-संभोग, वचन, आदान, चलना इत्यादिक कार्य सिद्ध होते है। इसलिए कर्मेन्द्रियाँ कही जाती है। श्लोक - ३९ में "तथा"

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द समुच्चयार्थक है। इस तरह से दस हुए, ग्यारहवां मन है। मन जब बुद्धीन्द्रिय के साथ हो, तब बुद्धीन्द्रियरुप बन जाता है और कर्मेन्द्रिय के साथ हो, तब कर्मेन्द्रियरुप बन जाता है।

वह मन वास्तविक अर्थ के बिना भी **संकल्पात्मक** है। जैसे कि, कोई बटुक ब्राह्मण शिष्य सुनता है कि, 'दूसरे गांव में भोजन है' वहाँ उस बटुक को संकल्प होता है कि, वहाँ में जाउंगा, वहाँ में क्या गुड-दधिरुप भोजन पाऊंगा या दधि पाऊंगा या कुछ भी नहि पाऊंगा ? ऐसा संकल्पात्मक मन होता है।

तथा अहंकार से सूक्ष्म संज्ञावाली पाँच तन्मात्राएं उत्पन्न होती है। उसमें शुक्ल, कृष्णादि रुपविशेष को रुपतन्मात्रा कहा जाता है। तीखा, कडुआ इत्यादि रसविशेष को रसतन्मात्रा कहा जाता है। सुरभि आदि गंधविशेष को गंधतन्मात्रा कहा जाता है। मधुरादि शब्द विशेष को शब्द तन्मात्रा कहा जाता है। मृदु, कठिन इत्यादि स्पर्श विशेष को स्पर्शतन्मात्रा कहा जाता है। इस तरह से ये सोलह का समुदाय है। ॥३८-३९॥

अथ तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतान्युत्पद्यन्त इत्याह - अब पाँच तन्मात्रा में से पाँच भूत उत्पन्न होते है, वह कहते है -

(मूल श्लो०) [D-11]**रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः ।**
स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ।।४०।।

श्लोकार्थ : रुपतन्मात्रा में से तेजभूत, रसतन्मात्रा में से जलभूत, गंधतन्मात्रा में से पृथ्वीभूत, स्वर (शब्द) तन्मात्रा में से आकाश तथा स्पर्शतन्मात्रा में से वायु उत्पन्न होता है। इस तरह से पाँच तन्मात्रा में से पाँच भूत उत्पन्न होते है। ॥४०॥

व्याख्या-रूपतन्मात्रात्सूक्ष्मसंज्ञात्तेजोऽग्निरुत्पद्यते, रसतन्मात्रादापो जलानि जायन्ते, गन्धतन्मात्रात्पृथिवी समुत्पद्यते, स्वराच्छब्दतन्मात्रादाकाशमुद्भवति, तथा स्पर्शतन्मात्राद्वायुः प्रादुर्भवति, एवं च पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकं भवतीति ।।४०।।

टीकाका भावानुवाद :

सूक्ष्मसंज्ञक रुपतन्मात्रा में से **अग्नि** उत्पन्न होता है। रसतन्मात्रा में से **जल** उत्पन्न होता है। गंधतन्मात्रा में से **पृथ्वी** का प्रादुर्भाव होता है। शब्दतन्मात्रा में से **आकाश** का उद्भव होता है। तथा स्पर्शतन्मात्रा में से **वायु** का प्रादुर्भाव होता है। इस अनुसार से पाँचतन्मात्रा में से भूतपंचक उत्पन्न होता है। ॥४०॥

(मूल श्लो०) एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम् ।
[D-12]**अन्यस्त्वकर्ता विगुणश्च भोक्ता तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः ।।४१।।**

श्लोकार्थ : इस अनुसार से सांख्यमत के चौबीस तत्त्वरुप प्रधान नाम के मूलतत्त्व का निरुपण किया गया। प्रधान से भिन्न पुरुषतत्त्व है। वह अकर्ता, विगुण, भोक्ता तथा नित्य चेतन है।

(D-11-12) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या-एवममुनोक्तप्रकारेण सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानम् । प्रकृतिर्महानहंकारश्चेति त्रयं, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनश्चैकं, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च भूतानि चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि रूपं स्वरूपं यस्य तच्चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं प्रकृतिर्निवेदितम् । तथा चोक्तम् (सांख्यकारिका ३३) "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।" **अत्र प्रकृतिर्न विकारः, अनुत्पन्नत्वात् । बुद्ध्यादयश्च सप्त परेषां कारणतया प्रकृतयः, कार्यतया च विकृतयः उच्यन्ते । षोडशकश्च गणो विकृतिरेव कार्यत्वात् । पुरुषस्तु न प्रकृतिर्न विकृतिः, अनुत्पादकत्वादनुत्पन्नत्वाच्च । तथा चेश्वरकृष्णः सांख्यसप्ततौ (कारिकायां) (३)** "मूलप्रकृतिरविकृति-र्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।१।।" इति ।।

टीकाका भावानुवाद :

ये कहे हुए प्रकार से सांख्यमत में चौबीस तत्त्वस्वरुप प्रधान है। प्रकृति, महान्, अहंकार ये तीन, पाँच बुद्धीन्द्रियाँ = ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन, पांच तन्मात्राएं और पांच भूत, इस अनुसार से चौबीस तत्त्वो जिसका स्वरुप है, वह चौबीस तत्त्वो रुप प्रधान का निरुपण किया गया है। **तथा २२ वी सांख्यकारिका में कहा है कि...**प्रकृति में से महान, महान में से अहंकार, अहंकार में से सोलह का समुदाय और उस सोलह के समुदाय में से भी पांचभूत उत्पन्न होते है। अर्थात् प्रकृति = प्रधान २४ तत्त्वोरुप है। (यहाँ कारिका में सोलह के समुदाय में से पाँचभूतो की उत्पत्ति बताई है। परन्तु वह सोलह समुदाय अन्तर्गत पांचतन्मात्रा में से पाँचभूतोकी उत्पत्ति होती है, ऐसा जानना।)

यहाँ प्रकृति किसी का विकार नहीं है। अर्थात् किसीके कार्यरुप नहीं है। क्योंकि प्रकृति किसी से उत्पन्न होती नहीं है। महान (बुद्धि), अहंकार और पंचतन्मात्राएं, ये सात कार्य के उत्पादक कारण होने से प्रकृति है और कारणो से उत्पन्न कार्य होने से विकृति भी कही जाती है तथा उपर बताया गया सोलह का समुदाय (कारणो से उत्पन्न) कार्य होने से विकृति ही है। परंतु पुरुष किसी कार्य का उत्पादक कारण न होने से प्रकृति नहीं है या कारणो से उत्पन्न होनेवाला कार्य भी न होने से विकृति भी नहीं है। **इसलिए ही श्री ईश्वरकृष्ण ने सांख्यसप्तति (कारिका) में कहा है कि...** "मूलप्रकृति विकृति नहीं है, महान आदि सात प्रकृति और विकृति दोनो है। सोलह का समुदाय विकृति ही है। पुरुष प्रकृति या विकृति भी नहीं है।"

तथा महदादयः प्रकृतेर्विकारास्ते च व्यक्ताः सन्तः पुनरव्यक्ता अपि भवन्तीति स्वस्वरूपाद्भ्रश्यन्त्यनित्यत्वात् । प्रकृतिस्त्वविकृता नित्याभ्युपगम्यते । ततो न कदाचिदपि सा स्वस्वरूपाद्भ्रश्यति । तथा च महदादिकस्य प्रकृतेश्च स्वरूपं सांख्यैरित्थमूचे (सांख्यकारिका २०) । "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।।२।।" इति ।। **तत्र हेतुमत्कारणवन्महदादिकं, अनित्यमित्युत्पत्तिधर्मकत्वाद्बुद्ध्यादेः, अव्यापीति प्रतिनियतं न सर्वगं, सक्रियमिति सह क्रियाभिरध्यवसायादिभिर्वर्तत इति सक्रियं-सव्यापारं**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचरणक्रियावदिति यावत्, अनेकमिति त्रयोविंशतिभेदात्मकं, आश्रितमित्यात्मोपकारकत्वेन प्रधानमवलम्ब्य स्थितं, लिङ्गमिति यद्यस्मादुत्पन्नं तत्तस्मिन्नेव लयं क्षयं गच्छतीति लिङ्गम् । तत्र भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि मनश्चाहंकारे, स च बुद्धौ, सा चाव्यक्ते, तच्चानुत्पाद्यत्वान्न क्वचित्प्रलीयते सावयवमिति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात्, परतन्त्रमिति कारणायत्तत्वादित्येवंरूपं व्यक्तं महदादिकम् ।

टीकाका भावानुवाद :

महान आदि प्रकृति के विकार व्यक्त होने पर भी अव्यक्त भी होता है। इसलिए अपने स्वरुप से भ्रष्ट होता होने से अनित्य है। प्रकृति कभी भी विकार = कार्यरुप होती नहीं है और नित्य होती है। इसलिए वह कभी भी अपने स्वरुप से भ्रष्ट नहीं होती है। महान आदि और प्रकृति का स्वरुप सांख्यो के द्वारा उस अनुसार **से सांख्यकारिका में कहा गया है** - व्यक्तकार्य हेतुमत्, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, आश्रित (कारणाश्रित), लिंग=कारण में लीन होनेवाला, सावयव और परतंत्र होता है। अव्यक्तकारण इससे विपरित होता है।

(१) **व्यक्त हेतुमत् है :** अर्थात् महान आदि कारणवत् है। अर्थात् जिसका कोई कारण है, ऐसा महान आदि है। (कहने का मतलब यह है कि व्यक्त का आविर्भाव स्वतंत्र रुप में नहीं हुआ है। परन्तु अव्यक्त के कारण हुआ है। अव्यक्त, व्यक्त का कारण होने से व्यक्त हेतुमत् है।)

(२) **व्यक्त अनित्य है :** क्योंकि उत्पन्न होता है, जैसे कि, बुद्धि आदि अर्थात् बुद्धि आदि उत्पन्न होते है, अनित्य है। (कहने का मतलब यह है कि, जिसका कोई कारण हो, उसे कार्य कहा जाता है और कार्य उत्पन्न हुआ होने से उत्पन्न होने से पहले वह उसी स्वरुप में अस्तित्व रखता नहीं था, यह स्पष्ट होता है। वह एकबार विनाश भी हो सकता है-अपने स्वरुप को छोड भी सकता है। इस तरह से व्यक्त अनित्य भी है। यहाँ याद रखना कि सांख्यमत अनुसार किसी भी विद्यमान पदार्थ का आत्यन्तिक विनाश नहीं हो सकता है। विनाश यानी अपने मूलकारण में मिल जाना, व्यक्त की अनित्यता भी इसी अर्थ में समजना।)

(३) **व्यक्त अव्यापी है :** अर्थात् व्यक्त प्रतिनियतदेशवर्ती है। सर्वगत नहीं है। (कहने का मतलब यह है कि, व्यक्त प्रतिनियत=मर्यादित देशकालवाला है। सभी जगह पे जानेवाला नहीं है। जो उत्पन्न, हुआ है। वह देशकाल की मर्यादावाला है, इस व्यक्त को अव्यापी कहा। परन्तु महानतत्त्व तो सर्वव्यापी है। इसलिए सभी व्यक्त तत्त्वो को अव्यापी कहने में दोष आयेगा। सांख्याचार्य श्री वंशीधर इस विषय में खुलासा करते है कि - महान इत्यादिक को ही व्यापक कहे गये है। वे अपने कारण में व्यापक नहीं हो सकते और इतने अंश से भी वे अव्यापी है। **महदादेः स्वस्वकारणाव्यापकत्वादुपचरितव्यापकमित्यर्थः ।**

(४) **व्यक्त सक्रिय है :** अर्थात् अध्यवसाय आदि क्रियाओ को करता होने से वह सक्रिय है। अर्थात् संचरणक्रिया की तरह व्यापारवाला है। (कहने का मतलब यह है कि - जो अव्यापी हो, वह सीमाबद्ध

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से क्रिया कर सकता है। श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है कि.... **सक्रियं = परिस्पन्दवत्**'' और **परिस्पन्द = प्रवेशनिःसरणादिरुपा क्रिया** – सामान्य तौर पे आने – जाने की क्रिया को परिस्पन्द कहा जाता है। यहाँ बुद्धि इत्यादिक व्यक्त तत्त्व एक देह को छोडकर अन्यदेह धारण करते है। इसलिए परिस्पन्दवाले है। और इसलिए सक्रिय है। इस विषय में सांख्याचार्यो में मतभेद है। श्री जयमंगला की मान्यता के अनुसार क्रिया अर्थात् संसरण। वह प्रधान संसार का सर्जन करती है। फिर भी सर्वव्यापी होने से निष्क्रिय है, ऐसा मानते है। श्रीविज्ञानभिक्षु इस मत का स्वीकार नहीं करते है। सृष्टि का सर्जन प्रकृति में होते हुए क्षोभ के कारण ही होता है और इसलिए उतने अंश से प्रकृति भी सक्रिय ही है। इसलिए क्रिया का अर्थ अध्यवसायादिरुप करना। किसी निश्चित कार्य को उत्पन्न करने के प्रयत्न को ही क्रिया मानना। प्रकृति तो सभी कार्यो का सामान्य कारण होने से सक्रिय नहीं रहेगी। परंतु श्रीबालाराम इस मत का विरोध करते हुए कहते है कि, गमनागमन की क्रिया प्रधानमें नहीं है। इसलिए ही सक्रिय नहीं है, ऐसा मानना समुचित है। उपर व्याख्या में श्री ईश्वरकृत सांख्यकारिका के आधार पर वर्णन किया गया है।)

(५) **व्यक्त अनेक है :** क्योंकि वह २३ भेद स्वरुप है। (इस विषय में श्री गौडपाद कहते है कि... व्यक्त में बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियां और पाँचभूत समाविष्ट होते है। इसलिए वह अनेक है।

श्रीवाचस्पतिमिश्र इस विषय में कहते है कि ''**अनेकम् – प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादिनां भेदात्**''–प्रत्येक पुरुष के लिए अलग अलग बुद्धि इत्यादिक होने से वह अनेक है। श्री उदासीन बलराम उसको ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहते है कि, **अनेकत्वं सजातीयत्वभेदम्**'' अर्थात् ये सब पदार्थो को अपना अपना वर्ग है। अर्थात् अनेक है। वास्तव में तो जगत में जो वस्तु की विविधता दिखाई देती है, वह इस व्यक्त को ही आभारी है और उसका सूचन अनेक में से ग्रहण किया जा सकता है।)

(६) **व्यक्त आश्रित है**-व्यक्त आश्रितभोग में निमित्त होने के कारण आत्मा को उपकारक होने से प्रधानरुप कारण को आधीन है।

(कहने का मतलब यह है कि श्री वाचस्पति मिश्र और श्री गौडपाद दोनो के मतानुसार व्यक्त अपने कारण का आश्रित है। क्योंकि कार्य हंमेशा कारण के सहारे रहता है। इस तरह से बुद्धि, प्रधान के सहारे है। अहंकार बुद्धि के सहारे रहा हुआ है। इन्द्रिय और तन्मात्राएं अहंकार के सहारे रही हुई है। तथा पंचमहाभूत तन्मात्रा के सहारे रहे हुए है। यद्यपि इस तरह अर्थ करने से '**हेतुमत्**' और '**आश्रित**' के बीच खास भेद रहता नहीं है। वह भेद समजाने का प्रयास करते हुए श्री जयमंगला कहते है कि, ''**हेतुमत्**'' में कार्य को उत्पत्ति का सूचन है। जब कि ''**आश्रित**'' में उसके आधार का सूचन है। श्री चन्द्रिका '**आश्रितम्**' अर्थात् **वृत्तिमत्** ऐसा सूचित करते है। और श्रीविज्ञानभिक्षु उसका अर्थ 'अवयवो में आश्रित' ऐसा करते है।

(७) **व्यक्त कारण में लीन होनेवाला है :** अर्थात् जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसमें लय = क्षय को प्राप्त करता है, उसे लिंग कहा जाता है। वह लिंगवाला व्यक्त है। वहाँ भूत तन्मात्रा में लीन होते है। तन्मात्रा,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दस इन्द्रियां और मन अहंकार में लीन होते है। अहंकार बुद्धि में लीन होता है। वह बुद्धि अव्यक्त में लीन होती है। वह अव्यक्त उत्पन्न होता न होने से कहीं भी लीन नहि होता है। (श्री गौडपाद लिंग का अर्थ करते हुए कहते है कि लययुक्त प्रलयकाल में अपने कारण में लीन हो जानेवाले स्वभाववाला व्यक्त है।)

(८) **व्यक्त सावयव है :** अर्थात् शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गंध स्वरुप अवयवो से युक्त होने से व्यक्त सावयव भी कहा जाता है। (इस विषय में अनेक मतभेद है। श्री वाचस्पति मिश्र **सावयवम्** का अर्थ समजाते हुए कहते है कि, जिसमें अवयव और अवयवी के बीच का संयोगसंबंध हो वह सावयव- **''सावयवम् - अवयवनम् अवयव: मिथ: संश्लेष:-मिश्रणं संयोग इति यावत्''** जैसे पृथ्वी, जल इत्यादि का एक दूसरे में संयोगसंबंध ही स्वीकार किया गया है, समवाय संबंध नहीं। क्योंकि समवायसंबंध तो तादात्म्य का सूचन करता है। प्रधान और बुद्धि के बीच समवाय संबंध है,संयोगसंबंध नहीं है। इसलिए वहाँ **''सावयवम्''** पद लागू नहीं पडता है। ऐसा श्रीवाचस्पति मिश्र का मत है।

श्री शर्मा कहते है कि इस तरह से समजेंगे तो बुद्धि और अहंकार के बीच भी समवायसंबंध ही है, वह बताया जा सकेगा और इसलिए उसको भी सावयव नही कहा जा सकेगा। इसलिए श्री वाचस्पति का अर्थ संतोषजनक नहीं है।

श्रीगौड कहते है कि.. शब्द, स्पर्श, रस, रुप और गन्ध अवयव है। उसके साथ रहने से व्यक्त **सावयव** है। परन्तु श्री सोवानी कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति में ये पाँच साथ ही हो, ऐसा बनता नहीं है। उसके सामने डॉ.शर्मा कहते है कि रुपादि पाँचो प्रधान में भी सूक्ष्मरुप से तो रहे हुए ही होते है। श्री चन्द्रिका और श्री माठर कहते है कि जो गुणो से युक्त हो वह सावयव।

ये विविध अर्थ पूर्णतया संतोषजनक लगते नहीं है। वास्तव में तो व्यक्त द्वारा यह दृश्यमान जगत का स्वरुप सूचित किया गया है और जगत के पदार्थ उत्पन्न हुए है, इसलिए वे भागो के अर्थात् अवयव के बने हुए है। ऐसा मतलब **''सावयव''** पद में से निकालना ज्यादा उचित लगता है।)

(९) **व्यक्त परतंत्र है**। क्योंकि कारणो के अधीन है। (श्री गौड परतंत्र का अर्थ इस अनुसार से करते है 'जो अपने से उत्पन्न न हो, परन्तु दूसरे से उत्पन्न हो वह परतंत्र'। व्यक्त द्वारा निर्दिष्ट होते हुए तेईस तत्त्व उपर के तत्त्व के सहारे रहे हुए है। यद्यपि बुद्धि इत्यादिक तत्त्व अहंकार इत्यादिक तत्त्वो की उत्पत्ति में स्वतंत्र है। फिर भी प्रकृति की सहाय या शक्ति के बिना वे कुछ भी नहीं कर सकते है। इस कारण से इस अर्थ में परतंत्र है।)

अव्यक्तं तु प्रकृत्याख्यम्, एतद्विपरीतमिति । तत्र विपरीतता सुयोज्यैव । नवरं प्रधानं दिवि भुव्यन्तरिक्षे च सर्वत्र व्यापितया वर्तत इति व्यापित्वं तस्य, तथाव्यक्तस्य व्यापकत्वेन संचरणरूपाया: क्रियाया अभावान्निष्क्रियत्वं च द्रष्टव्यमिति दिङ्मात्रमिदं दर्शितम् । विशेषव्याख्यानं तु सांख्यसप्तत्यादेस्तच्छास्त्रादवसेयमिति । अथ पञ्चविंशतितमं पुरुषतत्त्वमाह-"**अन्यस्त्वकर्ता**" इत्यादि ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतेश्चतुर्विंशतितत्त्वरूपाया अन्यस्तु पृथग्भूतः, पुनरकर्ता विगुणो भोक्ता नित्यचिदभ्युपेतश्च पुमान्पुरुषस्तत्त्वम् । तत्रात्मा विषयसुखादिकं तत्कारणं पुण्यादिकर्म च न करोतीत्यकर्ता,, आत्मनस्तृणमात्रकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थत्वात् । कर्त्री तु प्रकृतिरेव, तस्याः प्रवृतिस्वभावत्वात् । तथा विगुणः सत्त्वादिगुणरहितः, सत्त्वादीनां प्रकृतिधर्मत्वादात्मनश्च तदभावात् । तथा भोक्ता अनुभविता । भोक्तापि साक्षान्न भोक्ता, किं तु प्रकृतिविकारभूतायां ह्युभयमुखदर्पणाकारायां बुद्धौ संक्रान्तानां सुखदुःखादीनां पुरुषः स्वात्मनि निर्मले प्रतिबिम्बोदयमात्रेण भोक्ता[D-13] **व्यपदिश्यते,** बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयत इति **वचनात् । यथा जपाकुसुमादिसन्निधानवशात्स्फटिके रक्ततादि व्यपदिश्यते, तथा प्रकृत्युपधानवत्त्वात्सुखदुःखाद्यात्मकानामर्थानां पुरुषस्य भोजकत्वं युक्तमेव व्यपदिश्यते ।** वादमहार्णवोऽप्याह-"बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य, न त्वात्मनो विकारापत्तिरिति"

टीकाका भावानुवाद :

अव्यक्तप्रकृति व्यक्त से विपरीत है। अव्यक्त में विपरीतता इस अनुसार से है - (१) प्रधान (अव्यक्त) किसी से उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए उसका कोई कारण नहीं है। इसलिए वह **अहेतुमत्** है। (२) प्रधान अनादि होने से **नित्य** है। (३) प्रधान सर्वत्र विस्तरित होने से **व्यापी** है। (४) प्रधान **निष्क्रिय** है। क्योंकि सर्वव्यापी होने से उसमें क्रिया संभवित नहीं है। यद्यपि उसमें परिणामरुप क्रिया होती है। परन्तु गति नहीं है। (५) प्रधान (अव्यक्त) **एक** ही है क्योंकि, अनेकव्यक्त का वह एकमेव कारण है। (६) अव्यक्त **अनाश्रित** हैं। क्योंकि वह किसी का कार्य नहीं है। (७) अव्यक्त **अलिंग** है। क्योंकि प्रलयकालमें किसी में लय नहीं पाता है। (८) अव्यक्त **अनवयव** है। क्योंकि उसमें शब्द इत्यादि अवयव स्थूलरुप से रहते नहीं है अथवा तो वह कृतक नहीं है-उत्पन्न हुआ नहीं है। (९) अव्यक्त **स्वतंत्र** है, क्योंकि किसी के अधीन नहीं है।

प्रधान देवलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्ष सर्वत्र व्याप करके रहते है। इसलिए प्रधान व्यापी है। इस प्रकार उस अनुसार से प्रधान (अव्यक्त) व्यापक होने के कारण (उसकी) संचरणरुप क्रिया का अभाव है। इसलिए अव्यक्त को निष्क्रिय जानना। इस अनुसार से केवल इस विषय में दिशासूचन किया हुआ जानना।

इन (उपरोक्त) नव द्वारो की विशेष व्याख्या सांख्यदर्शन के सांख्यसप्तति आदि ग्रंथों में से जान लेना।

अब पच्चीसवें पुरुष तत्त्व को कहते है। "**अन्यस्त्वकर्ता,**" चौबीस तत्त्वरुप प्रकृति से भिन्न, अकर्ता, विगुण, भोक्ता और नित्यज्ञानवाला पुरुषतत्त्व है।

वहाँ आत्मा = पुरुष विषयसुखो का और विषयसुखो के कारण ऐसे पुण्यादि कर्मो का कर्ता नहीं है।

(D-13) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए **अकर्ता** है। क्योंकि आत्मा में तृण मात्र को तोडने का भी सामर्थ्य नहीं है। परन्तु प्रकृति ही कर्ता है। क्योंकि प्रकृति प्रवृत्ति के स्वभाववाली है। आत्मा सत्त्वादि तीन गुण से रहित होने से **विगुण** है। सत्त्वादि तीन गुण प्रकृति के धर्म है। और आत्मा सत्त्वादि तीन गुण से रहित होने से विगुण है। सत्त्वादि तीन गुण प्रकृति के धर्म है और आत्मा में सत्त्वादि तीन गुणो का अभाव है। इसलिए आत्मा विगुण है।

आत्मा भोक्ता है। अर्थात् अनुभव करनेवाला है। आत्मा विषयो का साक्षात् भोक्ता नहीं है। परन्तु प्रकृति के विकाररुप बुद्धि दर्पण में सुख-दुःखादि का प्रतिबिम्ब पडता है और वह बुद्धिदर्पण दोनो ओर से पारदर्शी है। इसलिए उसकी दोनो तरफ में प्रतिबिंब पडता है। इसलिए बुद्धिदर्पण में प्रतिबिंबित सुख-दुःखादि की छाया अत्यंत निर्मल पुरुष में पडती है। इस प्रकार पुरुष के स्वच्छ स्वरुप में बुद्धि-प्रतिबिंबित सुख-दुःख की छाया पडना वही पुरुष का भोग है। ऐसे ही भोग के कारण पुरुष भोक्ता कहा जाता है।

"बुद्धि द्वारा अध्यवसित अर्थो का पुरुष अनुभव करता है।" ऐसा पूर्वाचार्यो का कथन है। जैसे जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक में रक्त (लाल) आदि रंगो का व्यपदेश किया जाता है। वैसे ही प्रकृति के संसर्ग के कारण स्वच्छ पुरुष में भी सुख-दुःखादि के भोक्तृत्व का व्यपदेश किया जाता है। **वादमहार्णव का भी मत है कि..** बुद्धिरुपी दर्पण में संक्रान्त हुए अर्थ के प्रतिबिम्ब का स्वच्छ पुरुषरुप द्वितीय दर्पण में अध्यारोह होना, वही सुख-दुःखादि का भोग है और वैसा प्रतिबिम्ब पडना वही पुरुष का भोक्तृत्व है। इसलिए प्रतिबिम्ब के प्रति अध्यारोह के सिवा पुरुष का दूसरा कोई भोग नहीं है। इसलिए आत्मा में विकार की भी आपत्ति नहीं है।

तथा चासुरिः-"विविक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते । प्रतिबम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ।।१।।" **व(वि)न्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे**-"पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः(धेः)स्फटिकं यथा ।।२।।" **इति तथा नित्या या चिच्चेतना तयाभ्युपेतः, एतेन पुरुषस्य चैतन्यमेव स्वरूपं, न तु ज्ञानं, ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वादित्यावेदितं द्रष्टव्यम् । केवलमात्मा स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते, सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति, बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा, ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते, ततः सुख्यहं दुःख्यहं ज्ञाताहमित्युपचर्यते । आह च पतञ्जलिः**[D-14]-"शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते" [योग भा० २/२०] इति । "बुद्धिश्चाचेतनापि चिच्छक्तिसन्निधानाच्चेत-नावतीवावभासते" इति । **पुमानित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, तेनात्मानेकोऽभ्युपगन्तव्यः, जन्ममरणकरणानां नियमदर्शनाद्धर्मादिप्रवृत्तिनानात्वाच्च । ते च सर्वेऽप्यात्मानः सर्वगता नित्याश्चावसेयाः । उक्तं च**-"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ।।१।।" **इति।।४१।।**

(D-14) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाका भावानुवाद :

आचार्य श्री आसुरि ने भी कहा है कि - जैसे स्वच्छ पानी में चन्द्रमा का प्रतिबिंब उदय प्राप्त करता है, वैसे बुद्धि से भिन्न चैतन्य का बुद्धि में प्रतिबिंब पडना वही भोग कहा जाता है। कहने का आशय यह है कि, चंद्रमा का प्रतिबिंब जैसे जल का ही विकार है, चन्द्रमा का नहीं। वैसे बुद्धि में पडता पुरुष का प्रतिबिंब भी बुद्धि का ही विकार है, आत्मा का नहीं। यही आत्मा का भोग है।

उपरांत श्री विन्ध्यवासी इस अनुसार से कहते है - पुरुष तो अविकारी ही है, परन्तु अचेतन मन अपने सान्निध्य से पुरुष को अपनी तरह (स्वतुल्य) विकारी बना देता है। जैसे कि, जपाकुसुम इत्यादिक उपाधियाँ अपने सान्निध्य से स्वच्छ - निर्मल स्फटिक को स्वतुल्य रक्तादि बना देता है, वैसे निर्मल पुरुष को भी मन अपने सान्निध्य से स्वतुल्य बना देता है।

नित्यचेतना (चैतन्य) ही पुरुष का यथार्थस्वरुप है। इसलिए पुरुष का स्वरुप चैतन्य ही है, ज्ञान नहीं है। क्योंकि ज्ञान बुद्धि का धर्म है। केवल (अविवेक से) आत्मा अपने को बुद्धि से अभिन्न मानता है। सुख-दुःखादि विषयो का इन्द्रिय के द्वारा बुद्धि में संक्रमण होता है। बुद्धि दोनो तरफी पारदर्शक दर्पण जैसी है। इसलिए बुद्धि में चैतन्यशक्ति प्रतिबिंबित होती है। इससे ''**मैं सुखी हूँ।**'' और ''**मैं दुःखी हूँ,**'' ''**मैं ज्ञाता हूँ**'' ऐसा उपचार होता है। (कहने का मतलब यह है कि, बुद्धि दोनो ओर से पारदर्शी दर्पण समान होने से जैसे एक ओर सुख-दुःखादि का प्रतिबिंब पडता है। वैसे ही दूसरी ओर पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिंब पडता है। इस प्रकार चैतन्य और सुखादि विषय का एकसाथ प्रतिबिंब पडने से ही पुरुष अपने को ''मैं ज्ञाता हूँ,'' ''मैं सुखी हूँ'' इत्यादि मानने लगता है।)

श्री पतंजलिने भी कहा है कि ''पुरुष तो शुद्ध है (फिर भी) बुद्धि संबंधित प्रत्यय अर्थात् सुख-दुःखादि ज्ञानवृत्ति को देखता है। इसलिए बुद्धि के अध्यवसित अर्थो को देखता तद्स्वरुप न होने पर भी तद्स्वरुप प्रतिभासित होने लगता है। अर्थात् ज्ञातृत्वादि धर्मो से रहित पुरुष भी ज्ञातृत्वादि धर्मो से सहित हो वैसा लगता है।''

तथा ''बुद्धि स्वयं अचेतन होने पर भी पुरुष की चैतन्य शक्ति के सान्निध्य से बुद्धि भी चेतनवती प्रतिभासित होती है।''

श्लोक में ''पुमान्'' शब्द में एकवचन प्रयोग किया है। वह पुरुषत्व जाति की अपेक्षा से किया है। परन्तु व्यक्ति की अपेक्षा से तो पुरुष अनेक है। क्योंकि एक पुरुष की मृत्यु के बाद दूसरे पुरुष का जन्म दिखाई देता है तथा एक सुखी और एक दुःखी दिखाई देता है, इसलिए धर्म-अधर्मादि की व्यवस्था (प्रवृत्ति) अनेक प्रकार से दिखाई देती होने से पुरुष भी अनेक है, वैसा सिद्ध होता है।

वे सभी आत्माओ को सर्वगत और नित्य जानना। **एक स्थल पे कहा है कि,** सांख्यदर्शन में आत्मा अमूर्त, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म माना गया है। ।।४१।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वान्युपसंहरन्नाह -

तत्त्वो का उपसंहार करते हुए कहते है कि...

(मूल श्लो०) पञ्चविंशतितत्त्वानि संख्ययैवं भवन्ति च ।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पंग्वन्धयोरिव[D-15] ।।४२।।

श्लोकार्थ : इस अनुसार से संख्या से पच्चीस तत्त्व है। प्रधान और पुरुष का वर्तन विश्व में लंगडे और अंधे के जैसा है।

व्याख्या-चकारो भिन्नक्रमः, एवं च संख्यया पञ्चविंशतितत्त्वानि भवन्ति । ननु प्रकृतिपुरुषावुभावपि सर्वगतौ मिथःसंयुक्तौ कथं वर्त्तेते इत्याशंक्याह-'प्रधानेत्यादि' । प्रधानपुरुषयोश्चात्र विश्वे पंग्वन्धयोरिव वृत्तिर्वर्तनम् । यथा कश्चिदन्धः सार्थेन समं पाटलिपुत्रनगरं प्रस्थितः, स सार्थश्चौरैरभिहतः । अन्धस्तत्रैव रहित इतश्चेतश्च धावन् वनान्तरपङ्गुना दृष्टोऽभिहितश्च "भो भो अन्ध मा भैषीः, अहं पङ्गुर्गमनादिक्रियाविकलत्वेनाक्रियश्चक्षुर्भ्यां सर्वं पश्यन्नस्मि, त्वं तु गमनादिक्रियावान्न पश्यसि" । ततो अन्धेनोचे-"रुचिरमिदम्, अहं भवन्तं स्कन्धे करिष्यामि, एवमावयोर्वर्तनमस्तु" इति । ततोऽन्धेन पङ्गुर्द्रष्टृत्वगुणेन स्वं स्कन्धमधिरोपितो नगरं प्राप्य नाटकादिकं पश्यन् गीतादिकं चेन्द्रियविषयमन्यमप्युपलभ्यमानो यथा मोदते, तथा पङ्गुकल्पः शुद्धचैतन्यस्वरूपः पुरुषोऽप्यन्धकल्पां जडां प्रकृतिं सक्रियामाश्रितो बुद्ध्यध्यवसितं शब्दादिकं स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं चेतयमानो मोदते, मोदमानश्च प्रकृतिं सुखस्वभावां मोहान्मन्यमानः संसारमधिवसति ।।४२।।

टीकाका भावानुवाद :

श्लोक के पूर्वार्ध में रहा हुआ ''च'' ''भिन्न क्रम में है।'' भवन्ति के बाद रहे हुए ''च'' को 'एवं' बाद में जोडना (इसलिए अर्थ इस तरह से होगा-) और इस अनुसार से संख्या से पच्चीस तत्त्व है।

शंका : सर्वगत प्रकृति तथा पुरुष दोनो भी (भिन्न स्वभाववाले होने पर भी) परस्पर संयुक्त कैसे रहते है ?

समाधान : विश्व में प्रधान और पुरुष का व्यवहार लंगडे और अंधे के जैसा है। जैसे किसी अंधे ने सार्थके साथ पाटलीपुत्र नगर की ओर प्रस्थान किया। वह सार्थ चोरो के द्वारा लूंटा गया। तब अंध सार्थ से रहित अकेला पड गया और वन में फिरते फिरते वन में लंगडे को देखा और उस लंगडे के द्वारा कहा गया कि... हे अंध, तुम घबराना नहि। मैं पंगु होने से गमनादि क्रिया नहीं करता हूं। परन्तु आंख से सब कुछ देखता हूं और तुम देख नहीं सकते हो, परन्तु गमनादि क्रियावान् हो।

तब अंध के द्वारा लंगडे को कहा गया कि ''बहोत अच्छी बात की, मैं तुमको कन्धे पर बिठाऊंगा। (और

(D-15) - तु० पा० प्र० प०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम रस्ता दिखाना) इस अनुसार से एक को रास्ता दिखलाना और एक को चलना, इस तरह से हम दोनो की वृत्ति है।''

इसलिए अंध के द्वारा देखने का गुण न होने से पंगु को अपने कन्धे पे बिठाकर नगर को प्राप्त करके नाटकादि देखते और गीतादि इन्द्रियो के विषयो को तथा अन्य को भी प्राप्त करते हुए जिस प्रकार आनन्द करते है उसी प्रकार पंगुतुल्य (लंगडे जैसा) शुद्ध चैतन्यस्वरुप पुरुष भी अंध तुल्य (अंधे जैसी) सक्रिय और आश्रित ऐसी जड प्रकृति का संसर्ग पाकर बुद्धि के अध्यवसित शब्दादि विषयो को अपने स्वच्छ स्वरुप में प्रतिबिंबित करके (उस विषयादि) का अनुभव करता हुआ आनंद करता है और आनंद करता हुआ प्रकृति को ही मोह से सुख के स्वभाववाली मानता हुआ (प्रकृति के कंधे पर चढकर) संसार में परिभ्रमण करता है। ॥४२॥

तर्हि तस्य कथं मुक्तिः स्यादित्याह – तो फिर उस पुरुष की मुक्ति किस तरह से होती है ? (ऐसी शंका का जवाब देते हुए) कहते है कि..

(मूल श्लो०) प्रकृतिवियोगो मोक्षः पुरुषस्य बतैतदन्तरज्ञानात् ।
मानत्रितयं चात्र प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम् ।।४३।।

श्लोकार्थ : पुरुष–प्रकृति के विवेकज्ञान से पुरुष का जो प्रकृति से वियोग होता है, उसे पुरुष का मोक्ष कहा जाता है। सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शाब्द, ऐसे तीन प्रमाण है। ॥४३॥

व्याख्या-बतेति पृच्छकानामामन्त्रणे, एतयोः प्रकृतिपुरुषयोर्यदन्तरं विवेकस्तस्य ज्ञानात्पुरुषस्य यः प्रकृतेर्वियोगो भवति, स मोक्षः । तथाहि-"शुद्धचैतन्यरूपोऽयं पुरुषः परमार्थतः । प्रकृत्यन्तरमज्ञात्वा मोहात्संसारमाश्रितः ।।१।।" **ततः प्रकृतेः सुखदुःख-मोहस्वभावाया यावन्न विवेकेन ग्रहणं तावन्न मोक्षः, प्रकृतेर्विवेकदर्शने तु प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति । मोक्षश्च बन्धविच्छेदाद्भवति, बन्धश्च प्राकृतिकवैकारिकदाक्षिणभेदात्त्रिविधः**[D-16] **। तथाहि-प्रकृतावात्मज्ञानात् ये प्रकृतिमुपासते, तेषां प्राकृतिको बन्धः । ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते, तेषां वैकारिकः । इष्टापूर्ते दाक्षिणः, पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति ।** "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।।१।।" [मुण्डक० १/२/१०] इति। **बन्धाच्च प्रेत्यसंसरणरूपः संसारः प्रवर्तते । सांख्यमते च पुरुषस्य प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्य न बन्धमोक्षसंसाराः, किं तु प्रकृतेरेव । तथा च कपिलाः ।** -"तस्मान्न बध्यते नैव मुच्यते नापि संसरति कश्चित् । संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।।१।।" [सांख्यका० ६२] इति । नवरममी बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते[D-17] । **यथा जयपराजयौ**

(D-16-17) – तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात्, तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात्पुरुषे संबन्ध इति ।।

टीकाका भावानुवाद :

श्लोक में "बत" प्रश्नकार को उत्तर देते हुए आमंत्रण में बोला जाता है। पुरुष और प्रकृति के विवेकज्ञान से पुरुष का जो प्रकृति से वियोग होता है, उसे मोक्ष कहा जाता है। जैसे कि... "परमार्थ से यह पुरुष शुद्धचैतन्यस्वरुप है, परन्तु प्रकृति से मैं भिन्न हूँ। ऐसा जानता न होने से मोह से (प्रकृति के संयोग से) संसार में परिभ्रमण करता है।"

इसलिए सुख-दुःख-मोह के स्वभाववाली प्रकृति से (पुरुष भिन्न है), ऐसा विवेक जब तक प्राप्त नहीं होता, तब तक मोक्ष नहीं होता। परन्तु (पुरुष से भिन्न) प्रकृति का विवेक होने से प्रकृति की प्रवृत्ति शांत हो जाती है और पुरुष का शुद्धचैतन्यस्वरुप में अवस्थान होता है। वही मोक्ष है।

मोक्ष बंध के विच्छेद से होता है। बंध तीन प्रकार का है। (१) प्राकृतिक, (२) वैकारिक, (३) दाक्षिण।

उसमें जिन को प्रकृति में आत्मज्ञान होता है अर्थात् जो प्रकृति को अपनी मानता है, वह प्रकृति की उपासना करता है और उनको **प्राकृतिकबंध** होता है। जो लोग विकारो को पुरुष मानकर अर्थात् भूत, इन्द्रिय, अहंकार, बुद्धिरुप विकारो को पुरुष मानकर उपासना करते है, उनको **वैकारिक बंध** होता है।

श्रुतिविहित यज्ञादि कर्म तथा झील-कुआं-तालाब आदि इष्टापूर्तकर्म करने में **दाक्षिणबंध** होता है। पुरुष तत्त्व को न जानते हुए सांसारिक सुखो की इच्छा से उपहत हुए मनवाला इष्टापूर्त कर्म करता है। वह दाक्षिणबंध से बंधाता है। **कहा है कि,** "जो मूढ मनुष्य इष्टापूर्तकर्म को ही श्रेष्ठ मानकर, अन्य कल्याणकारी कार्य न करते हुए, इष्टापूर्तकर्म से प्राप्त हुए सुकृत से देवलोक में जाता है। परन्तु बाद में मनुष्य लोक में या उससे हीन तिर्यंचलोक में जन्म लेता है।"

बंध से परलोक में जन्म लेना, इत्यादि जन्म-मरणादिरुप संसार परिभ्रमण चलता है। सांख्यमत में जो प्रकृति या विकृति स्वरुप नहीं है, उस पुरुष का बंध, मोक्ष या संसार नहीं माना है। परन्तु बंध, मोक्ष और संसार, प्रकृति के ही माने है। **सांख्यो ने कहा है कि...** इसलिए कोई पुरुष बंधाता नहीं है। मुक्त नहीं होता है और संसार में परिभ्रमण नहीं करता है। परन्तु बहुस्वरुपवाली प्रकृति बंधाती है। मुक्त होती है। और संसार में परिभ्रमण करती है।

इतना निश्चित है कि, प्रकृति के बंध, मोक्ष और संसार का पुरुष में उपचार किया जाता है। जैसे, सैनिको का जय-पराजय स्वामि का जय-पराजय कहा जाता है। क्योंकि, उसके फलभूत धनादि की प्राप्ति स्वामी को होती है। वैसे भोग-अपवर्ग प्रकृति के होने पर भी विवेक के अभाव से पुरुष में भोग-अपवर्ग का उपचार होता है। अर्थात् भोग-अपवर्ग प्रकृतिगत होने पर भी भेदज्ञान न होने से पुरुष भोक्ता कहा जाता है। उसके कारण पुरुष में संसारी और मुक्त का व्यपदेश होता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र प्रमाणस्य सामान्यलक्षणमुच्यते-'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणं' **इति । अथोत्तरार्धे मानत्रितयं च-प्रमाणत्रितयं च, अत्र-सांख्यमते** । किं तदित्याह-**प्रत्यक्षं**-प्रतीतं, **लैङ्गं-अनुमानं, शाब्दं-चागमः । चकारोऽत्रापि संबन्धनीयः** । तत्र प्रत्यक्षलक्षणमाख्यायते-'**श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षं**' **इति** । 'श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैति पञ्चमी' इति । **श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, तेषां वृत्तिर्वर्तनं परिणाम इति यावत्, इन्द्रियाण्येव विषयाकारपरिणतानि प्रत्यक्षमिति हि तेषां सिद्धान्तः**[A] **। अविकल्पिका नामजात्यादिकल्पनारहिता शाक्यमताध्यक्षवद्व्याख्येयेति । ईश्वरकृष्णस्तु** "प्रतिनियताध्यवसायः श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षम्" [ ] इति प्राह । अनुमानस्य त्विदं लक्षणम्[D-18]-**पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति त्रिविधमनुमानमिति । तत्र नद्युन्नतिदर्शनादुपरिवृष्टो देव इत्यनुमीयते यत्तत्पूर्ववत् । तथा समुद्रोदकबिन्दुप्राशनाच्छेषं जलं क्षारमनुमानेन ज्ञायते, तथा स्थाल्यां सिक्थैकचम्पनाच्छेषमन्नं पक्कमपक्कं वा ज्ञायते तत्शेषवत् । यत्सामान्यतो दृष्टं तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, यथा त्रिदण्डदर्शनाददृष्टोऽपि लिङ्गी परिव्राजकोऽस्तीत्यवगम्यते, इति त्रिविधम् । अथवा तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमित्येवानुमानलक्षणं सांख्यैः समाख्यायते**[D-19] **। शाब्दं त्वाप्तश्रुतिवचनम्, आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः तेषां वचनं शाब्दम् ।**

टीकाका भावानुवाद :

अब प्रमाण का सामान्यलक्षण कहा जाता है। "अर्थ की (पदार्थ की) उपलब्धि (ज्ञान) के कारण को **प्रमाण** कहा जाता है।"

श्लोक के उत्तरार्ध में तीन प्रमाण का सूचन किया था, उसे अब कहते है। प्रमाण तीन है।

प्रश्न : कौन से तीन प्रमाण है ?

उत्तर : (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) आगम, ये तीन प्रमाण है।

उसमें (प्रथम) प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहते है - नाम-जाति विकल्पो से रहित श्रोत्रेन्द्रिय इत्यादि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष कहा जाता है। वहाँ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और नासिका, ये पांच इन्द्रियां है, वे पाँच इन्द्रियो के परिणाम को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है। **सांख्यो का विषयाकार परिणत इन्द्रियो को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानने का सिद्धांत है।** संक्षिप्त में नाम-जाति आदि कल्पना से रहित

A "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्" ।। यो. सू. व्यास भा० पृ० २७ ।। "कापिलास्तु श्रोत्रादिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वमिच्छति" ।। प्रमाणसमु० पृ. ६४ ।। ।।न्याय वा० पृ० ४३ ।। "वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह - श्रोत्रादिवृत्तिरिति ।।" न्यायवा० ता० टी पृ १५५ ।। न्यायमं० पृ १०० ।। तत्त्वोप० ६१ ।।

(D-18-19) - तु० पा० प्र० प० ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्ति निर्विकल्पक है। इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का व्याख्यान बौद्धमत में की हुई प्रत्यक्ष की व्याख्या के अनुसार समज लेना।

श्री ईश्वरकृष्णने प्रत्यक्ष का लक्षण इस तरह से किया है – श्रोत्रादि इन्द्रियो से उत्पन्न हुए प्रतिनियत अध्यवसाय को प्रत्यक्ष कहा जाता है। अर्थात् प्रत्येक विषय के प्रति इन्द्रिय के व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

(सांख्यसूत्र में प्रत्यक्ष का लक्षण इस तरह से किया है – इन्द्रिय और अर्थ के संबंध से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ दोनो की विद्यमानता की आवश्यकता है। इसलिए प्रत्यक्षज्ञान अर्थ और इन्द्रिय उभय का फल है।)

अब अनुमान का लक्षण बताते है – अनुमान के तीन प्रकार है – (१) पूर्ववत्, (२) शेषवत्, (३) सामान्यतोदृष्ट।

उसमें नदी के उन्नति के दर्शन से अर्थात् बाढ़ के कारण पानी से भरी हुई नदी के दर्शन से उपरीतन (उपरके) विस्तार में बरसात हुई होगी, वैसा अनुमान होता है। उसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

समुद्र के एक बुंद को चखने से जल खारा है, वैसा ज्ञान होने से समुद्र के शेष पानी में खारेपन का अनुमान करना उसे शेषवत् अनुमान कहा जाता है। अथवा खाना खाने बैठते वक्त थाली में रहे हुए एक चावल के दाने को दबाने से, बाकी के चावल के दाने पक्व है या अपक्व है? (पक गये है या कच्चे है?) उसका अनुमान होता है। उसको शेषवत् अनुमान कहा जाता है।

लिंगपूर्वक लिंगि का ज्ञान हो, उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। जैसे कि, त्रिदंडरुप लिंग के दर्शन से, अदृष्ट (सामने नहीं दिखाई देता) भी परिव्राजक लिंगि का ज्ञान होता है, वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

इस तरहसे तीन अनुमान के प्रकार है। अथवा सांख्यो के द्वारा अनुमान का सामान्य लक्षण कहा गया है कि, लिंग और लिंगि के संबंध को ग्रहण करके लिंग से लिंगि का ज्ञान करना वह अनुमान।

आप्त और श्रुति (वेद) के वचनो को शाब्द (आगम) प्रमाण कहा जाता है। राग-द्वेष से रहित ब्रह्म, सनत्कुमार, इत्यादि आप्तपुरुष है। श्रुति अर्थात् वेद। उस आप्तपुरुष तथा श्रुति के वचनो को शाब्दप्रमाण कहा जाता है।

अत्रानुक्तमपि किंचिदुच्यते । चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या नार्थं जानाति, बुद्धिश्च जडा न चेतयते, सन्निधानात्तयोरन्यथा प्रतिभासनम्, प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिरुपजायते, प्रकृतिविकारस्वरूपं कर्म, तथा त्रैगुण्यरूपं सामान्यम्, प्रमाणविषयस्तात्त्विक इति । अत्र त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि । ततःस्वार्थे "ण्योनन्दादे" इति ण्यः, यथा त्रयो लोकास्त्रैलोक्यं, षड्गुणाः षाड्गुण्यम्, ततस्त्रैगुण्यं रूपं स्वभावो यस्य सामान्यस्य तत् त्रैगुण्यरूपमिति । प्रमाणस्य च फलमित्थम् । पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उत्तरं) तु फलमिति । तथा कारणे कार्यं सदेवोत्पद्यतेऽसदकारणादिभ्यो हेतुभ्यः । [अ]**तदुक्तम्** (सांख्यकारिका ९)-"असदका(क)रणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।१।।" इति ।। **अत्र सर्वसंभवाभावादिति, यद्यसत्कार्यं स्यात्तदा सर्वं सर्वत्र भवेत् । ततश्च तृणादिभ्योऽपि सुवर्णादीनि भवेयुः, न च भवन्ति, तस्मात्कारणे कार्यं सदेव । तथा द्रव्याण्येव केवलानि सन्ति, न पुनरुत्पत्तिविपत्तिधर्माणः पर्यायाः केऽपि, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वात्तेषामिति । सांख्यानां तर्कग्रन्थाः षष्टितन्त्रोद्धाररूपं, माठरभाष्यं, सांख्यसप्ततिनामकं, तत्त्वकौमुदी, गौडपादं, आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयः ।।४३।।**

टीकाका भावानुवाद :

मूल में न कहे हुए सांख्यदर्शन के कुछ विशेष तत्त्वो को कहा जाता है – चैतन्यशक्ति शब्दादि विषयो का परिच्छेद नहीं करती है। अर्थात् अर्थ को जानती नहीं है। (परन्तु पदार्थो को जाननेवाली बुद्धि है।) वह बुद्धि जड है और संवेदन कर सकती नहीं है। चैतन्यशक्ति और बुद्धि के सन्निधान से दोनो का स्वभाव विपरीत हो जाता है। अर्थात् चैतन्यशक्ति विषयो का परिच्छेद करती हो जाती है-अर्थ को जानती हो जाती है। तथा जड जैसी बुद्धि चेतनावान् बन जाती है।

प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का सर्जन होता है। पुण्य-पाप कर्मप्रकृति के विकार स्वरुप है तथा तीन गुणवाला प्रधान सामान्य है। अर्थात् सर्वत्र अनुगत है। प्रमाण के विषयभूत बाह्यार्थ तात्त्विक (वास्तविक) है, काल्पनिक नहीं है।

यहाँ तीन गुण, सत्त्व, रजस् और तमस् है। स्वार्थ में ''ण्योनन्दादे'' सूत्र से ''ण्य'' लगकर त्रिगुण का ही त्रैगुण्य बना हुआ है। जैसे कि, तीन लोक को त्रैलोक्य और षड्गुण ही षाड्गुण्य कहा जाता है। वैसे त्रैगुण्य

अ "इह लोके सदेव सद्भवति । असतः का(क)रणं नास्ति । यदि स्यात्तदा सिकताभ्यस्तैलं, कूर्मरोमभ्यः पटप्रावरणम्, वन्ध्यादुहितृभ्रूविलासः, शशविषाणं, खपुष्पं च स्यात् । न चास्ति तस्मादनुमीयते प्रधाने प्रागुत्पत्तेर्महदादिकमस्त्येव । उपादानग्रहणात् । इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति । तन्निमित्तमुपादत्ते । तद्यथा दध्यर्थी क्षीरस्योपादानं कुरुते । यदि चासत्कार्यं स्यात्तदा दध्यर्थी उदकस्याप्युपादानं कुर्यात्, न च कुरुते, तस्मात् महदादि कार्यमस्तीति । किं व सर्वसम्भवाभावात् । इह लोके यद् यस्मिन् विद्यते तस्मादेव तदुत्पद्यते । यथा तिलेभ्यस्तैलं, दध्नो घृतम् । यदि चासत्कार्यं स्यात्तदा सर्वं सर्वतः सम्भवेत्ततश्च तृणपांशुवालुकादिभ्यो रजतसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादयो जायेरन् । न च जायन्ते तस्मात्पश्यामः सर्वसम्भवाभावादपि महदादि कार्यं प्रधाने सदेव सद्भवतीति । अतश्चास्ति - शक्तस्य शक्यकरणात् । इह लोके शक्तः शिल्पी करणादि - कारणोपादानकालोपायसंपन्नः शक्यादेव शक्यं कर्म आरभते नाशक्यमशक्यात् । तद्यथा - शक्तः कुम्भकारः शक्यादेव मृत्पिण्डात् शक्यदण्डचक्रसूत्रोदकविदलतलादिभिः संपन्नो घटशरावोदञ्चनादीन्यारभमाणो दृष्टः । न च मणिकादि, अशक्यत्वात्तावता पिण्डेन तस्य । यदि पुनः करणनियमो न स्यात् । इह लोके यल्लक्षणं कारणं तल्लक्षणं कार्यं स्यात् । यथा कोद्रवेभ्यः कोद्रवाः, व्रीहिभ्यो व्रीहयः स्युः । यदि चासत्कार्यं स्यात् तदा कोद्रवेभ्यः शालीनामपि निष्पत्तिः स्यात् । न च भवति । तस्मात्कारणभावादपि पश्यामः प्रधाने महादादि कार्यमस्तीति । साधितमेवमेतैः पञ्चभिर्हेतुभिः सत् कार्यम् ।।" - सांख्यका० मा० वृ० ९ ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समज लेना ।

त्रैगुण्यरुप सामान्य है। पूर्व पूर्व प्रमाण है। उत्तर उत्तर फल है (अर्थात् जब सन्निकर्षो को प्रमाण मानोंगे, तब निर्विकल्पकज्ञान फल होगा। और जब निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानोंगे, तब सविकल्पकज्ञान फल होगा)

सांख्यकारिका में कहा है कि **"कारणे कार्यं सदेवोत्पद्यते, असदकारणादिभ्यो हेतुभ्यः ।"** कारण में कार्य की सत्ता होती है। इसलिए कारण में विद्यमान कार्य ही उत्पन्न होता है। क्योंकि असदकारणादि पाँच कारण है।

वे पाँच कारण बताते हुए सांख्यकारिका में कहा है कि (१) असत् कारण नहि बन सकेगा। (२) कारण के साथ (कार्यका) निश्चित संबंध होता है। (३) प्रत्येक कार्य प्रत्येक कारण में से उत्पन्न नहीं होता है। (४) जो उत्पन्न करने के लिए कारण समर्थ हो, उसे ही उत्पन्न कर सकता है। (५) कार्य कारण का ही स्वभाव रखता है। ये पाँच कारण से (कारण में विद्यमान कार्य ही उत्पन्न होता है। ऐसा सत्कार्यवाद (सांख्यो के द्वारा) स्वीकार किया गया है। (इस विषय में टिप्पनी में विस्तार से (पृ. २६८) वर्णन किया है। वह देख लेना।)

यदि कारण में अविद्यमान (असत्) कार्य उत्पन्न होता हो, तो सर्वत्र सर्व को सर्व उत्पन्न कर सकेगा। अर्थात् तृणादि से सुवर्णादि भी उत्पन्न होगा, परन्तु वैसा नहीं है। इसलिए कारण में विद्यमान कार्य उत्पन्न होता है, वैसा सिद्धांत निश्चित होता है। तथा केवल द्रव्य ही होते है। परन्तु उत्पत्ति और विनाशस्वरुप कोई भी पर्याय नहीं होते है। परन्तु आविर्भाव को ही उत्पत्तिपर्याय और तिरोभाव को ही विनाशपर्याय कहा जाता है।

सांख्यदर्शन के षष्टितंत्र के पुनः संस्करणरुप माठरभाष्य, सांख्यसप्तति, तत्त्वकौमुदी, गौडपादभाष्य, आत्रेयतंत्र इत्यादि ग्रंथ है। ॥४३॥

सांख्यमतमुपसंजिहीर्षन्नुत्तरत्र जैनमतमभिधित्सन्नाह - अब सांख्यमत का उपसंहार करते हुए, जैनमत का निरुपण करने की प्रतिज्ञा करने के लिए कहते है कि...

(मूल श्लो०) एवं सांख्यमतस्यापि समासो गदितोऽधुना ।
जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते सुविचारवान् ।।४४।।

श्लोकार्थ : इस तरह से सांख्यमत का भी संक्षेप कहा गया। अब सुविचारवान् = प्रमाणसिद्ध जैनमत का संक्षेप कहा जाता है। ॥४५॥

व्याख्या-एवमुक्तविधिना सांख्यमतस्यापि न केवलं बौद्धनैयायिकयोरित्यपिशब्दार्थः । समासःसंक्षेपोऽधुना गदितः । जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते । कथंभूतः सुविचारवान्-सुष्ठु सर्वप्रमाणैरबाधितस्वरूपत्वेन शोभना विचाराः सुविचारास्ते विद्यन्ते यस्य स सुविचारवान्, न पुनरविचारितरमणीयविचारवानिति । अनेनापरदर्शनान्यविचारितरमणीयानीत्यावेदितं मन्तव्यम् ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदुक्तं परैरेव-"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।।१।।" **[मनु० १२/११०] परैर्हि दोषसंभावनयैव स्वमतविचारणा नाद्रियते । यत उक्तम्**-"अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं विचार्यते । निर्दोषं काञ्चन चेत्स्यात्परीक्षाया बिभेति किम् ।।१।।" **इति अत एव जैना जिनमतस्य निर्दूषणतया परीक्षातो निर्भीका एवमुपदिशन्ति । सर्वथा स्वदर्शनपक्षपातं परित्यज्य माध्यस्थ्येनैव युक्तिशतैः सर्वदर्शनानि पुनः पुनर्विचारणीयानि, तेषु च यदेव दर्शनं युक्तियुक्ततयावभासते, यत्र च पूर्वापरविरोधगन्धोऽपि नेक्ष्यते, तदेव विशारदैरादरणीयं नापरमिति । तथा चोक्तम्**-"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।।१।।" ।। लोकतत्त्वनिर्णय - ३८ ।। ।।४४।।

इति श्रीतपोगणनभोङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपादपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्क-रहस्यदीपिकाभिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तौ सांख्यमतरहस्यप्रकाशनो नाम तृतीयोऽधिकारः ।।

टीकाका भावानुवाद :

इस प्रकार से केवल बौद्ध नैयायिकमत का ही नहीं परन्तु सांख्यमत का भी संक्षेप कहा गया । अब जैनमत का संक्षेप कहा जाता है । वह जैनमत किस प्रकार का है ? जैनमत का सर्व प्रमाणो से अबाधित स्वरुप होने के कारण सुंदर विचारोवाला है । परन्तु अविचारित रमणीय बातो से भरा हुआ नहीं है । इसके द्वारा सूचित होता है कि अन्यदर्शन केवल अविचारित रुप में रमणीय है । अर्थात् जैनदर्शन प्रमाण से अबाधित है और अन्यदर्शन प्रमाण से बाधित है ।

अन्यदर्शन अविचारित रमणीय है । क्योंकि दूसरो के द्वारा कहा गया है कि.... ''पुराण, मानवधर्म, मनुस्मृति आदि अंग उपांग सहित वेद तथा आयुर्वेदशास्त्र ये चार आज्ञासिद्ध होने से (परीक्षा के बिना) प्रमाण मान ले और उसमें कोई तर्क न करे । अर्थात् हेतुओ के द्वारा उसका खंडन न करे ।''

अन्यदर्शनो के आचार्यो के द्वारा (अपने मत में) दोषो की संभावना होने से अपने मत की विचारणा के लिए तैयार नहीं होते है । जिससे कहा है कि, ''हमारे द्वारा उनके मत में कुछ असंगतियां कहने योग्य है । परन्तु उनके द्वारा विचारणा करने की तैयारी ही नहीं है । यदि उनका मत निर्दोष है, तो परीक्षा के लिए किस कारण से घबराते है ?''

इसलिए ही जैनमत निर्दोष होने के कारण जैन मत परीक्षा से घबराते नहीं है और परीक्षा करने का उपदेश देते है ।

(इसलिए) सर्वथा स्वदर्शन का पक्षपात छोडकर मध्यस्थपन से सेंकडो युक्तियों के द्वारा सभी दर्शनो को बारबार सोचने चाहिए । विचारणा के अंत में उन दर्शनो में जिस दर्शन की बात युक्तियुक्त लगे और जिसमें

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वापर बातो के विरोध की गंध भी न दिखे, वही मत का पंडितो के द्वारा आदर करना चाहिए, अन्य मत का नहि। इसलिए ही पू.आ.भ. हरिभद्रसूरिजी महाराजा ने कहा है कि...

''वीर परमात्मा में मुजे पक्षपात नहीं है या कपिलादि अन्यदर्शन के प्रणेताओ में द्वेष नहीं है। परन्तु जिन का वचन युक्तियुक्त हो, उसके, वचन का परिग्रह (स्वीकार) करना चाहिए।''

॥ इस तरह से श्री तपागच्छरुपी गगनमण्डप में सूर्यसमान तेजस्वी श्रीदेवेन्द्रसूरि महाराजा के चरण कमलसेवी श्री गुणरत्नसूरि महाराजा विरचित तर्करहस्यदीपिका नाम की षड्दर्शन समुच्चय ग्रंथ की वृत्ति में सांख्यमत के रहस्य को प्रकट करनेवाला तृतीय अधिकार सानुवाद सानंद पूर्ण हुआ ॥

॥ अस्तु ॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्यदर्शन का विशेषार्थ :

छः शास्त्रो में सांख्यशास्त्र एक है। उसके रचयिता महर्षि कपिल है। सांख्य शब्द का अर्थ होता है **ज्ञान**। अर्थात् प्रकृति, पुरुष और उसके भेद का जो यथार्थज्ञान उसका नाम सांख्य। और वैसे ज्ञान का उपाय बतानेवाला जो शास्त्र है, उसका नाम सांख्यशास्त्र कहा जाता है अथवा सांख्यदर्शन कहा जाता है। सांख्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय पुराण, करण और वैदक आदि ग्रंथो में दीखाई देते है। **इस शास्त्र में सर्व जगत का मूल उपादानकारण प्रकृति माना गया है। सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीनगुणो की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है**। भोगार्थी और अज्ञानी जीवात्मा को भोग और ज्ञान होता है। वह हेतु से प्रकृति में विक्षोभ हुआ। इसलिए विक्षुब्धप्रकृति में से एक पदार्थ बना उसका नाम महत्, महत् में से अहंकार, अहंकार में से पांच तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रा में से पाँच महाभूत, पृथ्वी, पानी, वायु, तेज, आकाश। इस अनुसार से चौबीस जड तत्त्व और पच्चीसवां पुरुष तत्त्व, कि जो चेतन है। प्रकृति विकारिणी है और पुरुष अविकारी है। अर्थात् पुरुष कोई चेतनान्तर या विकारान्तर का उपादान कारण नहीं है।

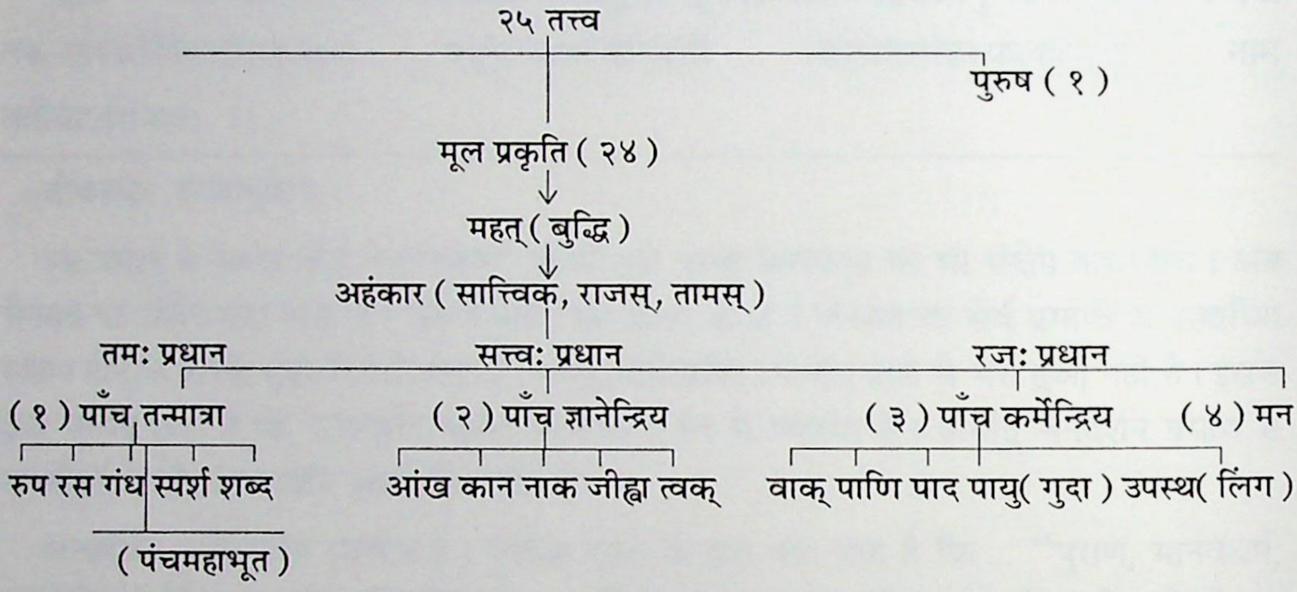

(पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश)

पाँच महाभूतो में तमोगुण ज्यादा है। बुद्धि में सत्त्वगुण ज्यादा है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय में सत्त्वगुण ज्यादा है। कर्मेन्द्रिय में रजोगुण ज्यादा है। सत्त्व और रजस् ये दोनो समान अंश से जिसमें हो और तमस् जिसमें गौण होता है ऐसे सत्त्व-रजस् उभयप्रधान अहंकार का अणु, मन अथवा अंतःकरण रुप में परिणाम को प्राप्त करता है।

पुरुष दो प्रकार के है। एक तो अनादिकर्म के संबंध के कारण अलग-अलग शरीर द्वारा जीवन का उपभोग करता है। इसलिए जीव ऐसी संज्ञा धारण करता है। जीवात्मा एक नहीं असंख्य है। दूसरा ईश्वर है। वह एक ही है। ईश्वर प्रकृति के सर्व सरुप और विरुप परिणाम को अपने सान्निध्य से सतत गतिमान रखता है। इसलिए शास्त्र में लिखा है कि, **"ईश्वरसिद्धेः"** अर्थात् जो प्रत्यक्षादिप्रमाण से हम घटपटादि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थो को जान सकते है, उन प्रमाणो की गति ईश्वर में नहीं है। इसलिए ईश्वर का अभाव नहीं है। परन्तु उसको जानने की सामग्री अलौकिक है। इस कारण से कुछ लोग भ्रम रखते है कि सांख्यशास्त्र निरीश्वरवादि है। समाधि तथा सुषुप्ति में जीवात्मा के स्वरुप की ब्रह्म के साथ तुलना की गई है। ईश्वर को सर्वकर्ता और सर्वज्ञाता भी माना है। परन्तु सांख्यकारिकाकार श्री ईश्वरकृष्ण और सांख्यतत्त्वकौमुदिकार श्री वाचस्पति मिश्र आदि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंडितो ने ईश्वर का अनंगीकार किया है। (स्वीकार नहीं किया है।) परन्तु वह उनका मन्तव्य है। महर्षि कपिलका नहीं है।

विवेकज्ञान प्राप्त करके प्रकृति के सर्वविकारो से मुक्त होना यह जीवात्मा की मुक्ति। रजोगुण का परिणाम ही दुःख है और उसका आघात जीवात्मा को होता है। उस आघात का अत्यंत नाश भी हो सकता है और उसका उपाय विवेकज्ञान से अतिरिक्त (दूसरा कोई) नहीं है। "**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।**" और वह ज्ञान इस शास्त्र में बताये हुए उपायो से मिल सकता है। इसलिए शास्त्र सप्रयोजन है।

सांख्य शब्द का अर्थ : पृथक्करण प्रक्रिया में कुछ लोग (सामान्यतः २५) तत्त्वो की गिनती करते है। इसलिए इस दर्शन का नाम सांख्य (संख्या पर से) पडा ऐसा कुछ लोगो का मानना है। उसके समर्थन में महाभारत का श्लोक भी दिया जाता है। "**संख्या प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। तत्त्वानि च चतुर्विंशति तेन सांख्याः प्रकीर्तिता।**" परन्तु संख्यागिनती इतना ही अर्थ फलित नहीं होता है। परन्तु दूसरा अर्थ '**विचारणा**' ऐसा भी होता है। **तत्त्वो का पूर्ण विचार करनेवाले दर्शन को सांख्यदर्शन कहा जाता है।**

इसके उपरांत कोई वस्तु के विषय में तद्गतदोषो तथा गुणो का विभागीकरण करना उसको भी संख्या कहा जाता है। जैसे कि "**दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः। कश्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्।**" (महाभारत)

परन्तु विशेषतः **सांख्य शब्द आत्मज्ञान के अर्थ में भी इस्तेमाल हुआ दिखाई देता है।** भगवद्गीता में इस अर्थ में एक से ज्यादा बार सांख्य शब्द का प्रयोग हुआ ही है। सांख्यदर्शन का हार्द पुरुष-प्रकृति-विवेक में रहा हुआ है। इसलिए संख्या शब्द सम् + ख्या धातु में से बना हुआ है और उसका अर्थ सम्यक्ख्याति = सम्यक्ज्ञान करना ज्यादा उचित है।

● **तत्त्वविचार :** व्यापक अर्थ में सोचे तो प्रथम परीक्षण से ऐसा लगता है कि समस्त विश्व में मुख्यतः दो तत्त्व अस्तित्व में है। एक जड और दूसरा चेतन। विशेष परीक्षण करने से ये दोनो तत्त्व एक दूसरे से निरपेक्ष है या आश्रित है अथवा तो दोनो में से कोई भी एक ही मूलतत्त्व है और दूसरा तो केवल उसका रुपांतर है। ऐसे प्रश्न भी खडे होंगे। दार्शनिको के मन में ऐसे विचार बारबार आया करते है। और उन्हों ने अपने अपने तरीके से उसका हल ढूंढने के प्रयत्न भी किये है। इन प्रयत्नो का निष्कर्ष नीचे बताये अनुसार हो सकता।

(१) **जड यही पारमार्थिक तत्त्व है।** यह विश्व वैसे भूतो का ही बना हुआ है। उनके मत में भूत में से चैतन्य नाम का गुण पैदा होता है। चैतन्य स्वतंत्र मानने की आवश्यकता नहीं है। यह मत **भूतचैतन्यवादि चार्वाकोका** माना जाता है।

(२) यह जो कुछ है वह चैतन्य के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। चैतन्य में जडत्व संभवित नहीं है। इसलिए जिसको हम जड मानते है वह सही में (वास्तवमें) जड नहीं है। परन्तु चैतन्य का स्वरुप है अथवा तो उस चैतन्य से भिन्न है, ऐसा आभास मात्र ही है। यह विचारधारा **केवलचैतन्यवादि अर्थात् अद्वैतवेदान्ती की है।**

(३) जड और चैतन्य ये दो नितान्त भिन्न तत्त्व है। इसलिए एक के गुणधर्म दूसरे में कभी भी संभवित नहीं हो सकते। इसलिए दो में से किसी भी एक को ही सच्चा तत्त्व मान सकते नहीं है। दोनो का संयोग हो सकेगा, परन्तु सम्मिश्रण नहीं। यह मत - **द्वैतवादि विचारधारा का और उसमें विशेषतः सांख्य का है।**

(४) चाहे जड और चैतन्य दोनो रहे, परन्तु दोनो स्वतंत्र नहीं है। उन दोनो पर भी एक नियामक तत्त्व है। वह तत्त्व यानी **ईश्वर**। यह विचारधारा ईश्वरवादी की है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य विचारधारा की इतनी पश्चादभू देखने के बाद हम सांख्यकारिका के आधार पर उसके मुख्य तत्त्वो को संक्षेप में देखे। उन तत्त्वो का विचार नीचे के चार प्रकार से कर सकते है।

(१) ऐसा तत्त्व कि जो अनादि हो, जिसका कारण न हो, किन्तु स्वयं अन्य का कारण हो - यह तत्त्व यानी **प्रकृति-मूलप्रकृति-अव्यक्त या प्रधान।**

(२) ऐसे तत्त्व, कि जो किसी का कार्य हो और साथ साथ अन्य तत्त्वो का कारण भी हो, इन तत्त्वो को **प्रकृति-विकृति** कहा गया है। वे सात है - महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्रा।

(३) ऐसे तत्त्व, कि जो किसीका केवल कार्य ही हो। अन्य किसी का कारण न हो। इन तत्त्वो को केवल **विकार** कहा जाता है। उसकी संख्या १६ है - मन के साथ ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत।

(४) ऐसा तत्त्व, कि जो किसी का कारण (प्रकृति) भी न हो, और कार्य (विकृति) भी न हो। अर्थात् जो अनादि और अविकारि हो, यह तत्त्व **चैतन्य पुरुष** है।

प्रकृति : विश्व में हम विविध पदार्थो को देखते है। उनके परस्पर के भेद भी देखते है। परन्तु जब वह किस तरह से बने, उसका उत्तरोत्तर क्रम में विचार करते है अर्थात् जब कार्य में से कारण की ओर आगे आगे जाते है तब भेद विलीन हो जाते है। जैसे कि, विविध प्रकार के घडे, तवे इत्यादि के कारण का विचार करे तो ये सब मिट्टी तक पहुँचते हुए पिगल जाते है। और अंत में अदृश्य हो जाते है। एक सूक्ष्म स्थिति प्राप्त होती है। उससे आगे बढा नहि जा सकता। उसको व्यक्तदशा में प्राप्त भी नहीं किया जा सकता। **वह मूलतत्त्व, यही अव्यक्त प्रकृति है।** इस अव्यक्त का स्वीकार किये बिना चलेगा ही नहीं।

इस तरह से प्रकृति सर्व का अहेतुमत् कारण है। इसलिए वह **सर्वव्यापी** और **अनंत** है। उपरांत, वह नित्य, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, निरवयव, स्वतंत्र, त्रिगुण, विषय, सामान्य, अचेतन और सर्वधर्मि भी है। **प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नोक्त दलीले दी जाती है।**

(१) जगत के सभी पदार्थ परिमित है, इसलिए उसका कोई कारण होगा।

(२) भिन्न-भिन्न लगते तत्त्वो को एक सूत्र में बांधनेवाला, एक समन्वय करनेवाला तत्त्व भी होना चाहिए।

(३) शेषतत्त्वो में होता हुआ परिणमन का आधार, उसके मूलस्त्रोत की शक्ति ही होनी चाहिए।

(४) कार्य-कारण संबंध के आधार से भी आखिर में मूलकारण तक पहुँचना चाहिए। उपरांत,

(५) कार्य अंततोगत्वा अपने मूल कारण में ही लीन होगा।

प्रकृति के विकार अनेक है। परन्तु प्रकृति एक है। अव्यक्त प्रकृति में से प्रकट हुई व्यक्तसृष्टि प्रकृति के साथ कुछ बातो में समान होने पर भी बहोत प्रकार से उससे अलग भी पडती है। यह समग्रसृष्टि का आधारस्तंभ प्रकृति ही है। कोई चैतन्य जड में परिणमित नहीं होता।

यह प्रकृति आदि कारण होने से मूलविकृति - सूक्ष्म होने से अव्यक्त और सर्वकार्यो का आधार होने से प्रधान कही जाती है। जैसे वह व्यक्ति से भिन्न है, वैसे पुरुष से भी भिन्न है। पुरुष चेतन है। प्रकृति अचेतन है। वह दृश्य है, तो पुरुष द्रष्टा है। वह सगुण है, तो पुरुष निर्गुण है। पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए ही वह कार्य करती है।

स्वरुप की दृष्टि से प्रकृति यह सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीन गुणो की साम्यावस्था ही है। ये तीन गुणो के वैषम्य के कारण प्रकृति में से सृष्टि-सर्जन होता है। यह सर्जन प्रकृतिसदृश या असदृश होता है। **(तच्च कार्यं प्रकृतिविरुपं प्रकृतेरसदृशम्।)** (गौ.का.८)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति में यह गुण चंचल होता है, वह स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए क्रिया तो आत्मा ही करेगा। इसलिए प्रकृति में परिणाम सतत चलता रहता है। इसलिए ही तो प्रकृति को स्वत: परिणामिनी कहा जाता है। साम्यावस्था में गुणो में वैषम्य नहीं होता है, इसलिए यह परिणाम वही का वही होता है। उसको सदृशपरिणाम कहा जाता है। वैषम्यावस्था में वह परिणाम भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसलिए उसको असदृश कहा जाता है। **प्रकृति की साम्यावस्था में जो क्षोभ होता है वह पुरुष के विशिष्टसंयोग के कारण और पुरुष के लिए होता है। इसलिए प्रकृति में से महत्, अहंकार इत्यादिक जो सर्गो का उद्भव होता है, उसके लिए अन्यकारण की आवश्यकता रहती नहीं है। प्रकृति के ऐसे स्वरुप को, वह पुरुष से भिन्न है, ऐसा सच्चे तरीके से समजनेवाले के लिए प्रकृति की लीला शांत हो जाती है।**

गुणविचार : प्रकृति का स्वरुप सत्त्वादि तीन की साम्यावस्था ही है, ऐसा हमने देखा। यानि कि ये तीन गुणो की कल्पना और उसका निरुपण यह सांख्यदर्शन का विशिष्ट प्रदान है। सर्वभौतिक और मानसिक तत्त्वो का चरमकारण (अंतिम कारण) ये तीन गुण ही है। चाहे वे गुण कहे जाये-परन्तु न्याय, वैशेषिको का गुणो के साथ उसका जरा भी सादृश्य नहीं है। **विज्ञान भिक्षु के मत अनुसार ये सत्त्वादि गुण सूक्ष्मद्रव्य है, क्योंकि उनको गुण होते है। पुरुष के प्रयोजनो के लिए उनकी प्रवृत्ति होने से, उस संदर्भ में गौण होने से उसको गुण कहे गये है अथवा प्रकृति की रचना में वे सूत्र (= गुण = धागे) के रुप में रहे हुए है। इसलिए वह गुण है अथवा पुरुषो को सांसारिकता में बांध के रखते है, इसलिए भी उनको गुण कहा जाता है। वे गुण विकारो के द्वारा अनुमान से सिद्ध किये जाते है। वे इन्द्रियगम्य नहीं है।** गुणो का क्षेत्र व्यापक है। इसलिए केवल भौतिकरचना के लिए अथवा तो केवल मानसिक अवस्था के द्योतक के रुप में ही उसका निरुपण करना अपूर्ण रहेगा। उसका व्याप दोनो क्षेत्र में है।

सृष्टि वास्तविक है। केवल शून्य या आभास नहीं है। उसके रुप पल पल में प्रकट होते है और इसलिए प्रत्येक पदार्थ अपनी वस्तु लक्षित द्रष्टा के अनुभव में लाता है। उसमें रहा हुआ निश्चित जत्था वह अपनी सीमाओमें बंधकर स्थूल रुपमें दिखता है। तब उसको तात्त्विक कहा जाता है। परन्तु अनुभव उसको बताते है कि यह स्थूलता स्थिर नहीं है। समय और संजोग उसमें धीरे से या जल्दी से परिवर्तन लाया करते है। यह परिवर्तन वह रजोगुण है। यह स्थूल जत्था और परिवर्तन वस्तु के अस्तित्व के संदर्भ में है। इसलिए उन दोनों के पीछे वस्तु की सत्ता का भी स्वीकार करना पडेगा। और उसका नाम है सत्त्वगुण।

उपरांत किसी ने कहा है कि, तमस्, रजस् और सत्त्वगुणो को इसी संदर्भ में ही अनुक्रम में परिमिति, गति और व्यवस्थित कहे है। **सत्त्व को लघु और प्रकाशक, रजस् को उपष्टम्भक और चल तथा तमस् को गुरूवरण, क्यों कहा है वह इससे स्पष्ट होता है।**

परन्तु गुणो का साम्राज्य यहाँ ही समाप्त नहीं होता। **मनमें उठते विचार या वृत्ति भी त्रिगुण की आवृत्ति है। भौतिकसृष्टि और मानसिकसृष्टि ये दोनो, इस तीन गुण के विविध तारतम्य भरे क्रमचय या उपचय के कारण ही संभव बनती है।** भौतिकसृष्टि के कोई भी पदार्थ ये तीन गुणो का बना हुआ है। इसलिए वह तीन प्रकार की वृत्ति उत्पन्न कर सकता है। सुखकी, दु:खकी और मोहकी। **एक सुन्दर स्त्री प्रियतम के मन में सुखकी, सपत्नी के मन में दु:खकी और अन्य किसी निष्फल प्रेमी के मन में मोहकी वृत्ति उत्पन्न कर सकती है। इसलिए ही सत्त्व, रजस् और तमस् को क्रमश: प्रीति, अप्रीति और विषादात्मक कहा है।**

ये तीन गुण आंतरिक जगत और बाह्य जगत की संवादिता का सर्जन करते है। वे साथ ही होते है। उनका स्वत्व वे संभालते है। परन्तु कोई भी गुण बिलकुल अकेला ही रहता नहीं है। **वे एकदूसरे का अभिभव**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकते है। यानी कि एकगुण बाकी के दो से विशेष प्रमाण में प्रकट हो सकता है, यदि ऐसा होगा तो ही वैषम्य हुआ माना जायेगा और तो ही सर्गप्रक्रिया चल सकेगी। परंतु साथ में वे अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन और अन्योन्यमिथुन वृत्तिवाले भी है। उपरी तौर से वे परस्परविरोधी लगते है। परन्तु उनका ध्येय एक ही है (पुरुषार्थ) और इसलिए वे साथ रहकर अपने अपने तरीके से कार्य कर सकता है। जैसे वात, पित और कफ तीनो शरीर में साथ रहकर कार्य करते है वैसे।

ये तीनो गुण अनेक है। एक सत्त्वगुण, एक रजस्गुण और एक तमोगुण, ऐसा नहीं है वे अनेक है। इसलिए कार्य में एकसाथ वैविध्य संभवित हो सकता है। वे स्वयं कम-ज्यादा प्रमाण में अभिभूत होता है। परन्तु स्वरुप को छोडते नहीं है। कोई भी गुण दूसरे गुण में परिणमित नहीं होता है। सत्त्व हमेशां सत्त्व ही रहता है और वैसे बाकी के दो भी अपना अस्तित्व संभाल के रखते है और उसका नाश भी नहीं है और उसको उत्पन्न भी नहीं किया जा सकता। और जब साम्यावस्था प्राप्त करता है तब उसे प्रकृति कहा जाता है।

● **सत्कार्यवाद :** स्थूल दिखते कार्य के कारण की तलाश करते करते सूक्ष्म और अव्यक्त कारण तक सांख्य दर्शन पहुंचते है। इस कारण की तलाश के पीछे दो मान्यता का स्वीकार रहा हुआ है।

(१) कार्य और कारण के बीच केवल अवस्थाभेद ही है। वास्तव में तो कार्य यह कारण का ही स्थूलरुप है। इस तरह से दोनो में तादात्म्य है और (२) कार्य यह नयी वस्तु नहीं है। शून्यमें से कुछ भी बनाया नहीं जा सकता। इतना ही नहीं परन्तु किसी भी वस्तु में से भी उससे बिलकुल भिन्न गुणधर्मवाली वस्तु भी उत्पन्न नहीं की जा सकती। जैसे कार्य की उत्पत्ति नहीं है, वैसे कार्य आकस्मिक भी नहीं है। कारण ही कार्यरुप में आविर्भाव पाता है। सांख्य की इस विचारधारा को सत्कार्यवाद माना जाता है। सत्कार्यवाद को सिद्ध करते हुए पाँच कारण है। सांख्यकारिका-९ में कहा है कि....

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

अर्थात् कार्य सत् (सचमुच अस्तित्वमें) है, क्योंकि (१) असत् उत्पन्न हो नहीं सकता। (२) कारण के साथ (कार्यका) निश्चित प्रकार का संबंध होता है। (३) प्रत्येक कार्य प्रत्येक कारण में से उत्पन्न नहीं होता है। (४) जो उत्पन्न करने के लिए कारण समर्थ हो, उसको ही वह उत्पन्न कर सकेगा। (५) कार्य, कारण का ही स्वभाव धारण करता है।

सांख्यदर्शन अनुसार से कार्य हमेशां कारण में अप्रकटरुप से रहा हुआ ही होता है। वह बिलकुल नया ही उत्पन्न नहीं हुआ है। वह जब कारण में से प्रकट हुआ है, ऐसा लगता है। तब उसको कार्य ऐसा नाम दिया जाता है। इस प्रकार कार्य उसके कारण में पहले से ही सत् था। इसलिए उसके इस सिद्धांत "**सत्कार्यवाद**" कहा जाता है। न्याय-वैशेषिको ने इससे अलग माना है। उनके मत अनुसार कार्य पहले था ही नहीं (असत्) परंतु पीछे से कारण में से उत्पन्न हुआ है। उनके इस सिद्धांत को असत्कार्यवाद कहा जाता है।

जब कि बौद्धो के मत अनुसार से असत् में से सत् उत्पन्न होता है। वेदान्तमतानुसार 'कारण ही सत् है'। कार्य तो केवल आभास है। कारण के विवर्त है। बौद्धो, वेदान्त, न्याय-वैशेषिक और सांख्यदर्शन के मत अनुक्रम में इस अनुसार से है :

"असतः सज्जायते इति, "एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्" **इत्यपरे। अन्ये तु** "सतोऽसज्जायते इति" "सतः सज्जायते" इति **वृद्धाः**।

कार्य और कारण दोनो सत् है। इतना ही नहीं परन्तु 'सत्' ऐसा कार्य "सत्" ऐसे कारण में रहा हुआ भी है। ऐसा निम्नोक्त पाँच कारणो से सिद्ध किया जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) **असद्-अकरणात् :** जिसका संपूर्ण अभाव हो (असत्), वह कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता। उत्पत्ति से पहले भी कार्य, कारण में कोई न कोई स्वरुप में अस्तित्व रखता ही होगा। कारण में विद्यमान कार्य की ही अभिव्यक्ति होती है। अविद्यमान कार्य की उत्पत्ति हो सकती नहीं है। जैसे कि, नीलरुप को हजार उपाय से भी पीला नहीं किया जा सकता। क्योंकि नील में पीत का संपूर्ण अभाव है। अथवा तो रेत में से तेल बनाया नहीं जा सकता।

(२) **उपादानग्रहणात् :** किसी निश्चित कार्य की उत्पत्ति के लिए किसी निश्चित उपादान का आधार लिया जाता है। जैसे कि, दही प्राप्त करने के लिए दूध का ही उपयोग होता है, पानी का उपयोग कोई करता नहीं है। अथवा वस्त्र बनाने की इच्छावाले लोग तंतुओ को ही लेते है। यदि कार्य अपने कारण में न होता, तो कुछ खास वस्तु के उत्पादन के लिए कुछ खास ही वस्तु लेने की जरुरत ही नहीं रहती। तो फिर मिट्टी में से भी वस्त्र बनाया जा सकता और रेत में से तेल पाया जा सकता। परन्तु ऐसा तो नहीं है।

(३) **सर्वसम्भवाभावात् :** कोई भी पदार्थ अन्य किसी भी पदार्थ में से नहीं बन सकता। यदि कार्य और कारण के बीच किसी संबंध का स्वीकार न किया जाये तो फिर कोई भी वस्तु, दूसरी किसी भी वस्तु में से बन सकेगी। जैसे कि घास, धूल या रेत में से सुवर्ण नहीं बन सकता। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति निश्चित मर्यादा और नियमो के अधीन रहकर ही होती है। और इस मर्यादा का कारण यही है कि, कार्य कारण के साथ पहले से ही सम्बद्ध है।

(४) **शक्तस्य शक्यकरणात् :** जैसे कोई भी कार्य, कोई भी कारण में से उत्पन्न नहीं हो सकता। वैसे कोई भी कारण कोई भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। परन्तु प्रत्येक कारण कुछ खास ही कार्य उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। उदा. सूर्य सूर्यकान्तमणि में से अग्नि उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, परन्तु वह चन्द्रकान्तमणि में से शीतल जल उत्पन्न नहीं कर सकता है।

(५) **कारणभावात् :** कार्य, कारण का ही स्वभाव रखता है। कार्य कारण से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। कारण से नितान्त भिन्न कार्य, उसी ही कारण में से उत्पन्न नहीं होता है। सोने की अंगूठी सुवर्ण (सोने) के सिवा अन्य किसी पदार्थ में से नहीं बन सकती।

उपर के पाँच कारण ऐसा बताते है कि, कार्य पहले से ही सूक्ष्मरुप से अपने कारण में विद्यमान होता है। कारण के प्रमुख गुणधर्म उसमें पहले ही होते है। योग्य समय आने पर कार्य स्वकारण में से कार्य रुप में प्रकट होता है।

अद्वैतवेदान्त मानता है कि कार्य कारण में पहले अवस्थित होता है, वह सच है। परन्तु कार्य कारण से भिन्न भी है और फिर सत्य भी है, ऐसा मानना योग्य नहीं है। कारण वही सत्य है, जो कार्य जैसा लगता है, वह कारण का परिणाम नहीं है परन्तु आभास है। क्योंकि समग्र विश्व का कारण एक ही है। वह ब्रह्म है। ब्रह्म के सिवा ओर कुछ भी सत् नहीं है। ब्रह्म में से नाम-रुपात्मक जगत् उत्पन्न होता दिखाई देता है। वह आभास है - भ्रम है - विवर्त है - रज्जु में (डोरमें) सर्प का (सांपका) विवर्त होता है। वैसे ही यहाँ समजना चाहिए। नैयायिको ने सत्कार्यवाद का विरोध करके असत्कार्यवाद को यथार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसका खंडन श्री वाचस्पतिमिश्रने ९वीं कारिका की कौमुदी में किया है। **उसका सार ऐसा निकाला जा सकता है कि मूलतत्त्व की दृष्टि से कार्य और कारण के बीच तादात्म्य होना आवश्यक है। परन्तु अवस्था और प्रयोजन की दृष्टि से उन दोनो के बीच भिन्नता भी है। फिर भी दोनो नितान्त भिन्न है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।** घडे से पानी भरा जा सकता है, मिट्टी के जत्थे से नहीं परन्तु इसलिए घडा और मिट्टी भिन्न है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सत्कार्यवाद सांख्य की प्रकृति और उसमें से परिणमित होती सृष्टि की सर्जन प्रक्रिया का आधार है। मूल प्रकृति में से परिणमित व्यक्त, प्रकृति के साथ तात्त्विकसाम्य भी रखता है। और आंशीक वैषम्य भी रखता है। इतना ही नहीं परन्तु व्यक्त के आधार से अव्यक्त ऐसी मूलप्रकृति का अस्तित्व भी सत्कार्यवाद के आधार से ही सिद्ध हो सकता है। वैसे ही प्रकृति से नितान्त भिन्न ऐसा पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करने में भी सत्कार्यवाद ही कारणभूत है। क्योंकि, सत्कार्यवाद के अनुसार चेतन या जड एकदूसरे का परिणाम नहीं हो सकते।

● **सृष्टिविकास :** मूल प्रकृति-तीन गुण और सत्कार्यवाद के सिद्धांतो के आधार पे ही सांख्यदर्शन में सृष्टिविकास का निरुपण किया गया है। प्रारंभ में प्रकृति त्रिगुण की साम्यावस्था में थी। इसलिए यह विश्व अस्तित्व में आया नहीं था। बाद में पुरुष के सामीप्य से उसमें क्षोभ उत्पन्न हुआ और तीन गुणो में वैषम्य उत्पन्न हुआ। और इसलिए ही इस विश्वसर्जन का आरंभ हुआ। प्रलय काल में सब तत्त्व इसके मूल कारण में मिल जाते है और प्रकृति में साम्यावस्था प्रवर्तित होती है। तब भी चंचल रजोगण परिणमन तो किया ही करता है। परन्तु सदृशपरिणमन होने से स्थिति यथावत् ही रहती है।

सर्ग प्रक्रिया में गुणो की अभिभावकप्रवृत्ति प्रधान होती है। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक और स्वतंत्र होती है। उसमें किसी बाध्यतत्त्व का मार्गदर्शन की या नियमन की जरुरत नहीं पडती है। तो भी यह प्रक्रिया जैसे तैसे नहीं है परन्तु उसके निश्चित नियमो के आधार से होती है। इस सर्गप्रक्रिया में अव्यक्त, व्यक्त में आविर्भाव प्राप्त करता है। अविशेष विशेष में, अलिंग लिंग में और सदृश विसदृश में परिणमित होता है।

सांख्यदर्शन अनुसार सर्ग प्रक्रिया में अलग-अलग तत्त्वो का आविर्भाव योग्य क्रम में होता है। स्थूल द्रव्य में से दूसरे अनेक स्थूलद्रव्य हो सकेंगे। मिट्टी की पानी के या अन्य वैसे पदार्थ के संयोजन से दूसरी अनेक वस्तुएँ बनाई जा सकेगी परन्तु उसका समावेश सर्गप्रक्रिया में नहीं होता है। पंचमहाभूत, यह सांख्य मत के अनुसार सर्गप्रक्रिया की आखरी कड़ी है।

साम्यावस्था में क्षोभ होने से प्रकृति के सात्त्विक अँश में से सर्वप्रथम महत् या बुद्धितत्त्व का आविर्भाव होता है। बुद्धि का विशेषलक्षण अध्यवसाय (निश्चय) है। वह सात्त्विक होने से पुरुष का प्रतिबिंब ग्रहण कर सकती है। सभी बौद्धिक प्रक्रिया का आधार बुद्धि है। मन और इन्द्रियाँ भी बुद्धि के लिए ही कार्य करती है।

बुद्धि में सत्त्वगुण मुख्य है। रजस् और तमस् गौण है। परन्तु इन गुणो में परिणमन होने से बाद में उसमें अहंकारतत्त्व का आविर्भाव होता है। त्रिगुण के कारण से सात्त्विक (वैकारिक), राजस् (तैजस्) और तामस (भूतादि) ऐसे तीन प्रकार का होता है। अभिमान यह अहंकार का लक्षण है । बुद्धि में जब इच्छाशक्ति प्रवेश करती है तब उसको ही यह अहंकार कहा जाता है। अहंकार अकर्ता पुरुष में कर्तापन के अध्यवसाय का आरोपण करता है। सात्त्विक अहंकार में से पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन आविर्भाव पाता है और तामस यानी कि भूतादि अहंकार में से पाँच तन्मात्राए आविर्भाव पाती है। राजस् अहंकार दोनो में सहाय करता है। यह मत श्री वाचस्पति मिश्र का है। परन्तु श्री विज्ञानभिक्षु जरा अलग मानते है। उनके मतानुसार सात्त्विक अहंकार में से मन और बाकी दस इन्द्रियाँ राजस् अहंकार में से आविर्भाव पाती है। श्री वाचस्पति और श्री विज्ञानभिक्षु इन दोनों के मत अनुसार तन्मात्राएं तो तामस् अहंकार में से आविर्भाव पाती है। परन्तु योगसूत्र उपर के व्यासभाष्य अनुसार अहंकार और पांच तन्मात्राएं, ये छः सविशेष तत्त्व है। और महत् में से उद्भावित होते है।

शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राओ में से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी, ये पाँच महाभूतो का आविर्भाव होता है। पंचभूत विशेष कहे जाते है। क्योंकि, उनको विशेषगुण है। ये पाँचभूतो में से प्रत्येक भूत एक तन्मात्रा में से उद्भवित हुआ है या एक से ज्यादा (विशेष) तन्मात्राओ में से ? इस विषय में अलग-अलग मत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्तित है। (वह आगे बताया जायेगा।)

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश के सिवा चार महाभूत उसके सूक्ष्मपरमाणुओ में से उत्पन्न होते है। प्रत्येक द्रव्य के परमाणु अलग-अलग होते है। उपरांत परमाणुओ में ही उस उस द्रव्य के विशेषगुण भी रहे हुए है। सांख्यदर्शन का मत इससे अलग है। वह सरलता से समजा जा सकता है। स्थूल महाभूत परमाणु रुप में होते है। परन्तु वे अनादि या स्वतंत्र नहीं है। उनका उद्भव तन्मात्राओ में से होता है। सांख्य में जिसको तन्मात्राएं कही है, उसका शायद न्याय-वैशेषिक में गुण के साथ साम्य होगा। परन्तु नैयायिको-वैशेषिको के मतानुसार द्रव्य में रुप, रस इत्यादिक उत्पन्न होते है। तब इससे विपरित सांख्यदर्शन में उन तन्मात्राओ में से भूतो का उद्भव होता है।

भूतो में से स्थूलभौतिक पदार्थ बनते है। शरीर भी उसमें से ही बनता है। शरीर उष्मज (जन्तु इत्यादि), अंडज (पक्षी इत्यादि), जरायुज (मनुष्य इत्यादि), उद्भिज् (वनस्पति), संकल्पज और सांसद्धिक, ऐसे छः प्रकार के है।

अन्यदर्शनो में जिसको जीवशक्ति मानी जाती है। वह प्राण सांख्यदर्शन में कोई अलग तत्त्व नहीं है। परन्तु मन, बुद्धि और अहंकार ये अंतःकरण की ही वृत्तियां है, ये तीन इन्द्रियां और तन्मात्रा साथ मिलकर अठारह तत्त्वो का एक लिंग शरीर बनाती है - सृजन करती है। भौतिकदेह के मृत्यु के साथ लिंग शरीर उससे अलग होकर विवेकख्याति नहीं होती है, तब तक नये शरीरो को धारण करता रहता है।

दिशा और काल भी सांख्यदर्शन में स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। परन्तु आकाश की उपाधि मात्र है।

इस तरह से उपर सांख्यदृष्टि से जो सर्गका वर्णन किया, उस सर्ग को दो प्रकार का माना जाता है। भावसर्ग और प्रत्ययसर्ग (= बुद्धिसर्ग)। यह सर्ग बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियां मिलकर तेरह (१३) कारणो का बना हुआ है और धर्म-अधर्म इत्यादिक आठ भावो के अनुसार उसका नियमन होता है और लिंगसर्ग या तन्मात्रसर्ग, उसमें तन्मात्र और भूतो का समावेश होता है।

प्रकृत्ति की इस सर्गप्रक्रिया को **तत्त्वान्तरप्रक्रिया** भी कहा जाता है। उसमें प्रकृति सहित २४ तत्त्वो का अन्तर्भाव किया जाता है। उसमें बुद्धि, अहंकार और तन्मात्रा **प्रकृतिविकृति** और ग्यारह (११) इन्द्रियाँ और पंचभूत ये सोलह (१६) **विकार** कहे जाते है। (सृष्टि के विकासक्रम का चार्ट आगे दिया हुआ है।)

● **पुरुष :** अचेतन ऐसी प्रकृति की सर्गलीला जानने के बाद सहज ऐसा प्रश्न होता है कि, यह सब क्यों होता है? प्रकृति स्वयं जड है। उसको इसमें किसी भी प्रकार का अनुभव हो, यह संभव नहीं है। वैसे भी यह सब करनेवाला कोई अन्य नियामकतत्त्व है, ऐसा तो सांख्यदर्शन मानता नहीं है। तो उसको क्या अकस्मात् मान ले ? सांख्यदर्शन कहता है कि, यह सृष्टिव्यापार केवल अकस्मात ही है, ऐसा नहीं है। वह किसी निश्चित प्रयोजन से होता है। और वह प्रयोजन है पुरुष के भोग और अपवर्ग।

पुरुष के लिए प्रकृति यह सर्गव्यापार की क्रिया करती है। **पुरुष प्रकृति से नितान्त विपरीत है। वह चैतन्य है। निर्गुण है। विवेकी है। प्रकृति प्रसवधर्मि है। पुरुष अप्रसवधर्मि है। प्रकृति सक्रिय है। पुरुष निष्क्रिय है। प्रकृति विकारी है। पुरुष अविकारी है। इसलिए वह कूटस्थ नित्य है।**

प्रकृति की लीला का वह केवल साक्षी या भोक्ता ही है। वह शुद्ध चैतन्य है। वह केवल वही है। सांख्यो के पुरुष में किसी भी गुण का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। पल पल में परिणमन पाते जडविश्व के सामने वह एक निश्चल अविकारी तत्त्व के रुप में रहता है। उसका प्रतिबिंब जडबुद्धि को प्रकाशित करता है। चेतनवती लगती बुद्धि ही बाद में क्रियावती बनती है। मानव ज्ञान के सर्व प्रकार इस तरह से पुरुष के कारण ही संभव होते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि आगे कारिका के अर्थ के वर्णन में आयेगा। पुरुष एक नहीं, अनेक है। सर्वपुरुष अनंत है। अविकारी, सर्वव्यापी और नित्य है। पुरुष बहुत्व के लिए दलिल इस अनुसार से है।

जन्म, मरण, ज्ञान इत्यादिक विषयो में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बीच अंतर होता है। जीवो में एक साथ एक ही प्रवृत्ति होती दिखाई नहीं देती। उपरांत जीवात्माओ में तारतम्य दिखाई देता है। इसलिए पुरुष अनेक है। विशेष सांख्यकारिका के वर्णन में आगे बताया गया है।

सांख्य का यह पुरुषबहुत्ववाद उसके द्वैतवाद के अनुबंध में है। बुद्धितत्त्व अनेक है। उसके उपर पडते पुरुष के प्रतिबिंब से वैविध्य उद्भवित होता है। यह वैविध्य पुरुष की अनेकता से संभवित होता है।

● **पुरुष-प्रकृति संयोग :** पुरुष-प्रकृति संयोग यह बहुचर्चित समस्या बन गई है। अचेतन प्रकृति में वैषम्य आया और सृष्टिसर्जन हुआ वह पुरुष के लिए शायद हुआ होगा। परन्तु किस तरह से संभव हुआ, यह भी एक प्रश्न है। अचेतन अपने आप ही प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। पुरुष का सामीप्य जड को चेतन नहीं बना सकता। सांख्य कारिका-२० में कहा गया है कि,

''तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥

और इसलिए उसके (पुरुष के) संयोग के कारण अचेतन (महदादि) लिंग सचेतन जैसे लगता है और गुणो में कर्तृत्व होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता जैसा लगता है।

भावार्थ : हमने देखा कि, पुरुष और प्रकृति तात्त्विक पद्धति से परस्पर अत्यन्य भिन्न है। एक चेतन है तो अन्य जड है, एक निर्गुण - अकर्ता और केवल द्रष्टा है, तो अन्य त्रिगुणात्मक, विकारशील और इसलिए अन्य के दर्शन का विषय है। ये दोनो परस्पर किसी भी तरह से संबंध ही रखते नहीं है। हमको होनेवाले सृष्टि के अनुभवो में इस उभय का सहयोग है। प्रकृति चाहे जड हो फिर भी वह एक महत्त्व का तत्त्व है। सत्त्व (बुद्धि) का धर्म है प्रकाश। परन्तु यह प्रकाश स्वयंभू नहीं है। वह पुरुष के सान्निध्य से प्रकाशित होता है और फिर प्रकाश का परावर्तन करता है। यह परावर्तित प्रकाश प्रकृति का है, वैसा आभास होता है और इसलिए वह अचेतन होने पर भी जैसे कि चेतना हो ऐसा लगता है। **(तत् संयोगात् अचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्)** प्रकृति में रजोगुण है। वह चल है प्रवृतिशील है। रजस् के कारण प्रकृत्ति में क्रिया होती है और इसलिए गुण ही कर्ता है। परन्तु यह क्रिया भी पुरुष के सान्निध्य में होती है। इसलिए अकर्ता होने पर भी पुरुष जैसे कि कर्ता है, ऐसी भ्रान्ति होती है। पुरुष को भ्रान्ति से कर्ता माना जाता है। यह समजाने के लिए व्याख्याकारोने अलग-अलग दृष्टांत दीये है।

''यथा अचौरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते। यथाऽग्निसंयोगात् लोहं मणिरित्युच्यते। अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः संस्पृष्टः शीतो भवति; अग्निना संयुक्तो उष्णो भवति।''

तत्त्ववैशारदी टीका में पं. श्री वाचस्पति मिश्र समजाते है कि सन्निधान से चित्त का प्रतिबिंब बुद्धितत्त्व में पडता है। और इस वजह से बुद्धिवृत्ति चेतन में परिणमित होती है। पुरुष अकर्ता है। परन्तु प्रकृति में (बुद्धिमें) प्रतिबिंब पाडने की योग्यता के कारण वह भी ज्ञाता या भोक्ता हो ऐसा लगता है।

विज्ञानभिक्षु द्विविध छायापत्ति का सिद्धांत बताते है। (पेश करते है।) इस अनुसार से पुरुष की छाया जब बुद्धि में पडती है, तब बुद्धि की और उसके द्वारा प्रकृति की छाया भी पुरुष में पडती है और इसलिए बुद्धि जैसे चैतन्य को महसूस करती हुए लगती है, वैसे पुरुष भी भोक्ता है, ऐसा लगता है।

इसके संदर्भ में प्राचीन सांख्याचार्य आसूरि का मत नीचे के श्लोक में दिखाई देता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते । प्रतिबिम्बोदय: स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

अर्थात् पुरुष असंग है, तो भी चंद्र का प्रतिबिंब जल में पडता है, तब जल के कारण वह भी स्वच्छ या चंचल लगता है। उसी तरह से बुद्धि के दृक्रुप में परिणत होने से वह पुरुष भोग भोगता है, ऐसा लगता है।

स्याद्वाद मंजरी में श्री विन्ध्यवास का श्लोक दिया गया है। वह नीचे बताये अनुसार से है।

''पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मन: करोति सान्निध्यादुपाधि: स्फटिकं यथा ॥

अर्थात् पुरुष अविकारी है। परन्तु स्फटिक में जैसे रंगीन पुष्प का प्रतिबिंब पडने से वह भी रंगीन लगता है। वैसे मन (बुद्धि) सान्निध्य के कारण पुरुष में प्रतिबिंबित होता है।

इस तरह से पुरुष और प्रकृति का संबंध अलग अलग तरीके से समजाया गया है। एकका दूसरे में या उभय का एकदूसरे में प्रतिबिंब पडता है और इसलिए अचेतन को चेतनका और चेतन को अचेतन के धर्मो का अध्यास होता है। ऐसा माना गया है।

(२) **प्रकृति : ''प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥''** पातंजल योगदर्शन २-१८ ॥ अर्थात् पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए भूत और इन्द्रिय रुप में परिणाम पाता हुआ प्रकाश, क्रिया और स्थितिरुप स्वभाववाले सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीन गुणरुप प्रकृति **दृश्य** है। (पुरुष द्रष्टा है।)

अर्थात् प्रकाशस्वभाववाला **सत्त्व** है। क्रियास्वभाववाला **रजस्** है और स्थितिस्वभाववाला **तमस्** है।

इसलिए ये समस्तपदो का यह अर्थ हुआ कि, सत्त्व, रजस् और तमस् रुप इन द्रव्यो के प्रकाशादि गुण सर्ग के समय उद्‌भूत रुप में होते है। परन्तु प्रलय के समय उस रुप में रहते नहीं है।

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश ये पाँच स्थूलभूत है और गंधतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा, रुपतन्मात्रा, ये पांच सूक्ष्मभूत है। भूत कुल मिलाके १० है।

इन्द्रिय भी स्थूल और सूक्ष्मरुप में है। वहाँ स्थूल इन्द्रिय में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन इस तरह ११ का ग्रहण करना। और सूक्ष्मइन्द्रिय में महद् (बुद्धि) और अहंकार का ग्रहण करना।

सही में देखते हुए भूत और इन्द्रिय, ये सत्त्वादि द्रव्य के कार्यरुप है। तथापि इस शास्त्र में सत्कार्यवाद का सिद्धांत है। इसलिए कार्य का कारण से वस्तुत: अभेद ही माना है। इस नियम से भूत, इन्द्रियरुप परिणाम (कार्य) अपने परिणामीरुप (कारणरुप) गुणत्रय से अतिरिक्त नहीं है। परन्तु वही रुप से ही है। यह बताने के लिए इस स्थान पे भूत और इन्द्रिय को उस गुणत्रय का स्वरुप ही कहा है।

एक ऐसा नियम है कि जो गुण कार्य में हो वे उसके उपादानकारण में अवश्य होने चाहिए। यानी कि जो गुणवाला कार्य हो वह गुणवाला उसका कारण होना चाहिए। भूत और इन्द्रिय में स्पष्ट रुप से प्रकाश, किया और स्थिति ये तीन गुण दिखते है। इसलिए इस नियम के अनुसार ये गुणोवाले भूत और इन्द्रियरुप जड कार्यो का सद्‌भाव तब हो सकेगा कि, जब उसके कारण में ये तीन गुण हो, इसलिए कार्यलिंगी अनुमान से प्रकाशादि धर्मवाले कारण की अर्थात् सत्त्वादि त्रिगुणात्मक प्रकृत्ति की सिद्धि होती है।

महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी आदि के स्थूल अणु पर्यन्त जो परिणाम पाता है तथा जिसके ये परिणाम द्रष्टा के भोग और अपवर्गरुप प्रयोजन को लेकर होता है, वे सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण वह दृश्य-प्रकृति है।

शंका : ये भोग और अपवर्ग तो बुद्धि के वृत्तिरुप है। इसलिए बुद्धि में रहे हुए है। तो फिर पुरुष के ये दो प्रयोजन किस तरह से कहे जायेंगे ? और इसलिए यदि सत्त्वादि द्रव्य इस प्रयोजन के लिए महत् इत्यादि रुप में परिणाम प्राप्त करते हो, तो फिर इस द्रव्य को इस शास्त्र में स्वतंत्र माना गया है वह अयोग्य सिद्ध होगा ?

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान : सही में देखे तो भोग और अपवर्ग बुद्धि से ही किये हुए है। तथापि उपचार से पुरुषनिष्ठ है। ऐसा कहा जाता है। जैसे लश्कर से किया गया हुआ जय-पराजय, लश्कर में ही रहा हुआ है फिर भी लश्कर के स्वामी को लश्कर के साथ अभेदरुप में गिनकर, लोग उस जय-पराजय का राजा में उपचार करते है। इस तरह से भोग और अपवर्ग के लिए समजना।

शंका : प्रयोजन को लेकर यदि सत्त्वादि परिणाम प्राप्त करते है, तो प्रकृति इस विषय में स्वतंत्र नहीं कही जायेगी न ?

समाधान : धर्मादि निमित्त प्रधानादि प्रकृति के प्रवर्तक हेतु नहीं है। परन्तु ये निमित्त तो केवल किसान की तरह प्रतिबंध को दूर करते है।

प्रधान, महत्, अहंकारादि उपादानकारणरुप प्रकृति की प्रवृत्ति तो अपने - अपने स्वभाव से ही होती है। ये प्रवृत्ति को धर्मादि निमित्त कराते नहीं है। वह प्रवृत्ति का प्रतिक्षण निरंतर होना, यह तो प्रकृति का स्वभाव है। फिर भी इस स्वभाव को आच्छादन करके रखनेवाला प्रतिबंधकरुप अधर्मादि प्राप्त होता है। तो उसकी निवृत्ति केवल धर्मादि करते है। यह निवृत्ति हुई, इससे वे प्रकृतियां अपने अपने स्वभाव से अपने आप ही प्रवृत्ति करती है। जैसे कि, किसान जब एक खड्डे में से विविध पौंधो की जमीन तक पानी ले जाना होता है। तब किसान नीची नीची पाल बांधता है। इस स्थान पे किसान जल का प्रवर्तक हेतु नहीं है। जल का ऐसा स्वभाव है कि, वह हंमेशां नीचे के प्रदेश में जाता है। वह किसान प्रतिबंध दूर कर देता है। पानी अपना काम करता है।

उसी प्रकार से प्रकृति का स्वभाव अपने अपने विकाररुप में परिणाम प्राप्त करने का है। वह स्वभाव अधर्मादि निमित्त से आच्छादित हुए है। धर्मादि निमित्त उस आच्छादन को दूर करते है। उसके बाद प्रकृतियां अपने स्वभाव के अनुसार से परिणाम को प्राप्त करती है। उसी अनुसार से पुरुषार्थरुप निमित्त के लिए भी इस तरह से जानना। क्योंकि, जो पदार्थ स्वतंत्र है वह परतंत्र का प्रवर्त्तक बन सकता है। जो स्वयं परतंत्र है, वह अन्य का प्रवर्तक बनता नहीं है। जैसे कि, दंड-चक्रादि निमित्त, जो स्वयं परतंत्र है वह घट के प्रयोजक नहीं है। और ऐसा होने से ही दंड-चक्रादि का अभाव होता है। फिर भी योगीयों के संकल्प मात्र से घटकी उत्पत्ति होती है।

उपरांत जो कार्य है वह कारण का प्रयोजक नहीं होता है। जैसे घट मृत्तिका (मिट्टी) के कार्यरुप होने से मृत्तिका का प्रयोजक नहीं है। इस नियमानुसार धर्माधर्म और पुरुषार्थ ये दोनो प्रकृति के कार्यरुप है और इसलिए प्रकृति के अधीन होने से परतंत्र है।

अब जो लोग सेश्वरवादि है, वे कहते है कि ईश्वर प्रकृति की प्रवृत्तिविरोधी जो साम्यावस्था है, उसका संकल्प से भंग करते है और प्रकृति अपने स्वभाव से ही सर्ग के आरंभ में अपने आप ही परिणाम को प्राप्त करती हुई चली जाती है। कालादि पदार्थ धर्माधर्म को उद्भूत करते है। तथा उसके द्वारा धर्माधर्मादिरुप प्रतिबंध की निवृत्ति करते है। इसलिए प्रकृतियां अपने आप ही परिणाम को प्राप्त करती है। इसलिए सर्व निमित्त, प्रकृति के प्रयोजक हेतु नहिं होने से प्रकृति स्वतंत्र है।

● **प्रकृति की अवस्थाविशेष :** विशेष, अविशेष, लिंग मात्र और अलिंग, ये चार सत्त्वादि गुणत्रयरुप प्रकृति की अवस्थाविशेष है।

● **विशेष :** केवल विकारपदार्थ १६ है। पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय यह उभयरुप मन, ये सोलह केवल विकार होने से **विशेष** है।

यहाँ पृथ्वी गंधतन्मात्रारुप अविशेष का, अप् रसतन्मात्रारुप अविशेषका, तेज रुपतन्मात्रारुप अविशेषका, वायु स्पर्शतन्मात्रारुप अविशेष का तथा आकाश शब्दतन्मात्रारुप अविशेष का विकार है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन, ये ११ करण दर्शन-श्रवणादि विशेष से रहित और अभिमान मात्र धर्मवाले अहंकार रुप अविशेष के विकार है।

उसमें सत्त्वप्रधान अहंकार के विकाररुप ज्ञानेन्द्रिय है। रजः प्रधान अहंकार के विकाररुप यह दस इन्द्रियो के अर्थ को विषय करनेवाला मन है।

इस प्रकार ये १६ तत्त्व विकार है, यह सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, ये १६ तत्त्वो में से कोई भी, अन्य तत्त्व का उपादानकारण नहीं है। इसलिए ये १६ तत्त्व केवल विकाररुप है।

पृथ्वी आदि पंचभूत जगत के स्थूलपदार्थो के उपादानकारण है। यह बात सच है, फिर भी पृथिव्यादि अणु से जगत के स्थूलपदार्थ अधिकसूक्ष्म नहीं गिने जाते। इसलिए वे पदार्थ भिन्न तत्त्वरुप नहीं है। इसलिए ये तत्त्व अन्य तत्त्व के उपादानकारण नहीं है। इसलिए वे केवल विकार है और इसलिए वे तत्त्व **विशेष** है।

विशेष का अर्थ यह है कि शान्त, घोर और मूढ विशेषोवाले केवल विकाररुप पदार्थ. ऐसा होने से पाँच तन्मात्रा, जो शब्द-स्पर्शादि विशेषवाली है तथा तामस् अहंकार के विकाररुप है और फिर भी पृथ्वीआदि पंचभूतरुप भिन्न तत्त्व का उपादान कारण है। इसलिए केवल विकाररुप नहीं है। इसलिए उसका समावेश विशेष में नहीं होता है। सांख्यकारिका में कहा है कि - **''षोडशस्तु विकारः''** इस वचन से १६ पदार्थ ही विकाररुप कहे गये है। श्री गर्भोपनिषद् में भी **''अष्टौ प्रकृतयः षोडशः विकाराः''**-आठ प्रकृति है और १६ विकार है ऐसा कहा गया है।

● **अविशेष :** अविशेष यानी शांत, घोर और मूढरुप विशेष के रहित लिंगमात्र और अलिंग से भिन्न सत्त्वादिके कार्यरुप पदार्थ। ये पदार्थ है पांच तन्मात्रा और अहंकार।

यहाँ अहंकार में श्रवण-दर्शनादि से रहित अभिमानमात्र धर्मवाले सात्त्विक, राजस् और तामस् अणुओ का ग्रहण होता है। वे अणु ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन तथा पाँच तन्मात्रा के उपादानकारणरुप है और स्वयं लिंगमात्र पर्व के विकाररुप है।

इस तरह होने से वे अणु शांत, घोर, मूढरुप विशेष, जो केवल विकारो में ही उद्भूत हुए होते है, उससे रहित है। लिंगमात्र और अलिंग से ज्यादा स्थूल होने से भिन्नतत्त्वरुप है तथा सत्त्वादि के कार्य है। इसलिए वे सत्त्वादि मूल प्रकृति के अविशेषपर्व में आते है।

शब्द तन्मात्रा यानी शान्तादि विशेष से रहित, शब्दमात्र धर्मवाला, आकाश के अणु का उपादानकारणरुप द्रव्य। स्पर्शतन्मात्रा यानी शान्तादि विशेष से रहित, शब्द और स्पर्श ये दो धर्मवाला, वायु के अणु का उपादानकारणरुप द्रव्य। रुपतन्मात्रा यानी शान्तादि विशेष से रहित, शब्द-स्पर्श और रुप ये तीन धर्मवाला, तैजस अणु का उपादानकारणरुप द्रव्य। रसतन्मात्रा यानी शान्तादि विशेष से रहित, शब्द-स्पर्श-रुप और रस ये चार धर्मवाला जल के उपादानकारणरुप द्रव्य। गंधतन्मात्रा यानी शान्तादि विशेष से रहित, शब्द-स्पर्श-रुप-रस और गन्ध ये पांच धर्मवाला, पृथ्वी के उपादानकारणरुप द्रव्य।

ये पाँच तन्मात्रा कही जाती है। ये पाँचो तन्मात्राएं सभी एकसमान तरीके से तामस् अहंकार के कार्यरुप है। वैसे ही ये तन्मात्रा आकाशादि पाँच भूतरुप भिन्न तत्त्वो के उपादानकारणरुप है। इसलिए यह तन्मात्रा केवल विकाररुप नहीं है और इसलिए शान्तादि से रहित है तथा लिंगमात्र और अलिंग से भिन्न है। इसलिए अविशेष है। **इस प्रकार पाँच तन्मात्रा और अहंकार अविशेष है।**

(३) **लिंगमात्र :** लिंगमात्र यानी व्यंजकमात्र अर्थात् जो संपूर्ण जगत को अभिव्यक्त हुआ बताता है तथा जिसमें

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य कोई व्यापार नहीं है, ऐसा सत्त्वादि गुणो का कार्य। यह कार्य वह महत् तत्त्व है।

सर्ग के आरंभ में प्रकृति का क्षोभ होने से जो आद्यविकार सत्ता को प्राप्त करता है, वह कार्य ब्रह्म की उपाधिरुप तत्त्व, अविशेष और विशेष, ये सर्वपरिणामो का आधारभूत होने से महत् कहा जाता है। जब प्रलय होता है तब जगत की सभी वस्तुएं संस्कार सहित प्रधान में लीन होती है। सर्गकाल प्राप्त होने से प्रकृति, जो प्रलय के समय साम्यावस्था में होती है वह क्षोभ पाती है। यह क्षोभ पाने से जो प्रथम विकार अस्तित्व में आता है अर्थात् वह क्षोभ पाई हुई प्रकृति ही महत् है।

वह महत् लिंगमात्र है, क्योंकि वह प्रकृत्ति की क्षोभ पाई हुई अवस्थारुप होने से सारे जगत को अपने में अभिव्यक्त करती है। तथा उसमें दूसरा कोई व्यापार नहीं होता है। जब इस महत् तत्त्वमें से अहंकारादि उत्पन्न होते है। तब ही अभिव्यक्ति से अतिरिक्त व्यापार होता है। इसलिए महत् तत्त्वकी उत्पत्ति के समय अभिव्यक्ति से अन्य कोई व्यापार नहीं होता है। इसलिए योग्य तरीके से लिंगमात्र कहा जाता है।

वह महत् तत्त्व छः अविशेषो का भी कारण है। अर्थात् वो ही तत्त्व स्थूलता को प्राप्त करने से छः अविशेष रुप से परिणाम पाता है. इसमें इतना ही तफावत है कि, अहंकार यह महत् तत्त्व का साक्षात् परिणाम है और तन्मात्रा अविशेष, यह अहंकार द्वारा होनेवाला परिणाम है। इसलिए ये तत्त्व छः अविशेष की तरह प्रकृतिविकृति तत्त्व है।

(४) **अलिंग :** अलिंग यानी किसी का व्यंजन करनेवाला नहीं वह अर्थात् सत्त्वादिगुणो की साम्यावस्था।

इस साम्यावस्था को बहोत स्थान पे शास्त्रो में प्रकृति भी कही है। वैसे ही अव्यक्त, अव्याकृत इत्यादि भी उसके ही नाम है। क्योंकि साम्यावस्था दिखाई दे ऐसी नहीं है। यानी कि इस अवस्था में किसी की अभिव्यक्ति नहीं है। उपरांत नाम और रुप दोनो स्फुट नहीं है।

यह अलिंग या प्रकृति हमेशां के लिए एकसमान तरीके से रहती नहीं है, परन्तु सर्गकाल प्राप्त होने से वह अन्यरुप में परिणाम पाती है। इसलिए पहले के धर्म को छोडती है तथा अन्यधर्म का ग्रहण करती है। ऐसा होने से वह प्रकृति सत् नहीं कही जाती। क्योंकि जो वस्तु तीनो काल में एकसमान रुप से विद्यमान रहे वही सत् है। वैसे ही यह प्रकृति शशशृंग की तरह असत् भी नहीं है। इसलिए असत् कहा जाये वैसा भी नहीं है। ऐसा होने से यह प्रकृति (और उसके कार्यरुप संपूर्ण जगत) सत्-असत् से अनिर्वचनीय कहा जाता है। आदित्यपुराण में कहा है कि - **''नासद्रुपा न सद्रुपा माया नैवोभयात्मिका सदसद्भ्यामनिर्वाच्या।''** यह प्रकृति ही सर्वका मूल कारण है। तथापि वह भी गुणो की साम्यावस्था रुप होने से गुणो से अतिरिक्त रुप में तो गुण के धर्मरुप है और इसलिए उसको गुणो के पर्वरुप कहने में दोष नहीं है।

ये चारो को गुण के पर्व कहे, वहाँ यद्यपि ये चारो एकसमान रुप से सत्त्वादिगुणो में पर्वरुप है। तथा अलिंगपर्व और इतर (बाकीके) तीन पर्व में एक बडा भेद यह है कि अलिंगपर्व नित्य है और अन्य तीन पर्व अनित्य है।

अलिंगपर्व नित्य होने का कारण यह है कि उस पर्व में कोई निमित्त नहीं है। अर्थात् सत्त्वादि गुणो की वह स्वभावसिद्ध अवस्था है और महत् इत्यादि पर्व निमित्तवशात् होते है। वह निमित्त यह पुरुषार्थ की सिद्धि है। सुख, दुःखाभाव और विवेकख्याति, ये पुरुषार्थ है। ये पुरुषार्थ महत् इत्यादि का निमित्त है।

भोग और अपवर्गरुप पुरुषार्थ की सिद्धि सर्गकाल में ही होती है। प्रलयकाल में नहीं होती है। क्योंकि प्रलयकाल में तो भोग का जो करण अर्थात् बुद्धि तथा इन्द्रियां, वे इस प्रकृति में समाये है। इतना ही नहीं परन्तु जो अभिमानी का अणु, वह भी उस समय में नहीं है। इसलिए प्रलयकाल में सुख और विवेकख्याति की सिद्धि नहीं है। यह स्पष्ट है वैसे ही प्रलयकाल में जो दुःखाभाव होता है वह तो कर्मजन्यद्रव्य तथा अभिमानी इत्यादि द्रव्य के रुक्ष होने से हुआ है। इसलिए वह भी साम्यावस्था में निमित्तरुप नहीं है। तात्पर्य यह है कि किसी भी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषार्थ की सिद्धि इस अवस्था में होती नहीं है। इसलिए इस अवस्था का पुरुषार्थ निमित्त नहीं है और अन्यनिमित्त की तो प्राप्ति ही नहीं आती। यह अवस्था नित्य है और अन्य तीन पर्व अनित्य है।

प्रश्न : अलिंग अवस्था में कोई निमित्त नहीं है, यह बात सच, तो भी सर्गकाल प्राप्त होता है, तब यह अवस्था मिट के महत् इत्यादि परिणाम होते है। अर्थात् सर्ग के समय इस अवस्थाके नाम भी रहता नहीं है तो फिर उसे नित्य कैसे कहा जाता है ?

उत्तर : जब प्रलय होता है तब उस उस भाग के (सृष्टिके) अंत्यावयवी से महत् तक के सभी तत्त्व अपने अपने विशेषो को छोड देते है। यानी सम्पूर्ण द्रव्य साम्यावस्था को प्राप्त करता है। अर्थात् अलिंगरुप होके रहता है। पुनः जब सर्गकाल प्राप्त होता है, तब इस साम्यावस्थावाले द्रव्य में क्षोभ होता है। वह क्षोभ उस द्रव्यमात्र में नहीं होता परन्तु केवल एक देश में ही होता है यानी कि जैसे सभी दूध का दहीं बनता है वैसे अलिंग का एक देश में ही विकार उत्पन्न होता है और अन्यदेश तो साम्यावस्था के रुप में जैसे के तैसे स्थित होता है। यह अवशिष्ट (बाकी) रहा हुआ साम्यावस्थावाला द्रव्य पोषकद्रव्य के रुप में उस विकार के सर्वतः रहता है और इसलिए उसे आवरण भी कहा जाता है।

इसी अनुसार से महत् तत्त्व भी संपूर्ण अंश से अहंकाररुप परिणाम को पाता नहीं है। उसका एक देशमात्र उस रुप में परिणाम पाता है। बाकी रहा हुआ प्रदेश महत् तत्त्व रुप में ही रहता है। जो अहंकार के पोषकद्रव्यरुप में आवरणरुप से रहता है। इसी तरह से अहंकार और तन्मात्रा तथा पाँच महाभूत ये सभी के लिए समजना।

इस तरह से पोषकद्रव्यरुप में रहे हुए आवरण कुल मिलाकर आठ है। (१) अलिंग, (२) महत्, (३)अहंकार, (४-८) पाँच तन्मात्रा। (इस आठ आवरणो में जो तन्मात्रावाला आवरण है। उसमें ही पांचभूतो में आवरणो का अन्तर्भाव किया हैं।)

इससे सिद्ध हुआ कि सर्गकाल में भी आवरणरुप में अलिंग की स्थिति होती है। इसलिए सर्गकाल में उस अलिंग केवल अभाव होता है, वह असत्य है अर्थात् ये अलिंग सत्त्वादि की स्वभावसिद्ध अवस्था होने से तथा सर्गकाल में भी अस्तित्व मे होने से नित्य है।

उपरांत यह अलिंग अवस्था को ये गुणो की तरह और पुरुष की तरह नित्य मानना संगत नहीं है। क्योंकि गुण प्रलय के समय और सर्ग के समय सदा सर्वदा विद्यमान होता है। वैसे ही पुरुष सदा सर्वदा एकरुप में रहता है। इसलिए गुणो और पुरुष जैसा नित्यत्व तो अलिंग में नहीं है। तथापि अलिंगपर्व भी सदा सत्तावाला होने से नित्य कहना अयोग्य नहीं है।

प्रकृति के दूसरे नाम :

- गुणत्रय सर्वजगत के कारणरुप होने से "**प्रकृति**" कहा जाता है।
- सुख, दुःख और मोहधर्मवाला होने से "**सुखदुःखमोहात्मक**" कहा जाता है।
- राजा के अमात्य की तरह पुरुष के सभी अर्थ को साधनेवाला होने से "**प्रधान**" कहा जाता है।
- संपूर्ण कार्य उसके अंदर रहते है। इसलिए "**प्रधान**" कहा जाता है।
- जगत को मोह करानेवाली होने से "**माया**" कहा जाता है।
- **परमाणु** भी कहा जाता है।

✦ **सांख्यमत में जो सेश्वरवादि है, उनके ईश्वर का स्वरुप बताया जाता है। वह पातंजल योगदर्शन के आधार से बताया है।**

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥१-२४॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रार्थ : अविद्यादि क्लेश, धर्माधर्मरुप कर्म, जाति इत्यादिक क्लेशकर्म के फलरुप विपाक, तथा धर्माधर्म के संस्कार, ये सब के तीनो काल के विषय में वस्तुतः तथा उपचार से भी होनेवाला संसर्ग से रहित, स्वरुप से शुद्ध चितिशक्तिस्वरुप निरतिशय ऐश्वर्यवाले ईश्वर है।"

क्लेश : क्रियायोग से दूर होनेवाला क्लेश पाँच प्रकार के है। (१) **अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, (५) अभिनिवेश।** ये पाँच क्लेशो में अविद्या बाकी के चार की जननी है। ये सब क्लेशो की चार अवस्थाएं है। (१) **प्रसुप्त :** सोते हुए की तरह काम न करते, पडे हुए परन्तु जागता हो ऐसी होती है। (२) **तनु :** पतली, शिथिल होती है। (३) **विच्छिन्न :** त्रूटक-त्रूटक वर्तन करनेवाली होती है। (४) **उदारपन से सोचनेवाली होती है।** इन सबका विशेषस्वरुप अन्यग्रंथो से जान लेना।

ईश्वर यह सर्व का स्वरुपतः शुद्ध चितिशक्तिरुप है। फिर भी उसको एक चित्त होता है। वह चित्त शुद्धसत्वा माया के शुद्धांश से बना हुआ है। और इसलिए योगी के चित्त से विलक्षण है। योगी के चित्त प्रयत्न से शुद्धांशवाला बनता है। और ईश्वर का तो अनादिकाल से शुद्धांशवाला ही होता है। उस चित्त के योग से ईश्वर में ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति होती है। उस चित्त के साथ ईश्वर को दूसरे जीवो की तरह अविद्यानिमित्तक स्व-स्वामिभाव संबंध नहीं है परन्तु जगतरुप प्रवाह में खींचे जाते पुरुष को ज्ञानादि उपदेश द्वारा उद्धार करने की इच्छारुप निमित्त से ईश्वर ने इस चित्त का ग्रहण किया है।

ऐसा होने से, जैसे स्त्री इत्यादि वेश को वह रुप में जानकर ग्रहण करनेवाला शैलूष (नाटकका पात्र), इसलिए बंधन को प्राप्त नहीं करता है। वैसे उस चित्तरुप माया को मायारुप जान के अपनी इच्छा से ग्रहण करनेवाला ईश्वर भी उससे बंधन को प्राप्त नहीं करता है।

ईश्वर अपनी इच्छा से एक चित्त का ग्रहण करते है, ऐसा कहने में इच्छा से अनन्तर चित्त का ग्रहण और चित्त के बिना इच्छा का अभाव होने से चित्त के ग्रहण की अनंतर इच्छाये होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता है। क्योंकि सर्ग अनादि है। यदि सर्ग का आरंभ होता, तो इस प्रश्न का अवकाश रहता कि, ईश्वर ने प्रथम चित्त का ग्रहण किस तरह से किया ? परन्तु वैसा तो है नहीं। जगतप्रवाह-सर्गप्रवाह अनादि है। इसलिए एक सर्ग के संहार के समय यह प्रलय की अवधि आये, इसलिए सर्गान्तर की सृष्टि होने के समय मुजे कुछ खास शुद्धांशवाला चित्तसत्त्व ग्रहण करना है। ऐसा संकल्प करके ईश्वर सृष्टि का संहार करते है और संकल्प की वासनावाला होके चित्त भी उस समय प्रधान में-प्रकृत्ति में लीन हो जाता है। उसके बाद प्रलयकाल समाप्त हो जाये, तब जैसे रात को सोया हुआ मानवी सबेरे जल्दी उठने के निश्चय के साथ सोये, तो उस निश्चय के बल से योग्य समय पे उठ जाता है। वैसे पूर्वसर्ग की अवधि पे किये हुए प्रणिधानरुप दृढसंकल्पयुक्त ईश्वर का चित्त उसी संकल्पवशात् इस सर्ग के प्रारंभ में ईश्वर को प्राप्त होता है और उसके बाद उस चित्त के द्वारा जगत की उत्पत्ति, ज्ञानादि का ब्रह्मा को उपदेश इत्यादि ईश्वर करते है। पुनः उस सर्ग की अवधि आने पर पूर्ववत् प्रणिधान (ध्यान) करते है। तथा उस प्रणिधानवशात् अनादिकाल से प्रणिधान और चित्त का ग्रहण किया होने से बीजांकुरवत् चलता ही रहता है।

प्रश्न : ईश्वर को प्रकृष्टसत्त्ववाला चित्त है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर : तदैक्षत सोऽकामयत्, तदात्मानं स्वयमकुरुत। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, यः सर्वज्ञः सर्वविदः ॥

यह वेद की श्रुति से ईश्वर को प्रकृष्टचित्त है, वह सिद्ध हुआ। (सूत्र में एकवचन से वह व्यक्तिपरक है और वह व्यक्ति एक ही है, यानी कि ईश्वर एक ही है।)

प्रश्न : ईश्वर का ज्ञान किस प्रकार का है ?

उत्तर : तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥१-२५॥ अर्थात् सर्वज्ञपन का बीज जो अतिशयवाला ज्ञान, वह ईश्वर में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरतिशय है। यानी कि ईश्वर में निरतिशय अर्थात् उससे उत्कृष्ट नहि वैसा ज्ञान है।

यहाँ सूत्र में जो कहा है, कि सर्वज्ञता का ज्ञापक हेतु जो सातिशय जातीयज्ञान, वह ईश्वर में निरतिशय है। अर्थात् अमर्याद अवस्था को प्राप्त है। वहाँ सातिशय जातीयज्ञान सर्वज्ञता का इस अनुसार से ज्ञापन करता है। ज्ञान सातिशय होने से किसी स्थान पे भी निरतिशय होना चाहिए। क्योंकि लोक में हम देखते है कि जो जो गुण सातिशय होते है, जैसे कि, परिणाम, वे क्वचित् भी निरतिशय होते है। परिमाण का जो अणुत्त्व, महत्त्व रुप सातिशय देखते है। उसकी पुरुष में काष्ठा प्राप्ति है। क्योंकि पुरुष विभु होने से क्वचित् काष्ठा को पाना चाहिए। ज्ञान सातिशय है वह हम जानते है। बच्चे से बडे पुरुषो में ज्यादा होता है। उससे योगी में ज्यादा होता है और उससे उत्तम साधनावाले योगी को ज्यादा होता है। इस तरह से ज्ञान सातिशय सिद्ध होता है। इसलिए परिणाम की तरह क्वचित् निरतिशयवाला होना चाहिए। जहाँ ज्ञान निरतिशय होता है। वहाँ सर्वज्ञत्व है, यह स्पष्ट है।

प्रश्न : यह सर्वज्ञपदार्थ वह बुद्ध इत्यादि होगे या महेश्वर, परम कारुणीक जगत के अधिष्ठाता इत्यादि संज्ञावाले ईश्वर होंगे ?

उत्तर : यह विशेषज्ञान अनुमान की शक्ति से बाहर होने से शास्त्रप्रमाण से होता है। लिंगपुराण में कहा है कि...

''लोके सातिशयित्वेन ज्ञानैश्वर्ये विलोकिते। शिवे नातिशयित्वेन स्थित आहुर्मनीषिणः ॥

अर्थात् 'लोक में ज्ञान और ऐश्वर्य जो अतिशयवाले दीखते है, वे परमात्मा के बारे में निरतिशय को पाये हुए है'। इत्यादि वचन से जगत के अधिष्ठाता महेश्वर में ज्ञान की निरतिशयता कही है।

शंका : ईश्वर को जगत का अधिष्ठाता अर्थात् जगत को उत्पन्न करनेवाला माना है, वह योग्य नहीं है। क्योंकि शास्त्र में ईश्वर को आप्तकाम कहा है तथा भगवान होने से आरुढ वैराग्यवाले कहा है। इसलिए ईश्वर को कोई भी स्वार्थ नहीं होता है और स्वार्थ के बिना जगत की सृष्टिरुप क्रिया होती नहीं है। सांख्यसूत्र में **''स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्''** इस सूत्र से यही अर्थ का बोधन किया है कि लोक में जो स्वार्थ के लिए प्रवृत्ति दिखाई देती है। वैसे जगतसर्जनरुप क्रिया का कर्ता ईश्वर को मानेंगे तो वह प्रवृत्ति स्वार्थ के लिए होनी चाहिए। वहां ईश्वर नित्य मुक्त होने से भोग नहीं है। शायद परार्थप्रवृत्ति माने तो परमकारुणिक ईश्वर की यह प्रवृत्ति इतरपुरुषोके सुख के लिए होनी चाहिए। और ऐसा हो तो नानाविध दुःखो से भरे हुए इस जीवलोक की सृष्टि ईश्वरकृत होगी नहीं। उपरांत, या तो ईश्वर कर्म की अपेक्षा रखकर सृष्टि करे अथवा तो कर्म की अपेक्षा रखे बिना। वहां यदि कर्म की अपेक्षा के बिना सृष्टि करते है ऐसा मानेंगे तो ईश्वर में वैषम्यनैर्घृण्य दोषो की प्राप्ति आती है और कर्म की अपेक्षा रखकर सृष्टि करते है ऐसा माने तो सृष्टि के लिए कर्म और ईश्वर ऐसे दो कारण माननेरुप गौरव आता है। सांख्यसूत्र में कहा है कि **''न ईश्वराधिष्ठिते फलसंपत्ति कर्मणा तत्सिद्धिः''** इस सूत्र में उपर का अर्थ ही कहा है। उपरांत, लोक में जहाँ जहाँ प्रवृत्ति होती है वहाँ वहाँ राग का सद्भाव दिखाई देता है। इसलिए प्रवृत्ति और राग के बीच कार्य-कारणभाव संबंध दिखता है। इसलिए यदि ईश्वर की जगतसृष्टिरुप प्रवृत्ति माने तो ईश्वर में राग मानना पडेगा। इससे ईश्वर क्लेश कर्मादि से रहित है यह सिद्धांत असत्य सिद्ध होगा। सांख्यसूत्रमें कहा है कि **''न रागादृते जगत्सिद्धिः प्रतिनयतकारणत्वात्।''** इस सूत्र में वही अर्थ कहा है। इसलिए सर्वथा ईश्वर जगतकर्ता नहीं है यह प्राप्त होता है।

समाधान : ईश्वर के सद्भाव के लिए आगे श्रुतिप्रमाण दे चुके है। इसलिए **''प्रमाणाभावात् न तत्सिद्धिः।''** प्रमाणका अभाव होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं है यह कहना अयोग्य है। उस ईश्वर की प्रवृत्ति नित्य होने से उसमें प्रयोजन की सही में देखते हुए जरुरत नहीं है।

जो प्रवृत्ति कादाचित्की होती है, वहाँ ही केवल **'प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'**। बिना प्रयोजन मन्द

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं करते है। यह लौकिकन्याय प्राप्त होकर प्रयोजन होने का फर्ज खडा करता है। ईश्वरकी जगतसर्जनरुप प्रवृत्ति नित्य है। इसलिए उस प्रवृत्ति में कोइ भी स्वार्थ या परार्थरुप प्रयोजन की आवश्यकता नहीं है। यह मुख्य समाधान है।

फिर भी प्रवृत्ति में प्रयोजन माने तो आप्तकाम ईश्वर को स्वार्थ तो संभवित नहीं है। इसलिए परार्थ यही केवल प्रयोजन है। यदि परार्थ ही प्रयोजन हो तो ईश्वर जीवो को दुःख क्यों देता है ? इसका उत्तर यह है कि दुःख भोगे बिना परार्थ की प्राप्ति नहीं होती है। जीव दुःख भोगे बाद में ही उसको सुख के साधन की जिज्ञासा होती है और जिज्ञासा से ही ज्ञान होता है। ज्ञान से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से विवेकख्याति होती है। और दुःखानुभव के बिना विवेकख्याति के साधनरुप वैराग्य की सिद्धि नहीं होती है। इन दोनो के कारण दुःखरुप संसार की सृष्टि ही परम कारुणिक तथा सब के सुख को चाहनेवाला ईश्वर ही करता है वह सिद्ध होता है।

ईश्वर ने जगत में दुःख क्यों उत्पन्न किया ये तो प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि दुःख उस प्रकृति में रहा हुआ ही होने से ईश्वर ने उत्पन्न किया है। इसलिए दुःखरुप जगत की सृष्टि ईश्वर से हो सके यह उचित है। फिर भी ईश्वर पुरुषो को बिना कारण दुःख देता नहीं है। प्रत्येक पुरुष के कर्मानुसार उसके सुखदुःख देता है और ऐसा करने से वैषम्य नैर्घृण्य दोष ईश्वर में आते नहीं है।

प्रश्न : तो ईश्वर और कर्म दो मानने में गौरव आयेगा न ?

उत्तर : गौरव आता है ऐसा कहना, अयोग्य है, क्योंकि न्यायसिद्धगौरव दोषरुप नहीं है। जडकर्म अपने आप ही अपना काल जानके पक्व हो के फल दे, इस कल्पना में अपूर्वता है।

प्रश्न : कोई भी प्रवृत्ति का कारणतावच्छेदक रागत्व है। इसलिए जगतसर्जन की प्रवृत्ति का कारणतावच्छेदक रागत्व होगा। इसलिए ईश्वर को जगतकर्ता नहीं माना जा सकता।

उत्तर : लोक में प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषो में राग है। इसलिए प्रवृत्ति और राग का कार्यकारणसंबंध सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि यदि केवल ऐसे साहचर्य से कार्यकारणभाव का निर्णय होता हो तो अविद्या तथा सुखका भी कार्यकारणसंबंध सिद्ध होगा, क्योंकि लोक में जहाँ जहाँ सुख दिखाई देता है, वहाँ वहाँ सभी स्थान पे अविद्या का अस्तित्व भी दिखाई देता है। यदि मुक्तपुरुषो में इस नियम का व्यभिचार है, ऐसा कहोंगे तो प्रवृत्ति और राग की नित्यव्याप्ति भी इसी स्थान पे व्यभिचरित सिद्ध होती है। इसलिए सभी प्रकार से सिद्ध होता है कि ईश्वर में जगतसर्जनरुप प्रवृत्ति के लिए राग होना चाहिए वह असिद्ध है और इसलिए ईश्वर जगत के स्रष्टा अथवा अधिष्ठान जो माने है, वह सर्वांश से योग्य है।

यह ईश्वर पूर्व पूर्व सर्ग में उत्पन्न हुए ब्रह्मा इत्यादि के भी गुरु है। क्योंकि ईश्वर कालकृतपरिच्छेद से रहित है। अर्थात् आदि और अंत से रहित है। अर्थात् अनादिसिद्ध पदार्थ है और इसलिए इस सर्ग के ब्रह्मादि के उपदेष्टा है। वैसे अतीत, अनागत ब्रह्मादि के भी उपदेष्टा है, क्योंकि वह महेश्वर इस वक्त में भी वही रुप में होते है। ब्रह्मादि द्विपरार्धादिकाल से अवच्छिन्न है। इसलिए अपने अपने आयुष्य की अवधि में अपने अपने कारण में शान्त होते है। ईश्वर कारणरहित और अंतरहित होनेसे ब्रह्मादि के नाश के समय भी उसी रुप में स्थित होते है। पुनः सर्गकाल आता है, तब उसी ईश्वर के संकल्पानुसार प्रकृति में क्षोभ करते है तथा उसके बाद **"तत्वनेनेरितं विषमत्वं प्रयाति"** इस श्रुति में कहे अनुसार प्रकृति के गुण का वैषम्य होता है। यह वैषम्य होने से अनुक्रम से श्री सदाशिव, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते है। वे सभी अपने अपने आयुष्य की अवधि आने से नाश को प्राप्त हुए थे। और इसलिए वेदादि के ज्ञान से रहित हुए थे। उनको वे सभी वक्त में भी जैसे के तैसे स्थिर रहनेवाले महेश्वर वेदादि का उपदेश करते है। इसलिए ब्रह्मादि के गुरु अथवा उपदेष्टा महेश्वर है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अर्थ में संकेत हो वही शब्द अर्थ का वाचक हो सकते है, ऐसा नियम है। यह अर्थ और शब्द के बीच वाच्य-वाचकसंबंध है। इस संबंध का ज्ञान संकेत से होता है। सर्ग के आरंभ में ईश्वर वेदादि की व्यवस्था के लिए ''**गो**'' आदि शब्द की शक्ति को '**गो**' आदि अर्थ में ही नियमित करके स्थापना करते है। तथा प्रलय में जिनका ज्ञान चला गया है, वैसे पुरुषो को उस शक्ति का प्रकाश करते है। वैसे भी ईश्वर सर्वज्ञ और नित्य होने से पूर्वपूर्व सर्ग में जो जो शब्द जिस जिस अर्थ में थे वे वे शब्द उस उस अर्थ में नियमित करते है। इसलिए ईश्वर संकेत में भेद पडता नहीं है।

● **सांख्यकारिका के आधार पे सांख्यमत में विशेष कहा जाता है।**

''दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा 'तदुपघातके' हेतौ। दृष्टे साऽपार्था चेत् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥''

भावार्थ : (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि दैविक, ये) त्रिविध दुःख से दुःखी होने से उसके नाश के उपाय को जानने की इच्छा (-जिज्ञासा) होती है और उसके नाश के लिए लौकिक उपाय नहीं है। प्रत्येक धर्म की प्रवृत्ति दुःख के नाश के लिए ही होती है। वैसे यहां भी एकमेव दुःख का विनाश करने के लिए प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान करना है। वह शास्त्र के द्वारा किया जा सकता है। उसके लिए प्रकृति और पुरुष का ज्ञान होना चाहिए। और उसका संयोग किस तरह से हुआ, वह जानना पडेगा और उन दोनो का वियोग किस तरह से होता है वह भी जानना पडेगा। उसके बाद दुःख के आत्यंतिकनाश के लिए पुरुषार्थ होता है और विवेकख्याति प्राप्त करना वह परम पुरुषार्थ है। (कारिका-१)

तीन दुःख इस प्रकार है। (१) **आध्यात्मिक :** वह दुःख जिसका आन्तरिक तत्त्वो से सम्बन्ध है। जो दो प्रकार के है (क) शारिरीक (ख) मानसिक। (२) **आधिभौतिक :** बाह्यकारणो अथवा पदार्थो जिन्हें हम देख सकते है, उससे उत्पन्न होनेवाला दुःख आधिभौतिक कहलाता है। (३) **आधिदैविक :** प्रत्यक्ष दिखाई न देनेवाली देवयोनियों से होनेवाला कष्ट, आधिदैविक कहलाता है। दुःखत्रय के विस्तार को निम्नोक्त प्रकार से भी प्रदर्शित कर सकते है -

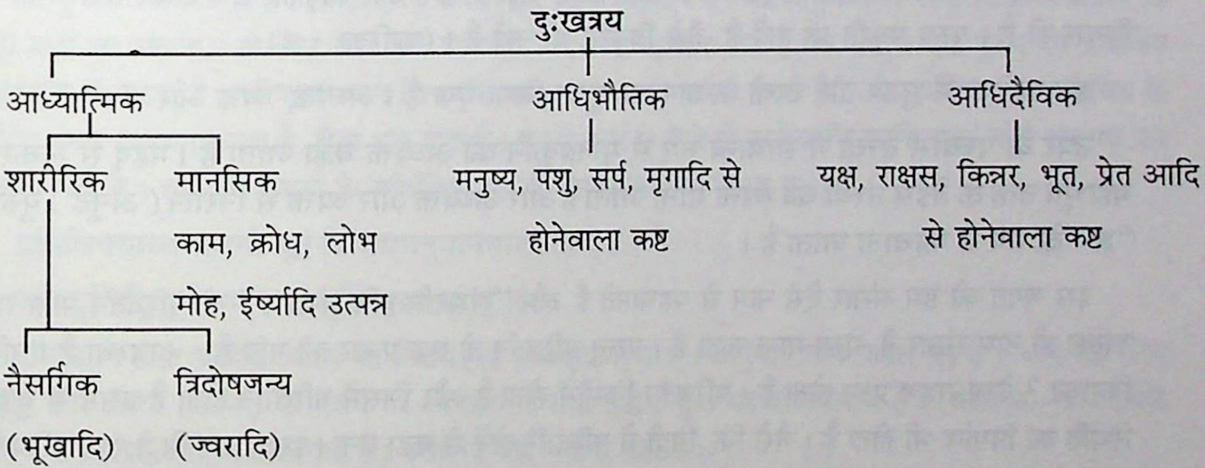

दृष्टवदानुश्राविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

(आनुश्राविक) वेद में कहे गये उपाय भी लौकिक जैसे ही है। क्योंकि उपाय अशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त है। उससे उल्टा (यानी कि शुद्ध,अक्षय और एकसमान उपाय) है वही श्रेय है, और वह है व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) का विज्ञान। ॥ कारिका - २ ॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिविधदुःख के प्रकारादि पहले बताये गये है। इसलिए यहाँ नहीं बताये है। गुरुमुख से श्रवण करके जिसको याद रखा जाता है वह वेद, यद्यपि वेद में वेदान्त का (उपनिषदोका) समावेश भी हो जाता है। परन्तु यहां तो वेद का कर्मकांड भाग ही अभिप्रेत है। वेद में अनेक प्रकार के यज्ञो का निरुपण किया गया है। यज्ञ याग से शाश्वत और संपूर्ण सुख मिल सके वैसा नहीं है। क्योंकि उसमें नीचे बताये हुए तीन प्रकार के दोष रहे हुए है।

(१) **अशुद्धि :** अर्थात् अशुद्धि। यज्ञ में पशुओ की हिंसा होती है और हिंसा दुःख ही देती है। श्री पंचशिखाचार्य कहते है कि यज्ञ के परिणाम से जो मुख्य फल मिलता है वह तो पुण्य ही है परन्तु उसमें हिंसा हुई है। इसलिए गौण फलरुप में थोडा पाप मिलता है। इस अल्पपापका उस पुण्य के साथ जो संसर्ग होता है वह थोडी अशुद्धि पैदा करता है और पाप का परिहार करने के लिए प्रायश्चित्त भी करना पडता है।

(२) **क्षय :** स्वर्ग में शाश्वत सुख नहीं है। यज्ञ याग से स्वर्ग का सुख मिलेगा, परन्तु वह क्षय पानेवाला है।

(३) **अतिशय :** अलग अलग यज्ञ के फल अलग होते है। जैसे कि, ज्योतिष्टोम होम करने से स्वर्ग मिलता है। परन्तु वाजपेयादि यज्ञ करने से स्वर्ग का राज्य मिलता है। इस प्रकार की स्थिति को अतिशय कही है। **और मानवी का स्वभाव तुलना करने का होता है। अपने से अन्य की स्थिति ज्यादा अच्छी है, वह विचार उसमें दुःख पैदा करता है।**

इस तरह से अशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त होने से वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय की तरह ही शाश्वत और संपूर्ण दुःखमुक्ति देने में निष्फल ही सिद्ध होते है।

त्रिविध दुःख की एकान्तिक-आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए व्यक्त-अव्यक्त और पुरुष के विवेकज्ञान बताया, इन तीनो का सामान्य परिचय बताते हुए कहते है कि,

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाद्याः 'प्रकृतिविकृतयः' सप्त ।
षोडशकस्तु 'विकारो' न 'प्रकृति' र्न 'विकृतिः' पुरुषः ॥३॥

मूल प्रकृति अविकारी है। महत् इत्यादि सात (तत्त्व) प्रकृति भी है और विकृती भी है। सोलह तत्त्व तो केवल विकार ही है। पुरुष प्रकृति भी नहीं है, वैसे विकृति भी नहीं है। (कारिका - ३)

इस कारिका में मुख्य तीन तत्त्वो के ज्ञान का सूचन किया गया है। अव्यक्त, व्यक्त और ज्ञ।

उपर के पच्चीस तत्त्वो में सामान्य रुप से मूलप्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है। महद् से लेकर पांच महाभूत तक के तेईस तत्त्वो को व्यक्त माना जाता है और अव्यक्त और व्यक्त से निराले (अनूठे) पुरुष को ''ज्ञ'' के रुप से पहचाना जाता है।

इस जगत को हम संसार ऐसे नाम से पहचानते है और **''संसरति इति संसारः''** जो परिवर्तन पाता रहता है उसका ही नाम संसार है, ऐसा माना जाता है। परन्तु परिवर्तन तो एक प्रकार की गति है - अवस्था है। परिवर्तन किसका ? ऐसा सहज प्रश्न होता है। परिवर्तन किसीमें होता है और जिसमें परिवर्तन होता है उसमें से कुछ नयी स्थिति का निर्माण भी होता है। जैसे कि, मिट्टी में परिवर्तन होने से घडा बना। इस प्रकार मिट्टी, वह परिवर्तन का आधार बना। इस परिवर्तन के लिए मिट्टी अपने ही स्वरुप ऐसे घडे का कारण बनी ऐसा कहा जा सकता है। यह परिवर्तन कारण-कार्य की एक परंपरा का सर्जन करता है।

परन्तु इस परंपरा की नोक से शरु करके कार्य-कारण की दिशा में आगे से आगे जायेंगे तो आखिर में एक बिन्दु आयेगा कि, जहाँ से आगे जाना संभव नहीं है और एक ऐसा कारण मालूम होगा कि जो अन्य किसी कारण के परिवर्तन का परिणाम नहीं होगा। सर्वप्रपंच का यही मूलकारण, जो किसीका भी विकार नहीं है ऐसा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविकृतितत्त्व और उसको सांख्यमत मूल प्रकृति इस नाम से पहचानते है। इस मूलप्रकृति का कोई कारण माने तो अनवस्थादोष आयेगा और इस मूलप्रकृति का कोई विकार नहीं है, इसलिए उसको अविकृति कही है। परंतु कुछ ऐसे तत्त्व भी है कि, जो किसीको परिणमित करे और स्वयं भी फिर किसी का परिणाम हो। उनको प्रकृति-विकृति कहा जाता है।

जब कि, कुछ तत्त्व केवल विकार ही हो, उनको **विकार** कहा जाता है। और एक तत्त्व ऐसा भी है कि किसी का परिणाम भी नहीं है और खुद में किसीको परिणमित होने भी नहीं देता है।

पच्चीस प्रमेय पदार्थो का नामोल्लेख करके बाद में उन्हें जानने के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। अतः प्रत्यक्ष आदि तीन प्रमाणो का नामोल्लेख किया जाता है।-

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

● प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आप्तवचन), ये तीन प्रकार के इष्टप्रमाण है। क्योंकि, उसमें (अन्य) सर्वप्रमाण समाविष्ट हो जाते है। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है। (कारिका - ४)

२५ तत्त्व प्रमेय है और उसकी सिद्धि उपरोक्त तीन प्रमाणो से होती है। जिसके द्वारा यथार्थज्ञान यानी कि प्रमा होती है वह प्रमाण। नैयायिको ने भी प्रमाण का इसी तरह से लक्षण दिया है।

प्रमा यानि कि ऐसे प्रकार कि चित्तवृत्ति कि, जो असन्दिग्ध हो, संशय-विपर्यय और स्मृति से मुक्त हो, संक्षेप में कहे तो चित्त को होनेवाला निर्भ्रान्त यथार्थानुभव ही प्रमा है।

श्री वाचस्पति मिश्र केवल चित्तवृत्ति के पास अटकते नहीं है। परन्तु वे आगे कहते है कि, चित्तवृत्ति द्वारा पुरुष को जो ज्ञान (बोध) होता है, उसका नाम प्रमा है। प्रथम दृष्टि से यह सच भी लगेगा। क्योंकि, घडा आंख के द्वारा चित्त पर चाहे अपनी छाया गिराये, परन्तु अनुभव तो **"मैं घडे के ज्ञानवाला हुआ"** ऐसा ही होता लगता है।

परन्तु यह बराबर नहीं है। सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष उदासीन है। वह अनुभवो से पर है। उसको प्रमाता भी नही कहा जा सकता। तो फिर यहां क्या समजना ? इसका खुलासा यह है कि चैतन्य ऐसे पुरुष का प्रतिबिंब चित्तवृत्ति में पडता है। परिणामस्वरुप चित्तवृत्ति वस्तु का आकार धारण करती है। और इसलिए इस प्रतिबिंब के कारण पुरुष अनुभव करता है, वैसा भ्रम होता है। दूसरी तरह से देखे तो अचेतनचित्तवृत्ति स्वयं कोई अनुभव कर सकती नहीं है। इसलिए चैतन्य के प्रतिबिंब द्वारा ही उसका व्यापार संभव हुआ है।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥

इन्द्रिय से होता प्रत्येक विषय का निश्चय वह **प्रत्यक्षप्रमाण** है। अनुमान तीन प्रकार का है। और वह लिंग (हेतु) और लिंगी (साध्य) के संबंध पर आधारित है तथा श्रद्धेय श्रुति वह शब्दप्रमाण है। (कारिका - ५) इसके विषय में विशेष आगे बताया गया है। इसलिए यहाँ बताया नहीं है।

अब कारिकाकार प्रमाण द्वारा सांख्योक्त प्रमेय-पदार्थों की सत्ता की सिद्धि किस-किस प्रमाण से होती है, इसका प्रतिपादन करते है -

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

– अतीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान से होता है। इससे भी जो सिद्ध न हो सके वैसे परोक्ष पदार्थ का ज्ञान आप्तशास्त्र से होता है। (कारिका – ६)

इन्द्रिय से गम्य न हो, वैसे प्रधान और पुरुष इत्यादिकी प्रतीति **'सामान्यतोदृष्ट'** अनुमान से होती है।

अतीन्द्रिय पदार्थो का प्रत्यक्ष न होने का कारण बताते हुए कारिकाकार कहते है कि,

अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥

– बहोत (अति) दूर होने से, बहोत पास होने से, इन्द्रिय में हानि होने से, मन स्थिर न रहने से, वस्तु (अति) सूक्ष्म होने से, कोई आवरण (बीच में) आने से, (कोई बलवान कारण की वजह से) अभिभूत होने से या समान वस्तु में मिल जाने से पदार्थ की प्रतीति नहीं होती है। (कारिका – ७)

कहने का मतलब यह है कि केवल इन्द्रिय से ही जिसका ग्रहण हो सके, वही पदार्थ अस्तित्व रखते है, ऐसा नहीं है। बहोत बार एक या दूसरे कारण से इन्द्रियां पदार्थो का ग्रहण नहीं कर सकती है। इस कारिका में ऐसे आठ कारणो को उपर अनुसार बताया गया है।

आचार्यो की मान्यता : इस आठ कारणो के उपरांत श्री वाचस्पति मिश्र नौंवा कारण भी बढाते है। पदार्थ में अप्रकटरुप रही हुई उसकी भावि अवस्था की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे कि, दूध में दहीं सूक्ष्मरुप में रहा हुआ है ही। परन्तु वह दिखाई नहीं देता।

माठरवृत्ति दूसरे चार कारणो का बढावा करती है। जबकि, श्री चन्द्रिका इन कारणो को और भी बढाया जा सकता है, ऐसा सूचन करती है। श्री पतंजली के भाष्य में छः कारण बताये गये है। उसका उपर के आठ कारणो के साथ बहोत साम्य है। श्री सोवनी मानते है कि "इन्द्रियघातात्" और "मनोऽनवस्थानात्" ये दो अलग बताने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मन भी एक इन्द्रिय ही है। श्री जयमंगला का इन आठ कारणो को निम्नोक्त रीति से चार विभागो में बांटते है।

(१) देशदोष – अति दूर, अति पास (नजदीक), (२) इन्द्रियदोष – इन्द्रियघात, मनका अनवस्थान, (३) विषयदोष – सौक्ष्म्य, (सूक्ष्मता) (४) अर्थान्तरदोष – व्यवधान, अभिभव, समानाभिहार।

सांख्यशास्त्रोक्त 'प्रकृति' पदार्थ की अप्रत्यक्षता में कारण बताते हुए कारिकाकार कहते है कि,

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।

महादादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरुपं विरुपं च ॥८॥

– उसकी (मूलप्रकृतिकी) उपलब्धि उसकी सूक्ष्मता के कारण नहीं होती है। नहि कि उसके अभाव से, क्योंकि उसके कार्य से उसकी उपलब्धि होती है। महद् इत्यादि (तत्त्व) उनका कार्य है और वे प्रकृति के जैसा भी है और उससे अलग भी है। (कारिका – ८)

सातवी कारिका में प्रकृति और पुरुष इन्द्रियगोचर नहीं है वह बताया। इस कारिका में अतीन्द्रिय होने पर भी अस्तित्व है, ऐसा बताते है। वह प्रकृति (मूल) सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियगोचर बनती नहीं है। उपर की कारिका में आये हुए सूक्ष्म से यहाँ अलग है। सूक्ष्म, व्यक्त और अव्यक्त निश्चित अर्थ में इस्तेमाल हुआ है।

साम्यावस्था में मूलप्रकृति अव्यक्त होती है। इसलिए हमारी दृष्टिमर्यादा में आती नहीं है। परन्तु सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, वे तीनो के संघर्ष से जो अनेकपदार्थ उत्पन्न होते है। वे हमारी इन्द्रिय के विषय होते है, यानी व्यक्त है। वह आकृति से व्यक्त होते है। रुप से या गंध से अथवा कोई प्रत्यक्ष गुण से व्यक्त होते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह से प्रकृति अव्यक्त और सूक्ष्म होने से उसकी उपलब्धि होती नहीं है। इसलिए उसका अभाव मानने की आवश्यकता नहीं है। उसकी उपलब्धि अनुमान से होती है। कोई भी कार्य हो तो उसका कारण भी होना चाहिए। व्यक्त पदार्थ कार्य है। इसलिए सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार से वे सबका मूलरुप ऐसी प्रकृति होनी चाहिए, ऐसा सिद्ध होता है। यह व्यक्त कार्य कुछ अंश से कारण ऐसी अव्यक्त प्रकृति के साथ साम्य रखता है और कुछ अंश से वैधर्म्य भी रखता है।

अब सांख्यदर्शन का महत्त्वपूर्ण सत्कार्यवाद का सिद्धांत का कारिकाकार प्रतिपादन करते है -

असद्करणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाश्च सत्कार्यम् ॥९॥

कारिका - ९ में सांख्य के सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए पाँच कारण दीये है। वे आगे विस्तार से बताए हुए है। इसलिए यहाँ बताते नहीं है। अर्थ स्पष्ट है।

अब कारिकाकार कारणरुप अव्यक्त और कार्यरुप व्यक्त का गुण बताते है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

कारिका - १० में व्यक्त और अव्यक्त का स्वरुप बताया गया है यह भी आगे आ गया है। वहाँ से देख लेना।

त्रिगुणमविवेकी विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

व्यक्त और प्रधान (ये दोनो) तीन गुण से युक्त, अविवेकी, विषय, सबको उपलब्ध, अचेतन और प्रसवधर्मि है। पुरुष इससे उलटा (विपरीत) है (कारिका - ११)। कहने का मतलब यह है कि व्यक्त और प्रधान नीचे के धर्मोवाले है।

(१) **त्रिगुणम् :** अव्यक्त (प्रकृति) सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीन गुणो से युक्त है। सांख्यमत अनुसार से ये गुण किसीके धर्म नहीं है। परंतु सुखादि धर्मवाला धर्मी है। यह समस्तजगत इन तीन गुणो का ही विस्तार है। इसके विषय में आगे बहोत कहा गया है।

(२) **अविवेकी :** विवेक यानी विभिन्नतत्त्वो के बीच का भेद स्पष्ट करना वह और यह विवेक जिसमें हो उसे विवेकी कहा जाता है। प्रधान और व्यक्त में ऐसे प्रकार का विवेक संभव नहीं है। दोनो कारण-कार्य संबंध से युक्त है। और सत्कार्यवाद अनुसार से दोनो एकदूसरे से नितान्त भिन्न हो सके वैसा नहीं है। वैसे महदादि अपने को प्रधान से बिलकुल भिन्नरुप से ग्रहण कर सके वैसा नहीं है। और प्रधान ख़ुद भी अपने को अलग कर सके ऐसा नहीं है। इसलिए इस अर्थ में दोनो अविवेकी है।

विवेक चेतन का धर्म है। प्रधान और व्यक्त, ये दोनो अचेतन होने से विवेक कर सके वैसा नहीं है। इसलिए वे अविवेकी है। श्री वाचस्पति मिश्र अविवेकी का एक दूसरा भी अर्थ देते है। महत् इत्यादि अकेला स्वयं कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता है। वे सब साथ मिलकर ही क्रिया कर सकते है। और इस तरह से वे परस्पर में मिले हुए होने से अविवेकी है।

(३) **विषय :** दोनो, ज्ञान के विषय हो सकते है।

(४) **सामान्य :** सर्व के ज्ञान के विषय हो सकने के कारण सर्वसाधारण होने से **सामान्य** है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गौड, श्री माठर, श्री जयमंगला और श्री चन्द्रिका उसको समजाने के लिए दृष्टांत देते है कि, **'मूल्यदासीवत्'** यद्यपि श्री चन्द्रिका आगे कहते है कि गुणात्मक होने से वह सामान्य है।

(५) **अचेतन :** बुद्धि (महद्) इत्यादि सर्वतत्त्व अचेतन है। श्री वाचस्पति मिश्र कहते है कि बौद्धो ने चाहे बुद्धि को चेतन माना हो, परन्तु वास्तव में तो बुद्धि स्वयं ही जडप्रकृति का कार्य होने से चेतन नहीं हो सकती। इस तरह से प्रधान (अव्यक्त) भी अचेतन ही है और बुद्धि इत्यादि को उत्पन्न करता है। इसलिए उसको चेतन मानने की जरुरत नहीं है। क्योंकि जड में से जैसे घडा उत्पन्न हो सकता है, वैसे उसकी भी उत्पत्ति संभवित हो सकती है।

(६) **प्रसवधर्मि :** इस प्रकार दोनो अपने अपने कार्य को उत्पन्न करते है, इसलिए वह प्रसवधर्मि है।

पुरुष इससे उलटा है। वह **अत्रिगुण** है। क्योंकि वह निर्गुण है। वह विवेकी है। अविषय है। असाधारण है चेतन और अप्रसवधर्मि है। पुरुष सुख, दुःख का अनुभव करता है। इसलिए चेतन है। परन्तु सुख, दुःख इत्यादि आत्मा में रहता है। वह मत न्यायदर्शनका है, सांख्य का नहीं, वह याद रखना। इसी तरह से वह चेतन है, इसलिए चैतन्य का आधार है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, वह स्वयं चैतन्य है।

व्यक्त	**अव्यक्त**	**पुरुष**
हेतुमत्	अहेतुमत्	अहेतुमत्
अनित्य	नित्य	नित्य
अव्यापि	व्यापि	व्यापि
सक्रिय	निष्क्रिय	निष्क्रिय
अनेक	एक	अनेक
आश्रित	अनाश्रित	अनाश्रित
लिंग	अलिंग	अलिंग
सावयव	निरवयव	निरवयव
परतंत्र	स्वतंत्र	स्वतंत्र

इस तरह से पुरुष, व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य और वैधर्म्य है।

अब सत्त्वादि तीन गुणो का स्वरुप बताते है -

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

- (तीन) गुण (अनुक्रमसे) सुख, दुःख और मोहवाले है। उसका प्रयोजन (अनुक्रम से) प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन है। वे ही (वे गुण) परस्पर, अभिभव,आश्रय, उत्पत्ति और सहचार वृत्तिवाले है। (कारिका - १२)

यहाँ याद रखना कि, सांख्यदर्शन अनुसार से ये तीन गुण न्यायवैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित गुण जैसे नहीं है। ये तीन गुण धर्म नहीं है परन्तु धर्मी है। ये गुण प्रकृति से भिन्न नहीं है इसलिए उनको प्रकृति के धर्म भी नहीं कहे जा सकते। वे प्रकृति का ही स्वरुप है। प्रत्येक गुण में कुछ धर्म है वे नीचे बताये गये है।

सत्त्व : प्रीति, लघु, प्रकाशक, सुख, ऋजुता, मृदुता, सत्य, शौच, लज्जा, बुद्धि, क्षमा, दया, ज्ञान, प्रसाद, तितिक्षा, संतोष इत्यादि।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजस् : अप्रीति, उपष्टम्भन, चल, दुःख, द्वेष, द्रोह, मत्सर, निंदा, उत्कंठा, तिरस्कार, शठता, वंचना, बंध, वध, छेदन, शोक, अशान्ति, युद्ध, आरंभरुचिता, तृष्णा, संग, काम, क्रोध आदि।

तमस् : विषाद, गुरु, आवरण, मोह, अज्ञान, मद, आलस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिकता, स्वप्न, निद्रा इत्यादि।

इस तरह से गुणो का स्वरुप समजाया। अब उसका प्रयोजन भी स्पष्ट करते है। सत्त्व यह प्रकाश के लिए है।

अर्थात् वस्तुमात्र में रहे हुए सत् को-मूलतत्त्व को प्रकाशित करता है। और उस तरह से उसका बुद्धि के साथ सीधा संबंध है। सत्त्वगुण लघु है। प्रकाश के जैसे ही हलका है। उसकी वृत्ति सर्जनव्यापार करने की है। और उसको गति देता है रजोगुण। क्योंकि रजोगुण का ध्येय ही प्रवृत्ति है।

परंतु इस गति को अवरोधित करनेवाला-नियमन करनेवाला और उस अर्थ में नीचे ले जाने की वृत्तिवाला बल वह तमोगुण है। सत्त्व की बिलकुल सामने की दिशा में तमोगुण रहा हुआ है। यदि वह रास्ते में न आये तो रजोगुण पडा हुआ है। यदि वह रास्ते में न आये तो ही रजोगुण सत्त्वगुण की सर्गक्रिया में प्रयोजन कर सकता है।

ये तीन गुण परस्पर अभिभव करते है। यानी कि कभी रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण प्रकट होता है, तो कभी सत्त्व और तमोगुण को दबाकर रजोगुण अवस्थित होता है। कभी अन्य दो को दबाकर तमोगुण विशेष बाहर आता है।

तीनो परस्पर आश्रय देनेवाले है। यद्यपि आश्रय यानी आधार देनेवाले ऐसा नहीं है। परन्तु परस्पर को सहकार देनेवाले है ऐसा समजना है।

वैसे ही ये तीनो गुण उत्पत्तिक्रिया में परस्पर सहाय करनेवाले है। उत्पत्ति अर्थात् किसी बिलकुल अपूर्व की उत्पत्ति नहीं। परन्तु जे ते रुप में परिवर्तित करना वह।

इसके उपरांत ये गुण अन्योन्य मिथुनवृत्तिवाले होते है। एकदूसरे के साथ जुडे हुए होते है।

अब तीन गुण को सोदाहरण समजाते हुए कहते है कि,

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

– सत्त्वगुण लघु, प्रकाशक और इष्ट है। रजोगुण उत्साहोत्पादक और अस्थिर है। तमोगुण भारी और आच्छादक है। वे दीपक की तरह एक ही अर्थ (प्रयोजन) के लिए क्रिया (वृत्ति) करता है। (कारिका - १३)

भावार्थ : सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक माना गया है। रजोगुण उत्तेजक और चल है। तमोगुण गुरु और आवरणरुप है। उनकी क्रियायें दीपक की भांति एक ही प्रयोजन के लिए होती है। कहने का मतलब यह है कि, दीपक में (दीये में) जैसे बाती, तेल और ज्योत तीनो परस्पर से भिन्न (अलग) है। इतना ही नहीं परन्तु विरोधी भी है। तो भी प्रकाश की क्रिया में वे एकसाथ जुडते है। ऐसा तीन गुणो में समजना। इसके उपरांत श्री वाचस्पति मिश्र दूसरा उदाहरण देते है कि, जिस तरह से वात, पित्त और कफ परस्पर विरुद्ध गुण रखनेवाली धातु होने पर भी शरीर के धारण, पोषण इत्यादि में सहायभूत होती है। उसी तरह से ही ये गुण परस्पर विरुद्ध होने पर भी परस्पर के साथ बसकर उसका प्रयोजन सिद्ध करते है।

ये तीनो गुण के सुख, दुःख और मोह जैसे विरोधी धर्म होते हुए भी उनका कार्य एक साथ हो सकता है। वह समजाते हुए श्री वाचस्पतिमिश्र एक रुपयौवनकुलसम्पन्न स्त्रीका उदाहरण देते है। यह स्त्री उसके पति को सुख देती है। सपत्नी को दुःख देती है और कोई अन्य पुरुष को मोहित करती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु श्री गौड, श्री माठर और श्री जय सत्त्व गुण को उपर कहे हुए स्त्री के दृष्टांत से, रजोगुण को क्षत्रिय के दृष्टांत से और तमोगुण को बादलो के उदाहरण से समजाते है। रुपयौवनकुलसम्पन्न स्त्री यह सत्त्वगुण के प्रकार की है। क्षत्रिय वह राजस् है। वह स्वामी या शिष्टो को सुख देता है। शत्रुओ को दुःख और दुष्टो को मोह लगाता है। श्यामल बादल वह तामस् है। गर्मी से संताप पानेवाले को सुख देता है। किसानो को प्रवृत्ति में जोडता है और विरही प्रेमीओ को मोह लगाता है।

गुणो के ऐसे प्रकार के मिश्रण से जगत के वैविध्य का भी खुलासा दीया जा सकता है।

सत्त्वादि तीन गुणो की साम्यावस्था-मूलप्रकृति को अव्यक्त भी कहा है। अत्यंत सूक्ष्म होने से इन्द्रिय अगोचर है। अतः बुद्धि के द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु अनुमान प्रमाण से उनकी सिद्धि होती है। क्योंकि महत्तत्त्वादि इस अव्यक्त के कार्य है और सत्कार्यवाद का सिद्धांत से कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतः मूलप्रकृति रुप कारण की सिद्धि होती है। इसी की प्रस्तुति के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते है।

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्यऽव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

भावार्थ : अविवेकपन इत्यादि धर्मो की सिद्धि तीन गुण होने के कारण होती है। क्योंकि (अविवेकीपन इत्यादि धर्म) के विरोधी (ऐसे पुरुष) में उसका अभाव है। और कार्य में कारण के गुण होते है। इसलिए अव्यक्त भी सिद्ध होता है। ॥कारिका - १४॥

(इस कारिका को समजने के लिए ११वीं कारिका में जो बात कही है उसे याद करनी पडेगी। ११वीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त का साम्य और उन दोनो से पुरुष का वैधर्म्य बताया गया है। व्यक्त और अव्यक्त के बीच छः लक्षण समान है। **(१) अविवेकता, (२) त्रैगुण्य, (३) विषयता, (४) सामान्यता, (५) अचेतनत्व, (६) प्रसवधर्मिता**। परन्तु ये छः के छः लक्षण, उन दोनो में है इसका प्रमाण क्या है ? उसका प्रमाण कारिका - १४ में बताया गया है।

''अविवेकि'' इत्यादि छः लक्षण सिद्ध हो सके वैसे है। क्योंकि जो व्यक्त है उसमें सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनो गुण उसके सुख, दुःख और मोह के माध्यम से रहे हुए हम सब महसूस कर सकते है। इसलिए व्यक्त तो त्रिगुणात्मक है, वह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो जाता है। वैसे भी, जहाँ त्रैगुण्य हो वहाँ बाकी के पाँच का विपर्यय (अभाव) हो ऐसा एक दृष्टांत भी मिल सके वैसा नहीं है। वैसे व्यक्त में तो इन छः लक्षणो का अस्तित्व आसानी से सिद्ध हो सकता है।

श्री वाचस्पति मिश्र कहते है कि, अविवेकि इत्यादि का जहाँ सम्पूर्ण अभाव हो, वहां त्रैगुण्य का भी अभाव है। जैसे कि, पुरुष में। पुरुष त्रिगुण से पर है। और उसमें बाकी के पाँच लक्षण भी नहीं है। परन्तु अव्यक्त (प्रधान) के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह तो त्रिगुणात्मक है ही और इसलिए बाकी के पांच लक्षण भी उसमें सिद्ध होते है।

व्यक्त और उसके उपर बताये गये छः लक्षण तो स्पष्ट महसूस किये जा सकते है। उसका विनियोग अव्यक्त में भी किया गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि अव्यक्त नाम का कोई स्वतंत्रतत्त्व अस्तित्व रखता है क्या ? जब तक वह सिद्ध न हो तब तक उपर के छः लक्षणो का विनियोग करना निरर्थक है। कारिका - १४ के उत्तरार्ध में अव्यक्त के अस्तित्व को सिद्ध करते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है। व्यक्त यह कार्य है। इसलिए उसका भी कोई कारण होना चाहिए। और सांख्य के सत्कार्यवाद अनुसार से कारण के गुण कार्य में भी होने चाहिए। इसलिए कार्य के गुण देखकर वैसे सजातीयगुणवाले कारण का भी अनुमान किया जा सकता और इस अनुसार उपर के छः लक्षण युक्त व्यक्त ऐसे कार्य के आधार से वैसे ही लक्षणोवाले अव्यक्त को भी सिद्ध किया जा सकता है।

परन्तु उपर की दलिल से कारण के गुण कार्य में होते है, उतना ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए यदि अव्यक्त को व्यक्त का कारण माने, तो व्यक्त के कुछ धर्म अव्यक्त में है ऐसा सिद्ध हो सके। परन्तु व्यक्त का कारण अव्यक्त ही है, वह कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? व्यक्त का कारण व्यक्त क्यूं न हो सके ? जैसेकि, न्यायमत अनुसार से व्यक्त ऐसी स्थूलसृष्टि का कारण परमाणुओ को माना ही गया है, तो यहाँ भी वैसा क्यों न हो सके ? इसका उत्तर बाकी की दो कारिकायें देती है।

Central Library 185454 Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरुप्यस्य ॥१५॥
कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाश्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रय विशेषात् ॥१६॥

भावार्थ : अव्यक्त कारण है। क्योंकि (१) (महदादि) भेद परिमित है। (२) उसका समन्वय होता है। (३) (कारण की) शक्ति से (उसके अनुरुप कार्य की) प्रवृत्ति होती है। (४) कार्य और कारण के बीच विभाग होता है। और (५) (प्रलय के समय) विश्वरुप (ऐसे कार्य) का (उसके कारण ऐसे प्रधान में) लय होता है।

(और यह प्रधान) तीन गुणो के द्वारा उनके सम्मिश्रण से (अलग-अलग आश्रय लेने से अलग-अलग स्वाद को प्राप्त करनेवाले) जल की तरह प्रत्येक गुण का विशेष रुप से (मुख्य के रुप में) आश्रय लेने से (अलग-अलग) परिणाम पाकर प्रवृत्ति करता है।

इन कारिकाओ में मूलप्रकृति के अस्तित्व को अनुमान से सिद्ध किया गया है। व्यक्त ऐसे कार्य के कारणरुप से प्रकृति के अस्तित्व का स्वीकार नीचे की पाँच बातो से सिद्ध होता है।

(१) भेदानां परिमाणात् : महदादि भेद परिमित है। महद् से लेकर पंचमहाभूतो तक के सर्वतत्त्व कार्य है। वे प्रकृति के घटक है। मिट्टी में से घट इत्यादि अलग-अलग वस्तु बनी हुई देख सकते है। घट इत्यादि वस्तु सीमित भी है। घट निश्चित जगह ही रोकता है। वह सर्वत्र नहीं है। वह परिमित है। महद् इत्यादि भी इस तरह से परिमित है।

दूसरी तरह से देखे तो घट, कटोरा (शकोरा) इत्यादि मिट्टी की वस्तुएं स्वतन्त्र उत्पन्न नहीं हुई है। वह मिट्टी में से बनी है। वह मिट्टी का परिणाम है - उसका विकार है। इसलिए उसका कारण ढूंढते - ढूंढते हम उसके उपादान मिट्टी तक पहुचते है। उसी तरह से महद् इत्यादि का कारण ढूंढते - ढूंढते हम मूलप्रकृति तक पहुंचते है। वह किसीका विकार नहीं है। वह एक और भेदविहीन है। यदि वह भी भेदयुक्त हो तो उसके भेद अलग- अलग देखे जा सकते। और उसको भी विकार कहा जा सकता। परन्तु वैसे नहीं है। इसलिए वह इस सर्वविकारो का मूलकारण है। वह विकार नहीं है, वह उसके विकारो से अलग भी है और इस तरह से वह व्यक्त भी नहीं है अर्थात् अव्यक्त है।

(२) समन्वयात् - भिन्नानां समानरुपता समन्वय : सत्कार्यवाद के सिद्धांत अनुसार से कार्य और कारण में कुछ अंश से समानता भी देख सकते है। इसलिए कार्य से शुरु करके यह समानता ढूंढते - ढूंढते हम जैसे जैसे

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे जाते जायेंगे, वैसे वैसे भिन्नता कम होती है और समानरुपता बढती जाती है वैसा प्रतीत होगा। आखिर में एक ऐसी स्थिति आयेगी कि जहाँ भेदमात्र धुलकर केवल समरुपता ही रहेगी। इससे आगे जाने की जरुरत नहीं लगेगी। उसको ही हम अन्यनिरपेक्ष ऐसा अंतिमकारण कहते है। अंगूठी और कंगन, इन दोनो के बीच की भिन्नता जब सुवर्ण (सोने) तक पहुंचते है तब धुलकर केवल सोना (सुवर्ण) ही रहता है और वही कारण है। महद् इत्यादि, सुख, दुःख, मोह इत्यादिकी समानता प्रतीत होती है। उस दिशा में आगे बढने से आखिर में प्रकृति तक पहुंचा जायेगा और इसलिए वह प्रकृति ये सबका अव्यक्त ऐसा कारण है।

(३) **शक्तितः प्रवृत्तेश्च - कारणशक्तितः कार्यप्रवृत्तेश्च :** कारण में से कार्य उत्पन्न होता है, वह किस तरह से होता है। उसका विचार करे तो मालूम होगा कि कारण में रही हुई (निहित) सुगुप्तशक्ति ही कारण को कार्य में परिवर्तित करती है। इसलिए ऐसा भी समजा जा सकेगा कि प्रत्येक कार्य उसके योग्य ऐसे कारण में से ही उत्पन्न होता है। तेल तेलहन में से ही निकलता है - रेतमें से नहीं। इस तरह से त्रिगुणात्मक महद् इत्यादिक सत्त्व, रजस् और तमोरुप प्रकृति से उत्पन्न होता है, ऐसा सिद्ध किया जा सकता है और इस तरह से प्रकृति ही कारण है, वैसा सिद्ध हो सकेगा।

ऐसी शंका जाये कि इस अव्यक्त प्रकृत्ति का भी कोई कारण कैसे न हो सके? वह भी किसी अन्य शक्ति का परिणाम हो तो? उसका जवाब श्री वाचस्पति मिश्र देते है कि प्रकृति भी किसी शक्ति का परिणाम हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। अव्यक्त प्रकृति की शक्ति से ही कार्य प्रवृत्त होता है। अव्यक्त के लिए भी अन्यशक्ति की कल्पना करने की आवश्यकना नहीं है। वैसे ही अव्यक्त का व्यक्त में परिणमन होने से अव्यक्त के अपने स्वरुप को बाध आयेगा। ऐसा भी मानना आवश्यक नहीं है। दीपक के प्रकाश से अन्यपदार्थ प्रकाशित होते है। परन्तु इसलिए दीपक को भी अन्य दीपक के प्रकाश की आवश्यकता है, ऐसा कोई मानता नहीं है।

(४) **कार्यकारणविभागात् :** श्री वाचस्पति मिश्र विभाग का अर्थ आविर्भाव ऐसा करते है। जैसे कछुंअे के शरीर में से उसके अंग बाहर की ओर निक्लते है और फिर उसमें समा जाते है। अथवा जैसे मिट्टी या सुवर्ण के पिंड में से घट या मुकुट इत्यादि आविर्भूत होते है। उसी ही तरह से तन्मात्रा में से पृथ्वी इत्यादि, अहंकार में से तन्मात्रा, महद् में से अहंकार और अव्यक्त में से महद् आविर्भूत होता है। परंतु श्री जयमंगला, श्री माठर और श्री गौड विभाग का अर्थभेद ऐसा करते है। कारण और कार्य के बीच भेद होता है। मिट्टी यह कारण है, घडा यह कार्य है। घडे में पानी भर सकते है, मिट्टी में नहीं, इस प्रकार उन दोनो का भेद स्पष्ट है।

(५) **अविभागाद् वैश्वरुपस्य :** श्री वाचस्पति, श्री गौड, श्री माठर सभी अविभाग अर्थात् **''मिल जाना''** लय पाना ऐसा ही अर्थ करते है। श्री वाचस्पति कहते है कि, जैसे कार्य कारण में आविर्भूत होता है। वैसे फिर से प्रलयकाल में उसमें मिल भी जाता है। वैश्वरुप यानी कार्य का नानापन-वैविध्य। महद् इत्यादि जब उसके मूलकारण ऐसी प्रकृति में लय हो जाते है, तब बाद में वैविध्य नहीं रहता है। कुछ भी व्यक्त नहीं रहता, अव्यक्त ऐसी प्रकृति ही रहती है।

इस तरह से अव्यक्तप्रकृत्ति को व्यक्त का कारण सिद्ध करने के बाद उस अव्यक्त में से व्यक्त किस तरह से आविर्भाव पाता है और दृश्यमान जगत में जो अनेकविध पदार्थ दीखते है, उसमें प्रकृत्ति कौन सी भूमिका अदा करती है वह कारिका - १६ में समजाया गया है।

प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च - श्री वाचस्पति **त्रिगुणतः** और **समुदयात्** ये दो शब्दो के द्वारा गुणो की दो प्रकार की प्रवृत्ति समजते है। प्रलयकाल में तीनो गुण साम्यावस्था में होते है। गुण तो परिणाम स्वभाववाले होने से अधिकारशील नहीं रह सकते। इसलिए इस अवस्था में सत्त्व, रजस् और तमस् अपने अपने रुप में ही

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणमित होते है। यह प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति हुई। परन्तु जब सृष्टिसर्जन का प्रारंभ होता है, तब यह साम्यावस्था तूटती है। वहां विषमावस्था आती है उसका नाम ही "**समुदय**" है।

तीनो गुण एकदूसरे के साथ अलग-अलग प्रमाण में समुदय पाते है और सर्जन का प्रारंभ होता है। एक ही प्रकृति में से यह सब सर्जन होता है। परन्तु उसमें जो वैविध्य दीखता है। उसका कारण इन तीन गुणो का कम-ज्यादापन है। कोई एक ही गुण स्वतंत्र रुप से कुछ नहीं कर सकता। दूसरे दो के साथ रहकर ही वह प्रवृत्ति होती है और उनके मिलन में वह तारतम्य है। उसके परिणाम से ही नानापन (वैविध्य) होता है। यह बात पानी के दृष्टांत से स्पष्ट करते है। आकाश में रहे हुअे बादलो में से पानी तो एकसमान ही गिरता है। उसका स्वाद भी एक ही प्रकार का होता है। परन्तु अलग अलग वृक्ष के मूल में सिंच के उस उस फलो में वह अलग अलग रस में परिणमित होता है। उसी तरह से एक ही प्रधान में से आविर्भाव पाकर समस्त जगत विविध रुपोवाला बनता है।

इस तरह से बाह्यरुप से दिखती इस सृष्टि की विविधता के मूल में तो अव्यक्त की एकता ही रही हुई है। एक ही सच्चा और एकमेव कारण है। अन्य सब उसके विकार है। जो विकार है वह व्यक्त है। परन्तु जो अविकारी है वही अव्यक्त है।

अव्यक्तरुप मूलकारण की सिद्धि और उसकी प्रवृत्ति का प्रकारो का कथन करने के बाद ग्रंथकार सांख्यशास्त्र के द्वितीय नित्यतत्त्व 'पुरुष' की सत्ता का प्रतिपादन करते हुए आगे की कारिका बताते है।

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्यादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

भावार्थ : पुरुष का (अस्तित्व सिद्ध हो सकता है।) क्योंकि (१) संघात पाये हुए (जड) पदार्थे अन्य के उपयोग के लिए होते है। (२) सत्त्वादि तीन गुण इत्यादि धर्मो से वह विपरित धर्मवाला है। (३) अधिष्ठान रुप है। (४) (उसमें) भोक्तापन का भाव है। (५) कैवल्य के लिए प्रवृत्ति होती दिखाई देती है।

(१) **सङ्घातपरार्थत्वात् : सङ्घातानां परार्थत्वात्** - संघात यानी जिसमें अनेक विशेषो का सम्मिश्रण हुआ है वह। कोई एक वस्तु समजने का प्रयत्न करेंगे तो उसमें अनेक अन्यवस्तुओ का मिश्रण मिला हुआ दिखाई देगा।

अब संघात खुद अपने उपयोग के लिए नहीं है। वह समजा जा सकता है। लकडी, पाटी, स्क्रू, गद्दी इत्यादि वस्तुओ के मिश्रण से बना हुआ पलंग दूसरो के सोने के लिए होता है। अर्थात् पर-अर्थ है। हमने आगे देखा कि अव्यक्त प्रकृति प्रारंभ में तो तीन गुण की साम्यावस्था में ही होती है। और तब कुछ सर्जन नहीं होता है। परन्तु जब गुणो में क्षोभ होता है, तब उसमें से क्रमशः तेईस तत्त्व प्रकट होते है। उन सबको हम संघात कह सकेंगे।

प्रकृति के द्वारा होता परिणमन, प्रकृति से भिन्न ऐसे पुरुष के लिए हुआ है। शयन-आसन इत्यादि के द्वारा जैसे उसके उपयोग करनेवाले अन्य व्यक्ति का अनुमान हो सकता है। उसी तरह से अव्यक्तादि संघात परार्थ अर्थात् पुरुष के लिए है। ऐसा भी अनुमान हो सकता है।

(२) **त्रिगुणविपर्ययात् :** आगे देखा वैसे अव्यक्त की साम्यावस्था में जो परिणमन होता है। उससे भिन्न ऐसे अन्य के लिए (पुरुष के लिए) होता है। तो यह अन्य तत्त्व उससे भिन्न यानी उसके गुणधर्मो से रहित भी होना जरुरी है। इसलिए पुरुष त्रिगुण से रहित है। इस प्रकार त्रिगुण से रहित ऐसे पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(३) **अधिष्ठानात् :** जैसे रथ इत्यादि को नियमन करनेवाला अधिष्ठाता होता है। उसी तरह से महदादि के अधिष्ठाता ऐसे पुरुष का भी स्वीकार करना ही पडेगा।

शंका : रथ का सारथि तो सक्रिय है। परन्तु पुरुष निर्गुण होने से निष्क्रिय है। इसलिए वह अधिष्ठाता किस

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह-से हो सकेगा ? **समाधान :** ऐसा कोई नियम नहीं है कि सक्रिय ही क्रिया करा सके। कंई बार केवल सामीप्य से भी क्रिया होती है। जैसे कि, चुम्बक की समीपता लोह में क्रिया उत्पन्न करती ही है।

(४) **भोक्तृभावात् :** यह त्रिगुणात्मक जगत भोग्य है। इसलिए उसका कोई भोक्ता आवश्यक है। हम सबको ऐसी प्रतीति होती है कि हम इस जगत का अनुभव कर रहे है। वह अनुभव करनेवाला स्वयं अनुभव से अलग है। वही भोक्ता है और जगत उसके अनुभव का पात्र-भोग्य है। वही चेतन पुरुष है। पल-पल में परिवर्तन पाते इस जगत का और उसके मूलकारण अव्यक्त प्रकृति का अनुभव करता है।

यहाँ पुरुष बुद्धि द्वारा भोक्ता बनता है, वह याद रखना। इसके उपर से समजा जा सकता है कि पुरुष वह चैतन्य से युक्त ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, परन्तु स्वयं चैतन्य है और वह शुद्धचैतन्य भोग से पर है। सांख्यमत अनुसार से चैतन्य का प्रतिबिंब **''सत्त्व''** के उपर पडता है और इसलिए **''सत्त्व''** (बुद्धि) जगत का अनुभव करती है। इस तरह से देखने से चेतनयुक्त बुद्धि और चैतन्य इन दोनो का भेद स्पष्ट होता है।

शंका : चार्वाक जैसे भूतचैतन्यवादी ऐसी शंका करते है कि, यदि ऐसा ही हो, तो प्रकृति को ही भोक्ता क्यों न माने ? उसका ही अंश ऐसी बुद्धि किसी का प्रतिबिंब ग्रहण करे और बाद में अनुभव करे, ऐसी लम्बी प्रक्रिया की क्या आवश्यकता है ?। चीनी की चासनी या ऐसे बहोत पदार्थो में उफान या खमीर अपने आप ही नहीं आता ? अनुभव भी प्रकृति में इस तरह से स्वतः है, ऐसा मानना ज्यादा उचित नहीं है ?

समाधान : उफान आया है वैसा कौन अनुभव करता है ? दूध का दहीं होता है परन्तु क्या दूध को उसका ज्ञान है ? जिनको अनुभव हुआ हो वह, इतना ज्ञान तो निश्चित रखता है कि **''मुझे अनुभव हो रहा है।''** जड पदार्थो में यह भान स्वतंत्र रुप से संभव हो सकता नहीं है। अनुभव की असर भी अनुभवकर्ता में देख सकते है। जैसे कि ''में सुखी हूँ''। ''में दुःखी हूँ''। इसलिए केवल प्रकृति को भोग्य और भोक्ता मानना उचित नहीं है। वह केवल भोग्य है। पुरुष भोक्ता है।

(५) **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च :** कैवल्य यानी मोक्ष। कैवल्यप्राप्ति ही महत्त्व का पुरुषार्थ है और मोक्ष पाना यहीं परम ध्येय है। इस दुःख में से मुक्त होना जो चाहता है, वह स्वयं दुःखस्वरुप प्रकृति से अलग हो सकेगा। और वही चेतन आत्मा है, पुरुष है।

परन्तु इसके लिए प्रवृत्ति कौन करता है ? पुरुष नहीं क्योंकि वह तो असंग है। शुद्ध चैतन्य को दुःख संभवित नहीं है। बंधन भी नहीं है। इसलिए उसके लिए मोक्ष पाने जैसा भी नहीं है। अनुभव तो बुद्धि में प्रतिबिंबित हुए चेतन का है और इसलिए उसमें से छूटने का प्रयत्न प्रधान अर्थात् प्रकृति को करना है, ऐसा श्री माठर और श्री गौड मानते है। परंतु श्री वाचस्पति यह प्रवृत्ति शास्त्रो की और महर्षियो की है ऐसा मानते है।

अब प्रस्तुत कारिका में सांख्यदर्शन का 'पुरुषबहुत्व' नाम का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है।

''जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाश्चैव ॥१८॥''

भावार्थ : पुरुष अनेक है, वैसा भी सिद्ध होता है। क्योंकि (१) जन्म-मृत्यु और इन्द्रियो की अलग-अलग निश्चित प्रकार की व्यवस्था है। (२) सभी (प्राणीयो)की प्रवृत्ति (एक ही समय में) एकसमान नहीं होती है। और (३) प्रत्येक देहधारी जीव में तीनो गुण की भिन्न-भिन्न व्यवस्था दिखाई देती है।

भारतीय षड्दर्शनो में प्रत्येक दर्शन में एक या दूसरे रुप में आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार किया है। प्राणीमात्र में यह आत्मा बसता है। इस विषय में भी मतभेद नहीं है। परंतु आत्मा एक है या प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने से अनेक है। यह चर्चा का मुख्य विषय रहा है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदांतीयो ने एक ही आत्मा है, ऐसा कहा है। जबकि न्याय-वैशेषिक मत में अनेक है, ऐसा स्वीकार किया गया है। सांख्यमत पुरुष बहुत्व का है। उस अनुसार से आत्मा अनेक है और वह अनेक किन कारणो से है यह समजाया गया है।

यदि आत्मा एक ही होता तो सभी देहधारी एक साथ ही जन्म पाते और जीवनकाल दरमियान सब का एक समान ही व्यवहात्-वर्तन होता। यहाँ आत्मा के जन्म-मरण की बात नहीं है। वह तो अजन्मा और अविनाशी है। परन्तु आत्मा के स्थूलशरीर के साथ का सम्पर्क और त्याग को ही जीवन और मरण माना जाता है।

परन्तु वेदांतीयो का मानना है कि, उपर के कारण से आत्मा को अनेक मानने की जरुरत नहीं है। आत्मा एक ही है, परन्तु उपाधिभेद से वह अनेक लगता है। जैसे एक ही आकाश उपाधिभेद से घटाकाश, महाकाश इत्यादि रुप में दिखता है। वैसे ही यहाँ समजना चाहिए।

इस पूर्वपक्ष को सांख्य उत्तर देते है कि, यदि नानात्व (वैविध्य) का उपाधिभेद से स्वीकार किया जायेगा तो वह सिद्धांत सर्वत्र स्वीकार करना पडेगा। यदि शरीर यह आत्मा की उपाधि है, तो हाथ, पैर इत्यादि अवयव ये शरीर की (संघात की) उपाधियां है। इसलिए इस अवयवो का आविर्भाव का जन्म और नाश मरण मानना पडेगा। और बाद में जन्म-मरण की व्यवस्था नहीं रहेगी। उपरांत, एक अखंड आत्मा में उपाधिभेद से यदि नानापन (वैविध्य) का स्वीकार किया जाये, तो भी आत्मा में विरुद्धधर्मो का आरोपण करना पडे वह उचित नहीं है। वैसे ही अंतःकरण इत्यादि को नाना प्रकार के मानेंगे तो भी प्रत्येक अंतःकरण में एक ही आत्मा होने से उसको परस्पर विरुद्ध अनुभव नहीं हो सकेगा।

शंका : श्रुति में तो आत्मा एक माना गया है।

समाधान : जहाँ आत्मा को एक माना गया है, वहाँ उसको जातिरुप से एक माना गया है। यह बात सांख्यसूत्र १।१५४ में कही गई है कि **"नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्"** अद्वैतप्रतिपादक श्रुति का विरोध नहीं होता। (क्योंकि) वे पद जातिपरक है। इस तरह से आत्मा के अनेकत्व में श्रुति का भी विरोध नहीं है।

(२) यदि आत्मा एक हो, तो सभी की प्रवृत्तियां एक समय पे और एकसमान होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। कोई अच्छे कार्य करता है। उसी समय में दूसरा कोई उससे विपरित कार्य करते ही होते है। उत्तम, मध्यम और अधम प्रवृत्तियां एक समय पे होती दिखाई देती है। इसलिए पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है।

(३) कुछ प्राणीयो में सत्त्वगुण मुख्य प्रवर्तित होता दिखाई देता है। कुछ में रजोगुण, तो कुछ में तमोगुण। इस तरह से तीन गुणो के तारतम्य का भेद एक ही आत्मा में संभवित नहीं हो सकता। इसलिए भी पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है।

अब पुरुषबहुत्व का प्रतिपादन करके अनन्तर कारिका में विवेकज्ञान में उपयोगी पुरुष के अन्य धर्मो का निरुपण करते है।

"तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥"

भावार्थ : ये त्रिगुणादि से विपरित धर्मो होने से पुरुष का साक्षीपन, कैवल्य, मध्यस्थपन, द्रष्टापन और अकर्तृत्व सिद्ध होता है।

पुरुष तीनो गुणो से मुक्त है। वह निर्गुण है और इसलिए वह (१) साक्षी है। क्योंकि त्रिगुणरहित होने से उसको कोई क्रिया करनी नहीं होती है। उसको कोई विषय में स्वार्थ नहीं है। जगत में चलती परिवर्तन की रफतार वह केवल देखा करता है। वह द्रष्टा है। वह स्वयं परिवर्तनो से मुक्त है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) इसी तरह से पुरुष में कैवल्य भी सिद्ध होता है। कैवल्य अर्थात् संपूर्ण और शाश्वत अभाव। सुख-दुःख और मोह ये तो तीन गुणो का ही स्वभाव है। पुरुष तो उससे पर है और इसलिए उसका कैवल्य स्वाभाविक है। उसको बंधन नहीं है। वह "केवल" पुरुष है।

(३) इस कैवल्य के कारण उसमें माध्यस्थ्य-तटस्थता है, वह भी सिद्ध होता है। (४-५) त्रिगुण से रहित होने से वह अकर्ता है। मात्र द्रष्टा ही है। यह भी समजा जा सकता है।

उदासीन होते हुए भी पुरुष कर्ता किस प्रकार होता है। इसका प्रतिपादन आगे की कारिका में करते है -

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥

भावार्थ : इसलिए इस संयोग के कारण अचेतन (महदादि) लिंग सचेतन जैसा लगता है और गुणो में कर्तृत्व होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता जैसा होता है - कर्ता के समान प्रतीत होता है।

पुरुष और प्रकृति तात्त्विक रुप से ही परस्पर से अत्यंत भिन्न है। एक चेतन है और अन्य जड है। एक निर्गुण-अकर्ता और केवल द्रष्टा है, तो अन्य त्रिगुणात्मक, विकारशील और इसलिए अन्य के दर्शन का विषय है। परन्तु वे दोनो परस्पर किसी भी तरह से संबंध रखते ही नहीं है वैसा नहीं है। हमको होनेवाला सृष्टि का अनुभवो में इस उभय का सहयोग है।

प्रकृति चाहे जड हो, परंतु उसका एक महत्त्व का तत्त्व है सत्त्व (बुद्धि)। सत्त्व का धर्म है प्रकाश। परन्तु वह प्रकाश स्वयंभू नहीं है। वह पुरुष के सान्निध्य से प्रकाशित होता है और बाद में प्रकाश का परावर्तन करता है। यह परावर्तित प्रकाश प्रकृति का हो वैसा भास होता है और इसलिए वह अचेतन होने पर भी चेतन हो ऐसा लगता है। **(तत् संयोगात् अचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्)**

प्रकृति में रजोगुण है। वह चल है, प्रवृत्तिशील है। रजस् के कारण प्रकृति में क्रिया होती है और इसलिए गुण ही कर्ता है। परन्तु यह क्रिया भी चेतनपुरुष के सान्निध्य में होती है। इसलिए अकर्ता होने पर भी वह पुरुष जैसे कि कर्ता हो ऐसी भ्रान्ति होती है।

परस्पर विरोधी स्वभाववाले ये दोनो पदार्थ किस प्रकार मिलकर कार्य करते है ? । इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए प्रस्तुत कारिका में कहते है कि,

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पंगवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥"

भावार्थ : पुरुष का (प्रधान के) दर्शन के लिए तथा प्रधान का (पुरुष का) कैवल्य के लिए ऐसे दोनों का संयोग अंध और लंगडे के संयोग की तरह होता है। और उस संयोग में से सृष्टि का सर्जन होता है।

कारिका का भाव स्पष्ट है। और विशेष आगे भी बताया गया है।

प्रकृति - पुरुष का स्वरुपादि तथा उनके संयोग का उद्देश्य बताकर, अब प्रस्तुत कारिका में सांख्यमतानुसार सृष्टिक्रम का प्रतिपादन करते है -

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥"

भावार्थ : प्रकृति में से महान्, उसमें से अहंकार, अहंकार में से सोलह तत्त्वो का समुदाय, उन सोलह तत्त्वो में से पाँच (= तन्मात्रा) पांचभूत (उत्पन्न होते है।)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारिका के विषय में आगे कहा गया है। विशेष कहा जाता है। न्याय-वैशेषिको ने शब्द इत्यादि गुणो को माना और आकाश इत्यादि द्रव्यो में वह समवाय संबंध से रहता है ऐसा स्वीकार किया है। पृथ्वी इत्यादि द्रव्य प्रथम प्रकट होते है और बाद में उनके गुण आते है। ऐसा उनका मत है।

इस पाँच तन्मात्रा में से पाँच भूत किस तरह से उत्पन्न होते है, उसके विषय में टीकाकारो भिन्न भिन्न मत रखते है। श्री गौड मानते है कि प्रत्येक तन्मात्रा एक एक महाभूत को ही उत्पन्न करती है। शब्दतन्मात्रा में से आकाश, स्पर्श तन्मात्रा में से वायु, रुपतन्मात्रा में से तेज, रसतन्मात्रा में से जल और गंधतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

परंतु श्री वाचस्पति और श्री चन्द्रिका प्रत्येक महाभूत क्रमशः एक से ज्यादा तन्मात्रा के संयोग से बनता है, ऐसा मत प्रदर्शित करते है। इस तरह से शब्दतन्मात्रा में से आकाश; शब्द और स्पर्शतन्मात्रा में से वायु; शब्द, स्पर्श और रुप तन्मात्रा में से तेज; शब्द, स्पर्श, रुप और रस **तन्मात्रा** में से जल; और शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गन्ध तन्मात्रा में से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

इस संदर्भ में वेदान्तीयों की पंचीकरण पद्धति का भी परिचय कर लेना। उनके मत अनुसार से प्रत्येक महाभूतो में पांचो तन्मात्रा ये होती है। परन्तु उसमें एक तन्मात्रा मुख्य है। वे १/२ भाग रोकती है। और बाकी की तन्मात्राये १/८ भाग रोकती है।

अब प्रस्तुत कारिका में महद् (बुद्धि) तत्त्व का निरुपण करते है -

''अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विरागं ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रुपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥२३॥''

भावार्थ : निश्चय ही बुद्धि (महत्) का लक्षण है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, ये उसका सात्त्विकस्वरुप है और उससे विपरित (अधर्म, अज्ञान, राग और अनैश्वर्य) यह उसका तामसरुप है।

सांख्यसूत्र में बुद्धि का लक्षण बांधते हुए कहते है कि ''**अध्यवसायो बुद्धिः ॥ २।१३ ॥** अध्यवसाय बुद्धि का लक्षण है और अध्यवसाय यानी निश्चय। यद्यपि निश्चय बुद्धि नहीं है। निश्चय यह बुद्धि का व्यापार है। निश्चय करना यह बुद्धि का कार्य है। निश्चय, यह वृत्ति अर्थात् धर्म है। और बुद्धि धर्मी है। यानी यहां बुद्धि को अध्यवसाय, धर्म-धर्मी के बीच होनेवाला अभेदोपचार से कहा गया है।

महान और बुद्धि, उपरांत उसके मति, ब्रह्मा, ख्याति, प्रज्ञा, सन्तति, स्मृति ऐसे भी नाम है।

अब 'महत्' तत्त्व से उत्पन्न 'अहंकार' का लक्षण करके, उससे उत्पन्न पदार्थो का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत कारिका है -

''अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥२४॥''

भावार्थ : अभिमान, यह अहंकार का लक्षण है। उसमें से दो प्रकार की सृष्टि का उद्भव होता है। (१) ग्यारह इन्द्रियो का समुदाय और (२) पाँच तन्मात्राये।

बुद्धि का व्यापार निश्चय है, ऐसा देखा। इस निश्चय का कोई आधार भी होना चाहिए **''मैंने यह निश्चय किया''**। अथवा **''मैं जानता हूं''**। इस तरह से ही वह हो सकता है। यह जो **''मैं''** रुप है, उसको अभिमान कहा जाता है। यह एक प्रकार की आत्मलक्षिता है और इस प्रकार की 'अस्ति' मतिवाला जो बुद्धि का प्रादुर्भूत रुप है, उसका ही नाम अहंकार है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंकार से उत्पन्न सृष्टि में किस गुण का कहाँ प्राधान्य है इसका कथन अग्रिम कारिका में करते है -

''सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥२५॥''

भावार्थ : सात्त्विक ऐसे **'वैकृत'** अहंकार में से ग्यारह का समुदाय उत्पन्न होता है। भूतादि अहंकार में से तन्मात्राये उत्पन्न होती है। और इसलिए यह तामस् है और (राजस् ऐसे) **'तैजस'** अहंकार में से दोनो की उत्पत्ति होती है।

इस कारिका में अहंकार के तीन स्वरुप बताये है। सात्त्विक, राजस् और तामस्। सात्त्विक अहंकार को वैकृतअहंकार कहा जाता है। राजस् को तैजस् और तामस् को भूतादि अहंकार ऐसे नाम दिये गये है।

एकादस गण में से जो पांच ज्ञानेन्द्रिय के तथा पांच कर्मेन्द्रियो का नामोल्लेख करते हुए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

''बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्र-घ्राण-रसनत्वगाख्यानि ।
वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥''

भावार्थ : चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा, ये (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ है। वाणी, हाथ, पैर, मलोत्सर्ग की इन्द्रिय और जननेन्द्रिय, ये (पाँच) कर्मेन्द्रियाँ है।

अब ग्रंथकार उत्कृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न संकल्पविकल्पात्मक मन का विस्तृत विवेचन करने के लिए अगली कारिका का अवतरण करते है।

''उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥२७॥''

भावार्थ : मन उभयात्मक दोनो प्रकार की इन्द्रियो के स्वभाववाला है। वह संकल्पधर्मवाला है और साधर्म्य के कारण वह इन्द्रिय है। गुणो के विशिष्ट प्रकार के परिणामो के कारण इन्द्रियो का वैविध्य और बाह्य भेद संभवित होते है।

मन उभयात्मक है। सभी इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो के साथ उसका सम्पर्क रहता है। क्योंकि मन के संयोग बिना कोई भी इन्द्रिय प्रवृत्त नहीं हो सकती।

मन का असाधारण लक्षण **''संकल्प''** है। संकल्प का अर्थ श्री गौड देते है कि **''प्रवृत्तिः कल्पयति''** अर्थात् मन द्विविध इन्द्रियो की प्रवृत्तियों का नियामक है। परन्तु श्री वाचस्पति मिश्र दूसरी तरह से समजाते है।

''संकल्पयति = विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति-

इन्द्रियाँ पदार्थो का सन्निकर्ष प्राप्त करती है। परन्तु इन पदार्थो के स्वरुप की कल्पना इत्यादि स्पष्ट नहीं होती। प्रत्यक्ष की प्रथम भूमिका **''इदं किञ्चित्''** इस प्रकार की निर्विकल्पक होती है। परन्तु निर्विकल्पप्रत्यक्ष का व्यवहार में उपयोग नहीं हो सक्ता। इसलिए सविकल्पक प्रत्यक्ष होना चाहिए। **''यह कुछ है''**। इसके बदले ''यह घट है'' इत्यादि नाम, जाति, धर्म और क्रिया से युक्त पदार्थ समज में आये यह जरुरी है। **यह सविकल्पता मन का कार्य है।**

मन को इन्द्रिय कहीं है। क्योंकि वह अन्य दस इन्द्रियो के साथ साधर्म्य रखती है। सभी इन्द्रियो की तरह मनका भी उपादान सात्त्विक अहंकार है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि, ये ग्यारह इन्द्रियां यदि सात्त्विक अहंकार में से ही उत्पन्न हुई हो, यानी कि उसका उपादान, एक ही हो, तो फिर उन सब में भिन्नता क्यों दिखती है? एक में से उत्पन्न होने पर भी नानात्व (वैविध्य)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों है ? उसका जवाब इस अनुसार से है। "**गुणपरिणामविशेषात् बाह्यभेदात् च** । तीन गुण की प्रवृत्ति पुरुष के उपभोग के लिए है। यह उपभोग शब्द इत्यादि विषयो के अनुभवरुप से होता है। यानी, ये गुण कुछ खास तरीके से विकार पाये तो शब्द द्वारा महसूस होगा। दूसरी तरहसे विकार पाये तो रुप द्वारा और इस तरह से पांचो प्रकार के अनुभव हो सकते है। एक इन्द्रिय पाँचो प्रकार का अनुभव नहि करा सकती। इसलिए ये बाह्यविषयो की विविधता के कारण इन्द्रियो में नानात्व (विविधता) है। वैसा स्पष्ट होता है।

संकल्पक यानी सविकल्पप्रत्यक्ष निश्चित करना, ऐसा नहीं, परन्तु अहंकार को हुए प्रत्यक्ष का अनुभव करना। अहंकार और बुद्धि "**मैं घटका ज्ञान पाता हूं।**" ऐसा जब अनुभव करती है। तब मन भी उस क्रिया का भागी बनता है। केवल चक्षु ही पदार्थ को देखता नहीं है। मन भी उसमें भाग अदा करता है। इस अर्थ में इन्द्रिय से अलग पडता है। और दूसरी तरह से इस ज्ञान का करण होने से इन्द्रिय भी कहा जा सकता है।

मन को परिभाषित करके अब ग्रंथकार दस इन्द्रियों की असाधारण वृत्तियों का कथन अग्रिम कारिका में करते है –

"रुपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥"

भावार्थ : रुप इत्यादि (पाँच विषयो) का केवल आलोचन करना यह पांच ज्ञानेन्द्रिय का कार्य है। बोलना, लेना, चलना, भलत्याग और आनन्द, ये पाँचो कर्मेन्द्रियो का कार्य है।

त्रिविध अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार और मन) के व्यापार का कथन अगली कारिका में ग्रंथकार करते है–

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सेषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२९॥

भावार्थ : (अहंकार, बुद्धि और मन) ये तीन के अपने अपने लक्षण (खास धर्म) है। वही उनकी विशेषता है और प्राण इत्यादि पाँच वायु, ये उनके सामान्य धर्म है।

बुद्धि, अहंकार और मन को अपने अपने असाधारण धर्म है। **जैसे कि, बुद्धि का लक्षण अध्यवसाय है। अहंकार का लक्षण अभिमान और मन का लक्षण संकल्प है।** उसी तरह से बुद्धीन्द्रियाँ के भी अपने अपने विशेषधर्म है और इन सब में सामान्यतत्त्व वह पाँच प्राणो का होना वह है। मुख्यतः वे पाँच प्राण, **प्राण** – अपान, समान, उदान और व्यान, ये नाम से प्रसिद्ध है। उसमें प्राण शरीर को धारण करनेवाला बल है। वह नासिका (नाक) से लेकर हृदय में बसता है। अधःसरण द्वारा मलोत्सर्ग इत्यादि क्रिया शक्य बनानेवाला, वह **अपान** है। नाभि से हृदय के बीच रहता **समान** वायु रसो को शरीर के उचित स्थानो पे पहुंचाता है। कंठ से (गले से) मस्तक तक या नाभि से मस्तक तक उर्ध्वगमन करता वायु वह **उदान** और समस्तशरीर में रहता वायु वह **व्यान** है।

त्रिविध अन्तःकरणों के सामान्य एवं विशेष व्यापारो का कथन करने के बाद इनके सहति दस इन्द्रियों के व्यापारो के स्वरुप (क्रमबद्धता, अक्रमबद्धता) का कथन करने के लिए अग्रीम कारिका प्रस्तुत है –

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

भावार्थ : दृश्य (प्रत्यक्ष) पदार्थ में (महान्, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रियां, ये) चारो की वृत्तियाँ एक साथ अथवा तो क्रमशः होती बताई गई है। अदृश्य (अनुमान इत्यादि से) प्राप्त होनेवाला पदार्थ में महान्, अहंकार और मन ये तीन (=अंतःकरण) की भी उसी अनुसार से (= एकसाथ अथवा क्रमशः) वृत्ति होती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्ट में चारों की वृत्ति दो प्रकार से है। युगपत् यानी कि एकसाथ और क्रमशः यानी कि क्रमपूर्वक।

श्री वाचस्पति मिश्र दृष्टांत देते है कि घन अंधेरे में बीजली का चमकना हो और अचानक ही शेर (बाघ) दिखाई दे, तो तुरंत ही इन्द्रियो का आलोचन, बुद्धि का अध्यवसाय, अहंकार का अभिमान और मन का संकल्प ये चारो वृत्ति एकसाथ ही होती है।

और कम उजाले में प्रथम दूर से कोई आकृति दिखाई दे, फिर मन से संकल्प और अहंकार से क्रमशः निश्चित होता है, कि ये मुझे लूंटने के लिए आता हुआ चोर ही है। इस प्रकार यहाँ चारो की क्रमशः वृत्ति दिखती है।

अदृष्ट के ग्रहण में ये दो प्रकार की वृत्ति होती है। परन्तु यहां इन्द्रियां प्रत्यक्ष रुप में वस्तु के संपर्क में आती नहीं है। इसलिए बुद्धि, अहंकार और मन, ये तीन को ही ये द्विविध वृत्ति होती है। यहाँ अनुमान या शब्द से प्राप्त ज्ञान का निर्देश है। अर्थात् इन्द्रियो के सीधे सम्पर्क की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इसलिए इन्द्रियो का यहाँ बिलकुल उपयोग ही नहीं ऐसा नहीं है। परन्तु उन्हों ने अदृष्ट के लिए भूमिका पहले ही रच दी होती है।

और अदृष्ट के ग्रहण में भी युगपत् और क्रमशः वृत्ति होती है। उसमें अनुमान में सिंह गर्जना सुनते ही यह सिंह है, ऐसे एकसाथ ही तीनो अंतःकरण की वृत्ति होती है और सारे प्रदेश में भी 'यह प्राणी वह गाय है'। ऐसा तुरंत ही उसका ग्रहण होता है।

"**पितृपितामहप्रपितामहेभ्यो दद्यात्**" ये वाक्य सुनकर किसके पितृओं को पिंड अर्पण करना ऐसी शंका होने से बाद, सोचने के बाद अपने ही पितृओं को पिंड देना ऐसा यजमान क्रमशः निर्णय करता है।

पूर्वोक्त त्रिविध या चतुर्विध करणों की क्रमशः अथवा युगपत् प्रवृत्ति किस कारण से होती है, इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कारिकाकार कहते है कि,

"स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतूकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥३१॥"

भावार्थ : (चारो प्रकार के करण) परस्पर के संकेत से प्रेरित होकर अपनी अपनी वृत्ति = क्रिया करते है। उनकी यह क्रिया पुरुष के लिए ही होती है। अन्य कोई करण को क्रिया करवाता नहीं है।

जिन करणों की प्रवृत्ति एकमात्र पुरुष के लिए होती है, उनकी संख्या, विषय-विभाग, प्रयोजन एवं इनके द्वारा सम्पादित किए जानेवाले कार्यो को बताने के लिए आगे कहते है कि,

"करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥३२॥"

भावार्थ : आहरण, धारण और प्रकाश करनेवाले ये तीन करण तेरह प्रकार के है। (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) और उनका आहार्य, धार्य और प्रकाश्य, ऐसा कार्य (प्रत्येक) दस दस प्रकार का है।

श्री वाचस्पति मिश्र के मतानुसार कर्मेन्द्रियाँ आहरण, बुद्धि, अहंकार और मन धारण तथा बुद्धीन्द्रियाँ प्रकाशित करने का कार्य करती है। जब कि श्री माठर के अनुसार से सभी इन्द्रियाँ आहरण करती है। अहंकार और बुद्धि अनुक्रमसे धारण और प्रकाशन करते है।

इन कारणो का जो कार्य है वह भी इससे आहार्य, धार्य और प्रकाश्य हुआ। कार्य दस प्रकार का है। ये दस प्रकार कौन से है, इसके बारे में भी टीकाकारो में ऐकमत्य नहीं है। श्री गौड के अनुसार पाँच बुद्धीन्द्रिय के शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गंध ये पाँच विषय और पाँच कर्मेन्द्रिय के वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनंद ये पाँच विषय, ऐसे कुल मिलाकर दस प्रकार का कार्य हुआ। श्री युक्ति का भी यही मत है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री वाचस्पति मिश्र ये दस प्रकार को आहार्य, धार्य और प्रकाश्य, इस प्रत्येक के संदर्भ में समजते है। उस अनुसार से कर्मेन्द्रियों का कर्तव्य आहरण है, इसलिए उसका कार्य उसके पांच विषय हुए। वे विषय दिव्य और मनुष्य दोनो के अलग अलग गिनने से दस होंगे। उसी तरह से अंतःकरण के विषय ऐसे पंचप्राण कि जो धार्य है, वह भी दिव्य और मनुष्य के भेद से दस प्रकार के होगें और बुद्धीन्द्रियों के पाँच विषय कि जो प्रकाश्य है, वे भी दिव्य-मनुष्य भेद से दस प्रकार के होंगे।

पूर्वोक्त विषय का वर्गीकरण प्रस्तुत करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
सांप्रतकालं बाह्यं त्रिकालमभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

भावार्थ : (मन, बुद्धि और अहंकार, इस प्रकार से) अंतःकरण तीन प्रकार का है और पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय ऐसे बाह्यकरण दस प्रकार का है। बाह्यकरण, वह अंतः करण का विषय बनता है। बाह्यकरण का व्यापार वर्तमानकाल में ही है। अंतःकरण का व्यापार तीनो काल में होता है।

कारिका का भावार्थ स्पष्ट है। यहाँ इतना याद रखना कि सांख्यदर्शन में काल को और दिशा को स्वतंत्र पदार्थ नहीं माने गये। वैशेषिको ने काल को स्वतंत्र पदार्थ माना है। उनके मतानुसार काल एक है और उपाधि भेद से वह भूत-भविष्य-वर्तमान इत्यादि प्रकार से अनेक लगते है। परन्तु श्री वाचस्पति मिश्र कहते है कि काल स्वयं ही उपाधि है। पदार्थ नहीं है। इसलिए उसकी उपयोगिता केवल व्यावहारिक ही है, तात्त्विक नहीं है।

ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ रुप बाह्यकरण, जो केवल वर्तमान काल में स्थित विषयो को ग्रहण करती है। इनके विषयो का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते है -

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग् भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

भावार्थ : (बाह्येन्द्रियो में से) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष (= पांच महाभूत) और अविशेष (= पांच तन्मात्रायें) विषयवाली है। (और पाँच कर्मेन्द्रियो में से) वाणी का विषय शब्द है। परन्तु अन्य चार (कर्मेन्द्रियां) पांचो विषयवाली है।

यहाँ श्री वाचस्पति और श्री गौड कहते है कि देवो तथा योगीयों के लिए तन्मात्रायें इन्द्रियाँ द्वारा प्रकट होती है और वे शान्त, घोर और मूढ भावरहित होती है। जबकि साधारण मनुष्यो के लिए वे स्थूल विषयो को प्रकट करती है और शांत इत्यादिक भावो से युक्त होती है।

अब गौण-मुखभाव को बताने के लिए अग्रिम कारिका है -

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि; द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥

भावार्थ : (मन और अहंकार ये दोनो) अंतःकरण के साथ बुद्धि सर्वविषयो को ग्रहण करती है। इसलिए त्रिविध अंतःकरण वह द्वारि (मुख्य है) और बाकी की इन्द्रियाँ द्वार (गौण) है।

अब त्रिविध अंतःकरण में बुद्धि की प्रमुखता का प्रतिपादन करते हुए अगली कारिका का उल्लेख करते है।

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्वार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥

भावार्थ : ये (मन और अहंकार सहित १२ इन्द्रियाँ) परस्पर विरुद्ध लक्षण और विशिष्ट गुणोवाली है। (फिर भी) दीपक की तरह ये करण पुरुष के संपूर्ण प्रयोजन को प्रकाशित करके बुद्धि को प्रदान करते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्यकरणो पदार्थ को ग्रहण करके उसको मन के पास पेश करते है। मन अहंकार के साथ मिलकर उसको बुद्धि के पास उपस्थित करते है और वहाँ ही प्रकाश होता है - पदार्थ का ज्ञान होता है। अध्यवसाय होता है। इस तरह से सत्त्वप्रधान बुद्धि सर्वकरणो में मुख्य है, क्योंकि पदार्थ का ज्ञान वहाँ ही प्रकाशित होता है।

बुद्धि के सिवा बारह करण, कि जो गुणो के ही विकार है और अपने अपने विशेष लक्षण रखते है। वे अपने सभी विषय पुरुष के लिए दीपक की तरह प्रकाशित करके बुद्धि को सोंपते है।

अब अगली कारिका में तर्कपूर्वक बुद्धि की प्रधानता बताते हुए कहते है कि,

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

भावार्थ : बुद्धि पुरुष के सभी विषयो के उपभोग को सिद्ध कर देती है - सम्पादित कर देती है। वैसे ही बाद में वही (बुद्धि) प्रधान और पुरुष के बीच का सूक्ष्मभेद करके दिखाती है। इसलिए (वही मुख्य है।)

दो तर्क से बुद्धि सभी करणो में प्रधान सिद्ध होती है। (१) बुद्धि अकेले ही पुरुष के सभी प्रकार के भोगों को सम्पादित करती है। (२) विवेक-ज्ञान की स्थिति में बुद्धि ही पुरुष एवं प्रकृति की भिन्नता प्रतिपादित करती है। इसलिए बुद्धि मुख्य है।

अब तमोगुणप्रधान अहंकार से उत्पन्न होनेवाले पञ्चतन्मात्रा का स्वरुप बताते है।

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥

भावार्थ : तन्मात्रायें अविशेष (= सूक्ष्म) कही जाती है। उस पाँच तन्मात्राओ में से पांचभूत उत्पन्न होते है। उसको विशेष कहा जाता है। वे शांत, घोर और मूढ है। विशेष स्वरुप आगे बताया ही है।

इस प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म विषयो के स्वरुप एवं संख्या का उल्लेख करने के बाद स्थूलविषयों के अवान्तर भेदों का निरुपण करते है -

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

भावार्थ : विशेष (स्थूल) तीन प्रकार के है। (१) सूक्ष्म शरीर, (२) माता-पिता से उत्पन्न हुए शरीर और (३) महाभूत। उसमें सूक्ष्म शरीर नियत (अर्थात् नियम से कुछ समय तक रहनेवाले है) और मातापिता से उत्पन्न हुए शरीर (मृत्यु के समय) नष्ट हो जाते है।

अब इसमें से सूक्ष्मशरीर की विशेषताओं का निरुपण करते है -

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

भावार्थ : आदि सर्ग में उत्पन्न, असक्त (अव्याहत-किसी से रोका न जा सके वैसा) महद् इत्यादि से लेकर सूक्ष्म (तन्मात्रायें) तक के (अठारह) तत्त्वो का बना हुआ (स्थूल शरीर के अभाव में) उपभोग करने के लिए असमर्थ ऐसा (धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ऐसे आठ) भावो से अधिवासित होके लिंग (शरीर), (स्थूलशरीरो में) संसरण करता है।

अब सूक्ष्मशरीर के आधार का स्वरुप एवं महत्त्व का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥

भावार्थ : जैसे आश्रय के बिना चित्र रह सकता नहीं है और खम्भे (स्थंभ) इत्यादि के बिना छाया नहीं रह सकती, वैसे विशेष (स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर) के आश्रय बिना लिंग रह सकता नहीं है।

अब प्रयोजन बताते हुए अग्रिम कारिका में प्रतिपादन करते है कि,

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

भावार्थ : पुरुष के (भोग और अपवर्गरुप) प्रयोजन के लिए (प्रवृत्त ऐसा) लिंग शरीर निमित्त (धर्मादि आठ भाव कि जो कारण है) और नैमित्तिक (स्थूल शरीर कि जो कार्य) के प्रसंग से तथा प्रकृति के विभुत्व के योग से नट की तरह व्यवहार करता है।

प्रस्तुत कारिका में सूक्ष्मशरीर (लिङ्गम्) को अभिनेता के समान व्यवहार करनेवाला बताया है। जिस प्रकार अभिनेता निर्देशक के निर्देशो अनुसार भिन्न-भिन्न वेष धारण करके दर्शको के सामने आता है और दर्शको को आनन्द की प्राप्ति कराता है। ठीक इस प्रकार लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) विश्व के कण-कण में व्याप्त, अद्भूत महिमा एवं सामर्थ्य से युक्त प्रकृति द्वारा निर्मित एवं आदेशित होकर, बुद्धि में स्थित धर्म-अधर्म आदि भावों के कारण (अपेक्षा से) उनके अनुरुप कूकर, शूकर, कीट, पतंग, देव, मानव अथवा दानव आदि योनियों में छः कोष वाले सूक्ष्मशरीर को धारण करके पुरुष के भोग एवं अपवर्गरुप कार्य को सम्पन्न करता है।

जिन निमित्त एवं नैमित्तिक (कारण एवं कार्य) की चर्चा पूर्व कारिका में की गई उनके स्वरुप, भेद तथा आश्रय आदि का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

भावार्थ : धर्म इत्यादि (धर्म-अधर्म आदि आठ) भावो-सांसिद्धिक अर्थात् प्राकृतिक (= जन्मजात, स्वाभाविक) और वैकृतिक (=प्रयत्नसाध्य) ऐसे दो प्रकार के है। वे (भावो)करण (= बुद्धि) के सहारे रहे हुए दिखते है और गर्भपिण्ड इत्यादि कार्य (= स्थूलशरीर) के सहारे रहते है।

विशेषार्थ : लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) जिन भावो से अधिवासित होकर लोक-लोकान्तर में विभिन्न योनियों में आदिकाल से प्रलयकालपर्यन्त संसरण करता है। वे भाव प्रथमतः दो प्रकार के होते है - (१) सांसिद्धिक-जन्म से सिद्ध (जन्मजात) एवं सहज, (२) असांसिद्धिक - बाह्य उपाय - अनुष्ठान आदि के द्वारा सम्पादित।

इनमें भी सांसिद्धिक पुनः दो प्रकार के होते है। (१) जो जन्म से ही रहते है, (२) जो जन्म के कुछ समय बाद स्वतः प्रकृतिरुप में उद्बुद्ध हो जाते है। प्रथम को सांसिद्धिक तथा दूसरे को प्राकृतिक कहा गया है।

यहाँ 'धर्माद्याः' पद में आदि शब्द का प्रयोग धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, विराग-राग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, बुद्धि के चार सात्त्विक एवं चार तामसिक भावो का भी कथन करने के लिए किया गया है।

यहाँ प्रयुक्त 'करण' पद से त्रयोदश करण पैकी बुद्धि का ग्रहण करना है। क्योंकि भाव बुद्धि का धर्म है, अन्य अहंकारादि का धर्म नहीं है। अतः इन भावों को करण अर्थात् बुद्धि के आश्रय मानना ही उचित है। कहा भी है कि, **(बुद्धिरेव करणम् तदाश्रयिणः)**।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे विपरीत कलल आदि भाव कार्य अर्थात् स्थूलशरीर पर आश्रित होकर रहते है, जो इससे भिन्न है। विशेष आगे बताया ही है।

अब धर्मादि भाव करण द्वारा कैसा कार्य सम्पन्न किया जाता है वह अग्रिम कारिका में बताते है।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥

भावार्थ : धर्म से उर्ध्वगति और अधर्म से अधोगति होती है। ज्ञान से मोक्षप्राप्ति होती है और उससे विपरीत (= अज्ञान) से बंधन मिलता है।

लोक दो प्रकार के है। (१) ऊर्ध्वलोक, (२) अधोलोक। ऊर्ध्वलोक की सात संख्या मानी गई है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यालोक (बह्मलोक) ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये है। अधोलोक की संख्या भी सात मानी गई है। अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल।

बुद्धि में स्थित धर्म के प्रभाव से व्यक्ति ऐसे कार्य करता है, जिनसे उसे ऊर्ध्वगति की प्राप्ति होती है। बुद्धि में स्थित अधर्म के प्रभाव से व्यक्ति ऐसे कार्य करता है, जिनसे उसे अधोगति की प्राप्ति होती है।

बुद्धि में स्थित ज्ञानरुप भाव द्वारा व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है। व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ, इन्हें भली प्रकार अलग-अलग रुप में समझना ही ज्ञान है। मोक्ष की तीन स्थितियां मानी गई है। जो ज्ञान के परिणाम स्वरुप होती है। (क) **ज्ञान की अवस्था :** इसमें व्यक्ति शास्त्र के अध्ययन एवं गुरु के उपदेश द्वारा व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ को भलीप्रकार जान लेता है। (ख) **विषयो के प्रति विराग :** तत्त्वज्ञान से इसमें उसकी सांसारिक विषयो के प्रति राग की निवृत्ति हो जाती है। किन्तु शरीर तब तक कार्य करता रहता है , जब तक उसके पूर्वकृत कर्मो के... फल का क्षय नहीं होता है। (ग) **मोक्ष की अवस्था :** पूर्वकृत कर्मो के क्षय के अनन्तर शरीरपात होने पर ज्ञानी का सूक्ष्मशरीर पुनः नूतनशरीर को धारण नहीं करता, दूसरे शब्दो में संसरण नहीं करता, अपितु अपने मूल कारण प्रकृति में लय को प्राप्त हो जाता है। तथा पुरुष अपने मूल आत्मस्वरुप में अवस्थित हो जाता है। वहां कैवल्य है। इनमें पहले दो अवस्थाएं 'जीवन्मुक्त' तथा तीसरी 'विदेह' कही गई है। ज्ञान से विपरीत अज्ञानरुप भाव के द्वारा सांसारिक बन्धनों की प्राप्ति होती है।

बुद्धि के आठ भावो में से चार के कार्यो का विस्तार से उल्लेख करने के बाद अग्रिम कारिका में ग्रंथकारने शेष चार भावों के कार्यो का उल्लेख किया है -

वैराग्यात् प्रकृतिलयः, संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो, विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥४५॥

भावार्थ : वैराग्य से प्रकृति में लय होता है। रजो मय राग से संसरण होता है। ऐश्वर्य से अविघात (इच्छा की निर्विघ्न पूर्ति) होती है। और उससे विपरीत (-अनैश्वर्य) से विघ्न होता है - इच्छापूर्ति में विघ्न आता है।

बुद्धि के आठ भावों एवं उनके कार्यो का उल्लेख करने के पश्चात् उन सभी का निम्नप्रकार से चार भागों में वर्गीकरण करके विशेष विवेचन प्रस्तुत करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥

भावार्थ : यह बुद्धिसर्जित संसार विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि से पहचाना जाता है। गुणो की विषमता के कारण उनके (परस्पर) विमर्द से उसके पचास भेद होते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषार्थ : इस कारिका में बौद्धिक सृष्टि के अन्तर्गत परिगणित सभी तत्त्वो का विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि नामक चार भागों में विभाजित करके उसे प्रत्ययसर्ग (बुद्धि की सृष्टि) कहा है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुणों की विषमस्थिति एवं एकदूसरे को दबाने के स्वभाव के कारण चार प्रकार के इस प्रत्ययसर्ग के कुल मिलाकर पचास भेद माने गए है। जिनकी विस्तार से अग्रिम कारिका में गणना की है। यहाँ हम चार प्रकार के प्रत्यय सर्ग का उल्लेख कर रहे है।

(१) **विपर्यय :** मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहा जाता है। (२) **अशक्ति :** मन, बुद्धि एवं अहंकाररुप त्रिविध अन्तःकरण एवं १० इन्द्रियाँ रुप बाह्यकरणों में से किसी एक अथवा अनेक की विकलता के कारण उत्पन्न असामर्थ्य से उसके द्वारा अपने विषय को ग्रहण न कर पाना ही अशक्ति है। संक्षेप में ज्ञानप्राप्ति के सामर्थ्य के अभाव को अशक्ति कहा जाता है। (३) **तुष्टि :** पुरुष एवं पुरुष की भिन्नता को जानने के बाद भी अयथार्थ उपदेश से संतुष्ट होकर श्रवण, मनन आदि के द्वारा विवेकज्ञान के लिए प्रयत्न न करना ही तुष्टि है (**तुष्टिर्मोक्षोपायेषु वैमुख्यम्-जयमंगला**)। ऐसा व्यक्ति पुरुषरुप मुख्य ज्ञेयतत्त्व से हटकर किसी अतत्त्व से संतुष्ट होकर आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त नहीं होता है। यह नौ प्रकार की मानी गई है, जिसका विस्तार से उल्लेख आगे किया जायेगा। (४) **सिद्धि :** श्री जयमंगलाकारने ज्ञानप्राप्ति को ही सिद्धि माना है (सिद्धिर्ज्ञानप्राप्तिः)। दुःख की निवृत्ति ही ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। अतः सिद्धि की प्राप्ति दुःखनिवृत्ति का कारण है। स्थाणु को स्थाणु समजना ही ज्ञान है। ठीक इस प्रकार पुरुष और प्रकृति को अलग-अलग देखना ही ज्ञानरुप सिद्धि है, क्योंकि सिद्धि का अन्तर्भाव ज्ञान में ही होता है। पूर्वोक्त तीन प्रत्ययसर्ग सिद्धि में बाधक है। सिद्धि की संख्या आठ मानी गई है, जिनका ५१ वीं कारिका में विस्तार से उल्लेख किया गया है।

अब प्रत्ययसर्ग की विस्तृत व्याख्या का उपक्रम करते हुए सर्वप्रथण चारों के प्रतिभेदों का नामोल्लेख करते है -

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

भावार्थ : विपर्यय के पाँच भेद है। इन्द्रियो की विकलता के कारण अशक्ति अठ्ठाईस प्रकार की है। तुष्टि नौ प्रकार की है और सिद्धि आठ प्रकार की है।

अब विपर्यय के प्रतिभेदों की विस्तृत चर्चा करते है -

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्त्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्त्रः ॥४८॥

भावार्थ : (विपर्यय के पाँच भेद - तमस्, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अंधतामिस्त्र है। उसमें से अनुक्रम से) तमस् के आठ, मोह के भी आठ, महामोह के दस, तामिस्त्र के अठारह और अंधतामिस्त्र के भी अठारह प्रकार है।

विपर्यय के भेद-प्रतिभेद का विस्तृत वर्णन अब बताते है।

(१) **तमस् :** आत्मा से भिन्न प्रकृति, महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं को ही आत्म मान लेना पहला तमस् नामक भेद है। जिसे अविद्या भी कहते है। योगसूत्र में इसे ही अन्य चार भेदों का मूल माना है। वहां इसकी परिभाषा करते हुए - 'अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा मान लेना ही अविद्या कहा गया है। प्रकृति के मूल आठ भेद - मूलप्रकृति, महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएं। यद्यपि 'पुरुष' नहीं है इन्हीं में से किसी एक को पुरुष मान लेना ही आठ प्रकार की अविद्या अथवा तमस् के भेद है। प्रकृति का ज्ञान रखने और वैराग्य होने पर भी पुरुष के विषय में इस प्रकार का अज्ञान होने के कारण उपासक को अपवर्ग की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति नहीं होती है। अपितु प्रकृति के उक्त आठ भेदो में से ही किसी एक में जिसे वह पुरुष मानता है, उसका निश्चित अवधि के लिए विलय हो जाता है और उस अवधि के समाप्त होने पर उसका सूक्ष्मशरीर पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पडता है।

(२) **मोह :** मोह यानि अस्मिता। अणिमा इत्यादि आठ सिद्धिओ को ही जीवन का ध्येय मानने से मोह होता है। अर्थात् सिद्धिओ की प्राप्ति करके अपने अमरत्व का अभिमान करते हुए भ्रान्ति के कारण इन्हें ही (ऐश्वर्यों को ये) नित्य मान लेते है। यह मोह अथवा अस्मिता के रुप में माना गया है। यह भी ऐश्वर्यों की संख्या के अनुसार आठ प्रकार का होता है। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व : यह आठ प्रकार की सिद्धिओं है। मोह-अस्मिता का मुख्य कारण अविद्या है।

(३) **महामोह :** सांसारिक विषयो के सुख को प्राप्त करने के बाद उन्हें फिर से प्राप्त करने की अभिलाषा, इच्छा ही राग है। जिसे महामोह के रुप में कहा गया है। क्योंकि इसकी समाप्ति अत्यन्त कठिन होती है।

शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गन्ध नामक विषयो के सम्बन्ध में महामोह होता है। पांच प्रकार का पुनः दिव्य-अदिव्य भेद से प्रत्येक के दो प्रकार होने पर कुल दस प्रकार का होता है। इनमें पांच सूक्ष्मतन्मात्राएं ही दिव्य कहलाती है, क्योंकि इनका सम्बन्ध देवताओं से होता है तथा ये एकमात्र सुखस्वरुपिणी होती है। पृथ्वी आदि स्थूलमहाभूत ही अदिव्य है, क्योंकि, इनका सम्बन्ध मनुष्यादि से होता है तथा ये सुखदुःखमोहात्मक होते है।

(४) **तामिस्र :** 'द्वेष' को ही तामिस्र कहा गया है। दुःख का अनुभव करनेवाला व्यक्ति दुःख के प्रति अथवा उसे देनेवाले के प्रति क्रोध करता है, इसे ही द्वेष कहते है। उसका अट्ठारह विषय (शब्दादि पांच, इसके दिव्य-अदिव्य भेद मिलाकर दस एवं अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धि के साथ कुल अट्ठारह होते है।) होने के कारण तामस्र नामक द्वेष भी अट्ठारह प्रकार का माना गया है।

(५) **अन्धतामिस्र :** व्यक्ति का जन्म है और मृत्यु होती है जिसके अनुभव व्यक्ति अथवा प्राणी में संस्काररुप में विद्यमान रहते है, जिससे होनेवाले दुःखो को स्मरण करके ही वह मरने से घबराता है, त्रस्त रहता है। मृत्यु के कारण होनेवाले सम्भावित त्रास को ही अन्धतामिस्र कहते है। इसे ही अभिनिवेश के नाम से भी जाना जाता है। क्योंकि, व्यक्ति सदैव मृत्यु से त्रस्त रहता है और चाहता है कि, उसकी मृत्यु (नाश) कभी न हो, तामिस्र विपर्यय की समान अन्धतामिस्र का भी अट्ठारह प्रकार है।

इस प्रकार कुल मिलाकर ६२ प्रकार के विपर्यय हुए।

अब द्वितीय भेद **'अशक्ति'** के अट्ठाईस उपभेदों की गणना के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

भावार्थ : (नौ) तुष्टि और (आठ) सिद्धि के विपर्यय से बुद्धि में सत्रह प्रकार की कमी आती है। उसके साथ ग्यारह इन्द्रियो की कमी मिलकर कुल मिलाके अठ्ठाईस प्रकार की अशक्ति बताई गई है। **बाधियँ** (श्रोत्रदोष), **कुष्ठिता** (त्वग्दोष), **अन्धत्वं** (नेत्रदोष), **जडता** (स्वाद के प्रति रसनादोष), **अजिघ्रता** (घ्राणदोष), **मूकता** (वाग्दोष), **कौण्यं** (ठूंठा होना, हाथ की शक्ति के अभावरुपीदोष), **पङ्गुत्वं** (= लंगडा होना), **क्लैब्यं** (नपुंसकता दोष), **उदावर्त** (वायुदोष) और **मन्दता** (मन का दोष) ये ग्यारह अशक्तियाँ हुई। इन सबको बुद्धिवध भी कहा जाता है।

विशेषार्थ : कारिका में प्रयुक्त 'वध' का, उपघात, विनाश, विकलता, असमर्थता रूप अर्थो की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है। बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से विषयों को प्राप्त करती है। इनमें से किसी भी इन्द्रिय की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असमर्थता अथवा विकलता आदि के कारण विषय के ज्ञान में बाधा ही 'अशक्ति' कहलाती है। जैसे यदि नेत्र किसी रोगादि से काम कर दे अथवा विनष्ट हो जाए तो इसे नेत्र का वध या उपघात कहेंगे और यह 'अशक्ति' का 'अन्धत्व' नामक एक भेद होगा।

मन सहित इन्द्रियों की संख्या ग्यारह मानी गई है। इनमें से किसी भी एक या अनेक के विनाश से होनेवाली असमर्थता 'अशक्ति' के ग्यारह भेद हुए। नौ प्रकार की तुष्टि और आठ प्रकार की सिद्धि जो वस्तुतः बुद्धि से सम्बद्ध (प्रपञ्च) है। इनकी असफलता भी 'अशक्ति' के अन्तर्गत ही परिगणित होने के कारण सत्रह बुद्धिवध माने गए है। जिनमें ग्यारह इन्द्रियवध मिलकर कुल अट्ठाईस 'अशक्ति' के भेद हो जाते है। जिनका यहां संक्षेप में क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है -

इन्द्रियविषयक अशक्ति (असमर्थता) के ग्यारह प्रकार :

(क) ज्ञानेन्द्रियविषयक

१. **बाधिर्य :** श्रोत्रेन्द्रिय के दोष के कारण शब्द को ठीक प्रकार से ग्रहण न कर पाना, असमर्थता ही बाधिर्य होता है। २. **कुष्ठिता :** त्वगेन्द्रिय 'स्पर्शरुप' ज्ञान को ग्रहण करती है, किन्तु किसी दोष आदि के कारण स्पर्श ज्ञान को ठीक प्रकार से ग्रहण न कर पाना ही कुष्ठिता नामक अशक्ति है। ३. **अन्धत्व :** नेत्रेन्द्रिय में दोष के कारण उसके विषय 'रुप' को ग्रहण न कर पाना ही अन्धत्व नामक अशक्ति है। ४. **जडता :** रसनेन्द्रिय जिह्वा जब किन्ही कारणों से रस का ग्रहण नहीं कर पाती, वस्तु के स्वाद का अनुभव करने में असमर्थ होती है। वह जडता नामक 'अशक्ति' कहलाएगी। ५. **अजिघ्रता :** घ्राणेन्द्रिय का कार्य गन्ध को ग्रहण करना है, किन्तु यदि किसी कारण यह इसे ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है तो 'अजिघ्रता' नामक 'अशक्ति' का भेद कहा जाएगा।

(ख) कर्मेन्द्रिय विषयक

६. **मूकता :** वाणी के दोष के कारण व्यक्ति का बोल न पाना ही 'मूकता' नामक अशक्ति का भेद है। ७. **कौण्ड्य :** यदि व्यक्ति किसी दोष के कारण हाथ से कोई वस्तु न पकड सके तो यह कौण्ड्य नामक अशक्ति का भेद होगा। ८. **पंगुत्व :** पैरों के द्वारा कहीं जाने आने में असमर्थता पंगुत्व अशक्ति है। ९. **उदावर्त :** किसी कारण मल-मूत्र के विसर्जन में उत्पन्न असमर्थता 'उदावर्त' नामक अशक्ति का भेद होता है। १०. **क्लैब्य :** इसके कारण व्यक्ति मैथुन क्रिया में समर्थ नहीं हो पाता। यह उपस्थ नामक इन्द्रिय में दोष के कारण होता है। ११. **मन्दता :** इसके कारण व्यक्ति विषय को ग्रहण करने में असमर्थ होता है। मन में दोष के कारण यह उत्पन्न होता है, क्योंकि मन उभयात्मक इन्द्रिय है। अतः इसका सम्बन्ध दोनों से होता है।

ये ग्यारह प्रकार की 'अशक्ति' करण अर्थात् इन्द्रियों से सम्बद्ध होने के कारण करणगत भी मानी गई। तुष्टियों की संख्या नौ तथा सिद्धियों की संख्या आठ मानी गई है। इनके अभाव से जो अशक्ति उत्पन्न होती है, उनकी संख्या इन दोनों के योग के बराबर सत्रह मानी गई है। अतः अब हम बुद्धि के स्वरूपगत सत्रह प्रकार की अशक्तियों का उल्लेख करेंगे।

(ग) अतुष्टि विषयक अशक्ति के नौ प्रकार :

१. **असुवर्णा :** मूलप्रकृति की सत्ता को स्वीकार न करना 'असुवर्णा' नामक अतुष्टि कही गई है। २. **अनिला :** महत् तत्त्व की सत्ता को स्वीकार न करनेवाली अतुष्टि 'अनिला' मानी गई है, इसी को 'अज्ञानमलिना' भी कहा गया है। ३. **मनोज्ञा :** अहंकार के अभाव की प्रतीति ही 'मनोज्ञा' नामक अतुष्टि है। ४. **अदृष्टि :** आकाशादि महाभूत एवं तन्मात्राओं का कोई अस्तित्व नहीं है, ऐसा मानना अदृष्टि नामक अतुष्टि है। ५. **अपरा :** धन कमाने में प्रवृत्त होना 'अपरा' नामक अतुष्टि कही गई है। ६. **सुपरा :** कमाए हुए धन की रक्षा में प्रवृत्त होना 'सुपरा' नामक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतुष्टि मानी गई है। ७. **असुनेत्रा :** कमाए हुए धन के विनाश में किसी प्रकार का दोष न मानना 'असुनेत्रा' नामक अतुष्टि है। ८. **वसुनाडिका :** भोगों में आसक्ति का होना ही वसुनाडिका अतुष्टि है। ९. **अनुत्तमाम्भसिका :** हिंसा आदि दोषों की उपेक्षापूर्वक भोगों में प्रवृत्ति ही 'अनुत्तमाम्भसिका' अतुष्टि मानी गई है।

(छ) असिद्धि विषयक अशक्ति के आठ प्रकार –

१. **अप्रतार :** बिना अध्ययन के ही किसी भी तत्त्व का आविर्भाव, प्रकट होना 'अप्रतार' नामक अशक्ति है। २. **असुतार :** शास्त्रों के विधिवत् अध्यय न करने पर अन्य अर्थ का कथन करनेवाले शब्द का अन्य ही अर्थ करना 'असुतार' नामक असिद्धि, अशक्ति का भेद है। ३. **अतारतार :** शास्त्रों के ठीक प्रकार से ऊहापोह के बिना उत्पन्न होनेवाला ज्ञान ही 'अतारतार' नामक असिद्धि होता है, जो अशक्ति का भेद है। ४. **असदामुदित :** दक्षिणा न देने के कारण असन्तुष्ट गुरु से उत्पन्न वासना आदि का उच्छेदन होना ही 'असदामुदित' नामक असिद्धि है। ५. **अरम्यक् :** विरोधी व्यक्ति की सलाह के अभाव में होनेवाला विपरीत ज्ञान ही 'अरम्यक्' नामक असिद्धि, अशक्ति का भेद है। ६. **अप्रमोद :** आध्यात्मिक दुःखों की पीडा से भी, संसार से उद्विग्न न होने के कारण विवेकज्ञान के प्रति जिज्ञासा का न होना ही 'अप्रमोद' नामक असिद्धि होती है। ७. **अमुदित :** आधिभौतिक दुःखों से पीडित होने पर उनसे छुटकारा पाने की जिज्ञासा का न होना 'अमुदित' नामक असिद्धि कही गई है। ८. **आमोदमान :** आधिदैविक दुःखों से बुरी तरह परेशान होने पर भी कामिनी आदि में आसक्ति के कारण उसके निवारणार्थ इच्छा का न होना 'आमोदमान' असिद्धि मानी गई है।

इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियवध, नौ अतुष्टियाँ एवं उपरोक्त आठ असिद्धि इन सबको मिलाकर कुल अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति कही गई है। जिन्हें इस प्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है –

आध्यात्मिक्यश्चतस्त्रः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात्, पञ्चच नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

भावार्थ : प्रकृति, उपादान, काल और भाग ये चारो प्रकार के आध्यात्मिक और (पाँच) विषयो के शमन से = वैराग्य से होती पाँच प्रकार के बाह्य ऐसे नौ प्रकार की तुष्टि मानी गई है।

विशेषार्थ : किसी भी वस्तु, व्यक्ति, विचार आदि के सम्बन्ध में परेशान, बेचैन न होना, संतोष कर लेना ही तुष्टि का स्वरूप होता है। ये आन्तरिक और बाह्यरुप में प्रथमतः दो प्रकार की होती है। पुनः आन्तरिक के चार प्रभेद (प्रकृति, उपादान, काल और भाग) होते हैं। बाह्य तुष्टियों के पांच प्रभेद (पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भस् और उत्तमाम्भस्) गिनाए गए है। इनका हम यहाँ क्रमशः विवेचन प्रस्तुत करते है –

(क) आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) चार तुष्टियाँ : आत्मतत्त्व से भिन्न प्रकृति आदि को ही आत्मा अथवा विवेकज्ञान मानकर संतुष्ट हो जाना तथा विवेकज्ञान के लिए श्रवण, मनन आदि प्रयत्नों का न करना ही आध्यात्मिक तुष्टि कहलाती है, क्योंकि ये प्रकृति से भिन्न आत्मा के सम्बन्ध में होती हैं। ये चार प्रकार की है –

१. **प्रकृति :** 'विवेक-ज्ञान' वस्तुतः प्रकृति का ही एक परिणाम है, जिसे प्रकृति स्वयं उत्पन्न करती है। इसलिए विवेकज्ञान हेतु ध्यान आदि का अभ्यास करना व्यर्थ अपने शरीर को कष्ट देना है। अतः कुछ भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उपदिष्ट शिष्य को प्रकृति के सम्बन्ध में जो तुष्टि होती है, उसे ही प्रकृति नामक तुष्टि कहा गया है। इसी का दूसरा नाम 'अम्भस्' भी है, क्योंकि यह जल के समान निर्मल शाब्दिक उपदेश के समान होती है।

२. **उपादान :** 'विवेकज्ञान' वस्तुतः संन्यास से होता है। अतः संन्यास धारण करना चाहिए। इसके लिए ध्यान आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से होने वाली तुष्टि को 'उपादान' कहा जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका दूसरा नाम 'सलिल' भी है, क्योंकि जिस प्रकार बीज से अंकुर की उत्पत्ति में जल सहायक होता है। ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के प्रति संन्यास सहायक होता है।

३. **काल :** विवेक-ख्याति, संन्यास ग्रहण कर लेने मात्र से नहीं होगी, इसके लिए तुम्हें उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी, क्योंकि समय आने पर सिद्धि अपने आप ही प्राप्त हो जाएगी। इसलिए तुम्हें व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से होनेवाली तुष्टि को 'काल' संज्ञा दी गई है। इसी का दूसरा नाम 'औघ' भी है।

४. **भाग :** यहां भाग से अभिप्राय 'भाग्य' से है। विवेक-ज्ञान न तो प्रकृति से होता है, न संन्यास ग्रहण करने से और न ही समय की प्रतीक्षा से, अपितु यह तो एकमात्र भाग्य से होता है। मदालसा के पुत्रों को ही देखिए, भाग्य की प्रबलता से बाल्यावस्था में ही माता के उपदेश के द्वारा विवेकख्याति होने से मुक्त हो गए। इसलिए विवेक-ज्ञान में भाग्य ही मात्र कारण है, अन्य कोई नहीं, अतः इसके लिए प्रयास करना व्यर्थ है। इस प्रकार के उपदेश के द्वारा होनेवाली तुष्टि 'भाग' नामक तुष्टि कही गई है। इसी को 'वृष्टि' भी कहा जाता है।

इन चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियों का उल्लेख कारिका के पूर्वार्ध में किया गया। 'आत्मानम् अधिकृत्य जायमाना' व्युत्पत्ति की दृष्टि से ही इन्हें आध्यात्मिक कहा गया है। इन्हीं को आभ्यन्तर भी कहते है। अब हम पांच प्रकार की बाह्य तुष्टियों का उल्लेख करेंगे।

(ख) **बाह्य पाँच तुष्टियाँ :** महत्, अहंकार आदि को ही आत्मा मानकर संसार से उपरक्त होना बाह्य तुष्टि है। जिसे कारिका में 'विषयोपरमात्' के द्वारा कहा गया है। उपरम का अभिप्राय है - वैराग्य तथा विषय पद यहां शब्द आदि भोग्य पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इन तुष्टियों का सम्बन्ध बाह्य विषयों से है, इसी कारण इन्हें बाह्य तुष्टि के नाम से कहा जाता है। ये तुष्टि आत्मज्ञान के अभाव में अनात्मा के बाह्य विषयों में प्रवृत्त होने एवं उनके सम्बन्ध में वैराग्य होने पर होती है। शब्द आदि भोग्य विषयों की संख्या पाँच है। अतः उनसे सम्बन्धित वैराग्य भी पाँच प्रकार का होता है, जो विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग और हिंसा आदि के कारण उत्पन्न होता है। अब हम इनसे होनेवाली पाँच तुष्टियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते है।

१. **पार :** सेवा आदि सभी प्रकार के उपाय अत्यन्त दुःख प्रदान करनेवाले है। यह विचारकर सांसारिक विषयों के प्रति उत्पन्न होनेवाली वैराग्यभावना से उत्पन्न होनेवाली तुष्टि 'पार' कहलाती है।

२. **सुपार :** उपार्जित धन को राजा, चोर, अग्नि, बाढ आदि के द्वारा नष्ट होने की सम्भावना एवं उसकी रक्षा में होनेवाले अत्यधिक कष्ट को सोचकर विषयों के प्रति होनेवाले वैराग्य से होनेवाली तुष्टि को 'सुपार' कहा गया है।

३. **पारापार :** अत्यधिक परिश्रम से अर्जित किया गया भी धन भोग द्वारा नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार उसके विनाश का चिन्तन करनेवाले व्यक्ति को विषयों से वैराग्य होने पर होनेवाली तुष्टि 'पारापार' कही जाती है।

४. **अनुत्तमाम्भस् :** शब्द आदि सांसारिक भोगों को भोगने से कामनाएं बढ़ती है। पुनः उनके न मिलने पर दुःख (कष्ट) होता है। इस प्रकार भोगों में दोषों का चिन्तन करते हुए उनके प्रति वैराग्य होने के परिणामस्वरुप होनेवाली तुष्टि 'अनुत्तमाम्भस्' कहलाती है।

५. **उत्तमाम्भस् :** प्राणियों को बिना कष्ट दिए उनकी हिंसा आदि के अभाव में किसी भी सांसारिक विषय का उपभोग सम्भव नहीं है। इस प्रकार सोचकर भोगों में हिंसा का दोष देखने के कारण विषयों के प्रति होनेवाले वैराग्य से होनेवाली तुष्टि ही उत्तमाम्भस् नामक तुष्टि मानी गई है।

प्रत्ययसर्ग में विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि की विस्तृत व्यख्या के बाद चतुर्थ भेद 'सिद्धि' का गौण और मुख्य भेदों के साथ विस्तृत परिचय प्रदान करने के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातस्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

भावार्थ : (१) ऊह, (२) शब्द, (३) अध्ययन, (४-६) त्रिविधदुःख का विघात, (७) मित्रप्राप्ति, (८) दान (= पवित्रता) ये आठ सिद्धियाँ है । पहले कहे हुए तीन (विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि) वे इस सिद्धि पर के अङ्कुश है ।

विशेषार्थ : सिद्धियाँ मुख्यरुप से दो प्रकार की होती है – मुख्य और गौण । इनमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों का विनाश करनेवाली तीन मुख्य सिद्धियाँ है तथा उनके उपाय के रूप में होनेवाली पाँच अन्य गौण सिद्धियाँ है । इस प्रकार इनकी संख्या कुल मिलाकर आठ मानी गई है । इनमें पाँच गौण सिद्धियाँ कारण (साधन) और तीन मुख्य सिद्धियाँ कार्य (साध्य) के रूप में भी अवस्थित है । अब हम सर्वप्रथम कारणरूप में स्थित पाँच गौण सिद्धियों का विवेचन करेंगे ।

१. **अध्ययन :** गुरु के मुख से अध्यात्मविद्या का विधिपूर्वक शाब्दिकरूप से श्रवण द्वारा ग्रहण किया जाना ही अध्ययन रूप सिद्धि कही गई है । अध्यात्म विद्या का प्रमुख प्रतिपाद्य पुरुष तत्त्व है, उसी का गुरुमुख से विधिवत् ग्रहण यहाँ अभिप्रेत है । श्री जयमंगलाकार ने इसे आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध से सांख्यशास्त्र का शाब्दिक और अर्थज्ञान के साथ उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को 'अध्ययन' नामक सिद्धि कहा है । गौण सिद्धियों में इसका पहला स्थान है, क्योंकि शेष चार गौण सिद्धियों का यही एक मात्र हेतु है । इसी का दूसरा नाम 'तारम्' भी है । क्योंकि संसाररूपी भव सागर से पार उतारने वाला यह प्रथम सेतु है ।

२. **शब्द :** अध्ययन का कार्यरुप शब्द दूसरी गौण सिद्धि है । शब्द पद के द्वारा यहाँ उससे होनेवाले अर्थज्ञान की भी प्रतीति हो रही है, क्योंकि अर्थज्ञान ही अज्ञान का विनाश करते हुए विवेकज्ञान कराने में सक्षम होता है, केवल उच्चारण किया गया शब्द नहीं । इस प्रकार इसे शब्दपाठ (उच्चारण) एवं अर्थज्ञान की दृष्टि से दो प्रकार का कहा जा सकता है । इसी का दूसरा नाम 'सुतारम्' भी है, क्योंकि शब्द से उत्पन्न होनेवाले अर्थज्ञान द्वारा संसाररुपी समुद्र का पार किया जाना (तारण) लगभग निश्चित ही है । श्री जयमंगलाकार ने दूसरे के द्वारा किए गए सांख्यशास्त्र के पाठ अर्थात् पारायण को सुनकर उत्पन्न होनेवाले तत्त्वज्ञान को '**शब्द**' नामक सिद्धि कहा है ।

३. **ऊह :** 'ऊह वितर्के' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अभिप्राय है तर्क । तर्को के द्वारा सांख्यशास्त्र के अर्थ का परीक्षण ही तर्क है । इसे ही 'ऊह' नामक सिद्धि कहा गया है । यह परीक्षण पूर्वपक्ष के निराकरण द्वारा उत्तरपक्ष अथवा सिद्धान्तपक्ष को स्थापित करने के द्वारा सम्पन्न होता है । इसी को विद्वानों ने '**मनन**' संज्ञा भी दी है । इसी का दूसरा नाम '**तारतार**' भी है, क्योंकि यह सिद्धि पहले कही गई तारम् और सुतारम् सिद्धियों से बढ़कर होती है।

श्री जयमंगलाकार ने पूर्व जन्मों के अभ्यास के कारण उपदेश के बिना ही स्वयं तत्त्वज्ञान होना ही '**ऊह**' नामक सिद्धि कहा है ।

४. **सुहृत्प्राप्ति :** यहाँ प्रयुक्त सुहृत् पद से अभिप्राय – गुरु, शिष्य एवं साथ में अध्ययन करनेवाले सहपाठियों से है । उनका प्राप्त होना भी एक सिद्धि ही है, जो वस्तुतः पहले कही गई अध्ययन नामक सिद्धि के फलरूप में कही जा सकती है । अपने आप किया गया अध्ययन एवं चिन्तन तब तक सार्थक नहीं होता जब तक उसकी अपने सुहृदों–गुरु, शिष्य एवं सहपाठियों के साथ चर्चा न हो, उन सभी के द्वारा वह सम्मत न हो । इस प्रकार गुरु, शिष्य एवं सहपाठियों के रूप में सहमति अथवा मान्यता प्रदान करनेवाले संवादकों की प्राप्ति ही सुहृत्प्राप्ति नामक सिद्धि है । इसी को '**रम्यक**' पद कहा जाता है । '**रमन्त अत्र**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**रम्यक**' अधिकरण में यत् तथा स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री जयमंगलाकार ने तत्त्व को जान चुकने वाले सुहृद् अर्थात् मित्र को प्राप्त कर उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को ही ज्ञानरूपवाली '**सुहृत्प्राप्ति**' नामक सिद्धि कहा है।

५. **दान :** यहाँ दान से अभिप्राय विवेकज्ञान की शुद्धि से है, न कि कोई वस्तु प्रदान करने से, क्योंकि यह 'दान' शब्द शोधनार्थक 'दै' धातु से ल्युट् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। 'डुदाञ् दाने' धातु से निष्पन्न नहीं होता। यहाँ शुद्धि का अर्थ-वासनासहित संशय और मिथ्याज्ञान के परिहारपूर्वक विवेकज्ञान के निर्मलप्रवाह में स्थित होने से है। जो लम्बे समय के लगातार अभ्यास के द्वारा परिपक्व होता है।

यह गौण पाँच सिद्धियों में अन्तिम अर्थात् पाँचवी सिद्धि है। इसी का दूसरा नाम '**सदामुदित**' भी है, क्योंकि इसके द्वारा साधक सदैव मुदित अर्थात् प्रसन्न रहता है। श्री जयमंगलाकारने इसे धन आदि के दान के द्वारा सम्मानित ज्ञानी, साधक को ज्ञान देता है, इस रुप में 'दान' नामक सिद्धि कहा है।

इस प्रकार पाँच गौण सिद्धियों की व्याख्या के बाद मुख्य सिद्धियों का कथन करते है, जो तीन प्रकार के दुःखों, जिनका विनाश (आत्यन्तिक निवृत्ति) व्यक्ति का मूल उद्देश्य है, की विनाशक होने के तीन प्रकार की कही गई है। इन्हें क्रमशः मोद, मुदित और मोदमान कहा जाता है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक जिन त्रिविध दुःखों का विवेचन ग्रन्थ के आरम्भ में किया गया है, जिसे त्रिविधताप भी कहा जाता है। उसका आत्यन्तिक विनाश ही परम पुरुषार्थ है। इनमें प्रत्येक प्रकार के दुःख का उच्छेद एक-एक सिद्धि मानी गई है। अर्थात् १. आध्यात्मिक दुःखो की विनाशिका '**मोद**' नामक सिद्धि, २. आधिभौतिक दुःखों का विनाश करनेवाली '**मुदित**' नामक सिद्धि दूसरी एवं ३. आधिदैविक दुःखों की उच्छेदिका '**मोदमान**' नामक सिद्धि होती है। इस प्रकार पाँच गौण एवं तीन मुख्य कुल मिलाकर आठ सिद्धियाँ होती है। (अष्टौ सिद्धयः)

कारिका के अन्तिमचरण में ग्रन्थकार ने प्रत्ययसर्ग में इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्हें अंकुश के समान बताया है, अर्थात् ५६वीं कारिका में कहे गए बुद्धि की सृष्टि विपर्यय, तुष्टि एवं सिद्धि, के चार प्रकारों में से पूर्व के तीन (विपर्यय, अशक्ति, पुष्टि) सिद्धिस्वरूपा हस्तिनी के लिए अंकुश के समान है। अतः सिद्धि के विरोधी होने से मुमुक्षुओं के लिये त्याज्य है, क्योंकि सिद्धियों के द्वारा ही तत्त्वज्ञान होता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार बुद्धि-सर्ग में प्रथम तीन हेय तथा चतुर्थ '**सिद्धि**' उपादेय है।

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिंङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ॥५२॥

भावार्थ : भावों (प्रत्ययसर्ग) के बिना लिङ्ग (तन्मात्रसर्ग उत्पन्न) नहीं (होता)। न ही लिङ्गसर्ग के बिना बुद्धिसृष्टि की निष्पत्ति (सम्भव है)। अतः लिङ्ग और भाव नामक दो प्रकार की सृष्टि (एक ही बुद्धि से) प्रवृत्त होती है।

विशेषार्थ : यह सम्पूर्ण सूक्ष्म एवं स्थूलप्रपञ्चरुप सृष्टि पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए है, किसी एक के द्वारा इस प्रयोजन की सिद्धि असम्भव है। इसी कारण पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए भावरूप सूक्ष्म एवं लिङ्गरूप तन्मात्राओं से निर्मित दो प्रकार की सृष्टियाँ प्रवृत्त होती है।

यद्यपि सांख्यशास्त्र में लिङ्ग पद का प्रयोग सूक्ष्मशरीर के लिए हुआ है, किन्तु यहाँ इसका प्रयोग शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक पञ्चतन्मात्राओं से निर्मित स्थूलसृष्टि के लिए हुआ है, दूसरे शब्दों में इसे स्थूलशरीर भी कहा जा सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार कारिका में प्रयुक्त '**भाव**' पद के द्वारा धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, राग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य नामक आठ बुद्धि धर्मो के साथ-साथ विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि नामक प्रत्यय सर्ग के चार भेदों एवं पचास उपभेदों का भी ग्रहण होता है।

ये दोनों परस्पर सापेक्ष है। एक के बिना दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं है, जिसे बीजांकुर न्याय द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि भाव के अभाव में तन्मात्रा द्वारा निर्मित सृष्टि की पुरुष के लिए कोई उपयोगिता नहीं होती तथा तन्मात्रसृष्टि (स्थूलशरीर) के अभाव में केवल भावसृष्टि (सूक्ष्मशरीर) पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार दोनों के लिए एक दूसरे की अपेक्षा स्वतः सिद्ध है। ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ आपस में उपकार्य-उपकारकभाव से पुरुष के भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होती है।

जैसे, सांसारिक भोगों को भोगने के लिए इसके साधनभूत स्थूलशरीर के साथ-साथ इन्द्रियों एवं अन्तःकरणों की भी आवश्यकता होती है, जो भावसृष्टि है। इसी प्रकार अपवर्ग का साधनरूप विवेकज्ञान भी सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों प्रकार की सृष्टि के द्वारा ही सम्भव है।

इन दोनों में कारणकार्यरुप सम्बन्ध भी होता है। सूक्ष्मशरीर में स्थित धर्म अधर्म आदि भावों के कारण उसे मनुष्य, बिल्ली आदि का स्थूलशरीर धारण करना पडता है तथा उस शरीर द्वारा किए कर्मो से भावों का निर्माण होता है, जो सूक्ष्मशरीर का आधारभूत तत्त्व है। इस प्रकार प्रथम स्थिति में सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर का कारण हुआ, किन्तु दूसरी स्थिति में स्थूलशरीर भावशरीर का कारण होता है। यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है।

इस प्रकार बुद्धिसर्ग का विस्तार एवं संक्षेप में निरुपण करने के बाद तन्मात्रकृतसर्ग - भौतिकसर्ग के विस्तृत विवेचन के लिए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानषुश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥

भावार्थ : देवसृष्टि आठ प्रकार की, तिर्यग् योनि पाँच प्रकार की और मनुष्यसृष्टि एक प्रकार की, ऐसे संक्षेप में (चौदह प्रकार की) भौतिक सृष्टि हुई।

विशेषार्थ : सांख्य में पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इन महाभूतों से उत्पन्न विभिन्नप्रकार के स्थूलशरीर एवं पदार्थों को यहां 'भौतिकसृष्टि' संज्ञा प्रदान की गई है। ग्रन्थकार ने यहाँ संक्षेप में तीन प्रकार की सृष्टि का उल्लेख किया - दैवी, तिर्यक्, मनुष्य-सम्बन्धी। पुनः इनके उपभेंदो की संख्या का उल्लेख किया। इसके अनुसार प्रथमप्रकार की दैवीसृष्टि आठ प्रकार की होती है। दूसरे प्रकार की तिर्यक् योनि के पाँच भेद होते है तथा तीसरे प्रकार की मनुष्य-सृष्टि एक प्रकार की ही मानी गई है अब हम इन तीनों का विस्तार से उल्लेख करते है -

१. **दैवसृष्टि :** ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकार की देवताओं की योनियाँ मानी गई है। जो अपने अपने लोकों में निवास करते हैं। ये लोक इन्हीं के नाम से जाने जाते हैं। जैसे- ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सृष्टि, ब्रह्मा निवास करते हैं। प्रजापतिलोक में प्राजापत्य सृष्टि, स्वर्लोक में ऐन्द्रसृष्टि, पितृलोक में पैत्रसृष्टि से सम्बन्धित, गन्धर्वलोक में गान्धर्वसृष्टि से सम्बन्धित तथा यक्षलोक में यक्ष देवयोनि से सम्बन्धित, राक्षस लोक में राक्षस तथा पिशाच लोक में पैशाच निवास करते है। इनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य माना जाता है। इसी कारण ये दैवसृष्टि कहलाती है। इनमें अपेक्षाकृत अधिक ऐश्वर्य एवं शक्ति विद्यमान रहते हैं, तथा इनके धर्म अधर्म आदि भाव भी दिव्य होते है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. **तिर्यक्सृष्टि :** यह पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप तथा स्थावर भेद से पाँच प्रकार की होती है। गाय से लेकर घोडे तक सभी प्रकार के जानवर पशु भेद के अन्दर परिगणित है। शेर, हिरण आदि सभी जंगल में रहनेवाले जंगली जानवरों को यहाँ 'मृग' कहा गया है। पंखों से युक्त कबूतर, चिडिया आदि सभी 'पक्षी' की श्रेणी में आते है। सभी सरक कर चलनेवाले सर्प आदि को 'सरीसृप' की कोटि में रखा गया है एवं वृक्ष से लेकर लता, गुल्म स्थाणुपर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि तिर्यक्योनि के स्थावर भेद के अन्दर मानी गई है। इनमें स्वतः गमनशीलता का अभाव होता है। तिर्यक्सृष्टि में तमोगुण का प्राधान्य होता है।

३. **मानुषसृष्टि :** मनुष्यों की सृष्टि एक प्रकार की मानी गई है। यहाँ स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का भेद नहीं किया गया है। मनुष्यों में सत्त्व और तमोगुण की सम अवस्था रहती है। सत्त्व, रजस् और तमोगुण से निर्मित होने पर भी सृष्टि में रूप एवं स्वभाव की भिन्नता, गुणों के न्यूनाधिक्य एवं एक दूसरे को दबाने की प्रवृत्ति के कारण होती है। इसका कथन पूर्व में किया जा चुका है।

इस प्रकार भौतिकसृष्टि का भेदों सहित परिगणन करने के बाद ग्रन्थकार ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सम्पूर्ण सृष्टि में सत्त्व आदि गुणों की स्थिति बताते हुए उसके तीन भेदों का अगली कारिका में उल्लेख करते है -

उर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

भावार्थ : सत्त्वप्रचुरलोक ऊंचे, तमस् प्रचुरलोक नीचे और रजस् प्रचुरलोक मध्य में आये हुए है। इस अनुसार से ब्रह्म इत्यादि से लेकर घास की नौक (स्तम्ब) तक (तृणपर्यन्त) की सृष्टि रही हुई है।

विशेषार्थ : ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सम्पूर्ण भौतिकसृष्टि को सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों की दृष्टि से क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम (निम्न) तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। ऊर्ध्व अर्थात् उत्तमलोक (ब्रह्म, प्रजापति, स्वर्ग, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच लोक) जिन्हें देवलोक भी कहा जाता है। वहाँ निवास करनेवाले जीवों में सत्त्व गुण की प्रचुरता रहती है, अर्थात् इनमें रजोगुण एवं तमोगुण की स्थिति अत्यल्प होती है। इसी कारण इनमें ज्ञान और सुख का बाहुल्य होता है। सत्त्वगुण प्रकाशक एवं लघु होने से यहाँ की प्रत्येक वस्तु प्रकाशयुक्त एवं लघु होती है। इन सब गुणों के कारण यह अन्य दोनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, उत्तम है। इसलिए यहाँ ऊर्ध्व पद का प्रयोग किया गया है। उर्ध्व पद को यहाँ दिशावाची मानना उचित नहीं है।

द्वितीय, मध्य सृष्टि जो न उत्तम है न अधम, जिसके अन्तर्गत सातों द्वीप तथा उनके चारों ओर स्थित सातों समुद्र आते है, जिसमें मनुष्य निवास करते है। इस सृष्टि में रजोगुण की प्रधानता है। रजोगुण के दुःखात्मक होने के कारण ही इन में दुःख की अधिकता रहती है।

तृतीय, अधम अर्थात् निम्नसृष्टि के अन्तर्गत पशुओं से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी प्राणी आते है। इनमें तमोगुण की प्रचुरता के कारण मोह अर्थात् जड़भाव की उपलब्धि मुख्य रुप से होती है। कारिका में प्रयुक्त मूलतः पद का अर्थ अधम अथवा निम्न है। इस प्रकार सृष्टि की विस्तृत विवेचना के पश्चात् सृष्टि में दुःख की स्थिति को स्पष्ट करते है -

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्यानिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

भावार्थ : उसमें जब तक लिंगशरीर की निवृत्ति न हो, तब तक चेतन ऐसा पुरुष जरा-मरण से होनेवाला दुःख का अनुभव करता है। इसलिए (सृष्टि में) दुःख स्वभाव से ही माना गया है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषार्थ : ज्ञानस्वरुप पुरुष निर्गुण होने के कारण स्वभाव से दु:खरहित है, किन्तु लिङ्गशरीर के साथ सम्बन्ध के कारण उसके प्रमुखतत्त्व बुद्धि के धर्मो को अपने में मानकर दु:खी होता है । लिङ्गशरीर युक्त पुरुष लोकलोकान्तर में संसरण करते हुए अनेक योनियों में जन्म लेकर स्थूलशरीर ग्रहण करता है। इसलिए तत्तत् शरीर में होनेवाली वृद्धावस्था अथवा मृत्यु को, उससे होने वाले दु:खों को अपने मान लेता है, क्योंकि पुरुष एवं सूक्ष्मशरीर लोहे के तप्तपिण्ड में अग्नि के समान परस्पर संपृक्त (जुडे हुए) रहते हैं। पुरुष जरामरण आदि से प्राप्त होनेवाले इन दु:खो को तब तक प्राप्त करता रहता है, जब तक विवेकज्ञान आदि से उसे सूक्ष्मशरीर से छुटकारा प्राप्त नहीं हो जाता है। इसलिए लिङ्गशरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण स्वभाव से ही पुरुष को दु:ख की प्राप्ति होती रहती है।

जैसा कि, पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि १८ तत्त्वों से युक्त सूक्ष्मशरीर की सृष्टि के आरम्भ से ही (आदिकाल से) स्थिति रहती है तथा सांख्य के पुरुष बहुत्व के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक सूक्ष्मशरीर के साथ एक-एक पुरुष भी रहता है। सूक्ष्मशरीर में बुद्धि की प्रधानता होती है तथा उसमें स्थित धर्म-अधर्म आदि भावों के कारण वह किसी पशु अथवा मनुष्य का शरीर धारण करता है।

प्रकृति के नियम के कारण उस शरीर में होनेवाले बुढापा, मृत्यु, रोगादि को उनसे होनेवाले दु:खों को, सूक्ष्मशरीर में स्थित (सम्पृक्त) पुरुष अपने मानता है, जबकि वास्तव में वे उसके नहीं होते है। इसमें प्रमुख कारण पुरुष का सूक्ष्मशरीर के साथ घनिष्टरुप से जुडा होना तथा अज्ञान ही होता है । जो विवेकज्ञान होने तक तथा सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति तक बना रहता है, क्योंकि विवेकज्ञान से पुरुष एवं प्रकृति का भेद ज्ञात होने पर शरीरपात के अनन्तर सूक्ष्मशरीर अपने कारणरूप मूलप्रकृति में विलीन हो जाता है तथा पुरुष अपने विराट्रुप पुरुष में विलीन हो जाता है, यही मोक्ष है, यही कैवल्य है।

इस प्रकार बुद्धि और उसके गुणों से युक्त सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध चेतनपुरुष के अज्ञानवश दु:खप्राप्ति की अवधि लिङ्गशरीर की निवृत्ति पर्यन्त होती है और सूक्ष्मशरीर, क्योंकि सत्त्व रजस् और तमोगुण सम्पन्न होता है और ये तीनों सुखदु:खमोहात्मक होते हैं। अत: दु:खादि की स्थिति स्वभाव से ही मानी गई है। कारिका के अभिप्राय को इस प्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है -

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ।।५६।।

भावार्थ : इस अनुसार से महद् इत्यादि से लेकर विशेष (स्थूल) भूतो तक का सर्ग प्रकृति ने ही रचा है। (और) वह प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए है। (इसलिए) अपने लिए प्रतीत होता हुआ (वह कार्य) भी वस्तुत: दूसरो के लिए ही है।

विशेषार्थ : इस प्रकार जिसका विवेचन हम पूर्व की कारिकाओं में विस्तार से कर चुके है, महत् तत्त्व से लेकर पञ्चमहाभूत पर्यन्त यह सृष्टिरुप कार्य जिसे तन्मात्रासर्ग और बुद्धि-सर्ग के रुप में भी वर्णित किया जा चुका है। मूल प्रकृति के द्वारा सूक्ष्मशरीर के साथ स्थित बद्ध-पुरुष के गोक्ष के लिए ही किया जाता है। ज्ञातव्य है कि, सांख्य के पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सूक्ष्मशरीर के साथ एक पुरुष भी सम्पृक्त होता है, ये दोनों ही बुद्धि में स्थित धर्म अधर्म आदि भावों के कारण लोक लोकान्तर में विचरण करते हुए अलग अलग योनियों में जन्म लेकर स्थूलशरीर धारण करते है, जिससे पुरुष के भोगापवर्ग का कार्य सम्पन्न होता है। बद्धपुरुष ही भोग करता है तथा तत्त्वज्ञान के अनन्तर उसी का मोक्ष होता है। इस प्रकार प्रकृति द्वारा किया गया सृष्टिरूप यह कार्य भले ही स्वार्थ (अपने लिए) अर्थात् प्रकृति के लिए किया हुआ प्रतीत हो, किन्तु वस्तुत: प्रकृति इसे सूक्ष्मशरीर के साथ आबद्ध

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए ही सम्पन्न करती है। अत: यह कार्य परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए, पुरुष के लिए ही होता है।

इसलिए प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए किया हुआ यह आरम्भ सृष्टिरूप कार्य अपने लिए किया गया (स्वार्थ) प्रतीत होता हुआ भी, वस्तुत: दूसरों के लिए (परार्थ), पुरुष के लिए ही होता है।

इस प्रकार महत् आदि अव्यक्त-अवस्था से लेकर स्थूलमहाभूतरूप व्यक्त अवस्था तक सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमात्र प्रकृति द्वारा किया जाता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं। यद्यपि यह कार्य प्रत्यक्षरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति अपने लिए कर रही है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता, अपितु यह उस प्रत्येक पुरुष को मोक्षरूपी अपवर्ग प्रदान करने के लिए किया जाता है, जो अनादिकाल से लिङ्गशरीर द्वारा आविष्ट रहता है। अत: प्रकृति का यह कार्य स्वार्थ नहीं, अपितु परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए ही है।

अचेतन होते हुए भी प्रकृति परोपकार की भावना से प्रेरित होकर नि:स्वार्थभाव से पुरुष के लिए किस प्रकार कार्य करती है, इसका सोदाहरण प्रतिपादन करने के लिए ग्रंथकार आगे कहते है कि,

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति: प्रधानस्य ॥५७॥

भावार्थ : जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए अचेतन दूध की (माता के स्तनो में) प्रवृत्ति होती है (ठीक) उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिए (अचेतन) मूल, प्रकृति की प्रवृत्ति (होती है)।

विशेषार्थ : कारिका में प्रयुक्त प्रधान पद का मूलप्रकृति के लिए प्रयोग हुआ है, जो जडात्मिका है, अचेतन है। इस अचेतन प्रकृति की परोपकार की भावना से पुरुष के मोक्ष की प्रवृत्ति कैसे सम्भव है, क्योंकि स्वार्थपरार्थ का विवेक तो चेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं। इसी शंका के समाधान के लिए ग्रन्थकार दूध और बछड़े का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि -

जिस प्रकार गाय के शरीर में स्थित दुध अचेनत होते हुए भी बछड़े के पोषण के लिए आवश्यकता पडने पर गाय के थनों में स्वत: आ जाता है और बछडे की आवश्यकता पूरी होने पर अर्थात् उसके बडा होने पर स्वत: ही थनों में आना बन्द हो जाते है। ठीक उसी प्रकार अचेनत होते हुए भी प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए सृष्टिरुप कार्य में प्रवृत्ति होती है तथा उसका मोक्ष होने पर अपने आप ही उसके प्रति स्वयं को निवृत्ति भी कर लेती है। अत: हमारी बात में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

यहाँ प्रयुक्त 'अज्ञ' पद का प्रयोग दूध की अचेतनता का कथन करने के लिए हुआ है, जिसका अन्वय उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त 'प्रधानस्य' पद के साथ भी करना होगा।

पूर्वोक्त बात को अन्य उदांहरण देकर अगली कारिका में स्पष्टीकरण करते है -

औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोक:।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

भावार्थ : जैसे लोग.अपनी उत्सुकता की निवृत्ति हो, इसलिए क्रिया में प्रवृत्त होते है, वैसे अव्यक्त (प्रधान) पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है।

व्याख्या : जिस प्रकार संसार में व्यक्ति उत्सुकतावश अनेक कार्यों को सम्पन्न करता है, क्योंकि किसी भी वस्तु को जानने की उत्सुकता उसका स्वभाव है। जैसे - मानो हम अत्यावश्यक कार्य से बाजार जा रहे हों, हमें देर भी क्यों न हो रही हो। बाजार में एक स्थान विशेष पर भीड देखकर हमें उस विषय में जानने की स्वाभाविक उत्कण्ठा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है और हम रुककर उस विषय में जानने का भरचक प्रयास करते है। अतः हमारी यह प्रवृत्ति उत्सुकता की निवृत्ति के लिए कही जाएगी। उन कार्यों को करने पर उत्सुकता या इच्छा भी स्वतः निवृत्त हो जाती है।

ठीक इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति में स्वाभाविक उत्सुकता या इच्छा रहती है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह इसके साधनभूत सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होती है तथा इस प्रयोजन की सिद्धि के बाद स्वतः ही निवृत्ति भी हो जाती है। अतः पुरुष के मोक्ष की इच्छा प्रकृति का स्वभाव है, स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किसी के द्वारा प्रेरित नहीं।

यहाँ तक कारिकाकारने पुरुषार्थ ही प्रकृति की प्रवृत्ति का मूल कारण है, इसका प्रतिपादन किया। पुनः सृष्टिरुप कार्य में प्रवृत्त इसकी स्वतः निवृत्ति का सोदाहरण कथन करते हुए अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथानृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥

भावार्थ : जैसे नर्तकी रंगभूमि के उपर अपनी कला बता के नृत्य में से निवृत्त होती है। वैसे प्रकृति पुरुष के पास अपने को प्रकट करके निवृत्त होती है।

विशेषार्थ : जिस प्रकार नृत्यांगना रङ्गशाला स्थित दर्शकों के समक्ष मनोयोग से अपना नृत्य प्रस्तुत करती है और नृत्य के पश्चात् उन्हीं दर्शको के सामने पुनः नृत्य करने में उसे कोई रुचि नहीं रहती अर्थात् उन दर्शकों के प्रति वह विरक्त हो जाती है। ठीक उसी प्रकार नृत्यांगनारूप प्रकृति का सृष्टि-प्रक्रियारुप नृत्य केवल उन पुरुषों के लिए होता है, जो प्रकृति के स्वरुप को अज्ञानवश देख नहीं पाते है।

किन्तु जो पुरुष उसका उपभोग करके विवेकज्ञान से उसके और अपने अन्तर को समझ लेता है। उसके प्रति यह प्रकृति अपने वास्तविकरूप को प्रदर्शित करके पूर्णतया विरक्त हो जाती है अर्थात् ऐसे विवेकज्ञानी के लिए उसके समक्ष प्रकृतिरूप नृत्यांगना अपना सृष्टिरुप नृत्य प्रस्तुत नहीं करती है।

प्रकृति पुरुष के लिए भोगापवर्ग पूर्णतया निःस्वार्थभाव से सम्पादित करती है। अतः वह उपकारिणी है। जब कि, पुरुष प्रकृति के उपर कोई उपकार करता न होने से अनुपकारी-निर्गुण है। इस बात का अगली कारिका में प्रतिपादन करते हैं -

नानाविधैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकञ्चरति ॥६०॥

भावार्थ : गुणवाली और उपकार करनेवाली प्रकृति, निर्गुण और अनुपकारी ऐसे पुरुष के लिए अनेक प्रकार के उपायो के द्वारा निःस्वार्थभाव से कार्य करती है।

विशेषार्थ : पुरुष और प्रकृति के स्वरुप एवं गुणों तथा प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रकृति उपकारिणी और दयादाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त है। इस से विपरीत पुरुष अनुपकारी और निर्गुण होता है।

सामान्यतया लोक में उपकार करनेवाले के प्रति प्रत्युपकार की भावना को श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु यहाँ उपकार करनेवाली, त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा अनेक उपायों द्वारा पुरुष का भोगापवर्ग सम्पादित किए जाने पर भी प्रत्युपकार की भावना से रहित, निर्गुण पुरुष द्वारा प्रकृति का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं किया जाता।

वस्तुतः सांख्य की प्रकृति इस प्रकार की दासी के समान होती है, जो अपनी पूरी योग्यता एवं क्षमता से, पूर्णतया निःस्वार्थभाव से, प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना, अपने गुण-रहित एवं कृतघ्न स्वामी की सेवा में लीन रहती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार प्रकृति सेवा, उपकार आदि श्रेष्ठगुणों से युक्त होती है। जबकि पुरुष इस प्रकार के गुणों से रहित होता है। ऐसा इस कारण होता है कि प्रकृति में तीन गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) होने से उपकार की भावना रहती है, क्योंकि दया, दाक्षिण्य आदि सत्त्वगुण के धर्म होते है।

जब कि, पुरुष इन गुणों से रहित होता है। अत: उसके पास कुछ देने की परोपकार आदि की भावना का पूर्णतया अभाव होता है और न ही उसके पास भोग विलास की कोई सामग्री ही होती है, क्योंकि भोगविलास की सामग्री धर्म, अधर्म आदि बुद्धि के आठ भावों के परिणाम हैं, जिनका सम्बन्ध केवल प्रकृति से होता है, पुरुष से नहीं।

इस प्रकार त्रिगुणात्मिका एवं उपकारिणी प्रकृति, विशुद्ध परोपकार की भावना से निर्गुण एवं प्रत्युकार की भावना से रहित पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि हेतु सृष्टिरुप सामग्री का सम्पादन करती है, उसे जुटाती है।

अवतरणिका : इस प्रकार प्रकृति के निःस्वार्थभाव से पुरुष के प्रति उसके भोगावपर्ग के लिए जानेवाले उपकारीभाव का कथन करने के पश्चात्, उसकी सुकुमारता आदि गुणों का कथन करने के लिए पुरुष के अपवर्ग की स्थिति में प्रकृति द्वारा किए जानेवाले आचरण का प्रतिपादन करने हेतु अग्रिम कारिका का अवतरण करते है-

प्रकृतेः सुकुनारतरं न किञ्चिदस्तीति ने मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

भावार्थ : प्रकृति से ज्यादा सुकुमार अन्य कोई भी नहीं है, ऐसा मेरा मत है। (श्री ईश्वरकृष्ण आचार्य का मत है) 'में (पूर्ण तरह से) दिखी गई हुं', ऐसा लगते ही वह फिरसे पुरुष की दृष्टि में नही आती है।

विशेषार्थ : ज्ञानप्राप्ति की स्थिति में पुरुष द्वारा प्रकृति को भिन्नरुप में देखे जाने पर प्रकृति उस ज्ञानीपुरुष के लिए अपने सृष्टिरूप प्रपञ्च का विस्तार नहीं करती है। इतना ही नहीं वह अत्यन्त कोमल लज्जाशील कुलवधू के समान स्वयं को उस ज्ञान पुरुष की दृष्टि से भी बचाती है। उसे वह परपुरुष के समान मानती है तथा उसके समाने जाने से भी कतराती है। प्रकृति के इस प्रकार के आचरण के कारण ग्रन्थकार कहते है कि मेरे मत में ज्ञानावस्था में प्रकृति से बढकर अन्य कोई भी स्त्री सुकुमार कहलाने की अधिकारिणी नहीं है।

क्योंकि इस स्थिति में यह एक बार पुरुष की दृष्टि में पडने पर उसके द्वारा देखे जाने पर उसके सामने फिर से जाने का उस कुलांगना के समान साहस नहीं करती, जो अत्यन्त शीलवती हो, जिसे सूर्य की किरणें भी न देख पायी हों, किन्तु असावधानी वश किसी परपुरुष ने उसे उस समय देख लिया हो, जब वह स्नान कर रही हो। तो वह उस पुरुष की दृष्टि से कतराती है, उसके सामने भी नहीं आती उसकी दृष्टि बचाकर निकल जाती है।

ठीक यही स्थिति पुरुष के विवेकज्ञान होने पर प्रकृति की उस पुरुष के प्रति होती है, क्योंकि उसके विषय में वह विचार करती है कि इसने तो मुझे देख लिया है, पहचान लिया है। अत: वह उसके सामने फिर आने से, अपने सृष्टिरूप प्रपञ्च को फैलाने से कतराती है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने प्रकृति को सुकुमारतरा कहा है।

अवतरणिका : अभी तक वर्णित कारिकाओं में ग्रन्थकार ने औपचारिक दृष्टि से पुरुष के बन्धन आदि का कथन किया था, किन्तु अब तक स्थिति स्पष्ट होने के कारण वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए बंधन, संसरण और मोक्ष के सम्बन्ध में स्पष्टतया कारिका का अवतरण करते है -

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

भावार्थ : इसलिए वास्तव में तो कोई भी (पुरुष) ना तो बंधन पाता है या ना तो मोक्ष पाता है या ना तो संसार पाता है। किन्तु विविध प्रकार के आश्रयोवाली प्रकृति ही बंधन ग्रस्त होती है, मोक्ष पाती है या संसरण करती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषार्थ : पुरुष और प्रकृति में स्वामी और सेवक का सम्बन्ध होता है, जिसका संकेत कारिका ६० में भी किया गया है। जिस प्रकार सेवक के द्वारा होनेवाली विजय और पराजय उसकी न होकर स्वामी की मानी जाती है। इसे औपचारिक प्रयोग भी कहा जा सकता है। जबकि वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत होती है अर्थात् वह जय अथवा पराजय सेवकों की होती है।

ठीक इसी प्रकार न किसी पुरुष का बन्धन होता है, न मोक्ष और न ही कोई पुरुष जन्म-मरणरुप संसरण को प्राप्त करता है, अपितु अनेक पुरुषों का आश्रय लिए हुए त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही बन्धन, मोक्ष एवं सूक्ष्मशरीर के रूप में लोक लोकान्तर में, अनेक योनियों में संसरण होता है।

पुरुष तो निर्गुण, निर्विकार, एवं निष्क्रिय होता है। अतः उसमें बन्धनरुप विकार सम्भव नहीं है। साथ ही उसके निष्क्रिय होने के कारण जन्म, मरणरूप संसरण भी नहीं हो सकता एवं जिसका बन्धन ही सम्भव नहीं है, उसका मोक्ष कैसे हो सकता है। इसलिए बन्धन, मोक्ष और संसरण केवल प्रकृति का होता है, पुरुष का नहीं।

सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति से अट्ठारह तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति होती है, जिसमें स्थित महत्त्वपूर्णतत्त्व बुद्धि के धर्म अधर्म आदि भावों के कारण इसका बन्धन, संसरण होता है तथा इसी के एक भाव ज्ञान से इसे मुक्ति मिलती है। पुरुष के उपर तो इनका अध्यारोप मात्र होता है।

अब बंधन और मोक्ष का स्वरुप अगली कारिका में बताते है।

रुपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरुपेण ॥६३॥

भावार्थ : अपने सात रुप (ज्ञान के सिवा सात भावो के) के द्वारा प्रकृति स्वयं ही अपने को बांधती है और वही (प्रकृति) पुरुष के लिए एकरुप से (= ज्ञान से) (अपने को) छोडती है।

ज्ञान के सिवा सात बंधन के कारण है। और ज्ञान मोक्ष का कारण है।

व्याख्या : बुद्धि के आठ भावों - धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-राग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य का तेईसवीं कारिका में विस्तार से विवेचन किया गया है। इनमें से ज्ञान को छोडकर सात भावों के द्वारा प्रकृति स्वयं ही पुरुष के साथ अपने को बांधती है। इस प्रकार प्रकृति के बन्धन के ये हेतु भी प्रकृति के ही है। यह बन्धन वास्तव में पुरुष का नहीं, अपितु सूक्ष्मशरीर के रूप में प्रकृति का ही होता है। जिसका उल्लेख पूर्व कारिका में किया गया है।

उक्त आठ भावों में ज्ञानरुप एक भाव विवेक-ख्याति द्वारा प्रकृति का मुक्ति प्रदान करता है। पुरुष को उसके वास्तविकस्वरूप कैवल्य की प्रतीति एकमात्र ज्ञान के द्वारा होती है, जो प्रकृति का एक ही भाव है। इसीलिए कारिका के उत्तरार्द्ध में कहा गया - 'यह प्रकृति अपने ज्ञान नामक भाव से पुरुष के लिए स्वयं को निवृत्त कर लेती है।'

इस प्रकार अनादिकाल से होनेवाले पुरुष के उपर आरोपित अपने बन्धन का ज्ञान पुरुष को कराकर प्रकृति स्वयं को संकुचित कर लेती है। जो वस्तुतः प्रकृति की मुक्ति होती है, पुरुष की नहीं, किन्तु औपचारिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध पुरुष के साथ स्थापित किया जाता है।

अवतरणिका : यहाँ तक सांख्यशास्त्र के पच्चीस तत्त्वों का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् प्रकृति एवं पुरुष की भिन्नता का सम्यक् प्रतिपादन किया गया। इस सबके निरन्तर अभ्यास से साधक को किस प्रकार की अनुभूति होती है, इसका प्रतिपादन करते हुए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते है -

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।६४।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावार्थ : इस प्रकार (२५ सांख्य) तत्त्वों के अभ्यास से न (मैं क्रियावान्) हूं, न मेरा (भोक्तृत्व है), न मैं (कर्ता) हूं, इस प्रकार का सम्पूर्ण संशय भ्रम आदि से रहित होने से निर्मल एक मात्र ज्ञान उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ : सांख्यदर्शन में बताए गए पच्चीस तत्त्वों के निरन्तर चिन्तनपूर्वक अभ्यास से व्यक्ति को तीन प्रकार की अनुभूति होती है, जिसे कारिकाकार ने 'न अस्मि', 'न मे', 'न अहम्' के रुप में अत्यन्त संक्षेप में निर्दिष्ट किया है। प्रथम अनुभूति में साधक स्वयं का क्रियावान् न होना अनुभव करता है। द्वितीय में, वह स्वयं को भोक्ता न होना अनुभव करता है। तथा तृतीय में, उसे स्वयं को कर्ता न होने की अनुभूति होती है।

इस प्रकार सांख्यतत्त्वो के चिन्तन से साधक को स्वयं के कर्ता भोक्ता एवं क्रियावान् न होने का अनुभव होता है। जो ज्ञान का प्रथम सोपान है। इस स्थिति में उसकी सभी क्रियाएं निरपेक्ष होती है। इसी के पश्चात् साधक में संशय, भ्रम आदि से रहित होने के कारण विशुद्ध, केवल और सम्पूर्णज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तत्त्वसाक्षात्कार के स्वरूप एवं प्रकारों का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार विवेक-ज्ञान के बाद की पुरुष एवं प्रकृति की स्थिति का कथन, अग्रिम कारिका में करते है।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः ॥६५॥

भावार्थ : उस (विशुद्ध तत्त्वज्ञान) के द्वारा स्थित हुआ तटस्थ पुरुष (विवेक ज्ञान रुप) प्रयोजन सम्पन्न होने के कारण (भोगापवर्ग रूप) प्रसव से निवृत्त (धर्म-अधर्म आदि) सात भावो से पूर्णतया निवृत्त प्रकृत्ति को (निरपेक्ष) द्रष्टा के समान देखता है।

विशेषार्थ : सांख्य में प्रतिपादित तत्त्वों के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न विवेकज्ञान होने पर प्रकृति उस ज्ञान के प्रति अपने भोग एवं अपवर्गरूप दोनों प्रकार के प्रसव करना बन्द कर देती है। इसीलिए यहाँ प्रकृति के लिए 'निवृत्त प्रसवा' पद का प्रयोग हुआ है, क्योंकि भोग और अपवर्ग ही प्रकृति के प्रसव है।

प्रकृति में स्थित बुद्धि के धर्म-अधर्मादि आठ रूपो में ज्ञानरूप भाव को छोडकर शेष सात-धर्म, अधर्म, अज्ञान, राग, वैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य आदि भावों से भी प्रकृति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है अपीतु ज्ञान की स्थिति में ये सात भाव भोग की सामग्री प्रस्तुत नहीं करते है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञान की अवस्था में विवेकज्ञान रूप प्रयोजन के सम्पन्न होने के कारण तटस्थभाव से स्थित पुरुष निरपेक्षद्रष्टा के समान 'निवृत्तप्रसवा' एवं 'सप्तरूपविनिवृत्ता' प्रकृति को देखता है। उसे प्रकृति में कोई आकर्षण प्रतीत नहीं होता, उसकी स्थिति पूर्णतया निरपेक्ष दर्शक के समान होती है। प्रकृति भी ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष के प्रति अपने सम्पूर्ण व्यापारों को सिमेट लेती है। केवल एक शुद्ध सत्त्वप्रधान ज्ञानरुप भाव की स्थिति बनी रहती है। जिसकी अभिव्यञ्जना कारिका में प्रयुक्त सप्त पद के द्वारा हो रही है।

अब तत्त्वज्ञान की अवस्था में पुरुष और प्रकृति की स्थिति को ओर अधिक स्पष्ट करते है -

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

भावार्थ : "मैने उसको देख लिया है।" ऐसा निश्चय होने से एक (पुरुष) उपेक्षावृत्ति धारण करता है। (और) "मैं दिखी गई हूँ (प्रकट हो चूकी हूँ)" ऐसा मानकर दूसरी (प्रकृति) विराम पाती है। फिर दोनो का संयोग हो तो भी सृष्टि (सर्ग) का प्रयोजन रहता नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषार्थ : पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि ही सृष्टि का प्रयोजन है, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा सम्पन्न की जाती है। इनमें भी भोगरूप प्रयोजन गौण एवं अपवर्गरूप प्रयोजन मुख्य होता है। सांख्य द्वारा बताए गए २५ तत्त्वों के निरन्तर अभ्यास के द्वारा जब पुरुष को विवेक-ज्ञान होता है, यही अपवर्ग है। तब चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति का संयोग होते हुए भी सृष्टिकार्य सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि प्रकृति का यह स्वभाव है कि यह अज्ञानावस्था में ही प्रसवोन्मुखी होती है।

अपवर्ग के कारणस्वरूप विवेकज्ञान रूप प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर न तो प्रकृति पुरुष के लिए भोग जुटाती है और न ही पुरुष को भोगों की अपेक्षा होती है। अतः विवेकख्याति की स्थिति में तत्त्वज्ञानी स्थूलशरीर में (पूर्वकृत कर्मों के संस्कार के कारण) रहते हुए भी सांसारिक भोगों में सम्पृक्त नहीं होता। इस अवस्था में 'प्रकृति को मैने देख लिया है।' ऐसा सोचकर पुरुष की प्रकृति के प्रति जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। वह उसके प्रति उपेक्षा का भाव ग्रहण करता है। इसी प्रकार प्रकृति भी इस पुरुष ने मुझे देख लिया है, मेरे स्वरूप को जान लिया है , ऐसा विचारकर उसके सामने अपने सृष्टिरूप प्रपञ्च को प्रसारित नहीं करती, अपितु स्वयं को सिमेट लेती है। अतः ज्ञानावस्था में दोनों के साथ रहने पर भी सृष्टिरूप कार्य सम्पन्न नहीं होता है, क्योंकि सृष्टि का मुख्यप्रयोजन अपवर्ग का मुख्य कारण विवेकज्ञान की प्राप्त हो जाती है।

अवतरणिका : तत्त्वज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु इसके होने पर भी व्यक्ति तत्क्षण स्थूलशरीर से मुक्त नहीं हो जाता, अपितु पूर्व जन्मों में किए गए कर्मों के फलभोग तक तत्त्वज्ञानी के स्थूलशरीर की स्थिति बनी रहती है, इसी का सोदाहरण प्रतिपादन करने के लिए अग्रिम कारिका का कथन करते है -

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥६७॥

भावार्थ : (बाद में) सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ होने से धर्म इत्यादिक (संसार का) कारण नहीं बनते है। तो भी संस्कार को वश होकर, जैसे कुम्भकार के चक्र का भ्रमण, चालू रहता है, वैसे पुरुष शरीर धारण करके रहता है।

व्याख्या : प्रकृति पुरुष के भेदरुप, विशुद्ध, अपरिशेष एवं केवल स्वरूप आत्मज्ञान के होने पर तत्त्वज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसका सूक्ष्मशरीर पुनः स्थूलशरीर धारण नहीं करता। इसके कारण का उल्लेख कारिका के द्वितीय चरण में किया गया है। (धर्मादीनामकारणप्राप्तौ)

क्योंकि सूक्ष्मशरीर में स्थित बुद्धि के धर्म-अधर्म, अज्ञान, राग, विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आदि सात भाव ही पुनर्जन्म के कारण होते है, किन्तु आत्मज्ञान द्वारा ये भाव भुने हुए बीज के समान पुनर्जन्म के रूप में अंकुरित नहीं होते है। यही धर्म भावों का अकारणत्व को प्राप्त होना है।

इस ज्ञान अवस्था में भी तत्क्षण स्थूलशरीर का पात नहीं होता, अपितु वह प्रारब्धकर्मों (पूर्वजन्म के कर्मो) तथा ग्रहण किए हुए अन्न-पान आदि के संस्कार से उसी प्रकार स्थित रहता है, जिस प्रकार कुम्हार द्वारा बर्तन बनाते हुए चक्र चलाना बन्द कर देने पर भी वह पूर्वप्राप्त शक्ति के द्वारा निरन्तर चलता रहता है। तुरन्त बन्द नहीं होता, क्योंकि उसमें गति के संस्कार रहते है।

अतः तत्त्वज्ञानी के स्थूलशरीर की स्थिति पूर्वजन्म के संस्कारो के भोगपर्यन्त ही रहती है। तत्पश्चात् उसके त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिकनिवृत्ति के कारण उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

अवतरणिका : तत्त्वज्ञानी को कैवल्य की प्राप्ति शरीरपात के अनन्तर की होती है। इसका कथन करने के लिए ग्रन्थकार अग्रिम कारिका का अवतरण करते है -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

भावार्थ : (बाद में) शरीर छुट जाने से प्रयोजन पूर्ण हुआ होने से प्रकृति (प्रवृत्ति में से) निवृत्त होती है और इसलिए (पुरुष) एकान्तिक और आत्यन्तिक ऐसा उभय प्रकार का कैवल्य प्राप्त करता है ।

व्याख्या : ग्रन्थ के आरम्भ में कारिकाकार ने दु:खत्रय की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति को ही ग्रन्थ का प्रयोजन बताया था । उसी का प्रस्तुत कारिका में प्रतिपादन किया गया है । शरीरभेद से अभिप्राय यहाँ प्रारब्धकर्मों के संस्कारों की समाप्ति पर होनेवाले शरीर-पात से है । इससे पूर्व तत्त्वज्ञान के कारण प्रकृति, पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप सृष्टिप्रयोजन की सिद्धि होने से, सृष्टिरुप कार्य से विरत हो जाती है ।

अत: अव्यक्त प्रकृति के विरत होने के कारण आगे का सृष्टिकार्य अवरुद्ध हो जाता है और पूर्वजन्मों में किए गए कर्मो को स्थूलशरीर द्वारा भोग लेने से समाप्ति हो जाती है । तदनन्तर तत्त्वज्ञानी का शरीरपात हो जाता है और उसके त्रिविध दु:खो की ऐकान्तिक (निश्चित रूप से) आत्यन्तिक (हमेशां के लिए) समाप्ति हो जाती है । इस प्रकार यही पुरुष का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक स्वरूप वाला दो प्रकार का कैवल्य अर्थात् मोक्ष होता है ।

अवतरणिका : इस प्रकार सांख्य के तत्त्वों का विस्तृत विवेचन करने के बाद इस ज्ञान की परम्परा का कथन करते हुए अगली कारिका को उद्धृत करते है -

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

भावार्थ : जिस (ज्ञान) में प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (आदि तत्त्व) विचार किए जाते है (ऐसा गूढ, पुरुष के प्रयोजन (मोक्षरूप फल को प्रदान करनेवाला यह ज्ञान ऋषियों में मूर्धन्य (महर्षि कपिल) ने भली प्रकार (विस्तार से) कहा ।

विशेषार्थ : यह सांख्यशास्त्रीयज्ञान जिसकी चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ सांख्यकारिका में विस्तार से इससे पूर्व की कारिकाओं में की गई है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय इत्यादि गूढतत्त्वों का चिन्तन किया गया है । जो सामान्य व्यक्ति के लिए गूढ होने के कारण अत्यन्त दुर्बोध है तथा जो पुरुष के मुख्य प्रयोजन मोक्षरूप फल को प्रदान करनेवाला है ।

इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त इस ज्ञान की तत्त्वज्ञानी, ऋषियों में अग्रणी, महर्षि कपिल ने सृष्टि के आदिकाल में अत्यन्त विस्तृत रूप से व्याख्या की थी । यद्यपि यहाँ नाम से उनका उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि श्री कपिल मुनि को ही सांख्य का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है । इस दृष्टि से 'कपिल' अभिप्राय ही ग्रहण करना चाहिए ।

अवतरणिका : सांख्यज्ञान की श्री कपिल मुनि के बाद भी परम्परा का कथन करने के लिए अग्रिम कारिका का उल्लेख करते है -

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥

भावार्थ : यह पवित्र (और) श्रेष्ठ (ज्ञान) (कपिल) मुनिने कृपापूर्वक आसुरि को प्रदान किया । आसुरिने भी पञ्चशिखाचार्य को (दिया) और उस (पञ्चशिख)ने इसका अनेक प्रकार से विस्तार किया ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषार्थ : सांख्यशास्त्र की आचार्य परम्परा का उल्लेख करते हुए कारिकाकार आचार्य ईश्वरकृष्ण कहते है कि यह पवित्र और श्रेष्ठज्ञान, जो कपिल मुनि को जन्म से प्राप्त था, कपिल मुनिने सर्वप्रथम अपने प्रिय शिष्य आसुरि को अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक प्रदान किया । तत्पश्चात् आचार्य आसुरिने इसका उपदेश पञ्चशिख नामक आचार्य को प्रदान किया । पुनः उन्होंने इस ज्ञान की अनेक प्रकार से कथा, उदाहरण आदि का उल्लेख करते हुए विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की ।

अवतरणिका : आचार्य ईश्वरकृष्ण स्वयं के विषय में स्वविरचित सांख्यकारिका ग्रन्थ के सम्बन्ध में उल्लेख करते है -

शिष्यपरम्परयागतमिश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ।।७१।।

भावार्थ : और शिष्य परम्परा से इस सारभूत तत्त्व (सिद्धान्त को) आचार्य ईश्वरकृष्णने (अपनी) सूक्ष्मतत्त्वदर्शनी बुद्धि के द्वारा भलीप्रकार जानकर आर्या (छन्द) द्वारा संक्षिप्तरुप में (प्रस्तुत किया) ।

व्याख्या : आचार्य ईश्वरकृष्ण को सांख्यशास्त्र के ज्ञान की प्राप्ति किसी एक आचार्य विशेष से न होकर, तत्कालीन सांख्यपण्डितों द्वारा स्वयं अध्यवसाय द्वारा तथा उस समय उपलब्ध सांख्यशास्त्र के षष्टि तन्त्र आदि अनेक ग्रंथो से हुई, जिसकी अभिव्यक्ति कारिका के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'शिष्यपरम्परया आगतम्' पदों द्वारा हो रही है ।

इस प्रकार प्राप्त सांख्यज्ञान को अपनी तत्त्वविवेकिनी बुद्धि से भलीप्रकार समझने के बाद ही उन्होंने आर्या छन्द में अत्यन्त संक्षेप में सांख्यकारिका ग्रंथ के रुप में निबद्ध किया है ।

अवतरणिका : सत्तर श्लोको में निबद्ध सांख्यकारिका नामक यह ग्रंथ वस्तुतः विस्तृत षष्टितन्त्र नामक ग्रंथ का संक्षिप्त रुप है, इसका प्रतिपादन करने के लिए अन्तिम कारिका को अवतरित करते हैं -

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ।।७२।।

भावार्थ : सत्तर कारिकाओं की संख्या से युक्त सांख्यकारिका में जो भी विषय (निबद्ध किए गए है) वे सब निश्चय ही विशाल षष्टितन्त्र के (है) किन्तु यहाँ वे सब विषय आख्यानों से रहित एवं मतमतान्तरों से विवर्जित (प्रयुक्त हुए है) ।

व्याख्या : सांख्यकारिकाकार ने पञ्चशिखाचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थ को सांख्यकारिका का उपजीव्य स्वीकार करते हुए स्पष्टरूप से कहा कि जिन सत्तर कारिकाओं की रचना की गई, उन सबमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का आधार ग्रंथ एक मात्र षष्टितन्त्र है ।

षष्टितन्त्र अत्यन्त विशाल सांख्यशास्त्रीय ग्रंथ है, जिसमें अनेक विस्तृत आख्यानों, कथाओं आदि को निबद्ध किया गया है । साथ ही उस समय प्रचलित दर्शनविषयक मतमतान्तरों को भी प्रतिपादित किया गया है, किन्तु सांख्यकारिका में उन सबको छोडकर सिद्धान्त की दृष्टि से उपयोगी सामग्री को ही निबद्ध किया है ।

अवतरणिका : आचार्य माठर ने अपनी टीका में एक अन्य कारिका का भी उल्लेख किया है । यद्यपि इसका अन्यत्र उल्लेख नहीं हुआ है तथापि इसकी यहाँ प्रस्तुति की जा रही है -

तस्मात्शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम् ।
तन्त्रसर्दर्पणसंक्रान्तिमिव बिम्बम् ।।७३।।

भावार्थ : इसमें छोटा दिखाई देता हुआ (सांख्यकारिका नामक) यह शास्त्र विषय की दृष्टि से (वस्तुतः यह) विशाल आकारवाले षष्टितन्त्र का, दर्पण में पडे हुए प्रतिबिम्ब ही है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्यदर्शनकार पुरुष को अनादिकाल से बंधन में होता है, ऐसा नहीं मानते है। परन्तु पुरुष और प्रकृति के अज्ञानमूलक संयोग के कारण पुरुष बंधन में आके गिरा है। जो लोग जीवात्मा को स्वभाव से ही बंधन मानते है, उनके मत का खंडन करते है।

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥१-७॥ सांख्यसूत्र ॥ अर्थात् स्वभाव से बंधे हुए को मोक्ष के साधन के उपदेश का विधान नहीं है।

कहने का आशय यह है कि "स्वभाव से ही बंधन माना जाये तो उसको दुःखनिवृत्ति के साधनो का उपदेश करना व्यर्थ है। क्योंकि जो वस्तु में जो गुण या दोष स्वाभाविक हो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अग्नि में उष्णता स्वाभाविक होने से अग्नि को कोई भी कारण से उष्णता रहित नहीं किया जा सकता। गुणी जब तक रहता है तब तक उसका स्वाभाविक गुण रहता है। जब अग्नि का नाश होता है तब ही उसकी उष्णता का नाश होता है। अथवा उष्णता के नाश के साथ ही अग्नि का नाश होता है। इसके उपर से ऐसा सिद्ध होता है कि, यदि जीवात्मा के बंधन स्वाभाविक हो, तो बंधन के नाश के साथ ही जीवात्मा का नाश होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं माना जाता। क्योंकि, बंधन का नाश होने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है। इसलिए आत्मा के बंधन स्वाभाविक नहीं है।

पूर्वपक्ष : स्वाभाविक बंधन की निवृत्ति भी हो सकती है। इसलिए तुम्हारी बात यथार्थ नहीं है क्योंकि,

"शुद्धपटवद्बीजवच्चेत् ॥ सांख्यसूत्र १।१० ॥ अर्थात् सफेद वस्त्र की तरह, बीज की तरह।

कहने का मतलब यह है कि, यदि कोई ऐसी शंका करे कि कपडे का रंग स्वभाव से सफेद है। फिर भी उसको काला या लाल रंग देने से उसका सफेद रंग दूर होता है, वैसे ही बीज में अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति स्वाभाविक है। फिर भी उसको रोकने से उसकी स्वाभाविक अंकुरजननशक्ति दूर की जा सकती है, वैसे स्वाभाविक बंधन की भी निवृत्ति तत्त्वज्ञान से की जा सकती है।

उत्तरपक्ष (सांख्य) : शक्ति का आविर्भाव और तिरोभाव होने से अशक्य का उपदेश नहीं हो सकता। कहने का मतलब यह है कि शक्ति का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। इसलिए उक्त दो उदाहरणो से असंभव वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। सफेद वस्त्र में काला या लाल रंग देने से सफेद रंग का तिरोभाव होता है। इसलिए धोबी के पास धूलवाने से अथवा अन्य उपाय से वह रंग दूर करके फिर से रंग लाया जा सकता है। बीज में अंकुरजननशक्ति का तिरोभाव ही होता है, क्योंकि वह शक्ति भी वापस लाई जा सकती है, इसलिए स्वाभाविक शक्ति का नाश नहीं होता है। इस कारण से आत्मा में बंधन स्वाभाविक मानना वह योग्य नहीं है।

जो लोग काल को बंधन का कारण मानते है, उसका सांख्यो ने निराकरण किया है। **न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥ १-१२ सांख्यसूत्र ॥** अर्थात् काल के संबंध से बंधन नहीं होता। व्यापक और नित्य होने से, सभी के साथ संबंध होने से।

कहने का मतलब यह है कि, काल बंधन का कारण नहीं है। क्योंकि काल व्यापक और नित्य होने से उसका सर्ववस्तु के साथ संबंध है। मुक्तजीवात्माओ को भी काल के साथ संबंध है, इसलिए यदि काल को बंधन का कारण मानेंगे तो वे भी काल के संबंध में आके बद्ध हो जायेंगे, इसलिए काल को बंधन का कारण मानना यह उचित नहीं है।

देश, कर्म भी बंधन के कारण नहीं है, ऐसा सांख्यो का मानना है। साक्षात् प्रकृति भी बंधन का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकृतिरुप कारण से बंधन होता है, यदि ऐसा कहोंगे तो उसको परतंत्रता है। अर्थात् यदि कहो कि प्रकृति स्वयं ही साक्षात् बंधन का कारण है, तो वह ठीक नहीं है,क्योंकि वह भी परतंत्र है। आत्मा का अज्ञानमूलक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के साथ जो संयोग है, वही संयोग के अधीन होके प्रकृति बंधनकारक होती है, साक्षात् नहीं अर्थात् – **अज्ञानमूलक संयोग ही बंधन का मुख्य कारण है। प्रकृति तो गौण पड जाती है।** यदि प्रकृति किसीकी भी अपेक्षा के सिवा बंधनकारक हो तो वह सभी मुक्तात्माओ के साथ भी होने से उसको भी बद्ध करेंगी। और परिणाम से कोई भी मुक्त हो ही नहीं सकेगा। इसलिए प्रकृति साक्षात् बंधनकारक नहीं है।

• अब बौद्धो ने माने हुए बंधन के कारण प्रामाणिक न होने से उनका खंडन सांख्यो ने किया है।

बौद्धो में एक विज्ञानाद्वैत माननेवाला संप्रदाय है। उनका मानना है कि क्षणिक विज्ञानो की परंपरा ही सब जगत है। बाह्य जो सृष्टि दिखाई देती है वह असत्य है और प्रकृति जैसा कोई जड जगत का उपादानकारण नहीं है . आत्मा में जो बंधन है उसका कारण भी अविद्या ही है। उसका खंडन किया जाता है। **''नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥ १-२० सांख्यसूत्र ॥''** अर्थात् अविद्या से भी बंधन नहीं हो सकता। **अवस्तुरुप होने से उससे बंधन का योग नहीं हो सकेगा।**

अविद्या से भी बंधन नहीं हो सकता। क्योंकि उनके मत में विद्या = ज्ञान और अविद्या = ज्ञान का अभाव। अब जो अविद्या कि जो अभावस्वरुप है, वह बंधनकारक किस तरह से हो सकेगी? रस्सी में कदाचित् किसीको साँप का भ्रम हो और भूल से उसका स्पर्श करे और वह ऐसा समजे कि मुझ को साँप डंसा है। फिर भी उसको साँप का विष चढता नहीं है। क्योंकि उसके शरीर में साँप के विषका अभाव है। इसके उपर से समजा जा सकता है कि अभाव सुख या दुःख नहीं कर सकता। इसलिए अविद्या कि जो ज्ञान का अभाव है वह बंधनकारक नहीं हो सकेगा।

उपरांत अविद्या को वस्तुरुप मानने में बौद्धो को सिद्धांन्त की हानि होती है, क्योंकि उनका मानना है कि विज्ञान की एक समान परंपरा है, वही कार्यकारणात्मक सर्वजगत है। विज्ञानभिन्न कोई भी दूसरी वस्तु ही नहीं है, इसलिए सिद्धान्त की हानि के भय से वे अविद्या को वस्तुरुप नहीं मान सकते है।

उपरांत क्षणिकविज्ञान और संततिवादि बौद्धो सदृशविज्ञानो की परंपरा मानने से ज्ञानका द्वैत तो स्वीकार करते है और उसको सजातीय द्वैत कहते है। परन्तु अविद्या को ज्ञानभिन्न भावरुप पदार्थ माने, तो उनको विजातीयद्वैत मानना पडेगा। क्योंकि ज्ञान और ज्ञानभिन्न भावरुप पदार्थ, ये दो सजातीयद्वैत नहीं कहे जाते। ज्ञान का सजातीय पदार्थ दूसरा ज्ञान हो सकेगा, ज्ञान से विलक्षण कोई दूसरा पदार्थ ज्ञान का सजातीय नहीं कहा जाता। इसलिए विजातीयद्वैत के भय से वे अविद्या को वस्तुस्वरुप नहीं मान सकेंगे।

पूर्वपक्ष (बौद्ध) : यदि अविद्या को सत् रुप या असत् रुप भी माना न जाये, यानी कि सत् और असत् रुप से अलग प्रकार की अविद्या है, ऐसा माना जाये तो अद्वैतद्वैतत्व दोष भी नहि आयेगा। इसलिए अविद्या सत् और असत् रुप से भंग नहीं होगी। और विजातीय तो अलग ही प्रकार की है और वही अविद्या बंधनकारक है, ऐसा माना जाये तो क्या दोष है ?

उत्तरपक्ष (सांख्य) : सत् और असत् से विलक्षण कोई भी पदार्थ ही नहीं है। कुछ पदार्थ सत्रुप है और कुछ असत्रुप है। तीसरा कोई प्रकार ही नहीं लगता, कि जिस में अविद्या का समावेश किया जा सके, इसलिए ऐसी अविद्या मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

पूर्वपक्ष (बौद्ध) : महर्षि कणाद जैसे छः ही पदार्थ मानते है और महर्षि गौतम सोलह ही पदार्थ मानते है। वैसे हम परिमिति पदार्थवादि नहीं है। इसलिए हमारे मत में कोई ऐसा भी पदार्थ है कि, भाव और अभावरुप से भिन्न है। जगत् अनंत और विचित्र है। इसलिए ऐसे पदार्थ के होने में कोई संदेह नहीं है, वैसे असंभव भी नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरपक्ष (सांख्य) : चाहे आप परिमित पदार्थो को न मानो, फिर भी जो पदार्थ मानने में कोई प्रमाण या युक्ति नहीं है, उसका स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि आप प्रमाणशून्य पदार्थ का स्वीकार करोंगे तो वह अप्रमाणिक होने से आप बालक और पागल ईन्सान के जैसे माने जाओंगे।

क्षणिकविज्ञानवादि बौद्ध के मत में वासना भी बंधन का कारण नहीं हो सकती, वह समजाया जाता है।

प्रवाहरुप से अनादि जो विषयो की वासना है, वह भी बौद्धो के मत में बंधन का कारण नहीं हो सकेगी, क्योंकि उनके मत में वासना भी क्षणिक है।

अब वासना को बंधन का कारण न होने में सांख्य हेतु देता है। जिसका प्रतिबिंब गिराना हो वह और जिसमें प्रतिबिंब गिराना हो वह, ये दोनो यदि एक ही स्थान पे हो तो ही प्रतिबिंब पड सकता है। शरीर के अंदर रही हुई क्षणिकविज्ञान की परंपरा में बाहरके विषयो का प्रतिबिंब नही पड सकेगा। इसलिए बौद्धमत के अनुसार से वासना बंधन का कारण नहीं हो सकती।

उपरांत यदि आत्मा को व्यापक मानकर अंदर और बाहर सर्वत्र है, ऐसा मानो तो भी सुख, दुःख की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि जो क्षणिकविज्ञान में प्रतिबिंब पडता है वह दूसरी क्षण में वासना के साथ ही नाश हो जाता है, तो अब वासना के बिना दुःख की व्यवस्था किस तरह से हो सकेगी ?

बौद्ध : क्षणिकविज्ञानो में ऐसा अदृष्टकारण है, कि जो एकविज्ञान में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में जाता है और उसको लेकर ही सुखदुःख की व्यवस्था होती है।

सांख्य : अदृष्ट कारण मानने से भी सुखदुःख की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि पूर्वविज्ञान में से उत्तरविज्ञान में आपने माना हुआ अदृष्टकारण तब ही जा सकेगा कि, जब पूर्वभावि और पश्चाद्भावि दो विज्ञान एक साथ एक ही समय में रहे, परन्तु यह आपके मत में होनेवाला नहीं है। क्योंकि आप एकक्षण से ज्यादा स्थिति किसी की मानते ही नहीं है, दोनो एक समय में एकसाथ एकठ्ठे न हो, तब तक एकदूसरे को उपकार नहीं कर सकते है। सफेद वस्त्रको यदि लाल रंग देना हो तो रंगद्रव्य और वस्त्र दोनो एक ही वक्त और एक ही स्थान पे संयुक्त हो, तो ही वस्त्र को रंग दिया जा सकेगा, अन्यथा नहीं। दूसरा दोष यह है कि, जिसको आप अदृष्टकारण मानते है उसको भी क्षणिकसिद्धांत के भंग के भय से क्षणिक ही मानेंगे, तो वह स्थिर न होने से सुख-दुःख किस तरह से दे सकेगा ? और यदि स्थिर मानोंगे तो प्रतिज्ञा का भंग होगा, इसलिए क्षणिकवाद में उपकार्योपकारक भाव सिद्ध नहीं होता और उस कारण से सुख-दुःख की व्यवस्था भी नहीं हो सकती।

बौद्ध : जैसे आपके मत में गर्भ में पुत्र न होने पर भी मातापिता गर्भाधानादि संस्कार करते है और उसका फल भावि पुत्र को मिलता है, वैसे हमारे मत में भी भाविविज्ञान का पूर्वविज्ञान के साथ कुछ भी संबंध न होने पर भी पूर्वविज्ञान उत्तरविज्ञान के फल उत्पन्न कर सकेगा। और उपकार्योपकारक भाव भी बन सकेगा।

सांख्य : आपकी बात ठीक नहीं है। क्योंकि गर्भ में स्थिर एक आत्मा है, कि जो गर्भाधान आदि संस्कारो का फल भुगतता है। यदि गर्भ में आत्मा न हो तो उसमें जो शरीर की रचना होती है वह नहि हो सकेगी, केवल गर्भाधानसंस्कार के वक्त पुत्र का अस्तित्व नहीं है फिर भी उस वक्त माता के शुभ अथवा अशुभ विचार होते है, माता में स्थिर होने से जब गर्भ में पुत्रात्मा आता है तब उस विचारो का संक्रमण होता है। हमारे मत में आत्मा अस्थिर नहीं है। तथा जो संस्कार करता है वह भी अस्थिर नहीं है। इसलिए हमारे उदाहरण से आप अपने क्षणिककार्यो में उपकार्योकारकभाव को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। इसके उपर से सिद्ध होता है कि क्षणिकवाद में वासना बंधन का कारण नहीं हो सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वपक्ष (बौद्ध) : जो सत् होता है वह अर्थक्रियाकारि होता ही है। जो अर्थक्रियाकारि हो वह या तो क्रम से सभी क्रियाएं करता है या तो एकसाथ सभी क्रियाओ को करता है। अब यदि सत् एकसाथ सभी क्रियाऐं कर ले तो वह उत्तरक्षण में क्रिया न करने से सत् नहीं रह सकेगा। और यदि क्रम से क्रियाएं करे तो जो प्रकारवाला होके पूर्वक्रिया करे, उसी प्रकारवाले से उत्तरक्रिया नहीं हो सकेगी। इसलिए उसमें अलग प्रकार अवश्य आना चाहीए। और अलग प्रकार आने से उस सत् में अवश्य परिवर्तन होगा और इसलिए वह क्षणिक बनेगा। इस अनुसार से विचार करने से संसार में सभी वस्तु क्षणिक ही लगती है। कुछ भी स्थिर नहीं है। आत्मा भी स्थिर नहीं है और बंधन भी स्थिर नहीं है।

सांख्य : आज देखी हुई वस्तु को जब दो दिन के बाद देखते है, तब हम कहते है कि **"यह वही वस्तु है, कि जो मैंने दो दिन पहले देखी थी"** ऐसा जो ज्ञान होता है उसको प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। वस्तु को क्षणिक मानने से प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। स्थिरवस्तु में ही प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। प्रत्यभिज्ञारुप हेतु से क्षणिकवाद का खंडन होता है और स्थिरवाद की सिद्धि होती है।

प्रथम क्षण में देखी हुई वस्तु दूसरी क्षण में नष्ट होती है और तीसरी क्षण में तत्सदृश दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है, तो फिर चौथी क्षण में **"यह वही वस्तु है, कि जो मैने पहली क्षण में देखी थी,"** ऐसी प्रत्यभिज्ञा किस तरह से हो सकेगी ? अर्थात् हो ही नहीं सकती। इसलिए क्षणिकवाद असत्य है।

उपरांत अनुमान से भी क्षणिकवाद असत्य सिद्ध होता है। जैसे कि, एक वस्तु प्रथम क्षण में नष्ट होती है तो दूसरी क्षण में उस नष्ट हुई वस्तु से दूसरी वस्तु किस तरह से बनेगी ? भाव का कारण अभाव कभी भी नहीं हो सकता तथा एक क्षणिक वस्तु दूसरी क्षणिक वस्तु का कारण कभी भी नहीं हो सकता, इसलिए क्षणिकवाद मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है।

उपरांत, क्षणिकता सिद्ध करने के लिए कोई दृष्टांत भी मिलता नहीं है। सत्पदार्थ का कभी भी नाश होता ही नहीं है, तो फिर क्षणिकता सत्पदार्थ में किस तरह से आ सकेगी ? क्योंकि **"नासते विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"**। अर्थात् अभाव का कभी भी भाव होता नहीं और भाव का कभी भी अभाव होता नहीं है।

क्षणिकवादि बौद्धो के मत में कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है। वह इस अनुसार से-दुनिया में जो कार्यकारणभाव प्रसिद्ध है, उसको आप किस तरह से मानते है ? क्या एकसाथ उत्पन्न हुए कार्यकारणभाव मानते हो या क्रम से उत्पन्न हुए पदार्थो का कार्यकारणभाव मानते हो ? यदि हम एकसाथ उत्पन्न हुए पदार्थो का कार्यकारणभाव मानते है, ऐसा कहोंगे तो वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि गाय को एकसाथ दो सिंग उत्पन्न होते है। उसमें से कौन से सिंग को कौन से सिंग का कारण मानते हो ? अर्थात् किसी को किसीका कारण या कार्य नहीं मान सकते हो क्योंकि वे दोनो एकसाथ ही उत्पन्न हुए है। कार्य की अपेक्षा कारण पहले से ही हंमेशा विद्यमान होना चाहिए। अलंकार का कारण सोना या रुपा पहले से ही विद्यमान हो तो ही सुनार अलंकार बनाने के लिए तैयार होता है। इसके उपर से सिद्ध होता है कि, कारण और कार्य की उत्पत्ति एक साथ नहीं होती है।

उपरांत, बौद्ध मत में 'क्रमिक उत्पन्न हुए पदार्थो का भी कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है'। वह इस अनुसार से है-पूर्व (पहले) क्षणिकवस्तु का जिस वक्त नाश होता है उस वक्त उत्तर क्षणिकवस्तु विद्यमान नहीं होती है। इसलिए पूर्वक्षण और उत्तरक्षण का संबंध नहीं हो सकता है। इसलिए कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। बौद्धो के क्षणिकवाद अनुसार से एक वस्तु नष्ट होने के बाद दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। अब जो वस्तु नष्ट हुई है, उसका उत्तरवस्तु के साथ संबंध किस तरह से हो सकेगा ? यदि सूतर जल जाये अथवा किसी भी तरह से नष्ट हो जाये, तो उसमें से कपडा कभी भी नहीं बन सकता। अभाव में से भाव की उत्पत्ति कभी भी किसी ने देखी नहीं है। इसलिए बौद्धो के मत अनुसार क्रमिकवस्तुओ में भी कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब उपादानकारण की असिद्धि तथा दूसरे दोष भी बौद्धो के मत में बताते है। वह इस अनुसार से -

पूर्ववस्तु की विद्यमानता के समय उत्तरवस्तु के साथ संबंध न होने से, अन्वय और व्यतिरेक इन दोनो का व्यभिचार होने से कार्यकारणभाव नहीं हो सकता।

कहने का मतलब यह है कि, जिससे होने से जो होता है उसे अन्वय कहा जाता है। जैसे सूर्य के होने से दिन होता है। और जिसके अभाव से जिसका अभाव हो उसे व्यतिरेक कहा जाता है। जैसे सूर्य के अभाव से दिन का अभाव होता है। यह अन्वय और व्यतिरेक का अभाव है। इसलिए उपादान-उपादेयभाव अर्थात् कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है।

वस्त्र का उपादान कारण सूतर है, इस अनुसार से अन्वयव्यतिरेक से जान सकते है। जैसे कि, सूतर के होने से ही वस्त्र होता है। और सूतर का अभाव होने के बाद वस्त्र रहता ही नहीं है।क्षणिकतावादि के मत में इस अनुसार से अन्वय और व्यतिरेक न होने से कार्यकारणभाव नहीं बन सकता।

विज्ञानवाद का खंडन : बाह्यपदार्थो की प्रतीति होने से केवल विज्ञान ही है, ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता।

कहने का मतलब यह है कि, विज्ञान से अतिरिक्त विषय (पदार्थ) भी दिखाई देते है। दूध की जिसको जरुरत है, वह दूधाउ (दूध देनेवाली) गाय को ही ढूंढता है और उसको पाकर दूध दुहकर कृतार्थ होता है। परन्तु दुग्धार्थी मनुष्य किसी तत्त्ववेता के पास जाकर तत्त्वज्ञान नहीं सीखता है। इसलिए सिद्ध होता है कि ज्ञान और अर्थ अलग ही है, एक नहीं है। इसलिए केवल विज्ञान ही मानना वह बाधित और प्रमाणशून्य है। वैसे भी केवल विज्ञान मानने में यह भी दोष है।

विज्ञानवादि बौद्धेतर विद्वान जिनको आत्मा, पर्वत, समुद्र इत्यादि मानते है, वे सबको यदि विज्ञानवादी विज्ञान ही मानते हो तो जैसे "**मैं आत्मा हूं**" ऐसी प्रतीति होती है। वैसे "**मैं घट हूं,**" "**मैं समुद्र हूं,**" ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि सब विज्ञानस्वरुप तो है ही, परन्तु वैसी प्रतीति होती नहीं है। इसलिए बाह्यपदार्थ मानने ही चाहिए।

यदि ऐसा कहोंगे कि "**यह घट है।**" इत्यादि प्रतीति होने में घट आदि की वासना कारण है, तो उसका उत्तर यह है कि आपके मत में घट आदि बाह्यपदार्थ तो थे ही नहीं, तो ऐसी वासना हुई कहाँ से ? इसलिए बाह्यपदार्थ और विज्ञान दोनो को मानना चाहिए।

पूर्वपक्ष (विज्ञानवादी बौद्ध) : क्या स्वप्न के दृष्टांत से और दृश्यत्व हेतु से बाह्य पदार्थो का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता ? जैसे कि "**दृश्य स्वाप्निक पदार्थ की तरह पृथ्वी, पर्वत आदि पदार्थ भी दृश्य होने से मिथ्या है।**"

उत्तरपक्ष (सांख्य) : बाह्य पदार्थ का यदि अभाव माना जाये, तो विज्ञान का भी अभाव होने से सर्व का अभाव ही होगा। **कहने का मतलब यह है कि,** यदि बाह्यपदार्थ का स्वीकार न करो तो, विज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि विषय के सिवा ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता। हाथी है, तो हाथी का भी ज्ञान है, परंतु यदि हाथी न हो तो उसका ज्ञान भी न हो। आकाशकुसुम नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान भी नहीं है। स्वप्न के दृष्टांत से बाह्यपदार्थ के अपलाप की जो आशा रखी है वह तो केवल दुराशा ही है। क्योंकि स्वाप्निक अर्थ का जाग्रत अवस्था में बाध होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में महसूस होते पदार्थो का किस अवस्था में बाध होता है ? क्या स्वप्न अवस्था में भी ऐसा ज्ञान होता है कि, मैने जो सरित् समुद्रादि पदार्थ जाग्रत अवस्था में देखे है वह गलत है ? फिर भी स्वाप्निक पदार्थो की तरह बाह्यपदार्थो को गलत मानो तो स्वप्न में जैसे भोजन की तृप्ति नहीं होती वैसे

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाग्रत अवस्था में भी भोजन से तृप्ति नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा कहोंगे कि प्रतीति होती है, इसलिए बाह्यपदार्थ गलत है, तो विज्ञान की भी प्रतीति होने से उसको भी गलत क्यों नहीं मानते है ? यदि विज्ञान को भी गलत मानोंगे तो सर्व शून्य ही होगा। इसलिए बाह्य पदार्थो का अपलाप नहीं किया जा सकता।

पूर्वपक्ष (शून्यवादि बौद्ध) : शून्य ही तत्त्व है। पदार्थ नष्ट होता है। विनाश की वस्तुधर्मता होने से अर्थात् पदार्थ नष्ट होता है, इसलिए सर्वपदार्थ मिथ्या है। नाश होना यह वस्तु का धर्म है, जब कि नाश यह वस्तु का स्वभाव है, तो वे सत्य किस तरह से हो सकता है ? इसलिए शून्य ही एक तत्त्व है।

उत्तरपक्ष (सांख्य) : अज्ञानी मनुष्यो का यह केवल मिथ्यावाद ही है। कहने का मतलब यह है कि, चाहे कार्यद्रव्य का नाश हो, इसलिए वह उसका स्वभाव नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक वस्तु हमेशां नाश ही नहीं पाती रहती। एक वस्तु जो क्षण में बनती है, उसी क्षण में उसका नाश माना जाये, तो वस्तु कभी भी नहीं बन सकेगी ? परिणाम स्वरुप संसार में किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिए नाश क्वचित् और कदाचित् होता है। इसलिए नाश नैमित्तिक है, स्वाभाविक नहीं है।

सांख्यशास्त्रकार के मत में कोई भी पदार्थ नष्ट होता ही नहीं है "धननाश हुआ" उसका अर्थ यह है कि वह कारण में अव्यक्तरुप हुआ। यदि सर्वशून्यता ही मानो तो शून्यता सिद्ध करने के लिए प्रमाण चाहिए। और प्रमाण को अशून्य मानने से सर्व शून्यतावाद विफल होगा। विना प्रमाण शून्यता सिद्ध मानोंगे तो बिना प्रमाण हमने माने हुए बाह्यपदार्थों को भी सिद्ध मानना पडेगा। उपरांत, बाह्यार्थ क्षणिकवाद में तथा क्षणिकविज्ञानवाद में जो दोष दीये है, वे सब इस शून्यवाद को लागू पडते है। शून्यता में प्रत्यभिज्ञा आदि कुछ नहीं हो सकता। इसलिए यह पक्ष भी त्याज्य है।

यदि आप दुःखनिवृत्ति को शून्यतारुप माने तो भी मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि दुःखनिवृत्ति का आधार आत्मारुप कोई भी पदार्थ आपके मत में नहीं है। दुःख निवृत्ति को सुखरुप मानो तो भी मोक्ष की सिद्धि नहीं है। क्योंकि आपके मत में सुख जैसा कुछ नहीं है, इसलिए बौद्धमत में मोक्ष तथा बंधन की कोई व्यवस्था ही नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट विभाग

परिशिष्ट-१, वेदांत दर्शन

प्रस्तुत ग्रंथ में देवता, प्रमाण और तत्त्व : ये तीन प्रकार से तत् तत् दर्शन का निरुपण किया गया हैं। साथ साथ तत् तत् दर्शन के अन्य सिद्धांतो का भी प्रतिपादन किया गया हैं। वेदांत-दर्शन का प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रंथमें किया नहीं हैं। इसलिए यहाँ पर वेदांत दर्शन के ग्रंथो के आधार से संक्षेप में वेदांतदर्शन का निरुपण किया जाता हैं।

पूर्वमीमांसा दर्शन की तरह वेदांत दर्शन में भी कोई देवता नहीं हैं। सगुणब्रह्म (ब्रह्म) ही देव हैं। अर्थात् माया से सहित बनकर ही निर्गुण ब्रह्म सगुण परमेश्वर कहा जाता हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति-लय का एकमेव कारण यह सगुणब्रह्म हैं। वही इस सांसारिक प्रपंच का सर्जनहार,नियन्ता और हन्ता हैं।

पूर्वमीमांसा दर्शन की तरह वेदांत दर्शन में भी प्रमाण की संख्या छः हैं। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति, और (६) अनुपलब्धि (अभाव): ये छः प्रमाणो का स्वरुप आगे बताया जायेगा।

वेदांत दर्शन में एक "ब्रह्म" ही तत्त्व हैं। उसके सिवा समस्त जगत (सर्व पदार्थ) मिथ्या हैं। ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता का स्वीकार और ब्रह्म से अतिरिक्त सर्व पदार्थो की सत्ता का अस्वीकार करने के कारण यह दर्शन "अद्वैतवादी" दर्शन के रुपमें प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मका स्वरुप :- इस जगत में एक मात्र "ब्रह्म" ही तत्त्व हैं। "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मेव नापर :।**" इस श्लोकार्ध द्वारा भी ब्रह्म को ही सत्य तत्त्व के रुप में प्रतिपादित किया हैं। उसके सिवा सामने देखा जाता जगत मिथ्या हैं। तदुपरांत जीव भी ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

वेदांतसार ग्रंथमें मंगल श्लोक में ब्रह्म का स्वरुप बताते हुए उसको **अखंड, सच्चिदानंद; अवाङ्मनसागोचर और अखिलाधार** कहा गया हैं। ब्रह्म अखंड हैं। उसमें कोइ खंड नहीं हैं, ब्रह्म सावयव नहीं हैं। और ब्रह्म निरवयव होने से निराकार, अनश्वर और निर्विकार हैं। श्री नृसिंह सरस्वती के मतानुसार अखंड अर्थात् किसी भी प्रकार के सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदो से मुक्त यह ब्रह्म तत्त्व हैं। (जैसे कि, वृक्ष का दूसरे वृक्ष के साथ का भेद सजातीय हैं, दूसरे मकान आदि पदार्थो के साथ का भेद विजातीय हैं और अपने अंदर रहे हुए शाखा, पत्तोके साथ का भेद स्वगत भेद हैं।) ब्रह्म सच्चिदानंद हैं। यह ब्रह्म सत् अर्थात् त्रिकालाबाधित, अनश्वर हैं। चित् अर्थात् चैतन्यस्वरुप हैं और आनंद स्वरुप हैं। आनंद सुखदुःख-विलक्षण हैं और अनुभव से ही समजा जा सकता हैं। ब्रह्म अवाङ्मनगोचर हैं। अर्थात् ब्रह्म को वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता, वैसे मन से सोचा नहीं जा सकता। वह इन्द्रियातीत हैं। यहाँ ब्रह्म के लिए इस्तेमाल कीये गये जो सच्चिदानंदादि विशेषण हैं, वह केवल लिंगरुप या चिह्नरुप हैं। उससे केवल उसकी झाँखी होती हैं।

ब्रह्म अखिलाधार हैं। जैसे भ्रान्ति के समय रज्जु सर्प का आधार होता हैं, वैसे इस समग्र सृष्टि की प्रतीति का आधार ब्रह्म हैं। **श्रीशंकराचार्यकृत सर्ववेदांत-सिद्धान्तसार** ग्रंथ में भी मंगल श्लोक में ब्रह्म के लिए पूर्वोक्त ही विशेषण इस्तेमाल किये गये हैं।

श्रीशंकराचार्यजी ने ब्रह्मसूत्र के शारिरिक भाष्य में ब्रह्म का स्वरुप वर्णन करते हुए कहा हैं कि, "**अस्ति तावत् ब्रह्मशुद्धप्रबुद्धमुक्तस्वभावम् -(ब्र.सू.शा.भा. १-१-१)**"

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म ही सत्य तत्त्व हैं और उसका निरपेक्ष स्वभाव होने के कारण वह अद्वैत हैं। ब्रह्म से भिन्न दृष्टिपथ में आते हुए पदार्थ अनित्य और अनात्म हैं। अद्वैत ब्रह्म निर्गुण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव हैं।

अद्वैतब्रह्म की व्याख्या करते हुए कहा हैं कि, **अन्य जगतो नामरुपाभ्यां व्याकृतस्य अनेक-कर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाऽपि अचिन्त्यरचनारुपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवन्ति तद् ब्रह्म ।- (ब्र. सू. शा. भा. १.१.२)**

नाम तथा रुप द्वारा व्यक्त अनेक कर्ताओ और भोक्ताओ से संयुक्त ऐसी क्रिया और फल का आश्रय जो देश, काल द्वारा व्यवस्थित हैं, मनुष्य के मन से भी जिस की रचना या स्वरुप का विचार असंभव हैं, इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान कारण से होता हैं, वह **ब्रह्म** हैं।

यद्यपि, ब्रह्म द्रव्य नहीं हैं। फिर भी वह इस संसार का अधिष्ठान हैं। वह परम सत् होने पर भी सर्व पदार्थो में अंतर्भूत होता हैं तथा चेतन और अचेतन, सामान्य और विशेष सर्व पदार्थो का एक महा सामान्य (ब्रह्म) में अंतर्भाव होता हैं। जैसे भारत नकशे में एकत्र दृष्टिगोचर होता हैं, परंतु जब भारत को ढूंढा जाता हैं, तब कहीं भी एकत्र एकवस्तु के रुप में परिलक्षित होता नहीं हैं, उसी प्रकार ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त हैं, परंतु देशकालातीत होने के कारण एकत्र एक स्वरुप में उपलब्ध होता नहीं हैं।

इसलिए वेद भी ''नेति नेति'' यह निषेध परक वाक्य द्वारा दृश्यमान जगत का बाध करके निर्विशेष ब्रह्म की ओर परमतत्त्व होने का संकेत देते हैं। परन्तु ब्रह्म की सत्ता का स्वीकार करते हुए श्री शंकराचार्य ने कहा हैं कि, इस जगत का अवसान ब्रह्म में ही होता हैं। इसलिए ''नेति नेति'' आदि वाक्यो से जगत् का मूलतत्त्व के रुपमें निषेध किया गया हैं। इस कथन में ब्रह्म के अवसान का अभाव माना गया हैं।[१] वस्तुतः उसका अभिप्राय यह हैं कि, वह ब्रह्म वाङ्मनसातीत होने पर भी अभावक नहीं हैं।[२] और भावरुप में उसका स्वरुप सत्, चित् और आनंदमय हैं, इसलिए ब्रह्म की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ माना जाता हैं।

ब्रह्म समस्त जगत का उपादान हैं। जगदुपादानत्व ही ब्रह्म का लक्षण हैं। वेदांतपरिभाषा में ब्रह्म का लक्षण और उसके बारे में शंका-समाधान करते हुए कहा हैं कि,

''निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम्, जगदाकारेण विपरिणममानमायाऽधिष्ठानत्वं वा। एतादृशमेवोपादानत्वमभिप्रेत्य "इदं सर्वं यदयमात्मा" "सच्च त्यच्चाभवत्" (तै.२.६) "बहु स्यां प्रजायेय" (तै. २-६) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मप्रपञ्चोस्तादात्म्यव्यपदेशः। घटः सन् घटो भाति, घट इष्ट इत्यादिलौकिकव्यपदेशोऽपि सच्चिदानन्दरुपब्रह्मैक्याध्यासात्। (वेदांत परिभाषा, विषयपरिच्छेदः)

भावार्थ :- समस्त जगत का उपादानकारणत्व ही ब्रह्म का लक्षण हैं।

शंका :- चेतन ब्रह्म में जड प्रपंच का उपादानकारणत्व किस तरह से संभवित बन सकता हैं? और यह उपादानकारणत्व माया में भी होने के कारण अतिव्याप्ति भी आयेगी न?

समाधान :- आपकी शंका योग्य नहीं हैं। क्योंकि, यहाँ ''उपादान'' शब्द से जगद्रुप अध्यास (भ्रम)

---

(१) ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः ब्रह्मणो नाभावसानः (ब्र.सू.शा.भा.३/२/२२) (२) वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधायते। (ब्र.सू.शा.भा. ३/२/२२)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अधिष्ठान (आधार) ही विवक्षित हैं।

मिथ्या रजत के भ्रम का अधिष्ठान जैसे शुक्ति (सीप) होती हैं, वैसे ब्रह्म में भासमान (भासित) मायाकल्पित प्रपञ्च का अधिष्ठान (विवर्तोपादान) ब्रह्म ही हैं। परन्तु माया नहीं हैं। उस कारण से अतिव्याप्ति भी नहीं है।

इसके उपरांत भी, "जिसका परिणाम होता हैं, वही उपादान होता हैं।" ऐसा मानने का आपका आग्रह हो, तो दूसरा कल्प इस अनुसार जानें - जगद्रुप से जगद्रुप परिणाम को प्राप्त होनेवाली ("परिणत होनेवाली") माया का अधिष्ठानत्व ब्रह्ममें होना"- वही उसका उपादानत्व हैं। माया में परिणामि उपादानत्व होने पर भी स्वाधिष्ठान ब्रह्म के बिना वह कुछ भी नहीं कर सकती। इस कारण से ब्रह्म में ही उपादानत्व संभवित हो सकता हैं।

तदुपरांत ब्रह्म में जो उपादानकारणता हैं, उसके ही अभिप्राय से **"इदं सर्वं यदयमात्मा"**-जो यह सर्व हैं, वह आत्मा ही हैं - इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियो में ब्रह्म और प्रपंच के तादात्म्य(अभेद) का उपदेश किया गया हैं।

"घट हैं", "घट भासित होता है" और "घट इष्ट है"- इत्यादि लौकिक व्यवहार भी सच्चिदानन्दरुप ब्रह्म के ऐक्य-अध्यास से ही होते हैं।

संक्षेप में,सर्व प्रपंच का मूलभूत कारण ब्रह्म हैं। कहने का सार यही है कि, जगत के मूल में एक ही तत्त्व विद्यमान हैं और वह तत्त्व जगत के अधिष्ठानभूत ब्रह्म हैं और उसमें से उद्भूत अन्य सर्व प्रतिभासित पदार्थो की सत्ता असत् है। वह ब्रह्म तत्त्व नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, चिन्मयात्मा और परमतत्त्व स्वरुप हैं।

तैतरीयोपनिषद् में कहा है कि, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । (तै.३.३.१)- तैतरीय उपनिषदके इस मंत्र में ब्रह्मसूत्र का लक्षण करते हुए कहा है कि, जिस से जगत की सृष्टि उत्पन्न होती हैं। जिस में जगत अवस्थित रहता हैं और जिस में यह जगत विलीन होता है, वह ब्रह्म हैं। और उस ब्रह्म की ही जिज्ञासा करें।

ब्रह्म ही सत्य- वास्तविक उपचाररहित तत्त्व हैं। उसके प्रपंचरुप जगत तो आरोपित हैं। **उसी वस्तु को बताते हुए "सर्ववेदांतसिद्धान्तसार संग्रह" ग्रंथमें बताया हैं कि,** (३)सत्य, ज्ञान आदि लक्षणयुक्त परब्रह्म ही वस्तु हैं। उसमें जैसे आकाश में नीले रंग का आरोप किया जाता हैं, वैसे यह जगत आरोपित मालूम पडता हैं।

कठोपनिषद् और ब्रह्मसूत्र - शांकरभाष्य में ब्रह्म के स्वरुप का वर्णन करते हुए बताया हैं कि,

यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्यच्चैतन्यात्मज्योतिः स्वभावं तदेव ब्रह्म । (कः ३, शा.भा.२.३.१)

भावार्थः- कठोपनिषद् में अश्वत्थ वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म का स्वरुप बताते हुए कहा है कि, यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष उर्ध्वमूल और अधः शाखा है, वही शुद्ध, शुभ्र,ब्रह्म और अमृतरुप हैं। समस्त लोक उसमें ही आश्रित रहा हैं और उस ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। संक्षिप्त में ब्रह्म में समस्त जगत अध्यस्त हैं। ब्रह्मसूत्रकार ने भी पूर्वोक्त बात को दृढ करते हुए ब्रह्मसूत्र में कहा है कि, **जन्माद्यस्य यतः । (ब्र.सू. १-१-२)**

-वही ब्रह्म हैं, कि जिस से जगत की उत्पत्ति हुई हैं और जिस में जगत की स्थिति और लय होता हैं।

गौडपादकारिका में ब्रह्म को सृष्टि-स्थिति-लय के कारण के रुप में बताते हुए युक्ति दी हैं कि, **आदावन्तेऽपि यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।** (गौ. का. २)

भावार्थः- जो पदार्थ सृष्टि के आदि और अंत मे रहता नहीं हैं, वह मध्य में भी रह सकता नहीं हैं। मध्यगत

(३) वस्तु तावत्परं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणम्। इदमारोपितं यत्र भाति खे निलतादिवत् ॥२९८॥ सर्व वेदांत-सिद्धांत-सार संग्रह ॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृश्यमान पदार्थो का जन्म भी होता नहीं हैं, परंतु स्थूल जगत की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसलिए अनादि और अनंत ब्रह्म ही इस जगत का कारण हैं।

(४)छान्दोग्योपनिषद् में स्थूल जगत ब्रह्म की ही भौतिक अभिव्यक्ति मात्र हैं, उसका वर्णन करते हुए युक्ति सह बताया हैं कि,

"(श्वेतकेतुने अपने पिता के समक्ष ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा प्रकट की तब पिता ने श्वेतकेतु को ब्रह्म का स्वरुप बताते हुए कहा कि, "ब्रह्म यही तुम हो" अर्थात् आरम्भिक सत्य एक और अद्वितीय हैं। वही ब्रह्म हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पिता पुत्र को बताते है कि, जैसे एक मिट्टि के पिंड का ज्ञान होने से समस्त मृन्मय पदार्थो का ज्ञान हो जाता हैं। और जैसे सुवर्ण का ज्ञान होने से सुवर्ण से निर्मित कुंडल आदि रुप में उत्पन्न विकारो का ज्ञान हो जाता हैं। क्योंकि मृत्तिका में घटादि तथा सुवर्ण में कुंडलादि विकार हैं। परन्तु मृत्तिका और सुवर्ण से निर्मित सर्व पदार्थो में मृत्तिका तत्त्व और सुवर्ण तत्त्व तो एक ही होता हैं। मृत्तिका और सुवर्ण की आकृतियाँ तो विकार मात्र हैं। उसी तरह से यह स्थूल भौतिक जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र ही हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को कहते हैं कि, "ब्रह्मणेदं क्षत्रियमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा। (बृ.३.२.४)॥ - ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं हैं। समस्त जगत ब्रह्म का ही रुप हैं। ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि समस्तलोक, सहस्रदेवता, समस्त भूत ये सब आत्मा ही है- आत्मा का ही स्वरुप हैं।

ब्रह्म में तीनो काल में भेद नहीं हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए सर्ववेदांत-सिद्धांत-सार संग्रह में कहा हैं कि,

भ्रांत्या ब्रह्मणि भेदोऽयं सजातीयविलक्षणः। कालत्रयेऽपि हे विद्वन् वस्तुनो नैव कश्चन ॥७६८॥

यत्र नान्यत्पश्यतीति श्रुतिर्द्वैतं निषेधति। कल्पितस्य भ्रमाद्भूम्नि मिथ्यात्वावगमाय तत्।॥७६९॥

भावार्थ :- हे विद्वान् शिष्य! ब्रह्म में वास्तविक रुप से तीनो काल में किसी भी प्रकार का भेद नहीं हैं। सजातीय आदि (सजातीय, विजातीय, और स्वगत) लक्षणवाला भेद ब्रह्म के विषय में भ्रान्ति से ही किया जाता हैं। श्रुति भी साक्षी देते हुए कहती हैं कि, "**यत्र नान्यत् पश्यति**" -**ज्ञानीपुरुष ब्रह्म के विषय** में दूसरा कुछ देखता नहीं हैं। -ऐसा कहकर अन्य वस्तु का (ब्रह्म से भिन्न वस्तु का) निषेध ही करती हैं अर्थात् "द्वैत" का निषेध हैं। और इसलिए ही परब्रह्म में भ्रम से कल्पित किया हुआ सर्व भी मिथ्या ही हैं, ऐसा पूर्वोक्त श्रुति का समजाना हैं।

ब्रह्मकी अद्वितीयता को दृढ करते हुए वहाँ आगे कहा हैं कि,

"(५)ब्रह्म सदा अद्वितीय है। इसलिए ही विकल्प या भेद से रहित, उपाधिरहित, निर्मल, निरंतर, आनंद से व्याप्त, निःस्पृह, चेष्टारहित, किसी भी स्थान से रहित और केवल एक ही हैं।

उसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं हैं। गुण दिखाई नहीं देते। वाणी और मन की प्रवृत्ति नहीं हैं। जो केवल, परमशांत,अनंत, आदिसे रहा हुआ, केवल आनंदस्वरुप और अद्वितीय होनेसे सत् स्वरुप से ही प्रकाशित

---

(४) तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छा. ३.६.८.७) (ii) सदैव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। (छा. ३.६.२) (छा. ६.१.२-७)
(५) यतस्ततो ब्रह्म सदाऽद्वितीयं विकल्पशून्यं निरुपाधि निर्मलम्। निरंतरानंदघनं निरीहं निरास्पदं केवलमेकमेव॥ नैवास्ति काचन भिदा न गुणप्रतीतिर्नो वाक्प्रवृत्तिरपि वा न मनःप्रवृत्तिः। यत्केवलं परमशांतमनंतमाद्यमानंदमात्रमवभाति सदद्वितीयम् ॥७७०-७७१॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता हैं। (७७०-७७१)

श्रीशंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता हैं, कि जो जगत के अणु-अणु में व्यास हैं। जो निराकार,निर्विकार,अविनाशी,अनादि,चैतन्य और आनंदमय हैं। ब्रह्म की सिद्धि आत्मा के अस्तित्व से ही होती हैं। अर्थात् प्रथम तो आत्मा का अस्तित्व ही ब्रह्म की सिद्धि हैं। दूसरे नंबर में उसमें श्रुति प्रमाण हैं। श्रुति ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले ऋषियों की अनुभूति की अभिव्यक्ति हैं। इसलिए उसमें शंका का कोई स्थान नहीं हैं। ब्रह्म की सिद्धि कभी भी अनुमान से हो नहीं सकती। उसके लिए शब्द प्रमाण का ही आश्रय लेना पडेगा।

ब्रह्म सत्, चित् और आनंद हैं। ''**सत्**''का अर्थ हैं, अपने निश्चित स्वरुप से कभी भी व्यभिचरित न होनेवाला। **(यद्रुपेण यन्निश्चितं तद्रुपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्)** सत्य का कभी बाध होता नहीं हैं। **(सत्यत्वं बाधराहित्यम्)** ब्रह्म नित्य और अविकारी हैं। **वह ज्ञानरुप और चैतन्य है, सदा प्रबुद्ध हैं। जाग्रत,स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से रहित हैं। वह स्वतः प्रकाशशील हैं। पूर्णकाम होने के कारण वह''आनंदघन'' कहा जाता हैं।** इससे विपरीत संसार अनृत, जड और दु:खमय हैं। जगत् ''सत्'' नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से उसका नाश होता हैं। ब्रह्म अनंत और अद्वितीय हैं।

ऐकमेवाद्वितीयं सन्नामरुपविवर्जितम्। सृष्टे:पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं यदि तीर्यते ॥

वह नामरुपादि से हीन है, वह निरपेक्ष, स्वतंत्र, शुद्ध तथा अतीन्द्रिय सत्ता हैं। वह कर्ता नहीं है, इसलिए निष्क्रिय हैं।

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम्।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानंदरसस्वरुपम् ॥ (विवेकचूडामणि)

माया ब्रह्म की शक्ति है, परन्तु वह माया से लिप्त होती नहीं हैं। वह ब्रह्म नित्यसुखरुप, कला या अंशो से रहित, नामरुपादि से हीन अव्यक्त तेज हैं -

निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं विभुं निष्कलमप्रमेयम्।
अरुपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति ॥ (विवेकचूडामणि)

तदुपरांत, वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी से रहित, अनंत, निर्विकल्पक, केवल और अखंड चैतन्यमात्र हैं। वह ''अवाङ्‌मनसगोचर'' हैं। ब्रह्म का कोई कारण नहीं हैं, वह कार्य-कारण की श्रृंखला से पर हैं। वह निर्गुण और निर्विशेष सत्ता हैं।

संपूर्ण जगत ब्रह्म का ही विवर्त हैं। जब सृष्टि के पहले ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, तो अब उससे अतिरिक्त कुछ भी किस तरह से हो सकता हैं। जैसे मृत्तिका (मिट्टी) ही सत्य है, और उससे बने हुए घटादि भाजन केवल नाममात्र से विकार हैं, इस तरह से ब्रह्म ही सत्य हैं :-

''सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्.... तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेयेति.... यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छान्दोग्य-उपनिषद्)''

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि, जैसे धधकती (भडकती) आग(अग्नि) से चारो ओर चिनगारीयाँ निकलती हैं, उसी प्रकार से ब्रह्म से यह संपूर्ण जगत उत्पन्न होता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''स यथा अग्नेः क्षुद्रा : विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मदात्मनः ब्रह्मणः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरति ।''

वही एक ब्रह्म आत्मा के रुप में संपूर्ण जीवो में व्याप्त हैं । **''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'' (श्वेताश्वतर उपनिषद्)**

जिस तरह पानी में डाला हुआ नमक दिखाई नहीं देता। फिर भी वह पानी के प्रत्येक अणु में व्याप्त रहता हैं । उसी तरह से ब्रह्म संसार के कण-कणमें व्याप्त हैं । **''स यथा सैन्धवाखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुविलियेत्, न हि अस्य उद्ग्रहणाय इव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैकं वा अरे इदं महद्भूतम् अनन्तम् अपारं विज्ञानघन एव'' (बृहदारण्यक उपनिषद्)**

माया के कारण ही ब्रह्म का जगतस्वरुप में ज्ञान होता हैं। ब्रह्म के ज्ञान के अनंतर (बाद में) जगत बाधित होता है और अविद्याजनित क्लेशो की निवृत्ति हो जाती हैं।

ब्रह्म का विचार दो दृष्टि से किया जा सकता हैं। (१) व्यावहारिक दृष्टि से :- इस दृष्टि के अनुसार जगत को सत्य मानकर ब्रह्म को सृष्टिकर्ता, पालक, संहारक और सर्वशक्तिमान कहा जा सकता हैं । तथा (२) **पारमार्थिक दृष्टि से :-** इस दृष्टि के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र निर्गुण, अविकारी और निर्लिप्त सत्ता है।

श्री शंकराचार्यजी ने प्रथम को ब्रह्म का (६)तटस्थ लक्षण और दूसरे को (७)स्वरुपलक्षण कहा है। तटस्थ लक्षण कुछ कालावस्थायी आगंतुक गुणो का निर्देश करता है और स्वरुप लक्षण पदार्थ के तात्त्विक स्वरुप का निर्देश करता हैं। जैसे एक सामान्य नट रंगमंच के उपर राजा की भूमिका में आकर राजा के उचित कार्य करता है, तब नाटक की असमाप्ति तक ही उसका राजत्व रहता है, उसके बाद पुनः वह सामान्य नट हो जाता है, उसी तरह से ब्रह्म सृष्टिरचना के निमित्त से तटस्थ लक्षण धारण करता है और निर्गुण में से सगुण हो जाता हैं। बाकी वह स्वरुपतः तो निर्लिप्त, असंग और निर्विकार है। **वेदांतपरिभाषामें भी कहा है कि-**

तत्र लक्षणं द्विविधं -स्वरुपलक्षणं तटस्थलक्षणं च। तत्र स्वरुपमेव लक्षणं स्वरुपलक्षणम्, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरुपलक्षणम् । ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै. २-१-१)XXXXX । तटस्थलक्षणं तु यावाल्लक्ष्यकालमनवस्थिते सति तद्व्यावर्तकं तदेव, यथा गन्धवत्त्वं पृथिवीलक्षणम् । प्रकृते ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिकारणम् । अत्र जगत्पदेन कार्यजातं विवक्षितम् .XXX। यद्वा निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम् । उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम् जगदाकारेण विपरिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा ।

आगे हुई चर्चा में पूर्वोक्त शास्त्रवचनो का भावार्थ स्पष्ट हो ही गया हैं, इसलिए पुनः उसकी विचारणा नहीं करते हैं। सारांश में, वेदांत दर्शन में ...

- ब्रह्म ही सत्य तत्त्व है, उससे अतिरिक्त सर्व जगत मिथ्या हैं।
- जीव भी ब्रह्म ही है परन्तु ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, वह ब्रह्म का ही अंश है।
- ब्रह्म का स्वभाव निरपेक्ष होने से वह अद्वैत हैं।
- अद्वैत ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, निर्गुण, नित्य, मुक्तस्वभाव, आनंदमय, चैतन्यस्वरुप, निर्विकार, निराकार,

(६) तटस्थलक्षणत्वं कदाचित्वे सति व्यावर्त्तकत्वम् (सर्वलक्षणसंग्रहः) तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थित्वे सति तद्व्यावर्तकत्वम् (वेदान्तपरिभाषा-विषयपरिच्छेदः) (७) स्वरुपलक्षणं स्वरुपं सद्व्यावर्तकम् (सर्व.ल.संग्रह) स्वरुपमेव लक्षणं स्वरुपलक्षणम् (वेदांतपरिभाषा)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनश्वर, अखंड, निरवयव, सत्-चित् स्वरुप, निर्विशेष, अद्वितीय, अक्रिय, निरंजन, आनंदघन, अव्यक्त, प्रशांत, आद्यन्तहीन है।

● ब्रह्म ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ये त्रिपुटी से रहित है।

● ब्रह्म समस्त जगत का आधार है। ब्रह्म में से ही समस्त प्रपंच का प्रादुर्भाव होता है।

● ब्रह्म ही सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि का उपादान कारण और निमित्तकारण भी है।

● इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण एकमात्र ब्रह्म है। ब्रह्म में से ही जगत की उत्पत्ति होती है। उसमें ही जगत अवस्थित रहता है और उसमें ही लय पाता हैं।

● ब्रह्म नाम-रुप से पर है।

जीव का स्वरुप : जीव के स्वरुप के विषय में अनेक मत-मतांतर प्रवर्तित है। **श्रीशंकराचार्य एकमात्र** ब्रह्मतत्त्व का स्वीकार करके अन्य सर्व का उसके अंदर अन्तर्भाव स्वीकार करते है। इसलिए ही **''जीवो ब्रह्मैव नापर:''**- इस उक्ति की उद्घोषणा करते है। उपरोक्त कथन की सिद्धि के लिए ही अज्ञान और अविद्या की सहायता लेते है। जीव का जो ब्रह्म से व्यवहारिक भेद परिलक्षित होता है। वह अविद्याजन्य ही है। जब तक जीव का बुद्धिरुप उपाधि के साथ संबंध रहता है, तब तक जीव का जीवत्व और संसारित्व है। [८]**श्रीवाचस्पतिमिश्र के मतानुसार** जीव का स्वरुप ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। [९]उनके मतानुसार अविद्या जीव का अधिकरण हैं। **वेदांतसार में कहा है कि**- व्यष्टि- अज्ञान की उपाधि से युक्त चैतन्य को जीव कहा जाता है। (अज्ञान के व्यष्टि और समष्टि ऐसे दो भेद है। उसका स्वरुप आगे बताया जायेगा।) सृष्टि का आरंभ होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर की उत्पत्ति होने से उससे उपहित चैतन्य वह जीव है। जीव को मलिनसत्त्वप्रधान कहा है। अर्थात् वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत हुआ होता है।

श्रीशंकराचार्य ने जीव की व्याख्या इस प्रकार की है -**अस्ति आत्मा जीवाख्यःशरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी।** - शरीर और इन्द्रियाँ रुप पिंजरे का अध्यक्ष कर्मफल के साथ संबंधवाला आत्मा ही जीव के नाम से पहचाना जाता है। (यहाँ इन्द्रियो में मन और बुद्धि का भी अन्तर्भाव करना है। क्योंकि वह आंतरइन्द्रिय है।)

जीव का अस्तित्व भी प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदकवाद के सिद्धांतो के उपर कल्पित किया गया है। जीव की उपाधि को अविद्या कहा जाता है। (दोनों वाद का स्वरुप आगे बताया जायेगा।) इस प्रकार अविद्या में प्रतिबिंबित हुआ या अविद्या से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य वह जीव कहा जाता है। इस तरह से जीव और परम चैतन्य-परमात्मा या ब्रह्म के बीच कोई तात्त्विक भेद नहीं है। केवल अज्ञानजन्य अविद्या की उपाधि दूर हो जाये, तो तुरंत ही जीव ब्रह्मरुप को प्राप्त करता है। इसलिए ही कहा है कि, **''जीवो ब्रह्मैव नापरः।''**

यह जीव ज्ञान प्राप्त करनेवाला, कर्त्ता, भोक्ता और संसारी है। इस प्रकार वह जगत को जानता हैं, कार्य करता है, उसका अच्छा-बुरा फ्ल भुगतता हैं। कर्मफ्ल भुगतने के लिए उसको पुनर्जन्म लेना पडता है। अलबत्त, यह जन्म-मरण शरीर का ही होता हैं। जीव मूल तो सर्वव्यापक हैं परन्तु उपाधि के कारण सीमित लगता हैं।

जीव के तीन नाम दिये हैं, वे उसकी अवस्थाओं के कारण दिये हैं। अव्यक्त अवस्था में रहे हुए व्यष्टिरुप अज्ञान से उपहित चैतन्य, ''**प्राज्ञ**'' कहा जाता है। इस अवस्था में वह अज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियों के द्वारा आनंद का

(८) यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वम्। ब.सू.शा.भा.२.३३.) बुद्ध्याद्युपाधिकृतमस्य जीवत्वमिति। (भामती (२.३.३०) (९) जीवानां स्वरुपं वास्तवं ब्रह्म- भामती शा.भा. १-४-३

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव करता हैं। इस अवस्था को ''सुषुप्ति'' भी कही जाती हैं। जब अज्ञान व्यक्त अवस्था में आता है तब प्रथम उसमें से सत्रह अवयव (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन, पांच कर्मेन्द्रिय और पाँच वायु) वाला सूक्ष्मशरीर जन्म लेता है। व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य के सूक्ष्म शरीर को ''**तैजस्**'' कहा जाता हैं। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की अवस्था में जीव का नाम ''**तैजस्**'' हैं। जीव की इस अवस्था को ''**स्वप्न**'' कहा जाता है। यहाँ तैजस् अपने मन की वृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करता है। जब स्थूल शरीर की उत्पत्ति हो, तब जीव को '**विश्व**' कहते हैं, उसकी यह अवस्था जाग्रत अवस्था है। इस लोकमें से परलोकमें संसरण करता हुआ जीव अपने सत्रह अवयवोवाले सूक्ष्म शरीर के साथ उत्क्रमण और संक्रमण करता है। (इस विषय की विशेष प्रक्रिया आदि का वर्णन आगे बताया जायेगा।)

जीव की संख्या के विषय में तीन मत प्रवर्तित है - **एकशरीरैकजीववाद, सविशेषानेक-शरीरैकजीववाद,और अविशेषानेकशरीरैकजीववाद**। प्रथम मत के अनुसार जीव एक ही है और वह एक ही शरीर में रहा हुआ है। (बाकी के शरीर स्वप्न में देखे हुए शरीर की तरह प्रातिभासिक मात्र हैं) दूसरे मतानुसार ब्रह्मा का प्रतिबिंब हिरण्यगर्भ मुख्य जीव हैं। बाकी के जीव मुख्य जीव के प्रतिबिंब हैं। तीसरा मत उपाधियों की अनेकता के कारण जीव की अनेकता को मानता हैं।

आत्मा परब्रह्म, अद्वितीय, एक तथा आकाश की तरह विभु हैं। वह जगत का आधार हैं। इन्द्रिय, मन, अहंकार तथा शरीर की उपाधियों से भरा हुआ है और पृथक्-पृथक् किया हुआ आत्मा ही जीव हैं। आत्मा एक है परन्तु उपाधिभेद के कारण वह अनेक जीवो के रुप में प्रतीत होता है -

''**पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्याद्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते ॥**'' (शां.भा.)

मन, बुद्धि, चित्, अहंकार - ये चारो के अंतःकरण ही जीव को पृथक् करते हैं। आत्मा अहंकारी और अतीन्द्रिय चैतन्य है, जीव व्यावहारिक चैतन्य है। वह न तो आत्मा का अंश है, न तो उसका परिणाम है। वह उसकी विभिन्न (जीव) रुपमें प्रतीति मात्र हैं (शरीरादि अविद्या का उत्पादन है, वास्तविक नहीं है।) जब जीवगत अविद्या नष्ट हो जाती है, तब वह अपने मूलरुप ''आत्मा'' में आ जाता है -

''**मायानिर्मितस्य जीवस्य अविद्याप्रत्युपस्थापितस्य अविद्यानाशे स्वभावरुपत्वात्।**'' (शां.भा.)

जीव ही ज्ञान करनेवाला, भोक्ता और कर्ता हैं। वही पुण्य-पाप को पैदा करता है और उसके फल को भुगतता है। वही एक जन्म से आवागमन और दूसरे जन्म में संसरण करता हैं। वही बंध और मोक्ष का अधिकारी है। यद्यपि आत्मा चिदानंदमय होने के कारण मृत्यु प्राप्त नहीं करता है, फिर भी कामनाओं के वश बनकर कार्य करने के कारण उसके फ्ल भुगतने के लिए अन्य अन्य शरीर ग्रहण करने स्वरुप मृत्यु होती है; ऐसा कहा जाता है,

''**यद्यपि विज्ञानात्मपरमात्मनोऽनन्य एव तथापि अविद्याकामकृतं तस्मिन् मर्त्यत्वम् अधिरोपितम्...**''(शा.भा.)

जीव और आत्मा के बीच का अंतर पारमार्थिक नहीं हैं, किन्तु अविद्या की उपाधियों के कारण व्यवहारिक है। आत्मा से जीव की उत्पत्ति नहीं होती हैं। पूर्वोक्त अन्तःकरण और शरीरादि उपाधियों का जन्म ही जीव का आरंभ और उत्पत्ति समजी जाती हैं। जैसे उपाधि दूर होने से स्फटिक अपना निर्मल मूल स्वरुप प्राप्त कर लेता है, वैसे वे उपाधियाँ नष्ट होने से जीव शुद्ध आत्मस्वरुप को प्राप्त कर लेता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव के तीन शरीर होते है :- स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। स्थूल शरीर पंचभूतो से निर्मित हैं। सूक्ष्म शरीर पांच प्राण, मन, बुद्धि तथा दस इन्द्रियों से निर्मित हैं। कारण शरीर अविद्या निर्मित आवरण हैं। (इसका विशेष स्वरुप आगे बताया जायेगा।)

जाग्रत अवस्था में जीव इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयो-पदार्थो को जानता है। **स्वप्न में** मन तथा अवचेतन सूक्ष्म वृत्तियों से विषयो को जानता है। **सुषुप्ति** वह अविद्या की सूक्ष्म वृत्तियों से घिरे हुए चैतन्य और आनंद के एकरस रुप होती हैं। तुरीय चैतन्य शुद्ध आत्मा आत्मा हैं। जो निरुपाधि, अद्वितीय, एकरस तथा निर्विशेष हैं। वह सामान्य तथा विशेष से रहित हैं। गुण और क्रिया से रहित हैं। वह अतीन्द्रिय (इन्द्रियगम्य नहीं हैं।) अविकारी, अनिर्वचनीय हैं। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

विशेष में, प्रकटार्थ विवरणकार ने (सिद्धांतलेश संग्रह १-२६) सर्वभूत-प्रकृति, चिन्मात्रसम्बन्धिनी, अनादि और अनिर्वचनीय माया में, चैतन्य के प्रतिबिंब को ईश्वर और माया की अविद्या नामवाली आवरणविक्षेप शक्तियों से युक्त, परिच्छिन्न आत्मप्रदेशो में चैतन्य के प्रतिबिंब को जीव माना हैं।

श्री विद्यारण्य मुनिने माया में प्रतिबिंबित चैतन्य के प्रतिबिंब को जीव कहा हैं। और **श्रीसर्वज्ञात मुनि ने अंतःकरण में प्रतिबिंबित चैतन्य के प्रतिबिंब को जीवसंज्ञा दी हैं।** श्री विद्यारण्य मुनि ने जीव के प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे तीन रुपो का वर्णन किया हैं। **यहाँ उल्लेखनीय है कि,** जीव के अस्तित्त्व के विषय में प्रतिबिंबवाद और अवच्छेदकवाद का अपना विशिष्ट मत है। **जीव की उपाधि को अविद्या कहा जाता हैं। अविद्या में प्रतिबिंबित हुआ या अविद्या से अवच्छिन्न रहा हुआ चैतन्य वही जीव हैं।**

ईश्वर का स्वरुप :- ब्रह्म अपनी बीजशक्तिरुप अनादि माया द्वारा जगत की उत्पत्ति के लिए तटस्थ लक्षण धारण करने में समर्थ होता हैं। अर्थात् जगत का उपादानकारण और निमित्तकारण बनने में समर्थ बनता हैं यानी की माया शक्ति से युक्त इस ब्रह्म को सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर कहा जाता हैं।

उपनिषदो में ही दो प्रकार के ब्रह्म बताये गये हैं। (१) परब्रह्म और (२) अपरब्रह्म। प्रथम निर्गुण ब्रह्म है और द्वितीय सगुण ब्रह्म या ईश्वर हैं।

वेदांतसार में बताया है कि, ईश्वर जगत का निमित्तकारण भी है और उपादानकारण भी हैं। ईश्वर अपने चैतन्य की प्रधानता से निमित्तकारण हैं। जब कि अपनी अज्ञान उपाधि की प्रधानता से उपादानकारण हैं।

"शक्तिद्वयवद्ज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमितं स्वोपाधिप्रधानं तथा उपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्व शरीरप्रधानतयोपादानञ्च" (वेदांतसार)

जैसे मकड़ी अपने चैतन्य अंश के प्रधान से जाले की उत्पत्ति का निमित्तकारण है और शरीर की प्रधानता से उपादानकारण हैं, वैसे ईश्वर भी अपनी माया-उपाधि की प्रधानता से जगत का उपादानकारण हैं, शुद्ध चैतन्य की प्रधानता से निमित्तकारण हैं।

सर्व वेदांत सिद्धांत-सार-संग्रह में भी कहा हैं कि, **स्वप्राधान्येन जगतो निमित्तमपि कारणम्। उपादानं तथोपाधिप्राधान्येन भवत्ययम् ॥३३३॥ यथा 'लूता' निमित्तं 'च स्वप्रधानतया' भवेत्। स्वशरीरप्रधानत्वेनोपादानं तथेश्वरः ॥३३४॥**

(जिसका वर्णन आगे किया जायेगा वह) केवलाद्वैत वेदांत (श्रीशंकराचार्यजी मान्य वेदांत) की अपेक्षा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर के बारे में सोचे तो, वेदांत का परम और चरम तत्त्व एकमेव ब्रह्म हैं। परन्तु वह तो निर्गुण, निराकार हैं। इसलिए ही श्रीशंकराचार्यजी ने दो प्रकार के ब्रह्म की कल्पना की है। एक तो सर्वउपाधिविवर्जित ब्रह्म ही, जब कि, दूसरा नाम-रुप-विकार भेदोपाधि विशिष्ट ब्रह्म। श्रीशंकराचार्य ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में कहते हैं कि, "मूल तो ब्रह्म एक और निर्गुण है। परन्तु उपासना के लिए सगुण ब्रह्म का भी उपदेश दिया जाता हैं"-

"**निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरुपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यते।** (ब्र. सू. शां. भा. १-२-१४)। यह सगुण ब्रह्म वही ईश्वर है और वही जगत का कर्ता, नियन्ता और संहर्ता हैं।

वेदांत परिभाषा में ईश्वर का स्वरुप बताते हुए कहा है कि, "**मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः।** XXXX। **स परमेश्वर एकोऽपि स्वोपाधिभूतमायानिष्ठ-सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वर इत्यादि शब्दवाच्यतां लभते।**

मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। वह परमेश्वर एक होने पर भी स्वाधिकरणभूत मायानिष्ठ सत्त्व-रजस्-तमस् तीन गुणों के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ऐसे शब्दो की वाच्यता को प्राप्त करता है। अर्थात् ईश्वर एक होने पर भी मायारुप उपाधि के सत्त्वादि गुणो के अभिप्राय से अनेक हैं, ऐसा व्यपदेश किया जाता हैं। **वेदांतसार**[१०] **अनुसार** विशुद्धसत्त्वप्रधान समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य वही ईश्वर हैं। यह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियंता, अव्यक्त,अन्तर्यामी और जगत के कारण कहे गये है। ईश्वर समष्टि [११]अज्ञान अर्थात् अज्ञान को प्रकाशित करनेवाले होने से सर्वज्ञ हैं। सभी को कर्मानुसार फल देनेवाले होने से सर्वेश्वर हैं। प्रत्येक को कर्म में प्रेरणा देनेवाले होने से अन्तर्यामी हैं। किसी भी प्रमाण से ग्रहण किया न जा सके ऐसे अव्यक्त हैं।

ईश्वर की उपाधिरुप अज्ञान की समष्टि के अलग-अलग नाम वेदांतसार में बताये हैं। ये नाम अलग-अलग गुण या कार्य को लेकर पड़े हुए हैं। वह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का कारण होने से [१२] "**कारणशरीर**" कहा जाता हैं। अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य में आनन्द की प्रचुरता होने से और वह अज्ञान समष्टि को एक कोश की तरह ढकती होने से उसको "**आनंदमय कोष**" कहा जाता हैं। समष्टि अज्ञान में सभी प्रकार की सृष्टि का लय होता होने से उसको सुषुप्ति कहा जाता हैं। और यही प्रलयावस्था हैं। **इसी बात को श्रीशंकराचार्यकृत**[१३] **सर्ववेदान्तसिद्धान्त सार-संग्रह में स्पष्ट करते हुए बताया है कि-**

" यह मायारुप उपाधिवाला चैतन्य ब्रह्म के आभासवाला सत्त्वगुण की अधिकता से युक्त, सर्वज्ञत्वादि गुणो से संपन्न, जगत की उत्पत्ति- स्थिति और नाश का कारण है। वही अव्याकृत, अव्यक्त और ईश्वर भी कहा जाता है। वह सर्वशक्तियों और गुणो से युक्त हैं। वह सर्व ज्ञान का प्रकाशक है, वह स्वतंत्र हैं। वे सत्यसंकल्प और

(१०) इयं समष्टिस्तूत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। "एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्व-सर्वनियन्तृत्वादि-गुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलज्ञानाभासकत्वात् यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति श्रुतेः। (वेदान्तसार) अध्याय २/३८) ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरज्ञ एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। (११) अज्ञान के दो भेद आगे बतायें जायेगें। (१२) वेदांत में कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर ऐसे शरीर के तीन प्रकार माने गये हैं। (१३) मायोपहितचैतन्यं साभासं सत्त्वबृंहितम्। सर्वज्ञत्वादिगुणकं सृष्टिस्थित्यंतकारणम् ॥३१०॥ अव्याकृतं तदव्यक्तमीश इत्यपि गीयते। सर्वशक्तिगुणोपेतः सर्वज्ञानावभासकः ॥३११॥ स्वतंत्रः सत्यसंकल्पः सत्यकामः स ईश्वरः। तस्यैतस्य महाविष्णोर्महाशक्तेर्महीयसः ॥३१२॥ सर्वज्ञत्वेश्वरत्वादिकारणत्वान्मनीषिणः। कारणं वपुरित्याहुः समष्टिं सत्त्वबृंहितम् ॥३१३॥ आनंदप्रचुरत्वेन साधकत्वेन कोशवत्। सैषानन्दमयः कोश इतीशस्य निगद्यते ॥३१४॥ सर्वोपरमहेतुत्वात्सुषुप्तिस्थानमिष्यते। प्राकृतः प्रलयो यत्र श्राव्यते श्रुतिभिर्मुहुः ॥३१५॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यकामनावाले हैं । और वे ईश्वर (सर्व के नियन्ता) हैं । वैसे ही यह महाविष्णु, महाशक्तिमान् और अतिशय महान हैं । उपरांत, सर्वज्ञत्व और ईश्वरत्व आदि धर्मो का कारण होने से महाबुद्धिशाली भी इस ईश्वर के शरीर को ''कारण शरीर'' कहते है, जो सत्त्वगुण से वृद्धि पाया हुआ समष्टि अज्ञान हैं, उसमें आनंद प्रचुर है और कोशकी (खजाने की) तरह वह आनंद को सिद्ध करनेवाला है, इसलिए उसको ईश्वर का ''आनन्दमय कोश'' भी कहते हैं । तदुपरांत, वह सर्व जीवो के उपशम का कारण हैं, इसलिए उसको सुषुप्ति कहते है, जिसमें प्राकृत प्रलय होता हैं, ऐसा श्रुतियाँ बारबार सुनाती हैं ।''

यहाँ उल्लेखनीय है कि, केवलाद्वैत वेदांत में ईश्वर की सत्ता पारमार्थिक नहीं हैं । क्योंकि, ईश्वर अज्ञानोपहित है और अज्ञान पारमार्थिक सत्ता नहीं हैं । इसलिए ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं हैं । जब कि, 'विशिष्टाद्वैत', मतवाले ईश्वर की सत्ता पारमार्थिक मानते हैं (केवलाद्वैत और विशिष्टाद्वैत का मान्यताभेद आगे बताया जायेगा)

वेदांत के उत्तरोत्तर विकसित सिद्धांतो में अवच्छेदवाद और प्रतिबिंबवाद महत्त्व के सिद्धांत हैं । (उन दोनो का स्वरुप आगे बताया जायेगा ।) अवच्छेदवाद में माया से ढके हुए ब्रह्म को ईश्वर माना गया हैं और प्रतिबिंबवाद में माया में प्रतिबिंबित हुए ब्रह्म को ईश्वर माना हैं । इस ईश्वर का अस्तित्व अद्वैतवेदांतीयों ने श्रुति के अनुसार माना है और दूसरे प्रमाणो से ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया हैं । **श्रीशंकराचार्य बताते है कि,** जैसे कोई जादूगर दूसरों को अपने जादू से आकर्षित करता है, फिर भी वह स्वयं उस जादू से लेशमात्र भी प्रभावित नहीं होता हैं । वैसे ईश्वर अपनी माया से अस्पृष्ट रहते हैं । यह सृष्टि भी आप्तकाम ईश्वर के स्वभाव का फल हैं । (पूर्वोक्त दो वाद उपरांत तीसरा ''आभासवाद'' भी है, उसका विवेचन आगे करेंगे)

ईश्वर और जीव :- (केवलाद्वैत मत में) ईश्वर और जीव दोनों व्यावहारिक सत्ता हैं । परन्तु ईश्वर नियन्ता है और जीव शासित हैं । ईश्वर माया के शुद्ध सत्त्व से युक्त है, जीव माया की निकृष्ट उपाधि (शरीर-मन आदि) से युक्त हैं, इसलिए ही शांकरभाष्य में कहा है कि,

''**निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्च ईश्वरो हीनोनोपाधिसम्पन्नान् जीवान् प्रशास्ति**'' (शां.भा.)

उपरांत, दोनो के बीच स्वामी-सेवक संबंध है, जैसे ताप (उष्णता) अग्नि और स्फुलिंग दोनो में समान रहता हैं, वैसे ईश्वर और जीव दोनों में विशुद्ध चैतन्य समान रहता हैं । दोनो में ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता हैं । जब वह चैतन्य विशुद्धसत्त्वप्रधान हो जाता है, तब ईश्वर और जब मलिनसत्त्वप्रधान हो जाता है, तब वह जीव होता हैं । दोनों भी ब्रह्म के ही स्वरुप हैं । जीव भी पूर्ण ब्रह्म हैं । शांकरभाष्य में कहा हैं कि - ''**सर्वेषामेव नामरुपकृतकार्यकारणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाहुः॥**''

वेदांतसार में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए बताया है कि, ईश्वर और जीव के बीच फर्क स्पष्ट है । **समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है और व्यष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को जीव कहा जाता है ।** दोंनो में ''चैतन्य'' समान होने पर भी विशेषण की दृष्टि से दोनों में भिन्नता हैं । विशेषण की भिन्नता के कारण उन दोनों के गुणधर्मो की भिन्नता खड़ी होती हैं । ईश्वर की उपाधि शुद्धसत्त्वगुण प्रधान है, जब कि जीव की उपाधि मलिनसत्त्वप्रधान है । इस तरह से ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता है, दुःखादि अनुभव से रहित और पुण्य-पाप से पर हैं । ईश्वर भोक्ता नहीं है, केवल साक्षी हैं । जीव कर्म में रत और फल का भोक्ता है, जीव अल्पज्ञ और संसारी हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीशंकराचार्य जीव और ईश्वर का भेद इस तरह से बताते हैं -

"विशेषो हि भवति शरीरपरमेश्वरयोः एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च एकस्तद्विपरीतोऽपहत पाप्मत्वादिगुणः। एकस्य भोगो नेतरस्य। (शांकरभाष्य)

ईश्वर और जीव में स्वतः व्यावहारिक भेद हैं। ईश्वर समस्त जगत के अंतर्यामी और साक्षी है तथा जीव जगत का भोक्ता, प्रमाता और कर्ता हैं। ईश्वर जहाँ माया से उपहित होता है, वहाँ जीव अविद्या से आविष्ट रहता हैं। जीव की सत्ता केवल एक शरीर के उपर ही हैं। जब कि, ईश्वर की सत्ता इस नामरुपात्मक अखिलसृष्टि के उपर हैं। जीव और ईश्वर के बीच के संबंध के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यतायें प्रवर्तित हैं। कोई-कोई के मतानुसार जीव और ईश्वर के बीच अंश और अंशी का संबंध हैं। अर्थात् जीव ईश्वर का ही अंश हैं। परंतु इस मान्यता में जीव के सभी दोष ईश्वर के उपर भी आ जाने की आपत्ति होने से यह मान्यता का ज्यादा स्वीकार नहीं हुआ है। **वेदांतसार अनुसार जीव और ईश्वर के बीच उपाधिगत भेद हैं।** इसलिए वहाँ अंश-अंशी के संबंध रहते नहीं हैं। उपरांत, जीव और ईश्वर के बीच स्वरुपगत भेद हैं।

सिद्धान्तलेशसंग्रहकार जीव-ईश्वर के बीच का सूक्ष्म भेद समजाते हुए बताते है कि, अनादि अनिर्वचनीय माया में प्रतिबिंबित चैतन्य वह ईश्वर और माया की ही आवरण और विक्षेपशक्तियुक्त अविद्या में प्रतिबिंबित चैतन्य वह जीव। माया रजस् तथा तमस् से अनभिभूत सत्त्वप्रधान है, जब कि अविद्या रजस् तथा तमस् से अभिभूत मलिनसत्त्वप्रधान हैं।

एक मतानुसार विक्षेप नाम की शक्ति के प्राधान्य वाली मूल प्रकृति वह माया हैं और यह माया ईश्वर की उपाधि हैं। आवरण शक्ति के प्राधान्यवाली मूल प्रकृत्ति वह अविद्या हैं। अविद्या जीव की उपाधि हैं।

संक्षेपशारीरककार के मतानुसार माया की दो [१४] उपाधियाँ हैं। (१) कारणोपाधि, कि जिससे जगत की रचना होती है और (२) कार्योपाधि, कि जिसमें माया के कार्य अंतःकरण आदि आ जाते हैं। ईश्वर कारणोपाधि से युक्त हैं और जीव कार्योपाधि से युक्त हैं। इस विषय की अधिक स्पष्टता और भिन्न-भिन्न मान्यताओंकी चर्चा प्रतिबिंबवाद आदि वादो की चर्चा में सोचेंगे। वेदांतपरिभाषा के विषयपरिच्छेद में भी इस विषय की भिन्न-भिन्न अभिप्रायो को लेकर विचारणा की गई हैं।

● **अज्ञान :-** अद्वैतवेदांती ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष, निष्क्रिय मानते हैं, इसलिए वह सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकता। इस प्रकार तो ब्रह्म जगत का निमित्तकारण या उपादानकारण नहीं बन सकेगा। फिर भी जगत दिखता है, महसूस होता है, इसलिए कम से कम उसकी व्यावहारिक सत्ता तो माननी ही पडे, ऐसा हैं। तो यह किस तरह से संभव होगा ? इसके विषय में अपना अभिप्राय बताते हुए अद्वैतवेदांती कहते हैं कि, ब्रह्म की ही शक्ति ऐसे अज्ञान से अथवा माया द्वारा जगत बनता हैं।

यह अज्ञान या माया ब्रह्म की ही शक्ति हैं। अज्ञान के नामान्तर और उसका स्वरुप बताते हुए श्रीशंकराचार्य सर्ववेदांतसिद्धांत-सार-संग्रह में बताते हैं कि-

अज्ञानं प्रकृतिः शक्तिरविद्येति निगद्यते। तदेतत्सन्न भवति नासद्वा शुक्तिरौप्यवत् ॥३०५॥

(१४) कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ (संक्षे.शा.)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

–वह अज्ञान ही प्रकृति, शक्ति अथवा अविद्या कहा जाता हैं। सीप में मालूम होते रजत (चांदी) की तरह वह सत् भी नहीं है अथवा असत् भी नहीं हैं।

सतो भिन्नमभिन्नं वा न दीपस्य प्रभा यथा। न सावयवमन्यद्वा बीजस्यांकुरवत्क्वचित् ॥३०६॥

जैसे दीपक की प्रभा (कांति) दीपक से भिन्न (अलग) अथवा अभिन्न नहीं हैं, वैसे यह अज्ञान ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं या अभिन्न भी नहीं हैं। बीज के अंकुर की भांति वह कहीं भी अवयववाला या अवयवरहित नहीं हैं।

अज्ञान के दो प्रकार बताते हुए आगे बताते हैं कि,

अत एतदनिर्वाच्यमित्येव कवयो विदुः। समष्टिव्यष्टिरूपेण द्विधाज्ञानं निगद्यते ॥३०७॥

इसलिए ही इस अज्ञान को विद्वान अनिर्वाच्य (अमुक स्वरुप में कहने के लिए असंभव) कहते हैं। वह अज्ञान समष्टिरुप से तथा व्यष्टिरुप से दो प्रकार का कहा जाता हैं।

● **समष्टि अज्ञान : माया** – समष्टि अज्ञान का स्वरुप बताते हुए आगे बताया हैं कि, –

नानात्वेन प्रतीतानामज्ञानानामभेदतः। एकत्वेन समष्टिः स्याद् भूरुहाणां वनं यथा ॥३०८॥

जैसे भिन्न भिन्न वृक्षो का अभेददृष्टि से एकत्व ग्रहण करने से (गिनने से) ''वन'' कहा जाता है, वैसे भिन्न भिन्न प्रतीत होते अज्ञानों का अभेद दृष्टि से एकत्व गिनने से ''**समष्टि अज्ञान**'' कहा जाता हैं।

इत्यं समष्टिरुत्कृष्टा सत्त्वांशोत्कर्षतः पुरा। मायेति कथ्यते तज्ज्ञैः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा ॥३०९॥

– यह समष्टि अज्ञान उत्कृष्ट है। उसमें प्रथम सत्त्वगुण के अंशो का उत्कर्ष होता हैं। और इसलिए उसका स्वरुप जाननेवाले उसको ''माया'' कहते हैं, ''**शुद्धसत्त्वगुण**'' यही उसका लक्षण हैं। पहले बताये अनुसार शुद्धसत्त्वगुण से युक्त मायारुप उपाधिवाले ईश्वर इस जगत के नियन्ता हैं। ईश्वर के शरीर को (१५)''कारणशरीर'' कहा जाता हैं, जो सत्त्वगुण से वृद्धिवंत समष्टि अज्ञान ही हैं।

व्यष्टि अज्ञान : अविद्या :- व्यष्टि अज्ञान यही अविद्या और उससे युक्त यही जीवात्मा और प्राज्ञ कहा जाता हैं। व्यष्टि अज्ञान का स्वरुप आदि समजाते हुए सर्ववेदांत सिद्धांत सारसंग्रह में कहा हैं कि,

अज्ञानं व्यष्ट्यभिप्रायादनेकत्वेन भिद्यते। अज्ञानवृत्तयो नाना तत्तद्गुणविलक्षणाः ॥३१६॥ व्यष्ट्यभिप्रायाद्भूरुहा इत्येनकता। यथा तथैवाज्ञानस्य व्यष्टितः स्यादनेकता ॥३१७॥ व्यष्टिर्मलिन-सत्त्वैषा रजसा तमसा युता। ततो निकृष्टा भवति योपाधिः प्रत्यागात्मनः ॥३१८॥ चैतन्यं व्यष्ट्यवच्छिन्नं प्रत्यगात्मेति गीयते। साभासं व्यष्ट्युपहितं सत्तादात्मेन तद्गुणैः ॥३१९॥ अभिभूतः स एवात्मा जीव इत्यभिधीयते। किंचिज्ज्ञत्वानीश्वरत्वसंसारित्वादिधर्मवान् ॥३२०॥ अस्य व्यष्टिरहंकारकारणत्वेन कारणम्। वपुस्तत्राभिमान्यात्मा प्राज्ञ इत्युच्यते बुधैः॥३२१॥

भावार्थ :- व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान अनेकरुप से भेद प्राप्त करता हैं,और तत् तत् गुण से विलक्षण अनेक प्रकार की अज्ञान की वृत्तियाँ वह व्यष्टि अज्ञान हैं। जैसे भिन्न-भिन्न वृक्ष, वन की व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक हैं। और उस तरह से उन में अनेकता गिनी जाती हैं, वैसे व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान में अनेकता मानी जाती हैं। यह व्यष्टि अज्ञान रजोगुण और तमोगुण से (ज्यादा) युक्त हैं, उसमें सत्त्वगुण के अंश मलिन तथा कम होते हैं, इसलिए वह निकृष्ट अर्थात् बहोत ही अधम हैं, और वह प्रत्यगात्मा को उपाधिरुप हैं।

(१५) सर्वज्ञत्वेश्वरत्वादिकारणत्वान्मनीषिणः। कारणं वपुरित्याहुः समष्टिं सत्त्वबृंहितम् ॥३१३॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस व्यष्टि अज्ञान से युक्त चैतन्य प्रत्यगात्मा कहा जाता हैं। वह ब्रह्म के आभासवाला और व्यष्टि अज्ञान से ढका हुआ होता हैं। तदुपरांत अज्ञान के गुणो के साथ तादात्म्य (एकता) पाकर पराभव प्राप्त करता हैं, इसलिए "**जीवात्मा**" कहा जाता हैं। अल्पज्ञता, अनीश्वरता और संसारित्व आदि धर्मोवाला हैं। व्यष्टि अज्ञान उसके अहंकार का कारण होने से वही उसका शरीर हैं। उसमें अभिमान वाले (अर्थात् शरीर में ही आत्मत्व के अभिमान वाले) उस आत्मा को विद्वान '**प्राज्ञ**' कहते हैं।

वेदांतसार ग्रंथ में अज्ञान को पांच विशेषण देकर समजाया गया हैं, वह इस अनुसार हैं -

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरुपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् "देवात्मशक्तिं स्वगुणैनिर्गूढाम्" इत्यादि श्रुतेश्च । (अ. २/३४॥) इयमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते ।

अज्ञान सत् और असत् से व्यक्त न किया जा सके ऐसा (अनिर्वचनीय) हैं, त्रिगुणात्मक हैं, ज्ञानविरोधी हैं, भावरुप हैं, और "कुछ" है, ऐसा कहा जाता हैं। क्योंकि, "मैं अज्ञानी हूं" इत्यादि अनुभव से अज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है और "**देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्**" इत्यादि श्रुति से भी उसकी सत्ता सिद्ध होती हैं। यह अज्ञान समष्टि के अभिप्राय से एक और व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक के रुप में व्यवहार किया जाता हैं।

पांच विशेषण द्वारा अज्ञान के स्वरुप की स्पष्टता की हैं। (१) **सदसद्भ्यामनिर्वचनीय** - अज्ञान "सत्" और "असत्" शब्दों से अनिर्वचनीय हैं अर्थात् वह "सत्" भी नहीं कहा जा सकता और असत् भी नहीं कह सकते। **जो त्रिकालाबाधित हो, उसको "सत्" कहा जाता हैं।** अज्ञान तो ज्ञान से नष्ट हो जाता है, इसलिए वह "सत्" नहीं हैं। **जिसकी कभी भी प्रतीति न हो, उसको "असत्" कहा जाता हैं।** जैसे कि, "शशशृंग" और "आकाशकुसुम" की कभी भी प्रतीति नहीं होती हैं, तो वह असत् हैं, वैसे अज्ञान के बारे में नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अज्ञान की तो प्रतीति होती ही हैं। अज्ञान के कारण ही जगत दिखता हैं। अर्थात् अज्ञान के कार्यरुप जगत दिखता हैं, इसलिए अज्ञान "असत्" नहीं हैं। (२) **त्रिगुणात्मक :-** अज्ञान सत्त्व, रजस्, तमस्, ये तीन गुण से युक्त हैं। इसलिए ही उससे सुख-दुःख-मोहात्मक विश्व की सृष्टि उत्पन्न हुई हैं। (३) **ज्ञानविरोधि :-** ज्ञान से जिसका नाश होता हैं, ऐसा अज्ञान हैं। (४) **भावरुप :-** अज्ञान ज्ञान के अभाव स्वरुप नहीं हैं अर्थात् अभावत्मक नहीं हैं। परन्तु वह स्वयं एक भावरुप सत्ता हैं। (५) **यत्किञ्चित् :-** अज्ञान "सत्" भी नहीं हैं, "असत्" भी नहीं हैं, उसका वर्णन हो सके ऐसा नहीं हैं। इसलिए, उसके लिए "कुछ" शब्द का उपयोग किया हैं।

वेदान्तीयों ने पारमार्थिक सत्ता की तरह व्यावहारिक और भ्रमात्मक प्रातिभासिक सत्ता का भी स्वीकार किया हैं। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता अज्ञानजन्य हैं। ज्ञान प्राप्त होने से वह नष्ट होती हैं। नष्ट होती होने से वह 'सत्' नहीं हैं और अनुभव में आती होने से "असत्" भी नहीं हैं। इसलिए उसको जन्म देनेवाले "अज्ञान" के लिए "कुछ" शब्द का उपयोग किया हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, "अज्ञान को ब्रह्म की शक्ति कही होने पर भी ब्रह्म का वह स्वभाव नहीं हैं। क्योंकि सत्-चित्-आनंद युक्त ब्रह्म से वह विलक्षण स्वभाववाला हैं। इसलिए ब्रह्म के साथ अज्ञान किस तरह से जुडता हैं, वह समजाना भी कठिन होने से उस संबंध को भी अनिर्वचनीय कहा जाता हैं। **अज्ञान (अविद्या) की दो शक्तियाँ हैं। उसके नाम और स्वरुप बताते हुए सर्ववेदांत-सिद्धांत-सारसंग्रह ग्रंथमें कहा हैं कि, आत्मोपाधेरविद्याया अस्ति शक्तिद्वयं महत्। विक्षेप आवृतिश्चेति याभ्यां संसार आत्मनः ॥४८८॥** अविद्या ही

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा को उपाधिरुप हैं। उस अविद्या की दो महान शक्तियाँ हैं। (१) विक्षेपशक्ति और (२) आवरण शक्ति। उन दोनों द्वारा आत्मा का संसार (चलता) हैं।(आवरण शक्ति का स्वरुप बताते हुए आगे बताते हैं कि-) **आवृतिस्तमसः शक्तिस्तद्ध्यावरणकारणम् । मूलाविद्येति सा प्रोक्ता यया संमोहितं जगत् ॥४८९॥** "आवरण" यह तमोगुण की शक्ति हैं। वह आवरण का कारण हैं। (अर्थात् वह आत्मा को ढक देने का कार्य करता हैं।) उसको ही मूल अविद्या कहा जाता हैं जिसके द्वारा जगत मोहित हुआ हैं, (कहने का आशय यह हैं कि, जैसे एक छोटा बादल योजनो में फैले हुए सूर्यमंडल को ढक देता हैं, वैसे सीमित अज्ञान असीमित (असीम) आत्मा को देख सके वैसी बुद्धि को ढक देता हैं।)

उसी ग्रंथ में आगे बताया हैं कि- **विवेकवानप्यतियौक्तिकोऽपि श्रुतात्मतत्त्वोऽपि च पंडितोऽपि । शक्त्या यथा संवृतबोधदृष्टिरात्मानमात्मस्थमिमं न वेद ॥४९०॥**

मनुष्य विवेकवाला हो, अत्यंत युक्तिकुशल हो, आत्मतत्त्व को सुन भी चुका हो ओर पंडित हो, तो भी आवरण शक्ति से उसकी ज्ञानदृष्टि ऐसी ढक जाती हैं कि, जिसके योग से अपने हृदय में रहे हुए आत्मा को भी वह जान नहीं सकता हैं।

विक्षेपशक्ति का स्वरुप बताते हुए कहा हैं कि -

विक्षेपनाम्नी रजसस्तु शक्तिः प्रवृत्तिहेतुः पुरुषस्य नित्यम् ।
स्थूलादिलिंगान्तमशेषमेतद्यया सदात्मन्यसदेव सूयते ॥४९१॥

– "विक्षेप" यह रजोगुण की शक्ति हैं, वही पुरुष को हंमेशां प्रवृत्ति करने में कारणरुप बनती हैं। यह विक्षेप शक्ति ही स्थूल शरीर से लेकर लिंग शरीर तक के केवल असत् ऐसे सर्व पदार्थो को सत् (सत्य) स्वरुप से आत्मा में उत्पन्न करती हैं अर्थात् विक्षेप शक्ति मूल वस्तु के स्थान पे नयी वस्तु बताती हैं।

अधिक स्पष्टता करते हुए आगे बताया गया है कि -

निद्रा यथा पुरुषमप्रमतं समावृणोतीयमपि प्रतीचम् । तयावृणोत्यावृतिशक्तिरंतर्विक्षेपशक्तिं परिजृंभयन्ती ॥४९२॥ शक्त्या महत्यावरणाभिधानया समावृते सत्यमलस्वरुपे । पुमाननात्मन्यहमेष एवेत्यात्मत्वबुद्धिं विदधाति मोहात् ॥४९३॥ यथा प्रसुप्तिप्रतिभासदेहे स्वात्मत्वधीरेष तथा ह्यनात्मनः । जन्माव्ययक्षुद्भयतृट्छ्रमादीनारोपयत्यात्मनि तस्य धर्मान् ॥४९४॥ विक्षेपशक्त्या परिचोद्यमानः करोति कर्माण्युभयात्मकानि । भुञ्जान एतत्फलमप्युपात्तं परिभ्रमत्येव भवांबुराशौ ॥४९५॥

भावार्थ :- जैसे प्रमादरहित पुरुष को निद्रा ढक देती हैं, वैसे यह शक्ति भी प्रत्यगात्मा को ढक देती हैं। वैसे ही "आवरण" शक्ति जब अंदर फैल जाती हैं, तब विक्षेपशक्ति को ढक देती हैं। "अवरण" नामकी वह महान शक्ति हैं, उसके कारण मनुष्य का निर्मल स्वरुप ढक जाता हैं। अर्थात् मोह के कारण वह अनात्म पदार्थो के उपर "यही मैं हूँ" ऐसी आत्मबुद्धि करता हैं। जैसे स्वप्न में दिखाई देते शरीर में "यह मैं हूँ" ऐसी अपने आत्मत्व की बुद्धि करता हैं, वैसे (जाग्रत अवस्था) में भी जन्म, मृत्यु, भूख, प्यास, भय, श्रम इत्यादि अनात्मा के धर्मो का आत्मा में आरोपित करती हैं। मनुष्य विक्षेपशक्ति से प्रेरणा प्राप्त करता हैं। तब शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्म करता हैं और उसके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मो के फलो को भुगता करता हैं, इस तरह से संसार समुद्र में भटका ही करता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यासदोषात्समुपागतोऽयं संसारबंधः प्रबलःप्रतीचः । यद्योगतः क्लिश्यति गर्भवास-जन्माव्ययक्लेशभयैरजस्त्रम् ॥४९६॥ अध्यासो नाम खल्वेष वस्तुनो योऽन्यथाग्रहः । स्वाभाविक भ्रान्तिमूलं संसृतेरादिकिारणम् ॥४९७॥ सर्वानर्थस्य तद्बीजं योऽन्यथाग्रहः आत्मनः । ततः संसारसंपात्तः संततक्लेशलक्षणः ॥४९८॥

भावार्थ :- इस अध्यास के दोष से ही प्रत्यगात्मा को इस संसाररुप प्रबल बंधन आया हैं। जिसके कारण गर्भवास, जन्म, मरण इत्यादि क्लेश के भय से वह निरंतर दुःख का अनुभव करता हैं। **जो वस्तु जिस स्वरुप में हो, उसको उससे विपरीत स्वरुप में ग्रहण करना उसे अध्यास कहा जाता हैं। यह अध्यास स्वाभाविक भ्रान्ति का मूल हैं और संसार का प्रथम कारण हैं।**

आत्मा रुप (सत्य) वस्तु को उससे भिन्न (असत्) स्वरुप में ग्रहण करना यह अध्यास तो सर्व अनर्थो का बीज हैं, उससे ही क्लेशो के परंपरा रुप लक्षणवाले इस संसार में गिरना होता हैं।

आगे ज्यादा स्पष्टता करते हुए बताया हैं कि -

अध्यासादेव संसारो नष्टेऽध्यासे न दृश्यते । तदेतदुभयं स्पष्टं पश्य त्वं बद्धमुक्तयोः ॥४९९॥ बद्धं प्रवृत्तितो विद्धि मुक्तं विद्धि निवृत्तितः । प्रवृत्तिरेव संसारो निवृत्तिर्मुक्तिरिष्यते ॥५००॥ आत्मनः सोऽयमध्यासो मिथ्याज्ञानपुरःसरः । असत्कल्पोऽपि संसारं तनुते रज्जुसर्पवत् ॥५०१॥ उपाधियोगसाम्येऽपि जीववत्परमात्मनः । उपादिभेदान्नो बंधस्तत्कार्यमपि किंचन ॥५०२॥ अस्योपाधिः शुद्धसत्त्वप्रधाना माया यत्र त्वस्य नास्त्यल्पभावः । सत्त्वस्यैवोत्कृष्टता तेन बंधो नो विक्षेपस्तत्कृतो लेशमात्रः ॥५०३॥ सर्वज्ञोऽप्रतिबद्धबोधविभवस्तेनैव देवः स्वयं मायां स्वामवलम्ब्यं निश्चलतया स्वच्छंदवृत्तिः प्रभुः । सृष्टिस्थित्यत्यदनप्रवेशयमनव्यापारमात्रेच्छया च या कुर्वन्क्रीडति तद्रजस्तम उभे संस्तेभ्य शक्त्या स्वया ॥५०४॥ तस्मादावृतिविक्षेपौ किंचित्कर्तुं न शक्नुतः । स्वयमेव स्वतंत्रोऽसौ तत्प्रवृत्तिनिरोधयोः ॥५०५॥ तमेव सा धीकर्मेति श्रुतिर्वक्तिः महेशितुः । निग्रहानुग्रहे शक्तिरावृतिक्षेपयोर्यतः ॥५०६॥ राजसस्तमसश्चैव प्राबल्यं सत्त्वहानतः । जीवोपाधौ तथा जीवे तत्कार्यं बलवत्तरम् ॥५०७॥ तेन बंधोऽस्य जीवस्य संसारोऽपि च तत्कृतः । संप्राप्तः सर्वदा यत्र दुःखं भूयः स ईक्षते ॥५०८॥ एतस्य संसृतेर्हेतुरध्यासोऽर्थविपर्ययः । अध्यासमूलमज्ञानमाहुरावृतिलक्षणम् ॥५०९॥ अज्ञानस्य निवृत्तिस्तु ज्ञानेनैव न कर्मणा । अविरोधितया कर्म नैवाज्ञानस्य बाधकम् ॥५१०॥ कर्मणा जायते जंतुः कर्मणैव प्रलीयते । कर्मणः कार्यमेवैषा जन्ममृत्युपरंपरा ॥५११॥

भावार्थ :- अध्यास से ही संसार दिखाई देता हैं, परन्तु अध्यास नाश होते ही वह संसार दीखता ही नहीं हैं। उन दोनों को संसार में बंधे हुए पुरुषो में और संसार से मुक्त हुए पुरुषो में तुम स्पष्ट देख सकते हो। पुरुष को प्रवृत्ति से बंधा हुआ जानना और निवृत्ति से मुक्त समजना। प्रवृत्ति यही संसार हैं और निवृत्ति यही मोक्ष हैं। आत्मा का यह अध्यास मिथ्याज्ञान को आगे करके ही हुआ हैं। वह असत् प्रायः हैं - ज्यादातर जूठा हैं। फिर भी रस्सी में दिखते हुए सर्प की तरह संसार का विस्तार करता हैं। जीव की तरह परमात्मा को उपाधि का संबंध समान होने पर भी उन दोनो की उपाधि में से परमात्मा की उपाधि में बहोत फरक हैं। इसलिए परमात्मा को बंधन नहीं हैं और उसका कोई कार्य भी नहीं हैं। शुद्धसत्त्वगुण जिसमें मुख्य हैं, ऐसी माया परमात्मा की उपाधि हैं, जिसमें परमात्मा को अल्पता होती नहीं हैं, सत्त्वगुण की ही उत्कृष्टता रहती हैं, इसलिए बंधन नहीं हैं और उस माया ने किया हुआ लेशमात्र भी विक्षेप नहीं हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह परमात्मा सर्वज्ञ है। और उनका ज्ञानवैभव कही भी रुका हुआ नहीं हैं। इसलिए जो यह प्रभु स्वयं (अपने स्वभाव से) निश्चल रहकर, अपनी माया का आश्रय करके स्वतंत्र वृत्ति से अपनी इच्छा से जगत की उत्पत्ति, पालन, संहार, हर किसी में प्रवेश और सर्व को वश में रखना इत्यादि प्रत्येक व्यापार करते है और अपनी शक्ति से रजोगुण-तमोगुण दोनों को (अपने में प्रवेश करते ही) रोक कर ही क्रीडा करते हैं। इसलिए ही वह तमोगुण और रजोगुण ये परमात्मा को आवरण या विक्षेप नहीं कर सकते हैं। (प्रत्युत) परमात्मा ही उसकी (उन दोनोंकी) प्रवृत्ति में और निवृत्ति में स्वतंत्र रहते हैं। अर्थात् अपनी इच्छा अनुसार ये दो गुणो को सर्वत्र जोडते हैं और रोकते भी हैं। **उसको ही श्रुति "धीकर्म" कहती हैं।** (अर्थात् रजोगुण और तमोगुण को अपनी इच्छानुसार जोडना और रोकना यह परमेश्वर का ज्ञानपूर्वक का कर्म हैं, ऐसा वेद कहता हैं।) क्योंकि, किसी का निग्रह करना या किसी के उपर अनुग्रह करना वह अथवा रजोगुण से किसी का आवरण करना वह और तमोगुण से विक्षेप करना वह परमेश्वर की शक्ति हैं।

प्रत्येक जीव में सत्त्वगुण की हानि (कम) होने से रजोगुण की और तमोगुण की प्रबलता होती हैं। जीव की उपाधि में और जीव में उस रजोगुण का और तमोगुण का कार्य अधिक बलवान होता हैं। उसके कारण ही इस जीव को बंधन है और यह संसार भी उन्हों ने ही किया हुआ प्राप्त होता हैं, जिसमें यह जीव सर्वकाल, बारबार दुःख को देखता हैं। इस संसार का कारण अध्यास हैं। (ब्रह्मरुप) वस्तु में विपरीतता देखना यह अध्यास का स्वरुप हैं और आवरणरुप लक्षणवाला अज्ञान को अध्यास का मूल कहा जाता हैं। ज्ञान से ही अज्ञान दूर होता हैं, कर्म से अज्ञान दूर नहीं होता हैं। क्योंकि कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं होने से अज्ञान को दूर नहीं कर सकता।

प्रस्तुत चर्चा का सारांश यह हैं कि.... ब्रह्म की ही शक्ति ऐसे अज्ञान से अथवा माया द्वारा जगत बनता हैं।... प्रकृति, शक्ति अथवा अविद्या ये अज्ञान के ही नाम हैं।... **अज्ञान अनिर्वचनीय हैं।**... अज्ञान ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं या अभिन्न भी नहीं हैं।... समष्टि और व्यष्टि, ऐसे अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं।... **समष्टि अज्ञान के कारण एकत्व भासित होता है और व्यष्टि अज्ञान के योग से अनेकता भासित होती हैं।**... समष्टि अज्ञान शुद्धसत्त्वगुणप्रधान होने से उत्कृष्ट हैं।... व्यष्टि अज्ञान में रजो-तमोगुण की प्रधानता होने से निकृष्ट हैं।... **व्यष्टि अज्ञान से युक्त चैतन्य प्रत्यगात्मा कहा जाता हैं।**... अज्ञान अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी और भावरुप हैं।... अविद्या आत्मा की उपाधिरुप हैं। उस अविद्या की दो शक्तियाँ हैं- (१) विक्षेपशक्ति, (२) आवरण शक्ति। आवरण तमोगुण की शक्ति हैं, वह आवरण का कारण हैं।... विक्षेप रजोगुण की शक्ति हैं वह पुरुष की प्रवृत्ति में कारण बनती हैं।... **अविद्या अध्यास के कारण ही प्रत्यगात्मा को संसाररुप बन्धन लागु होता हैं।... जो वस्तु जिस स्वरुप में हो, उसको उससे विपरीत स्वरुप में ग्रहण करना वह अध्यास कहा जाता हैं।**... अध्यास स्वाभाविक भ्रान्ति का मूल है और संसार का प्रथम कारण हैं। **अध्यास सर्व अनर्थो का मूल हैं।**... परमात्मा की उपाधि शुद्धसत्त्वगुणप्रधानतावाली होती हैं। इसलिए उनका ज्ञानवैभव ढकता नहीं हैं और प्रभु अपने स्वरुप में निश्चल रह सकते हैं।

अविद्या के तीन लक्षण :

"अद्वैत" की सिद्धि करनेवाले ग्रंथो में अविद्या के तीन लक्षण देखने को मिलते हैं।

प्रथम लक्षण :- अनादिभावरुपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम् अविद्यात्वम्। (अद्वैतसिद्धि)

अविद्या अनादि वस्तु है, भावरुप वस्तु है और ज्ञान से निवर्त्य -दूर हो सके- नाश हो सके वैसी हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतवेदान्ती अविद्या को अनादि वस्तु के रुप में स्वीकार करते हैं। अविद्या का कोई उपादान कारण नहीं हैं। समस्त कार्य का परिणामी उपादान कारण स्वयं अविद्या हैं। जो ब्रह्म को कार्यजगत का उपादान कारण मानते हैं, वे उसको परिणामी उपादान कारण मानते नहीं हैं। यद्यपि, ब्रह्म को जब उपादान कारण कहा जाता हैं, तब अधिष्ठानकारण के अर्थ में ही उपादानकारण कहा जाता हैं। ब्रह्म जगत का अधिष्ठान है। जगत का परिणामी उपादान कारण तो अविद्या हैं। समस्त कार्यजगत का जो उपादानकारण हो वह कभी सादि नहीं हो सकता। जो सृष्टि के आद्य कार्य का उपादान कारण हो वह सृष्टि के पहले भी अस्तित्व रखता होगा ही। इसलिए सृष्टि में उसकी उत्पत्ति नहीं हुई हैं। सृष्टि में जिस वस्तु की उत्पत्ति हुई न हो वह अनादि है। शशविषाण, वंध्यापुत्र इत्यादि अवस्तुयें हैं। इसलिए वे सृष्टि में उत्पन्न हुई न होने पर भी अनादि नहीं मानी जायेगी। वैशेषिक मत में परमाणु अनादि हैं। सांख्य मतानुसार प्रकृति अनादि हैं। उसी तरह से अद्वैतवेदान्त के मतानुसार जगत का मूल उपादान कारण अविद्या भी अनादि हैं।

अविद्या जैसे अनादि वस्तु है, वैसे भाववस्तु भी है। जो अनादि हैं, भाववस्तु है और ज्ञाननिवर्त्य है वही अविद्या हैं। अर्थात् "**अनादिभावरुपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम् अविद्यात्वम्।**" इस लक्षण में भावत्व विशेषण रखा न जाये तो भी चलेगा। जो लोग प्रागभाव स्वीकार करते है उनके मत में ज्ञानप्रागभाव और इच्छादिप्रागभाव में "ज्ञाननिवर्त्यत्व" धर्म रहता होने से उन प्रागभावो को भी अविद्या का लक्षण लागू पड जायेगा और अतिव्याप्ति का दोष आयेगा। इस दोष को टालने के लिए ही "भावत्व" विशेषण अविद्या के लक्षण में रखा गया हैं।

परंतु जो लोग प्रागभाव का स्वीकार नहीं करते, उनके मतानुसार "भावत्व" विशेषण लक्षण में रखने की आवश्यकता नहीं हैं। इसलिए ही श्रीनृसिंहाश्रम उनके अद्वैतदीपिका ग्रंथ में अविद्या के लक्षण के रुप में "अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्" इतना ही दिया हैं। उन्होंने अद्वैत दीपिका में और विवरण के उपर की भावप्रकाशिका में प्रागभाव का विस्तार से खंडन किया हैं। अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने अपनी कृति अद्वैतरत्नरक्षण में भी प्रागभाव का खंडन किया हैं। फिर भी अविद्या के लक्षण में "भावत्व" विशेषण रखा गया है, वह तो जो लोग प्रागभाव का स्वीकार करते हैं, उनको लक्ष में रखकर रखा गया हैं, ऐसा समजना चाहिए।

वैशेषिक भाव और अभाव ऐसे दो प्रकार के पदार्थ मानते हैं। **अद्वैतवादीयों के मतानुसार अविद्या अभाव वस्तु नहीं हैं।** इसलिए उसको "भाव" कहा जाता हैं। वास्तव में तो वह भाववस्तु भी नहीं हैं, वह तो भाव और अभाव दोनों से विलक्षण हैं। भावरुप या अभावरुप से अविद्या का निरुपण करना संभव न होने से अविद्या भावरुप से या अभावरुप से अनिर्वाच्य हैं। अविद्या भाव भी नहीं हैं अभाव भी नहीं हैं। भावाभाव भी नहीं हैं। अविद्या यह तीनों कोटी से विलक्षण होने के कारण अनिर्वाच्य हैं। **सारांश में, अविद्या को "भावरुप" बताने में अद्वैतवादीयों का आशय इतना ही हैं कि वह** (१६) **अभावरुप नहीं हैं। वस्तुतः अविद्या में "भावत्व" धर्म भी नहीं हैं। इस प्रकार अविद्या अनादि और अभावविलक्षण हैं।**

तदुपरांत अविद्या प्रमाज्ञाननिवर्त्य हैं। अद्वैतवादी के मतानुसार प्रमाण से (-प्रमाकरण से) उत्पन्न होती विषयाकारवाली अंतःकरणवृत्ति द्वारा अभिव्यक्त होते चैतन्य को ही ज्ञान (प्रमाज्ञान) कहा जाता हैं। इच्छा, द्वेष

(१६) भावत्वं चात्राभावविलक्षत्वमात्रं विवक्षितम्, अत आरोपिताभावोपादानाज्ञानेऽप्यभावविलक्षणत्वस्वीकारान्नाव्याप्तिः। (अद्वैतसिद्धिः, पृ-५४४)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि अन्तःकरणवृत्ति होने पर भी वह प्रमाकरण से जन्य अन्तःकरण वृत्ति नहीं हैं। प्रमाकरण से जन्य अन्तःकरणवृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य (ज्ञान) ही अविद्या का विरोधी हैं।

यद्यपि, **''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''** इस श्रुति अनुसार ब्रह्म चैतन्य ज्ञानवस्तु हैं। अर्थात् ब्रह्मचैतन्य को ज्ञान कहा गया है, तो भी प्रमाकरण से जन्य अन्तःकरणवृत्ति द्वारा अनभिव्यक्त ऐसा चैतन्य अविद्या का विरोधी नहीं हैं। प्रमाकरण से जन्य अन्तःकरणवृत्ति स्वयं ज्ञान नहीं हैं। परन्तु अभिव्यक्त चैतन्य की अभिव्यंजक होने से, प्रमाकरण से जन्य अन्तःकरण वृत्ति को भी औपचारिक रुप से ज्ञान कहा जाता हैं। फिर भी मुख्यार्थ में वह ज्ञान नहीं हैं। मुख्यार्थ में तो प्रमाकरणजन्य अन्तःकरणवृत्ति द्वारा अभिव्यक्त चैतन्य ही ज्ञान हैं और अविद्या उससे दूर होती हैं।

इसलिए अनादि, भावरुप और ज्ञाननिवर्त्य वस्तु ही अविद्या हैं। **''अनादिभावरुपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्''** यह लक्षण न्यायामृत और अद्वैतसिद्धि में अविद्या के लक्षणरुप में दीया हैं।

द्वितीय लक्षण :(१७)भ्रम का उपादानकारण जो है वह **अविद्या** हैं। यह अविद्या का दूसरा लक्षण हैं। भ्रम का उपादानत्व ही अविद्यात्व हैं। अविद्या ही भ्रम का उपादानत्व हो सकती हैं। यह विश्वभ्रम का उपादान माया या अविद्या है। ब्रह्म विश्वभ्रम का अधिष्ठान हैं, उपादान नहीं हैं। यदि ब्रह्म विश्वभ्रम का उपादान हो तो यह द्वितीय लक्षण ब्रह्म में अतिव्याप्त होने का दोष आता हैं। इसलिए जो लोग अविद्या का द्वितीय लक्षण स्वीकार करते हैं, उनके मतानुसार ब्रह्म विश्वभ्रम का अधिष्ठान ही हैं, उपादान नहीं हैं।

जो लोग अविद्यासहित ब्रह्म को विश्वभ्रम का उपादान स्वीकार करते हैं, उनके मतानुसार यह लक्षण संगत नहीं होता हैं। क्योंकि उनके मतानुसार ब्रह्म और अविद्या दोनों में विश्वभ्रम का उपादानत्व होने से ब्रह्म में अविद्यालक्षण की अतिव्याप्ति का दोष आता हैं। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचारणा करे तो मालूम होगा कि, जो ब्रह्म को भी भ्रम का उपादान स्वीकार करते हैं उनके मत में भी अविद्या के (माया के) उपादानत्व से ब्रह्म के उपादानत्व में वैलक्षण्य हैं। अविद्या परिणामी वस्तु हैं और ब्रह्म अपरिणामी वस्तु हैं। परिणामत्व रुप में उपादानत्व अविद्या में ही संभवित हैं, ब्रह्म में संभवित नहीं हैं।

तदुपरांत, अविद्या अचेतन अर्थात् जड हैं। ब्रह्म अजड अर्थात् चेतन हैं। अचेतनत्व रुप में उपादानत्व अविद्या में ही संभवित हैं, ब्रह्म में संभवित नहीं हैं। इसलिए परिणामित्व रुप में या अचेतनत्व रुप में उपादानत्व अविद्यालक्षण हैं। ऐसा कहने से ब्रह्म में लक्षण की अतिव्याप्ति दोष नहीं आयेगा। भ्रम का परिणामत्व रुप में उपादानत्व या भ्रम का अचेतनत्व रुप में उपादानत्व ही अविद्यात्व हैं। जो उपादानता का अवच्छेदक धर्म परिणामित्व या अचेतनत्व हैं, वह उपादानता अविद्या का लक्षण हैं।

तृतीय लक्षण :- ज्ञानत्वरुप में साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्व ही अविद्या का (१८) **तृतीय लक्षण** हैं। अर्थात् ज्ञानत्वरुप में ज्ञान जिनका साक्षात् निवर्तक हैं वह अविद्या।- **यह लक्षण नव्य अद्वैत वेदान्तीयों को मान्य हैं।** यह तृतीय लक्षण का विवरण प्रथम लक्षण के विवरण प्रसंग में ही पहले विशदरुप में किया गया हैं।

(१७) यद्वा भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम्। इदं च लक्षणं विश्वभ्रमोपादानमायाधिष्ठानं ब्रह्मेति पक्षे, न तु ब्रह्ममात्रोपादानत्वपक्षे, ब्रह्मसहिताविद्योपादनत्वपक्षे वा। अतो ब्रह्मणि नातिव्याप्तिः, इतरत्र तु पक्षे परिणामित्वेनाचेतनत्वेन वा भ्रमोपादनं विशेषणीयमिति न दोषः। (अद्वैतसिद्धि, पृ-५४५) (१८) ज्ञानत्वेन रुपेण साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा तल्लक्षणमिति च प्रागुक्तमेव, तस्मान्नाविद्यालक्षणासम्भव इति सर्वमवदातम्। (अद्वैतसिद्धि पृ. ५४६)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले हमने देखा था कि अज्ञान (अविद्या) भावरुप हैं। **यह भावरुप अज्ञान के साधक तीन साक्षिप्रत्यक्ष अद्वैतसिद्धि में दीये गये हैं।** (१) ''**अहमज्ञः** मैं अज्ञ हूँ'', **मामन्यं च न जानामि** (मैं, मुज को या अन्य को जानता नहीं हूँ।) ऐसा सामान्यतः **साक्षिप्रत्यक्ष**। (२) **त्वदुक्तमर्थं न जानामि** (आपने कहे हुए अर्थ को मैं जानता नहीं हूँ।) ऐसा विशेषतः **साक्षिप्रत्यक्ष**। (३) ''**एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्** (उतने समय मैं चैन से सो रहा था, कुछ भी नहीं जानता था)'' ऐसा सुप्तोत्थित पुरुष का स्मृतिसिद्ध सौषुप्त **साक्षिप्रत्यक्ष**।

''मैं अज्ञ हूँ अर्थात् अज्ञानवान् हूँ अर्थात् अज्ञान का आश्रय हूँ'' ऐसा साक्षिप्रत्यक्ष भावरुप अज्ञान का साधक हैं, ऐसा अद्वैतसिद्धिकार ने कहा हैं। ये तीनो साक्षिप्रत्यक्षो का विस्तृत विवेचन अद्वैतसिद्धि इत्यादि अद्वैतवेदांतमत के ग्रंथो में दिखाई देता हैं। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ से समज लेने का सुझाव हैं।

अविद्या के दो प्रकार :- वेदांतीयों ने शुक्ति में रजत का भ्रमात्मक जो ज्ञान होता हैं, उसका प्रातिभासिक सत्ता के रुप में स्वीकार किया हैं। प्रातिभासित रजत की उत्पत्ति में कारण की विचारणा करने से कारण के रुप में अविद्या बताई गई हैं। वह अविद्या आकाशादि भूतों की उपादानभूत अविद्या से विलक्षण हैं। अर्थात् अविद्या के दो भेद बताये हैं। उसके शास्त्रीय नाम हैं - (१) तुलाविद्या और (२) मूलाविद्या।

प्रातिभासिक रजत (शुक्ति में रजत का आभास होता हैं, वह रजत वास्तविक-पारमार्थिक नहीं हैं, परंतु प्रातिभासिक हैं .... हैं शुक्ति परंतु रजत का प्रतिभास होता हैं, वह प्रातिभासिक रजत) को उत्पन्न करनेवाली रजत-सामग्री, लौकिक रजत की सामग्री से विलक्षण होती हैं और वह है अविद्या। परन्तु प्रातिभासिक रजत को उत्पन्न करनेवाली अविद्या आकाशादि की उपादानभूत अविद्या से विलक्षण हैं।

आकाशादि की उपादानभूत अविद्या को **मूलाविद्या** कहा जाता हैं। जो केवल चिन्मात्र के (चैतन्यमात्र के) आश्रय में रहती हैं। चैतन्यमात्र ही उसका विषय रहता हैं और **वह निर्विकल्पक ज्ञान से निवृत्त हो जाती हैं।**

प्रातिभासिक रजत को उत्पन्न करनेवाली (रजत सामग्री रुप) अविद्या को **तुला अविद्या** कहा जाता हैं। यह तुला अविद्या शुक्ति-अवच्छिन्न चैतन्य के आश्रय में रहती हैं। रजत से भिन्न जो शुक्ति, तन्निष्ठ जो शुक्तित्व, वही उसका विषय रहता हैं और **यह तुला अविद्या सविकल्पक ज्ञान से निवृत्त होती हैं।**

इस तरह से तुला अविद्या और मूला अविद्या में भेद हैं। **प्रातिभासिक रजत की उत्पादिका तुला अविद्या की प्रक्रिया बताते हुए वेदांतपरिभाषा के प्रत्यक्षपरिच्छेद में परिणाम-विवर्त के लक्षण की चर्चा के समय कहा हैं कि -**

(एक नेत्र का रोग विशेष ''काच'' कि जिससे दृष्टि मंद होती है और पीलिया या उसके जैसे अन्य दोष के कारण नेत्र दूषित होता हैं।) मंददृष्टिवाला या दूषित नेत्रवाला व्यक्ति जब सामने शीप (शुक्ति) जैसी कोई चीज चमकती देखता हैं, तब उससे उस व्यक्ति के मन में 'यह' इस आकार की अंतःकरणवृत्ति पैदा होती हैं। सीप के चमकने के कारण, ''यह'' इस अंतःकरण-वृत्ति में वह चमकना भी प्रतीत होता हैं। इस प्रकार से देखने वाले व्यक्ति की दोषयुक्त चक्षुरिन्द्रिय की सामने रहे हुए द्रव्य के साथ संयोग होकर ''इदम्'' विषय से अवच्छिन्न चैतन्य प्रतिबिंबित होता हैं। वह प्रतिबिंबित होने से वह वृत्ति बाहर नीकलती हैं, तब प्रमेयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य, प्रमातृचैतन्य का अभेद हो जाता हैं। उसके बाद प्रमातृचैतन्याभिन्न जो विषय (प्रमेय) चैतन्य, तन्निष्ठ जो शुक्तित्वप्रकारक अविद्या, वह रजतरुप विषयाकार में और रजतज्ञानाकार में परिणत होती हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ शंका हो सकती हैं कि, आपके कहे अनुसार तुलाविद्या भ्रान्त विषय के आकार से और भ्रान्तविषयज्ञान के आकार से परिणत होती हैं, तो फिर वह हंमेशा क्यों उस तरह से परिणत नहीं होती हैं ?

उसका समाधान यह हैं कि, निमित्तकारण के अभाव के कारण सदैव उस आकार से परिणत नहीं होती हैं। पूर्वदृष्ट रजत से उत्पन्न हुए रजतसंस्कार, यद्यपि सर्वदा विद्यमान रहता हैं तो भी उस संस्कारो की जाग्रती होना, वह अविद्या के पूर्वोक्त परिणाम में निमित्त हैं और उस संस्कारो की जाग्रती चाकचिक्यादि सादृश्य दर्शन से उत्पन्न होती हैं। सामने रहे हुए पदार्थ के सादृश्यज्ञान से रजत संस्कार जाग्रत हो जाते हैं और जाग्रत हुए रजत-संस्कार ही तुलाविद्या के परिणाम में निमित्त बनते हैं। सारांश में, उस अविद्या को जब जाग्रत संस्कार रुप सामग्री की सहायता मिलती हैं, तब वह पूर्वोक्त आकार से परिणत होती हैं और जब सामग्री की सहायता मिलती नहीं हैं, तब वह परिणत नहीं होती हैं। इस प्रकार से नेत्रगत काचादि दोषो से युक्त तुलाविद्या, प्रातिभासित रजताकार से और रजताकार ज्ञान से (वृत्ति से) परिणत होती हैं।

अध्यासकी आवश्यकता :-

श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के शारीरिक भाष्य के प्रारंभ में अध्यास का निरुपण विस्तार से किया हैं। वेदांतसार में भी द्वितीय अध्याय में उसका प्रतिपादन हुआ हैं। **श्री शंकराचार्यजी का अभिप्राय हैं कि**- अज्ञान के स्वरुप को अच्छी तरह से जानना, क्योंकि अज्ञान को समजे बिना ज्ञान को समजना कठिन हैं। संदेह के कारण मिथ्याज्ञान की निवृत्ति भी असंभवित हो जाती हैं। सत्य ही असत्य से मुक्त करा सकता हैं। इसलिए, जैसे सत्य का स्वरुप समजना जरुरी है, वैसे असत्य का स्वरुप समजना भी आवश्यक हैं। ब्रह्मज्ञान के प्रवर्तक शास्त्र का उद्देश्य अज्ञान से मुक्ति दिलाकर ज्ञान से साक्षात्कार कराना यह है। शास्त्रो की प्रवृत्ति तो अज्ञानीयों के लिए ही हैं। इसलिए सर्वप्रथम अज्ञान के स्वरुप को समजना परम आवश्यक हैं।

श्री शंकराचार्य ने अपने अध्यास-भाष्य में इस जगत को सत्य तथा अनृत के मिथुनीभाव से उत्पन्न माना हैं, जो वैदिक सृष्टि प्रक्रिया का एक विशिष्ट सिद्धान्त हैं। जिसके अन्तर्गत [१९]प्रजापति अपने शरीर के आधे भाग अमृत से और आधे मर्त्य से जगत की सृष्टि करते हैं। सृष्टि की यह प्रक्रिया को मैथुनसृष्टि कहा जाता हैं। उसके पूर्व मानसिक सृष्टि थी, जिससे केवल अमृतमय वषट्कार मंडल अथवा आदित्यमंडल की सृष्टि होती हैं। प्रजापति तैंतिस देवताओं के समूहस्वामी को कहते हैं, उससे समस्त आधिदैविक सृष्टि होती है और अधिदैव से अभिभूत की सृष्टि होती हैं, जहाँ अधिदेव की सृष्टि की सीमा सूर्य हैं, वहाँ अभिभूत की अन्तिम सीमा पृथ्वी से चंद्रमंडल तक हैं। इस पृथ्वी के उपर अध्यात्म रुप से पशु, पक्षी, कृमि, कीट, मनुष्य, लता, वृक्ष, गुल्म, राक्षस, असुर, पिशाच, गन्धर्व आदि चौदह प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं।

अध्यास का स्वरुप :- श्रीशंकराचार्य ने अपने अध्यास भाष्य में अध्यास की दो परिभाषायें दी हैं। सर्वप्रथम अध्यास के कार्यो का निरुपण करके स्वरुप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि- **"स्मृतिरुपपरत्रपूर्वदृष्टावभास :"** यह अध्यास स्मृतिरुप हैं। परत्र स्थल में पूर्वदृष्ट पदार्थो के अर्थात् अन्य स्थल में तथा अन्य वस्तु में, अन्य वस्तु का भास होना उसको अध्यास कहा जाता हैं।

अध्यास का दूसरा लक्षण हैं - "अतस्मिन् तद्बुद्धिः" किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु का आरोप करना उसे अध्यास कहा जाता हैं। जैसे रज्जु में (रस्सेमें) उससे भिन्न वस्तु सर्प और शुक्ति में (सीप में) उससे पृथक् वस्तु

(१९) प्रजापतेरर्धमर्त्यमासीदर्धममृतमयः शतपथब्राह्मण (शां, भा. २०.१, २२.२)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजत अवभासित होता हैं, वैसे ब्रह्मरुप अधिष्ठान में जगत् भासित होता हैं। जैसे एक ही चन्द्र या सूर्य भिन्न-भिन्न नदी, तालाब आदि में उसके पानी के भेद से अनेक सूर्य तथा अनेक चन्द्र के प्रतिबिंब भासित होते रहते हैं। उसी प्रकार से यह नानात्मक जगत् एक ही ब्रह्म में नानात्मक रुप में अवभासित होता रहता हैं (वेदांतसार में भी **"वस्तुन्यवस्त्वारोपः अध्यासः"** इन शब्दो के द्वारा पूर्वोक्त स्वरुप को ही समर्थन दीया हैं।)

इस अध्यास को विद्वान [२०] अविद्या भी कहते हैं। यही अविद्या विवेक का नाश करके ब्रह्मरुप वस्तु के स्वरुप में अज्ञानरुप विघ्न खडा कर देती हैं। यह अध्यास [२१] अनादि, अनंत, नैसर्गिक और मिथ्याप्रत्ययरुप हैं। इसी अध्यास के कारण अहंकार का जन्म होता हैं और जीव स्वयं अपने को कर्ता-भोक्ता समजने लगता हैं तथा समस्त जगत का प्रत्यक्षीकरण करता मर्त्य में (मृत्युलोक में) अनुरुक्त रहता हैं। अध्यास ही जगत के बाह्यधर्मो को आत्मा में अध्यस्त कर देता है, जिसके फल स्वरुप पुत्र-भार्यादि सुखी रहने से सुखी और दुःखी रहने से अपने को दुःखी के रुप में अनुभव करने लगता हैं। उसी तरह से देहधर्मो और इन्द्रियधर्मो को आत्मा में आरोपित कर देता हैं। वहाँ आगे बताया हैं कि, इस अध्यास जन्य अनर्थो से बचने के लिए अद्वैतबोध ही आवश्यक हैं और अद्वैतबोध ही उस अनर्थो से मुक्त करा सके, वैसा हैं।

माया और अविद्या :- माया और अविद्या एक ही है या भिन्न-भिन्न है, इस विषय में अलग-अलग मत प्रवर्तित हैं। श्री शंकराचार्य के भाष्यो में माया और अविद्या में कोइ भेद लक्षित नहीं होता हैं। परंतु उत्तरवर्ती वेदांतीयों ने माया को ब्रह्म की भावात्मिका शक्ति और अविद्या को अभावात्मिका शक्ति मानी हैं।

एक व्याख्या अनुसार माया, समस्त जागतिक प्रपंच, अज्ञान की विधायिका हैं और अविद्या जीवगत अज्ञान की संचालिका हैं। माया और अविद्या में दूसरा अंतर यह भी माना गया हैं कि, **माया ईश्वर की [२२] उपाधि हैं और अविद्या जीव की उपाधि हैं।** तीसरा फर्क यह हैं कि, **माया में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती हैं परंतु अविद्या में तमोगुण प्रधान रहता हैं।** श्री शंकराचार्यजी के मतानुसार माया और अविद्या दोनों को एक ही मानी हैं और उनकी "आवरण" और "विक्षेप" ऐसी दो शक्तिर्यां बताई हैं। **आचार्य सदानंद ने अज्ञान के दो भेद माने हैं :** एक समष्टिगत और दूसरा व्यष्टिगत। समष्टिगत अज्ञान में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता रहती हैं। व्यष्टि अज्ञान में मलिन सत्त्व की प्रधानता रहती हैं। [२३] **समष्टिगत अज्ञान को ईश्वर की उपाधि तथा माया कही गई हैं। और व्यष्टि अज्ञान को जीव की उपाधि तथा अविद्या कही गई हैं।** अज्ञान के भावरुप में सत्त्व, रजस् और तमस् तीनो गुणो को प्राप्त किया जा सकता हैं और वह अनिर्वचनीय हैं। अज्ञान में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनो प्राप्त कर सकते हैं। जब अज्ञान रजस् और तमस् से अप्रभावित रहता हैं, तब ज्ञानशक्ति को उत्पन्न करता हैं तथा सत्त्व से अप्रभावित असंस्पृष्ट रहता हैं, तब रजस् और तमस् गुणो के माध्यम से क्रियाशक्ति को उत्पन्न करता हैं। **ज्ञानशक्ति ही अज्ञान की आवरणशक्ति कही जाती हैं और क्रियाशक्ति विक्षेपशक्ति कही जाती हैं।** माया आवरणशक्ति प्रधान होती हैं और अविद्या विक्षेपशक्तिप्रधान होती हैं। **एक ही अज्ञान, आवरणशक्ति की प्रधानता के कारण माया और विक्षेपशक्ति की प्रधानता के कारण अविद्या कही जाती हैं।**

पंचपादिकाकार आचार्य श्रीपद्मपाद ने माया और अविद्या में भेद नहीं किया हैं। उनका मत है कि,

(२०) तमेतदेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यते। (ब्र. सू. शां. भा) (२१) एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरुपः कर्तृत्वभोकृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः (ब्र. सू. शां. भा.) (२२) कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः नानादिक्षित.(भा.वेदान्त.सि.मु.पृ.४) (२३) इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते (वेदान्तसार-६)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अज्ञान का श्रुति, स्मृति तथा पुराणों में अविद्या, माया, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, भय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर तथा आकाश आदि नाम-रुपो से बहोत प्रकार से गान किया गया हैं। वे सभी ही (२४)अज्ञान के विभिन्न नाम हैं। उनका विचार (२५)श्रीशंकराचार्य को मिलता आता हैं।

परन्तु श्रीप्रकाशात्मा ने पंचपादिका (२६)विवरण में माया और अविद्या में भेद बताया हैं। और वहाँ लिखा है कि, माया अपनी विक्षेपशक्ति की प्रधानता से दृश्यप्रपंच को उत्पन्न करती हैं और अविद्या अपनी आवरणशक्ति के कारण ब्रह्मतत्त्व के स्वरुप को आच्छादित कर देती हैं। पहले बताये अनुसार श्रीसदानंद ने भी (२७) वेदांतसार में माया और अविद्या दोनों में भेद तथा दोनो में आवरण और विक्षेपशक्ति की चर्चा की हैं। इस अनुसार से उत्तरवर्ती आचार्यो ने माया और अविद्या में भेद मानकर अद्वैतमत की व्यवस्था की हैं। (२८)**श्रीसुरेश्वराचार्य ने भी माया और अविद्या में भेद नहीं किये हैं।** उन्होंने दोनो को पर्याय मानकर माया और अविद्या के सहयोग से ब्रह्म, जगत् की (२९)सृष्टि करते हैं, ऐसा माना हैं। **आचार्य श्रीमंडनमिश्र ने माया और अविद्या में अभेद संबंध प्रदर्शित किया हैं।** उनके मत में अविद्या को ही माया अथवा मिथ्याप्रतीति कही गई हैं। क्योंकि, वह न तो माया का स्वभाव है और न तो उससे भिन्न है, सत् भी नही हैं और असत् भी नहीं हैं। **आचार्य श्रीवाचस्पति मिश्र भी माया और अविद्या में भेद प्रदर्शित न करते हुए, अनुमानाधिकरण में उसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, ब्रह्म की अविद्या या मायादि शब्दो से अभिहित शक्ति को तत्स्वरुप ब्रह्म से पृथक्(३०) निर्वचन नहीं किया जा सकता।** उस स्थान पे अविद्या को ईश्वर के (३१)अधीन भी कही जाती हैं। ब्रह्म अविद्याशक्ति द्वारा सृष्टि की रचना करता हैं, परन्तु स्वयं सृष्टिरुप नहीं बन जाता हैं। इस तरह से श्रीवाचस्पति के मत में भी अविद्या और माया के बीच भेद नहीं हैं।

श्रीशंकरोत्तर वेदांत में जीव और ईश्वर के भेद का प्रतिपादन करने के लिए माया और अविद्या में भी भेद करना उत्तरवर्ती आचार्यो को आवश्यक लगा, जिसके परिणामस्वरुप अविद्या जीवगत अज्ञान कहा गया और जागतिक अज्ञान के लिए माया शब्द का प्रयोग किया गया। श्रीविद्यारण्यस्वामी ने जीव और ईश्वर दोनो को विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म का (३२)प्रतिबिंब स्वीकार किया हैं। परन्तु यहाँ जीव और ईश्वर में जो भेद हैं, उसका निराकरण हुआ नहीं हैं, फलतः उनको उपाधिभेद मानना पडा। क्योंकि, ईश्वर सर्वज्ञ हैं और जीव अल्पज्ञ हैं। इस भेद का निरुपण करने के लिए कालांतर में प्रतिबिंब वादियों ने बिंब को ईश्वर और प्रतिबिंब को जीव माना हैं, स्वयं श्रीविद्यारण्य ने माया में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता और अविद्या में रजस् और तमस् की प्रधानता मानी हैं। इस प्रकार जीव और ईश्वर की भेदविषयक व्याख्या ने माया और अविद्या में भेद उत्पन्न किया हैं।

---

(२४) येयं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु नामरुपमव्याकृतमविद्यामायाप्रकृतिः अग्राहणमव्यक्तं तमःकरणं लयः शक्तिः महासुप्तिः निद्राक्षरमाकाश इति च तत्र तत्र बहुधा गीयते। (पं. पा. पृ-९८) (२५) अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्ती यस्यां स्वरुपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवो (ब्र. सू. शां. भा. १.४.३) (२६) एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेप-प्राधान्येन माया, आच्छादनप्राधान्येन अविद्या इति व्यवहारभेदः ॥ पं.पा. वि-९८ ॥ (२७) अस्याः ज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् ॥वेदांतसार-९॥ (२८) स्वतस्त्वविद्याभेदोऽपि मनागपि न विद्यते। -बृ.३.भा.वा.४.३.१२४४ (२९) स्वात्माविद्या - बृ.३.भा.वा. ३.९.१६०, स्वात्मामाया, बृ.३.भा.वा. ४.३.९१९ (३०) ब्राह्मणस्त्वियमविद्याशक्तिमायादिशब्दवाच्या न शक्त्या तत्त्वेनान्यत्वेन वा निर्वक्तुम्॥ भामती- १.४.२ (३१) अविद्याशक्तेश्चेश्वराधीनत्वम् तदाश्रयत्वात्।-भामति- १.४.२ यदि ब्रह्मणोऽविद्या शक्त्या संसारः प्रजायते ! (३२) सत्त्वशुद्धविशुद्धाभावं मायाविद्ये च ते मते। मायाबिम्बं वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। अविद्यावशगस्तदन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा॥ पंचदशी-१-१६-१७॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, श्रीशंकराचार्य ने स्पष्ट शब्दो में माया और अविद्या में भेद प्रदर्शित नहीं किया हैं, तो भी उनके भाष्यो में यह भेद दृष्टिगोचर होता हैं। **श्रीशंकराचार्य ने अविद्या को नामरुप तथा माया के वश में बताया हैं। छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में ईश्वर को (३३)विशुद्धोपाधि से संबद्ध माना हैं।** इस प्रकार से आचार्य श्रीशंकर ने जहाँ थोडा भी संकेत दिया हैं, उस स्थान को लेकर परवर्ती आचार्यो ने माया और अविद्या में, जीव और ईश्वरगत भेदो को स्पष्टकरने के लिए अंतर बताया हैं। **श्री वाचस्पति मिश्र ने अविद्या और माया के विषय में चर्चा करते हुए लिखा है कि-** कारणभूत लयलक्षण से युक्त, अविद्या से पूर्व, सर्गोपचित तथा विक्षेपसंस्कार से, जो कुछ प्रत्युपस्थापित अनेक नामरुप हैं, वही माया हैं। माया के विषय में विशेष विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि, जगत का उपादान और अधिष्ठान भूत ब्रह्म की माया के कारण, समस्त भ्रमात्मक जगत् स्वतः चलता हैं। जैसे जल जड होने पर भी चेतन की सहायता के बिना बहा करता हैं।(३४) वैसे श्रीवाचस्पतिमिश्र भी यहाँ माया को जागतिक अज्ञान मानते हैं। अधिक स्पष्टता करते हुए कहा है कि, विक्षेपशक्ति अविद्या की मानी गई हैं, उसका भी निर्देश श्रीवाचस्पति ने स्पष्ट किया हैं। अर्थात् विक्षेपशक्ति के कारण नानात्मक प्रतीत होनेवाला जागतिक अज्ञान ही माया हैं।

अविद्या की भावरुपता :- श्रीशंकराचार्य के परवर्ती आचार्यो ने अविद्या को भावरुप तथा अभावरुप दोनों मानी हैं। विवरणकार श्री प्रकाशात्मा का मत हैं कि, अविद्या भावरुप हैं, क्योंकि, "मैं अज्ञ हुँ" और "मैं अपने आपको तथा दूसरे को जानता नहीं हुँ" इस प्रकार से अभाव का (३५)प्रत्यक्षीकरण होता हैं।

उपरोक्त ज्ञान में अज्ञान का अभावक ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि, जिस प्रकार से "मैं सुखी हुँ" इस अनुभव में सुखत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, उस प्रकार से "मैं अज्ञ हुँ" इस अनुभव में अज्ञान की (३६)भावरुपता चमकती हैं। इसलिए ही अभाव को प्रमाण माना गया हैं। यदि अभाव, भावरुप न हो तो उसमें प्रमाणत्व किस तरह से संभव होगा ?

अज्ञान को भावरुप मानने से एक आपत्ति खडी होती है कि, "मैं अज्ञ हुँ" इस स्थान में अज्ञान के आश्रयत्व और विषयत्व का प्रत्यक्षज्ञान बाधित हो जाता हैं। क्योंकि, आप अज्ञान को ज्ञान से निवर्त्य मानते ही हो। यदि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं मानोंगे, तो मोक्षापत्ति होगी। मोक्ष में ज्ञान का कारणत्व आप को इष्ट हैं। इसलिए अज्ञान को प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसका समाधान इस प्रकार से है - ज्ञान का अज्ञान से विरोध तब होगा कि जब हम अज्ञान को ज्ञान का अभावक माने, परंतु हम ऐसा मानते नहीं हैं। जिस प्रकार से घटाभाव काल में और घटाभाव देश में एककालावच्छेदेन घट की स्थिति विरुद्ध हैं, उस प्रकार से ज्ञान का और ज्ञान के अभाव का एक साथ रहना, यह विरुद्ध है, विवरणकार के मत में अज्ञान भावरुप होने के कारण एक ही अधिकरण में तथा एक ही काल में ज्ञान-अज्ञान दोनों के होने में असंगति नहीं हैं। क्योंकि दोनों भावपदार्थ हैं और भिन्न हैं। जैसे घट और पट दोनों भावपदार्थ हैं और भिन्न है, इसलिए एककालावच्छेदेन उनकी स्थिति असंगत नहीं हैं, संगत ही हैं। उसी तरह से ज्ञान और अज्ञान भावात्मक और भिन्न होने के कारण एक (३७)काल में रह सकते हैं।

(३८)श्री विद्यारण्यस्वामी का इस संबंध में कथन हैं कि, आश्रय, विषय और अज्ञान ये तीनो एक ही साक्षी में

---

(३३) विशुद्धोपाधिसम्बन्धात् - छा.उ.शा.भा. ३-१४-२. **(३४)** ब्रह्मण एव मायावशेनोपादानत्वादधिष्ठानत्वाज्जगद्विभ्रमस्य यथा पयोऽम्बुनोश्चेतनानधिष्ठितयोः स्वत एव प्रवृत्तिः । भामती - २.२.३. **(३५)** प्रत्यक्षं तावत् अहमज्ञः ममान्यं च न जानामि इत्यपरोक्षावभासदर्शनात् (पं. पा. वि. पृ. ७४) **(३६)** ननु ज्ञानाभावविषय अयमवभासः ? न अपरोक्षावभासत्वात् अहं सुखी इतिवत् । अभावस्य च षष्ठप्रमाणगोचरत्वात्। (पं.पा.वि.पृ.७४) **(३७)** भावरुपाज्ञानप्रत्यक्षवादे तु सत्यपि आश्रयप्रतियोगीज्ञाने ज्ञानभावस्यैव भावान्तरस्यापि न अनुपपत्तिः नियन्तुं शक्यते - (पं.पा.वि.पृ.८१) **(३८)** आश्रयविषयज्ञानानि त्रीण्यपि एकेनैव साक्षिणावभासन्ते। तथा चाश्रयविषयो साधयन्नयं साक्षी तद्वदेवाज्ञानमपि साधयत्येव न तु निवर्तयति। तन्निवर्तकं त्वन्तःकरणवृत्तिज्ञानमेव। तच्चात्र नास्तीति कथं व्याहतिः ।- वि.प्र.सं.पृ.५५

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित होते हैं। इसलिए आश्रय और विषय को प्रकाशित करता साक्षी अज्ञान को भी प्रकाशित करता हैं, उसकी निवृत्ति नहीं करता हैं। अज्ञान की निवृत्ति करनेवाला तो अंतःकरण की वृत्ति में प्रतिबिंबित चिद्रुप ज्ञान है और अज्ञान का विनाशक यह वृत्तिज्ञान, प्रकृत स्थल में नहीं हैं। इसलिए यहाँ "वदतो व्याघात" दोष किस तरह से होगा?

माया-अविद्या की कुछ विशेषताएँ :-

(१) ईश्वर की शक्ति माया हैं, जिसके माध्यम से वह नानात्मक जगत् की रचना करते हैं। **(२) ब्रह्म पूर्णतः स्वतंत्र है और माया ब्रह्म पर आश्रित हैं।** माया की स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं हैं। ब्रह्म से निकलकर, उसीमें समा जाती हैं। ब्रह्म और माया के बीच अगर कोई सम्बन्ध हो सकता हैं, तो वह तादात्म्य सम्बन्ध हैं। **(३) माया भी अनादि हैं।** [३९]इसी के माध्यम से जीव शुभाशुभ कर्मो को भोगने के लिए, बाध्य हो जाते हैं। माया के अनादि होने के दो कारण हैं – एक तो ब्रह्म की शक्ति हैं, दूसरा-सृष्टि के आदि में सक्रिय होना हैं और प्रलयकाल में, ब्रह्म में समा जाती हैं। माया के बिना परमेश्वर की सृष्टिक्रिया, सम्भव नहीं हो सकती[४०]। माया की एक ओर विशेषता है कि वह अनादि होते हुऐ सान्त हैं। उसकी सान्तता का अर्थ, अत्यन्ताभाव नहीं हैं, मात्र अवस्था का अन्तर हैं, उसकी जाग्रदवस्था सृष्टि और सुप्तावस्था प्रलय हैं। **(४) ब्रह्म ही माया का आश्रय और विषय है,** परन्तु माया के आश्रय देने पर भी ब्रह्म, उससे सर्वथा असंपृक्त तथा अप्रभावित रहता हैं[४१]। वस्तुतः मूलरुप में वह अक्षुण्ण बना रहता हुआ स्वयं नानात्मक विश्व को अनेकविध रुपों में, धारण करता है, यही ब्रह्म की महान् विशेषता हैं, तभी उपनिषद् अग्नि के विस्फुलिंग से जगत् की उत्पत्ति की तुलना करती हैं।[४२] **(५) माया भावरुपात्मिका है,** भावरुपात्मिका का अभिप्राय, ब्रह्मसदृश, सत् नहीं है। यह वन्ध्यापुत्र जैसी पूर्णतः अभाविका भी नहीं हैं[४३]। विश्वसृष्टिकाल में भावात्मिका हैं, और प्रलयकाल में ब्रह्माश्रित होने के कारण अभावात्मिका बनी रहती हैं। **(६) माया की आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियाँ हैं।** आवरण शक्ति से ब्रह्म के वास्तविक स्वरुप आवृत कर लेती है और विक्षेप शक्ति से नानात्मक प्रपंच की रचना करती हैं। जिस प्रकार रज्जु में सर्प की प्रतीति, आवरणशक्ति के द्वारा होती है और यह सर्प का फण हैं, यह पूंछ हैं, इत्यादि असत् कल्पना विक्षेपशक्ति के द्वारा होती हैं। **(७) यह सांख्य की प्रकृति के सदृश, जड नहीं हैं और स्वतंत्र नहीं हैं।** सांख्य की प्रकृति, पुरुष से सर्वथा स्वतंत्र रहती हैं। वस्तुतः माया निर्मूला नहीं है, उसका भी अधिष्ठान ब्रह्म ही हैं। अत एव प्रलयकाल में ब्रह्म में विलीन हो जाती हैं। यही अद्वैतता हैं। **(८) माया का स्वरुप अनिर्वचनीय हैं**[४४]। स्वतंत्र सत्ता के अभाव में, सत् नहीं हो सकती और जगत् प्रपंच की रचना करने में समर्थ होने के कारण, सर्वथा असत् भी नहीं हैं। **(९) माया ज्ञान के द्वारा दूर की जा सकती हैं,** अतः मिथ्यासदृश हैं। जैसे-जैसे हम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते जाते हैं, वैसे वैसे यह दूर भागती जाती हैं। **(१०) माया वस्तुरुप अधिष्ठान में अवस्तुरुप जगत् की प्रतीति कराती रहती हैं,** अतः यह अध्यास स्वरुप हैं।

अज्ञान के एकत्व या अनेकत्वः-

अज्ञान या अविद्या को अद्वैत सम्प्रदाय में अनादि तथा भावरुप माना गया हैं। परन्तु अविद्या के एकत्व अथवा

(३९) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् श्वेता. ३.४.५ (४०) न हि तया बिना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्धयति। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः अव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरुपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणां जीवाः। ब्र.सू.शां.भा. १.४.३ (४१) यथा स्वयं प्रसारितया मायवी मायवी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते अवस्तुत्वात्, एवं परमात्माऽपि संसारमायया न संस्पृश्यत इति।-वहीं, (४२) यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा- बृ.उ.शा.भा. २.१.२० (४३) अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरुपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्। वेदान्तसार-३४। (४४) तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा। ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयुक्तिलौकिकैः। पंचदशी-६,१३०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेकत्व के विषय में, मतविभिन्नता उपलब्ध होती हैं। भामतीकार श्रीवाचस्पतिमिश्र के मत में, प्रतिजीव में रहनेवाली अविद्या, अनेक हैं, किन्तु विवरण सम्प्रदाय के श्रीप्रकाशात्मा के अनुसार मूलाविद्या एक हैं। श्रीवाचस्पति मिश्र के मत में जैसे एक ही बिम्ब दर्पण, सर, नदी, मणि, कृपाण इत्यादि भिन्न भिन्न स्थाने पर प्रतिबिम्बित होता रहता हैं, वैसे ही ब्रह्म की भी प्रतिजीव में रहने वाली, भिन्न भिन्न अविद्यारुप गुहाएँ हैं [४५]। भामतीभाष्य में ही अन्यत्र अविद्या के अनेकत्व का समर्थन करते हुए श्रीवाचस्पति मिश्र कहते हैं कि अविद्या के नानात्व के कारण ही जीवो की बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था संगत हो सकती हैं[४६]। यदि सभी जीवों में रहने वाली अविद्या एक हैं, तब एक जीव के अविद्या के नाश होने पर समस्त जीवों की मुक्ति की आपत्ति उपस्थित हो जायेगी, अत: अनेक अविद्या मानना ही श्रेयस्कर हैं, क्योंकि अनेक जीववाद में जिस जीव को ज्ञान होगा, उसकी मुक्ति, शेष जीवो का बन्धन स्वीकार करना न्यायसंगत होगा।

भामतीकार वस्तुत: इस विवाद को निबटाने के लिए अनादि बीजांकुरन्याय का प्रयोग करते हैं। उसके मत में अविद्या के एकत्व और अनेकत्व का विवाद इसी प्रकार का हैं, जिस प्रकार अंकुर और बीज का, क्योंकि अविद्या की उपाधि के भेद से जीवगत भेद मानना पडेगा और जीव-भेद के अधीन अविद्यागत भेद को स्वीकार करना पडेगा। इस प्रकार परस्पराश्रित जीव और अविद्या का भेद हैं, [४७]यह सिद्धान्त मानना पडेगा। परस्पराश्रित का यहाँ अभिप्राय, बीजांकुरवत् उभयसिद्ध हैं। अविद्या के एकत्व पक्ष में यह तर्क दिया जाता हैं कि श्रुति में अविद्या के एकत्व का ही प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि श्रुतियों में अविद्या या अज्ञान के लिए ''अव्यक्तम् तथा अव्याकृतम्'' इत्यादि एकवचनपरक शब्दों का प्रयोग किया गया हैं। भामतीकार ने इसका उत्तर, इस प्रकार दिया है कि- अविद्या प्रतिजीव में रहने के कारण अनेक हैं, फिर भी श्रुति में अविद्यात्व इस सामान्यधर्म से एकवचन का प्रयोग हुआ है और यह प्रयोग मात्र औपचारिक हैं।[४८]

विवरणकार श्रीप्रकाशात्मा ने अविद्या के नानात्व का खण्डन किया है और एकत्व की स्थापना की हैं। उनके मत में ब्रह्म ही अपनी माया और अविद्या के बल पर विवर्त का रुप धारण करता हैं। अत: ब्रह्मसदृश अविद्या भी एक ही हैं।[४९] वस्तुत: मूलाविद्या एक हैं, उसकी भिन्नता का कारण तो अवस्था हैं। जब जीव अविद्या का आश्रय लेता हैं, तो उसके शरीरावस्था के कारण उसमें नानात्व, दृष्टिगत होता हैं, वस्तुत: अविद्या, अपने मूलरुप में एक ही हैं। जीवावस्था गत-अविद्या का नाश, ज्ञान के उदय होने पर होता हैं। इसका प्रमाण श्रुतियों में भी मिलता हैं[५०]। इस प्रकार बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था की भी संगति हो जाती हैं और ज्ञान एंव अज्ञान के एकत्व का मत भी स्थिर रहता हैं।

यहाँ एक शंका की जाति हैं कि यदि अविद्या को एक माना जाय, तो शुक्ति ज्ञान से ही, अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी, फलत: शुक्ति के ज्ञान से मोक्षप्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यदि विषयों के भेद से अज्ञान में भेद न माना जाय तो अज्ञान को अध्यास का उपादान नहीं माना जायेगा, या पुन:उपादान की निवृत्ति के बिना ही अध्यास की निवृत्ति माननी पडेगी।

---

(४५) यथा हि बिम्बस्य मणिकृपाणादयो गुहा:, एवं ब्रह्मणोऽपि प्रतिजीवं भिन्ना अविद्या-गृहा-इति। भामती- १.४.२२
(४६) तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पन्ना तस्यैवाविद्या अपनीयते न जीवान्तरस्य, भिन्नाधिकरणयोर्विद्याऽविद्ययोरविरोधात्। वही- १.४.३
(४७) अविद्योपाधिभेदाधीनो जीवभेदो जीवभेदाधीनश्चाविद्योपाधिभेद इति परस्पराश्रयादुभयसिद्धिरिति साम्प्रतं अनादि त्वाद्बीजाङ्कुरवदुभयसिद्धि:।- भामती. १.४.३ (४८) अविद्यात्वमात्रेण च एकत्वोपचार: अव्यक्तमिति च अव्याकृतमिति च।-वही. (४९) तस्मात् ब्रह्मैव स्वमायया अविद्यया विवर्तते। पं.पा.वि.पृ. ६९३ (५०) आजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् जहात्येनम्। श्वेता. ३.४.५।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका उत्तर विवरण सम्प्रदाय में इस प्रकार दिया गया है कि शुक्ति के ज्ञान से, रजत रुप अध्यास का अपने कारण में प्रविलय मात्र हो जाता हैं, जैसे मुसलप्रहार से, घट का मृत्तिका में विलय हो जाता हैं। अत एव शुक्ति के ज्ञान से मूलाविद्या का, आत्यन्तिक समुच्छेद नहीं होता, अतः शुक्तिज्ञान से मुक्ति का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता(५१)। मौलिकज्ञान में जो भेद दृष्टिगत होता है वह अज्ञान के अवस्थाभेद के कारण हैं। जिसके कारण वह अनिर्वचनीय रजत आदि का उपादान हैं और शुक्तिज्ञान से अध्यास की निवृत्ति हो जाती हैं(५२)। तत्त्वदीपनकार ने "माया तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादि श्वेताश्वरोपनिषद् के वाक्यों में एक वचन की कल्पना से अविद्यैकत्व की कल्पना की है और व्यावहारिक भेद का कारण अवस्था भेद माना हैं।

अविद्या का आश्रय एवं विषय:- अविद्या के आश्रय तथा विषय के सम्बन्ध में परवर्ती वेदान्त में, बहुत मतभेद हैं। भामती प्रस्थान में अविद्या का आश्रय जीव को माना गया हैं और विवरणप्रस्थान में अविद्या का आश्रय ब्रह्म हैं। श्री वाचस्पति मिश्रने अध्यासभाष्य में जीव को कार्य और कारण रुप में अविद्याद्वय का आधार माना हैं। (५३)समन्वाधिकरण में उन्होंने जीव को अविद्या का आश्रय मानते हुए लिखा है कि, ब्रह्म नित्य शुद्ध हैं, अतः यह अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, अविद्या का आश्रय तो जीव में ही सम्भव हो सकता हैं। (५४)प्रसिद्धाधिकरण में भी श्रीवाचस्पति मिश्र ने अविद्या का आश्रयत्व, जीव में स्वीकार किया हैं और ब्रह्म के आश्रयत्व का खण्डन किया हैं।(५५)यद्यपि अविद्या का आश्रय जीव हैं तथापि निमित्तरुप अथवा विषयरुप के माध्यम से ईश्वर का आश्रय लेती हैं, अत एव वह ईश्वराश्रया कहलाती हैं, इसीलिए नहीं कि ईश्वर अविद्या का आधार हैं(५६)। विद्यास्वभाव ब्रह्म, अविद्या का आधार नहीं हो सकता, इसी प्रकार श्रीवाचस्पति मिश्र ने वाक्यान्वयाधिकरण में कहा है कि विद्यास्वभाव परमात्मा हैं, अविद्या साक्षात्रुप में नहीं रहती, तथापि परमात्मा के प्रतिबिम्बकल्प-जीव के द्वारा वह परमात्माश्रित कहलाती हैं।(५७)

आचार्य श्रीवाचस्पति मिश्र को अविद्या का आश्रयत्व विषयक मत, आचार्य श्रीमण्डन से मिलता हैं। आचार्य श्री मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्ध में स्पष्ट शब्दों में अविद्या का आश्रय, जीव को माना हैं। जिस प्रकार आकाश ही, घटादि रुप उपाधियों से उपहित होकर घटाकाश हो जाता हैं और वह घटाकाश ही रजो धूमादियों को, आश्रय देता हैं, महाकाश को नहीं। उसी प्रकार जीव ही अविद्या को आश्रय देता हैं, न कि ब्रह्म,(५८) क्योंकि शुद्ध बुद्ध-स्वभाव तथा सूर्यसदृश, भासमान ब्रह्म में अविद्या का आश्रयत्व होना असम्भव हैं। (५९)आचार्य श्रीमण्डन मिश्र ने आगे इस विषय पर चर्चा इस प्रकार की हैं कि, ब्रह्म मायिक जगत् का अधिष्ठान हैं, अतः उसमें अविद्या के आश्रयत्व का कोइ प्रयोजन ही नहीं हैं। इसलिए जीवाश्रया अविद्या हैं, वही उत्तमकल्प हैं, क्योंकि जीव तो, अविद्या के अतिरिक्त

---

(५१) अस्मिन् पक्षे शुक्तिकादिज्ञानेन रजताद्यध्यासानां स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते मुसलप्रहारेणैव घटस्य। पं.पा.वि.पृ.९८.(५२) अथवा मूलाज्ञानस्यैवावस्थाभेदाः रजताद्युपादानानि शुक्तिकादिज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते इति कथ्यताम्- पं.पा.वि.पृ.९९ (५३) कार्यकारणाविद्याद्वयाधारः अहंकारस्पदं संसारी सर्वानर्थसंभारभाजनं जीवात्मा।-भामती १.१.१ (५४) नाविद्या ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्। तेन नित्यशुद्धमेव ब्रह्म। भामती- १.१.४ (५५) अनाद्यविद्यावच्छेदलब्धजीवभावः पर एवात्मा स्वतो भेदेनाभासते तादृशानां च जीवानामविद्या, न तु निरुपाधिनो ब्रह्मणः। जीवात्मविभगो तदाश्रयाऽविद्येत्यन्योन्या-श्रयत्वमिति। भामती- १.२.६ (५६) जीवाधिकरणाप्यविद्यानिमित्ततया विषयतया वा ईश्वरमाश्रयत इति ईश्वराश्रयेतेत्युच्यते न त्वाधारतया। विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेः। भामती १.४.३ (५७) अविद्योपादानं च यद्यपि विद्यास्वभावे परमात्मनि न साक्षादस्ति। भागती- १.४.३ (५८) यथाऽऽकाशमेव घटाद्युपहितं धूमतुषाराद्याश्रयाः नाऽऽकाशमात्रम् तद्वत् जीवानामविद्याश्रयत्वमित्यर्थः। ब.सि.ब.का. पृ-५८। (५९) शुद्धबोधस्वभावस्य भानुवत्तमोऽविकरणत्वाधिरोधादित्यर्थः। - ब्रह्मसिद्धि-ब्रह्मकाण्ड, पृ. ५८।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ हैं ही नहीं। शुद्ध-ब्रह्म यदि अविद्या का आश्रय हैं, तो शुद्धत्वापत्ति होगी। क्योंकि शुक्लतन्तु से ही शुक्ल पट बनता है। इस प्रकार अविद्या में शुद्धत्वापत्ति होगी।अत एव अविद्या का आश्रय, ब्रह्म नहीं, जीव हैं।[६०]

सृष्टिप्रक्रिया :- श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद में ईश्वर ही सृष्टि का कारण हैं। सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण ईश्वर ही हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सर्ववेदांत सिद्धांत सारसंग्रह में बताया हैं कि-

अनंतशक्तिसंपन्नो मायोपाधिक ईश्वरः। ईक्षामात्रेण सृजति विश्वमेतच्चराचरम् ॥३३०॥

मायारुप उपाधिवाले ईश्वर अनंतशक्ति से संपन्न हैं। वह केवल देखने मात्र में (देखते-देखते में) ही इस स्थावर-जंगम जगत को उत्पन्न करते हैं।

शंका :- ईश्वर तो केवल अद्वितीय आत्मस्वरुप ही हैं। उनका कोई उपादान कारण नहीं हैं या जगत रचना में (सृष्टिसर्जन में) उनके पास कोई उपादान कारण नहीं हैं, तो फिर वे स्वयं ही सर्वजगत को किस तरह से उत्पन्न करते हैं ?

समाधान :- इस शंका का समाधान देते हुए [६१]**सर्ववेदांत सिद्धांत सारसंग्रह में बताया हैं कि-**

आप ऐसी शंका न करे, क्योंकि ईश्वर स्वयं ही निमित्तकारण और उपादानकारण होकर स्थावर-जंगम जगत का सर्जन करते हैं, रक्षण करते हैं, और संहार करते हैं। अपनी मुख्यता से ईश्वर जगत का निमित्तकारण हैं और उपाधि की मुख्यता से उपादान कारण भी हैं। जैसे मकड़ी अपनी मुख्यता से जाले का निमित्तकारण हैं और अपने शरीर की मुख्यता से उपादान कारण भी हैं, वैसे ईश्वर सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण हैं।

● **ईश्वरकी सृष्टि-सूक्ष्मप्रपंच[६२] :-** तमोगुण की मुख्यतावाली प्रकृति से विशिष्ट (युक्त) हुए परमात्मा से (ईश्वर से) आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी, इस क्रमानुसार (भूतो की) उत्पत्ति हुई हैं। इसका कारण (ईश्वर की) शक्ति (प्रकृति) तमोगुण की मुख्यतावाली हैं। क्योंकि उनके कार्य में जडता द्रिखाई देती हैं। (ऐसा न्याय हैं कि) जो कार्य के गुण उत्पन्न होते हैं, वह कारण के ही गुण होते हैं। (उपर बताये अनुसार) ये भूत अनुक्रम से सूक्ष्मभूत या भूतो की तन्मात्रायें भी कही जाती हैं। ये सूक्ष्मभूतो से सूक्ष्मदेह उत्पन्न होते हैं। वैसे ही ये सूक्ष्मभूतो के ही अंश एक दूसरे के साथ मिल जाने से स्थूलभूत (और स्थूल शरीर)भी उत्पन्न होते हैं।

● **लिंग शरीर :-**

अपंचीकृतभूतेभ्यो जातं सप्तदशांगकम्। संसारकारणं लिंगमात्मनो भोगसाधनम् ॥३३९॥

---

(६०) जीवाश्रयाविद्याविषयस्य ब्रह्मणो जगद्भ्रमाधिष्ठानत्वात् न प्रयोजनापेक्षेत्यर्थः-शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लपटप्रसवदर्शनात् अशुद्धं जगद्विशुद्धात् ब्रह्मणो भवितुं नार्हति।-ब्रह्मसिद्धिः-पृ.६० (६१) अद्वितीयस्वमात्रोऽसौ निरुपादान ईश्वरः। स्वयमेव कथं सर्वं सृजतीति न शक्यताम्॥३३१॥ निमित्तमप्युपादानं स्वयमेव भवन्प्रभुः। चराचरात्मकं विश्वं सृजत्यवति लुंपति॥३३२॥ स्वप्राधान्येन जगतो निमित्तमपि कारणम्। उपादानं तथोपाधिप्राधान्येन भवत्ययम् ॥३३३॥ यथा लुता निमित्तं च स्वप्रधानतया भवेत्। स्वशरीरप्रधानत्वेनोपादानं तथेश्वरः ॥३३४॥ (६२) तमःप्रधानप्रकृतिविशिष्टात्परमात्मनः। अभूत्सकाशादाकाशमाकाशाद्वायुरुच्यते ॥३३५॥ वायोरग्निस्तथैवाग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी क्रमात्। शक्तेस्तमःप्रधानत्वं तत्कार्ये जाड्यदर्शनात्॥३३६॥ आरंभन्ते कार्यगुणान्ये कारणगुणा हि ते। एतानि सूक्ष्मभूतानि भूतमात्रा अपि क्रमात्॥३३७॥ एतेभ्यः सूक्ष्मभूतेभ्यः सूक्ष्मदेहा भवन्त्यपि। स्थूलान्यपि च भूतानि चान्योन्यांशविमेलनात्॥३३८॥ (सर्ववेदांत-सिद्धांत-सारसंग्रह)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दूसरे के साथ नहीं मिले हुए- अपंचीकृत भूतों से सत्रह अंगोवाला लिंग शरीर उत्पन्न होता हैं। यह संसार का कारण हैं और भोग भुगतने का साधन हैं। (६३)सत्रह अंग इस अनुसार से हैं -

श्रोत्र आदि पांच (ज्ञानेन्द्रिय), वाणी इत्यादि पांच (कर्मेन्द्रिय), प्राण आदि पांच वायु, बुद्धि और मन, (यह सत्रह का समुदाय) लिंगशरीर कहा जाता हैं।

श्रोत्र , त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण : ये पांच अनुक्रम से आकाश इत्यादि भूतों के सात्त्विक अंशो मे से उत्पन्न और वह ज्ञानेन्द्रिय कहे जाते हैं। आकाश इत्यादि में रहे हुए पांच सात्त्विक अंश एकदूसरे के साथ जब मिलते हैं, तब उसमें से अंत:करण होता हैं। वह सर्व का कारण हैं।

(६४)जो अंशो में से अंत:करण हुआ हैं, वे अंश प्रकाशक हैं। इसलिए उनको सात्त्विक अंश कहते हैं। क्योंकि, सत्त्वगुण प्रकाशक और स्वच्छ हैं। वह अंत:करण भिन्न भिन्न वृत्तियों के कारण चार प्रकार का हैं। ''मन, बुद्धि, अंहकार और चित्त'' - इस नाम से वे कहा जाता हैं। (पहचाना जाता हैं।) संकल्प करता हैं, इसलिए वह "मन", पदार्थ का निश्चय करती हैं इसलिए वह "बुद्धि", अभिमान करता हैं, इसलिए वह ''अहंकार'' और पदार्थ का विचार करता हैं, इसलिए वह "चित्त" कहा जाता हैं। (पहले जो सत्रह के समुदायरुप) लिंगशरीर का लक्षण कहा हैं उसको समजने के लिए यहाँ मन और बुद्धि में अनुक्रम से चित्त का तथा अहंकार का अन्तर्भाव समजना। सोचना यह मन का धर्म हैं। उसी अनुसार से संकल्प-विकल्प करना यह भी मन का ही धर्म हैं। इसलिए चित्त का मन में ही अन्तर्भाव हो सकता हैं। बुद्धि का ही देह आदि के उपर दृढ अहंभाव दिखाई देता हैं, इसलिए बुद्धि में अहंकार का अन्तर्भाव करना यह योग्य ही हैं। इस कारण से ही बुद्धि कर्ता हैं, दूसरे (अन्य) करण हैं, ऐसा सिद्ध होता हैं। उपरांत ये दोनों ही आत्मा को मोह का कारण होकर संसार का कारण बनते हैं, ऐसा समजना।

● **विज्ञानमय कोश:**- (पहले बताई वह) बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश बनता हैं। उसमें विज्ञान प्रचुर होने के कारण उसको विद्वान (६५)"विज्ञानमय" कहते हैं और आत्मा को वह ढक देता हैं, इसलिए उसको "कोश" कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश महान हैं, अहंकार की वृत्तिवाला हैं, कर्तारुप लक्षणवाला हैं और समस्त संसार का चालक हैं।

---

(६३) श्रोत्रादिपंचकं चैव वागादीनां च पंचकम्। प्राणादिपंचकं बुद्धिमनसी लिंगमुचयते ॥३४०॥ श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानि पंच जातानि। आकाशादीनां सत्त्वांशेभ्यो धींद्रियाण्यनुक्रमत: ॥३४१॥ आकाशादिगता: पंच सात्त्विकांशा: परस्परम्। मिलित्वैवान्त:-करणमभवत्सर्वकारणम् ॥३४२॥ **(६४)** प्रकाशकत्वादेतेषां सात्त्विकांशत्वमिष्यते। प्रकाशकत्वं सत्त्वस्य स्वच्छत्वेन यतस्तत: ॥३४३॥ तदंत:करणं वृत्तिभेदेन स्याच्चतुर्विधम्। मनो बुद्धिरहंकारचित्तं चेति तदुच्यते ॥३४४॥ संकल्पान्मन इत्याहुर्बुद्धिरर्थस्य निश्चयात्। अभिमानादहंकारश्चित्तमर्थस्य चिंतनात् ॥३४५॥ मनस्यपि च बुद्धौ च चित्ताहंकारयो: क्रमात्। अंतर्भावोऽत्र बोद्धव्यो लिंगलक्षणसिद्धये ॥३४६॥ चितनं च मनोधर्म: संकल्पादिर्यथा तथा। अंतर्भावो मनस्येव सम्यक्चित्तस्य सिध्यति ॥३४७॥ देहादावहमित्येव भावो दृढतरो धिय:। दृश्यतेऽहंकृतेस्तस्मादंतर्भावोऽत्र युज्यते ॥३४८॥ तस्मादेव तु बुद्धे: कर्तृत्वं तदितरस्य करणत्वम्। सिध्यत्यात्मन उभयाद्विद्यात्संसारकारणं मोहात् ॥३४९॥ **(६५)** विज्ञानमयकोश: स्याद्बुद्धिर्ज्ञनेन्द्रियै: सह। विज्ञानप्रचुरत्वेनाप्याच्छादकतयात्मन: ॥३५०॥ विज्ञानमयकोशोऽयमिति विद्वद्भिरुच्यते। अयं महानहंकारवृत्तिमान्कर्तृलक्षण:। सर्वसंसारनिर्वोढा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥३५१॥ अहं ममेत्येव सदाभिमानं देहेन्द्रियादौ कुरुते गृहादौ। जीवाभिमान: पुरुषोऽयमेव कर्ता च भोक्ता च सुखी च दु:खी ॥३५२॥ स्ववासनाप्रेरित एव नित्यं करोति कर्मोभयलक्षणं च। भुंक्ते तदुत्पन्नफलं विशिष्टं सुखं व दु:खं च परत्र चात्र ॥३५३॥ नानायोनिसहस्रेषु जायमानो मुहुर्मुहु:। म्रियमाणो भ्रमत्येष जीव: संसारमंडले ॥३५४॥ (सर्ववेदांत-सिद्धांत-सार संग्रह)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(चैतन्य के प्रतिबिंबवाला) यही (विज्ञानमय कोश) जीवत्व के अभिमान वाला पुरुष तमाम देह-इन्द्रियाँ इत्यादि के उपर और गृहादि के उपर "मैं और मेरा" ऐसा हंमेशां अभिमान करता हैं। और वही कर्ता, भोक्ता, सुखी और दुःखी होता हैं। अपनी वासना से प्रेरित होकर वही नित्य, अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कर्म करता हैं और उससे उत्पन्न हुए दोनों प्रकार के फलरुप सुख-दुःख को इस लोक में और परलोक में भुगतता हैं। यह जीव अनेकबार हजारो योनियो में बारबार जन्म लेता हैं, मरता हैं और संसारचक्र में भ्रमण करता हैं।

●[६६]**मनोमय कोशः**- मन, ज्ञानेन्दियों के साथ मिलकर **"मनोमय कोश"** बनता हैं। उसमें मन की मुख्यता दिखती हैं इसलिए वह मनोमय हैं। चिंता, खेद, हर्ष इत्यादि और इच्छा- कामना इत्यादि इस मनोमय की वृत्तिर्यां हैं। इस मन के द्वारा विचार करता हैं अथवा संकल्प-विकल्प करता हैं और बाद में बाहर (उसका) फल चाहता हैं। यह मन ही यत्न करता हैं कर्म करता हैं और उसके फल भुगतता हैं, इसलिए सर्व का कारण वही हैं। मन ही जीव को अंदर और बाहर ले जाता हैं और मन के द्वारा ही सर्व पदार्थो को वह जानता हैं। उपरांत इस मन से जीव सुनता हैं, सूँघता हैं, देखता हैं, बोलता हैं, छूता हैं, खाता हैं और सब करता हैं। मन के कारण ही मनुष्यों को बंधन और मोक्ष होता हैं। वैसे ही मन से ही अर्थ और अनर्थ प्राप्त होता हैं। शुद्ध मन से विवेक होने से मोक्ष होता हैं और मलिन मन से अविवेक होने से बंधन होता हैं।

यह मन[६७]सत्त्वगुण से रहित होकर केवल रजोगुण और तमोगुण से युक्त बनता हैं, तब मलिन और अशुद्ध होकर केवल अज्ञान से पैदा हुआ ही बन जाता हैं। उपरांत, तमोगुण के दोष से युक्त होने के कारण जडता, मोह, आलस्य और प्रमाद से तिरस्कार पाकर 'सत्' वस्तु को (मन) जानता नहीं हैं और पदार्थो का वास्तविक तत्त्व प्राप्त होने पर भी समजता नहीं हैं। इसी तरह से मन यदि केवल रजोगुण के दोषो से युक्त होता हैं, तो (सन्मार्ग से) विरुद्ध और आडे-टेढे खिंच जानेवाले विक्षेपक गुण कामादि इत्यादि से पराभव पाकर मन जीव को व्यथा देता हैं- परेशान करता हैं। उस समय वह मनरुपी दिया सूक्ष्म पदार्थो का ज्ञान करानेवाला हैं, फिर भी अतिशय घूमने लगता हैं तथा जैसे प्रबल वायु से दिया हीलने लगता हैं और उसकी महिमा नष्ट हो जाती हैं, वैसे किसी प्रकार से मन की महिमा नाश हो जाती हैं।

इसलिए ही मुमुक्षु को संसाररुप बंधन से छूट जाने के लिए मन को रजोगुण, तमोगुण और उन दोनों के कार्यो से सदैव अलग करके संभाल के शुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त के उपर ही प्रीतियुक्त करना चाहिए।

● **पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उसकी उत्पत्ति :-** पाँच भूतो के ही रजोगुण के अंशो से क्रमशः वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (गुह्येन्द्रिय): ये पाँच [६८]कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश इत्यादि भूतो के समस्त रजोगुण के

(६६) मनो मनोमयः कोशो भवेज्ज्ञानेन्द्रियैः सह। प्राचुर्यं मनसो यत्र दृश्यतेऽसौ मनोमयः ॥३५५॥ चिंताविषादहर्षाद्याः कामाद्या अस्य वृत्तयः। मनुते मनसैवैष फलं कामयते बहिः। यतते कुरुते भुंक्ते तन्मनः सर्वकारणम् ॥३५६॥ मनो ह्यमुष्य प्रणवस्य हेतुरंतर्बहिश्चार्थमनेन वेत्ति। शृणोति जिघ्रत्यमुनैव चेक्षते वक्ति स्पृशत्यत्ति करोति सर्वम् ॥३५७॥ बंधश्च मोक्षो मनसैव पुंसामर्थोऽप्यनर्थोऽप्यमुनैव सिध्यति। शुद्धेन मोक्षो मलिनेन बंधो विवेकतोऽथाऽप्यविवेकतोऽन्यः ॥३५८॥

(६७) रजस्तमोभ्यां मलिनं त्वशुद्धमज्ञानजं सत्त्वगुणेन रिक्तम्। मनस्तमोदोषसमन्वितत्वाज्जडत्वमोहालसताप्रमादैः। तिरस्कृतं सन्न तु वेति वास्तवं पदार्थतत्त्वं ह्युपलभ्यमानम् ॥३५९॥ रजोदोषैर्युक्तं यदि भवति विक्षेपकगुणैः प्रतीपैः कामाद्यैरनिशमभिभूतं व्यथयति। कथंचित्सूक्ष्मार्थावगतिमदपि भ्राम्यति भृशं मनोदीपो यद्वत्प्रबलमरुता ध्वस्तमहिमा ॥३६०॥ ततो मुमुक्षुर्भवबंधमुक्त्यै रजस्तमोभ्यां च तदीयकार्यैः। वियोज्य चित्तं परिशुद्धसत्त्वं प्रियं प्रयत्नेन सदैव कुर्यात् ॥३६१॥ (सर्ववेदांत-सिद्धांत-सारसंग्रह) (६८) पंचानामेव भूतानां रजोंशेभ्योऽभवन्क्रमात्। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्यनु ॥३७५॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंशो से क्रियास्वरुप प्राण इत्यादि (वायु) उत्पन्न हुए हैं। ये पांचो (शरीर के) अंदर के[६९]वायु हैं। (शरीर में) पूर्व की ओर जाता हैं वह प्राण हैं। दक्षिण की ओर जाता हैं वह अपान हैं। चारो ओर जाता हैं, वह व्यान हैं। ऊँचे जाता हैं, वह उदान हैं और खाये हुए अन्न के रस इत्यादि को एकसमान करनेवाला हैं, वह समानवायु हैं।

ये प्राणादि वायुओमें तथा कर्मेन्द्रियोमें ज्यादा प्रमाणमें ज्यादातर क्रिया ही दिखाई देती हैं ; विद्वानो ने उनकी उत्पत्ति रजोगुण के अंशो से स्वीकार की हैं। [७०]महर्षि कहते हैं कि, "क्रिया शक्ति रजोगुणी होती हैं, तमोगुण की शक्ति जडरुप होती है और सत्त्वगुण की शक्ति प्रकाशरुप होती हैं।''

● [७१]**प्राणमय कोश :-** (पहले बताये हुए) वे प्राण इत्यादि पांच, पांचो कर्मेन्द्रियो के साथ मिलकर प्राणमय कोश बनता हैं। वह स्थूल हैं, जिसके योग से प्राणी चेष्टा करते हैं। वाणी इत्यादि से और शरीर से जो जो पुण्य या पापकर्म किये जाते हैं, उसमें "प्राणमय कोश" कर्ता हैं, जैसे वायु द्वारा हिलाया गया वृक्ष अनेक ओर (चारो ओर) हिलता हैं परन्तु वह वायु यदि स्थिर होता हैं तो वृक्ष भी स्थिर ही होता हैं, वैसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ प्रेरणा करे तब ही शरीर शास्त्रकथित या अकथित अनेक प्रकार की क्रियाओ में प्रवृत्ति करता हैं।

● [७२]**समष्टि लिंग शरीर-हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा-प्राण :-** विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय **:** ये तीनों कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर बनता हैं, वह अतिसूक्ष्मरुप में रहे हुए आत्मा को बतानेवाला होने से "लिंग" शरीर भी कहा जाता हैं। और स्थूल शरीर से सूक्ष्म माना जाता हैं। जैसे सर्व वृक्षो का समुदाय सामान्य रुप से "वन" कहा जाता है, वैसे सर्व लिंगशरीरो का समुदाय सामान्य रुप से एक ही ज्ञान का विषय होने से "समष्टि लिंग शरीर" कहा जाता हैं। वह समष्टि लिंग शरीररुप उपाधियुक्त जो चैतन्य है, उसको सफल कहा जाता हैं। और उसको ही पण्डित "हिरण्य गर्भ, सूत्रात्मा तथा प्राण" कहते हैं। प्रकाशमय बुद्धि के मध्य भाग में हिरण्य (सुवर्ण) की तरह वह प्रकाशित है, इसलिए उसको **"हिरण्यगर्भ"** कहते हैं। वैसे ही, मणि की पंक्ति में (सूत्र) धागे की तरह समस्त लिंगशरीरो में व्याप करके वह रहा हुआ हैं, इसलिए उसको **सूत्रात्मा** कहते हैं और सर्व को जीवन देता हैं, इसलिए वह **"प्राण"** कहा जाता हैं।

● [७३]**व्यष्टि लिंग शरीर और तैजस :-** भिन्न-भिन्न अनेक ज्ञान का विषय होने से वही लिंग शरीर "व्यष्टि"

(६९) समस्तेभ्यो रजोंशेभ्यो व्योमादीनां क्रियात्मकाः। प्राणादयः समुत्पन्नाः पंचाप्यांतरवायवः ॥३७६॥ प्राणः प्रागगमनेन स्यादपानोऽवाग्गमनेन च। व्यानस्तु विष्वग्गमनादुत्क्रान्त्योदान इष्यते ॥३७७॥ अशितान्नरसादीनां समीकरणधर्मतः। समान इत्यभिप्रेतो वायुर्यस्तेषु पंचमः ॥३७८॥ क्रियैव दिश्यते प्रायः प्राणकर्मेन्द्रियेष्वलम्। ततस्तेषां रजोंशेभ्यो जनिरंगीकृता बुधैः ॥३७९॥ (७०) राजसां तु क्रियाशक्तिं तमः शक्तिं जडात्मिकाम्। प्रकाशरुपिणीं सत्त्वशक्तिं प्राहुर्महर्षयः ॥३८०॥ (७१) एते प्राणादयः पंच पंचकर्मेन्द्रियैः सह भवेत्प्राणमयः कोशः स्थूलो येनैव चेष्टते ॥३८१॥ यद्यन्निष्पाद्यते कर्म पुण्यं वा पापमेव वा। वागादिभिश्च वपुषा तत्प्राणमयकर्तृकम् ॥३८२॥ वायुनोच्चालितो वृक्षो नानारुपेण चेष्टते। तस्मिन्विनिश्चले सोऽपि निश्चलः स्याद्यथा तथा ॥३८३॥ प्राणकर्मेन्द्रियैर्देहः प्रेर्यमाणः प्रवर्तते। नानाक्रियासु सर्वत्र विहिताविहितादिषु ॥३८४॥ (७२) कोशत्रयं मिलित्वैतद्वपुः स्यात्सूक्ष्ममात्मनः। अतिसूक्ष्मतया लीनस्यात्मनो गमकत्वतः ॥३८५॥ लिंगमित्युच्यते स्थूलापेक्षया सूक्ष्ममिष्यते। सर्वं लिंगवपुर्जातमेकधीविषयत्वतः ॥३८६॥ समष्टिः स्यात्तरुगणः सामान्येन वनं यथा। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सफलं जगुः ॥३८७॥ हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा प्राण इत्यपि पण्डिताः। हिरण्मये बुद्धिगर्भे प्रचकास्ति हिरण्यवत् ॥३८८॥ हिरण्यगर्भ इत्यस्य व्यपदेशस्ततो मतः। समस्तलिंगदेहेषु सूत्रवन्मणिपंक्तिषु। व्याप्य स्थितत्वात्सूत्रात्मा प्राणनात्प्राण उच्यते ॥३८९॥ (७३) नैकधीविषयत्वेन लिंगं व्यष्टिर्भवत्यथ। यदेतद्व्यष्ट्युपहितं चिदाभाससमन्वितम् ॥३९०॥ चैतन्यं तैजस इति निगदन्ति मनीषिणः। तेजोमयान्तःकरणोपाधित्वेनैष तैजसः ॥३९१॥ स्थूलात्सूक्ष्मतया व्यष्टिरस्य सूक्ष्मवपुमतम्। अस्य जागरसंस्कारमयत्वाद्वपुरुच्यते ॥३९२॥ स्वप्ने जागरकालीनवासनापरिकल्पितान्। तैजसो विषयान्भुंक्ते सूक्ष्मार्थान्सूक्ष्मवृत्तिभिः ॥३९३॥ समष्टेरपि च व्यष्टेः सामान्यैनैव पूर्ववत्। अभेद एव ज्ञातव्यो जात्यैकत्वे कुतो भिदा ॥३९४॥ द्वयोरुपाध्योरेकत्वे तयोरप्यभिमानिनोः सूत्रात्मनस्तैजसस्याप्यभेदः पूर्ववन्मतः ॥३९५॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुप में होता हैं। वह "व्यष्टि" लिंगशरीररुप उपाधिवाला और चैतन्य के आभास से युक्त चैतन्य को विद्वान "तैजस" कहते हैं। वह तेजोमय अंतःकरण रुप उपाधि से युक्त हैं, इसलिए ही "तैजस" कहते हैं। यह तैजस का शरीर स्थूल शरीर से अत्यंत सूक्ष्म होता हैं, उसके उस शरीर को ही "व्यष्टि" सूक्ष्म शरीर माना हैं। और तैजस, जाग्रत अवस्था के संस्कारमय होता हैं। इसलिए ही उसका यह शरीर कहा जाता हैं। उपरांत, यह तैजस स्वप्न में जाग्रत अवस्था की वासनाओं ने कल्पित किये हुए सूक्ष्म पदार्थो रुप विषयो को (अंतःकरण)की सूक्ष्मवृत्तियों के द्वारा भुगतता हैं। (उपर बताये अनुसार) समष्टि तथा व्यष्टि लिंग शरीर समान ही हैं, इसलिए पहले की तरह उनका अभेद ही समजना। क्योंकि, जिसकी जाति एक ही हो उसमें भेद कहाँ से होगा ? वैसे ही वह समष्टि तथा व्यष्टि लिंगशरीररुप दोनों उपाधि एक ही हैं। इसलिए उन दोनों के अभिमानी सूत्रात्मा तथा तैजस को भी पूर्व की (पहले की) तरह एक ही माने हैं।

1 स्थूल प्रपंच- पंचीकरण(७४) और स्थूलभूत :- पहले सूक्ष्मप्रपंच का प्रकार देखा। अब आकाशादि सूक्ष्मभूत परस्पर (मिलकर) पंचीभूत स्थूलभूत बनते हैं, उसका क्रम बताया जाता हैं। वेदांत में स्थूल जगत की उत्पत्ति के (घटनाक्रम में) "पंचीकरण की प्रक्रिया" बताई हैं, वह इस अनुसार हैं –

आकाश इत्यादि प्रत्येक भूत के समान दो दो भाग करना उसके बाद उनके अर्धभाग को छोडकर दूसरे अर्धभाग के चार-चार भाग करना। उस चार-चार भाग में से एक-एक भाग को अपने अपने अर्धभाग से अतिरिक्त प्रथम अलग रखे हुए एक-एक अर्धभाग में क्रमशः जमा करे। इस तरह करने से आकाशादि पांचो भूतो के वे पांच-पांच भाग बनते हैं, और अपने अपने आधे भाग से अतिरिक्त दूसरे (चार भूतो के) चार भाग अपने को जो मिले होते हैं, उनके साथ जुडकर क्रमशः वे आकाशादि भूत स्थूलत्व को प्राप्त करते हैं। इसका नाम "पंचीकरण" कहा जाता हैं।

यह पंचीकरण अप्रामाणिक हैं, ऐसा न कहे, क्योंकि, त्रिवृत्करणकी प्रसिद्ध श्रुति इस पंचीकरण को ही बताती हैं। वह स्थूल विषयो का अनुभव करता हैं, इसलिए उसको "जागृत" भी कहते हैं। वैश्वानर और विश्व बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार द्वारा स्थूल विषयो का अनुभव करते हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, सूक्ष्मभूत स्थूलभूत बनता हैं, तब ही वह इन्द्रियगम्य बनता हैं। सूक्ष्मभूत को स्थूलभूत बनने के लिए भूतो का "पंचीकरण" आवश्यक हैं। इस प्रकार पंचीकरण स्थूलभूत की मूल आवश्यकता हैं। पहले बताये अनुसार एक स्थूलभूत अकेला नहीं रहता हैं। प्रत्येक भूत में दूसरे चार भूतो के अंशो का मिश्रण होता हैं। प्रत्येक पंचीकृत स्थूलभूत में दूसरे भूतो का मिश्रण पहले बताया हैं, वह नीचे के कोष्टक के उपर से स्पष्ट होगा।

पृथ्वी १/२ जल+१/८ आकाश+१/८ वायु+१/८ तैजस+१/८ पृथिवी

जल १/२ पृथिवी+१/८ आकाश+१/८ वायु+१/८ तैजस+१/८ जल

तेजस् १/२ पृथिवी+१/८ जल+१/८ आकाश+१/८ वायु+१/८ तैजस्

(७४) खादीनां भूतमेकैकं सममेव द्विधा द्विधा। विभज्य भागं तत्राद्यं त्यक्त्वा भागं द्वितीयकम्॥३९८॥ चतुर्धा सुविभज्याथ तमेकैकं विनिक्षिपेत्। चतुर्णां प्रथमे भागे क्रमेण स्वार्धमंतरा॥३९९॥ ततो व्योमादिभूतानां भागाः पंच भवन्ति ते। स्वस्वार्धभागेनान्येभ्यः प्राप्तं भागचतुष्टयम् ॥४००॥ संयोज्य स्थूलतां यान्ति व्योमादीनि यथाक्रमम्। अमुष्य पंचीकरणस्याप्रामाण्यं न शंक्यताम् ॥४०१॥ उपलक्षणमस्यापि तत्त्रिवृत्करणश्रुतिः। (सर्ववेदांत सिद्धांत-सार संग्रह)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायु १/२ पृथिवी+१/८ जल+१/८ तैजस+१/८ आकाश+१/८ वायु

आकाश १/२ पृथिवी+१/८ जल१/८ तैजस+१/८ वायु+१/८ आकाश

इस तरह से प्रत्येक भूत में पांचो के पांच भूतो के अंश होने पर भी जिसका अंश ज्यादा होता हैं, उसके नाम के उपर से उस स्थूल भूत का नाम दिया गया हैं। (सर्व वेदांत-सिद्धांत सार-संग्रह में प्रत्येक भूतो के गुण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियो का कार्य जिस प्रकार बताया हैं, वह अब देखेंगे।)

वैसे ही, इस पंचीकरण के अनुसार ही प्रत्येक भूतो में गुण उत्पन्न हुए हैं। आकाश में एक शब्द गुण हैं। वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। तेज में शब्द, स्पर्श और रुप तीन गुण हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रुप और रस ये चार गुण हैं। पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गंध-ये पांच गुण हैं। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का अंश हैं इसलिए उसके गुण शब्द को ग्रहण करती हैं। स्पर्शेन्द्रिय वायु का अंश हैं इसलिए उसके गुण स्पर्श को ग्रहण करती हैं। चक्षुरिन्द्रिय तेज का अंश हैं इसलिए उसके गुण रुप को ग्रहण करती हैं, रसनेन्द्रिय जल का अंश हैं इसलिए उसके गुण रस को ग्रहण करती हैं। और घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी का अंश है इसलिए उसके गुण गंध को ग्रहण करती हैं। उसी प्रकार वाणी आकाश का अंश होने से शब्द के उच्चाररुप क्रिया करती हैं। दोनों पैर वायु के अंश होने से आवागमन की क्रिया करते हैं। दोनो हाथ तेज के अंश होने से अग्नि इत्यादि की पूजा में तत्पर बनते हैं। और गुह्यइन्द्रिय जल का अंश होने से वीर्य और मूत्र को बाहर निकालती हैं और गुदा पृथ्वी का अंश होने से कठिन मल को बाहर निकालती हैं। प्रस्तुत बात का उपसंहार करते हुए बताते हैं कि-

पंचीकृतेभ्यः खादिभ्यो भूतेभ्यस्त्वीक्षयेशितुः। समुत्पन्नमिदं स्थूलं ब्रह्मांडं सचराचरम् ॥४३१॥

ईश्वर के देखने से (मैं सृष्टि रचु ऐसे विचार से) आकाशादि (सूक्ष्म) भूत, (उत्पन्न होकर पूर्वोक्त प्रकार से अन्योन्य के साथ मिलकर) पंचीकृत बने हैं, उनमें से स्थावर-जंगम सहित यह स्थूल ब्रह्मांड उत्पन्न हुआ हैं।

विशेष में, यह (७५)विश्व में जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज- इस प्रकार चार प्रकार के प्राणी हैं। वे अपने अपने कर्मो के अनुसार पैदा हो रहे हैं। उसमें जो जरायु से पैदा होते हैं, वह मनुष्य इत्यादि "जरायुज" हैं। जो अण्डे में से जन्म लेते हैं वे पक्षी इत्यादि "अण्डज" हैं। जो पसीने मै से जन्म लेते हैं, वे जूँऐं, इत्यादि "स्वेदज" हैं। और जो जमीन को फोडकर जन्म लेते हैं, वे वृक्ष इत्यादि "उद्भिज्ज" हैं। भूतो में से उत्पन्न हुए ये चारो प्रकार के स्थूल शरीर सामान्य रुप से एक ही हैं। इस प्रकार एकत्व के ज्ञान का विषय होने से "समष्टि" कहा जाता हैं। यह समष्टि शरीररुप उपाधिवाला चैतन्य फलयुक्त हैं। उसको वेदज्ञ लोग "वैश्वानर" और "विराट" कहते हैं। समग्र प्राणीयों में "आत्मा" पन का वह अभिमान करता हैं, इसलिए "वैश्वानर" कहा जाता हैं। और वह स्वयं ही विविध स्वरुप में विराजमान हैं, इसलिए "विराट" कहा जाता हैं। पूर्वोक्त चारों प्रकार के प्राणी तत् तत् भिन्न जाति रुप से अनेक हैं, इस तरह से अनेक प्रकार के ज्ञान का विषय होने से (पहले की तरह) प्रत्येक की अपेक्षा से "व्यष्टि" कहा जाता हैं।

यह "व्यष्टि" शरीररुप उपाधिवाला और केवल (चैतन्य के) आभासवाला जो चैतन्य हैं, वह उस व्यष्टि शरीर के साथ तद्रुप बन गया हैं और उसको ही वेदज्ञ "विश्व" कहते हैं। इस स्थूल देह में वह विश्वात्मा अपना होने का अभिमान करके रहा हैं, इसलिए ही "विश्व" ऐसे सार्थक नामवाला हैं। स्थूल शरीर यही इस विश्वात्मा की व्यष्टि

(७५) यह वर्णन सर्व-वेदांत सिद्धान्त सार-संग्रह में श्लोक ३३४ से ४४२ में हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और यह अन्न का विकार होने से [७६]"अन्नमय कोश" कहा जाता हैं।

पिता ने और माता ने खाये हुए अन्न का विकार वीर्य तथा रुधिर (स्त्रीरज) बनता हैं और उसमें से ही यह स्थूल शरीर जन्म लेता हैं। बाद में वह अन्न द्वारा ही बढता हैं, परन्तु उसको यदि अन्न न मिले तो नष्ट होता हैं। इसलिए ही वह अन्न का विकार होने से "अन्नमय" कहा जाता हैं और जैसे तलवार को म्यान ढकती हैं, वैसे आत्मा को वह ढक देती हैं, इसलिए "कोश" कहा जाता हैं।

इस स्थूल शरीर में रहकर आत्मा शब्द आदि बाहर के स्थूल विषयो को भुगतता हैं इसलिए ही स्थूल भोग भुगतने का वह स्थान हैं। और यह जीव (आत्मा) देह, इन्द्रियाँ और मन के लाये हुए शब्दादि को भुगतता हैं, इसलिए ही उसको "भोक्ता" कहा जाता हैं।[७७]

• वेदांतपरिभाषा के विषय-परिच्छेद में भी "तत्र सर्गाद्यकाल परमेश्वर :...... करिष्यामीति सङ्कल्पयति" इन पदो के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से ही जगत की उत्पत्ति का क्रम बताया गया हैं। वेदांतसार ग्रंथ के द्वितीय "अध्यारोप" अधिकार में भी पूर्वोक्त सभी बातो को विस्तार से बताई हैं।

यह समग्रसृष्टि प्रक्रिया मिथ्याज्ञान में से होती हैं। वह मिथ्याज्ञान अध्यारोप से = वस्तु के उपर अवस्तु का आरोप करने से होता हैं। वस्तु के उपर अवस्तु का आरोप दूर हो, मिथ्याज्ञान नष्ट हो और वस्तु यथार्थ स्वरुप में दिखे, उसको "अपवाद" कहा जाता हैं।

अपवाद हो तब सर्जन के उल्टे क्रम से विसर्जन होने लगता हैं। पहले चार प्रकार के शरीर, भोजन, पेय ब्रह्मांड अपने कारण स्थूलभूतो में मिल जाते हैं। शब्दादि विषय सहित स्थूलभूत और सूक्ष्मशरीर उसके कारण सूक्ष्मभूतो में मिल जाता हैं। सूक्ष्मभूत अपने कारण अज्ञान और अज्ञानोपहित चैतन्य में और अज्ञान से उपहित चैतन्य ईश्वर आदि अपने आधार रुप शुद्ध चैतन्य में विलय पाता हैं। इस प्रकार विसर्जन के बाद केवल शुद्ध चैतन्य ही अनुभव में आता हैं।

● **प्रमाणविचार :- "न हि लक्षणप्रमाणाभ्यां विना वस्तुसिद्धिः"** -लक्षण और प्रमाण के बिना किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती हैं। ऐसा न्याय हैं। इसलिए अब वस्तुसिद्धि के साधनरुप प्रमाण का निरुपण करेंगे। प्रमाण का सामान्य लक्षण उसके विशेषलक्षण को अविनाभावी होता हैं। इसलिए प्रमाण के भेदरुप प्रत्यक्षादि प्रमाणों का स्वरुप बताने से पहले प्रमाण का सामान्य लक्षण बताते हुए वेदांत परिभाषा में कहा हैं कि -

''तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्। तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्। स्मृतिसाधारणं त्वबाधितविषयज्ञानत्वम्।''

ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और उसमें प्रमाण, वहाँ प्रमा का जो करण हैं वह प्रमाण कहा जाता हैं। अर्थात् यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के करण को प्रमाण कहा जाता हैं। यह प्रमाण का सामान्य लक्षण हैं। **"व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्।"**

(७६) व्यष्टिरेषास्य विश्वस्य भवति स्थूलविग्रहः। उच्यतेऽन्नविकारित्वात्कोशोऽन्नमय इत्ययम् ॥४४३॥ (७७) देहोऽयं पितृभुक्तान्नविकाराच्छुक्रशोणितात्। जातः प्रवर्धतेऽन्नेन तदभावे विनश्यति ॥४४४॥ तस्मादन्नविकारित्वेनायमन्नमयो मतः। आच्छादकत्वादेतस्याप्यसेः कोशवदात्मनः ॥४४५॥ आत्मनः स्थूलभोगानामेतदायतनं विदुः। शब्दादिविषयान्भुंक्ते स्थूलान्स्थूलात्मनि स्थितः ॥४४६॥ बहिरात्मा ततः स्थूल भोगायतनमुच्यते। इन्द्रियैरुपनीतानां शब्दादीनामयं स्वयम्। देहेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४४७॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापारवाला हो और जो कार्य की ओर असाधारण कारण हो, उसको करण कहा जाता हैं। प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान। यथार्थज्ञान स्मृति और अनुभव ऐसे दो प्रकार का हैं। परन्तु कुछ लोग प्रत्यक्षादि प्रमाणो से उत्पन्न होनेवाला जो अनुभवरुप ज्ञान हैं, उसको ही "प्रमा" कहते हैं। स्मृति साक्षात् प्रत्याक्षादि प्रमाणो से उत्पन्न नहीं होती हैं, परन्तु प्रत्यक्षादि अनुभव से संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती हैं। संस्कारो में प्रामाण्य न होने से स्मृति को भी प्रमाण (कुछ लोग) मानते नहीं हैं। इसलिए इस मत में स्मृति को छोडकर केवल अनुभवात्मक प्रमा का **"अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वं"** "यह लक्षण किया गया हैं। उसमें **"प्रमात्वम्"** लक्ष्यवाचक पद हैं और **''अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं''** लक्षणवाचक पद हैं। जो विषय को पहले जाना नहीं हैं और जो विषय अन्य प्रमाणो से बाधित न हो, उस विषय के ज्ञान को प्रमा कहा जाता हैं। स्मृति का विषय (जिसका स्मरण होता हैं, वह पदार्थ) पहले ज्ञान होता हैं। क्योंकि अनुभव के बिना स्मरण नहीं हो सकता। इसलिए लक्षण में **''अनधिगत''** पद लिखने से स्मृति के विषय की व्यावृत्ति हो जाती हैं। उसी तरह से **''शुक्तौ इदं रजतम्''** शुक्ति में रजत का ज्ञान होता हैं। इस ज्ञान का विषय रजत हैं। परन्तु उसका प्रमाण द्वारा बाध होता होने से ''शुक्ति'' में होनेवाला रजत का ज्ञान ''प्रमा'' नहीं हैं। ऐसे बाधित विषय को छोड देने के लिए लक्षण में विषय को 'अबाधित' विशेषण लगाया हैं। इसलिए पूर्वोक्त लक्षण स्मृति में बनता न होने से केवल अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण हैं।

जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता हैं, अर्थात् उत्तरज्ञान से बाधित नहीं होता हैं, ऐसी स्मृति को भी कुछ लोग प्रमाण मानते हैं। इसलिए **''अबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्''** ऐसा दूसरा स्मृतिसाधारण लक्षण किया हैं।

प्रमाण का सामान्य लक्षण बताकर अब प्रमाण के प्रकार और उसके विशेष लक्षण बताते हुए वेदांतपरिभाषा में कहा हैं कि,

''तानि च प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्यनुपलब्धिभेदात्''

वे प्रमाण छः हैं : (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) अर्थापत्ति और (६)अनुपलब्धि।

प्रत्यक्षप्रमाण :- तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्ष प्रमा चात्र चैतन्यमेव 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ.३-४-१) **इति श्रुतेः** ॥ (वेदांत परिभाषा)

प्रत्यक्षप्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता हैं। वेदांत सिद्धांत में प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही हैं। क्योंकि, **''यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म''** यह श्रुति हैं।

कहने का आशय यह हैं कि, घट के साथ चक्षुसंयोग होने के बाद ''यह अमुक वस्तु'' ऐसे प्रकार का जो प्रमात्मक ज्ञाना होता हैं, उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता हैं। (यह बात प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा होते प्रत्यक्ष के बारे में जानना।) यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता हैं। (७८)सविकल्पक और निर्विकल्पक। **''सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम्।''** जो प्रत्यक्ष में विशेषण अथवा नाम, रुप, जाति आदि का भी बोध होता हैं, उसको सविकल्पक कहा जाता हैं। जैसे कि, चक्षुरिन्द्रिय से घटत्वावच्छिन्न घट का बोध होता हैं। **''निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्''** निर्विकल्पक ज्ञान में केवल वस्तुमात्र का बोध होता हैं। उसके नाम, जाति आदि का बोध नहीं होता हैं। अर्थात्

(७८) तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात्। तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं। यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्। यथा सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादि-वाक्यजन्यज्ञानम्।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सविकल्पकज्ञान में विशेषणविशिष्टविशेष्य का बोध होता हैं और निर्विकल्पक ज्ञान में विशेषणविशिष्टविशेष्य का बोध नहीं होता हैं। जैसे कि, सविकल्पक ज्ञान में घटत्वावच्छिन्न घट का और निर्विकल्पक ज्ञान में केवल घट का बोध होता हैं।

नैयायिक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के छः प्रकार बताते हैं। (१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्तसमवेत-समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत-समवाय और (६) विशेष्य-विशेषणभाव। ये इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से क्रमशः घटादि द्रव्य, तद्गत रुप, रुप की जाति (रुपत्व), शब्द, शब्दत्व तथा अभाव और समवाय संबंध का ग्रहण होता हैं।

वेदांत दर्शन समवाय को नहीं मानता हैं। उसके मत अनुसार वस्तु और तद्गत रुप के बीच तादात्म्य हैं। इसलिए उनके मतानुसार [७९]सन्निकर्ष पांच ही हैं। संयोग १, संयुक्त तादात्म्य २, संयुक्ताभिन्न तादात्म्य ३, तादात्म्य ४ तथा अभिन्न तादात्म्य ५। (ये पांचो सन्निकर्षो की आवश्यकता आदि की चर्चा आगे देखेंगे।) अभाव के ग्रहण के लिए एक भिन्न (अनुपलब्धि) प्रमाण मानते हैं और वेदांतीओ के मतानुसार समवाय कोई वस्तु ही नहीं हैं। इसलिए अभाव और समवाय को ग्रहण करने के लिए ''विशेषण विशेष्यभाव'' सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं हैं।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं। एक इन्द्रियों से जन्य और दूसरा इन्द्रियो से अजन्य। इन्द्रियाँ केवल घ्राणादि पांच हैं। वेदांती मन को इन्द्रिय मानते नहीं हैं। वेदांत परिभाषा के प्रत्यक्षपरिच्छेद में [८०]मन के इन्द्रियत्व का खंडन किया गया हैं। इसलिए सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष ''इन्द्रियाजन्य'' हैं। पांचो इन्द्रियो में घ्राण, जिह्वा और त्वचा तो अपने-अपने स्थान उपर रहकर ही विषय का ज्ञान करती हैं (अप्राप्यकारी)। श्रोत्र और चक्षु विषय के स्थान के उपर पहुँचकर उसके साथ संयोग करके विषय को ग्रहण कराती हैं (प्राप्यकारी)। शब्दग्रहण में नैयायिक जो ''वीचितरङ्गन्याय''की प्रक्रिया बताते हैं, वह वेदांतीओ को मान्य नहीं हैं।

साक्षीचैतन्य की द्विविधता से (अर्थात् द्रष्टा और ज्ञाता की दृष्टि से) पूर्वोक्त प्रत्यक्ष के अन्य दो भेद बताते हुए वेदांत परिभाषा-प्रत्यक्ष परिच्छेद में बताया हैं कि,

''तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः। विशेषणं च कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। रुपविशिष्टो घटोऽनित्य इत्यत्र रुपं विशेषणम्। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः। अयमेवोपाधिर्नैयायिकैः परिचायक इत्युच्यते ॥''

भावार्थ :- निर्विकल्पक और सविकल्परुप प्रत्यक्ष के पुनः दो प्रकार हैं। एक जीवसाक्षि प्रत्यक्ष और दूसरा ईश्वरसाक्षि-प्रत्यक्ष। उसमें अंतःकरणावच्छिन्न चैतन्य ''जीव'' हैं। और अंतःकरणोपहित चैतन्य ''जीवसाक्षि'' हैं।

(७९) पांच सन्निकर्षो का स्वरुप वेदांतपरिभाषा के विषयपरिच्छेद में दिया गया हैं। (८०) वेदांतपरिभाषा (चोखम्बा) पृ.३१ से ३६

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतःकरण जब चैतन्य का विशेषण रहता हैं, तब (चैतन्य) ''जीव'' कहा जाता हैं और अंतःकरण जब चैतन्य की उपाधि रहती हैं, तब उसको जीव का साक्षित्व प्राप्त होता हैं। अर्थात् अंतःकरण के विशेषणत्व और उपाधित्व के कारण ''जीव'' और ''जीवसाक्षि'' ऐसे भेद होते हैं।

प्रश्न : विशेषण और उपाधि में क्या अन्तर हैं ? **उत्तर :** विशेषण और उपाधि दोनों व्यावर्तक और वर्तमान होते हैं। अर्थात् ''वर्तमानत्व और व्यावर्तकत्व'' दोनों धर्म विशेषण और उपाधि में समानतया रहते हैं। परन्तु विशेषण कार्यान्वयी होते हैं और उपाधि कार्यान्वयी नहीं होती हैं। जैसे कि, ''रुपविशिष्ट (रुपविशेषणसे युक्त) घट अनित्य हैं।'' इसमें ''रुप'' विशेषण हैं। क्योंकि ''घट'' उससे युक्त हैं। परंतु ''कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न (महाकाश से पृथक्) आकाश श्रोत्र हैं''। यहाँ ''कर्णशष्कुलि'' उपाधि हैं। ''रुप'' घट से सम्बद्ध रहने के कारण विशेषण हैं, परन्तु आकाश कर्णशष्कुलि से सम्बद्ध नहीं हैं, क्योंकि, निरवयव आकाश और सावयव कर्णशष्कुलि दोनों में संबंध का संभव नहीं हैं। इसलिए ही ''कर्णशष्कुलि'' उपाधि हैं, विशेषण नहीं हैं। घट जिस तरह से रुप से विशिष्ट रहता हैं, उस तरह से कर्णछिद्र कान से विशिष्ट नहीं हैं। मूल में 'कार्यान्वयी' और 'कार्यानन्वयी' शब्द हैं। उसमें से ''कार्य'' पद का अर्थ अवच्छेद्य (अन्वय योग्य) हैं। अवच्छेद्य से संबद्ध होने योग्य घटादि पदार्थ हैं।

''रुपविशिष्ट घट'' यहाँ 'रुप' को घट पदार्थ से अन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से ''विशेषणत्व'' हैं। और ''कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश'' यहाँ कर्णशष्कुलि पद के कार्य से अनन्वयित्व, व्यावर्तकत्व और वर्तमानत्व होने से उपाधित्व हैं। वेदांती की इस उपाधि को ही नैयायिक (८१)परिचायक कहते हैं।

अब ''जीवसाक्षी'' के प्रसंग में अंतःकरण में उपाधित्व किस तरह से बनता हैं, उसे कहते हैं-

(८२)प्रकृते चान्तः करणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयभासकचैतन्योपाधित्वम् । अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना । एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसंगः ॥

भावार्थ:- प्रकृत प्रसंग में अंतःकरण को जड होने के कारण उसमें विषयावभासकत्व का योग नहीं हो सकता हैं। इसलिए अन्तःकरण में विषयावभासक चैतन्य का उपाधित्व हैं। यह जीवसाक्षिचैतन्य प्रत्येक आत्मा में भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक प्रमाता का साक्षि-चैतन्य यदि भिन्न-भिन्न माना न जाये तो मैत्र को अवगत हुआ पदार्थ चैत्र को भी अनुसंधान होने लगेगा।

कहने का आशय यह हैं कि, यहाँ शंका उपस्थित हो सकती है कि, कर्णशष्कुली को उपाधि कहना तो उचित हैं। परन्तु अंतःकरण को ''जीवसाक्षिचैतन्योपाधित्व'' कहना प्रयोजन शून्य (व्यर्थ) हैं। क्योंकि, प्रमाता

---

(८१) परिचायकत्वं तदघटकत्वे सत्यर्थविशेषज्ञापकत्वम्। लक्षणाघटकत्वे सति लक्षणघटकपदार्थज्ञापकत्वं परिचायकत्वम् **(श्री गदाधर भट्टाचार्य विरचित अवयव प्रकरणम् - भावबोधिनी)** (८२) जीवपक्षे अन्तःकरणं विशेषणम् साक्षिपक्षे तु उपाधिः, अत्र किं कारणम् ? शुद्धचैतन्यं निर्विकारं भवति, चेतनानधिष्ठितं केवलमन्तः करणं जडं भवति, तस्मात् केवलमन्तःकरणं जडं भवति, तस्मात् कर्तृत्वलक्षणजीवत्वान्वयासम्भवेऽपि अन्योन्य-तादात्म्यापन्नयोस्तयोः जीवत्वान्वये बाधकाभावात् अन्तःकरणस्य स्वान्वितचैतन्यांशे विधेयेन जीवत्वेन अन्वयाद् वर्तमानत्वाद् व्यावर्तकत्वाच्च विशेषणत्वं युक्तम्। किन्तु साक्षिपक्षे अन्तःकरणस्य विशेषणत्वं नैव युक्तम्। विषयावभासकत्वं हि साक्षित्वम्। न चान्तःकरणस्य तद्युज्यते जडत्वाद् विकारित्वाच्च तस्य। तथा च विवरणकाराः ''सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव। तस्मात् स्वान्वितचैतन्यांशे विधेयेन साक्षित्वेन अन्तःकरणस्य अन्वयाभावात् तस्योपाधित्वं युक्तम्। (वेदांत परिभाषा-चौखम्बा, पृ-८७, ८८, टिप्पनकम्)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने (अंत:करणावच्छिन्नचैतन्य=जीव ने) विषय प्रकाशन हेतु अपने साक्षी की यदि अपेक्षा की हो, तो उसको साक्षिचैतन्य की उपाधि मानना योग्य हो सकता हैं, परन्तु प्रमाता विषयप्रकाशन के लिए स्वसाक्षी की अपेक्षा ही रखता नहीं हैं। उस साक्षी की सहायता के बिना चक्षुरादि इन्द्रियजन्य वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से ही विषय को प्रकाशित कर लेगा।

ऐसी शंका करना उचित नहीं हैं। क्योंकि ''अंत:करण'' अविद्या का कार्य होने से जड हैं। इसलिए उस विषय को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ अनेक होने के कारण, उस वृत्तियों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य भी अनेक हैं। उस कारण से अनेक संख्यकवाली वृत्तियों का समस्त विषयो का अनुसंधातृत्व संभव नहीं हैं। क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न हो कर नाश होनेवाली वृत्तियाँ संपूर्ण विषयो का अनुसंधान करने में समर्थ नहीं हैं। प्रमाता, अंत:करण से अवच्छिन्न होने से उसको भूत-भविष्य-वर्तमानकालीन विषयो का अनुसंधान करने में (करने के लिए) दूसरे की अपेक्षा रहती हैं। उसके सिवा त्रैकालिक विषयो का अनुसंधान संभव नहीं हैं। इसलिए प्रमाता से संबद्ध और ब्रह्माभिन्न ऐसे साक्षी की अत्यंत आवश्यकता हैं। इसलिए अंत:करण में साक्षी का उपाधित्व अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

दूसरी एक शंका यह हो सकती है कि, जीवसाक्षी का ब्रह्म के साथ अभेद होने से उसमें स्वयं प्रकाशत्व हैं। इसलिए साक्षि में सर्वविषयानुसंधातृत्व हैं, ऐसा मानने से उसमें एकत्व प्राप्त होता हैं। क्योंकि, ब्रह्म एक हैं। इसलिए ब्रह्माभिन्न साक्षी में भी एकत्व ही हैं। और सर्वजीवो के साक्षी एक हैं, ऐसा मानने से एक जीव के द्वारा अनुभूयमान विषय का अनुसंधान दूसरे जीव को भी होने लगेगा। इस शंका का निराकरण करने के लिए ग्रंथकार कहते हैं कि, प्रत्येक जीवात्मा का यह साक्षिचैतन्य भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उसको एक मानने से मैत्र को ज्ञात हुए विषय का अनुसंधान (स्मरण) चैत्रादि अन्य व्यक्तियों को भी होने लगेगा। परन्तु ऐसी अनवस्था खडी न हो जाय इसके लिए हमने अंत:करणरुप उपाधि के भेद के कारण जीवसाक्षी में नानात्व स्वीकार किया हैं। इसलिए उपर्युक्त दोष नहीं आता हैं। इस तरह से जीवसाक्षी का निरुपण करके अब ईश्वरसाक्षी का निरुपण करते हुए कहते हैं कि-

ईश्वरसाक्षि तु [८३]मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्। परन्तु (उससे विपरीत) मायोपहित चैतन्य ही ईश्वरसाक्षी चैतन्य हैं। और वह एक हैं। **यह ईश्वर साक्षिचैतन्य एक हैं, क्योंकि उस साक्षिचैतन्य की उपाधिरुप माया एक हैं। माया एक होंने से मायोपहित चैतन्य भी एक हैं।** इस तरह से दोनों साक्षिचैतन्यो में भेद हैं। (अनादि, अनिर्वाच्य, विपर्यय की उपादान और विक्षेपप्रधान ईश्वरशक्ति ही माया हैं - यह माया का लक्षण हैं।) (इन दोनों भेदो के विषय में विशेष विस्तार, जिज्ञासु वेदांतपरिभाषा के प्रत्यक्ष परिच्छेद में देखें।

● **विषयप्रत्यक्षका निकृष्ट लक्षण :-** वेदांत में विषय के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया बताते हुए वेदांतपरिभाषा में बताया हैं कि-XXX **तदर्थं निर्गलितोऽर्थः स्वाकारवृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्त-सत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्। तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जक-वृत्तिजनने विनियोगः।**

(८३) मायोपहितमविद्योपहितम्। मायाऽविद्यायोरभेद इति विवरणसिद्धान्तः। मायाविद्ययोर्भेदपक्षे तु मायोपहितमिति। विशुद्धसत्त्वप्रधानोपहितमित्यर्थः। विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, मलिसत्त्वप्रधानात्वविद्येति तयोर्भेदः। तथा च पञ्चदशीकाराः - ''तमोरजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविद्या च सा। सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।'' (वेदांत परिभाषा (चौखम्बा), पृ-८९, टिप्पनकम्)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावार्थ :- स्वाकारवृत्ति (विषयाकार वृत्ति) में उपहित (प्रविष्ट हुआ) प्रमातृ चैतन्य की सत्ता से प्रत्यक्षयोग्य विषय की सत्ता का पृथक् न होना वही विषयगत प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्षव्यवहार) का प्रयोजक हैं। अर्थात् प्रमातृ चैतन्य की सत्ता और विषय की सत्ता एक होने से ''यह घट प्रत्यक्ष हैं'' यह व्यवहार होने लगता हैं। (वस्तु के साथ चक्षुरिन्द्रियका संयोग होने से (८४)चित्तवृत्ति उस वस्तु का आकार धारण कर लेती हैं। वह वृत्ति वस्तुगत अज्ञान को नष्ट करती हैं और तब अपने में प्रतिबिंबित चैतन्य के आभास द्वारा वस्तु को भी प्रकाशित कर देती हैं। जैसे दीपक की प्रभा घटादि अंधेरे में रखा होने पर भी अंधकार का भी नाश करती हैं और घट को प्रकाशित करती हैं वैसे पूर्व के संदर्भ में योजन करे)

प्रत्यक्षयोग्य-विषयाकारवृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य का प्रत्यक्षविषयावच्छिन्न चैतन्य (वृत्यवच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य की एकता) ज्ञानगत ''प्रत्यक्षत्व'' में प्रयोजक हैं। ''विषयज्ञान प्रत्यक्ष हैं'' इत्याकार में ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वका व्यपदेश (व्यवहार) होता हैं। उसी तरह से प्रत्यक्षयोग्य विषय का पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृ-चैतन्य के साथ अभेद विषयगत-प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक हैं। ''**घटः प्रत्यक्षः**'' घट प्रत्यक्ष हैं, इस आकार में उसका व्यपदेश होता हैं।

चैतन्य ही प्रत्यक्ष-विषय का ज्ञान हैं और चैतन्य अनादि हैं। ऐसी स्थिति में संयोगादि सन्निकर्षोका उपयोग क्या हैं ? इस शंका के उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं कि, पूर्वोक्त प्रकार से दो प्रकार के प्रयोजको की सिद्धि होने से संयोग संयुक्ततादात्म्य संयुक्तभिन्नतादात्म्य, तादात्म्य, अभिन्न तादात्म्य सन्निकर्षो का घट, घटगतरुप, रुपगत रुपत्व, शब्द और शब्दत्व से अवच्छिन्न चैतन्य को अभिव्यक्त करनेवाली वृत्ति को उत्पन्न करने में विनियोग होता हैं। (अर्थात् संयोगादि सन्निकर्ष तद् तद् विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यंजकवृत्ति को पैदा करता हैं। संयोग से घटाकारवृत्ति, संयुक्ततादात्म्य से घटगतरुपाकारवृत्ति, संयुक्ता-भिन्नतादात्म्य से घट-रुपगत रुपत्वाकारवृत्ति, तादात्म्यसे शब्दाकार वृत्ति और अभिन्न तादात्म्यसे शब्दगत-शब्दत्वाकार वृत्ति पैदा होती हैं और प्रत्येक वृत्ति चैतन्य की अभिव्यंजक हैं।

ये सन्निकर्षो से उत्पन्न होनेवाली अंतःकरणवृत्ति चार प्रकार की हैं, वह बात को बताते हुए वेदांतपरिभाषा में कहा हैं कि-

सा च वृत्तिश्चतुर्विद्या संशयो, निश्चयो, गर्वः, स्मरणमिति। एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहङ्कार इति चित्तमिति व्याख्यायते। तदुक्तम्-मनोबुद्धिरहङ्कारश्चितं करणमान्तरमत्। संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥१॥

वह सन्निकर्ष जन्य वृत्ति चार प्रकार की हैं- संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण। अंतःकरण एक होने पर भी इस वृत्तिभेद के कारण वह मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन शब्दो से बोला जाता हैं। इस अंतःकरणवृत्ति के विषय में पूर्वाचार्यो ने इस अनुसार कहा हैं कि- 'मन, बुद्धि, अहंकार और चितरुप से चार प्रकार का अंतःकरण हैं। संशय, निश्चय, गर्व (अहंकार) और स्मरण, वे अंतःकरण के अनुक्रम से विषय हैं। (इस विषय की विशेष जिज्ञासा की तृप्ति वेदांतपरिभाषा आदि ग्रंथो से करें।)

पूर्वोक्त प्रत्यक्ष के दूसरी पद्धति से दो प्रकार हैं। (१) घ्राणादि पांच इन्द्रियों से जन्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और

(८४) अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञान-निरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति। (वेदान्तसार)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) इन्द्रिय अजन्य प्रत्यक्ष। उसमें सुखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रिय अजन्य प्रत्यक्ष हैं। सभी इन्द्रियां अपने अपने विषयो के साथ संयुक्त होने पर अपने अपने विषयो का प्रत्यक्ष उत्पन्न करती हैं, और उसको इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कहा जाता हैं।

विशेष में, ब्रह्म के प्रत्यक्ष में कुछ अन्तर हैं। (८५)अध्यारोपाय वादन्याय द्वारा "**तत्**" और '**त्वम्**' पदार्थो का सम्यक् ज्ञान होने के बाद गुरु साधक को '**अहं ब्रह्मास्मि**' इस महावाक्य का उपदेश देते हैं, तो उसके निरंतर चिंतन से साधक के हृदय में "मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, आनंदमय ब्रह्म हूँ" ऐसे प्रकार की परब्रह्म के आकार की वृत्ति उदित होती हैं। उसमें चैतन्य का प्रतिबिंब रहता हैं। इसलिए वह ब्रह्मगत अज्ञान का नाश कर देता हैं। अज्ञान के नाश के बाद अज्ञान (माया) के कार्यभूत समस्त संचित कर्म और अंत:करणादि का नाश हो जाता हैं। परचित्तवृत्ति भी अज्ञान का कार्य हैं। इसलिए अज्ञान का नाश होने से वह स्वत:नष्ट हो जाती हैं। अज्ञान का पूर्णत: नाश होने से स्वयं प्रकाश ब्रह्म स्वत: प्रकाशित होने लगता हैं। **प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में विस्तृत जानकारी अन्य ग्रंथो से जान लेना।**

(२) अनुमान प्रमाण :- अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्त्वेन तज्जन्याभावान्नानुमितित्वम्। (वेदांत परिभाषा-अनुमान परिच्छेद:)

जो अनुमिति प्रमा का करण हो, वह अनुमान हैं, अर्थात् जिस ज्ञान से अनुमिति नाम का यथार्थज्ञान (प्रमा) होता हैं, वह ज्ञान "अनुमान" नाम का द्वितीय प्रमाण हैं। तथा अनुमिति-प्रमा व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य हैं। अर्थात् व्याप्तिज्ञानत्व से युक्त व्याप्तिज्ञान से जो प्रमा होती हैं, वह अनुमितिप्रमा हैं। यानी कि "धूम वह्निव्याप्य हैं" अर्थात् जहाँ धूम होता हैं, वहाँ वह्नि रहती हैं। यह व्याप्ति का सामान्य उदाहरण हैं। ऐसे व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञान से जो ज्ञान होता हैं, वह अनुमितिज्ञान हैं।

यहाँ एक शंका उठती हैं कि, "धूम वहि्नव्याप्य हैं" यह व्याप्तिप्रकारक ज्ञान "पर्वत वह्निमान् हैं।" यह अनुमति प्रति जैसे कारण होता हैं, वैसे ही व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय, स्मृति, ध्वंस आदि के प्रति भी कारण हैं। क्योंकि, "मैं वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत को जानता हूँ" यह अनुव्यवसाय ज्ञान हैं। (इन्द्रियों से होनेवाला जो प्रथम ज्ञान हैं, वह "व्यवसाय" ज्ञान कहा जाता हैं। और बाद में होनेवाला तद्विषयक मानसज्ञान, अनुव्यवसाय ज्ञान कहा जाता हैं।) इस व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसाय में व्यवसाय ज्ञान कारण हैं। (इस अनुव्यवसायज्ञान में व्याप्तिज्ञानजन्यत्व हैं।) इसलिए "व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य ज्ञान को अनुमिति ज्ञान कहा जाता हैं" यह अनुमिति ज्ञान का लक्षण, व्याप्ति ज्ञान के अनुव्यवसायज्ञान में अतिव्याप्त होता हैं।

इस शंका का समाधान देते हुए ग्रंथकार "तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम्" **इस पद के द्वारा बताते हैं कि-** यद्यपि व्याप्ति का अनुव्यवसाय व्याप्तिजन्य होता हैं, फिर भी उस अनुव्यवसाय ज्ञान में जो **जन्यत्व** हैं, उस जन्यत्व से निरुपित (उस जन्यत्व से ज्ञात होनेवाला) जो व्याप्तिज्ञान में कारणत्व हैं, उस व्याप्तिज्ञान के विषयत्व रुप से (विषयत्वेन रुपेण) होता हैं व्याप्तिज्ञानत्वेन रुपेण होता नहीं हैं। उसी तरह से व्याप्तिज्ञानजन्य स्मृति, शाब्दबोध, उसका ध्वंस आदि में भी व्याप्तिज्ञानजन्यत्व होने पर भी उसमें व्याप्तिज्ञान विषयत्वरुपेण उसका कारण होता हैं। व्याप्तिज्ञानत्वरुपेण नहीं। इसलिए अनुव्यवसायादि में व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञान का जन्यत्व न होने से वह अनुमितिरुप नहीं हैं। उस कारण से अतिव्याप्ति भी नही हैं।

(८५) "स गुरु: परमकृपया '**अध्यारोपायवादं**' न्यायेनैनमुपदिशति "तस्मै स विद्वानुपसन्नाय" इत्यादि श्रुते: (वेदान्तसार)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न :- अनुमिति का करण कौन हैं ? **उत्तर :-** अनुमिति के करण को बताते हुए वेदांतपरिभाषा में कहा हैं कि- **अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम् । तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः न तु तृतीय लिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणम्, तस्यानुमितिहेतुत्वाऽसिद्ध्या तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्त्वात् ।**

व्याप्तिज्ञान अनुमिति का करण हैं । व्याप्तिज्ञान का संस्कार अवांतर व्यापार हैं । तीसरा लिंग परामर्श अनुमिति का करण नहीं हैं । क्योंकि, उसमें अनुमिति की हेतुता (कारणता) ही असिद्ध हैं । इसलिए 'असाधारणकारणत्वरुप करणत्व' ऐसा करण का लक्षण अत्यंत दूषित होता हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, नैयायिक लिंगपरामर्श को (व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता (-हेतु पक्ष में हैं) ऐसे तृतीय ज्ञानरुप लिंगपरामर्श को) अनुमिति के करण के रुप में बताते हैं । उनसे विपरीत वेदांती बताते है कि, लिंगपरामर्श अनुमिति का करण नहीं हैं, परन्तु व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण हैं । **वेदांती अपना मत बताते है कि,** अन्वय-व्यतिरेक के अनुरोध से व्याप्तिज्ञान और अनुमिति के प्रति ही कार्यकारणभाव सिद्ध होता हैं । परन्तु अन्वय-व्यतिरेक के अनुरोध से लिंगपरामर्श और अनुमिति के बीच कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता हैं । **कहने का आशय यह हैं कि,** वेदांतीयों के मतानुसार नैयायिको को मान्य लिंगपरामर्श ही अनुमिति के प्रति करण नहीं हैं । क्योंकि पक्षधर्मता ज्ञान से (पर्वत के उपर धूम के ज्ञान से) महानस में गृहीत व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्‌बुद्ध (जाग्रत) होता हैं, तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होने से वह्नि की अनुमिति होती हैं । परंतु लिंगज्ञान या पक्षधर्मता ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हो तो अनुमिति नहीं होती हैं । इस अन्वय-व्यतिरेक के (संस्कार जाग्रत होने से यदि व्याप्तिस्मरण हो तो अनुमिति होती हैं इस अन्वय और संस्कारोद्‌बोधक के अभाव में अनुमिति नहीं होती हैं इस व्यतिरेक के) अनुरोध से अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण हैं, ''परामर्श'' अनुमिति में करण नहीं हैं, यह सिद्ध होता हैं । क्योंकि **''परामर्शसत्त्वे अनुमितिः परामर्शाभावे अनुमित्यभावः''** इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक देखने को मिलता नहीं हैं । क्योंकि, जब पक्षधर्मता ज्ञान और व्याप्तिज्ञान के कारण ही अनुमिति होती हैं, तब परामर्श के बगैर भी अनुमिति होती दिखाई देती हैं । इस कारण से व्यतिरेक व्यभिचार आने का संभव हैं । इसलिए परामर्श को अनुमिति का लक्षण नहीं कहा जा सकता ।

विशेष में, महानस में जो व्याप्तिज्ञान हुआ था, उसके संस्कार अंतःकरण के उपर रहते हैं, उस अंतःकरण के उपर रहनेवाले व्याप्तिज्ञान के संस्कार ही मध्यवर्ती व्यापार हैं । इसलिए व्याप्तिसंस्कार द्वारा अनुमिति में करण होता हैं ।

यहाँ दूसरी एक बात भी याद रखें कि, वेदांती जैसे लिंगपरामर्श को करण के रुप में स्वीकार करते नहीं हैं, वैसे ज्ञायमान लिंग (हेतु) को भी अनुमिति प्रति करण मानते नहीं हैं । क्योंकि ज्ञायमान लिंग को ही यदि अनुमिति का करण माना जाये तो 'पर्वतो वह्निमान् भविष्यद् धूमात् ' आदि स्थानो में सभी को अनुमिति होती हैं, वह नहीं हो सकेगी । क्योंकि, वर्तमान में वहाँ लिंग नहीं हैं ।

● **व्याप्ति का स्वरुप :-** व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रित-साध्य-सामानाधिकरण्यरुपा । **सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते । तच्च सहचारदर्शनं भूयोदर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात् । (वेदांत परि.)**

अर्थ : सारे साधनो का जो आश्रय, तदाश्रित जो साध्य, उसके साथ हेतु का जो सामानाधिकरण्य वह व्याप्ति हैं । (जैसे कि, समस्त साधन धूम, उसका आश्रय पर्वत आदि, उसका आश्रित वह्न्यादि साध्य, उस साध्य के साथ

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेतु (धूम) का सामानाधिकरण्य जिसका रुप हैं, उसे व्याप्ति कहा जाता हैं। अर्थात् पर्वत आदि पक्ष के उपर धूम और वह्नि (साधन और साध्य) का होना- **''यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः''** इत्याकारक जो सामानाधिकरण्य (एकाधिकरणवृत्तित्व) हैं, वही व्याप्ति का स्वरुप हैं। उस व्याप्ति व्यभिचार के अदर्शन के साथ हेतु और साध्य के साहचर्य के दर्शन से ग्रहण किया जाता हैं अर्थात् ''महानस'' में धूम और वह्नि का साहचर्य देखने से ''यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः'' ऐसी व्याप्ति का ग्रहण होता हैं। शर्त केवल इतनी हैं कि, व्यभिचार का दर्शन नहीं होना चाहिए। (दो पदार्थो को नियम से एक स्थान पे देखना, वही सहचार दर्शन हैं।) वह सहचारदर्शन बहोत बार देखकर हुआ हो या एकबार देखकर हुआ हो, तो भी केवल वह व्यभिचार शून्य हो, तो उससे व्याप्तिग्रहण होता हैं। जिसका सहचारदर्शन हुआ हो उसकी व्याप्ति का ग्रहण होता हैं और जिसके सहचार का दर्शन नहीं हुआ हैं, उसकी व्याप्ति का ग्रहण नही होता हैं, ऐसे प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक के अनुरोध से सहचार दर्शन ही व्याप्तिज्ञान में प्रयोजक हैं। परंतु भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन व्याप्तिग्रहण में प्रयोजक नहीं हैं।

अनुमान में एकविधत्व :- वेदांतसिद्धांत में नैयायिको की तरह अनुमान का त्रिविधत्व स्वीकार नहीं किया हैं, परन्तु एकविधत्व ही स्वीकार किया हैं।

तच्चानुमानमन्वयिरुपमेकमेव न तु केवलान्वयी । सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वेन अत्यंताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरुप-केवलान्वयित्वस्याऽसिद्धेः ।

वेदांतमत में यह अनुमान अन्वयिरुप एक ही (प्रकार का) हैं। परंतु केवलान्वयी नहीं हैं। क्योंकि वेदांतमत में सारे धर्म ब्रह्मनिष्ठ अत्यंताभाव के प्रतियोगि होने से जो अनुमान का साध्य, अत्यंताभाव का अप्रतियोगि हो, ऐसे केवलान्वयी की असिद्धि हैं।

कहने का आशय यह हैं कि, वेदांतीयो को नैयायिको की मान्यतानुसार का केवलान्वयी लिंग मान्य नहीं हैं। क्योंकि वेदांती अन्वयीरुप एक ही लिंग मानते हैं। क्योंकि, नैयायिको को स्वीकृत केवलान्वयी लिंग का साध्य, अत्यंताभाव का अप्रतियोगी होता हैं। अर्थात् केवलान्वयी लिंग का साध्य कभी भी अत्यंताभाव का प्रतियोगि हो नहीं सकता हैं। (केवलान्वयी लिंग के साध्य का अभाव कभी भी नहीं होता हैं।)

परंतु वेदांतीयों के मत में तो ऐसा कोई साध्य पदार्थ ही संभवित नहीं हैं क्योंकि, **''नेह नानास्ति किञ्चन''** इस श्रुति से ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तुओ में ब्रह्मनिष्ठ अत्यंताभाव का प्रतियोगित्व ही रहता हैं। इसलिए अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यक ऐसी केवलान्वयित्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस तरह से केवलान्वयी लिंग का निराकरण किया, अब केवलव्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी लिंग का निराकरण करते हुए बताते हैं कि-

नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकरुपत्वम् । साध्याभावेः साधनाऽभावनिरुपित-व्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात् । अत एवाऽनुमानस्य नान्वयव्यतिरेकिरुपत्वं व्यतिरेकव्याप्ति-ज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात् ।

केवल व्यतिरेकी अनुमान भी नहीं हो सकता हैं। क्योंकि साधन द्वारा साध्य को अनुमित करने में साध्य के अभाव में साधनाभाव निरुपित व्याप्तिज्ञान का कुछ उपयोग नहीं हैं। इसलिए ही अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान भी नहीं हो सकता हैं। क्योंकि व्यतिरेकी व्याप्तिज्ञान अनुमिति के प्रति कारण नहीं हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए वेदांतमत में अन्वयिरुप एक ही अनुमान हैं। अब अनुमान के दो प्रकार का वर्णन करते हैं।

अनुमान के दो प्रकार :- तच्चानुमानं स्वार्थ-परार्थं भेदेन द्विविधम्। तत्र स्वार्थं तुक्तमेव परार्थं तु न्यायसाध्यम्। न्यायो नाम- अवयवसमुदाय :। अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः प्रतिज्ञरहेतूदाहरणरुपाः, उदाहरणोपनयनिगमनरुपा वा, न तु पञ्चावयवरुपाः। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शन-सम्भवेनाऽधिकावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात्।

– वह अनुमान स्वार्थ और परार्थ के भेद से (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान दो प्रकार का हैं। उसमें स्वार्थानुमान तो पहले बताया ही हैं। इसलिए परार्थानुमान को ही अब बताते हैं – परार्थानुमान न्यायसाध्य हैं। अवयवो के समूह को न्याय कहा जाता हैं। अनुमान के अवयव तीन ही प्रसिद्ध हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन ये अवयवो के तीन स्वरुप हैं। परंतु (नैयायिको की तरह हमारे मत में) पांच अवयव नहीं हैं। क्योंकि उपरोक्त किसी भी तीन अवयवो से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान हो जाता होने से अधिक दो अवयवो की कल्पना करना व्यर्थ हैं।

इस तरह से अनुमान प्रमाण के स्वरुपादि के विषय में सोचा। अब उपमान प्रमाण के स्वरुपादि के बारे में सोचेंगे।

(३) उपमान प्रमाण :- तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। **तथाहिः नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः 'अयं पिण्डो गोसदृश' इति। तदनन्तरं भवति निश्चयः अनेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्रान्वय-व्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणम्। गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम् (वेदांत परिभाषा-उपमान परिच्छेद)**

– सादृश्य प्रमा के करण को उपमान प्रमाण कहा जाता हैं। वह इस अनुसार से हैं – जो व्यक्ति ने शहर में ''गो'' व्यक्ति को देखी हैं, वह व्यक्ति जंगल में जाकर जब ''गवय'' को देखता हैं – अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का ''गवय'' के साथ सन्निकर्ष होता हैं, तब उस व्यक्ति को प्रतीति होती हैं कि, ''**यह पिण्ड (व्यक्ति) गाय के समान हैं**'' उसके बाद उसको ''**यह गवय जैसी मेरी गाय हैं**'' ऐसे प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान होता हैं। ये दोनों ज्ञानो में से अन्वय-व्यतिरेक के बल से गवय में होनेवाला जो गो सादृश्य ज्ञान (यह गवय गाय जैसी हैं) हैं, वह करण (उपमान) हैं और गोनिष्ठ गवय का सादृश्य ज्ञान (उसके जैसी मेरी गाय हैं) फल (उपमिति) हैं।

''उपमान'' की स्वतंत्र प्रमाण के रुप में सिद्धि करनेवाली युक्तियाँ वेदांतपरिभाषा में से जान लेना। अब आगम प्रमाण के स्वरुप का वर्णन किया जाता हैं।

(४) आगम प्रमाण :- यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। **वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि। (वेदांतपरिभाषा-आगम परिच्छेद)**

भावार्थ :- जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होनेवाला संसर्ग, अन्य प्रमाणो से बाधित न हो, वह वाक्य प्रमाण होता हैं। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान ये चार कारण होते हैं।

कहने का आशय यह हैं कि- जिसका पदार्थ संसर्ग किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित न हो ऐसे और वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग के बोधक वाक्य को ही शब्दप्रमाण कहा जाता हैं। **यहाँ किसी को शंका हो सकती हैं कि,** वेदांतमत में घटादि सर्व स्थूल जगत् मिथ्या हैं। वैसी स्थिति में शब्द से व्यक्त किये गये सभी पदार्थ बाधित

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही हैं। ऐसी परिस्थिति में ''अबाधितार्थकत्व'' रुप विशेषण संसर्ग में कभी भी संभवित होगा ही नहीं। इसलिए पूर्वोक्त लक्षण [८६]असंभव दोष से दूषित हैं।

इसका समाधान यह हैं कि, घटादि पदार्थो में पारमार्थिक सत्तारुप से बाधितत्व होने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्य अबाधित ही हैं। क्योंकि, 'बाधित' शब्द से व्यवहारकालीन बाध ही विवक्षित हैं। शब्द (आगम) प्रमाण का अन्य किसी प्रमाण में अंतर्भाव होता नहीं हैं, परन्तु यह स्वतंत्र प्रमाण हैं वह वेदांतपरिभाषा से जान लेना। अब आकांक्षादि का लक्षण और आकांक्षादि पदो के अर्थो की विचारणा आगे बताते हैं।

● **आकांक्षा :-**

तत्र पदार्थानां परस्पर-जिज्ञासा-विषयत्व-योग्यत्वमाकाङ्क्षा। क्रियाश्रवणे कारकस्य कारकश्रवणे क्रियायाः करणे श्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात्। (वे.प.-आ.परि)

- आकांक्षादि चार में आकांक्षा का स्वरुप इस अनुसार से हैं - पदार्थो की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को आकांक्षा कहा जाता हैं। जैसे कि, क्रिया (क्रियापद) सुनने पर कारक पद की और कारक पद को सुनने पर क्रिया (क्रियापद) की तथा करण के श्रवण में इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती हैं। क्योंकि, परस्पर जिज्ञासा का विषय बनता हैं। **कहने का आशय यह हैं कि,** दो या दो से अधिक पदो में से एक पद श्रवण होने से उसके ज्ञान के लिए पास में रहे हुए दूसरे पद के ज्ञान की अपेक्षा होती हैं। और उस दूसरे पद को प्रथम पद या अन्य पदों की अपेक्षा होती हैं। ऐसी परस्पर अपेक्षा की योग्यता जिन पदो में रहती हैं, उन पदो को साकांक्ष शब्द कहा जाता हैं। जैसे कि, 'गामानय'- गाय को लाओ। इस वाक्य में 'गाम्' और ''आनय'' ये दो पद हैं। वैसे ही ''आनय'' दूसरे पुरुष एकवचन की क्रिया का ''त्वं'' कर्ता भी अर्थतः ही प्राप्त होता हैं। इस तरह से तीन पदो में से ''आनय'' पद को बोलने पर क्या लाये और कौन लाये ? यह आकांक्षा उत्पन्न हो जाती हैं। अर्थात् 'आनय' क्रिया को 'गाम्' और ''त्वम्'' इस कारको की अपेक्षा होती हैं। उसी तरह से ''गाम्'' यह कर्म कारक को 'आनय' क्रिया की अपेक्षा होती हैं।

''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'' स्वर्ग की कामनावाला दर्श- पूर्णमास याग करे। इस श्रुति वाक्य से दर्शपूर्णमासयाग, स्वर्ग का करण (साधन) हैं, ऐसा ज्ञान होने से ''कथम्'' - दर्शपूर्णमासो से स्वर्ग किस प्रकार सिद्ध होता हैं ? इस प्रकार की 'इतिकर्तव्यता' की आकांक्षा होती हैं। अर्थात् ''इतिकर्तव्यता'' जिज्ञासा का विषय होता हैं। और उस आकांक्षा की निवृत्ति 'समिधो यजति' 'इडो यजति'- ''समिध् यागादि प्रयाज'' और ''अनुयाजादि'' से दर्शपूर्णमास याग को करे, आदि वाक्यो से होता हैं। इस तरह से क्रिया को कारक की, कारक को क्रिया की और करण को ''इतिकर्तव्यता'' की परस्पर जिज्ञासा होने से योग्यता होना अर्थात् ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न करानेवाले पद वाक्य में होना उसको [८७]आकांक्षा कहा जाता हैं।

● **योग्यता :- योग्यता च तात्पर्यविषयीभूत-संसर्गाबाधः। वह्निना सिञ्चतीत्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्न योग्यता। (वे.प.-आ.परि)**

अर्थ :- वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का (कर्मत्वादि संबंध का) बाध न होना-यह योग्यता का लक्षण

(८६) लक्ष्यमात्रावृत्तित्वम् असंभवः। (८७) वेदांतीओं ने आकांक्षा का जो लक्षण दिया हैं, वह पूर्वमीमांसको को भी मान्य हैं। नैयायिको का ''**येन विना यस्यान्वयाननुभावकत्वं तत्त्वमाकांक्षा**'' इस आकांक्षा का लक्षण वेदांतीयो को मान्य नहीं हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। (''वत्सं बधान'' इस वाक्य में योग्यता हैं। क्योंकि यहाँ वत्सकर्मक बंधन तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग हैं; वह किसी प्रमाण से बाधित नहीं हैं। परंतु 'वह्निना सिञ्चेत्' स्थान पे ''वह्निकरणक सेचन'' रुप अर्थ वक्ता के तात्पर्य का विषय होने पर भी वह करणत्व संसर्ग का प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बाध होता हैं। क्योंकि अग्नि दाहक हैं, उससे विरुद्ध आर्द्रीकरण क्रिया उसमें संभवित नहीं हैं। इसलिए) तादृशसंसर्ग का बाध होने से ''वह्निना सिञ्चेत्'', ''जलेन दहेत्'' इत्यादि वाक्यो में योग्यता नहीं हैं।

● **आसत्ति :- आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यः पदार्थोपस्थितिः।** पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थिति होना उसको ही आसत्ति कही जाती हैं। जो क्रिया-कारकादि पदसमूह वाक्य से शाब्दबोध होता हैं, उस वाक्य के वे पद अन्य पदो के व्यधानरहित होने चाहिए। जैसे कि, ''गाम्'' और ''आनय'' ये दोनो पद एक के बाद एक ऐसे क्रम से बीच में अन्य पद के व्यवधान बिना बोले गये हो तो ही वाक्यार्थ का बोध होता हैं। यदि ''गाम्'' पद बोलकर मौन हो जाये अथवा दूसरा कोई अनुसंधानरहित पद बोल दे और बाद में ''आनय'' पद बोले तो ऐसे व्यवधान सहित के वाक्य से अर्थबोध नहीं हो सकता हैं। इसलिए आसत्ति शाब्दबोध में कारण हैं।

● **तात्पर्यज्ञान :- तत्प्रतीति- जनन योग्यत्वं तात्पर्यम्। XXXXX--- तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसा-परिशोधितन्यायादेववधार्यते; लोके तु प्रकरणादिना।**

वाक्य में वक्ता को विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को तात्पर्य कहा जाता हैं। ''गेहे घटः'' घर में घट हैं, यह वाक्य बोलने से वक्ता को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो या न हो परंतु उस वाक्य में गृह और घट के आधार-आधेयभावरुप संबंध का ज्ञान करा देने की योग्यता रहती हैं। उस कारण से श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता हैं। सारांश में, वाक्य में गृह और घट के आधाराधेयभाव रुप संबंध का ज्ञान करा देने की जो योग्यता रहती हैं, उसका ज्ञान ही तात्पर्यज्ञान हैं। उस तात्पर्यज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता हैं।

यह तात्पर्य वेद वाक्यो में मीमांसा द्वारा परिशोधित न्यायो से ही निश्चित होता हैं। परंतु लौकिक वाक्यो में प्रकरणादि द्वारा तात्पर्य का निश्चय होता हैं।

विशेष में लौकिक वाक्य तो प्रमाणान्तरों से ज्ञात अर्थ का ही अनुवाद करते होते हैं, परंतु वैदिक वाक्यो का अर्थ प्रमाणान्तर से अज्ञात होने के कारण अनुवादरुप नहीं हैं।

पदजन्यपदार्थ की उपस्थिति शाब्दबोध में कारण हैं, यह बात देखी। अब पदार्थ के दो प्रकार बताते हुए कहते हैं कि -

पदार्थश्च द्विविधः- शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः, यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृतिविशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्तिः। [८८]सा च शक्तिः पदार्थान्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु

(८८) सा च शक्तिरिति। नैयायिकास्तावत् संकेत एव शक्तिः न तु पदार्थान्तरम् प्रमाणाभावात्। स च संकेतः 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः इतीच्छारुपः। तत्रापि न संकेतमात्रं शक्तिः, किन्तु ईश्वरसंकेत एवेति न पामरादिसंकेतितानामपभाषितानामपि शक्तत्वम्। स चेश्वरसंकेतो न ईश्वरसंकेतत्वेन गृह्यमाणः कारणम्। किन्तु संकेतत्वेन। अतः अविदुषामपि घटादिशब्दात् शाब्दबोधोपपत्तिः। आधुनिकसंकेतितानां चैत्रादिशब्दानां 'द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' इति सामान्यतः ईश्वरसंकेतितत्वमस्त्येवेति न दोष इति वदन्ति।

तदिदं मीमांसका न सहन्ते। तेषामयमाशयः अभिधा नाम शक्तिः। सा च पदार्थान्तरम्। कारणेषु कार्यानुकूलशक्तिमात्रमतिरिक्तमङ्गीकरणीम्। वह्निर्मणिसमवहितो दाहं न जनयति, मण्यसमवहितः उत्तेजकमण्यन्तरसमवहितो वा दाहं जनयति, इत्यत्र हि शक्तिसत्त्व-तद्विनाशौ एव नियामकौ सा च शक्तिः न द्रव्यं, गुणः, कर्मादिकं वा, तद्गुणराहित्यादित्यतिरिक्तः पदार्थः। एवं च शब्दनिष्ठा शक्तिरपि अतिरिक्तैव अंगीकरणीया। कस्मिन् पदे कीदृशार्थबोधनानुकूलशक्तिर्विद्यते इति नु व्यावहारादिसिद्ध-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यानुकूलशक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात् ।

वह पदार्थ शक्य और लक्ष्य ऐसे दो प्रकार का हैं। (उसमें शक्तिरुप वृत्ति से युक्त को शक्य कहा जाता हैं और लक्षणारुप वृत्ति से युक्त को लक्ष्य कहा जाता हैं।) पदो के वाच्य अर्थ में स्थित मुख्यवृत्ति को (शक्यपद की घटक) शक्ति कहा जाता हैं। जैसे कि, 'घट' पद की तल तथा मध्य भाग में वर्तुल (गोल) आकार से युक्त वस्तुविशेष में रहनेवाली वृत्ति ही शक्ति कही जाती हैं। वह शक्ति पृथक् (अतिरिक्त) पदार्थ हैं। क्योंकि कारण में विद्यमान होने पर कार्योत्पत्ति के अनुकूल (जनक) समस्त (यावत्) शक्ति को सिद्धांत में पृथक् पदार्थ के रुप में स्वीकार किया हैं। (अब लक्ष्य पदार्थ का निरुपण करते हैं।)

तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः । लक्षणा च द्विविधा-केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति । तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा, यथा 'गंगायां घोष' इति अत्र प्रवाहसाक्षात् सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा । यत्र शक्यपरंपरासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा । यथा द्विरेफ पदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपद-घटितपरंपरासंबंधेन मधुकरे वृत्तिः ।

उसमें (शक्य और लक्ष्य में) जो (पदार्थ) लक्षणा में (लक्षणाजन्य ज्ञान में) विषय हो उसे लक्ष्य कहा जाता हैं। लक्षणा के दो प्रकार हैं (१) केवललक्षणा और (२)लक्षितलक्षणा। उसमें शक्य का साक्षात् संबंध जहाँ हो, उसे केवल लक्षणा कहा जाता हैं। जैसे कि, 'गङ्गायां घोष' इस वाक्य में ''गंगा'' पद की गंगापद वाच्य गंगाप्रवाहरुप पदार्थ के साथ साक्षात् संयोग से सम्बद्ध रहनेवाले तीर रुप अर्थ में केवल लक्षणा हैं।

जहाँ शक्यार्थ के परंपरा संबंध द्वारा अर्थान्तर (वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ) की प्रतीति होती हो, वहाँ लक्षितलक्षणा जाने। जैसे कि, ''द्विरेफ'' पद की शक्ति दो रकाररुप अर्थ हैं। उस द्विरेफ शक्तपद की भ्रमर पद से घटित परंपरासंबंध से मधुकररुप अर्थ में वृत्ति हैं।

कहने का आशय यह हैं कि, द्विरेफ शब्द को सुनते ही मधुकर (भँवरा) अर्थ की प्रतीति होती हैं। परन्तु मधुकर द्विरेफ पद का वाच्यार्थ नहीं हैं। क्योंकि 'द्विरेफ' पद का वाच्यार्थ तो दो और रकार हैं। इसलिए, ''द्विरेफ'' पद की पूर्वोक्त परंपरा संबंध से भ्रमर में लक्षणा की जाती हैं। और वह लक्षितलक्षणा हैं। उसको निरुढ लक्षणा भी कही जाती हैं। प्रकारान्तर से लक्षणा में तीन भेद भी वेदांतपरिभाषा में बताये हैं। विशेष जिज्ञासुओ को उस ग्रंथ से जान लेने का परामर्श हैं। विशेष में वेदांतमत में लक्षणा का बीज तात्पर्य अनुपपत्ति हैं, नहीं कि अन्वय अनुपपत्ति। (१) लक्षणा केवल पदवृत्ति नहीं हैं, परन्तु वाक्य में भी वृत्ति हैं। इन दो मुद्दो की विचारणा वेदांतपरिभाषा में की हैं। विस्तार भय से वह चर्चा यहाँ पर संगृहित नहीं की हैं। विशेष जिज्ञासु तत्रस्थ पदार्थो का अवगाहन स्वयमेव करे। इस तरह से आगमप्रमाण के स्वरुपादि की विचारणा कि, अब अर्थापत्ति प्रमाण के स्वरुपादि की विचारणा करेंगे।

(५) अर्थापत्ति प्रमाण :- तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादक-कल्पनमर्थापत्तिः । **तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम् । उपपादकज्ञानं फलम् । येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति**

शक्तिविषयः पदार्थः शक्यः इति ज्ञेयम्। यदि सर्वत्रैव शक्तिः पदार्थान्तरम्, तदा किमु वक्तव्यं शक्तिविशेषस्य पदनिष्ठस्य पदार्थान्तरत्वे इति। एवं च मीमांसकसिद्धान्ते अद्वैतसिद्धान्ते च यथा कारणनिष्ठा कार्यानुकूला शक्तिः पदार्थान्तरं तथा पदनिष्ठा पदार्थोपस्थित्यनुकूला शक्तिरपि पदार्थान्तरं, तस्या अपि कारणनिष्ठकार्यानुकूलशक्तित्वात् । कारणत्वात् पदार्थोपस्थितेश्च कार्यत्वात् । (वेदांत परिभाषा-चौखम्बा, पृ. २०७-२०८, टिप्पनकम्)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रात्रिभोजनमुपपादकम् ।

– उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना करना उसे अर्थापत्ति कहा जाता हैं। उपपाद्यज्ञान करण हैं और उपपादकज्ञान फल हैं। (प्रथम को (८९)अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता हैं और दूसरे को अर्थापत्ति प्रमा कहा जाता हैं।)

जिसके (जो कारण) बिना जो (वस्तु) अनुपपन्न रहती हैं, वह वस्तु वहाँ उपपाद्य हैं और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती हैं, वह वहाँ उपपादक हैं। जैसे कि रात्रिभोजन के बिना दिन में न खाते हुए व्यक्ति का पीनत्व (स्थूलत्व-हृष्टपुष्टत्व) अनुपपन्न रहता हैं। वहाँ तादृशपीनत्व उपपाद्य हैं और रात्रीभोजन के अभाव में तादृशपीनत्त्व की अनुपपत्ति होती हैं, इसलिए वहाँ रात्रीभोजन उपपादक हैं। सारांश में, दिन में न खाते व्यक्ति के पीनत्व के ज्ञान से (उपपाद्य के ज्ञान से) रात्रिभोजनरुप कल्पना की जाती हैं, उसे अर्थापत्ति कहा जाता हैं।

उपरांत, **अर्थापत्ति के दो प्रकार हैं।**(९०) (१) दृष्टार्थापत्ति और (२) श्रुतार्थापत्ति। चक्षुरिन्द्रिय आदि इन्द्रियो के द्वारा हुआ विषय अनुपपन्न होने पर उपपादक विषय की कल्पना की जाये उसको ''**दृष्टार्थापत्ति**'' कहा जाता हैं। जैसे कि, ''देवदत्त दिन में खाता नहीं हैं और (फिर भी) स्थूल हैं'' यहाँ देवदत्त का स्थूलत्व प्रत्यक्ष हैं। परन्तु वह दिन में खाता हुआ दिखाई नही देता हैं। इसलिए अनुपपन्न हैं। इसलिए देवदत्त के स्थूलत्व की संगति के लिए ''रात्रिभोजन'' इस उपपादक अर्थ-विषय की कल्पना की जाती हैं।

जहाँ श्रूयमाण (सुनाई देते) वाक्य में स्वार्थ की अनुपपत्ति होने के कारण अर्थान्तर की कल्पना की जाती हैं, उसे **श्रुतार्थापत्ति** कही जाती हैं। जैसे कि, ''जीवित देवदत्त घर में नहीं हैं'' इस वाक्य को सुनने से देवदत्त के बहिर्सत्त्व अर्थ की कल्पना की जाती हैं, वह श्रुतार्थापत्ति हैं।

पुन: श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं(९१)। (१)अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति।

जहाँ वाक्य के एकदेश के श्रवण से अन्वय की अनुपपत्ति होने पर अन्वयाभिधानोपयोगी किसी दूसरे पद की कल्पना की जाती हैं, वहाँ **अभिधानानुपपत्ति नामक श्रुतार्थापत्ति हैं।** जैसे कि, केवल ''द्वारम्'' यह शब्द सुनते ही अन्वय की उपपत्ति नहीं होती हैं, इसलिए अन्वय की उपपत्ति के लिए ''पिधेहि'' पद का अध्याहार किया जाता हैं, वह अभिधानानुपपत्ति नामक श्रुतार्थापत्ति हैं।

जहाँ वाक्य से अवगत (मालूम हुआ) अर्थ स्वयं अनुपपन्न रुप से ज्ञात होकर दूसरे अर्थ की कल्पना कराता हैं, वह **अभिहितानुपपत्ति श्रुतार्थापत्ति** कहा जाता हैं। जैसे कि, ''**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्**'' इस विधिवाक्य में ज्योतिष्टोम को स्वर्ग के साधन के रुप में बताया जाता हैं, वह अवगत होने पर भी एक अनुपपति रहती हैं कि, अल्पकालीन (क्षणिक) यज्ञ साक्षात् रुप से स्वर्ग का साधन नहीं हैं। इसलिए उस अनुपपत्ति के परिहार के लिए मध्यवर्ती ''अपूर्व'' का अध्याहार होता हैं। (अर्थात् ज्योतिष्टोम से पुण्य होता है और उससे स्वर्ग मिलता हैं।)

विशेष में, अर्थापत्ति की अतिरिक्त प्रमाण के रुप में सिद्धि वेदांतपरिभाषा से जान लेना। तदुपरांत अर्थापत्ति प्रत्यक्षादि छ: प्रमाणपूर्विका होती है। उसका सोदाहरण निरुपण प्रस्तुत ग्रंथ के श्लो-७५ की टीका में किया है। वहाँ से देख लेना। अब अनुपलब्धि प्रमाण की विचारणा करेंगे।

(८९) 'अर्थस्य-रात्रिभोजनरुपस्य उपपादकज्ञानस्य आपत्ति: कल्पना (रात्रिभोजनकल्पनमेव) अर्थापत्तिप्रमा' तथा 'अर्थस्य रात्रिभोजनरुपस्य उपपादकज्ञानस्य कल्पना यस्मात् (करणात्) तदेवार्थापत्तिप्रमाणम्।' (९०) दोनों प्रकार की विशेष चर्चा वेदांतपरिभाषा-अर्थापत्ति परिच्छेद में से देखे। (९१) दोनों प्रकार की विशेष चर्चा वेदांतपरिभाषा-अर्थापत्ति परिच्छेद में से देखे।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) अनुपलब्धि प्रमाण :- ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरुपं प्रमाणम् ।

व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, तात्पर्ययुक्तशब्दज्ञान और उपपाद्यज्ञान यह ज्ञानरुप करणो से अजन्य जो अभाव विषयक अनुभव हैं उसके असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता हैं ।

वेदांत मत में किसी भी विषय के अभाव का जो साक्षात् ज्ञान होता हैं, वह अनुपलब्धि प्रमाण से होता हैं। पूर्वोक्त प्रत्यक्षादि पांचो प्रमाण भाव पदार्थो की उपलब्धि के जनक हैं, परंतु अभाव की उपलब्धि के जनक नहीं हैं। इसलिए अभाव की उपलब्धि के जनक अनुपलब्धि को वेदांतीओ ने स्वतंत्र प्रमाण के रुप में स्वीकार किया हैं। इस विषय की विशेष चर्चा वेदांतपरिभाषा से जान लेना।

अवसर प्राप्त अभाव के चार प्रकार का वर्णन वेदांत परिभाषा के अनुपलब्धि परिच्छेद में किया हैं, वह संक्षिप्त में देखेंगे। अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार प्रकार हैं - (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यंताभाव और (४) अन्योन्याभाव (भेद)।

घटादि के कारणभूत मृत्पिडादि में उत्पत्ति से पूर्व (प्राक्) घटादि कार्य का जो अभाव रहता हैं, वह **प्रागभाव** हैं। और वह '**भविष्यति**' भविष्य में होगा इत्याकारक प्रतीति का विषय होता हैं। अर्थात् यह[९२] प्रागभाव "**इह मृत्पिण्डे घटो भविष्यति**" ऐसे प्रकार की प्रतीति का विषय बनता हैं।

वही मृत्पिंड में घट का मुद्गरपातादि से अनन्तर जो अभाव होता हैं, वह [९३]**प्रध्वंसाभाव** हैं।

जिस अधिकरण में किसी भी वस्तु का तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल) में अभाव प्रतीत हो उसे [९४]**अत्यन्ताभाव** कहा जाता हैं। जैसे कि, वायु में रूपात्यन्ताभाव।

'यह, यह नहीं हैं' ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव बनता हैं, उसको "**अन्योन्याभाव**" कहा जाता हैं। अर्थात् एक वस्तु में उससे भिन्न अन्य किसी वस्तु का अभाव अन्योन्याभाव हैं। "यह घट, पट नहीं हैं," यहाँ घट में भी पट का अभाव प्रतीत होता हैं, वह अन्योन्याभाव को बताते हैं।[९५] विभाग, भेद, पृथक्त्व शब्दो से अन्योन्याभाव का व्यवहार होता हैं। क्योंकि विभागादि को अन्योन्याभाव से भिन्न मानने में प्रमाण नहीं हैं। यह अन्योन्याभाव का अधिकरण यदि सादि (उत्पत्तिमत्) हो तो वह सादि जानना और अधिकरण अनादि हो तो वह अनादि जानना। जैसे कि, जीव में ब्रह्म का भेद या ब्रह्म में जीव का भेद।

पुनः भेद दो प्रकार का हैं। (१) सोपाधिक और (२) निरुपाधिक। उन दोनों में जिन की सत्ता, उपाधि की सत्ता से व्याप्य होता हैं, उसे सोपाधिक भेद कहा जाता हैं। और ऐसी सत्ता से रहित जो भेद, वह निरुपाधिक भेद हैं। उसमें प्रथम भेद का उदाहरण :- एक ही आकाश के घटादि उपाधि के भेद से जो (घटाकाश, मठाकाश, पटाकाश आदि) भेद होते हैं, वह सोपाधिक भेद हैं। उसी ही तरह से एक ही ब्रह्म के अंतःकरण के भेद से जो भेद होता हैं, वह भी सोपाधिक भेद ही होता हैं। "घट में पट का भेद" यह दूसरा निरुपाधिक भेद हैं। इस तरह से छः प्रमाणो के संक्षिप्त में स्वरुप-भेद आदि देखें। विशेष जिज्ञासुओं को वेदांत परिभाषा आदि ग्रंथो का आलोकन करने का परामर्श हैं।

(९२) तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः, स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः। (९३) तत्रैव घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः। ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। (९४) यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः सोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रुपात्यन्ताभावः। (९५) इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभावः। अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते। (वेदांत परिभाषा)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रामाण्यवाद :- वेदांत मत में पहले बताये अनुसार ये प्रत्याक्षादि छः प्रमाण हैं। ये छः प्रमाण से छः प्रकार की प्रमा (ज्ञान) होती हैं। इन प्रमाओं का प्रामाण्य स्वतः ही अर्थात् उस ज्ञान से ही उत्पन्न होता हैं और मालूम पडता हैं। वह इस प्रकार से स्मृति और अनुभव के लिए साधारण और संवादि प्रवृत्ति (सफल प्रवृत्ति) के लिए अनुकूल प्रमात्व अर्थात् तद्वान् पदार्थ में तत्प्रकारक ज्ञान होना वह प्रामाण्य हैं और प्रामाण्य ज्ञानसामान्य की सामग्री का ही कार्य हैं, उसके लिए उससे अधिक गुण की अपेक्षा नहीं रहती हैं। क्योंकि, समस्त प्रमाओ में अनुगत रहनेवाला कोई गुण नहीं हैं। इस तरह से वेदांतमत में प्रमा का प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता हैं और स्वतः ही ज्ञात होता हैं। अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः ही होती हैं।[९६]

अप्रामाण्य ज्ञानसामान्य की सामग्री का कार्य नहीं हैं। अर्थात् ज्ञानसामान्य की सामग्री से प्रयोज्य नहीं हैं। अन्यथा ज्ञानसामान्य की सामग्री से प्रयोज्य प्रमा में भी अप्रामाण्य की आपत्ति आयेगी परंतु अप्रामाण्य दोष से प्रयोज्य हैं अर्थात् अप्रामाण्य दोष का कार्य हैं। (अप्रमाण्यं तु न ज्ञान सामान्य-सामग्री प्रयोज्यम्, प्रमायामप्यप्रमाण्यापत्तेः। किन्तु दोष प्रयोज्यम्। (वे. परिभाषा।)

- प्रामाण्य के दो प्रकार :- एवं निरुपितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं द्विविधम् व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वं पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वं चेति। तत्र ब्रह्मस्वरुपावगाहिप्रमाणव्यतिरिक्तानां सर्वप्रमाणानामाद्यं प्रामाण्यम् , तद्विषयाणां व्यवहारदशायां बाधाभावात् द्वितीयं तु जीवब्रह्मैक्यपराणां ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा. ६-२-१) इत्यादीनां ''तत्त्वमसि'' (छा.६-८-१) इत्यन्तानाम् । तद्विषयस्य जीवपरैक्यस्य कालत्रयाबाध्यत्वात् (वे. प. विषय परिच्छेद)

- इस प्रकार निरुपति किये गये प्रमाणो का प्रामाण्य दो प्रकार का हैं। (१) व्यावहारिक तत्त्व का आवेदक (ज्ञान करानेवाला) और (२) पारमार्थिक तत्त्व का आवेदक (ज्ञान करानेवाला)

उसमें ब्रह्मस्वरुप के अवगाही (बतानेवाले) प्रमाण से अतिरिक्त अन्य प्रमाणो में प्रथम व्यावहारिक प्रामाण्य होता हैं। क्योंकि, उसके विषय व्यवहारदशा में बाध नहीं होते हैं। परंतु जीव और ब्रह्म को एक बतानेवाले ''सदेव...'' ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वाक्यो में द्वितीय (पारमार्थिक) प्रामाण्य होता हैं। क्योंकि, जीव-ब्रह्म-ऐक्यरुप विषय तीनो काल में अबाध्य रहता हैं।

कहने का आशय यह हैं कि, विषय बाधित न होना, यह [९७]प्रामाण्य का लक्षण हैं। ब्रह्मबोधक प्रमाण से भिन्न प्रमाणो का विषय व्यवहार दशा में ही अबाधित होता हैं। जब ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होने पर ''जगत मिथ्या हैं'' ऐसा ज्ञान होने से उसका बाध होता हैं। इसलिए उसका प्रामाण्य व्यावहारिक ही रहता हैं। परंतु उससे विपरीत ''तत्त्वमसि'' इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादन किया हुआ जीव-ब्रह्म-ऐक्य कभी भी बाधित नहीं होता हैं। इस कारण से ब्रह्मबोधक प्रमाणो में प्रामाण्य होने से जीव-ब्रह्मैक्य वाक्य ही परमार्थतः प्रमाण हैं।

इस अनुसार से प्रमाण विषयक विचारणा पूर्ण होती हैं। प्रमाण के विषय में (प्रमाण के भेद, उसके लक्षण, प्रमाण का सामान्य लक्षण, प्रामाण्यविचार आदि विषयो में) दार्शनिक जगत में अनेक प्रकार के मतभेद हैं। यहाँ वेदांत दर्शन की मान्यता का वर्णन किया हैं।

(९६) एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तथाहि स्मृत्यनुभवसाधारणसंवादिप्रवृत्यनुकूल तद्वति तत्प्रकारक ज्ञानत्वं प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानसामान्यसामग्री प्रयोज्यं, न त्वधिकं गुणमपेक्षते प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात्। (९७) अबाधितार्थ-विषयकज्ञानत्वं प्रमात्वम् इत्यत्र अबाधितपदेन व्यवहारकालाबाधित्वस्यैव ग्रहणात् सर्वेषामपि प्रमाणानां प्रामाण्यं समानम्। व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वम् व्यवहारकालाबाध्यसत्त्वावगाहिज्ञानजनकत्वम् । पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वम् कालत्रयाबाध्यसत्त्वा-वगाहिज्ञानजनकत्वम्।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

● **मुक्ति-मोक्ष विचार :-** सभी आस्तिक दर्शनो का अंतिम लक्ष्य संसार के बंधनो से मुक्ति हैं। सभी दर्शनकार आत्मा को संसार के बंधनो से मुक्त कराके मोक्ष तक पहुंचाने की साधना प्रक्रिया अपने अपने ग्रंथो में अपने दर्शन की शैली अनुसार बताते हैं। प्रत्येक का दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण मोक्ष की साधना और मोक्ष के स्वरुप में परस्पर भिन्नता दिखाई देती हैं। किसका दृष्टिकोण सच्चा हैं और किसका दृष्टिकोण गलत हैं वह अभी सोचना नहीं हैं। यहाँ अद्वैतवेदांत अनुसार मोक्ष का स्वरुप और मुक्ति के प्रकार देखेंगे।

● **मुक्ति का स्वरुप :-** श्री शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में मोक्ष का स्वरुप इस तरह से बताया हैं -

''इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि-सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। (ब्र. सू. शां. भा. १-१-४)''

यह मुक्ति पारमार्थिक हैं.... कूटस्थ नित्य हैं... आकाशवत् सर्वव्यापी हैं... समस्त विकारो से रहित हैं... नित्यतृप्त-नित्यानंद स्वरुप हैं... अवयवरहित हैं तथा स्वयंप्रकाश स्वभावक हैं... ऐसी मुक्ति अवस्था में धर्म और अधर्म अपने फल ऐसे सुख-दुःख के साथ तीनो काल में कभी नहीं पहुंच शकते हैं, संबंध नहीं रखते हैं।

इस प्रकार मुक्ति का कभी नाश नहीं होता हैं। मुक्ति प्राप्त करने के बाद जीव कृतकृत्य हो जाता हैं। जहाँ जीव पूर्णता से और तृप्ति से युक्त होता हैं। निःसीम क्षेत्र में पहुंच जाता हैं। मुक्ति के बाद धर्म-अधर्म जैसा कुछ रहता नहीं हैं, इसलिए उसके फलरुप सुख और दुःख भी नहीं रहते हैं।

जीव और ब्रह्म का अभेदज्ञान ही मोक्ष कहा जाता हैं। जब उन दोनों का अभेद ज्ञान होता हैं, तब जीव तो अनादिकाल से ब्रह्मस्वरुप हैं, इस बात की प्रतीति होती हैं।

पारमार्थिक रीति से सोचे तो वेदांत में आत्मा नित्यमुक्त हैं। इसलिए मुक्ति कोई उत्पन्न होती वस्तु नहीं हैं। मोक्ष तो वास्तविक रुप में अपने स्वरुप का ज्ञान मात्र हैं, जिसको प्राप्त करने में कोई नवीनता नहीं हैं, परंतु अविद्या या अज्ञान के कारण खडे हुए संसार के बंधनो से बद्ध जीव में जो सत्य अदृश्य हो गया था, उसको पुनः प्राप्त कर लेना वही मुक्ति हैं, जिसमें विलुप्त चेतना पुनः प्राप्त हो जाती हैं। दूसरी तरह से कहे तो स्वरुपज्ञान-ज्ञानप्राप्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार वही मुक्ति हैं। **इसलिए ही श्रीशंकराचार्य ने शांकरभाष्य में कहा हैं : ''ब्रह्मैव मुक्त्यवस्था'' (३.३.३२)** उसी अर्थ में गीता ने भी कहा हैं कि, **''ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।''**

स्वरुपज्ञान में बाधक तत्त्व अज्ञान हैं। उस अज्ञान का संपूर्ण नाश हो तब मुक्ति होती हैं। इसलिए मोक्षावस्था में अज्ञान का लेशमात्र भी संभव नहीं हैं।

ब्रह्म देश, काल, कार्य, कारण आदि से सर्वथा असम्पृक्त हैं अतीत हैं। और जब जीव का मोक्ष होता हैं, तब वह ब्रह्म के साथ अभेद संबंध स्थापित कर लेता हैं इसलिए जीव की मोक्षावस्था में देश काल जन्य कोई संघटना या कार्य-कारण जन्य कोई संबंध ही रहता नहीं हैं। मोक्ष तो सर्व प्रकार के विचार विकल्प और कोटीयों से पर वस्तु हैं, और परमार्थ हैं।(९८)

मोक्ष कूटस्थनित्य हैं। नित्यता दो प्रकार की होती हैं। एक परिणामि और दूसरी कूटस्थ। **परिवर्तनशील होने के साथ नित्यधर्मा हो उसे परिणामि नित्यता कही जाती हैं और अपरिवर्तनशील नित्यता को कूटस्थ**

(९८) न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वं व्यवस्थितात्मवस्तुविषयत्वादात्मज्ञानस्य। (शा.भा. ४.५.१५)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यता कही जाती हैं। वेदांती अपरिवर्तनशील नित्यता को कूटस्थ नित्यता कहते हैं। **मोक्ष को कूटस्थ कहने में यह अभिप्राय हैं कि,** मोक्ष आकाश या पर्वतो की तरह कूटस्थ नित्य हैं और जगत में होनेवाले परिवर्तन मोक्ष के उपर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं जमा सकते हैं।

उपरांत, मोक्ष तो परमार्थतत्त्व ब्रह्मानुभव से अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। और उस ज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय एवं ज्ञान से भिन्न अन्य कोई भी नहीं हैं। इसलिए ही मोक्ष कूटस्थ नित्य हैं [९९] परम मोक्ष में तो ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान का भेद भी परिलक्षित होता नहीं हैं। एकमात्र आत्मतत्त्व ही शेष रहता हैं।

मोक्ष आकाश की तरह सर्वव्यापी हैं। क्योंकि ब्रह्म आकाश की तरह सर्वव्यापी और जीव से अभिन्न हैं। इसलिए मोक्ष ब्रह्म के सदृश सर्वव्यापी हैं। **यहाँ याद रखना कि,** मोक्ष और आकाश में सदृशता का कारण सर्वव्यापकत्व धर्म ही हैं। बाकी दोनों में समानता संभव नहीं हैं। वेदांत मतानुसार मोक्ष कूटस्थ नित्य हैं और आकाश उत्पन्न हुआ अनित्य तत्त्व हैं।

जीव और ब्रह्म के अभेद को श्रीशंकराचार्य ने और श्रीवाचस्पति मिश्र ने ''कटकहाटक[१००] (सुवर्ण आभूषण)'' के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया हैं। ब्रह्म हाटक (सुवर्ण) हैं और जीव कटक (आभूषण) है। आभूषण, सुवर्ण में उत्पन्न एक आकृतिविशेष हैं। वह आकृति देश काल आदि से अपेक्षित तथा संबंधित होने के कारण अनित्य हैं। परंतु उसमें सुवर्णत्व रुप हाटकत्वांश, हाटकसदृश ही नहीं, हाटक ही हैं। जीव का ब्रह्मत्व या अभेदत्व, ब्रह्मत्व रुप में ही हैं। क्योंकि सद्रुपत्व तो, हाटकत्व का संभव हैं, कटक का रुप अनित्य होने के कारण उसमें सद्रुपत्व संभवित नहीं हैं। इसलिए जीव अपने जीवत्व रुप में असत् हैं और चेतनांश ब्रह्मरुप में सत् हैं। जीव और ब्रह्म का अभेद संबंध, ब्रह्मत्व रुप में ही संभवित हैं। अज्ञान के कारण उत्पन्न भोगायतन शरीरधारी जीव का ब्रह्म के साथ अभेद संबंध संभवित नहीं हैं। जो ब्रह्म और जीव के बीच अभेद हैं, वह मोक्षावस्था के अभिप्राय से हैं। जब जीव ज्ञान से अज्ञानजन्य शरीर के सुख-दुःखों का मोह परित्याग कर देता हैं तथा शुद्ध चेतनांश से ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारक अनुभूति करके आत्मारामी बन जाता हैं, तब उसकी मुक्ति होती हैं। **इसलिए ही ''मृत्तिकैव सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य के माध्यम से घटरुप जीवत्व का अपवाद करके मृत्तिकारुप आत्मा के सत्यत्व का प्रतिपादन किया हैं। मृदंशवान् घट का, मृत्तिका के साथ अभेद बताकर जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया हैं।**

उपरांत मोक्ष का स्वरुप ज्ञानगत हैं, सत्तागत नहीं हैं। क्योंकि, जब हमको ज्ञान होता हैं कि, यह सर्प नहीं हैं, परंतु रज्जु हैं, तब सर्पजन्य भय आदि दूर हो जाता हैं और शांति मिलती हैं। वह शांति ज्ञानजन्य हैं। इसलिए उसमें कभी भी कोई विकार नहीं होता हैं। इसलिए मोक्ष सर्व प्रकार की विक्रियाओं से रहित हैं। (विक्रियारहितम्) । सत्तागत उपलब्धि तो क्रियाजन्या हैं, जो मीमांसको को इष्ट हैं। वेदांत में तो क्रियाकारक संबंध से पृथक् ब्रह्मतत्व हैं, जिसमें शब्दो का भी अपलाप संभव नहीं हैं, तो फिर क्रियाओं के द्वारा किस तरह से मोक्ष साध्य हो सकता हैं ?[१०१] (इस विषय की विशेष स्पष्टता अन्य ग्रंथो से जान लेना।)

मोक्ष की प्राप्ति का फल हैं नित्यतृप्तत्व। अर्थात् मोक्षावस्था में नित्यतृप्ति होती हैं। संसारावस्था में पौद्गलिक

(९९) तस्मात् कूटस्थनित्यतयैव पारमार्थिकी न परिणामीनित्यत्वसिद्धि (भामती- शा.भा.१.१.४)।

(१००) हाटकमेव वस्तुसन्न कटकादयः भेदस्याप्रतिभासमानात्। अथ हाटकत्वेनैव अभेदो न कटकत्वेन, तेन तु भेद एव कुण्डलादेः। भामती- शा.भा.१.१.४ (१०१) क्रियानिष्पाद्यस्य तु मोक्षस्यानित्यत्वं प्रसज्ञयति-कल्पतरु १.१.४ अक्रियार्थत्वेऽपि ब्रह्मस्वरुपविधिपरा वेदान्ताः भविष्यति-भामती १.१.४

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थो से बीच में तृप्ति मिलती हैं। परन्तु कालांतर से नयी नयी भोगेच्छाओं का प्रादुर्भाव होता हैं इसलिए वह अनित्यतृप्ति हैं। जब कि, मोक्षावस्था में नित्यतृप्ति प्राप्त होती हैं। सुवर्ण का सुवर्णत्व के रुप में यथार्थ ज्ञान हो और सुवर्ण मिल जाये तब स्वतः आभूषणो का आग्रह समाप्त हो जाता हैं, वैसे मोक्षावस्था में नित्यतृप्ति प्राप्त होने से संसार की भोगेच्छायें समाप्त हो जाती हैं।

भामतीकार के मतानुसार नित्यतृप्ति का अर्थ हैं - **दुःखो का सर्वथा अभाव और सुखमयत्व**[१०२]। मुक्तावस्था में क्षुधादिजन्य दुःखो से रहित सुखमात्र ही होता हैं। इसलिए जीव मुक्त हो तब नित्यतृप्त रहता हैं।

गौडपादाचार्य भी गौडपादकारिका में कहते हैं कि, [१०३]**आप्तकाम पुरुष में स्पृहा नहीं रह सकती हैं।**

राधाकृष्णन् के मतानुसार आत्मा का विलोप होना वह मोक्ष नहीं हैं। (अर्थात् बौद्धमान्य मोक्ष वह मोक्ष नहीं हैं।) परंतु चैतन्य का विस्तार तथा प्रकाश द्वारा अपनी अनंतता और निरपेक्षता का साक्षात्कार कर लेना उसका नाम ही मोक्ष[१०४] हैं।

आत्मा का तात्त्विक स्वरुप परमानंदस्वरुप हैं, उसको अज्ञान अपनी आवरण एवं विक्षेप शक्ति द्वारा आवृत्त कर देता हैं। अज्ञान का नाश होने से मोक्षावस्था में वह स्वरुप प्रकट हो जाता हैं। और मुक्तात्मा उस स्वरुप में अवस्थित हो जाता हैं।[१०५]

मुक्ति निरवयव हैं। जिस प्रकार से ब्रह्म पर-अपर एवं स्वगत भेदो से रहित हैं, उसी प्रकार मुक्ति भी सर्व अवयवो से रहित हैं। जब मुक्तात्मा अनंत प्रकाश का साक्षात्कार अन्तर्दृष्टियों से प्राप्त कर लेता हैं, तब समस्त प्राणी, ब्रह्म से लेकर वनस्पति जगत एक स्वप्न के समान स्वयं अपने को एकाकार[१०६] कर देता हैं।

श्री वाचस्पति मिश्र[१०७] "निरवयव" पद में अवयव का अर्थ बीजो की अंकुरणशक्ति करते हैं, जैसे भुने हुए बीजो में अंकुरणशक्ति नहीं रहती हैं, वैसे ज्ञान से दग्ध अज्ञान कोई भी कामनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहता हैं। इसलिए एकबार मोक्ष हो जाने के बाद संसार के कारणभूत कामनाओं का प्रादुर्भाव नहीं होता हैं। अज्ञान की अंकुरणशक्ति ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाने से आत्मा मोक्षपद को प्राप्त करता हैं। इसी तरह से मोक्ष निरवयव हैं।

मुक्ति स्वप्रकाश हैं। अविद्या की निवृत्ति के बाद मुक्तात्मा संस्कारित हुए सुवर्ण की तरह चमकने लगता हैं, अत्यंत शुद्ध प्रकाशवाला बनता हैं। अथवा जैसे दिन ढलने पर निर्मल आकाश में नक्षत्रगण चमकने लगते हैं वैसे मुक्तात्मा सूर्यसमान अपने रुप का स्वयं प्रकाशक होता हैं।[१०८]

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, अद्वैत वेदांत मत में मोक्ष ज्ञान से ही साध्य हैं। उसमें कर्म (मीमांसक परिकल्पित कर्म-क्रियाकांड) लेशमात्र भी सहायक नहीं बनते हैं। इस विषय में अद्वैतवेदांतीयों की दलील हैं कि, जैसे रज्जुज्ञान ही, सर्पज्ञान रुपी भ्रम को दूर कर सकता हैं, वैसे केवल ज्ञान ही अज्ञान को दूर कर सकता हैं और मोक्ष दे सकता हैं। मोक्ष प्राप्ति में कर्म (क्रिया) लेशमात्र भी सहायक नहीं बन सकती हैं। कर्म शुभाशुभ फ्लो का दाता मात्र हैं। और

---

(१०२) तृप्त्या दुःखरहितं सुखमुपलक्षयति। क्षुद्दुःखनिवृत्तिसहितं हि सुखं तृप्तिः-भामती शा.भा.१.१.४ (१०३) आप्तकामस्य का स्पृहा-गौ. का १-९ (१०४) भारतीयदर्शन, भाग-२, पृ-६३७ (१०५) स्वात्मन्यवस्थानम् - ब्र.सू. शां.भा. ४-४.३) (१०६) श्रीसुरेश्वराचार्य-मानसोल्लास. (१०७) व्रीहीणां खलु प्रोक्षणेन संस्काराख्योंऽशो यथा जन्यते, नैवं ब्रह्मणि कश्चिदंशः क्रियाधेयोऽस्ति, अनवयवत्वात् - (भामती-१.१.४) (१०८) सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरुपाणामानभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरुपेणाभिनिष्पत्तिस्यात्। तथा नक्षत्रादीनाम्। ब.सू. शां. भा १. ३. १९.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोक्ष उससे भिन्न हैं इसलिए वह मोक्ष में सहायक नहीं बन सकता हैं।

वैसे ही, मोक्ष के लिए न तो कोई कार्य-कारणभाव सहायक हैं और न तो कोई परिणाम। क्योंकि वह ज्ञानमात्र से बोध्य हैं। मोक्ष नित्य होने के कारण भूत-भविष्यकाल आदि भी असहायक ही हैं। इसलिए ही ब्रह्म को कालातीत कहा गया हैं। कालातीत ब्रह्म (मोक्ष) काल के बंधनो से बोधित किस तरह से हो सकता हैं ?

इस तरह से मुक्तस्वरुप ब्रह्म धर्माधर्म, कार्य-कारण, और काल से उपर हैं, पृथक् हैं।

यद्यपि, कर्म का मोक्षप्राप्ति में परंपरा से संबंध हो सकता हैं। उपासनादि से मन की पवित्रता संभवित हैं, जो प्रकारान्तर से ज्ञानप्राप्ति में सहायक बन सकती हैं। परन्तु कर्म के साथ मोक्ष का साक्षात् संबंध नहीं हो सकता हैं। **कर्म के साथ का मोक्ष का साक्षात् (प्रत्यक्ष) संबंध का खंडन करते हुए श्रीशंकराचार्य (१०९) शारीरिक भाष्य में बताते हैं कि,** मोक्ष उत्पादित वस्तु नहीं हैं, कि जिसमें कर्म अपेक्षित हो। यदि ऐसा हो तो उसमें शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक कार्य की अपेक्षा हो, परंतु उसमें ऐसी अपेक्षा नहीं हैं। क्योंकि, नित्यमोक्ष में उत्पाद्य कर्म किस तरह से संभव हो सकेगा ? मोक्षज्ञान दहीं की तरह विकार भी नहीं हैं। परंतु सर्वोच्च ज्ञान ही मोक्ष हैं। विकार पक्ष में भी ज्ञान को विकारी मानने से अनित्यत्व की आपत्ति दोष उत्पन्न होता हैं। इसलिए मोक्ष में कर्म सहायक नहीं हैं। और मोक्षज्ञान विकार भी नहीं हैं।

इस तरह से मोक्ष मात्र ''मैं ब्रह्म हूँ'' यह अनुभूति हैं। वस्तुतः वह जीव का सार तत्त्व हैं। श्री शंकराचार्य (११०) बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में मोक्ष की कर्मापेक्षा का खंडन करते हुए कहते हैं कि, मुक्ति की प्राप्ति के लिए स्थानविशेष की अपेक्षा नहीं होती हैं। इसलिए मोक्ष; कर्म की अपेक्षा नहीं रखता हैं।

अद्वैतवेदांत मतानुसार मोक्ष आनंदस्वरुप हैं। नैयायिको की तरह आनंदरहित नहीं है। वेदांतपरिभाषा के प्रयोजन परिच्छेद में आनंद स्वरुप मोक्ष ही बताया हैं।

''आनन्दात्मक-ब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च। ''ब्रह्म वेदब्रह्मैव भवति'' (मु. ३-२-९) ''तरति शोकमात्मवित्'' (छां. १-१-३) इत्यादिश्रुतेः। न तु लोकान्तरावाप्तिः, तज्जन्य-वैषयिकानन्दो वा मोक्ष :। तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तेः।

आनंदात्मक ब्रह्मप्राप्ति और शोकनिवृत्ति ही मोक्ष हैं। ''ब्रह्म को जान लेने से ब्रह्म ही हो जाता हैं'' और ''आत्मवेत्ता शोक को तैर जाता हैं - शोक से उपर उठकर रहता हैं'' इत्यादि श्रुतियाँ उसमें प्रमाण हैं। लोकान्तर प्राप्ति का नाम मोक्ष नहीं हैं अथवा उसमें प्राप्त होनेवाले वैषयिक आनंद को भी मोक्ष नहीं कहा जाता हैं। क्योंकि, वह कृत्रिम होने से अनित्य हैं और उस कारण से मुक्त जीव को भी पुनः संसारावृत्ति आयेगी- संसार में आना पडेगा।

सारांश में, मोक्ष आनंदस्वरुप हैं और ब्रह्मवेत्ता को वह प्राप्त होता हैं। **यह मोक्ष एकमेव ज्ञान से ही साध्य हैं इस बात को बताते हुए वेदांत परिभाषा के प्रयोजन परिच्छेद में बताया हैं कि,**

स च ज्ञानैक -साध्यः ''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' (श्वे. ३.८) इति श्रुते :, अज्ञान निवृत्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्वनियमाच्च। तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम्।

(१०९) यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षते इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। नहि दध्यादि विकार्योत्पद्यं वा घटादिनित्यं दृष्टं लोके। (ब्र. सू. शां. भा. १.१.४) (११०) मोक्षो न देशान्तरगमनाद्यपेक्षते। (बृ.उ. शां.भा.४.४.७)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह मोक्ष ज्ञान से ही साध्य हैं। क्योंकि, ''उसको जानकर (मनुष्य) मृत्यु को पार कर जाता हैं, इसके लिए अन्य दूसरा कोई मार्ग नहीं हैं।''- यह श्रुति हैं। और ''अज्ञान की निवृत्ति एकमात्र ज्ञान से ही साध्य हैं''- ऐसा नियम हैं। उस मोक्ष के कारणभूत ज्ञान का विषय, ब्रह्म और आत्मा दोनो का ऐक्य हैं। अर्थात् ब्रह्म और आत्मा के अभेद का ज्ञान हो तब उस ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती हैं और मोक्ष की प्राप्ति होती हैं। (द्वैत ज्ञान मोक्ष में बाधक बनता था, अभेद ज्ञान होने से द्वैतज्ञान नाश होता हैं और मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।) मोक्ष के कारणभूत वह ज्ञान [(१११)]अपरोक्ष हैं। क्योंकि, यदि वह परोक्ष होता तो उससे ''अपरोक्षभ्रम'' की निवृत्ति नहीं होती। वह अपरोक्षज्ञान ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वाक्यो से होता हैं। ऐसा कुछ लोग कहते हैं और कुछ लोग मनन- निदिध्यासन से संस्कृत बने हुए अंतःकरण से होता हैं, ऐसा कहते हैं।

• **मुक्ति के प्रकार :**- वेदांत दर्शन में मुक्ति के दो प्रकार बताये गये हैं। (१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेहमुक्ति।

जीव को ब्रह्मज्ञान होने से अज्ञान नष्ट हो जाने से आत्मबोध प्राप्त होता हैं। उसके कारण मैं छोटा, बडा, अच्छा, बुरा, पैसेवाला, निर्धन, ऐसी भेदबुद्धि दूर हो जाती हैं। और वह अखंड एकरस ब्रह्मभाव को प्राप्त करता हैं। ऐसा होने पर भी तुरंत शरीर छूट नहीं जाता हैं। प्रारब्ध कर्मजन्य शरीर अभी हैं। उसका जीवन अभी चालू होता हैं, वह मुक्त अवस्था में अपना शेष जीवन व्यतीत करता हैं। उसकी यह अवस्था वह **जीवन्मुक्ति**[(११२)] हैं।

ऐसे मुक्त जीव का शरीरपात हो जाता हैं तब वह संसार के समस्त बंधनो में से मुक्त हुआ होता हैं, उसको जन्म-मरण की परंपरा रुपी घटमाला में पडना नहीं रहता हैं। इस मुक्ति को **विदेहमुक्ति** कहा जाता हैं। **इस तरह से जो मुक्ति के दो प्रकार हैं, वह भेद वस्तुगत भेद नहीं हैं, परंतु स्थितिगत हैं।** वस्तु के रुप में तो मुक्ति अर्थात् स्वरुप में अवस्थान और वह तो एक और अखंड हैं।

जीवन्मुक्ति का समर्थन करते हुए श्रीशंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य में बताया हैं कि, जैसे कुंभकार के चक्र की गति, दंडादि की निवृत्ति हो जाने के बाद भी कुछ समय तक रहती हैं, वैसे जीव के अज्ञान का नाश हो जाने के बाद भी - ब्रह्मानुभूति होने के बाद भी कुछ समय तक वह शरीर धारण करके रह सकता हैं। **दूसरा एक उदाहरण देते हुए शारीरिक भाष्य में बताते हैं कि,** ''यह सूर्य नहीं हैं, परन्तु सूर्य का प्रतिबिंब हैं '', ऐसा ज्ञान होने पर भी जब तक प्रतिबिंब दिखाई देता हैं, तब तक सूर्य का अस्त नहीं होता हैं। उसी तरह से अज्ञान बाधित हो जाये तब भी [(११३)]उसके संस्कार के कारण जीव ब्रह्मानुभूति करता होने पर भी शरीर धारण करके रह सकता हैं। **श्रीवाचस्पति मिश्र के मतानुसार,** जिस प्रकार से (रज्जु में सर्प की प्रतीति के कारण उत्पन्न भयादि की निवृत्ति हो जाने पर भी सर्प के भय का विभ्रम कुछ समय तक रहता हैं, उसी प्रकार से अविद्या की निवृत्ति हो जाये तो भी तज्जन्य संस्कार के कारण विमुक्तात्मा कुछ समय शरीर धारण करके रह सकता हैं।[(११४)] उसमें कोई विरोध नहीं हैं। क्योंकि उसमें श्रुतिवाक्य का भी समर्थन हैं। ''हे जनक। तुम अभय प्राप्त कर चूके

---

(१११) तच्च ज्ञानमपरोक्षरुपम्। परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः। तच्चापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादि-वाक्यादिति केचित्। मनन-निदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेवेत्यपरे । **(वेदांतपरिभाषा-प्रयोजनपरिच्छेदः)** **(११२)** तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेग-स्यान्तराले प्रतिबन्धासम्भवात् भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्- **(ब्र.सू.शां.भा. ४.१.१५)** **(११३)** बाधितमपि मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात् कंचित्कालमनुवर्तत एव। **ब्र. सू. शां. भा-४.१.१५** **(११४)** रज्जौ सर्पादिविभ्रमजनिताः भयकम्पादयो निवृत्तेऽपि विभ्रमे यथानुवर्तन्त तथेहापीति। **(भामती- ४.१.१५)**।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो'' इत्यादि[११५] श्रुतिवाक्य भी जीवन्मुक्ति में प्रमाण हैं। गीता भी स्थितप्रज्ञ का समर्थन करती हैं।[११६]

यद्यपि, ब्रह्मसिद्धिकार श्रीमंडनमिश्र ने जीवन्मुक्ति के सिद्धांत का खंडन किया हैं और विदेहमुक्ति का समर्थन किया हैं। उनके मतानुसार जिस प्रकार स्फटिकमणि में पद्मरागमणि आदि के संयोग से लालिमा दिखाई देती हैं, परंतु मणिका आरोप दूर हो जाने से स्फटिक स्वच्छ भासित होने लगता हैं, उस प्रकार जीवगत अविद्या की निवृत्ति के बाद स्वरुप का आविर्भाव होने से जीव ब्रह्म की प्राप्ति करता हैं, जिसको मुक्ति[११७] कहा जाता हैं, बंधन का हेतु जो अविद्या हैं, वह विद्या प्राप्त होने से पूर्णतः नाश हो जाती हैं।[११८] इस तरह से विद्या द्वारा अविद्या का समूल नाश होने से सर्व कर्मो का नाश हो जाता हैं और कर्म की समाप्ति हो जाने से शरीर का भी नाश हो जाता हैं, इसलिए मुक्ति विदेहात्मिका ही हैं। जीवन्मुक्ति का स्वीकार करने से ''तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य'' (छा.उ.६.१४.२) - इस श्रुतिवाक्य का[११९] भी विरोध होता हैं। इसलिए जीवन्मुक्ति का सिद्धांत न तो तर्कसंगत हैं और न तो श्रुति को सम्मत हैं। क्योंकि, जिसका विद्या द्वारा कर्मोच्छेद हो जाता हैं, उसको देहसम्पात की प्रतीक्षा नहीं रहती हैं[१२०]। इस तरह से आचार्य मंडनमिश्र ने विदेहमुक्ति का समर्थन किया हैं।

मुक्ति के दो प्रकार माने या केवल एक विदेहमुक्ति को ही मुक्ति माने, इस विषय में वेदांत में बहोत मतभेद हैं। हम यहाँ श्रीशंकराचार्य के मत को प्रधान बनाकर उन्होंने जो जीवन्मुक्त का समर्थन किया हैं, उसके लक्षणो का विचार अब करेंगे। जीवन्मुक्ति जिन को प्राप्त होती हैं, उनको जीवन्मुक्त कहा जाता हैं।

जीवन्मुक्त के लक्षण :-

जीवन्मुक्त के विषय में कुछ ख्याल उपनिषदो में दिया गया हैं। मुंडकोपनिषद् में उसके बारे में बताया हैं कि :

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (२.२.८)

ब्रह्मज्ञान होते ही उस के हृदय की ग्रन्थियाँ भिंध जाती हैं। उसके सभी संशय छिंद जाते हैं और उसके कर्मो का क्षय हो जाता हैं।

जीवन्मुक्त के संचित[१२१]कर्मो का नाश हो जाता हैं। अपने सामान्य व्यवहार में कर्म करते समय उसकी बुद्धि तटस्थ होती हैं, इसलिए उनके ये क्रियमाण कर्म बंधनकर्ता नहीं बनते हैं। ये कर्म सामर्थ्यरहित होते हैं। जीवन्मुक्त को केवल प्रारब्ध कर्म भुगतने के बाकी रहते हैं। जब तक ये प्रारब्ध कर्म भुगते नहीं जाते, तब तक उसका शरीर चालु रहता हैं। वे कर्म भुगत जाने से शरीर का पात होता हैं और आत्मा देहातीत विदेहमुक्त भी हो जाता हैं।

जीवन्मुक्त के लक्षण बताते हुए सर्ववेदांत- सिद्धांत-सार संग्रह में श्रीशंकराचार्य ने कहा हैं कि,

जब असत् मालूम न हो, और सत् भी मालूम न हो, अहंभाव न रहे और अनहंभाव भी न रहे, मनन नाश होने से केवल अद्वैत स्वरुप में रहे, अत्यंत निर्भय हो, आकाश में रहे हुए शून्य घडे की तरह अंदर शून्य और बाहर

(११५) अभयं वै जनकः प्राप्तोऽसि। (बृ.उ.४.२.४)। (११६) स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्तस्य केशव- श्रीभगवद् गीता- २.५४) (११७) स्फटिकस्य रागापकर्षात् स्वरुपाविर्भाववद् जीवस्य बह्मरुपाविर्भावो ब्रह्मप्राप्तिर्मोक्षः भावशुद्धिः। (ब्रह्मसिद्धि नियोगकाण्ड-पृ-४४९)। (११८) ब्रह्महेतुरविद्यात्मा विद्यायां साऽस्तमागता- (ब्र. सि. नियोगकाण्ड का. १४३.) (११९) विद्यया अविद्यानिर्वतनद्वारेण सकलकर्म-क्षयहेतुत्वे जीवन्मुक्तिश्रुतिविरोध इत्ति॥ - वही, अभिप्राय प्रकाशिका - पृ.४५१ (१२०) मा भूद् जीवन्मुक्ति- यस्यापि विद्यैव कर्मव्युच्छिनत्ति न तस्यापि देहपात प्रतीक्षोपपत्तिरिति-वही भावशुद्धि पृ.४५१) (१२१) वेदांतमत में कर्मो के तीन प्रकार हैं, उसका वर्णन आगे किया हुआ हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी शून्य बने, समुद्र में रहे हुए पूर्ण कलश की तरह अंदर पूर्ण और बाहर भी पूर्ण हो, यह सर्व जगत जैसा हैं वैसा ही रहा हुआ होने से उसमें तब व्यवहार करे, फिर भी जिसकी दृष्टि से सब अस्त हुआ हो और केवल आकाश ही रहा हो उसे (१२२)**जीवन्मुक्त** कहा जाता हैं। जिनके मन की भावना सुख में उदय नहीं पाती हैं और दु:ख में अस्त नही होती हैं, परंतु जो कुछ प्राप्त हुआ हो उसमें जिनकी एक ही स्थिति हो, उसे **जीवन्मुक्त**(१२३) कहा जाता हैं। जो सुषुप्ति में रहा हो फिर भी जागता हैं, जिनको जाग्रत अवस्था नहीं होती हैं और जिनका ज्ञान वासनारहित हो, उसे **जीवन्मुक्त**(१२४) कहा जाता हैं। राग-द्वेष-भय इत्यादि का अनुसरण करके वर्तन करता हो, वैसा लगता हो (अर्थात् व्यवहार में प्रवृत्ति-निवृत्ति रागादि के कारण होती हो वैसा लगे) फिर भी अंत:करण में आकाश जैसा अत्यंत स्वच्छ हो, उसे **जीवन्मुक्त**(१२५) कहा जाता हैं। जिसका भाव अहंकारवाला न हो और कुछ करे या न करे, फिर भी जिसकी बुद्धि नही मानी जाती, उसे **जीवन्मुक्त**(१२६) कहा जाता हैं। जो समग्र पदार्थो में व्यवहार करता हो, फिर भी शीतल स्वभाव का रहे और सर्व पदार्थ जैसे पराये ही हैं, इस प्रकार उस पदार्थो के विषय में दृष्टि करके पूर्णात्मा बने, उसे **जीवन्मुक्त**(१२७) कहा जाता हैं। जिनका चित्त किसी भी विषय में व्याकुल हुए बिना केवल द्वैतरहित और परमपवित्र ऐसे चैतन्यरुप पद में ही विश्रांति को प्राप्त हुआ हो, उसे **जीवन्मुक्त**(१२८) कहा जाता हैं। जिनके चित्त में यह जगत यह पदार्थ या वह पदार्थ अथवा अवास्तविक समग्र दृश्य वस्तुयें कभी भी स्फुरित नहीं होती हैं, उसे **जीवन्मुक्त**(१२९) कहा जाता हैं। ''मैं चैतन्यरुप आत्मा हूं, मैं परमात्मा हू, मैं निर्गुण हूँ और पर से भी पर हूँ'' इस तरह से केवल आत्मरुप में जो स्थिति करे, उसे **जीवन्मुक्त**(१३०) कहा जाता हैं। ''मैं तीनो देह से भिन्न हुं, मैं शुद्ध चैतन्य ही हुँ और मैं ब्रह्म ही हुँ'' ऐसा जिसके अंतर में रहा करे, उसे **जीवन्मुक्त**(१३१) कहा जाता हैं। जिनकी दृष्टि से देहादि कुछ हैं ही नहीं, परंतु ''सब कुछ ब्रह्म ही हैं'' ऐसा निश्चय हुआ हो, उपरांत परमानंद से जो पूर्ण बना हो, उसे **जीवन्मुक्त**(१३२) कहा जाता हैं।

''मैं ब्रह्म हुं, मैं ब्रह्म हुँ, मैं ब्रह्म हुँ और मैं चैतन्य हुँ मैं चैतन्य हुँ'' ऐसा जिसका निश्चय हुआ हो, उसे **जीवन्मुक्त**(१३३) कहा जाता हैं। उपरांत, जीवन्मुक्त आत्मा शरीर संबंधित और अन्य कर्म करता हैं, उसका फल भी भुगतता हैं, परंतु उन सबसे लिप्त नहीं होता हैं। अर्थात् मैं कर्मो का कर्ता हुं और उसके फलों का भोक्ता हुँ'' ऐसा कर्ता-भोक्ता अहंभाव होता न होने से जीवन्मुक्त आत्मा लेपायमान नहीं होता हैं। उपदेश (१३४)साहस्री में कहा हैं कि, सुषुप्ति अवस्था की तरह ही जीवन्मुक्त आत्मा जाग्रत होने पर भी कुछ देखता नहीं हैं। द्वैत को अद्वैत के रुप में देखता हैं। काम करते हुए भी निष्क्रिय हैं, वही आत्मवेत्ता हैं।

---

(१२२) यत्र नासन्न सच्चापि नाहं नाप्यनहंकृतिः केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥ अंतःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुंभ इवाबरे। अंतःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुंभ इवार्णवे ॥ यथास्थितमिदं सर्वं व्यवहारवतोऽपि च। अस्तं गतं स्थितं व्योम स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९६५-६६-६७॥ (१२३) नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखे मनःप्रभा। यथाप्राप्तस्थितिर्यस्य स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९६८॥ (१२४) यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते। यस्य निर्वासनो बोधः स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९६९॥ (१२५) रागद्वैषभयादीनामनुरुपं चरन्नपि योंऽतर्व्योमवदत्यच्छः स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७०॥ (१२६) यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७१॥ (१२७) यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि शीतलः। परार्थेष्विव पूर्णात्मा स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७२॥ (१२८) द्वैतवर्जितचिन्मात्रे पदे परमपावने। अक्षुब्धचित्तविश्रान्तः स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७३॥ (१२९) इदं जगदयं सोऽयं दृश्यजातमवास्तवम्। यस्य चित्ते न स्फुरति स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७४॥ (१३०) चिदात्माहं परमात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः। आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७५॥ (१३१) देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम्। ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७६॥ (१३२) यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः। परमानंदपूर्णो यः स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७७॥ (१३३) अहं ब्रह्मास्म्हं ब्रह्मास्म्हं ब्रह्मेति निश्चयः। चिदहं चिदहं चेति स **जीवन्मुक्त** उच्यते ॥९७८॥ (१३४) सुषुप्तिवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः। तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आतगविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥ (उ.सा. १०.१३)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता हैं कि, जीवन्मुक्त के लिए समग्र सृष्टि ब्रह्म स्वरुप ही हैं। केवल प्रारब्ध कर्म के कारण देहवास हैं और उसके विषय को और दूसरे कार्यो को करता हैं, फिर भी तटस्थता से करता हैं, कही भी लेपायमान नही होता हैं, तो यहाँ प्रश्न होता हैं कि, जैसे वह शुभ कार्य करता हैं, वैसे अशुभ कार्य भी क्यों न करे ? उसको तो अच्छा-बुरा जैसा कुछ भी नहीं हैं। सब ब्रह्मस्वरुप ही हैं।

इस प्रश्न का जवाब वेदांतसार में[१३५] देते हुए बताया हैं कि, ''जीवन्मुक्त को शुभ और अशुभ के प्रति उदासीनता होती हैं, फिर भी ज्ञान होने से पहले जैसे वह खाना पीना इत्यादि क्रियायें करता है, वैसे ज्ञान हो जाने के बाद उसी संस्कार के अनुवेध से वह सभी क्रियायें करता रहता हैं। परंतु वासनाओ के विषय में तो ज्ञान के पहले की शुभवासनाओं की ही अनुवृत्ति होती हैं, अशुभ वासनाओं की नहीं''।

इस विषय की स्पष्टता करने के लिए वेदांतसार में नैष्कर्मसिद्धि[१३६] ग्रंथ की साक्षी देते हुए कहते हैं कि, अद्वैत को जाननेवाला भी यदि यथेच्छ आचरण करे तो अशुद्ध आहार के विषय में कुत्ते और तत्त्वदर्शीओं में क्या भेद रहेगा ? (इसलिए, अच्छा यह हैं कि आत्मवेत्ता जीवन्मुक्त आत्मा अशुभ प्रवृत्तियाँ न करे।)

जीवन्मुक्त सभी प्रकार के अहंभाव से मुक्त[१३७] होता हैं। ''मैं आत्मज्ञानी हुँ, दूसरे तुच्छ पामर हैं'' ऐसा अहंभाव भी जिन में न हो वही सच्चा ब्रह्मवेत्ता हैं। ज्ञान मिलने से पहले साधकदशा में निरभिमानत्व, अद्वेष्टात्व इत्यादि शुभभाव उसकी ज्ञानसाधना के लिए आवश्यक साधन थे, वे ज्ञानप्राप्ति के बाद उसका स्वभाव बन जाते हैं।

प्रतिबिंबवाद के प्रतिष्ठापक श्रीसर्वज्ञात्म मुनि जीवन्मुक्ति का स्वीकार करते नहीं हैं। उनके मतानुसार अविद्या का विरोधी तत्त्वसाक्षात्कार होने के बाद अविद्या की जरा सी भी अनुवृत्ति नहीं होती हैं। इसलिए वे जीवन्मुक्ति का निरुपण करते अन्य शास्त्रो को केवल अर्थवाद[१३८] मानते हैं।

जब कि, श्री विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि, तत्त्वसाक्षात्कार होने के बाद भी प्रारब्ध कर्मो का नाश होने तक अविद्यालेश की अनुवृत्ति रहती हैं इसलिए जीवन्मुक्ति संभव हैं। उनके मतानुसार प्रारब्ध कर्म अविद्या की पूर्णनिवृत्ति में बाधक हैं।[१३९]

● **विदेहमुक्त के लक्षण :-** विदेहमुक्त के लक्षण बताते हुए सर्ववेदांत-सिद्धांत सार संग्रह[१४०] ग्रंथ में कहा हैं कि,

''मैं ब्रह्म ही हुँ, मैं चैतन्य ही हुँ'' ऐसा भी जो चिन्तन न करे, परन्तु केवल चैतन्य के अंश जैसा ही रहे, वह **विदेहमुक्त** ही हैं। जिसको प्रपंच का भान न हो और ब्रह्माकार भी न हो, परंतु भूतकाल के भाव जिसके चले गये

---

(१३५) अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। (वेदांतसार- ६/२१०) (१३६) बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥ (नैष्कर्मसिद्धि ४.६२) (१३७) ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतर :। (उपदेशसाहस्री-१२.१३)

(१३८) सर्वज्ञात्मगुरवस्तु विरोधिसाक्षात्कारोदये लेशतोऽपि अविद्यानुवृत्यसम्भवात् जीवन्मुक्तिशास्त्रश्रवणादिविध्यर्थवादमात्रम् शास्त्रस्य जीवन्मुक्तिप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्। (सि. ले. सं. पृ.-१३-१४) (१३९) निस्सारितपुष्पे पुष्पमात्रस्थिताः सूक्ष्माः पुष्पावयवाः एव गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति न संस्कार इति चेत् तथापि प्रलयावस्थायां सर्वकार्यसंस्कारोऽभ्युपगम एव। (वि.प्र.सं. पृ. ३१०)

(१४०) ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वापि न चिंत्यते। चिन्मात्रेव यस्तिष्ठेद्विदेहो युक्त एव सः ॥९८३॥ यस्य प्रपंचमानं न ब्रह्माकारमपीह न। अतीतातीतभावो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८४॥ चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यावभासकः। चित्तवृत्तिविहीनो यो विदेहो मुक्त एव सः ॥९८५॥ जीवात्मेति परामात्मेति सर्वचिंताविवर्जितः सर्वसंकल्पहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८६॥ ओम्कारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः। अवस्थात्रयहीनात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥९८७॥ अहिनिर्ल्वयनीसर्पनिर्मोको जीववर्जितः। वल्मीके पतितस्तिष्टेत्तं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो, वह **विदेहमुक्त** ही हैं। जो चित्तवृत्ति से पर हुआ हो, चित्तवृत्ति द्वारा (दूसरे का) प्रकाशक बना हो और (स्वयं) चित्तवृत्ति से रहित हो, वह **विदेहमुक्त** ही हैं। जो जीवात्मा और परमात्मा ऐसे प्रकार के अथवा सर्व प्रकार के चिंतन से रहित हुआ हो और जिसका स्वरुप सर्वसंकल्पो से छोड दिया गया हो वह **विदेहमुक्त** ही हैं। (जैसे सर्प की काँचरी (निर्जीव त्वचा) सर्प से अलग होकर निर्जीव बिल के उपर पडी हो, तब सर्प उसको अपनी नहीं मानता हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष स्थूल को तथा सूक्ष्म शरीर को अपना मानता ही नहीं हैं। क्योंकि प्रत्यगात्मा के ज्ञानरुप अग्नि से उसका मिथ्याज्ञान कारण के साथ नष्ट हो जाता हैं। वैसे ही वह ''नेति नेति'' ऐसा अरूप वादमय ही बनता हैं । इसलिए शरीररहित होता हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ: ये तीन; विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर : ये तीन; वैसे ही ब्रह्मांड, पिडांड और भुर् : आदि सभी लोक अपनी-अपनी उपाधि का लय होते ही प्रत्यगात्मा में लय पाता हैं। इसलिए बाद में शांत, शांत और शांत सत्य ही बाकी हैं, और कुछ भी नहीं होता हैं। काल का भेद, वस्तु का भेद, और देश का भेद ये सभी स्वरुप के ही भेद हैं, आत्मस्वरुप का कोई भेद नहीं हैं अथवा भेद जैसी कोई वस्तु ही नहीं हैं।

जीव और ईश्वर ऐसे वाक्य वेद और शास्त्रो में हैं। परंतु उसमें ''मैं'' ऐसा चैतन्य ही हैं; यह सब चैतन्य ही हैं और ''मैं'' वह भी चैतन्य ही हैं।'' ऐसे निश्चय से भी जो शून्य हुआ हो वह **विदेहमुक्त** हैं।

वेदांत सिद्धांत मुक्तावलीकार श्रीप्रकाशानन्द के मतमें जब अज्ञान के कर्तृत्वादि अशेष अनर्थकारक कार्यो का तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान से नाश हो जाता हैं। तब ब्रह्म का साक्षात्कार होता हैं, जिसका फल मोक्ष हैं।(१४१) इस प्रकार जब अविद्या, विद्या से बाधित हो जाती हैं, तब ब्रह्मसाक्षात्कार होता हैं, बाध से यहाँ अभिप्राय हैं, जब शुद्ध अधिष्ठान में उसके बाधक प्रवर्तमान या निवर्तमान परोक्ष या प्रत्यक्ष रुप से उत्पन्न अज्ञान का त्रैकालिक अभाव(१४२)। पर इस अभाव की अनुभूति मात्र प्रमाता को होगी। इस तरह श्री प्रकाशानन्द का मोक्षविषयक सिद्धान्त, परंपरागत आचार्यो के सदृश ही हैं, पर यह मोक्ष, सद्योदेहपात के अनन्तर ही मिलता हैं, ऐसा उनका दृढ मन्तव्य हैं। इसके लिए तर्क देते हैं कि जैसे प्रकाश आने पर अंधकार तद्क्षण समाप्त हो जाता हैं, वैसे ही ज्ञान के बाद अज्ञान से उत्पन्न शरीर का सम्पात हो जाता हैं और मुक्ति मिल जाती हैं। वे प्रारब्धकर्मजन्य इस शरीर को भी अविद्या के कार्य होने के कारण, उसकी स्थिति, ज्ञानोत्तरक्षण में नहीं मानते । क्योंकि जब अविद्या हैं ही नहीं, तब उसका शरीर कैसे शेष रहेगा ? जिस प्रकार तन्तु के नाश होने पर पट का भी नाश हो जाता हैं, उसी प्रकार अविद्या के नाश होने पर उसके भूतशरीर का भी विलय हो जाता हैं।(१४३)

यदि यह मानते हैं कि ज्ञानोदय के अनन्तर कुछ क्षणो के लिए यह शरीर रह सकता हैं, तो विद्या, अविद्या को

सर्पो नाभिमन्यते ॥९८८॥ एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते । प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ॥९८९॥ नेति नेतीत्यरुपत्वादशरीरो भवत्ययम्। विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयम् ॥९९०॥ विराड् हिरण्यगर्भश्चेश्वरश्चेति च ते त्रयम्। ब्रह्मांडं चैव पिंडाडं लोका भूरादय: क्रमात् ॥९९१॥ स्वस्वरुपोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि तूष्णीमेव ततस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किंचन ॥९९२॥ कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम्। किंचिद्भेदं न तस्यास्ति किंचिद्वापि न विद्यते ॥९९३॥ जीवेश्वरेति वाक्ये च वेदशास्त्रेष्वहंत्विति। इदं चैतन्यमेवेत्यहं चैतन्यमित्यपि ॥९९४॥ इति निश्चयशून्यो यो विदेह मुक्त एव स:। ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ॥९९५॥ तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखात्मकम्। शान्तं च तदतीतं च परं ब्रह्म तदुच्यते ॥९९६॥ (स.वे.सि.सा.सं.) (**१४१**) कर्तृत्वाद्यशेषानर्थव्रातप्रसवबीजस्यात्माज्ञानस्य स्वानुभवसिद्धत्वात् तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यापरोक्षब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण । -(वे. सि. मु. का. पृ. ३९) (**१४२**) शुद्धेऽधिष्ठाने विपरीतमध्यस्य प्रवर्तमानस्य निवर्तमानस्य वा यदधिष्ठानविषयकबाधकज्ञानं परोक्षमपरोक्षं नोत्पन्नं तदनन्तरमिदमिहकालत्रयेऽपि नास्तीति योऽयं निश्चय: स एव बाध:। (वही. का. पृ.४०) (**१४३**) न च प्रारब्धसामर्थ्याद्देहपातो नास्तीतिवाच्यम् प्रारब्धस्याप्यविद्याकार्यतया तदभावे स्थातुमशक्यत्वात्। तन्त्वाभावे पटस्येव। -वे. सि. मु. का. पृ. ४१

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमर्दन कर देती हैं, यह सिद्धांत खण्डित हो जायेगा(१४४) यदि यह स्वीकार करे कि आवरणशक्तिप्रधानाज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर विक्षेपप्रधान-अज्ञान, प्रारब्ध के निर्वाह के लिए जीवन का अनुवर्तन करता हैं, तो भी अयुक्त होगा, क्योंकि तब दो अज्ञान मानने पडेंगे।(१४५) जब कि, श्रीप्रकाशानन्द को एक ही अज्ञान अभीष्ट हैं। एक ही अज्ञान की दो शक्तियों को मानने पर तो एक वस्तु में युगपत् दो शक्तियाँ माननी पडेगी, जो विरुद्धस्वभाव होने के कारण सम्भव नहीं हैं।

यदि शक्ति और शक्तिमान में भेद करके दो शक्तियाँ स्वीकार करेंगे तो भी, अद्वैत क्षेत्र में अभेद सम्बन्ध होने के कारण, अनुपयुक्त होगा, क्योंकि भेदस्थिति में अविद्या की निवृत्ति नहीं होगी। यदि प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति से अज्ञान की निवृत्ति माने तो ऐसा कोई शास्त्रप्रमाण उपलब्ध नहीं हैं(१४६) अपितु एक ओर अव्यवस्था उत्पन्न होगी कि मोक्ष के लिए तब ज्ञान की अपेक्षा न होकर प्रारब्ध की अपेक्षा हो जायेगी, क्योंकि प्रारब्ध की समाप्ति पर ही देहसम्पात होगा और देहसम्पात के बाद ज्ञान, तदनन्तर ब्रह्मसाक्षात्कार का फल मुक्ति सम्प्राप्त होगी। ऐसी अवस्था में ज्ञान के बिना ही मुक्ति माननी पडेगी, जो एक अभिनव सिद्धांत होगा तथा वेदान्त शास्त्र के लिए कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकता। यदि प्रारब्ध से पूर्व उत्पन्न ज्ञान का प्रारब्ध के साथ प्रतिबद्ध होने के कारण, वह ज्ञान प्रारब्ध के सम्पात के साथ नष्ट हो जाता हैं ऐसा कहोंगे, तो फिर ज्ञान कहाँ रहा ?(१४७) अतः ज्ञान अज्ञान का विनष्टा हैं, यह सिद्धान्त ही ग्राह्य हैं, और यही ज्ञान, मुक्ति में कारण हैं।

पूर्वपक्षी यहाँ शंका करता हैं कि, देह सम्पात से पूर्व ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो गई, परन्तु उस अज्ञान का संस्कार शेष रहा, जिसकी समाप्ति देह-सम्पात के साथ हुई, अत एव ज्ञान, अज्ञान को ध्वस्त करने में सहायक हुआ और सिद्धान्त भी खण्डित नहीं हुआ।

उसका समाधान करते हुए श्रीप्रकाशानन्द ने कहा हैं कि, संस्कार अविद्या का कार्य हैं। यदि अविद्या, विद्या से उपमर्दित हो गई, तब उसका कार्य कैसे शेष रहा ?(१४८) वस्तुतः अविद्यालेश का अर्थ हैं अविद्या ही। क्योंकि, अविद्या और उसके संस्कार में कोई भेद ही नहीं हैं। अतः अविद्यालेश का अर्थ हुआ अविद्या का शेष।

यदि अविद्या के संस्कार को अनादि स्वीकार करे, तो उसका अत्यन्ताभाव नहीं होगा। यदि सादि मानते हैं, तो उसका उपादान कौन हैं ? आत्मा या अविद्या ? निर्धार्मिक एवं अविकारी आत्मा, अविद्या के संस्कार का उपादान नहीं हो सकता। यदि अविद्या उसका उपादान हैं, तब अविद्या के नष्ट हो जाने पर, उसका संस्कार कैसे शेष रहेगा ? सभी भावकर्म का लोक में सोपादनत्व ही देखा जाता हैं। अतएव अवस्था का अविद्या से भेद या अभेद निरुपण में असमर्थ होने के कारण, संस्कार का पक्ष दूषित हो जाता हैं।

यहाँ पुनः प्रश्न किया जाता हैं कि, ''तस्य तावदेवचिरम्'', ''चक्षुरचक्षुरिव'', ''प्रजहाति यदाकामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'' **इत्यादि श्रुतिस्मृति वाक्यो में ज्ञानी पुरुष की कैवल्यसिद्धि में विलम्ब प्रमाणित होता**

(१४४) विद्यायाः अविद्योपमर्दकत्वस्वभावहानिप्रसङ्गात्। -वे.सि.मु.का.वृ-४१ (१४५) न चावरणशक्तिप्रधानमज्ञानं निवृत्तमेव विक्षेपशक्तिप्रधानं त्वनुवर्तते, प्रारब्धनिर्वाहेति वाच्यम्, अज्ञानाद्वयाभावात्।- वही। (१४६) न च प्रारब्धनिवृत्त्या तन्निवृत्तिः प्रारब्धनिवृतेरप्रमाणत्वात्। वे.सि.मु.का-४१) (१४७) न च तदनन्तरं ज्ञानमेवाप्रतिबद्धं तन्निवर्तकमितिवाच्यम् प्रारब्धनाशे देहपातानन्तरं ज्ञानस्यैवाभावात् पूर्वज्ञानस्य च प्रारब्धेन प्रतिबद्धत्वात्। (वे.सि.मु.का)(१४८) न चाविद्यासंस्कारो लेशविद्या-शब्दाभिधेयो अनुवर्तते इति, तस्याप्यविद्याकार्यत्वात् अविद्यामात्रत्वे च संस्कारशब्दप्रयोगवैयर्थ्यात्। वे.सि.मु.का.पृ.४१ (१४९) जीवन्मुक्तिप्रतिपादकश्रुतिस्मृतिप्रामाण्यविदुषो देहस्थिति कल्पयते इति चेत्, न शास्त्रस्य जीवन्मुक्तिप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्। वही।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं,(१४९) क्योंकि शास्त्रों का प्रयोजन, जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन करना हैं।

श्री प्रकाशानन्द, इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि, यदि जीवन्मुक्त की स्थिति मानते हैं, तो ज्ञानोत्तरक्षण में कर्म की स्थिति भी माननी पडेगी, क्योंकि कर्म के बिना देहस्थिति संभव नहीं हैं और मोक्ष में कर्म का लेश भी संभव नहीं हैं, क्योंकि '**उभे इहैव, एषते तरति, भिद्यते हृदयग्रन्थि, ज्ञानाग्नि-सर्वकर्माणि**' इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ कर्म की कल्पना का विरोध करती हैं। ''(१५०)अतएव जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं हैं, क्योंकि शास्त्रो का उद्देश्य इसका प्रतिपादन करना नहीं हैं।(१५१) अपितु मोक्ष के स्वरुप का प्रतिपादन करना हैं।

अब यहाँ पुनः शंका करते हैं कि, शास्त्रो में मुमुक्षुओं के श्रवण और मननादियों की वृत्ति के वर्णन का अर्थ क्या हैं? **इसका उत्तर देते हैं कि,** वह तो अर्थवाद हैं, जिसका प्रयोजन मात्र अध्ययनविधि में प्रवृत कराना हैं(१५२)। फिर लौकिक एवं वैदिक प्रमाणो के अभाव में ज्ञानी के शरीर की स्थिति बनी नही रह सकती हैं, इस स्थल में यदि तीर की गति के साथ दृष्टान्त देकर प्रारब्ध की सिद्धि करे, तो भी अयुक्त होगा, क्योंकि तीर जो गति का उपादान हैं, वह विद्यमान ही रहता हैं, पर मुक्ति में प्रारब्ध का उपादान अविद्या पहले ही समाप्त हो जाती हैं। अतएव यह दृष्टान्त असंगत हैं।(१५३) बाण का प्रक्षेपण धनुष की प्रत्यंचा से होता हैं, जितनी शक्ति से प्रत्यंचा खींचकर बाण छोडा जायेगा, उतनी ही दूरी पर, बाण जा गिरेगा। प्रत्यंचा से छूटने पर बाण की गति, प्रत्यंचा के प्रक्षेपण संस्कार से चलती रहती हैं, बाण की गति में धनुषादि कारण नहीं होते। उसी प्रकार ज्ञानी को ज्ञान हो जाने पर बाणगति सदृश यह शरीर बना रह सकता हैं। **इसका उत्तर आचार्यप्रवर श्रीमंडनमिश्र ने दिया हैं कि,** जिस प्रकार बाण छूटने पर प्रस्तरादियों के बीच में आ जाने के कारण बाण रास्ते में ही रुक जाता हैं, अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँचता क्योंकि प्रस्तरादि बाधक तत्त्व, उसे बाधित कर उसकी गति को समाप्त कर देते हैं। उसी प्रकार ज्ञानोदय हो जाने पर समस्त बाधक तत्त्व अज्ञानादि अपने कारण सहित विलीन हो जाते हैं, और वहाँ सद्य शरीर के सम्पात के अनन्तर मुक्ति मिलती हैं।

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में जो लौकिक कथन हैं, वह अन्ध परंपरा का प्रतीक हैं। गुरु ''तत्त्वमसि'' इत्यादि महावाक्यों से जो उपदेश देता हैं, उसका प्रयोजन मात्र गुरुवाक्यों या महावाक्यो में विश्वास उत्पन्न करना हैं। अतः विद्या के द्वारा जब अविद्या का उपमर्दन हो जाता हैं तब सद्योमुक्ति होती हैं, यही मत सर्वथा दोषरहित एवं ग्राह्य हैं।

यहाँ एक शंका ओर उपस्थित होती हैं कि, उपदेष्टा के अभाव में विद्या की उत्पत्ति फिर कैसे होगी? कहीं भी आचार्य ने निरपेक्षा विद्या का उपदेश नहीं किया हैं। ''आचार्यवान् पुरुषोवेद (छा. उ. ६. १४), नैषातर्केणमतिरापनीया (क.उ. १. ९.९.१.३.१४) प्राप्य वरान्निबोधत आचार्यस्ते गति वक्ति (छा.उ.४.१४) इत्यादि श्रुतियों में ज्ञानीगुरु का वर्णन उपलब्ध होता हैं। जीवन्मुक्त के अभाव में ज्ञानी उपदेष्टा की स्थिति अस्वीकृत हो जायेगी, तब गुरु के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान भी असत्य हो जायेगा और श्रुतिवाक्य अनर्थक हो जायेगा। अतः जीवन्मुक्त का सिद्धान्त श्रुति को अभिष्ट हैं।

इसका समाधान देते हैं कि, वस्तुतः गुरु तो वेदादि शास्त्रो में वर्णित विषय का ही प्रतिपादन करता हैं। स्वयं गुरु पारमार्थिक सत्य का द्रष्टा नहीं होता, तथापि कल्पित गुरु ही सही यदि उससे विद्या की उत्पत्ति होती हैं, तो

(१५०) इतिश्रुतिस्मृतिविरोधात्कल्पनमनुपपन्नम् इति। वे. सि. मु. जीवानन्दटीका पृ.२३२ **(१५१)** शास्त्रस्य जीवन्मुक्तिप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्। वें. सि. मु. पृ. १३९ **(१५२)** मुमुक्षुणां श्रवणादौ प्रवृत्तिप्रयोजनमिति चेत्? अस्तु तर्हि श्रवणादिविधेरर्थवादस्तच्छास्त्रम्।- वे.सि.मु.पृ. १४० **(१५३)** न च मुक्तेषु दृष्टान्तेन प्रारब्धस्थितिसाधितेति वाच्यम् दृष्टान्तेवैषम्यात्। - वही. पृ. १४०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई क्षति नहीं।[१५४] वह कल्पित गुरु शिष्यो को इस प्रकार उपदेश करता हैं, जैसे बच्चे जल में चन्द्रमा को देखकर आकाशस्थ चन्द्रमा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।[१५५] अर्थात् वृद्धजन जिस प्रकार शिशुओं के लिए जलचन्द्र का निषेध कर आकाशचन्द्र सच्चन्द्र हैं, ऐसा उपदेश देते हैं। अत: उपदेष्टा को आधार मानकर जीवन्मुक्ति की व्याख्या करना शास्त्र विरुद्ध हैं। मुक्तावस्था में शास्त्राचार्यो के प्रसादो से प्रसादित आराधक, महावाक्योत्थ ज्ञान से ब्रह्म का साक्षात्कार कर प्रतिबन्धक अज्ञान और उसके समस्त कार्यो का विनाश कर तथा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव अद्वयानन्द ''मैं ही हूँ'' ऐसा आत्मा का बोध प्राप्त करके, कृतकृत्य हो जाता हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, योगदर्शन के प्रणेता श्रीपंतजली ऋषि भी पूर्वोक्त मुक्ति के दो प्रकारो को मानते हैं। संप्रज्ञात योग से जीवन्मुक्ति और असंप्रज्ञातयोग से विदेहमुक्ति प्राप्त होती हैं, ऐसा अपने पातंजलयोग सूत्र में वे बताते हैं। (इस विषय की चर्चा 'योगदर्शन' विषयक परिशिष्ट में देखने के लिए परामर्श हैं।)

जैनदर्शन भी मुक्ति की ये दो अवस्थाओ को अपेक्षा से स्वीकार करता हैं। सांख्यदर्शन भी मुक्ति के दो प्रकार की परिकल्पना को अलग दृष्टिकोण से स्वीकार करता हैं।

दूसरी एक बात लक्ष्य में ले कि, वेदांतमत अनुसार तो आत्मा नित्यमुक्त हैं, इसलिए मुक्ति कोई उत्पन्न होती वस्तु नहीं हैं। ऐसा होते हुए भी संसार में पडा हुआ जीव अज्ञान से अपना विशुद्ध स्वरुप भूल गया होता हैं और संसार की भिन्न-भिन्न अवस्थायें तथा बंधनों से अपने आपको बद्ध समजता हैं। उसको यही बंधन होता हैं। और वह बंधन अज्ञान या अविद्या से उत्पन्न हुआ हैं। अविद्या दूर होने से तुरंत आत्मा बंधन से मुक्त हो जाता हैं और तब जीव को स्वयं को मुक्त होने का अनुभव होता हैं।

● **ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन :-** ज्ञान से अज्ञान का नाश होता हैं और उससे आत्मा की मुक्ति होती हैं। ज्ञानप्राप्ति का अर्थ ब्रह्म के विषय में केवल शाब्दिक ज्ञान प्राप्त होना वह नहीं हैं। ब्रह्म के स्वरुप के विषय में विस्तृत परिचय पाना उसके लिए अनेक ग्रंथो का अवगाहन करना और ब्रह्म के विषय में प्रवचन देना, इत्यादि ब्रह्म विषय आयाम एक दूसरी चीज हैं और ब्रह्मानुभव या ब्रह्मसाक्षात्कार करना यह बात अलग हैं। सारे भेद मिट जाये और ''मैं ब्रह्म हुँ'' ऐसा अभेदभाव सिद्ध हो उसको ब्रह्मानुभव या ब्रह्म साक्षात्कार कहा जाता हैं। उस अवस्थान तक पहुँचने के लिए कठिन साधना करनी पडती हैं। सबसे प्रथम तो ज्ञानप्राप्ति के लिए श्रवणादि चार अनुष्ठान का दीर्घकाल पर्यन्त सेवन करना पडता हैं। श्रवणादि करने से पहले उसकी योग्यता के चार साधन प्राप्त करने पडते हैं।

चार साधन[१५६] **:-** वेदांत में ज्ञानप्राप्ति के चार साधन बताये हैं। वे हो तो ही मुक्ति प्राप्त होती हैं, अन्यथा मुक्ति प्राप्त नहीं होती हैं। वे साधन इस प्रकार हैं - (१) नित्यानित्यवस्तु का विवेक, (२) आलोक-परलोक के विषय-भोगों के उपर वैराग्य, (३)शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान : ये छ: की संपत्ति (प्राप्ति) और (४) मुमुक्षुता=मोक्ष का अर्थीत्व।

''ब्रह्म ही नित्य हैं, उसके सिवा अन्य अनित्य हैं'' ऐसी समज को नित्यानित्य का ''विवेक'' कहा जाता हैं।[१५७]

---

(१५४) कल्पितोऽप्युपदेष्टा स्याद्यथाशास्त्र समादिशेत् न चाविनिगमो दोषोऽविद्यावत्वेन निर्णयात्।-**वे.सि.मु.का ४२**। कल्पितेन गुरुणा विद्योत्पत्तिसम्भवात् नानुपपत्तिकाचित्। वही. पृ. ४२ (१५५) शास्त्रवदुपपत्तेः प्रतिबिम्बवच्च। वही. (१५६) चत्वारि साधनान्यत्र वदन्ति परमर्षयः। मुक्तिर्येषां नु सद्भावे नाभावे सिध्यति ध्रुवम् ॥१३॥ आद्यं नित्यानित्यवस्तुविवेकः साधनं मतम्। इहामुत्रार्थफल-भोगविरागो द्वितीयकम् ॥१५॥ शमादिषट्संपत्तिस्तुतीयं साधनं मतम्। तुरीयं तु मुमुक्षुत्वं साधनं शास्त्रसंमतम् ॥१५॥ (सर्ववेदांत-सिद्धांत-सार संग्रह)(१५७) ब्रह्मैव नित्यमन्येत्तु ह्यनित्यमिति वेदनम्। सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक इति कथ्यते ॥१६॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोक और परलोक के विषय सुख अनित्य हैं, ऐसा निश्चय होने से उसके उपर तुच्छ बुद्धि उत्पन्न होती हैं, उसके योग से उस विषय सुखो के उपर से स्पृहा नष्ट हो जाती हैं, उसको ''वैराग्य'' कहा जाता हैं।[१५८]

शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान : इस छ को शमादि षट्संपत्ति कहा जाता हैं। **जिसमें मन लगातार वृत्ति से अपने लक्ष्य में नियमित स्थिति करे, उसको ''शम'' कहा जाता हैं। यह शम तीन प्रकार का हैं।** (१) अपने विकारो को छोडकर मन,मात्र (आत्मरुप) वस्तु स्वरुप में ही स्थिति करे वह मन का ''**उत्तम शम**'' हैं, उसको ही ''**ब्रह्मनिर्वाण**'' कहा जाता हैं। (२) बुद्धि, केवल आत्मा के अनुभव की परंपरा का प्रवाह करे, वह ''**मध्यम शम**'' हैं और उसको ही ''**शुद्धसत्त्व**'' कहा जाता हैं। (३) विषय का व्यापार छोडकर मन केवल (वेदांत का) श्रवण करने में ही स्थिर हो, वह मन का ''**जघन्यशम**'' हैं और उसको '**मिश्रशम**' कहा जाता हैं। (सर्ववेदांत-सिद्धांत-सार संग्रह ९४ से९९) **पूर्व के और उत्तर के अंग हो, तो ही ''शम'' सिद्ध होता हैं। तीव्र वैराग्य यह पूर्व का अंग हैं और दम इत्यादि उत्तर के अंग हैं।** वैसे ही काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर : इस छः को जिसने जीता नहीं हो उसको शम सिद्ध नहीं होता हैं। (स.वे.सि.सा.सं- १००-१०१)

तदुपरांत ब्रह्मचर्य, अहिंसा, प्राणीयों की दया, सरलता, विषयो में अनासक्ति, बाह्य-अभ्यंतर पवित्रता, दंभत्याग, सत्य, ममत्वत्याग, स्थिरता, अभिमान त्याग, ईश्वर के ध्यान में तत्परता, ब्रह्मज्ञानीयों के साथ सहवास, ज्ञानमय शास्त्रों में परायणता, सुख-दुःख में समता, मान के उपर अनासक्ति, एकांतशीलता और मुमुक्षुता : ये गुण जिनमें होते हैं, उसका चित्त निर्मल बनता हैं, ये गुणो के सिवा अन्य करोडो उपायो से भी मन निर्मल नहीं बनता हैं। (सर्व वेदांत सिद्धांत सार संग्रह-१०५ थी१०८)

पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य आदि धर्मो के द्वारा बुद्धि के दोष दूर करने के लिए जो दंड लेना (शिक्षा सहन करना) उसको ''दम'' कहा जाता हैं। तत् तत् वृत्तियों को रोककर निरोध करके बाह्येन्द्रियों को वश करना उसे ''दम'' कहा जाता हैं, जो मन की शांति (शम) का साधन हैं। (सर्व. वे. सि.सा.सं)

प्रारब्ध कर्म के वेग से आध्यात्मिक आदि जो दुःख प्राप्त हुए हो, उसका विचार किये बिना उसको सहन करना उसको ''तितिक्षा'' कहा जाता हैं। (सर्व-वे.सि.सा. संग्रह)

साधनरुप में दिखाई देते सर्व (नित्य नैमित्तिकादि) कर्मो का विधिपूर्वक त्याग करना उसको सज्जनो ने **संन्यास** माना हैं, वह संन्यास ही कर्मो को बंध करवाता हैं, इसलिए '**उपरति**' कहा जाता हैं। वेद भी कहता हैं कि, ''सर्वविरुद्ध कर्मो का त्याग वही संन्यास[१५९] हैं। (स.वे.सि.सा.संग्रह १५१-१५२)

गुरु और वेदांत के वाक्यों के उपर ''यह सत्य ही हैं'' ऐसे निश्चयवाली बुद्धि उसे ''**श्रद्धा**'' कहा जाता हैं। यह श्रद्धा मुक्ति की सिद्धि में प्रथम कारण हैं। (स.वे.सि.सा.संग्रह २१०)

वेदमें कहे हुए अर्थ को जानने के लिए विद्वान पुरुष ज्ञेय वस्तु में चित्त अच्छी तरह से स्थापित करे, उसे

(१५८) ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ह्यनित्यत्वेन निश्चयात्। नैःस्पृह्यं तुच्छबुद्धया यत्तद्वैराग्यमितीर्यते ॥२२॥ **(१५९)** वेद में कहा जाता हैं कि, कर्म से सिद्ध होते सर्व पदार्थ अनित्य हैं, तो नित्यफल चाहते और परमार्थ के साथ ही संबंधवाले पुरुष को ऐसी कर्मो की क्या आवश्यकता हैं ? (१) उत्पाद्य (उत्पत्ति के योग्य) (२) आप्य (पाने योग्य) (३)संस्कार्य (संस्कार के योग्य) (४) विकार्य (विकार के योग्य): इस चार प्रकार के कर्म द्वारा सिद्ध होने से फल माना जाता हैं। इसके अतिरिक्त कर्म का दूसरा कोइ फल नहीं हैं। ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध सभी काल में प्राप्त, शुद्ध, निर्मल और निष्क्रिय हैं, इसलिए उपर्युक्त चार कर्मफल में से एक भी रुप, हो वह योग्य नहीं हैं। **(सर्व.वे.सि.सा.सं.१५३-१५४-१५५)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''**समाधान**'' कहा जाता हैं। (स.वे.सि.सा.सं.२१८) विद्वान पुरुष ''ब्रह्म और आत्मा एक हैं।'' ऐसे अनुभवज्ञान से संसाररुप पाश का बंधन तोड डालना चाहता हैं, वह ''**मुमुक्षुत्व**'' हैं।[१६०]

चार साधनो का आंशिक स्वरुप देखा। उपर्युक्त चार साधन से संपन्न आत्मा श्रवणादि अनुष्ठान में तत्पर बने तब ब्रह्म साक्षात्कार होता हैं। **ब्रह्मसाक्षात्कार या जिसका दूसरा नाम आत्मसाक्षात्कार हैं, उसके साधन बताते हुए वेदांतसार-पञ्चम अध्याय में बताया हैं कि-** ''इस तरह से अपने में रहे हुए स्वरुप चैतन्य का साक्षात्कार हो वहाँ तक (अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार न हो तब तक) श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि यह चार अनुष्ठान की अपेक्षा हैं और इसलिए अब उन चारो अनुष्ठानो का स्वरुप बताया जाता हैं।[१६१]

(१) श्रवण :- यहाँ श्रवण अर्थात् केवल सुनने के अर्थ में प्रयोजित नहीं हुआ हैं। परंतु छः लिंगो द्वारा समस्त वेदांत वाक्यो का अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में तात्पर्य निर्णय करना उसे 'श्रवण' कहा जाता हैं।[१६२]

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति : ये[१६३] श्रवण के लिंग हैं। उसमें प्रकरण में प्रतिपाद्य अर्थ के (विषय के) आद्यन्त का =आदि और अंत का उपपादान करना वह क्रमशः **उपक्रम** और **उपसंहार**[१६४] हैं। जैसे कि, छांदोग्य उपनिषद् के छठ्ठे अध्याय में प्रतिपादित होनेवाले विषय (ब्रह्म) का एकमेवाद्वितीयम् (६.२.१) इस तरह से आरंभ में और ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (६.८.७) इस प्रकार अंत में प्रतिपादन आता हैं। प्रकरण में प्रतिपादित करने में आनेवाले विषय का प्रकरण में बीच बीच में पुनः पुनः प्रतिपादन करना वह **अभ्यास**[१६५] हैं। जैसे कि उसमें ही अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का बीच बीचमें ''तत्त्वमसि'' इस तरह से नौ बार प्रतिपादन किया गया हैं। प्रकरण में प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु को (ब्रह्म को) अन्य प्रमाण का विषय न बनाना वह''**अपूर्वता**''हैं।[१६६] (वेदांती और मीमांसक वेद में निरुपति विषयो को प्रत्यक्ष या अनुमेय नहीं मानते हैं, केवल वह श्रुतिगम्य हैं ऐसा उनका मत हैं। इसलिए वेदवचन अपूर्व हैं।) जैसे कि, उस छांदोग्योपनिषद् में ही अद्वितीय ब्रह्म को अन्य प्रमाणो का विषय नहीं बनाया हैं। प्रकरण में प्रतिपाद्य आत्मज्ञान और उसके वास्ते के अनुष्ठान का स्थान स्थान पे सुना जाता (वर्णन किया जाता) प्रयोजन वह''**फल**'' हैं।[१६७]जैसे की उसी ग्रंथ में आचार्य से युक्त पुरुष आत्मा को जानता हैं, उसके लिए जब तक वह (शरीर के संबंध से) मुक्त नहीं हैं तब तक ही दैरी हैं, उसके बाद वह (ब्रह्मभाव को) प्राप्त कर लेता हैं। (छा.उ.६.१४.२) इस वाक्य में अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का ''ब्रह्मप्राप्ति'' प्रयोजन (फल) बताया हैं।

प्रकरण में प्रतिपाद्य विषय के स्थान-स्थान पे प्रशंसा करना वह''**अर्थवाद**''हैं।[१६८] और प्रकरण में प्रतिपाद्य

---

(१६०) ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्यद्विद्वान्मोक्तुमिच्छति संसारपाशबन्धं तन्मुमुक्षुत्वं निगद्यते॥२२६॥(**स.वे.सि.सा.संग्रह**) (**१६१**) एवं स्वभूतस्वरुपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते। (**वेदांतसार-१७६**) (**१६२**) श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। (**वे.सा. १७७**) (**१६३**) लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। (**वे.सा. १७८**) (**१६४**) तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः ''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादौ ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। (**वे.सा. -१७९**) (**१६५**) प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनः पुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। (**वे.सा.१८०**) (**१६६**) प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्। (**वै.सा. १८१**) (**१६७**) फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र ''आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव वारं यावन्न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्ये'' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। (**वे.सा. १८२**) (**१६८**) प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय को सिद्ध करने में तत् तत् स्थान पे सुनने में आती युक्ति वह '**उपपत्ति**'[(१६९)] हैं। इस तरह से श्रवण के छः अंग हैं।

(२) **मनन :-** श्रवण करने में आती अद्वितीय वस्तु का वेदांत की अनुकूल युक्तियों से सतत चिंतन करना उसे '**मनन**' कहा जाता हैं।[(१७०)]

(३) **निदिध्यासन :-** आत्मतत्त्व से विजातीय देह आदि के भान से रहित अद्वितीय वस्तु के सजातीय ज्ञानप्रवाह को '**निदिध्यासन**' कहा जाता हैं।[(१७१)] अर्थात् जब अधिकारी पुरुष का ज्ञान आत्मभिन्न सभी (विजातीय) पदार्थो =भावो से दूर होकर आत्मा में केन्द्रित हो जाता हैं और उस प्रकार का ज्ञान निरंतर बहा करता हैं, उसको निदिध्यासन कहा जाता हैं।

(४) **समाधि :-** चित्त जब विजातीय विषयो में से दूर होकर सजातीय विषयो में एकाग्र हो - समाहित हो उस स्थिति को "**समाधि**" कहते हैं। वेदांतसार की सुबोधिनी टीका के अनुसार "व्युत्थान और संस्कारों का क्रमशः तिरोभाव और आविर्भाव होने से चित्त का एकाग्रतारुप परिणाम वह समाधि हैं। वेदांतसार की विद्वन्मनोरंजनी टीका के अनुसार, "ज्ञेय आत्मा की दृष्टि से चित्त की निश्चल स्थिति वह **समाधि**।[(१७२)]

समाधि के दो प्रकार है : [(१७३)] (१) सविकल्पक समाधि और (२) निर्विकल्पक समाधि।

सविकल्पक समाधि :- ज्ञान आदि का नाश हुए बिना ही ज्ञेय अद्वैत ब्रह्म में चित्तवृत्ति तदाकार स्वरुप में जो रहे, उसको ही सत्पुरुष सविकल्पक समाधि कहते हैं। [(१७४)] जैसे, "मिट्टी का हाथी मिट्टी ही हैं। "ऐसा ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान के साथ मिट्टी का हाथी भी मालूम हो वैसे "जगत के प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म ही हैं।" ऐसा ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान के साथ ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान ये त्रिपुटी भी ब्रह्मस्वरुप सें उसमें मालूम होती हैं (परंतु उस त्रिपुटी का ब्रह्मस्वरुप से बिलकुल विलय हो गया नहीं होता हैं।) इसलिए ही ऐसी समाधि "**सविकल्पक**" कही जाती हैं।

सविकल्यसमाधि के दो भेद[(१७५)]**:-** दृश्य पदार्थो के संबंधवाली समाधि को "**दृश्यानुविद्ध**" समाधि कहा जाता हैं और शब्द के संबंधवाली समाधि को "**शब्दानुविद्ध**" समाधि कहा जाता हैं।

निर्विकल्प समाधि[(१७६)] **:-** जिसमें ज्ञाता- ज्ञेय -ज्ञान यह त्रिपुटीभाव बिलकुल छूट जाये और केवल ज्ञेयस्वरुप में ही मन की दृढस्थिति हो जाये, उसे "**निर्विकल्प समाधि**" कही जाती हैं। उसको "योग" भी कहा जाता हैं। जैसे पानी में डाला हुआ नमक केवल जलरुप में ही रहा हुआ होता हैं, जल से भिन्न मालूम नही होता

---

(१६९) प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। वे.सा-१८४ (१७०) मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम् **वे.सा.१८५**। (१७१) विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीय प्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। (वे.सा. १८६) (१७२) चितस्य ज्ञेयात्मना निश्चलावस्थानं समाधिः (**वे.सा.टीका**)। (१७३) समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। (**वे.सा. १८७**) (१७४) ज्ञानाद्यविलयेनैव ज्ञेये ब्रह्मणि केवले। तदाकाराकारितया चित्तवृत्तेरवस्थितिः ॥८२०॥ सद्भिः स एव विज्ञेयः समाधिः सविकल्पकः। मृद एवावभानेऽपि मुन्मयद्विपभानवत् ॥८२१॥ सन्मात्रवस्तुभानेऽपि त्रिपुटी भाती सन्मयी। समाधिरत एवायं सविकल्प इतीर्यते ॥८२२॥ (स.वे.सि.सा.सं.) (१७५) सविकल्पसमाधि के दोनो भेदो का विशेष वर्णन सर्ववेदांत-सिद्धांत-सारसंग्रह ग्रंथ से देख लेना। दृश्यानुविद्धः शब्दानुविद्धश्चेति द्विधा मत ॥ ८२९- उत्तरार्धः) (१७६) ज्ञात्रादिभावमुत्सृज्य ज्ञेयमात्रस्थितिर्दृढा। मनसा निर्विकल्पः स्यात्समाधिर्योगसंज्ञितः ॥८२३॥ जले निक्षिप्तलक्षणं जलमात्रतया स्थितम्। पृथङ् न भाति किं त्वंभ एकमेवावभासते ॥८२४॥ यथा तथैव सा वृत्तिर्ब्रह्ममात्रतया स्थिता पृथङ् न भाति ब्रह्मैवाद्वितीयमवभासते ॥८२५॥ ज्ञात्रादिकल्पनाभावान्मतोऽयं निर्विकल्पकः। वृत्तेः सद्भावबाधाभ्यामुभयोर्भेद इष्यते ॥८२६॥ (स.वे.सि.सा.संग्रह)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और केवल पानी ही दिखता हैं, उसी तरह से अंतःकरण की वृत्ति केवल ब्रह्मस्वरुप में ही रहती हैं, भिन्न नहीं लगती हैं। और केवल अद्वैत ब्रह्म ही प्रकाशित होता हैं।

सारांश में जिसमें अन्तःकरण की वृत्ति ज्ञाता आदि स्वरुप से होती हैं वह सविकल्प समाधि और जिसमें अंतःकरण की वृत्ति ज्ञाता आदि स्वरुप से रहती ही नहीं हैं, वह निर्विकल्प समाधि कही जाती हैं -ऐसा उस समाधि में भेद वेदांतीओं ने माना हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, समाधि और सुषुप्ति[(१७७)] के बीच अंतर हैं। क्योंकि, समाधि में ज्ञान होता हैं और सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता हैं, परन्तु अज्ञान ही होता हैं।

उपर्युक्त दोनों समाधि हृदय में रही हुए विपरीत भावना दूर करने के लिए मुमुक्षु को यत्नपूर्वक करनी चाहिए। इस समाधि के सेवन से देहादि के उपर की आत्मबुद्धि नष्ट हो जाती हैं, ज्ञान अस्खलित होता हैं और नित्य का आनंद सिद्ध होता हैं। (सर्व.वे.सि.सा.संग्रह-८२८-८२९)

निर्विकल्पक समाधि के अंग :- निर्विकल्पक समाधि को योगशास्त्रविद् ''योग'' भी कहते हैं। उस योग के यमादि आठ अंग हैं। [(१७८)] **(१) यम :-** ''सर्व ब्रह्म हैं- सर्व ब्रह्म हैं'' ऐसा ज्ञान होने से इन्द्रियो का संयम होता हैं, इसलिए उसे ''यम'' कहा जाता हैं। उसका बारबार अभ्यास करना। (यम के पांच प्रकार हैं (१)अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह।) परपीडा के वर्जन को **अहिंसा** कहा जाता हैं। (हिंसा समाधि में बाधक बनती हैं। इसलिए उसका त्याग करे) सत्य वचन बोलना। (असत्य समाधि के अनुष्ठान में अंतरायभूत हैं। इसलिए त्याग।) दूसरे ने न दी हुई वस्तु ग्रहण न करना वह **अस्तेय** यम हैं। (चौर्यवृत्ति से समाधिभाव प्राप्त नहीं हो सकता हैं, इसलिए उसका त्याग।) [(१७९)]आठ प्रकार के मैथुन का त्याग करना उसे **ब्रह्मचर्य** कहा जाता हैं। (बहिर्भाव में ले जानेवाला मैथुन समाधि में महा अंतरायभूत होने से उसका त्याग करना होता हैं।) अपरिग्रह (समाधि के अनुष्ठान में निरुपयोगी वस्तुओं का संग्रह न करना वह।) **(२) नियम :-** सजातीय (आत्मचिंतन) का प्रवाह चालू रखना और विजातीय देहादि का तिरस्कार करना (अर्थात् आत्मस्वरुप में लय करना।) यही परमानंद रुप ''**नियम**'' हैं। (उसे भी ज्ञानीओं को अवश्य सेवन करना चाहिए।) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं। **(३) आसन :-** जिस स्थिति में निरंतर सुखपूर्वक ब्रह्मचिंतन हो सके, उसको ही ''आसन'' कहा जाता हैं। बाकी के आसन तो सुख का नाश करनेवाले हैं। **(४) प्राणायाम :-** चित्त आदि सर्व पदार्थो में ब्रह्मत्व की भावना करने से सर्ववृत्तियों का विरोध हो जाता हैं। इसलिए वही ''प्राणायाम'' कहा जाता हैं। उसमें प्रपंच का ब्रह्मस्वरुप में से निषेध करना, वह ''**रेचक**'' नामका प्राणायाम हैं। ''मैं ब्रह्म ही हुँ'' ऐसी जो वृत्ति वह ''**पूरक**'' प्राणायाम हैं और उस वृत्ति की निश्चलता होना, वह ''कुंभक'' प्राणायाम हैं। बाकी श्वासोच्छवास भरना, रोकना और निकालना, यह तो अज्ञानीओं का प्राणायाम हैं। **(५) प्रत्याहार :-** विषयों के उपर की आत्मभावना को छोडकर मन का चैतन्य आत्मस्वरुप में मग्न रहना उसको ''प्रत्याहार'' कहा जाता हैं। मुमुक्षु इसका भी बारबार अभ्यास करे। **(६) धारणा :-** मन जहाँ जहाँ जाता रहे वहाँ वहाँ केवल ब्रह्म का ही

(१७७) सर्व.वे.सि.सा.संग्रह- श्लोक- ८२७-८२८ देखिए। (१७८) योग के आठ अंग का स्वरुप सर्ववेदांत-सिद्धांत सार संग्रह ग्रंथ में से देखना और प्रत्येक अंग के प्रतिभेद वेदांतसार- पंचम अध्यास से जानना। (१७९) स्मरणं दर्शनं स्त्रीणां गुणकर्मानुकीर्तनम्। समीचीनत्वधीस्तासु प्रीतिः संभाषणं मिथः ॥१०९॥ सहवासश्च संसर्गोऽष्टधा मैथुनं विदुः। एतद्विलक्षं ब्रह्मचर्यं चित्तप्रसादकम् ॥११०॥ **(सं.वे.सि.सा.सं.)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन करने से उसको वश किया जा सकता हैं। और वही उत्तम प्रकार की **धारणा** हैं। **(७) ध्यान :-** ''ब्रह्मैवास्मि- मैं ब्रह्म ही हुँ'' ऐसी सद्वृत्ति से निरालंबन (अर्थात् किसी भी वस्तु के आश्रय बिना) स्थिति करना, उसे ''ध्यान'' कहा जाता हैं। यही ध्यान परमानंद देनेवाला हैं। **(८) समाधि :-** निर्विकार और ब्रह्माकार वृत्ति होने के बाद उस वृत्ति को भी भूल जाना वही उत्तम ''समाधि'' हैं।

यहाँ खास उल्लेखनीय हैं कि, पूर्वोक्त समाधि की जाती हैं, तब विघ्न भी बल से जरुर आते हैं। जैसे कि, बराबर एकाग्रता न हो, आलस्य हो, भोगो की लालसा हो, भय लगे, अज्ञान अंधार या तमोगुण फैल जाये, व्यग्रता अथवा व्याकुलता हो, मन जहाँ तहाँ जाता रहे। तेज की झलक दिखाई दे और शून्य जैसी स्थिति भी हो। ऐसे बहोत प्रकार के विघ्न आते हैं।

वेदांतसार ग्रंथ में निर्विकल्प समाधि के चार विघ्न बताये हैं। (१) लय, (२) विक्षेप (३) कषाय (४) रसास्वाद। लय की व्याख्या करते हुए कहा हैं कि, '**लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बेन चित्तवृत्तेर्निद्रा।** अखंड वस्तु का (ब्रह्म का) अवलंबन न लेने के कारण जो चित्तवृत्ति की निद्रा हैं, उसे लय कहा जाता हैं।

टीकाकार ''लय'' की स्पष्टता करते हुए बताते हैं कि- ''**आलस्यवशाच्चित्तवृत्तिश्शब्दादिबाह्यविषयान् ग्रहीतुमुपेक्षमाणा तिष्ठति किन्त्वेवं कृते सति प्रत्यगात्मस्वरुपमपि नावभासतेऽतः सा नितरां निद्रिता सञ्जायते।** अस्या दशाया नाम लयः। सचाद्वितीयवस्तुप्राप्तिविघ्नः।''

- आलस के कारण चित्तवृत्ति शब्दादि बाह्य विषयो को ग्रहण करने में उपेक्षित रहती हैं, परंतु ऐसा होने पर भी प्रत्यगात्मक स्वरुप भी अवभासित नहीं होता हैं। इसलिए चित्तवृत्ति बिलकुल निद्रित (निवृत्त) हो जाती हैं। इस दशा का नाम लय हैं। वह लय अद्वितीय (ब्रह्म) वस्तु की प्राप्ति में विघ्न हैं। **विक्षेप की स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि,**

अखण्डवस्त्ववलम्बनायान्तर्मुखीनापि चित्तवृत्तिर्यदा तदवलम्बनेऽसमर्था भवति तदा पुनर्बाह्यवस्तु- ग्रहणे प्रवर्तते। एष विक्षेपः। (वेदांतसार-टीका)

अखंड वस्तु का ग्रहण करने के लिए जब चित्तवृत्ति अंतर्मुखी होती हैं, परंतु उसको प्राप्त नहीं कर सकती हैं, तब चित्तवृत्ति पुनः बाह्य वस्तुओ को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जाती हैं। उसको **विक्षेप** कहा जाता हैं।

कषाय की स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि, ''**लक्षविक्षेपरुपविघ्नाभावेऽप्युद्बुद्धरागादिवासनावशा- त्स्तब्धीभावमापन्नायाश्चित्तवृत्तेरद्वितीयवस्तुनोऽनवलम्बनं कषाय :।**'' - लय और विक्षेपरुप विघ्न न होने पर भी रागादि वासनावश चित्तवृत्ति स्तब्ध हो जाने के कारण अखंड वस्तु का अवलंबन न ले सके, उसे **कषाय** कहा जाता हैं।

रसास्वाद विघ्न की स्पष्टता करते हुए कहा हैं कि, ''**अखण्डवस्त्ववलम्बनजन्यानन्दातिरेकाननुभवे- ऽप्यनिष्टबाह्यप्रपञ्चनिवृत्त्या ब्रह्मानन्दभ्रमेण यः सविकल्पकानन्दानुभवः स रसास्वादः। निर्विकल्पक समाध्या-रम्भकालेऽनुभूयमानो यः सविकल्पका्नन्दस्तदपरित्यागपूर्वकं पुनस्तस्यैवास्वादनं वा रसास्वादः।**''

- अखंड वस्तु के आनंदातिरेक की प्राप्ति न होने पर भी अनिष्ट ऐसे बाह्य प्रपञ्च की निवृत्ति होने के कारण

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मानंद के भ्रम से जो सविकल्पक रुप आनंद का अनुभव होता हैं, उसे रसास्वाद कहा जाता हैं। अथवा निर्विकल्पक समाधि के प्रारंभ में जो सविकल्पक आनंद होता हैं, उसका परित्याग न करते हुए उसका ही आस्वाद लेना उसे **रसास्वाद** कहा जाता हैं। ये लय आदि चारो निर्विकल्पक समाधि के विघ्न हैं। ये चारो विघ्नों से रहित चित्त जब वायुरहित स्थान पे रहे हुए दीपक की तरह निश्चल एवं अखंड चैतन्यमात्र में स्थित होता हैं, तब निर्विकल्पक समाधि कही जाती हैं।

● **ज्ञान की सात भूमिका :-** भेदज्ञान की प्राप्ति से लेकर विदेहमुक्ति तक की अवस्था में श्री शंकराचार्य ने ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन किया हैं। उन सात(१८०) भूमिकाओं का निरुपण करते हुए सर्ववेदांत सिद्धांत सारसंग्रह नाम के ग्रंथ में कहा हैं कि,

शुभेच्छा प्रथम, **विचारणा** दूसरी, **तनुमानसी** तीसरी, **सत्त्वापति** चौथी, **असंसक्ति** पांचवी, **पदार्थभावना** छठ्ठी, और **तुर्यगा** सातवी ज्ञानभूमि हैं। अब सातो भूमियों का स्वरुप(१८१) बताते हुए कहते हैं कि,

''मैं मूढ ही क्यों रहा हुँ?'' ''शास्त्र और सज्जन मेरे सामने देख रहे हैं।'' ऐसी वैराग्यपूर्वक इच्छा हो, उसको विद्वान ''**शुभेच्छा**'' नाम की **प्रथम** ज्ञानभूमि कहते हैं। शास्त्रों और सज्जनों का संबंध करने से वैराग्य हो और उसके बाद अभ्यासपूर्वक सदाचार में जो प्रवृत्ति हो उसको '**विचारणा**' नाम की **दूसरी** ज्ञानभूमि कही जाती हैं। पूर्वोक्त विचारणा और शुभेच्छा के योग से इन्द्रियो के विषयो के उपर राग न रहे (आसक्ति)न रहे और मन की स्थिति (उस विषयो के प्रति) पतली पड जाये, तब उसको **तनुमानसी** नामकी **तीसरी** ज्ञानभूमि कही जाती हैं। पूर्वोक्त तीनो भूमिकाओ के अभ्यास से चित्त में पदार्थो के उपर का वैराग्य प्राप्त होता है और उसके कारण वह शुद्ध सत्त्वगुण स्वरुप में बनी रहे, उसको '**सत्त्वापत्ति**' नामकी **चौथी** ज्ञानभूमि कही जाती हैं। पूर्वोक्त चार प्रकार की भूमि के अभ्यास से जिसमें असंगतारुपी फल प्राप्त होता हैं और सत्त्वगुण का चमत्कार बहोत रुढ होता हैं। (जमता हैं।), वह ''**असंसक्ति**'' नाम की **पांचवी** ज्ञानभूमि हैं।

पूर्वोक्त पांच भूमिकाओं के अभ्यास से अपने आत्मा में अतिशय रमणता होती हैं, बाह्य और अभ्यंतर पदार्थ मालूम नहीं होते हैं और दूसरा कोई मनुष्य जब बहोत प्रयत्न करे, तब ही बाह्य और अभ्यंतर पदार्थ मालूम होता है, वह ''**पदार्थभावना**'' नाम की **छठ्ठी** ज्ञानभूमि हैं।

पूर्वोक्त छः भूमिकाओ का दीर्घकालपर्यन्त अभ्यास करने से किसी भी प्रकार का भेद मालूम नहीं होता हैं और इसलिए केवल आत्मरुप में ही एकनिष्ठा प्राप्त होती हैं, वह ''**तुर्यगा**'' (''**तुरीया**'') नामकी **सप्तमी** ज्ञानभूमि हैं।

पूर्वोक्त ज्ञानभूमियों के उपर आरुढ हुए योगीयों की स्थिति बताते हुए सर्ववेदांत-सिद्धांत-सारसंग्रह

(१८०) ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदीरिता। विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥९३९॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥९४०॥ (१८१) स्थितः किंमूढएवास्मि प्रेक्ष्योऽहं शास्त्रसज्जनैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छा चोच्यते बुधैः ॥९४१॥ शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्। सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥९४२॥ विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्दियार्थेष्वरक्तता। यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥९४३॥ भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थ-विरतेर्वशात्। सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥९४४॥ तथाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या। रुढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥९४५॥ भूमिका पंचकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम्। आभ्यंतराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥९४६॥ परप्रयुक्तेन चिरप्रयत्नेनावबोधनम्। पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥९४७॥ षड्भूमिकाचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलंभनात् यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥९४८॥ (स.वे.सा.सि.सं.)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथ में (श्लोक ९५१ थी ९६४ तक) श्री शंकराचार्य बताते हैं कि- पूर्वोक्त अवस्थाओं के स्वरुप को सोचता हुआ मनुष्य सुखी होकर मुक्त होता हैं। शुभेच्छा आदि प्रथम की तीन ज्ञानभूमियों को भेदाभेदावाली कही हैं। उसमें व्यवस्थित (यथावद्) भेदबुद्धि जब होती हैं, तब उसके कारण यह जगत जाग्रत् अवस्थारुप कहा जाता हैं। परन्तु जब चौथी भूमिका का उतम योग होता हैं। और उसके कारण अद्वैत स्थिर होता हैं और द्वैत का शमन हो जाता हैं, तब उस भूमि पर आरुढ हुए योगी जगत को स्वप्न जैसा देखते हैं। उसके बाद पांचवी भूमि पर आरुढ होकर योगीपुरुष समग्र विशेष अंशो को शांत हुआ अनुभव करते हैं। और केवल अद्वैत स्वरुप में स्थिति करते हैं उसके बाद छठ्ठी भूमिका पर आरुढ हुए योगी नित्य अंतर्मुख ही रहता हैं, इसलिए जैसे अत्यंत थककर जैसे गहरी निद्रा में न पडा हो, ऐसा योगी लगता हैं। इस भूमि के सघन अभ्यास से योगी अच्छी तरह से वासना रहित होता हैं और बाद में सांतवी ''तुरीया'' भूमि के उपर आ जाता हैं। उसमें जो विदेह मुक्त होता हैं, उसको ही ''तुरीयातीत दशा'' कहते हैं

आत्मा में दृश्य का लय करने की शैली :-

दृग् - दृश्य का भेद मिटाकर ज्ञाननिष्ठ बनने में सहायक ऐसा आत्मा में दृश्य का लय करने की शैली बताते हुए श्रीशंकराचार्य सर्ववेदांत-सिद्धांत सारसंग्रह में बताते हैं कि,

''मैं देह नहीं हुं, प्राण भी नहीं हुँ.... इन्द्रियो का समुदाय भी नहीं हुं..... अहंकार नहीं हुं.... मन नहीं हुँ और बुद्धि भी नहीं हुं..... परंतु उनकी तथा उनके विकारो में साक्षी के रुप में रहनेवाला नित्य प्रत्यगात्मा ही हुँ। (८३५)

मैं वाणी का साक्षी, प्राण की वृत्ति का साक्षी, बुद्धि का साक्षी, बुद्धि की वृत्ति का साक्षी और चक्षु आदि इन्द्रियो का भी साक्षी हुँ, नित्य हुँ, प्रत्यगात्मा ही हुँ। (८३६)

मैं स्थूल नहीं हुं, सूक्ष्म नहीं हुँ, लम्बा नहीं हुँ... छोटा (नाटा) नहीं हुँ... बालक नहीं, युवान नहीं और वृद्ध नहीं, वैसे ही मैं कानां नहीं हुँ.... गूंगा नहीं हुँ या नपुंसक नहीं हुं.... मैं तो साक्षी, नित्य और प्रत्यगात्मा ही हुँ। (८३७)

मैं आवागमन करनेवाला नहीं हुं.... मारनेवाला नहीं हुँ... कर्ता नहीं हुँ... प्रयोक्ता (जोडनेवाला) नहीं हुँ... वक्ता नहीं हुँ... भोक्ता नही हुं... सुखी या दुःखी नहीं... मैं तो साक्षी-नित्य-प्रत्यगात्मा ही हुं। (८३८)

मैं योगी नहीं हुं... वियोगी नहीं हुँ... रागी नहीं हुँ... क्रोधी नहीं हुँ... कामी और लोभी नहीं हुँ... बंधा हुआ नहीं हुं... किसी के साथ जुडा हुआ नहीं हुँ या किसी से अलग नहीं हुआ हुं... मैं तो साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा ही हुं।

मैं अंदर के ज्ञानवाला या बाहर के ज्ञानवाला नहीं हुँ... प्रज्ञावान् नही हुं या अज्ञानी नही हुं... श्रोता नही हुं या मनन करनेवाला नहीं हुँ... बोध पानेवाला भी नहीं हुं... मैं तो साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा ही हुं। (८४०)

मन-देह-इन्द्रिय-बुद्धि के साथ मेरा कोई संबंध नहीं हैं.... मुझ में पुण्य या पाप का लेश भी नहीं हैं... क्षुधा-तृषा आदि छः उर्मिओ से मैं दूर हुं... सदा मुक्त हुं और केवल चैतन्य स्वरुप ही हुं। (८४१)

मुझे हाथ-पैर-वाणी-चक्षु-प्राण-मन-बुद्धि कुछ भी नहीं हैं। मैं तो आकाश जैसा पूर्ण हुँ... निर्मल हुँ... सदा एकरुप हुँ और केवल चैतन्य स्वरुप ही हुँ। (८४२)

इस तरह से अपने आत्मा का दर्शन करते और बाहर दिखते सर्व दृश्य पदार्थों का लय करता ज्ञानी (शरीरादि को आत्मा मान (लेने रुप) विपरीत भावना का त्याग करता है, कि जो स्वाभाविक भ्रांति के वश से प्रतीत होती

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी और देहादि से विपरीत आत्मा के स्वरुप का जो प्रकाश होना वही मुक्ति कही जाती हैं। यह मुक्ति सदा समाधि में रहनेवाले को ही सिद्ध होती हैं, दूसरी तरह से सिद्ध नहीं होती हैं। (८४३-८४४)

● अद्वैत वेदांत में दृग्-दृश्य विवेक :-

श्रीशंकराचार्य ने ''दृग्-दृश्य विवेक'' नाम के ग्रंथ में दृष्टा-दृश्य का विवेक, सृष्टिप्रक्रिया, समाधि के दो भेद और सात प्रकार आदि विषयो की जो स्पष्टतायें की हैं, वह अब देखेंगे।

सामान्य तौर पे देखे तो रुप दृश्य है और नेत्र दृष्टा हैं। बाद में अंतर्मुख हो तो नेत्र दृश्य लगता हैं और मन द्रष्टा होता हैं। बाद में ज्यादा अंतर्मुख होने से मालूम होगा कि, मन, बुद्धि इत्यादि वृत्तियाँ दृश्य हैं और साक्षी द्रष्टा हैं। वह साक्षी दृश्य होता ही नहीं हैं(१८२)। नीला, पीला, स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व और दीर्घ इत्यादि बहोत प्रकार के रुप को एक ही समय नेत्र देखता हैं।(१८३) एक साथ अंधता, मंदता और तीक्ष्णता आदि नेत्र के धर्मो की कल्पना मन कर लेता हैं। श्रोत्र और त्वचा इत्यादि के विलयो के लिए भी इस अनुसार से समज लेना। अर्थात् सब को मन एकसाथ जान लेता हैं।(१८४) इच्छा, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधीरता, लोकलज्जा, निश्चय और भय इत्यादि मनोवृत्तियों को भी एक ही समय चेतन प्रकाशित करता हैं।(१८५) यह चेतन जन्म नहीं लेता हैं, विनाश प्राप्त नहीं करता हैं, वृद्धि नहीं पाता हैं और क्षीण नहीं होता हैं। वह स्वयं अपने आप प्रकाशित होता हैं और दूसरो को साधन रहित होने पर भी प्रकाशित करता हैं। (यह एक ही सच्चा द्रष्टा हैं। दूसरे जो आत्मा के कारण मालूम होते हैं वे सभी दृश्य हैं।(१८६) **चेतन के आभास के प्रवेश से बुद्धि में आत्मा का भान होता हैं। वह बुद्धि दो प्रकार की हैं। एक अहंकाररुप हैं और दूसरी मनोरुप हैं।(१८७) चेतन के आभास की और अंहकार की एकता अग्नि और तप्त लोहे के गोले जैसी मानी गई हैं।** उस आभास और अहंकार के साथ की एकता के भ्रम से देह चेतनत्व को प्राप्त किया हुआ मालूम होता हैं। अर्थात् ''मैं देह हुँ'' ऐसी भ्रांति होती हैं।(१८८)

चेतन के आभास को चिदाभास कहते हैं। चिदाभास का और अहंकार का तादात्म्य संबंध (एकता) सहज हैं; स्थूल शरीर के साथ चिदाभास की एकता कर्म से ही हैं अर्थात् प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न हुई हैं। साक्षी के साथ चिदाभास की एकता भ्रांतिकल्पित हैं(१८९) अहंकार और चिदाभास की एकता स्वाभाविक होने से उसकी निवृत्ति अहंकार और चिदाभास रहे तब तक होती नहीं हैं। परन्तु प्रारब्धकर्म का क्षय होने से नया जन्म न होने से शरीर और चिदाभास की एकता निवृत्त होती हैं और साक्षी के साथ जो चिदाभास की एकता है वह (भ्रांतिजन्य होने से) ज्ञान होने से निवृत्त होती हैं।(१९०)

सुषुप्ति में अहंकार का लय होने से शरीर जड जैसा होता हैं, इससे देह में से 'मैं पन' (चेतना-भावना) निवृत्त होता हैं। अहंकार के आधे विकास से स्वप्न उत्पन्न होता हैं और अहंकार का पूर्ण विकास यह जाग्रत् अवस्था हैं।(१९१)

(१८२) रुपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक्त मानसम्। दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥१॥ (१८३) नीलपीतस्थूल-सूक्ष्मह्रस्वदीर्घादिभेदतः। नानाविधानि रुपाणि पश्येल्लोचनमेकधा॥२॥ (१८४) आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा। संकल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम्॥३॥ (१८५) कामः संकल्पसंदेहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे। ह्रीर्धीर्भीरित्येवमादीन् भासयेदेकधा चितिः॥४॥ (१८६) नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्। स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत्साधनं विना॥५॥ (१८७) चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता। एकाहंकृतिरन्या स्यादंतःकरणरुपणी॥६॥ (१८८) छायाहंकारयोरैक्यं तप्तायः-पिंडवन्मतम्। तदहंकारतादात्म्याद्देहश्चेतनतामगात्॥७॥ (१८९) अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः। सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं च त्रिविधं क्रमात्॥८॥ (१९०) सम्बन्धिनोः सतोर्नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु। कर्मक्षयात् प्रबोधाच्च निवर्तन्ते क्रमादुभे॥९॥ (१९१) अहंकारलये सुप्तौ भवेद्देहोऽप्यचेतनः। अहंकारविकासार्धःस्वप्नः सर्वस्तु जागरः॥१०॥ (दृग्-दृश्य विवेक)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंत:करण की वृत्ति चैतन्य के आभास के साथ एकता को पाकर स्वप्न में वासनाओं का (वासनाजन्य विविध विषयो का) अनुभव करता हैं और जाग्रत् दशा में इन्द्रियो के द्वारा बाहर के विषयो का अनुभव करता हैं।(१९२) मन और अहंकार (अंत:करण वृत्ति) जिसका उपादान कारण लिंग (सूक्ष्म) शरीर हैं, वह एक जडात्मक (स्थूल) शरीर को प्राप्त करता हैं, तब तीन अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) को प्राप्त करता हैं, वैसे ही जन्म लेता है और मरता हैं। (१९३)

माया में दो शक्ति हैं : एक विक्षेपरुप हैं और दूसरी आवरण रुप हैं। विक्षेप शक्ति सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्मांड पर्यंत जगत की रचना करती हैं।(१९४) सृष्टि अर्थात् जल में फेन इत्यादि की भांति ब्रह्मरुप सच्चिदानंद वस्तु में सर्व नामरुप का विस्तार हैं। (यह विक्षेपशक्ति का कार्य हैं।)(१९५) दूसरी जो आवरणशक्ति हैं, वह अंतर के द्रष्टा और दृश्य की विलक्षणता को ढकती हैं और बाहर रहे हुए ब्रह्म की और सृष्टि की विलक्षणता को ढकती हैं, वह संसार को चलाने का कारण हैं। (१९६)

साक्षी के सामने स्थूल शरीर में रहा हुआ जो सूक्ष्म शरीर प्रतीत होता हैं वह चेतन के आभास के प्रवेश से **व्यावहारिक जीव हैं।**(१९७) इस तरह से जीवपन के आरोप से साक्षी में भी जीवत्व भासित होता हैं; परंतु आवरण शक्ति उत्पन्न आच्छादन (अज्ञान) नष्ट हो तो द्रष्टा और दृश्य का भेद मालूम पडता हैं और साक्षी का जीवपन मिट जाता हैं।(१९८) जो आवरणशक्ति जगत के और ब्रह्म के भेद को ढक रही हैं, उस शक्ति के कारण ब्रह्म जीव और संसाररुप में प्रतीत होता हैं।(१९९) जब उस आवरण का नाश हो तब ब्रह्म का और जगत का भेद मालूम पडता हैं, इसलिए विकार जगत में है, परन्तु ब्रह्म में नहीं हैं।(२००) **संसार के सभी पदार्थों में पांच तत्त्व हैं :** अस्ति (अस्तित्व न हो तो अनुभव नहीं होगा इसलिए मूल में कुछ नित्य द्रव्य हैं।) भाति (प्रकाशित होता हैं अर्थात् अनुभव में आता हैं।) प्रिय (प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई ईश्वर हैं ही।) अथवा अस्ति, भाति और प्रिय अर्थात् सत्-चित्-आनंद ये तीनो ब्रह्मरुप हैं। नाम और रुप अंतिम दो संसाररुप (उत्पत्ति-नाशवान् होने के कारण मिथ्या) हैं।(२०१) आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में अर्थात् पंचभूतात्मक सृष्टि में तथा देव, तिर्यक् और मनुष्य इत्यादि जीवो में अस्ति-भाति-प्रिय ये तीनो सत्-चित्-आनंदरुप में हैं। परन्तु वे रुप और नाम के कारण भेद प्राप्त करते हैं।(२०२)

(इसलिए वह विनाशी) नाम और रुप, इन दोनों की उपेक्षा कर के (नित्य ऐसे) सच्चिदानंदपरायण बनकर हृदय (अंतरात्मा) में अथवा बाहर (ब्रह्म में) सर्वदा, चित्त को एकाग्र करना चाहिए। वह समाधि कितने प्रकार की हैं ?(२०३) हृदय में दो प्रकार की समाधि हो सकती हैं : सविकल्प और निर्विकल्प। उपरांत सविकल्प समाधि

---

(१९२) अंत:करणवृत्तिश्च चितिच्छायैक्यगागता। वासना: कल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान्बहि: ॥११॥ (१९३) मनोऽहंकृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकं। अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा ॥१२॥ (१९४) शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरुपक:। विक्षेपशक्ति-लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ॥१३॥ (१९५) सृष्टिर्नाम ब्रह्मरुपे सच्चिदानन्दवस्तुनि। अब्धौ फेनादिवत्सर्वनामरुपप्रसारणा ॥१४॥ (१९६) अंतर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयो:। आवृणोत्यपरा शक्ति: सा संसारस्य कारणम् ॥१५॥ (१९७) साक्षिण: पुरतो भाति लिङ्गं देहेन संयुतम्। चितिच्छायासमावेशाज्जीव: स्याद्व्यावहारिक: ॥१६॥ (१९८) अस्य जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते। आवृतौ तु विनष्टाभ्यां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥१७॥ (१९९) तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति। या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥१८॥ (२००) अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयो:। भेदस्तयोर्विकार: स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥१९॥ (२०१) अस्ति भाति प्रियं रुपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरुपं जगद्रुपं ततो द्वयम् ॥२०॥ (२०२) खवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु। अभिन्ना: सच्चिदानंदा: भिद्येते रुपनामनी ॥२१॥ (२०३) उपेक्ष्य नामरुपे द्वे सच्चिदानन्दतत्पर:। समाधिं सर्वदा कुर्याद् हृदये वाऽथवा बहि: ॥२२॥ (दृग्-दृश्य विवेक:)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दो प्रकार हैं; **दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध**(२०४)। काम, संकल्प, संदेह, इत्यादि (४ थे श्लोक में कही हुई मनोवृत्तियाँ) जो चित्त में मालूम पडती हैं वे सभी वृत्तियाँ मायामय हैं, मेरे में नहीं हैं, ऐसी भावनापूर्वक साक्षी बनकर चेतन का ध्यान (साक्षी भाव से स्थिरता) करे, **वह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि हैं**।(२०५) मैं असंग, सच्चिदानंद, स्वप्रकाश और द्वैतरहित हुँ, ऐसी शब्दावृत्ति सहित (बारबार शब्दोच्चारण कर के उसमें मनोवृत्ति को लगाकर आदरभाव से स्थिर रहना **वह शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि हैं**।(२०६) स्वानुभवरुप आनंद में प्रवेश होने से दृश्य की और शब्द की उपेक्षा होकर (ध्याता, ध्यान, ध्येयरुप त्रिपुटी का लय करके) चित्त जब गतिवाले वायु से रहित स्थान में रहे हुए निश्चल दीपक की तरह अचल रहे (आत्मा में लय भाव को प्राप्त करे) तब वह निर्विकल्प समाधि हैं।(२०७) **दृश्यानुविद्ध समाधि का दूसरा प्रकार (बाह्य समाधि) नीचे बताये अनुसार हैं :** हृदय में की जाती दृश्यानुविद्ध समाधि की तरह बाहर के प्रदेश में मनोवृत्ति जिस जिस वस्तु में जाये, उस उस वस्तु के नाम और रुप छोडकर सन्मात्र में (नाम और रुप के अंदर आधार रुप में रहे हुए चेतन में) चित्त एकाग्र हो उसको भी दृश्यानुविद्ध समाधि कहते हैं। (अर्थात् बाहर की वस्तुओं को विलय करने पर भी साक्षी भाव से स्थिर रहना उसे दृश्यानुविद्ध समाधि कहते हैं।)(२०८) **दूसरे प्रकार की शब्दानुविद्ध बाह्यसमाधि नीचे अनुसार से होती हैं,** सच्चिदानंदरुप लक्षणवाली अखंड एकरस वस्तु सभी जगह हैं, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** जो प्रत्यक्ष हो रहा हैं, वह सब ब्रह्मरुप हैं, ऐसा अविच्छन्न चिंतन (दूसरे विचार बीच में न आये, ब्रह्मभावना बनी रहे) वह मध्यम समाधि हैं।(२०९) बाह्य समाधि का तीसरा प्रकार नीचे अनुसार हैं। परम आनंद के अनुभव से बाहर की वस्तुयों के दर्शन विचारादि से उपरामता होकर वृत्ति अंतर्मुख बन जाती हैं वह तीसरे प्रकार की समाधि हैं। सब मिलके उपर अनुसार छः प्रकार की समाधि होती हैं। मुमुक्षु ये छः समाधि से निरंतर काल व्यतीत करें (२१०) - **अब नित्यसमाधि का प्रकार कहा जाता हैं:** परमात्मा का साक्षात्कार होने से और देह का अभिमान गल जाने से उस ब्रह्मवेत्ताका मन जहाँ जहाँ जाता हैं, अंतर में अथवा बाहर वहाँ वहाँ उसको समाधि होती है ; अर्थात् उसको सभी जगह ब्रह्म का अनुभव हुआ करता हैं।(२११) इस तरह से ब्रह्म का साक्षात्कार होने से हृदय की गिरह (अज्ञान) छिद जाती हैं, सब संशय (आत्मा कौन, ईश्वर कौन, जगत क्या हैं ? मेरा उद्धार किस तरह से होगा ? जो ज्ञान मिला वह जाना हैं या नहि इत्यादि) छिद जाते हैं और संचित कर्मो का नाश होता हैं। (आगामी स्पर्श नहि करते हैं, केवल प्रारब्ध भोग भुगतकर समाप्त हो जाते हैं।)(२१२) **अविद्या अवच्छिन्न, चेतन, चिदाभास और तीसरा स्वप्नकल्पित जीवभाव ऐसे तीन प्रकार का जीव जाने।** उसमें पहला अर्थात् चेतन पारमार्थिक हैं। (अर्थात् वह ब्रह्म हैं।)(२१३) अवच्छेद (भेद) कल्पित हैं परन्तु उसमें अवच्छेद प्राप्त किया हुआ (चैतन्य) वास्तविक हैं। उसमें जीवत्व आरोप से हैं, परंतु ब्रह्मत्व स्वभाव से हैं। (२१४) अवच्छिन्न जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य वेदो ने तत्त्वमसि ("वह तुं हैं") इत्यादि महावाक्यों द्वारा

(२०४) सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि। दृश्यशब्दानुवेधेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥२३॥ (२०५) कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्। ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥२४॥ (२०६) असंगः सच्चिदानंदः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः। अस्मीति शब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥२५॥ (२०७) स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः। निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥२६॥ (२०८) हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि। समाधिराद्यः सन्मात्रान्नाम-रुपपृथक्कृतिः ॥२७॥ (२०९) अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानंदलक्षणम्। इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत् ॥२८॥ (२१०) स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः। एतैः समाधिभिष्षड्भिर्नयेत्कालं निरंतरम्।॥२९॥ (२११) देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥३०॥ (२१२) भिद्यते हृदयग्रंथिः छिन्द्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥३१॥ (२१३) अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः। विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ॥३२॥ (२१४) अवच्छेदः कल्पितस्स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्। तस्मिन्जीवत्वमारोपात् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः ॥३३॥ (दृग्-दृश्य विवेक)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा हैं, परंतु दूसरे दो चिदाभास तथा शरीर (स्वप्नकल्पित) जीव का तादात्म्य ब्रह्म के साथ नहीं होता हैं।[२१५] **आवरण और विक्षेपवाली माया ब्रह्म के सहारे रहे हुए हैं। ब्रह्म की अखंडता को ढककर वह माया उसमें जगत और जीव की कल्पना करती हैं।** (संसार की रचना करती हैं।)[२१६] **बुद्धि में रहा हुआ चिदाभास हैं वह जीव ★हैं, वही कर्म करता हैं और फल भुगतता हैं।** यह जो सभी भूत, भौतिक, भोग्य वस्तुयें हैं,[२१७] वह जगत हैं। अनादिकाल से आरंभ करके मोक्ष तक के व्यवहार काल में दोनो चलते रहते हैं। **इसलिए जीव और जगत दोनों व्यावहारिक हैं**[२१८]। आवरण और विक्षेपवाली निद्रा (अविद्या) चिदाभास के आधार पर रही हुई हैं। प्रथम जीवभाव और जगत को ढककर (स्वप्न में) नये नये रुप की कल्पना करती हैं।[२१९] वे दोनो प्रतीतिकाल में (अनुभव के समय) ही होने से **प्रातिभासिक** हैं। स्वप्न में से जागे हुए मनुष्य की पुन: स्वप्न में स्थिति नहीं होती हैं, इसलिए स्वप्न का जगत और स्वप्न का जीव (जागने के बाद) प्रतीत नहीं होते हैं।[२२०] स्वप्नावस्था में रहे हुए प्रातिभासिक जीव का जगत प्रातिभासिक हैं, परन्तु वह प्रतीत होते जगत को वास्तविक मानता हैं। परन्तु (जाग्रत् के) व्यावहारिक जीव की दृष्टि से वह सब मिथ्या हैं।[२२१] **व्यावहारिक जीव तो व्यावहारिक जगत को सत्य जानता हैं ; परन्तु पारमार्थिक चेतन व्यावहारिक को मिथ्या मानता हैं।**[२२२] **पारमार्थिक जीव स्वयं की ब्रह्म के साथ एकता को पारमार्थिक रुप से मानते हैं और वह अन्य जगत को देखता नहीं हैं। यदि वह अन्य को देखता हैं तो मिथ्यारुप से देखता हैं।**[२२३]

जैसे मधुरता, द्रवभाव और शीतलता इत्यादि जल के धर्म तरंग में अनुवर्तित होकर उसमें रहे हुए फेन में भी अनुगत (प्रवेश किये) हुए हैं।[२२४] वैसे साक्षी में रहे हुए सत्-चित्-आनंद जीव के (ये अंश) व्यावहारिक स्वरुप में आते हैं और उसके द्वारा प्रातिभासित जीव में भी चलते रहते हैं।[२२५] जब फेन तरंग में लय पाते हैं, तब उसका द्रवत्व इत्यादि तरंग में लय पाता हैं और तरंग जल में लय पाता हैं, तब उसके धर्म, वहनत्व इत्यादि जल में लय पाता हैं।[२२६] उसी ही तरह से प्रातिभासिक जीव का व्यावहारिक जीव में लय होता हैं, तब उसमें रहे हुए संस्कार और जगत आदि का व्यावहारिक जीव में लय होता हैं और व्यावहारिक जीव जब साक्षी में लय पाता हैं, तब सत्, चित्, और आनंद अंत में साक्षी में लय पाते हैं।[२२७]

● **अद्वैत वेदांत में भिन्न- भिन्न मान्यतायें :-** श्रीशंकराचार्य के उत्तरवर्ती आचार्यो ने ''अद्वैतवाद'' को समजाने के लिए जो भिन्न-भिन्न सिद्धांतो का प्ररुपण किया हैं, उसको अब क्रमश: देखेंगे।

(१) आभासवाद :- आभासवाद सिद्धांत के प्रवर्तक के रुप में श्री सुरेश्वराचार्य माने जाते हैं। वे शंकराचार्य

(२१५) अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयो: ॥३४॥ **(२१६)** ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृत्तिरुपिणी। आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवो प्रकल्पयेत् ॥३५॥ ★ चैतन्यसह बुद्धि में रहे हुए चिदाभास को जीव कहा गया हैं, केवल चिदाभास को नहीं। **(२१७)** जीवो धीस्थचिदाभासो भवेद्भोक्ता हि कर्मकृत्। भोग्यरुपमिदं सर्वं जगत्स्याद् भूतभौतिकम् ॥३६॥ **(२१८)** अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्णमिदं द्वयम्। व्यवहारे स्थितं तस्मादुभयं व्यावहारिकम् ॥३७॥ **(२१९)** चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपावृतिरुपिणी। आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्ने तु कल्पयेत् ॥३८॥ **(२२०)** प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वा-त्प्रातिभासिके। न हि स्वप्नबुद्धस्य पुन: स्वप्ने स्थितिस्तयो: ॥३९॥ **(२२१)** प्रातिभासिक जीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम्। वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तु मिथ्येति व्यावहारिक: ॥४०॥ **(२२२)** व्यावहारिकजीवो यस्तज्जगद्व्यावहारिकम्। सत्यं प्रत्येति मिथ्येति मन्यते पारमार्थिक: ॥४१॥ **(२२३)** पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम्। प्रत्येति वीक्षते नान्यद्वीक्षते त्वनृतात्मना ॥४२॥ **(२२४)** माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मास्तरंगके। अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेऽप्यनुगता यथा ॥४३॥ **(२२५)** साक्षिस्था: सच्चिदानंदा: सम्बन्धा व्यावहारिके। तद् द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके ॥४४॥ **(२२६)** लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्या: स्युतरङ्गके। तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥४५॥ **(२२७)** प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके। तल्लये सच्चिदानन्द: पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ॥४६॥ (दृग्-दृश्यविवेक)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के चार शिष्य में से एक शिष्य थे। उनका गृहास्थाश्रम का नाम श्रीमंडनमिश्र था और वे स्वसमय के प्रसिद्ध मीमांसक और प्रखर वेदांती थे। जोरदार शास्त्रार्थ के अंत में उन्हों ने श्री शंकराचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया था। उन्हों ने अपने गुरु श्रीशंकराचार्य के ''अद्वैतसिद्धांत'' की सुसंगत व्याख्या करने के लिए ''आभासवाद'' की स्थापना की थी।

यह सिद्धांत इस अनुसार से हैं : यह जगत मिथ्या हैं। क्योंकि, वह केवल आभास हैं। जैसे ऐन्द्रजालिक अथवा जादूगर अपने जादू से एक सृष्टि का निर्माण करे और वह सृष्टि जैसे आभास मात्र होती हैं, वैसे जगत आभास हैं। आभास के सिद्धांत अनुसार मिथ्या वस्तु भी सत्य प्रतीत होती हैं। जैसे, रस्से की (रज्जु की) जगह सर्प प्रतीत होता हैं। जैसे किसी मन से विक्षिप्त बनी हुए व्यक्ति को जूठी-जूठी काल्पनिक वस्तुयें दिखती हैं और मन की विक्षिप्तता चली जाने से जो आभासी वस्तुयें चली जाती हैं, वैसे जगत की सत्यता आभासमात्र हैं। ब्रह्म एक और अनन्य होने पर भी सृष्टि में अनेक रुप से व्यवहरित होता दिखाई देता हैं, वह आभास हैं। जैसे जादूगर का जादू देखता मनुष्य जादूई दुनिया का अनुभव करता होने पर भी उसको आभास समजता हैं, वैसे ज्ञानी पुरुष इस सृष्टि में व्यवहरित हो, तो भी उसको आभासमात्र समजता हैं।

आभासवाद की स्थापना का उद्भवबिंदु :- अद्वैतवाद में जीव के एकत्व एवं अनेकत्व को लेकर अनेक प्रकार के विवाद उपस्थित हैं। एक जटिल समस्या खडी हुई हैं कि जीव को किस स्वरुप में स्वीकार करे ? जीव ब्रह्म ही हैं ? कि उससे भिन्न हैं ? श्रुति जीव को ब्रह्म से पृथक् नहीं मानती हैं। यदि जीव को जीवस्वरुप में ब्रह्म माना जाता हैं तो ''द्वैत'' वाद की आपत्ति आकर खडी रहती हैं। क्योंकि, जीवो की असंख्याततता प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। यदि जीव की स्थिति ब्रह्म से भिन्न मानी जाये तो सिद्धांत पक्ष की हानी होती हैं। क्योंकि, अद्वैतवाद में ब्रह्म से पृथक् अन्य किसी भी सत्ता का स्वीकार नहीं किया हैं। ऐसी परिस्थिति में अद्वैतवादी आचार्यो ने पूर्वोक्त समस्या का समाधान ढूँढना आवश्यक हुआ।

श्रीसुरेश्वराचार्य ने पूर्वोक्त समस्या के समाधान के लिए आभासवाद की स्थापना की और जीव को ब्रह्म का आभास सुद्धां माना। **उनका मत हैं कि, नानाविध नामरुपात्मक जगत की प्रतीति यथार्थ नहीं हैं परन्तु आभासात्मिका हैं, जिसका कारण [२२८] अविद्या हैं। जिस प्रकार से मृगमरीचिका के कारण दूरस्थ सूर्य के किरणो में जल की प्रतीति होती हैं, परंतु वहाँ पहुँचने से जल का संपूर्ण अभाव दिखाई देता हैं, उस प्रकार से यह जगत अविद्या के कारण यथार्थ दिखता हैं, जब अविद्या की निवृत्ति हो जाती हैं, तब जगत अयथार्थ दिखता जाता हैं।**

श्रीशंकराचार्य ने अंशाधिकरण में आभास और सूत्र के व्याख्यान में भी आभास की चर्चा की हैं और जीव को [२२९] आभास कहा हैं, उसी तरह से पानी में सूर्य का प्रतिबिंब पडता हैं, तब जल में सूर्य का आभास होता हैं परन्तु वास्तव में जल में सूर्य होता नहीं हैं। वैसे जीव भी आभासमात्र हैं। **छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में** जीव को देवता का आभास [२३०] कहा हैं। **श्री आनन्दगिरि ने** आभास की व्याख्या करते हुए कहा हैं कि, जब जीव अज्ञानवश स्वयं अपने को अहंकार पूर्वक ''मैं हुँ'' ऐसा कहता हैं, तो वह [२३१] आभास हैं। वस्तुतः चित्त का अवमतपूर्वक

(२२८) बृहदाराण्यकभाष्यवार्तिक- पृ.९९६, विधि-विवेक २१.२२. (२२९) आभास एव चैषजीवः परमात्मनो जलसूर्यादिवत् प्रतिपत्तव्यः (ब.सू.शां.भा. २.३.५०) (२३०) जीवो हि नाम देवतायाः आभासमात्रः। (छा.उ. शां.भा. ६.३.२.) (२३१) आभिमुख्येन अहमित्यपरोक्षेण भासत इत्याभासः प्रत्यक् चितोऽवमतो भासो नाम आभासः। (बृह. उ.भा.वा. २.१. २१६. आनन्दगिरिटीका)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भास ही आभास हैं।[२३२] **गौडपादकारिका के भाष्य में श्रीशंकराचार्य लिखते हैं कि,** आभास से किसी कल्पित वस्तु का आभास होता हैं। जैसे कि, अनाभास में कोई कल्पित विषय का आभास नहीं होता हैं। श्रीगौडपादाचार्य ने जगत की प्रतीति को [२३३]आभास का प्रयोजन बताया हैं, जिससे अजातवस्तु जात (उत्पन्न) दिखाई देती हैं। अक्रिय सक्रिय लगता हैं और अवस्तु वस्तुओं के समान प्रतिभासित होती रहती हैं। देवदत्त उत्पन्न हो रहा हैं, उसमें जात्याभास अर्थात् उत्पत्ति का आभास होता हैं। देवदत्त चलता हैं, उसमें चलाभास और देवदत्त गौर और लम्बा हैं, उसमें वस्तु का आभास (वस्त्वाभास) प्रतीत होता हैं। **श्री सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म सिद्धि में [२३४]आभास का वर्णन करते हुए कहा हैं कि,** ये जो क्रियाकारको से युक्त व्यक्त जगत् हैं फलात्मक आभास हैं, वह अंशमात्र में भी परमार्थ वस्तु का स्पर्श नहीं करता हैं। केवल उस उस वस्तुओ में जो यथार्थता दिखाई देती हैं, वह मोह के कारण दिखाई देती हैं। इस प्रकार का वर्णन [२३५]बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक में अनेक स्थान पे देखने को मिलता हैं। उपदेश[२३६] साहस्री में आभास की उपमा दर्पण के साथ की हैं। जैसे दर्पण में मुख का आभास, मुख से भिन्न होता हैं, उसी प्रकार जीव का आभास भी आत्मा से पृथक् होता हैं। और यह आभास सर्वथा असत्य और भम्र का बीज हैं। ''चित्त'' से अतिरिक्त सर्व प्रकार की नामरुपात्मक वस्तुयें ''चित्त'' का [२३७]आभासमात्र हैं। यह आभास [२३८]अविचारित भी सिद्ध होता हैं। अज्ञान का नाश होने पर आभास भी नष्ट[२३९] हो जाता हैं। यह आभास कर्तृत्व-भोक्तृत्वरुप सर्व अनर्थो का[२४०] मूल कारण हैं। आभास का कार्य-कारण रुप में वर्णन करना उचित नहीं हैं। इसलिए माया अथवा मिथ्या शब्द से[२४१] आभास का वर्णन किया जाता हैं। **श्रीमधुसूदन सरस्वती ने आभास को[२४२] अनिर्वचनीय कहा हैं। श्रीविद्यारण्य स्वामी[२४३] के मत में आभास मिथ्याभूत, मायिक और भ्रमकल्पित हैं।** इस तरह से जीव और जगत की सत्ता को सत्य न मानते हुए सत्य का आभास ही मानना पडेगा।

(यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, प्रस्तुत आभासवाद के समीक्षको का एक आक्षेप हैं कि, जगत को आभास मानने से उसकी व्यावहारिकापत्ति (अर्थात् व्यावहारिक सत्ता मानने की आपत्ति) आयेगी। यद्यपि, व्यावहारिक रुप से जगत् उपलब्ध हैं। परंतु अविद्या के कारण दृश्यमान प्रातिभासिक सत्ता हो या व्यावहारिक सत्ता हो, वस्तुतः दोनों एक समान ही हैं। प्रातिभासिक और व्यवहारिक सत्ता का भेद, उनके कारण कितने प्रभावशाली हैं, उसके उपर आधार रखता हैं। जैसे, एक तीर की प्रहारशक्ति, तीर किस प्रकार से छोडा जाता हैं, उसके उपर आधार रखता हैं, वैसे जो वस्तु अधिक प्रभावशाली होगी, उसका प्रभाव उतने ही काल तक स्थित रहेगा। परंतु वह प्रभाव क्षणिक हो या दीर्घकालिक हो, अंततः असत्य ही हैं। इसलिए जीवो की अभिव्यक्ति होती हैं, वह आभासात्मक होने के कारण

(२३२) आभासेन कल्पितविषयस्यावभासनं भवति यथा अनाभासं न केनचित् कल्पितेन विषयेणावभासते। (गौ. का. शां. भा. ३.४) **(२३३)** जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च॥ गौ.का.४.४५. **(२३४)** यश्चायं क्रियाकारकफलात्मक आभास ईषदपि परमार्थवस्तु न स्पृशति तत्र मोहमात्रोपदानात्। (नै. सि. २.५१.) **(२३५)** बृ. उ. भा.वा १.२.१५७, १४, १३२८, २.४.४२, ३.४. १०५ **(२३६)** नात्माभासत्वसिद्धिश्चेदात्मनो ग्रहणात्पृथक्। मुखादेश्चपृथक् सिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयः॥ (उ.सा.२.१८.१) **(२३७)** तदन्यत् यत्तदाभासम्। (उ.सा.२.३.१९१) **(२३८)** अविचारितसंसिद्धतमेवोक्तं स्यात्तदुद्भवम्। (उ.सा. २.१.४) **(२३९)** बुद्ध्यादिकार्यसंहारे प्रत्यक् चैतन्यरुपिणः। चिद्बिम्बस्यापि संहारो जलार्कप्रविलापवत्॥ (बृ.उ.भा.वा.४.३.११७४) **(२४०)** बृ.उ.भा.वा.४.३.७३) **(२४१)** आभासस्य कार्यकारणतया वक्तुमशक्यत्वेन मायामयो मिथ्या वा कथ्यते। डॉ - मुरलीधर पाण्डेय - श्रीशंकरात् प्रागद्वैतवाद मु.पु. ४२. **(२४२)** आभासस्यापि जडाजडविलक्षेणेनानिर्वचनीयत्वात्॥ (सिद्धांत बिन्दु-१ **(२४३)** आभासस्य मिथ्यात्वात्। (पञ्चदशी- ७.१५) मायिकोऽयं चिदाभास- (पञ्चदशी ७.२१७) दधत् विभाति पुरतः आभासोऽतो भ्रमो भवेत् -(पञ्चदशी-८.५२) ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः बिम्बलक्षणहीनः सन् बिम्बवद् भासते हि सः। (पञ्चदशी - ८.३२)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत्य हैं। चेतनांश रुप से सत्य होने के कारण व्यक्त जगत् ब्रह्म सदृश हैं। जैसे व्याधकुल में संवर्धित राजकुमार को जब राजकुमारत्व का ज्ञान हो जाता हैं, तब वह व्याधकुल का परित्याग करके राजकुमारत्व को प्राप्त करता हैं। उसी प्रकार से जीव को आत्मज्ञान उदित होता हैं, तब सर्व प्रकार की अज्ञानजन्य भ्रान्तिओं को दूर करके ब्रह्मत्व को प्राप्त करता हैं। जैसे, राजकुमार का व्याधकुलत्व उसका वास्तविक कुल न होने से व्याधकुलत्वाभास मात्र हैं, उस प्रकार से जीव का जीवत्व आभास मात्र हैं। वस्तुतः उसका स्वरुप तो ब्रह्म ही हैं।)

आभास के भेद :- आभास के कारणाभास और कार्याभास नाम के दो भेद हैं। कारणाभास अज्ञान के माध्यम से और कार्याभास अज्ञानजन्य कार्य के माध्यम से [२४४]परिलक्षित होता हैं।

कारणाभास :- इस जगत के कारणभूत अज्ञान में स्थित चिदाभास, कारणाभास कहा जाता हैं और वह चैतन्यमात्र का [२४५]उपादान हैं। चेतन और अचेतन का आभास, आत्मा और अनात्मा का [२४६]लक्षण हैं। यह आभास अज्ञानजन्य होने के कारण मोहोत्थित भी हैं। इसलिए सकल आत्मपदार्थ में मोहजन्य प्रवृत्ति देखी जाती हैं। यह आभास 'चित्' के अभाव और भाव में भी उपादान रहता हैं। अभाव की स्थिति में उपलक्षित निर्धर्मिक ब्रह्म से कोई विरोध नहीं हैं।

कार्याभास :- अज्ञानजन्य क्रियाकारक कार्यमात्र में प्रतीत होनेवाला आभास, [२४७]**कार्याभास** कहा जाता हैं। समस्त जगत् के कार्य को कार्याभास कहा जाता हैं। यही अज्ञान[२४८] परिणाम [२४९]और जागतिक प्रपंच का उद्भावक कार्याभास अनेकरुपो में होता हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, दोनों आभास के बीच का भेद पूर्वापर क्रम का बोधक मात्र हैं। जैसे कि, कारणाभास अज्ञानगत और कार्याभास अज्ञानजन्य वस्तुगत हैं। इस तरह से कारणाभास पहले और कार्याभास पश्चात् (बाद में) उत्पन्न होता हैं। चैतन्य, कारणाभास का उपादान हैं और कार्याभास का उपादान अविद्या हैं। कारणाभास चैतन्य का अनुरोधी हैं और कार्याभास, अज्ञानादि उपाधियों का अनुरोधी हैं। प्रथम आत्मरुप अर्थ का अनुसरण करता हैं, तो द्वितीय अनात्मादि जगत् प्रपंच के सुख-दुःखादि का उत्पादक हैं। जब ''चिद्'' अविद्या में आभासित होता हैं, तब कारणाभास हैं और जब अविद्या कार्यो में भासित होती हैं, तब कार्याभास कही जाती हैं।

श्रीआनंदगिरि के [२५०]मत में समस्त द्वैत का मूलकारण अज्ञान और आकाशादि कार्यो की वृत्ति, दोनों प्रकार का आभास हैं। उसके रुप और उपाधि में स्थित होने के कारण आभास की मायामयी दो प्रकार की (कारण और कार्य) वृत्तियाँ होती हैं। इस प्रकार से जिसका आभास होता हैं, वह सत्त्वादि लक्षणो से हीन होने पर भी सत्त्वादि रुपो में प्रतीत होता हैं। जैसे दर्पण में मुखाभास, मुख के लक्षणो से हीन होने पर भी मुखवत् प्रतीत होता हैं। जैसे मुखाभास मिथ्या, अनिर्वचनीय, आपात रमणीय हैं और दर्पणादि उपाधि का नाश होने से मुखाभास का भी नाश हो जाता हैं। उसी तरह से आभास भी मिथ्या, आपात रमणीय और अज्ञानादि उपाधियों का [२५१]नाश होने से वह भी नाश हो जाता हैं।

आभासवाद की समीक्षा :- आभासवाद के समर्थक श्रीसुरेश्वराचार्य का अभिप्राय हैं कि, इस जगत की स्थिति,

(२४४) आत्माभासोऽपि योऽज्ञाने तत्कार्ये चावभासते। कार्यकरणतारुपः (बृ.उ.भा.वा.४.१३२०) (२४५) आत्माज्ञानमतः प्रत्यक् चैतन्याभासवत् सदा आत्मनः कारणत्वादेः प्रयोजकमिहेष्यते। (बृ.उ.भा.वा.४.३.३५५. तथा ४.३.१९) (२४६) चेतनाचेतनाभास आत्मानात्मत्वलक्षणः (बृ.उ.भा.वा.४.३.४२४) (२४७) क्रियाकारकफलात्मक आभासः। (नै.सि. २/५१) (२४८) बृ.उ. भा.वा. ४.३.३९४. (२४९) बृ.उ.भा.वा. १.२.१५,१.४.१३२, २.४. ४२५ (२५०) आनन्दगिरिटीका- बृ.उ.भा.वा. १.४.६२६) (२५१) डॉ. मुरलीधर पाण्डेय श्रीशंकरात्प्रागद्वैतवादः, पृ- ४५

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिष्ठान के [२५२]अभाव में संभवित नहीं हैं। परंतु एक बात भी निश्चित हैं कि, जगत की यह स्थिति सत्य नहीं हैं। जिस तरह से रज्जु में सर्प की स्थिति भ्रमात्मक हैं, उसी तरह से जगत भी असत्य और भ्रामक हैं। इसलिए उन्हों ने असत् प्रतीत होनेवाले जगत की व्याख्या आभासवाद के माध्यम से की हैं। ब्रह्म तो वस्तुतः अविकारी हैं और वह कूटस्थ होने के कारण उसमें इस जगत का अधिष्ठानत्व माया के संयोग से ही संभवित बनता हैं। एकमात्र ब्रह्म के सत्य होने के कारण जगत की स्थिति शुक्तिरजतवत्[२५३] आभासात्मक हैं। जैसे, शुक्तिरजत अपने अंश से सत्य न होकर आभास मात्र होता हैं, उस प्रकार से जगत की अभिव्यक्ति आभासमात्र होती हैं।

शंका :- क्या यह जगत् ब्रह्म से पृथक् हैं ? या नहीं ? यदि जगत की पृथक् स्थिति हो तो अद्वैत की हानि होती हैं। क्योंकि ब्रह्म और जगत् ये दो पदार्थ की सत्ता सिद्ध होती हैं। जगत की सत्ता तो प्रत्यक्षदृष्ट होने से उसकी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं हैं और ब्रह्म की सत्ता तो श्रुति प्रमाण से सिद्ध हैं। इसलिए ब्रह्म और जगत् ये दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।

समाधान :- श्री सुरेश्वराचार्य इस शंका का समाधान देते हुए कहते हैं कि, यह जगत अनात्मक नहीं हैं। आत्मप्रधान जगत होने के कारण ब्रह्मसत्तात्मक हैं। जगत की बाह्य प्रतीति मिथ्या और मोहमूलक हैं। इसलिए ही अज्ञान के कारण नानारुपात्मक जगत्[२५४] दुर्बोध हैं। संसार की नानात्मक अभिव्यक्ति आभास के कारण हैं। मायोपहित ब्रह्म नानारुपों में व्यक्त होकर सत्यसदृश भासित होता हैं।

शंका :- रज्जु में सर्प या शुक्ति में रजत की प्रतीति तो सदृशता के कारण होती हैं। परन्तु ब्रह्म स्वरुप अधिष्ठान में जगत् की भ्रान्ति तो सर्वथा असंभव हैं। क्योंकि ब्रह्म और जगत में धर्म की विपरीतता को सिद्धांती स्वीकार करते हैं। ब्रह्म निर्विशेष हैं, जब कि जगत् सविशेष हैं। इसलिए दोनों में सधर्मिता के अभाव में रज्जुसर्पवत् या शुक्तिरजतवत् भ्रान्तिजन्य आभास की प्रतीति असंभवित हैं।

समाधान :- श्रीसुरेश्वराचार्य इस शंका का समाधान देते हुए कहते हैं कि, निर्विशेष ब्रह्म में सविशेष जगत की आभासात्मक प्रतीति नीचे के कारणो से होती हैं।

(१) सत्य वस्तु के अनुभवजन्य संस्कार के कारण, (२) प्रमेय दोष के कारण, (३) प्रमाण दोष के कारण, (४) प्रमातृदोष के कारण (५) अधिष्ठान के विशेष ज्ञान और तत्सामान्यज्ञान के कारण।

यहाँ उदाहरण देते हैं कि, जिस तरह से रुपरहित आकाश में और सत्य वस्तुओ में अनुभवजन्य संस्कार से नीलत्व रुप का आभास होता हैं, उस तरह से निर्विशेष ब्रह्म में अविद्या के कारण सविशेष जगत की आभासात्मक प्रतीति होती हैं।

सामान्यतः वेदांती यह स्वीकार करते हैं कि, इस जगत का नानात्व (अनेकता) ब्रह्म के उपर अधिष्ठित हैं, जो सविशेष कहा जाता हैं। जगत का सद्रुपत्वधर्म ब्रह्म का सामान्य धर्म हैं। तथा चिन्मयत्व, आनंदमयत्व विशेषधर्म हैं। प्रथमतः द्रष्टा को सामान्यरुप की प्रतीति भ्रमात्मक होती हैं, परन्तु उस अवस्था में ब्रह्म के विशेषधर्म चिन्मयत्व एवं आनंदमयत्व की प्रतीति भ्रमदशा में होती नहीं हैं। यह सर्प हैं , रज्जु नहीं हैं, ऐसा ज्ञान भ्रान्ति दशा में होता हैं। क्योंकि कोई भी द्रष्टा ऐसा नहीं कहता हैं कि, यह रज्जु सर्प हैं, परंतु यह सर्प हैं, ऐसा ही कहता हैं। उसी तरह से हम ऐसा नहीं कहते कि, यह जगत् ज्ञानात्मक एवं आनंदमय हैं। उल्टा ऐसा कहते हैं कि यह जगत् दुःखात्मक

---

(२५२) परमार्थमनालिङ्‌य न दृष्टं वितथं क्वचित्। तस्माद्वा वितथं सर्वं परमार्थैकनिष्ठितम्। (तै.उ.भा.वा. ब्राह्मणवल्ली ६४) यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम् (वही ४) **(२५३)** बृ. उ. भा. वा. १.४.१२८० **(२५४)** नैष्कर्मसिद्धि -११-४४/४५

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। परंतु जैसे सर्पगत रज्जु का ज्ञान हो जाता हैं, तब हम सर्प न कहते हुए रज्जु कहते हैं। उसी प्रकार से जब अविद्यात्मक आभास की निवृत्ति हो जाती हैं, तब सत्तात्मक जगत को ज्ञानात्मक एवं आनंदात्मक कहते हैं, यही स्थिति निर्विशेष एवं सविशेष ब्रह्म की हैं। जिसके कारण से जगत की प्रतीति [२५५]आभासात्मक हैं।

श्रीसुरेश्वराचार्य ने आभासवाद के आधार पर जीव को ईश्वर के समान माना हैं। उनके मत में जीव का स्वरुप चिदाभास हैं। ''चित्'' ब्रह्म हैं और जीव ''चित्'' का आभास है। चिदाभास की व्याख्या करते हुए कहा हैं कि, ''चित्'' से विलक्षण होने पर भी ''चित्'' के समान भासमान चिदाभास [२५६] हैं। इसलिए ईश्वर और जीव दोनों शुद्ध चैतन्य का आभास हैं। आभासवाद के अनुसार अविद्या ही जीव एवं ईश्वर को उत्पन्न करती हैं। ब्रह्म स्वतः न तो इस जगत का कारण हैं या न तो नियन्ता हैं या न तो साक्षी हैं। ईश्वर ही अविद्या के संयोग से चैतन्यांश में जब आभासित होता हैं, तब जीव कहा जाता हैं। इस तरह से अद्वैत ब्रह्म, अविद्या के संयोग से जब भासित होता हैं तब जीव एवं ईश्वर कहा जाता हैं। उनके मत में जीव और ईश्वर के बीच वास्तव में कोई भेद नहीं हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने [२५७]सिद्धान्त बिंदु में इसका समर्थन किया हैं।

आभासवाद की विशेषतायें :- आभासवाद की विशेषतायें इस अनुसार से हैं - (१) ईश्वर और जीव दोनों को सोपाधिक सिद्ध करना। (२) ईश्वर और जीव का मिथ्यात्व निरुपण करना। (३) जीव और ईश्वर दोनों का ब्रह्म के साथ संबंध असत् प्रमाणित करना। अर्थात् असत् स्वीकार करना। क्योंकि, दोनों का ब्रह्म के साथ संबंध (वास्तविक) स्वीकार किया जाये तो संबंध उभयपक्ष सापेक्ष होने के कारण ब्रह्म और ईश्वर तथा ब्रह्म और जीव, इस प्रकार ''द्वैत'' मानने की आपत्ति आने से सिद्धांत की हानि होती हैं।

इसलिए दृश्यमान जीव, ईश्वर और ब्रह्म का संबंध आभास मात्र हैं। उस आभास का कारण अविद्या हैं। इस तरह से मिथ्यात्व का कारण आभास ही हैं, वह प्रमाणित होता हैं। आभासवाद के प्रणेता श्रीसुरेश्वराचार्य जीव और ईश्वर की उत्पत्ति में चार कारण मानते हैं। (१) अविद्या, (२)शुद्धचैतन्य का आभास, (३)शुद्धचैतन्य का पूर्णतः मायोपहित होना और (४)ईश्वर एवं जीव का कूटस्थ ब्रह्म से आभासित होना और दोनों का ब्रह्म के साथ अभेद संबंध होना।

जीव और ईश्वर में भेद :- उपर्युक्त विवेचन जीव-ईश्वर में अभेद संबंध का प्रतिपादन करता हैं, वहाँ दोनों में स्वतः व्यावहारिक[२५८] भेद भी बताया हैं। ईश्वर समस्त जगत के अंतर्यामी एवं साक्षी हैं और जीव जगत का कर्ता, भोक्ता और प्रमाता हैं। ईश्वर जहाँ माया से उपहित होता हैं, वहाँ जीव अविद्या से आविष्ट रहता हैं। ईश्वर का अहमत्व माया से बाधित नहीं होता हैं, इसलिए ही वह साक्षी एवं क्षेत्रज्ञ[२५९] कहा जाता हैं। परंतु

(२५५) यो भ्रान्तिदशायामपि प्रतिभाति, यदभावे भ्रान्तिरेव न स्यात् स एव सामान्यांशाधार इति चोच्यते। यो भ्रान्तिदशायां न भाति, यदभावे भ्रान्तिनिर्विशेषं नश्येत् स एव विशेषांशोधिष्ठानमिति चोच्यते। **(२५६)** चिद्विलक्षणत्वे सति चितवत् भासमानत्वं चिदाभासत्वम्। (बृ.उ.भा.वा.४.३.१३२०) (२५७) अज्ञानस्य तु सर्वत्राभिन्नत्वात्तद्गतचिदाभासभेदाभावात् तदविविक्तसाक्षि-चैतन्यस्य न कदाचिदपि भेदभानमिति।(सिं.बि.-१-टीका) **(२५८)** एवमध्यासे सिद्धे एकस्यात्मनो जीवेश्वरादिव्यवस्था मानमेया-दिप्रतिकर्म व्यवस्था चोपपद्यते। तथाहि - अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञानतादात्म्यापन्नः स्वचिदाभासाविवेकादन्तर्यामी साक्षी ईश्वरः जगत्कारणमिति च कथ्यते, बुद्ध्युपहितश्च तत्तादात्म्यापन्नः स्वचिदाभासाविवेकाज्जीवः कर्ता भोक्ता प्रमातेति च कथ्यते इति वार्तिककारपादाः। (सिद्धांत बिन्दु -१-टीका) **(२५९)** परमात्मनोऽप्ययमन्तस्यक्षेत्रज्ञमविद्यया क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीत्येव सत्युपपद्यते। (तै. उ. भा. वा. पृ-१५४)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव अविद्याजन्य आवरणशक्ति से आवृत्त होकर, स्वरुपज्ञान को भूल जाता हैं। इसलिए ही ईश्वर के लिए कोई बंधन नहीं हैं और जीव को कर्मबंधनों से पीडित होना पडता हैं।

आभासवाद का प्रयोजन :- आत्मा से अतिरिक्त संपूर्ण जागतिक प्रपंच (वस्तुओं) की स्वरुप-निष्पत्ति आभास द्वारा ही संभवित हैं। अविद्या का व्यावहारिक प्रयोजन और जगत का सत्तालाभ (अर्थात् जगत् की व्यावहारिक सत्ता का लाभ) [२६०]आभास द्वारा ही सिद्ध हो सकता हैं। इसलिए आभास को आत्मज्योति भी कहा जाता हैं। आभास के बिना जडरुप अविद्या से जगत की स्थिति [२६१]असंभव हैं। इस प्रकार से आभासित वस्तु की आभास के बिना कहीं अन्यत्र [२६२]सत्ता ही नहीं हैं।

यह अविद्या ही हैं, कि जो निष्प्रपंच, निर्विकार एवं निर्गुण ब्रह्म को जगत् के कारणरुप में[२६३] आभासित करवाती हैं। श्रीआनंदगिरि ने [२६४]इस तथ्य का समर्थन अपनी टीका में किया हैं। इस तरह से श्रीसुरेश्वराचार्य का आभासवाद अद्वैततत्त्व की सिद्धि में परम सहायक बना हैं।

कल्पनावाद और आभासवाद :- श्रीगौडपादाचार्य ने कल्पनावाद के समान आभासवाद का [२६५]स्वीकार किया हैं। कल्पनावाद में दृश्यमान सभी पदार्थ कल्पनामात्र और अतात्त्विक हैं। इस तरह से आभासवाद में भी जगत् काल्पनिक होता हैं। **नृसिंहतापनीयोपनिषद्** में आभासवाद का वर्णन इस प्रकार से आया हैं कि, जीव और ईश्वर आभास के कारण माया और अविद्या का निर्माण करते हैं और तद्रुप[२६६] बन जाते हैं।

इस अनुसार से शुद्ध चैतन्य ही परमार्थ तत्त्व हैं। जीव और ईश्वर में अभेद संबंध, जीव का जीवगत स्वरुप, काल्पनिक हैं और उस कल्पना का मूल जागतिक माया हैं।

अवच्छेदवाद :- [२६७]ईश्वर, जगत्, जीव और ब्रह्म के संबंध को स्पष्ट करने के लिए श्रीवाचस्पति मिश्र ने

---

(२६०) यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्। (बृ.उ.भा.वा. ४.३.७४) चिदाभासैकमात्रेण तमः सिद्धिर्न मातृतः। (बृ. उ. भा.वा.३.४.१०५) चैतन्यतदाभासाभ्यामज्ञानसिद्धिमुक्त्वामातृसिद्धिप्रकारमभाह। (आनंदगिरि टीका) **(२६१)** ध्वान्तादिविषया-न्तोऽर्थो जडत्वान्नात्मसिद्धिकृत् आत्मज्योतिरभावेऽतो नाभावमपि विन्दति। (बृ.उ. भा.वा. १.३.५९) **(२६२)** न च जाड्यातिरेकेण ह्यविद्या काचिदिष्यते- बृ.उ.भा.वा. १.४.२५६,३४१,३.३.४१. **(२६३)** न चाभासस्याभासिनोऽन्यत्र सत्त्वम्। आनन्दगिरिटीका १.४.५०८ **(२६४)** अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते। बृ.उ.भा.वा. १.४.३७१ अज्ञानस्याभासद्वारा कूटस्थस्यैक्ये तस्य कारणत्वमिष्टं स्वतस्तदयोगात्। (बृ. उ. भा. वा. १.४.३७१) **(२६५)** जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम्। (गौ. का. ४.४५) कल्पयत्यात्मनात्मानं आत्मा देवः स्वमायया। स एव बुध्यते दैवान्, इति वेदान्तनिश्चयः ॥गौ.का. २.१२॥ **(२६६)** जीवेशावभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति (नृ.ता. उ. ३. ९.) **(२६७)** नौंवी शताब्दी में श्रीवाचस्पति मिश्र नाम के प्रसिद्ध आचार्य मिथिला में हो गये थे। श्रीशंकराचार्य के शारीरिक भाष्य के उपर उन्हों ने ''भामती'' नामकी टीका लिखी हैं, जो अद्वैतवेदांत को समजने के लिए सोपान की भूमिका निभाती हैं। श्रीमंडनमिश्र ने ब्रह्मसिद्ध नाम के ग्रंथ में अनेक नये सिद्धांतो की चर्चा की हैं। उनकी विचारधाराओं से श्रीवाचस्पति मिश्र अधिक प्रभावित हुए ऐसा ''भामती'' टीका का अवलोकन करते हुए दिखाई देता हैं। भामतीटीका में अनेक स्थान पे श्रीमंडनमिश्र के विचारों का समर्थन किया हैं। जैसे कि, श्रीमंडनमिश्र ने आश्रय और विषय के रुप में अविद्या के दो भेद स्वीकार किये हैं। श्रीवाचस्पति मिश्र उसमें सहमत हैं। अविद्या के ''तत्त्व-अग्रहण'' और ''अन्यथाग्रहण'' रुप दों भेद हैं। श्रीवाचस्पति मिश्र, श्रीमंडनमिश्र के शब्द और अज्ञान के संबंध में एवं परोक्षात्मक वृत्ति विषयक मत के साथ भी सहमत हैं। श्रीवाचस्पति मिश्र ने ''ब्रह्मसिद्धि'' के उपर ब्रह्मतत्त्व समीक्षा नामक टीका की रचना की थी, जो अब उपलब्ध नहीं होती हैं। श्रीवाचस्पति मिश्र की भामती टीका का अनुसरण अनेक आचार्यो ने किया हैं। जिसके प्रसिद्ध आचार्य श्रीअप्पयदीक्षित, श्रीप्रकाशानंद, श्रीरमानंद, श्रीअमलानंद इत्यादि आचार्य हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''अवच्छेदवाद'' की स्थापना की हैं। श्रीशंकराचार्य ने अपने उपनिषद् एवं(२६८) शारीरिक भाष्य में अनेक स्थान पे घटाकाश, मठाकाश आदि उद्धरण देकर आत्मा को आकाशवत् अनंत और जीव को घटाकाश, मठाकाश की समान परिच्छिन्न, सान्त और सीमित स्वीकार किया हैं। उसी उद्धरणों को सामने रखकर श्रीवाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद के सिद्धांत का विकास किया हैं। ब्रह्म महाकाश के सदृश अनन्त और जीव अपनी अविद्या के कारण घटाकाश के समान सीमित हैं और उसकी शक्ति भी सीमित हैं।

जैसे महाकाश घट की उपाधि से ढकते - अवच्छिन्न होते घटाकाश रुप में आविर्भूत होता हैं, वैसे ब्रह्म अज्ञान की उपाधि से अवच्छिन्न होने से अज्ञानोपहित बन जाता हैं। जीव अविद्या से अवच्छिन्न होने से स्वयं को अल्पज्ञ बना देता हैं। इसलिए अविद्या के कारण परमतत्त्व ब्रह्म, क्षुद्र जीव के रुप में परिवर्तित होता हैं। इस अवच्छिन्न होने की क्रिया को **अवच्छेद** कहा जाता हैं। इसलिए इस मान्यता को ''अवच्छेदवाद'' कहा जाता हैं।

वस्तुत: ईश्वर अज्ञान के विषयभूत चैतन्य हैं और जीव अज्ञान के आश्रयभूत चैतन्य हैं। स्वविषय के रुप में यह नानात्मक अज्ञान, ईश्वर के स्वरुप का अवच्छेदक हैं और आश्रय के रुप में जीव के स्वरुप का(२६९) अवच्छेदक हैं। अज्ञानोपहित जीव ही नानात्मक जगत का कल्पक है। जीव का कल्पत्व ही जीवगत(२७०) प्रपंच को भिन्न करता है।

(२७१)श्रीशंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में जहाँ-जहाँ अवच्छेदवाद का संकेत दिया हैं, उस उस स्थान के उपर श्रीवाचस्पति मिश्र ने युक्तिपूर्वक स्वमत का स्थापन किया हैं। जैसे कि, घटाकाश का अभिप्राय परमाकाश से भिन्न नही परंतु महाकाश ही घटाकाश के रुप में परिवर्तित हो जाता हैं। घटाकाश और महाकाश की स्थिति, बहु विवेचनीय भी नहीं हैं। क्योंकि महाकाश की उपाधि घटाकाश तो केवल विभक्त होने के कारण लक्षित होती हैं। इस प्रकार से अनादि, अनिर्वचनीय अविद्या की उपाधि से कल्पित जीव, वास्तविक रुप में पृथक् नहीं हैं। परंतु उसकी उपाधि से उद्भावित और उद्भूत सदृश जीव, अभिभूत दिखाई देता हैं। वही परमात्मा, अविद्या के उपाधिभेद के कारण घटाकाश, मठाकाश के समान जीव के रुप में(२७२) प्रसिद्ध होता हैं। औपाधिक भेद होने के कारण घटाकाश के समान, भेदों के विरुद्ध धर्मों के संसर्ग से जीवो में अनेक धर्म(२७३) देखे जाते हैं। इस तरह से

(२६८) घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नि घटाच्छिद्रं करकाच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि, तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। (ब्र. सू. शां.भा. १.१.५.) घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभ: परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत्। (ब्र.सू.शा.भा.१.२.६) एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृत:, यथा घटाकाशो महाकाश इति। (ब्र.सू.शां.भा. १.२.३०) यस्तु सर्वेश्वरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति तद्वत् प्राणभृत: (ब्र.सू. शां. भा.१.३.३२) (२६९) जगत अज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्म हैं। यहाँ ब्रह्म ढका हुआ आच्छादित या अवच्छिन्न हैं। जब कि अज्ञान अवच्छेदक हैं। ब्रह्म एक ही होने पर भी वह अनेक अज्ञानो से अवच्छिन्न होने से अनेक जीव रुप से या स्थावर जंगम पदार्थो के रुप में लगते हैं। इसलिए ब्रह्म की अनेकता या सीमितता लागू नहीं पडती हैं। क्योंकि सीमा हट जाने से अवच्छेदक अज्ञान दूर होने से मूल शुद्ध चैतन्य ही रहता हैं। इस तरह से भी ब्रह्म और जीव की वास्तविक एकता और फिर भी दिखती विभिन्नता योग्य रुप में संगत होती हैं। (२७०) अज्ञानविषयीभूतं चैतन्यमीश्वर: अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पतिमिश्र:। अस्मिश्च पक्षे अज्ञाननानात्वाज्जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं च प्रपञ्चभेद:। जीवस्यैवाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात् प्रत्यभिज्ञा चातिदृश्यात् ईश्वरस्य च स प्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति अयमेव अवच्छेदवाद:। (-वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर: भूमिका सिद्धान्तबिन्दु पृ-४७) (२७१) यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्य:, अथ च अन्य इव यावद् घटमनुवर्तते। न चासौ दुर्विवेचन:, तदुपाधेर्घटस्य विविक्तत्वात्। एवमनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपाधानकल्पितो जीव: न वस्तुत: परमात्मनो भिद्यते, तदुपाध्युद्भवाभिभवाभ्यां च उद्भूत इव अभिभूत इव प्रतीयते। भामती-२.३.३. (२७२) स एव तु अविद्योपाधानभेदात् - घटकरकाद्याकाशवत् भेदेन प्रथते। (भामती-२.१.७) (२७३) औपाधिकत्वाच्च भेदस्य घटकरकाद्याकाशवत् विरुद्धधर्मसंसर्गस्य उपपत्ते:। (भामती-शां.भा. २.३.११)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीवाचस्पति मिश्र ने जीव-जगत और ब्रह्म के संबंध को समजाने के लिए ''अवच्छेदवाद'' की विचारधारा की स्थापना की हैं और आभासवाद(२७४) - प्रतिबिंबवाद का विरोध किया हैं। भामती टीका में अन्यत्र बिंबवाद के साथ अपने सिद्धांतो को स्पष्ट करने के लिए उपमार्ये भी दी हैं, परंतु जहाँ भी उनको प्रतिबिम्ब कहने की आवश्यकता पडी हैं, वहाँ अविद्या से कल्पित(२७५) जीव के लिए ही हैं।

प्रतिबिम्बवाद(२७६):-

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने सिद्धांतबिंदु ग्रंथ में(२७७) प्रतिबिम्बवाद की चर्चा इस प्रकार से की हैं - ''अज्ञान में प्रतिबिंबित चैतन्य ईश्वर हैं और बुद्धि में प्रतिबिंबित चैतन्य जीव हैं। अज्ञान से अनुपहित बिंब चैतन्य शुद्ध चैतन्य हैं। (इस तरह से जीव, ईश्वर और ब्रह्म के विषय में प्रतिबिंबवाद में समज दी गई हैं।)- ऐसा संक्षेप शारीरिककार का मत हैं। प्रतिबिंब पारमार्थिक होने के कारण जहदजहल्लक्षणा से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अखंड अर्थबोध होता हैं - इसको प्रतिबिंबवाद कहा जाता हैं।''

श्रीशंकराचार्य ने(२७८) प्रतिबिंबवाद का वर्णन करते हुए शारीरिक भाष्य में कहा हैं कि, ''ब्रह्म बिंबस्थानीय हैं और आत्मा (जीव) प्रतिबिंबस्थानीय हैं। जीवो में जो वृद्धि- ह्रासत्वादि परिलक्षित होता हैं, वह भी प्रतिबिंबवाद में दृष्टिगत हो जाता हैं। जैसे पानी में पडा हुआ प्रतिबिंब वृद्धि होने से वृद्धि पाता हैं, पानी का ह्रास होने से ह्रास होता हैं और पानी हिलता हो तो प्रतिबिंब हिलता हैं। और पानी खंडित हो तो खंडित होता हैं। इस तरह से पानी के धर्मो की असर प्रतिबिंब में भिन्न-भिन्न परिवर्तन लाती हैं, परंतु जो सूर्य का प्रतिबिंब हैं, उस सूर्य के उपर उस प्रतिबिंब के परिवर्तनो की कोई असर नहीं पडती हैं। जैसे पानी में कंपन उत्पन्न हो तो प्रतिबिंब में कंपन उत्पन्न होगा, परंतु सूर्य में ऐसा नहीं होता हैं। उपरांत सूर्य का प्रतिबिंब अनेक जलपात्रो में गिरने से सूर्य के अनेक प्रतिबिंब दिखते हैं, फिर भी आकाश में तो सूर्य एक ही होता हैं। वैसे अनेक अज्ञानो में प्रतिबिंबित

(२७४) श्रीवाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्र के रचनानुपपत्त्यधिकरण, वाक्यान्वयाधिकरण और अंशाधिकरणों में प्रतिबिम्बवाद के मत को अस्वीकार कर अवच्छेदवाद की स्थापना की हैं। सोपाधिक चेतन जीव, काल्पनिक नहीं हो सकता, अपितु जीव का स्वरुप तो है ही। अतः मुक्ति के लिए प्रयत्नशील जीव ही मुक्तिलाभ करता हैं। आभासवाद में जीवत्व का सर्वथा नाश हो जाता हैं, जिससे माध्यमिक बौद्ध का मत समर्थित हो जाता हैं। अतः अवच्छेदवादी को आभासवाद भी इष्ट नहीं हैं। भामती भाष्य में प्रतिबिम्बवाद का विरोध करते हुए कहा हैं कि, रुपरहित पदार्थो का, रुपरहित अन्तःकरणरुप उपाधि में बिम्ब प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं हैं, क्योंकि रुपवान् द्रव्य, अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण अन्य रुपवान् द्रव्यो का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकता है। चिदात्मा रुपरहित और ज्ञानस्वरुप हैं। अतः इसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द, गन्ध, एवं रसादियों की प्रतिबिम्बता (C/1) सम्भव नहीं हो सकती। (C/1) शब्दगन्धरसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बिता -(भामती.१-१-१) (२७५)(क)अविद्योपाधानकल्पितावच्छेदो जीवः परमात्मप्रतिबिम्बकल्पः। (भामती शां.भा. २.२.१०)। अविद्योपाधानञ्च यद्यपि विद्यास्वभावे परमात्मनि न साक्षादस्ति तथा तत्प्रतिबिम्बकल्पजीवद्वारेण परस्मिन्नुच्यते ॥ भामती शां.भा.१.४.२२ (ख)श्री मिश्रैः रचनानुपपत्त्यधिकरणे वाक्यान्वयाधिकरणे अंशाधिकरणे च प्रतिबिम्बवादो निराकृतः। (श्री शंकरात्प्रागद्वैतवादः पृ-३५) (२७६) प्रतिबिम्बवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि हैं। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना 'संक्षेपशारीरिक', में प्रतिबिम्बवाद का विशदीकरण क्रिया हैं। उन्होंने आभासवाद एवं अवच्छेदवाद दोनो में दोष का दर्शन किया हैं, फलतः इन वादों से पृथक् बिम्बप्रतिबिम्बवाद की स्थापना की हैं (२७७) अज्ञानप्रतिबिम्बचैतन्यमीश्वरः, बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः। अज्ञानानुपहितं तु बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरिककाराः। प्रतिबिम्बस्य च पारमार्थिकत्वाज्जहदजहल्लक्षणेव तत्त्वमसिपदेषु इदमेव च प्रतिबिम्बवादमाचक्षते (सिद्धांतबिन्दु- श्लो-१) (२७८) तदुच्यते बुद्धिह्रासभाक्त्वमिति, जलगतो हि सूर्यप्रतिबिम्बो जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रासति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते, इत्येवं जलधर्मानुविधायी भवति न तु सूर्यस्य तथात्वमसि। (ब.सू.शां.भा.३.२.३०) तथा चोदकराशावादिकम्पनात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते। ब.सू.शां.भा.२.३.४६)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए ब्रह्म के कारण अनेक जीव दिखते हैं। फिर भी ब्रह्म के एकत्व में बाधा नहीं आती हैं। उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता हैं कि, जीव में अज्ञानजन्य होनेवाले सुख दुःखादि का प्रभाव कूटस्थ ब्रह्म के उपर नहीं होता हैं। विशेष में... बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा हैं कि, बुद्धि की उपाधि से चैतन्य में प्रतिबिंबित जीव, सूर्य चंद्र के प्रतिबिंब के समान हैं[२७९]

निरुपाधिक ब्रह्म का प्रतिबिंबत्व इस प्रकार से संभवित हैं कि, जैसे आकाश में नीलत्वादि वर्णो का आरोप संभव हैं। श्रीशंकराचार्य ने निरुपाधिक ब्रह्म की प्रतिबिंबता का स्वीकार करके प्रश्नोपनिषद् कठोपनिषद् मुण्डकोपनिषद् और ऐतरेयोपनिषद् के भाष्यो में [२८०]बिंबवाद की चर्चा की हैं।

पंचपादिका में भी कहा हैं कि, बिंबस्थान से ब्रह्मस्वरुप का और प्रतिबिंबस्थान से जीवस्वरुप का उपदेश[२८१] किया जाता हैं। जीव, प्रतिबिंब के सदृश कल्पित और प्रत्यक्ष चिद्रुप होता हैं। उसका अंतःकरण के अज्ञान के कारण जड बना रहना स्वाभाविक हैं और इसलिए ही अपने को कर्ता और भोक्ता मानता हैं। बिंबकल्प ब्रह्म और जीव के कल्पित रुप में एकरुपता संभवित नहीं हैं। इसलिए जीव के मिथ्यात्मक रुप को प्रदर्शित करने के लिए प्रतिबिंबवाद का सिद्धांत अनुकूल सिद्धांत[२८२] हैं। उपरांत, प्रतिबिंब का अपने आप अस्तित्व नहीं हैं, ऐसा स्वीकार करेंगे तो भी बिंब और प्रतिबिंब समान ही होते हैं, ऐसा मानना पडता हैं। उसी तरह से ब्रह्म और अज्ञानोपहित ब्रह्म जीव या ईश्वर एक ही हैं, भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार माया खंडो में प्रतिबिंबित चैतन्य ''मैं'' पन के ख्याल में रहकर संसार के बंधनों में उलझता हैं और उसे जीव कहा जाता हैं।

● **''आभास, अवच्छेद और प्रतिबिम्ब'' वाद की समीक्षा :-** पञ्चदशी के प्रणेता, श्रीविद्यारण्य स्वामी ने और उसके व्याख्याकार श्रीरामकृष्ण एवं श्रीमदच्युताचार्य ने आभास, प्रतिबिम्ब और अवच्छेद के भेद का विरोध किया हैं। उनके मत में उपर्युक्त तीनों वादो में एक ही वाद परमार्थवस्तु, ब्रह्म तथा जीव के अभेदत्व का प्रतिपादन किया गया हैं।[२८३] श्रीरामकृष्ण ने पञ्चदशी की पददीपिका नामक टीका में लिखा हैं कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतीयमान मुख, सद्यःमुख जैसा प्रतीत होता हैं, उसी प्रकार बिम्ब भी सत्य प्रतीत होता हैं। [२८४]पञ्चदशी में एक अन्य स्थल पर आभास का पर्याय प्रतिबिम्ब हैं, ऐसा निर्देश किया गया हैं।[२८५] और कहा गया हैं कि- जहाँ ब्रह्म के इषद्भास से जीव भासित होता हैं, वहाँ आभास होता हैं, उसी प्रकार प्रतिबिम्ब भी सुसंगत होता हैं। ब्रह्म बिम्बलक्षणों से हीन होते हुए, बिम्बवत् आभासित होता रहता हैं, [२८६]जैसे गिरिगुहादियाँ में ध्वनि स्वयमेव प्रतिध्वनित होती रहती हैं, उसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी साकार स्वयमेव प्रतीत होता रहता हैं। श्रीमदच्युतराय ने पञ्चदशी की टीका में लिखा हैं कि हरिहर चतुरानन के अवतार स्वरुप, श्रीबादरायण, श्रीशंकराचार्य तथा श्रीसुरेश्वराचार्य जो क्रमशः सूत्र, भाष्य और वार्तिक के प्रणेता हैं, पाणिनि- व्याकरण के समान मुनित्रय हैं।[२८७]

(२७९) बुद्ध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि सः चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्। (बृ. उ. शां. भा. २.१.९) (२८०) प्र.उ.४.९. कठोप-६-२, मुण्डकोप. ३.९,ऐ.उ.३.१. (२८१) बिम्बस्थानीयब्रह्मस्वरुपतया प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते-पञ्चपादिका प्रथमवर्णके पृ-१०८ (२८२) जीवः पुनः प्रतिबिम्बकल्पः सर्वेषां प्रत्यक्षश्चिद्रुपः नान्तःकरणे जाड्येनास्पन्दितः स चाह कर्तृत्वमात्मनो रुपं मन्यते, न बिम्बकल्पब्रह्मात्मैकरुपताम् अतो युक्तस्तद्रुपावगमे मिथ्यापगमः ॥ (पञ्चपादिका) (२८३) नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान्। आभासत्वस्य मिथ्यात्वात् कूटस्थस्याविशेषणात् ॥प.द.तृ.प्र.१५ (२८४) यथादर्पणे प्रतीयमानस्य मुखाभासस्य ग्रीवास्थं मुखमेव तत्त्वं तद्वदिति।-वही, (२८५) चिदाभासविशिष्टानां तथानेकधियामसौ। पं.द.कूट पृ.३. चिदाभासविशिष्यानाम् चित्प्रतिबिम्बयुक्तानाम्।-वही (२८६) इषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः। बिम्बलक्षण-हीनस्सन् बिम्बवत्भासते हि सः ॥ पं.द, कूट. पृ.१३२ (२८७) कूटस्थो ब्रह्मजीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधाः। घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखेर्त्यथा ॥ पं.द. चित्रदीप. पृ.१८.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतशास्त्रों में यथोक्त प्रकार से प्रामाण्य हैं। आभास, प्रतिबिम्ब और अवच्छेदवादों का अभिप्राय जीव, ईश्वर एवं ब्रह्म की संगति, अद्वैतमत के आधार पर लगाना हैं।(२८८)

श्री मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्त बिन्दु में तीनो ही वादो के स्वरुप का इस प्रकार प्रतिपादन किया हैं। शुद्धचैतन्य आभास के रुप में बाधित हो जाता हैं। इस बन्धन की निवृत्ति से मोक्ष होता हैं, इसमें कोई असमंजस नहीं हैं, या यों कहिये कि आभास से पृथक् चैतन्य ही तत्त्वमसि पद का वाच्यार्थ हैं। त्वम् पद वाच्य के अज्ञानरुपी एक देश के परित्याग के कारण जहदजहल्लक्षणा के द्वारा ही, अखण्डार्थ का बोध होता हैं। अतः कोई दोष नहीं हैं। यही पक्ष आभासवाद के नाम से कहा जाता हैं।(२८९)

अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य ईश्वर और अन्तःकरण तथा अज्ञान के संस्कार से प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव कहलाता हैं, ऐसा विवरणकार का मत हैं।(२९०) आभासवाद और प्रतिबिम्बवादों के प्रमुख भेदों का कारण यह हैं कि प्रतिबिम्ब, बिम्बवत् सत्य मान लिया गया, परन्तु इसका अभिप्राय ''जीवो ब्रह्मैवनापरः'' हैं। आभास बाद में आरोपित अज्ञान, सत्यवत् प्रतीत होता हैं। जैसे किसी स्वच्छ दर्पण में लाल कपडे के प्रतिबिम्ब से, दर्पण ही लाल दिखाई पडता हैं। आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद में बुद्धि भेद के कारण जीव के नानात्व को स्वीकार किया गया हैं। श्रीवाचस्पति मिश्र के अनुसार, अज्ञान के द्वारा विषयीकृत चैतन्य, ईश्वर और अज्ञानाश्रयीभूत जीव होता हैं। अवच्छेदवाद में अज्ञान के नानात्व के कारण, जीवों का नानात्व होता हैं। परंतु प्रपंचभेद प्रतिजीव के अनुसार होता हैं। जीव ही अपने अज्ञान से उपहित होने के कारण, जगत् का उपादान कारण हैं और ब्रह्म के सादृश्य अथवा अंश होने के कारण, चिन्तन, मनन के द्वारा पुनःस्मरण से ब्रह्म में लीन हो जाता हैं। ईश्वर ही इस प्रपंच और जीव का अधिष्ठान हैं। इसे ही अवच्छेदवाद कहते हैं।(२९१)

एक जीववादी या दृष्टिसृष्टिवादी के अनुसार अज्ञान से उपहित बिम्बचैतन्य को ईश्वर और अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहा जाता हैं। अज्ञान से अनुपहित अर्थात् सर्वथा पृथक् शुद्ध चैतन्य को ब्रह्म कहा जाता हैं। दृष्टिसृष्टिवाद में जीव ही अपने अज्ञानवशात् जगत का उपादान और निमित्तकारण बनता हैं। इस जगत् में दृश्य पदार्थों की प्रतीति ही सत्य प्रतीति का कारण हैं। देहभेद होने के कारण जीवो में भेद मानना, महान भूल हैं। एकदेह के स्वकल्पित अज्ञान की निवृत्ति गुरुशास्त्रादियों के श्रवणमननादियों के द्वारा सम्भव हैं, और तदनन्तर उस देहाश्रित जीव की मुक्ति होती हैं। जिस जिस अन्तःकरण में ज्ञान का उदय होगा, उस उसकी मुक्ति होगी, शेष जीवो का बन्धन। शुकदेवादि ऋषियों का मोक्षश्रवण तो अर्थवाद भर हैं।(२९२)

(२८८) पञ्चदशी चित्रदीप.पृ. १८ पर अच्युतराय का भाष्य। (२८९) तेन शुद्धचैतन्याभास एव बन्धः। तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति न किञ्चिदसमञ्जसम्। अथवाभासविविक्तचैतन्यमपितत्त्वमसिपदवाच्यम्। तेनवाच्यैक- देशस्यत्यागादस्मिन् पक्षे जहदजहल्लक्षणैवेति न कोऽपि दोषः। अयमेव पक्षः आभासवाद इति गीयते। सि.बि.-१.१ (२९०) अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरण-तत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बितं बिम्बचैतन्यं जीव इति विवरणकाराः। सि.बिं.-१.१ (२९१) अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः। अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पतिमिश्रः अस्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वात् जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं प्रपञ्चभेदः। जीवस्यैव स्वाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चापि सादृश्यात्। ईश्वरस्य सप्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेदवादः। सि. बिं.-१-१ (२९२) अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः। अज्ञानप्रतिबिम्बचैतन्यं जीवः इति वा अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तः एकजीववादाख्यः। इदमेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते। अस्मिंश्च पक्षे जीव एव स्वाज्ञानवशात् जगदुपादानं निमित्तं च। दृश्यं सर्वं प्रातीतिकम्। देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिः। एकस्यैव च स्वकल्पितगुरुशास्त्रद्युपहितश्रवणमननादिदार्ढ्यादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः। शुकादीनां च मोक्षश्रवणं त्वर्थवादः - (सि.बिं. १-१)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिसृष्टिवाद :- आचार्य श्रीनिश्चछलदास ने श्रीप्रकाशानन्द को दृष्टिसृष्टिवाद का प्रधानाचार्य कहा हैं।[२९३] **श्रीअप्पयदीक्षित सिद्धान्तलेशसंग्रह में दृष्टिसृष्टिवाद का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि-** जीव न तो प्रतिबिम्ब हैं और न महाकाश से अवच्छिन्न मठाकाशवत् हैं। जिस प्रकार, कुन्तिपुत्र कर्ण अपने आपको राधापुत्र समझता हैं क्योंकि उसे कुन्ति के पुत्र होने का ज्ञान नहीं हैं। उसी प्रकार अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त होता हैं, इस मिथ्यादृष्टि के कारण, यह सृष्टि सत्य प्रतीत होने लगती हैं। [२९४] श्रीशंकराचार्य ने भी अविद्या के कारण, ब्रह्म का संसारीत्व भाव माना हैं और उदाहरण देकर स्पष्ट किया हैं कि जिस प्रकार कुन्तीपुत्र कर्ण में राधा के पुत्रत्व की प्रतीति होती हैं उसी प्रकार अविकारी ब्रह्म में जीवत्व का विकार देखा जाता हैं। जैसे कर्ण राधापुत्र नहीं हैं, अत: राधापुत्रत्व की प्रतीति भ्रम से अतिरिक्त ओर कुछ भी नहीं हैं। उसी प्रकार जीव की प्रतीति भ्रम से अतिरिक्त ओर कुछ भी नहीं हैं।[२९५] **आचार्य श्रीसुरेश्वराचार्य का यह उद्धरण** -''जैसे व्याधकुल संवर्धित राजकुमार अपनी राजकुमारता को जानकर व्याधभाव से निवृत्त हो जाता हैं। उसी प्रकार प्रमाता की ''तत्त्वमसि'' महावाक्योत्थित ज्ञान से, अज्ञानता की निवृत्ति हो जाती हैं।[२९६] **यह उद्धरण दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसवभूमि हैं,** जिसमें ब्रह्म, अविद्या के कारण जीवभाव को प्राप्त करता हैं, और पुन: ब्रह्मज्ञान से ब्रह्ममय हो जाता हैं। इस वाद में अज्ञान का प्रभव विस्तार, प्रभाव तथा कार्यो का बडी सहजता से बोध कराया गया हैं।

अज्ञान को जीवाश्रित मानने पर जो जागतिक प्रपञ्च तथा उसके कार्य की सृष्टि होती हैं, उसको दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं।[२९७] जीव ही जगत का कर्ता हैं। दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार ब्रह्म में जब मायाशक्ति सक्रिय हो जाती हैं तब वह अव्यक्त तत्त्व श्रम और तप के योग से व्यक्त रुप धारण करता हैं। और पुर, पुरुष, जीव एवं जगत् की सृष्टि करता हैं सद्य: सृष्टि ही दृष्टिसृष्टि को उत्पन्न करती हैं। जैसे स्वप्न में जब हाथी, घोडा आदियों को देखा जाता हैं, तब द्रष्टा को स्वप्नगत दृश्यों की अभिव्यक्ति मात्र होती हैं। इससे पूर्व वहाँ हाथी घोडा इत्यादि नही थे और न स्वप्नो के अन्दर उन पदार्थो की स्थितिसम्भव हो सकती हैं। वहाँ तो स्वप्न के कारण, उन पदार्थो की सृष्टि होती हैं।[२९८] जिस प्रकार न्यायदर्शन में दो पदार्थो में रहनेवाला द्वित्व, देखनेवालो की अपेक्षा द्रष्टि से उत्पन्न होता हैं और अपेक्षाबुद्धि की समाप्ति के बाद द्वित्व भी समाप्त हो जाता हैं। जैसे द्वित्वबुद्धि की समाप्ति हो जाने पर उससे पूर्व एक घट की स्थितिकाल में अथवा घटान्तर की बहुकाल तक स्थिति रहने पर भी, द्वित्व का पुन: बोध नहीं होता। वैसे ही जीवाश्रित अविद्या से निर्मित प्रातिभासिक रजत, देखनेवालो को तब तक रजत दृष्टिगत होता रहता हैं, जब तक उसकी उत्पत्ति होती हैं। प्रातिभासिक रजत की प्रतीति न तो उससे पहले थी और न बाद में रहती हैं, जागतिक प्रपंचो की स्थिति तद्वत् न पूर्व में थी और न प्रलय के बाद रहेगी। व्यावहारिक वस्तु ज्ञात हो या अज्ञात पर क्रियाकारको पर प्रभाव डालने में समर्थ रहती हैं। जैसे अग्नि ज्ञात हो या अज्ञात, हाथ पडने पर वह जलाती ही हैं। प्रातिभासिक वस्तु कभी भी अज्ञात दशा में कार्यो की उत्पत्ति करने में सफल नहीं रहती हैं। इसका कारण हैं कि अज्ञात वस्तु स्वत: अस्तित्व हीन रहती हैं। अत: क्रियाकारकों पर प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होती। अज्ञान काल में ही वस्तु का मूलतत्त्व से पृथक् अस्तित्व होना, दृष्टिसृष्टिवाद का मूलसिद्धान्त हैं।[२९९]

(२९३) वृत्तिप्रभाकर, पृ.३६१-६३ (२९४) न प्रतिबिम्ब:नाप्यवच्छिन्नो जीव:। किन्तु कौन्तेयस्य राधेयत्ववदधिकृतस्य ब्रह्मण एव अविद्यया जीवभाव:। सि.ले.सं.पृ.११९, (२९५) Sankara's works, vol. vIII, pp. 259-60 (२९६) सम्बन्धवार्तिक-२२३ (२९७) डो.महाप्रभुलालगोस्वामी-पुष्पलता हिन्दी भाष्य, भामती, पृ.२० (२९८) तुलना करें -यथा स्वप्ने एक एव स्वप्नदृक् परमार्थसत्य: अन्ये तद् भ्रमकल्पिता: सर्वे एवं जागरेऽपि एक एव परमार्थसत्य: ।-वे.सि.मु.का.पृ.९. (२९९) डो. महाप्रभुलाल गोस्वामी-पुष्पलता, भामती-अध्यासभाष्य-१, पृ.सं.२०.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थ दृष्ट हो या अदृष्ट, सभी अपनी कारणभूत सामग्रीयों से उत्पन्न होते हैं, मात्र दृष्टिकाल में ही उत्पन्न नहीं होते, भले ही उन पदार्थो का दर्शन कभी होता हो या नहीं, इस सिद्धान्त को सृष्टिदृष्टिवाद कहा जाता हैं।(३००)

भामतीकार आचार्य श्रीवाचस्पति मिश्र ने भी दृष्टिसृष्टिवाद का समर्थन किया हैं। उनके मत में मूलाविद्या और संस्कार रुप अपर अविद्या का आश्रय जीव हैं। अन्तःकरण उपाधि से अवच्छिन्न प्रत्यगात्मा चेतन, कर्ता, भोक्ता कार्य-कारणरुप अविद्याद्वय का आधार हैं। अहंकारास्पद संसारी, सभी अनर्थो का भाजन जीवात्मा ही परस्पर अध्यास का उपादान हैं और उसका उपादान अध्यास हैं। बीज और अंकुर न्याय के समान अविद्या तथा जीव एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं।(३०१) **आगे भामती में दृष्टिसृष्टिवाद का समर्थन इस प्रकार किया गया हैं कि,** अविद्या ब्रह्म की आश्रिता नहीं हैं, किन्तु जीव की आश्रिता और अनिर्वचनीया(३०२) हैं। **श्रीप्रकाशानन्द ने ऐसा ही वर्णन, सिद्धान्तमुक्तावली में किया हैं कि** ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त कार्यजाति चाहे वह ज्ञान हो या ज्ञेय सभी अविद्यक ही हैं। अतः सभी जागतिक पदार्थ प्रतीति(३०३) समकालिक हैं। वस्तुतः अनित्य पदार्थ की नित्यता तो मात्र वर्तमान के कारण सिद्ध हो रही हैं, भूत और भविष्य तो सदा उसे अनित्य ही मानते हैं।

अविद्या जीवाश्रया हैं।(३०४) श्रीप्रकाशानन्द के इस मत को आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती ने समर्थन करते हुए कहा हैं कि- **जीवाश्रित ही अविद्या हैं।** इस पक्ष में अविद्या में प्रतिबिंबित चैतन्य जीव हैं, या अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीव हैं अथवा अविद्या के द्वारा कल्पित भेदो में कल्पित चैतन्य जीव हैं। पूर्वोक्त इन तीनों पक्षो में अन्योन्याश्रय दोष हैं। तब यह विचारणीय हैं कि इन अन्योन्याश्रय दोषो का दर्शन उत्पत्ति में करते हैं या ज्ञान में अथवा स्थिति में करते हैं ? उत्पत्ति में - अर्थात् अज्ञान का आश्रय जीव हैं, इस पक्ष में जीव की उत्पत्ति अज्ञान के अधीन हैं। अज्ञान निराश्रित नहीं रह सकता, फिर अज्ञान से जीव उत्पन्न कैसे हुआ? क्योंकि जीव के स्वरुप की उत्पत्ति, अज्ञान के अधीन हैं ओर अज्ञान का आश्रय जीव हैं। किन्तु उत्पत्ति में यह दोष नहीं, क्योंकि जीव और अज्ञान दोनों अनादि हैं। यदि ज्ञान में अन्योन्याश्रयत्व दोष दिया जाय, तब भी सम्भव नहीं हैं, यथा अज्ञान का भान, चित्त के द्वारा होता हैं, तथापि चित्त अज्ञान के अधीन नहीं हैं, क्योंकि चित्त स्वयं प्रकाश हैं। अतः उसके ज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं हैं। जीव का स्वरुप किसी भी पक्ष में, अज्ञान रुप उपाधि के हटने पर चिद्रुपत्व ही हैं। अर्थात् अज्ञान, साक्षीरुप जीव में भासित होने पर भी चिद्रुप जीव अज्ञान से भासित नहीं होता। इसलिए ज्ञान में परस्पर आश्रयत्व दोष नहीं हैं। तृतीय पक्ष भी अयुक्ति संगत हैं, क्योंकि यहाँ दो विकल्प हो सकते हैं प्रथम तो परस्पर आश्रयाश्रयीभाव, दूसरा परस्परसापेक्षस्थितिभाव अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा में स्थित रहना, दोनों ही विकल्प व्यर्थ हैं, क्योंकि अविद्या को जीव की आश्रिता मानने पर भी जीव, अज्ञान के आश्रित नहीं हैं, और अज्ञान निराश्रित नहीं रह सकता, जबकि चित् स्वयं सिद्ध हैं और अविद्याश्रित नहीं हैं। दूसरा पक्ष

---

(३००) तुलना करें- यथा स्वप्ने एक एव स्वप्नदृक् परमार्थ-सत्यः अन्ये तद्भ्रमकल्पिताः सर्वे एवं जागरेऽपि एक एव परमार्थ-सत्या। वे.सि.मु.का.पृ.९. **(३०१)** अन्तःकरणाद्यवच्छिन्नः प्रत्यगात्मा इदमनिदंरूपश्चेतनःकर्ता भोक्ता कार्यकारणा-विद्याद्वयाधारः अंहकारास्पदं संसारी सर्वानर्थसंरम्भाजनं जीवात्मा इतरेतराध्यासोपादानः। -भामती अध्यासभाष्य-तुलना करें- जीवाश्रया ब्रह्मपदाह्यविद्या, वे.सि.मु.का.३. **(३०२)** अविद्या न ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्, तेन नित्यशुद्धमेव।-भामती-१.१.४. **(३०३)** ततो ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नकार्यजातं ज्ञानं ज्ञेयरुपं तत्सर्वमविद्यकमेव इति प्रातीतिकमेव सत्वं सर्वस्येति सिद्धम्।-वे.सि.मु.का.पृ. १४ **(३०४)** जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्त्वविन्मता। तद्विरुद्धमिदं वाक्यमात्मा त्वज्ञानगोचरा॥-वे.सि.मु.का.३

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी ठीक नहीं हैं, इसमें अविद्या की स्थिति चित् के अधीन होने पर भी, चित् की स्थिति अज्ञान के अधीन नहीं हैं, क्योंकि वह स्वयं सिद्ध हैं ।[३०५]

अब यहाँ शंका हो सकती हैं कि जब दोनों परस्पर अधीन नहीं हैं, तब क्या अविद्या एवं चित् स्वतंत्र हैं ? समान कालिक पदार्थो में भी अवच्छेद-अवच्छेदक भाव से अन्योन्याधीनत्व सम्बन्ध होता हैं । जैसे घट और घट के आकाश में अन्योन्याधीनत्व सम्बन्ध होता है । प्रमाण और प्रमेय में, प्रमेय के प्रमाणाधीनत्व होने के कारण परस्पराधीनत्व सम्बन्ध हैं । घट और आकाश दोनों स्वतंत्र हैं । घटाकाश इस व्यवहार में आकाश का अवच्छेदक घट हैं । इसीलिये घटाकाश को अवच्छेदक घट की अपेक्षा रहती हैं, अन्यथा महाकाश का घटाकाशादियों से भेद सिद्ध नहीं होगा । यह घट रुप उपाधि के कारण महाकाश से घटाकाश का भेद सिद्ध हैं । इसी तरह प्रमाण-प्रमेय में भी परस्पर अधीनता हैं - ''**प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्**'' इस व्युत्पत्ति से सिद्धप्रमाणपद, प्रमेय की प्रमा का कारण हैं । इसीलिए प्रमेय, प्रमाण के अधीन हैं, किन्तु प्रमेयहीन हो तो, प्रमाण किसका होगा ? यही कारण हैं कि सप्तमपदार्थ रस में प्रमाण न होने के कारण, उसकी सिद्धि नहीं होती । यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं घट आदि प्रमेय, ये दोनों स्वरुप से स्वतंत्र हैं, फिर भी पूर्वोक्त प्रकार से परस्पर अधीन हैं । फलतः प्रमेय न होने पर प्रमाण की सिद्धि नहीं होगी । उत्पत्ति और ज्ञान में प्रतिबन्ध न होने के कारण भी परस्पर आश्रय और आश्रयिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता हैं । चैत्र और मैत्र में परस्पर एक दूसरे पर आरुढ हैं, ऐसा स्वीकार करने पर आश्रयाश्रयीभाव सम्बन्ध सम्भव हो सकता हैं । जीव से कल्पित ईश्वर और ईश्वर से कल्पित जीव मानने पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होगा, क्योंकि सर्वप्रथम तो जीव से कल्पित ईश्वर सिद्ध हो, तब ईश्वर से कल्पित जीव सिद्ध होगा । इसी तरह एक दूसरे के आश्रितत्व सम्बन्ध मानने पर यही दोष उत्पन्न होगा, किन्तु शुद्ध चित् अज्ञान का आश्रय नहीं हैं, अतः यह दोष नहीं हो सकता । जीवाश्रिता ही अविद्या हैं, अतः ईश्वर और जीव की कल्पना करनेवाली जीवाश्रिता ही अविद्या हैं और सभी का अधिष्ठान ब्रह्म चेतन हैं । फलतः जीवाश्रित अविद्या मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं हैं ।[३०६]

● **सत्ताविचार :-** अद्वैतवेदान्त में एकमेव ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता का स्वीकार किया हैं । ब्रह्म के सिवा तमाम दृश्य जगत मिथ्या हैं । फिर भी हमारी स्थूल इन्द्रियों से प्रतीत होते पदार्थों का (प्रत्यक्ष सांसारिक सत्ता) का अपलाप भी हो सके वैसा नहीं हैं । इसलिए अद्वैतवादी श्रीशंकराचार्य ने तीन प्रकार की [३०७]सत्ता का स्वीकार किया हैं ।

(१) प्रातिभासिक सत्ता, (२) व्यावहारिक सत्ता, (३) पारमार्थिक सत्ता । एक मात्र सत् ब्रह्म पारमार्थिक हैं । अर्थात् एक ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक हैं । जो सत्ता तीन काल में कभी बाधित न हो ऐसी एकान्तिक सत्य (सत्) हो और जगत के अन्य पदार्थो से नितान्त विलक्षण हो उसको पारमार्थिक सत्ता कहा जाता हैं ।

अन्तर्जगत और बाह्यजगत्, कि जिसका ज्ञान, अंतःकरण और बाह्यकरणों से हो, वह आंतरजगत् और बाह्यजगत् की व्यावहारिक सत्ता हैं । जगत के व्यवहार के लिए संसार के तमाम पदार्थों में जो रहता हैं, उसे व्यावहारिक सत्ता

(३०५) स्वनैकल्पिते देशे व्यक्तिः यद्वत् घटादिकम् । तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः ॥ प्रकीर्ण श्लोक (३०६) वाचस्पतिमिश्रैस्तु जीवाश्रितैवाविद्या निगद्यते-तस्माज्जीवाश्रितत्वेऽपि अदोषः ।-अद्वैतसिद्धि, पृ.५८५ (३०७) त्रिविधं सत्त्वं पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च । पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्त्वमाकाशादेः, प्रातिभासिकं सत्त्वं शुक्तिरजतादेः। तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वेन प्रामाण्यम् । अस्मिन्पक्षे च घटादेर्ब्रह्मणि निषेधो न स्वरुपेण, किन्तु पारमार्थिकत्वेनैवेति न विरोधः ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जाता हैं। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई नाम होता हैं और कोई न कोई रुप होता हैं। यह नाम-रुपात्मक वस्तुओं की सत्ता सांसारिक व्यवहार के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। फिर भी ब्रह्मज्ञान हो, तब वे सभी बाधित हो जाते हैं। इसलिए नितान्त सत्य नहीं हैं।

किसी वास्तविक वस्तु में होनेवाली मिथ्या प्रतीति को प्रातिभासिक कहा जाता हैं अर्थात् ऐसी सत्ता कि जो प्रतीतिकाल में तो सत्य स्वरुप प्रतिभासित हो, परंतु उत्तरकाल में बाधित हो जाये, उसको प्रातिभासिक सत्ता कहा जाता हैं। जैसे कि, रस्से में सांप की या सीप में रजत की सत्ता।

श्रीशंकराचार्य ने ''दृग्-दृश्य-विवेक'' नामक ग्रंथ में वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए जीव और जगत् का प्रातिभासिकत्व आठ श्लोक में समजाया हैं। (जो पहले (आगे) बताया हैं।)

प्रातिभासिक सत्ता का स्पष्टीकरण नीचे की बाते सोचने से होगा। -

(१) प्रातिभासिक वस्तु स्वप्न की तरह सच्ची नहीं होती हैं। (२) प्रातिभासिक वस्तु द्रष्टा से भिन्न नहीं होती हैं। (३) प्रातिभासिक वस्तु व्यावहारिक हो सकती हैं और सुख-दुःख दे सकती हैं। जैसे कि, छाया, प्रतिध्वनि, आभास, स्वप्न इत्यादि असत् होने पर भी सत्यवत् दिखाव से अर्थकारी होते हैं। (४) जहाँ रस्से में सर्प दिखे, वहाँ सर्प प्रातिभासिक हैं। वहाँ सर्प के ज्ञान से रस्से का ज्ञान ज्यादा सच नहीं हैं। क्योंकि, पहला ज्ञान बिलकुल गलत हैं। उसी ही तरह से चिडिया के ज्ञान से मनुष्य का ज्ञान ज्यादा सच नहीं हैं। क्योंकि दोनों ज्ञान मिथ्या हैं। केवल ब्रह्मज्ञान एक ही सत्य हैं। जिस ज्ञान का विषय बाध होता है, उस ज्ञान को भ्रांतिज्ञान या मिथ्याज्ञान कहा जाता हैं। मिथ्या यानी बिलकुल गलत नहीं, परन्तु जो गलत हो फिर भी सच्चे जैसा लगे और दूसरी दशा में बाध हो। (५) प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते नहीं हैं, वह दृष्टिकाल में ही होती हैं। (६) प्रातिभासिक वस्तु के एक अंश की निवृत्ति नहीं होती हैं। जैसे स्वप्न में जागने के बाद स्वप्न के एक अंश की निवृत्ति नहीं होती हैं और सीप में दिखाई देते रुप में सीप के ज्ञान से एक अंश की निवृत्ति नहीं होती हैं, वैसे ब्रह्मज्ञान होने से थोडा सा जगत निवृत्त नहीं होता हैं। (७) प्रातिभासिक वस्तु निराकार होने से उसमें अंश-अंशी भाव नहीं बनता हैं। इसलिए उसमें स्वगत भेद नहीं बनता हैं। (८) प्रातिभासिक वस्तु की प्रतीति समकाल में होती हैं। मृगजल धीरे-धीरे सुखता नहीं हैं। उसी ही तरह से, कल्पित जगत धीरे धीरे अदृश्य नहीं होता हैं। ब्रह्मज्ञान होते ही एकसाथ निवृत्त होता हैं। (९) ज्ञानकाल में प्रातिभासिक वस्तु का त्रिकाल निषेध होता हैं। जो अज्ञानकाल में गलत हैं वह ज्ञानकाल में नहीं रह सकता। (१०) प्रातिभासिक वस्तु अधिष्ठान के साथ रहे इससे द्वैत नहीं होता हैं। आयने में दूसरा चेहरा दिखे इससे दो चेहरे नहीं होते हैं। (११) स्वप्न, स्वप्न के समय व्यावहारिक हैं, जागने के बाद वह प्रातिभासिक लगता हैं। (१२) प्रातिभासिक वस्तु में केवल ज्ञात सत्ता रहती हैं। इसलिए उसका ज्ञान हो तब अर्थकारी (सुख या दुःख देनेवाला) बनता हैं। अज्ञात रज्जु रुप सर्प से किसी को भय नहीं लगता हैं। (१३) कल्पित वस्तु की उसके अधिष्ठान के साथ एकता नहीं होती हैं। क्योंकि कल्पित का अस्तित्व अधिष्ठान के अस्तित्व से वस्तुतः अन्य नहीं हैं परन्तु अभिन्न हैं। वैसे ही ज्ञान होने से कल्पित का अस्तित्व बाध पाता हैं, इसलिए दोनो की एकता नहीं होती हैं। इसलिए ब्रह्म और जीव की एकता नहीं होती हैं। (१४) प्रातिभासिक सत्ता व्यावहारिक हो जाती हैं। उसका कारण यह हैं कि, अंतःकरण और उसके धर्मो का (दोनों का) अध्यास आत्मा में होता हैं। जैसा स्वप्न में होता हैं वैसा जाग्रत में बनता हैं। -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अनुसार से अद्वैतवेदांत में तीन प्रकार की सत्ता का वर्णन किया हैं। उनके द्वारा कल्पित ''माया'' व्यावहारिक सत्ता की कोटि में आती हैं। क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने से उसका बाध होता हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, प्रातिभासिक सत्ता (भ्रमस्थल) के विषय में अद्वैत वेदांती अनिर्वचनीयता ख्याति को मानते हैं। शुक्ति में रजत का प्रतिभास (प्रतीति) होता हैं, उसके संबंध में विभिन्न दार्शनिको ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया हैं। अद्वैतवेदांतीओं ने रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत जैसे स्थानो में अनिर्विचनीयता ख्याति को मानते हैं। रज्जु के बारे में या शुक्ति के बारे में हुए सर्प या रजत के ज्ञान को ''सत्'' इसलिए नहीं कहा जा सकता कि, वह दीपक के प्रकाश में बाधित हो जाता हैं। और उसको ''असत्'' भी इसलिए नहीं कहा जा सकता कि, उस ज्ञान से भय पैदा होता हैं। इसलिए वह सर्प या रजत के ज्ञान को उभयविलक्षण (सत् और असत् से विलक्षण) ''**अनिर्वचनीय**'' कहा जाता हैं। अविद्या के कारण वैसा ज्ञान होता हैं, उसी तरह से ''जगत्'' की कल्पना भी ''**अनिर्वचनीय**'' हैं।

यहाँ अवसरप्राप्त ''शुक्ताविदं रजतम्'' स्थान पे विभिन्न दार्शनिक उस भ्रमात्मक ज्ञान को किस नाम से स्वीकार करते हैं, वह देखेंगे। -(१) विज्ञानवादि बौद्ध ''आत्मख्याति'' और माध्यमिक बौद्ध ''असत्ख्याति'' मानते हैं। (२) पूर्वमीमांसक ''**अख्याति**'' मानते हैं। (३) नैयायिक- वैशेषिक- जैन ''अन्यथाख्याति'' (विपरीताख्याति) मानते हैं। (४) उत्तर मीमांसक - अद्वैत वेदांती ''**अनिर्वचनीयता-ख्याति**'' मानते हैं। (५) विशिष्टाद्वैतवेदांती और सांख्य ''**सत्ख्याति**'' मानते हैं। - इस तरह से छ: ख्यातियाँ हैं। इसकी विशेष समजूती प्रमाणनय तत्त्वालोक ग्रंथ में दी गई हैं।(३०८)

(३०८) यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ॥११॥ (प्रमाणनय तत्त्वालोक)

शुक्तिकायामरजताकारायां रजताकारेण यज्ज्ञानं स विपर्ययः- विपरीतख्यातिरित्यर्थः।

ख्यातयो बहुविधाः, यथा-आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिः, अख्यातिः, अनिर्वचनख्यातिः, सत्ख्यातिः, अन्यथाख्यातिश्चेति। तत्र- **आत्मख्यातिः**-आत्मनः ज्ञानस्यैव **ख्यातिः**-विषयरुपतया भानम्, अयमर्थः- 'शुक्ताविदं रजतम्' इत्यत्र ज्ञानस्यैव रजतरुपतया भानं भवति, न च तत्र कश्चिद् बाह्योऽर्थो विद्यते, 'अयं घटः' इत्यादिषु सर्वत्र ज्ञानस्यैव विषयरुपतया प्रतिभासमानत्वात्, इति **योगाचारापरर्यायविज्ञानवादिनो बौद्धाः। असत्ख्याति :**- असतो रजतादेः **ख्यातिः**- प्रतीतिः, तथाहि- 'शुक्ताविदं रजतम्' इति प्रतिभासमानं वस्तु न ज्ञानरुपं भवितुमर्हति 'अहं रजतम्' इति अन्तर्मुखाकारतयाऽप्रतिभासमानत्वात्, नाप्यर्थरूपम्, रजतसाध्याया अर्थक्रियाया आभावात्, तस्मादसदेव रजतं तत्र चकास्तीत्यसत्ख्यातिरिति **माध्यमिकापरपर्यायशून्यवादिनो बौद्धाः। अख्यातिरप्रतीतिः**- विवेकाख्यातिरित्यर्थः। शुक्ताविदं रजतमित्यत्र प्रत्यक्षस्मरणरूपं प्रत्ययद्वयमुत्पद्यते, तत्रेदमंशः प्रत्यक्षस्य विषयः, हट्टस्थादिरजतं तु स्मरणस्य विषयः, **तयोः**- प्रत्यक्षस्मरणयोः शुक्तिरजतयोश्चेन्द्रियदोषवशाद् भेदग्रहणं न भवतीति भेदा (ऽविवेका) ऽख्यातिरिति **मीमांसकाः। अनिर्वचनीयख्याति**र्नाम सत्त्वेनासत्त्वेन चानिर्वचनीयस्य रजतादेः **ख्यातिः**-प्रतीतिः। तथाहि- 'शुक्ताविदं रजतम्, इत्यत्र रजतं न सद्' बाध्यमानत्वात्, सतो न बाध्यमानत्वं यथा सत्यरजतम्, नाप्यसत् प्रतीयमानत्वात्, असत् न प्रतीयते वन्ध्यास्तनन्धयवत्, तस्मादत्रानिर्विचनीयरजतोत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या, इति **अद्वैतवेदान्तिनः। सत्ख्याति**र्नाम **सतो**-विद्यमानविषयस्य **ख्यातिः**- प्रतीतिः, तथाहि- 'शुक्ताविदं रजतम्' इत्यत्र शुक्तौ विद्यमानस्यैव रजतांशस्य प्रतीतिः ''तदेव सदृशं तस्य यत् तद् द्रव्यैकदेशभाक्'' इति नियमात् **पञ्चीकरणप्रक्रियया** च तत्र रजतांशानां विद्यमानत्वात्। अदृष्टवशात् तु भूयसामपि शुक्त्यंशानां न प्रतीतिः, स्वल्पानामापि रजतांशानां प्रतीतिर्भवति, अतः 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानं यथार्थमेव, तत्र ज्ञानविषयस्य विद्यमानत्वात्, विषयव्यवहारबाधात् तु भ्रमत्वेन व्यवहार इति **विशिष्टाद्वैतवेदान्तिनः।**

अन्यथाख्याति :- अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यरूपेण प्रतीतिः, तथाहि-अन्यथा स्थितस्य शुक्त्यादिरूपस्यार्थस्यान्यथा-रजतादिरुपेण प्रतिभासनमन्यथा- (विपरीत)-ख्यातिरिति **जैनाः, नैयायिकाश्च।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

● **''ब्रह्मस्वरुपोद्घाटक महावाक्य'' :-** उपनिषदो में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतीपादन करते और ब्रह्म के स्वरुप को प्रकट करते कुछ वाक्य हैं। समग्र उपनिषदो का सार उसमें समा गया होने से वे रत्नकणिकाओं की भाँति जिज्ञासुओं को आकर्षित करते हैं और उनके पथदर्शक बनते हैं। इन वाक्यों को ''महाकाव्य'' कहते हैं।

ये महाकाव्य कितने हैं वह बात में भिन्न भिन्न मत हैं। ''महावाक्य विवरण'' नामक एक वेदांत ग्रंथ में महाकाव्यों की संख्या बारह बताई हैं और उसमें से ग्यारह तो उन्होंने दिये ही हैं। वे इस अनुसार से हैं। (१) **तत्त्वमसि** (छान्दोग्य. ६.८७) (२) **अहं ब्रह्मास्मि** (बृहदारण्यक १-४-१०) (३) **अयमात्मा ब्रह्म** (मांडूक्य उप.२) (४) **एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः** (बृहदारण्यक, ३.७.२३) (पू) **स यश्चायं पुरुषो यश्चासावादित्ये स एकः** (तैत्तिरीय २.८.१) (६) **प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म** (ऐतरेय आरण्यक प.३) (७) **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** (बृहदारण्यक उप. ३.९.२८) (८) **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तै.उ.२.१.) (९) **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छांदोग्य ३.१४.१) (१०) **एकमेवाद्वितीयम्** (छांदोग्य-६.२.१.) (११) **स एवमेव पुरुषो ब्रह्म**। परंतु ज्यादातर इसमें से चार वाक्यो को महावाक्य माने गये हैं। -

(१) प्रज्ञानं ब्रह्म (चैतन्य ही ब्रह्म हैं) (२) अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) (३) तत्त्वमसि (तुं वह हैं) (४) अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म हैं) ये चार महावाक्य क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के उपनिषदो में से हैं।

उपदेशवाक्य की अर्थनिष्पत्तिः- उपर दिये हुए महावाक्य में से **तत्त्वमसि**- ''तुं वह हैं'' को उपदेशवाक्य कहा जाता हैं ; क्योंकि उसमें शिष्य को महत्त्व का उपदेश दिया गया हैं। यहाँ तुं =शिष्य=जीव, वह ईश्वर या ब्रह्म हैं। अब ''तु'' जीवात्मा और ''वह'' अर्थात् परमात्मा ले तो तत्-त्वम्-असि का (तु) जीवात्मा तत्-वह परमात्मा हैं ऐसा अर्थ होता हैं। परन्तु ऐसा अर्थ लेने में कठिनाई हैं; जैसे कि, जीवात्मा परमात्मा नहीं हैं। जीवात्मा यह जीवात्मा हैं और परमात्मा वह परमात्मा हैं। इसलिए इस ''तत्त्वमसि'' वाक्य का अर्थ उचित तरीके से करने के लिए जरा सोचना पडेगा।

अद्वैतवेदान्तीयों के अनुसार उपदेशवाक्य '**तत्त्वमसि**' का अर्थ समजने के लिए तीन [(३०९)] प्रकार के संबंधों का आश्रय लेना पडेगा। (१)सामानाधिकरण्य (२) विशेषणविशेष्यभाव और (३) लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध।

सामानाधिकरण्य अर्थात् समान आधारवाला होना वह। जिन दो शब्दो के बीच ऐसा सामानाधिकरण्य संबंध हो वे शब्द भिन्न भिन्न अर्थवाले होने पर भी तात्पर्य से एक ही वस्तु के साथ जुड जाते हैं। उदा. सोऽयं देवदतः- वह यह देवदत्त हैं। यहाँ सः अथवा वह अर्थात् पहेले देखा हुआ देवदत्त और ''अयम्'' अथवा ''यह'' अर्थात्

---

(३०९) अथ महावाक्यार्थो वण्यते। इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्-

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता। लक्ष्यलक्षण सम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्' ॥ इति

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यै-तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमेवासीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादि, विशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु तथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थेतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया, विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वं, पदार्थापरोक्ष-त्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्ध-देवदत्तेन **सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथाऽत्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व-परित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥२३॥ (वेदान्तसार-टीका)**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस समय देखा हुआ देवदत्त । इस प्रकार सः यह **तत्कालविशिष्ट देवदत्तवाचक** हैं, जब कि **अयम् एतत्कालविशिष्ट देवदत्तवाचक** हैं । इस प्रकार सः और अयम् दोनो अलग अलग अर्थो के वाचक हैं । फिर भी सामानाधिकरण्य द्वारा ये दोनों पद एक ही देवदत्त के शरीर के साथ जुड जाते हैं । इस तरह से ही तत्त्वमसि में 'तत्' अर्थात् वह यानी कि ईश्वर अथवा **परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य** और 'त्वम्' अर्थात् ''तुम'' अथवा **प्रत्यक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य** ये दोनो भिन्न भिन अर्थवाले पद हैं । परंतु सामानाधिकरण्य से इन दोनों पदो का एक ही चैतन्य में तात्पर्यरुप संबंध हो जाता हैं ।

विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध :- ये दो पदो के बीच का संबंध हैं । इस संबंध से इन पदो के अर्थ एक दूसरे के विशेषण और विशेष्य बन जाते हैं ।

विशेषण हंमेशा अपने विशेष्य में अपने से अतिरिक्त पदार्थ का व्यावर्तन करता हैं । व्यावर्तन करना अर्थात् निषेध करना । उदा. जब हम **नीलम्उत्पलम्** ''कमल नील हैं'' ऐसा बोलते हैं तब ''नील'' विशेषण अपने विशेष्य ''उत्पल'' में अपने से अतिरिक्त नीलेतर रंगो का व्यावर्तन करता हैं - उसका निषेध करता हैं ।

'**सोऽयं** देवदत**:**' में हमने देखा कि '**सः**' अर्थात् **तत्कालविशिष्टदेवदत** और **अयम्** अर्थात् **एतत्कालविशिष्टदेवदत** । अब **सः** पद का अर्थ जब **अयम्** पद के अर्थ का विशेषण बनता हैं तब वह **अयम्** पद में अपने से भिन्न=**तत्कालविशिष्टदेवदत्त** से भिन्न अर्थ का निषेध करता हैं । अर्थात् **तत्कालविशिष्टदेवदत्त**- यह अर्थ **एतत्कालविशिष्टदेवदत** अर्थ का निषेध करेगा । उसी ही तरह से **अयम्** पद का अर्थ **सः** पद के अर्थ में **अयम्** पद के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ का निषेध करेगा । परंतु इस उदाहरण में विशेषण और विशेष्य विरुद्ध अर्थवाले हैं, इसलिए अभिधा शक्ति से विशेषण का अर्थ विशेष्य के अर्थ का व्यावर्तन नही कर सकेगा । **सोऽयं देवदतः** वाक्य विलक्षण हैं, इसलिए **नीलम् उत्पलम्** जैसे सामान्य विशेषण-विशेष्य संबंधवाले वाक्यों की तरह अभिधा का अर्थ नहीं निकलेगा ।

अभिधा तीन प्रकार की होती हैं । (१) अन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्ग :- यानी कि दोनों पद एकदूसरे के विशेषण और विशेष्य हो । उदा. नीलम् उत्पलम् में **नीलत्वगुणविशिष्ट** उत्पल और **उत्पलविशिष्ट** नील । (२) एक पद दूसरे पद का विशेषण हो । उदा. नील से विशिष्ट उत्पल अथवा उत्पल से विशिष्ट नील । इस प्रकार वाक्य के दो अर्थ होते हैं । इसको कहा जाता है, अन्यप्रविशिष्ट अन्य । (३) **तदैक्य**-विशेषणवाचक और विशेष्यवाचक पदो की एकता । उदा. नील वही उत्पल । यहाँ एकता का अर्थ तत्त्व से एकता नहीं; क्योंकि उस तरह से तो नील और उत्पल भिन्न है । दोनों शब्दो के प्रवृत्तिनिमित्त या शक्यार्थ भिन्न भिन्न हैं । अर्थात् यहाँ 'एक' पदार्थ होना अर्थात् 'गुण-गुणी' होना । यानी कि जो नील पदार्थ वही कमल । 'नीलम् उत्पलम्' में अभिधा की ये तीनो रीतियों में से किसी भी तरह से अर्थ लिया जा सकता हैं । क्योंकि ऐसा करने में प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से विरोध नहीं होता हैं ।

परंतु **तत्त्वमसि** या **सोऽयं देवदत्तः** में अभिधाशक्ति की इन तीनो में से किसी भी रीत से अर्थ करना शक्य नहीं हैं, क्योंकि **तत् (अप्रत्यक्षादि विशिष्टत्व)** और **त्वम् (प्रत्यक्षादिविशिष्टत्व)** पदो के बीच या **सः (तत्कालविशिष्ट)** और **अयम् (एतत्कालविशिष्ट)** के बीच विरोध हैं । उपरांत **नीलम् उत्पलम्** में **नीलम्** और **उत्पलम्** के बीच केवल संकेतित अर्थ में ही एकता अभिप्रेत थी, वैसा यहाँ नहीं हैं । **तत्** और **त्वम्** के बीच

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा **सः** और **अयम्** के बीच शक्यार्थ में भी एकता अपेक्षित हैं। अर्थात् उनके बीच अखंडैकरस एकता अभिप्रेत हैं।

इस प्रकार **सोऽयं देवदत्तः** में जैसे **सः** और **अयम्** के बीच विरोध आता हैं, वैसे **तत्त्वमसि** में **तत्** और **त्वम्** के बीच मुख्यार्थ में विरोध आने से मुख्यार्थबाध होता हैं, इसलिए हम को ''**लक्षणा**'' लेने की जरुरत पडती हैं।

अब लक्षणा के सामान्य रुप से दो प्रकार हैं। (१) **लक्षण-लक्षणा** अथवा **जहल्लक्षणा** और (२) **उपादानलक्षणा** अथवा **अजहल्लक्षणा**। **जहल्लक्षणाका** दृष्टांत हैं –**गङ्गायां घोषः प्रतिवसति**। – गंगा में घोष रहता हैं। गंगा का मुख्यार्थ होता हैं ''गंगाप्रवाह''। प्रवाह में घोष नहीं बस सकता इसलिए यहाँ मुख्यार्थबाध होता हैं। इसलिए ''गंगाप्रवाह'' ऐसा मुख्यार्थ संपूर्णतः छोडकर पास का 'गंगातीर' अर्थ लेना पडता हैं। इस प्रकार जहल्लक्षणा में मुख्यार्थ को संपूर्ण छोड देना पडता हैं।

तत्त्वमसि वाक्य में यह जहल्लक्षणा नहीं चलेगी, जैसे कि **तत्** अर्थात् **परोक्षादिविशिष्टचैतन्य**। और **त्वम्** अर्थात् **अपरोक्षादिविशिष्टचैतन्य**। इन दोनों के अर्थ में **परोक्षादिविशिष्टत्व** और **त्वम् अपरोक्षादिविशिष्टत्व** विरोधी हैं। उन अर्थो का संपूर्ण त्याग करने से ''शुद्धचैतन्य'' यह अभिप्रेत अर्थ नहीं निकलता हैं।

यहाँ ऐसी शंका की गई हैं कि **'तत् त्वम् असि'** में **तत्** अपने अर्थ का संपूर्ण त्याग करे और पास के **त्वम्** के अर्थ को स्वीकार करे तो जहल्लक्षणा क्यों न हो ?

यह शंका उचित नहीं हैं; क्योंकि 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' ये वाक्य में ''तीर'' दिया ही नहीं हैं इसलिए अभिधा द्वारा उसकी जानकारी नहीं होती हैं। इसलिए लक्षणा से ''तीर'' अर्थ को लेने की जरुरत पडी। जब कि यहाँ तो तत् और त्वम् पद दिये हुए हैं, इसलिए अभिधा से ही उनके अर्थ की प्रतीति हो सकती हैं। इसके लिए लक्षणा लेने की जरुरत नहीं हैं।

शोणो धावति (लाल दौडता हैं) यह अजहल्लक्षणा का दृष्टांत हैं। घोडे दौड रहे हो तब उसमें से कोई खास घोडे के लिए ''वह लाल दौड रहा हैं'' ऐसा हम बोलते हैं; परन्तु लाल तो रंग हैं, गुण हैं, वह किस तरह से दौडेगा ? इसलिए मुख्यार्थबाध होता हैं, इसलिए हम **शोणः** का अर्थ **शोणः अश्वः** करते हैं। इसलिए उसको अजहल्लक्षणा कही जाती हैं। इस प्रकार अजहल्लक्षणा में अपने अर्थ को छोडे बगैर अर्थ की संगति के लिए अपने साथ जुडा हुआ दूसरा अर्थ लेना होता हैं।

तत्त्वमसि का अर्थ समजने में अजहल्लक्षणा भी नहीं ले सकते। **तत्** के **परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य** और **त्वम्** के **अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य** अर्थ को न छोडे तो **परोक्षत्वादिविशिष्टत्व** और **अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व** के बीच का विरोध किसी भी तरह से दूर नहीं होगा। यहाँ ऐसी शंका की गई हैं कि, यदि **तत्** पद अपने अर्थ का एक विरुद्ध अंश **परोक्षत्वादिविशिष्टत्वका** त्याग करे और उसके स्थान पे बचे हुए ''शुद्ध चैतन्य'' अर्थ के साथ **त्वम्** पद के **अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व** अंश को जोड दे; अथवा इससे विपरीत **त्वम्** पद अपने अर्थ का विरुद्धांश छोड दे और बचे हुए ''चैतन्य'' उस अर्थांश के साथ **तत्** पद के **परोक्षत्वादि विशिष्टत्व** अंश जोडे दे तो अजहल्लक्षणा से चले, वैसा हैं और नयी लक्षणा नहीं लेनी पडेगी।

परंतु ऐसा करने में दो दोष आते हैं : (१) एक पद अपने अर्थ का अंश ही स्वीकार करे और दूसरा अंश छोड दे वह एक लक्षणा हुए और दूसरे पद का अर्थ धारण करे, वह दूसरी लक्षणा हुइ। इस प्रकार उभयलक्षणा होगी,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह उचित नहीं हैं। (२)जो दूसरे पद का अर्थ (पहले पद के स्थान पर लेना होता हैं वह) की प्रतीति वह पद प्रत्यक्ष आता होने से अभिधा द्वारा ही होती हैं। इसलिए लक्षणा द्वारा उसके अर्थ की प्रतीति की कोई आवश्यकता नहीं हैं। इस प्रकार अजहल्लक्षणा से भी **तत्त्वमसि** का अर्थ नहीं समजाया जा सकता।

इस प्रकार दोनों प्रचलित लक्षणा से **तत्त्वमसि** इस उपदेश वाक्य का अर्थ करने में कठिनाइ होने से वेदान्तसार में उसका अर्थ करने के लिए एक अलग जहल्लक्षणा अथवा भागत्याग लक्षणा का आश्रय लिया गया हैं। **तत्** के अर्थ में दो भाग हैं **परोक्षार्थत्वविशिष्टत्व** और **चैतन्य** तथा **त्वम्** के अर्थ में भी **अपरोक्षार्थत्वविशिष्टत्व** और **चैतन्य** ऐसे दो भाग हैं। **तत्** और **त्वम्** के अर्थो में रहे हुए ये दो भागो में से क्रमशः **परोक्षार्थत्वविशिष्टत्व** और **अपरोक्षार्थत्वविशिष्टत्व** ये भाग ही विरोधी हैं। बाकी का भाग शुद्धचैतन्य दोनो में समान हैं। इसलिए दो विरोधी भागो का त्याग करके और दो समान भागो को रखकर यहाँ लक्षणा हो सकेगी। यहाँ भाग का त्याग करना होने से यह लक्षणा भागत्याग लक्षणा हैं, तो यहाँ एक अर्थांश का त्याग करना हैं **(जहत्)** और दूसरे अर्थांश का त्याग करना नहीं हैं। **(अजहत्)** इसलिए यह जहदजहल्लक्षणा हुई।

इसी अनुसार **सोऽयं देवदत्त** का अर्थ जहदजहल्लक्षणा से होता हैं। **सः तत्कालविशिष्टदेवदत्त** और **अयम् एतत्कालविशिष्ट देवदत्त**। यहाँ **तत्कालविशिष्टत्व** और **एतत्कालविशिष्टत्व** इन विरोधी अर्थांशो का त्याग करके और समान अर्थरुप देवदत्त को रखकर **सः** और **अयम्** का सामानाधिकरण्य सिद्ध होगा। भूतकाल में देखा हुआ और वर्तमानकाल में दिखाई देता देवदत्त एक ही हैं।

अनुभववाक्य का अर्थदर्शन :-

'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य को अनुभववाक्य कहते हैं। शिष्य जब **तत्त्वमसि** वाक्य का उपदेश यथार्थ रुप से ग्रहण करे तब उसको ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति होती हैं, और तब वह **''अहं ब्रह्मास्मि''** ऐसा समजने लगता हैं। इस अनुभूति से चित्तवृत्ति के उपर की प्रक्रिया समजने जैसी हैं।

केवलाद्वैतवेदान्त में जब किसी भी वस्तु का ज्ञान होता हैं तब चित्तवृत्ति दो प्रकार की प्रक्रिया का अनुभव करती हैं। जब हम किसी भी वस्तु का अनुभव करते हैं तब चित्तवृत्ति उस वस्तु के आकार से आकारित हो जाती हैं और उस वस्तु को अपना विषय बनाकर उसके बारे में अज्ञान नष्ट करती हैं। उदा, मनुष्य जब घट को देखता हैं, तब चित्तवृत्ति घटाकार बन जाती हैं और घट को अपना विषय बनाकर उसके बारे में अपना अज्ञान नष्ट करती हैं। इसको कहा जाता हैं **''वृत्तिव्याप्ति''** ये हुए सामान्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते समय हुई **प्रथम प्रक्रिया,** उसके बाद चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसको **''चित्प्रतिबिम्ब''** कहते हैं, वह उस वस्तु को प्रकाशित करती हैं। यह हुई दूसरी प्रक्रिया, इसको कहते हैं - **''फलव्याप्ति''** अथवा **''फलव्याप्यत्व''**।

प्रकाश भी इसी तरह से हमारे पास किसी भी वस्तु को प्रकाशित करता हैं, वह भी दो क्रियायें ही करता हैं, एक तो वस्तु को घिरे हुए और वस्तु को हम से अदृश्य रखते अंधकार को वह दूर करता हैं और वस्तु को हमारे सामने प्रकाशित करता हैं। अद्वैत वेदांतीयों के अनुसार किसी भी वस्तु के सामान्यज्ञानसमय इसी अनुसार होता हैं। परंतु ब्रह्मज्ञान के समय की प्रक्रिया भिन्न हैं। उसमें पहली ही क्रिया बनती हैं, दूसरी क्रिया बनती नहीं हैं। ब्रह्मज्ञान होने से चित्तवृत्ति दूसरी सामान्य वस्तु के ज्ञान की तरह ही ब्रह्म के आकार से आकारित हो जाती हैं और

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञाता को ऐसा अनुभव होता हैं कि, मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परम आनंद स्वरुप, अनन्त, अखंड ब्रह्म हैं। उस समय चित्तवृत्ति ब्रह्म को विषय बनाकर उसके विषय के अज्ञान को नष्ट करती हैं, परंतु उसके बाद सामान्य वस्तु के ज्ञान जैसी प्रक्रिया रहती नहीं हैं। ब्रह्मसंबंधी अज्ञान नष्ट होते ही उस अज्ञान से उत्पन्न सर्व सृष्टि नष्ट हो जाती हैं। जैसे पट के कारण तंतु जल जाने पर पट भी जल ही जाता हैं, वैसा यहाँ होता हैं। संपूर्ण ''सृष्टि'' में अनुभव करनेवाले ज्ञाता या प्रमाता की चित्तवृत्ति भी आ जाती हैं। इसलिए सृष्टि नष्ट होने पर चित्तवृत्ति स्वयं ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिए वह चित्प्रतिबिम्ब द्वारा वस्तु को यहाँ ब्रह्म को प्रकाशित करने का काम करती नहीं हैं। जैसे दीया सामान्य वस्तु को प्रकाश में ला सकता हैं, वैसे चित्प्रतिबिम्ब सामान्य वस्तु को प्रकाशित करता हैं, परंतु दीया सूर्य को प्रकाशित नहीं करता हैं, और उल्टा उससे अभिभूत हो जाता हैं वैसे चित्प्रतिबिम्ब ब्रह्म को प्रकाशित तो करता ही नहीं हैं उल्टा उससे हतप्रभ हो जाता हैं। जैसे दर्पण नष्ट होने से उसमें पडता प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता हैं और मात्र बिम्ब ही रहता हैं वैसे चित्तवृत्ति का नाश होने से प्रतिबिम्ब रहता ही नहीं हैं, केवल बिम्ब ब्रह्म ही रहता हैं। इस प्रकार ''अहं ब्रह्मास्मि'' की अनुभूति होने से ''अहम्'' भी खत्म हो जाता हैं और केवल ब्रह्म ही बाकी रहता हैं।

ब्रह्मज्ञान में चित्तवृत्ति द्वारा ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश होता हैं इसलिए ''वृत्ति व्याप्ति'' होती हैं। उस अर्थ में **मनसैवानुद्रष्टव्यम्** यह श्रुतिवाक्य सत्य हैं। परंतु अज्ञान नष्ट होने के बाद ब्रह्मज्ञान में चित्तवृत्ति का विलय हो जाता होने से ''फलव्याप्यत्व'' होता नहीं हैं। उस अर्थ में **यन्मनसा न मनुते** यह श्रुतिवाक्य सच्चा हैं।

कारण-कार्य-संबंध:- सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद

इस जगत में किसी भी कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना नहीं होती हैं। सृष्टिरुप कार्य भी कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। किसी भी कार्य का कारण मिल जाने के बाद एक प्रश्न उपस्थित होता हैं कि, कार्य की उत्पत्ति में कारण का योगदान कितना हैं ? एक बात तो निश्चित हैं कि, कारण, कार्य से पहले विद्यमान होता हैं और होना ही चाहिए। कार्य से पहले कारण की विद्यमानता तो प्रत्येक दर्शनकार स्वीकार करते हैं। परंतु कारण-कार्य के बीच के संबंध के विषय में दार्शनिको में भिन्न-भिन्न मान्यतायें प्रवर्तित हैं। चार्वाक के मतानुसार कार्य की उत्पत्ति किसी कारण में से होती हैं, ऐसा मानने की जरुरत नहीं हैं। उनके मतानुसार कार्य की उत्पत्ति स्वभावत: ही होती हैं। अन्य दार्शनिक कार्य-कारण के बीच के संबंध को स्वीकार करते हैं और उस संबंध के विषय की चर्चा प्रत्येक दर्शनकारो ने अपने ग्रंथो में भी की हैं।

सामान्यतः कार्य-कारण के संबंधविषयक तीन वाद प्रवर्तित हैं। (१) सत्कार्यवाद, (२) असत्कार्यवाद, (३) सत्-असत् कार्यवाद।

सत्कार्यवाद :- सांख्यदर्शन, योगदर्शन और वेदांतदर्शन सत्कार्यवाद को मानते हैं। सत्कार्यवाद अर्थात् कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण में हंमेशां कार्य विद्यमान् (सत्) होता ही हैं। जब कार्य उत्पन्न होता हैं तब कारण में अप्रगटरुप से रहा हुआ कार्य ही, प्रगटरुप में बाहर आता हैं। (सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद को सांख्यदर्शन के विशेषार्थ में देखें।)

असत्कार्यवाद :- इस मत के पुरस्कर्ता नैयायिक-वैशेषिक और बौद्धदर्शन हैं। असत्कार्यवाद अर्थात् कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण में विद्यमान नहीं होता हैं। (असत्।) परंतु कारण सामग्री के बल से नया ही कार्य उत्पन्न होता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्-असत् कार्यवाद :- जैनदर्शन सत्-असत् कार्यवाद का स्वीकार करता हैं। कार्योत्पत्ति से पहले कारण में कार्य अपेक्षा से विद्यमान (सत्) हैं, और अपेक्षा से अविद्यमान (असत्) हैं। जैसे कि, घटरुप कार्य, घटोत्पत्ति से पहले उसके कारणरुप मिट्टी में मृत्पिडंरुपेण विद्यमान होता हैं और पृथुबुध्नादिआकरविशेषरुपेण (घटाकाररुपेण) अविद्यमान (असत्) होता हैं। घटोत्पत्ति से पूर्व, कार्य मिट्टी में (कारणमें) मृत्पिंडरुपेण विद्यमान होने के कारण ही घटोत्पत्ति के बाद ''यह मिट्टी का घडा हैं'' ऐसा ज्ञान होता हैं और घटाकाररुपेण अविद्यमान होने के कारण ही मिट्टी की अंदर ही ''यह घट हैं'' ऐसा ज्ञान नहीं होता हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, सांख्यदर्शन और वेदांतदर्शन दोनों सत्कार्यवाद के अनुयायी होने पर भी दोनों की मान्यताओं के बीच बहोत अंतर हैं। **सांख्यदर्शन परिणामवादी हैं या विकारवादी हैं, जब कि वेदांतदर्शन विर्वतवादी हैं।**

सांख्यदर्शन के मतानुसार कार्य की उत्पत्ति में कोई नई क्रिया नहीं हुई हैं। परंतु कारण की अवस्था में परिवर्तन होता हैं। अर्थात् कारण स्वयं ही अवस्था बदलकर कार्यरुप में दिखता हैं। मिट्टी (मिट्टीरुप से नष्ट होकर) घटरुप में परिणमित होती हैं- इस मान्यता को परिणामवाद या विकारवाद कहा जाता हैं। **सांख्यदर्शन उपादान में (उपादान कारण में) वास्तविक विकार या परिणाम मानते हैं। क्योंकि, वह नवीनरुप धारण करता हैं।** जो आकार ''असत्'' था वह ''सत्'' हो जाता हैं।

अद्वैतवेदांती कारण के अवस्था परिवर्तन या परिणाम या विकार में नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार अवस्था परिवर्तन भ्रान्ति हैं। **श्रीशंकराचार्य का इस विषय में कथन हैं कि, सांख्य के परिणाम या विकारवाद की मान्यता से सत्कार्यवाद का ही भंग हो जाता हैं। क्योंकि आकार का वास्तविक परिवर्तन तब कहा जा सकता है कि जो ''आकार'' अपनी सत्ता अलग रख सके। आकार तो उपादानरुप द्रव्य की एक अवस्थामात्र हैं, जो उस द्रव्यरुप उपादान से अभिन्न हैं। इसलिए आकार के पृथक् अस्तित्व की कल्पना भी नहीं हो सकती।**

अद्वैतवेदांती अपनी बात स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि, कार्य, कारण में पूर्व ही अवस्थित होता हैं, वह बात सत्य हैं, ऐसा मानना उचित नहीं हैं। क्योंकि, कारण वही सत्य हैं, जो कार्य जैसा लगता हैं, वह कार्य कारण का परिणाम नहीं हैं, परंतु आभास हैं। क्योंकि समग्र विश्व का कारण एकमेव ब्रह्म हैं और ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कुछ सत् ही नहीं हैं। ब्रह्म में से नामरुपात्मक जगत् उत्पन्न होता दिखाई देता हैं, वह आभास हैं, भ्रम हैं, विवर्त हैं। रज्जु में सर्प के विवर्त की तरह ही यहाँ समजना।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, केवलाद्वैत वेदांती पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से ही ''**विवर्तवाद**'' को मानते हैं। वे व्यवहारिक सत्ता का भी स्वीकार करते हैं। और उस तरह के व्यवहार में वे ''**परिणामवाद**'' का स्वीकार करते हैं।[३१०]

---

(३१०) 'परिणामो नाम उपादानसमयसत्ताककार्यापत्तिः, विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताक-कार्यापत्तिः। प्रातिभासिक रजतं चाविद्यापेक्षया परिणाम; चैतन्यापेक्षया विवर्त इति चोच्यते। अविद्यापरिणामरुपं च तद्रज-तमविद्याधिष्ठाने इदमवच्छिन्न-चैतन्ये वर्तते। अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात्॥

जिस कारण से अभिन्नतया (भिन्न न होकर) कार्य उत्पन्न होता हैं, वह, उसका (कार्य का) उपादान कारण कहा जाता हैं। घटरूपकार्य, मृत्तिका से अभिन्न रहकर ही उत्पन्न होता हैं, इसलिए मृत्तिका, घट की उपादान-कारण हैं। जिस कार्य की सत्ता, अपने उपादान-कारण की सत्ता जैसी ही होती हैं, ऐसे कार्य की प्राप्ति होना (कारण का, समसत्ताक कार्य के आकार से पैदा होना) परिणाम हैं। सत्ता त्रिविध (तीन प्रकार की) होती हैं, पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, और प्रातिभासिकी। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी होती हैं। आकाशादि प्रपंच की सत्ता व्यावहारिकी हैं। और शुक्तिरजतादि भ्रान्त पदार्थो की सत्ता, प्रातिभासिकी हैं। **पारमार्थिकी** सत्ता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि, विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक श्रीरामानुजाचार्य जगत को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम समजते हैं। इसलिए उनके मतानुसार ''परिणामवाद'' हैं।

● **विवर्त और विकार के बीच का भेद :-** दोनो के बीच का भेद समजाते हुए वेदांतसार में कहा हैं कि, **''सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः। अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरित :॥''**

वस्तु में सतत्त्वतः अन्यथाभाव आये = परिवर्तन आये (अर्थात् वस्तु का मूल स्वरुप सतत्त्वतः अर्थात् सच्चेसच्चा पूर्णतः) बदल जाये, उसको **विकार** कहा जाता हैं। (जैसे कि, दूध दहीं का रुप प्राप्त करता हैं, तब दूध में आया हुआ परिवर्तन वास्तविक होता हैं।)

अतत्त्वतः वस्तु में अन्यथाभाव आये = परिवर्तन आये (अर्थात् वस्तु का स्वरुप न बदले, परन्तु भ्रान्ति के कारण वस्तु बदली हुए दिखे) उसे **विवर्त** कहा जाता हैं। (जैसे कि रज्जु में सर्प दिखाई देता हैं, वह वास्तविक नहीं हैं, परन्तु भ्रान्तिजन्य प्रतीति हैं। रज्जु के स्वरुप में कोई बदलाव नहीं आता हैं, इसलिए ऐसे भ्रान्तिजन्य परिवर्तन को विवर्त कहा जाता हैं।

नित्य (काल से अनवच्छिन्न) होती हैं। व्यावहारिकी सत्ता केवल स्थितिकाल में (पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व और नाश के अनन्तर नहीं होती) होती हैं। कल्प के आरम्भ से उसके अन्त तक जो काल, उसे व्यवहारकाल कहते हैं, और उस काल में जो सत्ता, उसे **व्यावहारिकी सत्ता** कहते हैं। शुक्ति पर भासित होने वाला रजत, रज्जु पर भासित होनेवाला सर्प, (ये) प्रातिभासिक पदार्थ हैं, इनकी सत्ता उस प्रतिभासकाल में ही रहती हैं। अधिष्ठान के ज्ञान से उसका बाध होता हैं, इसलिए वह **प्रातिभासिकी सत्ता हैं।**

दूध, व्यावहारिक पदार्थ हैं, वह व्यावहारिकी सत्ता से युक्त हैं, उसे दहीं रूप कार्य का आकार प्राप्त होता हैं। उस दही रूप कार्य की सत्ता भी व्यावहारिकी ही होती हैं, इसलिए दूध रूप उपादान कारण से 'दहीं' रूप समसत्ताक कार्य उत्पन्न होता हैं। इसलिये वह दूध का परिणाम हैं। इस लक्षण में कार्य को 'समसत्ताक' विशेषण जोडकर विवर्त में अतिव्याप्ति का वारण किया जाता हैं। अथवा व्यावहारिकी सत्ता से युक्त तन्तुओं को व्यावहारिकी सत्ता से युक्त पटभाव की प्राप्ति होना-परिणाम हैं। इस परिणाम से विवर्त पृथक् हैं। **परिणाम के समान विवर्त भी कार्य हैं।** इसलिये परिणाम का लक्षण कहने के अनन्तर प्रसंग प्राप्त विवर्त का भी लक्षण यहीं पर बताया हैं। विवर्त उसे कहते हैं- **उपादान की सत्ता से जिसकी सत्ता विषम हैं, ऐसे कार्य की उत्पत्ति।** विवर्त में अतिव्याप्ति के वारणार्थ परिणाम के लक्षण में जैसे 'समसत्ताक' विशेषण दिया हैं वैसे ही परिणाम में अतिव्याप्ति के वारणार्थ विवर्त के लक्षण में 'विषम सत्ताक' विशेषण दिया हैं। परन्तु प्रातिभासिक-रजतादिकों में परिणामत्व और विवर्तत्व दोनों धर्म रहते हैं- यह सूचित करने के लिये ही प्रातिभासिक रजत, अविद्या का परिणाम और चैतन्य का विवर्त हैं- ऐसा मूल में कहा हैं। जैसे तन्तु के परिणामरूप पट को तन्तुदेशत्व (जहाँ तन्तु रहते हैं वहीं पर पट रहता हैं) हैं, वैसे ही अविद्या के परिणामरूप शुक्तिरुप्य को अविद्यादेशत्व (जहाँ अविद्या रहती हैं वहाँ वह शुक्तिरजत रहता हैं) हैं। अविद्या, चैतन्यनिष्ठ होती हैं इसलिये शुक्तिरूप्य भी चैतन्यनिष्ठ होता हैं। इस आशय से मूल में अविद्या परिणामरूप शुक्तिरजत, अविद्या के अधिष्ठानरूप इदमवच्छिन्न चैतन्य में रहता हैं--कहा हैं। इस वाक्य से निम्नलिखित आशंका का निरसन किया गया हैं--

शंका--अविद्यापरिणामरूपरजत, अविद्या में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता हैं, तब अविद्या में तादात्म्य सम्बन्ध से रहनेवाले रजत को चैतन्योपादानत्व (चैतन्य, उसका उपादान हैं) नहीं बनता। जब कि चैतन्य में रजत, अविद्यासम्बन्ध से रहता हैं तब 'उसे उपादानविषमसत्ताक कार्यापत्तिरूप विवर्तत्व' कैसे ?

समाधान--अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्याधिष्ठान के आश्रय से रहने के कारण उसे विवर्तत्व हो जाता हैं क्योंकि 'अविद्यापरिणामरूप रजत, अविद्या के अधिष्ठानभूत चैतन्य के आश्रय से रहता हैं' यह नियम हैं। क्योंकि हमारे मत में सभी कार्यो में, उन कार्यो के उपादानभूत अविद्या के अधिष्ठान का आश्रितत्व नियम से रहता हैं। कोई भी कार्य अपने उपादान कारण के अधिष्ठान के आश्रय से रहता हैं। **इसलिए प्रातिभासिक रजत, आविद्या का परिणाम हैं और चैतन्य का विवर्त हैं। अब कोई दोष नहीं हैं।** (वेदांतपरिभाषा- श्रीगजानन शास्त्रीकृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवलाद्वैतवादी श्रीशंकराचार्य ऐसे विवर्तवाद का स्वीकार करते हैं। जब कि विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्य परिणामवाद = विकारवाद को मानते हैं।

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, न्याय-वैशेषिक को मान्य असत्कार्यवाद का नाम आरंभवाद हैं और बौद्धो को मान्य असत्कार्यवाद का नाम प्रतीत्यसमुत्पादवाद हैं। न्याय-वैशेषिको के मतानुसार पहले नहीं थी ऐसी वस्तु का आरंभ होता हैं, इसलिए आरंभवाद के वे पुरस्कर्ता हैं। बौद्ध के मतानुसार कारणरुप वस्तु कार्यरुप वस्तु को जन्म देकर नाश होती हैं। कार्यक्षण (कार्यरुप वस्तु) भी एक ही क्षण रहती हैं और वह अन्यकार्यक्षण को जन्म देकर नाश होती हैं। ऐसी क्षणिक कारण-कार्य की परंपरा नित्य चलती रहती हैं। बौद्धो के इस कार्य-कारणभाव के सिद्धांत को **प्रतीत्यसमुत्पादवाद** कहा जाता हैं। (उसकी विशेष माहीती बौद्धदर्शननिरुपणोत्तर में रहे हुए विशेषार्थ में देखें।) इस विषय की विशेष चर्चा अन्य ग्रंथो से जान लेना। श्रीवाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्व कौमुदी में नौंवी कारिका में इस वाद की विस्तृत चर्चा की हैं।

● **कर्मविचार :-** वेदांत मतानुसार अज्ञान के कारण जीव बंधन में फसाता हैं। बंधनग्रस्त अवस्था में जो कर्म करता हैं, वे पुण्य-पापरुपी फल देनेवाले होते हैं और उसके फलरुप सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। वेदांतमत में कर्म तीन प्रकार के हैं **:** (१)संचितकर्म, (२)प्रारब्ध कर्म, और (३)क्रियमाण कर्म।

(१)संचितकर्म :- पहले किये कर्मो का फल संस्कार रुप में संचित हुआ हो और जो कर्मो के संस्कारो का फल मिलने की शुरुआत हुई न हो, उस कर्मो को संचित कर्म कहे जाते हैं। संचित कर्म पूर्वजन्म में किया हुआ और इस जन्म में भी किया हुआ होता हैं।

(२)प्रारब्ध कर्म :- जिन कर्मो का फल मिलना शुरु हुआ हो वह प्रारब्ध कर्म हैं। हम को प्राप्त हुए जन्म या सुख-दुःख प्रारब्धकर्म का फल हैं। प्रारब्ध कर्म भुगतने ही पडते हैं। भुगतने के बाद ही नाश होते हैं। ज्ञान से प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं होता हैं। इसलिए ही ज्ञान हो जाने के बाद भी प्रारब्ध कर्म को भुगतने के लिए शरीर चालू रहता हैं, वे कर्म भुगत जाने के बाद शरीरपात होता हैं।

(३) क्रियमाण कर्म :- जो कर्म अभी किया जाता हैं, उसको क्रियमाण कर्म कहा जाता हैं। क्रियमाण कर्म संस्कार रूप से एकत्रित हो जाते हैं तब वह संचित कर्म बनते हैं और जब उसका फल मिलने की शुरुआत होती हैं, तब वे प्रारब्ध कर्म बनते हैं।

परंतु जिनको ज्ञान प्राप्त हुआ हैं, वह अपने जीवन के व्यवहार कर्तृत्वबुद्धि से नहीं करता हैं, इसलिए वे कर्म बंधनकर्ता नहीं बनते हैं, उस कर्मो का कोई प्रभाव नहीं रहता हैं। **ज्ञान से संचितकर्म का नाश होता हैं। परन्तु प्रारब्धकर्म का नाश नहीं होता हैं। प्रारब्ध कर्म तो अवश्य भुगतने ही पडते हैं।**

● **वेदांत मत में बद्ध संसारी जीव की तीन अवस्था :-** जीव की तीन अवस्था का निरुपण करते हुए वेदांत परिभाषा में कहा हैं कि, **स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरुपावस्थात्रयवान्। तत्र** (३११)**जाग्रद्दशा नामेन्द्रियजन्यज्ञानावस्था। अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नातिव्याप्तिः। इन्द्रियजन्यज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिः।**

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन जीव की अवस्थाएँ होती हैं। उनमें से प्रथम अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा बाह्यवस्तु का ज्ञान होता हैं। अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान जिस अवस्था में होता हैं, उसे जाग्रदवस्था कहा जाता हैं। स्वप्न

(३११) इन्द्रियवृत्तिकालीनार्थोपलम्भो जागरणम्। (सिद्धांत बिन्दु-८)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों का व्यापार न होने से जाग्रदवस्था का लक्षण उन दों अवस्थाओं में अतिव्याप्त होता नहीं हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान का स्वरुप हैं, अन्तःकरणवृत्ति। अर्थात् अन्तःकरण की तत्तत्पदार्थ के आकार के तुल्य होनेवाली स्थिति।

स्वप्नावस्था का स्वरुप बताते हुए कहा हैं कि, इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था।- इन्द्रियों से अजन्य एवं विषय गोचर, अपरोक्ष अन्तःकरण वृत्ति को स्वप्नावस्था कहते हैं। अर्थात् जिस अवस्था में इन्द्रियों का व्यापार उपरत होता हैं, ऐसा जो प्रातिभासिक विषयगोचर (कल्पित गजादि अधिष्ठानाकार) अपरोक्ष अन्तःकरणावस्था विशेष ही स्वप्नवस्था हैं

सिद्धांतबिन्दु(३१२) ग्रंथ में स्वप्नावस्था का स्वरुप स्पष्ट करते हुए कहा हैं कि,

जाग्रदवस्था कालीन भोगजनक कर्म का क्षय होने पर और स्वप्नावस्था कालीन भोगजनक कर्म का उदय होने पर निद्रा नाम की तामसी वृत्ति द्वारा स्थूलदेहाभिमान दूर होने पर (देवता के अनग्रह के अभाव के कारण) इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, इसलिए जीव स्वप्नावस्था को प्राप्त करता हैं। वहाँ अन्तःकरण गत वासना के निमित्त से इन्द्रियों का व्यापार न होने पर भी अर्थोपलम्भ होता हैं और वही स्वप्नावस्था हैं। उपरांत, वहाँ मन ही गज-तुरगादि अर्थाकार रुप में विवर्तित होता हैं। अविद्या की वृत्ति से गज-तुरगादि अर्थ उपलब्ध न होने पर भी उसकी प्रतीति होती हैं। इसलिए स्वप्न में प्रातिभासिक पदार्थ उपलब्ध होता हैं।

सुषुप्ति अवस्था का स्वरुप बताते हुए कहा हैं कि, **सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराऽविद्यावृत्त्यवस्था। जाग्रत्स्वप्नयोरविद्याकारवृत्तेरन्तःकरणवृत्तित्वान्न तत्रातिव्याप्तिः।**

अविद्याविषयक अविद्या की वृत्ति को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्था में जो अविद्याकारवृत्ति होती हैं, वह अन्तःकरण की वृत्ति हैं (अविद्या की नहीं) अतः इस सुषुप्ति लक्षण की उन दों अवस्थाओं में अतिव्याप्ति नहीं होती। कहने का मतलब यह हैं कि, सुषुप्ति अवस्था में अविद्यावृति का अविद्या (अज्ञान) ही विषय हैं, स्वप्न और जाग्रदवस्था में "मुझे घटज्ञान नहीं हो रहा हैं।" यह वृत्ति, अविद्याविषयक होने पर भी वह अन्तःकरणवृत्ति हैं, अविद्या की नहीं हैं। इस कारण से सुषुप्ति का लक्षण अन्य दों अवस्थाओं में अतिव्याप्त होता नहीं हैं।

सिद्धांत बिन्दु(३१३) में सुषुप्ति अवस्था का स्वरुप स्पष्ट करते हुऐ कहा हैं कि, जाग्रत या स्वप्न अवस्था में भोग्य वस्तु के भोग से बद्ध जीव थक जाता हैं। तब जीव के भोगसंपादक कर्मो का क्षय होने से सुषुप्ति अवस्था में जीव का अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में सूक्ष्म रुप से रहता हैं। ज्ञान नामक वृत्ति का आधार अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में लय पाते हुए बद्ध जीव विश्रामस्थानरुप सुषुप्ति अवस्था में चला जाता हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उन तीन अवस्थाओं का तीन-तीन भेद श्रीशंकराचार्यने सर्ववेदांत-सिद्धांत-सारसंग्रह में बतायें हैं। उसका स्वरुप इस प्रकरण के अन्तिम चरण में समाविष्ट किया हैं।

---

(३१२) जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वाप्नभोगजनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावान्निर्व्यापारतया लीनेषु विश्वोऽपि लीन इत्युच्यते। तदा च स्वप्नावस्था। तत्र अन्तःकरणगतवासनानिमित्त इन्द्रियवृत्त्यभावकालीनोऽर्थोपलम्भः स्वप्नः। (सिद्धान्तबिन्दु-८ टीका) (३१३) एवं जाग्रत्स्वप्नभोगद्वयेन श्रान्तस्य जीवस्य तदुभयकारणकर्मक्षये ज्ञानशक्त्यवच्छिन्नस्य सवासनस्यान्तःकरणस्य कारणात्मनाऽवस्थाने सति विश्रामस्थानं सुषुप्त्यवस्था (सिद्धान्तबिन्दु-८ टीका)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब यहाँ पर सिद्धान्तबिन्दु में जो सुषुप्ति के स्वरुप के विषय में विस्तृत समीक्षा की हैं, उसको बताई जाती हैं। उससे वेदांत के अनेकविध विषयो का स्वरुप स्पष्ट हो जायेगा।

सुषुप्ति के विषय में समीक्षा:-

बद्ध अर्थात् संसारी जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था में होता है। जाग्रत् काल में और स्वप्न काल में भोग्य वस्तु के भोग से बद्ध जीव थक जाता हैं। ये दों अवस्थाओं में से जीव के भोगसंपादक कर्मो का क्षय होने से सुषुप्तिकाल में जीव का अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में सूक्ष्म रुप से रहता हैं। ज्ञान के नाम से पहचानी जाती वृत्ति का आधार अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में लय पाते हुए बद्ध जीव विश्रामस्थानरुप सुषुप्ति अवस्था में चला जाता हैं। थके हुए जीव के लिए सुषुप्ति अवस्था विश्रामस्थान हैं।(३१४) **ज्ञानशक्ति का आधार अन्तःकरण हैं और क्रियाशक्ति का आधार प्राण हैं।(३१५) ये दोनों बद्ध जीव की उपाधि हैं। सुषुप्ति अवस्था में क्रियाशक्ति का आधार ऐसी प्राणरुप उपाधि का लय होता नहीं हैं जब ज्ञानशक्ति का आधार ऐसा अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में लय पा लेता हैं।** सुषुप्तिदशा में केवल अन्तःकरण का ही लय होता हैं, ऐसा नहीं हैं। स्थूलशरीर का भी लय हो जाता हैं इसका वर्णन उपनिषद् में हैं। इसी तरह से प्राण का लय भी उपनिषद् में कहा गया हैं। स्थूल दृष्टि से हम सुप्त पुरुष के स्थूलशरीर का और उस शरीरगत प्राणक्रिया का अनुभव करते होने से हमको मन में होता हैं कि, सुप्त पुरुष के स्थूल शरीर का और प्राण का लय होता नहीं हैं। परंतु वस्तुतः सुप्त पुरुष की दृष्टि से तो स्थूलशरीर इत्यादि का भी लय हो जाता हैं। अन्य पुरुष अपने अज्ञानवश ही सुप्तपुरुष के शरीर इत्यादि को देखता हैं। वस्तुतः सुप्त पुरुष के शरीर इत्यादि अपने कारण अविद्या में लय पा जाते हैं। ऐसी बात उपनिषद् में कही गई हैं। फिर भी स्थूलदर्शी जनो के अनुभव का अनुसरण करके श्रीमधुसूदन सरस्वती सुप्तपुरुष के अन्तःकरण का ही लय होता हैं, ऐसा कहते हैं। जो हो वह, सुप्तपुरुष को स्थूल और सूक्ष्म शरीर का ज्ञान न होने से स्थूल और सूक्ष्म शरीर की अनुपलब्धि होती हैं और केवल कारणशरीर अविद्यामात्र की उपलब्धि उसकी सुषुप्तिकाल में होती हैं। **स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन त्रिविध शरीरो में से केवल कारण शरीर की उपलब्धि सुषुप्तिकाल में होती हैं।(३१६) जाग्रत्काल में तीनो शरीर की उपलब्धि होती हैं।**

स्वप्नदशा में स्थूल शरीर की उपलब्धि होती नहीं हैं। जाग्रद्भोगजनक कर्म का क्षय होने से और स्वप्नभोगप्रद कर्म का उदय होने से निद्रा नाम की तामसी वृत्ति उत्पन्न होती हैं और उस तामसी वृत्ति द्वारा स्थूलदेह का अभिमान दूर होता हैं, उस वक्त चक्षु इत्यादि सभी इन्द्रियाँ, जो इन्द्रियाँ जाग्रत् काल में उसके अनुग्राहक देवताओ के द्वारा अनुग्रह पाकर सव्यापार थी वह, अपने अपने देवता के अनुग्रह के अभाव के कारण निर्व्यापार होकर लय पाती हैं। वह स्वप्नकाल में इन्द्रियव्यापार न होने से अन्तःकरणगत वासना के वश से इन्द्रियव्यापार का अभाव होने पर भी विषय की उपलब्धि होती हैं। इन्द्रियव्यापाराभावकालीन अन्तःकरणवासनानिमित्तक अर्थोपलब्धि ही स्वप्न हैं। इस समय में मन ही स्वप्नगज, स्वप्न तुरग इत्यादि रुप से परिणत होता है और अविद्यावृत्ति द्वारा स्वप्नगज, स्वप्नतुरग आदि ज्ञात होते है – ऐसी बात कोई कोई आचार्य स्वीकारते है। परन्तु कोई कोई आचार्य कहते है कि,

(३१४) जाग्रत्स्वप्नभोगद्वयेन श्रान्तस्य जीवस्य तदुभयकारणकर्मक्षये ज्ञानशक्त्यवच्छिन्नस्य सवासनास्यान्तःकरणस्य कारणात्मनावस्थाने सति विश्रामस्थानं सुषुप्त्यवस्था। सिद्धान्तबिन्दु, राजेन्द्रनाथ घोष सं., पृ. ४१६-४१७ (३१५) तस्य च ज्ञानशक्तिप्रधानांशोऽन्तःकरणम् ।... क्रियाशक्तिप्रधानांशः प्राणः । सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ३७९ (३१६) न किञ्चिदवेदिषमिति कारणमात्रोपलम्भः सुषुप्तिः । सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१७

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्नगज इत्यादि आकार में मन परिणत होता नहीं हैं, परंतु अविद्या ही शुक्ति-रजत इत्यादि की तरह स्वप्नगज, स्वप्नतुरग इत्यादि अर्थाकार में परिणत होता हैं और अविद्यावृत्ति द्वारा ही स्वप्नपदार्थ ज्ञात होता हैं। इन दोनों पक्ष में से दूसरा पक्ष ही संगत हैं। सर्वत्र अविद्या ही अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास के उपादान रुप में स्वीकृत होने से मन को स्वप्नाध्यास का उपादान गिनने की जरुरत नहीं हैं। समस्त अध्यास में मनोगत वासना निमित्तकारण होने से, कोई कोई स्थान पे स्वप्नप्रपंच को मन का परिणाम कहा गया हैं। वस्तुतः उपादान अविद्या ही संगत होती हैं। मनोगत वासना से जन्य होने से ही स्वप्नपदार्थ को मन का परिणाम कहा गया हैं, वास्तव में तो वह मन का परिणाम नहीं हैं।[(३१७)]

इस स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान क्या हैं ?- ऐसे प्रश्न के उत्तर में आचार्यो का मतभेद दिखाई देता हैं। कोई आचार्य कहते हैं कि, मन से अवच्छिन्न जीवचैतन्य ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हैं। किसी आचार्य के मतानुसार मूलाज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हैं। दोनों पक्ष संगत हैं।

प्रथम पक्ष में माननेवाले कहते हैं कि, मूलाज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान नहीं हो सकता क्योंकि जाग्रद्बोध द्वारा स्वप्नभ्रम की निवृत्ति अवश्य स्वीकार्य हैं। परंतु यदि ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हो तो संसारदशा में ब्रह्मज्ञान संभवित न होने से स्वप्नभ्रम की निवृत्ति जाग्रत्काल में भी नहीं हो सकेगी। यदि स्वप्नभ्रम की निवृत्ति के लिए जाग्रत्काल में स्वप्नभ्रम के अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान स्वीकार किया जाये तो स्वप्नभ्रम के साथ समस्त भ्रम की निवृत्ति हो जाये और परिणामस्वरुप तुरंत ही मोक्ष हो जाने की आपत्ति आयेगी। इस प्रकार ब्रह्म को स्वप्नभ्रम का अधिष्ठान स्वीकार करने से जाग्रद्बोध द्वारा स्वप्नभ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। **स्वप्नाध्यास में जीव कर्ता हैं, ऐसा श्रुति कहती हैं। "स हि कर्ता" (बृहदारण्यक उपनिषद् ४-३-९)** ऐसा श्रुति में कहा हैं। इसलिए स्वप्नाध्यास में अधिष्ठान जीवचैतन्य हैं। मूलाज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हो तो स्वप्नप्रपंच भी आकाशादि व्यावहारिक प्रपंच की तरह सर्वजनसाधारण हो जाये, और तत्तत्पुरुषवेद्यत्व असाधारणत्व स्वप्नप्रपंच में नहीं हो सकेगा। स्वप्नप्रपंच का ज्ञान स्वप्नद्रष्टा पुरुष को ही होता हैं। जब कि, आकाशादि व्यावहारिक प्रपंच का ज्ञान सर्व जनो को होता हैं। आकाशादि व्यावहारिक प्रपंचाध्यास का अधिष्ठान मूलाज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य हैं। इसलिए व्यावहारिक वस्तु में सर्वजनसाधारण्य हैं, जब कि, स्वप्नप्रपंच में वह न होने से असाधारण्य हैं।[(३१८)]

यहाँ किसीको शंका होगी कि तत्तत्जीवचैतन्य तत्तत्जीव के आगे अनावृत्त होने से सर्वदा भासमान होता हैं। इसलिए सर्वदा भासमान जीवचैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान किस तरह से बन सकेगा ? भासमान शुक्ति रजताध्यास का अधिष्ठान नहीं बन सकती। अज्ञान से आवृत्त शुक्त्यादि ही रजतादि के अध्यास का अधिष्ठान बनती

(३१७) जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वप्नभोगजनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावान्निर्व्यापारतया लीनेषु विश्वोऽपि लीन इत्युच्यते। तदा स्वप्नावस्था। तत्र चान्तःकरणगतवासनानिमित्तः इन्द्रियवृत्त्यभावकालीनोऽर्थोपलम्भः स्वप्नः। तत्र मन एव गजतुरगाद्यर्थाकारेण विवर्तते अविद्यावृत्त्या च ज्ञायते इति केचित्। अविद्यैव शुक्तिरजतादिवत् स्वप्नार्थाकारेण परिणमते ज्ञायते चाविद्यावृत्त्येत्यन्ये। कः पक्षः श्रेयान् ? उत्तरः। अविद्याया एव सर्वत्रार्थाध्यासज्ञानाध्यासोपादानत्वेन क्लृप्तत्वात् मनोगतवासनानिमित्तत्वेन च क्वचिन्मनःपरिणामत्वव्यपदेशात्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ.४००-४०२ **(३१८)** किमधिष्ठानं स्वप्नाध्यासस्य ? मनोऽवच्छिन्नं जीवचैतन्यमित्येके। मूलाज्ञानावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमित्यपरे। किं श्रेयः। मतभेदेनोभयमपि। तथाहि जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमनिवृत्त्यभ्युपगमादधिष्ठानज्ञानादेव च भ्रमनिवृत्तेर्ब्रह्मचैतन्यस्य चाधिष्ठानत्वे संसारदशायां तज्ज्ञानाभावात् ज्ञाने वा सर्वद्वैतनिवृत्तेर्न जाग्रद्बोधात् स्वप्ननिवृत्तिः स्यात्। 'स हि कर्ता' इति च जीवकर्तृकत्वश्रुतेः आकाशादिप्रपञ्चवत् सर्वसाधारण्यापत्तेश्च न मूलाज्ञानावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमधिष्ठानम्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ.४०३-४०५

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। तत्तत्जीवचैतन्य भी तत्तत्जीव के आगे अज्ञान से आवृत हो तो जगद्आन्ध्य की आपत्ति आयेगी।[३१९]

इस शंका के समाधान में जीवचैतन्याधिष्ठानवादी कहते हैं कि, पूर्वपक्षी की बात सत्य हैं, तो भी स्वप्नाध्यासदशा में व्यावहारिक वस्तुओं का प्रकाश नहीं होता हैं इसलिए व्यावहारिक वस्तुओ के भान का विरोधी तथा स्वप्नाध्यास को अनुकूल ऐसा अवस्थाअज्ञान स्वीकार किया गया हैं।

इसलिए, स्वप्नदशा में ''मैं मनुष्य हूँ'' ऐसी जो प्रतीति होती हैं उस प्रतीति का विषय व्यावहारिक नहीं हैं, परन्तु प्रातीतिक हैं। व्यावहारिक वस्तु से भिन्न प्रातीतिक वस्तु ही स्वप्नदशा में होती ''मैं मनुष्य हुँ'' इत्यादि प्रतीति में भासित होती हैं। इसका फलितार्थ यह हैं- स्वप्नदशा में कोई कोई व्यावहारिक वस्तु भासित होती हैं ऐसा मन में लगता होने पर भी स्वप्न ज्ञान का विषय वास्तव में व्यावहारिक नहीं होता हैं। स्वप्नप्रपंचगत वस्तु व्यावहारिक वस्तुओ से अत्यन्त भिन्न हैं, प्रातीतिक हैं, और अवस्थाअज्ञान उसका उपादानकारण हैं। स्वप्नदशा में स्वप्नद्रष्टा ऐसा स्वप्न देखता हैं कि ''में शय्यामें सो रहा हुँ'' अर्थात् वस्तुतः शय्या में सोते सोते स्वप्नद्रष्टा ऐसा स्वप्न देखता हैं, फिर भी व्यावहारिक यथार्थ शय्या स्वप्नकाल में स्वप्नद्रष्टा के दर्शन का विषय नहीं हैं। व्यावहारिक यथार्थ शय्या का ज्ञान होने के लिए आवश्यक कारणसामग्री स्वप्नकाल में नहीं होती हैं। स्वप्नकाल में समस्त इन्द्रियाँ व्यापाररहित होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों का लय हो गया होता हैं। इसलिए प्रातिभासिक ऐसी दूसरी शय्या ही स्वप्नद्रष्टा के ज्ञान का विषय बनती हैं। जाग्रत्काल में ''मैं मनुष्य हूँ'' ऐसी जो प्रतीति होती हैं उस प्रतीति की कारणसामग्री स्वप्नकाल में न होने से स्वप्न काल में ''मैं मनुष्य हूँ'' ऐसी जो प्रतीति होती हैं उसका विषय प्रातिभासिक वस्तु हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिए। स्वप्नदशा में जैसे व्यावहारिक शय्यादि के प्रत्यक्ष की कारण सामग्री नहीं होती हैं, वैसे व्यावहारिक मनुष्यशरीरादि के प्रत्यक्ष की कारणसामग्री भी नहीं होती हैं। इन्द्रिय, सन्निकर्ष इत्यादि ही व्यावहारिक वस्तु के प्रत्यक्ष की कारणसामग्री हैं।[३२०]

जीवचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान माना जाये तो जाग्रद्दशा में होता ''मैं मनुष्य हुँ'' इत्यादि व्यावहारिक वस्तुओं का ज्ञान ही स्वप्नाध्यास का निवर्तक बनता हैं, ऐसा कहना चाहिए। परंतु उसमें नीचे बताये अनुसार आपत्ति आती हैं – स्वप्नाध्यास का उपादान अवस्थाअज्ञान हैं। प्रमाणजन्य ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक बनता हैं। प्रमा ही अज्ञान की विरोधी हैं। प्रमाणाजन्य ज्ञान अज्ञान का नाशक नहीं होता हैं। प्रमाणाजन्य ज्ञान प्रमा नहीं हैं। अप्रमा अज्ञान की नाशक नहीं बन सकती हैं। जागद्दशा में ''मैं मनुष्य हुँ'' इत्यादि व्यावहारिक वस्तुओं का ज्ञान प्रमाणजन्य नहीं हैं। इसलिए वह ज्ञान प्रमा भी नहीं हैं। अप्रमारुप ज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं बनता हैं। इस प्रकार जाग्रद्दशा में स्वप्नाध्यास के उपादान अवस्थाअज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती होने से जाग्रददशा में स्वप्नाध्यास चालू रहे ऐसी आपत्ति आयेगी।

इस आपत्ति के समाधान में नीचे बताये अनुसार कहा जाता हैं – स्वप्नावस्था से जाग्रदवस्था भिन्न हैं इसलिए स्वप्नावस्था के बाद जब जाग्रदवस्था की उत्पत्ति हो तब यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि पूर्वावस्था का बाध होने के बाद ही उत्तरावस्था की उत्पत्ति होती हैं। स्वप्नावस्था अबाधितरुप में हो तो जाग्रदवस्था की उत्पत्ति नहीं हो सकती। और स्वप्नावस्था के बाद जाग्रदवस्था की उत्पत्ति सर्वानुभवसिद्ध हैं। जाग्रदवस्था की उत्पत्ति

(३१९) ननु जीवचैतन्यस्यानावृतत्वेन सर्वदा भासमानत्वात् कथमधिष्ठानत्वम्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ.४०५ (३२०) सत्यम्। तत्रापि स्वप्नाध्यासानुकूलव्यावहारिकसंघातज्ञानविरोध्यवस्थाऽज्ञानाभ्युपगमात्। स्वप्नदशायां चाहं मनुष्य इत्यादिप्रातीतिक-संघातान्तरज्ञानाभ्युपगमात्। 'शय्यायां स्वपिमि' इति शय्यान्तरज्ञानवत्। ज्ञानसामग्र्यभावश्च तुल्य एव। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४०५-४०६

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्नावस्था के बाध बिना नहीं हो सकती होने से जाग्रददशा में होता ''मैं मनुष्य हुँ'' इत्यादि व्यावहारिक वस्तुओं का ज्ञान प्रमाणाजन्य होने पर भी अर्थात् अप्रमा होने पर भी स्वप्नाध्यास का उपादान अवस्थाअज्ञान का बाधक बनता हैं। ऐसी कल्पना अवश्य करनी चाहिए। अर्थात् अप्रमाज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति की कल्पना करनी चाहिए। वैसा न करे तो स्वप्नावस्था के बाद जाग्रदवस्था की उत्पत्ति हो ही नहीं सकेगी। अन्यथानुपपत्ति सर्व की अपेक्षा से बलवती हैं। प्रमाणाजन्य ज्ञान द्वारा अवस्थाअज्ञान की निवृत्ति का स्वीकार न करे तो जाग्रदवस्था की उत्पत्ति संगत ही नहीं होगी।(३२१)

जाग्रददशा में ''मैं मनुष्य हुँ'' इत्यादि ज्ञान प्रमाणाजन्य कहा गया हैं। अद्वैतवेदांत में विवरणाचार्य इत्यादि के मत में मन प्रमाण नहीं हैं। भामतीकार मन को इन्द्रिय के रुप में स्वीकार करते हैं परंतु विवरणाचार्य इत्यादि मन को इन्द्रिय के रुप में स्वीकार नहीं करते हैं। मन प्रत्यक्ष का कारण नहीं हैं इसलिए विवरणाचार्य इत्यादि मानस प्रत्यक्ष का स्वीकार नहीं करते हैं। मानस प्रत्यक्ष जिसको माना जाता हैं वे सभी साक्षिप्रत्यक्ष हैं। यह साक्षिप्रत्यक्ष प्रमाणजन्य नहीं हैं। इसलिए वह प्रमा भी नहीं हैं। इस कारण से साक्षिप्रत्यक्ष में अज्ञाननिवर्तकता नहीं हैं। साक्षिप्रत्यक्ष अज्ञान का निवर्तक न होने के कारण प्रमा नहीं हैं फिर भी वह किसी स्थान पे यथार्थविषयक होता हैं। उसका उदाहरण हैं, सुखादिविषयक साक्षिप्रत्यक्ष। सुखादिविषयक साक्षिप्रत्यक्ष सुखादिविषयक अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता। इसलिए सुखादिविषयक साक्षिप्रत्यक्ष प्रमा नहीं हैं, परंतु प्रमा न होने पर भी वह यथार्थविषयक तो हैं। साक्षिभास्य सुखादिविषयक अज्ञान अप्रसिद्ध हैं। शुक्तिरजतादिप्रत्यक्ष भी साक्षिप्रत्यक्ष हैं। वह भी अज्ञान का अनिवर्तक हैं। इसलिए उभय प्रत्यक्ष अप्रमा हैं। ये दोनों प्रत्यक्ष अप्रमा होने पर भी सुखादिविषयक साक्षिप्रत्यक्ष यथार्थविषयक हैं, जब कि, शुक्तिरजतादिविषयक साक्षिप्रत्यक्ष अयथार्थविषयक हैं। सुखादिविषयक साक्षिप्रत्यक्ष यथार्थविषयक होने के कारण किसी किसी स्थान पे उसको प्रमा भी कहा गया हैं।

वस्तुत: सुखादिप्रत्यक्ष प्रमा नहीं हो सकता, क्योंकि वह अज्ञान का अनिवर्तक हैं और प्रमाणाजन्य हैं। विषय बाधित होता न होने के कारण ही सुखादि प्रत्यक्ष को यथार्थविषयक कहा जाता हैं। शुक्तिरजतादिप्रत्यक्ष नियत बाधितविषयक होने से उसको सर्वत्र अप्रमा कहा गया हैं। विवरणाचार्य इत्यादि का अभिप्राय यही हैं। ''मैं मनुष्य हुँ'' इत्यादि ज्ञान प्रमाणाजन्य होने से प्रमा नहीं हैं अर्थात् अप्रमा हैं। इसलिए वह अज्ञान का निवर्तक अर्थात् बाधक नहीं बन सकता हैं। अप्रमा ज्ञान को भी अज्ञान के बाधक के रुप में स्वीकार किया जाये तो सौषुप्त ज्ञान भी स्वप्नबाधक हो जायेगा। सुषुप्ति दशा में अविद्यावृत्तिरुप अप्रमा ज्ञान होता हैं और उस अविद्यावृत्तिरुप अप्रमाज्ञान द्वारा स्वप्नाध्यास का उपादान अवस्थाअज्ञान का बाधित होगा। जैसे जाग्रद्दशा में ''मैं'' ऐसा अप्रमाज्ञान स्वप्नाध्यास के उपादान अवस्थाअज्ञान का बाधक होता हैं, वैसे सुषुप्तिकाल में भी अप्रमाज्ञान द्वारा स्वप्नाध्यास का उपादान अवस्थाअज्ञान का बाध हो जायेगा। सुषुप्ति में भी ''मैं'' ऐसे आकार की अविद्यावृत्ति होती हैं ऐसा सोचकर यह आपत्ति दी गई हैं। जैसे जाग्रतकाल में ''मैं'' ऐसे आकार की वृत्ति उत्पन्न होकर स्वप्नाध्यास के उपादान अवस्थाअज्ञान को दूर करती हैं, वैसे सुषुप्ति काल में भी ''मैं'' ऐसे आकार की वृत्ति उत्पन्न होती होने से स्वप्नाध्यास के उपादान अवस्थाअज्ञान की निवृत्ति होगी। परन्तु ऐसा होता नहीं हैं। क्यों ? क्योंकि ''मैं'' ऐसे आकार की वृत्ति प्रमाणाजन्य अविद्यावृत्ति हैं। इसलिए सुषुप्ति में ''मैं'' ऐसे आकार की वृत्ति से स्वप्नाध्यास के

(३२१) ननु 'अहं मनुष्यः' इत्यादिव्यावहारिकसंघातज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वात् कथमज्ञाननिवर्तकता ? अवस्थान्तरान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पने सुषुप्तावपि स्वप्नबाधकज्ञानमास्थीयेत। सिद्धान्तबिन्दु, पृ.४०७-४०८

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपादान अवस्था अज्ञान की बाधा नहीं होती हैं। यदि बाधा मानी जाये तो सुषुप्ति जाग्रद्दशारुप बन जाने की आपत्ति आयेगी, किस तरह से ? सुषुप्तिदशा में स्वप्नाध्यास का उपादान अवस्थाअज्ञान बाधित हो गया होने से नहीं है अर्थात् स्वप्न भी नहीं हैं। और जाग्रतकालीन ''मैं'' ऐसे आकार की वृत्ति की तरह सुषुप्तिदशा में भी ''मैं'' ऐसे आकार की वृत्ति होती हैं, इसलिए सुषुप्ति जाग्रद्दशारुप बन जाने की आपत्ति आ जायेगी।(३२२)

इसके उत्तर में कहना चाहिए कि, सुषुप्ति में 'अहमाकार' वृत्ति होती ही नहीं हैं। इसलिए स्वप्नाध्यास के उपादान अवस्था अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती हैं। स्वप्नावस्था में जो अज्ञान था, सुषुप्ति में भी वही अज्ञान होता हैं। स्वप्नावस्था में अंतःकरण का लय नहीं होता हैं, जब कि, सुषुप्ति में उसका लय होता हैं। यही स्वप्न और सुषुप्ति के बीच का भेद हैं। इसलिए अन्तःकरण के लय सहित का स्वप्नाध्यास का उपादानभूत अज्ञान ही सुषुप्ति हैं। इस प्रकार सुषुप्तिकाल में स्वप्नाध्यास के उपादान अज्ञान का बाध नहीं होता हैं, परन्तु जाग्रतकाल में स्वप्नाध्यास के उपादान अज्ञान का बाध होता हैं। इसलिए स्वप्न का भी बाध होता हैं। ''मैंने मिथ्या स्वप्न देखा'' ऐसा बाध सर्वानुभवसिद्ध हैं। जाग्रददशा में प्रमाणाजन्य 'अहमाकार' ज्ञान द्वारा भी स्वप्नाध्यास के उपादान अज्ञान का नाश स्वीकार करना चाहिए। 'अहम् (मैं)' ऐसा ज्ञान प्रमाणाजन्य होने पर भी सुखादिविषयक ज्ञान की तरह यथार्थ अर्थात् अबाधित विषयक हैं। जाग्रतकाल में होती अहमाकार वृत्ति प्रमाणाजन्य होने पर भी जाग्रतकाल में शरीरादि का चक्षुरादिप्रमाणजन्य ज्ञान होता होने से अवस्थाअज्ञान का नाशक बन सकता हैं। स्वप्नाध्यास का उपादान हैं अवस्थाअज्ञान। इस अवस्थाअज्ञान को सामान्याज्ञान कहा जाता हैं। नानाविषयावच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान को ही सामान्याज्ञान कहा जाता हैं। यह सामान्याज्ञान ही अवस्थाअज्ञान हैं। स्वप्नदशा में व्यावहारिक शरीरादि अनेक विषयो से अवच्छिन्न ऐसे चैतन्य विषय का अज्ञान होता हैं। यह अवस्थाअज्ञान या सामान्याज्ञान प्रमाणजन्य वृत्ति के बिना भी केवल यथार्थज्ञान के द्वारा निवृत्त होता हैं। और इस कारण से अहमाकार अविद्यावृत्ति प्रमाणजन्य न होने पर भी यथार्थज्ञान होने से अर्थात् अबाधित विषयकज्ञान होने से सामान्यज्ञान की निवर्तक बन सकती हैं। परंतु विशेषाज्ञान प्रमाणजन्य वृत्ति के बिना निवृत्त नहीं होता हैं। ''घटको मैं जानता नहीं हुं'' ऐसे अनुभव में आते अज्ञान को ही विशेषाज्ञान कहा जाता हैं। कुछ खास विशेष विषय द्वारा निरुपति अज्ञान को ही विशेषाज्ञान कहा जाता हैं। केवल एक-एक विषय का अज्ञान ही विशेषाज्ञान हैं। यह विशेषाज्ञान प्रमाणजन्य वृत्ति से ही निवृत्त होता हैं।

यहाँ आपत्ति यह दी जाती हैं कि, प्रमाणाजन्य वृत्ति भी यदि अज्ञान की निवर्तक हो सकती हो तो साक्षिज्ञान भी अर्थात् अज्ञान का साक्षिरुप ज्ञान भी अज्ञान का निवर्तक होगा, और तब तो किसी भी स्थान पे अज्ञान सिद्ध ही नहीं होगा।(३२३)

इसके उत्तर में कहना चाहिए कि, साक्षी ही अज्ञान का साधक हैं। यदि साक्षी अज्ञान का साधक न हो तो साक्षी की ही सिद्धि नहीं होगी। अज्ञान की सिद्धि के लिए ही अद्वैतवेदान्ती साक्षी का स्वीकार करते हैं। अज्ञान के साधकत्वरुप में ही साक्षिरुप धर्मी सिद्ध हुआ हैं। अज्ञान प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए ही अज्ञानसाधक

---

(३२२) तच्चानिष्टम् जाग्रत्त्वापत्तेरिति चेत्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ.४०८ (३२३) स्वप्नावस्थाऽज्ञानस्यैवान्तःकरणलयसहितस्य सुषुप्तिरूपत्वान्न तत्र तद्बाधः ! जागरणे तु मिथ्यैव स्वप्नोऽभादित्यनुभवादहमिति ज्ञानस्य प्रमाणाजन्यत्वेऽपि यथार्थत्वाच्छरीरादिज्ञानस्य च प्रमाणजन्यत्वाद् अवस्थाऽज्ञानविरोधित्वमनुभवसिद्धम्। विशेषाज्ञानं तु न प्रमाणजन्यवृत्तिमन्तरेण निवर्तते। सिद्धान्तबिन्दु, पृ.४१०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षी का स्वीकार किया गया हैं। इसलिए ही साक्षी कभी अज्ञान का बाधक बनेगा ही नहीं। साक्षी अज्ञान का बाधक हो तो अज्ञान ही सिद्ध नहीं होता हैं। अज्ञान सिद्ध न होने से अज्ञान का साधक साक्षी भी सिद्ध नहीं होगा। इसलिए साक्षी को अज्ञान का बाधक स्वीकार करने से साक्षी स्वयं ही असिद्ध हो जायेगा।[३२४]

यहाँ आपत्ति यह आयेगी कि, स्वप्नाध्यास का उपादान अवस्थाअज्ञान जाग्रत्‌कालीन ज्ञान द्वारा बाधित होने पर पुनः उसी पुरुष को स्वप्न नहीं आना चाहिए, क्योंकि स्वप्नाध्यास का उपादान अवस्थाअज्ञान जाग्रतकालीन ज्ञान द्वारा निवृत्त हो गया हैं। ऐसी आपत्ति असंगत हैं, क्योंकि शुक्तिज्ञान द्वारा अध्यस्त रजत का उपादान एक बार शुक्तिसाक्षात्कार द्वारा निवृत्त हो गया, तो फिर पुनः उसी पुरुष को रजताध्यास कैसे होगा ? ऐसी आपत्ति भी हो सकेगी। यदि पूर्वपक्षी कहे कि, हाँ, ऐसी आपत्ति भी आ सकती हैं, तो उत्तर में कहना चाहिए कि, ऐसी आपत्ति के निराकरण के लिए ही इष्टसिद्धिकार एकविषयक अज्ञान का भी बहुत्व स्वीकार करते हैं। एक विषय में जितने ज्ञान होते हैं उसी विषय में अज्ञान भी उतने ही होगे, अज्ञान ज्ञान के समसंख्यक हैं। और यही इष्टसिद्धिकार का मत हैं। इसलिए ही उन्हों ने कहा हैं कि, **''यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति अज्ञानानि'' (इष्टसिद्धि पृ.६७-६८)** अद्वैतवेदांती नित्य प्रमा का स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मतानुसार ईश्वर का ज्ञान भी नित्य नहीं हैं और प्रमा भी नहीं हैं। ईश्वर का ज्ञान मायावृत्तिरुप हैं। इस मायावृत्तिरुप ईश्वर का ज्ञान अबाधितविषयक होने से यथार्थ हैं। यथार्थता के कारण ही ईश्वर के ज्ञान को किसी स्थान पे प्रमा कहा गया हैं, परन्तु वास्तव में वह प्रमा नहीं हैं। ईश्वर का ज्ञान हमारे सुखादिज्ञानों की तरह अबाधितविषयक होने से यथार्थ हैं। जो हो वह निष्कर्ष यह हैं कि, जीवचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानने में कोई दोष नहीं आता हैं।[३२५]

ब्रह्मचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानने से भी कोई दोष नहीं आता हैं। मूलाज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हैं और ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा ही स्वप्नाध्यास का उपादान मूलाज्ञान निवृत्त होता हैं। अन्यथा निवृत्त नहीं होता हैं। फिर भी, जैसे रज्जु में सर्प के भ्रम के बाद रज्जु में दंड का भ्रम होने से दंडभ्रम द्वारा सर्पभ्रम का केवल तिरोधान होता हैं (निवृत्ति नहीं), वैसे स्वप्नभ्रम के अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान न होने पर भी जाग्रद्‌भ्रम द्वारा स्वप्नभ्रम का तिरोधान हो सकता हैं (निवृत्ति नहीं)। इसलिए ब्रह्मचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानने से कोई दोष नहीं आता हैं।[३२६]

यदि कहा जाये कि, ब्रह्माधिष्ठानक व्यावहारिक प्रपंच जैसे सर्वसाधारण हैं, वैसे स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान भी ब्रह्म होने से स्वप्नप्रपंच भी सर्वसाधारण हो जायेगा। परन्तु स्वप्नप्रपंच साधारण नहीं हैं। वह तो तत्तत्‌पुरुषवेद्य होने से असाधारण हैं। इसलिए स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य स्वीकार करने से असाधारण स्वप्नप्रपंच साधारण बन जाने की आपत्ति आयेगी।

इसके समाधान में कहना चाहिए कि, प्रत्येक जीव की मनोगत वासना स्वप्नाध्यास का असाधारण कारण होने से मनोगत वासना के असाधारणत्व के कारण स्वप्नाध्यास का असाधारणत्व सुरक्षित रहता हैं।

---

(३२४) साक्षिणश्चाविद्यानिवर्तकत्वाभाव अज्ञानसाधकत्वेनैव धर्मिग्राहकमानसिद्ध इति । सिद्धान्तबिन्दु, पृ.४११

(३२५) यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति चाभ्युपगमात्‌ शुक्तिज्ञानेनेव व्यावहारिकसंघातज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावपि पुनरपि कदाचिद्‌ रजतभ्रमवन्न स्वप्नाध्यासानुपपत्तिरिति जीवचैतन्यमेवाधिष्ठानमिति पक्षे न कोऽपि दोषः । सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४११-४१२

(३२६) यदा तु पुनर्ब्रह्मज्ञानदेवाज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमः तदा रज्ज्वां दण्डभ्रमेण सर्पभ्रमतिरोधानादधिष्ठानज्ञानाभावेऽपि जाग्रद्‌भ्रमेण स्वप्नभ्रमतिरो-भावोपपत्तेः ब्रह्मचैतन्यमेव स्वप्नाध्यासाधिष्ठानमिति पक्षेऽपि न कश्चिद दोषः । सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१२

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतदीपिकाकार श्रीनृसिंहाश्रम ने भी स्वप्न के ये दो अधिष्ठान स्वीकार किये हैं। परन्तु उन्हों ने अन्तःकरणोपहित साक्षी को अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य को और मूलाज्ञानवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य को स्वप्नाध्यास के अधिष्ठानों के रुप में स्वीकार किये होने पर भी दोनों स्थान पे मूलाज्ञान ही स्वप्नाध्यास का परिणामी उपादान हैं, वे अवस्थाअज्ञान को स्वप्नाध्यास का परिणामी उपादान स्वीकार नहीं करते हैं। अन्तःकरण या अहंकार से उपहित जीवसाक्षीरुप चैतन्य अनावृतस्वभाव होने से स्वप्न में अध्यस्त गजतुरगादि साक्षात् साक्षीसम्बद्ध होते हैं, इसलिए तत् तत् पुरुष के सामने अपरोक्ष होते हैं, इस प्रकार स्वप्नाध्यास का असाधारणत्व रक्षित रहता हैं। ब्रह्मचैतन्य अधिष्ठान हो तो स्वप्नाध्यास साधारण बन जाने की आपत्ति आयेगी। इसलिए जीवसाक्षीचैतन्य ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान हैं और यह पक्ष ही ज्यादा योग्य होने से उसका स्वीकार किया गया हैं। **यहाँ ऐसी आशंका की जाती हैं कि,** यदि जीवसाक्षीचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान स्वीकार किया जाये तो स्वप्न में "यह गज" ऐसी प्रतीति न होनी चाहिए, उसके बदले "मैं गज" ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। **इस आशंका के उत्तर में कहा गया हैं कि,** जीव साक्षी चैतन्य में अध्यस्त गजादि में अभेदावभास न होने से जो भेदावभास होता हैं, अर्थात् "मैं गज" ऐसी प्रतीति के बदले "यह गज" ऐसी जो प्रतीति होती हैं, स्वप्न में साक्षीचैतन्य से अध्यस्त गजादि भिन्नरुप से जो प्रतीत होते हैं, वह भेद भी स्वप्नकल्पित हैं, स्वप्नकल्पित भेद द्वारा ही भिन्नरुप में प्रतीत होता हैं। स्वप्न गजादि तत्काल में आरोपित भेद द्वारा ही भिन्न रुप में प्रतीत होते हैं, इसलिए "मैं गज" ऐसी प्रतीति की आपत्ति नहीं आती हैं। **इसके सामने कहा जाता हैं कि,** फिर भी "मुज में गज" ऐसी प्रतीति होना उचित हैं परंतु "यह गज" ऐसी स्वतंत्र प्रतीति होना उचित नहीं हैं क्योंकि स्वप्न गजादि जीवसाक्षीचैतन्य में अध्यस्त हैं। उपरांत, स्वप्न गजादि जीवसाक्षीचैतन्य देश में प्रतीत होने के बदले बाह्य देशमें प्रतीत होते हैं। इसलिए स्वप्न गजादि का अधिष्ठान जीवसाक्षीचैतन्य हो, वह उचित नहीं हैं। **इसके उत्तर में कहा गया हैं कि,** स्वप्न गजादि जो बाह्यदेश में प्रतीत होते हैं वह बाह्यदेश, बाह्यदेश से स्वप्न गजादि का भेद, स्वाप्न गजादि का स्वातंत्र्य और स्वातंत्र्य के साथ स्वाप्न गजादि का संसर्ग इत्यादि सब तत्काल में मायाविजृम्भित होता हैं।(३२७) ये सभी बाते सिद्धान्तबिंदु में श्रीमधुसूदन सरस्वतीने बराबर कही हैं।(३२८)

कोई आचार्य मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान न मानकर मनोवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य को ही स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानते हैं।(३२९)

प्रसंगतः स्वप्नाध्यास के विषय में कुछ विचार किया। परंतु विशेष आलोच्य विषय तो सुषुप्ति हैं। सुषुप्ति के विषय में अद्वैतसिद्धि में श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा हैं कि सिद्धान्तबिंदु में मैंने इस विषय की विशद रुप में चर्चा की हैं। सुषुप्तिदशा में भावभूत अज्ञान साक्षी द्वारा अनुभूत बनता हैं। इसलिए ही सुप्तोत्थित पुरुष को अनुभूत अज्ञान का स्मरण होता हैं। सौषुप्त साक्षिप्रत्यक्ष द्वारा अज्ञान सिद्ध होता हैं। सुषुप्ति में होते अज्ञान के प्रत्यक्ष के विषय में सिद्धान्तबिन्दु में कौन-कौन सी विशेष बाते कही गई हैं, उसका विचार हम अब करेंगे।

सिद्धान्तबिंदुकार ने कहा हैं कि, कारणमात्र का उपलंभ ही सुषुप्ति हैं।(३३०) जब वासनारहित अन्तःकरण कारणरुप में अवस्थान करता हैं तब जीव विश्रान्त होता हैं। जाग्रद्दशा में और स्वप्नदशा में श्रान्त हुए जीव का

(३२७) स्वप्नस्यानवच्छिन्नचैतन्याधिष्ठानस्य मूलाज्ञानकार्यत्वात् ।... अथवा अन्तःकरणोपहितं साक्ष्येवाधिष्ठानम् । अद्वैतदीपिका, द्वि.प., पृ. ३८३-३८५ (३२८) सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१३-४१५ (३२९) प्रतिजीवं स्वप्नाध्यासासाधारण्यं तु मनोगत-वासनानामसाधारण्यादेव। मनोऽवच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेवाधिष्ठानम्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१३ (३३०) कारणमात्रोपलम्भः सुषुप्तिः। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१७

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्रामस्थान ही सुषुप्ति हैं।[३३१] यहाँ श्रीमधुसूदन सरस्वतीने जो ''कारणमात्रोपलंभ'' कहा हैं, उसका अभिप्राय यह हैं कि, स्थूल और सूक्ष्म देहद्वय के अनुपलंभ से विशिष्ट ऐसा कारणोपलंभ विशेष ही कारणमात्रोपलंभ हैं। ''यथाश्रुत कारणमात्र का उपलंभ'' ऐसा उसका अर्थ नहीं हैं। सुषुप्ति दशा में जैसे कारणीभूत अविद्या का उपलंभ होता हैं वैसे अविद्याविषयक अविद्यावृत्ति का भी उपलंभ होता हैं। अविद्यावृत्ति कारण नहीं परन्तु कार्य हैं। साक्षिचैतन्य ही अविद्या और अविद्यावृत्ति दोनों के उपलंभरुप हैं। इसलिए ही कारणोपलंभविशेष को ही ''कारणमात्रोपलंभ'' का अर्थ समजना चाहिए। यही बात न्यायरत्नावली में कही हैं।[३३२] श्रान्त जीव का विश्रामस्थान सुषुप्तिअवस्था हैं, ऐसा कहने का आशय यह हैं कि, मूर्छा और प्रलयादि में स्थूल और सूक्ष्म देहद्वय के अनुपलंभविशिष्ट ऐसा कारणमात्रोपलंभ हैं परंतु मूर्छा और प्रलयादि सुषुप्ति नहीं हैं क्योंकि मूर्छा और प्रलयादि अवस्था जीव का विश्रामस्थान नहीं हैं। मूर्छादि अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म देह का उपलंभ नहीं होता हैं, अज्ञान का उपलंभ होता हैं, परंतु उसमें जीव विश्रान्त नहीं हो सकता हैं। मूर्छाभंग के बाद जीव प्रसन्नता की उपलब्धि नहीं करता हैं। इसलिए मूर्छा विश्रामस्थान नहीं हैं। उसी ही तरह, प्रलय के बाद भी सृष्टि के प्रारंभ में जीव प्रसन्नता की उपलब्धि नहीं करता हैं। इसलिए वह भी विश्रामस्थान नहीं हैं।[३३३] परंतु सुप्तोत्थित पुरुष सुषुप्ति के पहले परिश्रान्ति और सुषुप्ति के बाद विश्रान्ति का अनुभव करता हैं। सुषुप्तिदशा में जाग्रद्भोग्य और स्वप्नभोग्य पदार्थो का ज्ञान न होने पर भी सुषुप्तिदशा में साक्ष्याकार, सुखाकार और अवस्थाअज्ञानाकार तीन अविद्यावृत्तियाँ स्वीकार की गई हैं।[३३४] यह बात विवरण में भी कही गई हैं।[३३५] सुषुप्ति दशा में स्वरुपानंद का अनुभव होता हैं। अनावृत्त साक्षिचैतन्य के सुखांश का प्रकाश सुषुप्ति में होता हैं।[३३६] सुषुप्ति दशा में अज्ञान, सुख और साक्षी इन तीनो का अनुभव होता हैं। इसलिए सुप्तोत्थित पुरुष को इन तीन विषय का स्मरण होता हैं। यह बात विवरणाचार्य ने विशेषरुप से की हैं। परंतु टीकाकार श्रीपद्मपादाचार्य ने ऐसा नहीं कहा हैं। इसलिए ही विवरणाचार्य ने कहा हैं, कि टीकाकार ने जो कहा हैं, वह उन्होंने दूसरे का मत बताने के लिए ही कहा हैं। परमत का आश्रय लेकर उन्होंने ऐसा कहा होने पर भी वह उनका अपना मत नहीं हैं।[३३७] इसलिए लगता हैं कि, सुषुप्तिदशा में प्रदर्शित त्रिविध वृत्ति विवरणाचार्यने सर्वप्रथम स्पष्टरुप से कही हैं। टीकाकार श्रीपद्मपादाचार्य सुषुप्ति में सुखानुभव का स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मतानुसार केवल दुःख के अभावमात्र का अनुभव होता हैं। दुःख का अनुभव होता न होने से सुखानुभव का व्यपदेशमात्र होता हैं। विवरणाचार्य सुषुप्ति में स्वरुपसुख का अनुभव स्वीकार करते हैं। जो हो वह, टीकाकार श्रीपद्मपादाचार्य की उक्ति उनका अपना मत नहीं बताते, परंतु केवल परमत को ही बताते हैं ऐसा विवरणाचार्य का कहना हैं। विवरण के अनुसार ही श्रीमधुसूदन सरस्वती इत्यादि आचार्यो ने सुषुप्ति में त्रिविध वृत्ति स्वीकार की हैं। सिद्धान्तबिंदु की टीका न्यायरत्नावली में कहा गया हैं कि, वस्तुतः सुषुप्ति में उक्त त्रितयविषयक समूहालंबन एक ही वृत्ति होती हैं। जहाँ समूहालंबन एक वृत्ति स्वीकार की जा सके वैसा हो वहाँ तीन वृत्तियाँ स्वीकार करने में गौरवदोष आयेगा।[३३८] श्री मधुसूदन सरस्वती ने वृत्तित्रय की बात की हैं, उसमें उनका अभिप्राय यह हैं कि, विषय तीन होने से वृत्ति के

(३३१) ...सवासनस्यान्तःकरणस्य कारणात्मनावस्थाने सति विश्रामस्थानं सुषुप्त्यवस्था। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१७ (३३२) कारणमात्रोपलम्भः स्थूलसूक्ष्मरूपदेहानुपलम्भविशिष्टः कारणोपलम्भविशेष इत्यर्थः। न्यायरत्नावली, पृ.४१७ (३३३) यथाश्रुतेऽविद्यावृत्तिरूपकार्योपलम्भस्य साक्षिणः सत्त्वादसङ्गतिः मूर्छाप्रलयादिवारणाय विशेष्यदलम्। न्यायरत्नावली, पृ. ४१७ (३३४) तत्र जाग्रत्स्वप्नभोग्यपदार्थज्ञानाभावेऽपि साक्ष्याकारं सुखाकारमवस्थाऽज्ञानाकारं चाविद्याया वृत्तित्रयमभ्युपेयते। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१७-४१ (३३५) विवरण, विजयनगर सं., पृ. ५७ (३३६) अनावृतसाक्षिचैतन्यसुखांशस्य प्रकाशोपपत्तेः। विवरण, विजयनगर सं., पृ. ५६ (३३७) परमतमाश्रित्येदमुक्तं न स्वमतमिति न दोषः। विवरण, विजयनगर सं., पृ.५७ (३३८) समूहालम्बनैकवृत्त्या निर्वाहे वृत्तित्रयकल्पने गौरवात् न्यायरत्नावली, पृ.४१८

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी तीन आकार स्वीकार किये गये हैं। आकारत्रयोपहित रुप से एक ही वृत्ति को तीन वृत्ति कही गई हैं।[339] यही बात अद्वैतसिद्धि में ''सुषुप्त्याख्या एकैव वा वृत्तिः इत्यन्यदेतत्'' द्वारा श्रीमधुसूदन सरस्वती ने की हैं।[340]

यहाँ विशेष ध्यान में लेने जैसा यह हैं कि, सिद्धान्तबिंदु में श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा हैं कि सुषुप्ति में अज्ञान की उपलब्धि होती हैं। परंतु सुषुप्ति में उन्होंने अवस्थाअज्ञानाकार वृत्ति स्वीकार की हैं, मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति स्वीकार नहीं की हैं। महत्व की बात तो यह हैं कि, पहले उन्होंने अवस्थाअज्ञान की बात भी नहीं की हैं। यहाँ प्रश्न होता हैं कि, सुषुप्ति में मूलाज्ञानविषयक और अवस्थाअज्ञानविषयक दो वृत्ति होती हैं या मूलाज्ञानविषयक एक ही वृत्ति होती हैं ? इसके उत्तर में कहना चाहिए कि मूलाज्ञान और अवस्थाअज्ञान ये उभयविषयक दो अज्ञानवृत्ति सुषुप्ति में माननी चाहिए। यहाँ पूछा जाता हैं कि, सुषुप्ति में मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति द्वारा ही सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं जानता नहीं था'' ऐसा जो स्मरण होता हैं उसका खुलासा हो सकता हैं। इस स्मरण के खुलासे के लिए सुषुप्ति में अवस्थाअज्ञानाकार अविद्यावृत्ति मानने की जरुरत क्या हैं ?[341]

इसके उत्तर में कहना चाहिए कि, अवस्थाअज्ञानाकार अविद्यावृत्ति स्वीकार न की जाये तो केवल मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति के द्वारा ''मैं कुछ जानता नही था'' ऐसी अनेक पदार्थ विषयक अज्ञान को स्मृत्ति नहीं हो सकती। **अनेक विषयविशेषित अज्ञान मूलाज्ञान नहीं हैं। मूलाज्ञान शुद्धचिन्मात्रविषयक हैं। मूलाज्ञान अनेकविषयविशेषित नहीं हैं।** उपरांत, ''मैं कुछ (किंचित्) जानता नहीं था'' ऐसी स्मृति में ''कुछ (किंचित्)'' पद द्वारा प्रतिपादित अनेकविषयविशेषित अज्ञान ही स्मर्यमाण होता हैं यह समज में आये, ऐसी बात हैं। इसलिए अनेकविषयविशेषित अज्ञान की स्मृति करने के लिए अनेकविषयविशेषित अवस्थाअज्ञान का अनुभव सुषुप्ति में स्वीकार करना चाहिए। और इसलिए ही श्रीमधुसूदन सरस्वती ने सुषुप्तिदशा में अवस्थाअज्ञान की बात की हैं। अनेकविषयविशेषित अज्ञान की स्मृति के लिए अवस्थाअज्ञानाकार अविद्यावृत्ति सुषुप्ति में अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। अवस्थाअज्ञानाकार अविद्यावृत्ति सुषुप्ति में स्वीकार की हो तो भी मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति भी अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। प्रलयकाल के सिवा अन्य काल में सर्वदा मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति होती हैं ही। इसलिए सुषुप्तिदशा में भी मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति होनी ही चाहिए।[342] वैसे ही, सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं मूढ था'' ऐसा अनेक विषय से अविशेषित अज्ञान का स्मरण होता हैं। **अनेक विषय से अविशेषित ''मोह'' पदवाच्य अज्ञान ही मूलाज्ञान हैं। सुषुप्ति में इस मूलाज्ञान का अनुभव न हो तो सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं मूढ था'' ऐसी मूलाज्ञान की स्मृति हो नहीं सकती।** इसलिए, ''मैं कुछ जानता नही था'' ऐसी अनेक विषयविशेषित अज्ञान की स्मृति का खुलासा करने के लिए और ''मैं मूढ था'' ऐसी अनेकविषयविशेषित स्मृति का खुलासा करने के लिए उभयअज्ञानाकार अविद्यावृत्ति सुषुप्ति में स्वीकार करनी चाहिए। जैसे सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं मूढ था'' ऐसी मूलाज्ञानविषयक स्मृति होती हैं वैसे तत्त्वज्ञ पुरुष को भी तत्त्वज्ञान काल में ''मैं मूढ था'' ऐसी मूलाज्ञानविषयक स्मृति होती हैं। तत्त्वज्ञान द्वारा मूलाज्ञान की निवृत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञान से पूर्व तो मूलाज्ञान का अनुभव था। यह अनुभव जन्य संस्कार द्वारा तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष को ''मैं मूढ था'' ऐसी स्मृति होती हैं। इससे समज में आता हैं कि तत्त्वज्ञानकाल और प्रलयकाल के सिवा अन्य सर्वकाल में मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति

(३३९) त्रयमिति आकारत्रयोपहितरूपभेदसम्भवादित्यभिप्रायम्। न्यायरत्नावली, पृ. ४१८ (३४०) अद्वैतसिद्धि, पृ.५५९
(३४१) ननु मूलाज्ञानकारवृत्त्यापि नावेदिषमिति स्मरणोपपत्तेः अवस्थाऽज्ञानविषयकवृत्तिः किमित्युक्ता। न्यायरत्नावली, पृ. ४१८
(३४२) उच्यते - न किञ्चिदवेदिषमित्यनेकपदार्थविषयकज्ञानस्मृतेर्मूलाज्ञानेनानुपपत्तेः, तस्य चिन्मात्रविषयकत्वात्।... मूलाज्ञानाकाराप्यविद्यावृत्तिः सुषुप्ताववश्यं वाच्या। प्रलयान्यकाले सर्वदैव तत्स्वीकारात्। न्यायरत्नावली, पृ.४१८

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती हैं। इसलिए सुषुप्ति में भी वह होगी ही।[३४३]

यहाँ प्रश्न उठता हैं कि, समाधिकाल में मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति होती हैं या नहीं ? समाधिकाल तो प्रलयकाल भी नही हैं या तत्त्वज्ञानकाल भी नहीं हैं। इसके उत्तर में कहना चाहिए कि, समाधि में से उठी हुए (व्युत्थित) व्यक्ति को ''मैं मूढ था'' ऐसा स्मरण नहीं होता हैं। इसलिए समाधिकाल में मूलाज्ञान होने पर भी मूलाज्ञानाकार वृत्ति नही होती हैं। समाधिवृत्ति ही मूलाज्ञानाकार अविद्यावृत्ति की विरोधी हैं। **जो हो वह, शुद्धचिन्मात्रविषयक अज्ञान ही मूलाज्ञान हैं और अनेकविषयविशेषित अज्ञान ही अवस्थाअज्ञान हैं । मूलाज्ञान और अवस्थाअज्ञान का यही भेद हैं। उभय अज्ञान अनादि हैं, ज्ञाननिवर्त्य हैं और असद्विलक्षण हैं।**

हमने अवस्थाअज्ञान को अनादि कहा हैं। परंतु उसके अनादित्व के विषय में आचार्यो में मतभेद हैं। विवरण की टीका ऋजुविवरण में श्रीविष्णुभट्टोपाध्याय ने कहा हैं कि कुछ आचार्य मूलाज्ञान की तरह अवस्थाअज्ञान को भी अनादि मानते हैं परंतु उनका मत संगत नहीं हैं।[३४४] अवस्थाअज्ञान अनादि नहीं परन्तु सादि हैं। अज्ञान का सादित्व दूसरे किसी ने स्वीकार किया हो, ऐसा लगता नहीं हैं। यह श्रीविष्णुभट्ट प्रसिद्ध सर्वदर्शनकारके गुरु थे, ऐसा ख्याल हैं। अवस्थाअज्ञान संबंध में विशेष आलोचना अद्वैतसिद्धि के प्रतिकर्मव्यवस्थाप्रकरण में श्रीमधुसूदन सरस्वतीने और श्री गौडब्रह्मानन्द ने की हैं।[३४५] **श्री गौड ब्रह्मानन्द ने कहा हैं कि, आवरण और विक्षेप दो शक्ति से युक्त, ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान से नाश्य, मूलाज्ञान के साथ तादात्म्यानापन्न अर्थात् मूलाज्ञान के साथ तादात्म्य न पाये हुए अज्ञान को तुलाज्ञान कहा जाता हैं; और आवरणविक्षेपशक्तियुक्त, ब्रह्मज्ञानान्यज्ञाननाश्य, मूलाज्ञान तादात्म्यापन्न अज्ञान को अवस्थाअज्ञान कहा जाता हैं ।** अवस्थाअज्ञान मूलाज्ञान की अवस्थाविशेष हैं। मूलाज्ञान की अवस्थाविशेष होने के कारण अवस्थाअज्ञान मूलाज्ञान के साथ तादात्म्य रखता हैं। तुलाज्ञान मूलाज्ञान के साथ तादात्म्य रखता नहीं हैं। अवस्थाअज्ञान और तुलाज्ञन के बीच यही भेद हैं। मूलाज्ञान के साथ तादात्म्यापन्न अवस्थाअज्ञान को किसी भी तरह से सादि नहीं कहा जाता।[३४६]

सुषुप्तिकाल में अविद्याविषयक अविद्यावृत्ति होती हैं, इसलिए ही सुप्तोत्थित पुरुष को अज्ञान का स्मरण होता हैं। यहाँ प्रश्न यह होता हैं कि, सुषुप्तिदशा में अज्ञान का जो प्रत्यक्ष होता हैं उस प्रत्यक्ष का विषय अज्ञान साक्षी का विशेषण बनकर प्रत्यक्ष होता हैं या स्वतंत्र रुप से प्रत्यक्ष होता हैं ? अज्ञानविशिष्ट साक्षिविषयक अविद्यावृत्ति होती हैं या केवल अज्ञानविषयक अविद्यावृत्ति होती हैं ? अज्ञान चैतन्य में आश्रित वस्तु हैं, यह आश्रित अज्ञान का प्रत्यक्ष आश्रितत्वरुप में होता हैं या वैसा न होने से अज्ञानस्वरुपमात्र का प्रत्यक्ष होता हैं ? उसी ही तरह से सुषुप्ति में सुख का जो प्रत्यक्ष होता हैं वह क्या सुखाभिन्न साक्षी का प्रत्यक्ष हैं या सुखमात्र का प्रत्यक्ष हैं ? निष्कर्ष यह हैं कि, सुषुप्ति में विशिष्टविषयक वृत्ति होती हैं या नहीं ? सुषुप्ति में विशेषणविशेष्यभाव में ज्ञान संभवित है या नहि ?[३४७]

इसके उत्तर में कहना चाहिए कि, सुषुप्तिदशा में विशिष्टविषयक वृत्ति नहीं हो सकती। विशिष्टविषयक वृत्ति विशेष्य और विशेषण के संसर्गविषयक वृत्ति हैं। सुषुप्तिदशा में निर्विकल्पक ज्ञान ही होता हैं। निर्विकल्पक ज्ञान

(३४३) एतावत्कालं मूढोऽहमासमिति नानाविषयाविशेषितरूपेणाप्यज्ञानस्य जागराद्यकाले तत्त्वज्ञानकाले च स्मरणात् । न्यायरत्नावली, पृ.४१८ **(३४४)** केचित् अज्ञानवदवस्थानामनादित्वमाह, तदसत्। ऋजुविवरण, कलकत्ता संस्कृत सिरिझ, पृ.११० **(३४५)** अद्वैतसिद्धि, पृ. ४८६-४८७ **(३४६)** तुलाज्ञानमावरणविक्षेपशक्तियुक्तं ब्रह्मज्ञानान्यज्ञाननाश्यं मूलाज्ञानतादात्म्यानापन्नमज्ञानम् । अवस्थाविशेषस्तु तादृशं मूलाज्ञानतादात्म्यापन्नम् । लंघुचन्द्रिका, पृ.४८७ **(३४७)** ननु अज्ञानविशिष्टसाक्षिविषयिका सुखाभिन्नसाक्षिविषयिका च वृत्तिः कुतो नोक्ता ? न्यायरत्नावली, पृ. ४१८, सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ६२४

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसर्गविषयक नहीं होता हैं। विशेषणविशेष्य के संसर्गविषयक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान हैं। सविकल्पक ज्ञान में अहंकार हेतु हैं। स्थूलावस्थ मन को ही अहंकार कहते हैं। स्थूलावस्थ मन सुषुप्ति में नहीं होता हैं। सुषुप्तिदशा में मन सूक्ष्मरुप से अर्थात् संस्काररुप से अपने उपादान ऐसी अविद्या में लीन होता हैं। सुषुप्तिदशा में अहंकार होता नहीं हैं, इसलिए विशिष्टविषयक वृत्ति सुषुप्ति में नहीं हो सकती हैं। स्वप्नदशा में मन का लय होता नहीं हैं इसलिए विशिष्टविषयक वृत्ति अर्थात् सविकल्पक वृत्ति स्वप्नदशा में होती हैं। संसर्गविषयक वृत्ति में अहंकार निमित्तकारण हैं। निमित्तकारणता में उपादान से कुछ विलक्षणता हैं। कार्य की अव्यवहित पूर्वकाल में होना कारण के लिए जरुरी हैं। उपादानकारण कार्य की अव्यवहित पूर्वकाल में अस्तित्व रखते हैं, वैसे ही, कार्यकाल में भी अस्तित्व रखते हैं। उपादान कार्यकाल में अस्तित्व रखते हैं परन्तु वह कारण के रुप में अस्तित्व रखता नहीं हैं किंतु कार्य के आश्रय के रुप में ही अस्तित्व रखता हैं। भावरुप कार्य अपने उपादान कारण में आश्रित होता हैं। कार्य की उत्पत्ति हो तब और कार्य की उत्पत्ति के बाद उपादान न हो तो उपादेय कार्य किस में आश्रित होगा ? इसलिए , कारणत्व के निर्वाह के लिए कार्य की अव्यवहित पूर्व क्षण में और कार्य का आश्रय बनने के लिए कार्यकाल में भी उपादान होता हैं। केवल कार्यत्वनिर्वाह के लिए उपादान का कार्यकाल में होना आवश्यक नहीं हैं। अनुत्पन्न कार्य असिद्ध हैं, असिद्ध कार्य अपनी सिद्धि के लिए ही कारण की अपेक्षा रखता हैं। कार्य सिद्ध होने पर कार्य को कारण की अपेक्षा नहीं रहती हैं। कार्योत्पत्तिकाल में कार्य सिद्ध होता हैं, उत्पत्ति के बाद भी कार्य सिद्ध होता हैं, सिद्ध कार्य स्वसाधक कारण की अपेक्षा नहीं रखता हैं। सिद्ध का कोई साधक नहीं होता हैं। असिद्ध ही साधकसापेक्ष होता हैं। सिद्ध कार्य स्वसिद्धिकाल में भी उपादान की अपेक्षा रखता हैं उसका कारण तो यह हैं कि उपादान उसका अर्थात् कार्य का आश्रय हैं। कार्य का आश्रय बनने के लिए उपादान कार्यकाल में अपेक्षित होता हैं। साधक बनने के लिए उपादान कार्यकाल में अपेक्षित ही नहीं हैं। कार्यकाल में तो कार्य सिद्ध हो गया होता हैं। इसलिए उसको साधक की अपेक्षा होती ही नहीं हैं। नव्यनैयायिको ने निमित्तकारण को कोई कोई स्थान पे कार्यकाल में अस्तित्व में रहकर कारण बनता बताया हैं, परंतु यह बात अत्यन्त असंगत हैं। असाधक भी कारण हो इसके जैसी विचित्र बात दूसरी कौन हो सकती हैं ? उत्पादक ही कारण हैं। जो उत्पादक नहीं हैं वह कारण नहीं हैं। उत्पन्न का कोई उत्पादक नहीं होता हैं। उत्पन्न कार्य की स्थिति के लिए कार्यकाल में जो अपेक्षित होता हैं वह कार्य के कारण के रुप में अपेक्षित नहीं होता हैं, परन्तु कार्य की स्थिति के लिए ही अपेक्षित होता हैं। कार्य की स्थिति के लिए जो अपेक्षित हो उसको कार्य का उत्पादक मानना यह नितान्त असंगत हैं। कार्यकाल में वर्तमान रहकर आधार बनता हैं, ऐसा कहा जा सकता हैं। निमित्तकारण कार्य का आधार (आश्रय) नहीं हैं। इसलिए निमित्तकारण की कार्यकाल में सत्ता कार्य को अपेक्षित ही नहीं हैं।(३४८) निमित्तकारण के नाश से किसी जगह कार्य का नाश होने से किसी ने कह दिया कि निमित्तकारण की कार्यकाल में सत्ता कार्य को अपेक्षित हैं। उदाहरणार्थ, अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वादि संख्या का नाश होता हैं। यह तो वैशेषिको की प्रक्रियामात्र हैं। वह वैशेषिको की प्रक्रियामात्र होने से मीमांसक ऐसी प्रक्रिया का स्वीकार नहीं करते हैं।(३४९)

जो हो वह, मन सविकल्पक वृत्ति का कारण हैं परन्तु वह कार्यकाल में वर्तमान होने से ही सविकल्पक वृत्ति का कारण हैं। साधारणतः मन सविकल्पक वृत्ति का आश्रय होता हैं। इसलिए सविकल्पक वृत्ति हो तब भी मन

(३४८) अहङ्काराभावाच्च नैका विशिष्टवृत्तिः ...। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१८। तथा च संसर्गविषयकवृत्तौ अहङ्कारत्वेन हेतुता। सा च हेतुता निमित्ततया कार्यसहभावेनैवेति। न्यायरत्नावली, पृ. ४१८ (३४९) ननु निमित्तकारणापायेऽपि कार्यमपैति यथा वैशेषिकाणामपेक्षाबुद्धिविनाशे द्वित्वादिविनाशः। विवरण, विजयनगर सं., पृ. ६२

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सत्ता आवश्यक हैं। परंतु स्वाप्नवृत्ति का आश्रय मन नहीं हैं, स्वाप्नवृत्ति अविद्यावृत्ति हैं और अविद्यावृत्ति तो अविद्या में ही आश्रित हैं। परंतु यह ध्यान में रखना कि, मन न हो तो यह स्वाप्न वृत्ति भी न हो। मन का लय होने से स्वाप्न अविद्यावृत्ति नहीं होती हैं। इसलिए मन स्वाप्न वृत्ति का निमित्त कारण होने पर भी ऐसा कहा जा सकता हैं कि मन स्वाप्नवृत्तिरुप कार्यकाल में वर्तमान रहकर उसका कारण बनता हैं। ऐसा न कहे तो आपत्ति आये। कौन सी ? सुषुप्ति की अव्यवहित पूर्व क्षण में तो मन होता हैं ही, इसलिए सुषुप्ति काल में मन के कार्यभूत सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति की आपत्ति आयेगी। सुषुप्ति की अव्यवहित पूर्वक्षण में सविकल्पक परामर्श हो सकता हैं, इसलिए सुषुप्तिक्षण में सविकल्पक अनुमित्ति की आपत्ति आयेगी।[३५०] इस तरह से सुषुप्तिक्षण में अनुमिति होने से सुषुप्ति में जाग्रत्‌दशा की आपत्ति आयेगी।अर्थात् सुषुप्ति का अभाव ही हो जायेगा।[३५१] अनुमिति मात्र सविकल्पक ज्ञान हैं। निर्विकल्पक अनुमिति संभवित ही नहीं हैं। परोक्षानुभव निर्विकल्प होता ही नहीं हैं। फिर भी सविकल्पक अनुमिति ऐसा जो कहा जाता हैं, वह तो बोध की सुविधा के लिए कहा जाता हैं।

निष्कर्ष यह हैं कि, संसर्गविषयक वृत्ति में मन निमित्तकारण होता हैं और मन कार्यकाल के अस्तित्व में रहकर ही कारण बनता हैं। इसलिए सुषुप्ति की आद्यक्षण में संसर्गविषयक कोई भी वृत्ति हो ही नहीं सकती। और इसलिए ही अज्ञानविशिष्टसाक्षिविषयक ज्ञान भी सुषुप्ति में नहीं होता हैं। इस प्रकार सुखाभिन्नसाक्षिविषयक ज्ञान भी सुषुप्ति में नहीं होता हैं, क्योंकि यह ज्ञान भी संसर्गविषयक होने से सविकल्पक हैं। सुषुप्ति में सविकल्पक ज्ञान संभवित ही नहीं हैं, निर्विकल्पक ज्ञान ही संभवित हैं।[३५२]

प्रलयकाल में मूलाज्ञान होने पर भी अज्ञानाकार अविद्यावृत्ति न होने से प्रलय को सुषुप्तिदशा नहीं कही जा सकती। प्रलय के बाद अज्ञान का स्मरण होता न होने से स्मरण की जनक अविद्यावृत्ति प्रलयकाल में स्वीकार नहीं की गई हैं। सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं सुख से सोया था'' ''मैं कुछ जानता नहीं था'' ऐसा स्मरण होता होने से स्मरणजनक अविद्यावृत्तिरुप अनुभव सुषुप्तिकाल में स्वीकार किया गया हैं। अनुभव न हुआ हो तो स्मरण नहीं हो सकता।[३५३]

इसके सामने नीचे बताये अनुसार आपत्ति दी जाती हैं। प्रत्येक स्मरण में ''तत्ता'' का उल्लेख अवश्य होता हैं। घट का स्मरण ''वह घट'' ऐसा होता हैं। ''यह घट'' ऐसे अनुभव से जन्य ''वह घट'' ऐसा स्मरण होता हैं। सुषुप्तिकालीन अनुभव से जन्य जो स्मरण सुप्तोत्थित पुरुष को होता हैं, उसमें ''तत्ता'' का उल्लेख नहीं होता हैं, और ''तत्ता'' के उल्लेखरहित स्मरण होता हैं ऐसा कहना योग्य नहीं हैं। जिस ज्ञान में ''तत्ता''का उल्लेख नहीं हैं वह ज्ञान स्मरण नहीं हैं। इसलिए सुप्तोत्थित पुरुष को होता ''तत्ता'' के उल्लेख बगैर का ज्ञान स्मरण किस तरह से हो सकता हैं ? सुप्तोत्थित पुरुष का ज्ञान स्मरणात्मक न हो तो उसके लिए सुषुप्तिकालीन अनुभव स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? जैसे नैयायिक सुषुप्तिकाल में निर्विकल्पक अनुभव भी स्वीकार नहीं करते वैसे। नैयायिको के मतानुसार जन्य सभी ज्ञान का कारण त्वगिन्द्रिय के साथ मन का संयोग हैं। सुषुप्तिकाल में त्वगिन्द्रय के मन का संयोग नहीं होता हैं, इसलिए सुषुप्तिकाल में कोई भी ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता हैं।[३५४] नैयायिक कहते हैं कि सुषुप्तिकाल में नित्य मन पुरीतत् नाम की नाडी में अवस्थान करता हैं और यह नाडी त्वगिन्द्रियरहित

---

(३५०) ...सुषुप्तिपूर्वक्षणे लिङ्गपरामर्शादिसत्त्वे संसर्गानुमित्यादेर्दुर्वारत्वाच्च। न्यायरत्नावली, पृ.४१९ **(३५१)**...सुषुप्त्य-भावप्रसङ्गाच्च। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१८-४१९ **(३५२)** न्यायरत्नावली, पृ. ४१८-४१९ **(३५३)** अत एव वृत्तिरूपस्योपल-म्भस्याभावान्न प्रलयेऽतिव्याप्तिः। तत्र तत्कल्पनाबीजाभावात्। इह च सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति सुप्तोत्थितस्य परामर्शात्। अननुभवे च परामर्शानुपपत्तेः। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४१९-४२० **(३५४)** सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२०। न्यायरत्नावली, पृ. ४२०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इसलिए सुषुप्तिकाल में कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता हैं। नैयायिक यह सब किस प्रमाण के अनुसार कहते हैं ये तो वे ही जाने। उपनिषद् में पुरीतत् नाडी का उल्लेख हैं, परंतु वह त्वक्सहित हैं या त्वग्रहित हैं, यह बात किसी भी उपनिषद् में नहीं हैं और मन के नित्यत्व के विषय में भी कोई प्रमाण नहीं हैं। उल्टा "**तस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**" इत्यादि श्रुति (मुण्डकोपनिषद् २-१-३) द्वारा मन जन्य सिद्ध हुआ हैं।

जो हो वह, सुप्तोत्थित पुरुष के स्मरण में "तत्ता" का उल्लेख नहीं होता हैं, "तत्ता" का उल्लेख न करते हुए स्मरण नहीं हो सकता - ऐसी शंका के समाधान में श्रीमधुसूदन सरस्वती नीचे बताये अनुसार कहते हैं। अन्तःकरण के उपराग के समय अर्थात् मन की विद्यमानता की दशा में जो अनुभव होता हैं वही अनुभव से जन्य स्मृत्ति में "तत्ता" का उल्लेख होता हैं। सुषुप्तिकाल में तो मन अपने उपादानकारण में अर्थात् अविद्या में विलीन हो जाता हैं। इसलिए सुषुप्तिकालीन अनुभव यह अन्तःकरणोपरागकालीन अनुभव नहीं हैं। इसलिए ही सौषुप्त अनुभव से जन्य स्मृति में "तत्ता" का उल्लेख नहीं होता हैं। अभिप्राय यह है कि, सुषुप्तिदशा में अहंकार न होने से देशकालविशिष्टरुप में अज्ञानादि का सविकल्पक ज्ञान सुषुप्तिदशा में नहीं हो सकता हैं। देशकालविशिष्टविषयक सविकल्पक अनुभव से जन्य स्मृति में ही "तत्ता" का उल्लेख होता हैं। सुषुप्तिदशा में अज्ञान का देशकालविशिष्टरुप में अनुभव नहीं हो सकता हैं, क्योंकि सुषुप्तिदशा में अन्तःकरण (मन) का लय हो गया होता हैं।[(३५५)]

सौषुप्त अनुभव में अज्ञान का देशादिवैशिष्ट्य भासित नहीं होता हैं, अहंकाररुप कारण न होने से देशादिविशिष्टरुप से अज्ञान का सविकल्पक अनुभव नहीं होता हैं, यही अद्वैतवेदांतीयों ने कहा हैं। इसके सामने आपत्ति दी जाती हैं कि, सुषुप्ति में यदि सविकल्पक ज्ञान हो सकता न हो तो सुषुप्ति में होते अज्ञान के अनुभव में सविषयकत्व और ज्ञानविरोधित्व धर्मो से विशिष्ट ऐसा अज्ञान भासित न हो, यही उचित हैं। परंतु सुषुप्तिकालीन अज्ञानानुभव में सविषयकत्वादि धर्म से विशिष्ट अज्ञान भासित होता हैं इसलिए सुषुप्ति में सविकल्पक ज्ञान स्वीकार करना चाहिए। परंतु अहंकाररुप कारण न होने से सुषुप्तिदशा में होते अज्ञानानुभव में सविषयकत्व और ज्ञानविरोधित्व धर्मो से विशिष्ट अज्ञान का भासित नहीं होना ही उचित हैं। यहाँ यदि अद्वैतवेदान्ती इष्टापत्ति कहे अर्थात् यदि वे ऐसा कहे कि, सुषुप्तिदशा में अज्ञानानुभव में अज्ञान स्वरुपतः ही भासित होता हैं, सविषयकत्वादि धर्मोसे विशिष्ट अज्ञान भासित नहीं होता हैं, तो आपत्ति यह आयेगी कि, सुप्तोत्थित पुरुष को "मैं कुछ जानता नहीं था" ऐसी स्मृति भी नहीं हो सकती। परंतु "मैं कुछ जानता नहीं था" ऐसी स्मृति होती हैं, ऐसा कहने से तो स्मर्यमाण अज्ञान सविषयकत्व और ज्ञानविरोधित्व रुप में ही प्रतीत होता हैं ऐसा स्वीकार करना ही पडेगा। "कुछ (किञ्चित्)" पद द्वारा अज्ञान का सविषयकत्व और "मैं जानता नहीं था (नावेदिषम्)" पद द्वारा ज्ञानविरोधित्व प्रतीत होता हैं। सुषुप्ति में अज्ञान स्वरुपतः अनुभूत होता हैं, ऐसा स्वीकार करे तो अज्ञान का सविषयकत्व और ज्ञानविरोधित्वरुप में स्मरण नहीं हो सकता हैं। इसलिए सुप्तोत्थित पुरुष की स्मृति सविषयकत्वादि धर्म के वैशिष्ट्य के उल्लेखवाली होने से सुषुप्तिदशा में भी अज्ञान का अनुभव सविकल्पक ही हुआ स्वीकार करना चाहिए।[(३५६)]

---

(३५५) अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यत्वाभावाच्च न तत्तोल्लेखाभावेऽपि स्मरणत्वानुपपत्तिः... । सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२०-४२२ । अहङ्काराभावेन कालदेशविशिष्टरूपेणाज्ञानादेरननुभवात् तेन रूपेण न स्मरणम्... । न्यायरत्नावली, पृ. ४२०

(३५६) ननु सौषुप्तानुभवे यदि अज्ञानांशे देशादिवैशिष्ट्यं न भाति अहङ्काररूपकारणाभावात् तर्हि सविषयकत्वाज्ञानत्वयोरपि वैशिष्ट्यं तत्र न स्यात्। इष्टापत्तौ च न किञ्चिदवेदिषमिति स्मृतौ तदुल्लेखानुपपत्तिः। न्यायरत्नावली, पृ. ४२०-४२१

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके उत्तर में अद्वैतसिद्धि में कहा हैं कि, सुषुप्ति में अज्ञान के निर्विकल्पक अनुभव से जन्य ऐसा सुप्तोत्थित पुरुष को सविकल्पक स्मरण नहीं हो सकता। स्मरण किये जाते अज्ञान में जो सविषयकत्व और अज्ञानत्व (ज्ञानविरोधित्व)धर्म का वैशिष्ट्य भासित होता हैं, वह सुषुप्तिकालीन अनुभवजन्य नहीं हैं। उक्त धर्मद्वय का वैशिष्ट्यांश स्मरण का विषय नहीं हैं परन्तु स्मृतिकालीन अनुभव का विषय हैं। अज्ञानस्वरुप की ही स्मृति होती हैं, जब कि वैशिष्ट्यांश तो सुप्तोत्थित पुरुष को उत्थानकाल में महसूस होता हैं।(३५७)

अद्वैतसिद्धिकार के इस प्रकार के समाधान के विषय में न्यायरत्नावलीकार श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती नीचे बताये अनुसार आपत्ति देते हैं। - अद्वैतसिद्धिकार का यह समाधान योग्य नहीं लगता हैं, क्योंकि सुषुप्तिदशा में अनुभव में आता अवस्थाअज्ञान जाग्रद्दशा में नही होता हैं। अनेकविषयविशेषित अवस्थाअज्ञान जाग्रत्काल में अनेकविषय का ज्ञान होने से संभवित नहीं हैं। अज्ञान ज्ञाननिवर्त्य हैं। सुषुप्तिदशा में और जाग्रद्दशा में मूलाज्ञान अभिन्न होता हैं। मूलाज्ञान शुद्धचिन्मात्रविषयक हैं और तत्त्वज्ञानविनाश्य हैं। तत्त्वज्ञान न हो तब तक मूलाज्ञान स्थिर रहता हैं, नाश नहीं होता हैं। परन्तु अवस्थाअज्ञान का वैसा नहीं हैं। अवस्थाअज्ञान का विषय शुद्ध चैतन्य नहीं हैं, वह अनेकविषयक हैं। ''मैं कुछ जानता नहीं था'' ऐसा जो अज्ञान भासित होता हैं वह मूलाज्ञान नहीं हैं। वह अज्ञान अनेकविषयक होने से अवस्थाअज्ञान हैं, ''कुछ (किञ्चित्)'' पद द्वारा अनेकविषय ही कहे गये हैं। अज्ञात अनेकविषय अवस्थाअज्ञान के निरुपक हैं। अज्ञात शुद्धचैतन्य ही मूलाज्ञान का निरुपक हैं। और अज्ञात कुछ खास विशेष विषय तुलाज्ञान का निरुपक हैं। अर्थात् अज्ञात घट या पट, घटविषयक या पटविषयक तुलाज्ञान का निरुपक हैं। अज्ञात अनेकविषयविशेषित अज्ञान ही अवस्थाअज्ञान हैं। ''मैं कुछ जानता ही नहीं था'' इस प्रकार उल्लेखित अज्ञान मूलाज्ञान भी नहीं हैं या तुलाज्ञान भी नहीं हैं परन्तु अवस्थाअज्ञान हैं। अनेकविषयविशेषित अवस्थाअज्ञान, जो सुषुप्तिदशा में अनुभव में आता था वह, जाग्रत्काल में विषय का ज्ञान होने से नहीं रह सकेगा। सुषुप्ति में अज्ञात अनेकविषय में से कुछ विषय का ज्ञान जाग्रद्दशा में होता हैं। इसलिए सुषुप्तिदशा में अनुभव में आता अवस्थाअज्ञान जाग्रद्दशा में विद्यमान नहीं होता हैं। जो विद्यमान न हो उसका अनुभव भी साक्षी नहीं कर सकेगा। साक्षी विद्यमानमात्रग्राही हैं। साक्षी स्वसंसृष्ट (स्वसन्निकृष्ट) वस्तु का ही प्रकाशक बनता हैं। जाग्रत्काल में साक्षी अतीत अवस्थाअज्ञान के साथ संसृष्ट नहीं होता हैं। इसलिए सुषुप्तदशा में अनुभूत और जाग्रत्काल में अतीत अज्ञान में सविषयकत्व और अज्ञानत्व धर्मद्वय का वैशष्ट्य जाग्रत्काल में साक्षी ग्रहण किस तरह से करेगा ?(३५८)

ऐसी आपत्ति के उत्तर में न्यायरत्नावलीकार ने नीचे बताये अनुसार कहा हैं। - अभाव का प्रत्यक्ष प्रतियोगी और अनुयोगी इन दोनों से विशिष्टरुप से और अभावत्व विशिष्ट रुप से होता हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में भासित होता अभाव नियतरुप से प्रतियोगी-अनुयोगीविशिष्टरुप से और अभावत्वधर्मविशिष्टरुप से भासित होता हैं। उपरांत ज्ञान के प्रत्यक्ष में ज्ञान भी सविषयकत्व और ज्ञानत्व ये दो धर्म से विशिष्टरुप से भासित होते हैं। अभाव का प्रत्यक्ष और ज्ञान का प्रत्यक्ष नियतरुप से सविकल्पक होता हैं, परंतु निर्विकल्पक होता नहीं हैं। उसी तरह से अज्ञान का प्रत्यक्ष भी सविषयकत्व और अज्ञानत्व ये दो धर्मो से विशिष्टरुप से ही होता हैं अर्थात् अज्ञान का प्रत्यक्ष भी उक्त धर्मद्वय से विशिष्टरुप से सविकल्पक होता हैं परन्तु निर्विकल्पक नहीं होता हैं। शुद्ध अज्ञान का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं

(३५७) उक्तवैशिष्ट्यांशे न स्मृतित्वं किन्त्वनुभवत्वमिति ...। न्यायरत्नावली, पृ. ४२१ अद्वैतसिद्धि, पृ. ५५८ **(३५८)** इत्यस्याद्वैतसिद्ध्युक्तस्य (अद्वैतसिद्धि, पृ. ५५८) स्वीकारेऽपि अवस्थाऽज्ञानाकारा वृत्तिरिति मूलासङ्गतिः, स्मृतिकाले स्मर्यमाणस्यावस्थाऽज्ञानस्य उच्छिन्नत्वेन तत्रोक्तवैशिष्ट्यस्य साक्षिणो भानासम्भवादिति चेत् ...। न्यायरत्नावली, पृ. ४२१

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता हैं। जैसे अभाव और ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्षवेद्य नहीं हैं, वैसे अज्ञान भी निर्विकल्पक प्रत्यक्षवेद्य नहीं हैं। सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं कुछ भी जानता नहीं था'' ऐसी अज्ञान की जो स्मृति होती हैं उसमें अज्ञान का सविषयकत्व और अज्ञानत्व ये दो धर्म से विशिष्टरुप से ही स्मरण होता हैं। इसलिए इस स्मृति का कारण जो अनुभव हैं, वह भी सविषयकत्व और अज्ञानत्व धर्मद्वयविशिष्ट अज्ञानविषयक ही हो, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इसलिए सुषुप्तिकाल में अज्ञान की अनुभूति भी उक्त धर्मद्वय से विशिष्टरुप से ही होती हैं और इसलिए वह सविकल्पक अनुभव ही हैं।(३५९)

यहाँ कोई आपत्ति देते हैं कि, सुषुप्तिकाल में अहंकार न होने से सुषुप्तिकाल में सविकल्पक अनुभव होना किस तरह से संभव होगा ?

इसके समाधान में न्यायरत्नावलीकार आगे नीचे बताये अनुसार बताते हैं। सुषुप्ति में सविषयकत्व और अज्ञानत्व ये दो धर्म का संसर्ग अज्ञान में अवश्य भासित होता हैं। ये दो धर्मो के संसर्ग से अतिरिक्त दूसरा कोई संसर्ग सुषुप्तिकाल में अज्ञान में भासित नहीं होता हैं। इन दो धर्मो के संसर्ग के सिवा दूसरे किसी भी धर्म का संसर्ग प्रतीत होता हो, तब ही अहंकार की अपेक्षा रहेगी। अहंकार न होने से उक्त दो धर्मो के संसर्ग के सिवा अन्य कोई भी संसर्ग अर्थात् देशकालादि का संसर्ग या साक्षी के साथ अज्ञान का संसर्ग सुषुप्तिदशा में अज्ञान में भासित होना संभवित नहीं हैं। अहंकाररुप कारण न होने से वे दूसरे संसर्ग भासित होना संभव नहीं हैं। यह बात अद्वैतसिद्धि की टीका लघुचन्द्रिकामें (पृ.५५८) कही गई हैं।(३६०)

यहाँ आपत्ति यह दी गई हैं कि, व्यवसायात्मक ज्ञान होने के बाद जब ज्ञान का अनुव्यवसायात्मक प्रत्यक्ष हो तब सविषयकत्वरुप में ज्ञान का प्रत्यक्ष हो सके, क्योंकि व्यवसायज्ञान द्वारा विषय पहले उपस्थित हुआ हैं। इसलिए सविषयकत्वप्रकार से ज्ञान का प्रत्यक्ष हो सकता हैं। परंतु जैसे सविषयकत्व धर्म ज्ञान में प्रकारीभूत हो के भासित होता हैं। इस प्रकार ज्ञान के प्रत्यक्ष में सविषयकत्व और ज्ञानत्व ये दो धर्म प्रकारीभूत होकर भासित होते हैं। विषय प्रथम उपस्थित हुआ होने से सविषयकत्वधर्मप्रकारक ज्ञान हो सकता हैं, परन्तु ज्ञानत्वधर्म तो पहले उपस्थित हुआ ही नही हैं तो फिर पहले अनुपस्थित ऐसा ज्ञानत्वधर्म ज्ञान में प्रकारीभूत होकर किस तरह से भासेगा अर्थात् अनुपस्थित ज्ञानत्वधर्मप्रकारक ज्ञान का प्रत्यक्ष किस तरह से होता हैं ? इसलिए, कोई कोई तार्किक ने ऐसा कहा हैं कि, ज्ञान का प्रत्यक्ष नरसिंहाकार होता हैं अर्थात् ज्ञान का प्रत्यक्ष सविकल्पक भी होता हैं और साथ साथ निर्विकल्पक भी होता हैं। विरुद्धोभयात्मक होने से उस प्रत्यक्ष को नरसिंहाकार कहा गया हैं। प्रत्यक्ष सविषयकत्वांश से सविकल्पक और ज्ञानत्वांश से निर्विकल्पक हैं।(३६१)

यह मत उचित नहीं लगता हैं। ज्ञानत्वांश से ज्ञान का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होने से ''ज्ञान को मैं जानता हुँ'' ऐसा

(३५९)...न। यथाऽभावस्य प्रतियोग्यनुयोगिविशिष्टत्वाभावत्वरूपाभ्यामेव ज्ञानस्य सविषयकत्वज्ञानत्वाभ्यामेव च प्रत्यक्षे भानं तथैवाज्ञानस्य सविषयकत्वाज्ञानत्वाभ्यामेव प्रत्यक्षे भानं न तु शुद्धाज्ञानस्य। तयोरिव तस्यापि निर्विकल्पकावेद्यत्वात्। किञ्च तदुभयरूपविशिष्टत्वेनाज्ञानस्मृतिः तादृशीमेव स्वकारणीभूतामविद्यावृत्तिं कल्पयति। न्यायरत्नावली, पृ. ४२१ (३६०) एवं चाज्ञानत्वादिसंसर्गान्यसंसर्गविषयकवृत्तावेवाहङ्कारस्य हेतुत्वं कल्प्यम्। न्यायरत्नावली, पृ. ४२१ (३६१) ननु ज्ञानस्य प्रत्यक्षे सविषयकत्वप्रकारकत्वनियमो युक्तः, विषयस्य पूर्वमुपस्थितत्वात्। ज्ञानत्वप्रकारकत्वनियमस्त्वयुक्तः, तस्य पूर्वमनुपस्थितत्वात्। अत एव सविषयकत्वांशे सविकल्पं ज्ञानत्वांशे निर्विकल्पकं नृसिंहाकारं ज्ञानस्य प्रत्यक्षं नव्यतार्किकैरुच्यते इति चेत्। न्यायरत्नावली, पृ. ४२१-४२२

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोध नहीं हो सकता हैं। ''ज्ञान को मैं जानता हुँ'' ऐसी प्रतीति का विषय तो ज्ञानत्वविशिष्ट ज्ञान ही होता हैं। ज्ञानत्वांश से ज्ञान के प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक स्वीकार करने से ''घट विषयक ज्ञानवान् में हुँ'' ऐसी प्रतीति होने के बदले ''घटविषयक किंचिद्वान मैं हुँ'' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए।(३६२) जो हो वह, **नैयायिक के मतानुसार ज्ञान उत्पन्न होने के बाद प्रत्यक्ष होता हैं। ज्ञान उत्पन्न होने के बाद प्रत्यक्ष होता हैं, ऐसा मानने से उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित होता हैं। परंतु अद्वैतवेदांतीओ के मतानुसार ज्ञान साक्षिवेद्य हैं। ज्ञान अपनी उत्पत्ति की क्षण में अज्ञात होता हैं परन्तु उत्पत्ति के बाद दूसरे ज्ञान द्वारा वह ज्ञात बनता हैं ऐसा अद्वैतवेदांती का मत नहीं हैं। ज्ञान साक्षिवेद्य होने से ज्ञान की अज्ञात सत्ता ही नहीं हैं। ज्ञान जब होता हैं तब साक्षी द्वारा ज्ञात ही होता हैं। ज्ञान सदा ज्ञात ही होता हैं। इस मत में वेदान्ती योगमत का अनुसरण करते हैं।** ज्ञान के साक्षिवेद्यत्व मत में पहले अनुपस्थित ज्ञानत्वादि धर्म भी ज्ञान में प्रकार होकर भासित होते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षपूर्वक सविकल्पक प्रत्यक्ष होता हैं, अर्थात् विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान कारण हैं, ऐसा अद्वैतवेदांती स्वीकार नहीं करते हैं।(३६३) सुषुप्तिकाल में अहंकार विलीन हो गया होने से, उस समय अन्तःकरणोपराग संभवित नहीं हैं। इसलिए सुषुप्तिदशा में कालादिविशिष्टरुप से अनुभव भी संभवित नहीं हैं। कालादिविशिष्टरुप से हुए अनुभव से जन्य स्मृति में ही ''तत्ता'' का उल्लेख होता हैं। सुषुप्ति में कालादिविशिष्टरुप से अज्ञान का अनुभव होता न होने से यह अनुभवजन्य स्मृति में भी ''तत्ता'' का उल्लेख नहीं होता हैं। इसलिए ही सुप्तोत्थित पुरुष की अज्ञान की स्मृति ''तत्ता'' के उल्लेखरहित होती हैं। दूसरी एक बात यह कि, स्मरण में ''तत्ता'' के उल्लेख का कोई नियम नहीं हैं। स्मरणमात्र ''तत्ता'' के उल्लेखवाला होता हैं, ऐसा नियम न होने से, सुप्तोत्थित पुरुष को होते ''तत्तो'' ल्लेखरहित ज्ञान का स्मरणपन संगत होता हैं। ''तत्ता'' का उल्लेख न होने से वह ज्ञान स्मरण नहीं हो सकता, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए सुप्तोत्थित पुरुष को होता ''मैं कुछ जानता नहीं था'' ऐसा ज्ञान ''तत्ता'' के उल्लेख बगैर का होने पर भी स्मरण ही हैं, ऐसा समजना चाहिए। सुप्तोत्थित पुरुष को होता ''मैं कुछ जानता नहीं था'' ऐसा ज्ञान जाग्रत्कालीन अनुभव में से हो नहीं सकेगा। जाग्रद्दशा में ''मैं सो गया था'' ऐसा अनुभव नहीं हो सकता। अतीत सुषुप्ति का प्रत्यक्ष अनुभव संभव नहीं हैं। अतीत वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता हैं।(३६४) यदि कहा जाये कि जाग्रत्काल में ''मैं सो गया था'' इस रुप से सुषुप्ति का प्रत्यक्ष हो सकता न होने पर भी उसकी अनुमिति हो सकती हैं। मन का लय और अवस्थाअज्ञान इन दो कारण सुषुप्ति होती हैं। जाग्रत्काल में जाग्रद्ज्ञांन द्वारा अवस्थाअज्ञान नष्ट हो गया होता हैं, और जो नष्ट हो गया हो उसका प्रत्यक्ष होगा नही। मनोलय भी जाग्रत्काल में नष्ट हो गया होता हैं। मन की अभिव्यक्ति में ही जाग्रद्दशा होती हैं। मन लीन हो तो जाग्रद्दशा नहीं हो सकती। वैसे ही, मनोलय स्वयं प्रत्यक्षयोग्य वस्तु नहीं हैं। इसलिए मनोलय विद्यमान हो तो भी उसका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। उपरांत, जाग्रद्दशा में मन का उत्थान होने से मनोलय भी नष्ट हो जाता हैं। इसलिए जाग्रत्काल में सुषुप्ति का प्रत्यक्ष सर्वथा असंभव हैं। जाग्रत्काल में सुषुप्ति का प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमिति हो सकती हैं।(३६५) ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जाग्रत्काल में सुषुप्ति का अनुमान करते हुए ऐसा

---

(३६२) न्यायरत्नावली, पृ. ६२७ (३६३)...न, ज्ञानस्योत्पत्त्युत्तरं प्रत्यक्षतामते हि तादृशयुक्तत्वायुक्तत्वविचारः न तु तस्य साक्षिवेद्यत्वमते पूर्वानुपस्थितस्यापि ज्ञानत्वादेरपि भानस्वीकारादिति ध्येयम्। न्यायरत्नावली, पृ. ४२२ (३६४)...अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यत्वाभावाच्च न तत्तोल्लेखाभावेऽपि स्मरणत्वानुपपत्तिः । स्मरणे तत्तोल्लेखनियमाभावाच्च जाग्रद्दशायामस्वाप्समित्यनुभवानुपपत्तेः। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२०-४२२ (३६५)...लिङ्गाभावेनाश्रयासिद्ध्या चानुमानस्यासम्भवात्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२७ ...ननु जागरे सुषुप्तेः प्रत्यक्षं मास्तु, अवस्थाऽज्ञानं मनोलयश्चेति द्वयं हि सुषुप्तिः, तत्राद्यं जागरकालीनधिया नष्टत्वात् द्वितीयं चायोग्यत्वात् नष्टत्वाच्च न प्रत्यक्षम् अनुमितिस्तु स्यात्। न्यायरत्नावली, पृ. ४२२-४२३

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान करना पडेगा – स्वप्न और जाग्रत् का मध्यकाल (पक्ष) सुषुप्तिमान् (साध्य) हैं, क्योंकि ज्ञानसामान्य का अभाव हैं अथवा जन्यज्ञानसामान्य का अभाव हैं (हेतु)। ऐसा अनुमान संभवित नहीं हैं। क्यों ? क्योंकि प्रथम हेतु संगत नहीं हैं, वह असिद्ध हैं। ज्ञानसामान्याभाव को जानने का कोई उपाय नहीं हैं। उपरांत यह ज्ञानसामान्याभाव हेतु पक्षवृत्ति रुप में कभी ज्ञात होता नहीं हैं। दूसरा हेतु भी असिद्ध हैं। दूसरे हेतु को जानने का कोई उपाय नहीं हैं।(३६६)

इसके सामने नीचे बताये अनुसार कहा जाता हैं। स्वप्न-जाग्रत् मध्यकाल से विशिष्टरुप से किसी भी विषय का स्मरण नहीं होता हैं, अर्थात् सुषुप्तिकालविशिष्ट किसी भी वस्तु का स्मरण नहीं होता हैं। इसलिए सुषुप्तिकालीन किसी भी वस्तु के स्मरणाभाव के आधार पर सुषुप्तिकालीन जन्यज्ञानसामान्याभाव का अनुमान होता हैं। स्मरणाभाव उपर से स्मरण के जनक अनुभव का भी अभाव अनुमित हो सकता हैं। यह अनुमेय जन्यज्ञानसामान्याभाव ही सुषुप्ति का अनुमापक लिंग हैं। अनुभव उत्पन्न होकर अपने अधिकरणभूत क्षण से विशिष्ट ऐसे अपने विषय को ग्रहण करता हैं। अनुभव की अधिकरण क्षण अनुभव में आते विषय में विशेषणरुप से भासित होती हैं। जिस रुप में विषय का अनुभव हो उसी अनुभव में से स्मृति भी वही रुप में उत्पन्न होती हैं। तत्कालविशिष्टरुप से किसी का स्मरण होता न होने से स्मरण के जनक तादृश अनुभव के अभाव का अनुमान हो सकता हैं।

इसके समाधान में कहा जाता हैं कि, ऐसा कहना योग्य नहीं हैं। ज्ञान स्मृति का जनक हैं, ऐसा नियम नहीं हैं। ज्ञानमात्र यदि अवश्यरुप से स्मृति का जनक हो तो ऐसा संभव हो। ज्ञान में स्मृति का जनकत्व होने का नियम न होने से जन्यज्ञानसामान्याभाव का अनुमान नहीं हो सकता हैं। इसलिए जन्यज्ञानसामान्याभावरुप हेतु असिद्ध ही हैं।(३६७)

इस प्रकार प्रदर्शित अनुमान में पक्ष भी असिद्ध हैं। स्वप्न और जागरण के बीच का काल ही पक्ष हैं। वही सुषुप्तिकाल हैं। यह सुषुप्तिकाल का उपस्थापक कोई न होने से अनुपस्थित वह काल असिद्ध हैं। इसलिए प्रस्तुत अनुमान आश्रयासिद्ध दोष से दुष्ट हैं। परिणामतः सुप्तोत्थित पुरुष का ''मैं कुछ जानता नहीं था'' ऐसा ज्ञान ''तत्तो''ल्लेखवर्जित होने पर भी वह स्मृति ही बनती हैं। उत्थानसमकालीन अनुभव नहीं होता हैं। इसलिए अद्वैतवेदान्ती सुप्तोत्थित पुरुष को होते ''मैं कुछ जानता नहीं था'' इस अज्ञान को स्मृति कहते हैं। इस स्मृति का जनक सौषुप्त अनुभव हैं और उस अनुभव का विषय भावरुप अज्ञान हैं, यह अद्वैतवेदान्ती की बात हैं।(३६८)

दूसरी आपत्ति कोई नीचे बताये अनुसार दे सकता हैं। यदि सुषुप्तिकाल में अहंकार विलीन हो गया हो तो सुषुप्तिकाल में अहंकार का अनुभव भी नहीं होता हैं। और अहंकार का अनुभव न हो तो सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं कुछ जानता नहीं था'' ऐसा अहंकार स्मृति का विषय किस तरह से होगा ? अहंकार यदि सुषुप्तिकाल में अनुभव में न आता हो तो सुप्तोत्थित पुरुष को उसका स्मरण हो यह उचित नहीं हैं। अननुभूत विषय का स्मरण नहीं होता हैं। इसके उत्तर में अद्वैतवेदांती बताते हैं कि सुप्तोत्थित पुरुष को अहंकार का स्मरण होता नहीं हैं परंतु उत्थान के समय ही अहंकार का अनुभव होता हैं। अहंकारांश में स्मृतित्व नहीं हैं परन्तु अनुभूतित्व हैं। सुषुप्तिकाल में लय

---

(३६६) स्वप्नजागरणयोर्मध्यकालं सुषुप्तिमान् ज्ञानसामान्याभावात् जन्यज्ञानसमान्याभावाद्वेत्यनुमानं न सम्भवति। आद्यो हि न हेतुः असिद्धत्वात् पक्षे ज्ञातुमशक्यत्वाच्च। अत एव न द्वितीयः। न्यायरत्नावली, पृ. ४२७ (३६७) न च तत्कालविशिष्टरूपेण कस्याप्यस्मृतेः तत्काले जन्यज्ञानसामान्याभावोऽनुमेयः। यदा हि अनुभवो जायते तदा तत्कालविशिष्टं स्वविषयं संगृह्णाति, ततश्च तद्रूपेण स्मृतेरुत्पत्तिः स्यात्, तदभावाच्च तादृशज्ञानाभाव इत्यनुमानसंभव इति वाच्यम्। ज्ञानस्य स्मृतिजनकत्वानियमात्। तस्माल्लिङ्गासम्भवः। न्यायरत्नावली, पृ. ४२३ (३६८)...आश्रयासिद्धिश्च तत्कालस्यानुपस्थितत्वात्...। न्यायरत्नावली, पृ. ४२३

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ अहंकार अनुभव में नहीं आता हैं, इसलिए जाग्रत्काल में अहंकार की स्मृति नहीं हो सकती। परंतु उत्थान के समय अहंकार साक्षिचैतन्य द्वारा अनुभव में आता हैं। साक्षी के अहमाकारवाली अविद्यावृत्ति स्वीकार की गई हैं। अहंकार साक्षिवेद्य हैं, प्रमाणवेद्य नहीं हैं।(३६९)

इसके सामने नीचे बताये अनुसार आपत्ति दी जाती हैं। सुप्तोत्थित पुरुष को अज्ञानादिविषयक स्मृति होती हैं। सुषुप्ति में अज्ञान के अनुभवकाल में अज्ञानानुभाव का आश्रय साक्षी ही होता हैं अहंकार नहीं। सुषुप्तिकाल में अज्ञान को अनुभव करनेवाला साक्षी हैं, अहमर्थ नहीं हैं। परंतु सुप्तोत्थित पुरुष को होती अज्ञानादिस्मृति के आश्रयरुप में अहमर्थ का ही स्वीकार किया गया हैं। अहमर्थ ही स्मृति का आश्रय हैं यह अनुभव सिद्ध हैं। इस प्रकार यहाँ अनुभव का आश्रय भिन्न हैं और स्मृति का आश्रय भिन्न हैं। अनुभव और स्मृति के सामानाधिकरण्य का नियम सभी स्वीकार करते हैं, जो अनुभव करता हैं, वही स्मरण करता हैं। अद्वैतवेदान्ती उस नियम का अपलाप किस तरह से कर सकते हैं ?(३७०)

इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती नीचे अनुसार से कहते हैं। जो साक्षिचैतन्य को सुषुप्तिकाल में अज्ञान का अनुभव हुआ होता हैं, उसी साक्षिचैतन्य को अज्ञान का स्मरण भी होता हैं। परंतु स्मरणकाल में उस साक्षिचैतन्य के उपर अहंकार आरोपित हुआ होने से अहंकार स्मरण का आश्रय हैं, ऐसा बोध होता हैं। वस्तुत: अहंकार स्मरण का आश्रय नहीं हैं। स्मरणकाल में स्मरणाश्रय साक्षिचैतन्य में अध्यस्त अहंकार के साथ स्मरण का संसर्ग का बोध होता हैं। वास्तव में स्मरण अहंकाराश्रित नहीं हैं। जैसे एक ही दर्पण में मुख और कुसुमलौहित्य प्रतिबिंबित होने से मुख में रक्तता के संसर्ग का बोध होता हैं, यहाँ भी वैसे ही समजना चाहिए। स्मृति, संशय और विपर्यय ज्ञानाभास हैं, अविद्यावृत्ति हैं। उस ज्ञानाभास या अविद्यावृत्ति का आश्रय साक्षिचैतन्य ही हैं। अहंकार या अन्त:करण अविद्यावृत्ति का आश्रय नहीं हैं। प्रमाणाजन्य ज्ञान का ही आश्रय अहंकार या अन्त:करण हैं। अहंकार प्रमा का ही जनक हैं। अहंकार प्रमा का ही आश्रय हैं। अप्रमारुप ज्ञानाभास की जनक अविद्या ही हैं और अविद्योपहित साक्षी ही उस ज्ञानाभास का आश्रय हैं। अप्रमाज्ञानमात्र ज्ञानाभास हैं। जैसे हेत्वाभास हेतु नहीं हैं वैसे ज्ञानभास ज्ञान नहीं हैं। इसलिए ज्ञानमात्र प्रमा हैं। जो अप्रमा हैं, वह ज्ञानाभास हैं। अज्ञान (अविद्या) ज्ञान-विरोधित्वरुप में भासित होता हैं, अर्थात् अज्ञान प्रमाविरोधित्वरुप से भासित होता हैं। अज्ञान ज्ञानाभास का विरोधी नहीं हैं। उल्टा अज्ञान ज्ञानाभास का उपादान हैं।(३७१)

प्राभाकर मत में ज्ञानमात्र को प्रमा कहा जाता हैं। विचार करने से मालूम होगा कि यह बात अद्वैतवेदान्ती को भी मान्य हैं। अन्त:करणवृत्ति वह ज्ञान ही है और ज्ञानमात्र प्रमा हैं, यह अद्वैतवेदान्ती का मत हैं। **अद्वैतवेदान्ती अविद्यावृत्तिरुप ज्ञानाभास स्वीकार करते हैं। प्राभाकार मत में उसका स्वीकार ही नहीं हैं।** अद्वैतवेदान्ती अनुसार, ज्ञानाभास अज्ञान का निवर्तक नहीं, उस कारण से ही उसको ज्ञान नहीं कहा जा सकता। अज्ञान का अविरोधी ज्ञान, ज्ञान ही नहीं हैं। ज्ञानभास अज्ञान का अविरोधी हैं इसलिए वह ज्ञान नहीं हैं। परंतु ज्ञानाभास भी ज्ञान की तरह ही संस्कार और इच्छादि का जनक हैं, इसलिए किसी स्थान पे ज्ञानाभास को भी ज्ञान

(३६९) अहङ्कारस्तूत्थानसमय एवानुभूयते। सुषुप्तौ लीनत्वेन तस्याननुभूतत्वात् स्मरणानुपपत्तेः। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२३-४२४। न्यायरत्नावली, पृ. ४२३ **(३७०)** सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२४। न्यायरत्नावली, पृ. ४२३-४२४ **(३७१)** मुखप्रतिबिम्बाश्रये दर्पणे जपाकुसुमलौहित्याध्यासेन रक्तं मुखमिति प्रतीतिवदहङ्काराश्रयतया साक्षिचैतन्यस्य स्मरणाश्रयत्वादहमस्वाप्समिति सामानाधि-करण्यप्रतीतिः, न पुनरहं सुखीतिवदाश्रयतया। स्मृतिसंशयविपर्यायाणां साक्षिचैतन्याश्रयत्वनियमादहङ्कारस्य च प्रमाणजन्य-ज्ञानाश्रयत्वनियमात् प्रमात्वेनैव तत्कार्यतावच्छेदात् अप्रमात्वावच्छेदेन च अविद्याया एव कारणत्वात्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२४-४२५। न्यायरत्नावली, पृ. ४२४-४२५

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जाता हैं। वस्तुतः ज्ञानाभास अज्ञान का विरोधी नहीं हैं, इसलिए वह ज्ञान नहीं हैं। अद्वैतवेदान्त के ये समस्त सिद्धान्तरहस्य का खयाल न होने से वेदान्तपरिभाषाकार ने भाट्टमतमान्य प्रमालक्षण को अद्वैतवेदान्त के उपर ढोने की चेष्टा की हैं।(३७२) **भाट्टमतमान्य प्रमा और अद्वैतवेदान्त प्रमा अत्यन्त विलक्षण हैं। ज्ञानाख्य अन्तःकरणवृत्ति ही अद्वैतवेदान्त के मतानुसार प्रमा हैं। इसलिए ज्ञान का अधिगतविषयक या बाधितविषयक होना कभी संभवित ही नहीं हैं। जो अधिगतविषयक हो, जैसे कि स्मृति, वह ज्ञानाभास हैं, अर्थात् अविद्यावृत्ति हैं, अन्तःकरणवृत्ति नहीं हैं, ज्ञान नही हैं, उसी ही तरह से बाधितविषयक शुक्तिरजतादि ज्ञान भी ज्ञान नही हैं परन्तु ज्ञानाभास हैं, अविद्यावृत्ति हैं, ज्ञान नही हैं अन्तःकरणवृत्ति नही हैं।** इसलिए ही सिद्धान्तबिंदु में श्रीमधुसूदन सरस्वती ने स्मृति, संशय और विपर्ययज्ञान का अविद्यावृत्ति के रुप में निर्देश किया हैं, वह स्मृति इत्यादि ज्ञानाभास हैं परन्तु ज्ञान नहीं हैं अर्थात् अन्तःकरणवृत्ति नहीं हैं।(३७३) अनुमित्यादि परोक्षप्रमा की तरह परोक्ष भ्रम भी अन्तःकरणवृत्ति नही हैं परन्तु अविद्यावृत्ति हैं। अनाप्तवाक्यादिजन्य परोक्ष भ्रम होता हैं।(३७४) **सुषुप्त अवस्था में स्वरुपभूत सुख के आकार की अविद्यावृत्ति होती हैं, इसलिए सुषुप्त अवस्था में सुखभोग होता हैं। सुखसाक्षात्कार ही सुखभोग हैं। इस भोग का भोक्ता सुषुप्त्यभिमानी प्राज्ञ हैं। इस सुषुप्त्यभिमानी चैतन्य को प्राज्ञ क्यों कहा हैं इसका कारण बताते हुए श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा हैं कि सुषुप्त्यभिमानी ''प्रकर्षेण अज्ञ'' होने से उसको प्राज्ञ के नाम से पहचाना जाता हैं।** जीव को मूलाज्ञान सर्वदा होता हैं इसलिए वह सर्वदा अज्ञ तो हैं ही। परंतु सुषुप्तिकाल में मूलाज्ञान तो होता है ही, उपरांत अवस्थाअज्ञान भी होता हैं। इस प्रकार सुषुप्ति में द्विविध अज्ञान होने से सुषुप्त्यभिमानी विशेषरुप से अज्ञ हैं। श्रीमधुसूदन ने इस ''प्राज्ञ'' नाम का अन्य अर्थ भी किया हैं। वह नीचे अनुसार हैं। **सुषुप्तिदशा में तीन वृत्तियाँ होती हैं ऐसा कहा गया हैं। इन तीन वृत्ति के विषय से अन्य विषयविशेष का दर्शन सौषुप्त साक्षी नही करता हैं, इसलिए अन्यविषयविशेष-विषयकत्व सौषुप्त साक्षी को नहीं हैं।** और **''विशेषावच्छेदाभावेन प्रकृष्टज्ञत्वात् वा''** द्वारा श्रीमधुसूदन ने यही बात कही हैं। सुषुप्तिदशा में अज्ञानादि तीन विषय के अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक प्रपंचविषयक ज्ञान नहीं होता हैं। उक्त तीन विषय के अतिरिक्त व्यावहारिक विषय ही विशेष विषय हैं। यह विशेषविषयकत्व सौषुप्त साक्षी को नहीं होता हैं। **विशेषविषयक ज्ञान ही दुःख का कारण हैं। दुःख के कारणभूत विशेषविषयकत्व** का अभाव यही सौषुप्त ज्ञान का प्रकर्ष हैं।(३७५) जो मनोऽवच्छिन्न चैतन्य को ही जीव कहते हैं, उनके मतानुसार सुषुप्तिदशा में मन का लय हुआ होने से मनोऽवच्छिन्न चैतन्य भी नहीं होता हैं। इसलिए सुषुप्ति में जीव के अभाव की आपत्ति आये ऐसा किसी को लगेगा परंतु ऐसी आशंका करना अयोग्य हैं। स्थूल-सूक्ष्म साधारण मन से अवच्छिन्न चैतन्य ही जीव हैं। सुषुप्तिदशा में मन स्थूलरुप में न होने पर भी सूक्ष्मरुप में या संस्काररुप में तो अवश्य होता हैं और ऐसा मन सुषुप्तिदशा में भी चैतन्य का अवच्छेदक होता हैं ही। इसलिए सुषुप्तिदशा में जीव के अभाव की आपत्ति नहीं आती हैं।(३७६)

---

(३७२) तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वम् अनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्। वेदान्तपरिभाषा, पृ. १९-२० (३७३) सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२४-४२५ (३७४) अनाप्तवाक्यादिजन्यपरोक्षविभ्रमोऽप्यविद्यावृत्तिरेवेत्यभ्युपगमो वेदान्तविदाम्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२५-४२६ (३७५) सुषुप्त्यवस्थायामस्त्यानन्दभोगस्तद्भोक्ता च सुषुप्त्यभिमानी प्राज्ञ इत्युच्यते। प्रकर्षेणाज्ञत्वात् तदानीं विशेषावच्छेदाभावेन प्रकृष्टज्ञत्वाद् वा। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४३२

...मूलाज्ञानं सर्वदास्ति। अवस्थाऽज्ञानमपि सुषुप्ताविति प्रकर्षः। विशेषावच्छेदाभावेन वृत्तित्रयविषयान्यविषयविशेषविषयकत्वाभावेन। सौषुप्तसाक्षिण इति शेषः। विशेषविषयकत्वस्य दुःखप्रयोजकत्वेन तदभावो ज्ञानस्य प्रकर्षः। न्यायरत्नावली, पृ. ४३२
(३७६)...तदा चान्तःकरणस्य लयेऽपि तत्संस्कारेणावच्छेदान्न जीवाभावप्रसङ्गः। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४३२

अवच्छेदादिति। मनोऽवच्छिन्नचैतन्यमेव जीव इति पक्षे इति शेषः। न्यायरत्नावली, पृ. ४३२

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई नीचे बताये अनुसार कहता हैं। मनोऽवच्छिन्न जीव हो तो सुषुप्तिदशा में मन का लय हो जाता होने से, भेदक उपाधिरुप जो मन है उसके लय के कारण, ईश्वर के साथ जीव के अभेद की आपत्ति आयेगी।(३७७) उपरांत, इस प्रकार सुषुप्तिदशा में जीव नहीं रहने से अविद्या जीव के स्थान पर ब्रह्मचैतन्य की आवरक बन जाने की आपत्ति आयेगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार नही कहा जा सकता। मनोऽवच्छिन्न चैतन्य को जीव मानने से सुषुप्तिदशा में इन सब दोषो की आपत्ति आती हैं, ऐसा जो मानते हैं, उनका मत गलत हैं। क्योंकि सुषुप्ति दशा में मन होता हैं। जीवोपाधि मन सुषुप्तिदशा में स्थूलरुप में न होने पर भी सूक्ष्मरुप में होता हैं और उसके द्वारा जीवेश्वरविभाग सिद्ध होता हैं और जीव के प्रति अविद्या का आवरकत्व भी सिद्ध होता हैं।

यहाँ ध्यान में रखना कि, जो अविद्योपहित चैतन्य को जीव कहते हैं और मनोऽवच्छिन्न चैतन्य को जीव नहीं कहते हैं उनके मतानुसार सुषुप्तिदशा में प्रदर्शित दोषो की संभावना नहीं हैं। सुषुप्ति दशा में जीव की उपाधि अविद्या विद्यमान ही होता हैं।(३७८)

सिद्धान्तबिंदु में बताया हैं कि, जो स्मृति, संशय आदि ज्ञानाभास को साक्षीमात्र में आश्रित मानते हैं।(३७९) वे "अविद्यागत चिदाभास ही साक्षी हैं" ऐसे वार्तिककार के मत का अवलंबन लेकर ही ऐसा मानते हैं। परंतु विवरणकार के मतानुसार यह अयोग्य हैं। **विवरणकार अनुसार अविद्या में पडता चैतन्य का प्रतिबिंब ही जीव हैं। बिंबरुप चैतन्य स्वयं ही ईश्वर हैं और बिंब-प्रतिबिंब दोनों में अनुगत ऐसा शुद्ध चैतन्य ही साक्षी हैं। विवरणकार के इस मत में स्मृत्यादिकार्य साक्षिमात्र में आश्रित नहीं हैं परंतु अविद्याविशिष्ट चिदाभास में आश्रित हैं।**(३८०)

सुषुप्ति में अन्तःकरण का लय होने के कारण प्रमाता का भी लय होता हैं। अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य ही प्रमाता हैं। परिणामतः प्रत्येक उत्थान के समय प्रमाता का भेद मानना पडेगा, और ऐसा मानने से पूर्वदिनस्थित प्रमाता ने अनुभव किये हुए विषय का परदिनस्थित प्रमाता स्मरण करे, यह नहीं होता, क्योकि पूर्वदिनस्थित प्रमाता और परदिनस्थित प्रमाता भिन्न हैं। इसके उत्तर में श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा हैं कि इस तरह से प्रमाता का भेद होने पर भी साक्षी का भेद नहीं होता हैं। पूर्वदिन में और परदिन में साक्षी एक ही होता हैं। साक्षी ही अधिक उपाधि से विशिष्ट बनकर प्रमाता बनता हैं। इसलिए अनुभव और स्मृति का सामानाधिकरण्य होता हैं, इसलिए पूर्वदिन में अनुभूत वस्तु का स्मरण परदिन में हो सकता हैं।(३८१)

वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य व्यवहारदशा में भी साक्षी का भेद स्वीकार नहीं करते हैं। उल्टा साक्षीभेद का निराकरण करते हैं। इसलिए सुषुप्ति दशा में साक्षीभेद की कोई संभावना ही नहीं हैं।

(३७७) न वा सार्वज्ञ्यापत्तिः। सिद्धान्तबिन्दुः, पृ. ४३२र् ...मनोऽवच्छिन्नस्य जीवत्वे तु मनउच्छेदेन जीवत्वाभावः स्यात्, ईशाभेदसम्पत्त्या सार्वज्ञ्यापत्तिश्च स्यात्। जीवस्याभावेन तं प्रत्यविद्याऽऽवृणोतीत्यस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भावः। न्यायरत्नावली, पृ. ४३२ (३७८) अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे नोक्तप्रसङ्गः। न्यायरत्नावली, पृ. ४३२ (३७९) स्मृतिसंशयविपर्यायाणां साक्षिचैतन्याश्रयत्वनियमात्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४२४-४२५ (३८०) अत्रेदं बोध्यम्। मूले साक्षिमात्राश्रितत्वरूपं साक्ष्याश्रितत्वं स्मरणादेर्यदुक्तं तदविद्यागतचिदाभासः साक्षीति वार्तिकमवलम्ब्यैव।... बिम्बप्रतिबिम्बानुगतशुद्धचित् साक्षीति मते तु स्मृत्यादिकार्यं न साक्षिमात्राश्रितम् किन्तु अविद्याविशिष्टचिदाभासाश्रितमपि। न्यायरत्नावली, पृ. ४३४ (३८१)...ननु पूर्वदिनस्थप्रमात्रानुभूतमद्यदिनस्थप्रमात्रा न स्मर्येत तयोर्भेदात्...। न्यायरत्नावली, पृ. ४३४ ...साक्षिण एव चाधिकोपाधिविशिष्टस्य प्रमातृत्वान्न प्रतिसन्धानानुपपत्तिरिति। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४३४

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीसुरेश्वराचार्य ने कहा हैं कि देहभेद से प्रमाताभेद और प्रमाणभेद होने पर भी साक्षीभेद नहीं होता हैं। साक्षी वही का वही रहता हैं। यह साक्षी ही आत्मा हैं। श्रुति में भी यही बात कही हैं -''एष ते अन्तर्यामी अमृत:'' (बृहदारण्यक ३.१.३)[(३८२)]

यदि कहा जाये कि, सुप्तोत्थित पुरुष को जैसे सुषुप्तिकालीन स्वरुपसुख के अनुभव के कारण ''मैं सुख से सो गया था'' ऐसा सुखस्मरण होता हैं, वैसे सुप्तोत्थित किसी पुरुष को कोई बार ''मैं दुःखपूर्वक सो गया था'' ऐसा दुःखस्मरण भी होता हैं। इसलिए क्या सुषुप्ति में दुःखानुभव भी स्वीकार करे ? नहीं। सुषुप्तिदशा में दुःखानुभव की सामग्री न होने से सुषुप्तिदशा में दुःखानुभव नहीं हो सकता। यदि कहा जाये कि सुषुप्तिदशा में जैसे दुःखानुभव की सामग्री नहीं होती हैं, वैसे सुखानुभव की भी सामग्री नही होती हैं, तो फिर सुषुप्ति में सुखानुभव भी किस तरह से होता हैं ? इसके उत्तर में कहना चाहिए कि, साक्षिस्वरुप सुख नित्य हैं, वह कारणजन्य नहीं हैं। यह स्वरुपसुख के आकार की अविद्यावृत्ति द्वारा स्वरुपसुख का अनुभव सुषुप्ति में हो सकता हैं। कभी ''दुःखपूर्वक मैं सो गया था'' ऐसा जो स्मरणरुप बोध होता हैं इसका अर्थ ऐसा होता हैं कि, ''दुःखसाधन शय्यादि में शयन किया था''। दुःख साधन शय्यादि ही ऐसी प्रतीति का विषय हैं। शय्यादि के असमीचीनत्व के कारण ही शय्यादि में दुःख का उपचार किया जाता हैं। वस्तुतः सुषुप्ति में दुःख का अनुभव नहीं होता हैं। ''मैं दुःखपूर्वक सो रहा था'' ऐसी प्रतीति में दुःख का उपचारमात्र होता हैं।[(३८३)] अथवा, कोई कोई सुषुप्ति में दुःखानुभव भी होता हैं ऐसा भी स्वीकार किया जा सकता हैं।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाओ में से प्रत्येक अवस्था त्रिविध हैं। त्रिविध जाग्रद्‌अवस्था इस अनुसार से हैं- (१) जाग्रत्-जाग्रत् (२)जाग्रत्-स्वप्न और (३) जाग्रत्-सुषुप्ति। प्रमाज्ञान को जाग्रत्-जाग्रत् कहा जाता हैं। शुक्तिरजतादि विभ्रमरुप ज्ञान को जाग्रत्-स्वप्न कहा जाता हैं। और जब श्रमादि द्वारा स्तब्धीभाव हो अर्थात् अहमाकारा वृत्ति से भिन्नवृत्ति सामान्याभाव से हो तब जाग्रत्-सुषुप्ति हुई कही जाती हैं। **इस तरह से स्वप्नावस्था भी त्रिविध हैं।** (१)स्वप्न-जाग्रत् (२)स्वप्न-स्वप्न और (३)स्वप्न-सुषुप्ति। स्वप्नावस्था में मन्त्रादि की प्राप्ति यह स्वप्न-जाग्रत् कहा जाता हैं। स्वप्नावस्था में भी स्वप्न दिखता हैं, अर्थात् स्वप्न में स्वप्न दिखे वह स्वप्न स्वप्न कहा जाता हैं। और जाग्रद्‌वस्था में कहा न जा सके ऐसा स्वप्नदर्शन स्वप्नसुषुप्ति कहा जाता हैं। स्वप्नदशा में जो अनुभव हुआ हो उसे जाग्रद्‌दशा में कहना असंभव होने से उसको स्वप्न-सुषुप्ति कही जाती हैं। **इसी तरह से सुषुप्तिअवस्था भी त्रिविध हैं।** (१) सुषुप्ति-जाग्रत् (२) सुषुप्ति-स्वप्न और (३) सुषुप्ति-सुषुप्ति। सुषुप्ति अवस्था में सात्विकी सुखाकारा वृत्ति सुषुप्ति-जाग्रत् कही जाती हैं। ऐसी सुषुप्ति के बाद सुप्तोत्थित पुरुष को ''मैं सुख से सोया था'' ऐसी स्मृति होती हैं। ऐसी सुषुप्ति में जो सात्विकी सुखाकारवृत्ति होती हैं वह सत्त्वगुण का परिणाम हैं और सुखाकार वृत्ति आत्मविषयिणी वृत्ति हैं। सुषुप्तिअवस्था में जो राजसी वृत्ति होती हैं वही सुषुप्ति-स्वप्न कहा जाता हैं। ऐसी सुषुप्ति के बाद ''मैं दुःख पूर्वक सोया था'' ऐसी स्मृति होती हैं। यहाँ राजसीवृत्ति का अर्थ हैं- रजोगुणविषयिणी वृत्ति।

(३८२) मातृमानप्रभेदेऽपि प्रतिदेहं न भिद्यते । साक्षी बाह्यार्थवद् यस्मात् स आत्मेत्युच्यते ततः ॥ ...इति वार्तिककारपादैर्व्यवहारदशायामपि साक्षिभेदनिराकरणात्। सुषुप्तौ तद्भेदकल्पनं केषाञ्चिद्व्यामोह एवेत्यवधेयम्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४३५. (३८३) दुःखमहमस्वाप्समिति कस्यचित् कदाचित् परामर्शात् सुषुप्तौ दुःखानुभवोऽप्यस्तु। न, तदानीं दुःखसामग्रीविरहेण तदभावात्। सुखस्य चात्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वात् शय्यादेरसमीचीनत्वेन च दुःखमित्युपचारात् दुःखमहमस्वाप्समिति प्रत्ययोपपत्तिः। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४३७

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजोगुण दुःखादिरुप से परिणामभोग्य होने से रजोगुण में दुःखत्व का उपचार होता हैं। परंतु राजसीवृत्ति स्वयं रजोगुण का परिणाम नहीं हैं। सात्विकी, राजसी और तामसी ये त्रिविध वृत्ति सत्त्वगुण का ही परिणाम हैं। ज्ञानरुप वृत्तिमात्र सत्त्वगुण का परिणाम हैं। **''सत्त्वति संजायते ज्ञानम्'' (१४.१७)** यह गीतावचन उसमें प्रमाण हैं। सत्त्वगुण के अतिरिक्त अन्य गुण का परिणाम ज्ञानरुप वृत्ति नहीं हो सकती। सुषुप्ति अवस्था में जो तामसी वृत्ति हैं वही सुषुप्ति-सुषुप्ति कही जाती हैं। ऐसी सुषुप्ति के बाद ''दृढता से मूढ ऐसा मैं सोया था'' ऐसी स्मृति होती हैं। यह सब चर्चा योगवासिष्ठ और वार्तिकामृत इत्यादि ग्रन्थो में विस्तृतरुप से की गई हैं।[३८४]

अब आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पूर्वोक्त तीन अवस्था के तीन तीन प्रकार 'सर्ववेदान्त-सिद्धान्त सार संग्रह' ग्रंथ में बताये है, वह अब देखेंगे हैं।

● **जाग्रदवस्था के तीन प्रकार**[३८५] :- (१) सामने दिखाई देता पदार्थ में ''यह मेरा हैं'' -ऐसी भावना जब रहती नहीं हैं, तब वह **जाग्रत् में भी जाग्रत् अवस्था हैं।** (२) ''दिखाई देते पदार्थ की परंपरा सच्चिदानंद ऐसे मुझ में रही हुइ हैं'' ऐसा जानकर नाम और रुप का त्याग हो जाये, उसे **जाग्रत् में स्वप्नावस्था** कही जाती हैं।

(३) ''परिपूर्ण चैतन्य से ही चारो ओर प्रकाशित चिदाकाश ऐसे मुझ में केवल ज्ञानस्वरुप बिना अन्य कुछ नहीं हैं'' ऐसा अनुभव को **जाग्रत् में सुषुप्ति अवस्था** कही जाती हैं

● **स्वप्नावस्था के तीन प्रकार**[३८६]:- (१)''मेरा मूल अज्ञान का नाश हुआ हैं, इसलिए कारणाभास की चेष्टाओं से मुझ को अल्प भी बंधन नहीं हैं'' ऐसा अनुभव को **स्वप्न-जाग्रत्अवस्था** कही जाती हैं। (२)अज्ञानरुप कारण का नाश होने से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रुप कोइ कार्य ही रहा नहीं हैं, ऐसा जो ज्ञान, उसको **स्वप्नस्वप्न** अवस्था कहते हैं। (३)अतिसूक्ष्मविचार के कारण अपनी बुद्धि की वृत्ति अचंचल बनकर जब ज्ञान में विलय हो जाती हैं, तब उस अवस्था को **'स्वप्नसुषुप्ति'** कहते हैं।

● **सुषुप्ति अवस्था के तीन प्रकार**[३८७]:- (१) चैतन्यमय आकारवाली बुद्धि, वह बुद्धि की वृत्ति के प्रसारो के साथ केवल आनंद के अनुभव रुप से ही परिणमन होता हैं, उसे **सुषुप्तिजाग्रत्** अवस्था कहते हैं। (२) चिरकाल

---

(३८४) अथवा अवस्थात्रयस्यापि त्रैविध्याङ्गीकारात् सुषुप्तावपि दुःखमुपपद्यते । तथाहि प्रमाज्ञानं जाग्रज्जाग्रत्, शुक्तिरजतादिविभ्रमो जाग्रत्स्वप्नः, भ्रमादिना स्तब्धीभावो जाग्रत्सुषुप्तिः। एवं स्वप्ने मन्त्रादिप्राप्तिः स्वप्नजाग्रत्, स्वप्नेऽपि स्वप्नो मया दृष्ट इति बुद्धिः स्वप्नस्वप्नः, जाग्रद्दशायां कथयितुं न शक्यते स्वप्नावस्थायां च यत्किञ्चिदनुभूयते तत्स्वप्नसुषुप्तिः । एवं सुषुप्त्यवस्थायामपि सात्त्विकी या सुखाकारा वृत्तिः सा सुषुप्तिजाग्रत्, तदनन्तरं सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शः। तत्रैव या राजसी वृत्तिः सा सुषुप्तिस्वप्नः, तदनन्तरमेव दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शोपपत्तिः । तत्रैव या तामसी वृत्तिः सा सुषुप्तिसुषुप्तिः, तदनन्तरं गाढं मूढोऽहमस्वाप्समिति परामर्शः। यथा चैतत् तथा वासिष्ठवार्तिकामृतादौ स्पष्टम्। सिद्धान्तबिन्दु, पृ. ४३७-४३९ **(३८५)** इदं ममेति सर्वेषु दृश्यभावेष्यभावना । जाग्रज्जाग्रदिति प्राहुर्महान्तो ब्रह्मवित्तमाः ॥९४९॥ विदित्वा सच्चिदानंदे मयि दृश्यपरंपराम् । नामरुपपरित्यागो जाग्रत्स्वप्नः समीर्यते ॥९५०॥ परिपूर्णचिदाकाशे मयि बोधात्मतां विना। न किंचिदन्यदस्तीति जाग्रत्सुप्तिः समीर्यते ॥९५१॥ (सर्व वेदांत सि.सा. संग्रह) **(३८६)** मूलाज्ञानविनाशेन कारणाभासचेष्टितैः। बंधो न मेऽतिस्वल्पोऽपि स्वप्नजाग्रदितीर्यते ॥९५२॥ कारणाज्ञाननाशाद्यद्रष्टुदर्शनदृश्यता । न कार्यमस्ति तज्ज्ञानं स्वप्न-स्वप्नः समीर्यते ॥९५३॥ अतिसूक्ष्मविमर्शेन स्वधीवृत्तिरचंचला। विलीयते यदा बोधे स्वप्नसुषुप्तिरितीर्यते ॥९५४॥ (स.वे.स.सा.संग्रह) **(३८७)** चिन्मयाकारमतयो धीवृत्ति-प्रसरैर्गतः। आनंदानुभवो विद्वन् सुप्तिजाग्रदितीर्यते ॥९५५॥ वृत्तौ चिरानुभूतांतरनंदानुभवस्थितौ। समात्मतां यो यात्येष सुप्तिस्वप्न इतीर्यते ॥९५६॥ दृश्यधीवृत्तिरेतस्य केवलीभावभावना परं बोधैकतावाप्तिः सुप्तिसुप्तिरितीर्यते ॥९५७॥ (सर्ववेदांत-सिद्धांत-सारसंग्रहः)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अनुभव कीये हुए अंतर की आनंदानुभववाली स्थिति जिस में होती हैं, ऐसी वृत्ति जो एकात्मता को पाती हैं, उसे **सुषुप्ति-स्वप्न अवस्था** कहते हैं। (३) यह आत्मा की, दृश्य संबंधित बुद्धि की वृत्ति, केवलीपन की भावना रुप बन जाये और केवल एक ज्ञान की ही प्राप्ति हो जाये, उसको **सुषुप्ति-सुषुप्ति अवस्था** कहते हैं।

इस तरह वेदांत में जीव की तीन अवस्थाओं का स्वरुप बताया हैं।

● **वेदांत के विभिन्न संप्रदाय और उनकी मान्यतायें :-** श्रीबादरायणऋषि के ब्रह्मसूत्र के उपर बहोत भाष्य रचे गये हैं और प्रत्येक भाष्यकार ने वेदांत को अलग-अलग तरीके से समजाने का प्रयत्न किया हैं। उसमें...

(१)श्रीशंकराचार्य कृत शारीरिक भाष्य में "**निर्विशेषाद्वैत (केवलाद्वैत)**" सिद्धांत की पुष्टि की गई हैं। (२)श्रीभास्कराचार्य कृत भास्करभाष्य में "**भेदाभेद**" सिद्धांत बताया हैं। (३)श्रीरामानुजाचार्य विरचित श्रीभाष्य में "**विशिष्टाद्वैत**" मत को बताया हैं (४) श्रीमाधवाचार्य संदृब्ध पूर्णप्रज्ञभाष्य में "**द्वैतवाद**" का समर्थन किया गया हैं। (५)श्रीनिम्बकाचार्य रचित वेदांतपरिजातभाष्य में "**द्वैताद्वैत**" सिद्धांत का प्ररुपण किया हैं। (६) श्रीकंठाचार्यकृत शैवभाष्य में "**शैवविशिष्टाद्वैत**" मान्यता को बताई हैं। (७) श्रीपति रचित **श्रीकरभाष्य** में "**वीरशैवविशिष्टाद्वैत**"सिद्धांत का प्रतिपादन हैं। (८) श्रीवल्लभाचार्यविरचित **अणुभाष्य** में "**शुद्धाद्वैत**" मत का निरुपण किया हैं। (९)श्रीविज्ञानभिक्षुकृत विज्ञानामृतभाष्य में "**अविभागाद्वैत**" सिद्धांत का वर्णन किया हैं। (१०) श्रीबलदेव विरचित गोविंदभाष्य में "**अनित्यभेदाभेद**" वाद का पुरस्कार हुआ हैं।

अब पूर्वोक्त विभिन्न संप्रदायो की मान्यताओं को आंशिक देखेंगे। यहाँ उन सभी मान्यताओं का विस्तार संभव नहीं हैं। केवल उस उस आचार्यो ने अपने से अन्य आचार्यो से कौन-कौन सी मान्यताओ में भिन्न अभिगम बताया हैं, वही देखेंगे। यहाँ, उल्लेखनीय हैं कि, उपरोक्त मतो में श्रीशंकराचार्य का "निर्विशेषाद्वैत" मत ज्यादा प्रचलित हैं। हमने जो पहले ब्रह्मादि का वर्णन देखा हैं वह भी श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद की पुष्टि करनेवाले ग्रंथो के माध्यम से ही किया हैं।

(१)निर्विशेषाद्वैत (केवलाद्वैत)मत :- यह मत श्रीशंकराचार्य का हैं। उनके अद्वैतसिद्धांत का[(३८८)] सारांश यह हैं कि, इस जगत में हम को नेत्रो से जो दिखाई देता हैं, वह सत्य नहीं हैं। इस समस्त विश्व में यदि कोई वस्तु सत्य हो तो वह ब्रह्म की चैतन्य सत्ता हैं अर्थात् सृष्टि का एकमात्र तत्त्व हैं ब्रह्म। वही सत्य हैं। सामने दिखाई देता जगत मिथ्या हैं। जैसे अंधेरे में रस्से के बदले सर्प दिखाई दे वैसे मायाजन्य अज्ञान के कारण जगत सत्य लगता हैं। जीव ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म निर्विशेष हैं। ब्रह्म ही एक पारमार्थिक सत्य हैं। फिर भी जब तक अज्ञान विद्यमान हैं और जगत, जगत रुप में ही दिखता हो तब तक व्यवहार में जगत का स्वीकार करना पडता हैं। वह अपनी मर्यादा में व्यावहारिक सत्य भी हैं। इतना ही नहीं, स्वप्न चलता हो या भ्रमणा चलती हो, उस समय दरमियान स्वप्न सृष्टि का भी एक सत्य हैं और भ्रमणा से खडे हुए सुख-दुःख भी सत्य होते हैं। वह प्रातिभासिक सत्य हैं। इस तरह से पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक : ये तीन सत्यो का स्वीकार करना पडता हैं।

उपनिषदो में ब्रह्म का वर्णन 'नेति नेति' इत्याकारक निषेधात्मक शब्दो से और "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्याकारक विधेयात्मक शब्दो से भी किया गया हैं। सारांश में, इस विश्व में एकमात्र ब्रह्म की ही चैतन्य सत्ता हैं। जो अपनी माया-अविद्या नाम की शक्ति से जगत की उत्पत्ति-संहार करती हैं। दिखाई देते इस जगत में द्वैत की प्रतीति

(३८८) "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ''माया'' के कारण होती हैं। जैसे अग्नि में दाहकशक्ति हैं, वैसे माया ब्रह्म की एक शक्ति ही हैं। वह सत् भी नही हैं, असत् भी नहीं हैं, सदसद् भी नहीं हैं और सदसद्भिन्न भी नहीं हैं। सारांश में माया 'अनिर्वचनीय' हैं। वह सत्त्व, रजस् और तमस् : ये तीन गुणात्मक हैं और ज्ञान की विरोधी हैं। इस माया के द्वारा जगत की उत्पत्ति में कोई वास्तविकता नहीं हैं, परन्तु उसके द्वारा उत्पन्न होता यह जगत एकमात्र भ्रम हैं, अथवा स्वप्नसमान हैं। जो सत्य लगता हैं, परन्तु उसकी सत्ता रस्से में सर्प का ज्ञान हो जाता हैं, इससे अधिक नहीं हैं। अर्थात् भ्रम हैं, इस सिद्धांत को ''**विवर्तवाद**'' कहा जाता हैं। श्रीशंकराचार्य के मत में जब जीव अविद्या (माया) के स्वरुप को समज जाता हैं, तब अपनी इन्द्रिय और मन से पृथक् पूर्ण चैतन्य सत्ता अनुभव करने लगता हैं। परन्तु अविद्या के अध्यारोप की निवृत्ति के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाध्यनुष्ठान की आवश्यकता हैं और चारों का जिन्हों ने अच्छी तरह से अभ्यास किया हैं, ऐसे ब्रह्मविद् गुरु के पास निरंतर श्रवणादि का अनुष्ठान करने से उसके भ्रम की निवृत्ति होती हैं और अद्वैत का अनुभव होता हैं और वह शुद्ध आत्मस्वरुप में स्थित हो जाता हैं। यही अद्वैत सिद्धांत के अनुसार मुक्ति की व्यवस्था हैं। (१)नित्यानित्य वस्तु का विवेक, (२) इहलोक परलोक संबंधी फल के उपभोग का विराग, (३) शम, दम, उपरति (कर्मत्याग), तितिक्षा (सहनशीलता), समाधि और श्रद्धा :- ये छ गुणो की प्राप्ति और (४) मुमुक्षुता = मोक्ष की ईच्छा : ये चार गुणो के सेवनपूर्वक श्रवणादि के सेवन हो तो भ्रम की निवृत्ति के द्वारा अद्वैत का अनुभव होता हैं -इस अनुसार श्रीशंकराचार्य का ''केवलाद्वैत'' सिद्धांत का सारांश हैं।

(अत्र उल्लेखनीय हैं कि, निर्विशेषाद्वैत के सिवा बाकी के सभी वेदांत के मत श्री बलदेव उपाध्याय कृत 'भारतीय दर्शन' आदि पुस्तक से संकलित किये गये हैं।)

(२)विशिष्टाद्वैत मत(३८९):-

श्रीशंकराचार्य के निविर्शेषाद्वैत के सिद्धांत के सामने श्रीरामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत सिद्धांत की स्थापना की हैं। जो ''श्रीभाष्य'' में इस सिद्धांत की पुष्टि की हैं। उसके मतानुसार ''माया-मिथ्यात्ववाद'' और ''अद्वैतवाद'' दोनों गलत हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त जीव और जड जगत अर्थात् चित् और अचित् भी नित्य और स्वतंत्र तत्त्व हैं। यद्यपि वे ब्रह्म के ही अंश हैं और ब्रह्म उसमें अन्तर्यामी रुप से रहते हैं। वे दोनों तत्त्व ही ब्रह्म की विशेषता हैं। जो प्रलयकाल में ब्रह्म के अंदर सूक्ष्मरुप से रहते हैं और विश्व उत्पत्ति के अवसर पर स्थूलरुप में प्रकट हो जाते हैं। इसलिए उसका

---

(३८९) विशिष्टाऽद्वैतमतम्।

विशिष्टाद्वैतमित्यस्य केनचिद् विशेषणेन विशिष्टोऽद्वैतरूप ईश्वर एव विशिष्टाऽद्वैतपदाभिधेयतां गच्छति। प्रकृते च जीव-जगद्रूपविशेषणेन विशिष्टः ईश्वरो वर्तते। स च सर्वेषामाधारभूतः, जगन्नियन्ता, सर्वशक्तिमान्, अनादिरनन्तश्च, एवम्भूतो राम एव चास्ति ईश्वरः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्नसौ रामः, स एव चाष्टविधैश्वर्यशालित्वादीश्वरः परमेश्वर इति च गीयते। अस्य च विशिष्टाद्वैतमतस्याऽऽदिप्रवर्तकत्वेन जन्मदाता चास्ति साक्षात् स्वयं श्रीरामानुजाचार्यः। अयञ्च श्रीरामानुजाचार्यः ११०० ईसवीये वर्षे स्वकीयां स्थितिं लभमानः 'श्रीभाष्य'स्य रचनां कृतवान् इति सर्वेऽपि वैष्णवसम्प्रदायविदो विदन्ति वदन्ति च। अयमेव चास्त्यस्य रामानुजसम्प्रदायस्य प्रथमाचार्यः। अस्यास्ति जन्मदातुः पितुर्नाम श्रीकेशवभट्टः, माता च कान्तिमती। त्रिचनापल्लीप्रान्तान्तर्गत-'भूतपुरी'-ग्रामनिवासी चाऽयं श्रूयते। **अनेन विरचिताः केचन ग्रन्था अधस्तात् प्रदर्श्यन्ते**-१. 'वेदान्तसारः', २. 'वेदान्तदीपः', ३. 'वेदार्थसारः' इत्यादि बहूनां ग्रन्थानां निर्माणकर्ता आसीत्। एवं श्रीमद्भगवद्गीताग्रन्थस्योपर्यपि टीकां रचितवानित्यपि श्रूयते एव न तु मया स्वयं शशिबालागौडेन समनुभूयते इति। अनेन विरचितस्य श्रीभाष्यस्योपरि १४०० ईसवीये वर्षे विराजमानः 'श्रीसुदर्शनभूरि' नामको दार्शनिको विद्वान् 'श्रुतप्रकाशिका' नाम्नीं टीकां लिखितवानित्यपि श्रूयते एवेति बोध्यम्। दक्षिणदेशीयलाभकरत्वेनायं ब्राह्मणत्वजात्यवच्छिन्नो दाक्षिणात्यब्राह्मणः समनुभवगोचरतां प्रयाति। **प्रत्यक्षानुमानशब्दाश्चेति त्रीण्येव प्रमाणान्यङ्गीकृतवान् श्रीरामानुजाचार्यः।** (दर्शनशास्त्रस्येतिहासः, पृ-६७)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम विशिष्टाद्वैत हैं।

श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशंकराचार्य के संप्रदाय में एक भेद यह भी हैं कि, श्रीशंकराचार्य ब्रह्म को निर्गुण बताते हैं और श्रीरामानुजाचार्य ब्रह्म को सदैव सगुण रुप में ही बताते हैं। उनके मत में ब्रह्म कभी भी निर्गुण नहीं हो सकता हैं। **श्रीरामानुजाचार्य ज्ञान और ध्यान के साथ साथ परम शरणागति रुप भक्ति को ईश्वरप्राप्ति का मुख्य साधन मानते हैं।** यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, श्रीरामानुजाचार्य ''अद्वैत'' में तो मानते हैं। इसलिए परब्रह्म एक और अनन्य तत्त्व हैं ऐसी उनकी भी मान्यता हैं। परन्तु वे चित् और अचित् अर्थात् जीव और जगत को परब्रह्म के शरीर मानते हैं। इस प्रकार परब्रह्म शरीर हैं। तथा चित्-अचित् रुपी विशेषणो से विशिष्ट हैं।

● **रामानुजाचार्य की तत्त्वमीमांसा :-**

श्री रामानुजाचार्य के अनुसार तीन तत्त्व होते हैं -चित्, अचित् तथा ईश्वर। इनमें 'चित्' का अर्थ हैं -जीव, अचित् का अर्थ प्रकृति या जड तत्त्व और सब के अन्तर्यामी तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर चित् तथा अचित् दोनों तत्त्वों से युक्त होता हैं। वही एकमात्र सत्ता हैं, उसे छोडकर कोई स्वतंत्र सत्ता जगत् में नहीं हैं। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के अधीन ही होकर रहते हैं, क्योंकि ईश्वर भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड पदार्थ) इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता हैं। इसलिए चित् तथा अचित् ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। ईश्वर सगुण तथा सविशेष हैं। श्री रामानुजाचार्य जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना को असम्भव मानते हैं। संसार के समग्र पदार्थ-विशिष्ट ही होते हैं। यहाँ तक कि निर्विकल्पक पक्ष में भी सविशेष वस्तु की ही प्रतीति होती हैं। ईश्वर कल्याण गुणों का आकार, अनन्तज्ञान, आनन्द रूप और ज्ञान-शक्ति आदि कल्याण गुणों से विभूषित तथा जगत् के सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य का कर्ता हैं। ब्रह्म सगुण ही होता हैं, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म को जो 'निर्गुण' कहा गया हैं, उसका यही तात्पर्य हैं कि, अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि गुण उसमें विद्यमान नहीं रहते। श्री रामानुजाचार्य ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के आधार पर जगत् में तीन पदार्थो की कल्पना की हैं। श्वेताश्वतर का भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता यह त्रिविध ब्रह्म यहाँ क्रमशः चित्, अचित्, तथा ईश्वर के रूप में गृहीत किया गया हैं।

वेदान्तियों की दृष्टि में भेद तीन प्रकार का होता हैं -(१) सजातीय भेद (उसी जाति के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ से भेद, जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद), (२) विजातीय भेद (गाय का भैंस से भेद), (३) स्वगत भेद (अर्थात् एक वस्तु में एक अंग का दूसरे अंग से भेद, जैसे गाय के सींग तथा पूँछ में)। रामानुज के मत में ईश्वर में प्रथम दोनों भेद तो अवश्य रहते हैं, परन्तु अन्तिम भेद नहीं रहता। ईश्वर का चित् अंश अचित् अंश से भिन्न होता हैं। ऐसी दशा में ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान रहता हैं। श्री शङ्कराचार्य से यहाँ भी अन्तर पडता हैं। श्री शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म इन तीनों भेदों से रहित होता हैं, परन्तु श्री रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर में तीसरा भेद विद्यमान रहता हैं। ईश्वर ही सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता हैं। **प्रलयमयी दशा में जगजीवों का तथा भौतिक पदार्थो का नाश हो जाता हैं, तब भी चित् तथा अचित् दोनों तत्त्व अपनी जीवावस्था में ब्रह्म में विद्यमान रहते हैं। उस दशा में विषयों का प्रभाव होने के कारण ब्रह्म शुद्ध चित् (शरीररहित जीव) से तथा अव्यक्तअचित् (निर्विषयक भूत तत्त्व) से मुक्त रहता हैं और वह 'कारण ब्रह्म' कहलाता हैं। पुनः जब सृष्टि होती हैं, तब ब्रह्म शरीरधारी जीव तथा भौतिक पदार्थो के रूप में अभिव्यक्त होता हैं। उस समय वह कार्यब्रह्म कहलाता हैं।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर तथा अंश-सम्बन्धी प्रश्न की मीमांसा के लिए श्रीरामानुजाचार्य ने द्रव्य तथा गुण अथवा द्रव्य तथा अन्य द्रव्य में विद्यमान रहनेवाला 'अपृथक्-सिद्धि' नामक सम्बन्ध स्वीकृत किया हैं। यह सम्बन्ध न्यायवैशषिकसम्मत समवाय के अनुरूप होने पर भी उससे भिन्न हैं। समवाय बाह्य सम्बन्ध हैं, परन्तु अपृथक्-सिद्धि आन्तर सम्बन्ध हैं। चिदचित् का सम्बन्ध ईश्वर के साथ शरीर तथा आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के नितरां अनुरूप हैं। शरीर वही हैं जिसे आत्मा धारण करता हैं, नियमन करता हैं तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता हैं। ठीक इसी प्रकार ईश्वर चिदचित् को आश्रित करता हैं तथा कार्य में प्रवृत्त करता हैं। इनमें जो प्रधान होता हैं वह नियामक होता हैं तथा 'विशेष्य' कहलाता हैं; जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा 'विशेषण' कहलाता हैं। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य हैं। नियम्य अथ च अप्रधान होने के कारण जीव तथा जगत विशेषण हैं। आत्मभूत ईश्वर के चिदचित् शरीर हैं, विशेष्यभूत ईश्वर के चिदचित् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न होकर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना युक्तियुक्त हैं। ब्रह्म अद्वैतरूप हैं, क्योंकि अंगभूत चिदचित् की अंगों से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। **ईश्वर सकल जगत् का निमित्तोपादान कारण हैं। रचना का प्रयोजन केवल लीला हैं, अन्य कुछ नहीं। बालक जिस प्रकार खिलौनों से खेलता हैं, उसी प्रकार वह लीलाधाम भगवान् जगत् को उत्पन्न कर खेल किया करता हैं। संहारदशा में लीला की विरति नहीं होती, क्योंकि संहार भी उसकी एक लीला ही हैं।**

जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल रूप और सूक्ष्म रूप धारण करने से हैं। प्रलयकाल में जीव-जगत् से सूक्ष्मरूपापन्न होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता हैं और सृष्टिकाल में स्थूल रूप धारण करने पर स्थूल-चिदचिद् विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहलाता हैं। वह किसी भी अवस्था में निर्विशेष नहीं रह सकता। अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य इसी कारणावस्थ ब्रह्म से हैं। **ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य हैं। इसलिए वह 'निर्गुण' कहलाता हैं। 'एकमेवाद्वितीयम्'-आदि वाक्यों का विषय वही अव्याकृत ब्रह्म हैं, जिसमें प्रलयकाल में जीव तथा जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों का यही कथन हैं।**

विशिष्टाद्वैत मत में ऐसी कभी दशा ही नहीं होती जब कि ब्रह्म विशिष्टता से हीन हो। प्रलयकाल में विषयों के अभाव में जीव तथा जगत् दोनों सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और उस समय भी ब्रह्म इन सूक्ष्म जीव तथा जगत् से (चित् तथा अचित् से) विशिष्ट बना ही रहता हैं। सृष्टिदशा में ये दोनों व्यक्त रूप अर्थात् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं। फलतः इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट रहता हैं। उसमें 'विशेष' रहता ही हैं, वह कभी भी निर्विशेष नहीं होता। 'विशिष्टाद्वैत' नाम में भी इसी सिद्धान्त की ओर संकेत हैं। यहाँ केवल ब्रह्म का अद्वैत नहीं होता (जैसा श्री शंकराचार्य मानते हैं); प्रत्युत विशिष्ट (चित्-अचित् से विशिष्ट) ब्रह्म का ही अद्वैत होता हैं, अर्थात् चित्-अचित् जिसमें अंश रूप में विद्यमान रहते हैं, ऐसा विशिष्ट ब्रह्म का अंशी रूप अद्वैत रूप में विद्यमान रहता हैं। शंकर मत से इसीलिए रामानुज वेदान्त की भिन्नता दिखलाने के लिए यह मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रख्यात हैं।

भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के (पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, तथा आर्चावतार) रूपों को धारण करता हैं। ईश्वर के इस पञ्चविध रूप की कल्पना श्री रामानुजाचार्य ने प्राचीन भागवत सम्प्रदाय से ग्रहण की।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंश-अंशी विचार :-

ईश्वर के साथ चित् (जीव) तथा अचित् (भूत) का सम्बन्ध क्या हैं ? यदि ईश्वर अंशी माना जाता हैं तो ये दोनों उसके अंश कैसे हैं ? यदि भौतिक विकारों के होने पर अचित् अंश में विकार उत्पन्न होता हैं, तब तो ईश्वर को भी विकारी मानना पडेगा ? उसी प्रकार अंशभूत जीव के दोषों से ईश्वर को भी दोषी होना ठहरता हैं। अंशभूत जीव में नाना दोष होते हैं, अतः अंशी ब्रह्म में भी ये दोष आरोपित अवश्यमेव किये जा सकते हैं ? फलतः ब्रह्म विकारी तथा दोषी सिद्ध होता हैं। इस विषम स्थिति से बचने के लिए श्री रामानुजाचार्य ने दोनों के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा कर सिद्धान्तरक्षा का दृढतर उपाय किया हैं। वे दोनों के सम्बन्ध को आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध के सदृश मानते हैं–जिस प्रकार आत्मा शरीर को भीतर से नियमित करता चलता हैं, उसी प्रकार ईश्वर चित् अचित् को भीतर से नियमित करता हैं और इसलिए वह 'अन्तर्यामी' कहलाता हैं। जिस प्रकार शरीर यदि अन्धा या लँगडा हो जाय, तो आत्मा इन दोषों से स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार चित्-अचित् में दोषों के राजा-प्रजा के सम्बन्ध के साथ तुलना करते हैं– प्रजा के दुःखों से या सुखों से जिस प्रकार राजा प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार जीवों के दुःखों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। वह अविकारी शुद्ध सत्ता हैं, जिसमें चित्-अचित् अंशरूप से विद्यमान रहकर भी अपनी क्रिया से उसे परिणामी नहीं बना सकते।

परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि, ऊपर की दोनों उपमायें क्या ईश्वर और चिदचित् के सम्बन्ध को पूरी तरह से समझाती हैं ? ईश्वर हैं अंशी और चिदचित् उसके अंश हैं, किन्तु राजा-प्रजा में तो अंशांशी सम्बन्ध होता नहीं। ऐसी स्थिति में दोनों का सम्बन्ध कैसे सुसंगत बैठता हैं ? श्री रामानुजाचार्य जगत को विशेषण तथा ईश्वर को विशेष्य मानते हैं। यदि यह ठीक हैं तो जगत् के दोषों के आरोपण से ईश्वर बच नहीं सकता। श्री रामानुजाचार्य की भी अपने सिद्धान्त में इस परस्पर-विरोध की सत्ता का आभास था, क्योंकि इन्होंने एक स्थान पर स्पष्टतः स्वीकार किया हैं कि ब्रह्म यथार्थ रूप में अपरिणामी हैं और वह जगत के विकारों से विकृत नहीं होता (श्रीभाष्य २/१/१४)। इसका फल यह निकलता है कि विकारशील अचित्, ईश्वर का यथार्थ आन्तरिक स्वरूप न होकर केवल बाह्य रूप हैं। इस वस्तु स्थिति से बचने का जो भी उपाय किया जाय, इतना तो सत्य प्रतीत होता है कि परिणामी अचित् को ईश्वर का आन्तरिक अंश मानना और साथ ही साथ ईश्वर में परिणाम न मानना ऐसा विरोधाभास हैं जो श्री रामानुजाचार्य के मूल सिद्धान्त को बहुत कुछ दुर्बल बनाता हैं।

इस प्रकार श्री रामानुजाचार्य की ईश्वरकल्पना शांकर मत की कल्पना से भिन्न हैं। शांकर मत में (१) एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व हैं, इसके अतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च कुछ नहीं हैं, (२) ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य हैं, (३) ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण हैं, परन्तु श्री रामानुजाचार्य मत में (१) चिदचित् रूप शरीरविशिष्ट ब्रह्म सत्य हैं, इसके तथा उसके शरीर (जीव और जगत्) से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं हैं; (२) सजातीय-विजातीय भेद से शून्य होने पर भी वह स्वगत भेद से शून्य नहीं हैं; (३) ब्रह्म सविशेष ही हैं, स्वभाव से ही उसमें कल्याणकारी गुणों की सत्ता हैं, प्रकृत हेय गुणों से वह सर्वथा हीन हैं। **शांकर मत में (४) ब्रह्म ही मायोपाधि से ईश्वर और अविद्योपाधि से जीव कहलाता हैं, परन्तु जड जगत प्रातिभासिक (मिथ्या) ही हैं। अतः तत्त्व एक ही हैं। श्री रामानुजाचार्य के अनुसार (४) ब्रह्म ही ईश्वर हैं, उसके शरीरभूत जीव और जगत् उससे भिन्न तथा नित्य हैं। अतः पदार्थ तीन हैं, एक नहीं।**

जीव :- अब 'चित्' के स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए। वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण, अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय हैं। ज्ञान के बिना स्वयमेव चित् प्रकाशित होने से वह अजड हैं। **सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर सुखपूर्वक निद्रित होने का**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौकिक अनुभव जीव को आनन्दरूप सिद्ध करता हैं। हृत्प्रदेश में निवास करने के कारण वह अणु हैं। मुण्डक (३/१/९) और श्वेताश्वतर के आधार पर समग्र वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते हैं। जीव ईश्वर के द्वारा नियमित किया जाता हैं। जीव में एक विशेष गुण 'शेषत्व' विद्यमान हैं, अर्थात् वह अपने कार्यकलापों के लिए ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलम्बित हैं; ईश्वरानुग्रह के बिना अपने कर्तव्यो का सुचारु सम्पादन नहीं कर सकता। **जीव की विशिष्टाद्वैतवादी कल्पनायें अद्वैतवादियों से अनेक बातों में नितान्त भिन्न ठहराती हैं। जहाँ अद्वैती आत्मा को विभु बतलाते हैं, वहाँ विशिष्टाद्वैती उसे अणु मानते हैं। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक हैं, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता हैं, पर रामानुज मत में जीव अनन्त हैं और वे एकदूसरे से नितान्त पृथक् हैं।**

देह तथा देही के समान जीव ब्रह्म से कथमपि अभिन्न नहीं हैं। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न हैं, जीव दुःखत्रय से नितरां पीडित हैं। ऐसी दशा में ब्रह्म के साथ उसकी अभिन्नता कैसे मानी जा सकती हैं? ''ब्रह्म जगत् का कारण तथा करुणाधिप (जीव) का अधिपति हैं''; 'जो आत्मा के भीतर संचरण करता हैं वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा हैं'; दोनों अज हैं-एक ईश हैं, दूसरा अनीश; एक प्राज्ञ हैं, दूसरा अज्ञ'-आदि भेद मूलक श्रुतियाँ जीव को ब्रह्म से नितान्त पृथक् स्वतन्त्र बतलाती हैं। अतः दोनों का अभेद बतलाना वास्तव नहीं हैं। ब्रह्म अखण्ड हैं, तब जीव को उसका खण्ड बतलाना कहाँ तक उचित हैं? रामानुज का कहना हैं कि चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश हैं, देह देही का अंश हैं; उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश हैं। अभेद श्रुतियों का भी यही तात्पर्य हैं कि जीव ब्रह्मव्याप्य तथा ब्रह्म का शरीर हैं। अतः जीव-ब्रह्म में अंशांशीभाव या विशेषण विशेष्यभाव सम्बंध हैं।

जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध रामानुज मत में अभेदसूचक एकता नहीं हैं। जीव हैं अल्पज्ञ तथा अनन्त और ईश्वर हैं सर्वज्ञ तथा एक। ऐसी दशा में दोनों का अभेद कैसे बन सकता हैं? इसके उत्तर में श्री रामानुजाचार्य का कथन है कि ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त हैं और भीतर से उसका नियमन करता हुआ 'अन्तर्यामी' हैं। इसी दृष्टि से दोनों में अभेद माना जा सकता हैं। जिस प्रकार अंश का अस्तित्व अंशी पर निर्भर रहता हैं, और गुण का द्रव्य पर, उसी प्रकार जीव का अस्तित्व ईश्वर के ऊपर निर्भर रहता हैं। क्योंकि जीव हैं अंश और ईश्वर हैं अंशी; जीव हैं नियम्य और ईश्वर हैं नियामक; जीव हैं आधेय और ईश्वर है आधार। इस तरह के सम्बन्ध होने से स्पष्ट है कि जीव ईश्वर के ऊपर आश्रित तथा निर्भर रहता हैं। ऐसी दशा में ईश्वर की शरण में गये बिना जीव का निस्तार तथा कल्याण नहीं हो सकता। वह अशेष गुणों का आकार हैं, दया का समुद्र हैं तथा करुणा का निधि हैं; वह जीव की दीन दशा को देखकर स्वयं द्रवित होता हैं। अतः जीव-ईश्वर के इस सम्बन्ध निर्णय से स्पष्ट हैं कि श्री रामानुजाचार्य के अनुसार प्रपत्ति (शरणागति) ही जीव की आध्यात्मिक उन्नति का सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।

इस प्रसंग में 'तत् त्वमसि' महावाक्य की रामानुजीय व्याख्या भी ध्यान देने-योग्य हैं। 'त्वं' पदार्थ साधारणतया जीव का प्रतीक माना जाता हैं, पर विशिष्टाद्वैत मत में 'त्वं' का अर्थ हैं-अचिद्विशिष्ट जीव-शरीरवाला ब्रह्म। 'तत्' पद से अभिप्राय हैं सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, जगत्-कारण ईश्वर से। इस प्रकार इस महाकाव्य का अभिप्राय हैं कि अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्वप्रपञ्च का निर्माता ईश्वर दोनों की तात्त्विक एकता हैं, अर्थात् एक विशेषण से विशिष्ट ईश्वर तदन्य विशेषण से विशिष्ट ईश्वर के साथ नितान्त अभिन्न हैं। अतः एकता विशिष्ट ईश्वर की हैं (विशिष्ट्योरैक्यम्)। इसी कारण श्री रामानुजाचार्य सिद्धान्त की 'विशिष्टाद्वैत' संज्ञा दी गई है।

सृष्टि-विचार :- सृष्टि के विषय में श्री रामानुजाचार्य उपनिषदों के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन करते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वव्यापी ब्रह्म में चित् और अचित् दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इनमें चित् जीव का द्योतक है और अचित् जडतत्त्व या प्रकृति का। वे श्वेताश्वतर उपनिषद, पुराण तथा स्मृति-ग्रन्थों में वर्णित प्रकृति के रूप को स्वयं स्वीकार करते हैं। **श्वेताश्वतर के अनुसार प्रकृति एक हैं, अनादि (अजा) है तथा अपने समान ही बहुत सी प्रजाओं की सृष्टि करने वाली हैं। इतना तो सांख्य भी मानता हैं, परन्तु रामानुज तथा सांख्यमत में इस बात को लेकर भेद हैं कि श्री रामानुजाचार्य प्रकृति को ईश्वर का अंश तथा ईश्वर के द्वारा प्ररिचालित मानते हैं। प्रकृति स्वयं सृष्टि नहीं करती (जैसा सांख्य मानता हैं); प्रत्युत ईश्वर की अध्यक्षता में ही वह सृष्टि का कार्य करती हैं।** सर्वशक्तिमान् ईश्वर की इच्छा से सूक्ष्म प्रकृति स्वयं तीन प्रकार के तत्त्वों तेज, जल, तथा पृथिवी में विभाजित हो जाती हैं, जिनमें क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण पाये जाते हैं। इन्हीं तीनों तत्त्वों के नाना प्रकार के संयोग तथा मिश्रण के फल से जगत् के स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसीलिए ये तीनों तत्त्व संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहते हैं। **इस मिश्रणक्रिया का नाम त्रिवृत्त-करण हैं। इसका मूलतः संकेत छान्दोग्य-उपनिषद् में पाया जाता हैं, जिसे श्री रामानुजाचार्य ने अपने सिद्धान्त के लिए अपनाया हैं।**

ईश्वर अपनी माया शक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता हैं। माया क्या हैं ? माया का अर्थ हैं-अद्‌भूत पदार्थों की सृष्टि करनेवाली शक्ति। इस माया से युक्त होने से श्वेताश्वतर में ईश्वर को मायावी कहा गया हैं। इसे श्री रामानुजाचार्य अक्षरशः मानते हैं, परन्तु ईश्वर को मायावी कहने का इतना ही तात्पर्य हैं कि उसकी सृष्टिलीला अद्‌भूत तथा विचित्र होती हैं। ईश्वर की यह सृष्टि उतनी ही वास्तविक तथा सत्य हैं, जितना स्वयं ईश्वर। शङ्कर मत के समान रामानुज मत इस संसार को काल्पनिक तथा असत्य नहीं मानते। **जहाँ श्री शङ्कराचार्य विवर्तवाद के सिद्धान्त को सृष्टिव्यापार के लिए सत्य मानते हैं, वहाँ रामानुजाचार्य परिणाम के सिद्धान्त को ही ठीक मानते हैं। संसार तथा सृष्टि भ्रममात्र हैं-इस मत को श्री रामानुज नहीं मानते। उनके मत में 'ज्ञानमात्र ही सत्य होता हैं और कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं हैं' इसी तथ्य के आधार पर वे सृष्टि को सत्य मानते हैं।** समस्त वैष्णव आचार्य श्री शङ्कराचार्य के मायावाद का खण्डन करने में अपनी शक्ति लगाते हैं। श्री रामानुजाचार्य भी मायावाद का खण्डन अनेक तर्को के बल पर करते हैं, तथा अद्वैतवादियों ने भी अपने मत का समर्थन अपनी युक्तियों के सहारे किया हैं। यह खण्डन-मण्डन का क्रम आज भी चलता हैं।

जगत् :- ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को 'अचित्' कहते हैं। **लोकाचार्य ने (तत्त्व त्रय, पृ० ४१) अचित् तत्त्व के तीन भेद माने हैं-शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य।** शुद्धसत्त्व का दूसरा नाम नित्यविभूति हैं। इस सत्त्व की कल्पना श्री रामानुजाचार्य दर्शन की विशेषता हैं। **मिश्रसत्त्व तमोगुण तथा रजोगुण से मिश्रित होने के कारण प्राकृतिक सृष्टि का उपादान हैं।** इसी का दूसरा नाम माया, अविद्या या 'प्रकृति' हैं। **सत्त्वशून्य तत्त्व 'काल' कहलाता हैं।** शुद्धसत्त्व को शुद्ध कहने का तात्पर्य यह हैं कि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं रहता। यह नित्य, ज्ञानानन्द का जनक निरवधिक तेजोरूप द्रव्यविशेष हैं। इस कारण ईश्वर, नित्य पुरुषों तथा मुक्त पुरुषों के शरीर, भोगसाधन वन्दनकुसुमादि तथा भोगस्थान स्वर्गादिको की उत्पत्ति भगवान् के संकल्पमात्र से होती हैं। **ईश्वर तथा नित्य पुरुषों के शरीर भगवान् की नित्येच्छा से सिद्ध हैं, मुक्त पुरुषों का शरीर भगवान् के संकल्प से उत्पन्न होता हैं। भगवान् के व्यूहविभवादि रूप इसी शुद्ध सत्त्व के उपादान से निर्मित होते हैं वे प्रकृतिजन्य न होने से अप्राकृत हैं।** श्री रामानुजाचार्य का यह मुख्य सिद्धान्त हैं कि, **आत्मा बिना शरीर** के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता। अतः मुक्तावस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता हैं, परन्तु शुद्ध सत्त्व का बना हुआ वह शरीर अप्राकृत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता हैं और भगवान् की सेवा करने के निमित्त धारण किया जाता हैं। इसी नित्य विभूति का नाम त्रिपाद विभूति, परम पद, परम व्योम, अमृत, वैकुण्ठ, अयोध्या-आदि हैं।

साधन-मार्ग-ईश्वरभक्ति :- वेदान्त के शुष्क अध्ययन से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यह तो पुस्तकों का ज्ञान हैं, तथा किसी के द्वारा अनुभूत तथ्य की शाब्दिक पुनरावृत्ति हैं। यथार्थ ज्ञान तो अपरोक्ष ज्ञान हैं। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती-उपनिषदों का यह मन्तव्य बिल्कुल ठीक हैं, परन्तु ज्ञान का अर्थ क्या हैं ? **यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुवा स्मृति या निरन्तर स्मरण को कहते हैं। यही उपासना या भक्ति हैं। भगवान् की प्राप्ति में भक्ति ही मुख्य साधन हैं, जिसकी प्राप्ति में वैदिक कर्मो का अनुष्ठान साधक तथा सहायक होता हैं।** अतः जहाँ श्री शंकराचार्य केवल ज्ञान के मार्ग को ही उपादेय बतलाते हैं, वहाँ श्री रामानुजाचार्य ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी हैं, अर्थात् कर्म की सहायता से उपलब्ध ज्ञानरूप भक्ति को ही जीव के विस्तार के लिए श्रेष्ठ उपाय मानते हैं। भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् जीव के समस्त बन्धनों और क्लेशों का नाश कर देता हैं, तब उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता हैं। **भक्ति का भी सर्वश्रेष्ठ तात्पर्य प्रपत्ति से हैं। प्रपत्ति ही ईश्वरीय अनुकम्पा पाने का सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।** 'शरणागति' का लक्ष्य हैं शरण में आना अर्थात् भगवान् ही हमारी गति हैं, गन्तव्य स्थान हैं। वहीं लौट कर आना ही शरणागति का लक्ष्य हैं। शरणापन्न जीव ही भगवत्कृपा का प्रिय पात्र बनता हैं-भक्ति शास्त्र का यही निष्कर्ष हैं।

सकल-कल्याणगुणनिधान भगवान् नारायण के अनुग्रह से ही जीव इस विषम संसार से मुक्ति लाभ करता हैं। मुक्ति के लिए कर्म भी उपादेय हैं। वेद-विहित कर्म के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती हैं। अतः वर्णाश्रम-विहित कर्मो का विधान मानव-मात्र का कर्तव्य हैं। चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं। अतः कर्ममीमांसा का अध्ययन ज्ञानमीमांसा के लिए आवश्यक तथा पूर्ववर्ती हैं। कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में ज्ञान सहकारी कारण हैं। मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण हैं और भक्ति में भी परा प्रपत्ति-शरणागति। जबतक जीव भगवान् के शरण में नहीं जाता, तबतक उसका परम कल्याण नहीं हो सकता। **परन्तु शरणागति के लिए कर्मो का अनुष्ठान उचित हैं या अनुचित ? इस पर श्रीवैष्णव आचार्यो में पर्याप्त मतभेद हैं। 'टेंकलै' मत के संस्थापक श्रीलोकाचार्य प्रपत्ति के लिए कर्मानुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते।** मार्जारकिशोर की ओर दृष्टिपात कीजिए। बिल्ली का बच्चा निःसहाय भाव से माता के शरण में उपस्थित होता हैं, तब बिल्ली उसे अपने मुँह में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा देती हैं। भक्त के प्रति भगवान् की कृपा भी उस प्रकार 'अहेतुकी' होती हैं। नारायण की अनुग्रहशक्ति का उदय भक्तों की दीनदशा के निरीक्षण से आप से आप होता हैं। (रामानुज-वेदार्थ संग्रह, पृ. १४५-१४७)

'वडकलै' मत के आचार्य वेदान्तदेशिक कपिकिशोर के दृष्टान्त से प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान करने पर जोर देते हैं। जो कुछ भी हो, प्रपत्ति से भी भगवान् गम्य हैं, उन्हे पाने का दूसरा उपाय हैं ही नहीं। **'मामेकं शरणं व्रज'**-यह गीता का उपदेश नितान्त माननीय हैं। अकिञ्चन, दीन भाव से भगवान् की शरण में प्राप्त होनेवाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

प्रपत्ति के वशीभूत भगवान् जीव को पूर्णज्ञान की प्राप्ति करा देते हैं, जिसका फल ईश्वर का अपरोक्षज्ञान होता हैं, मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षादनुभव ही अन्तिम साधन हैं, परन्तु उस अवस्था-तक समस्त वर्णाश्रमविहित कर्मो का सम्पादन होना ही चाहिये। अद्वैतियों के कल्पनानुसार कर्म का संन्यास न्याय्य नहीं हैं। अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को दूर कर विद्या (भक्तिरूपापन्न ध्यान) के द्वारा अमृत पाने का सिद्धान्त ईशोपनिषद् (श्लो० ११) में वर्णित हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता हैं, परन्तु विशिष्टद्वैत के अनुसार वह ईश्वर के 'समान' होता हैं। ईश्वर के साथ उसका 'ऐकात्म्य' सम्पन्न नहीं होता हैं। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता हैं, परन्तु ब्रह्म के साथ मिल कर एक नहीं हो जाता। मुक्त जीव ब्रह्म नहीं होता, वह ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म प्रकार) हो जाता हैं। मुक्त जीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्य-संकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के ही साथ रहता हैं। [एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च । सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते ॥ (स.द.सं. पृ. ४७)] **जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती हैं, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं हैं। अतः जीव का परमात्मा के साथ ऐक्य सम्पन्न नहीं होता।** [नापि साधनानुष्ठानेन निरस्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भव अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनन्यत्वासम्भवात् । **(श्री भाष्य-१/१/१)**] मुक्त जीव स्वराट्, अनन्याधिपति तथा संकल्प-सिद्ध हो जाता हैं, परन्तु उसे जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय में तनिक भी अधिकार नहीं रहता। जीवित दशा में मुक्ति नहीं हो सकती, अतः अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के अनुकूल रामानुज के मत में भी 'जीवन्मुक्ति' मान्य नहीं हैं, केवल 'विदेहमुक्ति' ही सम्भव हैं। **वैकुण्ठ में भगवान् का किंकर बनना ही-कैंकर्य ही-परमा मुक्ति हैं।**

श्रीकण्ठाचार्य (१३ श० का उत्तरार्ध) का सिद्धान्त रामानुज सिद्धान्त के नितान्त अनुकूल हैं। अन्तर इतना ही हैं कि यहाँ ईश्वर शिव रूप में माने गये हैं। श्रीकण्ठाचार्य ने इस 'शैव-विशिष्टाद्वैत' का समर्थन ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर किया हैं, जिस पर अप्पय दीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी हैं। अतः आपके मत में सगुण ब्रह्म ही परमार्थ भूत हैं तथा चित् अचित् उसके प्रकार हैं। शिव, महादेव, उग्र आदि संज्ञा परब्रह्म की ही हैं। (निरस्तसमस्तोपप्लवकलंकनिरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम् (श्री कण्ठ भाष्य-१/१/१)

(३) [३९०] **शुद्धाद्वैत मत :-** इस मत के पुरस्कर्ता श्रीवल्लभाचार्य मानते हैं कि, परब्रह्म एक ही परमार्थ सत्य

---

(३९०) शुद्धाऽद्वैतवादः :- शुद्धाऽद्वैतवादि-**श्रीवल्लभाचार्यः** प्रायः १५०० ईशवीयकालान्तगतः सन् ब्रह्मसूत्रस्योपरि खल्वयम**णुभाष्यं** रचितवान्। आचार्यप्रवरः श्रीवल्लभः **पुष्टिमार्गमेव** स्वेष्टसाधनीभूतं प्रभूतं मार्गं मन्यमानस्तस्यैव मार्गस्य समर्थकत्वेन स्वीयं वैष्णवमत्तमिदं सञ्चालितवान् प्रसारितवांश्चेति विज्ञेयम्। अस्मिन् शुद्धाऽद्वैतवादिश्रीवल्लभाचार्यमते शङ्करवेदान्तादविशेषतासिद्धये श्रीशङ्कराचार्याऽभिमताऽद्वैतवेदान्तसिद्धान्तसिद्धो मायावादो नाङ्गीक्रियते श्रीवल्लभाचार्येण। यतः खलु मायावादमाश्रित्यैव द्वैतवादः भेदवादश्च प्रसृतो भवति। एतस्य श्रीआचार्यप्रवरस्य मते मायावादं समुज्झित्य सर्वञ्चास्ति सर्वत्राऽद्वैतवादवदेवेति विज्ञेयम्।

अस्मिन् मते प्राधान्येन ज्ञानविज्ञानस्थानीया भक्तिरेव चास्त्यात्मस्वरूपपरिचायिका सती तुरीयपुरुषार्थमोक्षदायिका इति। **यथोक्तम्- 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।**-गीता, १८/५५। 'भक्त्या' इत्यस्याऽव्याभिचारिण्या भक्त्येत्यर्थः। उक्तञ्च-'भक्तिरव्यभिचारिणी'। -तत्रैव, अ० १३।१०। अर्थात् सर्वलोकशरण्ये भगवति जगन्नियन्तरि सर्वात्मनि-अनन्ययोगेन जायमानाऽव्यभिचारिणी भक्तिरेव भवति ज्ञानसाधनम्। एवञ्च सद्गुरुप्रसादात् श्रवणादिना परमतत्त्वं विज्ञाय ये ज्ञानपौष्कल्यसिद्धि-साधनसम्पत्तिमन्तो मतयो योगिनो भक्त्याऽखण्डवृत्त्या परं ब्रह्मपरमेश्वरं भजन्ति ते एव खलु सच्चिदानन्दैकलक्षणं निर्विशेषम्, निराभासम्, निराधारम्, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावम्, निरवद्यम्, निरञ्जनम्, शान्तम्, नित्यम्, निष्क्रियम्, निष्कलम्, निराकारम्, निर्विकारम्, परंब्रह्म प्रमाणान्तराबाधितसत्तावत्तया अभिजानन्ति ते सविशेषं साकारम्, सविकरं विहाय निर्विशेषब्रह्मात्मना सुखं सन्तिष्ठन्ते। तथा चोक्तम् -

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चस्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' ॥ गीता, १८।५५। श्रीवल्लभाचार्यस्येदमपि कथनं वर्तते **यत् निर्विशेष-निर्विकल्पब्रह्मज्ञानं भक्तिमन्तरा नहि कदापि कथमपि जायते।** तथा चोक्तम्- **'भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते'।** -त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० ८।१। अपि च-**'मयि शक्तिर्हि भूतानाममृत्वाय कल्पते'।**-श्रीमद्भागवतम्, १०।८२।४५।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु हैं। परन्तु जगत् मिथ्या नहीं हैं। जगत् ब्रह्म का ही अविकृत परिणाम हैं। जगत् ब्रह्म की लीला हैं। जीव परब्रह्म का अंश हैं।

''शुद्धाद्वैत'' सिद्धांत शब्दार्थ की दृष्टि से अद्वैतसिद्धांत का सबसे बडा प्रतिपादक हैं। श्रीशंकराचार्य ने जहाँ ब्रह्म के साथ माया का स्वीकार कीया हैं और उसके कारण जगत का आविर्भाव स्वीकार किया हैं, वहाँ श्रीवल्लभाचार्य माया का सर्वथा अस्वीकार करके केवल ब्रह्म एक ही शुद्धतत्त्व माना हैं। **[मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुद्धैः। कार्यकारणरुपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥ (शुद्धाद्वैत मा. २८)]**

उस ब्रह्म में से जगत और जीव प्रादुर्भाव पाते हैं। और उसमें ही लीन हो जाते हैं। भगवान सच्चिदानंद रुप हैं। जब उनकी इच्छा होती हैं, तब अपने तीन गुण के सहित ईश्वर के रुप में प्रकट होते हैं और अपने गुणो से जीव और जगत् की रचना करते हैं। ईश्वर में सत्, चित् और आनंद ये तीनो तत्त्व उपस्थित रहते हैं। परंतु आनंद की प्रधानता रहती हैं। ईश्वर अपने आनंद अंश को तिरोहित करके जीव की सृष्टि करते हैं। इसलिए जीव में चित् और सत् दो ही तत्त्व रहते हैं। जिसमें चित् (चैतन्यता) की प्रधानता रहती हैं। उपरांत, ईश्वर चित् और आनंद दोनो अंशों को तिरोहित करके जड तत्त्व की रचना करते हैं। इसलिए उसमें केवल एक गुण (सत्ता) ही रहता हैं।

इस सिद्धांत में शंका हो सकती हैं कि, भगवान तो स्वभाव से ''आप्तकाम'' होने से उनको कोई इच्छा होती ही नहीं हैं। तो फिर वे जीव और जगत का सर्जन क्यों करते हैं? श्रीवल्लभाचार्य इस शंका का समाधान देते हुए कहते हैं कि, भगवान ये सब लीला के रुप में करते हैं। जिनको वे अपनी स्वेच्छा से करते हैं। परन्तु ईश्वर की लीला (क्रीडा) और बालक की क्रीडा में अन्तर भेद यह हैं कि, बालक को उसमें प्रयत्न करना पडता हैं, जब कि ईश्वर को प्रयत्न नहीं करना पडता हैं। यह लीला तो केवल भगवान की इच्छामात्र से उनके अन्दर ही होती हैं। जब भगवान इस लीला को समेट लेते हैं, तब फिर से एकमात्र शुद्ध ब्रह्मरुप ही रहता हैं। श्रीवल्लभाचार्य के

'मद्रूपमद्वयं ब्रह्म आदिमध्यान्तवर्जितम्। स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम्'॥ वासुदेवोपनि० १।

एवं सच्चिदानन्द आनन्दकन्दो मथुराचन्द्रः श्रीकृष्णचन्द्रो भगवानेव चास्ति जगन्नियन्ता परमपिता परमेश्वरः। स च सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् शुद्धो बुद्धो मुक्तस्वभावस्तथाऽर्जुनं प्रति गीताश्रावकः। दोग्धा गोपालनन्दनोऽप्ययमेव भगवान् कृष्णः। अयमेव चाऽर्जुनं प्रति ब्रूते- **'भक्त्या मामभिजानाति'** इति। व्यासोऽपि स्वयं साक्षाद् वदति यत्- **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**। -भागवते।

अस्य श्रीवल्लभाचार्यस्याऽऽत्मजः श्रीविट्ठलनाथ एकं 'विद्वन्मण्डल'-नामकं ग्रन्थं व्यरचयत्। एवमस्यैव दर्शनस्य प्राधान्यबोधकास्तथा पुष्टिमार्गसमर्थकाः सन्त्यन्यान्यविद्वन्मण्डलविनिर्मिता ग्रन्थाः। येषां कतिपयग्रन्थानामत्रापि समुल्लेखो विधीयते। **तथाहि- १. 'भावप्रकाशिका'-श्रीकृष्णचन्द्रविरचिता। २. 'प्रमेयरत्नार्णवः'-बालकृष्णविनिर्मितः। ३. 'शुद्धाऽद्वैतमार्तण्डः'-श्रीगिरिधरमहाराजरचितः। ४. 'अमृततरङ्गिणी'-पुरुषोत्तमनिर्मिता।**

एवमन्येऽपि सन्ति बहवो ग्रन्थाः पुष्टिमार्गप्रवर्तकाः। ये च खलु ग्रन्था अमुमेव शुद्धाऽद्वैतमार्गम्, पुष्टिमार्गभूतं प्रभूतं मार्गं समर्थयन्ति प्रकाशयन्ति च। मार्गान्तरञ्च विडम्बयन्ति निर्भर्त्सयन्ति चेति।

अयमेव खलु प्रागुक्तं सद्गुरुप्रसादात् श्रवणादिना प्राप्तं परमतत्त्वविषयकज्ञानमार्गं सम्प्राप्य समुपाश्रित्य च मम परस्य ब्रह्मणः सच्चिदानन्दस्य आनन्दकन्दस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य साधर्म्यं (पूर्णत्वम् = ब्रह्मभावम्) आगता मुनयो महामुनयो वा यतयो योगिनो वा सर्गेऽपि नोपजायन्ते तथा प्रलयेऽपि च न व्यथन्ति (नहि व्यथां प्राप्नुवन्ति) अर्थात् ते जनन-मरणात्मकमहादुःखतः सर्वथा विनिर्मुक्ता भवन्ति। तथा चोक्तं भगवता कृष्णेन- **'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'**॥ -श्रीभगवद्गीता, १४।२।

अपि च-**'ब्रह्म सम्पद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत्'**। एवं तत्परमतत्त्वविषयकं ज्ञानमुपाश्रित्य योगी ब्रह्म सम्पद्यते, न पुनः प्रलये महाप्रलये वा स संसृतिं लभते व्रजति वेत्यपि बोध्यम्।

अत एवेमे मायां नाङ्गीकुर्वन्ति, कथयन्ति च- **'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः'**। -सर्वदर्श० वल्लभा०। (दर्शनशास्त्रस्येति - हासः, पृ-६९-७०-७१)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत में एकमात्र ब्रह्म का ही स्वीकार किया होने से उसको ''**अविकृत ब्रह्मवाद**'' भी कहा जाता हैं। उनके मत में परब्रह्म का सत्य पाने के लिए भगवान की शरणागति या प्रतिपत्ति (भक्ति) आवश्यक हैं। और ऐसा किये जाने पर भगवान भक्त का पोषण करते हैं। इसलिए उस मार्ग को ''**पुष्टिमार्ग**'' भी कहा जाता हैं। इनके अन्य ग्रन्थ हैं-(१) सुबोधिनीप्रकाश, (२) उपनिषद्दीपिका, (३) आवरणभंग, (४) प्रस्थानरत्नाकर, (५) सुवर्णसूत्र (विद्वन्मण्डल की पांडित्यपूर्ण विवृत्ति), (६) गीता की अमृततरंगिणी टीका तथा (७) षोडशग्रन्थविवृत्ति। इस भाष्यप्रकाश पर विस्तृत 'रश्मि' नामक व्याख्या श्री गोपेश्वरजी (१८ शतक) ने लिखी हैं।

श्री गिरिधर महाराज गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' वल्लभ मत का विवेचक प्रख्यात ग्रन्थ हैं। श्री हरिराय (हरिदास) ने अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थों का निर्माण किया हैं, जिनमें ब्रह्मवाद, भक्तिरसवाद आदि विख्यात हैं। श्री व्रजनाथभट्ट की 'मरीचिका' ब्रह्म सूत्रों की अणुभाष्यानुसारिणी वृत्ति हैं। 'लालूभट्ट' के नाम से प्रसिद्ध, श्री पुरुषोत्तम तथा श्री अप्पयदीक्षित के समकालीन श्री बालकृष्ण भट्ट का 'प्रमेयरत्नार्णव' नितान्त प्रौढ ग्रन्थ हैं। अधिकांश वल्लभ-साहित्य का प्रकाशन बम्बई तथा काशी (चौखम्बा कार्यालय) से हुआ हैं।

श्रीवल्लभाचार्य की तत्त्वमीमांसा :- श्रीवल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त '**शुद्धाद्वैत**' के नाम से विख्यात हैं। इनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध हैं। यह माया सम्बन्धरहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व हैं। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही हैं।

ब्रह्म :- इस मत में ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया हैं। अतः उसमें विरुद्ध धर्मो की स्थिति भी नित्य हैं। **अद्वैतवादियों के मतानुसार निर्धर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण के समान प्रतीत होता हैं, यह कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि अहिकुण्डल के लौकिक दृष्टान्त से ब्रह्म में उभयरूपता का होना श्रुतिसिद्ध हैं।** [उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्। (ब्र.सू. ३।२।२७ पर अणु भाष्य)] यह विरुद्ध धर्मो की सत्ता माया से प्रतिभासित ही नहीं होती हैं, प्रत्युत स्वाभाविक भी हैं। भगवान् की महिमा अनवगाह्य हैं, अतः जो अणोरणीयान् हैं, वे ही महतो महीयान् हैं। वे अनेक रूप होकर भी एक हैं, स्वतन्त्र होने पर भी भक्तपराधीन हैं। यह संसार लीलानिकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विकासमात्र हैं। यह जगत्कर्तृत्व वास्तव हैं, माया-कल्पित नहीं। अखिलरसामृतमूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही यह परब्रह्म हैं।

आचार्य वल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता हैं- (१) आधिदैविक = परब्रह्म; (२) आध्यात्मिक = अक्षरब्रह्म; (३) आधिभौतिक = जगत्। अतः जगत् ब्रह्मरूप ही हैं। कार्यकारण में भेद न होने से कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म ही हैं। जिस प्रकार लपेटा गया कपडा फैलाने पर वही रहता हैं, उसी प्रकार आविर्भावदशा में जगत् तथा तिरोभावरूप में ब्रह्म एक ही हैं, भिन्न नहीं। जगत् का आविर्भाव कार्य केवल लीलामात्र हैं।

श्री वल्लभाचार्य के मत में ब्रह्म ही स्वभाव से जगत् के कर्ता हैं। उनके कर्ता होने में माया का व्यापार तनिक भी नहीं होता। वे स्वयं लीलाधाम ठहरे और इसलिए जगत् की सृष्टि में ब्रह्म की लीला ही एकमात्र कारण होती हैं। जब उनकी इच्छा होती हैं वे जगत् का संहार या लय कर देते हैं। अन्ततः प्रलय भी भगवान् की लीला का ही एक रूप हैं। अतः भगवान् स्वाभाविक रीति से सृष्टि और प्रलय दोनों करते हैं। ये दोनों उनकी लीला के विलासमात्र हैं। जिस प्रकार कोई योगी अपनी विचित्र शक्तियों के सहारे वस्तुओं की सृष्टि कर उनसे खेलता है और अन्त में उनका संहार कर देता हैं; भगवान् की भी यही दशा होती हैं। भगवान् की महिमा अतर्क्य हैं। कोई भी उनकी महिमा के यथार्थ रूप को जान नहीं सकता। भगवान् अपनी अचिन्त्य माया से जगत् की सृष्टि कर उससे

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रीडा करते हैं और अन्त में सब सृष्टि को अपने में तिरोहित कर देते हैं। इस प्रकार जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव भगवान् की लीला के कारण होता हैं अन्यथा उस पूर्णकाम के लिए ऐसी कोई कामना ही शेष नहीं हैं जिसके लिए वह जगत् की सृष्टि करता। **यह जगत् ब्रह्मरूप हैं और ब्रह्म के समान ही नित्य हैं। अद्वैतियों के समान यह जगत् मायिक तथा असत्य नहीं हैं।**

इस प्रकार लीला को छोडकर इस ब्रह्माण्ड के उदय का कोई भी अन्य प्रयोजन नहीं हैं। **लीला का रहस्य श्री वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी - तृतीय स्कन्ध में बडी सुन्दरता से समझाया हैं।** उनका महत्त्वपूर्ण कथन हैं - लीला विलास की इच्छा का नाम हैं। कार्य के बिना ही यह केवल व्यापारमात्र होता हैं, अर्थात् इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किये गये कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नहीं रहता; कोई कार्य उत्पन्न हो गया, तो होता रहे, इसमें न तो कर्ता का कोई उद्देश्य रहता हैं, न कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता हैं। जब अन्तःकरण आनन्द से पूर्ण हो जाता हैं तब उसके उल्लास से कार्य के उदय के समान ही कोई क्रिया उत्पन्न होती हैं। यही भगवान् की लीला हैं। सर्ग-विसर्ग आदि के समान भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला हैं। **मर्यादा-मार्ग में भगवान् साधन-परतन्त्र रहते हैं, क्योंकि इस मार्ग में भगवान को अपनी बँधी हुई मर्यादाओं की रक्षा करना अभीष्ट होता हैं। पुष्टिमार्ग में भगवान् किसी साधन के परतन्त्र न होकर स्वयं स्वतन्त्र होते हैं। अनुग्रह भी भगवान् की नित्यलीला का विलास हैं।**

जीव के ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् का इस भूतल पर आविर्भाव होता हैं। जीव-मात्र को निरपेक्ष मुक्ति देने के लिए ही भगवान् का अवतार होता हैं। भगवान् सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न, अपराधीन तथा सर्वनिरपेक्ष हैं। तब उनके अवतार लेने का प्रयोजन ही क्या हैं ? दुष्टों के दलन तथा शिष्टों के रक्षण का कार्य तो अन्य साधनों से भी हो सकता हैं। तब वे अवतार क्यों लेते हैं ? इसके उत्तर में भागवत का कहना हैं कि, अव्यय तथा निर्गुण भगवान् का प्रकटीकरण इस जगत् में मनुष्यों को मुक्ति प्रदान करने के लिए ही होता हैं। **[नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृपः। अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ - भागवत-१०/२९/१४]** मनुष्यों को साधन निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के प्राकट्य का प्रयोजन हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बिना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए भी भगवान् साधक को स्वतः अपनी लीला के विलास एवं अपने अनुग्रह से मुक्ति प्रदान करते हैं। [सुबोधिनी] भगवान् की यह लीला ही ठहरी। **ज्यों ही जीव भगवान् के शरणापन्न हो जाता हैं और शरण-मन्त्र का उच्चारण करता हैं, भगवान् की भक्ति का उदय हो जाता हैं। फलस्वरुप भगवान् श्रीकृष्ण की विमल दया की धारा उस साधक के ऊपर झरने लगती हैं। यही 'पुष्टि' का रहस्य हैं। शक्तितन्त्रो में जिस तत्त्व को 'शंक्तिपात' के नाम से पुकारते हैं वही तत्त्व इस पुष्टिमार्ग में 'पुष्टि' के नाम से प्रख्यात हैं।**

अक्षरब्रह्म क्षरपुरुष (प्रकृति) से श्रेष्ठ हैं, परन्तु परब्रह्म उससे भी श्रेष्ठ हैं (गीता ८।२१), अक्षर ब्रह्म में आनन्दांश का किञ्चिन्मात्र में तिरोधान रहता हैं, पर पुरुषोत्तम आनन्द से परिपूर्ण रहता हैं। क्षर से अतीत तथा अक्षर उत्तम होने के कारण परब्रह्म को गीता '**पुरुषोत्तम**' के नाम से पुकारती हैं। अक्षरब्रह्म विशुद्धज्ञानैकगम्य हैं, परन्तु 'पुरुषोत्तम' की प्राप्ति तो केवल '**अनन्यभक्ति**' के द्वारा ही हो सकती हैं। **श्री वल्लभाचार्य के सिद्धांतो पर श्रीमद्भागवत तथा भगवद्-गीता का विशेष प्रभाव पड़ा हैं। ब्रह्म के तीनों रूपों की कल्पना गीता के अष्टम तथा पंचदश अध्याय के वर्णन के अनुसार हैं।** ब्रह्म के '**आधिभौतिक**' रूप का ही दूसरा नाम हैं- **क्षर पुरुष,** अर्थात् भौतिक तत्त्व (प्रकृति)। यह भी ब्रह्म के रूप होने से उसी के समान वास्तव तथा नित्य हैं। ब्रह्म में जब थोड़ी मात्रा में आनन्द अंश तिरोहित हो जाता हैं, तब उसे 'अक्षर-ब्रह्म' कहते हैं और जब आनन्द का

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंश पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता हैं, तब वह परब्रह्म या पुरुषोत्तम कहलाता हैं। यह **'ब्रह्म का आधिदैविक रूप'** होता हैं । ब्रह्म के इन दोनों रूपों की प्राप्ति का साधन भिन्न ही होता हैं । **ज्ञानीजन अपने विशुद्धज्ञान के द्वारा अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं परन्तु पुरुषोत्तम की प्राप्ति अनन्या भक्ति के ही द्वारा हो सकती हैं । इसलिए गीता (८।२२)कहती हैं कि परब्रह्म अनन्या भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता हैं ।** पुरुषोत्तम ब्रह्म ही परब्रह्म के नाम से पुकारे जाते हैं और ये ही निरतिशय सर्वज्ञ ब्रह्म हैं ।

भगवान को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती हैं, तब वे अपने आनन्दादि गुण के अंशो को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं । इस व्यापार में क्रीडा की इच्छा ही प्रधान कारण हैं, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता । **ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती हैं और यश के तिरोधान से हीनता । श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद होता हैं ; ज्ञान के तिरोधान से देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता हैं तथा आनन्द के तिरोधान से दु:ख प्राप्त करता हैं । (पराभिध्यानात्तु ब्र.सू.३।२।५ पर अणुभाष्य)** ब्रह्म से जीव का उदय अग्निस्फुलिंगवत् हैं । यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं हैं । अत: व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता का ह्रास नहीं होता । **वल्लभ मत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप हैं । भगवान् के अविकृत सदंश से जड का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता हैं ।** जड के निर्गमन काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता हैं, परन्तु जीव के निर्गमन-काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता हैं (प्रमेयरत्नार्णव, पृ० ७-९)।

जीव नित्य हैं । जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ (स्फुलिंग) छिटक कर निकलती हैं; उसी प्रकार जीव ईश्वर से निकलता हैं । इस निकलने से (व्युच्चरण से) जीव की नित्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती । वह उसी भाँति नित्य बना रहता हैं । अग्नि-स्फुलिंग का दृष्टान्त जीव के निर्गमन के लिए श्रुति तथा भागवत पुराण दोनों में उपलब्ध होता हैं । **श्री वल्लभाचार्य परिणामवाद को मानते हैं । इनकी दृष्टि में जीव तथा जगत् दोनों परब्रह्म के परिणामरूप हैं, परन्तु परिणाम होने से ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता । वह परिणामी नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता ।** भगवान् में तीन अंश हैं-सत्, चित् और आनन्द । इनमें कोई भी अंश विकार नहीं प्राप्त करता । **ब्रह्म के अविकृत (विकार न पानेवाले) 'सत्' अंश से भौतिक पदार्थो का उदय होता हैं और अविकृत 'चित्' अंश से जीवों का आविर्भाव होता हैं ।** जब भौतिक पदार्थो का उदय होता हैं, तब ब्रह्म के दोनों अंश-चित् और आनन्द अंश छिपे रहते हैं । केवल 'सत्' अंश ही प्रकट रहता हैं और इसलिए इस अंश से ही भौतिक पदार्थो का जन्म होता हैं । जीव के उदयकाल में ब्रह्म में केवल आनन्द-अंश ही तिरोहित रहता हैं, अन्य दो अंश विद्यमान रहते हैं । इस प्रकार ब्रह्म से सृष्टि की प्रक्रिया सम्पन्न होती हैं।

जीव अनेक प्रकार का होता हैं- (१) शुद्ध, (२) मुक्त, (३) संसारी । **स्फुलिङ्गवत् व्युच्चरण के समय आनन्दांश का तिरोधान होने पर अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण पूर्व जीव 'शुद्ध' कहलाता हैं । अविद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाला जीव 'संसारी' कहलाता हैं ।** यह भी दो प्रकार के होते हैं-दैव और आसुर । दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न-भिन्न होता हैं । मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त । जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न हैं । संसारी दशा में जब पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता हैं; तब उसमें तिरोहित आनन्द अंशो को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता हैं और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता हैं । **'तत् त्वमसि'** महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता को प्रतिपादित करता हैं । जिस प्रकार सुवर्ण के कटक-कुण्डलादि अंश सुवर्ण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार चिदंश जीव भी ब्रह्म से अभिन्न हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् :- जगत् के विषय में आचार्य '**अविकृत परिणामवाद**' स्वीकार करते हैं। कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि के समान निर्गुण सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगद्रूपेण होता हैं। जिस प्रकार कुण्डलादि-रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

श्री वल्लभाचार्य परिणामवाद को ही कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में मानते हैं, परन्तु परिणाम मानने से मूल वस्तु में विकार होना अवश्यंभावी होता हैं। दूध दहीं बनता हैं। दूध का परिणाम दही हैं। यहाँ दूध में विकार उत्पन्न होने से ही दही जैसा परिणाम उत्पन्न होता हैं, परन्तु जगत् की सृष्टि के विषय में यह नियम कथमपि नहीं माना जाता। ब्रह्म से जगत् का परिणाम होता हैं, परन्तु ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन या विकार नहीं उत्पन्न होता। श्री वल्लभाचार्य इसीलिए अपने इस विशिष्ट मत को '**अविकृत परिणामवाद**' के नाम से पुकारते हैं। **कार्यकारण के विषय में उनकी यह नई धारणा श्रीमद्भागवत की मान्यता के अनुसार है। भागवत ने सुवर्ण का उदाहरण देकर इस तत्त्व को समझाया हैं।**[३९१] सोने से जितने भी गहने (अँगूठी, कुण्डल आदि आदि) तथा पदार्थ बनते हैं उनमें सोना सदा अपने अविकृत रूप में बना रहता हैं। समस्त सुनहले पदार्थों के आदि, अन्त तथा मध्य में सुवर्ण की प्राप्ति होती हैं और वह भी बिना किसी विकारी रूप में। इसी प्रकार ब्रह्म भी नाना नामों तथा रूपों के भीतर एक ही प्रकार से अविकृत रूप में विद्यमान रहता हैं। यह जगत् भगवान् का ही आकार हैं। श्रुति तथा पुराण दोनों एक ही तत्त्व के बोधक हैं। उपनिषद् कहती हैं-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म,** अर्थात् सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्ममय हैं। भागवत अपने मंगलश्लोक में ही इस तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता हैं। अतः जगत् को भगवान् का रूप मानना सर्वथा उचित हैं। कहना न होगा कि भगवान् का आकार होने से यह जगत् भी सर्वथा नित्य सिद्ध होता हैं। आचार्य जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते। वे आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। अनुभवयोग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता हैं और अनुभव योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव होता हैं।[३९२]

वल्लभ मत में जगत् और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता हैं। ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत्' कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' हैं। अविद्या के पाँच पर्व होते हैं -स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार हैं। अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता हैं, परन्तु ब्रह्मरूप होने के कारण 'जगत्' का विनाश कभी सम्भव नहीं हैं। वह तो ब्रह्म तथा जीव के समान ही नित्य पदार्थ है।

पुष्टिमार्ग : भगवान् की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। **भगवान् के त्रिविध रूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं। आधिभौतिक कर्ममार्ग है; ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक हैं। ज्ञान** के बल पर ज्ञानी अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु परब्रह्म, सच्चिदानन्द की उपलब्धि भक्ति के ही द्वारा होती हैं। **आचार्य का आचार-मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता हैं।** भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' है **(पोषणं तदनुग्रहः- भाग०२।१०)।** अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने के कारण यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता हैं। यह मार्ग मर्यादामार्ग से नितान्त विलक्षण है। मर्यादामार्ग वैदिक हैं, जो अक्षरब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ हैं, परन्तु

(३९१) यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य। तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं **नानापदेशेरहमस्य** तद्वत्॥ **(श्रीमद् भागवत्)** **(३९२)** अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः। (विद्वन्मण्डन, पृ-७)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम के शरीर से निकला है। **मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवणादि साधनों के द्वारा सायुज्यमुक्ति ही ध्येय होती हैं, परन्तु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग-रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान् का साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है।**[३९३]

मुक्ति- विचारणीय है कि अनुग्रह की दशा में जीव की स्थिति कैसी होती हैं? आनन्द-स्वरूप भगवान् प्रकट होकर जीव को अपने स्वरूप बल से अपने किसी भी प्रकार के सम्बन्ध मात्र से स्वरूपदान करते हैं, अर्थात् जीव के देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण में अपने आनन्द का स्थापन कर उसे अपने स्वभाव में स्थित कर देते हैं। यही जीव की मुक्ति हैं, अर्थात् अन्यथाभाव को, दुःख तथा जडता को छोड़कर स्वरूप से, आनन्दरूप से स्थित होना ही मुक्ति है; भागवत का यही मन्तव्य हैं - **मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरुपेण व्यवस्थितिः। (भागवत)** श्री वल्लभाचार्य ने भी अपने सिद्धान्त में मुक्ति का यही रूप माना हैं। इस प्रकार जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु की 'प्रकृति' है। प्रकृति का अर्थ है-स्वभाव। भगवान् का यह स्वभाव ही है कि वे जीव को अपने समान ही आनन्दमय बना देते हैं। '**पुरुषोत्तम**' स्वयं सच्चिदानन्द रूप ठहरे, अतः वे जीवों को भी वही रूप प्रदान कर उन्हें आनन्दमय बना देते हैं। प्रभु का यह भाव '**स्वरूपापत्ति**' कहलाता है, 'स्वरूप' का अर्थ ही है आनन्दमय रूप। इसे ही पाना मुक्ति है।

भक्ति भी दो प्रकार की होती है-'मर्यादाभक्ति' तथा 'पुष्टिभक्ति'। इन दोनों का पार्थक्य भी वल्लभमत में सूक्ष्मरीति से किया गया है। **भगवान् के चरणारविन्द की भक्ति मर्यादाभक्ति है, परन्तु भगवान् के मुखारविन्द की भक्ति पुष्टिभक्ति है।** मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है, परन्तु पुष्टिभक्ति में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं रहती। मर्यादाभक्ति से सायुज्य की प्राप्ति होती हैं, परन्तु पुष्टिभक्ति से अभेदबोधन की प्रधानतया सिद्धि होती हैं। इस प्रकार इस क्लेशविपुल संसार से उद्धार पाने का एक ही सुगम उपाय है, पुष्टिमार्ग का अवलम्बन, जो वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदभाव के बिना सब प्राणियों के लिए उपादेय हैं। यह 'पुष्टि' श्रीमद्भागवत का प्रधान रहस्य है। श्री वल्लभाचार्य ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही इस पुष्टितत्त्व को पुष्ट किया है। इस मत के '**प्रस्थान-चतुष्टयी**' में उपनिषत्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के साथ श्रीमद्भागवत (समाविभाषा व्यासस्य) की भी गणना है। भागवत का इस सम्प्रदाय में इतना अधिक आदर है कि आचार्य के ग्रन्थों में अणुभाष्य की अपेक्षा 'सुबोधिनी' की ख्याति कहीं अधिक है। श्री विज्ञानभिक्षु श्रीवल्लभाचार्य के समकालीन प्रतीत होते हैं। 'विज्ञानामृत' भाष्य में इन्होंने ''अविभागद्वैत'' का प्रतिपादन किया है। इनके मत में जगत् के समस्त पदार्थो से अविभक्त ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व हैं।

(४)[३९४]**द्वैताद्वैत मत :**- इस मत के प्रवर्तक श्री निम्बकाचार्य ने स्वमत की पुष्टि के लिए ''वेदांतपारिजात

(३९३) अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी। न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥ (प्रमेयरत्नार्णव, पृ-१९)

(३९४) द्वैताऽद्वैतवादः (श्रीनिम्बार्काचार्यः) अस्मिन् द्वैताऽद्वैतवादि-श्रीनिम्बार्काचार्यमते व्यवहारकाले जीवेश्वरयोर्भेदः पारमार्थिकावस्थायाञ्चाऽभेदः । तत्रापि द्वैताऽद्वैतयोः समीचीनत्वाऽसमीचीनत्वविषयकप्रश्नविषयाऽवसरे समुपस्थिते द्वैतं पारमार्थिकम्, अद्वैतञ्चास्ति खल्वौपचारिकम्, 'राहोः शिरः' इतिवत्। अस्मिन् मते परमेश्वरः, परमेश्वरपदजन्यबोधविषयतावद् वा ब्रह्म चास्ति सच्चिदानन्द आनन्दकन्दमथुराचन्द्रः श्रीकृष्णचन्द्र एवेति नूनं विभाव्यताम्। १२५० ईसवीये वर्षे स्वास्तित्वसम्पत्तिमान् विद्वान् श्रीनिम्बार्काचार्यः खलु बहून् ग्रन्थान् लिखितवान्। ततः केचन ग्रन्था मया शशिबालागौडेन नामोल्लेखपुरस्सरं प्रदर्श्यन्ते। तथाहि- १. '**ब्रह्मसूत्रभाष्यम्**'-वेदान्तपारिजातसौरभ-नामकम् एकम्। २. '**रहस्यषोडशी**'-इति द्वितीयं पुष्पम्। ३. '**वेदान्त-कामधेनुः**'-इति चास्ति तृतीयं तदीयं पुष्पम्। एतदनन्तरकालावच्छेदेन १५०० ईसवीये वर्षे श्रीनिवासाचार्यो अस्य निम्बार्कभाष्यस्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्य'' की रचना की हैं। इस मत को भेदाभेद वाद या स्वाभाविक भेदाभेदवाद भी कहते हैं। ब्रह्म सर्व का आधार हैं, सर्व का नियामक हैं, सर्व में व्यापक हैं- इस अर्थ में यहाँ अद्वैत हैं। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सृष्टि नहीं हैं। फिर भी इस मतानुसार ब्रह्म का चेतन और अचेतन से स्पष्ट भेद हैं। चेतन के अणुता इत्यादि धर्म और अचेतन के स्थूलत्वादि धर्मो में वे जैसे हैं वैसे सत्यरुप में अपने में समा के रहे हुए हैं।

श्रीनिम्बकाचार्य के अधिकांश दार्शनिक सिद्धांत तो श्री रामानुजाचार्य को मिलते आते हैं। परन्तु ब्रह्म और जीव का परस्पर क्या संबंध हैं, उसमें मतभेद हैं। श्रीरामानुजाचार्य जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हैं, जब कि श्री निम्बाकाचार्य कहते हैं कि, जीव और ब्रह्म में एक दृष्टि से अभेद के साथ दूसरी दृष्टि से भेद भी हैं। और वह भेद प्रत्येक अवस्था में यावत् मोक्ष अवस्था में भी होते हैं। ईश्वर प्रत्येक अवस्था में जीव का नियामक हैं और उसको हंमेशां ईश्वर की प्रेरणानुसार चलना पडता हैं। वैसे ही जीव जो अच्छे-बुरे कर्म करता हैं, उसका आधार भी ईश्वर की प्रेरणा ही हैं। जीव का उद्धार तब होता हैं कि जब ईश्वर का अनुग्रह हो और उस अनुग्रहप्राप्ति का एकमात्र उपाय भगवान की शरणागति हैं।

श्री निम्बार्काचार्य की पदार्थ-मीमांसा :

श्री निम्बार्काचार्य-सम्मत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप श्री रामानुजाचार्य मत के अनुरूप ही हैं। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप हैं, उसका स्वरूप ज्ञानमय हैं। इन्द्रियों की सहायता के बिना इन्द्रियनिरपेक्ष जीव विषय का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है और जीव के विषय में '**प्रज्ञानधर्मः**', '**स्वयंज्योतिः**' तथा '**ज्ञानमयः**'-आदि शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया हैं। जीव ज्ञान का आश्रय-ज्ञाता भी हैं। **ज्ञानस्वरुपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्। अणुं ही जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहु : ॥ (दशश्लोकी-१)** अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय भी है तथा प्रकाश का आश्रय भी हैं। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूत ज्ञान यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही हैं, **तथा**पि इन दोनों में धर्मधर्मिभाव से भिन्नता हैं।

जीव कर्ता हैं। प्रत्येक दशा में जीव कर्ता ही रहता हैं। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य हैं, परन्तु मुक्त हो जाने पर भी जीव में कर्तृत्व का होना श्रुतिप्रतिपादित है। '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**' '**स्वर्गकामो यजेत्**'-आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती हैं, उसी प्रकार '**मुमुक्षुर्ब्रह्योपासीत**', '**शान्त उपासीत**'-आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना करने का प्रतिपादन करती हैं और मुक्त आत्मा को कर्ता बतलाती हैं।

'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' इस गीतावाक्य में प्रकृति सृष्टि की कर्त्री मानी जाती हैं तथा कर्ता होने के अभिमानवाला आत्मा अहंकारविमूढ कहा जाता हैं। इस वाक्य का अभिप्राय यह नहीं हैं कि जीव में कर्तृत्व का निषेध हैं, प्रत्युत इसका अर्थ तथा तात्पर्य दूसरा ही है। संसार की प्रवृत्ति में प्राकृत गुण से संमूढ आत्मा प्रकृति के गुणों-द्वारा प्रयुक्त होकर ही प्रवृत्त होता हैं। इतना ही इसका तात्पर्य हैं, आत्मा के कर्ता होने का कथमपि निषेध

'**वेदान्तकौस्तुभ**'-नाम्नी टीकां कृतवान्। तत्पश्चात्कालावच्छेदेनैव च १६०० ईसवीये काले स्वीयं जीवनं सफलं कर्तुकामः श्रीकेशवभट्टः '**वेदान्तकौस्तुभ**'-नाम्न्याः श्रीनिवासविरचिताया विस्तृताया व्याख्यास्वरूपायाष्टीकाया उपरि-१. 'कौस्तुभप्रभा'-नाम्नीं टीकां लिखितवान्, २. 'श्रूत्यन्तसुरद्रुमः'-श्रीपुरुषोत्तमाचार्यस्य, ३. 'सिद्धान्तजाह्नवी'-श्रीदेवाचार्यस्य, इत्यादिरूपेणेमे सर्वेऽपि ग्रन्थाः सन्ति श्रीनिम्बार्काचार्योदितस्य द्वैताऽद्वैतवादस्य प्रवर्धकाः पुष्टिकरास्तुष्टिकराश्चेति विज्ञेयम्। एवमन्येऽपि सन्ति एवंविधा ग्रन्थाः। तथापि सर्वे तु नैतादृशाः। (दर्शनशास्त्रस्येतिहासः)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करता। जीव इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता हैं और इसलिए वह भोक्ता भी हैं। आत्मा के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध स्वस्वामिभाव हैं। जीव है स्वामी तथा इन्द्रियाँ हैं उसके वश में रहनेवाली (स्व)। अत इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत समस्त विषय जीव के लिए ही भोग्य हैं। इन्द्रियाँ तो इस कार्य में केवल करणमात्र हैं। यह जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों होता हैं।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता हैं। अतः चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष भेदक गुण रहता है-नियम्यत्व। **ईश्वर नियन्ता हैं, जीव नियम्य है**। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी वह ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव नियम्य है तथा ईश्वर नियन्ता है। इसका कारण यह है कि जीव परतन्त्र होता है और ईश्वर सर्वदा स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र होने से ईश्वर प्रत्येक दशा में नियन्ता होता है; अर्थात् वह जैसा चाहे वैसा बर्ताव जीव के साथ कर सकता है। जीव अपने सब कार्यो के लिए परतन्त्र है तथा ईश्वर पर आश्रित रहता है। यहाँ तक कि जीव का कर्तृत्व भी उसके वश की बात नहीं है। नियन्ता परमात्मा अपनी इच्छा के अनुसार जीव में कर्तृत्व उत्पन्न करता है। इसलिए श्रुति कहती है कि ईश्वर मनुष्यों के हृदय में प्रवेश कर उनका शासन या नियमन करता है और गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझसे जीवों को 'स्मृति और ज्ञान होता हैं' (मत्तः स्मृत्तिर्ज्ञानमपोहनं च)-ये दोनों वचन जीव की परतन्त्रता तथा ईश्वर की स्वतन्त्रता के बोधक हैं।

जीव परिमाण में अणु है-ऐसी स्थिति में संशय उत्पन्न होता है कि यह अणु होने पर शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो में होनेवाले सुख-दुःख का अनुभव किस प्रकार करता हैं ? इसका समाधान यह हैं कि जीव में व्यापक ज्ञानलक्षण गुण सदा विद्यमान रहता है और इसी गुण की सहायता से जीव सकल शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव सदा किया करता है। वह रहता तो है हृदय में ही, परन्तु वहीं से वह शरीर के अन्य भागों में उत्पन्न सुख-दुःख का अनुभव किया करता है। एक उदाहरण से इसे देखिए-चन्दन का तिलक तो ललाट के ऊपर रहता हैं, परन्तु वह वहीं से समग्र शरीर को विभूषित करता है; दीपक घर के एक कोने में रक्खा जाता हैं, परन्तु वहीं से यह समस्त घर को प्रकाशित करता हैं। अणुरूप जीव की भी ठीक यही दशा है। **जीव प्रतिशरीर में भिन्न है और इसलिए वह अनन्त माना जाता हैं**। इस प्रकार जीव परिमाण में अणु तथा संख्या में नाना हैं। वह हरि का अंशरूप हैं। **अंश शब्द का अर्थ अवयव-विभाग नहीं हैं, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, अतः वह अंशी हैं; जीव उसका शक्तिरूप हैं, अतःवह अंशरूप हैं।** अघटनघटना-पटीयसी, गुणमयी, प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता हैं। भगवान् के प्रसाद से ही जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता हैं। **मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुभुक्षु (विषयानन्द का इच्छुक) भेद से बद्ध जीव दो प्रकार का हैं**। क्लेशों से पीड़ित होने पर विरक्त तथा मुक्ति चाहनेवाला जीव मुमुक्षु कहलाता हैं, परन्तु विषय के आनन्द का इच्छुक जीव बुभुक्षु कहलाता हैं। **बद्ध जीव के दो प्रकारों के समान मुक्त जीव भी दो प्रकार का होता है**-(१) नित्यमुक्त तथा (२) मुक्त। जो जीव गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि प्राकृत दुःखों के अनुभव से शून्य है और नित्य भगवान् के स्वरूप का दर्शन करता हुआ भजनानन्द में मस्त रहता है वह नित्य मुक्त माना जाता हैं। भगवान् के पार्षद विश्वक्सेन तथा गरुड आदि इसी श्रेणी के जीव हैं। जो जीव अविद्या से उत्पन्न दुःखों के अनुभव से रहित होता है वह केवल मुक्त कहलाता हैं। मुक्त पुरुषों की भी अनेक श्रेणियाँ आकर ग्रन्थों में वर्णित हैं। मुक्त पुरुषों में कुछ तो ऐसे हैं जो निरतिशय आनन्दरूप भगवद्भाव को पानेवाले हैं और दूसरे मुक्त जीव अपने आत्मज्ञान से स्वरूपानन्द की प्राप्ति करनेवाले होते हैं और

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतने से ही वे संतुष्ट होते हैं।

जडतत्त्व :- अचित्-चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। यह तीन प्रकार(३९५) का होता हैं - (१) **'प्राकृत'**-महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। (२) **'अप्राकृत'**-प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जिसमें प्रकृति का किसी भी प्रकार से सम्बन्ध नहीं हैं, जैसे भगवान् का लोक, जिसकी 'परम व्योमन्', विष्णुपद', 'परमपद'-आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें श्रुतियों में हैं। (३) **'काल'**-काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। जगत् के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता हैं। काल जगत् का नियामक होने पर भी परमेश्वर के लिए नियम्य (अधीन) ही हैं। काल अखण्ड रूप हैं। स्वरूप से वह नित्य हैं, परन्तु कार्यरूप से अनित्य हैं। काल का कार्य औपाधिक है। इसके लिए सूर्य की परिभ्रमणरूप किया उपाधि है।

ईश्वर :- श्री निम्बार्काचार्य के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गई हैं। वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुणों का निधान हैं।(३९६) इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर हैं, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता हैं।(३९७) नियम्य तथा परतन्त्र सत्त्वाश्रय चिदचिद्रूप विश्व ईश्वर के ऊपर अवलम्बित होने वाला हैं। परब्रह्म, नारायण, भगवान् कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि परमात्मा की ही संज्ञायें हैं।

ईश्वर समस्त प्राकृत (प्रकृतिजन्य) दोषों से रहित है तथा अशेष कल्याण गुणों का निधान है। प्राकृत दोषों से अभिप्राय-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेष से हैं, जो योगशास्त्र में क्लेशों के नाम से पुकारे जाते हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य, करुणा आदि गुण भगवान् में सदा निवास करते हैं। कल्याण गुणों की भी इयत्ता नहीं हैं, वे अनन्त हैं, जिनमें जगत् के उदय का कारण होना तथा मोक्ष देना प्रधान हैं। ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण हैं। वह कर्म के अनुसार प्राणियों को फल का वितरण करता हैं। विश्व का आधारभूत परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म, निरतिशय महान्, ईश्वरों का ईश्वर तथा सबका अतिक्रमण करने वाला हैं। उसके शक्ति और सामर्थ्य की अवधि नहीं हैं। वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, तथा अपनी इच्छा के विलास से जगत् की सृष्टि आदि व्यापार करता हैं।

जीव की दो दशायें होती हैं-बद्धदशा, जब जीव संसार के नाना दु:खों के बन्धन में पड़ा रहता है और मुक्तदशा, जब भगवान् के अनुग्रह से बन्धनों-दु:खों की निवृत्ति हो जाने से वह मुक्ति पा लेता हैं। ब्रह्म तथा जीव के बीच में भेदाभेद सम्बन्ध स्वभाविक है और ऊपर की दोनों दशाओं में नियत हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बद्ध तथा मुक्त दोनों दशाओं में जीव ब्रह्म से भिन्न भी रहता है और अभिन्न भी रहता है। अत: दोनों का भेदाभेद स्वाभाविक है। बद्ध दशा में तो सर्वज्ञ, व्यापक ब्रह्म से अल्पज्ञ तथा एक-देशव्यापी जीव की भिन्नता स्पष्टत: प्रतीत होती हैं, परन्तु इस दशा में भी दोनों में अभिन्नता रहती हैं। बद्धदशा में जीव की न तो ब्रह्म से अलग स्थिति है और न अलग प्रवृत्ति ही होती हैं। जिस प्रकार पेड़ से पत्तों की, प्रदीप से प्रभा की, गुणी से गुणों की तथा प्राण से इन्द्रियों की न तो अलग स्थिति हैं और न अलग कार्यों में प्रवृत्ति हैं, उसी प्रकार जीव तथा ब्रह्म में भी अभिन्नता समझनी

---

(३९५) अत्राकृतं प्राकृतरुपकं च कालस्वरुप तदचेतनं मतं। मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र (दशश्लोकी-३) **(३९६)** स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्। व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥ (दशश्लोकी-४) **(३९७)** यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रुयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायण: स्थित:। (सिद्धान्तजाह्नवी, पृ-५३ में उद्धृत)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। मुक्त दशा में जीव ब्रह्म से अभिन्न तो बन जाता हैं, परन्तु फिर भी दोनों में भेद बना ही रहता हैं। **छान्दोग्य उपनिषद् (८।३।४) का स्पष्ट कथन है कि,** मुक्त जीव भी अपने विशेष स्वरूप को ही प्राप्त करता है और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता। आशय यह है कि मुक्तिदशा में जीव ब्रह्म के साथ मिलकर एकाकार होने पर भी अपनी स्वतन्त्रता पृथक् बनाये रहता है और उसका व्यक्तित्व बना ही रहता हैं। (इस बात को ब्रह्मसूत्र- १।४।२१ पर रचित वेदान्तकोस्तुभ में की हैं)

साधन मार्गः- निम्बार्क मत के साधन का मार्ग **शरणागति (प्रपत्ति) हैं।** जीव जब तक भगवान् के शरण में नहीं आता, तब तक उसका वास्तव कल्याण नहीं होता। प्रपन्न होते ही भगवान् का अनुग्रह जीवों पर होता हैं। अनुग्रह होने से भगवान् के प्रति रागात्मिका भक्ति का उदय होता हैं। भगवान् के प्रति प्रेम होना कोई साधारण घटना नहीं हैं। भगवान् जिस पर अपनी दया की वर्षा करते हैं वही जीव उनकी ओर आकृष्ट होकर प्रेम करता हैं। इस प्रेमा भक्ति का फल हैं-भगवान् से साक्षात्कार अर्थात् भगवान् का दर्शन। तब जीव भगवान् के भावों से स्वतः व्याप्त हो जाता है और इस दशा में वह सदा के लिए क्लेशों से छुटकारा पा लेता है। शरीर के साथ सम्बन्ध रहने पर 'भगवद्भावापत्ति' हो नहीं सकती। इसलिए निम्बार्कमत में भी अन्य वैष्णव मतों के समान 'विदेहमुक्ति' ही मान्य हैं, 'जीवन्मुक्ति' नहीं। (दशश्लोकी ग्रंथ के नवम पद्य की व्याख्या वेदान्तरत्नमञ्जूषा में इस बात की हैं।)

(५) द्वैत सिद्धांत(३९८) **:**- श्रीमाध्वाचार्य विरचित पूर्णप्रज्ञभाष्यमें ''द्वैत'' सिद्धांत का समर्थन किया गया हैं,

---

(३९८) **द्वैतमतम् :**- द्वैतमतावलम्बि-श्रीमाध्वाचार्यमते जीवस्तु सर्वथैव सदैव चास्ति तस्माज्जगन्नियन्तुर्जगदीश्वरतो भिन्नः। **जीवस्याऽल्पज्ञत्वधर्मावच्छिन्नत्वेन, परमेश्वरस्य च सर्वज्ञत्वधर्मावच्छिन्नत्वेन भेदस्तयोः सुस्पष्ट एवेति सार्वजनीनोऽयं विषयः । 'जीव ब्रह्मैव नापरः' इति शाङ्करवेदान्तसिद्धान्तानुसारं नास्त्यनयोर्जीवात्मपरमात्मानोस्तादात्म्यम्, प्रागुक्तविभिन्नधर्मावच्छिन्नत्वदर्शनात्। श्रुतेस्तु सार्थक्यं 'पुरोहितोऽयं राजा संवृत्तः' इतिवद् विधेयमिति न कश्चिद् दोषः।**

अनयोः श्रीमाध्वाचार्यः सेव्यसेवकभावसम्बन्धमङ्गीकरोति, आहोस्वित् पूज्यपूजकभावसम्बन्धं स्वीकरोति, अथवा दास्यदासकभावसम्बन्धोऽपि भवितुमर्हतीत्यपि कदाचित्तुल्यवित्तिवेद्यन्यायेन वक्तुं शक्यतेऽतो नहि कदापि तयोस्तादात्म्यम् (एकत्वम्) स्यात्। श्रीमाध्वाचार्यमते सेव्यतावच्छेदककुक्षिनिक्षिप्तः, पूज्यतावच्छेदककुक्षिनिक्षिप्तो वा चास्ति शङ्खचक्र-गदाधारी मानवमात्रहृदयकुञ्जविहारी परमेश्वरपदाधिकारी, मुरारिः, पीताम्बरवेषभूषाधारी श्रीविष्णुरेव। स च भगवान् विष्णु रुक्मिणीयुत-पाण्डुरङ्गाऽपरनामधेयश्चास्ति सर्वथा लक्ष्मीयुक्तः। अयञ्च श्रीमाध्वाचार्यः १३०० ईसवीये वर्षे पाञ्चभौतिकशरीरेण विराजमानः पूर्णप्रज्ञः, आनन्दतीर्थापराऽभिधानः केनेरी-प्रान्तान्तर्गतपङ्कजप्रदेशे स्वीयां जनिं लब्धवान्। अस्य श्रीमाध्वाचार्यस्य पितुर्नाम श्रीमध्यगेह आसीत्, मातुश्च 'वेदवती' इति। अस्यैव बाल्यावस्थाकालीनं नाम 'वासुदेव' इत्यासीत्। अयञ्च महाविद्वान् महापण्डितो वायोरवतारभूतः प्रभूतः श्रीमाधवाचार्यापरनामधेयः श्रीपूर्णप्रज्ञः स्वीयमतस्य पुष्टि-तुष्टिकारणीभूतानि निम्नोल्लिखितानि ग्रन्थजातानि स्वीयग्रन्थलेखनकलाकौशलपूर्वकं स्वयं रचितवान्। तथाहि-

१. 'गीताभाष्यम्-स्वमतसमर्थकम्। २. 'सूत्रभाष्यम्'-पूर्णप्रज्ञसंज्ञकम्। ३. 'महाभारततात्पर्यनिर्णयः'। ४. 'श्रीमद्भागवततात्पर्यनिर्णयः'। इत्यादि नानाविधाः स्वमतपोषकाः स्वीयवैष्णवसम्प्रदायविकासकरा इतोऽतिरिक्ता अपि बहवो ग्रन्थाः अनेन महाविदुषा विरचिताः। दक्षिणदेशीयशरीरावच्छिन्नस्यास्य माध्वाचार्यापरनामधेयस्य श्रीपूर्णप्रज्ञस्य वायोरवतारभूतत्वेन वर्णनं मिलति। तथाहि- 'प्रथमस्तु हनूमान् स्याद् द्वितीयो भीम एव च। पूर्णप्रज्ञस्तृतीयश्च भगवत्कार्यसाधकः'॥ इत्यनेन प्रमाणभूतेन पद्यात्मकेन श्लोकेन सुस्पष्टमिदं विज्ञायते यत् श्रीहनुमद्भीमयोः साक्षाद् वायुभूत्वेन पूर्णप्रज्ञस्यापि तथाविधत्वं विज्ञेयम्। एवम् अनेन विरचितस्य सूत्रभाष्यस्योपरि चास्ति 'तत्त्वप्रदीप'-नाम्नी टीका या १४०० ईसवीये वर्षे 'श्रीत्रिविक्रमपण्डिताचार्य'-द्वारा विरचिता वर्तते। **अयञ्च महानुभावो विद्वान् प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति प्रमाणद्वयमेवाऽभ्युपगच्छति। अस्मिन् मते परमेश्वरपदजन्यबोधविषयतावद् अखण्ड-ब्रह्माकाराकारिताऽन्तःकरणवृत्तिविषयत्वेन प्रमाणविषयत्ववदङ्गीक्रियते इति।** (दर्शनशास्त्रस्येतिहासः, पृ-६७-६८)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अद्वैत सिद्धांत से बिलकुल भिन्न हैं। श्रीमाध्वाचार्य जीव और ब्रह्म दोनों को सत्य मानते हैं। उपरांत, उनके मत में विष्णु ही परमतत्त्व हैं और जगत सदैव सत्य हैं। जीव और परमात्मा का भेद वास्तविक हैं। परमात्मा स्वामी और जीव उनका दास हैं। जीव अपने कर्मो के अनुसार नीच-उच्चगति को प्राप्त करता हैं। अपने शाश्वतसुख की अनुभूति करना यही मुक्ति हैं। और वहाँ पहुँचनें का उपाय भक्ति हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शाब्द ये तीन ही प्रमाण हैं। और वेदो में एकमात्र विष्णु का ही विवेचन किया जाता हैं। श्रीमाध्वाचार्य के कथनानुसार जीव को कुछ बातो में ईश्वर के समान मानना और कुछ बातों में ईश्वर से भिन्न मानता वह असंगत हैं। **इस प्रकार से ''मायावाद'' का सिद्धांत भी सर्वथा निराधार हैं। जगत एक मजबूत सत्य हैं, जिसका अपलाप नहीं हो सकता।**

● **माध्व पदार्थ-मीमांसा :- माध्वमत में दस पदार्थ माने जाते हैं**-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इन पदार्थों का विशेष वर्णन श्रीपद्मनाभ ने अपने '**मध्वसिद्धान्तसार**'**में** विशदरूपेण किया हैं। इनमें कतिपय पदार्थों के वर्णन में न्याय वैशेषिक के साथ साम्य होने पर भी अधिकांश में माध्वमत की विशेषता हैं। 'द्रव्य' बीस प्रकार का माना जाता हैं-परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत् तत्त्व, अहंकार तत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा,भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। '**गुण**' **के अनेक प्रकार हैं,** जिसमें वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा और सौन्दर्य आदि की भी गणना हैं। '**कर्म**' **तीन प्रकार का है :**-विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। उदासीन कर्म परिस्पन्दानात्मक हैं जिसके भीतर उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि नानाविध कर्मों का अन्तर्भाव होता हैं। **नित्यानित्य भेद तथा जाति-उपाधि भेद से** '**सामान्य**' **दो प्रकार का होता है**। भेद के अभाव होने पर भी भेद-व्यवहार के निर्वाहक पदार्थ को '**विशेष**' कहते है। [**भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः**' (**-मध्वसिद्धांतसार**)] परमात्मा में भी विशेष को स्वीकार करना पड़ता हैं। विज्ञानानन्दरूप परमात्मा में इस विशेष के कारण भेद दृष्टिगोचर होता हैं। यह विशेष जगत् के समस्त पदार्थों में रहता हैं, अतएव अनन्त है। विशेषण से संयुक्त पदार्थ को 'विशिष्ट' कहते हैं। **हस्त-पादादि से व्यतिरिक्त समग्र अवयवविशिष्ट पदार्थ** '**अंशी**' **हैं**। '**सादृश्य**' तथा '**अभाव**' की कल्पना में कोई नवीनता नहीं है। '**शक्ति**' **चार प्रकार की है**-(१) अचिन्त्य शक्ति, (२) आधेय शक्ति, (३) सहज शक्ति और (४) पद शक्ति। 'अचिन्त्य शक्ति' अघटितघटना-पटीयसी होती हैं और भगवान् विष्णु में ही निवास करती हैं। भगवान् में ही विचित्र कार्य सम्पादन का अलौकिक सामर्थ्य रहता है। परमात्मा में विषय गुणों की सार्वकालिक स्थिति इसी शक्ति के कारण हैं। लक्ष्मी, वायु आदि की शक्तियाँ परमात्मा की अपेक्षा कोटिगुण न्यून होती हैं। (२) दूसरे के द्वारा स्थापित शक्ति को '**आधेय शक्ति**' कहते हैं (अन्याहितशक्तिराधेयशक्तिः)। विधिवत् प्रतिष्ठा करने सें प्रतिमा में जो देवता का सान्निध्य उत्पन्न होता है वही '**आधेय शक्ति**' है। कामिनी के चरणाघात से अशोक का पुष्पित होना और औषधलेप से कांस्य-पात्र का स्वच्छ हो जाता इसी शक्ति से सम्पन्न होता है। (३) कार्यमात्र के अनुकूल स्वभाव-रूपा शक्ति '**सहज शक्ति**' है। यह सर्व-पदार्थ-निष्ठा होती हैं। पदार्थ-भेद से यह नित्य भी होती है तथा अनित्य भी। (४) पदपदार्थ में वाचक-वाच्य-सम्बन्ध '**पदशक्ति**' कहलाता है। मुख्या और परम मुख्या भेद से यह दो प्रकार की होती है। '**इन्द्र**' शब्द का '**पुरन्दर**' अर्थ '**मुख्या**' वृत्ति से और '**परमेश्वर**' अर्थ '**परम मुख्या**' वृत्ति से होता है।

परमात्मा-साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्तगुण-परिपूर्ण हैं, अर्थात् भगवान् के गुण अनन्त हैं तथा उनमें प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। उनमें सजातीय उभयविध आनन्त्य है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष-इन आठों के कर्ता भगवान् ही हैं। वे सर्वज्ञ हैं तथा परम मुख्या वृत्ति से समस्त

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद-वाच्य हैं। वे जीव, जड और प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण हैं। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही भगवान् के शरीर हैं। अतः शरीरी होने पर भी नित्य तथा सर्वस्वतन्त्र हैं। वे एक होकर भी नाना रूप धारण करते हैं। इनके समस्त रूप स्वयं परिपूर्ण हैं, अर्थात् उनके मत्स्यादि अवतार स्वयं परिपूर्ण हैं। (माध्व बृहद्भाष्य) मत्स्य, कूर्मादि स्वरूपों से, कर-चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न है। अत एव भगवान् तथा भगवान् के अवतारों में भेद-दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।

लक्ष्मी-परमात्मा की शक्ति है। वह केवल, परमात्मा के ही अधीन रहती है; अतः उससे भिन्न है। [**''परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः'' (म.सि.सा.पृ. २६)**] इस प्रकार माध्व मत में तन्त्र मत के विपरीत शक्ति और शक्तिमान में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। लक्ष्मी भगवान् से गुणादिकों में कुछ न्यून ही रहती है। परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्या मुक्ता हैं, नाना-रूपधारिणी भगवान् की भार्या हैं। जिस प्रकार परमात्मा अप्राकृत दिव्य शरीर से सम्पन्न हैं, लक्ष्मी भी उसी प्रकार अप्राकृत देह धारणी हैं। ब्रह्म, रूद्रादि अन्य देवतागण शरीर के क्षरण (नाश) होने से 'क्षर' हैं, परन्तु लक्ष्मी दिव्यविग्रहवती होने से 'अक्षरा' हैं। परमात्मा देश, काल, तथा गुण इन तीनों वस्तुओं के द्वारा अपरिच्छिन्न हैं, परन्तु लक्ष्मी परमात्मा से गुण में न्यून हैं : तथापि देश और काल की दृष्टि से उनके समान ही व्यापक हैं। [द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा। देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजी (भा.ता.नि.)]

जीव-अज्ञान,मोह,दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संसारशील होते हैं। **ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं-मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य।** मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप से पांच प्रकार होते हैं। नित्यसंसारी जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊँच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं। वे कभी मुक्ति नहीं पाते। **तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं,** जिसमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों से साथ अधम मनुष्यों की गणना है। इस प्रकार गुणों के तारतम्य के कारण मनुष्य तीनों श्रेणियों में अन्तर्भुक्त किया गया है। **संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवों से भिन्न हैं, तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो सुतरां भिन्न है।** संसार-दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं हैं, प्रत्युत मुक्तावस्था में भी वह भिन्नता विद्यमान रहती हैं, मुक्त पुरुष आनन्द का अनुभव अवश्य करता हैं, परन्तु माध्वमत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य होता हैं। मुक्त जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्वमत की विशेषता है। **[गीता मध्वभाष्य-म.सि.सा. पृ. ३२]** मुक्तावस्था में जीव परम साध्य को प्राप्त कर लेता है। **(निरंजनः परमं साम्यमुपैति-मुण्डक, ३।१।३)**। इस श्रुति का तात्पर्य प्राकृतविषयक है, अभेदविषयक नहीं। भगवान् के साथ चैतन्यांश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की जाती हैं, परन्तु समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने से दोनों का पृथक्त्व ही प्रमाणसिद्ध हैं। (म.सि.सा. पृ. ३०)

'अव्याकृत आकाश' न्यायवैशेषिक का 'दिक्' हैं, जो सृष्टि और प्रलय में भी विकारशून्य रहता है। यह भूताकाश से सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि उत्पन्न होने से भूताकाश अनित्य हैं, परन्तु अव्याकृत आकाश नित्य, एक तथा व्यापक है। इसके अभाव में समस्त जगत् एक निबिड पिण्ड बन जाता है। लक्ष्मी इसकी अभिमानिनी देवता है। 'प्रकृति' साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है या जडरूपा, नित्या, व्याप्ता, सर्व-जीवलिंग-शरीर-रूपा है। रमा इसकी अभिमानिनी देवता है। **इस प्रकार द्वैतवादी माध्वों के मत में इस जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण।** 'गुणत्रय' प्रसिद्ध हैं। अन्य वैष्णव मतों

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुरूप माध्व मत भी शुद्ध सत्त्व की सत्ता स्वीकार करता हैं, इससे मुक्त जीवों के लीलामय विग्रह निर्मित होते हैं। सत्त्वाभिमानी श्री, रजोऽभिमानी भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा होती हैं। महत्तत्त्वादि अन्य द्रव्यों की कल्पना सांख्य तथा पुराणों के अनुरूप ही हैं।

साधनमार्ग-श्रवण, मनन, ध्यान के साथ तारतम्य-परिज्ञान तथा पञ्चभेद ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। जगत् के समस्त पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं। ज्ञान-सुखादि का अवसान भगवान् में ही होता है। यही तारतम्य ज्ञान है। भेद पाँच प्रकार का होता है-(१) ईश्वर का जीव से भेद, (२) ईश्वर का जड से भेद, (३) जीव का जड पदार्थ से भेद, (४) जीव का दूसरे जीव से भेद, तथा (५) एक जड पदार्थ का दूसरे जड पदार्थ से भेद। इन पञ्चविध भेदों का परिज्ञान माध्वमत में मुक्ति-साधक है। **उपासना दो प्रकार की होती है**-सन्ततशास्त्राभ्यासरूपा और ध्यानरूपा। अधिकारी भेद से उपासना का उपयोग होता है। 'ध्यान'से तात्पर्य, इतर विषयों के तिरस्कारपूर्वक भगवद्विषया अखण्ड स्मृति से है **(ध्यानं च इतरतिरस्कारपूर्वकभगवद्विषकाखण्डस्मृतिः-म० सि० सा०, पृ० १६९)**। जीव मोक्ष के लिए भी परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के नैसर्गिक अनुग्रह हुए बिना परतन्त्र जीव साधारण कार्यो का भी सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी। अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर परम भक्ति उत्पन्न होती है और उसके बाद परम अनुग्रह का उदय होता हैं, अनन्तर मोक्ष का जन्म होता है। **मोक्ष चार प्रकार का है**-कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अविरादिमार्ग और भोग। सालोक्य, सामीप्य,सारूप्य तथा सायुज्य भेद से भोग चार प्रकार का है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना 'सायुज्य' है, जो समग्र भोगों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन मुक्त जीवों में भी आनन्द का तारतभ्य मानना माध्वमत की विशिष्ट कल्पना है। हनुमान् और भीम के अनन्तर वायु के तृतीय अवतारभूत श्री मध्वाचार्य के मत का संक्षिप्त परिचय इस पद्य में बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है-

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनमक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

(६) भेदाभेद सिद्धांत(३९९) :-

श्रीभास्कराचार्य ने 'भेदाभेद' सिद्धांत के समर्थन के लिए ब्रह्मसूत्र के उपर ''भास्कर'' भाष्य की रचना की हैं।

जैसे वेदांत मत में ब्रह्म के सगुण-निर्गुण भेद हैं, एक आकाश के घटाकाश-महाकाश भेद हैं, काल के

(३९९) **भेदाऽभेदमतम् :-** अस्य भेदाभेदमतस्याऽऽदिप्रवर्तको जन्मदाता आचार्यप्रवरः श्रीभास्कर एव श्रूयते। अयञ्च श्रीभास्कराचार्यः (८२० ईसवीये वर्षे) व्यासोदितस्य ब्रह्मसूत्रस्य भास्करभाष्यकृर्तत्वेन प्रसिद्धिं लब्धवान्। श्रीभास्कराचार्यमते वेदान्तमतसिद्धसगुणनिगुर्णभेदवत् घटाकाशमहाकाशवत् खण्डकालमहाकालवत् प्राच्यादिदिङ्महादिग्वच्च यथास्ति अविद्योपाधि-रूपकारणवशादेव दृष्टान्तगतो भेदस्तथैव दार्ष्टान्तस्थलेऽपि चास्ति जीवात्मपरमात्मनोरूपाधिकृतो भेद इति नूनं विभाव्यताम्। तात्त्विकदृष्ट्या विचार्यमाणे तु अविद्योपाधौ निराकृते सति **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** इति शङ्कराचार्यसिद्धान्त एव समागच्छति। **'भेददृष्टिरविद्येयम्'** इति श्रुतिरपि जीवपरमात्मनोरभेदमेव प्रतिपादयति बोधयति च। तस्मादविद्योपाधिनिरसनं नितान्तमावश्यकम्, तस्मिन् सति अर्थत एवाऽभेदो जायते इति मन्तव्यम्। एवमेतस्मिन् मते ज्ञानकर्मसमुच्चयवादोऽङ्गीकृतो वर्तते, यत एतस्मिन् मते **'समुच्चिताभ्यामेव ज्ञानकर्मभ्यामविद्यानिवृत्तिद्वारेण अपवर्गो व्यज्यते नान्यतरेण' इति**। अस्मिन् मतेऽविद्याया अनादित्वेन तस्या नाशाऽसम्भवेन ब्रह्मणः सदैव सगुणत्वधर्मावच्छिन्नत्वेन सगुणत्वमेव विज्ञेयं न तु निर्गुणत्वमपि। तात्त्विकदृष्ट्या-ऽऽनुभविकदृष्टिकोणतो विचार्यमाणे चैतन्मते तत्त्वद्वयमेव खलु स्वीक्रियते-१. स्वतन्त्रं तत्त्वमेकम्, २. परतन्त्रतत्त्वं च द्वितीयम्। तत्रापि स्वतन्त्रतत्त्वभूतः प्रभूतो भगवान् विष्णुः, परतन्त्रतत्त्वञ्च जीव इति। उक्तञ्च-

'स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधतत्त्वमिष्यते। स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः'॥ -सर्वदर्शनसं०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खंडकाल-महाकाल भेद हैं, दिशा के पूर्वादि भेद हैं, वैसे जीव और परमात्मा में भी उपाधिकृत भेद हैं ही । इस मत में ''ज्ञान-क्रिया'' समुच्चयवाद का स्वीकार करते हैं । इसलिए ज्ञान और क्रिया दोनों से अविद्या के नाश द्वारा अपवर्ग (मोक्ष) होता है, ऐसी इस मत की मान्यता हैं । केवल ज्ञान से या केवल क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती हैं । उपरांत, इस मत में अविद्या अनादि होने से उसका नाश संभवित नहीं हैं, इसलिए ब्रह्म हंमेशा सगुणत्वावच्छिन्न सगुण ही जानना, निर्गुण नहीं । तात्त्विक दृष्टि-आनुभविकदृष्टिकोण से सोचने से इस मत में दो तत्त्व का स्वीकार किया हैं । (१) स्वतंत्र तत्त्व और (२) परतंत्र तत्त्व ।

(७) अविभागाद्वैतवाद[४००] **:-** श्रीविज्ञानभिक्षु ने ''विज्ञानामृतभाष्य'' में अपने अविभागाद्वैतवाद की पुष्टि की हैं ।

श्रीविज्ञानभिक्षु ने '**तस्माच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यते्**''-(बृ.उ. ४।४।२३) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अविभागाद्वैतवाद की स्थापना की थी । उस मत के विषय की विशेष माहीति तो उस भाष्य में से ही मिल सकेगी ।

(८) ''शैवविशिष्टाद्वैत'' वाद[४०१] **:-** श्रीकंठ ने ब्रह्मसूत्र के उपर 'शैवभाष्य' लिखकर उसमें अपने ''शैवविशिष्टाद्वैत'' सिद्धांत की स्थापना की हैं । इस मत में ''शिव'' ही ईश्वर के रुप में स्थापित हुए हैं और स्वीकार किये गये हैं । उनका अभिप्राय हैं कि, विष्णु आदि सर्व देवो में शिव ही सभी अपेक्षा से सर्वोच्चतम स्थान पे

---

(४००) अविभागाद्वैतवाद : अविभागाद्वैतवादी श्रीविज्ञानभिक्षुः १६०० ईसवीये वर्षे स्वास्तित्वसम्पन्नः खलु विज्ञानामृतभाष्यं रचितवान् । एवं सांख्यदर्शनेऽयं महानुभवो भिक्षुः-१. 'सांख्यप्रवचनभाष्यम्', २. 'सांख्यसारम्' तथा योगदर्शनेऽप्ययं महानुभावो भिक्षुः-'योगवार्त्तिके'ति नामकं ग्रन्थं रचितवान् ।

तत्र च श्रीविज्ञानभिक्षुमहोदयानामिदमेवास्ति कथनम्-यत् योगदर्शनसांख्य-प्रवचनयोर्नास्ति किमपि महदन्तरम् । तत्र सेश्वरसांख्यप्रवर्तको पतञ्जलिः पादचतुष्टयात्मकं योगशास्त्रं प्रणीतवान् । तत्र श्रीपतञ्जलिः प्रथमपादे-'अथ योगानुशासनम्' इत्येवं रूपेण योगशास्त्रारम्भविषयिणी प्रतिज्ञां कृत्वैव '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' इत्याद्यात्मकं योगलक्षणं कृतवान् । द्वितीये च पादे-'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इत्यादिरूपेण व्युत्थितस्य क्रियायोगं यम-नियमादीनि, पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि निरूपितवान् । तृतीये च पादे-'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**' इत्यनेन सूत्रेण महर्षिपतञ्जलिः धारणाध्यानसमाधीनां विचारं कृतवान् इति ध्येयम् । चतुर्थे च पादे खलु महर्षिः- 'जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः' इत्यनेन च सूत्रेण सिद्धिपञ्चकम्, ततश्च परमं पुरुषार्थरूपं तुरीयं प्रयोजनं मोक्षं दर्शितवान् इति । इत्थञ्च महर्षिः खल्वन्ततोगत्वा 'तस्माच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मानं पश्येत्'-बृ० उ० ४।४।२३ । इत्यादिनाऽविभागाऽद्वैतवादं प्रस्फोरितवान् । **(४०१) शैवविशिष्टाऽद्वैतवादः** अस्मिन् शैवविशिष्टाऽद्वैतवादे शिवस्यैवेश्वरत्वं व्यवस्थापितवान् अङ्गीकृतवांश्च श्रीकण्ठाचार्यः । इमे सर्वेऽपि शैव-वीरशैव-सम्प्रदायानुरोधिनो गले लिङ्ग(शिवलिङ्ग) धारिणो भवन्ति । तेषामयमाशयः-यत् शिवस्यैव विष्ण्वादिषु सर्वेषु देवेषु चास्ति सर्वोच्चतमं स्थानम् । आयुषोदृष्ट्या, पददृष्ट्या, व्यक्तित्वदृष्ट्या, महत्त्वदृष्ट्या, एवमन्यदृष्ट्याऽप्यस्यैव भगवतः श्रीशङ्करापरानामधेयस्य श्रीशिवस्यैव सर्वथोच्चैस्तरत्वं परिगण्यते । अयमेवेश्वरकोटौ 'महेश्वरः' (महांश्चासौ ईश्वर) इति निगद्यते । देवकोटौ चायं 'महादेवः' (महांश्चासौ देव) इत्येव परिगण्यते । ईशकोटौ चायं शिव 'महेशः' (महांश्चासौ ईश) इति च व्यवह्रियते । एवमस्य भगवतः शिवस्य पारिवारिका व्यक्तयोऽपि सन्ति तथाविधा एव । यथा-'नगेशः' (नगानामीशो) हिमालय इति । 'हिमालयो नाम नगाधिराजः' । तथैव मित्रकोटौ सन्निविष्टः 'धनेशः' (धनानामीशो धनेशः) कुबेर इति । तथा तनयकोटौ चास्ति 'गणेशः' (गणानामीशः) । सर्वथा शुभकार्येषु पूज्यत्वेनाग्रगण्यः, अर्थात् समस्तपवित्रकार्येषु सर्वप्रथमत एव पूज्यतावच्छेदक-कुक्षिनिक्षिप्तः । उक्तञ्च- 'स्वयं महेशः श्वसुरो नगेशः सखा धनेशस्तनयो गणेशः । तथापि भिक्षाटनमेव शम्भो ! बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' ॥-श्रुतिः । आयुषोदृष्ट्याऽस्य महानुभावस्य श्रीशिवस्य सर्वोपरि स्थानं वर्तते, अर्थात् विष्णुप्रभृतिदेवानामपेक्षयाऽयमेव भगवान् शिवश्चास्ति सर्वाधिकाऽऽयुष्मान् । केचित् निर्विकारम्, निराकारम्, निर्गुणम्, निर्विकल्पम्, निरञ्जनम्, निर्विशेषम्, निरीहम्, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावं खल्वमुमेव श्रीशिवमेव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इस मत में कुछ लोग शिव को निर्विकार, निराकार, निर्गुण, निर्विकल्प, निरंजन, निर्विशेष, निरीह, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववाले कहते हैं। ''शैवभाष्य'' के उपर श्रीअप्पयदीक्षित रचित ''शिवार्कमणिदीपिका'' नाम की एक टीका प्रसिद्ध हैं।

(९) वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद:(४०२) :- श्रीपति आचार्य ने अपने इस मत के समर्थन में ब्रह्मसूत्र के उपर 'श्रीकर' भाष्य की रचना की हैं। इस मत में भी ''शीव'' ही परमेश्वर हैं। वही परब्रह्म स्वरुप हैं। जीव-जगत स्वरुप विशेषण से विशिष्ट भी वह शिव ही जगत के नियन्ता, जगत के नाथ, अनाथो के नाथ है। वे शिवजी सर्वशक्तिमान्, अनादि, अनंत और जगत् के नियन्ता हैं। यहाँ उल्लेखनीय हैं कि, पूर्वोक्त मतो से अतिरिक्त भी बहोत मत प्रवर्तित हैं। उसमें राधा सहित श्रीकृष्ण को परमेश्वर माननेवाला श्रीचैतन्य महाप्रभु का 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' का भी समावेश हो जाता हैं।

● **अचिन्त्यभेदाभेदवाद**(४०३):- श्री चैतन्य महाप्रभु ने जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेद और अभेद दोनों का स्वीकार किया होने से उनका मत ''**अचिन्त्यभेदाभेदवाद**'' कहा गया हैं।

उनके मत में श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं। जगत यह उनकी लीला का ही परिणाम हैं। **श्रीकृष्ण की भक्ति ही मोक्षदायिका और मोक्षसाधिका हैं। सभी काम्यकर्मो का सर्वथा त्याग करके विहित ऐसे नित्य और**

वदन्ति। 'शिवो धर्मप्रतिष्ठाता' इत्यनेन साक्षात् श्रीरामवचनेन धर्मप्रतिष्ठातृत्वस्य शिवस्वरूपे ब्रह्माणि विद्यमानत्वेन शिवस्यैव सर्वं महत्त्वं सर्वत्र गीयते इति ध्येयम्।अयञ्च श्रीकण्ठाचार्य: (१२८० ईसवीये वर्षे) ब्रह्मसूत्रस्योपरि **शैवभाष्यं** लिखितवान्। कश्मीरप्रदेशे तथा दक्षिणप्रदेशान्तर्गतबेंगलूर-बेलगाँवप्रभृतिषु क्षेत्रेषु चास्य सम्प्रदायस्य महान् प्रचारोऽस्तीति श्रूयते। अस्यैव भाष्यस्योपरि श्रीअप्ययदीक्षितरचिता चास्त्येका 'शिवार्कमणिदीपिका' नाम्नी टीका। सा चास्त्यतीव सुप्रसिद्धा टीका इति। **(४०२) वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद: (श्रीपति:)** अस्मिन् वीरशैवविशिष्टाद्वैतवादि-श्रीपतिमतेऽपि 'शिव' एव चास्ति परमेश्वर:। स एव चास्ति परब्रह्मरूप:। जीवजगद्रूपविशेषणविशिष्टोऽपि स एवास्ति जगन्नियन्ता जगन्नाथोऽनाथनाथो बाबाविश्वनाथ: शिव इति। स च सर्वशक्तिमान्, अनादिरनन्तश्चेति जगन्नियन्ताऽपि। अस्मिन् मते श्री 'श्रीपति:' १४०० ईसवीये वर्षे स्वास्तित्वसंरक्षणपरायण: श्रीकरभाष्यं रचितवान् ब्रह्मसूत्रस्य। अयञ्च वीरशैवसम्प्रदायस्य महान् ज्ञाता श्री-श्रीपतिर्दक्षिणदेशनिवासीति तत्रैव सन्तिष्ठमानोऽयं स्वीयसम्प्रदायस्य प्रचारं विशेषरूपेण कृतवान्। ब्रह्मसूत्रस्योपरि कृतस्य श्रीकरभाष्यस्य पठन-पाठनादिकमाधिक्येन तत्रैव समनुभूयते। **(४०३) अचिन्त्यभेदाभेदवाद:**-अस्मिन् अचिन्त्यभेदाभेदवादमङ्गीकर्तृ-श्रीचैतन्यमहाप्रभुनये जीवात्म-परमात्मनो: (जीवेश्वरयो:) भेदाऽभेदौ सर्वथाऽङ्गीकृतौ स्त:। तयोश्चापि जीवात्म-परमात्मनोर्भेदाऽभेदौ खल्वचिन्त्यरूपेण तत्र विचारितौ। तथा च हारिणीमिव मनोहारिर्णी भक्तकामपूरणीमलौकिकीं लीलां प्रदर्शनपरस्याऽलौकिकशक्तिसम्पन्नस्याऽनन्तगुणगणयुतस्याऽनन्त-शक्तिशालिनो वनमालिनो भक्तिप्रियस्य गोवर्धनधारिणो माधवस्य तुलसीमालागोपीचन्दनाद्यलङ्कृतप्रतिमावतस्तस्य भगवत: परमेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य चराचरात्मकं परमार्थतो निरात्मकं जगदिदमचिन्तनीया लीलैव चास्तीत्यस्य विशेषतो ज्ञानार्थं श्रीमद्भागवतग्रन्थो विलोक्यतामिति ध्येयम्। **अत्र श्रीराधया सहित: सच्चिदानन्दो गोकुलचन्द्र: श्रीकृष्णचन्द्र एवास्ति परमेश्वर:।** स च 'भक्तिप्रियो माधव:' इति न्यायेन भक्तिलभ्यो भक्तिसाध्यो भक्तिप्रियत्वेन च भक्तानामपि प्रिय:। **अत एवाऽस्मिन्नये भक्तिरेव तुरीयपुरुषार्थदायिका साधिका च। अस्मिन्नये ज्ञानजन्यं तुरीयं पुरुषार्थं मोक्षं भक्तिरेव साधयति जनयति च।** तुरीयपुरुषार्थमोक्षदायिका भक्तिरिति वादिनामयमाशय: - **यत् चित्तशुद्धिमन्तरा न संसारनिवृत्ति: स्यात्। अत: काम्यकर्माणि सर्वथा परित्यज्य विहित-नित्यनैमित्तिकान्येवेश्वरार्पणबुद्ध्या करोति, तत्कर्मणा च भक्ति: समुदेति। तद्द्वारा च पुनश्चित्तशुद्धिं प्राप्नोति साधको यतिर्वा। ततश्च चितशुद्धिं द्वारीकृत्य भक्त्याऽनन्यया परमेश्वरो लभ्यते।** तथा चोक्तम्- 'भक्त्या त्वनन्यया लभ्य:'। -गीता, ११।५४। 'सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वम्' इत्यादिशास्त्रार्थोपदेशजन्यज्ञानजनिमत्तया खल्वनन्यया भक्त्या ब्रह्ममात्रत्वावगाहिन्या प्रत्ययान्तराऽनवगाहिन्या च तया बहिरन्त:सर्वदेशावच्छेदेन ब्रह्मरूपवस्तुस्वरूपसच्चिदानन्देत्यवगाहिन्या निर्विकल्पया भक्त्या यथार्थब्रह्माधिष्ठानभूतवस्तु-सन्दर्शनजन्यज्ञानेन ब्रह्मवित् साधको योगी वा यतिर्वा विदाङ्करोति विदाङ्कर्तुं वा पारयति।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैमित्तिक कर्मों को वे परमेश्वर को अर्पण करने की बुद्धि से करते हैं, उस कर्मो से भक्ति का उदय होता हैं। भक्ति से चित्तशुद्धि होती हैं। और चित्तशुद्धि को द्वार करके भक्ति द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति होती हैं। सगुण ब्रह्मरूप परमेश्वर की श्रद्धापूर्वक की भक्ति से ब्रह्मज्ञान प्रकट होता हैं और उसके द्वारा साधक विदेहमुक्ति को प्राप्त करता हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने सन् १५०० में अपना चैतन्यमत स्थापित किया था। अपने मत के समर्थन में उन्होंने कोई ग्रंथ बनाया हो ऐसा सुनने को नहि मिलता हैं। परन्तु उनके शिष्य श्रीरुपगोस्वामीने अपने गुरु के मत के प्रचार के लिए 'लघुभागवतामृत' आदि ग्रंथो की रचना की थी। इस मत के विषय में टिप्पणी में देखने का परामर्श हैं।

चैतन्यमत में भगवान् :- भगवान् विज्ञानानन्द विग्रह हैं, ये अनन्त गुणों के निवासस्थान हैं। सत्य-कामत्व, सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वविद्यत्व आदि अनन्त-अपरिमित गुण श्री भगवान् में सदा निवास करते हैं। गुण और गुणी का वास्तव में अभेद रहता है। इसलिए सत्यकामत्वादि अनन्तगुण भगवत्स्वरूप से पृथक् नहीं हैं। इस अभेद दृष्टि को ध्यान में रखकर विष्णुपुराण ज्ञान-बलादि गुणों को भगवत् शब्दवाच्य बतलाता है। **[भागवत-१०/१४/७]**भगवान् का विग्रह उनके स्वरूप से एकाकार ही है। अतः भगवद्-विग्रह नित्य तथा अप्राकृत है। इस प्रकार भगवान् के स्वरूप विग्रह तथा गुणों में किसी प्रकार का भेद या पार्थक्य नहीं हैं, तथापि पार्थक्य का वर्णन (जैसे भगवान् के गुण, भगवान् का स्वरूप) भाषा की दृष्टि से ही किया जाता हैं। चैतन्यमत में भेद का समर्थन जलकल्लोल न्याय से किया जाता हैं। श्री शंकराचार्य के मत के अनुकूल चैतन्यमत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेद से शून्य है। वह अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक पदार्थ है। भगवान् में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति रहती है, जिसके कारण नानात्मक प्रतीत होने पर भी वह एकात्मक ही बना रहता है। भक्तों ने इसलिए भगवान् को वैदूर्य मणि के समान बतलाया है। इस शक्ति की परिभाषिकी संज्ञा 'विशेष' है, जिसकी कल्पना माध्वमत से ग्रहण की गई है। जहाँ पर भेदभाव होकर भी भेदकार्य की प्रतीति होती हैं, वहाँ 'विशेष' माना जाता है। **यत्र भेदभावो भेदकार्यं च प्रमिते, तत्रैव भेदप्रतिनिधिर्विशेषः कल्पयते (सिद्धान्तरत्न. पृ-२३)** 'विशेष' भेदव्यवहार का

इदमत्रावधेयमस्ति यन्मुमुक्षोर्यतेर्योगिनो वा अन्तःकरणविशुद्धये सविशेषस्य सगुणस्य सकलस्य ब्रह्मणः समाराधनायां श्रद्धाभक्तिभ्यां नैरन्तर्येण ब्रह्मैवेदं सर्वम् 'भेददृष्टिरविद्येयम्' इत्यनेन श्रुत्यात्मकेन न्यायेन निर्गुणं निर्विकारं निराकारं तत् परं ब्रह्म ज्ञातुं तथा तत्स्वरूपेणाऽवस्थानरूपां विदेहमुक्तिं प्राप्त्यर्थं खल्वयमेव चास्ति विषयः। एवञ्च प्रशान्तसर्वशत्रुभावो विकारो वा यतिर्निर्गुणनिष्कलपरब्रह्मज्ञानेनैव विदेहमुक्तिं समवाप्नोति। अयमपि श्रीचैतन्यमहाप्रभुः १५०० ईसवीये वर्षे स्वीयं स्वाभिमतं श्रीचैतन्यमतं संस्थापितवान्। तदनन्तरकालावच्छेदेन च तस्य यथाशक्तिप्रचारः प्रसारश्च जातः, इदानीमपि जायते इति। अयञ्च बङ्गदेशीय आसीदिति श्रूयत एव केवलम्। तथा बङ्गदेशीयस्य महानैयायिकस्य श्रीवासुदेवसार्वभौमस्य शिष्य आसीदित्यपी श्रूयते एव, तच्च श्रवणं सर्वथा चास्ति प्रामाणिकम्।

अस्य महानुभावस्याऽयमासीत् सुदृढः सिद्धान्तः-यत् 'भक्त्या त्वनन्ययालभ्यः' इति। अनेन श्रीचैतन्यमहाप्रभुमहोदयेन राधया सहितः श्रीकृष्णः परमेश्वर एवाऽहर्निशकालावच्छेदेन सेवितः समाराधितश्च, नहि कोऽपि ग्रन्थस्तत्र लिखितः। केवलं शिष्योपदेशमात्रेणैव स्वाभिमतस्याऽस्य मतस्य प्रचारं प्रसारञ्च विहितवानयं महानुभावः। अहं दर्शनेतिहासलेखनपरायणः श्रीशशिबालागौडः खलु यावतोऽप्यस्य विदुषो द्वित्रिसङ्ख्याकान् शिष्यान् विदाङ्करोमि तावत केवलं नाम्नोल्लिखामि, तथा तेषां विषयेऽपि किञ्चिद् ब्रवीमि। अस्य चैतन्यमतसंस्थापकस्याऽचिन्त्यभेदाऽभेदवादप्रवर्तकस्य श्रीचैतन्यमहाप्रभोरनन्तरकालावच्छेदेन जायमानस्तदीयः शिष्यः 'श्रीरूपगोस्वामी' श्रीगुरोर्मतप्रचारार्थं स्वीयमतप्रसारार्थं वा १६०० वर्षे निम्नलिखितग्रन्थद्वयं रचितवान्। तथाहि- १. 'लघुभागवतामृतम्'-श्रीरूपगोस्वामिरचितः। २. 'भक्तिरसामृतसिन्धुः'-तत्रैव। ३. 'वैष्णवतोषिणी'-अस्यैव भ्रात्रा श्रीसनातन-गोस्वामिना रचितः। ४. 'बृहद्भागवतामृत'-तत्रैव। ५. 'हरिभक्तिविलास'-तत्रैव। इतः पश्चात्कालावच्छेदेन १७०० ईसवीये वर्षे 'श्रीकृष्णदासकविराजः' अस्यैव चैतन्यमतस्य संस्थापन-व्यवस्थापनदृष्ट्या 'चैतन्यचरितामृत' नामकं ग्रन्थं व्यरचयत्। यत्र चैतन्यजीवनचरित्रनिरूपणं समीचीनं कृतवान् श्रीकविराजः। (दर्शनशास्त्रस्येतिहासः)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाहकमात्र होता हैं, पर 'भेद' वास्तव होता है। भगवान् का जीव तथा प्रकृति से पृथक् होना भेद-साध्य है, परन्तु भगवान् का अपने गुणों तथा विग्रहों से पृथक् होना 'विशेषजन्य' हैं क्योंकि वस्तुतः उनके गुण तथा विग्रह भगवान् से एकाकार ही हैं। इसी अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् मूर्त होकर भी विभु है।

भगवान् की शक्तियाँ :- भगवान् अचिन्त्याकार अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, **परन्तु तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं-स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और मायाशक्ति।** स्वरूपशक्ति को चित्शक्ति तथा अन्तरंग शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि वह भगवद्रूपिणी ही है। सत् तथा आनन्द के कारण भगवान् की यह स्वरूपशक्ति एक होने पर भी त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होती हैं।-(१) '**सन्धिनी**-इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं और दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं, तथा समस्त देश, काल एवं द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं। (२) '**संवित्**'- चिदात्मा भी भगवान् इसी से स्वयँ जानते हैं तथा दूसरे को ज्ञान प्रदान करते हैं। (३) '**ह्लादिनी**'-इससे भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरों को आनन्द प्रदान करते है। जो शक्ति परिच्छिन्न-स्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है वह '**तटस्था**' या **जीवशक्ति** कहलाती है। मायाशक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव-साधन होता है। **इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को 'पराशक्ति' कहते हैं।** भगवान् '**स्वरूप शक्ति**'से जगत् के निमित्त कारण और माया-जीव शक्तियों से उपादान कारण हैं। इस प्रकार माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। जगत् में धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म के विनाश के लिए भक्तों की रुचि के अनुसार ये ही भगवान् भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं अवतार नहीं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्-श्रीमद्भाग० १।३।२८)।

● **जगत् :-** चैतन्यमत में जगत् प्रपञ्च नितरां सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्ववित् हरि की बहिरङ्ग शक्ति का विलास हैं। **श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रतिपादित करती है। जगत् की सत्यता के विषय में ईशावास्य-उपनिषद् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थ भाव से पदार्थों का निर्माण किया, जिससे पदार्थों का सत्य होना प्रमाणित होता है।** विष्णुपुराण में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यह अखिल जगत् जन्म तथा नाश आदि विकल्पों से युक्त होने पर भी अक्षय तथा नित्य है। महाभारत भी जगत् को सत्य तथा भूतमय मानता है। जगत् सच्चा अवश्य हैं, तथापि इसे अनित्य कहने का तात्पर्य यही है कि दुःख बहुल होने से साधक को इससे विरक्त रहना चाहिए। वैराग्य के लिए ही संसार को अनित्य कहा गया है। सृष्टिकाल में यह जगत् भगवान् में अभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है, परन्तु प्रलयकाल में भी यह जगत् अव्यक्त रूप से भगवान् में ही रहता है। रात के समय चिड़िएँ जंगल के पेडों में छिप कर रहती हैं, अर्थात् वे वहाँ रहती अवश्य हैं, परन्तु काल के वश उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसी प्रकार यह जगत् भी प्रलय दशा में अव्यक्त रूप से भगवान् में रहता है। प्रमेयरत्नावली (३।२) में इसलिए प्रलय दशा में जगत् की उपमा 'वनलीनविहङ्गवत्' कह कर दी गई हैं।

चैतन्य मत की दार्शनिक दृष्टि अचिन्त्यभेदाभेद की है। इसका विशिष्ट वर्णन श्रीजीवगोस्वामी ने इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी स्वरूपादि शक्तियों का अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य है। वह भिन्न प्रतीत होता है। उधर उनसे भिन्न रूप से चिन्तन करना भी अशक्य है फलतः वह अभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार शक्तिमान् (भगवान्) तथा शक्ति (स्वरूपादि) में भेद और अभेद दोनों सिद्ध होते हैं। ये दोनों ही अचिन्त्य शक्ति के कारण अचिन्तनीय हैं। इस प्रकार अचिन्त्य शक्ति के कारण यह प्रपञ्च न तो भगवान् के साथ बिल्कुल भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। इसी विलक्षण दृष्टिकोण के कारण यह मत अचिन्त्यभेदाभेद के नाम से दार्शनिक जगत् में प्रख्यात हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनमार्ग : भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। कर्म का उपयोग चित्त की शुद्धि कर उसे ज्ञान तथा भक्ति के उपयुक्त आधार बनाने में है। ज्ञान की प्रकाररुपा भक्ति 'केवल ज्ञान' से नितान्त विलक्षण है। ज्ञान दो प्रकार का होता है-केवल ज्ञान तथा विज्ञान। 'त्वं' पदार्थ के ज्ञान से कैवल्यज्ञान का उदय होता हैं, 'तत्' पदार्थ के चिन्तन से भगवत्प्रसाद का लाभ होता हैं, सायुज्यादि मुक्ति की उपलब्धि होती हैं। फलतः विज्ञान अर्थात् भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत्-प्रसाद को ही प्राप्त करता है, अपितु भगवान् को भी अपने वश में कर लेता है (भगवद्वशीकार)। अतः भगवद्वशीकार को उत्पन्न करने के कारण भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण भक्ति का सार है। ये दोनों शक्तियाँ भगवान् का ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का पृथग्-विशेषण हैं, परन्तु भक्तों का पृथग् विशेषण है।

भगवान् के दो रूप होते हैं- (१) ऐश्वर्य, जिसमें उनके परमैश्वर्य का विकास होता है तथा (२) माधुर्य, जिसमें नरतनुधारी भगवान् मनुष्य के समान ही चेष्टा किया करते हैं। ऐश्वर्य का ज्ञान माधुर्य के ज्ञान से भिन्न है। ऐश्वर्यज्ञान से सम्पन्न जीव भगवत्सान्निध्य में स्वकीय भाव को भूल कर सम्भ्रम तथा आदर के भाव से अभिभूत हो जाता हैं, परन्तु माधुर्य ज्ञान से सम्पन्न होने पर वह वात्सल्य, सख्य आदि स्वीय भावों को खो नहीं बैठता। **भक्ति भी दो प्रकार की होती हैं-** 'विधि भक्ति' और 'रुचिभक्ति' या राग। विधिभक्ति में भक्तिशास्त्र में निर्दिष्ट उपायों का अवलम्बन नितान्त उपादेय है। दृप्त भक्त अपने प्रयत्न से 'देवयान' का आश्रय कर सिद्धि लाभ करते हैं, परंतु आर्त भक्तों पर भगवान् की अहैतुकी कृपा होती है। वह स्वयं उन्हें अपने वाहन के द्वारा स्वेच्छा से परमधाम की प्राप्ति करा देते हैं। विधिभक्ति से रागात्मिका नितान्त श्रेयस्कर हैं। इस में भक्त भगवान् को अपने प्रियतम रुप से ग्रहण करता हैं, तथा अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ भगवत्-धाम को प्राप्त करता है व्रजगोपिकाओं में प्रत्यक्ष दृष्ट इसी उत्तमा भक्ति का सुन्दर वर्णन नारदपाञ्चरात्र ने किया हैं। **सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥** (नारदपाञ्चरात्र)

यह भक्ति अन्य दर्शनों के समान उपायभूता न होकर उपेयभूता है। मुक्तात्माओं के लिए यही भक्ति 'सेवानन्द' का रूप धारण कर प्रकट होती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की सेवा से जो आनन्दलाभ होता है वह मोक्ष से भी बढकर होने के कारण 'पञ्चम' पुरुषार्थरूप से गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय में ग्रहण किया गया है। इस भक्तिरस की सांगोपांग कल्पना चैतन्यमत की मुख्य विशेषता हैं, जिसका पाण्डित्यपूर्ण विवेचन रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में किया।

चैतन्यमत का संक्षिप्त वर्णन भक्तवर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है :- **"आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण वा कल्पिता। शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान् श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥"**

इस तरह से वेदांत की शाखायें हैं और उनके शिष्यो-प्रशिष्यो ने अपने-अपने आचार्यो के मतो में संस्करण -संवर्धन करके प्रवर्तित की हुए अनेकानेक प्रशाखायें वेदांतमें देखने को मिलती हैं।

उपासना की दृष्टि से सोचे तो श्रीशांकरमत, श्रीभास्करमत और श्रीविज्ञानभिक्षुका मत ब्राह्मतंत्र में माना जाता हैं। श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमाध्वाचार्य और श्रीनिम्बकाचार्य का मत वैष्णव तंत्र में गिना जाता हैं। श्रीकंठ का मत शैवतंत्र में गिना जाता हैं। वेदांत अनुसार जीव कोई न कोई रुप में ब्रह्म का ही अंश हैं और अंत में मोक्ष होने से या तो ब्रह्म में सर्वथा लय पाता हैं अथवा तो सदृश होकर ब्रह्मलोक में स्थिर होता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदांत के भिन्न-भिन्न संप्रदायो में श्रीशंकराचार्य का मत अत्यधिक प्रचलित हैं और बौद्धिक उच्चवर्ग की अभिरुचि को असरकर्ता बना होने से वेदांत अर्थात् 'शांकर-वेदांत'' ही कहा माना जाता हैं। श्रीबादरायणऋषि रचित ब्रह्मसूत्र में ही कुछ पूर्वाचार्य श्रीआत्रेय, श्रीआश्मरथ्य, श्रीऔडुलोमी, श्रीकार्ष्णाजिनि, श्रीकाशकृत्स्न, श्रीजैमिनि, श्रीबादरी आदि वेदांती आचार्यो का नामोल्लेख आता हैं। इन सबका प्रभाव बाद में विकसित हुए वेदांत के उपर पडा हुआ होना चाहिए। तदुपरांत, शांकरभाष्य में उल्लेख पाये हुए आचार्य श्रीभर्तृमित्र, श्रीभर्तृप्रपंच, श्रीबोधायन, श्रीउपवर्ष, श्रीब्रह्मानंदी, श्रीद्रमिल या श्रीद्रविड, श्रीभारुयि आदि का कुछ प्रभाव श्रीशंकराचार्य के मत के उपर पडा होगा ऐसा भी स्वीकार करना पड़ेगा।

(यह परिशिष्ट के संकलन में (१) नाग प्रकाशन द्वारा प्रकाशित **वेदान्त सिद्धांत मुक्तावली,** (२) नगीन जी. शाह विवेचित अविद्याविचार, (३) श्री बलदेव उपाध्याय कृत **भारतीय दर्शन** और (४) सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय द्वारा प्रकाशित **सर्व वेदान्त सिद्धांतसार संग्रह** एवं **दृग्-दृश्य विवेक :** ये पुस्तकों का सहयोग लिया गया है।

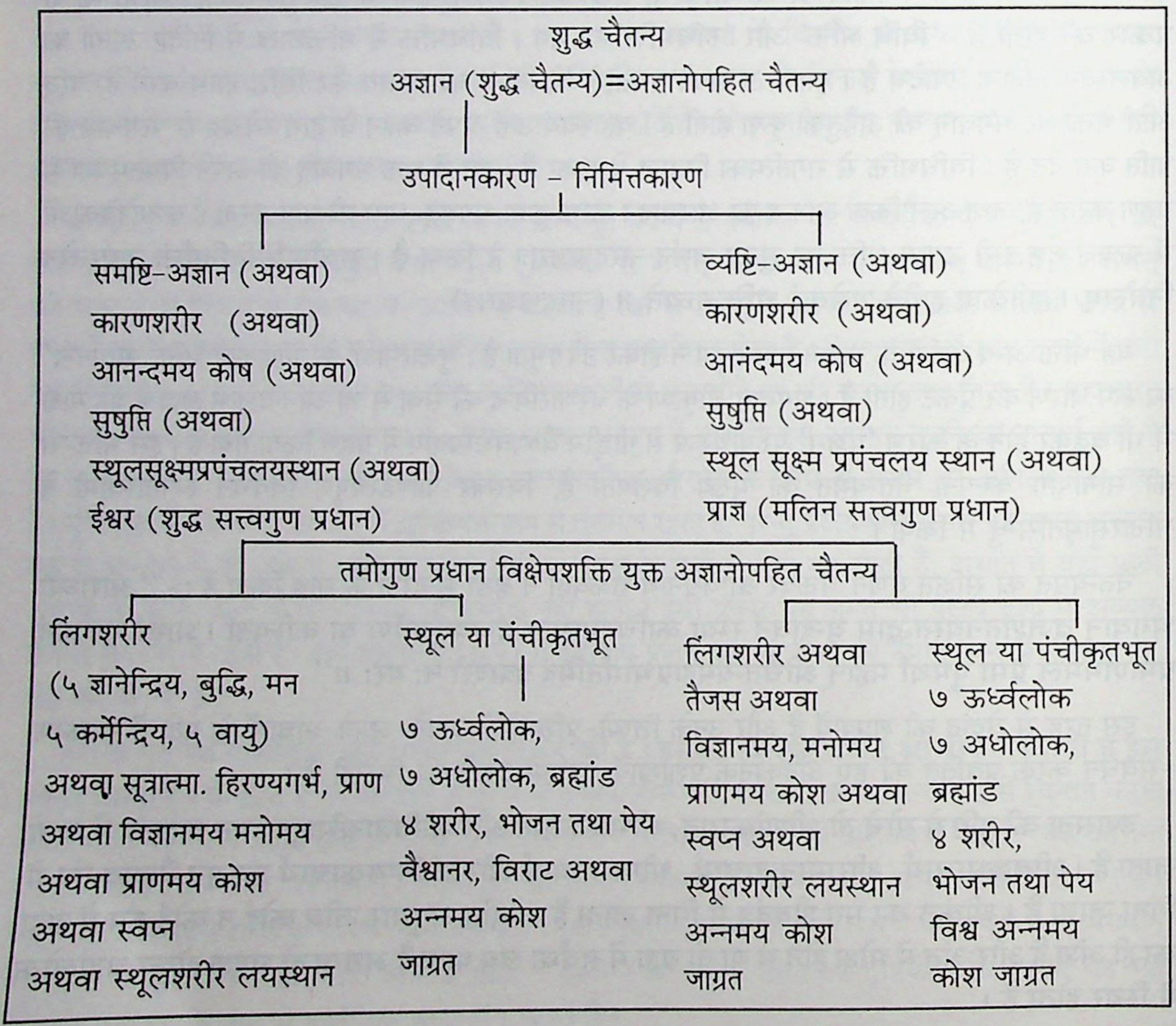

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट नं. २

योगदर्शन

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि है। सांख्यदर्शन और योगदर्शन की दार्शनिक विचारधारा एक ही है। सांख्यदर्शन जिन २५ तत्त्वो को मानता हैं, उसी २५ तत्त्वो को योगदर्शन मानता हैं। फर्क केवल इतना है कि, सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी हैं, जब कि, योगदर्शन समाधि की सिद्धि के लिए ईश्वर को मानता हैं।

पुरुष और प्रकृति का स्वरुप सांख्यदर्शन में देखा हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग से ही संसार है। जब प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान हो, तब संयोग की विनिर्मुक्ति होने से आत्मा का मोक्ष होता है। प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान के लिए **"योग"** आवश्यक है। यह योग, उसके साधन, उससे प्राप्त होती सिद्धियों का विशद वर्णन योगशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है।

● **ईश्वर का स्वरुप :** पातंजल योगसूत्र में ईश्वर का स्वरुप बताते हुए कहा है कि -

''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः । ।।१-२४।।

अविद्यादि क्लेश, धर्माधर्मरुप कर्म, जाति इत्यादि क्लेशकर्म के फलरुप विपाक तथा धर्माधर्म के संस्काररुप आशय - ये सर्व का त्रिकाल विषयक वस्तुतः तथा उपचार से होते संसर्ग से रहित शुद्धचितिशक्ति स्वरुप निरतिशय ऐश्वर्यवाले ईश्वर है।

क्लेश :- क्रियायोग से दूर होते क्लेश पांच प्रकार के हैं। (१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, (५) अभिनिवेश। इन पांच क्लेशो में अविद्या बाकी के चार की जननी हैं। इन सब क्लेशो की चार अवस्था हैं। (१) **प्रसुप्त =** सोये हुए की तरह काम न करते हुए पड़े हुए, परंतु जागते ऐसे हो। (२) **तनु =** पतले-शिथिल हो। (३) **विच्छिन्न =** तूटक तूटक वर्तन करनेवाला हो। (४) **उदाररुप से** सोचनेवाला हो। अब प्रत्येक का स्वरुप समजाते हैं।

अविद्या :- अविद्या अर्थात् उल्टा ज्ञान। वह चार तरीके से वर्तित होती दिखाई देती हैं। (१) अस्थायी-अनित्य वस्तुओ में नित्यत्व का भान, (२) अपवित्र वस्तुओ में पवित्रता का निश्चय, (३) दुःख और उसके साधनो में सुख का निश्चय, (४) अनात्म वस्तु में आत्मत्व का निश्चय।

अन्य दर्शन की इस विषय में मान्यता :- अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धिरुप अविद्या हैं, **ऐसा श्री पतंजलि ऋषि कहते हैं।** जो पररुप का अदर्शन वह अविद्या हैं। अथवा असत् प्रकाशन शक्ति वह अविद्या हैं, **ऐसा वेदान्ती मानते हैं।** दूरत्व, पित्तदोष इत्यादि से इन्द्रियजन्य बुद्धिविशेष, अयथार्थ बुद्धिरुप अविद्या हैं। **ऐसा वैशेषिक मतवाले मानते हैं। (२) अस्मिता :-** अविद्या-उल्टे ज्ञान के कारण पहले तो जड बुद्धि को हम आत्मा मान बैठे, बाद में उसके साथ एकदूसरे के होकर वर्तन करे। यह बुद्धि और आत्मा की एकात्मता यही अस्मिता - ''मैं पन'' प्रकृति और पुरुष का एकत्व। अस्मिता के कारण ही बुद्धि के सुख और दुःख को पुरुष अपना मानता हैं। **(३) राग :-** एक बार अनुभव किया हुआ सुख, ''मुझे यह अच्छा लगा'' ऐसे संस्कार चित्त में स्थिर हुआ, बाद में वही साधन सामने आने पर ''मुजे यह चाहिए'' ऐसी जो प्रबल इच्छा होती है वह राग। **(४) द्वेष :-** राग से विपरित। **(५) अभिनिवेश :-** आग्रह, अपनेपन का

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आग्रह। द्वेष का विवश स्वरुप हैं। **ये पाँचो क्लेश क्रियायोग से पतले पडते हैं। विवेकख्याति से दग्ध होते हैं और बाद में असंप्रज्ञात योग से चित्त का निरोध होने से उसका भी निरोध हो जाता है।**

कर्म :- कर्म दो प्रकार के हैं (१) शुक्ल कर्म = पुण्यकर्म (२) अशुक्ल कर्म = पाप कर्म। यहाँ सूत्र में कर्म पद का सामान्य अर्थ तो क्रिया होता हैं। परन्तु वह ईश्वर में संभव नहीं हैं। क्योंकि ईश्वर पुरुष विशेष हैं। और पुरुष निश्चल हैं। तो कर्म का अर्थ क्या माने ? सुख-दु:ख के साधनरुप धर्म और अधर्म हैं। जो क्रिया सुख का असाधारण कारण हैं, वह क्रिया धर्मरुप हैं। और जो क्रिया दु:ख का असाधारणकारण हैं, वह क्रिया अधर्मरुप हैं। ईश्वर में धर्माधर्मरुप क्रिया हैं, वह जगत्सर्जनरुपक्रियारुप हैं।

विपाक :- क्लेश तथा कर्म के फलरुप जाति, आयुष्य और भोग को विपाक कहा जाता हैं।

आशय :- ''चित्तभूमौ शेरते'' चित्तभूमि में पड़ा रहनेवाला, विपाक को अनुकूल तथा विपाक के कारणभूत चित्तगत वासना का वाचक हैं।

ईश्वर कैसे ? :- (१) क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के संसर्ग से तीनो काल में उपचार से भी रहित, (२) समग्र ऐश्वर्यसंपन्न और (३) पुरुष विशेष, वह ईश्वर हैं।

यहाँ सूत्र में केवल 'ईश्वर' इतना-यानी कि - ''समग्र ऐश्वर्यवान वह ईश्वर'' इतना लक्षण किया हो तो न्यायादिशास्त्र संमत ईश्वर में अतिव्याप्ति आती हैं। इसलिए ''पुरुष विशेष'' यह पद रखा हैं। इस पद से ईश्वर शुद्धचितिशक्तिस्वरुप हैं। अर्थात् ज्ञान इत्यादि ईश्वर के धर्म नहीं हैं, परन्तु स्वरुप हैं, यह सिद्धांत कहा हैं। तथा उसी पद से उपर जो शंका की थी कि ईश्वर यह प्रधान तथा पुरुष से कौन सा विलक्षण तत्त्व हैं, इसका समाधान किया हैं कि ईश्वर का पुरुष में अंतर्भाव होता हैं।

उपरांत,यदि ''पुरुषविशेष वह ईश्वर हैं'' इतना मात्र कहने में इस लक्षण की इतर सर्वपुरुषो में अतिव्याप्ति आयेगी। अथवा तो इस सूत्र के लक्ष्यवाचक ईश्वर पद का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ लक्षण में मिला दे अर्थात् ''ऐश्वर्यवाला तथा शुद्ध चितिशक्तिरुप पुरुष वह ईश्वर'' ऐसा लक्षण करे तो भी हिरण्यगर्भादि तथा प्रकृतिलीन और मुक्त पुरुष इन सभी में अतिव्याप्ति आयेगी। क्योंकि वे सभी पुरुष हैं। तथा ऐश्वर्यवाले हैं। यह अतिव्याप्ति दूर करने के लिए प्रथम पद की आवश्यकता हैं।

प्रथम पद से यह अर्थ कहा कि, क्लेशादि का संसर्ग जिसमें तीनो काल में उपचार सें भी नहीं है वह। यदि ''उपचार से भी'' इन पदो को रख दिये जाये तो ऊपर की अतिव्याप्ति दूर नहीं होती हैं। क्योंकि हिरण्यगर्भादि पुरुष, पुरुष होने से वस्तुत: तो क्लेशादि के संसर्ग से रहित ही हैं, परन्तु इतर पुरुष सत्त्वरुप स्व के स्वामी अथवा भोक्ता होने से, जैसे लश्कर (सैन्य)ने किये हुए जयपराजय का उसके स्वामीरुप राजा में उपचार किया जाता हैं, वैसे चित्त में रहे हुए क्लेशादि के संसर्गवाले उपचार से कहे जाते हैं। और ईश्वर में तो उपचार से कहा जाता हैं। और ईश्वर में तो उपचार से भी क्लेशादि का अभाव हैं। क्योंकि ईश्वर अविद्या को अविद्यारुप से जानकर अंगीकार करनेवाला होने से उस विषय में सदा अभिमानरहित हैं। मुक्त पुरुष भी क्लेशादि के संसर्ग से उपचार से भी रहित हैं, फिर भी ये पुरुष पहले जीवत्वदशामें थे तब वे संसर्ग से उपचार से रहित नहीं थे। इसलिए वे पुरुष के ऊपर आनेवाली अतिव्याप्ति दूर करने के लिए **''तीनो काल में वे संसर्ग से रहित''** ये पद आवश्यक हैं। इसी विशेषण से प्रकृतिलीन पुरुषो के उपर आती अतिव्याप्ति भी दूर होती हैं, क्योंकि जैसे मुक्त पुरुषो को भूतपूर्व उपचरित संसर्ग था वैसे प्रकृतिलीन पुरुषो में भी जब अपने काल का अवसान होता हैं तब अभिमान

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्फुरित होता हैं। इसलिए वे भावी उपचरित संसर्गवाले हैं। अतिव्याप्ति, अव्याप्ति इत्यादि दोषो को दूर करने पर भी असंभव दोष बताते हैं। और उसका निवारण करते हैं।

शंका :- उपरका लक्षण अतिव्याप्ति से रहित हैं। उपरांत, ईश्वर एक होने से अव्याप्ति से भी रहित हैं। तो भी असंभव दोषवाला हैं। क्योंकि ईश्वर स्वयं पुरुष होने से निर्गुण, निष्क्रिय और अपरिणामी हैं। इसलिए ईश्वर में ईशितृत्व होना संभवित नहीं हैं। तथा वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी नहीं होंगे।

समाधान :- यद्यपि ईश्वर स्वरुपतः शुद्धचितिशक्तिरुप हैं तो भी उसे एक चित्त होता हैं। यह चित्त शुद्धसत्त्वा माया के शुद्धांश का बना हुआ हैं। और इसलिए योगी के चित्त से विलक्षण हैं। योगी का चित्त प्रयत्न से शुद्धांशवाला बनता हैं और ईश्वर का तो अनादिकाल से शुद्धांशवाला ही होता हैं। इस चित्त के योग से ईश्वर में ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति होती है, उस चित्त के साथ ईश्वर को दूसरे जीवो की तरह अविद्या-निमित्त स्वस्वामिभावसंबंध नहीं हैं, परन्तु जगतरुप प्रवाह में खिंचे जाते पुरुषो का ज्ञानादि उपदेश द्वारा उद्धार करने की ईच्छारुप निमित्त से ईश्वर ने ईस चित्त का ग्रहण किया हैं।

ऐसा होने से जैसे स्त्री इत्यादि के वेश को उस रुप से जानकर ग्रहण करनेवाला शैलूष (नाटक का पात्र) इसलिए बंधनको नहीं पाता हैं। ऐसे वह चित्तरुप माया को मायारुप जानकर अपनी इच्छा से ग्रहण करनेवाला ईश्वर भी उससे बंधन को नहीं पाते हैं। ईश्वर अपनी ईच्छा से एक चित्त का ग्रहण करते हैं। ऐसा कहने में इच्छा से अनन्तर चित्त का ग्रहण और चित्त के बिना इच्छा का अभाव होने से चित्त के ग्रहण से अनन्तर इच्छायें होने पर भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता हैं। क्योंकि सर्ग अनादि हैं। यदि सर्ग को प्रथमता होती तो इस प्रश्न का अवकाश रहता कि ईश्वरने प्रथम चित्त का ग्रहण किस तरह से किया? परन्तु वैसा तो है नहि। जगतप्रवाह-सर्गप्रवाह अनादि हैं। इसलिए एक सर्ग के संहार समय "इस प्रलय का अवधि आने पर अर्थात् सर्गान्तर की सृष्टि होने के समय मुजे कुछ खास शुद्धांशवाला चित्तसत्त्व ग्रहण करना हैं।" ऐसा संकल्प करके ईश्वर सृष्टि का संहार करते हैं। और संकल्प की वासनावाला होकर चित्त भी उस समय प्रधान में- प्रकृति में लीन हो जाता हैं। उसके बाद प्रलयकाल पूरा हो जाये तब जैसे रात में सोया हुआ मनुष्य सुबह जल्दी उठने के निश्चय के साथ सोये तो वह निश्चय के बल से उचित समय पर उठ जाता हैं। वैसे पूर्वसर्ग के अवधि पर किये हुए प्रणिधानरुप दृढ संकल्पवाला ईश्वर का चित्त उस संकल्पवशात् इस सर्ग के प्रारंभ में ईश्वर को प्राप्त होता हैं। और उसके बाद उस चित्त द्वारा जगत् की उत्पत्ति ज्ञानादि का ब्रह्मा इत्यादि को उपदेश इत्यादि ईश्वर करते हैं। पुनः उस सर्ग का अवधि आने पर पूर्ववत् प्रणिधान करते हैं। तथा उस प्रणिधानवशात् पुनः नये सर्ग के आरंभ में उस चित्त की प्राप्ति होती हैं। इस प्रकार अनादिकाल से प्रणिधान और चित्त का ग्रहण होता होने से बीजांकुरवत् चलता ही रहता हैं।

प्रश्न :- ईश्वर को प्रकृष्ट सत्त्ववाला चित्त हैं, उसमें क्या प्रमाण हैं ?

उत्तर :- तदैक्षत सोऽकामयत्, तदात्मानं स्वयमकुरुत। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, यः सर्वज्ञः सर्वविद्॥ इस वेद की श्रुति से ईश्वर को प्रकृष्ट चित्त हैं, वह सिद्ध हुआ। सूत्र में एकवचन से वह व्यक्तिपरक है। और वह व्यक्ति एक ही हैं। अर्थात् ईश्वर एक ही हैं।

प्रश्न :- ईश्वर में ज्ञान किस प्रकार का हैं ?

उत्तर :- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। ॥(१-२५)॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रार्थ :- सर्वज्ञपन का बीज जो अतिशयवाला ज्ञान वह ईश्वर में निरतिशय हैं। अर्थात् ईश्वर में निरतिशय यानी कि उससे उत्कृष्ट नहीं ऐसा। यहाँ सूत्र में कहा हैं कि सर्वज्ञता का ज्ञापक हेतु जो सातिशय जातीय ज्ञान वह ईश्वर में निरतिशय हैं। अर्थात् अमर्याद स्वस्थान को प्राप्त हैं।

वहाँ सातिशयजातीयज्ञान सर्वज्ञता का इस अनुसार से ज्ञापन करता हैं।-ज्ञान सातिशय होने से किसी स्थान पे भी निरतिशय होना चाहिए। क्योंकि लोक में हम देखते हैं कि, जो जो गुण सातिशय होता हैं - जैसे कि परिमाण, वह क्वचित् भी निरतिशय होता हैं। परिमाण का जो अणुत्व-महत्वरुप सातिशय देखते है, वह पुरुष में काष्ठाप्राप्ति हैं। क्योंकि पुरुष विभु होने से निरतिशय महत्त्ववाला हैं। उसी अनुसार से ज्ञान भी सातिशय होने से क्वचित् काष्ठा को प्राप्त होना चाहिए। ज्ञान सातिशय है वह हम जानते हैं। बालक से बड़े पुरुष में ज्यादा होता हैं। उससे अधिक योगी में होता हैं। और उससे अधिक उत्तम साधनावाले योगी को होता हैं। इस तरह से ज्ञान सातिशय सिद्ध होता हैं। इसलिए परिमाण की तरह क्वचित् निरतिशयवाला होना चाहिए। जहाँ ज्ञान निरतिशय होता है, वहाँ सर्वज्ञत्व है यह स्पष्ट हैं। इसलिए सातिशयजातीय ज्ञान से सर्वज्ञ पदार्थ की सिद्धि अनुमान से हो सकती हैं।

ईश्वरसद्भाव में उपयोगी ऐसा अनुमान बताया। अब जगत के स्रष्टा, पालक इत्यादि माने जाते सर्वज्ञ ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि से भी वह ईश्वर (महेश्वर) अधिक महिमावाले हैं, ऐसा प्रतिपादन करने के लिए योग सूत्रकार कहते हैं - **''स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। ॥१-२६॥ सूत्रार्थ :-** वह ईश्वर पूर्व पूर्व सर्ग में उत्पन्न हुए ब्रह्मा इत्यादि के भी गुरु हैं। क्योंकि ईश्वर कालकृतपरिच्छेद से रहित हैं। अर्थात् आदि और अंत से रहित हैं। इस सूत्र से यह अर्थ का बोधन किया कि ईश्वर अनादि सिद्ध पदार्थ होने से जैसे इस सर्ग के ब्रह्मादि के उपदेष्टा हैं। वैसे अतीत अनागत ब्रह्मादि के भी उपदेष्टा हैं। क्योंकि वे महेश्वर भगवान उस समय भी वही रुप में होते हैं। ब्रह्मादि द्विपरार्धादि काल से अवच्छिन्न हैं। इसलिए अपने-अपने आयुष्य के अवधि में अपने अपने कारण में शान्त होते हैं। ईश्वर **''अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरः''** यह महाभारत के वाक्य अनुसार कारणरहित और अंतरहित होने से ब्रह्मादि के नाश के समय भी उसी रुप में स्थित होते हैं। पुनः सर्गकाल आता हैं तब उस ईश्वर के संकल्पानुसार -

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥

इस वाक्यानुसार प्रकृति में क्षोभ करते हैं। तथा उसके बाद ''तत्त्वनेनेरितं विषमत्वं प्रयाति'' इस श्रुति में कहे अनुसार प्रकृति के गुण का वैषम्य होता हैं। यह वैषम्य होने से क्रमशः श्रीसदाशिव, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। वे सभी अपने अपने आयुष का अवधि आने पर नष्ट हुए थे और इससे वेदादि के ज्ञान से रहित हुए थे। उनको उस सभी समय में भी जैसे के तैसे स्थिर होनेवाले वे श्री महेश्वर भगवान ''यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'' इत्यादि श्रुति अनुसार वेदादि का उपदेश करते हैं। इसलिए ब्रह्मादि के गुरु या उपदेष्टा महेश्वर भगवान हैं।

योग का स्वरुप :- योग का स्वरुप बताते हुए पातंजल योगसूत्र में कहा है कि,

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१-२॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- योग अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध अथवा चित्तवृत्ति की संस्कार शेष रुप अवस्था। यहाँ ''योग'' यह लक्ष्य निर्देश करनेवाला पद हैं। और ''चित्त'' यह लक्षण का निर्देश करनेवाला पद हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(लक्षण :- असाधारण धर्म, असाधारण = लक्ष्य को सजातीय तथा विजातीय पदार्थमात्र से व्यावृत्त करनेवाला) जैसे कि, मनुष्य का मनुष्यत्व धर्म चेतन पदार्थरुप अन्य प्राणी जो मनुष्यो के सजातीय कहे जाते हैं, उससे तथा जड पदार्थरुप घटादिपदार्थ जो जड होने से मनुष्य से विजातीय कहे जाते हैं, उससे अपने आश्रयरुप लक्ष्य मनुष्य को व्यावृत्त करनेवाला होने से लक्ष्यनिष्ठ असाधारण धर्म हैं।

चित्तवृत्ति :-

सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन द्रव्यों का बना हुआ द्रव्यविशेष चित्त कहा जाता हैं। चित्त को बुद्धिसत्त्व, अंतःकरण इत्यादि संज्ञा भी दी जाती हैं। यद्यपि चित्त तीन द्रव्यो का बना हुआ हैं, तथापि उसका मुख्य कारण प्रधानरुप से रहा हुआ सत्त्व हैं। इसलिए उसको बुद्धिसत्त्व कहने में कोई दोष नहीं हैं। इस चित्त को सजीव बनानेवाले विविध कारणो के कारण होते उसके परिणामविशेष को वृत्ति कहा जाता हैं। जैसे सूर्य में से किरने निकलती हैं वे सूर्य के परिणामविशेषरुप ही हैं। वैसे विविध द्रव्य से बने हुए चित्त के किरणसदृश जो परिणाम वह वृत्ति कहा जाता हैं। (वृत्ति का वर्णन आगे आयेगा।) उस चित्त की वृत्तियों का निरोध वह योग कहा जाता हैं।

चित्त की पांच अवस्थायें :- (१) क्षिप्तावस्था, (२) मूढावस्था, (३) विक्षिप्तावस्था, (४) एकाग्रावस्था, (५) निरुद्धावस्था। इस अवस्था के भेद से चित्त क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पांच प्रकार के हो सकते हैं।

प्रश्न :- चित्त तो सर्व एक ही प्रकार के कहे जाते हैं। उसकी पांच अवस्था अथवा पांच प्रकार किस तरह से हो सकते हैं ? **उत्तर :-** चित्त में प्रकाश अथवा तत्त्वज्ञानरुप प्रख्या, प्रसाद, लाघव इत्यादि गुण दिखाई देते हैं, उपरांत कर्मरुप प्रवृत्ति, परिताप, शोक इत्यादि गुण तथा प्रकाश और प्रवृत्ति के प्रतिबंधरुप स्थिति, गौरव, आवरण इत्यादि गुण दिखाई देते हैं। वहाँ प्रख्या, प्रसादादि गुण सत्त्वगुण के हैं। प्रवृत्ति, पारितापादि धर्म रजोगुण के हैं। और स्थिति, गौरवादि धर्म तमोगुण के हैं।

(१) क्षिप्त चित्त :- यद्यपि चित्त प्रधानरुप से सत्त्वगुण का कार्य होने से प्रख्या या प्रकाशधर्मवाला हैं। तथापि जब प्रधानरुप से वह रजोगुण और तमोगुण से संसृष्ट होता हैं तब अणिमादि ऐश्वर्य तथा शब्दादि पांच विशेष को ही प्रिय मानता हैं। और इसलिए संनिहित तथा व्यवहित विषयो की ओर ही रजोगुण से प्रेरित रहता हैं। ऐसा प्रकार का रजोगुण के विषय में ही वृत्तिवाला चित्त क्षिप्त कहा जाता हैं। साधारणतः दैत्य, दानवों का चित्त सदा ऐसा होता हैं।

(२) मूढ :- जब तमोगुण के समुद्रेक से कृत्याकृत्य को नहीं जाननेवाला होने से चित्तसत्त्व अधर्म, अज्ञान, अविरति और अनैश्वर्यवाला होकर रहता हैं। तब उसे मूढ कहा जाता हैं। साधारणतः राक्षस, पिशाच, इत्यादि का चित्त सदा ऐसा होता हैं।

(३) विक्षिप्त चित्त :- सत्त्वगुण के आधिक्य से जिसका मोहरुप आवरण चला गया हैं। और इसलिए जो सर्व विषय के बारे में वृत्तिवाला हुआ हैं ऐसा तथा रजोगुण के लेश से संपृक्त होने से जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यवाला होता हैं, वह चित्तसत्त्व विक्षिप्त कहा जाता हैं। यथार्थ रुप से इस प्रकार का चित्त श्री हिरण्यगर्भ भगवान् इत्यादि देवताओं का प्रायशः सदा होता हैं।

(४) एकाग्र :- शुद्ध, सात्विक होने से जब चित्तसत्त्व एक ही विषय में बहोत लम्बे काल पर्यन्त, निर्वात स्थान पे रहे हुए दीपक की तरह, अचंचल होकर रहता हैं। तब वह एकाग्र कहा जाता हैं। अर्थात् विक्षेप

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारणभूत जो रजोगुण, उसके लेशमात्र से भी रहित होने से जब चित्तसत्त्व अपने स्वभावसिद्ध प्रसादादि रुप से स्थित होता हैं। और इसलिए जब सत्त्वरुप बुद्धि तथा पुरुषरुप आत्मा जो अत्यंत विलक्षण हैं। उन दोनों के भेदज्ञानरुप जो विवेकसाक्षात्कार वही मात्र वृत्ति जिसकी रहती हैं ऐसा होता है। अर्थात् जब चित्तसत्त्व जिसको योगी लोग श्रेष्ठ प्रसंख्यान अथवा तत्त्वज्ञान कहते हैं वह धर्ममेघरुप समाधि को ही मात्र प्रिय मानकर सेवित होता प्रतीत होता हैं। तब वह चित्तसत्त्व एकाग्र हुआ कहा जाता हैं। एकाग्र अर्थात् एक है अग्र जिसका अर्थात् जैसे निर्वात स्थान पे रहे हुए दीपक की एक अखंडित शिखा चलती रहती हैं। वैसे जिसकी विवेकसाक्षात्काररुप वृत्ति अखंडित रुप से चलती रही हुई हैं वह।

(५) निरुद्ध :- जब विवेकख्यातिरुप वृत्तिसहित चित्तसत्त्व की समग्र वृत्तियाँ स्वयं मे लीन हो जाती हैं, तब वह वृत्तिमात्र के अभाववाला हुआ संस्कारशेष चित निरुद्ध कहा जाता हैं। **पाँचो भूमिकाओं में यत्किञ्चित् वृत्तिनिरोध तो हैं। तथापि इन पांच में से अंतिम दो भूमिका का वृत्तिनिरोध संग्राह्य हैं। क्योंकि वृत्तिनिरोध ही जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति को प्राप्त करानेवाला हैं।** वहाँ एकाग्रभूमिका में जो वृत्तिनिरोध हैं उसे संप्रज्ञातयोग कहते हैं। और निरुद्धभूमिका के वृत्तिनिरोध को असंप्रज्ञात योग कहते हैं। **संप्रज्ञातयोग यथार्थ तत्त्व को प्रकाशित करता हैं। अविद्यादि क्लेशो को क्षीण करता हैं। कर्मबंधन को शिथिल करता हैं तथा चित्त को निरोध के अभिमुख करता हैं।** इसलिए इस संप्रज्ञात योग से तत्त्वज्ञान तथा जीवन्मुक्ति फल होता हैं।

इस संप्रज्ञातयोग से जो विवेकख्यातिरुप एक वृत्ति अनिरुद्ध होती हैं। वह भी वृत्ति होने से अनात्म हैं, ऐसा उसे मानकर परविराग के बल से छोड़ दी जाती हैं। तब वृत्तिमात्र का निरोध होने से चित्त संस्कारशेष होकर अंत में अपने कारण में लय प्राप्त करता हैं; इसलिए व्युत्थान के समय चित्तसत्त्व में अपने प्रतिबिंब को अर्पण करने से जैसे तद्रुप हुआ हो ऐसा दिखाई देता अपरिणामी चितिशक्तिरुप पुरुष, चित्तसत्त्व के अभाव में प्रतिबिंब बिना हुआ होने से स्वयं शुद्ध स्वरुप में स्थित हुआ ऐसा कहा जाता हैं। **उस पुरुष के स्वरुपावस्थान में हेतुरुप चित्त की संस्कारशेष अवस्था असंप्रज्ञात योग हैं।** इसलिए उस असंप्रज्ञायोग से चित्त का लय तथा उससे विदेहकैवल्य होता हैं। **इसलिए, संप्रज्ञात योग और असंप्रज्ञातयोग ये दो ''योग'' शब्द से लक्ष्य हैं तथा क्षिप्तादिभूमिकागत वृत्तिनिरोध अलक्ष्य हैं।** चित्त और उसकी वृत्तियों को पहचाने, तब ही उसके निरोध का उपाय प्राप्त होता हैं। और उपाय द्वारा निरोध करने से योग प्राप्त होता हैं। उसका स्वरुप आगे बताया हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरुपेऽवस्थानात् ॥१-३॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- व्युत्थानदशा में दृश्यरुप वृत्ति के योग से द्रष्टव्य धर्मवाला माना जाता शुद्ध चितिशक्तिरुप पुरुष असम्प्रज्ञातयोगकाल में अपने स्वभावसिद्ध निर्विशेष चिन्मात्रस्वरुप में स्थित होता हैं। असंप्रज्ञातयोग काल में पुरुष अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव में स्थित होता हैं। वास्तव में देखने से पुरुष सदासर्वदा मुक्त तथापि चित्तरुप उपाधि के संबंध से बद्धावस्था को प्राप्त हुआ कहा जाता हैं। तथा उस चित्त का अपाय होने से उपाधि का नाश होने से मुक्तावस्था को प्राप्त हुआ कहा जाता हैं। जैसे कि, जपाकुसुम उपाधि के संनिधान से शुद्ध स्फटिक। श्री कपिलऋषि ने कहा हैं कि, ''**तन्निवृत्तावुपशांतोपरागः कुसुमवच्च मणिः**''

यही पुरुषार्थ हैं। पुरुष का स्वरुप से अवस्थान जो कैवल्य कहा जाता हैं, वह पुरुषार्थ रुप हैं।

शंका :- जब असंप्रज्ञातकाल में ही पुरुष में दुःख का अभाव होता हैं। अर्थात् पुरुष का स्वस्वरुप में अवस्थान होता हैं, तब उसकी अन्य अवस्था में अर्थात् व्युत्थानदशा में पुरुष में दुःख होता हैं। अथवा पुरुष की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यरुप में स्थिति होती हैं। यदि यह दोष रोकने के लिए ऐसा कहो कि व्युत्थानदशा में भी पुरुष स्वस्वरुप से ही प्रकाशित हैं। तो बाद में व्युत्थान और असंप्रज्ञात दोनों की इस अंश में समान अवस्था हुए, अर्थात् उस आरुढ अवस्था से कुछ फल नहीं हैं, ऐसा हुआ।

समाधान : **वृत्तिसारुप्यमितरत्र ॥१-४॥ (योगसूत्र)**

सूत्रार्थ :- (संप्रज्ञातसहित) व्युत्थानदशा में जो बुद्धि की वृत्ति वह पुरुष की वृत्ति हो रही दिखाई देती हैं।

कहने का मतलब यह है कि, जैसे सूर्य मैं से किरण निकलते हैं वैसे त्रिगुणमय चित्त (बुद्धि) में से उसके परिणाम विशेषरुप निकलते है। उपरांत, ये वृत्तियाँ भी त्रिगुणात्मक बुद्धिसत्त्व के परिणामरुप होने से सुख, दुःख और मोहरुप गुणवाली हैं। तथा इसलिए शांत, घोर और मूढ संज्ञा से पहचानी जाती है, वह द्रव्यरुप हैं, गुणरुप नहीं हैं। श्रीकपिल ने कहा हैं कि ''**भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबंधार्थं सर्पति** - वृत्ति अवयवरुप नहीं हैं, गुणरुप नहीं है परन्तु भिन्न द्रव्यरुप है क्योंकि ज्ञान के विषय के साथ संबंध करने के लिए गतिवाली होती है।'' - और वृत्ति को गुणरुप ले तो, ''गुण कभी भी क्रिया का आश्रय नहीं होता हैं।'' यह नियम होने से वृत्तियाँ भी क्रिया के आश्रयवाली नहीं होगी। इसलिए विषय की ओर गति नहीं कर सकेगी। इसलिए श्रुति का विरोध आयेगा। ये वृत्तियाँ चित्त की ही है, पुरुष की नहीं हैं। यदि पुरुष की मानेंगे तो पुरुष परिणामी हो जायेगा। इसलिए पुरुष को कूटस्थनित्य कहनेवाली श्रुति का विरोध आता हैं। उपरांत, ''**साक्षी चेतां केवलो निर्गुणश्च**'' आत्मा तो साक्षी है, प्रकाशक हैं, इत्यादि ''**कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येत्सर्वं मन एव**''- उपर की श्रुति की पंक्ति से भी वृत्तियाँ चित्त की ही हैं।

यह चित्तसत्त्व सत्त्वगुण का प्रधानरुप से कार्य होने से स्वाभाविक रुप से अति स्वच्छ हैं, इसलिए उसमें चितिशक्तिरुप पुरुष का प्रतिबिंब पडता हैं। इस प्रतिबिंब से बुद्धिसत्त्व, जो स्वयं केवल जड है, वह चेतनवत् हुआ भासित होता हैं। सांख्यकारिका में भी यही अर्थ हैं कि- ''**तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्**''- बुद्धि चेतनवत् होती है। इसलिए बुद्धि और पुरुष हैं, इस प्रकार से करके बुद्धि और पुरुष का अभेद भ्रम होता हैं। इस भ्रम के कारण शान्त, घोर और मूढ इस संज्ञावाली बुद्धि की वृत्तियाँ पुरुष की हो, ऐसा प्रतीत होता हैं। जैसे मलिन दर्पण में प्रतिबिंबित मुख मलिन हुआ दिखता हैं। श्री पंचशिखाचार्य ने कहा हैं कि ''**एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्**''

अर्थात् व्युत्थान के समय बुद्धि और पुरुष के अभेद का भ्रम होता है। जब असंप्रज्ञात योग होता हैं तब चित्त की वृत्तियों का निरोध होने से पुरुष स्वस्थ बना हुआ व्यवहार में आता हैं।

प्रश्न :- इस शास्त्र में पुरुषो को नाना माने है तथा सर्व को विभु माने हैं, तो फिर एक बुद्धिसत्त्व में एक पुरुष का प्रतिबिंब पडे अथवा एक पुरुष का ही अभेदभ्रम हो और अन्य का प्रतिबिंब उसमें न पडे अथवा अन्य का अभेदभ्रम न हो, उसमें क्या निर्णायक हैं ?

उत्तर :- स्वस्वामिभाव नियामक हैं। बुद्धिसत्त्व अयस्कान्तसदृश हैं। अर्थात् जैसे अयस्कान्त लोह की सूई को अपनी ओर खींचकर मानव का उपकार करता है, वैसे यह बुद्धिसत्त्व भी विषयो को स्वयं में आरुढ करके पुरुष के दृश्य करता हैं। इसलिए जैसे लोहचुम्बक लोगो में उपकार्य पुरुष का 'स्व' कहा जाता हैं। तथा वह पुरुष 'स्वामी' कहा जाता हैं। वैसे यह बुद्धिसत्त्व भी 'स्व' कहा जाता है और पुरुष उसका 'स्वामी' कहा जाता हैं। यद्यपि पुरुष अपरिणामी हैं। इसलिए वास्तविक रुप से उपकार्य नहीं हैं, तो भी पुरुष चेतन होने से स्वामित्व की योग्यतावाला हैं। इसलिए पुरुष और बुद्धिसत्त्व इन दोनो में भोक्तृभोग्य की योग्यता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें जो पुरुष के भोग्य होने की योग्यता जो बुद्धिसत्त्व में पूर्वकाल से सिद्ध होती है वही बुद्धिसत्त्व वर्तमान तथा भावी काल में वही पुरुष का भोग्य होकर रहता हैं। यह स्वस्वामिभाव संबंध अविद्यारुप अनादि पदार्थ का कार्य हैं। इसलिए अनादि है। इसलिए कोई भी काल ऐसा नहीं हैं कि जिसकी पूर्व के काल में वह बुद्धिसत्त्व अमुक पुरुष के साथ उक्त संबंध से संबद्ध नहि हुआ होगा। इसलिए ''प्रथम किस तरह से अमुक बुद्धिसत्त्व अमुक पुरुष के साथ संबंध से संबद्ध हुआ'' यह प्रश्न का अवकाश नहीं हैं।

पाँच प्रकार की वृत्तियाँ :- वृतयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः। ॥१-५॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- निरोध करने की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति सब मिलकर पांच प्रकार की हैं। जो प्रमाणादिव्यापार से चित्त जीवित रहता है, उस चित्त के परिणामरुप द्रव्यात्मक पदार्थ वृत्ति हैं।

एक पक्ष से देखने से वृत्तिमात्र त्रिगुणात्मक होने से बंधन के हेतुरुप हैं। और इसलिए क्लिष्ट हैं। तथापि कुछ वृतियाँ केवल दुःखोत्पादक होती हैं और कुछ दुःखोत्पाद नहीं होती हैं। इसलिए प्रथम प्रकार की वृत्तियाँ क्लिष्ट मानी जाती हैं और द्वितीय प्रकार की अक्लिष्ट मानी जाती हैं। वहाँ **विषयाकार जो वृत्तियाँ हैं, वह क्लिष्ट हैं।** क्योंकि ये वृत्तियाँ धर्माधर्म की वासना के समूहरुप कर्माशय का बीज हैं। **विषयाकार वृत्ति से तृष्णा उत्पन्न् होती हैं। तृष्णा को शांत करने का यत्न करता हैं। उसमें अन्य को पीडा या अनुग्रहादि कर्म रचता हैं। उस असंख्य कर्मो से धर्माधर्म के असंख्य संस्कार बंधते हैं, उस संस्कार से जन्ममरणादि संसार की परंपरा चलती हैं। इस तरह से विषयाकार वृत्ति से दुःखधारा सतत चला करती हैं।** इसलिए विषयाकार जो वृत्तियाँ है, वह क्लिष्ट हैं। **उससे अतिरिक्त वृत्तियाँ जिससे दुःखधारा की उत्पत्ति नहीं होती हैं, वह अक्लिष्ट वृत्ति हैं।** और वह वृत्ति प्रधानरुप से तो विवेकख्यातिरुप वृत्ति हैं, क्योंकि यह वृत्ति दुःख को उत्पन्न नहीं करती हैं, सत्त्वादि तीन गुणो के अधिकार को बढाती नहीं हैं; परन्तु अविद्या तथा तन्मूलक क्लेश, तन्मूलक कर्म, कर्माशय इत्यादि का नाश करके दुःख का अत्यन्त उच्छेद करनेवाली होने से तीन गुण के अधिकार की विरोधी हैं। इसलिए विवेकख्याति रुप वृत्ति को प्राप्त करानेवाला जो अभ्यास वैराग्यादिरुप वृत्तियाँ हैं। वे भी सभी अक्लिष्ट हैं।

पाँच वृत्तियाँ : प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय : ॥१-६॥ (योगसूत्र)

(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति, ये पांच प्रकार की वृत्तियाँ हैं। ये पांच प्रकार की वृत्तियों में प्रथम तीन जाग्रत् अवस्था की हैं। यही वृत्तियाँ फल देने के लिए तैयार हुए सूक्ष्म संस्कारो से स्फुरित होती हैं; तब स्वप्नावस्था होती हैं। इसलिए स्वप्न की भी ये तीन वृत्तियाँ हैं। लोगो में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इस क्रम में ये तीन अवस्था का व्यवहार किया जाता हैं। इसलिए उसका सूत्रकार ने प्रथम निर्देश किया हैं। इन वृत्तियों के अभाव के कारणरुप तमस् को विषय करनेवाली निद्रावृत्ति हैं। इसलिए निद्रावृत्ति के ज्ञान के पहले उसका ज्ञान होना आवश्यक हैं। क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञान हो तब ही उसके अभाव का ज्ञान होता हैं। इसलिए निद्रा के प्रतिपादन से पहले तीन का प्रतिपादन किया हैं।

(१) प्रमाण :- प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥१-७॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- प्रमाणवृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, ये तीन प्रकार की हैं। तीन प्रमाण का स्वरुप-भेदादि का आख्यान सांख्यदर्शन की तरह ही जानना। सांख्यदर्शन के निरुपण में इसके विषय में पर्याप्त विचारणा की है, इसलिए पुनः इसका प्रतिपादन करते नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) विपर्यय :- विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रुपप्रतिष्ठम् ॥१-८॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- अपने विषय में प्रतिष्ठा से रहित ऐसा जो मिथ्याज्ञान वह विपर्यय।

मिथ्याज्ञान :- स्वविषये स्वजन्यव्यवहारलोपिसर्वसंमतबाधवत्त्वम् । -''जो यथार्थ ज्ञान के सर्वसंमत बाध से (मिथ्या है, इस ज्ञान से) स्वविषयक व्यवहार का लोप है वह मिथ्याज्ञान।'' जैसे शुक्ति में रजत का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। क्योंकि वह मिथ्याज्ञान होता हैं, तब शुक्ति के बारे में ''यह रजत है'' ऐसा व्यवहार होता हैं। जब यह ज्ञान (शुक्ति में शुक्ति का ज्ञान होने से) बाधित होता है तब ''यह रजत हैं'' इस प्रकार के व्यवहार का भी लोप होता हैं।

''ज्ञान अपने विषय में प्रतिष्ठा से रहित है। जो ज्ञान का बाध होने से तद्विषयक व्यवहार का लोप होता हैं। वह ज्ञान विपर्यय हैं।'' इस विपर्यय में भ्रम और संशय ये दो का संग्रह करना हैं। (जैसे कि, कोने में रहा हुआ ''यह स्थाणु है या पुरुष ?'' - यह संशय होता है, वहाँ ''यह स्थाणु है'' इस प्रकार की प्रमाणवृत्ति से संशय ज्ञान बाधित होता है। अपने विषय में प्रतिष्ठा से रहित है और ज्ञान का बाध होने से वह संशय पुनः उस समय नहीं होता हैं।) इसलिए यह लक्षण अव्याप्ति से रहित है और असंभव से तो रहित ही हैं।

अतिव्याप्ति से भी रहित है। क्योंकि ''**अतद्रुपप्रतिष्ठम्**'' इस पद से प्रमाणवृत्ति की व्यावृत्ति की जाती हैं। और 'मिथ्याज्ञान' इस पद से विकल्प वृत्ति की व्यावृत्ति की जाती जाती हैं। क्योंकि उसका भी बाध होता हैं। तथापि विकल्प का बाध होने के बाद तद्विषयक व्यवहार चला करता हैं, इसका लोप नहीं होता हैं। इस लक्षण से निद्रा और स्मृति तो व्यावृत्त ही हैं। इसलिए लक्षण सर्वथा दूषित हैं।

(३) विकल्प :- शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥१-९॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- शब्द और शब्दज्ञान को सर्वदा उत्पन्न करनेवाला अथवा शब्द के श्रवण से होनेवाला जो निर्वस्तुकज्ञान वह विकल्पवृत्ति हैं।

'शब्दज्ञानानुपाती' ये समस्त पद के दो अर्थ होते हैं। **(१) शब्दश्च ज्ञानं च शब्दज्ञाने, ते अनुपाति (उत्तरकाले अवश्यंभाविनी) यस्य सः-** शब्द और शब्दश्रवण से होता ज्ञान ये दोनों जिससे सर्वदा हुआ करता है वह। अर्थात् जो मिथ्याज्ञान से बाधकाल में तथा अबाधकाल में ऐसे सर्वदा शब्दप्रयोग तथा उससे होता मिथ्याज्ञान हुआ करता हैं वह। **(२) शब्दजनितज्ञानं शब्दज्ञानं, तदनुपतितुं शीलं यस्य सः-** अर्थात् शब्द का जो श्रवण वह शब्दज्ञान। उस शब्द श्रवण से निरंतर होने पन जिसको है वह मिथ्याज्ञानरुपी वृत्ति। इस तरह से विकल्प (वृत्ति) दो प्रकार के धर्मवाली हैं। (१) वह (बाधकाल में भी विवेकी सुद्धां को) शब्दज्ञान करानेवाली है। अथवा तो शब्दश्रवण से उत्पन्न होनेवाली हैं। (२) वह मिथ्याज्ञानरुप हैं अर्थात् उसका बाध होता हैं।

लक्षण परीक्षा :- लक्षण में दोनों धर्म रखने आवश्यक हैं। यदि केवल प्रथम धर्म रखे तो उस लक्षण की प्रमाण में अतिव्याप्ति आयेगी। प्रमाणरुप वृत्ति से भी शब्दव्यवहार तथा तज्जन्यज्ञान होता हैं। उपरांत आप्तवाक्यरुप शब्दसमूह के श्रवण से आगमप्रमाणरुप वृत्ति उत्पन्न होती हैं। इसलिए यदि मात्र **शब्दज्ञानानुपाती विकल्पः** ऐसा कहे तो यथार्थ विषय करनेवाली प्रमाणवृत्ति भी विकल्प में आ जायेगी। अब केवल द्वितीय धर्म ही रखे तो विकल्प में विपर्यय भी आ जायेगा। जब जो मिथ्याज्ञान रुप होते हैं वे सर्व विकल्प होते हैं। ऐसा कहा तब विपर्यय भी मिथ्याज्ञानरुप होने से विकल्प ही बनेगा। इसलिए प्रथमधर्म आवश्यक हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह विकल्पवृत्ति क्वचित् भेद में अभेद का और अभेद में भेद का आरोप करती हैं। इत्यादि अनेक प्रकार से प्रवर्तित होती हैं। उदा. (१) "**पुरुष का चैतन्य**" यहाँ दो पदो का "देवदत्त की गाय" इन पदो की तरह विशेषण-विशेष्यभाव संबंध प्रतीत होता हैं। परन्तु उस संबंध में जहाँ भेद हो वहाँ सत्य सिद्ध होता हैं। इस स्थान पे पुरुष और चैतन्य एक होने से वह संबंध मिथ्या हैं। फिर भी ऐसा जाननेवाला विवेकी ऐसा व्यवहार करता हैं (इस अभेद में भेद का आरोप किया) होने से वह ज्ञान विकल्परुप हैं। (२) "पुरुष निष्क्रिय हैं" इस वाक्य का अर्थ ऐसा हैं कि, पुरुष क्रिया के अभाववाला हैं। इस वाक्य में पुरुष आधाररुप से और क्रिया का अभाव आधेयरुप से प्रतीत होता हैं। इसलए इस वाक्य से दोनों के बीच का आधार-आधेयभावसंबंध प्रतीत होता हैं। जब दो संबंधी भिन्न-भिन्न वस्तु हो, तब वह आधार-आधेयभावसंबंध सत्य माना जाता हैं। यहाँ दोनो भिन्न नहीं होने से आधारआधेयसंबंध मिथ्या हैं। फिर भी विवेकी पुरुष उस अनुसार से व्यवहार करते हैं। इसलिए मिथ्याज्ञान विकल्परुप हैं (३) "**पुरुष अनुत्पत्तिरुप धर्मवाला है**" इस वाक्य में केवल उत्पत्ति का अभाव वास्तविक हैं। परन्तु अभाव पुरुष के साथ विशेषता को प्राप्त करनेवाला कोई वस्तुरुप धर्म नहीं हैं। फिर भी इस वाक्य से उस प्रकार का भी ज्ञान विवेकी को भी होता हैं। तथा विवेकी पुरुष बाधज्ञान के बाद भी ऐसा प्रयोग करते हैं। इसलिए विकल्पवृत्ति हैं (४)"**वृक्ष के उपर शाखा हैं**" यह भी विकल्पवृत्ति हैं। उपरांत आकाशकुसुम, शशशृंग (खरगोश का सिंग), वंध्या (बांस) का पुत्र, इत्यादि शब्दो के श्रवण से जो कोई विषयाकार वृत्ति होती हैं, वह मिथ्याज्ञानरुप विकल्पवृत्ति हैं।

(४) निद्रा :- अभावप्रत्ययालम्बना वृतिर्निद्रा : ॥१-१०॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- जाग्रत् और स्वप्नवृत्ति के अभाव के कारणरुप तमस् को विषय करनेवाली वृत्तिविशेष वह निद्रा। (प्रत्यय = कारण, हेतु, ज्ञान)

प्रश्न :- वृत्तयः पंचतय्यः.... इस सूत्र से वृत्ति की अनुवृत्ति चली आती होने पर भी इस सूत्र में फिर से वृत्ति पद क्यों इस्तेमाल किया हैं ?

उत्तर :- बहोत से लोग निद्रा को **ज्ञानाभावो निद्रा** - ज्ञान का अभाव वह निद्रा, यह लक्षण करके अभावरुप मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना योग्य नहीं हैं। इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए यह पद रखा हैं। इसलिए यह वृत्ति पद साभिप्राय हैं अर्थात् केवल अनुवाद मात्र नहीं हैं परन्तु विधान करनेवाला हैं।

प्रश्न :- निद्रा वृत्ति तमस् का ही विषय करनेवाली क्यों हैं ? **उत्तर :-** जाग्रत् या स्वप्न में विविध विषयो का ज्ञान होता हैं। इसलिए उस अवस्था में सत्त्व और रजस् का प्राधान्य होता हैं। सुषुप्ति में जाग्रत् की और स्वप्न की वृत्तियों का अभाव हैं। वह अभाव सत्त्वगुण से तो होगा ही नहीं, क्योंकि सत्त्वगुण का स्वभाव प्रकाश करना इत्यादि हैं, परन्तु आच्छादन करने का नहीं हैं। उपरांत रजोगुण से अंतःकरण या चित्त चंचल होकर विविध विषयो की ओर दौड़ता हैं। अर्थात् विविध वृत्तिरुप से परिणाम पाता हैं। इसलिए रजोगुण से भी उसका स्वभाव आच्छादन करने का नहि होने से जाग्रत्-स्वप्नप्रवृत्तियों का अभाव हो नहीं सकता। उस अभाव का कारण तमोगुण हैं। तमोगुण आच्छादन करने के स्वभाववाला हैं और उसमें गौरवधर्म हैं। इसलिए उस अभाव का कारण तमोगुण ही हो सकता हैं, तमोगुण को विषय करनेवाली वृत्ति को निद्रा कहा जाता हैं।

यद्यपि निद्रा यह तामसी वृत्ति हैं तथापि उसके सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीन विभाग इस प्रकार किये जाते हैं। निद्रा यह वृत्ति हैं। वह तीन प्रकार की हैं। सात्त्विक निद्रा, राजसी निद्रा, तामसी निद्रा।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति भी कहती है, ''**त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्**'' जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्था में जो भोग्य, भोक्ता और भोग का कथन करते हैं। वहाँ वृत्तिदर्शन यह भोग शब्द का अर्थ है और इस वृत्ति का जो विषय हो वह भोग्य हैं। इसलिए वह श्रुति सुषुप्ति के विषय में वृत्ति तथा उसका विषय है ऐसा बोधन करती हैं। उपरांत, श्रुति में सुषुप्ति के भोग भुगतनेवाले को (वृत्ति देखनेवाले को) अंत:संज्ञः नाम दिया हैं। तो इससे भी सुषुप्ति में भोग्यरुप वृत्ति को श्रुति अवश्य अंगीकार करती है, इसलिए आगम प्रमाण से भी निद्रा यह वृत्ति हैं, यह सिद्ध होता हैं। इसलिए निद्रा वह केवल ज्ञान का अभाव नहीं हैं, परन्तु एक तरह की तामसवृत्ति हैं। इसलिए योग की साक्षात् विरोधी है। इसलिए अवश्य निरोध करना चाहिए।

(५) स्मृति :- अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥१-११॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- प्रमाणादि से अनुभव किये गये विषय से अधिक का अग्रहण अर्थात् उतने का ही ग्रहण वह स्मृति। अर्थात् जो वृत्ति अनुभूत ग्राह्य विषय का तथा ग्राह्याकार वृत्ति का ही मात्र ग्रहण करती हैं, वह वृत्ति स्मृति हैं। उसका स्वरुप ''वह देवदत'', ''वह गंगा'' इत्यादि प्रकार का हैं।

लक्षण परीक्षा :- स्मृति को वृत्ति कहने से स्मृति के कारणरुप तथा अनुभव से पडे हुए होने से अनुभव के कार्यरुप संस्कार की व्यावृत्ति होती हैं। उपरांत **सोऽयं देवदत्तः**- वह यह देवदत- इस प्रकार का ज्ञान, जिसको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। उसकी भी इस लक्षण से व्यावृत्ति की जाती हैं। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में **स देवदत्तः**- वह देवदत्त – इस अंश में वह देशकालादिविशिष्ट देवदत्त अनुभव में आया होने से स्मृति हैं। परंतु **'अयम्'** यह- इस अंश में अनुभव हैं। इसलिए प्रत्यभिज्ञा में स्मृति और अनुभव दोनों का मिश्रण करनेवाला होने से उस प्रत्यभिज्ञा का स्मृति में अन्तर्भाव नहीं होता हैं।

स्मृति का शास्त्रीय लक्षण ''**संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**- अनुभव से पडे हुए संस्कार से होनेवाला ज्ञान यह स्मृति हैं।''

निरोध के उपाय : निरोध का उपाय बताते हुए कहते हैं। -

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१-१२॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- ये पांचो प्रकार की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता हैं।

वैराग्य से संसारसागर की ओर बहते प्रवाह को रोका जाता है और अभ्यास से उस प्रवाह को कैवल्यसागर में लीन किया जाता हैं। भगवद्गीता में दोनों का समुच्चय किया गया हैं। **असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥** श्री कपिल ने भी कहा हैं कि - **वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ (अ-२, सू-३६)**

● अभ्यास किसे कहा जाता हैं ?

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१-१३॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- वहाँ (अर्थात् अभ्यास और वैराग्य ये दोनो के मध्य में) चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति के साधनो का अनुष्ठान यह अभ्यास हैं। चित्त की राजस् और तामस् वृत्तिरहित जो अवस्था, जिसको प्रशान्तवाहिता कहते हैं, वह स्थिति।

अभ्यास का फल :- अभ्यास से अनादिकाल के वासनारुप संस्कारो में दाह होता हैं। और चित्त में जो

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजस्-तमस् का प्राधान्य हैं वह मिटके सत्त्व का प्राधान्य होता हैं और शुद्ध-सात्त्विक द्रव्य का बल जमा रहता हैं तब ही एकाग्रता की धारारुप 'प्रशान्तवाहिता' स्थिति प्राप्त की जाती हैं। इसलिए अभ्यास का पुनः पुनः सेवन करना ऐसा कहते हैं।...

स तु दीर्घकालादर-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१-१४॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- उस अभ्यास से जब दीर्घकालपर्यन्त तथा निरंतर करके आदर द्वारा सर्व प्रकार से सेवन करने में आता है तब यथार्थ स्थिति को उत्पन्न करनेवाला होता हैं। (अर्थात् दृढविषयक होता हैं।)

वैराग्य के दो प्रकार :- (१) अपर, (२) पर :- ये दो में संप्रज्ञात योग का साधक अपरवैराग्य हैं और असंप्रज्ञातयोग का साधक परवैराग्य हैं।

अपरवैराग्य का स्वरुप :- दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- लौकिक और वैदिक विषयो के प्रति जो वशीकार संज्ञारुप वितृष्णा वह वैराग्य हैं। **(आनुश्रविकः गुरुपाठादनुश्रुयते इति अनुश्रवो वेदः । तत्र भवः आनुश्रविकः।)** यहाँ स्त्री, पुत्र, धनादि लौकिक विषय है। स्वर्गादि विषय वेद से ज्ञात होने से वैदिक हैं,अर्थात् आनुश्रविक विषय हैं। वैसे वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व वेद से मालूम होता है इसलिए आनुश्रविक विषय हैं। सद्गुरु, इष्ट का स्वरुप, विवेकख्याति यह वेद से प्रतीत होते हैं। फिर भी वह बंधन के हेतुरुप नहीं हैं, परन्तु कैवल्य हेतुरुप हैं। इसलिए वे पदार्थ आनुश्रविक विषय नहीं हैं। (वशीकारसंज्ञा -ये पदार्थ मुजे वश्य हैं। मैं उनको वश्य नहीं हूँ। इस प्रकार की सिद्ध वितृष्णा जो होती है वह। वह योग के साधनरुप वैराग्य हैं।) (जो जीव उपासना के बल से स्थूल देह बिना केवल सूक्ष्म देह से ही दिव्य भोगो का भुगतता हैं वह **विदेह** कहा जाता हैं। जो जीव उससे भी बलवती उपासना करके अधिक बलयुक्त हैं वह आवरणसहित ब्रह्मांड से बाहर जाकर घनाकाशरुप प्रधान में लीन होकर रहता हैं। तथा विदेह इत्यादि देवो का भी शासन करनेवाला है, उसे **प्रकृतिलीन** कहा जाता हैं। इन दोनों में यह अन्तर है कि, विदेह पुरुष सावरण ब्रह्मांड में रहे हुए होते हैं। और प्रकृतिलीन की अपेक्षा से न्यून ऐश्वर्यवाले तथा मलिन विषयो को भुगतते है। प्रकृतिलीन पुरुष ब्रह्मांड की मर्यादा से बाहर गये हुए होते हैं। अपने संकल्पमात्र से अतिशुद्ध विषयो को भुगतते हैं। इस प्रकार स्वर्गादि लोक, वैदेह्य, प्रकृतिलयत्व ये आनुश्रविक विषय हैं। तथापि उसमें क्षय, अतिशय और विनाश इत्यादि दोष हैं। सांख्याकारिका में कहा हैं **"दृष्टावदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः"**

साधारण रुप से वितृष्णा को ही वैराग्य कहते हैं। वे दो प्रकार का हैं। (१) साध्य और (२) सिद्ध; यहाँ साध्य वैराग्य भूमि का क्रम से तीन प्रकार का हैं। (१) यतमानसंज्ञा, (२) व्यतिरेक संज्ञा, (३) एकेन्द्रियसंज्ञा।

रागद्वेष के ज्ञानपूर्वक वैराग्य के साधनरुप दोषदर्शनादि का जो अनुष्ठान किया जाता हैं। अर्थात् चित्त में रहनेवाले रागादि को पक्व करने के लिए दोषदर्शनादि में किया जाता आरंभयत्न वह **यतमान संज्ञा वैराग्य** कहा जाता हैं। तथा उस वैराग्य की भूमिका को भी **यतमानसंज्ञा वैराग्य** कहा जाता हैं। इस भूमिका की सिद्धि अनंतर इस इस इन्द्रियों का जय हुआ हैं और इतनी इन्द्रियों का जय बाकी हैं, अथवा इतने कषाय पक्व हुए है और इतने पक्व होने बाकी हैं - इस प्रकार के विभागरुप व्यतिरेक का अवधारण करना वह **व्यतिरेक संज्ञा** - भूमिका हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुप, रस इत्यादि बाह्येन्द्रिय के विषय के रागादि का क्षय होने के बाद मात्र मनरुप एक ही इन्द्रिय के मानापमानादि विषय में रहे हुए रागद्वेषादि का रागद्वेषादि के ज्ञानपूर्वक किया जाता क्षय वह **एकेन्द्रियसंज्ञा भूमिका** हैं। अथवा इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति करानेवाले कषाय पक्व होने के बाद जो मनरुप एक इन्द्रिय के बारे में ही औत्सुक्त रहता हैं, उसे पक्व करके क्षय करना वह **एकेन्द्रिय संज्ञा भूमिका हैं।**

ये तीन प्रकार की भूमिका वाली वैराग्य की सिद्धि होने से परिणामतः सिद्धावस्थावाली वितृष्णा होती हैं, जो **वशीकारसंज्ञा वितृष्णा** कही जाती है। जब विषयमात्रा स्वयं को अधीन हो और अपनी दृष्ट या आनुश्रविक कोई विषय के प्रति भी अधीनता न रहे तब ऐसी वितृष्णा को वशीकारसंज्ञा वैराग्य कहा जाता हैं।

(विरक्तिर्दोषदर्शनात्, वैराग्याद्दोषदर्शनम्) इस प्रकार का वशीकारसंज्ञक वैतृष्णा वही योग के साधनरुप वैराग्य हैं। असंप्रज्ञातयोग का जो हेतु हैं, ऐसा स्मृति में कहा हुआ हैं। **अब परवैराग्य का प्रतिपादन करते हैं।**

परवैराग्य का स्वरुप : तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१-१६॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- पुरुष के साक्षात्कार से सकल गुण के बारे में उत्पन्न होता वैतृष्ण वह श्रेष्ठ या परवैराग्य हैं। जो **योगी को (विवेकख्याति से) विवेकसाक्षात्कार होता हैं उसे अभ्यास से उस विवेकख्यातिरुप वृत्ति के बारे में भी अलम् बुद्धि अथवा उपेक्षाबुद्धिरुप वैराग्य होता हैं। वह वैराग्य परवैराग्य हैं।** अपरवैराग्य और परवैराग्य में यह भेद है कि अपरवैराग्य दृष्ट और आनुश्रविक विषयो को ही विषय करनेवाला हैं। अर्थात् विवेकख्याति से अविद्यादि क्लेशो का नाश होता हैं। इसलिए उस विवेकख्याति की सिद्धि के लिए अन्य सर्व विषय दोषग्रस्त हैं। इस प्रकार का विवेक करके उस विषयो में उपेक्षा बुद्धि उस अपरवैराग्य में की जाती हैं। उस अपरवैराग्य में तो विवेकख्याति उपादेयरुप में ली हुई होती हैं। क्योंकि वह ख्याति उस वैराग्य के फलरुप से हैं इस प्रकार जब दोषदर्शन से वैराग्य की सिद्धि होकर विवेकख्याति का उदय होता हैं तब उस योगी महात्मा को विवेकख्याति में भी दोषदर्शन होता हैं। विवेकख्याति वह भी सात्त्विक चित्त की एक तरह की (एकाग्रता की) वृत्ति है। यह वृत्ति भी स्वस्वरुप से भिन्न हैं। स्वयं तो कूटस्थ नित्य है। निष्क्रिय तथा केवल निर्लेप है और इस विवेकख्याति रुप सत्त्वगुणात्मिका वृत्ति तो सत्त्वगुण का कार्य होने से विनाशी हैं, परिणामी हैं, विषय के साथ संबंध करने के लिए क्रियावाली हैं तथा विषय को संग करनेवाली होने से निर्लेप नहीं हैं। इस तरह से भिन्न धर्मो के आश्रयरुप होने से वह विवेकख्यातिरुप चित्तवृत्ति अपने स्वरुप से विपरीत हैं और इसलिए त्याज्य हैं। इस प्रकार से उस योगी को विवेकख्याति का बहोत अनुभव होने के बाद लगता हैं। **इस तरह से विवेकख्याति में उत्पन्न होती अलंबुद्धि वह परवैराग्य हैं।**

पातंजलभाष्य में भी -**दृष्टानुश्राविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात् तच्छुद्धि-प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद् रुपं वैराग्यं ॥**

अपर वैराग्य सत्त्व के समुद्रेक से तमोगुणरुप मल जिसके धुल गये हैं परन्तु रजोलेश जिसमें हैं, ऐसे चित्त की आवश्यकता रखता हैं। और इसलिए तौष्टिक पुरुषो में भी अपरवैराग्य हो सकता हैं। शास्त्र में भी **वैराग्यात्प्रकृतिलयः** इत्यादि वचन से अपरवैराग्य के फलरुप से प्रकृतिलयत्व का कथन किया हैं। परवैराग्य तो ज्ञानप्रसादमात्र हैं और इसलिए शुद्धसात्त्विक चित्त की आशा रखता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परवैराग्य का फल :- परवैराग्य के उदय से पुरुष को ऐसा स्पष्ट लगता हैं कि, मेरे अविद्यादि क्लेश सर्व क्षीण हो गये हैं। तथा संसारचक्र में भ्रमण करानेवाले धर्माधर्म का समूह मैंने मूलसहित उच्छेद किया हैं। इसलिए मुजे अब कुछ प्राप्तव्य या कर्तव्य बाकी नहीं रहा हैं। इसलिए 'दुःखात्मिका विवेकख्याति भी शमो'... इस प्रकार की विवेकख्याति के बारे में होती अलंबुद्धिरुप इस परवैराग्य के उदय से सर्व वृत्तियों का निरोध हो जाता हैं। अर्थात् परवैराग्य के उदय से असंप्रज्ञात समाधि का लाभ होता हैं और उसका अवलंबन करके कैवल्य की प्राप्ति होती हैं। यमनियमादि, अपरवैराग्य और संप्रज्ञातयोग और इसलिए क्षय न हुए प्रारब्ध कर्मो का भी इस वैराग्य के उदय से प्राप्त होते असंप्रज्ञातयोग से क्षय होता हैं।

● **संप्रज्ञातयोग का स्वरुप :- वितर्कविचारानन्दास्मिताऽनुगमात् संप्रज्ञातः ॥१-१७॥ (योगसूत्र)**

सूत्रार्थ :- वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता इन चार से युक्त हुए और इसलिए सवितर्क, सविचार, सानंद और सास्मित, ये चार संज्ञा से शास्त्र में व्यवहरित होते चार प्रकार के समाधिरुप संप्रज्ञातयोग क्रमशः सिद्ध होते हैं। ये चार योग अभ्यास और अपरवैराग्य की सिद्धि करने से प्राप्त होते हैं।

(१) सवितर्क समाधि :- जैसे धनुर्विद्या का आरंभ करनेवाला साधक प्रथम स्थूल, बाद में उससे सूक्ष्म और बाद में उससे सूक्ष्म और बाद में उससे भी सूक्ष्म, ऐसे अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ को वेध ने का सामर्थ्य सिद्ध करता हैं। वैसे योग का साधक भी स्थूल पदार्थ का ध्येय लेता है और उसको अन्य विषय के परिहारपूर्वक चित्त में पुनः पुनः प्रवेश करनेरुप भावना को करने के अभ्यासवाला होता हैं। तथा उसकी सिद्धि अनंतर सूक्ष्म विषय को ध्येय लेती हैं। ऐसा करते करते गंतव्य स्थान प्रति जाते हैं। योगवार्तिक में भी **''योगारंभे मूर्तहरिममूर्तमथ चिन्तयेत्। स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्''**॥ इत्यादि वचन द्वारा इसी बात को कहा हैं।

प्रथम जो स्थूल विषय को ध्येय लेते हैं और उस विषय को पुनः पुनः अन्य विषयो के परिहारपूर्वक चित्त में प्रवेश कराने के अभ्यासवाला होता हैं। इस अभ्यास की सिद्धि होने से उस स्थूल विषय में उस साधक का चित्त एकाग्र होता हैं। **उस स्थूलविषय में एकाग्रतारुप समाधि को सवितर्क समाधि कहते हैं।**

सवितर्क अर्थात् वितर्क से युक्त अथवा वितर्क जिसके फलरुप हैं वह। लौकिक प्रत्यक्ष से नहि मालूम होते, अनुमान भी न किये हुए, आगम प्रमाण से भी ज्ञान न होते, ऐसे ध्येयगत अशेष विशेषो का साक्षात्कार अर्थात् उस विशेषो का हस्तामलकवत् अपरोक्ष ज्ञान वह **विशेषेण तर्कणं अवधारणम्** - इस व्युत्पत्ति से वितर्क हैं। यह वितर्क जिसके फलरुप से हैं वह सवितर्क समाधि या सवितर्क संप्रज्ञातयोग हैं। इसलिए साधक ने प्रथम भूमिका में जो स्थूल पदार्थ को ध्येयरुप से लिया होता हैं और ध्येयगत अशेष का साक्षात्कार जो समाधि या संप्रज्ञातयोग से सिद्ध होता हैं, उसे **सवितर्क समाधि** कहते हैं। इस सवितर्क समाधि में स्थूल विषय हैं, इतना ही नहीं, परन्तु यह समाधि ग्राह्यविषयगोचर ही होती हैं। इसलिए उसके विषयरुप से केवल कार्यरुप ग्राह्य तत्त्वो का ही ग्रहण करना होता हैं। अर्थात् विश्वभेदरुप जगत् के घटादि स्थावर-जंगम पदार्थ तथा पृथिव्यादि पाँच महाभूत इत्यादि का ग्रहण करना होता हैं। इसलिए उस पदार्थो के विषय में होती पूर्ण एकाग्रता वह सवितर्क समाधि हैं।

(२) सविचार समाधि :- सवितर्क समाधि की सिद्धि होने के बाद वह साधक सूक्ष्म पदार्थ को ध्येय लेता हैं अर्थात् सवितर्क समाधि से जो स्थूल विषय का उस साधक ने साक्षात्कार किया हैं उस स्थूल विषय में कारणरुप से अनुगत हुए होने से सूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त हुए अणु या तन्मात्रा से लेकर प्रधान पर्यन्त के सर्व तत्त्वो को

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथाक्रम से ध्येयरुप से वह साधक लेता हैं। वे सूक्ष्मपदार्थ अदृष्टजातीय होने से त्रसरेणुक इत्यादि स्थूल पदार्थ के साक्षात्कार से पूर्व ध्येय नहीं हो सकते हैं। जब त्र्यणुकादि का साक्षात्कार भावना के परिपाक से होता हैं, तब ही जैसे हाल में सर्व पुरुषो को घट की अंदर मृत्तिका अनुगत हुई भासित होती हैं। और इसलिए ध्येय लेनी हो तो ले सकते हैं। वैसे, उस साक्षात्कृत स्थूल के अंदर कारणरुप से अनुगत पाये हुए सूक्ष्म पदार्थ ध्येयरुप से ले सकते हैं। यह प्रमाण होने से सवितर्क समाधि में पहुँचा हुआ योगी ही उस पदार्थो को ध्येयरुप से ले सकते हैं। उस पदार्थो को ध्येयरुप से लेकर उसमें भावना का अभ्यास वे योगी करते हैं। इस भावना की परिपाक अवस्था से योगी को उस सूक्ष्म पदार्थो में रहे हुए अशेष विशेष का साक्षात्कार होता हैं और वह साक्षात्कार को शास्त्र में प्रसंग से चित्त की परिपूर्णता कहकर वर्णन करते हैं। तथा प्रसंग से वह साक्षात्कार सूक्ष्म वस्तु का होने से उसे चित्त की सूक्ष्म परिपूर्णता भी कहते हैं। यह साक्षात्कार या चित्त की सूक्ष्म परिपूर्णता वह ''**विशेषेण सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तं चरणम्...** सूक्ष्म वस्तुपर्यन्त चित्त की परिपूर्णता होना वह इस व्युत्पत्ति से '**विचार**' कहा जाता हैं। यह विचार या साक्षात्कार जिससे या जिसमें होता है वह समाधि '**सविचार**' कही जाती हैं। इसलिए योग की द्वितीय भूमिकारुप सविचार समाधि का यह अर्थ हुआ कि जो समाधि या संप्रज्ञातयोग से स्थूल विषय में कारणरुप से अनुगत हुए होने से सूक्ष्म संज्ञा से ग्रहण किये जाते पदार्थो के अशेष विशेष का साक्षात्कार होता हैं, वह समाधि सविचार हैं। यह सविचार समाधि भी ग्राह्यविषयक ही होती हैं।

(३) सानंद समाधि : जो समाधि आनंद युक्त हो अर्थात् जिसमें या जिसके द्वारा आनंद का साक्षात्कार होता हैं, उसे सानंद समाधि कहा जाता हैं। आनंद के तीन अर्थ होते हैं। (१) (वाचस्पिति मिश्र के अनुसार) सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ जो सत्त्वप्रधान होती हैं और सत्त्व ही आनंदरुप होने से जो आनंदरुप उपचार से कहा जाता हैं वह। (२) (भोजवृत्ति के अनुसार) रजोगुण और तमोगुण के लेश से संपृक्त हुआ बुद्धिसत्त्व (३) (वार्तिककार के अनुसार) सूक्ष्म विषयक समाधि से जो आल्हाद नाम की सुखरुप अंतःकरण की वृत्ति वह आनंद हैं। इस प्रकार का आनंद जो समाधि या संप्रज्ञातयोग से साक्षात्कृत होता हैं, वह सानंद समाधि। इस समाधि को शास्त्र में प्रसंग से ग्रहणविषयक समाधि भी कही हैं।

(४) सास्मिता समाधि :- सानंद समाधि के अनंतर योगी को गृहीतविषयक समाधि होती हैं। जिसे सास्मिता समाधि या सास्मित संप्रज्ञातयोग शास्त्रकार कहते हैं। जो संप्रज्ञातयोग से अस्मिता का साक्षात्कार होता हैं वह संप्रज्ञातयोग सास्मित संप्रज्ञातयोग हैं। वहाँ अस्मिता अर्थात् ग्रहीतृ आत्मा के साथ एकभाव को प्राप्त हुए बुद्धिसत्त्व की भावना की जाती हैं तब उस भावना की परिपाक दशा में योगी को उस तत्त्व का साक्षात्कार होता हैं। उपरांत, जब ईश्वर या पुरुषरुप आत्मा को ध्येय लेकर भावना की जाती हैं तब उस भावना की परिपाक दशा में योगी को उस तत्त्वो का साक्षात्कार होता हैं। वह साक्षात्कार जो चित्तवृत्ति के निरोधरुप योग का फल हैं। वह निरोधरुप योग सास्मित कहा जाता हैं। इस योग में बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष के विवेकरुप विवेकख्याति की सिद्धि योगी को होती हैं। इसलिए यह योग चारों में श्रेष्ठ हैं। धैर्यवान साधक अप्रमादयुक्त धैर्य का अवलंबन करके गंतव्य स्थान तक जाकर विवेकख्याति को प्राप्त करना और तब ही कृतकृत्य हुआ समजना। परन्तु मध्य में (बीच में) धैर्य का त्याग करके भ्रष्ट न हो।

असंप्रज्ञातयोग :- विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१-१८॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- परवैराग्य के अभ्यास से चित्त की जो संस्कारशेष अवस्था वह असंप्रज्ञातयोग कहा जाता हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ समास के दो अर्थ होंगे **(१) विरामः (वृत्तिनां अभावः) तस्य प्रत्ययः (कारणं) तस्य अभ्यासः (तदनुष्ठान पौनः पुन्यम्) स पूर्वः यस्मात्** -। विराम के प्रत्ययरुप परवैराग्य का पुनः पुनः किया जाता अनुष्ठान कारण हैं जिसका ऐसा।

(२) वृत्त्याऽपि विरम्यतां इति प्रत्ययः विरामप्रत्ययः (परवैराग्यं ज्ञानेऽपि अलंबुद्धिः ज्ञानमपि शाम्यतु इत्येवंरुपा), तस्य अभ्यासः पूर्वः यस्मात् - विवेकख्याति रुप वृत्ति भी विराम ले इस प्रकार का प्रत्यय वह विराम प्रत्यय, अर्थात् ज्ञान भी शांत हो, इस प्रकार का ज्ञान के बारे में भी होता अलंबुद्धि रुप परवैराग्य वह विरामप्रत्यय, उसका अभ्यास हैं कारण जिसका) इसलिए यह स्पष्ट होता हैं कि, इस पद से असंप्रज्ञातयोग का साधन परवैराग्य हैं, यह प्रतिपादन किया। और वह योग्य हैं, क्योंकि अपरवैराग्य केवल विषयविषयक होने से संप्रज्ञातयोग की सत्त्विक वृत्ति या तत्त्वज्ञानरुप वृत्ति उसका विषय नहीं हैं; उपरांत एकाग्रतारुप जो अभ्यास हैं वह भी निरोध योग का साक्षात् कारण नहीं हैं, क्योंकि उस निरोधयोग में वृत्तिमात्र का अभाव होता हैं। अर्थात् यह योग आलंबनवृत्ति का विरोधी हैं। और एकाग्रता में पुरुषपर्यन्त का कोई भी आलंबन होता ही हैं। इसलिए तत्त्वज्ञानपर्यन्त का सकल पदार्थो के विषय में अनात्मत्व इत्यादि दोषदर्शन से हुआ परवैराग्य ही इस योग का साक्षात् कारण होता हैं। यह वैराग्य भी निर्वस्तुक हैं। अर्थात् सकल ध्येय के प्रति की विरक्तिरुप हैं। और यह योग सकल ध्येय से शून्य हैं। इसलिए यह पद से जो कहा हैं वह योग्य ही हैं।

संस्कारशेषः- इस पद से असंप्रज्ञातयोग का स्वरुप बताया हैं। श्री विद्यारण्यस्वामी ने इस पद का **जीवन्मुक्तिविवेक** में इस अनुसार विवरण किया हैं। **तत्र वृत्तिरहितस्य चित्तस्वरुपस्य दुर्लक्ष्यत्वात् संस्काररुपेण चित्तं शिष्यते** - वहाँ वृत्ति वही चित का जीवन होने से वृत्तिरुप जीवन के अभाववाला हुआ चित्त केवल दुर्लक्ष्य हैं और इसलिए अतिसूक्ष्मरुप से रहता हैं। चित्त का यह अतिसूक्ष्मरुप से रहना वह चित्त की संस्कारशेषा अवस्था हैं।

चित्त जब वृत्तिरुप जीवन से रहित होकर अति सूक्ष्मरुप से रहता हैं अर्थात् संस्कारशेषरुप अवस्था में रहता हैं। तब वह अवस्था असंप्रज्ञात योग कही जाती हैं। वहाँ साधक को असंप्रज्ञातयोग की सिद्धि परवैराग्य के अभ्यास से होती हैं। अर्थात् संप्रज्ञातयोग की चरमभूमिका में साधक को एक तत्त्व से अवलंबन करनेवाली विवेकख्यातिरुप वृत्ति रहती हैं। वह भी वृत्ति होने से चित्त के परिणामरुप हैं और इसलिए जड हैं। तथा पुरुष से विलक्षण हैं। इत्यादि प्रकार के दोषदर्शन से वह वृत्ति के बारे मे भी उस साधक महात्मा को विरक्ति होती हैं। वह विरक्त परवैराग्य हैं। उस परवैराग्य के अभ्यास से उस वृत्ति के बारे में भी उपेक्षा होती हैं। और इसलिए वह वृत्ति भी शान्त होती हैं। और इसलिए वह चित्त की अवस्था असंप्रज्ञातयोग हैं। उसमें पूर्व पूर्व असंप्रज्ञात के बारे में तो चित्त अपने उपादानकारण में अतिसूक्ष्मरुप से रहता हैं, परन्तु उस निरोधसंस्कार की अवधि पर पुनः स्वस्वरुप से प्रकट होता हैं और चरम असंप्रज्ञात के बारे में तो चित्त अपने कारण में आत्यंतिक लय को प्राप्त करता हैं।

इस सूत्र से चित्त की संस्कारशेषा अवस्था को असंप्रज्ञात योग कहा। वहाँ असंप्रज्ञात का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ यह हैं कि, **''न किञ्चित् वेद्यं संप्रज्ञायते यस्मिन्''**- जिसमें किसी भी वस्तु वेद्य (ज्ञेय) रुप से भासित नहीं होती हैं ऐसी चित्त की अवस्था। यह अर्थ सर्व वृत्ति के निरोधवाले चित्त की अवस्था में बराबर रुप से लागू पडता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। क्योंकि उस अवस्था में ज्ञानरुप वृत्ति का अभाव होता हैं, इसलिए कोई भी वस्तु ज्ञेयरुप से भासित नहीं होती हैं। अब वह अवस्था दो प्रकार की हैं। **(१) किसी को जन्म से होती हैं। (२) किसी को साधन से होती हैं।** वहाँ जो जन्म से ही होती हैं वह जीवन की पुनरावृत्ति करनेवाली होने से हेय हैं। और जो साधन से होती हैं वह कैवल्य देनेवाली होने से उपादेय हैं। वहाँ प्रथम हेयरुप का प्रतिपादन करते हैं -

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१-१९॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- विदेह तथा प्रकृतिलय पुरुषो को जन्ममात्र से जो चित्त की संस्कारशेषा अवस्था रुप असंप्रज्ञात दशा प्राप्त होती हैं वह प्रथम प्रकार का असंप्रज्ञातयोग हैं।

जो पुरुष पृथिव्यादि भूत तथा इन्द्रिय को आत्मा रुप से मानकर उसकी ध्यानादि उपासना करते रहते हैं उसका अंत:करण उस उपासना की वासनावाला होता हैं। इसलिए वर्तमान देह का पतन होने से उस पूर्ववासना अनुसार पूर्व उपासना के बल से वे पुरुष भूत तथा इन्द्रियरुप जो जिसका उपास्य हो उसमें लीन होते हैं। उस पृथिव्यादि भूत तथा इन्द्रिय में लीन हुए पुरुष **विदेह** कहे जाते हैं। जो पुरुष प्रकृति या प्रधान की आरुढ उपासना करते हुए देह को छोडते हैं, वे ब्रह्मांड के बाहर रही हुई साम्यावस्थावाली प्रकृति में लीनभाव को प्राप्त करता हैं। वे पुरुष **प्रकृतिलय** पुरुष कहे जाते हैं।

विदेह और प्रकृतिलय पुरुष भूत-इन्द्रियादि उपास्य में लीन हुए होते हैं। इसलिए संस्कारशेष होते हैं। उनको अन्य किसी का भान नहीं होता हैं। परन्तु कैवल्यपद का अनुभव करते हो वैसे वे रहते हैं। इसलिए संस्कारशेष होते हैं। इसलिए उनकी असंप्रज्ञात दशा हैं वह सिद्ध हैं। और उस दशा की प्राप्ति के लिए स्व-स्व उपास्य में लीन होने के बाद उनको कोई प्रयत्न नहीं करना पडता हैं। इसलिए उस असंप्रज्ञातदशा का कारण जन्ममात्र ही हैं। इन पुरुषो के चित्त साधिकार होते हैं। **विवेकख्यातिपर्यन्त चित्त का चेष्टित होना हैं। यह सांख्य तथा योग का सिद्धांत हैं।** वे पुरुष जड पदार्थो में आत्मबुद्धि करके रहे हुए होते हैं। इसलिए उनको विवेकख्यातिरुप तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हैं, और इसलिए उनके चित्त का अधिकार समाप्त नहीं हुआ हैं, यह स्पष्ट हैं। ऐसा होने से अपनी उपासना से प्राप्त किये हुए संस्कार से बंधे हुए विपाक को भुगतकर क्षय करते हैं तथा उसका क्षय होने से पुन: उस दशा से भ्रष्ट होते हैं। **वायुपुराण में कहा हैं कि, इन्द्रियो में लीन हुआ पुरुष दस मन्वन्तर (३१,१४,४४,८०० वर्ष स्थितिकालवाला) तक लयावस्था में रहता हैं।** सूक्ष्मभूत में लीन हुआ १०० मन्वन्तर तक, महत्तत्व में १०,००० मन्वन्तर तक, प्रकृति में लीन हुआ १लक्ष मन्वन्तर तक, उस उस लयावस्था में रहता हैं। अर्थात् संसार में आवृत्ति पाता हैं। यह तो नि:संदेह हैं कि वे क्रममोक्ष मार्ग में हैं। वह दिव्य तनु को धारण करता हैं। तथा यह शरीर में रहकर नानाविध भोग भुगतता हैं। उपरांत, उपाय से करके विवेक साक्षात्कार करके कैवल्यपद को प्राप्त करता हैं। इसलिए इन पुरुषो को प्राप्त होता असंप्रज्ञातयोग कैवल्य का साक्षात् हेतु नहीं हैं। सांख्यसूत्र में कहा हैं, "**न कारणलयात्कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥२-५८॥** सर्व दृश्य के कारणरुप प्रकृति में लय होने से कृतकृत्यता अर्थात् चित्त के साधिकारपन का अवधि होता नहीं। जैसे कि, जल इत्यादि में मग्न हुए पुरुष पुन: उत्थान को प्राप्त करता हैं। वैसे प्रकृतिलयत्व करनेवाले कर्म का क्षय होने से फिर से संसार की प्राप्ति होती हैं। **इसलिए विदेह और प्रकृतिलय पुरुषो को प्राप्त होता असंप्रज्ञातयोग हेय हैं। और उपाय से होता जो असंप्रज्ञात योग हैं। उसकी प्राप्ति के लिए अवश्य प्रयत्न करना आवश्यक हैं।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ १-२०॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- विदेह और प्रकृतिलय से अन्य पुरुषो को (देव, मनुष्यादि को) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और समाधिप्रज्ञा, इस उपाय से असंप्रज्ञातयोग होता हैं। (वह दूसरा (उपाय से) असंप्रज्ञातयोग हैं।)

श्रद्धा :- चित्त का संप्रसाद अथवा प्रीति, श्रीसद्गुरु के उपदेश इत्यादि से होती तत्त्वविषयक अथवा योगविषयक प्रीति अर्थात् ''योग ही मेरे लिए परम पुरुषार्थ का साधन हैं'' इस ज्ञान से होती योगानुष्ठान के बारे में चित्त की प्रेमात्मक वृत्ति वह श्रद्धा हैं। **वह प्रीति योग की उत्कृष्टता के श्रवण से होती हैं।**

वीर्य :- वीर्य अर्थात् उत्साह ; **वीर्यं प्रयत्नः धारणारुपः** - धारणारुप प्रयत्न अर्थात् वीर्य। ''मैं सर्वथा योग का संपादन करुँ'' यह वीर्य का स्वरुप हैं। जैसे श्रद्धा का साक्षात् कारण उत्साह हैं, वैसे स्मृति का साक्षात् कारण धारणा हैं। इसलिए दोनों अर्थ योग्य हैं।

स्मृतिः- उत्साहरुप वीर्य से अनुष्ठेयरुप में योग के अंगो का स्मरण होना वह तथा धारणारुप वीर्य से ध्यानरुप ध्येय की स्मृति होना वह।

समाधि :- चित्त की एकाग्रता। वहाँ योगांग के स्मरण से समाधि का सम्यग् अनुष्ठान होता हैं और ध्यानरुप स्मृति के अभ्यास से जो विच्छेदसहित वृत्ति का प्रवाह बहता होता हैं। उसमें से विच्छेद कम होते होते अविच्छिन्न प्रवाह बहता हैं। अर्थात् एकाग्रता होती हैं।

प्रज्ञा :- उत्तरसूत्र में कही जानेवाली ऋतुम्भरा नाम की प्रज्ञा अथवा विवेकख्याति।

प्रज्ञा के उदय से अविद्यादि क्लेशो का नाश होता हैं तथा उसके संस्कार शिथिल होते हैं। इस प्रज्ञा के विशेष अभ्यास से उस महात्मा को इस प्रज्ञा के विषय में भी अलंबुद्धिरुप परवैराग्य का उदय होता हैं। और इसलिए असंप्रज्ञातयोग होता हैं।

इस योग की सिद्धि सभी को समान समय पर नहीं होती हैं, परन्तु किसी को लम्बे समय पे सिद्ध होती हैं तो किसीको अविलंब (जल्दी) सिद्ध होती हैं। उसमें साधन का अभ्यास तथा संवेग नियामक हैं। वहाँ **साधनाभ्यास के तारतम्य से योगी के तीन भेद पडते हैं।** (१) मृदूपाय :- वे उपाय के अल्पत्ववाले, (२) मध्योपाय, (३) अधिमात्रोपाय (उपाय के अतिशयवाले) ये तीन विभाग श्रद्धादि साधना के तारतम्य से पडे हुए हैं। उन तीनों में से प्रत्येक के तीन-तीन विभाग संवेग के तीव्रतागत तारतम्य से पडते हैं। इसलिए नौ प्रकार के योगी होंगे। (१) अल्पोपायवाले तथा मृदु-तीव्र संवेगवाले (२) अल्पोपाय तथा मध्यम तीव्र-संवेगवाले (३) अल्पोपाय तथा अधिमात्रसंवेगवाले (४) मध्योपायवाले तथा मृदु तीव्र संवेगवाले (५) मध्योपाय तथा मध्यमतीव्रसंवेगवाले (६) मध्योपायवाले तथा अधिमात्रसंवेगवाले (७) अधिमात्रोपायवाले तथा मृदुतीव्रसंवेगवाले (८) अधिमात्रोपायवाले तथा मध्यमतीव्रसंवेगवाले (९) अधिमात्रोपायवाले तथा अधिमात्रसंवेगवाले। - ये नौ प्रकार के योग में से कौन-से योगी को समाधिलाभ तथा उसके फलरुप असंप्रज्ञातयोग और कैवल्य समीप हैं। वह प्रतिपादन करने के लिए सूत्रकार कहते हैं।-

(अधिकमात्रोपायानां) तीव्रसंवेगानामासन्नः (समाधिलाभः)॥ **१-२१॥** (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- (उपाय के अतिशयवाले) तीव्र संवेगवाले योगीयों को (समाधि तथा उसके फलरुप असंप्रज्ञातयोग और मोक्ष) आसन्न हैं। (संवेग अर्थात् उपाय के अनुष्ठान में रही हुई शीघ्रता वह हैं -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वार्तिककार)। संवेग अर्थात् वैराग्य (वाचस्पति मिश्र)। विष्णुपुराण में कहा हैं, "**विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि**" एकाग्रता जिसको सिद्ध हुई हैं उसे उस जन्म में मोक्ष मिलता हैं। अब किस को समाधिलाभ आसन्नतर तथा आसन्नतम है वह कहते हैं। -

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ १-२२॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- मृदु, मध्यम, अधिमात्र ये तीन संवेगगत तीव्रत्व के प्रकार होने से समाधिलाभ की आसन्नतातर और तमरुप विशेष होती हैं। अर्थात् आसन्नतरता और आसन्नतमता भेद होता हैं। अब समाधिलाभ आसन्नतम कंब होता हैं वह बताते हैं -

ईश्वरप्रणिधानाद् वा ॥१-२३॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- अथवा तो ईश्वर के प्रणिधानरुप भक्तिविशेष से आसन्नतम समाधिलाभ होता हैं। जो साधक जीवविषयक संप्रज्ञातयोग करने लगता है उसका तो श्रद्धादि उपायो का अधिमात्र प्रमाण में तथा अतितीव्र संवेग से अनुष्ठान करना आवश्यक हैं। परन्तु जो साधक ईश्वरतत्त्वविषयक संप्रज्ञातयोग करने लगता है उसे ऐसा करना आवश्यक नहीं हैं। अर्थात् उसको वह योग ईश्वरप्रणिधानरुप साधन से आसानी से सिद्ध हो सकता हैं। वह साधक ईश्वरप्रणिधान से ईश्वर का अनुग्रह संपादन करता हैं और इसलिए सर्वशक्तिमान ईश्वर के "इस साधक को समाधिलाभ हो" इस प्रकार के सिद्धसंकल्परुप अनुग्रह से उपायो के अधिमात्र प्रमाण इत्यादि के अनुष्ठान के बिना भी समाधिलाभ होता हैं। और उससे अचिरात् मोक्ष होता हैं।

● योग के अंतराय :-

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥१-३०॥

सूत्रार्थ :- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व, ये चित्त का विक्षेप करनेवाले होने से चित्तवृत्ति के निरोधरुप योग के विरोधी हैं। इसलिए **योगन्तराय** कहे जाते हैं। अब सब का क्रमशः स्वरूप बताते है।

(१) व्याधि :- अर्थात् शरीर को धारण करते होने से धातुसंज्ञा को प्राप्त हुए कफ, वात और पित्त ये तीन का रसादिरुप आहार के परिणाम का तथा चक्षुरादिरुप करणो का वैषम्य अर्थात् विषमता। उस व्याधि से प्रथम तो वृत्ति उसमें लगी रहती हैं। इसलिए अन्तःकरण स्वस्थ नहीं होता हैं। और दूसरा तो व्याधि की निवृत्ति के साधनो में वृत्ति व्यापृत रहती हैं। इसलिए ध्येय की विमुखता करती हैं। नानाविध वृत्ति को उपजानेवाला होने से व्याधि योग का अंतराय हैं।

(२) स्त्यान :- चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् कदाचित् तमोगुण की वृद्धि से चित्त की व्यापार करने अयोग्य जो स्थिति होती हैं वह। इस चित्त की मूढावस्था तमोगुणप्रधान होने से शुद्ध, सात्त्विक चित्त में आविर्भाव पानेवाली एकाग्रतारुप समाधि की विरोधी हैं। उपरांत, उसके सद्भाव से योगानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती हैं, वह तो उसके लक्षण से स्पष्ट हैं।

(३) संशय :- अर्थात् विरोधी उभय कोटि को आलंबन करनेवाला ज्ञान। सामान्य रुप से संशयमात्र वृत्तिरुप होने से वृत्ति के निरोधरुप योग का विरोधी हैं। तथापि इस स्थान पे श्रीविद्यारण्यस्वामी को

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैतरियोपनिषद् में बताई हुई ''**उपायस्य निश्चयराहित्यं संशय :- उपाय के निश्चय का अभाव वह संशय।** यह व्याख्या विशेष योग्य हैं। योग के उपाय के विषय में निश्चय का अभाव अर्थात् कैवल्य का साधन योग हैं या नहि तथा ईश्वरप्रणिधानादि योग में साधन हैं या नहि, इत्यादि प्रकार का संशय योगमार्ग में कदाचित् प्रवृत्ति नहीं करने देता हैं। **संशयात्मा विनश्यति** -गीता के वाक्यानुसार योग का बलवान विरोधी होने से वह अंतराय हैं। **विपर्यय के लक्षण के समय संशय को विपर्यय के साथ मिथ्याज्ञान में लीया था, इसलिए विपर्यय से उसका भेद बताने तथा साधक को उसका निरोध करना सरल हो, इसलिए इस स्थान पे भ्रान्तिदर्शन से संशय को पृथक् माना हैं।**

(४) प्रमाद :- योग के साधन का अनुष्ठान न करना वह।

(५) आलस्य :- अर्थात् कफ इत्यादि दोषो से शरीर का गुरुत्व तथा तमोगुण से होता चित्त का गुरुत्व। ये दोनों प्रकार के गुरुत्वरुप हेतु से ''**पश्चात्**'' करुँगा - इस प्रकार की योगसाधना के बारे में होती जो उपेक्षाबुद्धि वह आलस्य हैं।

(६) अविरति :- अर्थात् विषय के सन्निकर्ष से होती अभिलाषा अर्थात् वैराग्यरहितत्व। उस अविरति से प्रथम तो वृत्ति विषय छोडकर अंतर्मुख होने की इच्छा नहीं होने देती हैं; कदाचित् हो तो उसमें प्रवृत्ति होती हैं। तो भी मध्य मध्य में (बीच-बीच में) विषयसंस्कारो का स्फुरण कराके चित्त को व्युत्थित करती हैं। योग की ऊँची स्थिति पर पहुँचे हुए साधक को भी यही अविरति अनेक तरह से भ्रष्ट करती हैं। इसलिए वह योगान्तराय हैं।

(७) भ्रान्तिदर्शन :- अर्थात् उपास्य वस्तु में अन्यथा निश्चय इत्यादि विपर्यय।

(८) अलब्धभूमिकत्व :- अर्थात् समाधि की आगे कहने में आती मधुमती इत्यादि भूमिका हैं, उसमें से कोई भी भूमिका के साधन का अनुष्ठान करने पर भी लाभ न होना वह। इस अनुसार होने से अन्तर्मुखता बनी रहती नहीं हैं, परन्तु बीच बीच में बहिर्मुखता होती हैं। चित्त एक स्थिर पद के उपर आता नहीं हैं। इसलिए वह भी योग का अंतराय हैं।

(९) अनवस्थितत्व :- अर्थात् मधुमती इत्यादि भूमिका का लाभ हो, परन्तु उसमें चित्त की स्थिति न होना अर्थात् उससे भ्रंश होना वह। श्री विद्यारण्यस्वामी इसका दूसरा अर्थ करते हैं - ''कदाचिदुपासते प्रवृत्तिः कदाचिद्यागदानादौ, कदाचित् कृषिवाणिज्यादौ इत्येतादृगनवस्थितित्वात्। दोनों तरह से यह स्थिति योग के अंतरायरुप हैं। मात्र ये नौ ही योग के विरोधी नहीं हैं। परन्तु उस अंतराय के साथ दुःख इत्यादि अन्य अंतराय भी उत्पन्न होते हैं, वह प्रतिपादन करते हैं।-

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ॥३१॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास, ये अंतराय विक्षेप के साथ होते हैं। अर्थात् विक्षिप्त चित्त में होते हैं

(१) दुःख :- 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्' हैं। जिसका अनुभव होने से जो प्रतिकूल लगता हैं वह दुःख हैं। वह सदा मन को ही हैं। वह विधविध कारण से उत्पन्न होता हैं। उसके तीन विभाग हैं। (i) अध्यात्म, (ii)अधिभूत, (iii) अधिदैव।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) **अध्यात्म :- 'आत्मानं स्वसंघातमधिकृत्य वर्तते'** इस व्युत्पत्ति से जो दु:ख में मन तथा शरीर ही निमित्त माना जाता हैं वह अध्यात्म हैं। व्याधि इत्यादि शरीर के विकारो से प्रधानरुप से हुआ दु:ख शारीरिक हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि मन के विकारो से हुआ दु:ख मानस हैं। (ii) **आधिभौतिक :- 'भूतानि व्याघ्रादीनधिकृत्य जायते इति आधिभौतिकम्'** - इस व्युत्पत्ति से बाघ (शेर), सर्प, बिच्छु, इत्यादि इस लोक के प्राणी से उत्पन्न हुआ दु:ख आधिभौतिक हैं। (iii) **आधिदैविक :- 'देवानधिकृत्य जायते इति आधिदैविकः'** देवलोक के प्राणी से होता दु:ख आधिदैविक हैं, जैसे कि, अतिवृष्टि, वृष्टि, अनावृष्टि, ताप (धूप) इत्यादि से होता दु:ख। भाष्य में दु:ख का लक्षण "**येनाभिहिताः प्राणिनस्तदुपधाताय प्रयतन्ते** - जिसका अनुभव होने से जीव उसको दूर करने के प्रयत्नवाले होते हैं वह दु:ख।" **दु:ख रजोगुण का कार्य हैं। दु:ख रजोगुण से अविनाभावी होने से अंत:करण को विक्षिप्त रखता हैं। तथा दु:ख होने से वृत्ति उसे दूर करने के** साधन में व्यापृत होती हैं। इसीलिए यह दु:ख रजोगुणवाले विक्षिप्त अंत:करण में ही होनेवाला हैं।

(२) दौर्मनस्य :- अपनी इच्छा का अनादर या भंग होने से चित्त में होता क्षोभ या चांचल्य। क्षोभ रजोगुण का धर्म होने से विक्षिप्त अंत:करण में होता हैं। और इसलिए योग का अंतराय हैं।

(३) अंगमेजयत्व :- अंगो को कपकपानेवाले अर्थात् अंगो का कंपः, यह चांचल्य भी रजोगुण से होता हैं। इसलिए विक्षेप का सहभू हैं। और इसलिए आसन की स्थिरता नहीं होती हैं। इस तरह से वह योग का अंतराय हैं।

(४) श्वासप्रश्वास :- पुरुष प्रयत्न के बिना अपने आप प्राणवायु, जो बाह्यवायु को अंतर में खींच लेता हैं वह श्वास तथा जो अंतर्गत वायु को बाहर निकालता हैं, वह प्रश्वास। श्वासप्रश्वास का अनियमित होना अथवा अधिक वेग से होना वह। जो पुरुष का मन अति चंचल हैं। उसको श्वासप्रश्वास अतिवेग से होना वह, प्रवृत्तिवाले अंत:करण में ही होता हैं। मन की गति और प्राणवायु की गति परस्पर के आधार पे रही हुई होने से जो पुरुष का मन अति चंचल हैं, उसे श्वासप्रश्वास अतिवेग से होते हैं। इसलिए ये दोनों विक्षिप्त अंत:करण में होनेवाले होने से विक्षेप के सहभू हैं। श्वास वह रेचक प्राणवायु का तथा प्रश्वास वह पूरक का और दोनो एकसमान रुप से कुंभक के विरोधी होने से योग के अंतराय हैं।

'अभ्यास' विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं : -

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥१-३२॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- कार्यसहित योगान्तराय का बाध करने के लिए कोई भी एक तत्त्व का अभ्यास करे। प्रथम ईश्वरतत्त्व का और उसके बाद पृथिव्यादि पांच तत्त्वो का तथा अन्य तत्त्वो का अभ्यास अधिकार परत्व से किया जा सकता हैं। **अभ्यास का अर्थ हैं कि** - चित्त की स्थिति के लिए पुनः पुनः किया जाता साधनो का अनुष्ठान। वे साधन श्रद्धावीर्यादि पहले कहे हुए हैं। परन्तु उस साधनो की त्वरित गति तथा उसके प्रतिबंधको की निवृत्ति किस तरह से करे वह उपाय बताने के लिए अवशिष्ट हैं। **वह बताने के लिए प्रथम तो जो चित्त संकुचित रहता हैं तथा असूयादि दोषो से कलुषित रहता हैं वह चित्त स्थिरता को प्राप्त नहीं करता हैं।** इसलिए चित्त की प्रसन्नता सिद्ध करनेवाली कुछ परिकर्मरुप (अर्थात् समाधि के बहिरंग होने से बाह्यकर्मरुप) भावना अब बताते हैं -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनाश्चित्तप्रसादनम् ॥१-३३॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- सुखी, दुःखी, पुण्यशाली तथा पापी पुरुषो के बारे में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता हैं। और उसके द्वारा स्थिति-स्थिरता के योग्य होता हैं - चित्त शुक्लधर्मरुप सत्त्वगुणवाला होता हैं। **ईर्ष्या अर्थात् पराये के गुण सहन न होना वह। असूया- दूसरे के गुणो में दोष का आरोप करना वह। चित्त के ये दो दोष मैत्रीभावना से निवृत्त होते हैं।** जैसे मित्र के दोष सहन होते हैं और उसके गुणो में कभी दोष का आरोप कोई करता नहीं हैं। सर्व जीव को मित्र मानने से ये दोनों दोषो की निवृत्ति होती हैं। उपरांत प्रत्येक मनुष्य को ''मुजे सर्व सुख मिले'' इस प्रकार की राग नाम की वृत्ति होती हैं। उसमें समग्र सुख की सामग्री किसी को प्राप्त नहीं होती हैं। इसलिए वह राग निरंतर चित्त को कलुषित करता हैं। इस राग का भी इस भावना से बाध होता हैं। क्योंकि पुत्र का राज्य होने पर भी पिता को अपना लगता हैं। वैसे मैत्रीभावना से सर्व का सुख अपना लगता हैं। **करुणा भावना से परोपकार की ईच्छारुप** चित्तमल दूर होता हैं। इसलिए दूसरे की ओर का द्वेष दूर होता हैं। द्वेषबुद्धि जाती हैं।

क्लेशों के नाम :- अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेषाः (पंच) क्लेशाः ॥२-३॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं।

अविद्या क्षेत्रुमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥२-४॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- प्रसुप्ति, तनुता, विच्छिन्नता और उदारता, ये चारो अवस्थावाले अस्मिता इत्यादि चारो क्लेशो की प्रसवभूमि अविद्या हैं। क्लेशो की पांच अवस्था होती हैं। (१) दग्धबीजभावा, (२) प्रसुप्ति (३) तनुता (४) विच्छिन्नता, (५) उदारता। **(१) दग्धबीजभावा :-** अर्थात् जिसमें क्लेशो का स्व-स्व कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य दग्ध हो गया हैं उस प्रकार के क्लेशो की अवस्था। **(२) प्रसुप्ति :-** अर्थात् चित्त के बारे में शक्तिरुप से अर्थात् सूक्ष्मरुप से रहे हुए क्लेशो का स्वकार्य उत्पन्न करने का सामर्थ्य, जैसे दूध में दही बनाने का सामर्थ्य -बालक में स्त्रीविषयक रागादि। **(३) तनुता :-** अर्थात् क्लेश के प्रतिपक्ष के अनुष्ठान से क्लेशो का विवेकख्याति का बाध करने के लिए असमर्थ होना वह। **(४) विच्छिन्नता :-** अर्थात् विषय के अत्यंतसेवन से अथवा तो क्लेशो में से किसी से अभिभव पाने से क्लेश जो किंचित् काल अनभिव्यक्त होते हैं परन्तु जो क्लेश वह प्रतिबंधक के जाने से पुनः वही रुप में ही आविर्भाव पाते हैं, वे क्लेश विच्छिन्न कहे जाते हैं। और ऐसी अवस्था वह विच्छिन्नता हैं। **(५) उदारता :-** स्व-स्व विषय में क्लेशो का स्वाभाविकी वृत्ति पाकर रहना वह। अर्थात् अपने-अपने विषय के ध्यान से अभिव्यक्त हुए क्लेश उदार कहे जाते हैं। (अर्थात् जब क्रोध राग से अभिभव पाता हैं तब राग उदार हैं, और क्रोध विच्छिन्न हैं।) जीवन्मुक्त (चरमदेही) पुरुष में ये चारो भेद क्लेश के नाश हुए होते हैं। अन्य पुरुषो में चारो को सद्भाव होता हैं।

● **अविद्या का स्वरुप :- अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥२-५॥(योगसूत्र)**

सूत्रार्थ :- अनित्य, अशुचि, दुःखरुप तथा अनात्म पदार्थो के विषय में होती नित्यबुद्धि, शुचिबुद्धि, सुखबुद्धि, तथा आत्मबुद्धि ये चार प्रकार की मिथ्याबुद्धि (मिथ्याज्ञान) वह अविद्या हैं। जीवन्मुक्त से इतर पुरुषो में चार प्रकार की संसार के हेतुरुप अविद्या होती हैं। (तीनों काल में जो स्वस्वरुप से रहता नहीं हैं वह अर्थात्

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य वह अनित्य हैं। शास्त्र में भी ''कालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वम्'') काल में रहे हुए अपने अभाव का प्रतियोगी जो हो वह अनित्य- इस लक्षण से प्रतिपादन किया हैं। वैसे पृथ्वी, चंद्र, भोगो के बारे में होती नित्यबुद्धि वह एक प्रकार की अविद्या हैं। काया में शुचिबुद्धि, दुःखप्रचुर में होती सुखप्रचुरता बुद्धि वह तीसरी अविद्या। पुत्रादि भोग के साधनो के बारे में होती आत्मबुद्धि वह चौथी अविद्या। यह अविद्यारुप मिथ्याज्ञान ही पुरुष को संसार की प्राप्ति करवाता हैं। अब अविद्या के साक्षात् कार्यरुप अस्मिता क्लेश का प्रतिपादन करते हैं। -

अस्मिता का स्वरुप : दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥२-६॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- पुरुष तथा बुद्धिसत्त्व की स्वरुपतः तथा धर्मतः एकरुपत्वापत्ति अर्थात् एकत्वाभिमान वह अस्मिता हैं। यहाँ सूत्र में पुरुष और बुद्धिसत्त्व इन दोनों का भोक्तृभोग्य संबंध सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने ''शक्ति'' यह पद रखा हैं। सर्गकाल के बारे में तो बुद्धि स्वस्वरुप से होती हैं। इसलिए भोग्यरुप हैं; परन्तु प्रलयकाल के बारे में वह बुद्धि प्रकृति के बारे में लीन हो जाती हैं। इसलिए उस समय स्फुट भोग्यता उसमें नहीं हैं। तथापि उस समय वह भी बुद्धिसत्त्व अपनी वासना को प्रकृति में रखकर प्रकृतिरुप होता हैं। इसलिए उस समय भी उसमें भोग्यता की शक्ति होती हैं। अर्थात् भोग्यत्व शक्तिरुप से होता हैं। बुद्धि का आत्यंतिक लय हो, तब तक पुरुष और बुद्धि का भोक्तृभोग्य संबंध होता हैं। पुरुष- अपरिणामी, उदासीन हैं। निष्क्रिय हैं। जब कि, बुद्धि परिणामी, क्रियावाली, प्रवृतिवाली हैं। दोनों विरुद्ध धर्मवाले होने पर भी ऐक्य का अभिमान अस्मिता के कारण होता हैं। इस अस्मिता क्लेश से ही जीव को भोग होता हैं। अर्थात् भोगमात्र वस्तुतः दुःखरुप होने से दुःख होता हैं। क्योंकि सुखदुःखादि बुद्धि की वृतियाँ होने से बुद्धि के धर्म हैं। उसका आरोप पुरुष में होता हैं। तब ''मैं सुखी'', ''मैं दुःखी'' इत्यादि प्रकार का भोग होता हैं। अब अस्मिता के कार्यरुप राग का प्रतिपादन करते हैं -

राग का स्वरूप : सुखानुशयी रागः ॥२-७॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- सुख के साक्षात्कार से तथा सुख की स्मृति से होता, सुख तथा उसके साधनमात्र को विषय करनेवाला तृष्णारुप क्लेश वह राग हैं। सुख के विषय में राग दो तरह से होते हैं। (१) सुखसाक्षात्कार से (२) सुखस्मृति से। अब द्वेष का प्रतिपादन करते हैं-

द्वेष का स्वरुप : दुःखानुशयी द्वेषः ॥ २-८॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- दुःखानुभव से तथा दुःखस्मृति से होता, दुःख तथा दुःख के साधनमात्र को विषय करनेवाला जो क्रोधरुप क्लेश वह द्वेष। अब द्वेषमूलक भयविशेषरुप अभिनिवेश का प्रतिपादन करते हैं।

अभिनिवेश का स्वरुप : स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारुढोऽभिनिवेशः ॥२-९॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- पूर्वजन्म की अपनी वासना से वहन होनेवाला अविद्वान की तरह विद्वान में भी उसी तरह से प्रसिद्ध जो शरीरानुबंध क्लेश वह अभिनिवेश हैं।

इस सूत्र से यह कहा कि, अभिनिवेश नाम का क्लेश जातमात्र कृमि इत्यादि से लेकर तत्त्वज्ञानरहित सर्व प्राणीयो में एकसमान रुप से रहा हुआ होता हैं। शरीर के वियोगरुप मरण का आंतक या भय वह अभिनिवेश। ''अनित्य ऐसे देहादिक का मुजे वियोग न हो'' ऐसा मरण-निवारण का आग्रह। उपरांत यह क्लेश अपने संस्कार से निरंतर वहन होनेवाला हैं। अर्थात् असंख्य बार अनुभव में आये मरण के दुःख से उस दुःख के प्रति जीव को द्वेष होता हैं। यह द्वेष संस्काररुप से चित्त में रहता हैं। बाद में उस संस्कार से मरण का आतंक होता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मरण के आंतकरुप अभिनिवेश का हेतु मरण के दुःख के अनुभव से पडा हुआ संस्कार हैं। यह संस्कार पूर्व जन्म का ही हैं।

उत्तमाधिकारी जीवो में क्लेश तनुता को प्राप्त हुए हैं, परंतु जो मध्यमाधिकारी जीव हैं उसमें क्लेश तनुता को प्राप्त नहीं हुए हैं। इसलिए उनको क्रियायोग बताये हैं। क्रियायोग से तनुता को पाते हैं। परन्तु इतने मात्र से उनका दाह या नाश होता नहीं हैं। इसलिए वह करने के क्या उपाय हैं ? उसके लिए दो सूत्र रचते हैं। क्लेश का नाश करना हैं वह दो प्रकार के हैं। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म। सूक्ष्म का नाश किस तरह से हो उसे प्रतिपादन करते हैं।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥२-१०॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- उसमें जो सूक्ष्म क्लेश हैं वे चित्त के प्रलय से नष्ट होते हैं।

ते सूक्ष्मा :- जो क्लेशो का कार्यतः नाश हुआ हैं। अर्थात् जिनका स्व-स्व कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य दग्ध हुआ हैं और इसलिए जो दग्धबीजभावावस्था में चित्त में रहे हुए हैं। **प्रतिप्रसव**-प्रसव उत्पत्ति, उसका विरोधी वह प्रतिप्रसव अथवा नाश। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से क्लेशो के कार्यो का नाश होता हैं। तथा क्लेशो का इस कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य दग्ध होता हैं। इस प्रकार दग्ध हुए क्लेश चित्त में पडे रहते हैं। ये क्लेश सूक्ष्म कहे जाते हैं। इन क्लेशो का अत्यंत नाश चित्तरुप उसके आश्रय का नाश होने से होता हैं। इसलिए चित्त का नाश करना वही उस क्लेशो को नाश करने के उपाय हैं। चित्त का नाश जब चित्त का अधिकार समाप्त हो तब अर्थात् चित्त चरितार्थ होता हैं तब होता हैं। जहाँ तक चित्त में प्रारब्ध संस्कार रहे हुए होते हैं। तब तक चित्त साधिकार हैं। इसलिए तत्त्वज्ञान होने के बाद उन प्रारब्ध संस्कारो का नाश होता हैं। तब चित्त चरितार्थ हो सकता हैं। **प्रारब्ध संस्कार दो तरह से नाश होते हैं।** (१) भुगतकर, (२) असंप्रज्ञातयोग के दृढ अनुष्ठान से। इसलिए सूक्ष्म क्लेश का नाश करने के दो उपाय हुए। (१) असंप्रज्ञातयोग और (२) तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बाद प्रारब्ध संस्कारो का भोग अर्थात् प्रयत्न का अभाव। इसलिए सूत्र से यह प्रतिपादन किया हैं कि, विदेहकैवल्य की तत्काल प्राप्ति के लिए चित्त का नाश अवश्यकर्तव्य हैं। चित्त के नाश से सूक्ष्म क्लेशो का नाश होता हैं। और उसके लिए असंप्रज्ञातयोग का दृढ अनुष्ठान करना, यही उपाय हैं। **अब स्थूल क्लेशो के नाश का उपाय बताते हैं।-**

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ २-११॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- अदग्धबीजभावा अवस्था में रहे हुए अर्थात् तनुता को पाये हुए उन क्लेशो की वृत्तियाँ समाधिप्रज्ञा से नाश होती हैं। इस स्थान पे ध्यान शब्द से ध्यान के कार्यरुप समाधिप्रज्ञा लेना आवश्यक हैं। क्योंकि अविद्या मिथ्याज्ञानरुप होने से उसका नाश उसके विरोधी तत्त्वज्ञान से हो सकता हैं। तत्त्वज्ञान, विवेकख्याति तथा समाधिप्रज्ञा इस स्थान पर पर्यायरुप हैं। तत्त्वज्ञानरुप समाधिप्रज्ञा साक्षात् अविद्या की विरोधी हैं। ध्यान अपरिपक्व एकाग्रतारुप होने से क्लेशो का साक्षात् विरोधी नहीं हैं।

इस प्रकार स्थूल क्लेश समाधिरुप प्रज्ञारुप तत्त्वज्ञान से नष्ट होते हैं। उन क्लेशो की अभिव्यक्ति नाश होती हैं। उसकी योग्यता भी नाश होती हैं। वह चित्त में पडी रहती हैं। पूर्व के सूत्र से उस चित्त में रहे हुए क्लेशो का भी नाश होता हैं। **क्लेशो की तीन अवस्था, (१) तनुता, (२) दग्धबीजभावा, (३) नाश। तनुता का उपाय क्रियायोग कहा। दग्धबीजभावा की प्राप्ति का उपाय समाधिप्रज्ञा कही। और नाश का उपाय प्रतिप्रसव कहा।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

● योग के आठ अंग[१] :- समाधि की साधना के लिए योग के आठ अंग सहायक बनते हैं। यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समधि, ये आठ योगांग हैं।

(१)यम[२] **:** अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। **(२)नियम**[३]**:** शौच-संतोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं। मन-वचन-काया की पवित्रता को शौच कहा जाता हैं। किसी भी अवस्था में संप्राप्त वस्तु से अतिरिक्त वस्तु का लोभ न करना वह संतोष हैं। इच्छानिरोध वह तप हैं। (योगदर्शन अनुसार) ''ओम्'' प्रणव पूर्वक के मंत्र का जाप करना वह स्वाध्याय। अपने समस्त कार्य ईश्वर को अर्पण करना वह ईश्वर प्रणिधान। (३) **आसन**[४] यानी शरीर का संस्थान विशेष। **(४) प्राणायाम**[५] = श्वासप्रश्वास की गति का विच्छेद करना। **(५) प्रत्याहार**[६] = इन्द्रिय निग्रह। स्वविषय के प्रयोग काल में भी चित्तवृत्ति का स्वरुप में अनुसरण होना, वही प्रत्याहार हैं। **(६) धारणा**[७] = पदार्थ के जिस देश में (मस्तक इत्यादि) ध्येय का चिंतन करना हो वहाँ चित्त को स्थिर करना। **(७) ध्यान**[८] =ध्येय में चित्त की एकाग्रता। (८) समाधि[९] = ध्यान में जब ध्याता-ध्येय-ध्यान का भेद विलीन हो जाये, वह अवस्था समाधि हैं। **यम-नियम-आसन-प्राणायाम और प्रत्याहार से देह-इन्द्रिय और प्राण का निग्रह होता हैं। धारणा-ध्यान-समाधि से चित्त का निग्रह होता हैं।** धारणा-ध्यान-समाधि की एकत्र प्रवृत्ति को **''संयम''** कहते हैं। संयम से अनेकविध सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। और निरोध होने से गुण पुरुषार्थशून्य बनकर अपने-अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। फलस्वरुप से पुरुष स्वरुप में प्रतिष्ठित बनकर कैवल्य प्राप्त करता हैं। यही बात करके पातंजलयोग सूत्र की समाप्ति होती हैं...

''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरुप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति'' ॥४-३४॥

पुरुषार्थ से शून्य सत्त्वादिगुणो का या बुद्धिसत्त्वरुप गुणो का स्वकरण में लय होता हैं, वही कैवल्य है। अथवा **चितिशक्तिरुप पुरुष का स्वरुप में जो अवस्थान** होता हैं, वही कैवल्य हैं। (प्रतिप्रसव = स्वकारण में आत्यंतिक लय)

प्रमाणविचारः योगदर्शन, सांख्यदर्शन की तरह तीन प्रमाण को मानते हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥१-७॥ (योगसूत्र)

सूत्रार्थ :- प्रमाणवृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रकार की हैं। तीनों प्रमाण का स्वरुप सांख्यदर्शन में दिये हैं। उस अनुसार से जानें।

---

(१) यमनियमासनप्राणायमप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२-२९॥ (पां.यो.सू.) (२) तत्राहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२-३०॥ (पां.यो.सू.) (३) शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥२--३२॥ (४) स्थिर सुखासनम् ॥२-४६॥ (५) तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायमः ॥२-४९॥ (६) स्वविषयसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥२-५४॥ (७) देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥३-१॥ (८) प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥३-२॥ (९) तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरुपशून्यमिव समाधिः ॥३-३॥ (पां.यो.सूत्र)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-३

जैनदर्शन का कर्मवाद

जगत में जो विषमता (वैषम्य) दृष्टिगोचर होती है, वह कर्मवाद को समजने से ज्ञात होती है । जन्म एवं मृत्यु की जड कर्म है । जीवो को प्राप्त होनेवाला सुख और दुःख स्वकृत कर्मफल के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं है । जीव का संसार परिभ्रमण कर्मवश ही है । यद्यपि कर्मवाद की प्रस्थापना में भारत वर्ष के सभी दार्शनिक शाखाओं ने अपना दृष्टिकोण पेश किया है । फिर भी जैन परंपरा में इसका जो सुविकसित एवं सुव्यवस्थित-सुसम्बद्ध स्वरूप दृष्टिगोचर होता है वह अन्यत्र अनुपलब्ध है । श्री जैनाचार्यो एवं श्री जैनमुनिवरों ने इस विषय में बहोत परिश्रम उठाकर विस्तृत साहित्य की रचना की है। जो कर्मवाद के जिज्ञासुओं के लिए बहोत उपकारी है और साधना जीवन को मोक्ष प्रति उल्लसित बनाने के लिए अति उपयोगी भी है । सारांश में, संसार की सभी विषमताओं का समाधान प्राप्त करने के लिए और मोक्ष साधना को सही दिशा में आगे बढाने के लिए जैनदर्शन का कर्मवाद जानना और आत्मस्थ करना अनिवार्य है ।

कर्मवाद के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत ये हैं : (१) प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल अवश्य होता है । इस सिद्धांत को कार्य-कारणभाव या कर्म-फल भाव कहते है । (२) यदि किसी क्रिया का फल प्राणी के वर्तमान जीवन में प्राप्त नहीं होता, तो उसके लिए भविष्यकालीन जीवन अनिवार्य है । (३) कर्म का कर्ता एवं भोक्ता स्वतंत्र आत्मतत्त्व निरंतर एक भव से दूसरे भव में गमन करता रहता है । किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह एक निश्चित कालमर्यादा में रहता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मो का भोग एवं नवीन कर्मो का बन्धन करता है । कर्मो की इस परंपरा को तोडना भी उसकी शक्ति के बाहर नहीं है । (४) जन्मजात व्यक्तिभेद कर्मजन्य है । व्यक्ति के व्यवहार तथा सुख-दुःख में जो असामञ्जस्य या असमानता दिखाई देती है, वह कर्मजन्य ही है । (५) कर्मबन्ध तथा कर्मभोग का अधिष्ठाता जीव स्वयं ही है । तदतिरिक्त जितने भी हेतु दृष्टिगोचर होते है, वे सब सहकारी तथा निमित्तभूत है ।

कर्म का अर्थ : 'कर्म' शब्द अनके अर्थ में प्रयुक्त होता है । **जैनदर्शन में कर्म दो प्रकार का माना गया है :** भावकर्म और द्रव्यकर्म । राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् कषाय परिणाम **भावकर्म** कहलाता है । कार्मणजाति के पुद्गल (जडतत्त्व विशेष) कि, जो कषाय के कारण आत्मा-चेतनतत्त्व के साथ मिलजुल जाता है, वह द्रव्यकर्म कहलाता हैं अर्थात् आत्मा के साथ मिलजुल जाता हुआ कर्मपुद्गल को **द्रव्यकर्म** कहलाता है । अन्य दर्शनकारों ने भी अन्य शब्द प्रयोग से कर्म का स्वीकार किया है । **वेदान्त दर्शन** में कर्म के लिए, अविद्या, माया और प्रकृति शब्द उपलब्ध है । **मीमांसा दर्शन** उसको **अपूर्व** नाम से पुकारता है । **बौद्धदर्शन** में वह **वासना** शब्द से प्रसिद्ध है । **योग** एवं **सांख्य** दर्शन में **'आशय'** शब्द का प्रयोग होता है । **न्याय** एवं **वैशेषिक** दर्शन में वह धर्माधर्म - **अदृष्ट** नाम से प्रसिद्ध है ।

कर्म आत्मतत्त्व का विरोधी तत्त्व है । जिस से आत्मा का मूलभूत शुद्ध स्वरूप आवृत हुआ है । इसलिए आत्मा के ज्ञानादि गुणो के प्रकाशन का बाध होता है । सर्वकर्म का क्षय होने पर ही आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप में अवस्थित होता है । आत्मा और कर्म का संबंध अनादि है । जीव पुराने कर्मो का क्षय करता हुआ नवीन कर्म का उपार्जन करता है। जब तब जीव के पूर्वोपार्जित समस्त कर्मो का क्षय नहीं हो जाते एवं नवीन कर्मो का आश्रव (आगमन) बन्द नहीं हो जाता तब तक उसकी भवबन्धन से मुक्ति नहीं होती । एक बार समस्त कर्मो का क्षय हो जाने पर पुनः कर्मोपार्जन नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में कर्मबन्धन का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता । आत्मा की इसी अवस्था को मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण या सिद्धि कहते हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मबन्ध के कारण : कमबन्धन का (तत्त्वार्थ-सूत्र ग्रंथानुसार) पांच कारण है ।[1] (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग । विपरीत दर्शन को **मिथ्यादर्शन** कहते है । हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मानना वह मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) है । कुदेवादि में सुदेवादि की बुद्धि को भी **मिथ्यात्व** कहते है । जिससे जीव हिंसादि पाप से विराम (निवृत्त) न हो सके, उसे **अविरति** कहते है । जो आत्मा से सर्वथा भिन्न अनात्म पदार्थो में आकुल बनाता है (उलझन में डालता है), वह **प्रमाद** कहलाता है । जिससे संसार का लाभ होता है, वह कषाय कहलाता है। (कष = संसार, आय = लाभ) इसके चार प्रकार है । क्रोध, मान, माया और लोभ । यहाँ क्रोध और मान का द्वेष में तथा माया और लोभ का राग में अंतर्भाव होता है ।[2] मन-वचन-काया के व्यापार को **योग** कहलाता है । जैनदर्शन ये पाँच कर्मबन्धन के कारण मानता है ।[3] संक्षेप में देखिए तो राग-द्वेष जनित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का प्रधान कारण है ।[4]

कर्मबन्ध की प्रक्रिया : कर्मग्रन्थों में कर्मबन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है । सम्पूर्ण लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है कि, जहाँ कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणु विद्यमान न हो । जब जीव अपने मन, वचन और काया से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है। जितने क्षेत्र अर्थात् प्रदेश में उसका आत्मा विद्यमान रहता है । उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते है अन्य नहीं । प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है । गृहीत कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणुओं के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना उसे **प्रदेश-बन्ध** कहलाता है । इन्हीं परमाणुओं का ज्ञानावरण आदि अनेक रूपों में परिणत होना **प्रकृति-बन्ध** कहलाता है । प्रदेश बंध में कर्म-परमाणुओं का परिमाण अभिप्रेत है, जब कि प्रकृति-बन्ध में कर्मों का स्वभाव निश्चित होता है । कर्मरूप से गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के कर्मफल के काल के निश्चय को **स्थितिबन्ध** कहलाता है । कर्मविपाक की तीव्रता-मन्दता का निश्चय को **रसबन्ध** कहलाता है । इस प्रकार कर्मबंध के चार प्रकार है[5] (कर्मबन्ध के चार प्रकार का विस्तृत स्वरूप "जैनदर्शन का विशेषार्थ" परिशिष्ट में बन्ध तत्त्व के विवेचन में दिया है।) **यहाँ उल्लेखनीय है कि, प्रदेशबंध एवं प्रकृतिबंध 'योग' से होता है । स्थितिबंध में कषाय की और रसबंध (अनुभाग बंध) में लेश्या की भूमिका होती है ।**

कर्म की मूल प्रकृतियाँ : जैन कर्म शास्त्र में कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ मानी गई है । ये प्रकृतियाँ प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती है । इन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं : (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[6] इस में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय - ये चार घाती प्रकृतियाँ कहलाती है, क्योंकि इन से आत्मा के चार मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख (चारित्र) और वीर्य) का घात होता है । शेष चार अघाती प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती । इतना ही नहीं, ये आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करती हैं जो उसका निजी नहीं है, अपितु पौद्गलिक-भौतिक है । **ज्ञानावरण कर्म** आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है । **दर्शनावरण कर्म** से आत्मा के दर्शनगुण

---

1. मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ।।८-१।। (तत्त्वा. सू.) 2. मायालाभौ रागः क्रोधमानौ द्वेषश्च । (षड्.समु. ४५ टीका) 3. **नैयायिक** और **वैशेषिक** दर्शन **मिथ्याज्ञान** को कर्मबन्ध का कारण मानते हैं । **योग** एवं **सांख्य** दर्शन में प्रकृति-पुरुष के **अभेदज्ञान** को कर्मबन्ध का कारण माना गया है । **वेदांत** आदि दर्शनो में **अविद्या** या **अज्ञान** को कर्मबन्ध का कारण बताया गया है । **बौद्धो** ने **वासना** या **संस्कार** को कर्मबन्ध का कारण बताया है । जैनदर्शन ने कर्मबन्ध के मिथ्यात्वादि पांच कारण बताया है और संक्षेप में मिथ्यात्व एक ही कारण कह सकते हैं । 4. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते । स बन्धः।। (८-२/३) (तत्त्वाः-सू)। 5. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ।।८-४।। (तत्त्वा-सू.) । 6. आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुष्क-नाम-गोत्रान्तरायाः ।।८-५।। (तत्त्वा.सू.) ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का घात होता है । **मोहनीय कर्म** सुख-आत्मसुख-परमसुख-शाश्वतसुख के लिये घातक है । **अन्तराय कर्म** से आत्मा का वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है । **वेदनीय कर्म** अनुकूल एवं प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख का कारण है । **आयु कर्म** से आत्मा को नरकादि विविध भवों की प्राप्ति होती है । **नाम कर्म** के कारण जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते हैं । **गोत्र कर्म** प्राणियों के उच्चत्व-नीचत्व का कारण है ।

1 **आठ कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ :**

(१) ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ है(7) : १. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४. मनःपर्यय, मनःपर्यव अथवा मनःपर्याय ज्ञानावरण और ५. केवलज्ञानावरण । मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को आच्छादित करता है । श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रों अथवा शब्दों के पठन तथा श्रवण से होनेवाले अर्थज्ञान का निरोध करता है । अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना आत्मा से होनेवाले रूपी द्रव्यों के ज्ञान को आवृत करता है । मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म मनःपर्यायज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से संज्ञी–समनस्क–मन वाले जीवों के मनोगत भावों को जाननेवाले ज्ञान को आच्छादित करता है । केवलज्ञानावरणीय कर्म केवलज्ञान अर्थात् लोक के अतीत, वर्तमान एवं अनागत समस्त पदार्थों को युगपत्–एक साथ जाननेवाले ज्ञान को आवृत करता है ।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं(8) : १. चक्षुर्दर्शनावरण, २. अचक्षुर्दर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण, ५. निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७. प्रचला, ८. प्रचलाप्रचला और ९. स्त्यानर्द्धि-स्त्यानगृद्धि । आँख के द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म के ग्रहण को **चक्षुर्दर्शन** कहते हैं । इसमें पदार्थ का साधारण आभासमात्र होता है । चक्षुर्दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म **चक्षुर्दर्शनावरण** कहलाता है । आँख को छोडकर अन्य इन्द्रियों तथा मन से जो पदार्थों का सामान्य प्रतिभास होता है उसे **अचक्षुर्दर्शन** कहते हैं । इस प्रकार के दर्शन का आवरण करनेवाला कर्म **अचक्षुर्दर्शनावरण** कहलाता है । इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए आत्मा द्वारा रूपी पदार्थों का सामान्य बोध होने का नाम **अवधिदर्शन** है । इस प्रकार के दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म **अवधिदर्शनावरण** कहलाता है । संसार के अखिल त्रैकालिक पदार्थों का सामान्यावबोध **केवलदर्शन** कहलाता है । इस प्रकार के दर्शन का आवरण करनेवाला कर्म केवलदर्शनावरण के नाम से प्रसिद्ध है । निद्रा आदि अंतिम पाँच प्रकृतियाँ भी दर्शनावरणीय कर्म का ही कार्य है । जो सोया हुआ प्राणी थोडी सी आवाज से जग जाता है अर्थात् जिसे जगाने में परिश्रम नहीं करना पडता उसकी नींद को **निद्रा** कहते हैं । जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है उस कर्म का नाम भी **निद्रा** है । जो सोया हुआ प्राणी बडे जोर से चिल्लाने, हाथ से जोर से हिलाने आदि से बडी मुश्किल से जागता है उसकी नींद एवं तन्निमित्तक कर्म दोनों को **निद्रानिद्रा** कहते हैं । खडे-खडे या बैठे-बैठे नींद लेने का नाम **प्रचला** है । उसका हेतुभूत कर्म भी **प्रचला** कहलाता है। चलते-फिरते नींद लेने का नाम **प्रचलाप्रचला** है । तन्निमित्तभूत कर्म को भी **प्रचलाप्रचला** कहते हैं । दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्य विशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करने का नाम **स्त्यानर्द्धि-स्त्यानगृद्धि** है । जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है उसका नाम भी स्त्यानर्द्धि अथवा स्त्यानगृद्धि है ।

(३) वेदनीय अथवा वेद्य कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ हैं(9) : साता और असाता । जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों की प्राप्ति से सुख का अनुभव होता है उसे **सातावेदनीय कर्म** कहते हैं । जिस कर्म के उदय से

7. मत्यादीनाम् ।। त.सू. ८/७) 8. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च (त.सू. ८ ८) 9. सदसद्वेद्ये (त.सू. ८/९)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर दुःख का संवेदन होता है उसे **असातावेदनीय कर्म** कहते हैं । आत्मा को विषयनिरपेक्ष स्वरूप-सुख का संवेदन किसी भी कर्म के उदय की अपेक्षा न रखते हुए स्वतः होता है। इस प्रकार का विशुद्ध सुख आत्मा का निजी धर्म है । वह साधारण सुख की कोटि से ऊपर हैं ।

(४) मोहनीय कर्म की अठ्ठावीस उत्तरप्रकृतियाँ है[10] । इस में मुख्य दो उत्तर-प्रकृतियाँ हैं : दर्शनमोह अर्थात् दर्शन का घात और **चारित्रमोह** अर्थात् चारित्र का घात । जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझने का नाम **दर्शन** है **। यह तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप आत्मगुण है ।** इस गुण का घात करनेवाले कर्म का नाम **दर्शनमोहनीय** है । जिसके द्वारा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है उसे **चारित्र** कहते हैं । चारित्र का घात करनेवाला कर्म **चारित्र मोहनीय** कहलाता है । **दर्शन मोहनीय कर्म के पुनः तीन भेद है : सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय ।** सम्यक्त्वमोहनीय के दलिक-कर्मपरमाणु शुद्ध होते हैं । यह कर्म शुद्ध-स्वच्छ परमाणुओं वाला होने के कारण तत्त्वरूचिरूप सम्यक्त्व में बाधा नहीं पहुँचाता है किन्तु इसके उदय से आत्मा को स्वाभाविक सम्यक्त्व-कर्मनिरपेक्ष सम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होने पाता। परिणामतः उसे सूक्ष्म पदार्थों के चिन्तन में शंकाएँ हुआ करती हैं। **मिथ्यात्व मोहनीय के दलिक अशुद्ध होते हैं।** इस कर्म के उदय से प्राणी हित को अहित समझता है और अहित को हित । विपरीत बुद्धि के कारण उसे तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं होने पाता । **मिश्र मोहनीय के दलिक अर्धविशुद्ध होते हैं ।** इस कर्म के उदय से जीव को न तो तत्त्वरुचि होती है, न अतत्त्वरुचि । इसका दूसरा नाम सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय है । यह सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का मिश्रिरूप है, जो तत्त्वार्थ श्रद्धान और अतत्त्वार्थ-श्रद्धान इन दोनों अवस्थाओं में से शुद्ध रूप से किसी भी अवस्था को प्राप्त नहीं करने देता । **मोहनीय के दूसरे मुख्य भेद चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं : कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय।** कषायमोहनीय मुख्यरूप से चार प्रकार का है : क्रोध, मान, माया और लोभ। **क्रोधादि चारों कषाय तीव्रता-मन्दता की दृष्टि से पुनः चार-चार प्रकार के हैं:** अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । इस प्रकार कषायमोहनीय कर्म के कुल सोलह भेद हुए, जिनके उदय से प्राणी में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं । **अनन्तानुबन्धी क्रोधादि** के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता है । **यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है । अप्रत्याख्यानावरण कषाय** के उदय से देशविरतिरूप श्रावकधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती। इसकी अवधि एक वर्ष है। **प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सर्वविरतिरूप श्रमणधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती ।** इसकी स्थिति चार महिने की है। संज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात चारित्ररूप सर्वविरति प्राप्त नहीं कर सकता । यह एक पक्ष की स्थिति वाला है । उपर्युक्त कालमर्यादाएँ साधारण दृष्टि–व्यवहार नय से हैं । इन में यथासंभव परिवर्तन भी हो सकते है । **कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं उन्हें नोकषाय कहते हैं ।[11]** नोकषाय के नौ भेद हैं : १. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा, ७. स्त्रीवेद, ८. पुरुषवेद और ९. नपुंसकवेद। स्त्रीवेद के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ संभोग करने की इच्छा होती है । पुरुष वेद के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ संभोग करने की इच्छा होती है । नपुंसकवेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ संभोग करने की कामना होती है। यह वेद संभोग की कामना के अभाव के रूप में नहीं अपितु तीव्रतम कामाभिलाषा के रूप में है, जिसका लक्ष्य स्त्री और पुरुष दोनों हैं । इसकी निवृत्ति–तुष्टि चिरकाल एवं चिरप्रयत्नसाध्य है । इस प्रकार मोहनीय कर्म की कुल २८ उत्तर प्रकृतियाँ - भेद होते हैं : ३ दर्शनमोहनीय - १६ कषायमोहनीय - ९ नोकषायमोहनीय ।

10. दर्शनचारित्रमोहनीय-कषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनव भेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः (त.सू. ८/१०)

11. कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि । हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) आयुष्य कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ चार है[12] : १. देवायु, २. मनुष्यायु, ३. तिर्यञ्चायु और ४. नरकायु । आयुष्य कर्म की विविधता के कारण प्राणी देवादि जातियों में रहकर स्वकृत नानाविध कर्मों को भोगता एवं नवीन कर्म उपार्जित करता है। आयु कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है । **आयुष्य दो प्रकार की होती है : अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय ।** बाह्य निमित्तों से जो आयु कम हो जाती है अर्थात् नियत समय से पूर्व समाप्त हो जाती है उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं । जो आयु किसी भी कारण से कम न हो अर्थात् नियत समय पर ही समाप्त हो उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं ।

(६) नाम कर्म की एक सौ तीन उत्तर प्रकृतियाँ हैं[13] : ये प्रकृतियाँ चार भागों में विभक्त हैं : **पिण्डप्रकृतियाँ, प्रत्येक प्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक** । इन प्रकृतियों के कारणरूप कर्मों के भी वे ही नाम हैं, जो इन प्रकृतियों के हैं । **पिण्डप्रकृतियों में पचहत्तर प्रकृतियों का समावेश है : १. चार गतियाँ**-देव, नरक तिर्यञ्च और मनुष्य; २. **पाँच जातियाँ**-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय; ३. **पाँच शरीर**-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; ४. **तीन उपांग**-औदारिक, वैक्रिय और आहारक (तैजस और कार्मण शरीर के उपांग नहीं होते); ५. **पंदरह बन्धन**–औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-आहारक, आहारक-तैजस, आहारक-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण; ६. **पाँच संघातन**-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; ७. **छः संहनन**-वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और सेवार्त; ८. **छः संस्थान**-समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड; ९. **शरीर के पाँच वर्ण**-कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और सित; १०. **दो गन्ध**–सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध; ११. **पाँच रस**-तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर; १२. **आठ स्पर्श**-गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निन्ध और रूक्ष; १३. **चार आनुपूर्वियाँ**–देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी; १४. **दो गतियाँ**–शुभविहायोगति और अशुभविहायोगति। **प्रत्येक प्रकृतियों में निम्नोक्त आठ प्रकृतियाँ समाविष्ट हैं :** पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण और उपघात । **त्रसदशक में निम्न प्रकृतियाँ हैं :** त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति। **स्थावरदशक में त्रसदशक से विपरीत दस प्रकृतियाँ समाविष्ट हैं :** स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति । इस प्रकार नाम कर्म की उपर्युक्त एक सौ तीन (७५ पिण्डप्रकृतियाँ + ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ + १० त्रसदशक + १० स्थावरदशक) उत्तरप्रकृतियाँ हैं । इन्हीं प्रकृतियों के आधार पर प्राणियों के शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता हैं । इन्हीं प्रकृतियाँ का विशेष वर्णन कर्मग्रन्थों में मिलेगा । कतिपय विवेचन 'जैनदर्शन का विशेषार्थ' नामक परिशिष्ट में मील जायेगा ।

(७) गोत्र कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ हैं[14] : उच्च और नीच । जिस कर्म के उदय से प्राणी उत्तम कुल में जन्म ग्रहण करता है उसे उच्चैर्गोत्र कर्म कहते हैं । जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म नीच कुल में होता है उसे नीचैर्गोत्र कर्म कहते हैं । उत्तम कुल का अर्थ है संस्कारी एवं सदाचारी कुल । नीच कुल का अर्थ है असंस्कारी एवं आचारहीन कुल ।

---

12. नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि (त.सू. ८/११) 13. गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धन-संघातसंस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्य-गुरुलघू-पघातपराघातातपोद्योतोच्छवास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च । (त.सू. ८/१२) 14. उच्चैर्नीचैश्च (त.सू. ८/१३)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं :(15) दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। जिस कर्म के उदय से दान करने का उत्साह नहीं होता वह दानान्तराय कर्म है । जिस कर्म का उदय होने पर उदार दाता की उपस्थिति में भी दान का लाभ अर्थात् प्राप्ति न हो सके वह **लाभान्तराय कर्म** है । अथवा योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होना **लाभान्तराय कर्म** का कार्य है । भोग की सामग्री मौजूद हो और भोग करने की इच्छा भी हो फिर भी जिस कर्म के उदय से प्राणी भोग्य पदार्थों का भोग न कर सके वह **भोगान्तराय कर्म** है । इसी प्रकार उपभोग्य वस्तुओं का उपभोग न कर सकना **उपभोगान्तराय कर्म** का फल है । जो पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं वे **भोग्य** हैं तथा जो पदार्थ बार-बार भोगे जाते है वे **उपभोग्य** हैं । अन्न, फल आदि **भोग्य** पदार्थ हैं । वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि **उपभोग्य** पदार्थ हैं । जिस कर्म के उदय से प्राणी अपने वीर्य अर्थात् सामर्थ्य-शक्ति-बल का चाहते हुए भी उपयोग न कर सके उसे **वीर्यान्तराय कर्म** कहते हैं । इस तरह आठ प्रकार के मूल कर्मों अथवा मूल कर्म प्रकृतियों के कुल एक सौ अठावन भेद होते हैं ।

● **कर्मों की स्थिति :** जैन कर्मग्रन्थों में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विभिन्न स्थितियाँ (उदय में रहने का काल) बताई गई हैं जो इस प्रकार हैं :-

	कर्म	उत्कृष्ट स्थिति(16)	जघन्य स्थिति(17)
१.	ज्ञानावरणीय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
२.	दर्शनावरणीय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
३.	वेदनीय	तीसकोटाकोटि सागरोपम	बारह मुहूर्त
४.	मोहनीय	सत्तर कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
५.	आयु	तैंतीस सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
६.	नाम	बीस कोटाकोटि सागरोपम	आठ मुहूर्त
७.	गोत्र	बीस कोटाकोटि सागरोपम	आठ मुहूर्त
८.	अन्तराय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त

सागरोपम आदि समय के विविध भेदों के स्वरूप का स्पष्टीकरण के लिए 'जैनदर्शन के विशेषार्थ' में देखना और अधिक स्पष्टता के लिए अनुयोगद्वार आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए । इससे जैनों की कालविषयक मान्यता का भी ज्ञान हो सकेगा ।

कर्मफल की तीव्रता-मन्दता : कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का आधार तन्निमित्तक कषायों की तीव्रता-मन्दता है । जो प्राणी जितना अधिक कषाय की तीव्रता से युक्त होगा, उसके पापकर्म अर्थात् अशुभकर्म उतने ही प्रबल एवं पुण्यकर्म अर्थात् शुभकर्म उतने ही निर्बल होंगे । जो प्राणी जितना अधिक कषायमुक्त एवं विशुद्ध होगा उसके पुण्यकर्म उतने ही अधिक प्रबल एवं पापकर्म उतने ही अधिक दुर्बल होंगे ।

कर्मो के प्रदेश : प्राणी अपनी कायिक आदि क्रियाओं द्वारा जितने कर्मप्रदेश अर्थात् कर्मपरमाणुओं का संग्रह करता है वे विविध प्रकार के कर्मों के कर्मों में विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध होते हैं । आयु कर्म को सबसे कम हिस्सा

15. दानादीनाम् (त.सू. ८/१४) 16. आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः । सप्ततिर्मोहनीयस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य नामगोत्रयोर्विंशतिः (त.सू. ८/१५-१६-१७-१८) 17. अपरा द्वादशमूहुर्त्ता वेदनीयस्य । नामगोत्रयोरष्टौ। शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् । (त.सू. ८/१९-२०-२१)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता है । नाम कर्म को उससे कुछ अधिक हिस्सा मिलता है । गोत्र कर्म का हिस्सा भी नाम कर्म जितना ही होता है। उससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इनमें से प्रत्येक कर्म को प्राप्त होता है। इन तीनों का भाग समान रहता है । इससे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म के हिस्से मैं जाता है । सब से अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है । इन प्रदेशों का पुनः उत्तरप्रकृतियों - उत्तरभेदों में विभाजन होता है । प्रत्येक प्रकार के बद्ध कर्म के प्रदेशों की न्यूनता-अधिकता का यही आधार है ।

कर्म की विविध अवस्थाएँ : जैन कर्मशास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है । ये अवस्थाएँ कर्म के बन्धन, परिवर्तन, सत्ता, उदय, क्षय आदि से सम्बन्धित हैं । इनका हम मोटे तौर पर ग्यारह भेदों में वर्गीकरण कर सकते हैं । **उनके नाम इस प्रकार हैं :** १. बन्धन, २ सत्ता, ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उद्वर्तना, ६. अपवर्तना, ७. संक्रमण, ८. उपशमन, ९. निधत्ति, १०. निकाचन, ११. अबाध ।

१. बन्धन–आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का बँधना अर्थात् क्षीर-नीरवत् एकरूप हो जाना **बन्धन** कहलाता है । बन्धन के बाद ही अन्य अवस्थाएँ प्रारम्भ होती हैं । बन्धन चार प्रकार का होता है : प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध अथवा रसबन्ध और प्रदेशबन्ध । इनका वर्णन पहले किया जा चुका है ।

२. सत्ता–बद्ध कर्म परमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षय होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं । इसी अवस्था का नाम **सत्ता** है । इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए विद्यमान रहते हैं ।

३. उदय–कर्म की स्वफल प्रदान करने की अवस्था का नाम **उदय** है । उदय में आनेवाले कर्म-पुद्गल अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं । कर्म-पुद्गल का नाश क्षय अथवा निर्जरा कहलाता है ।

४. उदीरणा–नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना **उदीरणा** कहलाता है । जैन कर्मवाद कर्म की एकान्त नियति में विश्वास नहीं करता । जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत काल से पहले फल पकाये जा सकते हैं, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पूर्व बद्ध कर्मों को भोगा जा सकता है । **सामान्यतः जिस कर्म का उदय जारी होता है, उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा संभव होती है ।**

बन्धन, सत्ता, उदय और उदीरणा में कितनी कर्म-प्रकृतियाँ (उत्तरप्रकृतियाँ) होती हैं, इसका भी जैन कर्मशास्त्रों में विस्तार से विचार किया गया है । बन्धन में कर्मप्रकृतियों की संख्या एक सौ बीस, उदय में एक सौं बाईस, उदीरणा में भी एक सौ बाईस तथा सत्ता में एक सौ अठावन मानी गई है । नीचे की तालिका में इन चारों अवस्थाओं में रहनेवाली उत्तरप्रकृतियों की संख्या दी जाती है :

		बन्ध	उदय	उदीरणा	सत्ता
१.	ज्ञानावरणीय कर्म	५	५	५	५
२.	दर्शनावरणीय कर्म	९	९	९	९
३.	वेदनीय कर्म	२	२	२	२
४.	मोहनीय कर्म	२६	२८	२८	२८
५.	आयु कर्म	४	४	४	४
६.	नाम कर्म	६७	६७	६७	१०३
७.	गोत्र कर्म	२	२	२	२
८.	अन्तराय कर्म	५	५	५	५
	योग	१२०	१२२	१२२	१५८

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ता में समस्त उत्तरप्रकृतियों का अस्तित्व रहता है, जिनकी संख्या एक सौ अठावन है । उदय में केवल एक सौ बाईस प्रकृतियाँ रहती हैं, क्योंकि इस अवस्था में पंदरह बन्धन तथा पाँच संघानत-नाम कर्म की ये बीस प्रकृतियाँ अलग से नहीं गिनी गई हैं, अपितु पाँच शरीरों में ही उनका समावेश कर दिया गया है । साथ ही वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श इन चार पिण्डप्रकृतियों की बीस उत्तरप्रकृतियों के स्थान पर केवल चार ही प्रकृतियाँ गिनी गई हैं । इस प्रकार कुल एक सौ अठावन प्रकृतियों में से नाम कर्म की छत्तीस (बीस और सोलह) प्रकृतियाँ कम कर देने पर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जो उदय में आती हैं । उदीरणा में भी ये ही प्रकृतियाँ रहती हैं, क्योंकि जिस प्रकृति में उदय की योग्यता रहती है उसी की उदीरणा होती है । बन्धनावस्था में केवल एक सौ बीस प्रकृतियों का ही अस्तित्व माना गया है । सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय कर्मों का बन्ध अलग से न होकर मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के रूप में ही होता है, क्योंकि (कर्मजन्य) सम्यक्त्व और सम्यक्-मिथ्यात्व मिथ्यात्व की ही विशोधित अवस्थाएँ हैं । इन दो प्रकृतियों को उपर्युक्त एक सौ बाईस प्रकृतियों में से कम कर देने पर एक सौ बीस प्रकृतियाँ बाकी बचती हैं, जो बन्धनावस्था में विद्यमान रहती हैं।

५. उद्वर्तना–बद्धकर्मों की स्थिति और अनुभाग-रस का निश्चय बन्धन के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है । उसके बाद की स्थिति विशेष अथवा भावविशेष-अध्यवसायविशेष के कारण उस स्थिति तथा अनुभाग में वृद्धि हो जाना **उद्वर्तना** कहलाता है । इस अवस्था को उत्कर्षण भी कहते हैं ।

६. अपवर्तना–बद्धकर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसायविशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है । यह अवस्था उद्वर्तना से बिल्कुल विपरीत है । इसका दूसरा नाम अपकर्षण भी है । इन अवस्थाओं की मान्यता से यही सिद्ध होता है कि किसी कर्म की स्थिति एवं फल की तीव्रता-मन्दता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है । अपने प्रयत्नविशेष अथवा अध्यवसायविशेष की शुद्धता-अशुद्धता से उनमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। एक समय हमने कोई अशुभ कार्य किया अर्थात् पापकर्म किया और दूसरे समय शुभ कर्म किया तो पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति आदि में यथासम्भव परिवर्तन हो सकता है । इसी प्रकार से समयानुसार परिवर्तन हो सकता है । तात्पर्य यह है कि, व्यक्ति के अध्यवसायों के अनुसार कर्मों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है ।

७. संक्रमण–एक प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है । संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियों में ही होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियों में नहीं । दूसरे शब्दों में सजातीय प्रकृतियों में ही संक्रमण माना गया है, विजातीय प्रकृतियों में नहीं । इस नियम के अपवाद के रूप में आचार्यों ने यह भी बताया है कि आयु कर्म की प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय में तथा दर्शनमोहनीय की तीन उत्तरप्रकृतियों में ही (कुछ अपवादों को छोडकर) परस्पर संक्रमण होता है । इस प्रकार आयु कर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय व दर्शनमोहनीय की तीन उत्तरप्रकृतियाँ उपर्युक्त नियम के अपवाद हैं ।

८. उपशमन–कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं होती उसे उपशमन कहते हैं । इस अवस्था में उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण की संभावना का अभाव नहीं होता । जिस प्रकार राख से आवृत अग्नि उस अवस्था में रहती हुई अपना कार्यविशेष नहीं करती किन्तु आवरण हटते ही पुनः प्रज्वलित होकर अपना कार्य करने को तैयार हो जाती है, उसी प्रकार उपशमन अवस्था में रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय में आकर फल प्रदान करना शुरू कर देता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. निधत्ति–कर्म की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है कि, जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है । इस अवस्था में उद्वर्तना और अपवर्तना की असंभावना नहीं होती ।

१०. निकाचन–कर्म की उस अवस्था का नाम निकाचन है कि, जिसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा ये चारों अवस्थाएँ असम्भव होती हैं । इस अवस्था का अर्थ है, कर्म का जिस रूप में बंध हुआ उसी रूप में उसे अनिवार्यतः भोगना ।

११. अबाध–कर्म का बँधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना वह उसकी अवाध-अवस्था है। इस अवस्था के काल को अबाधाकाल कहते हैं ।

उदय के लिए अन्य परम्पराओं में प्रारब्ध शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार सत्ता के लिए संचित, बन्धन के लिए आगामी अथवा क्रियमाण, निकाचन के लिए नियतविपाकी, संक्रमण के लिए आवापगमन, उपशमन के लिए तनु आदि शब्दों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं ।

कर्म और पुनर्जन्म : कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध है । कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फलस्वरूप परलोक अथवा पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी ही पडती है । जिन कर्मों का फल इस जन्म में प्राप्त नहीं होता, उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना अनिवार्य है । पुनर्जन्म एवं पूर्वभव न मानने पर कृतकर्म का निर्हेतुक विनाश–कृतप्रणाश एवं अकृत कर्म का भोग-अकृतकर्मभोग मानना पडेगा । ऐसी अवस्था में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी। इन्हीं दोषों से बचने के लिए कर्मवादियों को पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार करनी पडती है । इसीलिए वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनों प्रकार की भारतीय परम्पराओं में कर्ममूलक पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की गयी है ।

जैन कर्मसाहित्य में समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया गया है : मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक और देव । मृत्यु के पश्चात् प्राणी अपने कर्म के अनुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में जाकर जन्म ग्रहण करता है। जब जीव एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करने के लिए जाता है, तब आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचा देता है । आनुपूर्वी नाम कर्म के लिए नासा-रज्जु अर्थात् 'नाथ' का दृष्टान्त दिया जाता है । जैसे बैल को इधर-उधर ले जाने के लिए नाथ की सहायता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार जीव को एक गति से दूसरी गति में पहुँचने के लिए आनुपूर्वी नाम कर्म की मदद की जरूरत पडती है । समश्रेणी-ऋजुगति के लिए आनुपूर्वी की आवश्यकता नहीं रहती अपितु विश्रेणी–वक्रगति के लिए रहती है । गत्यन्तर के समय जीव के साथ केवल दो प्रकार का शरीर रहता है : तैजस और कार्मण । अन्य प्रकार के शरीर (औदारिक अथवा वैक्रिय) का निर्माण वहाँ पहुँचने के बाद प्रारम्भ होता है।

इस तरह यहाँ संक्षिप्त में जैनदर्शन के कर्मवाद के विषय में प्रतिपादन किया गया है । जैन कर्मवाङ्मय में बडे विस्तार से इस विषय का निरूपण किया है । जिज्ञासु वर्ग को इसका अवलोकन करने का सुझाव है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-४

जैनदर्शन का ग्रंथकलाप

श्री जिनागमो की सारांश माहिती : ११ अंगसूत्रो की माहिती :

(१) श्री आचारांग सूत्र : इस आगम में जीवनशुद्धि का तत्त्व बहोत सुंदर पद्धति से समजाया है । **"आचारः प्रथमो धर्मः"** के जीवन सूत्र अपनाने की सकल युक्तियाँ इस आगम में बताई है । छः जीवनिकाय की जयणा और आचार शुद्धि का विशद विवेचन इस आगम में हैं ।

परिचय : इस आगम में दो श्रुतस्कंध हैं । प्रथम श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन हैं । दूसरे श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन है। इस आगम के उपर इस प्रकार से साहित्य मिलता है – **(१) श्री भद्रबाहुस्वामी रचित ४५० श्लोक प्रमाण निर्युक्ति,** (२) श्री पूर्वाचार्य विरचित **८३००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि,** (३) **श्री शीलंकाचार्य** कृत **१२०००** श्लोक प्रमाण **टीका,** (४) **श्री जिनदेवगणिजी** रचित **८०००** श्लोक प्रमाण **दीपिका टीका,** (५) श्री जिनहेमाचार्यजी विरचित **९२२५** श्लोक प्रमाण **दीपिका** टीका । इस ग्रंथ के मूलसूत्र **२५५४** श्लोक प्रमाण हैं।

(२) श्री सूत्रकृतांग सूत्र : इस आगम में जगत के भिन्न भिन्न दार्शनिको के विचारो का संकलन करके उसकी अपूर्णता बताने के साथ तात्त्विक दृष्टि से पदार्थ के निरुपण की विशद चर्चा नीचे के विचारो की समीक्षा की दृष्टि से की हैं । (१) पंचमहाभूत वाद, (२) पंचस्कंधवाद (बौद्धदर्शन), (३) एकांतवाद, (४) नियतिवाद, (५) तज्जीव तच्छरीरवाद, (६) जगदुत्पत्तिवाद, (७) अकारणवाद, (८) लोकवाद, (९) आत्मवाद, (१०) क्रियावाद आदि ।

परिचय : इस आगम में दो श्रुतस्कंध हैं । प्रथम श्रुतस्कंध में २६ और दूसरे श्रुतस्कंध में ७ अध्ययन है । इस आगम में ८२ गद्यात्मक सूत्र और ७३२ पद्य है । इस आगम का प्रमाण २१०० श्लोक का हाल में मिलता है । इस आगम का नीचे अनुसार साहित्य उपलब्ध है । (१) **श्री भद्रबाहुस्वामीजी** कृत **२६५** श्लोक प्रमाण **निर्युक्ति,** (२) **श्री पूर्वाचार्य** विरचित **९९००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि,** (३) **श्री शीलंकाचार्य** कृत **१२८५०** श्लोक प्रमाण **टीका,** (४) **श्री हर्षकुलगणि** कृत ६६०० श्लोक प्रमाण दीपिका टीका, (५) श्री साधुरंगजी कृत १०००० श्लोक प्रमाण सम्यक्त्व दीपिका ।

(३) श्री स्थानांग सूत्र : इस आगम में विवेक बुद्धि का बंधारण व्यवस्थित रखने के लिए जगत के भिन्न भिन्न वर्गीकरण १ से १० तक की संख्या में किया गया हैं । जिससे जिज्ञासु को एक आत्म-तत्त्व को पहचानने के लिए उपयोगी-अनुपयोगी पदार्थो का स्पष्ट भान हो जाये । कूतुहल वृत्ति के शमन होने के बाद तत्त्वज्ञान की भूमिका स्थिर होती है । यह बात आगम के चिंतन-मनन से प्रतीत हो सकती हैं।

परिचय : इस आगम के १० विभाग हैं । प्रत्येक विभाग को स्थान कहा जाता है । किसी में उद्देशक भी है, इस आगम में कुल मिलाके **७८३** सूत्र है, जिसकी श्लोक संख्या ३७०० की है । इस आगम के उपर निर्युक्ति, चूर्णि या भाष्य हाल में उपलब्ध नहीं है। केवल नीचे की टीकायें उपलब्ध है । (१) **श्री अभयदेवसूरिजी** कृत **१४२५०** श्लोक प्रमाण **बृहद्वृत्ति** (२) **श्री सुमतिकल्लोल** कृत **१३६०४** श्लोक प्रमाण **बृहद्वृत्ति,** (३) **श्री नागर्षि** कृत **१०५००** श्लोक प्रमाण **दीपिका** ।

(४) श्री समवायांग सूत्र : इस आगम में जगत के विविध छोटे-बडे पदार्थो का १ से १०० तक की संख्या का विशिष्ट परिचय आत्मलक्षी दृष्टि से दिया है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद में १५०, २०० ऐसे ५०० तक, बाद में ६००, ७०० ऐसे ११०० तक, बाद में २०००, ३००० ऐसे १०००० तक के विविध पदार्थ बताये है । उसके बाद १ लाख, २ लाख ऐसे १० लाख तक, बाद में एक करोड आखिर में एक कोटाकोटी सागरोपम तक के पदार्थो का व्यवस्थित निर्देश हैं । अंत में, संपूर्ण द्वादशांगी (समस्त आगमो) का संक्षिप्त परिचय हैं ।

परिचय : इस आगम में १६० सूत्र हैं । उसका ग्रंथ प्रमाण १६६७ श्लोक का है । इस आगम के उपर निर्युक्ति, चूर्णि या भाष्य नहीं है । तथा **श्री अभयदेवसूरिजी** रचित **३५७५ श्लोक** प्रमाण **बृहद्वृत्ति** हैं ।

(५) श्री भगवती सूत्र : इस आगम में जगत के भिन्न भिन्न पदार्थो का विशिष्ट शैली से पृथक्करण, विवेचन, भांगे आदि रूप से वर्णन है । प्रथम गणधर **भगवंत श्री गौतमस्वामीजी महाराजने** पूछे हुए ३६००० प्रश्नो के सुंदर समाधानो का संकलन इस आगम में हैं । इसके सिवा अग्निभूति, वायुभूति, मंडितपुत्र, माकंदीपुत्र, रोहक, जयंती श्राविका और कुछ अजैन व्यक्तिओं ने भी विविध प्रश्न पूछे हैं ।

परिचय : इस आगम में **४१ विभाग** है । जिसे "**शतक**" कहा जाता है । उसके आंतर विभाग "**उद्देशक**" कहे जाते हैं । ऐसे **१०००** उद्देशक है । इस आगम का मूल **१५७५२** श्लोक प्रमाण हैं ।

(१) **श्री अभयदेवसूरिजी** कृत **१८६१६** श्लोक प्रमाण **बृहद्वृत्ति,** (२) **श्री पूर्वाचार्यकृत ३११४** श्लोक प्रमाण **चूर्णि** और **२८००** श्लोक प्रमाण **अवचूर्णि,** (३) **श्री मलयगिरिजी** रचित **३७५०** श्लोक प्रमाण **द्वितीय शतकवृत्ति,** (४) **श्रीदानशेखरजी** रचित **१२९२०** श्लोक **प्रमाण लघुवृत्ति** और (५) **श्री हर्षकुलगणिजी** रचित **४९०** श्लोक प्रमाण **बीजक (वृत्ति) ।**

(६) श्री ज्ञाताधर्मकथा : इस आगम में महापुरुषो के जीवन की सत्य घटनायें और औपदेशिक कथानको का विपुल संग्रह है, जिससे बालजीव धर्म प्रति अनुरागवाले हो । प्राचीनकाल में इस आगम के लिए ऐसा उल्लेख है कि प्रथम श्रुतस्कंध के अंतिम नौ अध्ययन में से प्रत्येक में ५०० आख्यायिका, प्रत्येक आख्यायिका में ५०० उपाख्यायिका, प्रत्येक उपआख्यायिका में ५०० आख्यायिका, हैं । इस तरह से ९ x ५०० x ५०० x ५०० = १,२१,५०,००,००० (एक अरब एक्कीस करोड, पचास लाख कथायें) इस तरह से दूसरे श्रुतस्कंध के प्रत्येक वर्ग में ५०० आख्यायिका, प्रत्येक आख्यायिका में ५०० उपाख्यायिकायें, प्रत्येक उपाख्या में ५०० आख्यायिक-प्राख्यायिकायें अर्थात् १,२५,००,००,००० (१ अरब, पच्चीस करोड, कथायें) थी । आज वे सभी उपलब्ध नहीं हैं ।

परिचय : इस आगम में दो विभाग है । प्रथम विभाग में कुछ रुपक-कल्पित दृष्टांतो से सन्मार्ग बताया है । द्वितीय विभाग में महापुरुषो के जीवन चरित्र है । इस आगम के रोचक दृष्टांत बालजीवो को धर्म मार्ग में स्थिर करनेवाले है।

श्री अभयदेवसूरिजी कृत **३८००** श्लोक **प्रमाण टीका** है, इस ग्रंथ के मूल सूत्र **५४००** श्लोक प्रमाण है ।

(७) श्री उपासक दशांग सूत्र : इस आगम में प्रभु महावीर परमात्मा के शासन के दस महाश्रावको के जीवन संबंधित रोचक संक्षिप्त वर्णन है । इस आगम में प्रासंगिक "गोशालक" का नियतिवाद और प्रभु महावीर को दी हुई महामाहण, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथी और महानिर्यामक की यथार्थ उपमाओं का वर्णन आदि भी सुंदर तरीके से किया है ।

परिचय : इस आगम में **१० अध्ययन** है । कुल मिला के **५९** सूत्र है, जो **८१२** श्लोक प्रमाण है । उसके उपर **८००** श्लोक प्रमाण **टीका** है । इस आगम में श्रावको के जीवन को उन्नत बनानेवाले आदर्श जीवनसूत्रों का रोचक वर्णन पू.आ.अभयदेवसूरि महाराज ने टीका में किया है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) श्री अंतकृद्दशांग सूत्र : इस आगम में प्रभु शासन को प्राप्त करके संसार का अंत करके केवलज्ञान प्राप्त करके तुरंत ही (अंतर्मुहूर्त में) मोक्ष में गये हो ऐसे महान पुण्यात्मा-आराधक मुनियों के आदर्श जीवन चरित्र है ।

इस में मुख्यतः वर्णन की गई बाते : (१) द्वारिका का वर्णन, (२) द्वारिका का नाश, (३) श्रीकृष्ण वासुदेव - अर्जुनमालि का अधिकार, (४) परिवार की संख्या, (५) अईमुत्ता मुनि का वर्णन, (६) शत्रुंजयगिरि (सिद्धगिरि) का उल्लेख, (७) महाराजा श्रेणिक की २३ राणीओं की दीक्षा-तपस्या आदि का सुंदर वर्णन हैं ।

परिचय : इस आगम में दस वर्ग और उसके आंतर विभागरूप ९२ उद्देश हैं, **८५० श्लोक** प्रमाण ग्रंथ है, **पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरीश्वरजी** कृत ४०० श्लोक प्रमाण टीका है।

(९) श्री अनुत्तरौपपातिकदशांग सूत्र : इस आगम में धर्म की आराधना के विशिष्ट प्रभाव से जगत के सर्वोत्तम देवलोक के सुख, अनुत्तर विमान में उत्पन्न होकर प्राप्त करनेवाले महात्माओं के जीवन चरित्र है ।

मुख्यतः वर्णन की गई बाते : (१) महाराजा श्रेणिक की पटराणी धारिणी के ७ पुत्र । (२) चेल्लणा महाराणी के दो पुत्र। (३) नंदा राणी के पुत्र का माहात्म्य । (४) श्री अभयकुमार की संयम साधना । (५) महातपस्वी धन्ना काकंदी महामुनि की कठोर तपस्या का रोमांचक वर्णन । (६) प्रकृष्ट पुण्यशाली महापुरुषो के रोमांचक जीवन प्रसंग ।

परिचय : इस आगम में ३३ अध्ययन हैं । आगम १९२ श्लोक प्रमाण, लघु टीका-१०० श्लोक प्रमाण । नवांगी टीकाकार पू.आ. अभयदेवसूरिजी ने इस आगम के उपर संक्षिप्त टीका बनाई हैं ।

(१०) श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र : इस आगम में हिंसा, जूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह ये पांच महापापो का सविस्तार वर्णन तथा उसके सर्वथा त्यागरूप महाव्रतो का स्वरूप हाल में मिलता हैं । प्राचीन काल में इस आगम में अनेक विद्या मंत्र और अतिशयो की बाते थी । भवनपति आदि निकाय के देवो के साथ बात करने की पद्धति थी ।

परिचय : इस आगम में मुख्यतः दो विभाग हैं । प्रत्येक में पांच आंतर विभाग है । अर्थात् कुल मिला के १० अध्ययन है । पू.आ.श्री. अभयदेवसूरि म. रचित **४६०२** श्लोक प्रमाण टीका तथा पू. **श्री नयविमलगणी** कृत **७५००** श्लोक प्रमाण टीका हैं।

(११) श्रीविपाक सूत्र : इस आगम में अज्ञानावस्था में बंधे हुए अशुभ कर्मो का भयंकर विपाक और शुभ प्रवृत्तिओं से बंधे हुए शुभ कर्मो के सुखद विपाक का सुंदर वर्णन है । जगप्रसिद्ध तत् तत् व्यक्तियों के सचोट उदाहरण देकर इन दोनों बात का समर्थन इस आगम में किया है । **इस आगम में मृगापुत्र (कोढी) और महामुनि सुबाहु के आदर्श जीवन प्रसंग अद्भूत है ।**

परिचय : इस आगम में दो विभाग है । प्रत्येक के आतर विभागरूप से १०-१० अध्ययन हैं । कुल मिलाके २० अध्ययन हैं । पू.श्री. **अभयदेवसूरिजी** रचित टीका ९०० श्लोक प्रमाण तथा **मूल १२५० श्लोक प्रमाण है ।**

१२ उपांग-सूत्रो की माहिती :

१. श्री औपपातिक सूत्र-(१२) : यह आगम श्री आचारांग सूत्र **"अत्थि मे गाथा उवाइए"** सूत्र की व्याख्यारूप **उपांग** है । इस आगम में नीचे अनुसार महत्त्व की बाते हैं । इस आगम का मुख्य विषय देव-नारकगति में जन्म और मोक्षगमन के अर्थवाले उपपात का हैं । प्रासंगिक नीचे की बाते भी हैं - अजात शत्रु महाराज श्रेणिक की प्रभु महावीर को

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वंदन करने की अपूर्व तैयारी । - प्रभु महावीर के शरीर का (समस्त आंगोपांग का) अद्भूत वर्णन । - अंबड तापस आदि के जीवन प्रसंग, केवली समुद्घात का सुंदर स्वरूप। - मोक्ष का रोमांचक वर्णन आदि ।

परिचय : इस आगम में **४३** सूत्र और **२२५** पद्य है । १ से ३७ तक के सूत्र पूर्वार्धरूप से पहचाने जाते है । बाकी उतरार्ध कहा जाता है । पूर्वार्ध का नाम "समवसरण" है । पू.आ.भ. **श्री अभयदेवसूरिजी** रचित **३१२५ श्लोक** प्रमाण **टीका/मूल ११६७** श्लोक प्रमाण है।

(२) श्री राजप्रश्नीय सूत्र (१३) : श्री सूत्रकृतांग सूत्र (श्रु-१, अध्य-१२) में बताये हुए क्रियावाद को लक्ष में रखकर इस आगम की संकलना हैं । **इसलिए सूत्रकृतांग का उपांग हैं ।** इसमें मुख्यतः सूरियाभदेव और प्रदेशी राजा की विस्तार से रसिक हकीकत बताई हैं । प्रासंगिक नीचे की बाते भी हैं - देवताइ ३२ नाटको का सुंदर परिचयात्मक वर्णन। - प्राचीन विविध संगीत वाद्यो के प्रकारो का वर्णन । संगीतशास्त्र, नाट्यशास्त्रादि की सुंदर माहिती । नास्तिकवाद के गूढ प्रश्नो का तार्किक निराकरण । सिद्धायतन की १०८ जिनप्रतिमा का वर्णन आदि ।

परिचय : इस आगम मे **८५** सूत्र है । दो विभाग (समजने के लिए) है । प्रथम विभाग सूरियाभ चरित्र, दूसरा प्रदेशी चरित्र है । टीका **३७००** श्लोक प्रमाण, मूल **२१२०** श्लोक प्रमाण । इस सूत्र की टीका में पू.आ.श्री मलयगिरिसूरि महाराजने प्रासंगिक तरह तरह के उत्सव, चातुर्मासिक धर्म, चार प्रकार की पर्षदा और चार प्रकार के व्यवहार आदि का सुंदर वर्णन किया हैं ।

३ श्री जीवाजीवाभिगम सूत्र (१४) : यह आगम स्थानांग सूत्र का **उपांग** हैं । उसमें मुख्यतः जीव-अजीव संबंधी विशद विवेचन हैं । इस आगम की शैली प्रश्नोत्तर रूप में हैं । प्रारंभ में अजीव-जड पदार्थ की विस्तार से माहिती दी हैं । बाद में २ से १० तक जीव के विविध भेद बताये है। प्रासंगिक रुप से द्वीप-समुद्रो का अधिकार, विजयदेव का अधिकार बहोत ही रसप्रद हैं ।

परिचय : इस आगम में ९ प्रतिपत्तियाँ विभाग है । कुल मिला के **२७२** सूत्र है । (१) **श्री पूर्वाचार्य** कृत **१५००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि,** (२) **श्री मलयगिरि सू.** महाराज रचित **१६०००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (३) **पू.आ.श्री हरिभद्रसूरिजी** रचित **१७९२** श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति,** (४) **पू.आ.श्री.देवसूरिजी** म. रचित **१८००** श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति** । इस ग्रंथ के मूल सूत्र **४७००** श्लोक प्रमाण हैं ।

४ श्री प्रज्ञापना सूत्र (१५) : यह आगम श्री समवायांग सूत्र का **उपांग** हैं । प्रश्नोत्तर शैली में है । **इस आगम को लघु भगवती सूत्र कहते हैं ।** इसमें द्रव्यानुयोग और तात्त्विक बातो की सूक्ष्मता से विचारणा की हैं । जैन दर्शन के तात्त्विक पदार्थो का संक्षिप्त विश्वकोष जैसा यह आगम है । इसके **३६ विभाग** है । जिसमें कर्मग्रंथ, परमाणुवाद, भाषा, शरीर, संयम और समुद्घात आदि महत्त्व की बाते बताई हैं ।

परिचय : इस आगम में **३४९** सूत्र हैं । (१) पू.आ.भ. **श्री मलयगिरिसू.** म. कृत **१४५००** श्लोक **प्रमाणवृत्ति** । (२) **पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी** म. विरचित **३७२८** श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति,** (३) पू.आ.भ. **श्री अभयदेवसूरिजी** म. कृत **१५०** श्लोक प्रमाण **तृतीयपद संग्रहणी** । (४) पू.आ.भ. **श्री कुलमंडनगणि** विरचित **४३०** श्लोक प्रमाण **अवचूरि** । इस ग्रंथ के मूलसूत्र **७७८७** श्लोक प्रमाण हैं । यह आगम तात्त्विक दृष्टि से बहोत ही महत्त्वपूर्ण हैं । इस आगम की व्यवस्थित संकलना युगप्रधान पू.आ.श्री.**गुणाकरसूरि** म. के शिष्य आचार्य श्री श्यामाचार्यजी ने (श्री कालकाचार्यजी ने) की हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. श्री सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र (१६) : यह आगम **श्री भगवती सूत्र** के **उपांग** के रुप में हैं । यह आगम **२० प्राभृत** (आंतर विभाग) में बाँटा हुआ है । उसमें खगोल विद्या की महत्त्व की बाते भरपूर है । चंद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि की गति के वर्णन के साथ मुख्यतः सूर्य की गति, उत्तरायण, दक्षिणायन आदि के बारे में बहोत सूक्ष्मता से भरे निश्चित गणित सूत्र है । प्रासंगिक में यह बाते महत्त्वपूर्ण है - सूर्य की गति, चंद्र की गति, सूर्य की प्रकाश व्यवस्था, चंद्र का नक्षत्र के साथ संबंध, सूर्याचारक पुद्‌गल, ८८ ग्रहो के नाम, सूर्य की संख्या, जंबुद्वीप नक्षत्र, ग्रह की संख्या, सूर्य की ऊँचाई, पौरुषी छाया का माप और चंद्रकाल की हानि-वृद्धि ।

परिचय : १५०० श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** इस ग्रंथ के मूल सूत्र **२२९६** श्लोक प्रमाण हैं । इसके उपर **श्री भद्रबाहुस्वामीजी** कृत **निर्युक्ति** थी । परन्तु हाल में उपलब्ध नहीं है । पू.आ.मलयगिरिसूरिजी ने टीका के प्रारंभ में प्रभु महावीर स्वामी के अंगोपांग का सुंदर वर्णन किया हैं ।

६. श्रीजंबुद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र (१७) : श्री ज्ञाताधर्मकथा के **उपांग** के रुप में यह आगम हैं । मुख्यतः यह जैन भूगोल का ग्रंथ है ।

- प्रासंगिक नीचे की बाते हैं : श्री ऋषभदेव का चारित्र । श्री तीर्थकरो का जन्माभिषेक । श्री भरतचक्रवर्ती का चरित्र । १५ कुलकर । कालचक्र का स्वरूप । जंबुद्वीप के शाश्वत पदार्थ आदि । नवनिधि का स्वरूप ।

परिचय : (१) **१८७९** श्लोक प्रमाण **चूर्णि,** (२) **श्री शांतिचंद्र** वाचक की **१८०००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति** (३) श्री **धर्मसागरजी** म. कृत १८३५२ श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (४) खतर गच्छीय **श्री पुण्यसागरजी** म. रचित **१३२७५** श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (५) श्री ब्रह्मर्षि गणि कृत **१५००** श्लोक प्रमाण वृत्ति । इस ग्रंथ के मूल सूत्र **४४५६** श्लोक प्रमाण है । इस आगम के उपर पू.आ.मलयगिरिजी सू. महाराज की टीका थी । परन्तु हाल में उपलब्ध नहीं है ।

७. श्री चंद्रप्रज्ञप्ति सूत्र (१८) : यह आगम **श्री उपासक दशांग** सूत्र का **उपांग** हैं । जैन खगोल संबंधी का वर्णन हैं।

इस आगम में वर्तमान काल में जो चंद्र हैं, वह पूर्व जन्म में कौन था ? क्या किया ? किस तरह से इस पदवी को पाया? इत्यादि रसिक बातो का भी प्रासंगिक वर्णन हैं ।

परिचय : (१) पू.आ.**श्री मलयगिरिजी सू.** म. विरचित **९५००** श्लोक **प्रमाण टीका,** (२) इस ग्रंथ के मूल सूत्र **२२०० श्लोक** प्रमाण है ।

८ श्री निरीयावलिका सूत्र (१९) : यह आगम **श्री अंतकृद् दशांग** सूत्र का **उपांग** हैं । उसमें महाराजा श्रेणीक की काली, सुकाली आदि १० रानीयों के काल, सुकाल आदि १० पुत्रो को अपने पक्ष में लेकर महाराजा श्रेणिक चेडा महाराजा के सामने किये हुए भीषण संग्राम का विशद वर्णन हैं । जिसमें ९० करोड जनसंख्या खुवार हो गई । लगभग सभी नरकगति में गये । इस वर्णन को उपर से इस आगम का नाम नरक की आवली - श्रेणी पडा है । इस आगम का दूसरा नाम कल्पिका भी हैं।

९ श्री कल्पावतंसिका सूत्र (२०) : यह आगम **अनुत्तरोपपातिकदशांग** का **उपांग** है । महाराजा श्रेणीक के काल आदि १० पुत्रो के (जिनका वर्णन निरियावलिका आगम में हैं।) पद्म, महापद्म आदि १० राजकुमारोने प्रभु महावीर के चरणो में त्याग, तप और संयम की साधना करके देवलोक में गये, आदि बाते विस्तार से इस आगम में बताई गई हैं।

१० श्री पुष्पिका सूत्र (२१) : यह आगम **श्री प्रश्न व्याकरण** सूत्र के **उपांग** के रूप में हैं । उसमें चंद्र स्वयं विशाल परिवार और अद्‌भूत समृद्धि के साथ प्रभु महावीरदेव भगवंत को वंदनार्थ आने की हकीकत, ३२ नाटक करने की और

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके पूर्व भव की बात बताई है । उपरांत सूर्य, शुक्र, बहु पुत्रिका देवी आदि नव व्यक्तियों की पूर्वजन्म की कहानी के साथ माहिती दी हैं ।

११ श्री पुष्पचूलिका सूत्र (२२) : यह आगम श्रीविपाक सूत्र का उपांग है । उसमें आत्मकल्याण के मार्ग के उपर स्वच्छंद तरीके से चलनेवाले की कैसी दुर्दशा होती है, उसका बहोत सुंदर चितार बताया है । इस विषय को लगती श्री, ह्री, धृति आदि १० देवीयों के पूर्वजन्म की रोचक कहानी मार्मिक रुप से बताई है । उपरांत ये १० देवीयाँ पूर्वजन्म में प्रभु पार्श्वनाथ की शिष्याये थी । संयम में शिथील बनकर किस तरह से कर्तव्यभ्रष्ट बनी, इत्यादि हकीकत व्यवस्थित रुप से बताई हैं ।

१२ श्री वृष्णिदशा सूत्र (२३) : यह आगम **श्री दृष्टिवाद** के **उपांग** के रूप में हैं । उसमें वृष्णिवंश के और वासुदेव कृष्ण के ज्येष्ठबंधु बलदेव के निषध आदि १२ पुत्रो ने अखंड ब्रह्मचारी बनकर प्रभु नेमिनाथ के पास से दीक्षा का स्वीकार करके सर्वार्थ सिद्ध नाम के श्रेष्ठ देवलोक में किस तरह से उपजे ? इत्यादि हकीकत सुंदर शब्दो में बताई हैं ।

८ से १२ उपांगो का संक्षिप्त परिचय : निरयावलिका में **१० अध्ययन** है । कल्पावतंसिका में **१० अध्ययन** है। पुष्पिका में **१० अध्ययन** है । पुष्पचूलिका में **१० अध्ययन** है । वृष्णिदशा में **१२ अध्ययन** हैं । टीका ७०० श्लोक प्रमाण हैं । उस ग्रंथ के मूल **सूत्र ११०९** श्लोक प्रमाण हैं ।

प्रकीर्णक सूत्रो की माहिती -

प्र. १. श्री चतुःशरण प्रकीर्णक (२४) : इस प्रकीर्णक में आराधक भाव को बढाने के लिए चार शरण की महत्ता, पापगर्हा और सुकृत की अनुमोदना बहोत मार्मिक रुप से बताई है । प्रासंगिक छः आवश्यको का संक्षिप्त स्वरूप और फल तथा १४ स्वप्न के नाम की भी बात सोची गई हैं ।

(१) पू.आ.भ. **श्री भुवनतुंगसूरिजी** विरचित ८०० श्लोक प्रमाण **अवचूरि** । इस प्रकीर्णक में मूल ८० श्लोक प्रमाण हैं ।

प्र. २. श्री आतुरप्रत्याख्यान (२५) : रोगशय्या पर पडे हुए को अंत समय की आराधना के बारे में धार्मिक बातो के विवेचन के साथ **पंडित मरण** की हकीकत बहोत ही स्पष्टता से सोची गई हैं । **प्रासंगिक ६३ प्रकार के दुर्ध्यान, बालमरण की अनिष्टता, वैराग्य-संवेग भाव की विशिष्टता, आराधना की मार्मिकता आदि बाते भी हैं । श्री भुवनतुंगसूरिजी** विरचित ४२० श्लोक प्रमाण **टीका** तथा इस प्रकीर्णक में मूल **८० श्लोक** प्रमाण हैं ।

प्र. ३ श्री प्रत्याख्यान प्रकीर्णक (२६) : इसमें दुष्ट चरित्र की निंदा, माया का त्याग, पंडित मरण की अभिलाषा-प्रशंसा, पौद्गलिक आहार की अतृप्ति, पाँच महाव्रतो का पालन आदि बाते बताई है । मूल श्लोक-**१७६** है ।

प्र. ४ श्री भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक (२७) : इसमें चार आहार का त्याग करके अनशन की पूर्व तैयारी बताई है । साथ में भक्त परिज्ञा के प्रकार, अनशन के लिए योग्यता आदि का विवेचन है । इसमें प्रसंग से चाणक्य मंत्री की समाधिपूर्वक अंतिम आराधना और सुबंधुने की हुई दुर्दशा का समभाव से सहन करना आदि की बात सुंदर पद्धति से बताई है । मूल श्लोक-**२१५** इसके उपर **पू.आ. गुणरत्नसूरि म. की अवचूरि हैं ।**

प्र. ५ श्री तंदुल वैचारिक प्रकीर्णक (२८) : इसमें वैराग्य भाव को दृढ करनेवाली बहोत बाते सोची गई हैं । गर्भावस्था, आयुष्य की १० दशा, १०० वर्ष के आयु में कितना खाने-पीने पर भी तृप्ति न हुई उसका अंक, संघयण, संस्थान का स्वरूप, शरीर और स्त्री के साहजिक अशुचि भाव का रोमांचक वर्णन आदि बाते है । मूल श्लोक **५०० है। पू.श्री विजयविमलगणी की टीका भी है ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र. ६ श्री संस्तारक प्रकीर्णक (२९) : इसमें अंतिम संथारे का मार्मिक वर्णन है । अंतिम आराधना क्षमापना की आदर्श विधि के साथ ऐसी उत्तम आराधना के बल से प्राप्त होते **पंडित मरण की महत्ता** बताके असंख्य महापुरुषो के उदाहरण रखे हैं । जिन्हों ने बहोत ही विषम स्थिति में भी पंडित मरण का आराधन किया था । मूल **१५५** श्लोक प्रमाण आ.श्री भुवनतुंगसूरिजी विरचित **११०** श्लोक प्रमाण **टीका** ।

प्र. ७ श्री गच्छाचार प्रकीर्णक (३०) : इसमें सुविहित साधुओं की परंपरा टिकाने वाले गच्छ की आदर्श मर्यादाओं का वर्णन है । गुरुकुलवास की महत्ता बताने के साथ स्वच्छंदता को रोकने पर जोर दिया गया है ।

इसमें **५८५९** श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (२) **१५६०** श्लोक प्रमाण **अवचूरि** (३) **श्री हर्षकुलगणिजी** विरचित **१६००** श्लोक प्रमाण **अवचूरि** (४) **४००** श्लोक प्रमाण **अवचूरि** है । इसमें मूल **१७५ श्लोक प्रमाण है ।**

प्र. ८ श्री गणिविद्या प्रकीर्णक (३१) : इसमें ज्योतिष संबंधी प्राथमिक माहितीओं का वर्णन है । गणि अर्थात् आचार्य को प्रतिष्ठा, दीक्षा, तपस्या, उद्यापन आदि में आवश्यक मुहूर्त शुद्धि का अधिकार इसमें बताया हैं । मूल श्लोक **१०५** है।

प्र. ९ श्री देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक (३२) : इसमें ३२ इन्द्रो का वर्णन है । साथ में नक्षत्रो का चंद्र के साथ संबंध, सिद्ध शीला का स्वरूप, सिद्धो की अवगाहना, उनके निरुपम सुख आदि का भी वर्णन है । मूल श्लोक ३७५ है ।

प्र. १० श्री मरणसमाधि प्रकीर्णक (३३) : इसमें मरण को सुधारने के लिए आदर्श पद्धतियाँ तथा मन की चंचलता, कषाय की उग्रता, वासना की प्रबलता रोकने के उत्तम उपाय और आराधक अनेक पुण्यात्माओं के दृष्टांत है । मूल श्लोक ८३७ है।

छ: छेदसूत्रो की माहिती :

१. श्री निशीथ सूत्र (३४) : यह आगम **नौंवे** पूर्व में से संकलित हुआ है । श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध में १६ अध्ययन के बाद चार चूलिका के बाद पाँचवी चूलिका रुप यह आगम हैं ।

इस आगम में **पंचाचार का विस्तार** से वर्णन के साथ संयम मार्ग पर चलनेवाले को लगते दोषो का निराकरण करने के लिए आवश्यक व्यवस्था तंत्र का मार्मिक स्वरूप है । इसलिए ही इसको स्वतंत्र आगम माना है । निशीथ : मध्यरात्री के समय योग्य अधिकारी शिष्यो को गुप्त में जो आगम पढाया जाये ऐसा महत्त्वपूर्ण आगम हैं ।

२. श्री दशाश्रुत स्कंध (३५) : इस आगम का दूसरा नाम **"आचार दशा"** भी है । इस आगम में नीचे बताये अनुसार वर्णन हैं ।

२० असमाधि स्थान, ११ शबल दोष (चारित्र को मलिन करनेवाली चीजो का वर्णन), ३३ गुरु की आशातना, ८ आचार्य की संपदा, ११ श्रावको की प्रतिमायें, १२ साधुओं की प्रतिमायें, ३० महामोहनीय कर्म बंधने के कारण, ९ नियाणा आदि । इसके उपरांत प्रभु महावीर भगवंत का जीवन चरित्र है । इस सूत्र का आठवाँ अध्ययन श्री कल्पसूत्र-बारसा सूत्र हैं। जो प्रतिवर्ष धूमधाम से पर्युषणा पर्व में पढा जाता हैं ।

३. श्री बृहत् कल्पसूत्र (३६) : यह आगम **प्रत्याख्यान प्रवाद** नाम के पूर्व में से पू. श्री भद्रबाहुस्वामीजी म. ने संकलित किया हुआ हैं । इसमें साधु के मूल गुण और उत्तरगुणो को लागु होते प्रायश्चित्तों का अधिकार है ।

मुख्यतः साधु-साध्वी के आचार को लागु होता यह आगम है । छद्मस्थता के कारण होते या लगते दोषो का शोधन करने की व्यवस्थित विचारणा यह आगम पूरी करता हैं ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय : इस आगम में छः उद्देशा है । (१) पू.आ.**श्री भद्रबाहुस्वामी** विरचित **६२५** श्लोक प्रमाण **निर्युक्ति** । (२) **श्री संघदासगणि** कृत **७६००** श्लोक प्रमाण **लघुभाष्य** । (३) **१२०००** श्लोक प्रमाण **बृहद्भाष्य** । (४) **११०००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि** । (५) **पू.आ. मलयगिरि** महाराजा रचित **४६००** श्लोक प्रमाण **बाकी** के **३८०००** श्लोक प्रमाण पू.आ.श्री **क्षेमकीर्तिसूरिजी विरचित बृहत् (बडी) टीका** (कुल ४२६०० श्लोक प्रमाण) (६) **१४००** श्लोक प्रमाण **लघुटीका** । (७) मूल **४७३** श्लोक प्रमाण है।

४. श्री व्यवहार सूत्र (३७) : : यह आगम दंडनीति शासन की तरह आराधक पुण्यात्माओ को प्रमादादि कारण से लगते दोषों के निवारण की (तत् तत् जीवो की योग्यता को लक्ष में रखकर लघु-गुरु) मार्मिक प्रक्रिया यथायोग्य बताई हैं। संयमी जीवन की सारमयता के यथार्थ वर्णन के साथ प्रासंगिक नीचे बताई बातो का वर्णन किया है ।

गणनायक के गुण, छः पदवी की योग्यता, प्रवृत्ति की मर्यादा, पाँच व्यवहार, आचार्य-शिष्य के चार-चार प्रकार, स्थविर शिष्य की तीन तीन भूमिकायें ।

परिचय : **६४००** श्लोक प्रमाण **भाष्य, १२०००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि, ३४०००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति, ५२४००** श्लोक प्रमाण **अवचूरि,** मूल **३७३** श्लोक प्रमाण है।

५. श्री पंचकल्प भाष्य (३८) : इस ग्रंथ का मूल वि.सं. १६२२ तक उपलब्ध था । बाद में विच्छेद हुआ ऐसा माना जाता है । उसमें जीवन शुद्धि के लिए तीर्थंकर भगवंतोने जो पाँच प्रकार के व्यवहारो का निर्देश किया है उसका सुंदर वर्णन है । आत्मशुद्धि के मार्मिक उपाय इस आगम में बताये हैं ।

परिचय : इस आगम का मूल **११३३** गाथा का है । आज (हाल में) उपलब्ध नहीं हैं ।

(१) पू. श्री संघदासगणी विरचित ३१८५ श्लोक प्रमाण भाष्य (२) ३२७५ श्लोक प्रमाण चूर्णि है।

६. श्री महानीशीथ सूत्र (३९) : यह आगम संयय जीवन की विशुद्धि के उपर बहोत ही जोर देता है । सरलता, आचार शुद्धि, भूल को सुधारने की तत्परता, वैराग्य भाव और आज्ञाधीनता आदि बातो पर आगम बहोत ही जोर डालता है । नीचे बताई हुई बातो का प्रासंगिक रुप से वर्णन किया है ।

द्रव्यस्तव-भावस्तव का यथार्थ स्वरूप, उपधान का स्वरूप तथा महत्ता, नमस्कार महामंत्र का अद्भूत वर्णन, गुरुकुल वास का महत्त्व, गच्छ का स्वरूप, प्रायश्चित्तो का मार्मिक स्वरूप, आलोचना विधि आदि ।

परिचय : इस आगम के **आठ विभाग** है । जिसमें प्रथम के छः अध्ययन हैं । बाकी के दो चूलिका कहे जाते है । कुल मिला के **८३ उद्देशा** है । इस आगम का मूल **४५४८** श्लोक का है । **श्री महानीशीथ** सूत्र की प्राचीनकाल में तीन वाचनायें थी । (१) **३५००** श्लोक प्रमाण **लघुवाचना,** (२) **४२००** श्लोक प्रमाण **मध्यम वाचना,** (३) **४५४८** श्लोक प्रमाण **बृहद् वाचना**। हाल में बृहद् वाचना - उपलब्ध है । इस आगम के उपर चूर्णि, भाष्य या टीका कुछ उपलब्ध नहीं है ।

४ मूलसूत्र :

१. श्री आवश्यक सूत्र (४०) : यह आगम आत्मोन्नति के लिए बहोत ही उपयोगी पदार्थो से भरपूर है । साधु-श्रावक को प्रतिदिन अवश्य करने लायक हैं । कर्तव्यो का विस्तार से वर्णन है । प्रासंगिक रूप से पाप प्रवृत्तिओं का परिहार, दोषो की शुद्धि-प्रायश्चित्त आदि बाते भी बहोत ही व्यवस्थित रुप से इस आगम में बताई गई है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय : (१) **श्री ज्ञानसागरसूरिजी** म. विरचित **७८८५** श्लोक प्रमाण **अवचूरि,** (२) **मलधारी श्री हेमचंद्रसूरिजी** म. कृत **६४४०** श्लोक प्रमाण **टिप्पन,** (३) **मलधारी श्री हेमचंद्रसूरिजी** कृत **२८०००** श्लोक प्रमाण **विशेषावश्यक वृत्ति,** (४) **मलधारी** श्री हेमचंद्रसूरिजी कृत **९०००** श्लोक प्रमाण **विशेषावश्यक वृत्ति,** (५) **श्रीमाणिक्यशेखरगणि** विरचित **११७५०** श्लोक प्रमाण **दिपीका टीका,** (६) **श्री पूर्वाचार्यजी** विरचित **१४०००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति** । इस सूत्र में मूल **१३५** श्लोक प्रमाण है ।

२. श्री दशवैकालिक सूत्र (४१) : यह आगम संक्षिप्त रुप से साधुचर्या को बतानेवाला हैं । वैराग्य-संयम में स्थिर होने के लिए यह आगम बहोत ही महत्त्व रखता है । चौदह पूर्वधारी श्री शय्यंभव स्वामीजी ने अपने संसारी पुत्र मनक को दीक्षा देने के बाद छः महिने की छोटी अवधि की आयु जानकर उसकी आराधना की शुद्धि के लिए चौदह पूर्व में से गाथाओं एकट्ठी करके इस आगम की संकलना की ।

इस आगम के **दस अध्ययन** में से चौथा अध्ययन आत्मप्रवाद नामके सातवें पूर्व में से, पाँचवा अध्ययन कर्मप्रवाद नाम के आठवें पूर्व में से, सातवां अध्ययन सत्यप्रवाद नाम के छट्ठें पूर्व में से, बाकी के १-२-२-३-८-९-१० अध्ययन प्रत्याख्यान प्रवाद नाम के नौवें पूर्व में से संकलित किया गया हैं ।

इस आगम में नीचे की बाते हैं : माधुकरी वृत्ति, साधु को न करने लायक ५२ बाते, जीवनिकाय और महाव्रतो का स्वरूप, आत्मोन्नति के सोपान, भाषा शुद्धि, गोचरीचर्या के नियम, श्रमण के उत्तम गुण, गुरु के प्रति बहुमान का शिक्षण, चार प्रकार की समाधि, आदर्श श्रमणत्व आदि ।

परिचय : इस आगम के उपर **दस अध्ययन** है और दो चूलिकायें है । इसके उपर उपलब्ध साहित्य नीचे बताये अनुसार है । (१) पू.आ.भ. **श्री भद्रबाहुस्वामी** विरचित **५५०** श्लोक प्रमाण **निर्युक्ति,** (२) **पू.श्री पूर्वाचार्यजी** कृत **६३** गाथा प्रमाण **भाष्य,** (३) पू.आ.**श्री हरिभद्रसूरि** म. कृत **७०००** श्लोक प्रमाण **बृहद् वृत्ति,** (४) **श्री जिनदासगणि** कृत **७०००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि,** (५) **श्री अगत्स्यसिंह** गणि विरचित **५०००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि,** (६) **श्री तिलकाचार्य** कृत **७०००** श्लोक **प्रमाण वृत्ति,** (७) **पू.आ.श्री सुमतिसूरिजी** कृत **२६००** श्लोक **प्रमाण लघुवृत्ति,** (८) **अंचल गच्छीय** श्री **विनय हंसगणि** विरचित **२१००** श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति,** (९) **श्री शांतिदेवगणि** कृत **अवचूरि,** इस सूत्र में मूल **८३५ श्लोक** प्रमाण हैं ।

३. श्री उत्तराध्ययन सूत्र (४२) : इस आगम में प्रभु महावीर की अंतिम देशना के सुभाषित, मार्मिक उपदेश आदि का संकलन हैं । मुख्य बाते नीचे बताये अनुसार हैं ।

२२ परिषहो का स्वरूप, धर्म के साधनो की दुर्लभता, प्रमाद स्वरूप, मरण के भेद, ब्रह्मचर्य, पापश्रमण की रुपरेखा, सच्चा ब्राह्मणत्व, साधु जीवन का निष्कर्ष, १० प्रकार की समाचारी, मोक्षमार्ग का निरुपण, संवेग आदि महत्त्व की ७३ चीजे, तप का वर्णन, कर्म का स्वरूप, लेश्या, जीव-अजीव का स्वरूप आदि ।

परिचय : इस आगम में **३६** अध्ययन है । मूल **२०००** श्लोक प्रमाण है । नीचे बताये अनुसार साहित्य उपलब्ध हैं।

(१) **६००** श्लोक (गाथा) प्रमाण **निर्युक्ति,** (२) **श्री जिनदासगणि** कृत **५८५०** श्लोक **प्रमाण चूर्णि,** (२) श्री शांतिसूरि कृत **२६०००** श्लोक प्रमाण **टीका,** (४) पू.आ.भ. **श्री नेमिचंदसूरिजी** विरचित **१४०००** श्लोक प्रमाण **टीका,** (५) पू.**श्री भावविजयगणि**जी कृत **१४२२५** श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (६) **पू.कमल संयमोपाध्याय** कृत **१४०००** श्लोक **प्रमाण वृत्ति,** (७) **अंचलगच्छीय श्री कीर्तिवल्लभगणि** विरचित **८२६५** श्लोक **प्रमाण वृत्ति,** (८) **अंचलगच्छीय**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री उदयसागरगणी कृत ८५०० श्लोक प्रमाण दीपिका टीका, (९) **१०७०७** श्लोक प्रमाण **दीपिका,** (१०) **श्री अजितदेवसूरिजी** विरचित **११४** श्लोक प्रमाण दीपिका प्रमाण **टीका,** (११) श्री **ज्ञानसागरसूरिजी** म. कृत **३६००** श्लोक प्रमाण **अवचूरी** (१२) **६६१६** श्लोक प्रमाण **अवचूरि,** (१३) **९२१०** श्लोक प्रमाण **अवचूरि,** (१४) **श्री पद्मसागरगणिजी** कृत **२३५०** श्लोक प्रमाण कथाये, (१५) **श्री पुण्यानंदनमुनिजी** विरचित **१२५५** श्लोक **प्रमाण कथायें ।** इस ग्रंथ के मूलसूत्र **२०००** श्लोक प्रमाण हैं ।

४. श्री ओघनिर्युक्ति (४३) : यह आगम श्री आवश्यक निर्युक्ति की ६६५वी गाथा के विवेचनरूप से जीवो के हितार्थे पू.आ.श्री **भद्रबाहुस्वामीजी**ने श्री प्रत्याख्यान प्रवाद नाम के नौवें पूर्व में से संकलित किया हैं ।

संक्षेप से साधु के जीवन को लागु पडती सभी छोटी - बडी बातो का वर्णन, आदर्श श्रमणचर्या का वर्णन, इस आगम में हैं । इस आगम में मुख्यतः पडिलेहण, पिंड, उपधि का निरूपण, अनायतन का त्याग, प्रतिसेवना, आलोचना और विशुद्धि आदि बातो का विवेचन हैं । प्रासंगिक चरणसित्तरी, करणसित्तरी, साधुजीवन में अपवादिक जयणायें और साधुओं की जीवन पद्धति आदि का वर्णन हैं ।

परिचय : (१) **श्री पूर्वाचार्य** कृत **३००** श्लोक प्रमाण **भाष्य,** (२) **३८२५** श्लोक प्रमाण **टीका,** (३) पू.आ. श्री **मलयगिरिजी म.** कृत **७५००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (४) **पू.माणिक्यशेखरगणि** विरचित **५७००** श्लोक प्रमाण **दीपिका टीका,** (५) **पू.ज्ञानसागरसूरि** कृत **३२००** श्लोक प्रमाण **अवचूरि,** (६) **१११** श्लोक प्रमाण **उद्धार** । इस ग्रंथ के मूल सूत्र ३५५ श्लोक प्रमाण है ।

५. श्री पिंडनिर्युक्ति सूत्र (४४) : यह आगम मुख्यतः साधुओं को गोचरी की शुद्धि का स्पष्ट ख्याल देता है । यह दशवैकालिक के पाँचवे अध्ययन के विवेचन रूप आगम हैं । सूक्ष्मता से इस आगम का अभ्यास करना प्रत्येक साधु-साध्वी को उपयोगी होने से इसकी गणना आगम में स्वतंत्र हुई हैं । इसकी संकलना पू. भद्रबाहुस्वामीजीने की हैं ।

परिचय : (१) **४६** श्लोक (गाथा) प्रमाण **भाष्य,** (२) **पू. मलयगिरिजी** महाराज विरचित **७०००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (३) **श्री वीराचार्य** कृत **३१००** श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति,** (४) **४०००** श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति,** (५) पू. **श्री माणिक्यशेखर** गणि विरचित २८३२ श्लोक प्रमाण **अवचूरि** । इस ग्रंथ में मूलसूत्र **८३५** श्लोक प्रमाण हैं ।

६. श्री नंदीसूत्र (४५) : यह आगम सभी आगमो की व्याख्या के प्रारंभ में मंगलाचरण रुप से पांच ज्ञान के स्वरूप को बतानेवाला मंगलरूप हैं । **पांच ज्ञान का विस्तार से वर्णन इसमें हैं ।** साथ में श्रुत ज्ञान के चौदह भेदो का, द्वादशांगी का संक्षिप्त वर्णन बहोत ही सुंदर हैं । यह सूत्र सभी आगमो में श्री नवकार मंत्र की तरह सर्वश्रेष्ठ मंगलरूप माना जाता हैं।

परिचय : (१) **श्री जिनदास गणि** विरचित **१५००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि,** (२) पू.आ.**श्री हरिभद्रसूरिजी** कृत **२३००** श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति,** (३) आ.श्री **चन्द्रसूरिजी** म. कृत **३३००** श्लोक प्रमाण **विषमपद पर्याय,** (४) **१६०५** श्लोक प्रमाण **अवचूरि**। इस ग्रंथ में मूलसूत्र **७००** श्लोक **प्रमाण** हैं ।

७. अनुयोग द्वार सूत्र (४६) : यह आगम जैन आगमो की व्याख्या करने की अनूठी शैली पर प्रकाश डालनेवाला हैं। पदार्थो के निरुपण की व्यवस्थित संकलना की शैली इस आगम की अनोखी विशेषता है । प्रासंगिक पल्योपम, सागरोपम, गणित के शास्त्रीय व्यवहारिक प्रकार, व्याकरण, काव्य, संगीत आदि की भी कुछ माहितीयाँ है । **जैनागमो को समजने के लिए प्रवेशद्वार समान यह आगम हैं ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय : (१) पू. श्री **हरिभद्रसूरिजी** कृत **३०००** श्लोक प्रमाण **शिष्यहिता टीका,** (२) **५९००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति,** (३) **२२६५** श्लोक प्रमाण **चूर्णि** । इस ग्रंथ में मूलसूत्र **२०००** श्लोक **प्रमाण** है ।

[**जैन पारिभाषिक शब्दो की समझ : (१) आगम** : तीर्थंकर केवलज्ञानी, वितरागी प्रभु की मौलिकवाणी, **(२) श्रुतस्कंध** : किसी भी आगम का आंतर विभाग । **(३) अध्ययन** : श्रुतस्कंध का आंतर विभाग । **(४) उद्देश** : अध्ययन का आंतर विभाग, **(५) सूत्र** : उद्देश का आंतर विभाग । **(६) निर्युक्ति** : आगमों के उपर १४ पूर्वधर समर्थ श्रुतधर आचार्यश्री की प्राकृत भाषा में श्लोक बद्ध व्याख्या । जिसमें शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ की प्रधानता होती हैं । **(७) चूर्णि:** आगमो के गुरुगम से चले आते अर्थो का संकलन, **(८) भाष्य** : वृद्ध पुरुषों ने संभाल के रखी हुई आगमिक परंपरा का संकलन, **(९) टीका** : समर्थ गीतार्थ भगवंत ने की हुई व्याख्या । **(१०) छेदसूत्र** : गंभीर और गूढ अर्थवाले आगम ।]

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. विरचित ग्रन्थपरिचय :

प्राकृत-संस्कृत भाषा में उपलब्ध स्वोपज्ञटीका युक्त ग्रन्थकलाप :

(१) अध्यात्ममतपरीक्षा : केवलीभुक्ति और स्त्रीमुक्ति का निषेध करनेवाले दिगम्बर मत का इस ग्रन्थ में निराकरण किया है । एवं निश्चयनय-व्यवहारनय का तर्कगर्भित विशदपरिचायक ग्रंथ हैं । **(२) आध्यात्मिकमतपरीक्षा :** इस ग्रंथ में केवलिकवलाहारविरोधी दिगम्बरमत का खंडन करके केवलि के केवलाहार की उपपत्ति की गई है । **(३) आराधक-विराधकचतुर्भङ्गी**-देशतः आराधक और विराधक तथा सर्वतः आराधक और विराधक इन चार का स्पष्टीकरण किया है । **(४) उपदेश रहस्य** : उपदेशपद ग्रन्थ के रहस्यभूत अपुनर्बंधक से लेकर अध्यात्मध्यानयोग इत्यादि अनेक विषयों पर इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया हैं। **(५) ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका** : इस ग्रन्थ में ऋषभदेव से महावीरस्वामी तक २४ तीर्थंकरों की स्तुतिओं और उनका विवरण हैं । **(६) कूपदृष्टान्तविशदीकरण** : गृहस्थों के लिये विहित द्रव्यस्तव में निर्दोषता के प्रतिपादन में उपयुक्त कूप के दृष्टान्त का स्पष्टीकरण है। **(७) गुरुतत्त्वविनिश्चय** : निश्यच और व्यवहार नय से सद्गुरु और कुगुरु के स्वरूप का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में हैं । **(८) ज्ञानार्णव** : मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यव तथा केवलज्ञान इन पाँचो ज्ञान के स्वरूप का विस्तृत प्रतिपादन । **(९) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका** : ३२ श्लोकपरिमाण ३२ प्रकरणों में षोडशक-योगदृष्टि-योगबिन्दु आदि ग्रंथों के विविध विषयों का इस में निरूपण किया गया है । **(१०) धर्मपरीक्षा** : उपा० धर्मसागरजी के 'उत्सूत्रभाषी नियमा अनन्तसंसारी होते है' इत्यादि अनेक उत्सूत्रप्रतिपादन का इस में निराकरण हैं । **(११) नयोपदेश** : नैगमादि ७ नयों पर इस ग्रन्थ में श्रेष्ठकोटि का विवरण उपलब्ध हैं । **(१२) महावीरस्तव** : न्यायखण्डखाद्यटीका-बौद्ध और नैयायिक के एकान्तवाद का इस ग्रन्थ में निरसन किया हैं । **(१३) प्रतिमाशतक** : भगवान के स्थापना निक्षेप की पूज्यता को न माननेवाले का निरसन कर मूर्तिपूजा की कल्याणकारिता इस में वर्णित हैं । **(१४) भाषा रहस्य** : प्रज्ञापनादि उपाङ्ग में प्रतिपादित भाषा के अनेक भेद-प्रभेदों का इस में विस्तृत वर्णन हैं । **(१५) सामाचारी प्रकरण** : इच्छा-मिच्छादि दशविध साधु सामाचारी का इस ग्रन्थ में तर्कशैली से स्पष्टीकरण है ।

अन्यकर्तृकग्रन्थ की उपलब्ध टीकाएँ :

(१६) उत्पादादिसिद्धि : (मूलकर्त्ता-श्री चन्द्रसूरि) इस ग्रन्थ में जैनदर्शनशास्त्रों के अनुसार 'सत्' के उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक लक्षण पर विशद प्रकाश डाला गया हैं - श्री उपाध्यायजी म. विरचित टीका पूर्ण उपलब्ध नहीं हो रही हैं । **(१७) कम्मपयडि-बृहद् टीका** : (मूलकर्त्ता-श्री शिवशर्मसूरि)-जैनदर्शन का महत्त्व का विषय कर्म के 'बन्धनादि' विविध करणों पर विवरणात्मक टीका है । **(१८) कम्मपयडि लघुटीका** : इस टीका का प्रारम्भिक पत्र मात्र उपलब्ध होता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९) तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम अध्याय मात्र) टीका : (मूलकर्ता-श्री उमास्वातिजी म.) इस टीका ग्रन्थ में निक्षेप-नय-प्रमाणादितत्त्वों का रहस्य प्रकाश में लाया गया हैं । **(२०) योगविंशका टीका :** इस में श्री हरिभद्रसूरि विरचित विंशतिविंशिका-अन्तर्गत योगविंशिका की विशद व्याख्या हैं - इस में स्थान-उर्ण-अर्थ-आलम्बन और निरालम्बन पाँच प्रकार के योग का विशद निरूपण किया गया है । **(२१) स्तवपरिज्ञाअवचूरि :** द्रव्य-भाव स्तव का स्वरूप संक्षेप से इस में स्फुट किया गया है। **(२२) स्याद्वादरहस्य**-वीतरागस्तोत्र के आठवें प्रकाश के उत्तरोत्तर लघु-मध्यम और उत्कृष्ट परिमाण-तीन टीकात्मक इस ग्रन्थ में स्याद्वाद का सूक्ष्म रहस्य प्रकट किया गया है । **(२३) स्याद्वादकल्पलता**-आ० श्री हरिभद्रसूरि विरचित-"**शास्त्रवार्ता समुच्चय**" ग्रन्थ की नव्यन्याय में विस्तृत व्याख्या, जिसमें विविध दार्शनिक सिद्धान्तों की विशद मीमांसा की गयी हैं । **(२४) षोडशक टीका :** इस टीका ग्रन्थ में जैनाचार के आभ्यन्तर विविध प्रकारों का सुन्दर निरूपण किया गया हैं। **(२५) अष्टसहस्री टीका :** दिगम्बरीय विद्वान् श्री विद्यानन्द के अष्टसहस्री ग्रन्थ की ८००० श्लोक परिमाण व्याख्या ग्रन्थ हैं, जिस में दार्शनिक विविध विषयों की चर्चा हैं । **(२६) पातञ्जलयोगसूत्र टीका :** श्री पतञ्जली के योगसूत्र के कतिपयसूत्रो पर जैन दृष्टि से व्याख्या एवं समीक्षा प्रस्तुत की गई हैं । **(२७) काव्य प्रकाश टीका**-मम्मट कृत काव्य प्रकाश ग्रन्थ की टीका। **(२८) न्यायसिद्धान्तमञ्जरी**-स्याद्वादमञ्जरी टीका (?)

अन्य स्वतंत्र-उपलब्ध-रचनाएँ :

(२९) अध्यात्मसार-इस ग्रन्थ में अध्यात्ममाहात्म्य-अध्यात्मस्वरूप-दम्भत्याग-भवस्वरूपचिन्ता-वैराग्यसम्भव-वैराग्यभेद-वैराग्यविषय-ममतात्याग-समता-सदनुष्ठान-मनःशुद्धि-सम्यक्त्व-मिथ्यात्वत्याग-असद्ग्रहत्याग-योग-ध्यान-ध्यानस्तुति-आत्म निश्चय-जिनमतस्तुति-अनुभव-सज्जनस्तुति इस प्रकार २१ विषयों का हृदयङ्गम विवेचन किया गया है । **(३०) अध्यात्मोपनिषत् :** इस ग्रन्थ में शास्त्रयोग-ज्ञानयोग-क्रियायोग-साम्ययोग इन चार भेद से अध्यात्मतत्त्व का उपदेश हैं । **(३१) अनेकान्त व्यवस्था :** इस ग्रन्थ में वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का तथा नैगम आदि ७ नयों का सतर्क प्रतिपादन हैं । **(३२) अस्पृशद्गतिवाद**-इस वाद में तिर्यग् लोक से लोकान्त तक के मध्यवर्ती आकाश प्रदेशों के स्पर्श बिना मुक्तात्मा के गमन का उपपादन किया गया है । **(३३) आत्मख्याति**-इस ग्रन्थ में आत्मा का विभु तथा अणु परिमाण का निराकरण किया गया है । **(३४) आर्षभीयचरित्र :** ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के चरित्र का काव्यात्मक निरूपण इस ग्रन्थ में हैं । **(३५) जैन तर्कभाषा :** जैन तर्क पद्धति के प्राथमिक परिचय की दृष्टि से इस ग्रन्थ में प्रमाण-नय और निक्षेपों का सरल विवेचन हैं । **(३६) ज्ञानबिन्दु :** इस ग्रन्थ में संक्षेप से पाँच ज्ञान का न्याययुक्त विवरण हैं । **(३७) ज्ञानसार :** पूर्णता-मग्नता आदि ३२ आध्यात्मिक विषयों का ३२ अष्टक में सुन्दर वर्णन हैं - इस ग्रन्थ में मुमुक्षु के लिये अति आवश्यक ज्ञातव्य विषयों का रहस्य बताया गया है । **(३८) तिङन्वयोक्ति :** तिङन्तपदों के शाब्दबोध का व्युत्पादन इस ग्रन्थ में किया गया है । **(३९) देवधर्मपरीक्षा :** देवों में सर्वथा धर्माभाव का प्रतिपादन करनेवाले मत विशेष का इस में निराकरण हैं । **(४०) सप्तभङ्गी-नयप्रदीप :** इस ग्रन्थ में अति संक्षेप से सप्तभङ्गी तथा ७ नय का विवेचन किया गया है । **(४१) नयरहस्य :** इस ग्रन्थ में नय के सामान्य लक्षण तथा ७ नयों का मध्यमकक्षा का विवरण हैं । **(४२) न्यायालोक :** इस में मोक्ष के स्वरूप आदि की तर्कपूर्ण विचारणा हैं । **(४३) निशामुक्ति प्रकरण :** इस लघुकाय ग्रन्थ में 'रात्रि भोजन' स्वरूपतः दुष्ट हैं' - इस का उपपादन किया गया हैं । **(४४-४५) परमज्योतिःपञ्चविंशिका : परमात्म पञ्चविंशिका**-विषय परमात्मस्तुति । **(४६) प्रतिमा स्थापनन्याय :** इस में प्रतिमापूज्यत्व का व्यवस्थापन किया गया है । **(४७) प्रमेयमाला :** यह ग्रन्थ विविध वादों का संग्रह हैं । **(४८) मार्गपरिशुद्धि :** इस ग्रन्थ में श्री हारिभद्रीय 'पंचवस्तु' शास्त्र के साररुप मोक्षमार्ग की विशुद्धता का सुन्दर प्रतिपादन हैं । **(४९) यतिदिनचर्या :** जैन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधुओं के दैनिक आचार का वर्णन इस ग्रन्थ में हैं । **(५०) यतिलक्षणसमुच्चय :** इस ग्रन्थ में भाव साधुता के लक्षणों का वर्णन हैं । **(५१) वादमाला** (१)-इस में (१) चित्ररूप विचार, (२) लिङ्गोपहितलैङ्गिकभान, (३) द्रव्यनाशहेतुताविचार, (४) सुवर्णातैजसत्व, (५) अन्धकारद्रव्यत्व, (६) वायुस्पार्शनप्रत्यक्ष, (७) शब्दानित्यत्व (इन, ७) वादों का निरूपण हैं। **(५२) वादमाला** (२) - इस में (१) स्वत्ववाद, (२) सन्निकर्षवाद, इन दो वादो को निरूपण हैं । **(५३) वादमाला** (३) - इस में (१) वस्तुलक्षण विवेचन, (२) सामान्यवाद, (३) विशेषवाद, (४) इन्द्रियवाद, (५) अतिरिक्तशक्तिवाद और (६) अदृष्टवाद, इन छ वादों का निरूपण हैं । **(५४) विजयप्रभसूरिस्वाध्याय :** इस में गच्छनायक श्री विजयप्रभसूरिजी की तर्कगर्भित स्तुति की गई हैं । **(५५) विषयतावाद :** इस में विषयता, उद्देश्यता, आपाद्यता आदि का निरूपण है । **(५६) सिद्धसहस्रनामकोश :** सिद्ध भगवान के १००८ नाम के संग्रह इस ग्रंथ में हैं । **(५७) स्याद्वाद रहस्य पत्र :** 'खंभात' नगर के पण्डित गोपाल सरस्वती आदि पण्डितवर्ग पर प्रेषित पत्र है, जिस में संक्षेप से 'स्याद्वाद' की समर्थक युक्तियाँ का प्रतिपादन है । **(५८) स्तोत्रावली :** इस में आदीश्वर, पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी भगवान के विविध ८ स्तोत्र हैं ।

अनुपलब्ध-संकेत प्राप्त अन्यग्रन्थ : (५९) अध्यात्मबिंदु, (६०) अध्यात्मोपदेश, (६१) अनेकान्तवादप्रवेश, (६२) अलंकारचूडामणि टीका, (६३) आलोकहेतुतावाद, (६४) छन्दश्चूडामणि टीका, (६५) ज्ञानसार अवचूर्णि, (६६) तत्त्वालोक विवरण, (६७) त्रिसूत्र्यालोक, (६८) द्रव्यालोक, (६९) न्यायवादार्थ, (७०) प्रमारहस्य, (७१) मंगलवाद, (७२) वादरहस्य, (७३) वादार्णव, (७४) विधिवाद, (७५) वेदान्त निर्णय, (७६) वेदान्तविवेक सर्वस्व, (७७) शठप्रकरण, (७८) श्रीपूज्यलेख, (७९) सिद्धान्ततर्क परिष्कार

प्रकीर्ण : संस्कृत-प्राकृत भाषा के अलावा श्रीमद् महोपाध्यायजी की गूर्जर भाषा में भी अनेक लोकभोग्य स्तवन, सज्झाय, रास, पूजा, टबा इत्यादि कृतियाँ है, जिसका बहुभाग 'गूर्जर साहित्य संग्रह' भाग १ में, तथा भाग २ में है और 'द्रव्यगुणपर्याय का रास' प्रसिद्ध हो चूका हैं ।

● **पू. जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी म. के ग्रंथकलाप :** समर्थ शास्त्रकार शिरोमणी पू. आचार्य प्रवरश्रीने १४४४ ग्रंथों की रचना की थी । परन्तु वर्तमान में वे सभी ग्रंथो उपलब्ध नहीं हैं । संप्राप्त ग्रंथराशी में निम्न ग्रंथ समाविष्ट हैं :-

१. अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति, २. अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञ टीका सहित), ३. अनेकान्तप्रघट्ट, ४. अनेकान्तवाद प्रवेश, ५. अष्टक प्रकरण, ६. आवश्यकनिर्युक्ति-लघुटीका, ७. आवश्यकनिर्युक्ति-बृहद्टीका, ८. उपदेशपद, ९. कथाकोश, १०. कर्मस्तववृत्ति, ११. कुलक, १२. क्षेत्रसमासवृत्ति, १३. चतुर्विंशतिस्तुतिसटीक, १४. चैत्यवंदनभाष्य, १५. चैत्यवंदनवृत्ति-ललितविस्तरा, १६. जीवाभिगम-लघुवृत्ति, १७. ज्ञानपञ्चकविवरण, १८. ज्ञानादित्यप्रकरण, १९. दशवैकालिक अवचूरि, २०. दशवैकालिकबृहद्टीका, २१. देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण, २२. द्विजवदनचपेटा (वेदांकुश), २३. धर्मबिन्दु, २४. धर्मलाभसिद्धि, २५. धर्मसंग्रहणी, २६. धर्मसारमूलटीका, २७. धूर्ताख्यान, २८. नंदीवृत्ति, २९. न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति, ३०. न्यायविनिश्चय, ३१. न्यायामृततरंगिणी, ३२. न्यायावतारवृत्ति, ३३. पंचनिर्ग्रन्थी, ३४. पंचलिंगी, ३५. पंचवस्तु सटीक, ३६. पंचसंग्रह, ३७. पंचसूत्रवृत्ति, ३८. पंचस्थानक, ३९. पंचाशक, ४०. परलोकसिद्धि, ४१. पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति (अपूर्ण), ४२. प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, ४३. प्रतिष्ठाकल्प, ४४. बृहन्मिथ्यात्वमंथन, ४५. मुनिपतिचरित्र, ४६. यतिदिनकृत्य, ४७. यशोधरचरित्र, ४८. **योगदृष्टिसमुच्चय,** ४९. **योगबिन्दु,** ५०. **योगशतक,** ५१. लग्नशुद्धि (लग्नकुण्डलि),

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५२. **लोकतत्त्वनिर्णय,** ५३. **लोकबिन्दु,** ५४. विंशति **(विंशतिविंशिका),** ५५. वीरस्तव, ५६. वीरांगदकथा, ५७. वेदबाह्यतानिराकरण, ५८. व्यवहारकल्प, ५९. शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीक, ६०. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति, ६१. श्रावकधर्मतन्त्र, ६२. **षड्दर्शनसमुच्चय,** ६३. **षोडशक,** ६४. संकितपचासी, ६५. संग्रहणीवृत्ति, ६६. संपचासित्तरी, ६७. **संबोधसित्तरी,** ६८. **संबोधप्रकरण,** ६९. संसारदावास्तुति, ७०. आत्मानुशासन, ७१. **समराइच्चकहा,** ७२. सर्वज्ञसिद्धिप्रकरण सटीक, ७३. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।

पूर्वोक्त ग्रंथराशी में से अनेकान्त जयपताका, अनेकान्त प्रघट्टक, अनेकान्तवाद प्रवेश, न्यायप्रवेशसूत्र, न्यायविनिश्चय, न्यायावतारवृत्ति, शास्त्रवार्ता समुच्चय, षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रंथ दार्शनिक है । पूर्वोक्त ग्रंथों में जिनागमो का रहस्य अद्भूत शैली में प्रस्तुत किये है । जैनदर्शन के अनुयायी वर्ग को परम आदरणीय यह ग्रंथकलाप है ।

जैनदर्शन के कार्मग्रंथिक साहित्य : जैनदर्शन के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय में विपुल मात्रा में कार्मग्रंथिक साहित्य उपलब्ध है । श्वेताम्बरीय कर्म साहित्य सूची में निम्न ग्रंथो का समावेश होता है ।

(१) कर्म प्रकृति : श्री शिवशर्मसूरिजी म. विरचित **४७६** गाथा प्रमाण इस ग्रंथ के उपर **७०००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि, १९२०** श्लोक प्रमाण **श्री मुनिचन्द्रसूरिजी** कृत चूर्णि **टिप्पण, ८०००** श्लोक प्रमाण **श्री मलयगिरिजी** म. कृत **वृति** है। **(२) पञ्चसंग्रह : श्री चन्द्रर्षिमहत्तर**जी कृत **९६३** गाथा प्रमाण इस ग्रंथ के उपर **९०००** श्लोक प्रमाण **स्वोपज्ञवृत्ति, श्री मलयगिरिसूरि**जी कृत **१८८५०** श्लोक प्रमाण **बृहद्वृत्ति** एवं **श्री वामदेव**जी कृत **२५००** श्लोक प्रमाण **दीपकवृत्ति** है । **(३) प्राचीन षट्कर्मग्रंथ : (१) कर्मविपाक :** श्री गर्गर्षिजी विरचित **१६८** श्लोक प्रमाण इस ग्रंथ के उपर **श्री परमान्दसूरि**जी कृत **वृति,** अज्ञातकर्तृक **१०००** श्लोक प्रमाण व्याख्या एवं **श्री उदयप्रभसूरिकृत ४२०** श्लोक प्रमाण टिप्पन है । **(२) कर्मस्तव** नामक द्वितीय कर्मग्रंथ के दो भाष्य **श्री गोविन्दाचार्य** कृत **वृत्ति** एवं **श्री उदयप्रभसूरि**जी कृत टिप्पन है । **(३) बन्धस्वामित्व** नामक तृतीय कर्मग्रंथ की श्री हरिभद्रसूरिजी कृत वृत्ति है । **(४) षडशीति** नामक चतुर्थ कर्मग्रंथ के उपर भाष्य-वृत्ति-अवचूरि के रूप में विस्तृत साहित्य है । **(५) शतक** नामक पंचम कर्मग्रंथ में भी विस्तृत साहित्य प्राप्त होता है । **(६) सप्ततिका** नामक षष्ठ कर्मग्रंथ के उपर भाष्य-चूर्णि-प्राकृतवृत्ति-वृत्ति-भाष्यवृत्ति-टिप्पन-अवचूरि उपलब्ध है । **(४) सार्द्धशतक : श्री जिनवल्लभगणी**जी कृत **१५०** गाथा प्रमाण इस ग्रंथ के उपर **११०** गाथा प्रमाण **भाष्य, श्री मुनिचन्द्रसूरि**जी कृत **२२००** श्लोक प्रमाण **चूर्णि, श्री धनेश्वरसूरि**जी कृत **३७००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति, श्री चक्रेश्वरसूरि**जी **कृत** प्रा. **वृत्ति** आदि साहित्य उपलब्ध है । **(५) नवीन पंच कर्मग्रंथः ३०४** गाथा प्रमाण श्री देवेन्द्रसूरिजी के इस ग्रंथ उपर **१०१३१** श्लोक प्रमाण **स्वोपज्ञवृत्ति** है । **श्री मुनिशेखरसूरि**जी ने **२९५८** श्लोक प्रमाण **अवचूरि** एवं **श्री गुणरत्नसूरि**जी (प्रस्तुत ग्रंथ के टीकाकार) ने **५४०७** श्लोक प्रमाण **अवचूरि** की रचना की है । तदुपरांत **श्री जयसोमसूरि**जी कृत **१७०००** श्लोक प्रमाण षट्कर्मग्रंथ-**बालावबोध, श्री मतिचन्द्रसूरि**जी कृत **१२०००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति, श्री जीवविजय**जी कृत **१००००** श्लोक प्रमाण **वृत्ति** है । इस के अलावा (६) **श्री महेन्द्रसूरि**जी कृत मनः स्थिरीकरण **प्रकरण** (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) (७) **श्री जयतिलकसूरि**जी कृत संस्कृत (चार) **कर्मग्रंथ,** (८) कर्मप्रकृतिद्वात्रिंशिका, (९) श्री विजयविमलगणी कृत भाव प्रकरण (स्वोपज्ञ वृत्ति सह), (१०) **श्री हर्षकुलगणिजी** कृत **बन्धहेतूदयत्रिभङ्गी** (वृत्तिसह), (११) श्री विमलविजयगणी बन्धोदयसत्ता प्रकरण (स्वोपज्ञ अवचूरि), (१२) श्री देवचन्द्रसूरिजी कृत कर्मसंवेधभङ्ग प्रकरण, (१३) श्रीलक्ष्मीविजयजी कृत भूयस्कारादिविचार प्रकरण, **(१४) श्री प्रेमसूरिजी म. कृत संक्रमकरण ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अलावा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में श्री तपागच्छाधिराज पू.आ.श्री.वि. रामचन्द्रसूरिजी म. साम्राज्यवर्ती पू.आ.भ.श्री. वीरशेखरसूरिजी म. ने बहोत कर्मविषयक नूतन साहित्य की रचना की है ।

दार्शनिक ग्रंथकलाप : जैनदर्शन के श्री पूर्वाचार्य महर्षियों ने अनेक दार्शनिक ग्रंथो की भेट दर्शन जगत को दी है ।

(१) सम्मतितर्क, (२) प्रमाणनयतत्त्वालोक, (३) स्याद्वादमञ्जरी, (४) स्याद्वद रहस्य, (५) स्याद्वाद कल्पलता, (६) षड्दर्शन समुच्चय, (७) शास्त्रवार्ता समुच्चय, (८) जैनतर्क भाषा, (९) प्रमाणमीमांसा, आदि अनेक दार्शनिक ग्रंथो जैन साहित्य में उपलब्ध है । इसका परिचय पहले भूमिका में दिया ही है ।

आकर कोटी के ग्रंथ :

(१) पू.वाचक प्रवर **श्री उमास्वातिजी** म. कृत **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र**, (२) पू.आ.भ.**श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी** कृत **विशेष्यावश्यक** भाष्य, (३) **प्रवचनसारोद्धार**, (४) **लोकप्रकाश (भाग १-५)** आदि अनेक ग्रंथो की आकर कोटी में गणना होती है । क्योंकि, वे प्रमेयबहुल ग्रंथ है । **इसके अलावा जैनदर्शन में योग, अध्यात्म ध्यान, कथा, ज्योतिष, व्याकरण इत्यादि अनेक विषय के विपुल ग्रंथ उपलब्ध है । विस्तार भय से यहाँ उसका संग्रह नहीं करते है।**

विशेष : निम्नोक्त ग्रंथो से जैनवाङ्मय की प्रचुरता का परिचय होगा । जिज्ञासु वर्ग को इसका अवलोकन करने का सुझाव है ।

(१) **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १ से ६) (हिन्दी भाषा)**
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान (जैनाश्रम), हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी

(२) जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास (भाग १ से ३), (गुर्जर भाषा)
प्रणेता : हीरालाल रसिकलाल कापडीया, प्रकाशक : आचार्य श्री ऊँकारसूरि ज्ञानमंदिर, सुरत

(३) गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान आदि राज्यों में ४०० से अधिक सक्रिय ज्ञानभंडारों में जैन साहित्य के विपुल पुस्तक-प्रत उपलब्ध है ।

नोंध : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १ से ६) में जैनदर्शन के आगम एवं विविध विषयक प्रकरण ग्रंथों के रचयिता, रचना समय, विषयवस्तु इत्यादि का परिचय भी दिया है ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-५ (साक्षीपाठः)

(A-1) ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि - विप्र श्री हरिभद्रसूरिजी की यह प्रतिज्ञा थी कि 'मैं जिसके वचनों का अर्थ नहीं समझ सकूंगा उसीका शिष्य हो जाउंगा।' एक दिन उपाश्रय में याकिनी महत्तरा नाम की साध्वीजी "चक्किदुगं हरि पणगं चक्कीण केसवो चक्की केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य ॥" - अर्थात् चक्रवर्ती और नारायणों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है - दो चक्री, पाँच नारायण, पाँच चक्री, छठवाँ नारायण, आठवाँ चक्री, सातवाँ नारायण, नवाँ चक्री, आठवाँ नारायण, दसवाँ और ग्यारहवाँ चक्री, नवाँ नारायण और बारहवाँ चक्री। वे यह गाथा पढ रहे थे। इस चकारबहुल गाथा का अर्थ जब श्री हरिभद्र की समझ में नहीं आया तब वे अपनी प्रतिज्ञानुसार याकिनी महत्तरा के पास गये और उन्हें अपना गुरु मानकर उनसे इस गाथा का अर्थ पूछा। आर्या संघ के नियमानुसार श्री हरिभद्र को आचार्य जिनभट के पास ले गये। विप्र श्री हरिभद्र आचार्य श्री जिनभटसूरिजी के पास जैनी दीक्षा लेकर श्री हरिभद्रसूरिजी हुए।

(A-2) तुलना-"स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः । सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥" - **आप्तमी० श्लो० १०४।** "स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः, तस्य अनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते।" - **त० वा० पृ० ८१ । त० श्लो० पृ० १३६ । न्यायकुमु० पृ० ३ । रत्न कराव० ४।१२ । हैम० बृह० पृ० १ । स्या० म०का० ५ ।**

(A-3) "सदसन्नित्यानित्यादिप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः" - **अष्टश०, अष्टस० पृ० २८६ ।**

(A-4) "तन्मङ्गलमादौ शास्त्रस्य क्रियते तथा मध्ये पर्यवसाने चेति। एकैककरणप्रयोजनमाह - प्रथमं शास्त्रार्थाविघ्नपारगमनाय निर्दिष्टमिति गाथार्थः । तस्यैव शास्त्रार्थस्य प्रथममङ्गलकरणप्रसादादविघ्नेन परं पारमुपागतस्य सतः स्थैर्यार्थं मध्यमम्, निर्दिष्टमिति वर्तते। तथान्त्यमपि तस्यैव, मध्यममङ्गलकरणात् तथाभूतस्य सतः अव्यवच्छित्तिनिमित्तम्, कस्येत्याह-शिष्य-प्रशिष्यादिवंशस्य । निर्दिष्टमिति वर्तते, नात्मार्थमेव शास्त्रावगतिरिष्यते इति गाथार्थः । - **विशेषा० को० गा० १३-१४ । प्रज्ञा० मलय० प० १ । आ० मलय० प० ३ अ० । बृहत्कल्प० मलय० पृ० १ ।** तुलना - "पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति। मज्झिम्मे णिव्विग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥" - **ति० १।२९ ।** "मंगलं सुत्तस्स आदीए मज्झे अवसाणे च वत्तव्वं। उक्तं च-आदीवसाणमज्झे पण्णत्तं मंगलं जिणिंदेहिं। तो कयमंगल-विणयो वि णमोसुत्तं पवक्खामि।" - **धवला पृ० ३९ ।** "उक्तं च - आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥" - **धवला पृ० ४१ । आप्तप० पृ० ३ ।** शाकटायनव्या० ।

(A-5) प्रयोजनं द्वेधा कर्तृ श्रोतुश्च। पुनर्द्विविधम् - अनन्तरं सान्तरं च ॥ **(स्याद्वादरहस्य)**

(A-6) अकारो वासुदेवः स्यादकारस्तु पितामहः ।.... उकारः शंकरः प्रोक्तः... **(अनेकार्थध्वनि)**

(A-6/1) **"प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद्-सुगतौ पुनः । अनुमानञ्च तच्चाय सांख्याः शब्दश्च ते अपि । न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केचन । अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः ॥ अभावषष्ठान्येतानि भाट्टवेदान्तिनस्तथा । सम्भवैतिहय -युक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥ (तार्किकरक्षा)**

(A-7) तुलना - "आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः । क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥"-

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य० माठर० पृ० १३। ''रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥'' -**यश० उ० पृ० २७३। आप्तस्व० श्लो० ३-४।**

(A-8) 'अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः एकदेशस्य यदन्यनिरपेक्षस्य अवधारणम् अपरिशुद्धो नयः, तावन्मात्रार्थस्य वाचकानां शब्दानां यावन्तो मार्गाः हेतवो नयाः तावन्त एव भवन्ति, स्वेच्छाप्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात् परसमयानां परिमितिर्न विद्यते। ननु यद्यपरिमिताः परसमयाः कथं तन्निबन्धनभूतानां नयानां संख्यानियमः-''नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः'' (**तत्त्वार्थसू० १।३३**) इति श्रूयते, न, स्थूलतस्तच्छ्रुतेः, अवान्तरभेदेन तु तेषामपरिमितत्वमेव स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियतत्वात् तदुत्थप्रवादानामपि तत्संख्यापरिमाणत्वात्।''-**सन्मति० टी० पृ० ६५५। शास्त्रवा० यशो० पृ० २७४।**

(A-9) ''चउविहा समोसरणा पण्णत्ता, तं जहा-किरियावादी, अकिरियावादी, अण्णाणिवादी, वेणइयवादी।'' - **भग० ३०।१। स्था० ४।४।३४५। सर्वार्थसि० ८।१।** - ''अत्थि त्ति किरियवाइं वयंति नत्थि त्ति किरियवाइओ। अण्णाणिय अण्णाणं वेणिया विणयवायंति।'' **सूत्र० नि० गा० ११८।** ''असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीती। अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा।'' **सूत्र० नि० गा० ११९** तुलना-''सूअगडे णं असीअस्स किरियावाइसयस्स चउरासीइए अकिरिआवाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं बत्तीसाए वेणइअवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं।'' **नन्दीसू० ४६।** ''असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होई चुलसीई।'' **आचा० शी० १।१।१।३।** ''असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी। सत्तट्ठी अण्णाणी वेणेया होंति बत्तीसा।'' **भावप्रा० गा० १३५।** ''उक्तं च-असिदिसदं...'' -**सर्वार्थसि० ८।१।** ''असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं च आहु चुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीणं वेणयियाणं तु बत्तीसं॥'' **गो० कर्म० गा० ८७६।** ३. तुलना-''कौत्कुलं काण्डेविद्धि कौशिक-हरिश्मश्रु-मांछयिक-रोमस-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्।'' **राजवा० पृ० ५१।** ''जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीतिक्रियावादिनः।''-**सूत्र० शी० १।१२।** 'क्रिया कर्त्रा विना न संभवति, सा चात्मसमवायिनीति वदन्ति तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः। अन्ये त्वाहु :-क्रियावादिनो ये ब्रुवते क्रियाप्रधानं किं ज्ञानेने। अन्ये तु व्याख्यान्ति क्रियां जीवादिः पदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावदिनः।'' **भग० अभ० ३०।१।** ''क्रियां जीवाजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवं रूपां वदन्तीति क्रियावादिनः आस्तिका इत्यर्थः।'' **स्था० अभ० ४।४।३४५।** ''तत्र न कर्तारमन्तरेण क्रिया पुण्यबन्धादिलक्षणा संभवति तत एवं परिज्ञाय तां क्रियाम् आत्मसमवायिनीं वदन्ति तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः।'' - **नन्दि० भ० पृ० २१३।**

(A-10) तुलना-''जीवादयो नव पदार्थाः परिपाट्या स्थाप्यन्ते, तदधः 'स्वतः परतः' इति भेदद्वयम्, ततोऽप्यधो नित्याऽनित्यभेदद्वयम्, ततोऽप्यधस्तत्परिपाट्या कालस्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यते। ततश्चैवं चारणिकाक्रमः, तद्यथा अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः, तथा अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालत एव। एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयम्। सर्वेऽपि चत्वारः कालेन लब्धाः, एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते। तथा च पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति। सापि जीवपदार्थेन लब्धा। एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते। ततश्च नव विंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं भवन्तीति।''-**सूत्र० शी० १।१२।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचा० शी० १।१।१।३ स्था० अभ० ४।४।३४५ । नन्दी० मलय० सू० ४६ । "अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था। कालीसरप्पणियदिसहावेहि य ते हि भंगा हु॥ प्रथमतः अस्तिपदं लिखेत्, तस्योपरि स्वतः परतः नित्यत्वेन अनित्यत्वेनेति चत्वारि पदानि लिखेत्, तेषामुपरि जीवः अजीवः पुण्यं पापम् आस्रवः संवरः निर्जरा बन्धः मोक्ष इति नव पदानि लिखेत्, तदुपरि काल ईश्वर आत्मा नियतिः स्वभाव इति पञ्च पदानि लिखेत्। तैः खल्वक्षसंचारक्रमेण भङ्गा उच्यन्ते, तद्यथा-स्वतः सन् जीवः कालेन अस्ति क्रियते। परतो जीवः कालेन अस्ति क्रियते । नित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते । अनित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते । तथा अजीवादिपदार्थं प्रति चत्त्वारश्चत्वारो भूत्वा कालेनैकेन सह षट्त्रिंशत् । एवमीश्वरादिपदैरपि षट्त्रिंशत् भूत्वा अशीत्यग्रशतं क्रियावादभङ्गाः स्युः ॥"-**गो० कर्म० टी०, गा० ८७७ ।**

(A-11) "किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः . अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् । कालस्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् । संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥"-**वेताश्व० १।२, ६।१, नारदपरि० ९।१ ।** "कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।"-**सन्मति- ३।५३ । धर्मसं० गा० ५६६ ।**

(A-12) "तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव। नित्यः शाश्वतः न क्षणिकः पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्। कालत इति काल इव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम्। उक्तं च-'कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।' स चातीन्द्रियः युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्तायामाहोरात्रमासर्तु-अयन-संवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्तातीतानागतवर्तमानसर्वाद्धादि-व्यवहाररूपः । द्वितीयविकल्पे तु कालादेव आत्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयं किन्त्वनित्योऽसौ इति विशेषोऽयं पूर्वविकल्पात् । तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते ? कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ? नन्वेतत् प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति। एवमेव चानात्मनः स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि आत्मबुद्धिः प्रवर्तते इति, अतो यदात्मनः स्वरूपं तत् परत एवावधार्यते न स्वत इति। चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः।" **आचा० शी० १।१।१।४ । स्था० अभ० ४।४।३४५ ।** "अस्य च विकल्पस्यायमर्थः-विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः कालवादिनो मते। कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगत् मन्यन्ते। तथा च ते आहुः-न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलिपलितागमादयो वाऽवस्थाविशेषा घटन्ते, प्रतिनियतकालाविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात्, अन्यथा सर्वमव्यवस्था भवेत्, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा। अपि च मुद्गपक्तिरपि...."-**नन्दि० मलय० पृ० २१३ B ।**

(A-13) "विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते। कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे॥ कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः॥ कालो विकुरुते भावान् सर्वांल्लोके शुभाशुभान् । कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः । कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥ अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्। तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥"-**महाभा० आदि० १।२७२-७६ ।** "कालः पचति भूतानि... यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित् ।"-**मैत्रा० ६।१५**, उपनिषद्वाक्यकोष । "कालः कलयते लोकं कालः कलयते जगत् । कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥ कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः । कालो हि भगवान् देवः स साक्षात्परमेश्वरः ॥ सर्गपालनसंहर्ता स कालः सर्वतः समः । कालेन कल्प्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥ येनोत्पत्तिश्च जायेत येन वै कल्प्यते कला । सोऽन्तवच्च भवेत्कालो जगदुत्पत्तिकारकः ॥ यः कर्माणि प्रपश्येत प्रकर्षे वर्तमानके । सोऽपि प्रवर्तको ज्ञेयः कालः स्यात् प्रतिपालकः ॥ येन मृत्युवशं याति कृतं येन लयं व्रजेत् । संहर्ता सोऽपि विज्ञेयः कालः स्यात् कलनापरः ॥ कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ काले देवा विनश्यन्ति काले चासुरपन्नगाः । नरेन्द्राः सर्वजीवाश्च काले सर्वं विनश्यति ॥" **हारीत सं० स्था० १ अ० ४ ।** "केचित् कालं कारणतया वर्णयन्तिकालः सृजति भूतानि..."-**सांख्य० माठर० पृ० ७६ । माध्य० वृ० पृ० ३८६ । चतुःश० पृ० ३८ । लोकत० १।६१ । सन्मति० टी० पृ० ७११ ।** "कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं । जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥"-**गो० कर्म० गा० ८७९ ।**

(A-14) "उक्तेनैव प्रकारेण द्वितीयोऽपि विकल्पो वक्तव्यः, नवरं कालवादिन इति वक्तव्ये ईश्वरवादिन इति वक्तव्यम् । तद्यथा..."-**नन्दि० मलय० पृ० २१४ A ।** "तथाऽन्येभिदधते-समस्तमेतज्जीवादि ईश्वरात्प्रसूतम्..."-**आचा० शी० १।१।१।४ । बुद्धच० ९।६३ ।** "अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च । सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥"-**गो० कर्म० गा० ८८० ।** २. "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते...."-**तैत्ति० २।१।१ ।** "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् । संबाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥"-**श्वेता० ३।३ ।** "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।"-गीता १०।८ । "यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।"-**गीता १५।१७ ।** "संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्"-**वैशे० २।१।१८ ।** "ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्यदर्शनात्"-**न्यायसू० ४।१।२० ।** ३. श्लोकोऽयं निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृतः- शास्त्रावा० **श्लो० १६५ । सूत्र० शी० पृ० २५६ । सन्मति० टी० पृ० ६९ । प्रमाणमी० पृ० १२। नन्दि० मलय० पृ० २१४ ।**

(A-15) "तथाऽन्ये ब्रुवते-न जीवादयः पदार्थाः कालादिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते किं तर्हि ? आत्मनः । कः पुनरयमात्मा ? आत्माद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूपः । उक्तं च एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" तथा "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् इत्यादि ।"-**आचा० शी० १।१।१।४ । बुद्धच० ९।६४ । सन्मति० टी० पृ० ७१५ । नन्दि० मलय० पृ० २१४ A ।** "वेदवादिनः पुनरित्थं कारणमाहुः-'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यतः पुरुषः कारणमाहुः ।"-**सांख्य० माठर० पृ० ७५ ।** "एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य । सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥"-**गो० कर्म० गा० ८८१ ।**

(A-16) "पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । यदिदं वर्तमानं जगत् सर्वं तत् पुरुष एव । यच्च भूतमतीतं जगत् यच्च भाव्यं भविष्यज्जगत्तदपि पुरुष एव । यथा अस्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैव अतीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः ।"-**ऋग्वे० पुरुषसू० सायणभा०। श्वेताश्व० ३।१५ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(A-17) ''तथाऽन्ये नियतित एवात्मनः स्वरूपमवधारयन्ति । का पुनरियं नियतिरिति ? उच्यते-पदार्थानामवश्यंतया यद्यथा भवने प्रयोजककर्त्री नियतिः । उक्तं च-'प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण... इयं च मस्करिपरिव्राण्मतानुसारिणी प्राय इति।'' **आचा० शी० १।१।१।४ । स्था० अभ० ४।४।३४५ । सन्मति० टी० पृ० ७१४ । नन्दि० मलय० पृ० २१४ A ।** ''न चर्ते नियतिं लोके मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते । तत्स्वभावादिभावेऽपि नासावनियता यतः ॥ अन्यथाऽनियतत्वेन सर्वाभावः प्रसज्यते । अन्योऽन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च ॥''-**शास्त्रवा० श्लो० १७५-७६ ।** ''जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा । तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ **गो० कर्म० गा० ८८२ ।**

(A-18) ''केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च । स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः ॥ यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव । संयुज्यते यज्जरयार्त्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥ यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्ना निर्वर्तते गर्भगतस्य भावः । यदात्मानस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥ कः कण्टकानां...''-**बुद्धच० ६।५८-६२ ।** ''अपरे स्वभावमाहुः-स्वभावः कारणमिति । तथाहि-येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः । मयूराश्चित्रिता येन स नो वृत्तिं विधास्यति ॥'' सांख्य० माठर० पृ० ७५ । ''सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते । स्वभाववादिभिस्ते हि नाहुः स्वमपि कारणम् । राजीकेसरादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि । मयूरचन्द्रकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ॥ यथैव कण्टकादीनां तैक्ष्ण्यादिकमहेतुकम् । कादाचित्कतया तद्वद् दुःखादीनामहेतुता ॥''-**तत्त्वसं० का० ११०-११२ । बोधिचर्या० पं० पृ० ५४१ ।** ''न स्वभावातिरेकेण गर्भबालशुभादिकम् यत्किंचिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥ सर्वभावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा । वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते कामचारपराङ्मुखा ॥ न विनेह स्वभावेन मुद्गपक्तिरपीष्यते । तथा कालादिभावेऽपि नाश्वमासस्य सा यतः ॥ अतत्स्वभावात्तद्भावेऽतिप्रसङ्गोऽनिवारतः । तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो न पटादीत्ययुक्तिमत् ॥ शास्त्रवा० **श्लो० १६९-१७२ ।** ''अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यवस्थामभ्युपयन्ति । कः पुनरयं स्वभावः ? स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः । उक्तं च-कः कण्टकानां प्रकरोति ॥ स्वभावतः प्रवृत्तानां निवृत्तानां स्वभावतः । नाहं कर्तेति भूतानां यः पश्यति स पश्यति । केनाञ्चितानि नयनानि मृगाङ्गनानां कोऽलंकरोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान् । कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंस्सु ॥''-**आचा० शी० १।१।१।४ । सन्मति० टी० पृ० ७११ । नन्दि० मलय० पृ० २१४ ।** ''को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं विविहत्तं तु सहाओ हदि सव्वं पिय सहाओत्ति ॥''-**गो० कर्म० गा० ८८३ ।**

(A-19) ''तत एवं स्वत इति पदेन लब्धाः पञ्च विकल्पाः । एवं परत इत्यनेनापि पञ्च लभ्यन्ते । परत इति-परेभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विद्यते खल्वयमात्मेत्यर्थः । एवं नित्यत्वापरित्यागेन दश विकल्पा लब्धाः एवमनित्यपदेनापि दश, सर्वे मिलिता विंशतिः । एते च जीवपदार्थेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वष्टसु पदार्थेषु प्रत्येकं विंशतिर्विंशतिर्विकल्पा लभ्यन्ते, ततो विंशतिर्नवगुणिताः शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनां भवति ।''-**नन्दि० मलय० पृ० २१४ B ।**

(A-20) ''तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ? नन्वेतत् प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदः यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति । एवमेव च अनात्मनः स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि आत्मबुद्धिः प्रवर्तते इति, अतो यदात्मनः स्वरूपं तत् परत एवावधार्यते न स्वत इति ।''-**आचा० शी० १।१।१।४ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(A-21) "तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिनः अक्रियावादिनः ।" **सूत्र० शी० १।१२ । आचा० शी० १।१।१।४ ।** "अक्रियां क्रियाया अभावम्, न हि कस्यचिदप्यनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति यद्भावे च अनवस्थितेरभावादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः । तथा चाहुरेके-'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा.... ।' इत्यादि । अन्ये त्वाहुः अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किं क्रियया, चित्तशुद्धिरेव कार्या, ते च बौद्धा इति । अन्ये तु व्याख्यान्ति-अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते अक्रियावादिनः ।"-**भग० अभ० ३०।१** । "अक्रियावादिनो नास्तिका इत्यर्थः ।"-**स्था० अभ० ४।४।३४५ । नन्दि० मलय० पृ० २१५ A।**

(A-22) मरीचिकुमारकपिलोलूकगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाद्वलिमाठरमौद्गलायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः ।"-**राजवा० पृ० ५१ ।**

(A-23) उद्धृतोऽयम् -"क्षणिकाः.... भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥"-**बोधिचर्या० पं० पृ० ३७६ ।** "तत्रेदमुक्तं भगवता-क्षणिकाः.... भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव..."-**तत्त्वसं० पृ० ११ ।** "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव...." **नन्दि० मलय० पृ० २१५ A भग० अभ० ३०।१ ।**

(A-24) "तेषामपि जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्याः सप्तपदार्थाः स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीति विकल्पा भवन्ति । तद्यथा-'नास्ति जीवः स्वतः कालतः, नास्ति जीवः परतः कालतः' इति कालेन द्वौ लब्धौ । एवं यदृच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं भवतः, सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवमजीवादिषु प्रत्येकं द्वादश एते सप्तद्वादशकाः चतुरशीतिरिति ।"-**आचा० शी० १।१।१।४ । सूत्र० शी० १।१२ । नन्दि० मलय० पृ० २१५ A । स्था० अभ० ४।४।३४५।** "णत्थि सदो परदो वि य सत्त पयत्था य पुण्णपाऊणा । कालादियादिभंगा सत्तरि चदुपंति संजादा ॥ णत्थि य सत्तपदत्था णियदीदो कालदो तिपंत्तिभवा । चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाणं च चुलसीदी ॥"-**गो० कर्म० गा० ७८४-८५ ।**

(A-25) "अयमत्रार्थः-नास्ति जीवः स्वतः कालत इति । इह पदार्थानां लक्षणेन सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा । न चात्मनस्तादृगस्ति किंचिल्लक्षणं येन सत्तां प्रतिपद्येमहि । नापि कार्यमणूनामिव महीध्रादिसंभवति । यच्च लक्षणकार्याभ्यां नाभिगम्यते वस्तु तन्नास्त्येव वियदिन्दीवरवत् तस्मान्नास्त्यात्मेति । द्वितीयोविकल्पोऽपि-यच्च स्वतो नात्मानं बिर्भति गगनारविन्दादिकं तत् परतोऽपि नास्त्येव । अथवा सर्वपदार्थानामेव परभागादर्शनात् सर्वार्वाग्भागसूक्ष्मत्वाच्चोभयानुपलब्धेः सर्वानुपलब्धितो नास्तित्वमध्यवसीयते । उक्तं च- यावद् दृश्यं परस्तावद्भागः स च न दृश्यते । इत्यादि । तथा यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मनः । का पुनर्यदृच्छा ? अनभिसंधिपूर्विका अर्थप्राप्तिर्यदृच्छा । अतर्कितोपस्थितमेव... वृथाभिमानः ॥ सत्यं पिशाचाः स्म वने वसामो भेरिं कराग्रैरपि न स्पृशामः । यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति ॥ यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकम्, न काकस्य बुद्धिरस्ति मयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः काकोपरि पतिष्यामि, अथ च तत्तथैव भवति । एवमन्यदपि अतर्कितोपनतमजाकृपाणीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम् । एवं जातिजरामरणादिकं लोके यादृच्छिकं काकतालीयादिकल्पमवसेयमिति ।"-**आचा० शी० १।१।४।**

(A-26) "हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्" **सर्वार्थसि० ८।१ ।** "तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन्ति ।"-**सूत्र० शी० १।१२ । स्था० अभ० ४।४।३४५ ।** "कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तद्येषामस्ति ते अज्ञानिकाः ते च वादिनश्चेत्यज्ञाननिकवादिनः । ते चाज्ञानमेव श्रेयः, असञ्चिन्त्यकृत-कर्मबन्धवैफल्यात्,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा न ज्ञानं कस्यापि क्वचिदपि वस्तुन्यस्ति प्रमाणानामसंपूर्णवस्तुविषयत्वादित्या-द्यभ्युपगमवन्तः ।''-**भग० अभ० ३०।१ ।** अथवा अज्ञानेन चरन्तीति अज्ञानिकाः असञ्चिन्त्यकृतबन्ध-वैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः । तथाहि ते एवमाहुः - न ज्ञानं **श्रेयः... नन्दि० मलय० पृ० २१५ B ।**

(A-27) ''ते चामी-जीवादयो नव पदार्थाः उत्पत्तिश्च दशमी, 'सत् असद् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्यः' इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैः विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति । भावना चेयम्-सन् जीव इति को वेत्ति । किं वा तेन ज्ञातेन । असन् जीव इति को जानाति । किं वा तेन ज्ञातेन । इत्यादि । एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः । नवसप्तकाः त्रिषष्टिः । अमी चान्ये चत्वारः त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति । किं वाऽनया ज्ञातया । एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति । किं वानया ज्ञातयेति ? शेषविकल्पत्रयमुत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम् । एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात् । सप्तषष्टिर्भवन्ति ।''-**आचा० शी- १।१।१।४ । नन्दि० मलय० पृ० २१७ । सूत्र० शी० १।१२ । स्था० अभ० ४।४।३४५ ।** ''को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि । अवयणजुदसत्ततयं इदि भंगा होंति तेसट्ठी । को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोण्णिपंतिभवा । चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी ॥-जीवादि नवपदार्थेषु एकैकस्य अस्त्यादिसप्तभङ्गेषु एकैकेन जीवोऽस्तीति को जानाति । जीवो नास्तीति को जानाति । इत्याद्यालापे कृते त्रिषष्टिर्भवन्ति । पुनः शुद्धपदार्थ इति लिखित्वा तदुपरि अस्ति नास्ति अस्तिनास्ति अवक्तव्य इति चतुष्कं लिखित्वां एतत्पङ्क्तिद्वयसंभवाःखलु भङ्गाः शुद्धपदार्थोऽस्तीति को जानीते । इत्यादयश्चत्वारो भवन्ति । एवं मिलित्वा अज्ञानवादाः सप्तषष्टिः ।''-**गो० कर्म० टी० गा० ८८६-८७ ।**

(A-28) ''तत्र सन् जीव इति को वेत्ति इत्यस्यायमर्थः-न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते, न च तैर्ज्ञातैः किंचित्फलमस्ति । तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुण-व्यतिरिक्तो वा, ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति तस्मादज्ञानमेव श्रेयः । अपि च, तुल्येऽप्यपराधे अकामकरणे लोके स्वल्पो दोषः, लोकोत्तरेऽपि आकुट्टिकानाभोगसहसाकारादिषु क्षुल्लकभिक्षुकस्थविरोपाध्याय-सूरीणां यथाक्रममुत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तमिति ।''-**आचा० शी० १।१।१।४ । नन्दि० मलय० पृ० २१७ बी० ।**

(A-29) ''सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्''-**सर्वार्थसि० ८१ ।** ''तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिको व्यवस्थिताः'' **सूत्र० शी० १।६।२७ ।** ''तथा वैनयिका विनयादेव केवलात् स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्तः मिथ्यादृष्टयः....''-**सूत्र० शी० १।१२ ।** ''विनयेन चरति स वा प्रयोजन एषामिति वैनयिकाः ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः, विनय एव वा वैनयिकं तदेव ये स्वर्गादिहेतुतया वदन्त्येवंशीलाश्च ते वैनयिकवादिनः विधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणाः....'' **भग० अभ० ३०।१ । स्था० अभ० ४।४।३४५ ।**

(A-30) ''वसिष्ठपाराशरजतुकर्णिवाल्मीकिरोमर्षिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रोपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत् । एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ठ्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते ।''-**राजवा० पृ० ५१ ।**

(A-31) ''सुरनृपयतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृष्वष्टसु मनोवाक्कायप्रदानचतुर्विधविनयकरणात् । तद्यथा देवानां विनयं करोति मनसा वाचा कायेन तथा देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि । एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति । नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणो हि विनयः, सर्वत्र चैवंविधेन विनयेन देवादिषु उपतिष्ठमानः

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर्गापवर्गभाग् भवति।''-**आचा० शी० १।१।१४। सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दि० मलय० पृ० २१७ बी०।** ''मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणिजदिवुड्ढे। बाले मादुपिदुम्मि च कायव्वो चेदि अट्ठचऊ ॥ - देवनृपतिज्ञानियतिवृद्धबालमातृपितृष्वष्टसु मनोवचनकायदानविनयाश्चत्वारः कर्तव्याश्चेति द्वात्रिंशद्वैनयिकवादाः स्युः।'' **गो० कर्म० टी० गा० ८८८।**

(A-32) ''नानी(रो)श्वरजं केचित् केचित् सोमाग्निसंभवं लोकम्। द्रव्यादिषड्विकल्पं जगदेतत् केचिदिच्छन्ति।'' **लोकत० १४१।**

(A-33) ''इच्छन्ति काश्यपीयं केचित्सर्वं जगन्मनुष्याद्यम्। दक्षप्रजापतीयं त्रैलोक्यं केचिदिच्छन्ति॥'' - **लोकत० १।४५।**

(A-34) ''केचित्प्राहुर्मूर्तिस्त्रिधा गतैका हरिः शिवो ब्रह्मा। शंभुर्बीजं जगतः कर्ता विष्णुः क्रिया ब्रह्मा॥ वैष्णवं केचिदिच्छन्ति केचित्कालकृतं जगत्। ईश्वरप्रेरितं केचित् केचिद् ब्रह्मविनिर्मितम्॥ अव्यक्तप्रभवं सर्वं विश्वमिच्छन्ति कापिलाः। विज्ञप्तिमात्रं शून्यं च इति शाक्यस्य निश्चयः॥ पुरुषप्रभवं केचित् दैवात् कैचित् प्रभावतः। अक्षरात् क्षरितं केचित् केचिदण्डोद्भवं जगत्॥ यादृच्छिकमिदं सर्वं केचिद् भूतविकारजम्। केचिच्चानेकरूपं तु बहुधा संप्रधाविताः॥'' **लोकत० १।४६-५०।**

(A-35) ''जले विष्णुः स्थले विष्णुराकाशे विष्णुमालिनि। विष्णुमालाकुले लोके नास्ति किंचिदवैष्णवम्॥ सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमाल्लोंके सर्वमाश्रित्य तिष्ठति॥'' **लोकत० १।५१-५२।**

(A-36) ''तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजङ्गमे। नष्टामरनरे चैव प्रनष्टोरगराक्षसे॥ केवलं गह्वरीभूते महाभूतविवर्जिते। अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तपः॥ तत्र तस्य शयानस्य नाभौ पद्मं विनिर्गतम्। तरुणार्कमण्डलनिभं हृद्यं काञ्चनकर्णिकम्॥ तस्मिंस्त्व पद्मे भगवान् दण्डकमण्डलुयज्ञोपवीतमृगचर्म-वस्त्रसंयुक्तः। ब्रह्मा तत्रोत्पन्नः तेन जगन्मान्तरः सृष्टाः। अदितिः सुरसंघानां दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम्। विनता विहंगमानां माता विश्वप्रकाराणाम्। कद्रूः सरीसृपाणां सुलसा माता तु नागजातीनाम्। सुरभिश्चतुष्पदानाम् इला पुनः सर्वबीजानाम्॥ प्रभवस्तासां विस्तरमुपागतः केचिदेवमिच्छन्ति॥'' **लोकत० १।५४-६०।**

(A-37) ''पद्मजब्रह्मजनित (मातृज) म् आ०। - पद्मजं त एव ब्रह्मज भ० २।''

(A-38) ''केचिद्वदन्त्यवर्ण सृष्टं वर्णादिभिस्तेन। कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेसु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥'' **लोकत० १।६०-६१।**

(A-39) ''प्रकृतीनां यथा राजा रक्षार्थमिव चोद्यतः। तथा विश्वस्य विश्वात्मा स जागर्ति महेश्वरः॥ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च॥ सूक्ष्मोऽचिन्त्यो विकरणगणः सर्ववित् सर्वकर्त्ता, योगाभ्यासादमलिनधिया योगिना ध्यानगम्यः। चन्द्रार्काग्निक्षितिजल-मरुद्दीक्षिताकाशमूर्तिः। ध्येयो नित्यं शमसुखरतैरीश्वरः सिद्धिकामैः॥''-**लोकत० १।६२-६४।**

(A-40) ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शुद्रोऽजायत॥१२॥ अस्य प्रजापतेर्ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषो मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टः स बाहूकृतो बाहुत्वेन निष्पादितो बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यद्यावुरू तद्रूपो वैश्यः संपन्नः उरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तथाऽस्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत। इयं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजु संहितायां सप्तमकाण्डे स मुखतस्त्रिवृत्तं निरमिमीत इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता।" **ऋक्० पुरुषसू०** । "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञात-मलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ लोकानां स च वृद्धयर्थं मुखाबाहुरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च विन्यवर्तयत् ।"-**लोकत० १।६५-६७** । "एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽणुभ्यः पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमारभ्यते । तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते । स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्माऽतिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसंपन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णान् अन्यानि चोच्चावचानि सृष्ट्वा...." **प्रश० भा० पृ० २२ ।**

(A-41) "इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः । प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥" **सांख्यका० ५६ ।**

(A-42) "विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशपाशादिदर्शनम् ॥" **विज्ञप्ति० श्लो० १ ।**

(A-43) "अक्षरात् क्षरितः कालस्तस्माद् व्यापक इष्यते । व्यापकादिप्रकृत्यन्तां तां हि सृष्टिं प्रचक्षते । अक्षरांशस्ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलम् । जलात् प्रसूता पृथ्वी भूतानामेष संभवः ॥" **लोकत० २।२३-२४ ।**

(A-44) "नारायणपराव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् । अण्डस्यान्तस्त्वमी भेदाः सप्त द्वीपा च मेदिनी । गर्भोदकं समुद्राश्च जरायुश्चापि पर्वताः । तस्मिन्नण्डे त्वमी लोकाः सप्त सप्त प्रतिष्ठिताः ॥ तत्रेहाद्यः स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मना ध्यात्वा तदण्डमकरोद् द्विधा ॥ ताभ्यां स शकलाभ्यां तु दिवं भूमिं च निर्ममे ।" **लोकत० २।२५-२७।**

(A-45) "हेतुरहिता भवन्ति हि भावा : प्रतिसमयभाविनश्चित्राः । भावादृते न भाव्यं संभवरहितं खपुष्पमिव ॥" **लोकत० २।२८ ।**

(A-46) "प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥" **लोकत० २।२९ ।**

(A-47) "प्रतिसमयं परिणामः प्रत्यात्मगतश्च सर्वभावानाम् । संभवति नेच्छयापि स्वेच्छा क्रमवर्तिनी यस्मात् ॥" **लोकत० २।३० ।**

(A-48) "कारणानि विभिन्नानि कार्याणि च यतः पृथक् । तस्मात्त्रिष्वपि कालेषु नैव कर्मास्ति निश्चयः ॥" **लोकत० २।३५ ।**

(A-49) एतेषां निकायानां वर्णनं विनयपिटकभूमिकायामित्थम् - "चुल्लवग्गके सप्तशतिकास्कन्धक (पृ० ५४९) से मालूम है कि-बुद्धनिर्वाण के १०० वर्ष बाद बौद्धभिक्षु दो निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गये। प्राचीन बातों के दृढ पक्षपाती स्थविर कहलाते थे और विनयविरुद्ध कुछ नयी बातों के प्रचार करनेवाले महासांघिक। पाली की कथावत्थुअट्ठकथा, दीपवंस, महावंस तथा कुछ और ग्रन्थों के अनुसार बुद्धनिर्वाण के २२० वर्षों बाद सम्राट् अशोक के समय महासांघिकों और स्थविरों में फिर कितने ही छोटे-मोटे मतभेद होकर १८ निकाय हो गये। कथावत्थुअट्ठकथा के अनुसार यह शाखाभेद इस प्रकार है -

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

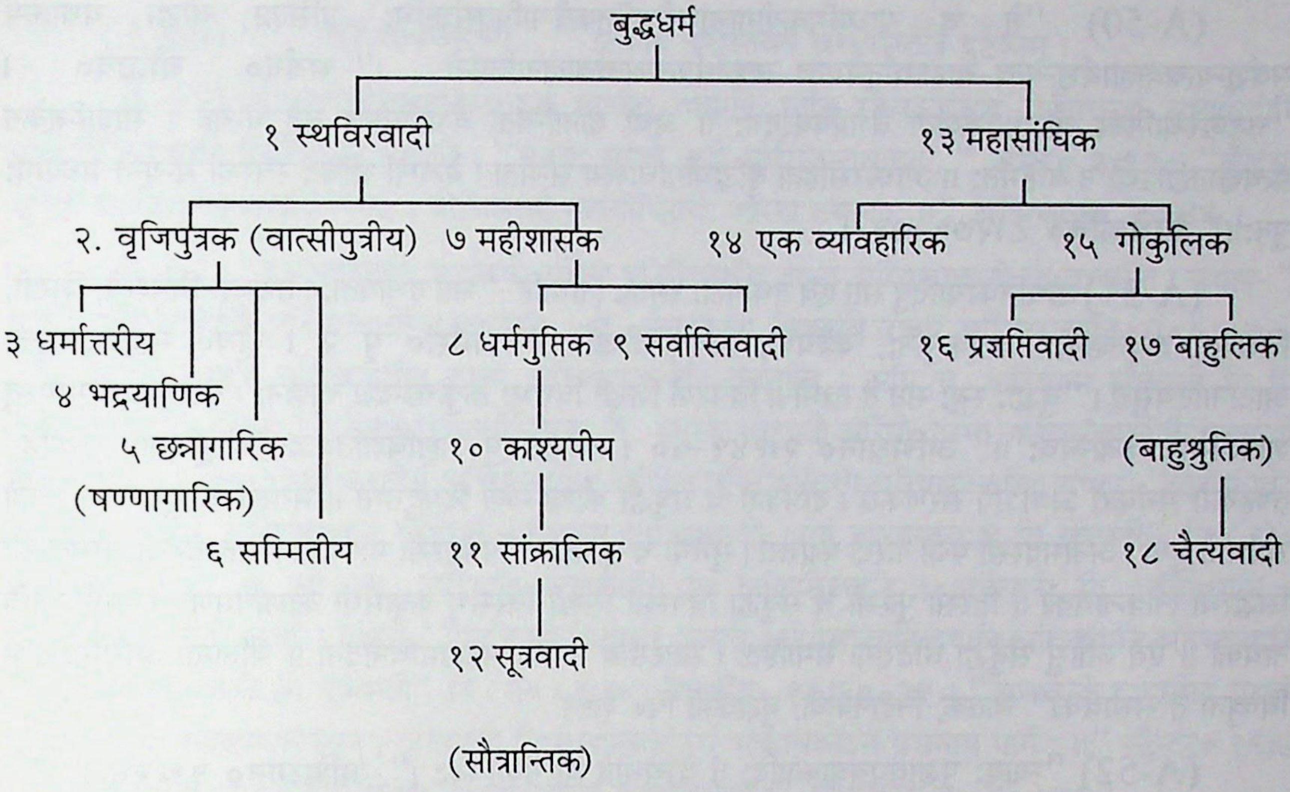

चीनी भाषा में अनुवादित भदन्त वसुमित्र प्रणीत अष्टादशनिकाय ग्रन्थ के अनुसार यह अठारह शाखाभेद इस प्रकार है –

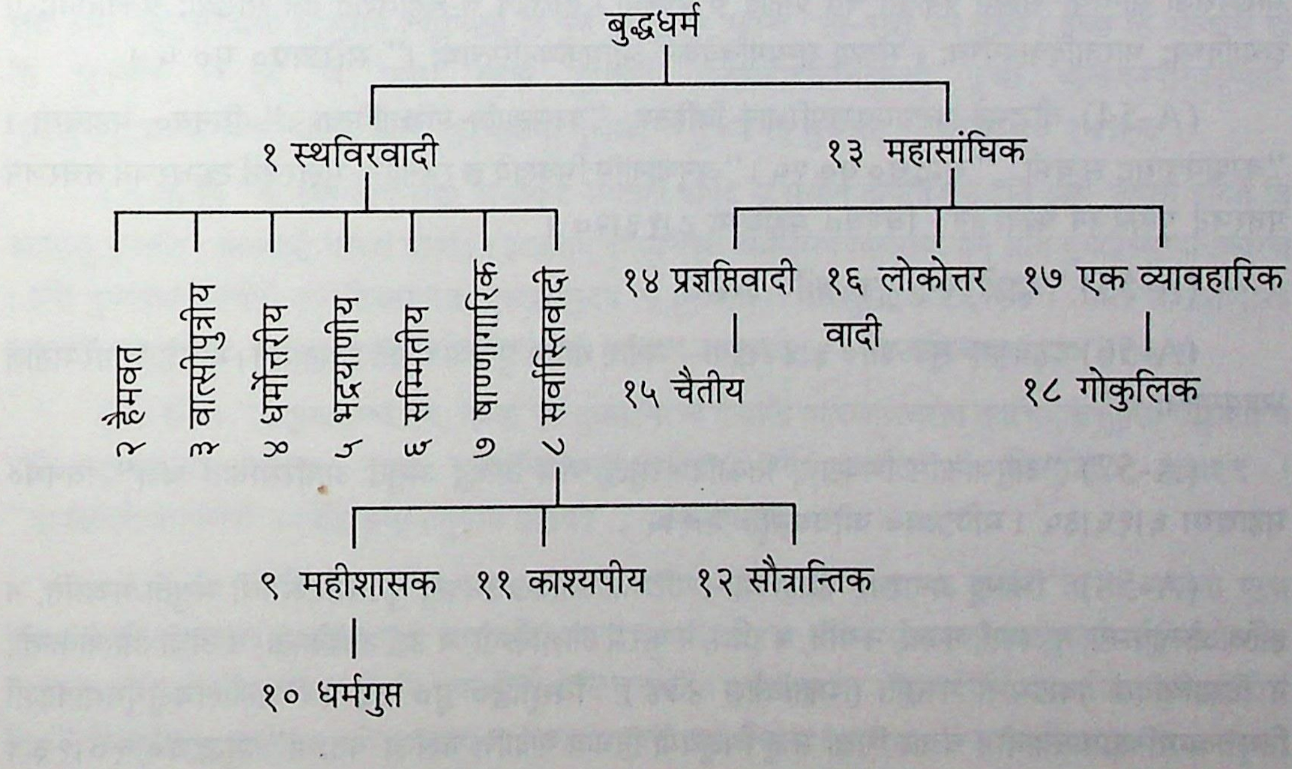

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(A-50) "ते च माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषितसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्वबाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते ।"-**सर्वद० बौद्धद०** । "चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥ अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते । सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥ आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता । केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः॥" **विवेकवि० ८।२७१-७३ ।**

(A-51) दीघनिकायादिषु सप्त एव तथागताः स्मृताः । तथाहि-"सप्त तथागताः । तद्यथा-विपश्यी, शिखी, विश्वभूः, क्रकुच्छन्दः, कनकमुनिः, कश्यपः, शाक्यमिनिश्चेति ।" **धर्मसं० पृ २ ।** दीघ० महापदानसुत्त, आटानाटियसुत्त । "बुद्धाः स्युः सप्त ते त्वमी ॥ विपश्यी शिखी विश्वभूः क्रकुच्छन्दश्च काञ्चनः । काश्यपश्च सप्तमस्तु शाक्यसिंहोऽर्कबान्धवः ॥" **अभिधान० २।१४९-५० ।** जातकादिषु अष्टाविंशतिर्बुद्धाः संसूचिताः, तथाहि-तण्हंकरो मेघंकरो अथोऽपि सरणंकरो । दीपंकरो च संबुद्धो कौण्डञ्ञो दिपदुत्तमो ॥ मंगलो च सुमनो च रेवतो सोभितो मुनी । अनोमदस्सी पद्मो नारदो पद्मुत्तरो । सुमेघो च सुजातो च पियदस्सी महायसो । अत्थदस्सी धम्मदस्सी सिद्धत्थो लोकनायको ॥ तिस्सो फुस्सो च संबुद्धो विपस्सी सिखी विस्सभू ककुसंघो कोणागमणो कस्सपो चापि नायको ॥ ऐते अहेसुं संबुद्धा वीतरागा समाहिता । सतरंसीव उप्पन्ना महातमविनोदना ॥ जलिन्ता अग्गिखन्दाभ बिव्वुता ते ससावका" जातक, निदानकथा, बुद्धवंसो पि० २७ ।

(A-52) "न्यायः पञ्चावयववाक्यादिः तं वेत्त्यधीते वा नैयायिकः ।"-**अभिधान० ३।५२६ ।**

(A-53) "पञ्चविंशतेस्तत्त्वानां संख्यानं संख्या, पदधिकृत्य कृतं शास्त्रं सांख्यं तद्वेत्ति अधीते वा सांख्यः ।" **अभिधान० ३।५२६ ।** "सांख्यां संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते ।" **मात्स्यपु० अ० ३ ।** "अस्य च सांख्यसंज्ञा सान्वया-संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते । तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥ इत्यादिभ्यः भारतादिवाक्येभ्यः । संख्या सम्यग्विवेकेन आत्मकथनमित्यर्थः ।" **सांख्यप्र० पृ० ५ ।**

(A-54) बौद्धमते काषायवस्त्रपरिधानं विहितम्, "कासावानि परिधापित्वा..." विनय० महावग्ग । "काषायवासाः स बभौ..." **बुद्धच० पृ० १५ ।** "अनुजानामि भिक्खवे छ रजनानि-मूलरजनं खन्धरजनं तचरजनं पत्तरजनं पुप्फरजनं फलरजनं" **विनय० महावग्ग ८।१३।२० ।**

(A-55) "उद्धृतोऽयम्-सूत्र० **शी० ३।४ ।**"

(A-56) उद्धृतेयम्-सूत्र०**शी० ३।४ ।** छाया-"मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने । मनोज्ञे अगारे मनोज्ञं ध्यायन्मुनिः ॥"

(A-57) "अनुजानामि भिक्खवे, तिकोटिपरिसुद्धं, मंसं अदिट्ठं असुतं अपरिसंकितं च ।" विनय० **महावग्ग ६।१६।३५ । मज्झिम० जीवकसु० २।१।५ ।**

(A-58) "भिक्खु अन्तरघरं पविट्ठो बीथिं पटिपन्नो ओक्खित्तचक्खु युगमत्तदस्सावी संवुतो गच्छति, न हत्थिं ओलोकेन्तो, न अस्सं, न रथं, न पत्तिं, न इत्थिं, न पुरिसं ओलोकेन्तो, न उद्धं उल्लोकेन्तो, न अधो ओलोकेन्तो, न दिसाविदिसं पेक्खमानो गच्छति (**महानिद्देस ४७४**)" **विसुद्धि० पृ० १३ ।** "अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी । चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥" **शुद्धच० १०।१३ ।**

(A-59) "तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि । तद्यथा बुद्धो धर्मः संघश्चेति ।" **धर्मसं० पृ० १ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(A-60) ".... तारिण्यापच्छरण्ये....." इत्यादि तारास्तवनं स्रग्धरास्तोत्रे द्रष्टव्यम्।

(A-61) महाव्युत्पत्तौ तथागतस्य बुद्ध-भगवान्-तथागत-अर्हन्-सम्यक्संबुद्ध-विद्याचरण-सम्पन्नादीनि एकाशीति नामानि लिखितानि विद्यन्ते। "सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागत..." **अमर० १।१३।** "बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुस्त्रिकालविज्जिनः। बोधिसत्त्वो महाबोधिरार्यः शास्ता तथागतः॥" **अभिधान० २।१४६।**

(A-62) "यस्मापनेतानि बुद्धादयो अरिया पटिविज्झन्ति तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ति। यथाह-" चत्तारिमानि भिक्खवे अरियसच्चानि। कतमानि.... पे....इमानि खो, भिक्खवे चत्तारि अरियसच्चानि (सं० ५।४२५-२६) अरिया इमानि पटिविज्झन्ति तस्मा अरियसच्चानीति वुच्चन्ति। अपि च, अरियस्स सच्चानी ति पि अरियसच्चानि। यथाह-"सदेवके भिक्खवे, लोके.. पे.. मनुस्या तथागतो अरियो, तस्मा अरियसच्चानीति वुच्चन्ती ति" **(सं० ५।४३५)** अथवा एतेसं अभिसम्बुद्धता अरियभावसिद्धितोऽपि अरियसच्चानि। यथाह - "इमेसं खो, भिक्खवे, चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धता तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धो ति वुच्चती" ति **(सं० ५।४३३)** अपि च खो पन, अरियानि सच्चानीति पि अरियसच्चानि। अरियानी ति अवितथानि। अविसंवादकानीति अत्थो। यथाह-"इमानि खो भिक्खवे, चत्तारि अरियसच्चानि तथानि अवितथानि अनञ्ञथानि तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ती" ति (सं० ५।४३५) **विसुद्धि- १६।२०-२१।** "बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयम्। दुःखक्षयो निःसरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽयं प्रशमाय मार्ग :॥" सौन्दर० १६।४। "आर्याणामेव तत्सत्यमिति कृत्वा आर्यसत्यमिति व्यवस्थाप्यते।" माध्यमिक वृ० पृ० ४७६।

(A-63) "इह हि पूर्वहेतुजनिता प्रतीत्यसमुत्पन्नाः पञ्चोपादानस्कन्धाः दुःखदुःखतया विपरिणामदुःखतया संस्कारदुःखतया च प्रतिकूलवर्तित्वाच्च पीडात्मकत्वेन दुःखमित्युच्यते।"-**माध्यमिक० वृ० पृ० ४७९।** "दु इति अयं सद्दो कुच्छिते दिस्सति। कुच्छितं हि पुत्तं दुपुत्तो ति वदन्ति। ख-सद्दो पन तुच्छे। तुच्छं हि आकासं खं ति वुच्चति। इदं च पठमं सच्चं कुच्छितं अनेकउपद्दवाधिट्ठानतो तुच्छं बालजनपरिकप्पित-धुवसुभसुखत्तभावविरहिततो, तस्मा कुच्छितत्ता तुच्छता च दुक्खं ति वुच्चति।" **विसुद्धि० १६।१६।**

(A-64) "सं इति अयं सद्दो, समागमो समेतंति आदि सु संयोगं दीपेति। उ इति अयं, उप्पन्नं उदितं ति आदिसु उप्पत्तिं। अयसद्दो कारणं दीपेति। इदञ्चापि दुतियसच्चं अवसेसपच्चयसमायोगे सति दुक्खस्सुप्पत्तिकारणं। इति दुक्खस्स संयोगे उप्पत्तिकारणत्ता दुक्खसमुदयं ति वुच्चति।" **विसुद्धि० १६।१७।** "यतो हि हेतोर्दुःखं समुदेति समुत्पद्यते स हेतुः तृष्णाकर्मक्लेशलक्षणः समुदय इत्युच्यते॥" **माध्यमिकवृ० पृ० ४७६॥**

(A-65) "चतुत्थसच्चं पन, यस्मा एतं दुक्खनिरोधं गच्छति आरम्भणवसेन तदभिमुखभूतत्ता पटिपदा च होति दुक्खनिरोधप्पत्तिया, तस्मा दुक्खनिरोधगामिनिपटिपदा ति वुच्चति।" **विसुद्धि० १६।१९।** "दुःखनिरोधगामिनी आर्याष्टाङ्गमार्गानुगमा प्रतिपत् ... **माध्यमिकवृ० पृ० ४७७॥**

(A-66) "ततियसच्चं पन, यस्मा निसद्दो अभावं, रोध-सद्दो च चारकं दीपेति, तस्मा अभावो एत्थ संसारचारकसङ्खातस्स दुक्खरोधस्स सव्वगतिसुञ्ञता, समधिगते वा तस्मिं संसारचारकसङ्खातस्स दुक्खरोधस्स अभावो होति तप्पटिपक्खत्ता ति पि दुक्खनिरोधं ति वुच्चति। दुक्खस्स वा अनुप्पादनिरोधपच्चयता दुक्खनिरोधं ति।" **विसुद्धि० १६।१८।** "दुःखस्य च विगमोऽपुनरुत्पादो निरोध इत्युच्यते।" **माध्यमिकवृ० पृ० ४७७।**

(A-67) "श्लोकोऽयं शब्दकल्पद्रुमकोशे आदिशब्द निरुपणावसरे समृद्धृतः।"

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(A-68) "कतमञ्च भिक्खवे दुक्खं अरियसच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, सङ्खित्तेन पञ्चूपादानक्खन्धापि दुक्खा।" दीघ- महासतिपट्ठान- (**विभंस० ९९**) **विसुद्धि० १६।३१।** "एत्थ हि बाधनलक्खणं दुक्खसच्चं सन्तापनरसं, पवत्तिपच्चुपट्ठानं।" विसुद्धि० १६।२३। ""सङ्खितेन पञ्चुपादानक्खंधा दुक्खानि।" **विसुद्धि० १६।५७।** "दुःखं संसारिणः स्कन्धाः" **प्रमाणवा० १।१४९।**

(A-69) "इतः प्रभृति अष्टमश्लोकान्तं यावत् सार्धं श्लोकत्रयं आदिपुराणे **(५।४२-४५)** विवेकविलासे **(८।२६८-७०)** च वर्तते। द्रष्टव्यम्-सर्वद० **सं० पृ० ४६।**"

(A-70) "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः।" **अभिध० १।१६।** "किञ्चि विजाननलक्खणं सव्वं तं एकतो कत्वा विञ्ञाणक्खंधो वेदिततव्वो ति हि वुत्तं.. विजानाति विजानाती खो आवुसो तस्मा विञ्ञाणं ति वुच्चती" ति (म० १।२९२) **विसुद्धि० १४।८२।**

(A-71) "वेदनाऽनुभवः" **अभिध० १।१४।** "यं किंचि वेदयितलक्खणं सव्वं तं एकतो कत्वा वेदनाक्खंधो वेदितव्वो ति।" **विसुद्धि० १४।१२५।**

(A-72) "संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका। निमित्तं नीलपीतदीर्घह्रस्वपुरुषस्त्रीशत्रुमित्रशाताशात-स्वभावाः तेषाम् उद्ग्रहणं मनसि धारणमेव स्वरूपं संज्ञास्कन्धस्य।" **अभिध० टी० १।१४।** "यं किंचि संजाननलक्खणं सव्वं तं एकतो कत्वा सञ्ञाक्खंधो वेदितव्वो ति। एत्थापि संजाननलक्खणं नाम सञ्ञा व। यथाह-संजानाति संजानातीति-खो आवुसो तस्मा सञ्ञा ति वुच्चती" **ति (म० १।२९३) विसुद्धि० १४।१२९।**

(A-73) "चर्तुभ्योऽन्ये संस्काराः संस्कारस्कन्धः"-**अभिध० १।१५। विसुद्धि- १४।१३१।**

(A-74) "रूपं पञ्चेन्द्रियाण्यर्थाः पञ्चाऽविज्ञप्तिरेव च।" अभिध० १।९। "तत्थ यं किंचि सीतादीहि रुप्पनलक्खणं धम्मजातं सव्वं तं एकतो कत्वा रूपक्खंधो ति वेदितव्वं। तदेतं रुप्पनलक्खणेन एकविधं पि भूतोपादायभेदतो दुविधं। तत्थ भूतरूपं चतुव्विधं-पथवीधातु आपोधातु तेजोधातु वायोधातू ति। उपादायरूपं चतुवीसविधं..." **विसुद्धि० १४।३४-३६।**

(A-75) "अयमेव अरियो अट्ठंगिको मग्गो दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा.." **सं० नि०। विसुद्धि० १६।६५।**

(A-76) "कतमं च भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं? यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो।" **दीघ० महासति० विसुद्धि० १६।६२।**

(A-77) तत्रेदमुक्तं भगवता-"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते॥" **तत्त्वसं० पं० पृ० ११। बोधिच० प० पृ० ३७६। तन्त्रवा० पृ० १२०।** "उक्तं च क्षणिकाः सर्वसंस्काराः विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः यदिदं त्रैधातुकम्" **सन्मति० टी० पृ० ७३१।**

(A-78) "उत्पादानन्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः। तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत्क्षणिकं मतम्॥" **तत्त्वसं० श्लो० ३८८।**

(A-79) "तथाहि-भावः स्वहेतोरुत्पद्यमानः कदाचित्प्रकृत्या स्वयं नश्वरात्मैवोत्पद्यते, अनश्वरात्मा वा..

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ अनश्वरात्मेति पक्षस्तदापि नाशहेतुरकिंचित्कर एव। तस्य केनचित्स्वभावान्यथाभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्।" **तत्त्वसं० पृ० १४०।**

(A-80) "यथा यत् सत् क्षणिकमेव, अक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते।" **हेतुवि० पृ० ५४।** "यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि-स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगा-दर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात्। सर्वसामर्थ्योपाख्य विरहलक्षणं हि निरुपाख्यमिति ॥..... यत्र क्रमयोगपद्यायोगो न तस्य क्वचित् सामर्थ्यम्, अस्ति चाक्षणिके स इति प्रवर्तमानमसामर्थ्यमसल्लक्षणमाकर्षति। तेन य(त्स)त्कृतकं वा तदनित्यमेवेति सिध्यति। तावता साधनधर्ममात्रान्वयः साध्यधर्मस्य स्वभावहेतुलक्षणं सिद्धं भवति।"-**वादन्यायः पृ० ६-९।** "क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रिया कृता। न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ते ततो मताः। कार्याणि हि विलम्बन्ते कारणासन्निधानतः। समर्थहेतुसद्भावे क्षेपस्तेषां हि किंकृतः ॥ अथापि सन्ति नित्यस्य क्रमिणः सहकारिणः। यानपेक्ष्य करोत्येव कार्यग्रामं क्रमाश्रयम् ॥ साध्वेतत्किंतु ते तस्य भवन्ति सहकारिणः। किं योग्यरूपहेतुत्वादेकार्थकरणेन वा ॥ योग्यरूपस्य हेतुत्वे स भावस्तैः कृतो भवेत्। स चाशक्यक्रियो यस्मात्तत्स्वरूपं तदा स्थितम्। कृतौ वा तत्स्वरूपस्य नित्यतास्यावहीयते। विभिन्नोऽतिशयस्तस्माद्यद्यसौ कारकः कथम् ॥" **तत्त्वसं० श्लो० ३९४-९९।**

(A-81) "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्। अन्यत् संवृत्तिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥" प्र० वा० २।३। "अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः।" **न्यायबि० सू० १।१५।**

(A-82) "अपेक्षेत परः कार्यं यदि विद्यते किंचन।" **प्र० वा० ३।२७९।**

(A-83) "योगपद्यं च नैवेष्टं तत्कार्याणां क्षयेक्षणात्। निःशेषाणि च कार्याणि सकृत्कृत्वा निवर्तते। सामर्थ्यात्मा स चेदार्थः सिद्धाऽस्य क्षणभङ्गिता ॥" तत्त्वसं० ४१३-१४।

(A-84) "क्रमाक्रमाभावस्यार्थक्रियासामर्थ्याभावेन व्याप्तत्वात्। तथा हि न तावत् क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारोऽस्ति, येनार्थक्रियासंभावनायां क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिर्न स्यात्। तस्मादर्थक्रियामात्रानुबद्धतया तयोरन्यतर-प्रकारस्य। उभयोरभावे चाभावादर्थक्रियामात्रस्येति ताभ्यां तस्य व्याप्तिसिद्धिः।"-**क्षणभ० सि० पृ० ५५।**

(A-85) "सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा, सदृशे हि तदेवेदमिति बुद्धिर्यमजे। अत्रापि सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो लूनपुनर्जातकेशनखादिवत्..." **प्र० वार्तिकाल० २।२०९।** "तस्मात् सदृशापरभाव-निबन्धन एवायं केशकदलीस्तम्बादिष्विव आकारसाम्यतामात्रापहृतहृदयानां भ्रान्त एव तत्त्वाध्यवसायो मन्तव्यः... (पृ० ८६) सदृशापरभावग्रहकृतश्च अर्वाग्दर्शनानामेकत्वविभ्रमो लूनपुनर्जातेष्विव नखकेशादिष्विति किन्नेष्यते (पृ० १२०)। सदृशापरभावनिबन्धनं चैकतया प्रत्यभिज्ञानं लूनपुनर्जातेष्विव केशनखादिषु इत्यत्र विरोधाभावादिति।" (पृ० १३६)-**हेतुबि० टी०।** "तुल्येत्यादिना भदन्तशुभगुप्तस्य परिहारमाशङ्कते-तुल्यापरक्षणोत्पादाद्यथा नित्यत्वविभ्रमः। अविच्छिन्नसजातीयग्रहे चेत्स्थूलविभ्रम :।" **तत्त्वसं० का० १९७२।**

(A-86) "आयतनानीति द्वादशायतनानि चक्खायतनं, रूपायतनं, सोतायतनं, सद्दायतनं, घानायतनं, गन्धायतनं, रसायतनं, कायायतनं, फोट्ठब्बायतनं, मनायतनं, धम्मायतनं ति।" **वि० म० पृ० ३३४।**

(A-87) "न चैवाक्षणिकस्य क्वचित् कदाचित् शक्तिरस्ति, क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रियाशक्तिविरहात्। इत्थं च यत् सत् तत् क्षणिकमेवेति व्याप्तिसिद्धिः। नैव प्रत्यक्षतः कार्यविरहाद्वा सर्व्वशक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंतु तद्व्यापकविरहात् । तथा हि-क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोस्तयोरक्षणिकत्वे विरोधात् निवृत्तेस्तद्व्याप्तायाः कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्व्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति, विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति- यत् सत् तत् क्षणिकमेव इत्यन्वयव्यतिरेकरूपाया व्याप्तेः सिद्धिर्निश्चयो भवति ।" **हेतुबि० पृ० १४६ ।**

(A-88) "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं, अर्थक्रियास्थितिः । अविसंवादनं ।"-**प्र० वा० १।३ ।** "अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् ।" **न्यायबि० टी० पृ० १७ ।**

(A-89) "लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते । तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम्, नान्यत् । तथाहि-न जनयदर्थं प्रापयति, अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् ।" **न्यायबि० टी० पृ० १७ ।**

(A-90) "प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम् । प्रापकत्वाच्च प्रमाणम् ॥" **न्यायबि० टी० पृ० २१**

(B-1) तुलना - "मूलातिशयाश्चत्वारः । तद्यथा-अपायापगमातिशयः, ज्ञानातिशयः, पूजतिशयः, वागतिशयश्च ।" - **अनेकान्तज० स्व० पृ० ४ ।** "यथाक्रमं भगवतो मूलातिशयाश्चत्वारः स्मृतिमुकुर-भूमिकामानीयन्ते । तद्यथा-अपायापगमातिशयो... एतेषां चातिशयानामियमुपन्यासे तथोत्पत्तिरेव निमित्तम्, तथाहि-नाविजितरागद्वेषो विश्ववस्तुज्ञाता भवति । न चाविश्ववस्तुज्ञः शक्रपूज्यः संपद्यते । न च शक्रपूजाविरहे भगवांस्तथा गिरः प्रयुङ्क्त इति ।" - **स्या० र० पृ० ४ । स्या० म० का० १ । काललो० श्लो० ९१७ ।**

(B-2) "यथा हि अंगसंभारा होति सद्दो रथो इति । एवं खंधेसु होति सत्तोति सम्मुति ॥" मिलिन्द० । "नन्वनित्येषु भावेषु कल्पना नाम जायते-यथोपवर्णितेन न्यायेन स्वरूपसिद्धस्य स्कन्धव्यतिरिक्तस्यात्मनः सर्वथाऽभावात् । नन्वनित्येषु रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानाख्येषु भावेषु आत्मेति कल्पना अभूतार्थारोपणं क्रियते आत्मा सत्त्वो जीवो जन्तुरिति । यथाहि इन्धनमुपादायाग्निः एवं स्कन्धानुपादाय आत्मा प्रज्ञप्यते ।" **चतुःश० वृ० १०।३ ।** "नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम् । अन्तराभवसंतत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥" **अभिध० ३।१८ । बोधि० पं० पृ० ४७४ ।** "स एवं स्कन्धसमुदायलक्षणः प्रज्ञप्तिसन्...." **तत्त्वसं० पृ० १३१ ।**

(B-3) "कतमं च भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं ? यायं तण्हा पोनोभविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेयथीदं कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा ।" **म० नि० महाहत्थि० । विसुद्धि० १६।६१**

(B-4) "यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्य अस्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टः केशोण्डुकाख्यः कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुटति । अथवा करसंमृदितलोचनरश्मिषु येयं केशपिण्डावस्था स केशोण्डुकः ।" **शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ९९ ।**

(B-5) "नोच्यते-यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति । अन्यो हि दर्शनकालः, अन्यश्च प्राप्तिकालः । किन्तु यत्कालं परिच्छिन्नं तदेव तेन प्रापणीयम् । अभेदाध्यवसायाच्च संतानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति ।" **न्यायबि० टी० पृ० २६ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(B-6) "द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य-ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवसति। अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः। प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः। अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन संतान एव। संतान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः । क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात् ।" **न्यायबि० टी० पृ० ७१ ।** "तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि ।" **न्यायबि० टी० पृ० ७१ ।**

(B-7) "अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥" **तत्त्वसं० श्लो० १३०६ ।**

(B-8) "अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह। नामजात्यादियोजना यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ-उच्यते डित्थ इति । जातिशब्देषु नीम्ना गौरियमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाक्य इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विवाणीति । अत्र संबन्ध विशिष्टस्येति केचित् । अन्य त्वर्थशून्यैः शब्दैरेव विशिष्टोऽर्थ इति । " **प्र० समु० वृ० पृ० १२ ।**

(B-9) "तत् चतुर्विधम् ।" **न्यायपि० १।७ ।**

(B-10) "इन्द्रियज्ञानम्। ८। इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम्। इन्द्रियाश्रितं यत् तत् प्रत्यक्षम्।" **न्यायबि० टी० १।८ ।** प्रत्ययसंज्ञकेन आ० क० ।

(B-11) "स्वविषयानन्तरविषयसहाकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तर प्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ।९। स्व आत्मीयो विषय इन्द्रियज्ञानस्य तस्य अनन्तरः-न विद्यतेऽन्तरमस्येति । अन्तरं च व्यवधानं विशेषश्चोच्यते । ततश्चान्तरे प्रतिषिद्धे समानजातीयो द्वितीयक्षणभाव्युपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्य गृह्यते । तथा च सति इन्द्रियज्ञानविषयक्षणादुत्तरक्षण एकसंतानान्तर्भूतो गृहीतः। स सहकारी यस्येन्द्रियज्ञानस्य तत् तथोक्तम्। द्विविधश्च सहकारी परस्परोपकारी एककार्यकारी च। इह च क्षणिके वस्तुन्यतिशयाधानाऽयोगा-देककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते । विषयविज्ञानाभ्यां हि मनोविज्ञानमेकं क्रियते यतस्तदनयोः परस्पर सहकारित्वम् । ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेनालम्बनभूतेनापि योगिज्ञानं जन्यते। तन्निरासार्थं समनन्तरप्रत्ययग्रहणं कृतम्। समश्चासौ ज्ञानत्वेन अनन्तरश्चासौ अव्यवहितत्वेन स चासौ प्रत्ययश्च हेतुत्वात् समनन्तरप्रत्ययः तेन जनितम् । तदनेनैकसन्तानान्तर्भूतयोरेवेन्द्रियज्ञान मनोविज्ञानयोर्जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति । ततो योगिज्ञानं परसंतानवर्ति निरस्तम् ।" **न्यायबि० टी० १।९ ।**

(B-12) "सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम् ।१०। सर्वचित्तेत्यादि । चित्तम् अर्थमात्रग्राहि चैत्ता विशेषावस्थाग्रहिणः सुखादयः सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्तचैत्ताः। सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात् स्वसंविदिता, नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम्। नास्ति सा काचित् चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात्। येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्।" **न्यायबि० टी० १।१० ।**

(B-13) "भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।११। भूतः सद्भूतोऽर्थः। प्रमाणेन दृष्टश्च सद्भूतः। यथा चत्वार्यार्यसत्यानि। भूतस्य भावना पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनम्। भावनायाः प्रकर्षो भाव्यमानार्थभासस्य ज्ञानस्य स्फुटाभत्वारम्भः। प्रकर्षस्य पर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वमीषदसंपूर्णं भवति। यावद्धि स्फुटाभत्वमपरिपूर्णं तावत् तस्य प्रकर्षगमनम्। संपूर्णं तु यदा तदा नास्ति प्रकर्षगतिः। ततः संपूर्णावस्थायाः प्राक्तन्यवस्था स्फुटाभत्वप्रकर्षपर्यन्त उच्यते। तस्मात् पर्यन्ताद् यज्जातं भाव्यमानस्यार्थस्य संनिहितस्येव स्फुटतराकारग्राहिज्ञानं योगिनः प्रत्यक्षम्।" **न्यायबि० टी० १।११ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(B-14) ''तस्मादनादितथाभूतानुमानपरम्पराप्रवृत्तमनुमानमाश्रित्य बहिरर्थकल्पनायां ग्राह्यग्राहकसंवेदनकल्पनाप्रवृत्तेः ग्राह्यादिकल्पना, परमार्थतः संवेदनमेवाविभागमिति स्थितम्।'' **प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९८** । युक्त्योपपन्ना हि सतीं प्रकल्प यद्वासनामर्थनिराक्रियेयम् । तथापि बाह्याभिनिवेश एष जगद् ग्रहग्रस्तमिदं समस्तम् । तस्माद्विभक्त आकारः सकलो वासनाबलात् । बहिरर्थत्वरहितस्ततोऽनालम्बना मतिः । अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः । तथा हीदमेवानालम्बनत्वं यदात्माकारवेदनत्वम् । **प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५९ ।**

(B-15) ''नान्योनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः । तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥'' **प्र० वा० २।३२७ ।**

(B-16) ''तथाऽनुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि । स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतः, ततः स्वलक्षणमवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य । अनर्थस्तुग्राह्यः ।'' **न्यायबि० टी० पृ० ७१ ।**

(B-17) ''अनुमानं द्विधा । स्वार्थं परार्थं च ।'' **न्यायबि० २।१, २ ।**

(B-18) ''त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि । अनुपलब्धि स्वभावः कार्यं चेति ।'' **न्यायबि० २।१०,११**

(B-19) ''सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।३०। स्वभावानुपलब्धिर्यथा-नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।३१। कार्यानुपलब्धिर्यथा-नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावादिति ।३२। व्यापकानुपलब्धिर्यथा-नात्र शिंशपा, वृक्षाभावादिति ।३३। स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नात्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति ।३४। विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा-नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति ।३५। विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा-न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशः हेत्वन्तरापेक्षणादिति ।३६। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, वह्नेरिति ।३७। व्यापकविरुद्धो-पलब्धिर्यथा-नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति ॥३८॥ कारणानुपलब्धिर्यथा नात्रधूमो वह्न्यभावादिति ॥३९॥ कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथानास्य रोमहर्षादिविशेषाः, सन्निहितदहनविशेषत्वादिति ।४०। कारणविरुद्ध-कार्योपलब्धिर्यथा न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशः धूमादिति ।४१। इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति ।४२।'' **न्यायबि० टी० ३०-४२ ।**

(B-20) ''स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः । यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति ।'' **न्यायबि० सू० १५, १६ ।**

(B-21) ''कार्यं यथा वह्निरत्र धूमादिति ।'' **न्यायबि० सू० १७ ।**

(B-22) ''स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य ।२१। वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च ।२२। अतत्स्वभावस्यातदुत्पतेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ।२३। ते च तादात्म्य-तदुत्पत्ती स्वभाव-कार्य-योरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।२४।'' **न्यायवि० सू० २१-२४ ।**

(B-23) ''अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ।'' **वैशे० सू० १।१।१** । ''अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च ।'' न्याय सू० १।१।५ । ''तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीतमवीतं च। तत्र अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्। व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। तत्र अवीतं शेषवत्। वीतं द्वेधा पूर्ववत्, सामान्यतो दृष्टञ्च...।" **सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ३०।**

(B-24) "यस्तर्हि समग्रेण हेतुना कार्योत्पादोऽनुमीयते स कथं त्रिविधे हेतावन्तर्भवति? हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते। अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः ॥९॥ असावपि यथासंनिहितात् नान्यमर्थमपेक्षत इति तन्मात्रानुबन्धी स्वभावः भावस्य। तत्र हि केवलं समन्तात् कारणात् कार्योत्पत्तिसम्भवोऽनुमीयते। समग्राणां कार्योत्पादनयोग्यतानुमानात्। योग्यता च सामग्रीमात्रानुबन्धिनी स्वभावभूतैवानुमीयते। किं पुनः कारणसामग्र्याः कार्यमेव नानुमीयते। सामग्रीफलशक्तीनां परिणामानुबन्धिनि। अनैकान्तिकता कार्ये प्रतिबन्धस्य संभवात् ॥१०॥ न हि समग्राणीत्येव कारणद्रव्याणि स्वकार्यं जनयन्ति। सामग्रीजन्मनां शक्तीनां परिणामापेक्षत्वात् कार्योत्पादस्य। अत्रान्तरे च प्रतिबन्धसंभवात् न कार्यानुमानम्। या तर्हीयं अकार्यकारणभूतेनान्येन रसादिना रूपादिगतिः, सा कथं ? नैष दोषः। सापि-एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः। हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥११॥ तत्र हेतुरेव तथाभूतोऽनुमीयते।.... शक्तिप्रवृत्त्या न विना रसः सैवान्यकारणम्। इत्यतीतैककालानां गतिस्तत् कार्यलिङ्गजा ॥१२॥ प्रवृत्तशक्तिरूपोपादानकारणसहकारिप्रत्ययो हि रसं जनयति इन्धनविकारविशेषोपादानहेतुसहकारि-प्रत्याग्निधूमजननतुल्यवत्।" **प्र० वा० स्व० १।९-१२।**

(B-25) "साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः।" **न्यायबि० टी० २।७।**

(B-26) "न सपक्षोऽसपक्षः ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति।" **न्यायबि० २।८९।११।**

(B-27) "एष एव पक्षधर्मोऽन्वयव्यतिरेकवान् इति तदंशेन व्याप्तः त्रिलक्षण एव त्रिविध एव हेतुर्गमकः, स्वसाध्यधर्माभिचारात्।" **हेतुबि० पृ० ६८।** "एतल्लक्षणो हेतुस्त्रिप्रकार एव। स्वभावः, कार्यम्, अनुपलब्धिश्चेति। यथा अनित्ये कस्मिंश्चित् साध्ये सत्त्वमिति। अग्निमति प्रवेशे धूम इति। अभावे च उपलब्धिलक्षण-प्राप्तस्यानुपलब्धिरिति।" **हेतुबि० पृ० ५४।**

(B-28) "तस्य द्विधा प्रयोगः। साधर्म्येण एकः,वैधर्म्येणापरः। यथा-यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्। यथा घटादयः संश्च शब्दः तथा क्षणिकत्वाभावे सत्त्वाभावः।" **हेतुबि० पृ० ५५।** तस्य समर्थनं साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्म्मिणि भावसाधनं। यथा - यद्य (?त्स) त्कृतकं वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिः सन्कृतको वा शब्द इति। अत्रापि न कश्चित्क्रमनियम इष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात्। धर्मिणि प्राक्सत्त्वं प्रसाध्य पश्चादपि व्याप्तिः प्रसाध्यते एव। यथा सन् शब्दः कृतको वा यश्चैवं स सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति। अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम्। यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्याद-क्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगादर्थक्रिया-सामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात्।" **वादन्याय पृ० ५-८।**

(B-29) "तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम्। अर्थप्रतीतिरूपत्वात्।" **न्यायबि० १।१७,१८।** "स्वसंवित्तिः फलञ्चास्य तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥" **प्रमाणसमु० १।१०।** "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारुप्यं योग्यतापि वा ॥१३४३॥" **तत्त्वसं०।**

(B-30) "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।" **न्यायबि० १।१३।**

(B-31) "वासनापूर्वविज्ञानकृतिका शक्तिरुच्यते।.... ॥ वासनेति हि पूर्वविज्ञानजनितां शक्तिमामनन्ति वासनास्वरूपविदः।" **प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५६।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(B-32) ''निराकरो बोधऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनः तत्रार्थे प्रमाणम् इति वैभाषिकोक्तम् ।'' **सन्मति० टी० पृ० ४५९ ।**

(B-33) ''खन्धा ति पञ्च खन्धा-रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, सङ्खारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो ति ।'' **वि० मग्ग० १४।३३।**

(B-34) ''पञ्चेमानि भिक्षवः संशयमात्रं प्रतिज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं संवृतिमात्रं यदुतातीतोऽध्वानागतोऽध्वाकाशं निर्वाणं पुद्गलश्चेति ।'' **माध्य० वृ० पृ० ३८९ ।**

(B-35) ''तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ।'' **प्र० वा० २।३०६ ।** ''अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ।२०। अर्थेन सह यत् सारूप्यं सादृश्यम् अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणम् । इह यस्माद्विषयाद् विज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तद् भवति । तथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम् । तच्च सारूप्यं सादृश्यम् आकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते ।'' न्यायबि० टि० पृ० ८१ । प्रमाणं तु सारुप्यं योग्यतापि वा ।'' **तत्त्व सं० श्लो० १३४४ ।**

(B-36) ''तदेव परमार्थसत् । तदेव परमार्थसदिति । परमोऽर्थोऽकृत्रिममनारोपितं रूपम् । तेनास्तीति परमार्थसत् । य एवार्थः संनिधानासंनिधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसत् स एव । स च प्रत्यक्षस्य विषयो यतः, तस्मात् तदेव स्वलक्षणम् । **न्यायबि० टी० पृ० ७५ ।** अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् । अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं, ते स्वसामान्यलक्षणे । **प्र० वा० २।३ ।**

(B-37) ''विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते । ततोऽन्यापोहनिष्ठत्वादुक्तान्यापोहकच्छ्रुतिः ।'' **प्रा० वा० २।१६४ ।** ''ननु कोऽयमपोहो नाम ? यथा व्यवसायं बाह्य एव घटादिरर्थोऽपोह इत्यभिधीयते अपोह्यतेऽस्मादन्यद्विजातीयमिति कृत्वा । यथा प्रतिभासं बुद्ध्याकारोऽपोहः अपोह्यते पृथक्क्रियतेऽस्मिन् बुद्ध्याकारे विजातीयमिति कृत्वा । यथातत्त्वं निवृत्तिमात्रं प्रसह्यरूपोऽपोहःअपोहनमपोहः इति कृत्वा ।'' **तर्कमा० मो० पृ० २६ ।**

(B-38) ''मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाः शेषभावनाः ।'' **प्र० वा० १।२५५ ।** ''तत्रैव तद्विरुद्धार्थतत्त्वाकारानुरोधिनी । हन्ति सानुचरां तृष्णां सम्यग्दृष्टिः सुभाविता ॥१.२१३॥ तत्र सत्यचतुष्टय एव सम्यग्दृष्टिः नैरात्म्यदृष्टिः, तद्विरुद्धार्थतत्त्वाकारानुरोधिनी तेषां स्थिरसुखाद्याकारणामविद्यारोपितानां विरुद्धोऽर्थस्तस्य तत्त्वानि भूता आकारा अनित्या सुखादयः षोडशाकारास्ताननुरोद्धुं शीलं यस्याः सा तथा सुभाविता । सादरनिरन्तरदीर्घकालाभ्यासप्राप्तवैशद्या हन्ति तृष्णां जन्महेतुं सानुचरां मात्सर्यादिपरिवारां ।'' **प्र० वा०, मनो० १,२७३ ।**

(B-39) ''अनादिवासनासङ्गविधेयीकृतचेतसाम् । विविधः प्रतिभासोऽयमेकत्र स्वप्नदर्शिनाम् ।'' **प्र० वार्तिकालं० पृ० ३९७ ।**

(B-40) ''तरङ्गा ह्युदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययोदिताः । नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥५६॥ आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः । चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते ॥५७॥'' **लंकावतार पृ० २७१ ।** ''तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम् । नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम् । यथोक्तम्–तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् । तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।'' **सर्वद० सं० पृ० ३७ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(B-41) "तथता भूतकोटिश्चानिमित्तः परमार्थिकः । धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः ॥" **मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ४१ ।**

(B-42) "यथा मायादयः स्वभावेन अनुत्पन्ना अविद्यमाना मायादिशब्दवाच्या मायादिविज्ञानगम्याश्च लोकस्य । एवमेतेऽपि लोकप्रसिद्धिमात्रेण उत्पादादयः स्वभावेन अविद्यमाना अपि भगवता तथाविधेनविनेयजनानुग्रहचिकीर्षुणा निर्दिष्टा इति । अत एवोक्तम् (समाधिराजसूत्रे) यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव । स्वभावशून्या तु निमित्तभावना । तथोपमान् जानय सर्वधर्मान् ।" **माध्यमिकवृ० संस्कृत- पृ० १७७ ।** "यत्तूक्तं भगवता मायोपमा धर्मा यावत् निर्वाणोपमा इति ।" **महायानसूत्रालं पृ० ६२ ।** एतदुक्तं भगवता अनुत्पन्नाः सर्वभावा मायोपमाश्च इति । **लंकावतार सू० द्वि० भा० पृ० १११ ।** "यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा । तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥" **माध्यमिकवृ० संस्कृत० ३४ ।**

(B-43) "विवेकविलासे बौद्धमतमित्थमभ्यधायि-चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः । अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिणेक बहु मन्यते । सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥ आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता । केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते । मध्यमाः पुनः ॥ रागादिज्ञानसंतानवासनो-च्छेदसंभवा । चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥" **सर्वद० सं० पृ० ४६ ।**

(B-44) "दश पारमिता" ग्रन्थरूपेण न सन्ति । तास्तु इत्थम्-दान-शील-नैष्कर्म्य-प्रज्ञा-वीर्य-क्षान्ति-सत्य-अधिष्ठान-मैत्रीउपेक्षाः । बुद्धवंस । अभिधर्मकोशे षट् पारमिताः । **अभि० को० ४ ।**

(B-45) "तर्कभाषा मोक्षाकरगुप्तकृता । हेतुबिन्दुः धर्मकीर्तिविरचितः । प्रमाणवार्तिकं धर्मकीर्तिकृतम् । तत्त्वसंग्रहः शान्तरक्षितविरचितः । कमलशीलकृता तत्त्वसंग्रहपञ्जिका । न्यायबिन्दुः धर्मकीर्तिकृतः । न्यायोपदेशः दिङ्नागविरचितः ।"

(B-46) "सिद्धे च कार्यत्वे कर्तृपूर्वकत्वं साध्यते । तथा च विवादास्पदं बोधाधारकारणम् कार्यत्वाद्, यद् यद् कार्यं तत्तद् बोधाधारकारणम् यथा घटादि, तथा चेदं कार्यं तस्मात् बोधाधारकारणमिति ।" **प्रश० व्यो० पृ० ३०२ ।** "सामान्यतो दृष्टं तु लिङ्गमीश्वरसत्तायामिदं ब्रूमहे पृथिव्यादि कार्यं धर्मि तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृ-पूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्यत्वाद् घटादिवत् ।" **न्यायम० प्रमा० पृ० १७८ ।** महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्.... सावयवत्वात् । **प्रशस्त० कन्द० पृ० ५७ । वैशे० उप० पृ० ६२ ।** कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥ **न्यायकुसु० ५।१ ।** तथाहि विवादाध्यासितमुपलब्धिमत्कारणपूर्वकं अभूत्वाभावि-त्वाद्वस्त्रादिवदिति सामान्यव्याप्तेरनवद्यत्वेन निराकर्तृमशक्यत्वात्तत्सामान्यसिद्धौ पारिशेष्यात्कार्य्यत्वाच्च कर्तृविशेषसिद्धिश्चित्रादिकार्यविशेषात्कर्तृ विशेषसिद्धिवत् । **न्यायसा० पृ० ३६ ।** तत्राविद्धकर्णोपन्यस्तम् ईश्वरसाधने प्रमाण द्वयमाह-यत्स्वारम्भकेत्यादि । यत्स्वाम्भकावयवसन्निवेशविशेषवत् । बुद्धिमद्धेतुगम्यं तत्तद्यथा कलशादिकम् । **तत्त्वसं० श्लो० ४७ ।**

(B-47) "बोधाधारेऽधिष्ठातरि साध्ये न साध्यविकलत्वम् । नापि विरुद्धत्वम् । न च कार्यत्वं बुद्धिमन्तमधिष्ठातारं व्यभिचरतीत्यव्यभिचारोपलम्भसामर्थ्यादुपलभ्यमानं पक्षे क्षित्यादिसंपादनसमर्थ-मेवाधिष्ठातारं साधयतीति । न च क्षित्याद्युपादानोपकरणानभिज्ञः क्षित्यादिसंपादनसमर्थ इति परमाण्वादिविषयज्ञानं तत्कर्तुर्लभ्यते ।"-**प्रश० व्यो० पृ० ३०२ ।** तथाहि तनुभुवनाद्यभिज्ञः कर्ता नानित्यासर्वविषयबुद्धिमान्

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्कर्तृस्तदुपादानाद्यनभिज्ञत्वप्रसङ्गात् । न ह्येवंविधस्तदुपादानाद्यभिज्ञो दृष्टः यथाऽस्मदादिः तदुपादानाद्यभिज्ञश्चायं तस्मात्तथेति । **न्यायवा० ता० पृ० ६०४ ।** यत् तदीश्वरस्य ऐश्वर्य्यं किं तन्नित्यमनित्यमिति ? नित्यम् इति ब्रूमः... अथास्य बुद्धिनित्यत्वे किं प्रमाणमिति ? नन्विदमेव बुद्धिमत्कारणाधिष्ठिताः परमाणवः प्रवर्तन्त इति । **न्यायवा० पृ० ४६४ ।** तस्य हि ज्ञानक्रियाशक्ती नित्ये इति ऐश्वर्यं नित्यम् । **न्यायवा० ता० टी० पृ० ५१७ ।** न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः । दृष्टा हि रूपादीनां गुणानाम् आश्रयभेदेन द्वयी गतिः तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यति । **प्रशस्त० कन्द० पृ० ५५ । व्यो० पृ० ३०५ ।**

(B-48) तुलना-"इतिहासपुराणेषु ब्रह्मादिर्योऽपि सर्ववित् । ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं चेति कीर्तितम् ।" **तत्त्वसं० श्लो० ३१९९ ।**

(B-49) "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः ।" **न्यायसू० १।१।१ ।**

(B-50) "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम् ।" **न्यायभा० २।१।११ । न्यायवा० पृ० ५ ।** उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि । **न्यायभा० १।१।३ ।** तदेव ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धिहेतुः प्रमाणम् । न्यायवा० **ता० टी० पृ० २२**

(B-51) "प्रमाणविषयोऽर्थः प्रमेयम् ।" **न्यायक० पृ० ४ ।**

(B-52) "विशेषस्मृतिहेतोर्धर्मस्य ग्रहणाद् विशेष स्मृतेश्च जायमानः किंस्वित् इति विमर्शः संशयः ।" **न्यायक० पृ० ८ ।**

(B-53) "यमर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ।" **न्यायक० पृ० ८ ।**

(B-54) "वादिप्रतिवादिनोः साध्यसाधनधर्माधिकरणत्वेन तद्रहितत्वेन वा प्रसिद्धोऽर्थो दृष्टान्तः ।" **न्यायक० पृ० ८ ।**

(B-55) "अयमेवमिति प्रमाणमूलाभ्युपगमः विषयीकृतः सामान्यविशेषवानार्थः सिद्धान्तः ।" **न्यायक० पृ० ९ ।**

(B-56) "दर्शनशास्त्रसम्मतप्र-क०, **प० १, २, भ० १,२ ।"**

(B-57) "साधनीयस्यार्थस्य यावता वाक्येन परस्मै प्रतिपादनं क्रियते तस्य पञ्च भागाः प्रतिज्ञादयोऽवयवाः ।" **न्यायक० पृ० ९ ।**

(B-58) "अविज्ञाततत्त्वे धर्मिणि एकतरपक्षानुकूलार्थदर्शनेन, तस्मिन् संभावनाप्रत्ययरूप ऊहस्तर्क उच्यते ।" **न्यायक० पृ० १३ ।**

(B-59) "पक्षप्रतिपक्षविषयसाधनोपालम्भपरीक्षया तदन्यतरपक्षावधारणं निर्णयः ।"न्यायक० पृ० १३ ।

(B-60) "वादो नाम वीतरागयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहपूर्वकः प्रमाणतर्कपूर्वकसाधनोपालम्भप्रयोगे क्रियमाणे एकपक्षनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः ।" **न्यायक० पृ० १३ ।**

(B-61) "स एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो विजिगीषया प्रयुक्तः छलजातिनिग्रहस्थानप्रयोगबहुलो जल्पः ।" **न्यायक० पृ० १३ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(B-62) "स्वपक्षसाधनोपन्यासहीनो जल्प एव वितण्डा भवति।" **न्यायक० पृ० १३।**

(B-63) "अहेतवो हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः।" **न्यायक० पृ० १४।**

(B-64) "तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्।" **न्यायक० पृ० १६।**

(B-65) "सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे तु प्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिरित्युच्यते।" **न्यायक० पृ० १७।**

(B-66) "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।" **न्यायक० पृ० २१।**

(B-67) "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। बोधाबोध स्वभावो हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्।" **न्यायमं० पृ० १२।**

(B-68) "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।" **न्ययासू० १।१।३।**

(B-69) "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् -पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च।" **न्यायसू० १।१।५।**

(B-70) "पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति।" **न्यायभा० १।१।५।**

(B-71) "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।" **न्यायसू० १।१।१४।**

(B-72) "सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते। संयुक्तः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायो, विशेषणविशेष्यभावश्चेति। तत्र चक्षुरिन्द्रियं, रूपवान् घटादिरर्थः। तेन सन्निकर्षः संयोगस्तयोर्द्रव्यस्वभावत्वात्। अद्रव्येण च तद्गतरूपादिना संयुक्तसमवायः। यस्माच्चक्षुषा संयुक्ते द्रव्ये रूपादि वर्तत इति। वृत्तिस्तु समवायः। रूपादिवृत्तिना सामान्येन संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः। एवं घ्राणादिषु गन्धवदादिद्रव्येण संयोगः। सत्समवेतेषु गन्धादिषु संयुक्तसमवायः तद्वर्तिषु च सामान्यादिषु संयुक्तसमवेतसमवायः। शब्दे समवायः। तद्गतेषु च सामान्येषु समवेतसमवायात्। समवाये चाभावे च विशेषणविशेष्यभावादिति।" **न्यायवा० पृ० ३१। न्यायम० पृ० ६८। प्रश० क० प्र० १९५। न्यायमा० पृ० २, ३।**

(B-73) "आत्मा मनसा युज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति।" **न्यायमा० १।१।४।** तुलना-आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति। **न्यायम० पृ० ७०।**

(B-74) "अथ ज्ञानग्रहणं किमर्थम्? सुखादिव्यवच्छेदार्थम्।" **न्यायवा० पृ० ३६।** अथ वा सुखादिव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानपक्षोपादानम्। **न्यायम० प्रमा० ७०।**

(B-75) "तत्र वृद्धनैयायिकास्तावदाचक्षते, व्यपदिश्यते इति व्यपदेश्यं शब्दकर्मतामापन्नं ज्ञानमुच्यते यदिन्द्रियार्थसंनिकर्षादुत्पन्नं सद्विषयनामधेयेन व्यपदिश्यते रूपज्ञानं रसज्ञानमिति तद्व्यपदेश्यं ज्ञानं प्रत्यक्षफलं मा भूदित्यव्यपदेश्यग्रहणम्।" **न्यायम० प्रमा० पृ० ७३।** "यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थ-संप्रत्ययोऽर्थ-संप्रत्ययाच्च व्यवहारः तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं-रूपमिति जानीते रस इति जानीते नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते अत आह० अव्यपदेश्यमिति।" **न्यायभा० १।१।४।**

(B-76) "ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा संनिकृष्यन्ते

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् उदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह-अव्यभिचारीति। यद् अतस्मिन् तदिति तद् व्यभिचारि। यत्तु तस्मिन् तदिति तद् अव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति।" **न्यायभा० १।१।४**

(B-77) "दूराच्चक्षुषा ह्यर्थं पश्यन् नावधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा तदेतद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह-व्यवसायात्मकमिति।" **न्यायभा० १।१।४।**

(B-78) "अत्र चोदयन्ति-इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणैः स्वरूपं वा विशिष्यते सामग्री वा फलं वा, तत्र स्वरूपविशेषणपक्षे यदेवंस्वरूपं ज्ञानं तत्प्रत्यक्षमिति तत्स्वरूपस्य विशेषितत्वात्फलविशेषणानु पादानाच्च लक्षणमव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यामुपहतं स्यात्। नापि सामग्रीविशेषण पक्षः तत्र हीन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमिति इन्द्रियार्थसंनिकर्षोपपन्नं सामग्र्यमिति व्याख्यातव्यम्, अव्यपदेशमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानमिति च तज्जनकत्वादुपचारेण तथा साकल्यं वर्णनीयमिति क्लिष्टकल्पना, फलविशेषणपक्षोऽपि न संगच्छते, ज्ञानप्रत्यक्षयोः फलकरणवाचिनोः सामानाधिकरण्यप्रसङ्गात्, प्रमाणलक्षणप्रस्तावात्प्रत्यक्षं प्रमाणमुच्यते तच्च करणमिति वर्णितम्, ज्ञानं तु तदुपजनितं फलमिति कथमैकाधिकरण्यं तस्मात्पक्षत्रयस्याप्ययुक्तियुक्तत्वात्पक्षान्तरस्याप्यसंभवादयुक्तं सूत्रमिति। अत्रोच्यते, स्वरूपसामग्रीविशेषणपक्षौ तावद्यथोक्तदोषोपहतत्वान्नाभ्युपगम्येते, फलविशेषणपक्षमेव संमन्यामहे तत्र च यद्वैयधिकरण्यं चोदितं तद्यतः शब्दाध्याहारकेण परिहरिष्यामः, यत एवं यद्विशेषणपक्षमेव संमन्यामहे, तत्र च यद्वैयधिकरण्यं चोदितं तद्यतः शब्दाध्याहारेण परिहरिष्यामः, यत एवं यद्विशेषणविशिष्टं ज्ञानाख्यं फलं भवति तत्प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः, इत्थं च न क्वचिदव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा न काचित् क्लिष्टकल्पना यतः शब्दाध्याहारमात्रेण निरवद्यलक्षणोपवर्णनसमर्थसूत्रपदसंगतिसंभवात्।" **न्यायम० प्रमा० पृ० ६१।**

(B-79) "यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।" **न्यायभा० १।१।३।** "तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपलोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्.. प्रमितिः द्रव्यादिविषयं ज्ञानम्... अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसंनिकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्... प्रमितिः गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति।" **प्रश० मा० पृ० १८७। न्यायवा० पृ० २९।** प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते। तस्य प्रमाणभावे तु फलहानादि बुद्धयः॥ **न्यायम० प्रमा० पृ० ६२।**

(B-80) "योगिप्रत्यक्षं तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। तद्द्विविधम्। युक्तावस्थायाम-युक्तावस्थायां चेति। यत्र युक्तावस्थायामात्मान्तः करणसंयोगादेव धर्मादिसहितादशेषार्थग्राहकम्। वियुक्तावस्थायां चतुष्टयत्रयद्वयसंन्निकर्षाद्ग्रहणम्। यथासंभावनं योजनीयम्। अत्रैवार्षमप्यन्तर्भूतं प्रकृष्टधर्मजत्वाविशेषादिति। तच्च द्विविधं सविकल्पकं निर्विकल्पकं चेति। तत्र संज्ञादिसंबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकम्। यथा देवदत्तोऽयं दण्डीत्यादि। वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकं यथा प्रथमाक्षसंनिपातजं ज्ञानम्। युक्तावस्थायां योगिज्ञानं चेति।" **न्यायसा० १ पृ० ३।**

(B-81) " अथेदानीं सूत्रमनुसरामः, तत्पूर्वकमित्यादि, अनुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः तत्पूर्वकमिति लक्षणम्, तदिति सर्वनाम्ना प्रक्रान्तं प्रत्यक्षमवमृश्यते तत् पूर्वं कारणं यस्य तत्तत्पूर्वकम्, एतावत्युच्यमाने निर्णयोपमानादौ तत्पूर्वके प्रसङ्गो न व्यावर्तते इति तद्व्यावृत्तये द्विवचनान्तेन विग्रहः प्रदर्शयितव्यः, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्येति यदेकमविनाभावग्राहि प्रत्यक्षं व्याख्यातं यच्च द्वितीयं लिङ्गदर्शनं ते द्वे प्रत्यक्षे अनुमानस्यैव कारणं नोपामानादेः, तत्र प्रतिबन्धग्राहि प्रत्यक्षं स्मरणद्वारेण तत्कारणं लिङ्गदर्शनं तु स्वत एव। -न्यायम० प्रमा० पृ० ११३। तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसंबध्यते, लिङ्गलिङ्गिनोः संबद्धयोर्दर्शनेन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिङ्गिस्मृतिरभिसंबध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।'' **न्यायभा० १।१।५।** ''तानि ते तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्। यदा तानीति विग्रहः तदा समस्तप्रमाणाभिसंबन्धात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति। पारम्पर्येण पुनस्तत् प्रत्यक्ष एव व्यवतिष्ठते इति तत्पूर्वकत्वमुक्तं भवति। यदापि विवेकात् ते पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति। ते च द्वे प्रत्यक्षे। लिङ्ग लिङ्गिसंबन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षं, लिङ्गदर्शनं द्वितीयम्। बुभुत्सावतो द्वितीयलिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्युत्तरकालं स्मृतिः स्मृत्यनन्तरं च पुनर्लिङ्गदर्शनमयं धूम इति। तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं परामर्शरूपमनुमानं भवति।'' **न्यायवा० पृ० ४३।**

(B-82) ''उभयथाऽपि न दोषः कारणावमर्शे तावदिन्द्रियादिकरणपूर्वकं तत्फलं लिङ्गदर्शनं यत् तदेव परोक्षार्थप्रतिपत्तौ करणमनुमानमिति न द्विःपूर्वकशब्दस्य पाठ उपयुज्यते, फलेऽप्यवमृश्यमाने प्रत्यक्षफल-लिङ्गदर्शनपूर्वकं यदविनाभावस्मरणं तदनुमानं करणमेव ततः परोक्षार्थप्रतिपत्तेः, यदुक्तं प्रत्युत्पन्नकारणजन्या स्मृतिरनुमानमिति स्पष्टमेव सामाधिकरण्यम्, फले वा अनुमानशब्दं वर्णयिष्यामः अनुमितिरनुमानमिति यतः शब्दं वा अध्याहरिष्यामः प्रत्यक्षफलपूर्वकं परोक्षार्थप्रतिपत्तिरूपं फलं, यतो भवति तदनुमानमिति, अत्र हि प्रथमं लिङ्गदर्शनं ततः प्रतिबन्धस्मरणं ततः केषांचिन्मते परामर्शज्ञानं ततः साध्यार्थप्रतीतिस्ततः लक्षणावसरवर्णितेन क्रमेण हेयादिज्ञानमितीयति प्रतीतिकलापे यथोपपत्तिकार्यकारण-भावो वक्तव्य इत्येवं तत्पूर्वकपदमेव केवलमनुमानलक्षणममिति गुरवो वर्णायाञ्चक्रुः।'' **न्यायम० प्रमा० पृ० ११५।**

(B-83) ''त्रिविधमिति। अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषत्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरण-प्रत्यक्षत्वाद् घटवदिति। अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनो यथा सर्वानित्यत्ववादिनाम-नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति। अस्य हि विपक्षो नास्ति। व्यतिरेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः। यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकं अप्रमाणादिमत्वप्रसङ्गादिति।'' **न्यायवा० पृ० ४६।**

(B-84) ''अथवा त्रिविधमिति। पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति। पूर्वं साध्यं तद् व्याप्त्या यस्यास्तीति तत् पूर्ववत्। साध्यतज्जातीयः शेषः तद्यस्यास्तीति तत् शेषवत्। पूर्ववन्नाम साध्यव्यापकंशेषवदिति समानेऽस्ति। सामान्यतश्चादृष्टम्। चशब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पञ्चलक्षणमनुमानमिति।'' **न्यायवा० पृ० ४६।**

(B-85) ''अत्राहुः वादादिकथात्रयेऽपि पूर्वमुपादीयमानत्वात्पक्षः पूर्वशब्देनोच्यते सोऽस्यास्त्या-श्रयत्वेनेति पूर्ववल्लिङ्गमित्येवमनेन पदेन पक्षधर्मत्वमुक्तं भवति, पक्षे उपयुक्ते सति शेषः सपक्षो भवति सोऽस्यास्त्याश्रयत्वेनेति शेषवत्, एवमनेन सपक्षे वृत्तिरुक्ता भवति, सामान्यतोदृष्टिमित्यनेन विपक्षाद्व्यावृत्तं लिङ्गमुच्यते कथम्, अकारप्रश्लेषात्, सामान्यतोऽदृष्टमिति तिष्ठतु तावद्विशेषः सामान्यतोऽपि न दृष्टम्, क्वेति पक्षसपक्षयोर्वृत्तेरुक्तत्वात्परिशेषाद्विपक्षे सामान्यतोऽपि न दृष्टमित्यवतिष्ठते इत्थं त्रिरूपं लिङ्गमेभिः शब्दैरुक्तं भवति, तदालम्बनं ज्ञानमनुमानम्।'' **न्यायम० प्रभा, पृ० ११५।**

(B-86) ''पूर्ववन्नाम यत्र कारणेन कार्यमुपनीयत इति भाष्यम्। कथं पुनरस्य प्रयोगः। वृष्टिमन्त एते मेघाः। गम्भीरध्वानवत्त्वे बहुलबलाकावत्वे सति अचिरप्रभावत्वे सति उन्नतिमत्त्वात् वृष्टिमन्मेघवदिति।'' **न्यायवा० पृ० ४६, ४७।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(B-87) "तुलना-यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत् स्तुतं प्रस्तुतम् ।" **अष्ट० श०, अष्टसह० पृ० ७२ । प्रमेयरत्नमा- ३।१० । लघी० ता० पृ० ४९ ।** सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति । - **न्यायकुमु० पृ० ६०४ ।**

(B-88) "प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येति ।" **अष्टश० अष्टस० पृ० ७२ न्यायकुमु० पृ० ७३ । स्या० रत्ना० पृ० २६९ ।** प्रमातुरपराधोऽयं विशेषं यो न पश्यति । नानुमानस्य दोषोऽस्ति प्रमेयाव्यभिचारिणः ॥ **न्यायम० प्रमा० पृ० ११८ ।**

(B-89) "शेषवत्-तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति ।" न्यायभा० १।१।५ । उपरि वृष्टिमद्देशसंबन्धिनी नदी स्रोतः शीघ्रत्वे सति पूर्णफलकाष्ठादिवहनवत्त्वे सति पूर्णत्वात् पूर्णवृष्टिमन्नदीवदिति । **न्यायवा० पृ० ४७ ।**

(B-90) "पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्निरिति ।" **न्यायभा० १।१।५ ।**

(B-91) "शेषवद् नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे संप्रत्ययः ।" **न्यायभा० १।१।५ ।**

(B-92) "सामान्यतोदृष्टं तु नित्यपरोक्षे धर्मिणि व्याप्तिग्रहणादनुमानम् । यथेच्छादिना कार्येणात्मानुमानं वक्ष्यते ।" न्यायक० पृ० ३ । सामान्यतोदृष्टस्य नित्यपरोक्षानुमेयैकविषयत्वात् । **न्यायम० प्रमा० पृ० १२१ ।**

(B-93) "एकत्राप्युदाहरणे त्रैविध्यमभिधातुं शक्यते यथा इच्छादिकार्यमाश्रितं कार्यत्वाद् घटवद् इत्याश्रयमात्रे साध्ये पूर्ववदनुमानम्, प्रसक्तशरीरेन्द्रियाद्याश्रयप्रतिषेधेन विशिष्टाश्रयकल्पने तदेव परिशेषानुमानम्, अनुमेयस्य नित्यपरोक्षत्वात् तदेव सामान्यतोदृष्टं च ।" **न्यायम० प्रभा० पृ० १२१ ।**

(B-94) "तुलना-गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वरा । रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः । त्वङ्गतडिल्लतासङ्गपिशङ्गोतुङ्गविग्रहाः । वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैव प्रायः पयोमुचः ॥" **न्यायम० प्रमा० पृ० ११७।** आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः । कल्लोलविकटास्फालस्फुरत्फेनच्छटाञ्चितः ॥ वहद्बहल-शैवालवनशाद्वलसंकुलः । नदीपूरविशेषोऽपि शक्येत न निवेदितुम् ॥ **न्यायम० प्रमा० पृ० ११८ ।**

(B-95) "यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतः तमर्थं प्रतिपद्यते इति, समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह । यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम् इन्द्रियार्थसंनिकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसंबन्धं प्रतिपद्यते इति ।" **न्यायभा० १।१।६**

(B-96) "प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृशः पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासंबन्धप्रतिपत्तिहेतुः ।" **न्यायभा० ता० टी० पृ० १९७ ।**

(B-97) "आप्तोपदेशः शब्दः ।" **न्यायसूत्र १।१।७ ।** आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा । **न्यायभा १।१।७ ।**

(B-98) "आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।" **न्यायसू० १।१।९ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(B-99) "तत्र देहादिदु:खान्तं हेयमेव व्यवस्थितम् । उपादेयोऽपवर्गस्तु द्विधावस्थितिरात्मनः ॥ सुखदु:खादिभोक्तृत्वस्वभावो हेय एव सः । उपादेयस्तु भोगादिव्यवहारपराङ्मुखः ॥" **न्यायम० प्रमे० पृ० २।**

(B-100) "तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभवी ।" न्यायभा० १।१।९ । इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मानो लिङ्गमिति । **न्यायसू० १।१।१० ।**

(C-1) "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।" **न्यायसू- १।१।११ ।** "तस्य भोगायतनं शरीरम् ।" **न्यायभा० १।१।९ ।**

(C-2) "घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।" **न्यायसू० १।१।१२ ।** भोगसाधनानि इन्द्रियाणि । **न्यायभा० १।१।९ ।**

(C-3) "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।" न्यायसू० १।१।१४ । "भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः ।" **न्यायभा० १।१।१ ।**

(C-4) "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥" अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ **न्यायसू० ३।१।६१, ६२ ।** चतुर्गुणा पृथिवी त्रिगुणा आपः, द्विगुणं तेजः एक गुणो वायुः इति नियमश्चोपपद्यते । **न्यायभा० ३।१।६५ ।**

(C-5) "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।" **न्यायसू० १।१।१५ ।** भोगोबुद्धिः । **न्यायभा० १।१।९, न्यायक० पृ० ७ ।**

(C-6) "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।" **न्यायसू० १।१।१६ ।**

(C-7) "सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तः करणं मनः ।" **न्यायभा० १।१।९**

(C-8) "इन्द्रियार्थसंनिकर्षे सत्यपि युगपज्ज्ञानानुत्पादात्....तच्चाणु वेगवदाशुसंचारि नित्यम्...."- **न्यायक० पृ० ७ ।**

(C-9) "प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरेभ्य इति ।" **न्यायसू० १।१।१७ । न्यायक० पृ० ७ ।** "प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ।" **न्यायसू० १।१।१८ ।**

(C-10) "रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दु:खं वा लभते। तथा द्विष्टस्तथा मूढ इति रागद्वेषमोहा इत्युच्यमानो बहुनोक्तं भवति ।" **न्यायभा० १।१।१८ । न्यायक० पृ० ७ ।**

(C-11) "पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ।" **न्यायसू० १।१।१९** उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः, उत्पन्नस्य - संबद्धस्य, संबन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः, पुनरुत्पत्तिः - पुनर्देहादिभिः, संबन्ध,.... । प्रेत्यभावः - मृत्वा पुनर्जन्म, सोऽयं जन्ममरण प्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति ।" **न्यायभा० १।१।१९ । न्यायक० पृ० ७ ।**

(C-12) "प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ।" न्यायसू० १।१।२० । प्रवृत्तिदोषजनकं सुखदु:खात्मकं मुख्यं फलम् । तत्साधनं तु गौणम् । **न्यायक० पृ० ७ ।**

(C-13) "बाधनालक्षणं दु:खम् ।" **न्यायसू० १।१।२१ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(C-14) ''तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।'' **न्यायसू० १।१।२२।** ''जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणम् अपवर्ग इति।'' **न्यायभा० १।१।९।** ''आत्यन्तिको दुःखवियोगोऽपवर्गः सर्वगुणवियुक्तस्यात्मनः स्वरूपावस्थानम्। सुखदुःखयोर्विवेकहानस्याशक्यता। दुःखं जिहासुः सुखमपि जह्यात्। तस्मात्परमपुरुषार्थोऽपवर्गः। स च तत्त्वज्ञानादवाप्यते।'' **न्यायक० पृ० ८।**

(C-15) ''विशेषस्मृतिहेतोर्धर्मस्य ग्रहणाद् विशेषस्मृतेश्च जायमानः किंस्वित् इति विमर्शः संशयः।'' **न्यायक० पृ० ८।**

(C-16) ''यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्।'' **न्यायसू० १।१।२४।**

(C-17) ''लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।'' **न्यायसू० १।१।२५।**

(C-18) ''अयमेवमिति प्रमाणमूलाभ्युपगमः विषयीकृतः सामान्यविशेषवानर्थः सिद्धान्तः।'' **न्यायक० पृ० ९।**

(C-19) ''सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्।'' **न्यायसू० १।१।२७।**

(C-20) ''सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।॥२८॥ यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि। गन्धादय इन्द्रियार्थाः। पृथिव्यादीनि भूतानि। प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति।'' **न्यायभा० १।१।२८।**

(C-21) ''समानतन्त्रासिद्धः परतन्त्रसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः।॥२९. यथानाऽसत आत्मलाभः। न सत आत्महानम्। निरतिशयाश्चेतनाः। देहेन्द्रियमनस्सु विषयेषु तत्कारणे च विशेष इति सांख्यानाम्। पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः। कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च। स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः। असदुत्पद्यते उत्पन्नं विरुध्यते इति योगानाम्।'' **न्यायभा० १।१।२९।**

(C-22) ''यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धान्तः।॥३०॥ यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते = न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति तेऽर्था यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिभिः, अत्रानुषङ्गिणोऽर्थाः - इन्द्रियनानात्वं नियतविषयाणीन्द्रियाणि स्वविषय-ग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि। गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम्। अनियतविषया-श्चेतना इति पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति। नं तैर्विना सोऽर्थः संभवतीति।'' **न्यायभा० १।१।३०।**

(C-23) ''अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः।३१। यत्र किंचिदर्थजातम-परीक्षितमभ्युपगम्यते-अस्तु द्रव्यं शब्दः स तु नित्यो अथानित्यः। इति द्रव्यस्य सतो नित्यतानित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः, स्वबुद्ध्यतिशयविख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाय प्रवर्तते इति॥'' **न्यायभा० १।१।३१।**

(C-24) ''प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमानान्यवयवाः।'' **न्यायासू० १।१।३२।**

(C-25) ''साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।'' न्यायसू० १।१।३३। ''तत्र साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणो निर्देशः प्रतिज्ञा। यथा नित्यः शब्द इति। एष एव पक्ष उच्यते।'' **न्यायक० पृ० ९।**

(C-26) ''उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः।'' न्यायसू० १।१।३४। ''लिङ्गवचनं हेतुः।'' **न्यायक० पृ० १०।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(C-27) "लिङ्गं वह्निर्धूमः - भ० २।"

(C-28) "साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।" **न्यायसू० १।१।३६ ।** "दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। दृष्टान्तो द्विविधः।"

(C-29) "साधर्म्येण वैधर्म्येण च।" **न्यायक० पृ० ११ ।**

(C-30) "उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥" **न्यायसू० १।१।३८ ।**

(C-31) "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥" **न्यायसू० १।१।३९ ।**

(C-32) "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।" **न्यायसू० १।१।४० ।** "अविज्ञाततत्वे धर्मिणि एकतरपक्षानुकूलार्थदर्शनेन तस्मिन् संभावनाप्रत्ययरूप ऊहस्तर्क उच्यते । यथा वाहकेकिप्रदेशे उर्ध्वत्वदर्शनात् पुरुषेणानेन भवितव्यमिति संभावनाप्रत्ययः।" **न्यायक० पृ० १३ ।**

(C-33) "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥" **न्यायसू० १।१।४१ ।**

(C-34) "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥" **न्यायसू० १।२।१ ।**

(C-35) "वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा। सा द्विविधा। वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञयोच्यते। तं प्रतिपक्ष-हीनमपि वा कुर्य्यात् प्रयोजनार्थित्वेन। यथा शिष्यो गुरुणा सह प्रश्नद्वारेणैवेति।" **न्यायसा० पृ० १५।**

(C-36) "विजिगीषुर्विजिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामो जयपराजयार्थं प्रवर्तते सा विजिगीषुकथा। वीतरागो वा परानुग्रहार्थं ज्ञानाङ्कुरसंरक्षणार्थं च प्रवर्तते सा चतुरङ्गा । वादिप्रतिवादिसभापतिप्राश्निकाङ्गा । विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञोक्ता।" **न्यायसा० पृ० १६ ।**

(C-37) "स एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो विजिगीषया प्रयुक्तः छलजातिनिग्रहस्थानप्रयोगबहुलो जल्पः। स्वपक्षसाधनोपन्यासहीनो जल्प एव वितण्डा भवति।" **न्यायभा० पृ० १३ ।**

(C-38) "मुमुक्षुरपि क्वचित्प्रसङ्गे तदुपयोगात्।" **न्यायम० प्रमे० पृ० १५२ ।**

(C-39) "तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति । परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्तते इति ।" **न्यायभा० १।२।३।**

(C-40) "सव्यभिचारविरुद्ध प्रकरणसम साध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।" **न्यायसू० १।२।४।** "अहेतवो हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः। हेतोः पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामेकैकापाये पञ्च हेत्वाभासा भवन्ति। असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः।" **न्यायक० पृ० १४। न्यायसा० पृ० ७।**

(C-41) "तत्र पक्षधर्मत्वं यस्य नास्ति सोऽसिद्धः। यथानित्यः शब्दः चाक्षुषत्वादिति।" **न्यायक० पृ० १४ ।** "तत्रानिश्चितपक्षावृत्तिरसिद्धः।" **न्यायसा० पृ० ७ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(C-42) "पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो हेतुर्विरुद्धः।" **न्यायसा० पृ० ७।** "सपक्षे सत्त्वं यस्य नास्ति विपक्षे च वृत्तिरस्ति स साध्यविपर्ययसाधनत्वाद् विरुद्धो भवति। यथा अश्वोऽयं विषाणत्वादिति।" **न्यायक० पृ० ४।**

(C-43) "पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः।" **न्यायसा० पृ० ७।**

(C-44) "विपक्षादपरिच्युतः पक्षसपक्षयोर्वर्तमानो हेतुः सव्यभिचारित्वादनैकान्तिको भवति।" **न्यायक० पृ० १४।**

(C-45) "प्रत्यक्षागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः। अबाधितपरपक्षपरिग्रहो हेतुप्रयोगकालः तमतीत्यासावुपदिष्ट इति। अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्धः। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्धः।" **न्यायक० पृ० १५।** प्रमाणबाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः। **न्यायसा० पृ० ७।**

(C-46) "स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः।" **न्यायसा० पृ० ७, न्यायक० पृ० १५।**

(C-47) "वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्।" **न्यायसू० १।२।१०।** "तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्।" **न्यायकलि० पृ० १६।**

(C-48) "तत्त्रिविधम् - वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलं चेति।" **न्यायसू० १।२।१२।**

(C-49) "अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः। अत्र नवः कम्बलोऽस्य इति वक्तुरभिप्रायः, विग्रहे तु विशेषो न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यार्थं नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता इति कल्पयति। कल्पयित्वा च असंभवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बला इति।" **न्यायभा० १।२।१२।**

(C-50) "संभवतोऽर्थस्य अतिसामान्ययोगात् असंभूतार्थकल्पनासामान्यछलम् ॥१३॥ अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इत्युक्ते कश्चिदाह-संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति, अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या असंभूतार्थविकल्पनया व्रियते यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत् संभवति व्रात्येऽपि संभवेत् व्रात्योऽपि ब्राह्मणः सोऽप्यस्तु विद्याचरणसंपन्न इति।" **न्यायभा० १।२।१३।**

(C-51) "धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम्।" **न्यायसू० १।१।१४।** "औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारछलम्। मञ्चाः क्रोशन्तीति इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते मञ्चाः कथमचेतनाः क्रोशन्ति। मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति।" **न्यायक० पृ० १६।**

(C-52) "तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति।" **प्र० मी० पृ०।**

(C-53) "प्रयुक्ते हेतौ समीकरणाभिप्रायेण प्रसङ्गो जातिः।" **न्यायसा० पृ० १७।** "सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे तु प्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिरित्युच्यते।" **न्यायक० पृ० १७।** "अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि।" **प्र० मी० २।१।२९।**

(C-54) "साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिर्भवति।" **न्यायक० पृ० १८।**

(C-55) "प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती भवतः।" **न्यायक० पृ० १८।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(C-56) "प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिर्भवति ।" **न्यायक० पृ० १८ ।**

(C-57) "प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः ।" **न्यायक० पृ० १८ ।**

(C-58) "अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिर्भवति ।" **न्यायाक० पृ० १९ ।**

(C-59) "साधर्म्यवैधर्म्यसमा जातिर्या पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपक्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति ।" **न्यायक० पृ० १९ ।**

(C-60) "द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा जातिः प्रकरणसमा भवति ।" **न्यायक० पृ० १९ ।**

(C-61) "निग्रहः पराजयस्तस्य स्थानमाश्रयः कारणमित्यर्थः ।" **न्यायम० प्रमे० पृ० १९० ।**

(C-62) "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥" **न्यायसू० १।२।१९ ।**

(C-63) "विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽप्यप्रारम्भः = परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति । प्रतिषेधं वा नोद्धरति ।" **न्यायभा० १।२।१९ ।**

(C-64) "आरम्भस्य विषयः साधनस्य ज्ञापनं दूषणस्योद्धरणं तयोरकरणमप्रतिपत्तिः । द्विधा हि वादी पराजीयते यथा वक्तव्यमप्रतिपद्यमानो विपरीतं वा प्रतिपद्यमान इति ।" **न्यायक० पृ० २२ ।**

(C-65) "प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञान प्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।" **न्यायसू० ५।२।१ ।**

(C-66) "तत्र अननुभाषणमज्ञानप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्ति-निग्रहस्थानं शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति ।" **न्यायभा० १।२।२० ।**

(C-67) "प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ।" **न्यायसू० ५।२।२ ।**

(C-68) "प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।" **न्यायसू० १।२।३ ।**

(C-69) "प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ।" **न्यायसू० ५।२।४ ।**

(C-70) "पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥" **न्यायसू० ५।२।२ ।**

(C-71) "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।" **न्यायसू० ५।२।६ ।**

(C-72) "प्रकृतादर्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम् ॥" **न्यायसू० ५।२।७ ।**

(C-73) "वर्णक्रमनिर्देशवद् निरर्थकम् ॥" **न्यायसू० २।२।८ ।**

(C-74) "परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ।" **न्यायसू० ५।२।९ ।**

(C-75) "पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम् ॥" **न्यायसू० ५।२।१० ।**

(C-76) "अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ।" **न्यायसू- ५।२।११ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(C-77) "हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥" **न्यायसू० ५।२।१२ ।**

(C-78) "हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥" **न्यायसू० ५।२।१३ ।**

(C-79) "शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।" न्यायसू० ५।२।१४। "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥" **न्यायसू० ५।२।१५ ।**

(C-80) "विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥" **न्यायसू० ५।२।१६ ।**

(C-81) "अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥" **न्यायसू० ५।२।१७ ।**

(C-82) "उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥" **न्यायसू० ५।२।१८ ।**

(C-83) "कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥" **न्यायसू० ५।२।१९ ।**

(C-84) "स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे क्षेपसङ्गो मतानुज्ञा ॥" **न्यायसू० ५।२।२० ।**

(C-85) "निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥" **न्यायसू० ५।१।२१ ।**

(C-86) "अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥" **न्यायसू० ५।२।२२ ।**

(C-87) "सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥" **न्यायसू० ५।२।२३ ॥**

(C-88) "हेत्वाभासश्च यथोक्ताः ॥" **न्यायसू० ५।२।२४ ।**

(C-89) "ते इमे हेत्वाभासा न्यायप्रविवेकं कुर्वन्तो वस्तुशुद्धिं विदधतीति पृथगुच्यन्ते । अत एव निग्रहस्थानान्तर्गतानामप्येषां पृथगुपदेशः ।" **न्यायक० पृ० १६ ।**

(C-90) "तदेवं छलजातिनिग्रहस्थानस्वरूपाभिज्ञाः स्ववाक्ये तानि वर्जयन् परप्रयुक्तानि च समादधन् यथाभिमतसाध्यसिद्धिं लभते ।" **न्यायक० पृ० २७ ।**

(C-91) "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम् ।" **न्यायभा० २।१।११ ।**

(C-92) "ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत् ।" प्रश० व्यो० पृ० ५२९ । "विवादाध्यासिताः प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात् । एवं प्रमेयत्वगुणत्वसत्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्व-हेतवः प्रयोक्तव्याः ।" **विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७ ।** "करणं हि प्रमाणमुच्यते प्रमीयतेऽनेन इति । न च क्रियैव क्वचित् करणं भवति, क्रियायां साध्यायां कारकं किमपि करणमुच्यते यथा दात्रेण चैत्रः शालिस्तम्बं लुनाति इति कर्तृकर्मकरणानि क्रियातो भिन्नान्युपलभ्यन्ते तथेहापि चक्षुषा घटं पश्यतीति दर्शनक्रियातः पृथग्भाव एव तेषां युक्तो न दर्शनं करणमेव इति । प्रमा प्रमाणमिति तु फले प्रमाणशब्दस्य साधुत्वाख्यानमात्रम् कृतिः करणमितिवत्.... तेन चक्षुरादेः ज्ञानक्रियामुपजनयतः करणत्वं ज्ञानस्य फलत्वमेवेति युक्तः तथाव्यपदेश...." **न्यायमं० पृ० ७० ।** स्वातिरिक्तेत्यादिना शंकरस्वामी प्रमाणयति-स्वातिरिक्तक्रियाकारि प्रमाणं कारकत्वतः वास्यादिवत्. ॥१३५३॥ **तत्त्वसं० ।**

(C-93) "यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं प्रमाणम् तदा द्रव्यादिविषयं विशिष्टं ज्ञानं प्रमितिः इत्यर्थः । यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानमपि प्रमारूपमर्थप्रतीतिरूपत्वात् तदा तदुत्पत्तावविभक्त-मालोचनमात्रं प्रत्यक्षम्..... विशेषज्ञानं हि विशेषणज्ञानस्य फलम् विशेषणज्ञानं न ज्ञानान्तरफलम्... यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं फलं तदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणम्, यदा विशेष्यज्ञानं फलं तदा सामान्यविशेषालोचनं प्रमाणम्

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्युक्तं तावत् । सम्प्रति हानादि बुद्धीनां फलत्वे विशेष्यज्ञानं प्रमाणमित्याह..." **प्रश० कन्दली पृ० १९९ । मीमांसाश्लो० सू० ४ श्लो० ७२-७३ ।**

(C-94) "कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः ? अननुभवत्वेनैव... न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति पृथगनुपदेशात् ।" **न्यायकुसु० ४।१ ।**

(C-95) "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ।" **वैशे० सू० ५।२।१९ ।** उद्भूतरूपवद्यावत्तेजः संसर्गाभावस्तमः । **वैशे० उप० ५।२।२० ।** किं पुरुषवच्छायापि गच्छति आहोस्वित् आवारकद्रव्ये संसर्पति आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति । सर्वता खलु द्रव्येण यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्यासंनिधिरेवावच्छिन्नो गृह्यते इति । **न्यायभा० १।२।८ ।** भासामभावरूपत्वात् छायायाः । **प्रश० व्यो० पृ० ४६।** तस्मादभाव एव छाया न तु सतीति सिद्धम् । **न्यायवा० ता० टी० पृ० ३४२ । प्रश० किर० पृ० १९**

(C-96) "शब्दोऽम्बरगुणः ।" **प्रश० भा० व्यो० पृ० ६४५ ।**

(C-97) "स्वविषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति" **प्रश० भा० व्यो० पृ० ६७७ ।**

(C-98) "धर्मः पुरुषगुणः ।" **प्रश० भा० व्यो० पृ० ६३७ ।**

(C-99) "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।" **प्रश० व्यो० पृ० ६३८ ।** यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः । तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नावकल्पते ॥ ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ? स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥ **न्यायम० पृ० ५०८ ।** समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव । **प्रश० कन्द० पृ० १८७ ।** निःश्रेयसं पुनर्दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी । **प्रश० किर० पृ० ६ ।**

(C-100) "कुतो मुक्तस्य सुखोपभोग इति चेत् । आगमात् । उक्तं हि- सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम् । तं च मोक्षं विजानीयात् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ तथा, आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षोऽभिलक्ष्यते । विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति ।... तत्सिद्धमेतत् नित्यसंवेद्यम् । अनेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष इति ।" **न्यायसा० पृ० ४०, ४१ ।**

(D-1) "हस पिब लल मोद नित्यं विषायनुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम् । यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च ॥" **सां० का० माठर० पृ० ५३ ।**

(D-2) "तथा च उक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्-पञ्चविंशतितत्वज्ञः..." **तत्त्वयाथा० पृ० ६१ । सन्मति० टी० पृ० २८२ । न्यायाव० टी० पृ० १४ । वस० सू० वृ० १२४ ।**

(D-3) "सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरु वरणकमेव तमः... ॥" **सां० का० १३।** त्रैगुण्यम् ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः भावे ण्य स्त्रैगुण्यम् । प्रसादो लाघवं सङ्गः प्रसङ्गात् प्रीतिरार्जवम् ॥ तुष्टिस्तितिक्षा सत्त्वस्य रूपं साक्षात् सुखावहम् । शोकस्तम्भद्वेषतापखेदभोगाभिमानिता ॥ रजोरूपाण्यनेकानि बहुदुःखप्रदानि वै । तमो नामाच्छादनादि बीभत्सावरणादि च ॥ दैन्यगौरवनिद्रादि-प्रमादालस्यलक्षणम् । मोहात्मकमनन्तं तदेवं त्रैगुण्यमीरितम् । सत्त्वं प्रकाशकं विद्याद्रजो विद्यात् प्रवर्तकम् ॥ विनाशकं तमो विद्यात् त्रैगुण्यं नाम संज्ञितम् । **सांख्यसं० पृ० १४ । भगवद्गी० १४।६-८ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(D-4) ''प्रकाशशीलं सत्त्वं, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इति।'' **योगद० व्यासभा० २।१८**

(D-5) ''यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जवमार्दवसत्यशौचह्रीबुद्धिक्षमानुकम्पाज्ञानादि च। तत्सत्त्वं प्रत्येतव्यम्। अप्रीत्यात्मकं रजः। कस्मात्। दुःखलक्षणत्वात्। यो हि कश्चित्कदाचित् क्वचित् अप्रीतिमुपलभते तत्र द्वेषद्रोहमत्सरनिन्दास्तम्भोत्कण्ठानिकृतिवञ्चनाबन्धवधच्छेदनानि च। तद्रजः प्रत्येतव्यम्। विषादात्मकं तमः। कस्मात्। मोहलक्षणत्वात्। यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिक्यविषादस्वप्नादि च तत्तमः प्रत्येतव्यम्।'' **सां० का० माठर० पृ० २१। सांख्यसं० पृ० ११।**

(D-6) ''प्रधानं प्रकृतिः अव्यक्तमव्याकृतं चेत्यनर्थान्तरम्।'' **सांख्यसू० वि० पृ० १०५।** ''सा च साम्यावस्थयोपलक्षितसत्त्वादित्रयरूपा।'' **सांख्यसं० पृ० २।** प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था। सांख्यतत्त्वकौ० का० ३। **तत्त्वमी० पृ० १८५। सांख्यसं० पृ० १४। सां० तत्त्वप्र० १५३।**

(D-7) ''प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म अव्यक्तं बहुधानकं मायेति पर्यायाः। तस्याः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते प्रथमः कश्चित्। महान्, बुद्धिः, मतिः, प्रज्ञा, संवित्तिः, ख्यातिः वितिः, स्मृतिरासुरी हरिः, हरः हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः। ततोऽहंकारः। तस्मान्महतोऽहंकार उत्पद्यते। तस्य इमे पर्यायाः वैकृतस्तेजसो भूतादिरभिमानोऽस्मिता इति।'' **सां० का० माठर० पृ० ३६।**

(D-8) ''अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥'' **सां० का० २३।**

(D-9) ''अभिमानोऽहंकारस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव।'' **सां० का- २४।**

(D-10) ''बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुरसननासिकाख्यानि। वाक्पाणिपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥ उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्। गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च।'' **सां० का० २६।२७।**

(D-11) ''तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः रसतन्मात्रादापः गन्धतन्मात्रात्पृथिवी इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः।'' **सां० का० माठर० पृ० ३७।**

(D-12) ''तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च।'' **सां० का० १९। या वि भ० २।**

(D-13) ''सते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥ बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मनश्च संकल्प्य अहंकारस्य अहंकारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायाम्। सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥३७॥ बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति।'' **सांख्यका० ॥३६, ३७॥**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसंनिकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेरर्थाकारा वृत्तिर्जायते... । स्मृतिरपि-तस्मिंश्चिद् दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः । इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ **सांख्यप्र० भा० २।८७** । बुद्धि दर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः तथा च दृशिच्छायापन्ना बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः । **योगसू० तत्त्ववैशा० २।२०** । भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्प्यते । **योगसू० व्यासभा० २।६** । यच्च तत्रैव विन्ध्यवासिनो भाष्यम् भोक्तृभोग्यशक्तयो... । **न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३१** । अयमेव च तस्य भोगो यत्तत्र छायासंक्रमणसामर्थ्यम् इति च तन्निबन्धनकारस्य । **न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३४** । तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ताः वस्तुदृष्टयः । इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः । यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलस्फटिको जनैः । रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपुरुषः -इत्यादिस्मृतिशतैरपीति । **यो० वा० पृ०२२**

(D-14) "शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते ।" **यो० भा० २।२० ।**

(D-15) "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥" **सांख्य का० २१ ।**

(D-16) "स च बन्धस्त्रिविधः प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दाक्षिणबन्धश्च । तत्र प्रकृतिबन्धो नाम अष्टासु (प्रकृतिबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेषु) प्रकृतिषु परत्वेनाभिमानः । वैकारिकबन्धो नाम ब्रह्मा (बुद्ध्या) दिस्थानेषु श्रेयोबुद्धिः । दाक्षिणबन्धो नाम गवादिदानेज्यानिमित्तः ।" **सां० माठरवृ० पृ० ६२** । प्रकृतिलयः प्रकृतिबन्ध इत्युच्यते, यज्ञादिभिः दाक्षिणबन्ध इत्युच्यते, ऐश्वर्यादिनिमित्तो भोगो वैकारिक इत्युच्यते । **सां० माठरवृ० पृ० ६३ योगसू० तत्त्ववैशा० १।२४१ । सांख्यसं० पृ० २४ । स्या० मं० पृ० १९१** । प्रकृतिबन्धः प्रकृतिलयः परत्वेनाभिमन्यतः । संन्यासिनामिन्द्रियेषुलयो वैकारिकोऽपर : ॥ गृहिणां दक्षिणाबन्धो वदान्यत्वाभिमानिनाम् । इत्येषस्त्रिविधो बन्धस्त्रिविधो मोक्ष उच्यते ॥ **सांख्यसं० पृ० २४ ।**

(D-17) "तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति । यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्येते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते ।" **यो० भा० २।१८ ।**

(D-18) "त्रिविधमनुमानमाख्यातम् । तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् ।" सांख्यका० ५ । "तच्च त्रिविधम् । पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च । तत्र विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनाद् भवित्रीं वृष्टिं सम्भावयति । पूर्वमियं दृष्टेति पूर्ववत् । नदीपूरदर्शनादुपरि वृष्टो देव इति वा प्रतीतिः । शेषवद्यथा समुद्रोदकबिन्दुं प्राश्य शेषस्य लवणभावोऽनुमीयते इति शेषवत् । सामान्यतोदृष्टम्-पुष्पिताम्रदर्शनात् अन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति । पुनर्यथा बहिरुद्योत इति केनाप्युक्तं, तत्रापरेणाप्युक्तम् । चन्द्र उदितो भविष्यतीत्यर्थसङ्गतिः । तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति । लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेनादृष्टोऽपि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परिव्राडस्ति यस्येदं त्रिदण्डमिति ।" **सांख्यका० मा० वृ० पृ० १३ ।**

(D-19) "आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः ताभ्यां उपदिष्टं तथेति श्रद्धेयमाप्तवचनम् । आप्ता ब्रह्मादय आचार्याः श्रुतिर्वेदस्तदेतदुभयमाप्तवचनम् । आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थाप्त्या श्रुतार्थग्राही तदुक्तमाप्तवचनम् ।" **सांख्यका० मा० वृ० का० ३ ।**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-६

पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी

पारिभाषिक शब्द (सार्थ)

श्लोक -१ से ३

(१) अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो य एकदेशोऽन्यदेशनिरपेक्षस्तस्य यदवधारणं सोऽपरिशुद्धो नयः । अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो य एकदेशोऽन्यदेशसापेक्षस्तस्य यदवधारणं सः परिशुद्धो नयः ।

(२) क्रियां जीवाद्यस्तित्वं वदन्तीत्येवंशीलाः **क्रियावादिनः** ।

(३) **नियति**र्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वाशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रुपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा ।

(४) न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते **अक्रियावादिनः** ।

(५) यदृच्छा ह्यनभिसंधिपूर्विकार्थप्राप्तिः । ये भावानां संतानापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति, किं तु यदृच्छया, ते **यदृच्छावादिनः** ।

(६) अज्ञानेन चरन्तीत्यज्ञानिकाः । कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्ती**त्यज्ञानिकाः** ।

(७) विनयेन चरन्तीति **वैनयिकाः** ।

(८) तत्त्वानि प्रमाणैरुपपन्नाः परमार्थसन्तोऽर्थाः ।

(९) बुद्धाः सप्त भवन्ति । तेषामिदं दर्शनं **बौद्धम्** ।

(१०) न्यायं न्यायतर्कमक्षपादर्षिप्रणीतं ग्रन्थं विदन्त्यधीयते वेति नैयायिकास्तेषांमिदं दर्शनं **नैयायिकम्**

(११) संख्यां प्रकृतिप्रभृतितत्त्वपञ्चविंशतिरुपां विदन्त्यधीयते वा सांख्याः ।

(१२) जिना ऋषभादयश्चतुर्विंशतिरर्हन्तस्तेषामिदं दर्शनं **जैनम्** ।

(१३) नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा एव वैशेषिकम् तद्वैशेषिकं विदन्त्यधीयते वा **वैशेषिकाः** । तेषामिदं दर्शनं वैशषिकम् ।

(१४) जैमिनिराद्यः पुरुषविशेषस्तस्येदं मतं **जैमिनीयं** मीमांसकापरनामकम् ।

(बौद्धदर्शनम्)

श्लोक - ४ से ११

(१) धर्मबुद्धसङ्घरुपं रत्नत्रयम् ।

(२) आराद्दूराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः । सतां साधूनां पदार्थानां वा यथासंभवं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थित वस्तुरुपचिन्तनेन च हितानि सत्यानि । आर्याणां सत्यानि आर्यसत्यानि ।

(३) आर्यसत्यानि चत्वारि सन्ति । तद्यथाः १.दुःखम्, २. समुदयः, ३. दुःखनिरोधः, ४. दुःखनिरोध मार्गश्च ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) दुःखं फलभूताः पञ्चोपादानस्कन्धा **विज्ञानादयः** । त एव तृष्णासहाया हेतुभूताः **समुदयः** । निःक्लेशवस्था चित्तस्य निरोधः । निरोधहेतुनैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो **मार्गः** ।

(५) सामीप्ये च व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा । चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत् ।

(६) संसरन्ति स्थानात्स्थानान्तरं भवाद् भवान्तरं वा गच्छन्तीत्येवंशीलाः **संसारिणः** ।

(७) स्कन्धाः सचेतना अचेतना वा परमाणुप्रचयविशेषाः ते च स्कन्धाः पञ्च प्रकीर्तिताः । तद्यथा-विज्ञानस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः, संस्कारस्कन्धः, रुपस्कन्धश्च । तत्र रुपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादि निर्विकल्पकं विज्ञानं विशिष्टज्ञानं **विज्ञानस्कन्धः** । सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना **वेदनास्कन्धः** । संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणात्मकः प्रत्ययः **संज्ञास्कन्धः** । पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदायः **संस्कारस्कन्धः** पृथिवीधात्वादयो रुपादयश्च **रुपस्कन्धः**।

(८) आत्मात्मीयसंबंधेन परपरकीयसंबंधेन वा यतो रागद्वेषादयः समुद्भवति स समुदयः ।

(९) परमनिकृष्टः कालः क्षणः, तत्र भवाः क्षणिकः क्षणमात्रावस्थितः ।

(१०) बौद्धमते सर्वसंस्काराः = सर्वपदार्थाः क्षणविनश्वराः ।

(११) यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसद् ।

(१२) यत् सत् तत् क्षणिकम् ।

(१३) बौद्धाः द्वादशायतनानि अभिदधते । तद्यथाः- १. चक्षु, २. श्रोत्र, ३. घ्राण, ४. रसन, ५. स्पर्शन, ६. रुप, ७. रस, ८. गंध, ९. स्पर्श, १०. शब्द, ११. मन, १२. सुख-दुःखादि धर्म ।

(१४) प्रमाणस्य विशेषलक्षणं सामान्यलक्षणाविनाभावीति नियमः ।

(१५) अविसंवादकं ज्ञानं **प्रमाणम्** । अविसंवादकत्वं चार्थप्रापकत्वेन **व्याप्तम्** । अर्थव्यापकत्वं च प्रवर्त्तकत्वेन व्यापि । प्रवर्तकत्वमपि विषयोपदर्शकत्वेन व्यानशे ।

(१६) एवकारो विशेषणेन विशेष्येण क्रियया च सह भाष्यमाणः क्रमेणायोगान्ययोगात्यन्ता-योगव्यवच्छेदकारित्वात्त्रिधा भवति ।

(१७) बौद्धदर्शने प्रत्यक्षानुमानलक्षणे द्वे एव प्रमाणे ।

(१८) नानुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः ।

(१९) यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्था न तत्र प्रकारान्तर संभवः । तद्यथा पीतादौ नीलप्रकारव्यवच्छेदेनानीलप्रकारव्यवस्थायाम् ।

(२०) प्रतिगतमक्षमिन्द्रियं प्रत्यक्षम् । कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यद्यसंयुक्तम् ।

(२१) अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः ।

(२२) प्रत्यक्षं नासद्भूतवस्तुग्राहकं, किं तु यथावत्परस्परविविक्तक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणस्वलक्षण-परिच्छेदकम् ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२३) इदं प्रत्यक्षं चतुर्धा। इन्द्रियज्ञानं, मानसं, स्वसंवेदनं, योगिज्ञानं च। तत्र चक्षुरादीन्द्रियपञ्चकाश्रयेणोत्पन्नं बाह्यरुपादिपञ्चविषयालम्बनं ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । स्वविषयानन्तरं विषयसहकारिणैन्द्रियज्ञानेन समनन्तर-प्रत्ययसंज्ञकेन जनितं मनोविज्ञानं मानसम्। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम् चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानं। चित्ते भवाश्चैत्ता वस्तुविशेषा रुपग्राहकाः सुखदुःखापेक्षालक्षणाभूतार्थभावनाप्रकर्ष पर्यन्तजं योगिज्ञानम् । (भूतार्थः प्रमाणोपपन्नार्थः।) भावना पुनः पुनश्चेतसि समारोपः।

(२४) बौद्धा ज्ञानस्य चत्वारः प्रत्यया आमनन्ति। तद्यथा १. आलंबन प्रत्ययः, २. सहकारिप्रत्ययः, ३. अधिपत्ति प्रत्ययः, ४. समनन्तर प्रत्ययश्च।

(२५) अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि संधानतः प्रमा।

(२६) त्रिरुपाल्लिङ्गाद्धेतोः सम्यगवगताल्लिङ्गिनः परोक्षस्य वस्तुनो यज्ज्ञानं, तदनुमानसंज्ञितं प्रमाणम् । लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानमभिधीयते। तच्च द्वेधा, स्वार्थं परार्थं च। यदा च त्रिरुपाल्लिङ्गात् स्वयं लिङ्गिनं साध्यं प्रतिपद्यते, तदा स्वार्थानुमानम्। यदा तु परं प्रति साध्यस्य प्रतिपत्तये त्रिरुपहेत्वभिधानं, तदा परार्थमनुमानम्

(२७) लिङ्गम् - अनुपलब्धिस्वभावकार्यभेदात्त्रिधैव भवति। तत्र अनुपलब्धिः चतुर्धा (मूलभेदापेक्षया) वर्ण्यते १. विरुद्धोलब्धिः, २. विरुद्धकार्योपलब्धिः, ३. कारणानुपलब्धिः, ४. स्वभावानुपलब्धिश्च।

(२८) अविनाभावश्च तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव व्याप्तः।

(२९) तादात्म्यतदुत्पत्ती चानुपलब्धिस्वभावकार्येष्वेव विद्येते नान्यत्र।

(३०) ततस्तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धविकलानामनुपलब्धिस्वभावकार्यव्यतिरिक्तानामर्थानां सर्वेषां हेत्वा-भासतैव प्रत्येतव्या।

(३१) पक्षधर्मत्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्वलक्षणानि हेतोलिङ्गस्यत्रीणि रूपाणि। (३२) साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, तस्य धर्मः पक्षधर्म, तद्भावः पक्षधर्मत्वम् । पक्षधर्मत्वं पक्षे हेतोःसद्भावः। (३३) समानः पक्षः सपक्षः । सपक्षे = दृष्टान्ते हेतोः सत्त्वम् सपक्षसत्त्वम्। (३४) विरुद्धः पक्षः विपक्षः । विपक्षे हेतोः असत्त्वम् विपक्षासत्त्वम्।

श्लोक - १२ से ३२ (नैयायिकदर्शनम्)

(१) नैयायिकमते विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः सृष्टिसंहारकृच्छिवो देवः।

(२) ईश्वरजगत्कर्तृत्वे अयं अनुमानप्रयोगः । भूभूधरसुधाकरदिनकरमकराकरादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं, कार्यत्वात्। यद्यत्कार्यं तत्तद्बुद्धिमत्पूर्वकं, यथा घटः, कार्यं चेदं तस्माद्बुद्धिमत्पूर्वकम्। यश्चास्य बुद्धिमान्स्त्रष्टा, स ईश्वर एवेत्यन्वयः । व्यतिरेके गगनम्।

(३) नित्योऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः कूटस्थः।

(४) स्वोत्पत्तावपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इष्यते।

(५) नैयायिकमते षोडश तत्त्वानि भवन्ति। तद्यथा - १. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टांत, ६. सिद्धांत, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति, १६. निग्रहस्थान।

अर्थोपलब्धिहेतुः **प्रमाणम्**। प्रमीयते ज्ञानं अनेन इति प्रमाणम्। ज्ञानस्य जनकं द्विविधम्। अचेतनं ज्ञानं च।

प्रमेयं प्रमाणजन्यज्ञानेन ग्राह्यं वस्तु। दोलायमाना प्रतीतिः **संशयः**। प्रयोजनमभीष्टं साधनीयं **फलम् दृष्टान्तो** वादिप्रतिवादिसंमतं **निदर्शनम्**। **सिद्धान्तः** सर्वदर्शनसम्मतशास्त्रप्रभृतिः। अवयवाः पक्षादयोऽनुमानस्याङ्गानि। संदेहादूर्ध्वमन्वयधर्मचिन्तनं **तर्कः**, स्थाणुरत्राधुना संभवतीति। स्थाणुरेवायमित्यवधारणं **निर्णयः**। गुरुणा समं तत्त्वनिर्णयार्थं वदनं **वादः**। परेण समं जिगीषया जल्पनं **जल्पः**। अपरामृष्टवस्तुतत्वं मौखर्यमात्रं **वितण्डा**। हेतुवदाभासमाना **हेत्वाभासा** न सम्यग्घेतवः। परवचनविघातार्थविकल्पोत्पादनानि **छलानि**। जातयोऽ-सम्यग्दुषणानि। यैरुक्तैर्वक्तानिगृह्यते तानि **निग्रहस्थानानि**।

(६) नैयायिकदर्शने चत्वारि प्रमाणानि सन्ति। तद्यथा :- १. प्रत्यक्षं २. अनुमानं, ३. उपमानं, ४. शाब्दम् च। (७) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् (न्यायसूत्र-१।१।४) (८) इन्द्रियं चक्षुरादिमनः पर्यन्तम्। रूपादयस्तदर्थाः।

(९) सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः इन्द्रियस्य प्राप्तिः संबन्धः। स च षोढा। तद्यथा १. संयोगः, २. संयुक्तसमवायः, ३. संयुक्तसमवेत समवायः, ४. समवायः, ५. समवेत समवायः, ६. विशेषणविशेष्यभावः।

(१०) अव्यपदेश्यं नामकल्पनारहितम्। तस्मिंस्तदिति ज्ञानमव्यभिचारि। व्यवसीयतेऽनेनेति व्यवसायः = विशेषः, विशेषजनितं व्यवसायात्मकं अथवा व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकम्।

(११) यदा प्रत्यक्षं प्रमाणम्, तदा ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणफलम्। यदा ज्ञानं प्रमाणम्, तदा हानादिबुद्धयः फलम्

(१२) प्रत्यक्षं द्वेधा १. अयोगिप्रत्यक्षं, २. योगिप्रत्यक्षं च। यदस्मदादीना मिन्द्रियार्थसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते, तदयोगिप्रत्यक्षम्। तदपि द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं च। तत्र वस्तुस्वरुपमात्रभासकं निर्विकल्पकं यथा प्रथमाक्षसन्निपातजं ज्ञानम्।

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकं यथा देवदत्तोऽयं दण्डी।

योगिप्रत्यक्षं तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। तदपि द्विविधं, युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च।

तत्र समाध्यैकाग्र्यवतां योगधर्मेश्वरादिसहकृतादात्मान्तः करणसंयोगादेव बाह्यार्थसंयोगनिरपेक्षं यदशेषार्थग्रहणं, तद्युक्तानां प्रत्यक्षम्। एतच्च निर्विकल्पकमेव भवति।

असमाध्यवस्थायां, योगिनामात्ममनोबाह्येन्द्रियरूपाद्याश्रयचतुष्कसंयोगाद्रूपादीनां, आत्ममनः श्रौत्रत्रय-संयोगाच्छब्दस्य, आत्ममनोद्वयसंयोगात्सुखादीनां च यद्ग्रहणं, तद्वियुक्तानां प्रत्यक्षम्। तच्च निर्विकल्पकं सविकल्पकं च प्रतिपत्तव्यम्।

(१३) तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च। पूर्ववत् = केवलान्वयी अनुमानम्। शेषवत् = केवलव्यतिरेकी अनुमानम्। सामान्यतोदृष्टम् अन्वयव्यतिरेकी अनुमानम्। पूर्वं कारणं विद्यते यत्रानुमाने तत्पूर्ववत् अर्थात् यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, तत्पूर्ववत् यथा विशिष्टमेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति। शेषं कार्यं तदस्यास्ति तच्छेषवत् अर्थात् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते तत्शेषवत् यथा नदीपूर दर्शनाद् वृष्टिः। यत्र अकार्यकारणभूतेनाविनाभाविना लिङ्गेन लिङ्गिनोऽवगमः। तत्सामान्यतोदृष्टानुमानम् यथा बलाकया सलिलस्येति।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४) पूर्वप्रतिपत्त्या तुल्या प्रतिपतिर्यतो भवति तत्पूर्ववदनुमानम्। शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्तानां प्रतिषेधेऽन्यत्र प्रसङ्गासंभवाच्छिष्यमाणस्य संप्रत्ययः। यत्र धर्मी साधनधर्मश्च प्रत्यक्षः साध्यधर्मश्च सर्वदाऽप्रत्यक्षः साध्यते तत्सामान्यतोदृष्टम्। (१५) प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् उपमानम्। अथवा प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्य-साधनमुपमानम्।

(१६) शाब्दं तु प्रमाणमाप्तोपदेशः। आप्त एकान्तेन सत्यवादी हितश्च तस्योपदेशो वचनमाप्तोपदेशः।

(१७) प्रमेयं तु प्रमाणफलम्, तच्च द्वादशविधम्। आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-फलदुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधं **प्रमेयम्**। (१८) इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदुःखज्ञानादीनामश्रयः आत्मा। (१९) तद्भोगायतनं शरीरम्। (२०) पञ्चेन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि। (२१) पञ्चार्था रुपरसगन्धस्पर्शशब्दाः।

(२२) इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सत्यपि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। तत्सर्वविषयं, अणु वेगवदाशुसंचारि - नित्यं च। (२३) वाग्मनः कायव्यापारः शुभाशुभफलः **प्रवृत्तिः**। (२४) रागद्वेषमोहास्त्रयो **दोषाः**। (२५) देहेन्द्रियादिसंघातस्य प्राक्तनस्य त्यागेन संघातान्तरग्रहणं **प्रेत्यभावः**। (२६) प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं **फलं**, तत्साधनं एष एव संसारः तु गौणम्। (२७) पीडासंतापस्वभावजं **दुःखम्**। (२८) आत्यन्तिको दुःखवियोगो**ऽपवर्गः**।

(२९) यः संदिग्धोऽनेककोटिपरामर्शो प्रत्ययो विमर्शः **संशयः**।

(३०) यदर्थित्वात् प्रवर्तते **तत्प्रयोजनम्**। अथवा यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते **तत्प्रयोजनम्**॥ न्यायसूत्र-१।१।२४॥

(३१) यो न विवादविषयः **स दृष्टान्तः**। (३२) शास्त्र प्रतिपादितनियमः **सिद्धान्तः**। सः चतुर्विधः। तथाहि - १ सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, २. प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, ३. अधिकरणसिद्धान्तः, ४. अभ्युपगमसिद्धान्तश्च। (३३) सर्वेषां शास्त्राणां संप्रतिपत्तिविषयः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। (३४) समानतन्त्रप्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः। (३५) यस्य सिद्धान्तस्य प्रक्रियमाणस्य, प्रतिज्ञार्थस्य प्रसङ्गेनाधिकस्य सिद्धि, सोऽधिकरणसिद्धान्तः।

(३६) प्रौढपादिभिः स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया यत्किंचिद्वस्त्वपरीक्षितमभ्युपगम्य विशेषः परीक्ष्यते **सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः।**

(३७) प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम् अवयवत्वम्। अवयवाः पञ्च। १. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. दृष्टांत, ४. उपनयः, ५. निगमनं। प्रतिज्ञा पक्षः धर्मधर्मिवचनम्, यथा कृशानुमानयं सानुमान्। हेतुः साधनं लिङ्गवचनम्, यथा धूमवत्त्वात्। दृष्टान्त उदाहरणाभिधानम्। तद्विविधम् - १. अन्वयमुखेन, २. व्यतिरेकमुखेन च। उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्। यथा धूमवांश्चायम्। निगमनं हेतूपदेशेन साध्यधर्मोपसंहरणम्, धूमवत्त्वात्कृशानुमान्।

(३८) सम्यग्वस्तुस्वरुपानवबोधे किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति **संदेहः** संशयस्तयंस्योपरमे तर्कोऽन्वयधर्मान्वेषणरूपो भवेत्। अथवा अविज्ञाततत्त्वऽर्थे कारणोपपत्तिस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः॥ न्यायसूत्र - १।१।४०॥

(३९) संदेहतर्काभ्यां उर्ध्वं प्रत्ययो निर्णयः अथवा विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं **निर्णयः**॥ न्यायसूत्र १।१।४१॥

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४०) वादिप्रतिवादिनो पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा (वादः)। सा द्विविधा, वीतरागकथा विजिगीषुकथा च। यत्र वीतरागेण गुरुणा सह शिष्यस्तत्त्वनिर्णयार्थे साधनोपालम्भौ करोति, सा वीतरागकथा। (साधनं स्वपक्षे, उपालम्भश्च परपक्षेऽनुमानस्य दूषणम्।

(४१) छलजात्यादिदूषण या विजिगीषुकथा स **जल्पः**। (४२) प्रतिपक्षवर्तिता या विजिगीषुकथा सा **वितण्डा**।

(४३) असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च **हेत्वाभासाः**।

(४४) पक्षधर्मत्वं यस्य नास्ति **सोऽसिद्धः**। यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्।

(४५) विपक्षेसन्मसपक्षे चासन् **विरुद्धः**। यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्।

(४६) पक्षादित्रयवृत्तिर**नैकान्तिकः**। यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्।

(४७) प्रत्यक्षागमविरुद्धे पक्षे वर्तमानः हेतुः **कालात्यपापदिष्टः**। यथा अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात्, बाह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात्यथा क्षीरवत्।

(४८) स्वपक्षसिद्धाविव परपक्षसिद्धावपि त्रिरुपो हेतुः **प्रकरणसमः**। यथा अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटवत्, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेराकशवत्।

(४९) परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतकल्पनया वचनविघातश्छलम्। **तत्त्रिविधं** वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारछलं च। परोक्तेऽर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। संभावनयाति प्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम्। औपचारिके प्रयोगे मुख्यार्थकल्पनया प्रतिषेध उपचारछलम्।

(५०) दूषणाभासा जातयः। अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः। सा च साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन चतुर्विंशतिभेदाः।

१. साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति। २. वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः। ३. उत्कर्षेण प्रत्यवस्थानं उत्कर्षसमा जातिः। ४. अपकर्षेण प्रत्यवस्थानं अपकर्षसमा जातिः। ५. वर्ण्येन प्रत्यवस्थानं वर्ण्यसमा जातिः। ६. अवर्ण्येन प्रत्यवस्थानं अवर्ण्यसमा जातिः। ७. धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। ८. साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः। ९+१०. प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती। ११. प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। १२. प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। १३. अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिः। १४. या साधर्म्यसमा वैधरम्यसमा वा जातिः सैव संशयेन उपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिः। १५. द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा च जातिः प्रकरणसमा जातिः। १६. त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानं हेतुसमा जातिः। १७. अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जातिः। १८. अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः। १९. उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः। २०. उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः। २१. अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः। २२. साध्यधर्मनित्यानित्यविकल्पेन शब्दस्य नित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः। २३. सर्वभावानामनित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः। २४. प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५१) येन केनचित्प्रतिज्ञाहान्याद्युपरोधेन विपक्षो निगृह्यते, तन्निग्रहस्थानम् । निग्रहस्थानं च सामान्यतो द्विविधं, विप्रतिपत्तिरप्रतिपतिश्च । (५२) तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्तु साधनस्यादूषणं चानुद्धरणम् । (५३) द्विधा हि वादी पराजीयते । यथा कर्तव्यमप्रतिपाद्यमानो विपरीतं वा प्रतिपद्यमान इति विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिभेदाच्च **द्वाविंशतिर्निग्रहस्थानानि** भवन्ति । (१) हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः **प्रतिज्ञाहानि**र्नाम निग्रहस्थानम् भवति । (२) प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः **प्रतिज्ञान्तरं** नाम निग्रहस्थानम् भवति । (३) प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः **प्रतिज्ञाविरोधो** नाम निग्रहस्थानम् भवति । (४) पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धारणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य **प्रतिज्ञासंन्यासो** नाम निग्रहस्थानम् भवति । (५) अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो **हेत्वन्तरं** नाम निग्रहस्थानम् । (६) प्रकृतादर्थादन्योऽर्थोऽर्थान्तरं तदनौपायिकमभिदधतो**ऽर्थान्तरं** नाम निग्रहस्थानम् । (७) अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं **निरर्थकं** नाम निग्रहस्थानम् । (८) परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातम**विज्ञातार्थं** नाम निग्रहस्थानम् । (९) पूर्वापरासंगतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठित वाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानम् ।

(१०) प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लंध्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्य-**मप्राप्तकालं** नाम निग्रहस्थानम् । (११) पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं प्रयुञ्जानस्य **न्यूनं** नाम निग्रहस्थानम् । (१२) एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतो**ऽधिकं** नाम निग्रहस्थानम् । (१३) शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानम् । (१४) पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि पदप्रत्युच्चारणं, **तदननुभाषणं** नाम निग्रहस्थानम् । (१५) पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं, **तदज्ञानं** नाम निग्रहस्थानम् । (१६) परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपतिर**प्रतिभा** नामं निग्रहस्थानम् । (१७) कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो **विक्षेपो** नाम निग्रहस्थानं भवति । (१८) स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो **मतानुज्ञा** नाम निग्रहस्थानम् । (१९) निग्रहप्राप्तस्यनिग्रहः **पर्यनुयोज्योपेक्षणं** नाम निग्रहस्थानम् । (२०) अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थानम् । (२१) सिद्धान्तमभ्युपेत्या-नियमात्कथाप्रसङ्गो**ऽपसिद्धान्तो** नाम निग्रहस्थानम् । (२२) हेत्वाभासाश्च यथोक्ता असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् । (२३) अत्रापि – अननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिप्रकाराः शेषाश्च विप्रतिपत्तिभेदाः ।

(५४) न्यायमते – १. अर्थोपलब्धिहेतुः **प्रमाणम्** । २. एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यं ज्ञानं प्रमाणाद्भिन्नं **फलम्**, ३. स्मृतेर**प्रामाण्यम्**, ४. परस्परविभक्तौ सामान्यविशेषौ नित्यानित्यत्वे सदसदंशौ च । ५. प्रमाणस्य विषयः **पारमार्थिकः**, ६. तमश्छाये **अद्रव्ये**, ७. आकाशगुणः शब्दो**ऽपौद्गलिकः**, ८. संकेतवशादेव शब्दादर्थप्रतीतिर्न पुनस्तत्प्रतिपादनसामर्थ्यात् । ९. धर्मधर्मिणोर्भेदः, १०. सामान्यमनेकवृत्तिः, ११. आत्मविशेषगुणलक्षणं कर्म । १२. वपुर्विषयेन्द्रियबुद्धिसुखदुःखानामुच्छेदा-दात्मसंस्थानं मुक्तिः ।

श्लोक-३३ से ४४ (सांख्यदर्शनम्)

(१) सांख्याः केचित्निरीश्वराः केचिदीश्वरदेवताः । तेषां मते तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ।

(२) आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं दुःखत्रयम् ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) आध्यात्मिकं द्विविधं, शारीरं मानसं च तत्र वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तं यद्दुःखमात्मानं देहमधिकृत्य ज्वरातीसारादि समुत्पद्यते तच्छारीरम्। मानसं च कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धम्

(४) आधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिमुगसरीसृपस्थावरनिमित्तं, आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहा-द्यावेशहेतुकम्।

(५) सत्त्वादिगुणत्रयं क्रमेण प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम्। सत्त्वं सुखलक्षणं, रजो दुःखलक्षणं तमश्च मोहलक्षणम्।

(६) प्रसादबुद्धिपाटवलाघवप्रसवानभिष्वङ्गाद्वेषप्रीत्यादयः कार्यं सत्त्वस्य लिङ्गम्। तापशोषभेदचल-चित्ततास्तम्भोद्वेगाः कार्यं रजसो लिङ्गम्। दैन्यमोहमरणसादनबीभत्साज्ञानागौरवादीनि कार्यं तमसो लिङ्गम्।

(७) सत्त्वादिगुणानां या साम्यावस्था सा प्रकृतिरुच्यते। सा नित्यस्वरुपिका प्रधानाऽव्यक्त शब्दाभ्यां वाच्या।

(८) नित्यं अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं स्वरुपम्।

(९) मौलिक्यसांख्या आत्मानमात्मनं प्रति पृथक् पृथक् प्रधानं वदन्ति, उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः ॥

(१०) प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिर्जायते।

(११) प्रकृतेर्बुद्धिः संजायते । बुद्धेरप्यहंकार उत्पद्यते । अहंकारात्षोडशको गण उत्पद्यते । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च रुपादितन्मात्राणि, मनश्च इति षोडशको गणः।

(१२) बुद्धेः अष्टौ रूपाणि । धर्म ज्ञान वैराग्य एश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, तत्प्रतिपक्षभूतानि अधर्मादीनि चत्वारि तामसानीति।

(१३) पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतान्युत्पद्यन्ते। रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः स्पर्शाद्वायुश्च उत्पद्यते।

(१४) रुपतन्मात्रं शुक्लकृष्णादिरूपविशेषः । रसतन्मात्रं तिक्तादिरसविशेषः । गन्धतन्मात्रं सुरभ्यादि-गन्धविशेषः । शब्दतन्मात्रं मधुरादिशब्दविशेषः स्पर्शतन्मात्रं मृदुकठिनादिस्पर्शविशेषः।

(१५) प्रकृतिर्नविकारः, अनुत्पन्नत्वात् । बुद्ध्यादयश्च सप्त परेषां कारणतया प्रकृतयः, कार्यतया च विकृतयः उच्यन्ते षोडशकश्च गणो विकृतेरव कार्यत्वात् । पुरुषस्तु न प्रकृतिर्न विकृतिः अनुत्पाद-कत्वादनुत्पन्नत्वाच्च ।

(१६) सांख्यमते पुरुषस्तु अकर्ता, विगुणः, भोक्ता, नित्यचेतनश्च।

(१७) महादादयः प्रकृतेर्विकारास्ते च व्यक्ताव्यक्ता भवन्ति। व्यक्तं हेतुमद् अनित्यं, अव्यापि, सक्रियं, अनेकं, आश्रितं, लिङ्गं, सावयवं, परतन्त्रम्, अव्यक्तं पुनः विपरीतम्।

(१८) सांख्यमते प्रकृतिरेव कर्त्री, तस्याः प्रवृत्तिस्वभावत्वात् । पुरुषस्तु अकर्ता, आत्मनस्तृणमात्र-कुब्जीकरणेऽप्यसमर्थत्वात् ।

(१९) सांख्यमते पुरुषस्य चैतन्यमेव स्वरूपं न तु ज्ञानं, ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वात्।

(२०) सांख्यमते आत्मानेकोऽभ्युपगन्तव्याः जन्ममरणकरणानां नियमदर्शनाद् धर्मादि प्रवृत्तिनानात्वाच्च। ते च सर्वेऽप्यात्मानः सर्वगता नित्याश्चवसेयाः।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२१) सांख्यदर्शने अमूर्तश्चेनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा ।

(२२) प्रधाननरयोश्चात्र (प्रकृतिपुरुषयोश्चात्र) वृत्तिः पंग्वन्धयोरिव । पङ्गुकल्पः शुद्धचैतन्यस्वरुपः पुरुषोऽप्यन्धकल्पां जडां प्रकृतिं सक्रियमाश्रितो बुद्धयध्यवसितं शब्दादिकं स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं चेतयमानो मोदते, मोदमानश्च प्रकृतिं सुखस्वभावां मोहान्मन्यमानः संसारमधिवसति ।

(२३) अन्तरज्ञानात् (विवेकज्ञानात्)पुरुषस्य यः प्रकृतेर्वियोगो भवति, स मोक्षः । विवेकदर्शनेन उपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरुपेणावस्थानं मोक्षः ।

(२४) मोक्षोबन्धविच्छेदाद् भवति । बन्धश्च प्राकृतिक वैकारिक-दाक्षिणभेदात्त्रिविधः । तत्र प्रकृतावात्मज्ञानात् ये प्रकृतिमुपासते, तेषां प्राकृतिको बन्धः । ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धीः पुरुषबुद्धयोपासते, तेषां वैकारिकः । इष्टापूर्तेदाक्षिण पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यते ।

(२५) बन्धात्प्रेत्यसंसरणरुपः संसारः प्रवर्तते ।

(२६) सांख्यमते प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्य पुरुषस्य न बन्धमोक्षसंसाराः, किन्तु प्रकृतेरेव । तथापि विवेकाग्रहात् प्रकृतिगतयोरपि संसारमोक्षयोः पुरुषे उपचर्यन्ते ।

(२७) सांख्यमते प्रमाणत्रितयम् । तथाहि - प्रत्यक्षं लैङ्गिकं,शाब्दम् ।

(२८) अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् ।

(२९) श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पका प्रत्यक्षं । तेषां मते इन्द्रियाण्येव विषयाकारपरिणतानि प्रत्यक्षम् ।

(३०) लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं ज्ञानं अनुमानम् । पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति त्रिविधमनुमानम् ।

(३१) शाब्दं आप्तश्रुतिवचनम् ।

(३२) प्रकृतिविकारस्वरुपं कर्म । प्रधानं त्रैगुण्यरुपं सामान्यम् । प्रमाणविषयस्तात्त्विकः कारणे कार्यं सदेवोत्पद्यतेऽसदकारणादिभ्यो हेतुभ्यः द्रव्याण्येव केवलानि सन्ति, न पुनरुत्पत्तिविपत्तिधर्माणपर्यायाः केऽपि, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वात्तेषाम् ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट - ७

दार्शनिक-पारिभाषिक शब्द-सूची

[अ]
अकर्ता
अकाम
अकिंचित्कर
अकिंचित्करत्व
अकौरुष
अक्रियावादी
अक्ष
अक्षज
अक्षपाद
अखरविषाण
अगस्ति
अगस्त्य
अगृहीतार्थग्राहक
अगरुधूप
अगोरसव्रत
अग्नि
अग्निदग्धपाषाणखण्डिका
अग्निहोत्र
अङ्कुर
अङ्गना
अचित्तमहास्कन्ध
अचेतन
अजहद्वृत्ति
अजीव
अतीत
अतीन्द्रिय
अतीन्द्रियार्थज्ञान
अत्यन्ताभाव
अद्य
अधर्म
अधर्मास्तिकाय
अधर्मद्रव्य
अधिक
अधिकरण सिद्धान्त
अध्यात्मवादी
अडित्थ
अण्डक
अथर्व
अदृष्टार्थकल्पना
अध्यक्ष
अनन्तधर्म
अनन्तधर्मात्मकता
अनन्तधर्मात्मकवस्तु
अननुभाषण
अनवगत
अनवस्था
अनागत
अनादि पारिणामिक
अनाद्यनन्त
अनित्य
अनिल
अनुत्तर विमान
अनुत्पत्ति (समा)
अनुपलब्धि
अनुप्रेक्षा
अनुभयहेतु
अनुभाग
अनुभागबन्ध
अनुमान
अनुवृत्ति
अनुश्रेणि
अनुष्ठान
अनेकान्त
अनेकान्तजयपताका
अनेकान्तप्रघट्टक
अनेकान्तप्रवेश
अनेकान्तमत
अनेकान्तात्मकता
अनेकान्तशासन
अनेकान्तरूप हेतु
अनेकार्थनाममाला
अनैकान्तिक
अन्त्यज
अन्तरिक्ष
अन्तर्गडु
अन्तराय
अन्तःकरण
अन्न
अन्यथानुपपत्ति
अन्ययोगव्यवच्छेद
अन्योन्याभाव
अन्वय
अन्वयदृष्टान्त
अन्वयव्यतिरेकि
अपकर्ष (समा)
अपचय
अपथ्य
अपरत्व
अपरसामान्य
अपवर्ग
अपसिद्धान्त
अपान
अपारमार्थिक
अपार्थकम्
अपुण्य
अपौरुषेय
अप्
अप्काय
अप्रतिभा
अप्राप्तकाल
अप्रसिद्ध
अप्राप्ति (समा)
अबला
अबाधितविषय
अब्राह्मण
अभव्य
अभव्यसंसार
अभयतिलकोपाध्याय
अभाव
अभावप्रमाण
अभिनिबोध
अभेदप्रतिभास
अभ्रान्त
अभ्यञ्जन
अभ्युपगतसिद्धान्त
अम्बर
अम्भोरुह
अयस्पिण्ड
अयुतसिद्ध
अयोगिप्रत्यक्ष
अरूपित्व
अर्चट
अर्चिमार्ग
अर्चिमार्गानुग
अर्चिमार्गविरुद्ध-धूममार्गानुगामी
अर्थ
अर्थान्तरं
अर्थापत्ति (समा)
अर्थापत्तिसाध्य
अर्थोपलब्धि
अर्थोपलब्धि
अर्धजरती
अर्धतृतीयद्वीप
अर्श
अर्हन्
अर्हन्त
अलाबु
अलोक
अलोकाकाश
अवकर
अवक्षेप
अव्यक्तव्य
अवगत
अवग्रह
अवगाह
अवधिदर्शन
अवयव
अवयवावयवि
अवर्ण्य (समा)
अवाच्यत्व
अवाय
अविकृति
अविगान
अविद्या
अविरति
अविसंवाद
अविशेषसमा
अविज्ञातार्थम्
अवैशद्य
अव्यक्त
अव्यपदेश्य
अव्यभिचारि
अशुभकर्मबन्धहेतु
अशोक
अश्वमेध
अष्टसहस्री
अष्टादशशीलाङ्गधारी
अस्तित्व

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्वसंबन्ध
अस्तेय
असंकर
असत्प्रतिपक्ष
असत्त्व
असाता
असिद्ध
असिद्धत्व
असुरभि
असूया
अस्ताचल
अस्तिकाय
अहंकार
अहमर्धिक
अहमर्द्धिक
अहिंसा
अहि
अहेतु (समा)
अत्रि
अज्ञान

[आ]

आकाश
आकाशगुण
आकाशद्रव्य
आकिञ्चन्य
आकुञ्चन
आगम
आचाराङ्ग
आतप
आत्मगुण
आत्मसिद्धि
आत्मा
आत्मादिद्रव्य
आत्मवादी
आत्मसंवेदन
आत्यन्तिक
आत्यन्तिकवियोग
आदर्श
आदाननिक्षेप
आदित्य
आधाराधेय
आधिदैविक
आधिभौतिक
आनन्द
आप्तपरीक्षा
आप्त
आमलकी
आम्ल
आयुर्वेद
आयु आदि बाह्य प्राण
आराम
आर्यसत्य
आर्हत
आसुरि
आस्तिकवाद
आस्रव
आश्रयदोष
आश्रयासिद्ध
आहोपुरुषिका
आत्रेयतन्त्र
आज्ञानिक
आज्ञासिद्ध

[इ]

इन्द्रजाल
इन्द्रियसंनिकर्ष
इन्द्रियार्थसंनिकर्ष
इलापुत्र
इषुकारनर
इष्टापूर्ति

[ई]

ईर्या
ईर्यापथ
ईशान
ईश्वर
ईश्वर
ईश्वरकृष्ण
ईश्वरदेवता
ईश्वरप्रत्यक्ष
ईश्वरबुद्धि
ईश्वरवादी
ईहा

[उ]

उत्कर्ष (सम)
उत्कर्षापकर्षसमा
उत्कुरुडिका
उत्क्षेप
उत्क्षेपण
उत्क्षेप्य
उच्छवास
उत्तरप्रकृति
उत्तरबन्ध
उत्तरमीमांसावादी
उत्पादव्ययध्रौव्य
उत्सर्ग
उदयाचल
उदयन
उदीरणा
उद्वेग
उद्योत
उद्योतकर
उपचारच्छल
उपनय
उपपत्ति (समा)
उपमान
उपमेय
उपरम
उपल
उपलब्धि (समा)
उपवास
उपस्थ
उपायोपेय
उभयहेतु
उरः
उलूक
उष्ण

[ऊ]

ऊह

[ऋ]

ऋक्
ऋतुविभाग
ऋषभ

[ए]

एकदण्डा
एरण्डयन्त्रपेडा
एषणा

[ऐ]

ऐतिह्य
ऐन्द्रियकत्व
ऐन्द्रियप्रत्यक्ष
ऐश्वर्य
ऐषम

[ओ]

ओष्ठ

[औ]

औदारिक
औलूक्य
औंबेक

[क]

कञ्चुकसंयोगकल्प
कञ्चुकि
कट
कटु
कठिन
कठोर
कडि
कणाद
कण्टक
कण्ठ
कण्ठेरेखात्रयाङ्कितसर्वज्ञ
कन्दली
कपिल
कपिलाण्ड
कपिलमत
कमण्डलु
कमलशील
कर्कादि
कर्तृत्वानुपपत्ति
कर्म
कर्मग्रन्थ
कर्मत्व
कलल
कल्प
कल्पनापोढ
कवलाहार
कषाय
कषायादिसङ्ग
ककुच्छन्द
क्रमभावीधर्म
काकतालीय
काञ्चन
काण्ठेवि
कान्तार
कापालिक
कापिल
काम
कायक्लेश
कायाकारपरिणाम
कायोत्सर्गकरण
कारणानुपलब्धि
कारणानुपलम्भ
कारणानुमान
कारीष
कार्यकारणभाव
कार्यानुमान
कार्यसमा
कार्यहेतु
काल
कालद्रव्य
कालमुख
कालवचन

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालवादी
कालात्ययापदिष्ट
काश्यप
काष्ठ
काष्ठसङ्ग
किरणावली
किसलय
कुट
कुटीचर
कुड्य
कुमार
कुमारिल
कुमुद
कुम्भकार
कुशिक
कूटस्थ
कृतक
कृत्ति
कृत्स्नकर्मक्षयं
कृमि
क्रिया
क्रियाकल्पना
क्रियावादी
कृषि
कृषीबल
कृष्ण
केतकतरु
केवलदर्शन
केवलान्वय
केवलान्वयि
केवलव्यतिरेक
केवलज्ञानदर्शन
केवलज्ञानावरण
केवलिनर
केवलिप्रणीत
केशोण्डुकज्ञान
कोटाकोटी
क्रोकुल
क्रोधादिपरिणतत्व
क्रोधादिविजयी
कौपीनवसना

[ख]

खट्वा
खद्योत
खपुष्प
खरविषाण

[खा]

खारी

[ग]

गति
गन्ध
गन्धहस्ति
गमन
गलनक
गले पादिका न्याय
गवय
गवल
ग्रह
गार्ग्य
ग्राहक
गुण
गुणकल्पना
गुणत्व
गुणरत्नसूरि
गुप्ति
गुरु
गुड
गुरुत्व
गृह
गृहत्यागी
गो
गोधूम
गोप्यसंघ
गोयम
गोस्वामिनामकदिव्यपुरुष
गोष्ठामाहिल
गौ
गौड़पाद
गौतम

[घ]

घट
घटमौलिसुवर्णार्थी
घ्राण
घातिकर्म
घातिचतुष्टय
घ्रेय
घोषातकी

[च]

चक्र
चक्रवर्ती
चक्षु
चतुरातुर
चतुर्भूतात्मक
चतुर्वर्ग
चन्दन
चन्द्र
चन्द्रमण्डल
चन्द्रमा
चमर
चमरी
चम्पक
चम्पकस्थ
चरक
चर्या
चारित्र
चार्वाक
चार्वाकीय
चार्वाकैकदेशीय
चिकित्सित
चिकीर्षा
चिदात्मन्
चिन्ता
चिन्तामयी
चित्रा
चीवर
चेल
चैतन्य
चैतन्यं
चोलपट्ट

[छ]

छद्मस्थ
छल
छाया
छेद्य

[ज]

जगदीश्वर
जङ्गम
जटिन
जटी
जतु
जनक
जम्बूद्वीप
जयन्त
जल
जलबुद्बुद
जल्प
जाति
जालक
जिगमिषा
जिन
जिनशासन
जिनेन्द्र
जिह्वामूल
जिज्ञासा
जीव
जीवन्मुक्ति
जीवन्मृत
ज्येष्ठ
जैन
जैनदर्शन
जैमिनि
जैमिनी
जैमिनीय

[झ]

झष
झल्लरि

[ड]

डित्थ

[त]

तटाक
तत्कार्यविरुद्ध
तत्कारणविरुद्ध
तत्पूर्वकपूर्वक
तत्पूर्वकव्यापार
तत्त्व
तत्त्वकौमुदी
तत्त्वसंग्रह
तत्त्वार्थप्रमाणवार्तिक
तत्त्वार्थभाष्य
तत्वार्थसूत्र
तद्व्यापकविरुद्ध
तदुत्पति
तन्त्र
तप
तपस्वि
तम
तमाल
तर्क
तर्कभाषा
तर्करहस्यदीपिका
ताथागत
तादात्म्य
ताप
तापस
तारादेवी
तारासमूह
तालु
तिक्त
तीर्थकर
तीर्थकरत्व

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीर्थेश
तिल
तिलक
तीव्र
तुरङ्गम
तुरुष्क
तुष
तृण
तृणस्पर्श
तेज
तेजस्
तैजसशरीर
तैमिरिकज्ञान
तैर्थिक

[द]

दंश
दक्षप्रजापति
दण्ड
दधिव्रत
दन्त
दरिद्र
दर्दुर
दर्शन
दान
दान्तेन्द्रिय
दारवी
दिक्
दिक्पट
दिग्
दिग्नाग
दिगम्बर
दिवा
दुःख
दुःखव्यावृत्ति
दुःखसमुदय
दुष्करतरतपश्चरण
दूषणाभास
दृष्टान्त
देव
देवच्छन्द
देवता
देवदत्त
देवसुन्दरसूरि
देवागम
देश
देशसंवर
दैन्य
द्रवत्व
द्रव्य
द्रव्यकल्पना
द्रव्यगुणादि
द्रव्यत्व
द्रव्यप्राण
द्रव्यभेद
द्रव्यैकान्त
द्व्यणुक
द्वादशतत्त्व
द्वादशाक्षरजापी
द्वादशाङ्ग
द्वादशायतन
द्वाविंशतिपरीषहपरिषहण
द्विज
द्विजगृहाशन
द्विरोमक
द्वेष
द्रोण

[ध]

धर्म
धर्मकीर्त्ति
धर्मता
धर्मद्रव्य
धर्मधातु
धर्मबुद्धसङ्घरूपरत्नत्रय
धर्मबुद्धि
धर्मलाभ
धर्मसंग्रहणी
धर्मसाधनी
धर्मानुप्रेक्षा
धर्मायतन
धर्मास्तिकाय
धर्मोत्तर
धातकी
धातुरक्ताम्बर
धारणा
धारावाहिकज्ञान
ध्रुव

[न]

नकुली
नक्षत्र
नक्त
नन्दादि
नपुंसक
नभोजीव
नभोऽम्बोज
नय
नयचक्रवाल
नयवाद
नरक
नरसिंह
नवकोटिविशुद्ध
नवोदक
नाग्न्यलिङ्ग
नामकल्पना
नारद
नारायणदेव
नास्तिक
नास्तित्वसंबन्ध
निगड
निगम
निगमन
निगोद
निग्रहस्थान
निग्रहस्थानं
नित्य
नित्यचित्
नित्यसमा
नित्यैकसर्वज्ञ
निमित्त
निमित्तकारण
निम्ब
नियति
नियतवादी
निरंशसद्
निरनुयोज्यानुयोग
निरन्वयविनाशी
निरपेक्ष
निरर्थकम्
निराकार
निरीश्वर
निवर्तक
निश्चितान्यथानुपपत्ति
निरोध
निर्गुण
निर्ग्रन्थगुरु
निर्जरा
निर्जरातत्त्व
निर्णय
निर्वर्तक
निर्वाण
निर्विकल्पक
निर्वृत्ति
निःप्रतिकर्मशरीरि
निःश्वास
नीहार
नैयायिक
नोदनालक्षण
नोदया
न्याय
न्यायकन्दली
न्यायकलिका
न्यायकुसुमांजलितर्क
न्यायकुमुदचन्द्र
न्यायप्रवेश
न्यायबिन्दु
न्यायभूषण
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका
न्यायवार्तिकता-
तत्पर्यपरिशुद्धि
न्यायविनिश्चयटीका
न्यायालंकारवृत्ति
न्यायसारटीका
न्यायसार
न्यायसूत्रभाष्य
न्यायावतार
न्यूनम्

[प]

पक्ष
पक्षधर्मत्व
पञ्चकेन्द्रिय
पञ्चग्रासीपरा
पञ्चभूतात्मक
पञ्चमहाभूत
पञ्चमस्वर
पञ्चरूप
पञ्चलक्षणहेतुवादी
पञ्चविंशतिगुण
पञ्चशिख
पञ्चसमिति
पञ्चस्कन्ध
पञ्चावयव
पञ्चावयवानुमान
पञ्चास्तिकाय
पटल
पटह
पतञ्जलि
पद्म
पद्मनाभ
पद्मराग
पनस
पयोव्रत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परत्व
परदर्शन
परद्रव्यक्षेत्रकालभाव
परधर्म
परपर्याय
परब्रह्म
परमपद
परममुक्ति
परमर्षि
परमहंस
परमाणु
परवस्तुव्यावृत्तत्व
परमार्थसत्
परमार्थसत्य
परलोक
परलोकयायी
परसंवेदनवेद्यता
परसमय
परस्परपरिहार
परस्परपरिहारस्थितिविरोध
पशुहिंसा
परहेतुतमोभास्करनामक-
वादस्थल
परारि
परार्थ
परार्थानुमान
परिणाम
परिणामी
परिव्राजक
परीषह
परुत्
परोक्ष
पर्यनुयोज्योपेक्षण
पर्यायार्थिकनय
पर्यायैकान्त
पर्वत
पल
पाञ्चरूप्य

पाटलिपुत्र
पाणि
पाथस
पाद
पाप
पापास्रव
पायु
पारगार्ग्य
पारमार्थिक
पारमर्षा
पाराशर
पार्थिव
पाशुपत
पाषाण
पिङ्गल
पिच्छिका
पिपासा
पिपीलिका
पिप्पल
पिप्पलाद
पिप्पली
पिशाच
पुण्य
पुद्गल
पुद्गलगुण
पुनर्जन्म ग्रहण
पुनरुक्त
पुराण
पुरुष
पुरुष
पुष्पक
पूतराः
पूर्वबन्धः
पूर्वमीमांसावादी
पूर्ववत्
पूर्वोत्तरमीमांसा
पृथक्त्व
पृथ्वी

पृथिवीकाय
पौराणिक
पौरुषेय
पौद्गलिकद्रव्य
प्रकरण (सम)
प्रकृति
प्रकृतिबन्द
प्रतिदृष्टान्तसमा
प्रतितन्त्र सिद्धान्त
प्रतिपक्ष भावना
प्रतिबिम्ब
प्रतिभा
प्रतिज्ञा
प्रतिज्ञान्तर
प्रतिज्ञाविरोधः
प्रतिज्ञासंन्यासः
प्रतिज्ञाहानिः
प्रत्यक्ष
प्रत्यभिज्ञान
प्रत्यक्षलक्षण
प्रत्यक्षाभास
प्रत्यवस्थानहेतुसमा
प्रदीप
प्रदेश
प्रदेशबन्ध
प्रधान
प्रध्वंसाभाव
प्रपञ्च
प्रपुन्नाट
प्रभाकर
प्रमाण
प्रमाणता
प्रमाणपञ्चक
प्रमाणपञ्चकाभाव
प्रमाणफलभेद
प्रमाणमीमांसा
प्रमाणवार्तिक
प्रमाणसंख्या

प्रमाणसामान्य
प्रमाणषट्क
प्रमाद
प्रमादपरिहार
प्रमेय
प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्रमेयरत्नकोश
प्रयत्न
प्रयोग
प्रयोजन
प्रवर्तक
प्रशस्तकर
प्रशाखा
प्रसंग (समा)
प्रसाद
प्रसारण
प्रसिद्धार्थ
प्रसुप्त
प्रस्वेद
प्रागभाव
प्राण
प्राणधारित्व
प्रातः
प्रातिभ
प्राप्ति (समा)
प्राप्त्यप्राप्तिसमा
प्राभाकर
प्रायोगिकी
प्रावृट्
प्रेक्षापूर्वकारि

[फ]

फलविशेषणपक्ष

[ब]

बकुल
बन्ध
बन्धतत्त्व
बब्बूल
बलाका

बस्ति
बहिःकरण
बहूदक
बादर
बादरायण
बाध्य
बार्हस्पत्य
बाल
बाह्यान्तरसर्वपरिग्रहपरिहारी
बीट
बुद्ध
बुद्धाण्डक
बुद्धि
बृहस्पति
बौद्धः
बौद्धदर्शन
बौद्धमत
ब्रह्म
ब्रह्मचर्य
ब्रह्मादित्रय
ब्रह्मसूत्री
ब्रह्माद्वैत
ब्रह्माद्वैतवादी
ब्राह्मण

[भ]

भक्त
भट्ट
भरट
भरत
भव्य
भव्यत्व
भस्मोद्धूलनपर
भागासिद्ध
भाट्ट
भावनय
भावप्राण
भार्गव
भाव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भासर्वज्ञ
भाषा
भिक्षु
भुवन
भू
भूत
भूतचतुष्टय
भूधर
भूमि
भूरुह
भेद्य
भेरी
भोक्ता
भोगवञ्चना
भोग्य
भ्रमर
भ्रमरमान
भ्रान्तज्ञान

[म]

मकर
मण्डूक
मतानुज्ञा
मति
मतिज्ञान
मत्त
मत्यावरण
मत्स्य
मदशक्ति
मदिरा
मद्याङ्ग
मधुर
मन
मनःपर्यय
मनुस्मृति
मनुष्यक
मन्द
मन्दतर
मरीचिकुमार
मरुत्
मरुमरीचिका
मल
मशक
महदादि
महातर्क
महान्
महानस
महाभारत
महावीर
महाव्रत
महासामान्य
महेशिता
महेश्वर
मांसाङ्कुर
माठर
माठरप्रान्ते
माठरभाष्य
माथुरसङ्घ
माधुकरीवृत्ति
माध्यमिक
मान
मानवधर्म
मानसज्ञान
माया
मायावी
मायूरपिच्छ
मार्ग
मासोपवासी
माष
मात्राद्यगम्यागमन
मिथ्यात्व
मीमांसा
मीमांसक
मीमांसकमत
मुक्त
मुक्ताकण
मुक्तात्मा
मुक्ति
मुक्तिपथ
मुख
मुखवस्त्रिका
मुखनिःश्वासनिरोधिका
मुण्डी
मुण्डकोपनिषद्
मुद्ग
मुमुक्षु
मुर्खातुर
मूर्च्छित
मूर्तता
मूलप्रकृति
मूलसंघ
मृग
मृगचर्मासना
मृदु
मृतावस्था
मृदु
मेचकमणि
मेरु
मैत्र्य
मोक्ष
मोक्षतत्त्व
मोक्षमार्ग
मोहनीय
मौद

[य]

यक्ष
यजमान
यजुः
यथाख्यातचारित्रिन्
यथानामनिर्गम
यथार्थत्वविनिश्चय
यदृच्छावादी
यव
यवाङ्कुर
यज्ञमार्गानुग
यज्ञोपवीत
याकिनीमहत्तर
यातना
याज्ञिक
युक्ति
युव
योग
योगजप्रत्यक्ष
योगाचार
योगभास्कर
योगशास्त्र
योगिप्रत्यक्ष
योगिज्ञान
योगी
योषित
यौग
यौगाचार

[र]

रजोहरण
रत्नकरावतारिका
रस
रसन
रसना
रसनीय
राशीकर
रात्रिभोजन
रुक्ष
रूप
रेवण
रोग
रोमहर्ष
रोलम्ब

[ल]

लघु
लज्जालु
लवण
लीलावतीतर्क
लूता
लैङ्गिक
लोक
लोकतत्त्वनिश्चय
लोकतत्त्वनिर्णय
लोकव्यवहार
लोकस्वरूप
लोकायत
लोकालोक
लोच
लोचन
लोचादिकायक्लेशकारी
लीलीभाव

[व]

वचस्
वट
वध
वध्यघातकभावविरोध
वनस्पति
वन्ध्यास्तनंधय
वर्ण
वर्णब्रह्म
वर्ण्य (समा)
वर्ण्यावर्ण्यसमा
वर्तना
वर्तमान
वर्धमान
वसिष्ठ
वसु
वाक्छल
वाचकमुख्य
वाचस्पति
वाणिज्य
वात
वात्स्यायन
वाद
वादमहार्णव
वामन
वायवीय

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायु
वाराणसी
वाल्मीकि
वासना
वासि
विकल्प (समा)
विकृति
विक्षेप
विचटन
विजातीय
विज्ञान
वितण्डा
विदेह
विद्यागुरु
विद्युत्
विद्रुम
विन्ध्यवासी
विपक्षसत्त्व
विपक्षासत्त्व
विपश्य
विपश्यी
विभाग
विभु
विरहक
विरुद्ध
विरुद्धोपलब्धि
विरोध
विविक्तद्रव्यपर्यायैकान्त
विवेकख्याति
विशेष
विशेषणविशेष्यभाव
विशेषलक्षण
विशेषहेतु
विश्वभूः
विस्रस
विष
विषय
विषयी

विषाण
विष्णुनाभिपद्म
विष्णुप्रतिष्ठाकारक
विष्णुमय
विज्ञान
वीणा
वीतराग
वीर
वीर्य
वृक
वृक्ष
वृक्षायुर्वेद
वृद्धता
वृन्दावन
वेग
वेणु
वेद
वेदना
वेदनादिषट्क
वेदनीय
वेदपाठ
वेदप्रिय
वेदवाक्य
वेदत्रय
वेदान्तवादी
वेदान्ती
वैधर्मा (समा)
वैधर्म्यसमा
वैनयिक
वैभाषिक
वैयधिकरण
वैयावृत्यकरण
वैराग्य
वैशद्य
वैशेषिक
वैशेषिकमत
वैशेषिकी
वैशेषिकीयसूत्र

वैस्रसिकी
वैषयिकसुख
वैष्णव
व्यतिकर
व्यतिरेक
व्यभिचारि
व्यवसायात्मक
व्याल
व्यावृत्तिः
व्यास
व्युपरत
व्योम
व्योमवती
व्योमशिव

[श]

शकट
शकुनि
शक्र
शङ्ख
शङ्खनामक पुरुष
शब्द
शब्दब्रह्मवादी
शब्दलिङ्ग
शमी
शय्या
शरीर
शशशृङ्ग
शशविषाण
शाकल्य
शाक्य
शाखा
शाबर
शाबलेयादि
शाब्द
शाब्दिक
शालि
शाश्वतवेद
शिंशपा

शिखावन्त
शिखी
शिरः
शिरीष
शिशिर
शीत
शुकलध्यान
शुक्लपक्षेन
शुभाशुभकर्मकर्ता
शुषिर
शून्यवाद
शेषवत्
शैव
शैवशासन
शोकप्रमोदमाध्यस्थ
शोष्यकौशिक
शौद्धोदनि
श्वः
श्वापद
श्वेताम्बर
श्राद्ध
श्रीउदयन
श्रीकण्ठ
श्रृगाल
श्रीधराचार्य
श्रीवस्ताचार्य
श्रुत
श्रुतमयी
श्रेयः साधनता
श्रोत्र
श्रोत्रिय

[ष]

षट्पदार्थी
षष्टितन्त्र

[स]

संशय (समा)
सकलप्रत्यक्ष
सकलादेश

सकाम
सचेलत्व
सजातीय
सटन
सत्
सत्कर्मपुद्गल
सत्तासामान्य
सत्त्व
सत्यदत्त
सत्संप्रयोग
सदंश
सदंशासदंश
सदसत्त्व
सदसदंश
सद्भूतार्थप्रकाशक
सद्भूतार्थवादी
सनत्कुमार
सपक्षसत्त्व
सप्तबुद्ध
सप्तमनरक
समन्तभद्र
समवाय
समुदय
समुद्र
सम्प्रति
सम्भव
सन्मतिटीका
सन्मतिसूत्र
सम्यग्ज्ञान
सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र
सयणासण
सरका
सरघा
सरित्
सर्वतन्त्रसिद्धान्त
सर्वज्ञ
सर्वज्ञभाव
सर्वज्ञानुपलम्भ

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वदर्शी
सर्वसंवर
सविकल्पक
सविकल्पत्व
सविकल्पज्ञान
सवितृ
सशिख
सहकारिकारण
सहकारिसंपाद्यस्वभाव
सहभावीधर्म
सहभूस्वभाव
सहानवस्थान
सहावस्थानविरोध
सहस्रार
सांख्य
सांव्यवहारिक
सांख्यकारिका
सांख्यमत
सांख्यसप्तति
साकार
साक्षात्कारित्व
साक्षाद्द्रष्टा
सागर
साङ्गवेद
साट
साता
सातावेदनीय
सातोदय
सात्यमुग्रि
साधनाभास
साधन विकल
साधर्म्य (समा)
साधु
साध्य
साध्यविकल
साध्यसाधनतादात्म्य
सापेक्ष
सामग्रीविशेषण पक्ष

सामान्य
सामान्यच्छल
सामान्यरूपहेतु
सामान्य लक्षण
सामान्यविशेष
सामान्यविशेषसमवाय
सामान्यविशेषसामान्य
सामान्यतोदृष्ट
सायम्
सास्रा
सास्रवचित्तसन्तान
सिद्ध
सिद्धसेन
सिद्धसेनदिवाकर
सिसृक्षा
सिद्धहैमोणादि
दण्डक
सिद्धान्त
सिद्धान्तसार
सुख
सुगत
सुन्दक
सुरभि
सुरासुरेन्द्रसंपूज्य
सूक्ष्म
सूर्य
सूत्रकृत्
सृष्टि
सृष्टिसंहारकर्तेश्वर
सृष्ट्यादिकर्ता
सोमाग्नि
सौगत
सौगताभ्युपगत
अनेकान्त
सौवर्णघटदृष्टान्त
सौत्रान्तिक
सौत्रान्तिकमत
संकर

संख्या
संजिहीर्षा
संतान
संतानान्तर
संदिग्धासिद्ध
संनिकर्ष
संप्रदाय
संमति (सन्मतितर्क)
संभावना
संयम
संयुक्तसमवाय
संयुक्तसमवेत
समवाय
संयोग
संवर
संवेदन
संसार
संसारित्व
संसारी
संशय
संशयसमा
संस्कार
संहार
संज्ञा
स्कन्ध
स्तम्ब
स्तुतिकार समन्तभद्र
स्थाणु
स्थावर
स्थिति
स्थितिबन्ध
स्थिराशय
स्निग्ध
स्नेह
स्नेहाभ्यक्तवपु
स्पर्श
स्पर्शन
स्पृश्य

स्मरण
स्मृति
स्याद्वाद
स्याद्वाददेश
स्याद्वादरत्नाकर
स्याद्वादामृत
स्रक्
स्वः काम
स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव
स्वधर्म
स्वपरव्यवसायी
स्वपर्याय
स्वप्न
स्वभाववादी
स्वभावविरुद्धोपलब्धि
स्वभावहेतु
स्वभावानुपलब्धि
स्वरूपविशेषणपक्ष
स्वरूपासिद्ध
स्वर्ग
स्वर्गकाम
स्वसंवेदवेद्यत्व
स्वसंवेदन
स्वसंवेदनज्ञान
स्वार्थ
स्वार्थानुमान
स्वैरी
स्त्री

[ह]

हंस
हतमोहमहामल्ल
हरिभद्र
हरिभद्रसूरि
हिंगु
हिंसाविरति
हिमवत्
हिरण्यगर्भ
हुतभुग्

हृत्पूर
हेतु
हेतुसामान्य
हेतुबिन्दु
हेत्वाभास
हेत्वन्तरम्
हेमसूरि
हेयोपादेय
ह्यः
ह्रद

[क्ष]

क्षणिकता
क्षणिकत्व
क्षमादिगुप्तित्रय
क्षायिकसम्यक्त्व
क्षितिजलाद्यष्टमूर्तिता
क्षुत्
क्षुरगुण्डा
क्षेत्र

[त्र]

त्रसरेणु
त्रिकालशून्य
त्रिदण्ड
त्रिदण्डी
त्रिभुवन
त्रिरूप
त्रैलोक्यपूज्य
त्रैरूप्य

[ज्ञ]

ज्ञान
ज्ञानपारमिता
ज्ञानवादी
ज्ञानवादी ताथागत
ज्ञानवत्त्व
ज्ञानावरण
ज्ञानाद्वैतवादी
ज्ञानावरणीयकर्म
ज्ञानच्छाप्रयत्नवत्त्व

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट - ८

व्याख्या की शैली का परिचय

तत्त्व की गहराई तक पहुंचने के लिये.... अन्य असत्य मतो के खंडन के लिये.... विषयगत शंकाओ के परिहार के लिये... शिष्य की बुद्धि को विशद (स्पष्ट) बनाने के लिये... तत्त्व निरुपण करते समय टीकाकार पूर्वोत्तर पक्ष (पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष) की स्थापना करते होते है। उत्तरपक्ष के रुप में व्याख्याकार (टीकाकार) स्वयं होता है।

कोई वक्त जगत में वैसे प्रकार का कोई प्रतिवादि न होने पर भी शिष्य की बुद्धि को विशद बनाने के लिए टीकाकार स्वयं पूर्वपक्ष उठाकर, उसको पूर्वपक्षग्रंथ = शंकाग्रंथ के रुप में रखकर, उसका उत्तरपक्ष के रुप में स्वयं खंडन करता है।

अब टीकाकार पूर्वोत्तरपक्ष की स्थापना कैसी शैली से करते होते है, वह एक-एक उदाहरण लेकर सोचे। (उसमें यही ग्रंथ के उदाहरणो के अर्थ उस-उस पृष्ठ क्रमांक उपर से देख लेना। अन्य उदाहरणो के अर्थ देंगे।

(१) ननु कथं सर्वदर्शनानां परस्परविरुद्धभाषिणामभीष्टा वस्त्वंशाः के सद्भूताः भवेयुः येषां मिथः सापेक्षतया स्याद्वादः सत्प्रवादः स्यादिति चेत्, उच्यते, । यद्यपि दर्शनानि निजनिजमतेन परस्परं विरोधं भजन्ते तथापि तैरुच्यमाना सन्ति तेऽपि वस्त्वंशा ये मिथः सापेक्षाः सन्तः समीचीनतामञ्चति। (श्लो. १ टीका)

(यहां "**ननु से चेत्**" तक में पूर्वपक्ष है। उसके बीच के वचनो को शंकाग्रंथ के रुप में पहचाना जाता है। "**उच्यते**" से उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता है। उसके बाद के वचनो को समाधान ग्रंथ कहा जाता है।

भावार्थ : पूर्वपक्ष : सभी दर्शन परस्पर विरुद्ध बोलते है। परस्पर विरुद्ध बोलते हुए उन दर्शनो के इच्छित पदार्थो के कौन - से अंश सद्भूत होंगे कि जिससे सापेक्षरुप से स्याद्वाद हो सत्प्रवाद हो सुन्दर तरीके से कथन हो ?

उत्तरपक्ष : यद्यपि सर्वदर्शन अपने - अपने मत से विरोध को धारण करते है। फिर भी दर्शनो के द्वारा कही जाती वस्तु के जो अंश है वे परस्पर सापेक्ष होने पर भी यथार्थता को प्राप्त करते है। (अन्यथा नहीं) (प्रत्येक स्थान पे भावार्थ नहीं देंगे, स्वयं विचार कर लेना।)

(२) कोई बार उत्तरपक्षकार - टीकाकार स्वतत्त्व के निरुपण के समय अन्य की ओर से अपने पक्ष में कोई अनुपपत्ति (असंगति) बताने की संभावना रहती हो तब "**यद्यपि**" कहकर, उस उत्तरपक्षकार अन्य की ओर से दी गई अनुपपत्ति (असंगति) का परिहार करते है।

यद्यपि च प्रत्यक्षस्य क्षणो ग्राह्यः स च निवृत्तत्वान्न प्राप्यते तथापि तत्संतानोऽध्यवसेयः प्रवृत्तो प्राप्यत इति। (श्लो. ८ टीका)

(३) तर्हि श्वेताम्बरदिगम्बराणां कथं मिथो मतभेद इति **चेत् उच्यते**। मूलतोऽमीषां मिथो न भेदः किंतु पाश्चात्य एवेति।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यहां "**तर्हि से चेत्**" के बीच पूर्वपक्षग्रंथ = शंकाग्रंथ और "**उच्यते**" से उत्तरपक्षग्रंथ समाधान ग्रंथ है।)

भावार्थ : पूर्वपक्ष : (आपने पहले कहा कि चौबीस जिनेश्वरो को परस्पर कोई मतभेद नहीं है) तो फिर श्वेतांबरो और दिगंबरो के बीच परस्पर मतभेद किस तरह से हुआ ?

उत्तरपक्ष : मूल से इन सभी को परस्पर मतभेद नहीं था, परंतु बाद में मतभेद हुए है।

(४) कोई बार पूर्वपक्षकार = शंकाकार अपनी शंका "**ननु**" करके रख देते है। तब उत्तरपक्षकार = समाधानकार "**न**" आपकी बात योग्य नहीं है। ऐसा बताकर उसका कारण देते है और कारणसूचक वाक्य के अंत में पंचमी विभक्ति होती है। उस समय नीचे अनुसार की शैली दिखाई देती है।

ननु यस्य दिवः समागत्य देवाः पूजादिकं कृतवन्तः स एव वर्धमान सर्वज्ञो न शेषाः सुगतादय इति **चेन्न** वर्धमानस्य चिरातीतत्वेनेदानीं तद्भावग्राहकप्रमाणा**भावात्।**

भावार्थ : पूर्वपक्ष : जिनकी देवलोक में आकर देव पूजादि करते है,वे वर्धमानस्वामी ही सर्वज्ञ है। शेष बौद्धादि नहीं।

उत्तरपक्ष : ऐसा नहीं कहना। क्योंकि वर्धमानस्वामी चिरकाल से अतीत होने के कारण (लम्बे काल पहले हुए होने के कारण) उनके सद्भाव के ग्राहक प्रमाण में अभाव है।

(५) आह परः येऽत्र देशान्तरगतदेवदत्तादयो दर्शिताः तेऽत्रास्माकमप्रत्यक्षा अपि देशान्तरगतलोकानां केषांचित्प्रत्यक्षा एव सन्ति तेन तेषां सत्त्वं प्रतीयते, धर्मास्तिकायादयस्तु कैश्चिदपि कदापि नोपलभ्यते तत्कथं तेषां सत्ता निश्चीयत इति ? **अत्रोच्यते,** यथा देवदत्तादयः केषांचित्प्रत्यक्षत्वात्सन्तो निश्चीयन्ते, तथा धर्मास्तिकायादयोऽपि केवलिनां प्रत्यक्षत्वात्किं न सन्तः प्रतीयन्ताम् ? (श्लो. ४८-४९ टीका)

यहां "**आह परः**" से पूर्वपक्ष है तथा "**अत्रोच्यते**" से उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता है। उत्तरपक्षकार अपने तत्त्व का निरुपण करते हो तब पूर्वपक्षकार उत्तरपक्षकार की उस बात को तत्त्व को नहि स्वीकार करने के लिए असंगतियां बताते होते है और वह बात उत्तरपक्षकार स्वयं "**आह परः**" कहकर पूर्वपक्ष के रुप में रखते होते है। उत्तरपक्षकार "**अत्रोच्यते**" कहकर पूर्वपक्षने दी हुई असंगतियो को दूर करके समाधान देता है। (जिस स्थान पे शंकाग्रंथ की सूचक **चेत्** इत्यादि शब्द दिखाई नहीं देते वहां "**इति**" शब्द देखने को मिलते है।

(६) अथ कथं कठिनमादर्शं प्रतिभिद्य मुखतो निर्गताः पुद्गलाः प्रतिबिम्बमाजिहत इति **चेत् ? उच्यते,** तत्प्रतिभेदः कठिनशिलातलपरिस्त्रुतजलेनायऽस्पिण्डेऽग्निपुद्गलप्रवेशेन शरीरात्प्रस्वेदवारिलेश-निर्गमनेन च व्याख्येयः। (श्लो. ४८-४९ टीका...)

यहाँ अथ.... से चेत् तक पूर्वपक्षग्रंथ = शंकाग्रंथ है। "**उच्यते** " से "**व्याख्यायः**" तक उत्तरपक्षग्रंथ = समाधानग्रंथ है।

(७) समाधानकार = उत्तरपक्षकार पूर्वपक्ष के सामने अपना समाधान दे उसमें विशेष खुलासे या विकल्पो से वस्तु को स्पष्ट करनी हो तब वह करने से पहले "**तथाहि**" शब्द रखकर प्रारंभ करते है। (तथाहि - वह इस अनुसार से है।)

ननु पुण्यपापे नभोम्भोजनिभे एव मन्तव्ये, न पुनः सद्भूते कुतः पुनस्तयोः फलभोगस्थाने स्वर्गनारकाविति

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेत् ? उच्यते, पुण्यपापयोरभावे सुखदुःखयोर्निर्हेतुकत्वादनुत्पाद एव स्यात्, स च प्रत्यक्षविरुद्धः, **तथाहि** मनुजत्वे समानेऽपि दृश्यन्ते केचन स्वामित्वमनुभवन्तो अपरे पुनस्तत्प्रेष्यभावमाबिभ्राणा, एके च लक्षकुक्षिभरयः अन्ये तु स्वोदरपूरणेऽप्यनिपुणाः । (श्लो. ५० टीका)

भावार्थ : पूर्वपक्ष : पुण्य और पाप को आकाशकुसुम के जैसे ही मानने चाहिए। सद्भूत नहि मानने चाहिए। उपरांत (उन दोनो का अभाव होने से) उन दोनो के फल भुगतने के स्थान स्वर्ग और नर्क भी विद्यमान (अस्तित्व में) नहीं है।

उत्तरपक्ष : पुण्य और पाप के अभाव में सुख-दुःख निर्हेतुक बन जायेंगे और उसकी उत्पत्ति ही नहिं होगी और वह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वह प्रत्यक्ष विरुद्धता इस अनुसार से है :

मनुष्य के रुप में समान होने पर भी कुछ लोग स्वामिपन का अनुभव करते हुए दिखाई देते है और वैसे ही दूसरे दासत्व को धारण करते हुए दिखाई देते है। तथा एक व्यक्ति लाखों लोगो का भरणपोषण करता है तो एक अपने पेट का गडहा भी पूर्ण नहीं कर सकता।

(८) कंई बार उत्तर पक्षकार जिस बात का निरुपण करता है। उसें सभी अन्य मतो को **''परमतानि च अमूनि'' ''अपरे तु वदन्ति'', ''अन्ये त्वाहः'', ''अन्ये पुनराहुः''** इत्यादि पदो को रखकर बताते है और उत्तरपक्षकार **''उच्यते''** कहकर उन सभी मतो का खंडन करते है। (गाथा-५०)

(९) जब पूर्वपक्षकार की बात बिलकुल अयोग्य हो तब **अथ.... चेत्** के बीच पूर्वपक्षग्रंथ को रखकर, **''तदयुक्तं''** कहकर उत्तरपक्षकार अपने समाधान का प्रारंभ करता है और पूर्वपक्ष की बात की अयोग्यता का कारण बताते है। (तब कारणसूचक पंक्ति के अंत में पंचमी विभक्ति लगती है।)

अथ नीलादिकं मूर्तं वस्तु यथा स्वप्रतिभासिज्ञानस्यामूर्तस्य कारणं भवति, तथान्नस्रक्चन्दनाङ्गनादिकं मूर्तं दृश्यमानमेव सुखस्यामूर्तस्य कारणं भविष्यति अहिविषकण्टकादिकं च दुःखस्य । ततः किमदृष्टाभ्यां पुण्यपापाभ्यां परिकल्पिताभ्यां प्रयोजनमिति **चेत् ? तदयुक्तं** व्यभिचारात् । तथाहि (श्लो. ५०)

(१०) कंई बार पूर्वपक्ष = शंकाकार के प्रारंभ सूचक कोई शब्द न हो तब **''इति चेत्''** तक के ग्रंथ को शंकाग्रंथ = पूर्वपक्षग्रंथ समजना तथा **''उच्यते''** से उत्तरपक्ष जानना।

व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेत् ? उच्यते, अशुभक्रियारम्भिणामेव च बहुत्वात् शुभक्रियानुष्ठातॄणामेव च स्वल्पत्वादिति कारणानुमानम् । (श्लो. ५०)

(११) कंई बार पूर्वपक्ष के समाप्तिसूचक **''इति चेत्''** इत्यादि शब्द देखने को नहि मिलते और **''तदयुक्तम्''** इत्यादि पदो से भी उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता दिखाई देता है। (वैसे स्थान पे **''इति''** शब्द से पूर्वपक्ष की समाप्ति जानना।)

अथ यथा ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य मन्दता भवति तत्प्रकर्षे च ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तमुच्छेदो भविष्यतीति ? **तदयुक्तम्** द्विविधं हि बाध्यं सहभूस्वभावं सहकारिसंपाद्यस्वभावं च । (श्लो. ५२ टीका)

(१२) कंई बार पूर्वपक्ष का **''अत्र पर आह, ननु''** पदो से प्रारंभ होता दिखाई देता है। समाप्तिसूचक कोई शब्द देखने को नहीं मिलता है तथा **''उच्यते''** से उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता दिखाई देता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र पर आह, ननु..... रागादय इति **उच्यते, यद्यपि....** दृश्यते। (गाथा - ५२ टीका)

(१३) कंई बार नीचे के अनुसार की शैली भी दिखाई देती है। **ननु** भवतु कर्मणामभावेऽपि.. इति **चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्....** ।

(यहां "**ननु**" से "**इति चेत्**" तक शंकाग्रंथ - पूर्वपक्षग्रंथ है। तथा न... से उत्तरपक्ष - समाधान ग्रंथ है।) ऐसे स्थान पे पूर्वपक्ष से उत्तरपक्ष को आपत्ति दी होती है। उत्तरपक्ष पूर्वपक्ष की दी हुई आपत्ति का निषेध करके, पूर्वपक्ष के अज्ञान को प्रकट करते होते है। तब उपर बताये गये प्रकार की शैली देखने को मिलती है।

(१४) कोई बार उत्तरपक्षकार - टीकाकारश्री एक पदार्थ का निरुपण करते है और उसके बाद उस पदार्थ के विषय में अन्यमत की कोई भिन्न पेशकश हो तो उस पेशकश "**एतेन**" कहकर रखते है और अंत में हमारे आगे के निरुपण से इस पूर्वपक्ष की बात का खंडन हो जाता है। वैसे "**तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम्**" पद रखकर कह देते है।

एतेन यदूचुर्मीमांसका अपि.... **इत्यादि तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम्**। (गाथा - ५० टीका)

(यहां **एतेन** से **इत्यादि** के बीच पूर्वपक्ष है तथा **तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम्** से उत्तरपक्षने पूर्वपक्ष की बात का खंडन कर दिया है।)

(१५) टीकाकार किसी पदार्थ का निरुपण करते वक्त अनेक विकल्प देते होते है। वह देने से पहले **तद्यथा** या **यथा** इत्यादि शब्द का प्रयोग करते होते है। उदा. **अत्र सिद्धानां सुखमयत्वे त्रयो विप्रतिपद्यन्ते**। तथाहि - **आत्मानो सांख्या ३**। (गाथा - ५२ टीका...)

तथाहि - तद्यथा इस अनुसार से है।

(१६) कोई बार उत्तरपक्षकार अपने तत्त्वनिरुपण में पूर्वपक्ष की सभी मान्यता को पहले **अत्र सौगताः संगिरन्ते**। कहकर बता देते होते है और उसके बाद पूर्वपक्ष की मान्यता का "**अत्र प्रतिविधीयते**" कहकह खंडन को शुरु करते है। उसमें पूर्वपक्ष की एक-एक मान्यता के"**तत्तावदुक्तं... इत्यादि**" "**यत्पुनरुक्तं... इत्यादि**" "**यदव्युक्तं.... इत्यादि**" कहकर रखते है और "**तदविचारितविलपितम् तत्सूक्तमेव तदप्यज्ञानविजृम्भितम्**" इत्यादि पदो से पूर्वपक्ष की अज्ञानता बताते है और बाद में उसका कारण बताते है - इस तरह से भी पूर्वपक्ष की बात रखकर उसका खंडन करने की शैली देखने को मिलती है। (श्लो. ५२ टीका, पृ...)

(१७) इसी तरह से टीकाकारश्री उत्तरपक्षकारश्री "**अत्र सांख्या ब्रुवते**" "**अथात्र दिगम्बराः स्वयुक्तिस्फोरयन्ति**" "**योगैस्तु गर्जति**" "**अत्रादौ वैशेषिका स्वशेमुर्षी विशेषयन्ति**" पदो से उस उस पूर्वपक्ष की मान्यता को पेश करते है और "**अत्र प्रतिविधीयते**" या "**अत्रोच्यते**" कहकर उत्तरपक्षकार पूर्वपक्ष का खंडन शुरु करते है।

(१८) कोई बार उत्तरपक्ष पूर्वपक्षने मानी हुई मान्यता में कुछ विकल्प खडा करता है और उस उस विकल्पो को उत्तरपक्ष अथ इत्यादि शब्दो से रखता है और उत्तरपक्षकार तर्हि तदा इत्यादि शब्दो से प्रारंभ करके खंडन करता है। (देखे गाथा ५२ टीका पृ.)

(१९) टीकाकार परस्पर संकलित बातो का हेतुपूर्वक निरुपण करने के बाद परस्पर संकलन पाई हुई

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुओ में से जिसकी प्रारंभ से आवश्यकता है। उसका निरुपण करने के लिए ''**तेन**'' शब्द से शुरुआत करते हुए देखने को मिलते है।

विशेषलक्षणं सामान्यलक्षणाविनाभावि, सामान्यलक्षणं च विशेषलक्षणाविनाभावि सामान्यविशेषलक्षणयोरन्योन्यापरिहारेण स्थितत्वात् । तेन प्रमाणविशेषलक्षणस्यादौ प्रमाणसामान्यलक्षणं सर्वत्र वक्तव्यम् अतोऽत्रापि प्रथमं तदभिधीयते।

(२०) एक विषय का निरुपण करते करते जो निष्कर्ष के उपर आकर खडा होता है। वहां दूसरी कुछ अनुपपत्तिओ का परिहार हो जाता है और अन्य दर्शन की मान्याताओ का निराकरण भी हो जाता है ऐसे स्थान पे टीकाकारश्री अंतिम निष्कर्ष का निवेदन करके ''**एतेन**'' कहकर अन्य मत का खंडन भी यह हमारे आगे के निरुपण से हो जाता है। ऐसा प्रतीत करवाते होते है।

ततो भवत्येव स्त्रीणां मोक्ष इति स्थिते मोक्षतत्त्वम् । एतेन ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् । गत्वागच्छन्ति भूयोऽपि भवे तीर्थनिकारतः ॥१॥

इति परपरिकल्पितं पराकृतम्। (श्लो. ५२ टीका)

(२१) किसी भी बात की पेशकश चलती हो तब अंतिम फलितार्थ देना हो तब टीकाकार ''**अनेन**''... कहकर नीचे की शीलै से पेश करते होते है।

अनेन सम्यक्त्वज्ञानसद्भाव एव चारित्रं नान्यथेत्यावेदितं द्रष्टव्यम्। (श्लो. ५३ टीका)

(२२) उत्तरपक्षकार अथवा मूल पेशी करनेवाले अपने मत की पेशी करते करते बीच आती असंगतियों की दूर करने के लिए अपनी मान्यता को ज्यादा स्पष्ट करने के लिए या अन्य प्रतिवादी की इस विषय के अनुरुप विपरीत मान्यता के खंडन के लिए नीचे की शैली का उपयोग करते होते है।

न च यदेव पक्षधर्मस्य सपक्ष एव सत्त्वं तदेव विपक्षात्सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति **वाच्यं** अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरुपयोः सर्वथा तादात्म्ययोगात्।

(यहां **न** और **इति वाच्यं** के बीच पूर्वपक्षकार की बात या उपर बताई गई बातो में से किसी एक को पेश करते होते है। **इति न वाच्यं** ये शब्द उत्तरपक्षकार के होते है। अर्थात् पूर्वपक्षकार को इस अनुसार से नहीं कहना चाहिए। उसके बाद उसका निराकरण बताते होते है। कारणनिर्देशक पंक्ति के अंत में पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है।)

सूचना : (१) कोई बार टीकाकार ''**इति न वाच्यम्**'' के स्थान पे ''**इति न वक्तव्यम्**'' या ''**इति न शङ्कनीयम्**'' शब्दो का प्रयोग करते हुए देखने को मिलते है।

(२) शंकाकार को प्रायः शंका नहीं करने की नम्र सूचना करनी हो तब समाधानकार= उत्तरपक्षकार ''**न शंकनीयम्**'' ऐसे शब्दो का उच्चारण करते देखने को मिलते है।

(२३) कोई बार शंका की समाप्तिसूचक ''**इति चेत्**'' शब्द देखने को नहि मिलता है। तब नीचे अनुसार की शैली देखने को मिलती है।

ननु कृतकत्वेन कथमनादित्वं बन्धस्य श्रद्धातुमुचितम् ? **सत्यम्** अतीकालसाधर्म्याद्-अतिक्रान्तकालसादृश्येन। (योगाबिंदु - गाथा १२)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब शंकाकार की शंका की उपस्थिति का कारण सच्चा हो तब टीकाकार शंका के अंत में ''**सत्यम्**'' पद रखते है अर्थात् आपको जो शंका हुई है वह सत्य है-हो सकता है। फिर भी इस युक्ति से हमारी बात भी योग्य है ऐसा कहकर युक्ति देते होते है।

पंक्ति का भावार्थ :

शंका : बंध कृतक = जन्य होने के कारण किस तरह से अनादि के रुप में श्रद्धा करने के लिए उचित बनेगा ?

समाधान : आपकी बात सच है। जो जन्य हो वह अनादि नहीं हो सकता है। परंतु ऐसा एकांतिक कोई नियम है। जैसे अतीतकाल जन्य होने पर भी अनादि के रुप में आगम में कहा गया ही है। अर्थात् जैसे अतीतकाल जन्य होने पर भी आगम में उसको अनादि कहा गया है। वैसे बंध जन्य होने पर भी अतीतकाल की तरह अनादि कहने से दोष नहीं है।

(२४) विकल्प बताने हो तब टीकाकार पहले तद्यथा – (=वह इस अनुसार से है।) यह शब्द का प्रयोग करते होते है।

उत्पतेश्चत्वार एवाद्या विकल्पाः। **तद्यथा** सत्त्वमसत्त्वं सदसत्त्वमवाच्यत्वं चेति। (श्लो. १ टीका)

(२५) पूर्वपक्ष उतरपक्ष की स्थापना की शैली नीचे अनुसार से देखने को मिलती है।

नन्व नित्यत्वे सत्यपि यस्य घटादिकस्य **यदैव** मुद्गरादिसामग्रीसाकल्यं तदैव तद्विनश्वरमाकल्पते न पुनः प्रतिक्षणं, **ततो** विनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्व**मिति । तदेतदनुपासितगुरोर्वचः ।** (श्लो. ७, टीका)

(शंकाकार की बात बिलकुल अयोग्य हो तब उत्तरपक्षकार ''**तदेतदनुपासितगुरोर्वचः**'' ऐसा कहकर खंडन का प्रारंभ करते होते है। गुरुगम से ज्ञान पाया नहीं है। उसके कारण तुम को ऐसी शंका होती है। ऐसा कहकर उसकी शंका की अयोग्यता बताते होते है।

इति शंका की समाप्तिसूचक शब्द जानना।

(२६) नीचे की शैली से भी पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष की स्थापना देखने को मिलती है।

ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः, **कथं तर्हि** स एवायमिति ज्ञानम्। **उच्यते।** (श्लो. ७ टीका)

(२७) अन्य वादि के मत का निर्देश करके, वह मत योग्य नहीं है – ऐसा उत्तरपक्ष कहता है तब नीचे अनुसार शैली देखने को मिलती है। मत की अयोग्यता का कारण भी तुरन्त बताते होते है।

आह परः भवतु परोक्षविषयस्य प्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावः अर्थान्तरविषयस्य च शब्दादेस्तस्यान्तर्भावो न युक्त इति चेन्न, प्रत्यक्ष परोक्षाभ्यामन्यस्य प्रमेयस्यार्थस्याभावात्, प्रमेयरहितस्य च प्रमाणस्य प्रामाण्यासम्भवात्।

(२८) पूर्वपक्षकार उत्तरपक्षकार की मान्यता में यदि ऐसा हो तो ऐसा किस तरह से इत्याकारक आपत्ति देकर उत्तरपक्ष को तोडने के लिए प्रयत्न करते होते है। तब उत्तरपक्षकार पूर्वपक्षकार की बात को सुनकर, अपनी मान्यता को सत्य सिद्ध करने के लिए सीधा उत्तर दे देते होते है। परंतु पूर्वपक्षकार के खंडनरुप में **न तदयुक्तं** इत्यादि कोई भी शब्द रखते नहीं है, तब नीचे अनुसार की शैली देखने को मिलती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु यदि क्षणक्षयिणः परमाणवः एव तात्त्विकास्तर्हि किंनिमित्तोऽयं घटपटकटशकटलटुकादिस्थूलार्थप्रतिभास इति चेत् । निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तित स्थूलार्थावभासो निर्विषयत्वादाकाशकेशवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति । (श्लो. १०, टीका)

(२९) कुछ स्थान पे पूर्वपक्ष ग्रंथ - शंका ग्रंथ के प्रारंभ के सूचक **अथ ननु** आदि कोई शब्द न हो और समाप्तिसूचक ''**इति चेत्**'' पद होते हैं और ऐसे स्थान पे **तदा, तर्हि से** उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता देखने को मिलता है।

(३०) कुछ स्थान पे नीचे अनुसार की शैली देखने को मिलती है - अथ निकर्षग्रहणमेवास्तु सं-ग्रहणं व्यर्थम्, न, सं-शब्दग्रहणस्य सन्निकर्षषट्कप्रतिपादनार्थत्वात् ।

यहं **अथ** से पूर्वपक्ष का और **न** से उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता है।

(३१) एक बात, विकल्प कार्य-कारणभाव या हेतु-फल भाव के अनुसंधान से आगे की बात, विकल्प कार्य-कारणभाव या हेतु-फलभाव का अनुसंधान जोडना हो तब टीकाकार पहले की बात इत्यादि ''**यदा**'' से बताते है और बाद की बात इत्यादि **तदा** से बताते है।

ज्ञानं च प्रत्यक्षप्रमाणफलम् । **यदा** तु ततोऽपि ज्ञानाद्धानोपादानादिबुद्धय उत्पद्यन्ते, **तदा** हानादिबुद्ध्यपेक्षया ज्ञानं प्रमाणं हानादिबुद्धयस्तु फलं **यदा** ज्ञानं प्रमाणं, **तदा** हानादिबुद्धयः **फलमिति वचनात् ।**

(३२) एक वस्तु का निरुपण करने के बाद, उससे विपरीत मानने से क्या आपत्ति आती है। वह बतानी हो तब प्रारंभ में अन्यथा (= यदि इससे विपरीत मानोगे तो-दूसरी तरह से मानोगे तो) शब्द को रखकर विपरीत मान्यता से क्या दोष आता है वह बताया जाता होता है।

अत्र देशान्तरप्राप्तिशब्देन देशान्तरदर्शनं ज्ञेयम् । अन्यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वेन शेषवतोऽ-नुमानादस्य भेदो न स्यात् । (श्लो. २२, टीका)

भावार्थ :

यहां (सामान्यतोदृष्ट अनुमान के उदाहरण में ''देशांतर प्राप्ति'' शब्द से ''देशांतरदर्शन'' अर्थ जानना। अन्यथा (यदि देशांतर दर्शन अर्थ नहि मानोगे तो देशांतर प्राप्ति गति का कार्य होने के कारण शेषवत् अनुमान से सामान्यतोदृष्ट अनुमान का भेद नहि रहेगा।

(३३) कुछ भेद प्रकार विकल्प है। ऐसा सामान्य से विधान हो जाने के बाद वे भेदो-प्रकारो-विकल्पो के नाम देने हो तब पहले ''**यथा**'' शब्द रखा जाता है।

सा च चतुर्विंशतिभेदा, साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन ''**यथा**'' साधर्म्य, वैधर्म्य... कार्यसमा। (श्लो. ३१ टीका)

(३४) किसी भी तत्त्व का निरुपण करने के बाद, उसकी पुष्टि के लिए तथा शिष्य की बुद्धि को विशद बनाने के लिए अनुमान प्रयोग टीकाकारश्री देते होते है। तब प्रारंभमें ''**प्रयोगस्त्वयम्**'' ''**प्रयोगस्त्वित्थम्**'' ''**प्रयोगः पुनः**'' '' **अत्र प्रयोगः**'' ''**प्रयोगश्चात्र**'' ''**प्रयोगो यथा**'' ये शब्द कहकर अनुमान प्रयोग बताते होते है। (एक उदाहरण नीचे दिया गया है।)

शरीरविशेषगुणा इच्छादयो न भवन्ति, तद्गुणानां रुपादीनां स्वपरात्मप्रत्यक्षत्वेनेच्छादीनां च

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वात्मप्रत्यक्षत्वेन वैधर्म्यात् । नापीन्द्रियाणां विषयाणां वा गुण उपहतेष्वप्यनु स्मरणदर्शनात् । न चान्यस्य प्रसक्तिरस्ति, अतः परिशेषादात्मसिद्धिः । "**प्रयोगश्चात्र**" योऽसौ परः स आत्मशब्दवाच्यः इच्छाद्याधारत्वात् । (श्लो. १९, टीका)

(३५) टीकाकार स्व-तत्त्वनिरुपण के अवसर पर अपनी पेशी स्वमतिकल्पना से नहीं है । परन्तु सुविहित अन्य ग्रंथकारो की भी इस विषय में यही मान्यता है। ऐसा बताने के लिए अन्य ग्रंथ के साक्षीपाठ देते होते है। उस समय "**तथोक्तम्**" "**तदुक्तम्**" "**यत उक्तम्**" "**उक्तं च**" **पठ्यते** "**तथा चाह**" "**तथा चोक्तम्**" इत्यादि शब्द रखकर साक्षीपाठ का प्रारंभ होता दिखाई देता है . (सभी का अर्थ इसलिए या जिससे अन्य ग्रंथ में कहा है कि...)

(३६) किसी वस्तु का निरुपण करने के बाद उसका अंतिम रहस्यार्थ तात्पर्यार्थ बताना हो तब टीकाकार "**ततोऽयमत्रार्थः**" "**इदमुक्तं भवति**" "**ततोऽयमर्थः**" "**इदमत्र तत्वम्**" "**अयं भावः**" "**अयमत्र भावः**" "**अत्रायंभावः**" इत्यादि पद रखकर रहस्यार्थ कहने का प्रारंभ करता देखने को मिलता है। (सभी का अर्थ - इसलिए यह रहस्यार्थ तात्पर्यार्थ जानना ।)

(३७) कोई बार किसी वस्तु का निरुपण करने के बाद, उसका अंतिम तात्पर्यार्थ बताने के लिए पंक्ति लिखते है। तब अंत में "**इत्यर्थः**" "**अयं भावः**" "**एतदर्थः**" ये शब्द रखते होते है। उदा. (६८) मुद्दे में देखना ।

(३८) कोई बार शंका के प्रारंभसूचक शब्द के रुप में अस्ति शब्द तथा समासिसूचक शब्द के रुप में "**इति चेत्**" पद देखने को मिलता है और तर्हि शब्द से समाधान का प्रारंभ होता दिखाई देता है ।

अस्ति च, भवदभिप्रायेण त्रैरुप्यं तत्पुत्रादाविति । अथ भवत्वयं दोषो येषां पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्वरुपे त्रैरुप्येऽविनाभावपरिसमाप्तिः नास्माकं पञ्चलक्षणहेतुवादिनां, अस्माभिरसत्प्रतिपक्षत्व-प्रत्यक्षागमाबाधित विषयत्वयोरपि लक्षणयोरभ्युपगमादिति चेत् ? तर्हि केवलान्वयकेवलव्यतिरेकानु-मानयोः पञ्चलक्षणत्वासंभवेनागमकत्वप्रसङ्गः । (श्लो. ५७, टीका)

(३९) जब पूर्वपक्षकार की बात बिलकुल असत् हो तब **अथ से चेत्** के बीच पूर्वपक्षकार की बात उत्तरपक्षकार रखते है और **तदसत्** कहकर खंडन शुरु करते है ।

अथ विपक्षासत्त्व नाभ्युपेयते किं तु साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव साध्याभावे नास्तित्वमभिधीयते न तु ततस्तद्भिन्न मिति चेत् ? तदसत् । एवं हि विपक्षासत्त्वस्य तात्विकस्याभावादहेतोस्त्रैरुप्यादि न स्यात् (श्लो. ५७, टीका)

(४०) कोई बार उत्तरपक्षकार अपनी बात का विवरण करते करते अंतिम फलश्रुति के उपर आके खडे रहते है, उस वक्त अन्यमतकार की बात अपनी निरुपित बात से भिन्न हो तो उसको याद करके "**एवं**" या "**एतेन**" से अन्यमतकार की बात को पूर्वपक्षग्रंथ के रुप में रखकर अंत में "**इति न युक्तं**" "**इति प्रत्युक्तं**" इत्यादि पद रखकर उत्तरपक्षकार उसका खंडन कर देते होते है। अर्थात् हमारे पूर्व के निरुपण से पूर्वपक्ष की मान्यता का खंडन हो जाता है।

एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमत्यन्ता **भावस्येतिप्रत्युक्तम्** अप्रत्यक्षत्वापत्तेः (मुक्तावली कारिका - १२ की टीका)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४१) कोई बार पूर्वपक्ष की पेशी उत्तरपक्षकार स्वयं ननु इत्यादि शंका के प्रारंभसूचक शब्द रखे बिना ही करते है। उसके बाद "**अत्र प्रतिविधीयते**" या "**अत्रोच्यते**" कहकर पूर्वपक्ष की मान्यता के खंडन का उत्तरपक्षकार प्रारंभ करते होते है।

(४२) कंई बार शंका का प्रारंभ स्यादेतत् से होता है और "**अत्रोच्यते**" या "**अत आह**" से समाधान का प्रारंभ होता है।

स्यादेतत् कासां प्रकृतीनां किं संक्रमपर्यवसानं येन तत उर्ध्वमभवन् प्रतिपाते च पुनरपि भवन्संक्रमः सादिर्भवेत् ? **अत आह** सातानन्तानुबन्धियशःकीर्तिद्विविधकषाय शेष प्रकृतिद्विदर्शनानां यतिपूर्वा - प्रमत्तसंयताद्याः क्रमशः क्रमेण, संक्रमकाणामन्तिमाः पर्यवसानभूता वेदितव्या (पंच संग्रह, भाग-२, संक्रमकरण गाथा - ९, टीका)

(४३) कोई बार "**ननु**" से शंका का और "**नैतदेवं**" से समाधान का प्रारंभ होता दिखाई देता है।

"**ननु......, नैतदेवं**"

(४४) कोई बार ननु से पूर्वपक्ष का प्रारंभ होता है और पूर्वपक्ष के समाप्तिसूचक पद का अभाव भी होता है। उत्तरपक्षकार "**प्रत्युक्तं**" कहकर पूर्वपक्ष की बात का खंडन कर देते होते है। वैसे स्थान पे नीचे अनुसार की शैली देखने को मिलती है।

ननु.... प्रत्युक्तम्...

(४५) उत्तरपक्षकार स्वयं ही किसी अन्य के मत को मन में उपस्थित करके, उसको शंकाग्रंथ = पूर्वपक्ष के रुप में रखकर तथा उस मत के समाप्तिसूचक "**कश्चिदिति**" शब्द रखकर "**आह**" से समाधान का प्रारंभ करते होते है। वैसे स्थान पे नीचे अनुसार की शैली देखने को मिलती है।

ननु.... किश्चिदित्याह -

(यहां "**ननु**" से "**कश्चिदिति**" के बीच शंकाग्रंथ = पूर्वपक्ष और "**आह**" से समाधानग्रंथ = उत्तरपक्ष का प्रारंभ हुआ है।)

(४६) कोई बार "**न**" और "**इति वाच्यं**" के बीच शंकाग्रंथ=पूर्वपक्ष रखकर "**न इति वाच्यं**" कहकर उत्तरपक्ष खंडन करते होते है। वैसे कंई बार शंकाग्रंथ के अंत में "**इति न वाच्यं**" "**इति न वक्तव्यं**" "**इति न शङ्कनीयम्**" एसे खंडनसूचक पद उत्तरपक्षकार के द्वारा कहे जाते है।

(४७) जब प्रतिवादी की बात में बिलकुल अज्ञानता का दर्शन कराना हो तब वह प्रतिवादि की बात को पूर्वपक्ष के रुप में रखकर। "**तदेतन्महा........**" इत्यादि पदो के द्वारा खंडन कर देते होते है।

ननु....... तदेतन्महामोहमूढमनस्कतासूचकम्।

यहां **ननु** से शंकाग्रंथ=पूर्वपक्ष है तथा **तदेतन्महा** पद से उत्तरपक्ष का खंडनवाचि पद है। इस पदोच्चारण के बाद उत्तरपक्षकार प्रतिवादि की अज्ञानता को खुली करते होते है।

(४८) कंई बार **न च** से पूर्वपक्षग्रंथ का प्रारंभ होता है। उसके अंत में "**इति वाच्यं**" "**इति शङ्कनीयं**" इत्यादि पद देखने को मिलते नहीं है। वैसे स्थान पे "**इति वाच्यं**" **इति शङ्कनीयं** इत्यादि पद अध्याहार से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण करके अर्थ करना।

(४९) कंई बार उत्तरपक्षकार स्व-तत्त्व निरुपण के अवसर पर पूर्वपक्ष की बात को मन में ही रखकर, उसको शंकाग्रंथ के रुप में रखे बिना उसकी मान्यता का खंडन कर देते होते है। ऐसे स्थान पे पूर्वपक्ष की मान्यता को ढुंढने का प्रयत्न समाधान ग्रंथ = उत्तरपक्ष की बात में से करना पडता होता है। थोडा प्रयत्न करने से समाधानग्रंथ में से पूर्वपक्ष की मान्यता का खयाल आ जाता है।

(५०) कंई बार पंक्ति का प्रारंभ ''**न**'' या ''**नहि**'' होता है। परंतु ''**न**'' या ''**नहि**'' का अन्वय क्रियापद के साथ या यथायोग्य पद के साथ करने का होता है। ऐसे स्थान पे क्रियापद न हो तो अध्याहार से यथायोग्य क्रियापद ग्रहण करके, उसके साथ ''**न**'' या ''**नहि**'' का अन्वय करने का होता है

नहि लौकिकसंनिकर्षस्थले प्रत्यक्षमिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयाकारानुमितिः प्रामाणिकी - येनानुमिति - भिन्नत्वेनापि विशेषणीयम्। (मुक्तावली, कारिका -७२ की टीका)

भावार्थ :

लौकिक संनिकर्ष के स्थान पे प्रत्यक्ष की तरह सत्प्रतिपक्ष स्थान में संशयाकार अनुमिति प्रामाणिक नहीं है कि, जिससे (लक्षण में) अनुमितिभिन्नत्व भी विशेषण जोडना पडे।

(यहां ''**अस्ति**'' क्रियापद को अध्याहार से ग्रहण करके, उसके साथ ''**न**'' का अन्वय किया है।)

सूचना :

सामान्यतः नियम है कि श्लोक में या पंक्ति में क्रियापद का प्रयोग न किया हो तो अध्याहार से **भवति** या **अस्ति** क्रियापद ग्रहण किया जाता है।

(५१) कोई बार मूल ग्रंथकारने अपने श्लोक या गाथा में शंकाओ का समाधान दिया होता है। उस वक्त मूल ग्रंथकारने शंकाओ को मन में रखकर श्लोक में या गाथा में समाधान दिया होता है। परंतु उस शंकाओ को शंकाग्रंथ के रुप में रखते नहीं है। तब टीकाकार श्लोक के पहले अवतरणिका या उपोद्घात के रुप में उस शंकाग्रंथ को **ननु....... इत्याशङ्कायामाह** या ''**ननु...... अत आह**'' से बताते होते है।

नन्वविधिनाऽपि चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठाने तीर्थप्रवृत्तिरव्यवच्छिन्ना स्यात्। विधेरेवान्वेषेण तु द्वित्राणामेव विधिपराणां लाभात् क्रमेण तीर्थोच्छेदः स्यादिति तदनुच्छेदायाविध्यनुष्ठानमप्यादरणीयमित्या **शंकायामाह-**

तित्थस्सुच्छेयाइ वि नालंबणमित्थ जं स एमेव।

सुत्तकिरियाई नासो, एसो असमंजसविहाणा ॥१४॥ (योगविंशिका)

(उपर गाथा १४ में मूल ग्रंथाकारश्रीने शंकाओ का समाधान दिया है। उसे शंकाओ को शंकाग्रंथ के रुप में **ननु** से **इत्याशङ्कायामाह** के बीच टीकाकारश्री ने रखी है।

सूचना :

ननु...... अत आह...... की शैली न्यायसिद्धांत मुक्तावली की कारिक ६९ के पहले है। वह देख लेना।)

यहां ''**ननु**'' से शंकाग्रंथ ''**और**'' आह से समाधान के रुप में श्लोक या गाथा होती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५२) पूर्वपक्ष – उत्तरपक्ष की स्थापना शैली नीचे अनुसार से भी दिखाई देती है।

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादिश्रुतेरिति चेत् । न तस्य सविषयत्वासंभवस्य दर्शितत्वान्निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्सविषयस्याप्यननुभवात् । (मुक्तावली कारिका - ४९ की टीका)

भावार्थ :

पूर्वपक्ष : क्षणिक विज्ञान स्वरुप आत्मा मानने में चाहे गौरव हो तो आत्मा को नित्यविज्ञान स्वरुप ही मानो । "**अविनाशी....**" इत्यादि श्रुति भी इसकी ही साक्षी देती है।

उत्तरपक्ष : (नैयायिक) ऐसा नहीं करना । क्योंकि (पहले कहे अनुसार नित्य विज्ञान में सविषयत्व का अभाव बताया गया है । निर्विषयक ज्ञान में प्रमाण नहीं है तथा वह सविषयक हो वैसा अनुभव भी होता नहीं है।

(यहां "**अस्तु**" से "**चेत्**" के बीच पूर्वपक्ष है। "**न**" से उत्तरपक्ष खंडन करते है। ऐसे स्थान पे उत्तरपक्षकार ने स्वतत्वनिरुपण में एक अन्यवादि की मान्यता का खंडन करने के बाद दूसरे कोई वादि की मान्यता का खंडन करना हो तब उस दूसरे वादि की मान्यता को "**अस्तु तर्हि.....**" से "**चेत्**" के बीच रखते है और बाद में तुरन्त उत्तरपक्षकार उसका खंडन शुरु करते है।

(५३) टीकाकारश्री अपने तत्त्वनिरुपण में अपनी मान्यता सत्य है या स्वयं जो निरुपण कर रहे है वह ग्रंथ का अनुसरण करता है वह बताना हो तब "**अत एव**" से प्रारंभ करते होते है।

अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम् । (मुक्तावली कारिका - २ की टीका ।)

(५४) शंकाकार की शंका का बिलकुल निषेध करना हो तथा उसको बोलता बंध करना हो तब नीचे की शैली दिखाई देती है।

ननु सत्त्वेऽपि सत्वान्तरकल्पने धर्माणां धर्मो न भवति इति वचो विरुध्यते । **मैवं वोचः ।** अद्याप्यनभिज्ञो भवान् स्याद्वादामृतरहस्यानां यतः, स्वधर्मपेक्षया यो धर्मः सत्त्वादि स एव स्वधर्मापेक्षया धर्मी एवमेवानेकान्तात्मकव्यवस्था उपपत्तेः ।

"**ननु**" से शंकाग्रंथ है और "**मैवं वोचः**" से उत्तरपक्षकार का समाधान शुरु होता है।

(५५) टीकाकार किसी तत्त्व या कार्य-कारण के भाव का निश्चय करने के बाद अनुपपत्तिओ के (असंगतिओ के) या शंकाओ के परिहार के लिए निष्कर्ष को बताता विधान करे तब "**इत्थं**" से पंक्ति का प्रारंभ करते दिखाई देते है।

इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते यत्र सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम् (मुक्तावली कारिका १ की टीका)

(५६) टीकाकार चर्चा के अंत में एक विधान करने के बाद, उसके अंतर्गत ही आते दूसरे निष्कर्षवाचि - निर्णायक विधान को बताते हो तब "**किंच**" से प्रारंभ करते दिखाई देते है। उस स्थान पे अन्य मत का खंडन भी हो जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंच वर्णानामेवनित्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुतरां तत्संदर्भस्य वेदस्यानित्यत्वमिति संक्षेपः । (मुक्तावली कारिका - १५० की टीका)

(ऐसे स्थान पे जो पूर्वपक्ष की मान्यता का खंडन हुआ हो वह उत्तरपक्षग्रंथ से ढूंढने का प्रयत्न करना है। उपर की पंक्ति में वेद को नित्य माननेवाले मीमांसक की मान्यता का खंडन हुआ है।)

(५७) कंई बार पूर्वपक्ष का प्रारंभ **''ननु''** से तथा उत्तरपक्ष का प्रारंभ **''मैवम्''** से होता दिखाई देता है। (देखे मुक्तावली कारिका ५६ की टीका)

(५८) कंई बार उत्तरपक्षकार अपनी बात करते हो तब बीच में अन्यमतकार को याद करके, इस विषय में अन्य मतकार की बात उचित नहीं है ऐसा विधान करते होते है वैसे स्थान पे नीचे अनुसार की शैली देखने को मिलती है।

न.... युक्तं...... ।

यहां **''न से युक्तम्''** के बीच अन्यमत को बताया होता है। जिसे पूर्वपक्ष कहा जाता है। **''न युक्तम्''** पद उत्तरपक्षकार का होता है। (अर्थात् पूर्वपक्ष की बात उचित नहीं है।) उसके बाद उत्तरपक्षकार पूर्वपक्ष की बात की अनुचितता बताने का कार्य करते होते है।

सूचना :

कुछ स्थान पे यही शैली में **''न युक्तम्''** पद पंक्ति के अंत में भी देखने को मिलता है।

(५९) कुछ स्थान पे **''स्यादेवम्'' ''स्यान्मतिः'' ''स्याद्बुद्धिः'' ''स्यादियं कल्पना''** इत्यादि शब्दो से पूर्वपक्ष का प्रारंभ होता है और **''नैवं''**, **''मैवम्'' ''नेयं कल्पना साधीयसी''** इत्यादि शब्दो से उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता है।

(६०) कभी पूर्वपक्ष का प्रारंभ **''एतेन''** शब्द से होता है और **''निरस्तम्'' ''अपास्तम्'' ''निराकृतम्''** शब्द से अंत होता है। ऐसे स्थान पे **''एतेन''** से **''निरस्तम्''** आदि शब्दो के द्वारा पूर्वपक्ष का खंडन हो गया ऐसा उत्तरपक्षकार बताते होते है।

(६१) कोई बार टीकाकार अपनी मान्यतानुसार तत्त्व का निरुपण करते वक्त, उस विषय में अन्यवादि का मत अपनी मान्यता से भिन्न हो तब उस अन्यवादि के मत को भी बताते होते है। परंतु उस अन्य मान्यता में अस्वारस्य (खुद को अन्यवादि की मान्य नहीं है वह) बताने के लिए अंत में **''इत्याह'' ''इति केचित्'' ''इति वदन्ति''** इत्यादि पद रखते होते है।

खास सूचना :

(१) यह शैली न्यायग्रंथो में देखने को मिलती है। जैनदर्शनो के ग्रंथो में भी दूसरे दर्शन के मत को बताते वक्त इस शैली का उपयोग होता दिखाई देता है।

(२) जैनदर्शन की अन्य आगमिक पदार्थो की चर्चा में जब आचार्यो को परस्पर मान्यताभेद हो तो **''परे तु''** इत्यादि शब्द रखकर अन्य की मान्यता को रखते होते है। परंतु अन्य आचार्य भगवंत सुविहित के रुप में प्रसिद्ध हो तो खंडन करते नहीं है। केवल दोनो मान्यता रखकर अंत में **''तत्त्वं तु केवलिगम्यम्''** या **''तत्त्वं**

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु बहुश्रुतो जानन्ते'' पद लिखकर अपनी तटस्थता का दर्शन करवाते है। यदि अन्य मान्यतावाले आचार्य का विधान बिलकुल शास्त्र विरुद्ध हो तो खंडन भी करते होते है।

(३) कोई बार आगमिक पदार्थविषयक भिन्न-भिन्न मान्यताओ को नयसापेक्ष विचारणा से टीकाकार श्री भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सत्यसापेक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न भी करते होते है। (जैसे कि ज्ञानबिन्दु ग्रंथ में पू.महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजाने की हुई नयसापेक्ष विचारणा।

(६२) कंई बार टीकाकार श्लोक के उपर टीका करते हो, तब श्लोकगत तत्त्व के निरुपण के स्थान पे अंतर्गत आती दूसरी प्रासंगिक बातो का वर्णन करते होते है। (कि जो प्रासंगिक वर्णन श्लोक की बातो को पुष्ट करता है।) कंई बार बीच में कुछ श्लोक और उसके उपर की टीका में मूल बात को छोडकर प्रासंगिक बाते होती है। उसके स्थान से मूल बात के उपर वापस आते टीकाकार ''**प्रकृतं प्रस्तुमः**'' इत्यादि पद रखकर मूल बात का प्रारंभ करते होते है।

(६३) एक तत्त्व के विषय में पूर्वपक्ष - उत्तरपक्ष की स्थापनापूर्वक बहोत असंगतिओ शंकाओ के परिहारपूर्वक चर्चा आगे चलती हो तब टीकाकार ग्रंथगौरव के भय से चर्चा का अंत लाते होते है और विशेष जिज्ञासुवर्ग को अन्य ग्रंथ देख लेने का परामर्श करते होते है। ऐसे स्थान पे चर्चा का अंत करनेवाले ''**अलं विस्तरेण**'' ''**कृतं तेन**'' ''**अलं प्रसङ्गेन**'' शब्द रखे गये हुए दिखाई देते है।

(६४) पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष स्थापना की नीचे अनुसार से भी शैली देखने को मिलती है।

इत्थं च भूतले नीलो घट इत्यादिशब्दान्न शाब्दबोधः घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिबोधे सामर्थ्यावधारणात्कार्यताबोधं प्रति च लिङ्गादीनां सामर्थ्यात्तदभावान्न शब्दबोध **इति केचित् । तन्न ।** प्रथमतः कार्यान्वितघटादौ शक्त्यवधारणेऽपि लाघवेन पश्चात्तस्य परित्यागौचित्यात्। (मुक्तावली कारिका ८१ टीका)

यहां ''**इत्थं**'' से ''**इति केचित्**'' के बीच पूर्वपक्ष है और ''**तन्न**'' से उत्तरपक्ष का प्रारंभ होता है

(६५) टीकाकार उस उस तत्त्व के विषय में खास ध्यान रखने की बातो को बताना चाहते हो तब ''**इदं तु बोध्यम्**'' कहकर बताते होते है।

(इदं तु बोध्यम् - यह ध्यान में रखना।)

(६६) वस्तु के अंतिम तात्पर्यार्थ को बताना चाहते टीकाकार ''**वस्तुतः**'' ''**वस्तुतस्तु**'' इत्यादि शब्द लिखकर बताते होते है।

(६७) मूल श्लोक में किसी शंका का समाधान हो तब शंकाग्रंथ को श्लोक की अवरणिका के रुप में टीकाकार रखते होते है। तब नीचे अनुसार की शैली का उपयोग करते होते है।

(१) **अथ** कस्मादस्य गोचरादिशुद्धिः मृग्यत **इत्याशंक्याह** -

गोचरश्च स्वरुपं च फलं च यदि युज्यते।
अस्य योगस्ततोऽयं यन्मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥५॥ (योगाबिंदु)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) **आह किमर्थं** गोचरदिशुद्ध्या योगो मृग्यत **इत्याशंक्याह** –

लोकशास्त्राऽविरोधेन यद्योगो योग्यतां व्रजेत् ।

श्रद्धामात्रैकगम्यस्तु हन्त नेष्टो विपश्चिताम् ॥२२॥ (योगबिंदु)

(३) आह – किमर्थमीदृशं वचनं मृग्यते ? **उच्यते**

दृष्टबाधैव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनम् ।

असच्छ्द्धाभिभूतानां केवलं ध्यान्ध्यसूचकम् ॥२४॥ (योगाबिंदु)

(६८) जिस प्रकार पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष की स्थापना की शैली है उसी प्रकार प्रश्नोत्तर की भी शैली है ।

(१) **अथ.... उच्यते ।**

यहां **''अथ''** से प्रश्न और **''उच्यते''** से उत्तर का प्रारंभ होता है ।

(२) कंई बार प्रश्न का प्रारंभसूचक **''अथ''** शब्द न होने पर भी **''इत्याह''** कहकर उत्तर दिया जाता है ।

(३) **अथ.... तथा सति..... ।**

''अथ'' से प्रश्न और **''तथा सति''** से उत्तर का प्रारंभ होता भी दिखाई देता है ।

(६९) टीका की पंक्तिओ में पठन के वक्त कंई बार विभक्तिओ को निकालकर पठन करना होता है ।

(१) पंक्तिओ में षष्ठी पंचमी विभक्ति का प्रयोग हो तब उन दोनो विभक्तिओ को निकालकर पठन करना ।

जैसे कि– उपचारस्यापि मुख्यार्थस्पर्शित्वात् ।

(षष्ठी निकाल दे (त्व सहित पंचमी निकाल दे ।) अर्थ : उपचार भी मुख्यार्थस्पर्शि होता है ।)

(२) टीका में तत्त्वनिरुपण के अवसर पर एक पंक्ति में विधान किया जाता है और उसके बाद की दूसरी पंक्ति में उस विधान करने का कारण बताया जाता है। वह दूसरी कारणसूचक पंक्ति के अंत में पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है। पठन करते समय उस द्वितीय पंक्ति के पहले क्योंकि... कहकर अंत में रही हुई पंचमी विभक्ति को निकालकर सीधा अर्थ करे ।

जैसे कि... अयं च पञ्चप्रकारोऽप्याशयो भावः **अनेन विना चेष्टा कायवाङ्मनोव्यापाररुपा** द्रव्यक्रिया तुच्छा असारा, अभिलषितफलासाधकत्वादित्येतदर्थः । (योगविंशिका गाथा १ टीका)

भावार्थ : यह प्रणिधानादि पांच प्रकार का आशय भाव है । इस भाव के बिना चेष्टा = मन-वचन-काया के व्यापाररुप द्रव्यक्रिया तुच्छ = असार है। क्योंकि (ऐसी द्रव्यक्रिया) इच्छित फल की साधक बनती नहीं है। इस अनुसार से भावार्थ जानना ।

(७०) टीकाकार अपनी बात की पुष्टि के लिए सुविहित अन्य ग्रंथ का अनुसंधान देते होते है । तब उस साक्षीपाठ को रखने के बाद **''इति वचनात्''** पद रखते होते है । (उदा. के लिए देखे मुद्दा – ३१)

(७१) टीका में कंई बार पंक्ति का प्रारंभ **यत्र, तत्र, अत्र** शब्दो से होता है। वैसे स्थान पे **''तत्र''** इत्यादि शब्दो

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के वहां, जहां, यहां इत्यादि अर्थ न करते हुए, आगे की पंक्तिओ में जिस विषय का अनुसंधान हो उसे ढुंढकर अर्थ करना ।

(७२) कोई टीकाकार टीका का प्रांरभ श्लोक के प्रथम शब्द से ही करते है । क्रमशः सभी शब्दो की टीका करते जाते है और परस्पर अन्वय जोडते जाते है ।

कुछ टीकाकार श्लोक के भावार्थ के अनुसार से टीका का प्रारंभ करते दिखाई देते है ।

कुछ टीकाकार श्लोक या गाथागत शब्दो की ही केवल टीका करके रख देते है । विशेषतया परस्पर अन्वय जोडते नहीं है ।

(७३) टीकाकार श्लोक के प्रत्येक शब्दो की व्याख्या करते करते श्लोकगत उस उस शब्दो का परस्पर अन्वय जोडने के लिए **''किमित्याह''** **''कथमभिधीयते इत्याह''** एवम्भूतस्यापि सतः **''किमित्याह''** **''किंविशिष्टं''** इत्यादि पदो को रखकर श्रोता को आगे-आगे के शब्दो के भावार्थ की ओर अभिमुख करते होते है । कंई बार प्रश्नो को उपस्थित करके, उसका रहस्यार्थ श्लोकगत शब्दो का अर्थ करके बताते होते है ।

(७४) टीकाकार विशेष्य के एक से ज्यादा विशेषणो को क्रमशः विशेष्य के साथ अन्वय करते वक्त **''किंविशिष्टः''** **''अयमेव विशिष्यते''** **''किं भूतम्''** **''कथंभूतम्''** इत्यादि पदो को रखकर अन्वय जोडते होते है ।

इस प्रकार सामान्य से टीका की शैली बताई । विशेष से टीका खोलने की पद्धति जानकारो के पास से जान ले ।

सामान्य से बताई गई टीका की शैली का परिचय पाकर सब कोई टीका के पठन में प्रवेश करके, टीकागत पदार्थो को जीवन में परिणत करके जल्द से जल्द भवसागर से पार उतरे यही एक की एक सदा के लिए की शुभाभिलाषा ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-९

।। संकेत-विवरणम् ।।

अणु भा. : अणुभाष्य
अ.द्वै. : अद्वैतसिद्धि
अनुयोग० : अनुयोगद्वारसूत्रम्
अनेकान्तवादप्र० : अनेकान्तवादप्रवेशः,
अनेकान्तव्य० : अनेकांत व्यवस्था
अनेकान्तजयप० : अनेकान्तजयपताका, प्र० द्वि० भा,
अन्य यो. : अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशतिका
अमर० : अमरकोश
अयोगव्य० : अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका,
अष्टश०, अष्टसह० : अष्टशती (अष्टसहस्र्यन्तर्गत),
आप्तप० : आप्त परीक्षा,
आप्तमी० : आप्तमीमांसा (अष्टसहस्र्यन्तर्गत),
आ० मलय० : आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिटीका
इ. सि. : इष्टसिद्धि
पुरुषसू० सायणभा० : पुरुषसूक्त सायणभाष्ययुक्त
काललो० : काललोकप्रकाशः,
केवलिभु० : केवलिभुक्तिप्रकरणम्,
क्षणभ० सि० : क्षणभङ्गसिद्धिः,
गच्छा० वृ० : गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्तिः,
गो० कर्म० : गोम्मटसार कर्मकाण्ड,
चरक सं० : चरक संहिता,
चतुःश० : चतुःशतकम्,
चित्सु० : तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी,
छान्दोग्य : छान्दोग्यनोपनिषद्
जैनतर्कभा० - : जैनतर्कभाषा
जैनतर्कवा० : जैनतर्कवार्तिकम्
ज्ञान प्र. : ज्ञानसार प्रकरण
तर्क. सं. : तर्कसंग्रहः
त० वा० : तत्त्वार्थवार्तिकम्,
त० सू० : तत्त्वार्थसूत्र
त० सू० भा० : (तत्त्वार्थाधिगम) तत्त्वार्थसूत्रभाष्य,
त० श्लोक० : तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्,
तत्त्वसं० : तत्त्वसंग्रह
तत्त्वसं० प० : तत्त्वसंग्रह पञ्जिका
तत्त्वोप० : तत्त्वोपप्लवसिंह
तन्त्ररह० : तन्त्ररहस्यम्,
तन्त्रवा० : तन्त्रवार्तिकम्
तर्क सं. : तर्कसंग्रहः
ता.र. : तार्किक रक्षा
ति० प० : तिलोयपण्णत्ती,
तैत्ति० : तैत्तिरीयसंहिता,
द्रव्यसं० : द्रव्यसंग्रह,
दृग्दृश्य० : दृग्दृश्यविवेक
धवला० : धवला टीका,
धर्मो. प्र. : धर्मोत्तरप्रदीपः
धर्मसं० : धर्मसंग्रहिणीवृत्तिः,
धर्मोत्तर प्र. : धर्मोत्तरप्रदीप
नयक० : नयकर्णिका
नय प्र. : नयप्रकाशस्तव
नय. प्र० : नयप्रदीप
नन्दि० मलय० : नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका,
नयरह० : नयरहस्य
नयो प० : नयोपदेश
नयवि० : नयविवेकः,
नव. प्र० : नवतत्त्व प्रकरणम्
नृ. उ. : नृसिंहतापनीयोपनिषद्
न्यायकुमु० : न्यायकुमुदचन्द्र,
न्यायकुसु० : न्यायकुसुमाञ्जलि
न्यायकलि० : न्यायकलिका
न्यायदी० : न्यायदीपिका,
न्यायमं० : न्यायमञ्जरी,
न्यायमं० प्रमाण० : न्यायमञ्जरी प्रमाणप्रकरणम्,
न्यायमं० प्रमे० : न्यायमञ्जरीप्रमेयप्रकरणम्,
न्या. मा. : न्यायमाला
न्यायमुक्ता० दिन० : न्यायमुक्तावली-दिनकरी,
न्या. रत्ना. : न्यायरत्नावली

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायली०	:	न्यायलीलावती
न्यायवा०	:	न्यायवार्तिकम्
न्यायवा० ता० टी०	:	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका,
न्यायसारः	:	न्यायसारः
न्यायावता०	:	न्यायावतारः
न्यायभा०	:	न्यायभाष्यम्
न्यायवि० वि०	:	न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथमभाग,
न्यायबि०	:	न्यायबिन्दुः
न्याय बि० टी०	:	न्यायबिन्दुटीका
न्याय वि.	:	न्यायविनिश्चय
न्यायसि.	:	न्यायसिद्धांत मुक्तावली
न्यायसू०	:	न्यायसूत्रम्
न्यायभा०	:	न्यायभाष्य
नीति०	:	नीतितत्त्वालोक
प्रभाकरवि०	:	प्रभाकर विजय,
प्रकरण पं०	:	प्रकरणपंजिका,
प्रज्ञा० मलय०	:	प्रज्ञापनासूत्र-मलयगिरिटीका
प्रमाणन०	:	प्रमाणनयतत्त्वालोकः
प्र० वार्तिकालं०	:	प्रमाणवार्तिकालंकारः,
प्र० वा० स्ववृ० टी०	:	प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका,
प्रमाणवा०	:	प्रमाणवार्तिकम्,
प्रमाणसमु०	:	प्रमाणसमुच्चयः
प्रमाणप०	:	प्रमाणपरीक्षा,
प्रमाणमी०	:	प्रमाणमीमांसा,
प्रमाणसं०	:	प्रमाणसंग्रह,
प्रमेयक०	:	प्रमेयकमलमार्तण्ड,
प्रमेयरत्नमा०	:	प्रमेयरत्नमाला,
प्रमेयरत्न०	:	प्रमेयरत्नार्णव
प्रव० टी०	:	प्रवचनसारटीका (जयसेनीया)
प्रश० भा०, कन्द	:	प्रशस्तपादभाष्यकन्दली
प्रश० किर०	:	प्रशस्तपादभाष्यकिरणावली टीका,
प्रश० भा, व्यो०	:	प्रशस्तपादभाष्य व्योमवतीटीका,
पूर्णप्रज्ञभा०	:	पूर्णप्रज्ञभाष्य
पात० महाभा०	:	पातंजल महाभाष्य
पां.यो.सू.	:	पांतजलयोग सूत्र
बृहत्कल्प० मलय०	:	बृहत्कल्पभाष्यम्-मलयगिरि टीका
बृ० सर्वज्ञसि०	:	बृहत्सर्वज्ञसिद्धिः
बृहदा०	:	बृहदारण्यकोपनिषत्,
ब्रह्मसू० शां० भा०	:	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्,
बोधिचर्या० पं० पृ०	:	बोधिचर्यावतारः,
भग०	:	भगवतीसूत्रम्,
भगवद्गी०	:	भगवद्गीता,
भा.ता.नि.	:	भागवततात्पर्यनिर्णयः
म.सि.सा.	:	माध्वसिद्धांतरसार
मनु०	:	मनुस्मृति,
महाभा०	:	महाभारतम्,
माध्यमिक० वृ०	:	माध्यमिकवृत्तिः,
मीमांसान्या०	:	मीमांसान्यायप्रकाश
मानमे०	:	मानमेयोदयः
मी० श्लो०	:	मीमांसाश्लोकवार्तिकम्,
मी० श्लो० उपमान०	:	मीमांसाश्लोकवार्तिकम्
मी० श्लो० प्रत्यक्षसू०	:	मीमांसाश्लोकवार्तिकम्,
मुण्डक०	:	मुण्डकोपनिषत्,
मूलाचा०	:	मूलाचार,
मैत्रा०	:	मैत्रायण्युपनिषद्,
यश०	:	यशस्तिलकम्,
युक्त्यनुशा०	:	युक्त्यनुशासन,
योगद० व्यासभा०	:	योगदर्शनव्यासभाष्यम्,
यो. सू.	:	योगसूत्र
योगभा०	:	योगदर्शनव्यासभाष्यम्
योगभा० तत्त्ववैशा०	:	योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदीटीका,
यो.शा.	:	योगशास्त्र
योगसू० व्यासभा०	:	योगसूत्रव्यासभाष्यम्
योग दृ.समु.	:	योगदृष्टि समुच्चय
यो.श.	:	योगशतक
रत्नक०	:	रत्नकरण्डश्रावकाचार,
रत्नाकराव०	:	रत्नाकरावतारिका,
राजवा०	:	राजवार्तिक,
वादन्यायः	:	वादन्यायः,
विधिवि०	:	विधिविवेक,
विधिवि० न्यायकणि०	:	विधिविवेक टीका न्याय कणिका,
विवरणप्र०	:	विवरणप्रमेयसंग्रहः,
विवेकचू०	:	विवेक चूडामणि
विशेषा०	:	विशेषावश्यकभाष्यम्,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसुद्धि० : विसुद्धिमग्गो,
वेदांतप० : वेदांत परिभाषा
वेदांतसा० : वेदांतसार
वे.सि.मु. : वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
वैशे० सू० : वैशेषिकसूत्रम्,
वे.पा.भा. : वेदान्तपारिजात भाष्य
वैशे० उप० : वैशेषिकसूत्रस्य उपस्कारः,
व्या० प्र० : व्याख्याप्रज्ञप्ति,
व्युत्पत्ति० : व्युत्पत्तिवाद
शुद्धाद्वैत मा. : शुद्धाद्वैतमार्तण्ड
शाबरभा० : शाबरभाष्यम्
शास्त्रदी० : शास्त्रदीपिका,
शास्त्रवा० : शास्त्रवार्तासमुच्चयः,
श्री भा. : श्रीभाष्य
श्रीकण्ठ भा. : श्री कण्ठभाष्य
वृ.प्र. : वृत्ति प्रभाकर
श्वेता० : श्वेताश्वतरोपनिषद्
षड्. समु. : षड्दर्शन समुच्चय
षड्० बृह० : षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः,
षट्प्रा० टी० : षट्प्राभृतटीका,
सप्तभंगीत० : सप्तभंगितरंगिणी,
सर्व.ल.स. : सर्वलक्षणसंग्रह
सर्वद० सं. : सर्वदर्शनसंग्रहः,
सर्ववेदान्तसि० : सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रहः
सर्व.वे.सि.सा.सं. : सर्व वेदान्त सिद्धांत सारसंग्रह
सर्वार्थसि० : सर्वार्थसिद्धिः,
सन्मति० टी० : सन्मतितर्कटीका,
संक्षेपशा० टी० : संक्षेपशारीरकटीका,
सांख्यका० : सांख्यकारिका,
सांख्यप्र० भा० : सांख्यप्रवचन भाष्यम्
सांख्य० माठर० : सांख्यकारिका माठरवृत्ति,
सांख्यतत्त्व कौ० : सांख्यतत्त्वकौमुदी,
सांख्यस० : सांख्यसंग्रहः
सांख्यसू० वि० : सांख्यसूत्रविपणम्,
सि.च. : सिद्धान्तचन्द्रिका
सि.ले.सं. : सिद्धान्तलेशसंग्रह
सि.बि. : सिद्धातबिंदु
सिद्धिवि० टी० : सिद्धिविनिश्चयटीका,
सौन्दर० : सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्,
स्था० : स्थानांगसूत्रम्
सूत्र० : सूत्रकृतांग,
स्त्रीमु० : स्त्रीमुक्तिप्रकरणम्,
स्या० मं० : स्याद्वादमञ्जरी,
स्या० र० : स्याद्वादरत्नाकरः,
हेतुबि० : हेतुबिन्दुटीका,
हैम० : हैमकोशः,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-१०

।। उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका ।। [श्लोक नं. / पृ. नं]

[अ]

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः
[मैत्र्यु० ६।३] (७१/९७९)

अग्निषोमीयं पशुमालभेत
[ऐतरेय आ० ६।१३] (५८/९३१)

अज्ञो जन्तुरनीशानो:
[महा भा० वन० ३१] (१/१८)

अज्ञो (अन्यो) जन्तुरनीशानः
[महाभा० वनप० ३०।२८] (१३/१३३)

अतर्कितोपस्थितमेव सर्वम्
[आचा० २।१।१।१।४] (१/२१)

अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः [ ] (१०/६९)

अतिदूरात्सामीप्यात् [ ] (४८-४९/७३७)

अतीन्द्रियाणामर्थानाम् [ ] (६९/९७७)

अतोऽनेकस्वरात् [हैम० ७।२] (१/२३)

अथापि दिव्यदेहत्वात् [ ] (६८/९७४)

अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

अन्तेषु भवा अन्त्याः
[प्रश० भा० पृ० १६८] (६५/९६०)

अन्धे तमसि मज्जामः [ ] (५८/९३२)

अन्यदपि चैकरूपं तत् [ ] (५२/७८२)

अनुमातुरयमपराधो
नानुमानस्य [ ] (१७-१८-१९/१५९)

अनुवादादरवीप्सा [ ] (८२/१००४)

अनेकानि सहस्राणि [ ] (५८/९३१)

अप्सु स्पर्शः शीत एव [ ] (४८-४९/७१६)

अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ
[मी० श्लो० अभाव श्लो० ८] (७६/९९३)

अपवर्त्यते कृतार्थं [केवलिमुक्ति
श्लो० १६] (४५-४६/६७७)

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति [ ] (५८/९३१)

अपेक्षेत परः कश्चिद्यदि
[प्र-वा-३।२७९] (७/४७)

अभावोऽपि प्रमाणाभावलक्षणो
[शा० भा० १।१] (७६/९९०)

अमूर्तश्चेतनो भोगी [ ] (४१/२५३)

अयोगं योगमपरैः
[प्र० वा० ४।१९०] (९/६१)

अर्थापत्तिरपि दृष्टः
[शाबरभा० १।१।५] (७५/९८७)

अर्थो ज्ञानसमन्वितः [ ] (११/८४)

अस्ति वक्तव्यता काचित् [ ] (४४/२६२)

अस्ति ह्यालोचना ज्ञानम्
[मी० श्लो० प्रत्य०११२] (५/४२)

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि
[वैशे० सू० ९।२।१] (६७/९६६)

असदकरणादुपादानग्रहणात्
[सांख्यका० ९] (४३/२६०)

असिइसयं किरियाणं [सूत्रकृ०
नि० गा० ११९] (१/१५)

आग्रही बत निनीषति
युक्तिम् [ ] (८७/१०१०)

[आ]

आत्मनि सति परसंज्ञा
[प्र.व. १/२९/२२१] (५३/७८१)

आत्मशरीरेन्द्रयार्थबुद्धिः
[न्यायसू० १।१।९] (२४/१७३)

आत्मा सहैति मनसा [ ] (१७/१४३)

आधारभस्मकौपीन [ ] (१२/१२८)

आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् [ ] (५२/७७४)

आरण्यमेतत्सवितास्तमागतः [ ]
(२७-२८/१९१)

[इ]

इत एकनवते कल्पे [ ] (५८/९२३)

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्
[न्यायसू० १।१।४] (१७/१३९)

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठम्
[मुण्डक- १।२।१०] (४३/२५६)

इषुकारनरः कश्चित् [ ] (४८-४९/७३९)

[ई]

ईर्याभाषैषणादान- [ ] (४४/६२५)

[उ]

उपमानमपि सादृश्यात् [शाबर भा० १।१।८]
(७४/९८५)

उवसमेण-[दश.वै.८/३९](४५-४६/६७७)

[ऊ]

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

ऊर्ध्वसत्त्वविशालः
[सांख्यका० ५४] (३५/२४२)

ऊर्मिषट्कातिगं रूपम्
[न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

[ए]

एक एक हि भूतात्मा
[त्रि० ता० ५।१२] (६७/९७१)

एकादश जिने
[त० सू० ९।१८] (४५-४६/६७९)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः [ ] (५५/८४४)

एकं चेत्तत्कथं चित्रम्
[प्रश० क० पृ० ३०] (५७/८८६)

एरण्डयन्त्रपेडासु
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

एषामैन्द्रियकत्वेऽपि
[मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १३] (७१/९७९)

[ओ]

ओंबेकः कारिकां वेत्ति [ ] (१/३४)

[क]

कइणं भंते दव्वा पण्णत्ता [ ] (४८-४९/७४२)

कर्मक्षयाद्धि मोक्षः [ ] (५२/७८२)

कः कण्टकानां प्रकरोति
[बुद्धच० ९।६२] (१/१९)

क्वचिङ् [हैम० ५।१।१७१] (१/८)

कारणमेव तदन्त्यम् [ ] (४८-४९/७३५)

कालाभावे च गर्भादि
[शास्त्रवा० श्लो० १६७] (१/१६)

कालः पचति भूतानि [महाभा० हारीत सं०] (१/१६)

किंच कालादृते नैव
[शास्त्रवा० श्लो० १६६] (१/१६)

कुलालचक्रे दोलायाम्
[त० भा० १०।७] (५२/७६६)

को दुक्खं पाविज्ञा [ ] (४५-४६/६२७)

क्षणिकाः सर्वसंस्काराः
[ ] (१/२१) (५/४४)

क्षीरे दधिभवेदेवम्
[मी० श्लो० अभाव० श्लोक ५] (७६/९९२)

[ग]

गतानुगतिको लोकः [न्यायम० प्रमा० पृ, ११] (३०/१९६)

गुणदर्शी परितृप्यन्
[प्र० व० १।२१९-२२१] (५२/७८१)

गुणपर्यायवदद्रव्यम्
[त० सू० ५।३८] (४८-४९/७२८)

[घ]

घटमौलिसुवर्णार्थी
[आप्तमी० श्लो० ५९] (५७/८५३)

घ्राणादितोऽनुयातेन [ ] (३३/२३८)

[ज]

जातिरेव हि भावानां [ ] (७/४७)

जावइया वयणपहा [सन्मति० ३।४७] (१/१४)

जीवपुद्ग [ ] (४८-४९/७२०)

जे एगं जाणइ [ ] (५५/८४४)

जेसु अनाएसु तओ [ ] (५५/८४३)

जो तुल्लसाहणाणं [ ] (५०/७५५)

ज्ञातसंबन्धस्यैकदेश [शाबर भा० १।१।५] (७३/९८४)

ज्ञानमप्रतिघं यस्य [ ] (१३/१३२)

ज्ञानमप्रतिधं यस्य [महाभा० वन प० ३०] (१/१८)

ज्ञानादयस्तु भावप्राणा [ ] (५२/७६८)

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य [ ] (४५-४६/६२९)

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य [ ] (५२/७९८)

[त]

तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् [ ] (१७-१८-१९/१५१)

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम् [न्यायसू० ४।२।५०] (२९/१९३)

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषाम् [त० भा० १०।७] (५२/७६७)

तदनन्तरमेवोर्ध्वम् [त० भा० १०।७] (५२/७६६)

तदा तन्नित्यमानन्दम् [ ] (५२/७७४)

तदुच्छेदे च तत्कार्य [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

तदुपकारौ [त.सू. ५/१०] (४८-४९/७४२)

तपसा निर्जरा च
[त० सू० ९।३] (४७/६८२)

तपांसि यातनाश्चित्राः [ ] (८१/१००१)

तं मंगलमाईए [विशेषा. गा-१३] (१/५)

तस्माद्यत्स्मर्यते तत् [मी० श्लो० उप० श्लो०३] (५५/८०९)

तस्मान्न बध्यते नैवमुच्यते
[सांख्यका० ६२] (४३/२५६)

तस्मान्मानुषलोकव्यापी [ ]
(४८-४९/७३१)

तस्सेवाविग्घत्थं
[विशेषा० गा० १४] (१/५)

ताद्रूप्येण च धर्मत्वम् [मी० श्लो० चोदना सू० श्लो० १४] (७१/९७९)

तावदेव चलत्यर्थो [ ] (२६/१८५)

त्रैरूप्यं पाञ्चरूप्यं वा [ ] (५७/८९४)

[द]

दग्धेन्धनः पुनरुपैति
[सिद्ध० द्वा०] (४५-४६/६२९)

दग्धे बीजे यथात्यन्तम् [तत्त्वार्थाधि० भा० १०।७] (४५-४६/६२९)

दशहस्तान्तरं व्योम्नो [ ] (४५-४६/६५५) (६८/९७४)

दुःशिक्षितकुतर्कांश -
[न्यायम० प्रमा० पृ० ११] (३०/१९५)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दैवागमनभोयान- [आप्त मी० श्लो० १] (६८/९७४)

देवागमनभोयान- [आप्तमो० १।१] (१/२४)

द्वादशाङ्गमपि... [ ] (५३/८००)

[ध]

धर्माधर्मनिमित्तो हि [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

धर्माणां धर्मा [ ] (५७/८६९)

[न]

न कालव्यतिरेकेण [शास्त्रवा० श्लोक० १६५] (१/१६)

न च स्याद् व्यवहारोऽयम् [मी० श्लो० अभाव० श्लो०२] (७६/९९२)

न चावस्तु न एते स्यु [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४] (७६/९९२)

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति [वसि० धर्म० १६।३६] (५८/९३१)

न नरः सिंहरूपत्वात् [ ] (५७/८९४)

ननु कायाकार [ ] (४८-४९/६९७)

ननु तस्यामवस्थायाम् [न्यायम० प्रमे० पृ० ७] (५२/७७३)

न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्याम् [प्र० वा० २।६३] (९/६५)

न मांसभक्षणे दोषो [मनु० ५।५६] (५८/९३१)

नवि अत्थि माणुसाणं तं [ ] (५२/७६८)

न वै हिंस्रो भवेत् [ ] (५८/९३१)

न श्रद्धयैव त्वयि [अयोगव्य. श्लो. २९] (१/१३)

न स्वर्धुनी न फणिनो [ ] (१२/१२६)

न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य [ ] (८/५५)

न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति [ ] (१०/६८)

नहि वै सशरीरस्य [छान्दो० ८।१२।१] (५२/७७३)

न हिंस्यात्सर्वभूतानि [ ] (५८/९३१)

नाकारणं विषयः [ ] (५८/९२१)

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति [प्र० वा० २।३२७] (१०/७२)

नान्वयः स हि भेदित्वात् [ ] (५७/८९४)

नाननुकृतान्वयव्यतिरेकम् [ ] (९/६५)

नाननुकृतान्वयव्यतिरेकम् [ ] (५८/९२१)

नास्तिता पयसो दध्नि [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६] (७६/९९२)

नित्यद्रव्याण्युत्पत्तिविनाशयो [ ] (६५/९६०)

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा [प्र० वा० ३।३४] (४८-४९/६९७)

नियतेनैव रूपेण [शास्त्रवा० श्लो० १७३] (१/१८)

निर्वर्तकं निमित्तम् [ ] (४८-४९/७२८)

[प]

पक्षपातो न मे वीरे [लोकतत्त्व नि० श्लो० ३८] (१/१३) (४४/२६२)

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो [ ] (३३/२३८)

पयोव्रतो न दध्यत्ति [आप्त मी० श्लो० ६०] (५७/८५३)

पुद्गलत्थिकाए [ ] (४८-४९/७४८)

पुराणं मानवो धर्मः [मनु० १२।११०] (४३/२६२)

पुरुष एवेदं सर्वम् [ऋक्० १०।९०।२] (६७/९७१) (१/१८)

पुरुषोऽविकृतात्मैव [ ] (४१/२५३)

पूर्वाकारपरि [आप्त.मी.श्लो-५९] (५७/८५३)

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः [सांख्यका० ३३] (४१/२४८)

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् [ ] (४८-४९/६९४)

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः [मी० श्लोक० अभाव० श्लो० ११] (७६/९९०)

प्रतिक्षणं विशरावो [ ] (११/८३)

प्रतिनियताध्यवसायः [ ] (४३/२५८)

प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते [ ] (५७/८५३)

प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् [ ] (८/५५)

प्रमाणपञ्चकं यत्र [ ] (४५-४६/६५५)

प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् [प्र.वा.१/३] (८/५५)

प्रमाणषट्कविज्ञातो [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १] (५५/८११)

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्य-साधनम् [न्यायसू० १।१।६] (२३/१७१)

पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति [ ] (८४/१००७)

[ब]

बदर्याः कण्टकस्तीक्ष्ण- [लोकतत्त्व २।२२] (१/१९)

बन्धविप्रयोगो मोक्षः [ ] (४७/६८२)

बन्धुर्न नः स भगवान् [लोकतत्त्व १।३२] (१/१३)

बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो [प्र० वा० २।३२७] (१०/७२)

बुद्धिदर्पणसंक्रान्तम् [ ] (४१/७२)

बुद्ध्यध्यवसितमर्थम् [ ] (४१/२५२)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुः [अभिधान०यथा तथायथार्थत्वे २।१४६] (४/४०)

बुद्धिश्चाचेतनापि [ ] (४१/२५३)

[भ]

भागे सिंहो नरो भागे [ ] (५७/८९४)

[म]

मतिः स्मृतिः संज्ञा [त० सू० १।१३] (५५/८१६)

मणिप्रदीपप्रभयोः [प्र० वा० २।५७] (१०/७४)

मणुत्रं भोयणं भुञ्जा [ ] (४/३९)

मयाकश्यामाक [ ] (८०/९९९)

मयूराण्डरसे यद्वत् [ ] (५७/८९३)

महोक्षं वा महाजं वा [याज्ञ० स्मृ० १९९] (५८/९३१)

म्रियन्ते मिष्टतोयेन [ ] (३३/२३८)

मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः [प्र० वा० १।२५६] (१२/८४)

मुख्यसंव्यवहारेण [सन्मतितर्क टीका पृ० ५९] (५५/८२३)

मूलक्षि (क्ष) तिकरीमाहु [ ] (५७/८६९)

मूलप्रकृतिरविकृतिः [सांख्यका० ३] (४१/२४८)

मृतानामपि जन्तूनाम् [ ] (५८/९३२)

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया [ ] (४/३९)

मृल्लेपसंगनिर्मोक्षात् [त० भा० १०।७] (५२/७६६)

[य]

य एव श्रेयस्करः [शाबर० भा० १/१/२] (७१/९७९)

[प्र. वा० २/५८] (१०/७४)

यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च [त० भा० १०/७] (५२/७६६)

यथा सकलशास्त्रार्थः [प्र० वार्तिकाल० १२।२२७] (४५-४६/६७२)

यथोक्तक्षणोपपन्नः [न्याय सू० १।२।२।] (२९/१९३)

यद्यथैवाविसंवादि [सन्मतितर्क टीका, पृ० ५९] (५५/८२३)

यद्यदैव यतो यावत् [शास्त्रवा० श्लो० १७४] (१/१८)

यद्वानुवृत्तिव्यावृत्ति [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ३] (७६/९९२)

यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा [न्यायभा० १।१।३] (१७/१४७)

यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्व [ ] (५२/७६८)

यः पश्यत्यात्मानम् [प्र० व० १।२१९-२२१] (५२/७८१)

यावदात्मगुणाः सर्वे [न्याय म० प्रमे० पृ,० ७] (५२/७७३)

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् [ ] (८१/१००१)

युगपदयुगपत्क्षिप्रम् [ ] (४८-४९/७४६)

युगपदु [ ] (५७/८६३)

येन येन हि भावेन [ ] (१२/१२६)

[र]

रागोऽङ्गनासङ्गमतः [ ] (४५-४६/६२७)

रूपादयस्तदर्थाः [ ] (१७-१८-१९/१३९)

[ल]

लिखितं साक्षिणो भुक्तिः (याज्ञव० स्मृ० २।२२) (५५/८११)

लूतास्य तन्तुगलिते [ ] (३३/२३८)

[व]

वर्तत इदं न वर्तत [ ] (४८-४९/७४६)

वर्तना परिणामः क्रिया [त० सू० ५।२२] (४८-४९/७३३)

वरं वृन्दावने वासः [ ] (५२/७७२)

वस्तु (स्त्व) संकरसिद्धिश्च [मी श्लो० अभाव० श्लो० ५] (७६/९९२)

विविक्ते दृक्परिणतौ [ ] (४१/२५३)

विरोधादेकमनेकस्वभाव [प्रश० कन्द० पृ० ३०] (५७/८८६)

विशेषणविशेष्याभ्याम् [प्र० वा० ४।१९१] (९/६१)

वीतरागं स्मरन् योगी [ ] (१२/१२६)

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम् [प्रश० किरण० पृ० ३३] (६५/९५७)

व्यवच्छेदफलं वाक्यम् [प्र० वा० ४।१९२] (९/६१)

व्यावृत्ति बुद्धिहेतवः [प्र० वा० पृ० १६८] (६५/६९०)

[श]

शब्दज्ञानादसंनिकृष्टे [शाबर भा० १।१।५] (७४/९८५)

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य- [त० सू० ५।२४] (४८-४९/७३५)

शिरसोऽवयवा निम्ना [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७] (७६/९९२)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययम्
[योग भा० २।२०] (४१/२५३)
शुद्धचैतन्यरूपोऽयम् [ ] (४३/२५६)
शून्यमिदं [ ] (११/८४)
शैवाः पाशुपताश्चैव [ ] (१२/१२८)
शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीम् [ ] (१२/१२६)
श्रुत्वा वचः सुचरितं
[लोकतत्त्व० १।३२] (१/१३)
श्रूयतां धर्मसर्वस्वम्
[चाणक्य १।७] (५८/९३२)
श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः च [मी० श्लो० चोदना श्लो० १९१] (७१/९७९)
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा (४३/२५८)

[ष]

षट्त्रिंशदङ्गुलायामम् [ ] (३३/२३८)
षट्शतानि नियुज्यन्ते [ ] (५८/९३१)

[स]

स एव योगिनां सेव्यः [ ] (१२/१२६)
सत्संप्रयोगे सति
[मी० सू० १।१।४] (७३/९८३)
सद्विद्यमाने सत्ये च
[अनेकार्थ १।१०] (१/७)
सदकारणवन्नित्यम्
[वैशे० सू० ४।१।१] (६१/९४२)
सप्तदशप्राजापत्यान्पशून
[तैत्ति० सं० १।४] (५८/९३१)
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनः
[न्यायसू० १।२।३] (२९/१९३)
सम्यग्ज्ञानदर्शन
[त०सू० १।१] (५४/८०१)
संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना
[मी० प्रत्यक्ष० सू० श्लो० ८४] (४५-४६/६५५) (६८/९७४)
सर्वमेतदिदं ब्रह्म
[छन्दो० ३।१४।१] (६७/९७१)
सर्वव्यक्तिषुनियतंक्षणेक्षणे [] (५७/८५१)
सर्ववाक्यंसावधारणमिति (९/६०)
सामीप्ये च व्यवस्थायाम् [ ] (४/४०)
सिद्धस्स सुहो रासी [ ] (५२/७६८)
सुखमात्यन्तिकं यत्र [ ] (५२/७७४)
सुनिश्चितं नः परतन्त्र
[द्वात्रिंश०] (५८/९२०)
सुविवेचितं कार्यं
कारणं च [ ] (१७-१८-१९/१५९)
सुरगणसुहं समग्गं [ ] (५२/७६८)
सुरासुरनरेन्द्राणाम् [ ] (५२/७६८)
स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः
[त० सू० ५।२३] (४८-४९/७३५)
स्मृत्यनुमानागमसंशय०
[न्यायभा० १।१।१६] (१७-१८-१९/१५३)
स्वपरव्यवसायि - [ ] (५४/८०३)
स्वस्वभावजमत्यक्षम् [ ] [ ] (५२/७६८)

[ह]

ह्यः श्वोऽद्य संप्रति [ ] (४८-४९/७४६)
हस पिब लल खाद मोद [ ] (३३/२३८)
हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः [ ] (४५-४६/६७०)
हेतुमदनित्यमव्यापि
[सांख्यका० २०] (४१/२४८)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-११

मूलश्लोकानुक्रम

श्लोक	नं.	पृ. नं.	श्लोक	नं.	पृ. नं.
अत एव पुरा	७०	(९७८)	तत्त्वानि षोडशा	१४	(१३४)
अपरोक्षतया	५६	(८४५)	तथाभव्यत्व	५४	(८०१)
अक्षपादमते	१३	(१२८)	तत्र ज्ञानादि	४८	(६८३)
आचार्य शिष्य	२९	(१९३)	तत्र द्रव्यं	६१	(९४०)
उत्क्षेपावक्षेप	६४	(९५५)	तत्र परं	६५	(९५६)
एतानि नव	५३	(८००)	तत्र प्रत्यक्ष	७३	(९८३)
एतावानेव	८१	(१०००)	तत्र बौद्धमते	४	(३९)
एतेषां या	३६	(२४३)	तस्मादती	६९	(९७६)
एवं चतुर्विंशति	४१	(२४७)	तस्माद्दृष्ट	८५	(१००८)
एवं सांख्यमत	४४	(२६१)	दर्शनानि षडेवा	२	(३५)
कार्यात् कारणा	२१	(१६९)	दुःखं संसारिणः	५	(४२)
किमेतदिति	२५	(१८१)	दृष्टांतस्तु	२६	(१८४)
क्षणिकाः सर्व	७	(४६)	दृष्टान्तोऽप्य	१५	(१३४)
चैतन्य लक्षणो	४९	(६८४)	दृष्टार्थानुप	७५	(९८७)
जातयो निग्रह	१६	(१३४)	देवताविषयो	५९	(९३८)
जिनेन्द्रो देवता	४५	(६२६)	द्रव्यं गुण	६०	(९३९)
जीवाजीवौ	४७	(६८१)	निग्रहस्थान	३२	(२२३)
जैनदर्शन	५८	(९१९)	नैयायिकमतस्यै	३३	(२३६)
जैमिनीयाः पुनः	६८	(९७३)	नैयायिकमताद	७८	(९९७)
जैमिनीयमत	७७	(९९६)	नोदनालक्षणो	७१	(९७८)
ततः संजायते	३७	(२४४)			

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लोक	नं.	पृ. नं.	श्लोक	नं.	पृ. नं.
पापं तद्विपरीतं.	५०	(७५३)	यच्च सामान्य	२२	(१७०)
पायूपस्थ	३९	(२४५)	यथा काकादि	२८	(१८९)
पिब खाद च	८२	(१००४)	येनोत्पाद	५७	(८५०)
पृथ्वी जल	८३	(१००५)	रुपाणि पक्ष	११	(७८)
पृथ्व्यादि	८४	(१००६)	रुपात्तेजो	४०	(२४७)
पूर्ववच्छेष	१९	(१३९)	रोलंबगवल	२०	(१६८)
पंचविंशति	४२	(२५५)	लोकायतमते	८७	(१००९)
पंचेन्द्रियाणि	८	(५४)	लोकायता	८०	(९९९)
प्रकृतिवियोगो	४३	(२५६)	विजिगिषु	३०	(१९५)
प्रतिज्ञाहेतु	२७	(१८९)	व्यवसायात्मकं	१८	(१३९)
प्रत्यक्षमनुमानं	७२	(९८३)	शाब्दमाप्तो	२४	(१७३)
प्रत्यक्षमनुमानं	१७	(१३९)	शाब्दं शाश्वत	७४	(९८५)
प्रत्यक्षं कल्पना	१०	(६८)	षड्-दर्शन	७९	(९९८)
प्रत्यक्षं च	५५	(८०६)	सत्त्वं रजस्	३५	(२४१)
प्रमाणं च	६७	(९६४)	सद्दर्शनं	१	(२)
प्रमाणपंचकं	७६	(९९०)	समुदेति	६	(४५)
प्रमाणे द्वे च	९	(६०)	संवरस्तन्निरोध	५१	(७६०)
प्रसिद्धवस्तु	२३	(१७१)	साध्यवृत्ति	८६	(१००८)
बद्धस्य कर्मणो	५२	(७६३)	सांख्या निरी	३४	(२३९)
बुद्धिः सुख	६३	(९४५)	सुरासुरेंद्र	४६	(६२६)
बौद्धं नैयायिकं	३	(३६)	स्पर्शनं रसन	३८	(२४५)
बौद्ध राद्धांत	१२	(८४)	स्पर्शरस	६२	(९४५)
य इहायुत	६६	(९६२)	हेत्वाभासा	३१	(१९७)

❖ ❖ ❖

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुनिश्री द्वारा संपादित-लेखित-संपादिक पुस्तक

	ग्रंथ-पुस्तक का नाम	प्रकाशन वर्ष
(१)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-१ (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(२)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-२ (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(३)	धर्मसंग्रह सारोद्धार, श्रमण धर्म भाग-२ (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(४)	तिथि अंगे सत्य और कुर्तको की समालोचना• (गुजराती)	वि.सं. २०६१
(५)	तत्त्व विषयक प्रश्नोत्तरी• (गुजराती)	वि.सं. २०६२
(६)	योगदृष्टि से जीवन दृष्टि बदलीये (१) (गुजराती)	वि.सं. २०६२
(७)	त्रिस्तुतिक मत समीक्षा प्रश्नोत्तरी (गुजराती)	वि.सं. २०६४
(८)	त्रिस्तुति मत समीक्षा प्रश्नोत्तरी (हिन्दी)	वि.सं. २०६४
(९)	चतुर्थस्तुति निर्णय (सानुवाद) भाग १-२ (हिन्दी, गुजराती)	वि.सं. २०६४
(१०)	योगपूर्व सेवा (२) (गुजराती)	वि.सं. २०६४
(११)	शुद्धधर्म• (३) (गुजराती)	वि.सं. २०६५
(१२)	अध्यात्म शुद्धि (४) (गुजराती)	वि.सं. २०६६
(१३)	समाधि मृत्यु थकी सद्गति सद्गति थकी भवमुक्ति (५) (गुजराती)	वि.सं. २०६७
(१४)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-१ (हिन्दी)	वि.सं. २०६८
(१५)	षड्दर्शन समुच्चय भावानुवाद भाग-२ (हिन्दी)	वि.सं. २०६८
(१६)	षड्दर्शन सूत्र संग्रह एवं षड्दर्शन विषयककृतयः	वि.सं. २०६८
(१७)	आत्मानी त्रण अवस्था (६) (गुजराती) (मुद्रण में)	वि.सं. २०६८

नोट : •ऐ निशानवाले पुस्तक उपलब्ध नहीं है ।

Central Library
185454
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोट

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोट

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R.P.S पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या 097 ARY-S आगत संख्या 185454

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

097

185454

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

शासन शिरताज सूरिरामचंद्र दीक्षा शताब्दी

ग्रंथमाला

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar